श्रीलक्ष्मणायनमः

श्रीभरतायनमः

श्रीशत्रुघ्नायनमः

* श्रीसीतारामभ्यांनमः *



मानस-पीयूष

बालकांड भाग ३ (क)

(श्रीरामावतार-प्रकरणसे धनुष-यज्ञ-प्रकरण दोहा १८८(७) से दोहा २६७ तक)

(परिवर्धित, संशोधित, सर्वसिद्धान्त-समन्वित तृतीय संस्करण)

सम्पादक तथा लेखक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

मानस-पीयूष कार्यालय, ऋणमोचन घाट, श्रीअयोध्याजी

श्रीतुलसीदासायनमः

श्रीहनुमतेनमः

श्रीरूपकलादेव्यैनमः

श्रीरूपकलादेव्यै नमः ❀ श्रीसीताराम ❀ श्रीहनुमते नमः

मानस-पीयूष

प्रथम सोपान (बालकांड)

भाग ३ (क)

(श्रीरामावतार-प्रकरणसे धनुष-यज्ञ-प्रकरण दोहा १८८ (७) से दोहा २६७ तक)

सर्व-सिद्धांत-समन्वित तिलक

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर काशीके सुप्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजी, पं० श्रीराम-वल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी एवं श्रीमानसी बंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावों की अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव; बाबा श्रीरामचरणदासजी (करुणासिन्धुजी महाराज), श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, श्रीकाष्ठजिह्व श्री-देवतीर्थ स्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी (सीतारामीय), बाबा श्रीहरिदासजी, श्रीपांडे रामबख्शजी (मुं० रोशनलालकृत टीका), श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी, संतउन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी आदि पूर्व मानसाचार्यों टीकाकारोंके भाव; मानस राजहंस पं० विजयानन्द त्रिपाठीकी अप्रकाशित एवं प्रकाशित टिप्पणियाँ, प. प. प्र. स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीकी अप्रकाशित टिप्पणियाँ, आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० श्रीराम-दासजी गौड़ एम० एस सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्र शुक्लजी, पं० यादवशङ्करजी जामदार रिटायर्ड सब-जज, श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी, श्रीनंगेपरमहंसजी (बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी), बाबा जयरामदासजी आदि स्वर्गीय तथा वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० राम-कुमारदासजी आदि आधुनिक मानसविज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुन्दर संग्रह।

तृतीय संस्करण

सम्पादक एवं प्रकाशक

श्रीअंजनीनन्दनशरण

ऋणमोचनघाट, श्रीअयोध्याजी

तुलसी संवत् ३३५, वि० सं० २०१४ मूल्य १०)

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

तृतीय संस्करण के सम्बंध में 'दो शब्द'

अनन्त श्रीगुरुदेवजीकी कृपासे आज यह दास बालकांड भाग ३ (क) (श्रीरामावतार प्रसङ्गसे लेकर धनुष-यज्ञ-प्रकरण तक) का तृतीय संस्कार प्रेमी पाठकोंकी सेवामें भेंट कर रहा है। यह संस्करण पिछले (द्वितीय) संस्करणकी अपेक्षा बहुत सुन्दर और अधिक शुद्ध छपा है।

'मानस-पीयूष' का प्रारम्भसे ही उद्देश्य यही रहा है कि समस्त टीकाकारों, प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध प्रसिद्ध रामायणीयों, साहित्यज्ञों आदिने जो कुछ भी श्रीरामचरितमानस पर लिखा या कहा है वह एकत्र कर दिया जाय। दूसरे शब्दोंमें श्रीरामचरितमानसका इनसाइक्लोपीडिया (Encyclopedia) तैय्यार करना उद्देश्य रहा है और अब भी है। अतएव प्रत्येक संस्करणमें कुछ न कुछ नये विचारोंका उल्लेख अवश्य ही बढ़ ही जानेमें आश्चर्य ही क्या ? जिस संस्करणके समय तक जो सामग्री नई अनायास प्राप्त हो जाती है, वह बढ़ा दी जाती है। अतएव इस संस्करणमें श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजीके तथा श्री पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीके कुछ भाव उनकी विजया टीकासे हमने उन उनके नामोंसे दे दिये हैं, जैसा इनसाइक्लोपीडिया का एवं 'मानस-पीयूष' का नियम है।

जिसके जो भाव हैं वे अलग अलग सिलसिलेसे पढ़े जावें तो उनका सामंजस्य बैठ जाता है। आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों दृष्टकोणके भावार्थ इसमें मिलेंगे। पाश्चात्यशिक्षा प्राप्त प्रेमियोंको प्रोफ० श्रीरामदासगौड़जी तथा श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजीके लेख विशेषरूपसे आनन्द देंगे। कथावाचकोंका तो यह तिलक सर्वस्व ही है।

'मानस-पीयूष' की विशेषता यह है कि इसमें किसी भी मतावलम्बीके जो भाव हैं उनमें काट-छाँट नहीं की गई है। किसी-किसी महानुभावको यह भले ही न रुचे पर विद्वत समाजको तो यह अवश्य ही रुचिकर प्रतीत हुआ है, क्योंकि प्रत्येक पक्षपातीको दूसरे पक्षका मत जान लेनेसे अपने मतकी पुष्टि करनेमें अधिक सहायता मिलेगी।

इस प्रकार यह तिलक विद्यार्थियों, तत्वान्वेषियों (Students of Shri Ramcharitamanas in all its aspects), खोजियों (Research Scholars), कथावाचकों और as a Reference Book तो सभी मानस प्रेमियोंके अत्यन्त कामका है।

• हमने मानस विज्ञोंके विचार उनके काल क्रमसे न देकर जैसा अपनेको समुचित जान पड़ा उस प्रकार आगे पीछे दिया है। इससे खोजियों (Research Scholars) को इसमें यह त्रुटि अवश्य मिलेगी कि वे यह नहीं जान सकेंगे कि किस टीकाकारने किसकी चोरी की है या किसकी छाया लेकर टीका लिखी है। इस न्यूनताको दूर करनेके लिये यही उपाय विचारमें आया है कि टीकाकारों तथा रामायणियोंका समय यथाशक्ति जहाँ तक ज्ञात हो सके आगे छपनेवाले भागोंमेंसे किसीमें दे दिया जाय।

'मानस-पीयूष' के प्रकाशनमें जो कठिनाइयाँ अनेक अभावोंके कारण पड़ीं और पड़ती हैं उनका अनुभव प्रेमी पाठक नहीं कर सकते। संपादक श्रीअयोध्याजीसे बाहर जाता नहीं। पुस्तकें काशीजीमें छपती हैं, प्रेसवाले कभी वचनका पालन नहीं करते। दो दो सौ पृष्ठ छपते ही प्रायः छपाईका बिल आता है और देना पड़ता है, परन्तु पुस्तक पूरी छप जानेपर हमें पूरी संख्या मिलती नहीं, प्रेसोंमें ही कितनी ही पुस्तकें दीमक की भेंट हो जाती हैं, और इस बातको वे लोग छिपानेका पूरा प्रयत्न करते हैं। दैवयोगसे ही यह

कपट खुला और हम रही सही पुस्तकोंको चेक कराके जितनी पुस्तकें बन सकती हैं बनवा रहे हैं। दाम तो पूरे लगे और पुस्तकें मिलती हैं कम। इसी प्रकार द्रव्याभाव होनेसे जो कोई जो भी खंड माँगता था वह उसको बेच दिया जाता रहा है, इससे भी बालकांडकी लगभग २५० प्रतियाँ खंडित हो गईं। अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। इतनेसे प्रेमी पाठक हमारी परिस्थिति समझ लें।

इतना मूल्य होनेपर भी तथा हमारे पास प्रचारका किंचित् भी साधन न होनेपर मानसप्रेमी जनताने इसे कैसा अपनाया यह इससे स्पष्ट है कि सातोंकाण्डोंका तिलक पूरा होते होते हमें बालकांड आदिके पुनर्संस्करणकी आवश्यकता पड़ गई और भाग १, भाग २ (क), भाग ३ (क) छपकर तैयार भी हो गए।

हम द्वितीय संस्करणके प्रेमी स्थायी ग्राहकों तथा उन प्रेमी महानुभावोंको जिन्होंने हमें आर्थिक सहायता इसके प्रकाशनमें दी, बारंबार धन्यवाद देते हैं, क्योंकि श्रीसीतारामकृपाने उनकी सहायता दिलाकर इस सेवाको आखिर पूरा करा लिया। और उसीके प्रभावसे तीसरे संस्करणका श्रीगणेश हो गया।

अन्तमें जिन रामायणरत्नों, मानसविज्ञों तथा टीकाकारों आदिके नाम इस ग्रन्थमें आये हैं उनसे प्रार्थना है कि वे अपने अपने भावों सहित इस शिशुके हृदयमें निवास करें, और 'मानसपीयूष' के प्रेमी पाठकों सहित हृदयसे आशीर्वाद दें कि श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंमें इस शिशुका अनन्य अविरल अमल सहज प्रेम हो।

दासानुदास—श्रीअञ्जनीनन्दन शरण।

भाग ३ (क) 'श्रीरामावतार' से 'धनुर्यज्ञ' तक—के संस्करण

संस्करण	साइज	पृष्ठ संख्या	सम्वत्	प्रेस
प्रथम	डेमाई अठपेजी	४५४	तु० सं० ३०५=सं० १९८४	श्रीसीताराम प्रेस, काशी
द्वितीय	२०×३०।१-८	५६४+१७	गुरुपूनो सं० २००६, तु० सं० ३३०	आनन्द प्रेस, श्रीअयोध्याजी
तृतीय	,,	६१६+२०	गुरुपूनो सं० २०१४	श्रीशङ्कर मुद्रणालय, वाराणसी

आवश्यक निवेदन

'मानसपीयूष' तिलकमें रुपएमें लगभग बारह आना सामग्री अप्रकाशित टिप्पणियाँ हैं। 'मानस-पीयूष' में जो कुछ भी आया है उसका सर्वाधिकार 'मानस-पीयूष' को प्राप्त है। जिनकी वे टिप्पणियाँ हैं उनके अतिरिक्त किसीको भी इसमेंसे कुछ भी लेनेका अधिकार नहीं है।—यह लिखनेकी आवश्यकता इसलिये पड़ी कि पुस्तक भंडार लहेरियासराय व पटना के मालिक व व्यवस्थापक रायबहादुर रामलोचनशरणने पं० श्रीकान्तशरण से (विशिष्टाद्वैत) 'सिद्धान्त तिलक' लिखवाकर प्रकाशित किया था। वह 'मानस-पीयूष' के प्रथम संस्करणके ही आधारपर था, प्रायः उसकी पूरी चोरी थी। पटना उच्च न्यायालयके एक निर्णय तथा जिला जज, फैजाबादके निर्णयसे उसका छपाना तथा विक्रय करना दण्डनीय निश्चित किया गया है। लेखकों एवं विद्वानोंको इस कारण इस सम्बंधमें सतर्क होनेकी आवश्यकता है।

बालकाण्ड भाग ३ तृतीय संस्करण के प्रकरणोंकी सूची

श्रीसीतारामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये

भाग ३ में आये हुए ग्रन्थों के नाम

(प्रायः औरोंके नाम पूर्व आ गए हैं)

आह्निक सूत्र
उत्तर रामचरित (नाटक)
कुवलयानन्द
गर्गसंहिता
गर्भोपनिषद् दीपिका
गूढार्थप्रकाश
गोभिल सूत्र
जिज्ञासा पंचक
ज्योतिः प्रकाश
तत्वबोध
धर्मसिन्धु
नामकरणपद्धति
नारदपञ्चरात्र
निर्णयसिन्धु
पिण्डसिद्धि
पुरोहितदर्पण
प्रसन्नराघव
भोजप्रबंध
माघ
मानस तत्वप्रकाश
माधवीय तथा वैष्णवधर्मसंहिता
मानस-हंस
मुहूर्त्तचिन्तामणि
मेरुतन्त्र
रत्नमाला (श्रीपति)
श्रीरामरंग
श्रीरामरत्नाकर रामायण
श्रीरामपटल
श्रीरामरसायन
श्रीरामार्चनचन्द्रिका
वायुनन्दनमिश्रकृत विवाहपद्धति
बृहज्ज्योतिः सार
बृहद्विष्णुपुराणान्तर्गत मिथिला माहात्म्य
शङ्खस्मृति
शकुन्तला नाटक
शुक्ल यजुः शाकीय कर्मकाण्ड-प्रदीप (निर्णयसागर)
श्रुतबोध
संस्कारकौस्तुभ
संस्कारभास्कर
साकेत रहस्य
सुभाषित रत्नभाण्डागार
सूरभ्रमरगीतसार
स्कन्द पुराण

संकेताक्षरों की तालिका

संकेताक्षर	विवरण
अ०	अयोध्याकांड, अध्याय
अ० २०५, २।२०५	अयोध्याकांडका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
अ० दी० च०	अभिप्राय दीपक चक्षु
अ० रा०	अध्यात्म रामायण
अमर०	अमरकोश
आ० रा०	आनन्द रामायण
आ०	अरण्यकांड
आ० २, ३ । २	अरण्यकांडका दूसरा दोहा या उसकी चौ०
उ०	उत्तरकांड; उत्तर खंड (पुराणोंका); उत्तरार्ध; उपनिषद;
उ० ११५; ७।११५	उत्तरकांडका दोहा ११५ या उसकी चौ०
क०	कवितावली
क० ७	कवितावलीका सातवाँ (उत्तर) कांड
कठ०	कठोपनिषद
करु० श्रीकरुणासिंधुजी	श्री१०८ रामचरणदासजीकी 'आनन्द लहरी' टीका
कल्याण	गीताप्रेसकी मासिक पत्रिका
का०, १७०४	काशिराजके यहाँकी प्रति
काष्ठजिह्व स्वामी	रामायणपरिचर्याकार श्रीदेवतीर्थ स्वामी
कि० १०, ४।१०	किष्किन्धाकांड दोहा १० या उसकी चौ०
को० रा०	कोदोरामजीकी गुटका
खर्रा	पं० रामकुमारजीके प्रथमावस्थाकी लिखी टिप्पणी
गी०	गीतावली
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गौड़जी	प्रो० श्रीरामदासजी गौड़ (स्वर्गीय)
चौ०	चौपाई (अर्धाली)
छ०	लाला छक्कनलालकी पोथी
छाँ० ३।१३।७	छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३खंड १३मंत्र७
टिप्पणी	श्रीपं०रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण जो स्वर्गीय पुरुषोत्तमदत्तजीसे प्राप्त हुए थे।
तैत्ति० (तै०) २।४	तैत्तिरीयोपनिषद् बल्ली २ अनुवाक ४
दीनजी	लाला भगवानदीनजी (स्वर्गीय)
दो०	दोहावली; दोहा;
नं० प०, श्रीनंगे परमहंसजी	बाबा श्रीअवधबिहारीदासजी, बाँध गुफ़ा, प्रयाग ।
ना० प्र०	नागरीप्रचारिणी सभाका मूल पाठ
नोट	इसमें जहाँ किसीका नाम कोष्ठकमें नहीं है वह लेख प्रायः संपादकीय है।
प० प० प्र०	श्रीस्वामी प्रज्ञानानन्द सरस्वतीजी
पं०, पंजाबीजी	श्रीसंतसिंह पंजाबीजीके 'भाव प्रकाश' टीकाके भाव ।
प० पु०	पद्म पुराण
पाँ०, पांडेजी	मुं० रोशनलालकी टीका जिसमें पं० श्री रामबख्श पांडेजीके भाव हैं।
पू०	पूर्वार्ध; पूर्व
प्र० रा०	प्रसन्न राघव नाटक
प्र० सं०	मानस-पीयूषका प्रथम संस्करण (१९२३-१९३४)
बं० पा०	श्रीवन्दनपाठकजीके हस्तलिखित टिप्पण
बा० ३; १ । ३	बालकांड दोहा ३ या उसकी चौपाई ।
वि०, विनय	विनयपत्रिकाका पद
बृह० आ०, बृह०, बृ०	बृहदारण्यक
भक्तमाल	श्रीनाभास्वामी रचित भक्तमाल
भ० गु० द०	भगवद्गुणदर्पण (वैजनाथजीकी टीकासे)
भा० ९।१०	श्रीमद्भागवतस्कन्ध ९ अध्याय १०
भा० दा०	श्रीभागवतदासजीकी हस्तलिखित पोथी
भक्तिरसबोधिनी	भक्तमालकी टीका श्रीप्रियादासजीकृत
मं०	मंगलाचरण
मं० श्लो०	मंगलाचरण श्लोक
मनु०	मनुस्मृति
मयंक, मा० म०,	मानस-मयंककी टीका
मा० सं०	मानसपीयूषका सम्पादक

संकेताक्षर	विवरण
मा० हं०	श्रीयादवशंकरजी रिटायर्ड सबजजकृत तुलसी-रहस्य 'मानसहंस'
मुण्डक १।२।१२	मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक द्वितीय खंड, द्वादशमंत्र
यजु० ३१।१६।१	यजुर्वेद संहिता अध्याय ३१ कंडिका १६ मंत्र १
(पं०) रा०गु० द्वि०	पं० रामगुलामद्विवेदीका गुटका (१६४५ ई० का छपा),
रा० ता०	श्रीरामतापनीयोपनिषद्
पं० रा० व० श०	पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकी-घाट, श्रीअयोध्याजी)
रा० प्र०	रामायणपरिचर्यापरिशिष्टप्रकाश
श्रीरूपकलाजी	वैष्णवरत्न अखिल भारतीय श्रीहरिनाम-यशसंकीर्त्तनसम्मेलन के संचालक, भक्तमाल तथा भक्तिरसबोधिनी टीकाके प्रसिद्ध टीकाकार अनन्त श्रीसीतारामशरण भगवान् प्रसादजी ।
लं० १०३,७।१०३	लंकाकांड दोहा १०३ या उसकी चौपाई
वाल्मी०	वाल्मीकीय रामायण
वि० टी०	श्रीविनायकरावकृत विनायकी टीका
वि० त्रि०	पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी
वि० पु० ६।५	विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ५
वि० सा० रा०	विश्व साहित्यमें रामचरितमानस
वीर, वीरकवि	पं० महावीरप्रसादमालवीयकी टीका
वे० भू०	वेदान्तभूषण पं० श्रीरामकुमारदास
वै०	श्रीवैजनाथदासकृत 'मानस भूषण' तिलक
श० सा०	नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्दोंका कोश प्रथम संस्करण
शीला०, शिला०	बाबा हरिदासजीकी टीका 'शीलावृत्त'
श्लो०	श्लोक
श्वे०, श्वे० श्व०	श्वेताश्वतरोपनिषद्

संकेताक्षर	विवरण
सं०	संहिता, सम्वत्, संस्कृत
स०	सर्ग
सत्यो०	सत्योपाख्यान
सि० ति०	'सिद्धान्ततिलक' नामकी टीका जिसे पं० श्रीकान्तशरणसे लिखवाकर श्रीरामलोचन-शरणजीने पुस्तकभण्डार लहरियासराय व पटनासे प्रकाशित किया, जिसका छपना तथा प्रकाशन जुलाई १६४७ से तथा पटना हाईकोर्टके ११ मई १६५१ के एवं डिस्ट्रिक्ट जज फैज़ाबादके फ़ैसलेसे जुर्म क़रार दिया गया है ।
सुं० १०; ५। १०	सुंदरकाण्ड दोहा १० या उसकी चौपाई
हनु०, हनु० ना०	श्रीहनुमन्नाटक
१६६१, १७०४, १७२१, १७६२	इन संवतोंकी हस्तलिखित प्रतियोंका पाठ
[ ] ( )	कोष्ठकान्तर्गत लेख प्रायः संपादकीय हैं जहाँ किसीका नाम नहीं है ।

स्मरण रहे कि-(१) बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा, सुंदर, लंका और उत्तर कांडोंके लिये क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अंक दिये गए हैं ।

(२) किसी भी कांडकी टीकामें जब उसी कांडका उद्धरण उदाहरणमें दिया गया है तो प्रायः उस कांडका सांकेतिक चिह्न (बा०, अ०, आ० आदि वा १, २, ३ आदि) न देकर हमने केवल दोहे चौपाईकी संख्यामात्र दे दी है। जैसे, उत्तरकांडमें ११०।५ का तात्पर्य है उत्तरकांडके दोहा ११० की चौपाई ५ । बालकांडमें ३३।२=बालकांडके दोहा ३३ की चौपाई २ । इत्यादि ।

(३) प्रत्येक पृष्ठके ऊपर दोहा और उसकी चौपाइयों का नंबर दिया गया है । जिससे पाठकको देखते ही विदित हो जाय कि उस पृष्ठमें उन चौपाइयोंकी व्याख्या है ।

|| श्री ||

बालकाण्ड भाग ३ के कुछ शब्दों और कामके विषयोंकी अनुक्रमणिका

परिशिष्ट सूची

ग्रन्थ सूची (परिशिष्ट)

अत्रिस्मृति
अनेकार्थ
अभिज्ञान शाकुन्तलम्
श्रीजानकी रहस्य
धर्मनौका
पाण्डवगीता
पारस्कर गृह्यसूत्र
मार्कण्डेय पुराण
बृहज्ज्योतिःसार
मंगल कोश
मानसदर्श रा०
मेदिनीकोश
मुहूर्तसिन्धु
श्रौतपदार्थ निर्वचन ग्रन्थ

* श्रीः *

ॐ नमो भगवते मंगलमूर्तये कृपानिधये
गुरवे मर्कटाय श्रीरामदूताय श्रीसीतारामपद-
प्रेमपराभक्तिप्रदाय शरणागतवत्सलाय सर्वविघ्नविनाशकाय श्रीहनुमते।
जगद्गुर्वानन्त श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासाय नमः।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै।
श्रीगुरुचरणसरोजरज निज मन मुकुर सुधारि।
बरनउँ रघुबर बिमल यश जो दायक फल चारि॥

श्रीरामचरितमानस

प्रथम सोपान (बालकांड) उत्तरार्द्ध

मानस-पीयूष

श्रीरामावतार और बालचरित-प्रकरण

अवध पुरी रघुकुलमनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ॥ ७॥
धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारंगपानी॥ ८॥

दोहा—कौसल्यादि नारि प्रिय* सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि-पद-कमल बिनीत॥ १८८॥

अर्थ—श्रीअवधपुरीके राजा जो रघुकुलमें शिरोमणि (सिरमौर, भूषणरूप, सर्वश्रेष्ठ) और वेदोंमें प्रसिद्ध हैं, उनका श्रीदशरथजी नाम है।७। वे धर्मधुरंधर (धर्मरूपी भारके धारण करनेवाले), दिव्यगुणों-के निधान (समुद्र, खजाना वा भंडार) और ज्ञानी थे। उनके हृदयमें शार्ङ्गपाणि (हाथमें शार्ङ्ग धनुष बाण धारण करनेवाले) श्रीरामजीकी भक्ति थी और उन्हीं (शार्ङ्गपाणि) में उनकी बुद्धि लगी रहती थी अर्थात् उनको दृढ़ निश्चय था कि शार्ङ्गपाणिही ब्रह्म हैं।८। श्रीकौसल्याजी आदि सब प्रिय स्त्रियोंके आचरण पवित्र थे। वे पतिकी आज्ञाकारिणी थीं और (पतिमें) उनका प्रेम दृढ़ था। वे भगवान्‌के चरणकमलोंमें विशेष नम्रतापूर्वक दृढ़ प्रेम रखती थीं।१८८।

* पाठान्तर—सब प्रिय।

टिप्पणी—१ "अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ०" इति। (क) आकाशवाणी द्वारा श्रीदशरथमहाराजका जन्म और विवाह वर्णन किया; यथा 'ते दसरथ कौसल्या रूपा। कोसलपुरीं प्रगट नरभूपा। १८७।४।' अब राजाकी बड़ाई कहते हैं कि अवधपुरीके राजा हैं; अर्थात् जो सब पुरियोंमें श्रेष्ठ है वह श्रीअवधपुरी जिनकी राजधानी है, यथा 'अयोध्यापुरी मस्तके'। राजघरानोंमें सबसे श्रेष्ठ रघुकुल है, उसके मणि हैं। ("रघुकुलमनि" शब्द देकर वाल्मी० १,६ और ७ में जो कुछ लिखा है वह सब सूचित कर दिया। अर्थात् राजा वेदज्ञ, तेजस्वी, प्रजाके प्रिय, महान् वीर, जितेन्द्रिय, राजर्षि, महर्षियोंके समान, तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध, ऐश्वर्यमें इन्द्र और कुबेरके समान, लोकके रक्षक, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, चरित्रवान्, धर्मधुरंधर, मनुके समान पुरीके रक्षक, पापहीन, अधर्मका नाश करनेवाले, उदार दाता, ब्रह्मण्य, शत्रुहीन, महान् प्रतापी और पराक्रमी थे। इन्द्रभी उनकी सहायता लिया करता था और उनको अपने साथ सिंहासनपर बिठाया करता था। इत्यादि)। (ख) 'बेद बिदित' इति। वेद महावाक्य है, ब्रह्मवाणी है, अतः सबसे श्रेष्ठ है। वही वेद महाराज दशरथका यश गाता है। [अथर्ववेदकी रामतापिनी उपनिषद्में तथा वाल्मीकीय रामायणमें जो वेदतुल्य माना जाता है, इनका नाम आया है, यथा—'चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ'। रघोःकुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः॥ १।१ (रा० पू०)। ऋग्वेदमें भी नाम आया है; यथा "चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणीं नयन्ति। २।१।११।' वैजनाथजी लिखते हैं कि 'षडंगयुत चारों वेद मूर्तिमान् होनेसे दशरथ नाम विदित है'। अतः 'बेद बिदित' कहा। 'दशरथ' नाम इससे रक्खा गया कि ये ऐसे प्रतापी होंगे कि इनका रथ दशों दिशाओंमें बेरोक जासकेगा और ऐसा हुआ भी। देवासुर-संग्राममें तथा शनैश्चरसे युद्ध करनेका विचार करके ये ऊर्ध्वदिशामें रथसमेत गयेही थे।] (ग) 'दसरथ नाऊ' कथनका भाव कि अवधपुरीमें सब राजा रघुकुलमणि हुए हैं, अतः संदेह निवृत्यर्थ इनका नाम कहा।

टिप्पणी-२ 'धर्मधुरंधर गुननिधि ज्ञानी।०' इति। (क) यहाँ दिखाते हैं कि राजा कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त हैं। धर्मधुरंधर अर्थात् धर्मकी धुरी वा धर्मरूपी भारके धारण करनेवाले हैं, इससे 'कर्म' कहा। 'ज्ञानी' शब्दसे ज्ञानयुक्त कहा और 'हृदय भगति०' से भक्ति वा उपासना कही। (ख) धर्मसे गुण आए। यम, नियम, आसन, प्राणायामादि गुणोंसे ज्ञान हुआ, और ज्ञानसे भक्ति प्राप्त हुई; यथा 'संयम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद-रति रस बेद बखाना।' अतः 'धर्मधुरंधर', 'गुननिधि', 'ज्ञानी' आदि क्रमसे कहे। (ग) 'हृदय भगति मति सारंगपानी'—हृदयमें शार्ङ्गपाणिकी भक्ति है और मतिमें शार्ङ्गपाणि हैं। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि जो मनुरूपमें धनुर्धारी श्रीरामजीका दर्शन हुआ है वही रूप हृदयमें बस रहा है और उन्हींकी भक्ति हृदयमें बस रही है। विना भक्तिके श्रीरामजी हृदयमें नहीं बसते; इसीसे दोनोंका वास कहा। (घ) 'मति सारंगपानी' अर्थात् जिनका निश्चय है कि ब्रह्म शार्ङ्गपाणि हैं—'निश्चयात्मिका बुद्धिः'। बुद्धिका काम निश्चय करनेका है। [मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'हृदय भगति मति शारंगपानी' का भाव यह है कि धनुर्धारी श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति बनी रही, क्योंकि इन्हींके लिये मनुशरीरमें तप किया था और इन्होंने प्रगट होकर वर दिया था। (पां०)]

टिप्पणी—३ 'कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत०' इति। (क) श्रीकौसल्याजी, श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजीही 'प्रिय नारि' हैं। यथा 'तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहाँ चलि आईं। १९०.१।' जिन रानियोंसे अवतार होनेको है उन्हींका वर्णन यहाँ करते हैं। श्रीकौसल्याजी सबसे बड़ी हैं और प्रथम विवाहिता रानी हैं; इससे उनको प्रथम कहा। (ख) 'सब आचरन पुनीत' अर्थात् गुरु-गौ-विप्र-साधु-सुर-सेवी हैं; यथा 'तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ २९४।४।' 'पुनीत' कहनेका भाव कि वैदिक धर्माचरण उनको प्रिय है, उसीमें लगी रहती हैं। [पुनः, ये तीनों

रानियाँ श्री, ह्री और कीर्त्तिके समान हैं, यथा 'अस्य भार्यासु तिसृषुह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च । वाल्मी० १।१५। २०।'—ऐसा देवताओंका मत है, अतः 'पुनीत' कहा। कौसल्याजी भानुमंतजीकी कन्या हैं। जो दक्षिण कोसलके राजा थे। सुमित्राजी मगधदेशके राजाकी कन्या हैं। सत्यो० पू० अ० २८, ४७ में उनको 'मागधी' कहा है, यथा 'नित्यं नित्यं तु चोत्थाय प्रातःकाले तु मागधी । लक्ष्मणं रामसान्निध्यं शत्रुघ्नं भरतस्य तु ।' आनन्द रामा० सार कांड सर्ग १ में भी कहा है—'विवाहेनाकरोत् पत्नी सुमित्रां मगधेशजाम्'। और, कैकेयीजी केकयवंशके राजा अश्वपतिकी कन्या हैं। इनको 'केकयराज' और 'केकय' भी कहा गया है। यथा 'सत्कृत्य कैकयो राजा भरताय ददौ धनम् । वाल्मी० २.७०.१६ ।" 'ददावश्वपतिः शीघ्रं भरतायाऽनुयायिनः । २२ ।' पुत्रेष्टि-यज्ञमें राजाके तीनों श्वसुरोंको निमंत्रण भेजा गया है। वहां सबके नाम वसिष्ठजीने कहे हैं। यथा 'तथा कोसल-राजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम् । मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् । १.१३.२६ ।", "तथा केकयराजानं वृद्धं परम धार्मिकम् ।' '२४।" बंगलाके कृत्तिवास रामायणकी सुमित्राजी सिंहलराज्यके राजा सुमित्रकी कन्या हैं—"सिंहल राज्येर ये सुमित्र महीपति । सुमित्रा तनया तार अति रूपवति ।"] रानियों के सब आच-रण पुनीत हैं यह कहकर आगे आचरण दिखाते हैं। (ग) 'पति-अनुकूल प्रेमदृढ़०' इति । पति के अनुकूल होना तथा विनीत होना पतिव्रताका धर्म है; यथा 'पति अनुकूल सदा रह सीता । सोभाखानि सुसील बिनीता । ७।२४ ।' मातापिताकी शुद्धता कहकर तब आगे अवतारका होना वर्णन करते हैं—पिता धर्मधुरं-धर हैं, माता पति-अनुकूल हैं। स्त्रीका यही धर्म है; यथा 'एकै धर्म एक ब्रत नेमा । काय बचन मन पति-पद प्रेमा । ३।५।१० ।' पिताके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति है और माताओंका हरिपदकमलमें दृढ़ प्रेम है; यथा 'हृदय भगति मति०' और 'प्रेम दृढ़ हरिपद कमल ०'। पिता गुणनिधि हैं और मातायें विनीत हैं, पिता ज्ञानी हैं और मातायें सब आचरन पुनीत हैं। कौसल्यादि मातायें अपने पतिको प्रिय हैं और स्वयं पतिके अनुकूल हैं—इस प्रकार राजा और रानियोंका अन्योन्य प्रेम कहा।

नोट—१ 'हरिपद' अर्थात् जिनकेलिये मनुशतरूपाजीने तपस्या की थी; यथा 'पुनि हरि हेतु करन तप लागे । १४४।२ ।' अर्थात् द्विभुजधनुर्धारी श्रीरामजी और जो उनके सामने प्रकट हुए थे, यथा 'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी । १४८ । ५ ।', 'रामाख्यमीशं हरिम्'—(पां०); उनके चरणोंमें । (ख) हमने 'प्रेम दृढ़' को देहलीदीपक माना है। पं० रामकुमारजी आदिने इसे 'हरिपद' के साथ अन्वित किया है।

२ "श्रीमद्गोस्वामीजीके मतानुसार महाराज श्रीदशरथजीके ७०० रानियाँ थीं । 'दशरथ राउ सहित सब रानी' में देखिये । रानियाँ चार प्रकारकी होती हैं–महिषी, जिससे प्रथम विवाह वा सिंदूरदान हुआ हो। परिव्राता, जिससे पीछे विवाह हुआ । बावाता जिसको वेब्याहे अंगीकार कर लिया हो । और पालाकली, जो दासी भावसे रहती हो। यज्ञमें महिषी और परिव्राताहीको अधिकार है। वाल्मीकीयमें ३५० और महारामायणमें ३६० रानियाँ राजादशरथजीकी कही गई हैं। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि राजाकी महिषी और परिव्राता दोही प्रकारकी रानियाँ थीं।" (प्र० सं०)

☞ पद्मपुराणमें स्पष्ट उल्लेख तीनही विवाहोंका है। १६० (१-४) नोट ३ देखिए। श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'कहीं और संकेत है मगर मानसमें इतनी रानियोंका संकेत नहीं है। याद रहे कि गोस्वामीजीने मानसमें कथाका बहुतही संशोधित रूप दिया है।' प्रथम संस्करणमें गीतावलीके "पाला-गनि दुलहियन सिखावति सरिस सासुसतसाता । देहिं असीस ते बरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता । १.१०८.२ ।' के तथा वाल्मीकीयके आधारपर वह नोट लिखा गया था; परन्तु दोहा १६.६ के तीसरे संस्करणके मा० पी० तिलकके लिखते समय वह विचार शिथिल जान पड़ा। परंतु टीकाकारोंने मा० पी० के उस नोटको अपनी टीकामें सहर्ष उतार दिया है, इस लिये वहभी दे दिया गया। मानसकाव्य आदर्शकाव्य रचा गया,

इसी कारण इसमें आदर्शचरितोंका वर्णन है। इस ग्रंथ भरमें केवल तीनही रानियोंके नाम और उन्हींकी चर्चा की गई है। तीन स्त्रियोंका होनाभी आदर्श नहीं है तथापि इनके विना कथानक पूरा नहीं हो सकता था। इस पर प. प. प्र. का नोट १९३ (१) में देखिये।

एक बार भूपति मन माहीं। भै गलानि मोरे सुत नाहीं॥ १॥
गुरगृह गए तुरत महिपाला। चरन लागि करि बिनय बिसाला॥ २॥
निज दुख सुख सब गुरहि सुनायउ। कहि बसिष्ठ बहुबिधि समुझायउ॥ ३॥

शब्दार्थ—गलानि (ग्लानि)=खेद। मनकी एक वृत्ति जिसमें किसी अपने कार्यकी बुराई, दोष वा कमी आदिको देखकर मनमें अनुत्साह अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है। चरण लगना=चरणोंका स्पर्श करना, चरण छूना, चरणोंमें पड़कर प्रणाम करना।

अर्थ—एक बार राजाके मनमें ग्लानि हुई कि मेरे पुत्र नहीं है। १। राजा तुरत गुरुजीके घर गए और चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करके बहुत बड़ी विनय करके अपना सारा दुःख-सुख गुरुको सुनाया॥ श्रीवसिष्ठजीने बहुत प्रकारसे कहकर समझाया। २—३।

टिप्पणी—१ 'एक बार भूपति मन माहीं।०' इति। (क) "एक बार" अर्थात् जब भगवान्के अवतारका समय आया तब ईश्वरकी प्रेरणासे राजाके मनमें ग्लानि हुई। तीन पन बीत चुके, अब राजाका चौथा पन है। यथा 'चौथे पन पाएउँ सुत चारी। २०८।२।' पुत्रविना वंशका नाश है जिससे आगे राज्यका अंत है, पितृकी तृप्ति विना पुत्रके नहीं होती और न गृहस्थाश्रमकी शोभाही हो, इसीसे ग्लानि हुई। [पुत्र-विना नरकसे उद्धार कैसे होगा? यथा "पुन्नाम्नोनरकाद्यस्मात्त्रायते पितरं सुतः" इति मनुः। हमारी आयु बीती जा रही है, वनमें जाकर भजन करनेका समय होगया, राज्य किसको दें? ऐसेही चलदें तो प्रजा दुखी होगी जिससे हमें नरकमें पड़ना होगा, यथा 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी। अ० ७१।' इससे कुछ समझमें नहीं आता कि क्या करें।] 'मोरे सुत नाहीं' का भाव कि औरोंके हैं, हमही एक निपुत्री हैं [वा, और सब सुख हैं पर पुत्र नहीं है। पुत्रके विना सब धन, ऐश्वर्य, राज्य आदि सुख व्यर्थ हैं। यथा 'पुत्रहीनस्य मे राज्यं सर्वं दुःखाय कल्पते। अ० रा० १।३।३।' अर्थात् विना पुत्रके यह संपूर्ण राज्य मुझे दुःखरूप हो रहा है] (ख) 'भै गलानि०'। यथा ब्रह्मांडे—"नरस्यपुत्रहीनस्य नास्ति वै जन्मतः फलम्। अपुत्रस्य गृहं शून्यं हृदयं दुःखितं सदा॥१॥ पितृदेव मनुष्याणां नानृणत्वं सुतं विना। तस्मात् सर्व-प्रयत्नेन सुतमृत्पादयेन्नरः॥२॥"—(खर्रा)। अर्थात् पुत्रहीन मनुष्यको जन्मका फल कुछ नहीं है। अपुत्रका घर शून्य लगता है जिससे उसका हृदय सदा दुःखी रहता है। पितर, देव और ऋषियोंके ऋणसे पुत्रके विना उद्धार नहीं होता। इसलिये मनुष्यको पुत्रोत्पत्तिका प्रयत्न करना चाहिए।

२ 'गुरगृह गए तुरत महिपाला।०' इति। (क) गुरुके घर जानेका भाव कि यदि राजकाजका कुछ काम होता तो अन्य मंत्रियोंको सुनाते पर इस कार्य्यके करनेका सामार्थ्य वसिष्ठजीको ही है, अतएव उन्हींके पास गए कि जो उपाय वे बतावें वह हम करें। (वाल्मीकीय आदिमें गुरु आदिको अपने यहाँ बुलाना लिखा है)। (ख) "गए तुरत", तुरत जानेके कुछ कारण ये हैं कि मेरा भुलक्कड़ स्वभाव है कहीं भूल न जाऊँ; यथा "बिसरि गयो मोहि भोर सुभाऊ। २।२८।' पुनः इस समय गुरुसे अपना दुःख कहनेकेलिए अच्छा अवसर था, गुरुजी एकान्तमें होंगे, उन्हें अवकाश होगा। अथवा, इस समय ऐसी तीव्र ग्लानि हुई कि विना गए और कहे रहा न गया, अतः 'तुरत गए'। [(ग) 'महिपाला' का भाव कि इस कार्य्यसे पृथ्वी का पालन होगा, प्रजाको सुख होगा। पुनः भाव कि चक्रवर्त्ती राजा होकर स्वयं वसिष्ठजीके पास गए क्योंकि

'महिपाल' हैं, इन्हें पृथ्वीके पालनकी अत्यंत चिंता है। ये राजा हैं और वसिष्ठजी गुरु हैं; गुरुके संबंधसे उनके यहाँ गए, मंत्रीके संबंधसे नहीं। अतः राजाके जानेमें 'गुरगृह' शब्द दिये। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'महिपाला' का भाव यह है कि पृथ्वीका पालन तो वेदरीतिसे करते ही हैं, कुछ पृथ्वी धन धामकी कमी नहीं है, इनके लिये नहीं गए, चित्तमें पुत्रकी चिंता है इसलिये गए।]

२ 'चरन लागि करि बिनय बिसाला' इति। (क) चरणोंमें पड़कर तब बिनय करे यह गुरुस्तुति करनेकी विधि है; यथा 'सीस नवहिं सुरगुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी। २।१२९।' विशेष विनय करनी चाहिए अतः यहाँ भी 'बिसाल बिनय' पद दिया। ['बिनय बिसाला'—जैसे कि 'जब जब रघुवंशियोंको संकट पड़े आपहीने मिटाकर सुख दिया, आप समर्थ हैं, हमाराभी मनोरथ पूर्ण कर सकते हैं। यथा 'भानुबंस भए भूप घनेरे। अधिक एकतें एक बड़ेरे॥ जनम हेतु सब कहँ पितु माता। करम सुभासुभ देइ बिधाता॥ दलि दुख सजइ सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना॥ सो गोसाइँ बिधि गति जेहिं छेंकी। सकइ को टारि टेक जो टेकी॥ २।२५५।"—यह श्रीभरतजीने श्रीवशिष्ठजीसे कहा है। वैसाही यहाँ समझिये। विशेष २।२५५।५-८ में देखिये। (ख) मिलानका श्लोक, यथा 'अभिवाद्य वशिष्ठं च न्यायतः प्रतिपूज्य च। अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं प्रसवार्थं द्विजोत्तमम्। वाल्मी० १।१३।२।' अर्थात् वसिष्ठजीको उन्होंने प्रणाम किया और उनकी पूजा की और पुत्रप्राप्तिहेतु विनययुक्त बचन बोले।] वसिष्ठजीसे राजाने कहा कि आप मेरे परम स्नेही हैं, मित्र हैं तथा गुरु हैं, अतः आप यज्ञका भार लें और मेरा दुःख दूर करें। 'भवान् स्निग्धः सुहृन्मह्यं गुरुश्च परमो महान्।''' वाल्मी० १।१३।४।'

३ 'निज दुख सुख सब गुरहि सुनाएउ।०' इति। (क) इस समय पुत्र न होनेका दुःख बहुत व्याप रहा है; इसीसे प्रथम दुःख सुनाए, पीछे सुख। सुख यह सुनाया कि धन धान्य राज्य प्रजा आदि सभी सुख आपहीकी कृपासे हुए और ऐसे हुए कि इन्द्रादिभी तरसते हैं, उनको भी वैसा ऐश्वर्य्य प्राप्त नहीं है। 'दुःख सुनाया' अर्थात् पुत्र न होनेकी ग्लानि सब कहकर अंतमें यह कहा कि यह दुःख आपही दूर करें, यथा 'दलि दुख सजै सकल कल्याना। अस असीस राउरि जगु जाना'। [दुःख-सुख साथ बोलनेका मुहावरा भी है। पुनः, राजाको इस समय पुत्रहीन होनेसे सब सुखभी दुःखरूप हो रहे हैं, यह सारा राज्य, कोश, ऐश्वर्य्य व्यर्थ है, जब इसका भोगनेवाला अपना कोई पुत्र नहीं है, इत्यादि। इसीसे दुःख शब्द प्रथम कहा गया।] दुःख प्रकट कहा है कि पितर हमारे हाथका जल नहीं लेते, कहते हैं कि "तुम्हारा अर्पित जल हमको तप्त लगता है, तुम कुलमें ऐसे अभागी हुए कि कुलहीको निर्मूल कर डाला, तुम निपुत्र हुए, आगे हमें जल कौन देगा?' ऐसी करुणामयी वाणी कहकर पितृगण हमारी निन्दा कर रहे हैं जिससे हमको बड़ा दुःख है। [वाल्मीकीयमें उन्होंने यह कहा है कि मैं पुत्रके लिये बहुत दुःखी हूँ, मुझे सुख नहीं है, मैं पुत्रके लिये अश्वमेधयज्ञ करना चाहता हूँ। "यथा 'धर्मार्थसहितं युक्तं श्लक्ष्णं वचनमब्रवीत्। मम लालप्यमानस्य पुत्रार्थं नास्ति वै सुखम्।''' वाल्मी० १।१२।८।'] (ख) 'कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझाएउ' इति। 'बिनय बिसाला' के संबंधसे 'बहुबिधि समुझाएउ' कहा। समझाया कि हम उपाय करते हैं, धीरज धरो, इत्यादि, जैसा आगे कहते हैं।

नोट - १ बाबा हरीदासजी 'बहुबिधि' समझाना यह कहते हैं—"एक यह कि वेद पुराणमें जो यह लिखा है और नारद-सनकादिक इत्यादि ऋषि कहते हैं कि दशरथके चार भक्तभयहारी पुत्र होंगे सो वृथा नहीं हो सकता। दूसरी बिधि यह कि भूतकालमें कश्यप-अदिति दशरथ-कौसल्या हुए और वर्तमानमें आप राजा मनुके अवतार हुये और कौसल्या शतरूपा हैं सो आपके यहाँ भगवान्ने अंशोंसहित अवतार लेनेको कहा है। तीसरी बिधि यह कि युगके अन्तमें चौथे चरणमें अवतार होता है, अब

चौथा चरण है; अतः अब देर नहीं है। चौथी बिधि कि रावणने भारी तप करके वर पाया है कि दशरथके वीर्य्यसे पुत्र न हो इससे परम विरक्त शृङ्गीऋषिद्वारा पुत्रेष्टी यज्ञ कराइए, उसके पिण्डा द्वारा पुत्र होंगे।

२ पंजाबीजीके मतानुसार समझाया कि 'जिस पापसे अब तक संतान न हुई वह अब निवृत्त हो गया'।

३ विजयदोहावलीमें कहा है कि 'पूरब ही बर जो मिलेउ रहेउ अंधरिषि साप। तुलसी गुरुहि सुनाइयो देवनको संताप॥' इसके अनुसार समझाना यह है कि जो तुमको अंधे ऋषिका शाप था वह तुम वरदान समझो, पुत्रके शोकमें मरण होनेका शाप है; यथा "पुत्रशोकेन मरणं प्राप्स्यसे वचनान्मम। अ० रा० २।७।४५।' पुनश्च यथा "पुत्रव्यसनजं दुःखं यदेतन्मम सांप्रतम्। एवं त्वं पुत्रशोकेन राजन्कालं करिष्यसि। वाल्मी० २।६४।५४।',-अर्थात् पुत्रके मरणसे जैसा मुझे इस समय शोक हो रहा है वैसा ही पुत्रका शोक तुमको होगा। तो पुत्र विना हुए कब शाप सच्चा हो सकता है और शाप व्यर्थ होनेका नहीं; अतएव पुत्र अवश्य ही होगा, चिन्ता न करो। इत्यादि। [यह शाप श्रवण मुनिके पिता यज्ञदत्तने दिया था ऐसा व्रजरत्नभट्टाचार्यने हनुमन्नाटकमें "श्रवण मुनिपितुः।३,१।" की टीकामें लिखा है]

धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भयहारी॥४॥
शृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्र-काम सुभ जज्ञ करावा॥५॥

शब्दार्थ—पुत्र-काम-यज्ञ=पुत्रकी कामनासे जो यज्ञ हो; पुत्रकामेष्टियज्ञ; पुत्रेष्टि यज्ञ। पुत्रकाम=पुत्रकी कामनाका संकल्प करके।

अर्थ—धैर्य्य धरो, तुम्हारे चार पुत्र होंगे जो त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध, भक्तोंके भय हरनेवाले होंगे॥४॥ (फिर) वसिष्ठजीने शृंगीऋषिको बुलवाया और पुत्रकी शुभकामनासे शुभ पुत्रकामेष्टि यज्ञ कराया॥५॥

नोट—'धरहु धीर' अर्थात् पुत्रकी कामनासे व्यग्र न हो, मनको स्थिर रक्खो। 'होइहहिं सुत चारी' अर्थात् तुम्हें एकहीके लाले पड़े हैं और होंगे तुम्हारे चार।

टिप्पणी—१ 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी।०' इति। (क) 'सुत चारी' का भाव कि आकाशवाणी ने चारपुत्रोंका होना कहा है, यथा 'तिन्हके गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुलतिलक सो चारिउ भाई। १८७।५।' वसिष्ठजी ब्रह्माजीके पुत्र हैं, ब्रह्मर्षि हैं, मुनि हैं, उनकी यह बात जानी हुई है, इसीसे उन्होंने राजासे ऐसा कहा कि त्रिभुवनविदित चार सुत होंगे। ☞राजाको यह सब बात समझा दी, इसीसे श्रीरामजन्मके समय राजाको ऐश्वर्य्यका ज्ञान बना रहा, यथा 'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरें गृह आवा प्रभु सोई। १९३।५।' (ख) 'त्रिभुवन बिदित' इति। भक्तोंका भय हरण करनेसे अर्थात् राक्षसोंका वध करनेसे पातालमें (दैत्य राक्षसों इत्यादिको) विदित हुए, देवताओंकी रक्षा होनेसे, बंदीखानेसे लोकपालोंकी रिहाई होनेसे स्वर्गलोकों में विदित हुए और साधु, ब्राह्मण आदिकी रक्षा होनेसे मर्त्यलोकमें विदित हुए। (ग) 'भगतभयहारी' कहा क्योंकि आकाशवाणी है कि 'निर्भय होहु देव समुदाई। १८७।७।' और भगवान्का यह विरद है, यथा 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम'। [पुनः, धनुर्भंगसेभी तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हुए; क्योंकि धनुषयज्ञमें तीनों लोकोंके निवासी आए थे, यथा 'देव दनुज धरि मनुजसरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा।', 'महि पाताल नाक जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा'। पर यहाँ भक्तभयहरण मुख्य है, आकाशवाणीमें 'निर्भय होहु' यह घोषणा है; अतः उसीको कहा। जनक महाराजकी चिंता मिटी, वे प्रधान द्वादश भक्तोंमेंसे हैं। पुनः, 'भगतभय हारी' कहकर इनके (दशरथजीके) यहाँ भगवान्का आविर्भाव कहा। यहाँ तक एक प्रकारसे समझाना हुआ, दूसरी 'विधि' आगे कहते हैं कि हम तुरत शृङ्गीऋषिको बुलाते हैं इत्यादि। बैजनाथजी लिखते हैं कि "सुत चारी त्रिभुवनविदित०" से मनुशरीरमें जो वरदान प्रभुने दिया था उसका उनको स्मरण कराया—'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता।' भाव यह कि तीन अंशोंके

सहित अंशी प्रभु अवतार लेकर चरित करेंगे जिनसे त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध होंगे, भक्तोंको सुख होगा, अतएव 'भक्तभयहारी' कहा।" 'त्रिभुवन बिदित' से यह भी जनाया कि चारों पुत्र महान् पराक्रमी, तेजस्वी, प्रतापी, अतुलित बली, शीलवान्, दानी, सत्यप्रतिज्ञ आदि गुणविशिष्ट होंगे। उनसे वंशकी प्रतिष्ठा होगी, इत्यादि। —"पुत्राश्चास्य भविष्यन्ति चत्वारोऽमितविक्रमाः। वंशप्रतिष्ठानकराः सर्वभूतेषु विश्रुताः। वाल्मी० १।११।१०।"]

२ 'श्रृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा ०।' इति। (क) वसिष्ठजीने बुलाया, इसमें भाव यह है कि श्रृङ्गी जी राजाके बुलानेसे न आते, वसिष्ठजीके संकोचसे वे आए। प्रथम 'बहु बिधि समझाएउ' लिखकर फिर श्रृङ्गीजीका बुलाना कहकर जनाया कि वसिष्ठजीने पुत्र होनेका उपायभी बताया (प्रथम पुत्र होना कहा, फिर उपाय बताया) और श्रृङ्गीजी क्योंकर आवेंगे यहभी बताया। उस उपायसे बुलाया।

नोट– १ ऋष्यश्रृङ्ग क्योंकर लाए गए इसमें कल्पभेदसे कथामें भेद है। वाल्मी० १।११ में सुमंत्रजी ने सनत्कुमारजीकी कही हुई कथा कहकर राजासे स्वयं जाकर लानेको कहा और राजाने श्रीवसिष्ठजीकी अनुमति लेकर ऐसाही किया। यथा 'सान्तः पुरः सहामात्यः प्रययौ यत्र स द्विजः।' अर्थात् अपनी रानियों और मंत्रियोंको साथ लिये वहाँ गए जहाँ ऋषि थे। वैजनाथजी बीरसिंह बंधुवर्गको भेजकर बुलाना लिखते हैं। यहाँ गोस्वामीजीने बसिष्ठजीका बुलवाना लिखकर सबके मतकी रक्षा करदी। उन्होंने जिसे उचित समझा उसे भेजा। अ० रा० में वसिष्ठजीने राजासे स्पष्ट कहा है कि "शान्ताभर्तारमानीय ऋष्यश्रृङ्गं तपोधनम्। अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर॥ १। ३। ५।" अर्थात् शान्ताके पति तपोधन ऋष्यश्रृङ्ग को लाकर हम लोगोंको साथ लेकर पुत्रेष्टियज्ञका अनुष्ठान करो।

अंगनरेश रोमपादजी राजा दशरथके मित्र थे, यथा 'अङ्गराजेन सख्यं च तस्य राज्ञो भविष्यति। वाल्मी० १। ११। ३।' इससे राजा वहाँ स्वयं गए। रोमपादजीने मित्रभावसे उनका आदर-सत्कार किया और ऋष्यश्रृङ्गसे उन्होंने दशरथजीके साथ अपनी मित्रता होनेका वृत्तान्त कहा। कुछ दिन ठहरनेके पश्चात् दशरथजीने अपना अभीष्ट कहा। अङ्गनरेशने ऋषिसे शान्तासहित उनके साथ जानेको कहा। वे राजी हो गए और उनके साथ श्रीअयोध्याजी आए। (सर्ग ११)। कोई कहते हैं कि रोमपादका नाम दशरथभी था, इस भेदको न जानकर लोग उन्हें अवधनरेशकी कन्या कह देते हैं। परन्तु स्कन्द पुराण नागरखण्डमें लिखा है कि मँझली रानी श्रीसुमित्राजीसे एक सुन्दरी कन्या भी उत्पन्न हुई जिसे श्रीदशरथजी महाराजने पुत्रहीन राजा लोमपादको दत्तक पुत्रीके रूपमें दे दिया।

नोट—२ ☞ कथाका संशोधित रूप फिर देखिये। वाल्मीकीयमें दो यज्ञोंका होना लिखा है परन्तु पुत्रेष्टियज्ञही संगत है। (दोहा १८८ भी देखिये)। (लमगोड़ाजी)।

वाल्मीकीयके श्रीदशरथजी महाराजने अश्वमेधयज्ञका निश्चय किया और पुरोहितोंसे उसीके करानेके लिये कहा भी। प्रथम अश्वमेध यज्ञ हुआ, फिर ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, अतिरात्र, अभिजित्, विश्वजित् आदि नामके यज्ञ कराये गए। तत्पश्चात् राजाने ऋष्यश्रृङ्गसे पुत्रेष्टियज्ञ करानेको कहा, यथा 'ततोऽब्रवीदृष्यश्रृङ्गं राजा दशरथस्तदा ॥४८॥ कुलस्यवर्धनं तत्तु कर्तुमर्हसि सुव्रत। वाल्मी० १।१४।' मानसकी कथा अ० रा० से मिलती है। उसमेंभी केवल पुत्रेष्टियज्ञही कराया गया है।

३ 'सुभ जज्ञ करावा' इति। ऋष्यश्रृंगसे पुत्रेष्टि यज्ञ कराया गया; क्योंकि ये उस यज्ञमें परम प्रवीण हैं इसीसे वसिष्ठादि प्रमुख ब्राह्मणोंने उन्हींको इस यज्ञमें अपना नेता बनाया; यथा—"ततो वसिष्ठप्रमुखाः सर्व एव द्विजोत्तमाः। ऋष्यश्रृङ्गं पुरस्कृत्य यज्ञकर्मारभंस्तदा। वाल्मी० १।१३।'—जैसे बड़े-बड़े कालीन ऋषियोंके होते हुएभी श्रीशुकदेवजीने ही राजा परीक्षितको श्रीमद्भागवत सुनाया। अथवा, यही भगवद्विधान था। सनत्कुमार-

जीने हजारों वर्ष पहलेही यह विधान ऋषियोंसे कह रक्खा था। वसिष्ठजी जानते थे और सुमंत्रजीभी कि यह यज्ञ उन्हींके द्वारा होना है अतः उनसे यज्ञ कराया गया।

४ शृंगीऋषि (ऋष्यशृङ्ग) इति। वाल्मीकीयमें श्रीसुमंत्रजीने राजा दशरथजीसे कहा है कि श्रीसनत्कुमारजीने आपके संतानके संबंधमें ऋषियोंसे जो कहा था वह मैं आपको सुनाता हूँ। उसमें उन्होंने ऋष्यशृङ्गकी पूरी कथा कही है। ऋष्यशृङ्ग कश्यपपुत्र * विभाण्डकऋषिके पुत्र हैं। ये सदा वनमें अपने पिताके पास रहनेके कारण किसी स्त्री वा पुरुषको नहीं जानते थे। इस तरह ब्रह्मचर्यसे रहते अग्नि और पिताकी सेवा करते बहुत काल बीत गया। उसी समय अंगदेशमें रोमपाद नामक प्रतापी राजा हुआ। उसके राज्यमें बड़ा भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, जिससे प्रजा भयभीत हो गई। राजाने सुविज्ञ वेदज्ञ ब्राह्मणोंसे अपने कर्मोंका (जिनके कारण वर्षा नहीं हुई) प्रायश्चित्त पूछा। उन ब्राह्मणोंने राजाको यह उपाय बताया कि आप जैसे बने वैसे विभाण्डक मुनिके पुत्रको यहाँ ले आइए और उनका सत्कार करके यथाविधि उनके साथ अपनी कन्या शान्ताका विवाह कर दीजिये। राजा चिन्तित हुए कि कैसे ऋषिको यहाँ लावें। बहुत सोच-विचारकर उन्होंने अपने पुरोहित और मंत्रियोंसे कहा कि आप लोग जाकर ले आवें, परन्तु उन लोगोंने निवेदन किया कि हम लोग वहाँ जानेमें विभाण्डक ऋषिके शापसे डरते हैं, हम लोग वहां स्वयं न जाकर किसी अन्य उपायसे ऋष्य शृङ्गको यहां ले आयेंगे जिससे हमको दोष न लगे। (सर्ग ९)। मंत्री और पुरोहितने निर्विघ्न कृतकार्य होनेका यह उपाय बताया कि रूपवती वेश्याएँ सत्कारपूर्वक भेजी जायँ, वे तरह-तरहके प्रलोभन दिखाकर ले आवेंगी। राजाने वैसा ही उपाय करनेको कहा। वेश्याएँ भेजी गईं। आश्रमके निकट पहुँचकर वे धीर ऋषिपुत्रके दर्शनका प्रयत्न करने लगीं। ऋष्यशृङ्गने आज तक स्त्री, पुरुष, नगर वा राज्यके अन्य जीवोंको कभी नहीं देखा था। दैवयोगसे वे एक दिन उस जगह पहुँचे जहाँ वेश्याएँ टिकी थीं। तब मधुर स्वरसे गाती हुई वे सब उनके पास जाकर बोलीं कि आप कौन हैं और किस लिये इस निर्जन वनमें अकेले फिरते हैं। उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया और उनको अपने आश्रमपर लिवा ले जाकर अर्घ्य, पाद्य, फल-मूलसे उनका सत्कार किया। वेश्याओंने उनको तरह-तरहकी मिठाइयाँ यह कहकर खिलाईं कि ये हमारे यहांके फल हैं इनको चखिये। फिर उनका आलिंगनकर वे बिभाण्डकजीके भयसे झूठमूठ व्रतका बहाना कर वहाँसे चली आईं। वेश्याओंके लौट जानेसे ऋष्यशृङ्गजी दुःखके मारे उदास हो गए। दूसरे दिन वे फिर वहीं पहुँचे जहाँ पहले दिन मनको मोहनेवाली उन वेश्याओंसे भेंट हुई थी। इनको देखकर वेश्याएँ प्रसन्न हुईं और इनसे बोलीं कि आइए, आप हमाराभी आश्रम देखिए, यहाँकी अपेक्षा वहाँ इससेभी उत्तम फल मिलेंगे और अधिक उत्तम सत्कार होगा। ये वचन सुनकर वे साथ चलनेको राजी हो गए और वेश्याएँ उनको अपने साथ ले आईं। उन महात्माके राज्यमें आतेही सहसा राज्यमें जलकी पुष्कल वर्षा हो गई, जिससे प्रजा सुखी हुई। वर्षा होनेसे राजा जान गए कि मुनि आगए। राजाने उनके पास जाकर दंडप्रणाम कर उनका अर्घ्य पाद्यादि द्वारा यथाविधि पूजन किया और उनसे वर माँगा जिससे वे एवं उनके पिता (राजापर छलसे लाये जानेके कारण) कोप न करें। फिर राजा उन्हें अपने रनवासमें ले गए और शान्ताका विवाह उनके साथ कर दिया। (सर्ग १०)। ऋष्यशृङ्ग वहीं शान्ताके साथ रहने लगे।

ऋष्यशृङ्गके जन्मकी कथा इस प्रकार है कि एक बार विभाण्डक मुनि एक कुण्डमें समाधि लगाये बैठे थे, उसी समय उर्वशी अप्सरा उधर आ पड़ी। उसे देखकर उनका वीर्य स्खलित हो गया जिसे जलके

---

* द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीका पाठ "कश्यपस्य तु पुत्रोऽस्तिविभाण्डक" है और चन्द्रशेखर शास्त्रीका पाठ "काश्यपस्य ..." है।

साथ एक मृगी पी गई। उस मृगीसे इनका जन्म हुआ। माताके समान इनके शिरपर भी सींग निकल आनेकी सम्भावनासे मुनिने इनका नाम ऋष्यशृङ्ग रक्खा।

भगति सहित मुनि आहुति दीन्हे। प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे ॥६॥

जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा। सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा ॥७॥

शब्दार्थ—आहुति = होमद्रव्यकी वह सामग्री जो एक बार यज्ञकुंडमें डाली जाय। = हवनमें डालनेकी सामग्री। आहुति देना = मंत्र पढ़कर देवताके लिये होमकी सामग्री अग्निकुंडमें डालना। चरू (सं० चरु) = हव्यान्न, हविष्यान्न, पायस, क्षीरान्न।—'चरु भांडे च हव्यान्ने' इति विश्वप्रकाशः। (खर्रा)।

अर्थ—मुनिने श्रद्धा और अत्यन्त अनुरागपूर्वक आहुतियाँ दीं। अग्निदेव हाथमें पायस लिये हुए प्रगट हुये ॥६॥ (और बोले) वसिष्ठजीने जो कुछ हृदयमें विचारा था, तुम्हारा वह सब कार्य्य सिद्ध होगया ॥७॥

टिप्पणी—१ (क) 'भगति सहित' का भाव कि भगवान्‌के अवतारका हेतु भक्ति है, यथा 'भगतहेतु भगवान प्रभु लीन्ह मनुज अवतार', 'सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या की गोद'। भक्तिका अर्थ श्रद्धा, विश्वास और अति अनुराग है। प्रेमसे भगवान् प्रगट होते हैं। प्रेमसे आहुति दी, अतः अग्निभगवान् प्रगट होगए। आहुतियाँ अथर्ववेदके मंत्रोंसे दी गईं। यथा 'अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः। वाल्मी० १।१५।२।' ऋष्यशृङ्गके ये वचन हैं और वसिष्ठजीभी अथर्वणी हैं। (ख) 'चरू कर लीन्हे' से पाया गया कि अग्निदेव नराकार प्रकट हुए। पुत्रकी कामनासे यज्ञ किया गया, इसीसे हाथमें (रानियोंके खिलानेके लिये)खीर लेकर प्रकट हुए। ['कर लीन्हे'—वाल्मीकिजी लिखते हैं कि वह देवता दोनों हाथोंसे स्वर्णपात्रको पकड़े हुये था। यथा 'दिव्य पायस संपूर्णां पात्रीं पत्नीमिव प्रियाम्। प्रगृह्य विपुलां दोर्भ्यां स्वयं मायामयीमिव ।१।१६।१५।']

नोट—१ 'प्रगटे अगिनि०' इति। वाल्मीकीय बालकांड सर्ग १६ में यज्ञाग्निसे जो पुरुष निकला उसका वर्णन यों है—"बड़ा तेजस्वी, महाबली, पराक्रमी, लालवस्त्र पहिने और लाल मुँहवाला था। सिंहके बालके समान दाढ़ी और शिरके केश थे। पर्वत सदृश विशाल, सूर्य्यसम तेजवान, जलती हुई अग्निके समान असह्य प्रकाशवाला हाथमें उत्तम स्वर्णपात्रमें दिव्य पायस लिये हुए।" गोस्वामीजी यहाँ साक्षात् अग्निदेवका प्रगट होना कहते हैं। करुणासिंधुजी और बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'परब्रह्मने अग्निद्वारा पायस भेजा, मानों यह राजा दशरथके यहाँ अपना प्रस्थान भेजा'। और वाल्मीकीयमें अग्निदेवने कहा है कि "मैं प्रजापत्य ब्रह्माजीके यहाँसे आया हूँ। यह पायस देवताओंका बनाया हुआ है। इससे पुत्र होगा।' (प्र० सं०)। ☞अ० रा० १।३ में इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक यह है—"श्रद्धया हूयमानेऽग्नौ तप्त जम्बूनदप्रभः। पायसं स्वर्णपात्रस्थं गृहीत्वोवाच हव्यवाट् ॥७॥" अर्थात् यज्ञानुष्ठानके समय अग्निमें श्रद्धापूर्वक आहुति देनेपर तप्तस्वर्णके समान दीप्तिमान् हव्यवाहन भगवान् अग्नि एक स्वर्णपात्रमें पायस लेकर प्रकट हुए और बोले। ऐसाही मानसमें है।

२ यह यज्ञ श्रीसरयूजीके उत्तरतटपर हुआ था; यथा 'सरय्वाश्चोत्तरे तीरे यज्ञभूमिर्विधीयताम्। वाल्मी० १।१२।४।' मनोरमा नदीके दक्षिणतटपर यह यज्ञशाला पड़ता है और श्रीसरयूजीके उसपार उत्तरमें है।

टिप्पणी—२ (क) 'जो बसिष्ठ कछु०' का भाव कि वसिष्ठजीके हृदयका विचार राजा जानते हैं क्योंकि वे राजासे सब कह चुके हैं; यथा 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगत भय हारी।' इसीसे प्रगट न कहा। (ख) 'सकल काजु०' इति। कार्य्य तो एकही है—पुत्रकी प्राप्ति, यथा 'पुत्र काम

सुभ जग्य करावा' ; तब 'सकल काज' कैसे कहा ? उत्तर यह है कि 'सकल' का अर्थ यहाँ बहुत नहीं है किन्तु 'संपूर्ण' है, 'काज' एकही है । यह संपूर्ण कार्य तुम्हारा सिद्ध हुआ अर्थात् उस कार्य्यमें न्यूनता न होगी, चार पुत्र होंगे । यदि सकलका अर्थ 'बहुत' होता तो 'सकल काज भे सिद्ध तुम्हारे' पाठ होता । [बाबा हरीदासजी का मत है कि 'काज तो एक रामजन्म है ; सकलसे तात्पर्य्य यह कि "जिस उत्तम पूजासे वसिष्ठजीने अनेक विधि गुणनिधान, ऐश्वर्य्यवान् पुत्र बिचारे थे वह सकल काज सिद्ध हुआ ।" वैजनाथजीका मत है कि 'अग्निदेवने वसिष्ठजीको संबोधन किया, उन्हींसे कहा कि आपने जो हृदयमें विचारा है वह सब कार्य सिद्ध हुआ और वसिष्ठहीको पायस दिया ।' पर यह अर्थ संगत नहीं जान पड़ता । वाल्मीकीय आदिमेंभी राजाहीको संबोधन करना लिखा है और यहाँभी सीधा अर्थ यही होता है]

नोट—२ यहाँ लोग शंका करते हैं कि "यह यज्ञ सालभर हुआ । रावणके रहते हुये वह कैसे पूर्ण हुआ ?" इसका समाधान यह है कि एक तो भगवान्की लीला अपरंपार है । उनकी माया बड़ी प्रबल है । शिव-विरंचि आदभी मोहित हो जाते हैं तब रावण कौन चीज है ? 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई । करै अन्यथा अस नहिं कोई ।' देखिए, श्रीकृष्णजन्मपर सब पहरेदार सो गए, बंदीगृहके द्वार खुल गए, वसुदेवजी भगवान्को नन्दजीके यहाँ पहुँचा आए, इत्यादि इत्यादि; और किसीकोभी कुछ मर्म न मालूम हुआ । महाभारतयुद्धके समय द्रोण-भीष्मादिके सामने अर्जुनने रथसे उतरकर बाणसे जलकी धारा निकाल घोड़ोंको जल पिलाया, इत्यादि । द्रोणादि सब मायासे मोहित खड़े देखते रह गए । अर्जुनको उस समय न मार लिया, इत्यादि । दूसरे, यह यज्ञ श्रीवसिष्ठजी और ऋष्यशृङ्ग आदि महर्षियोंसे सुरक्षित था । ब्रह्मा और शिवजीभी यज्ञमें आये थे और वसिष्ठजी ब्रह्माके पुत्रही हैं । तब यहाँ रावण विघ्न कैसे कर सकता था ? तीसरे, रावणको सूर्यवंशके राजाओंकी बराबर परीक्षा मिलती गई थी । रघुमहाराजसे ब्रह्माजीने उसकी मित्रता करा दी थी । राजा दिलीपने उसके देखते-देखते यज्ञमें बैठेहुए ही आचमनका जल पीछे फेंककर वनमें व्याघ्रसे गऊकी रक्षा की, इत्यादि; जिसे जानकर वह भयभीत हो गया था । रावणने ब्रह्माजीसे यह जानकर कि कौसल्याके पुत्रद्वारा उसकी मृत्यु होगी उसने कौसल्याजीका हरणकर उन्हें एक मंजूषामें बन्दकर राघव मत्स्यको सौंप दिया था कि न विवाह होगा न पुत्र ही । दैवयोगसे दशरथमहाराज नावके टूटनेसे पतवार के सहारे बहतेहुए समुद्रमें उसी जगह पहुँचे जहाँ वह मंजूषा थी । उसमें सुन्दर स्त्री देख वेभी उसीमें सो रहे । इधर रावण ब्रह्माजीसे डींग मारने लगा तब सनकादिने उसे ललकारा । ललकारे जानेपर वह उस मंजूषाको ले आया और खोला तो उसमें राजा दशरथकोभी देख उसने उनको मार डालनेका विचार किया । ब्रह्माजीने डाँट दिया कि प्रह्लाद और हिरण्यकशिपुकी कथाको याद कर । यदि अभी मृत्यु चाहता है तो हाथ उठा, नहीं तो जाकर अभी कुछ दिन और सुख भोग ले; इसी डरसे वह विघ्न न कर सका ।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मानस और वाल्मीकीयमें कहीं ऐसा उल्लेख नहीं है कि पुत्रेष्टि यज्ञ एक वर्षतक होता रहा । पुत्रकामेष्टि तीन प्रकारकी है—एक तो श्रौताग्निमान यजमानकी, दूसरी गृह्याग्निमान यजमानकी और तीसरी लौकिकाग्निसे निरग्नि यजमानके लिये । श्रीदशरथजी श्रौताग्निमान यजमान थे । श्रौताग्निपर जो पुत्रकामयज्ञ किया जाता है, उसका यज्ञकार्य केवल दो दिनका है । इसके पूर्व ऋत्विज यजमान और यजमान-पत्नीको १२ दिन पयोव्रत करना पड़ता है । गृह्याग्निसाध्य पुत्रकामेष्टिके पूर्व यजमान और उसकी पत्नीको १२ दिन पयोव्रत करना पड़ता है, किन्तु यज्ञकार्य केवल एक दिनका है । (श्रौतपदार्थ निर्वचन ग्रन्थ) । लौकिकाग्निसाध्य इष्टि अपत्यहीन यजमानके लिये नहीं है । यह उसकेही लिये है, जिसके कन्याही होती हैं, पुत्र नहीं होता । यह एक दिनमें होता है । (धर्मसिंधु परिच्छेद ३) ।—अतएव ऐसी शंकाके लिये स्थान ही नहीं है ।

यदि एक वर्षतक होना मानभी लें, तो शंकाका समाधान शंकाके आधारवाले छंद-'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा । आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा । १८३छंद।' के रेखांकित शब्दोंसे ही हो जाता है । दशशीशके श्रवणतक यह बात नहीं जा पाई ।

यह हबि बाँटि देहु नृप जाई । जथा जोग जेहि भाग बनाई ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—हवि=पायस । हविष्यान्न ।

अर्थ—हे नृप ! जाकर इस पायसके यथा-योग्य भाग बनाकर जिसको जैसा योग्य अर्थात् उचित हो उसको वैसा बाँट दीजिये ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बाँटि देहु नृप जाई' से पाया जाता है कि रानियाँ यज्ञशालामें नहीं आई थीं, आगे लिखतेभी हैं कि 'तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं । कौसल्यादि तहाँ चलि आईं ।' यज्ञशालामें न जानेका कारण यह है कि यज्ञ शृङ्गीऋषिजीने किया, यथा 'शृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा । पुत्रकाम सुभ जज्ञ करावा ॥ भगतिसहित मुनि आहुति दीन्हे ।', यदि राजा यज्ञ करते तो रानियाँ यज्ञमें अवश्य आतीं, राजाके समीपही होतीं, उनका बुलाया जाना आगे न लिखा जाता । [वाल्मीकीयमें राजाका महलमें जाकर रानियोंको हविष्यान्न देना कहा है । यथा " सोऽन्तः पुरं प्रविश्यैव कौसल्यामिदमब्रवीत् । पायसं प्रतिगृह्णीष्व पुत्रीयं त्विदमात्मनः । १.१६.२६ ।" "अर्थात् रनवासमें जाकर राजा महारानी कौसल्याजीसे बोले—'यह पायस लो । इससे तुमको पुत्रकी प्राप्ति होगी ।—अतः 'जाई' कहा ।] (ख) जथा जोग जेहि=जिसे जैसा उचित हो । ☞ यहाँ अग्निदेवने यह नहीं बताया कि भाग कैसे बनाये जावें, कारण कि वसिष्ठजी राजासे यह सब कह चुके हैं और राजा जानते हैं कि चार भाग होंगे, यथा 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी' । पूर्व जो कहा है कि 'कहि बसिष्ठ बहु बिधि समुझाएउ' इसके 'बहु बिधि' समझानेमें यह समझाना भी कह दिया गया कि हम शृङ्गीऋषिको बुलाकर यज्ञ करवाते हैं, अग्निदेव खीर लेकर प्रकट होंगे, आठ आनेमें (अर्थात् आधेमें) ज्येष्ठ पुत्र होगा, चार आनेमें (चतुर्थमें) मध्य पुत्र होगा और शेष चार आनेमें दो छोटे पुत्र होंगे । इसीसे राजाने हविष्यान्न पानेपर भाग करनेकी रीति गुरुसे न पूछी, अपने मनसे भाग कर दिये । अग्निके 'जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा' इस कथनसे हविके विभागकी संख्या होगई । वसिष्ठजीका विचार ऊपर कहही आए कि 'धरहु०' ।—(चरू के भागके संबंधमें वसिष्ठजीका कथन वाल्मीकीय और अध्यात्ममें नहीं है) ।

दोहा—तब अदृस्य भए पावक सकल सभहि समुझाइ ।
परमानंद मगन नृप हरष न हृदय समाइ ॥ १८९ ॥

शब्दार्थ—अदृस्य (अदृश्य)=अंतर्धान । आँखोंसे ओझल ।

अर्थ—तब अग्निदेव सब सभाको समझाकर अन्तर्धान हो गए । राजा परमानंदमें मग्न हो गए, हृदयमें हर्ष (आनंद) नहीं समाता ॥ १८९ ॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व अग्निका प्रगट होना कहा,—'प्रगटे अगिनि चरू कर लीन्हे', इसीसे उनका अन्तर्धान होनाभी कहा । (ख) 'सकल सभहि समुझाइ' इति । संपूर्ण सभाको समझानेका भाव कि वसिष्ठजीने राजाको एकान्तमें समझाया था,—'धरहु धीर०' इत्यादि, इसीसे राजाको संबोधन करते हुये अग्निदेवने इतनाही कहा कि 'जो बसिष्ठ कछु हृदय बिचारा । सकल काजु भा सिद्ध तुम्हारा ।' स्पष्ट न कहा क्योंकि राजा वसिष्ठजीके बतलानेसे जानते थे । यह बात सभावाले नहीं जानते थे, अतएव उनको समझाकर कहा कि त्रिभुवनमें विदित भक्तभयहारी ऐसे चार पुत्र राजाके होंगे । (ग) सभाको समझानेका भाव कि सभावालोंने यज्ञ देखा, साक्षात् अग्निभगवान्के दर्शन किये, इसीसे अग्निदेवने बिचारा कि हमारा दर्शन अमोघ

है, दर्शनका फल इनको भी प्राप्त होना चाहिये, भगवान्के आविर्भावका समाचार मिलनेसे ये भी सुखी होंगे, अतएव इनको समझाकर कहा जिससे सबको सुख हुआ।

नोट—राजाको गुरुजी सब बता चुके थे इससे वे तो अग्नि-वाक्य समझ गए, परन्तु सभावाले कुछ न समझ पाए, इससे चकित हो देख रहे थे। अतएव अग्निदेवने वही बात उनको समझाकर कहदी। बाबा हरिदासजीका मत है कि अग्निदेव राजासे कहकर अदृश्य होगए तब राजाने उनके बचनोंका आशय सभाको समझाया और परमानंदमें मग्न होगए। वे लिखते हैं कि अग्निदेवने इससे समझाना न चाहा कि यदि ये जानेंगे कि अग्निदेवकी पूजासे रामजी पुत्र हो प्रगट होते हैं तो ये सब रामहेतुही अग्निपूजा करने लग जायँगे।

टिप्पणी—२ (क) 'अदृश्य भए' का भाव कि वह पुरुष अग्निसेही निकलकर कहीं गया नहीं क्योंकि वह तो स्वयं अग्निही है, अग्निमें रहा, लोगोंके आँखोंसे अदृश्य होगया। यथा 'संवर्तयित्वा तत्कर्म तत्रैवान्तरधीयत। वाल्मी० १।१६।२४', 'इत्युक्त्वा पायसं दत्त्वा राज्ञे सोऽन्तर्दधेनलः। अ० रा० १।३।६।' (ख) 'परमानंद मगन नृप' से जनाया कि सभाके लोग समाचार पाकर आनंदमें मग्न हो गए और राजा परमानंदमें मग्न होगए। अर्थात् आनंद तो सभीको हुआ पर राजाको सबसे अधिक आनंद (परमानंद) हुआ, क्योंकि भगवान्का अवतार राजाके यहाँही होगा। दूसरे गुरु और अग्निदेव दोनोंके वचन एकसे निकले, यहभी हर्षका कारण है।

श्रीलमगोड़ाजी—१ देवताओंका व्यक्तित्व तो हकस्ले Huxley और सर ओलिवरलाज Sir Oliver Lodge जैसे वैज्ञानिकोंनेभी संभव माना है। लाज महोदय तो उनका हमारा सहायक होनाभी मानते हैं। स्वामी दर्शनानन्दजीने अपने वेदान्तभाष्यमें यह माना है कि व्यासजी देवताओंका व्यक्तित्व मानते हैं तो फिर देवताओंका मानना वेदविरुद्ध नहीं हो सकता, यह और बात है कि कोई ऋषि या मुनि न भी मानते रहे हों। श्रीजयदेवजीकी सामवेदसंहिताकी भूमिकामें यास्कमुनिका देवसम्बन्धी सिद्धान्त लिखते समय जहाँ यह लिखा है कि एक तो महान् आत्माके पृथक् नामही कर्मानुसार कहेगये हैं वहां यहभी लिखा है कि "जहाँ पृथक्-पृथक् होनेसे देवता पृथक्-पृथक् हैं वहाँ जिस प्रकार कर्म करनेवाले एकही कामको आपसमें बांटकर कार्य करते हैं उसीप्रकार वेभी रहते हैं। वे एक दूसरेके उपकारकभी होजाते हैं। इनकी व्यवस्था नर-राष्ट्रके समानही समझनी चाहिये।" (पृष्ठ २४,२५)। स्वामी दयानन्दसरस्वतीनेभी सत्यार्थ प्रकाशमें लिखा है कि मुक्त पुरुषका इच्छामात्र ही शरीर होता है और वह लोक-लोकान्तरमें विचरता है। इन्जील और कुरानमें तो दिव्ययोनिवालोंकोही देवदूत कहा है—लड़ाई केवल वाद-विवाद और शब्दोंकी रह जाती है, नहीं तो दिव्य योनियोंका होना किसी न किसी रूपमें सबही मानते हैं।

☞ कलाकी दृष्टिसे यह याद रहे कि तुलसीदासजी कभीभी उस बातका विस्तृत वर्णन नहीं करते जो कलाकेलिये अनावश्यक है। अन्य रामायणोंमें यज्ञका बड़ा विस्तृत वर्णन है।

तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं। कौसल्यादि तहां चलि आईं॥ १॥
[अर्द्ध भाग कौसल्यहि दीन्हा। उभय भाग आधे कर कीन्हा॥ २॥
कैकेई कहँ नृप सो दयऊ। रह्यो सो उभय भाग पुनि भयऊ॥ ३॥
कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि॥ ४॥

☞ कोष्टक '[' से आगे आई हुई ']' तक सं० १६६१ का नहीं है, वरंच नया पन्ना है जिसमें 'शिवलाल पाठकसे पाठ लिया गया' कहा जाता है।

अर्थ—उसी समय राजाने अपनी प्रिय स्त्रियोंको बुलाया। श्रीकौसल्या आदि रानियाँ वहाँ चली आईं। १। राजाने पायसका आधाभाग कौसल्याजीको दिया (फिर) आधेके दो भाग किये।२। (और) वह (अर्थात् इसमेंसे एक भाग) कैकेयीजीको दिया (और) जो बच रहा उसके फिर दो भाग हुए। ३। श्रीकौसल्या और कैकेयीजीके हाथोंमें (एक-एक भाग) रखकर और मनको प्रसन्न करके (वे दोनों भाग) श्रीसुमित्राजीको दिये। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'तबहिं राय प्रिय नारि बोलाईं।०' इति। अग्निदेवने राजासे कहा था कि जाकर यह हवि बाँट दो। यहाँ जाना न कहकर बुलाकर बाँटना कहा। इतनेहीसे जनादिया कि राजा मारे आनंदके तुरत महलमें पहुँचे और अपनी प्रिय रानियोंको वहाँ बुला भेजा। (शीघ्रता दिखानेके लिये महलको जाना वा महलमें पहुँचना न कहा। प्रियनारिको बुलाना कहकर दोनों बातें जना दीं)। 'प्रिय नारि' कहकर जनाया कि 'कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत' जिनको पूर्व कह आए, उन्हींको बुलाया। आगे कौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजीका आना दिखाकर जनाया कि येही 'प्रिय नारि' हैं और इन्हींको राजाने बुलाया। जब ये तीनों आगईं तब खीरके भाग बनाए। ['तहां चलि आईं' से यहभी भाव निकलता है कि रानियाँ यज्ञशालामेंही थीं, पर राजाके पास न थीं। राजाने उन्हें अपने पास बुला लिया। (प्र० सं०)]

नोट—१ वाल्मीकीयमें हविष्यान्नके बाँटमें भेद है। उसमें कौसल्याजीको आधा पायस देनेके पश्चात् शेष आधेके दो भाग किये गए जिसमेंसे एक भाग सुमित्राजीको दिया गया। तत्पश्चात् बचे हुए भागका आधा कैकेयीजीको दिया गया। अब जो पूरे हविका आठवाँ भाग बचा उसे कुछ सोचकर राजाने फिर सुमित्राजीको दिया। (वाल्मी० १।१६।२७-२९)।

अ० रा० में की बाँट मानससे किंचित् मिलती है। उसमें सुमित्राजीको दो भाग मिलनेका कारण कहा गया है। अ० रा० में वसिष्ठजी और ऋष्यशृङ्गजीकी आज्ञासे राजाने वह हवि श्रीकौसल्या और कैकेयीजीमें आधी-आधी बाँट दी। तदनन्तर सुमित्राजीभी चरुको लेनेकी इच्छासे वहाँ पहुँच गईं। तब कौसल्याजीने प्रसन्नता पूर्वक अपनेमेंसे आधा उन्हें दे दिया। कैकेयीजीनेभी प्रीतिपूर्वक अपनेमें से आधा उन्हें दिया। यथा "कौसल्यायै सकैकेय्यै अर्धमर्धं प्रयत्नतः।१०। ततः सुमित्रा संप्राप्ता जगृध्नुः पौत्रिकं चरुम्। कौसल्या तु स्वभागार्धं ददौ तस्यै मुदान्विता। कैकेयी च स्वभागार्धं ददौ प्रीतिसमन्विता। १। ३। १२।" इस प्रकार वाल्मीकीयके मतसे कौसल्याजीको पूरे पायसके आठ भागोंमेंसे चार भाग, कैकेयीजीको एक और सुमित्राजीको तीन भाग मिले। और अ० रा० के मतसे पायसके चार भागमें एक-एक भाग कौसल्याजी और कैकेयीजीको मिला और दो भाग सुमित्राजीको मिले।

रघुवंशमें सुमित्राजीको कौसल्या कैकेयीजीने अपना-अपना आधा भाग दिया है; यथा "ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः। चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे। सर्ग १०.५६।" अर्थात् अपने पति सर्वज्ञ राजाके भावको जाननेवाली दोनों रानियोंने अपने चरुका आधा-आधा सुमित्राजीको दिया। (राजाने दोनोंको आधा आधा दिया था। इन दोनोंने अपना आधा आधा दे दिया। इस तरह कौसल्याजी और कैकेयीजीको चतुर्थ, चतुर्थ भाग मिला और सुमित्राजीको दो चतुर्थभाग मिले। इस प्रकार चारों भाई चतुर्थ चतुर्थ अंशसे हुए। यही मत अ० रा०का है। पद्मपुराणसे यह मत लिया गया जान पड़ता है)। नारसिंह पु० में लिखा है कि चरूको खाते समय कौसल्या कैकेयीने अपने पिण्डोंसे थोड़ा-थोड़ा सुमित्राजीको दिया। यथा "ते पिण्डप्राशने-काले सुमित्रायै महीपतेः। पिण्डाभ्यामल्पमल्पन्तु स्वभगिन्यै प्रयच्छतः।"

मानसका बाँट इन सबोंसे विलक्षण है। इसमें कौसल्याजीको आधा, कैकेयीजीको चतुर्थ और

सुमित्राजीको दो बार आठवां, आठवां मिलनेसे चतुर्थ मिला। बड़ाई-छोटाईके अनुसार यह बाँट सर्वोत्तम है।—इसका रहस्य महानुभावोंने अपने-अपने मतानुसार लिखा है—

(क) वसिष्ठजी त्रिकालज्ञ हैं। ब्रह्माजीने उनसे स्वयंभी कहा था कि "परमातमा ब्रह्म नर रूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा। ७.४८।" वे जानते हैं कि ब्रह्मका अवतार अंशोंसहित होगा। कौन अंश किस रानीके द्वारा प्रकट होगा और किस प्रकार हविष्यान्नके भाग बनाए और बाँटे जायेंगे यह सब वे जानते हैं। 'अर्द्ध-भाग कौसल्यहि दीन्हा।' इस कथनसे पाया जाता है कि गुरु वसिष्ठजीने इस प्रकार विभाग करना बताया था। इसीसे राजाने वैसा विभाग किया। यदि गुरुजीने न बताया होता तो राजा उनसे अवश्य पूछते कि 'जथा जोग जेहि भाग बनाई' का क्या अभिप्राय है? किस प्रकार भाग किये जायँ? (करु०, पं० रामकुमारजी)

(ख) कौसल्याजीको आधा भाग दिया, इसीसे इनके पुत्र (श्रीरामजी) ज्येष्ठ पुत्र हुए। "उभय भाग आधे कर कीन्हा' इससे स्पष्ट हो गया कि दूसरा भाग श्रीरामजीकी बराबर नहीं रह गया, यह भाग रामजीवाले भागके पीछे कैकेयीजीको दिया गया, इससे भरतजी श्रीरामजीसे पीछे और उनसे छोटे हुए। भरतजी चतुर्थ भागमें हुए। "रहेउ सो उभय भाग पुनि भएऊ" कैकेयीजीको भरतवाला भाग दे चुकनेपर तब शेष चतुर्थके दो भाग बराबर-बराबर हुए। इस प्रकार लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी दो-दो आने (आठवें-आठवें भाग) में हुए। भरतजीके पीछे ये दोनों भाग दिये गए, अतः ये दोनों भाई भरतजीसे छोटे हुए। प्रथम कौसल्याजीने सुमित्राजीको दिया, तब कैकेयीजीने; इसीसे कौसल्या शब्द प्रथम दिया—'कौसल्या कैकेई हाथ धरि'। इसीसे श्रीरामानुगामी श्रीलक्ष्मणजी प्रथम हुए और शत्रुघ्नजी पीछे। इस रीतिसे सब भाई छोटे बड़े हुए। बड़े भागसे श्रीरामजी बड़ी रानीसे हुए, मध्य भागसे भरतजी मँझली रानीसे हुए, और छोटे भागसे लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी छोटी रानीसे हुए—(पं० रामकुमारजी)।

(ग) मानसकारके मतसे तीनों रानियां वहां आगईं तब पायसके भाग किये गए। यह चौपाइयोंके क्रमसे स्पष्ट है। बाँटमें वैषम्यका भाव यह है कि कौसल्याजी पटरानी हैं, सबसे बड़ी हैं। इनके पुत्र राज्याधिकारी हैं और कैकेयीजीके पुत्र भी राज्याधिकारी हैं, क्योंकि विवाह इसी शर्तपर हुआ था। यथा "कैकेय्यां मम कन्यायां यस्तु पुत्रो भविष्यति।१३। तस्मै राज्यं ददात्वेवं गृह्णातु मम कन्यकाम्। अनेन समयेनापि विवाहं कुरु भूमिप।१४। हृदि निश्चित्य राजा च वसिष्ठादिभिरात्मवान्। निश्चयं चात्मनः कृत्वा गर्गमाह कृतांजलिः।१६। यथा वदसि भो विप्र तत्तथा करवाण्यहम्।''''२०।" (सत्योपाख्यान पू० अ० ८) अर्थात् काशमीरके राजाका संदेसा गर्गजीने दशरथमहाराजसे कहा है कि "हमारी कन्या कैकेयीसे जो पुत्र उत्पन्न हो उसको यदि आप राज्य देनेकी प्रतिज्ञा करें तो मैं अपनी कन्या आपको ब्याह दूँ। इसी प्रतिज्ञापर विवाह हो सकता है, अन्यथा नहीं। अतः आप प्रतिज्ञा करें।" दशरथजी महाराजने स्वयं वशिष्ठादिके साथ विचारकर यह प्रतिज्ञा की कि जैसा आप कहते हैं वैसाही हम करेंगे।" श्रीकौसल्याजी जेष्ठा हैं और कैकेयीजी कनिष्ठा होनेपरभी अत्यंत प्रिय हैं, इसलिये कौसल्याजीके पश्चात् सुमित्राजीसे पहले कैकेयीजीको दिया गया।

(घ) कौसल्याजी शतरूपाजी हैं। उनको श्रीरामजी वर दे चुके हैं कि हम तुम्हारे पुत्र होंगे। इसीसे वसिष्ठजीके आदेशानुसार पायसका अर्धभाग उनको दिया गया। और प्रथमही दिया गया। तब कैकेयीजीको दिया गया। श्रीरामजीने वर देते हुए कहा है कि "अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता। १५२।२।" इस तरह अर्द्धभागसे स्वयं प्रगट होकर अपनेको अंशी प्रकट किया है।

(ङ) राजाने श्रीकौसल्या-कैकेयीजीको तो अपने हाथसे स्वयं दिया, पर सुमित्राजीको अपने हाथसे न देकर श्रीकौसल्या-कैकेयीजीके हाथसे दिलाया, इसीसे 'अनुगामी भाव' सिद्ध हुआ। जो भाग कौसल्याजीके हाथसे दिलाया था उससे लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अनुगामी हुए और जो कैकेयीजीके हाथसे

दिलाया था, उससे शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीके अनुगामी हुए। यथा "बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी ॥ भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥ १९८।३-४।" इसीसे श्रीलक्ष्मणजी 'रामानुज' और श्रीशत्रुघ्नजी 'भरतानुज' कहलाए। सब भाग कौसल्याजीका उच्छिष्ट (अवशिष्ट) है। अर्थात् जो कौसल्याजीसे बचा उसीमें तीन भाग हुए। इसीसे स्वामी-सेवक, शेषीशेष, अंशी-अंश भाव हुआ। श्रीरामजी स्वामी हैं और सब भाई सेवक हैं। कैकेयीजीका अवशिष्ट सुमित्राजीको मिला, इसीसे भरतजीके सेवक श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हैं। (पं० रामकुमारजी)।

☞उपर्युक्त भाव देवतीर्थ स्वामीजीके शब्दोंमें इसप्रकार है—"अर्धभाग कौसल्यहि दीन्हा, सो पूरन अनुपम कर्त्तार। अपर अर्द्ध जूठन तब बनिगो स्वामी-सेवक भाव उदार।" (रामसुधाग्रंथसे। रा० प्र०)

(च) रघुवंशमें कहा है कि कौसल्याजी श्रेष्ठ पटरानी हैं और कैकेयीजी प्रिय हैं; अतः राजाने इन दोनोंके द्वारा सुमित्राजीका सत्कार करना चाहा। यथा "अर्चिता तस्य कौसल्या प्रिया केकयवंशजा। अतः सम्भावितां ताभ्यां सुमित्रामैच्छदीश्वरः ॥ ५५ ॥" (सर्ग १०)। इसीसे 'कौसल्या कैकई हाथ धरि' देना कहा।

(छ) पंजाबीजीका मत है कि श्रीकौसल्या और कैकेयीजी राजाको बहुत प्रिय थीं, इसीसे राजाने पायसके दो भाग किये और आधा कौसल्याजीको दिया, तदनन्तर सुमित्राजीभी आगईं। तब राजाने सोचा कि इनको न देंगे तो इनका अपमान होगा। इस असमंजसमें पड़कर राजाने बचे हुए आधेके दो भाग किये। एक भाग कैकेयीजीको दिया। फिर बिचारा कि दूसरा भाग सुमित्राजीको देंगे तो कैकेयीजी ईर्षा करेंगी। (उनको बुरा लगेगा कि सुमित्राको हमारे बराबर दिया), अतएव उन्होंने बचेहुए चतुर्थभागके दो भाग किये और कौसल्या और कैकेयी दोनोंके हाथोंमें एक-एक भाग रखकर कहा कि इन्हेंभी कुछ दे दो क्योंकि ये भी आगई हैं। तब दोनोंने कहा कि जो यह भाग (आठवाँ, आठवाँ) आपने अभी हमें दिया है, वह आप इन्हें दे दें। इस तरह दोनोंकी प्रसन्नतापूर्वक वे दोनों भाग राजाने उनके हाथोंसे लेकर सुमित्राजीको दिया।

(ज) श्रीसुमित्राजीके भागके दो भाग करनेका कारण यह भी है कि ब्रह्मवाणीने कहा था कि "तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। रघुकुल तिलक सो चारिउ भाई। १८६।५।" गुरुजीने भी यह कहा था कि "धरहु धीर होइहहिं सुत चारी" और यहाँ रानियाँ तीनही थीं, चार भाग करना आवश्यक था जिसमें एक-एक भागसे एक-एक पुत्र हो। अतएव श्रीसुमित्राजीके भागके दो भाग किये गए जिसमें दो पुत्र हों।

(झ) श्री पं० रामचरणमिश्रजीका मत है कि श्रीचक्रवर्तीजीने अपने हाथसे श्रीसुमित्राजीको नहीं दिया, अतः वे खेदयुक्त बैठी थीं और उनके हृदयमें मान आ गया था [क्योंकि कैकेयीजी सुमित्राजीसे छोटी थीं। राजाने उनको पहले दिया। अतएव उन्होंने अपनेको अपमानित जाना। (प्र० सं०)] इस मान और खेदको मिटानेके लिये श्रीकौसल्या और कैकेयीजीने उनका हाथ पकड़कर (क्योंकि जब कोई रिसा जाता है तब हाथ पकड़कर मनाया जाता है) और उनके मनको प्रसन्न कर (अर्थात् उनसे यह कहकर कि लो हम दोनों तुम्हें एक-एक भाग देती हैं, तुम्हारे दो पुत्र होंगे, यह अनुकूल वार्ता सुनकर सुमित्राजीका मन प्रसन्न हो गया) वह भाग उनको दे दिये।

☞इस तरह 'कौसल्या कैकेई हाथ धरि' का अर्थ "कौसल्या और कैकेयीजीने (सुमित्राजीका) हाथ पकड़कर" ऐसा किया है।

'राजाने अपने हाथसे क्यों न दिया ?' इसका समाधान वे यह करते हैं कि मुख्य भाग तो कौसल्या-जीका ही है, क्योंकि वे साभिषेका पट्टरानी हैं और पूर्वजन्मसे उनका संबंध है। परन्तु राजा केकयसे

वचनबद्ध होनेके कारण कैकेयीजीको भी पायसमें भाग देना पड़ा। और, सुमित्राजीके लिये राजाने यह विलक्षण चतुरता की कि उनके भागके दो भाग करके उन्होंने कौसल्या और कैकेयीजीको दे दिया। इन दोनोंने राजाका हार्दिक भाव पहचानकर वे भाग सुमित्राजीको दिये। ऐसा करनेसे राजाकी ओरसे (श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नका) गर्भाधान कौसल्या और कैकेयीमें ही हुआ। इसी आशयसे लंकाकांडमें लक्ष्मणजीको सहोदर भ्राता कहा गया।—'मिलइ न जगत सहोदर भ्राता। ६।६०।'

(ञ)—श्रीनंगे परमहंसजी 'हाथ धरि' का अर्थ "हाथपर रखकर अर्थात् उनकी अनुमति लेकर" इस प्रकार लिखते हैं।

नोट—२ ☞ 'मन प्रसन्न करि' सबमें लग सकता है। कौसल्या-कैकेयीजीका मन प्रसन्न हुआ क्योंकि उनके हाथमें रखकर उनसे सुमित्राजीको दिलाया गया; अथवा उनके हाथोंमें रखकर उनकी अनुमतिसे राजाने सुमित्राजीको दिया। दोनोंकी प्रसन्नता सुमित्राजीको देनेमें जानकर राजाभी प्रसन्न हुए। कैकेयीजी सुमित्राजीसे छोटी हैं पर कैकेयीजीको प्रथम दिया गया; इस लिये राजाने उनको दो भाग देकर उनका मन प्रसन्न किया कि तुम्हारे दो पुत्र होंगे। लो, कौसल्याजी तुमको प्रसाद और कैकेयीजी भेंट देती हैं। (प्र. सं.)।

नोट—३ पं० रामकुमारजीने श्रीकैकेयीजीको मँझली रानी कहा और प्रायः अन्य सबोंने श्रीसुमित्राजीको मँझली और कैकेयीजीको छोटी कहा है। कैकेयीजीको जो मध्यमा कहा गया है वह संभवतः वाल्मी० ३.१६.३७ "न तेऽम्बमध्यमा तात गर्हितव्या कदाचन।' इस वचनसे और पायसभागके बाँटनेके क्रमके आधार पर कहा गया। "उत्तररामचरित" (नाटक) में के "अये मध्यमाम्बा वृत्तान्तोऽन्तरित आर्येण। १.२१।" लक्ष्मणजीके इस वाक्यमें भी उनके लिये 'मध्यमा' शब्द आया है। बंगलाके कृत्तिवासी रामायणमें कैकेयीजीका विवाह सुमित्राजीसे पहले है।

सुमित्राजीको मध्यमा और कैकेयीजीको कनिष्ठा कहनेके प्रमाण ये हैं-"कच्चित् सुमित्रा धर्मज्ञा जननी लक्ष्मणस्य या। शत्रुघ्नस्य च वीरस्य अरोगा चापि मध्यमा। वाल्मी. २.७०.९।" (भरतवाक्य), "रामं समुद्यतो द्रष्टो यौवराज्येऽभिषेचितुम्। यज्ज्ञात्वा कैकेयी देवी राज्ञः प्रेष्ठा कनीयसी। २४। सन्निवार्य हठात्तस्यपुत्रस्य तदरोचत।" (नारद पु० उ० अ० ७५)।

वाल्मीकीयके सभी प्राचीन टीकाकारोंने कैकेयीजीको कनिष्ठा ही माना है, और वाल्मी० ३.१६.३७ के 'मध्यमा' शब्दके विषयमें श्रीगोविन्दराजजीने यह लिखा है कि अन्य रानियोंकी अपेक्षा उनको मध्यमा कहा है। [कैकेयीजीके पश्चात्‌भी जिनका राजाने ग्रहण किया है चाहे वे अविवाहिता ही क्यों न हों उनमें भी श्रीरामजी माता-भाव ही रखते थे इसीसे उन्होंने उन्हें मध्यमा कहा]

पद्मपुराण उत्तरखंडमें बहुतही स्पष्टरूपसे पायस भागके समय बड़ी, छोटी और मध्यमाका निर्णय पाया जाता है। यथा—"स राजा तत्र दृष्ट्वा च पत्नीं ज्येष्ठां कनीयसीम्। विभज्य पायसं दिव्यं प्रददौ सुसमाहितः।५९। एतस्मिन्नन्तरे पत्नी सुमित्रा तस्य मध्यमा। तत्समीपं प्रयाता सा पुत्रकामा सुलोचना। ६०। तां दृष्ट्वा तत्र कौसल्या कैकेयी च सुमध्यमा। अर्द्धमर्द्धं प्रददतुस्ते तस्यै पायसं स्वकम्। ६१। अ० २४२।" अर्थात् श्रीशिवजी कहते हैं कि दशरथजीने अपनी ज्येष्ठा और कनिष्ठा स्त्रीको देखकर पायसका आधा-आधा भाग उन दोनोंको दे दिया। इसी बीचमें उनकी मध्यमा स्त्री श्रीसुमित्राजीभी उनके समीप पुत्रकामनासे आगईं। उनको देखकर श्रीकौसल्याजी और सुन्दर कटिवाली श्रीकैकेयीजीने अपने-अपनेसे आधा-आधा उनको दे दिया। यहां 'ज्येष्ठा' और 'कनीयसी' कहकर फिर उनके नाम कौसल्या और कैकेयी आगे स्पष्ट कर दिये और सुमित्राजीको स्पष्ट रूपसे 'मध्यमा' कहा है।

इसी अध्यायमें श्रीदशरथजीके विवाहोंकाभी उल्लेख है जिससे फिर मध्यमा और कनिष्ठामें संदेह रहही नहीं जाता। यथा 'कोसलस्य नृपस्याथ पुत्री सर्वाङ्गशोभना। कौसल्या नाम तां कन्यामुपयेमे स पार्थिवः। ३७। मागधस्य नृपस्याथ तनया च शुचिस्मिता। सुमित्रा नाम नाम्नाच द्वितीया तस्य भामिनी। ३८। तृतीया केकयस्याथ नृपतेर्दुहिता तथा। भार्याभूत्पद्मपत्राक्षी कैकेयीनाम नामतः। ३९। ताभिः स्मराजा भार्याभिस्तिसृभिर्धर्मसंयुताः...'' इस उद्धरणमें सुमित्राजीको द्वितीया और कैकेयीजीको तृतीया कहा है। और यह कहकर आगे 'तिसृभिः' कहनेसे अनुमान होता है कि ये ही तीन विवाहिता स्त्रियां थीं।

स्कंद पुराण नागरखण्डमेंभी स्पष्ट लिखा है कि राजाकी सबसे छोटी रानी कैकेयीने भरत नामक पुत्र उत्पन्न किया और मँझली रानी सुमित्राने दो महाबली पुत्रोंको जन्म दिया। यथा 'कौसल्यानाम विख्याता तस्यभार्या सुशोभना। ज्येष्ठा तस्यां सुतो जज्ञे रामाख्यः प्रथमः सुतः। १९। तथाऽन्या कैकेयी नाम तस्य भार्या कनिष्ठिका। भरतो नाम विख्यातस्तस्याः पुत्रोभवत्यसौ। २०। सुमित्राख्या तथा चान्या पत्नी या मध्यमा स्थिता। शत्रुघ्नलक्ष्मणौ पुत्रौ तस्यां जातौ महाबलौ। २१। तथाऽन्या कन्यकाचैका बभूव वर वर्णनी। ददौ यां पुत्रहीनस्य लोमपादस्य भूपतेः।२२।' (स्कं. पु. नागर खंड ९८)।

गौड़जी—मानसमें कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी यमज थे और दोनों सुमित्राजीके ही पुत्र थे। एक महात्मासे यह सुननेमें आया कि परात्परवाले अवतारमें भरत शत्रुघ्न यमज थे और कैकेयीके पुत्र थे। कैकेयीहीकी पहली सन्तान शान्ता हुई थी जो राजा रोमपादको दे दी गई थी और पीछे शृङ्गीऋषिसे व्याही गई थी। कैकेयीजीके इस प्रकार तीन संतानें हुईं। इसी लिये इनका बड़ा आदर था। भगवान् रामचन्द्र सबसे बड़े कौसल्याजीसे सभी अवतारोंमें हुए। श्रीसाकेतविहारीके अवतारमें भरत कैकेयीसे हुए परन्तु लक्ष्मणजीसे पहले हुए। फिर सुमित्राजीसे लक्ष्मणजी हुए। फिर कैकेयीजीसे शत्रुघ्नजी हुए। तीसरे दिन लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीकी उत्पत्ति हुई। इसी क्रमसे छठी और बरहीके उत्सव बराबर तीन-तीन दिन तक होते रहे।

इस कथासे भरत-शत्रुघ्नके साथही ननिहाल जानेकी, दोनों भाइयोंकी साजिशवाला लक्ष्मणजीका संदेह, ('आए दल बटोरि दोउ भाई।'''सोवहु समर सेज दोउ भाई।'''सानुज निदरि निपातहुँ खेता') 'निज जननी के एक कुमारा' वाली शंका सबका स्पष्टीकरण हो जाता है। कई कल्पोंकी कथामें भेद होनेके कारणही मानसमें यमजवाले प्रश्नपर गोस्वामीजी वा स्वयं भगवान् शंकर चुप हैं।

नोट—यद्यपि पायस-भागके क्रमसे स्पष्ट है कि सुमित्राजीके दो पुत्र लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हुए परन्तु स्पष्टरूपसे ग्रंथमें यह बात नहीं आई है, इसीसे कुछ लोग शक्तिके प्रसंगको लगानेके लिये यह कहते हैं कि लक्ष्मणजी एकलौता पुत्र थे। वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणोंसे स्पष्ट है कि लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी श्रीसुमित्राजीके यमज पुत्र हैं।

ग्रन्थकारका मत यदि एक जगह स्पष्ट न हो तो उसके अन्यग्रन्थोंको प्रमाण मानना चाहिए। शक्ति लगनेपर जब श्रीहनुमान्जी अयोध्या आए और शक्तिका समाचार सुनाया तब श्रीसुमित्राजीने कहा है— 'रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसरु जद्यपि धनु दुसरे हैं। तात! जाहु कपि संग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं। गी० ६. १३।' विनयपत्रिकामें और भी स्पष्ट है। श्रीशत्रुघ्नजीकी स्तुतिमें गोस्वामीजी कहते हैं— 'जयति सर्वांग सुंदर सुमित्रा-सुवन भुवन-बिख्यात भरतानुगामी। पद ४०।' श्रीरामाज्ञाप्रश्न सर्ग ७ में वे लिखते हैं —'सुमिरि सुमित्रा नाम जग जे तिय लेहिं सुनेम। सुवन लषन रिपुदवन से पावहिं पति पद प्रेम। १८।' इन उपर्युक्त उद्धरणोंसे श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजीका श्रीसुमित्राजीके पुत्र होना ग्रन्थकारका स्पष्ट मत सिद्ध है। फिरभी ग्रन्थकारने १९५.१ 'कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भैं ओऊ' में 'दोऊ' को

'सुमित्रा' और 'सुंदरसुत जनमत भैं' के बीचमें देकर यहभी प्रगट कर दिया है कि श्रीसुमित्राजीने 'लक्ष्मण, शत्रुघ्न' दोनों पुत्रोंको जन्म दिया। अब मानसकेही उद्धरण लीजिए जिनसे लक्ष्मण और शत्रुघ्नजीका सहोदर भ्राता होना पाया जाता है। (१) 'भेंटेउ बहुरि लषन लघु भाई। सोकु सनेहु न हृदय समाई। २।१६५।२।' भरतजी अयोध्यामें कैकेयीजीके पाससे होकर जब श्रीकौसल्याजीके पास जाते हैं तब कवि माताका 'लषन लघु भाई' से भेंट करना लिखते हैं। यहां कोई और कारण ऐसा लिखनेका नहीं जान पड़ता, सिवाय इसके कि शत्रुघ्नजी वस्तुतः लक्ष्मणजीके सगे भाई हैं। ऐसा न होता तो यहां 'भरत लघु भाई' ही कहना सर्वथा उचित था। (२) 'भेंटेउ लषन ललकि लघु भाई। २।२४२।१।' में लक्ष्मणजीका (अपने) छोटे भाईसे मिलना कहा है। और भी चौपाइयाँ हैं जिनमें लक्ष्मणजीका लघुभाई उनको कहा है पर उनमें गुणसंबंधी अर्थ लिया जा सकता है।

मानस आदिमें शत्रुघ्नजीके लिये जो 'भरतानुज' शब्दका प्रयोग हुआ है वह केवल भरतानुगामी होनेसे। इसीतरह 'रामानुज' शब्द प्रायः श्रीलक्ष्मणजीके लिये रूढ़ि हो गया है क्योंकि वे श्रीरामानुगामी हैं। ऐसा न मानें तो लक्ष्मणजीको श्रीरामजीका सहोदर भ्राता अर्थात् कौसल्याजीका पुत्र कहना पड़ेगा जो सर्वथा असत्य है।

एहि बिधि गर्भ सहित सब नारी। भईं हृदय हरषित सुख भारी॥ ५॥

जा दिन तें हरि गर्भहि आए। सकल लोक सुख संपति छाए॥ ६॥

अर्थ—इस प्रकार सब स्त्रियाँ गर्भसहित अर्थात् गर्भवती हुईं। भारी सुख होनेसे हृदयमें हर्षित-आनंदित हुईं।५। जिस दिनसे हरि गर्भमें आए उसी दिनसे समस्त लोक सुख और संपत्तिसे छा गए।६।

टिप्पणी—१ (क) 'एहि बिधि' अर्थात् पायस-भाग खा-खाकर। यह कहकर इनका गर्भाधान रज-वीर्य से रहित जनाया। (स्मरण रहे कि स्त्रीके रज और पुरुषके वीर्य्यके संयोगसे गर्भकी स्थिति होती है, पर भगवान् गर्भमें नहीं आते। उनका जन्म पिंडविधिसे, रज-वीर्य्यसे नहीं होता, यह बात प्रगट करनेके लियेही 'एहि-बिधि' कहा। भगवान्‌का शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है वरंच चिदानंदमय, नित्य, दिव्य और देही-देह-विभाग-रहित है; यथा 'चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी।' तब 'गर्भसहित' कहनेका क्या भाव? भाव यह कि भगवान्‌का आविर्भाव जिसके द्वारा होना होता है उसके सब लक्षण गर्भवती के-से हो जाते हैं, उसे यही जान पड़ता है कि मेरे गर्भमें बच्चा है या मैं गर्भिणी हूँ। गर्भ=पेटके भीतरका बच्चा; हमल;यथा 'चलत दसानन डोलति अवनी। गर्जत गर्भ स्रवहिं सुररवनी॥')। (ख) 'भईं' शब्द दीपदेहली-न्यायसे दोनों ओर है। (ग) 'सुख भारी' का भाव कि सुख तो तीनों लोकोंको हुआ पर रानियोंको सबसे अधिक सुख हुआ।

२ 'जा दिन तें हरि गर्भहि आए' इति। 'हरि' गर्भमें नहीं आते और यहाँ ग्रंथकार लिखते हैं कि हरि गर्भमें आए। यह कैसा? समाधान यह है कि यहाँ गर्भमें भगवान्‌का आना वैसा नहीं है जैसा कि जीवका। जीव कर्मोंके वश गर्भमें आता है, भगवान् कर्मके अधीन नहीं हैं, यथा 'कर्म सुभासुभ तुम्हहिं न बाधा। १३७.४।'; वे अपनी इच्छा से आते हैं। जैसे वे सबके हृदयमें बसते हैं, यथा 'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ' वैसेही गर्भमें बसते हैं। [यथा 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तर्जायमानो यो बहुधा विजायत तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानि विश्वा। शुक्ल यजुर्वेद ३१। १९।' अर्थात् सर्वेश्वर ब्रह्म सबके अन्तःकरणमें रहते हुए भी गर्भमें आता है और अनेक रूपोंसे जन्म लेता है। उसके जन्म लेनेके कारणको ज्ञानी लोगही जानते हैं कि उसीमें समस्त ब्रह्माण्ड स्थित है फिर भी वह क्यों गर्भमेंसे जन्म लेता है। (वै. भू.)] पुनः, दूसरा समाधान यह है कि 'वायु' गर्भमें आकर गर्भकी प्रतीति कराता है, यथा 'तस्या एवाष्टमो

गर्भो वायुपुर्णो बभूव ह' (अर्थात् देवकीजीका आठवाँ गर्भ वायुसे पूर्ण हुआ), 'यथा अनेक बेष धरि नृत्य करै नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावै आपुन होइ न सोइ'।

'जा दिन ते हरि गर्भहि आए' इति।

पं० रामकुमारजीका मत टिप्पणीमें दिया गया। औरों के मत ये हैं—

१ पंजाबीजी लिखते हैं कि "अजन्माका गर्भमें आना शास्त्रविरुद्ध है। इसलिये 'हरि गर्भहि आए' का अर्थ यों होगा कि गर्भयोनिके हरनेवाले हरि अर्थात् भक्तोंके गर्भ-संकट जन्म-मरणको छुड़ानेवाले प्रभु आए अर्थात् अवतार लेनेकी इच्छा की।" इतना लिखकर फिर वे यह प्रश्न करते हुए कि 'प्रभु गर्भमें न आए तो माताने क्योंकर जाना कि गर्भमें पुत्र है?' इसका उत्तर यह देते हैं कि "जब अवतारकी इच्छा होती है तब पवनदेव उदरमें गर्भाधानवत् प्रतीति करा देते हैं। (प्रमाणमें वे ब्रह्मवैवर्त कृष्णखंडका उद्धरण देते हैं जो टिप्पणीमें आ चुका है)। इसकी पुष्टि प्रगट होनेके समयके प्रसंगसे होती है कि पहले और रूपसे प्रगट हुए, फिर माताकी प्रार्थनासे बालक रूप हो गए।…"

२ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'वास्तवमें बात वही है जो भगवान् कृष्णने गीतामें कही है कि 'जन्म कर्म च मे दिव्यं'। जो उन्हें न समझकर उन्हें भी साधारण मनुष्यकी तरह देहधारी मानते हैं उन्हें मूर्खही कहा है। लेकिन उनकी विद्यारूपी लीलाशक्ति (जो मायाका उत्तम रूप है) सारी लीला ऐसी रचती है कि सब अनुभव करादेती है। 'भये प्रगट कृपाला' से ज्ञात होगा कि भगवान् केवल 'प्रगट हुए' जन्मे नहीं, लेकिन पहले कौशल्याजीको यही अनुभव होता रहा कि 'गर्भ' है। हाँ! जब ज्ञान हुआ तब उन्हें प्रतीत हुआ कि "ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहे। सो मम उर बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहे॥" और तब तो 'प्रभु मुसुकाना' वाली बातसे भगवान्ने अपनी लीला वाली बातका बोध कराकर फिर बालचरित्र प्रारंभ किया—'रोदन ठाना'।

इन दोनों रहस्योंको न समझनेसे संसारमें भ्रम फैला है, नहीं तो कुरानवाली बातभी ठीक है कि 'न उससे कोई जन्मता है, न वह किसीसे जन्मता है' (लमयलिद व लमयलद) और फिर उसी कुरानमें भगवान् ईसाका दिव्य दूतद्वारा दिव्य जन्म लिखा है और इन्जीलमें स्वयं भगवान्काही दिव्य पुत्ररूप जन्म हज़रत ईसाका माना है—हमारे यहाँ रामायणमें दोनों सिद्धान्तोंका ठीक एकीकरण है।…'

३ कुछ लोगोंका यह भी मत है कि जो सर्वव्यापक है उसे गर्भमें आनेकी वा उसमें अपनी प्रतीति करा देनेका भी सामर्थ्य है, अतएव संदेह नहीं है।

४ संत श्रीगुरुसहायलालजीभी गीताके श्रीधरभाष्य और ब्रह्मवैवर्तादि ग्रंथोंके प्रमाण देतेहुए 'हरि गर्भहि आए' का भाव यही कहते हैं कि "उदर महावायुसे परिपूर्ण हुआ जिससे भगवान्की प्रतीति हुई। गर्भाधानकी, अवतारके समय यही रीति है। हरि = वायु, यथा 'वैश्वानरेप्यथ हरिर्दिवाकर समीरयोः इति हेमकोशः'।

बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि "भगवान् जन्मसमय "कौशल्याजीके आगे खड़े हुए हैं तब उदर-वास क्योंकर घटित हो? सो यहाँ बात यह है कि 'हरिरूप कारण हवि जानों'। भगवान् कौशल्याके उदरमें तेजोमय प्रकाशवत् पवनरूप अंशमात्र ही रहे। हरि पवन का नाम है।"

५ श्रीदेवतीर्थस्वामीजी लिखते हैं-'रामचरित कहीं काहि लखाय मुनिमतिहू भरमाय॥ त्रिभुवन भावहि प्रगट होइ कै राघवजन्म कहाय। भावनहू को राम प्रकासत ये तो पद ठहराय॥ १॥ कौप मुनिनको सियारूप धरि प्रगटि जनकपुर जाय। रामप्रिया बनि काज साधि पुनि वनमें गयो समाय॥ २॥ रामसिया-को जन्मकर्म नहि नित्यहि उदित सुभाय। ते कैसे जनिहहिं जे मदिरा अचै रहे बड़राय॥ ३॥ देवभाव बानर

भालू तन धरि कै भए सहाय । त्रिभुवन भावहि त्रिभुवनपति बनि रहा अवध में छाय ॥ ४ ॥ इति रामरंगग्रंथे ॥ (पं० रा० कु०) ।

६ श्री नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि "कोई-कोई संसारी बालकोंका दृष्टान्त देकर भगवान्को गर्भमें आना अर्थ नहीं करते । संसारी जीवकी समतामें भगवान्को लगाना भारी भूल है । देखिए, संसारी स्त्री जब गर्भवती होती है तब वह बदशक्ल और तेजहीन हो जाती है पर माता कौसल्याको देखिए कि जब भगवान् उनके गर्भमें आए तब उनकी शोभा, तेज तथा शील बढ़ गया, यथा "मंदिर महँ सब राजहिं रानी । सोभा सील तेजकी खानी ॥" भगवान् अपने तेज प्रतापके सहित कौसल्याजीके गर्भमें आए थे, उनके शरीरको वैकुंठ बना दिया था । जैसे पराशरजीने मत्स्यगंधाको योजनसुगंध बना दिया था [अर्थात् जिसमें मछलीकी गंध आती थी उस 'मत्स्यगंधा'को योजनभरतक सुगंध देनेवाली अर्थात् अपने अनुकूल बना लिया था] जिसको सत्यवती कहते हैं और जो व्यासजीकी माता थीं । भगवान् केवल अंगुष्ठमात्रका शरीर गर्भमें धारण किये थे, बाहर विस्तार किये । प्राकृतिक स्त्रियोंकी तरह प्रसव आदिका कष्ट कौसल्यामाताको नहीं हुआ । अतः गर्भमें आना यथार्थ है ।"

७ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि गर्भाधानमात्र भगवान्का आवेश होता है । चरु वस्तुतः भगवान्की महिमा है जो अग्नि द्वारा प्रगट हुई और वह अग्नि वस्तुतः अग्नि नहीं है किन्तु प्रणव तत्व है जैसा ब्रह्मविन्दूपनिषत्की दीपिका में कहा है और गर्भ की प्रतीति इस हेतुके सूचनका नाटक मात्र है । प्रणवतत्वके वर्ण ही चारों पुत्र हैं, यथा "अकाराक्षरसंभूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः ।···" (रा० ता० उप०) पुनः, अग्निकी औषधियों, वृक्षों, समस्त प्राणियों और जलका गर्भ शुक्ल यजुर्वेद अध्याय १२ में कहा गया है । अग्नि गर्भरूप है तब तत्रस्थ वस्तु भी गर्भ है । अतः गर्भ सहित होना कहा ।

८ रघुवंश में कहा है कि वैष्णवतेज ही चरुरूपमें था, यथा "स तेजो वैष्णवं पत्न्योर्विभेजे चरुसंज्ञितम् । द्यावापृथिव्योः प्रत्यग्रमहर्पतिरिवातपम् । १०।५४ ।' अर्थात् राजाने उस चरुरूप वैष्णवतेजको अपनी दो पत्नियोंमें बाँटा, जैसे सूर्य अपने नवीन तेजको आकाश और पृथ्वीको बाँट देता है । इस तरह भी गर्भाधान आवेशमात्र है । पद्मपुराणमें स्पष्ट उल्लेख है कि तीनों माताओंको भगवान्के आयुधादिका स्वप्नमें दर्शन होने लगा था ।

नोट—१ गर्भवती होना वाल्मीकि आदिने भी लिखा है । यथा "ततस्तु ताः प्राश्य तदुत्तमस्त्रियो महीपतेरुत्तम पायसं पृथक् । हुताशनादित्यसमान तेजसश्चिरेण गर्भान्प्रति पेदिरे तदा । वाल्मी० १ । १६ । ३१ ।" (अर्थात् महाराजकी पृथक्-पृथक् दी हुई हवि खाकर उन उत्तम रानियोंने अग्नि और सूर्यके समान तेजवाले गर्भ शीघ्र धारण किये) । पुनश्च यथा "उपभुज्य चरुं सर्वाः स्त्रियो गर्भसमन्विताः । १२ । अ० रा० १-३ ।' अर्थात् सभी रानियाँ पायसको खाकर गर्भवती हुईं । शुक्ल यजुर्वेदका प्रमाण टिप्पणी २ में दिया जा चुका है ।

वेदान्तभूषणजीने वेदका प्रमाणभी मुझे यह दिया है—"य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरिगिन्नु तस्मात् । स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश ॥ ऋग्वेद १।१६४।३२, अथर्ववेद ६।१०।१०। निरुक्त २।८।" अर्थात् जिस ब्रह्मने इस सारे विश्वकी रचना अपने मनसे (योगमाया द्वारा) संकल्पमात्र से किया है, वह परमात्मा इस संसारके वृद्धि-विनाश-जन्य दुःख-सुख की भावना को नहीं प्राप्त करता । और, जो परमात्मा इस सारे विश्वको सर्वप्रकारेण देखता है, (अर्थात् सर्वसाक्षी, सर्वद्रष्टा, सर्वान्तर्यामी तथा सर्वव्यापक है), तो भी इस सारे प्रपंचसे निश्चितरूपेण पृथक् है, निर्लिप्त है; वह परमात्मा माताके गर्भके मध्यमें जरायुसे वेष्टित होकर पृथ्वीपर आया । वह यहाँ आकर कैसे रहा, तो बहुत बड़ी प्रजा समस्त भूमण्डलका पालक होकर रहा—'सप्त भूमि सागर मेखला । एक भूप रघुपति कोसला ।'

नोट—२ 'सकल लोक सुख संपति छाये' इति । भाव कि रावण के उपद्रव से सब लोक दुःखी हो गए थे, उनकी सब संपत्ति हर ली गई थी जिससे सुख जाता रहा था, यथा 'भए सकल सुर संपति रीते ।' वह सब फिर भरपूर हो गई । मानों सुख संपत्ति ने यहाँ छावनी डाल दी । बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि "सुलक्षणी पुत्र जब माता के गर्भ में आता है तब घर में मंगल होता है यह प्रत्यक्ष संसार में देखा जाता है । यहाँ त्रैलोक्य रामजीका घर है इसीसे त्रैलोक्यमें सुख संपति छा गई ।"

मंदिर महँ सब राजहिँ रानी । सोभा सील तेज की खानी ॥ ७ ॥
सुख जुत कछुक काल चलि गएऊ । जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भएऊ ॥ ८ ॥

अर्थ—सब रानियाँ महलमें सुशोभित हो रही हैं, सब शोभा, शील और तेजकी खानि हैं । ७ । (इस प्रकार) कुछ समय सुखपूर्वक बीता और वह अवसर आगया जिसमें प्रभुको प्रगट होना था । ८ ।

प० प० प्र०—'मंदिर' इति । मानस में यह शब्द ३५ बार आया है । इस शब्द का प्रयोग विशिष्ट हेतुसे किया गया है । गोस्वामीजी के इष्ट हरि-हर और हनुमान्‌जी हैं । अन्य देवताओंके स्थानके लिए मानसमें 'मंदिर' शब्द कहीं भी नहीं है । कौसल्याजीके गर्भमें श्रीरामजी हैं, अतः जिस महलमें वे हैं वह राममंदिर बना । इसी प्रकार सुमित्राजीके गर्भमें श्रीमन्नारायण और शिवजी और कैकेयीजीके गर्भ में विष्णु भगवान्‌के होनेसे उनके भवनभी मंदिर हो गए । भवानी-भवन, गिरिजागृह और गौरिनिकेत जो कहा है वह इसी हेतुसे । देखिये, जिस महलमें रामावतार हुआ उसको मंदिर कहा पर जिस राजप्रासादमें श्रीदशरथजी हैं उसको गृह कहा है, यथा 'मंदिर मनिसमूह जनु तारा । नृपगृहकलस सो इंदु उदारा ।' जब श्रीरामजी अजिरविहारी हो दशरथमहलमें आने जाने लगे तब उसे 'मंदिर' कहा है, यथा 'नृपमंदिर सुंदर सब भाँती ।७।७६।२।' इस नियममें अपवाद नहीं है । [स्वामीजी ने जो सुमित्रासदन और केकयीभवनको मंदिर बनाया, वह संभवतः 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना । उपजहिं जासु अंस ते नाना ।१४४।६।' के आधार पर हो ।]

टिप्पणी—१ (क) 'सोभा सील तेजकी खानी' इति । खानि = उत्पत्ति स्थान = वह जिसमें या जहाँ कोई वस्तु अधिकता से हो । चारो भाई शोभा, शील और तेज-युक्त हैं, यथा 'चारिउ सील रूप गुन धामा' और ये उन शोभा-शील-तेजमय पुत्रोंकी जननी हैं, उनको उत्पन्न करनेवाली हैं, अतएव इनको शोभा, शील और तेजकी खान कहा । [पुनः, पांडेजी इन विशेषणोंको क्रमसे श्रीकौशल्याजी, कैकेयीजी और सुमित्रा जीमें लगाते हैं । उनके मतसे कौशल्याजी शोभाखानि हैं, कैकेयीजी शीलखानि हैं और सुमित्राजी तेजखानि हैं । यथा 'सोभाधाम राम अस नामा', 'देखि भरतकर सील सनेहू । भा निषाद तेहि समय बिदेहू', 'भरत सील गुन बिनय बड़ाई', 'धन्य भरत जीवनु जगमाहीं । सील सनेहु सराहत जाहीं', 'भरत सनेहु सील सुचि साँचा' । 'राजन राम अतुल बल जैसे । तेजनिधान लखन पुनि तैसे' । श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ ऐश्वर्य्य गुप्त और माधुर्य्य प्रगट कहा गया है, शोभारूपरत्न श्रीराम कौशल्याजीके उदरमें हैं, अतएव वे शोभाकी खानि हैं । शीलरूप भरतजी और तेजरूप शत्रुघ्नजी और गुणरूप लक्ष्मणजी हैं, अतएव कैकेयीजी शीलकी और सुमित्राजी तेज और गुणकी खानि कही गई" (नोट—बैजनाथजी 'तेज गुन खानी' पाठ देते हैं इसीसे गुणको लक्ष्मणजीमें लगाते हैं) । बाबा हरीदासजी और पांडेजीका एक मत है । वे लिखते हैं कि लक्ष्मणजी तेजनिधान हैं और तेजही गुण शत्रुघ्नजीमें जानिये क्योंकि 'जाके सुमिरन ते रिपु नासा । नाम सत्रुहन बेद प्रकासा' और रिपुका नाश तेजहीसे होता है, एक उदरमें बास एवं यमज होनेसे तेजगुण दोनोंमें है । प० प० प्र० पाँड़ेजीसे सहमत हैं ।] (ख) पुनः, शोभा आदिकी खानि कहकर जनाया कि जिनकी शोभासे तीनों लोक शोभित हुए वेही मंदिरमें शोभित होती हैं, तात्पर्य्य कि तब उनकी एवं उस मन्दिरकी शोभाका वर्णन कौन कर सकता है ?

'राजहिं रानी', यथा अध्यात्मे—'देवता इव रेजुस्ताः स्वभासा राजमन्दिरे। १. ३. १३।' अर्थात् रानियाँ अपनी कान्तिसे देवताओंके समान शोभा पाने लगीं।

२ (क) 'सुखजुत कछुक काल०' इति। 'सुखयुत' कहनेका भाव कि गर्भधारणमें क्लेश होता है, वह क्लेश इनको न हुआ, सब समय सुखसे बीता। (ख) "कछुक काल" इति। गर्भ तो बारह मास (वाल्मीकीय-मतसे) अथवा नवमास (अध्यात्मके मतसे) रहा, यथा 'ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः। ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ। वाल्मी० १. १८. ८.।' (अर्थात् यज्ञ समाप्त होनेसे जब छः ऋतुएँ बीत चुकीं और बारहवाँ मास लगा तब चैत्र मास की नवमीको), 'दशमे मासि कौसल्या सुषुवे पुत्रमद्भुतम्। अ० रा० १। ३। १३।' अर्थात् दशवाँ महीना लगनेपर कौशल्याजीने एक अद्भुत बालकको जन्म दिया। तब 'कछुक काल' कैसे कहा? इस प्रश्नका उत्तर प्रथमही 'सुख जुत' शब्दसे जना दिया। सुखका समय थोड़ाही जान पड़ता है, इसीसे उतने समयको 'कछुक' ही कहा, यथा 'कछुक दिवस बीते एहिं भाँती। जात न जानिअ दिन अरु राती॥ १९७। १।', 'कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई। २०३। २।', 'नित नूतन मंगल पुर माहीं। निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं। ३३०। १।' सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते। ऐसा प्रतीत होता है कि अभी कुछ दिनभी तो नहीं हुए। (ख) 'जेहिं प्रभु प्रगट सो अवसर०' यहाँसे 'स, अवसर बिरंचि जब जाना' तक 'अवसर' का वर्णन है। [प्रभुका अवतार त्रेतायुगके तीन चरण अर्थात् नौलाख बहत्तर हजार वर्ष बीत जानेपर जब चतुर्थ चरण लगा तब 'प्रभव' नामक संवत्सरमें हुआ। (वै०) किस कल्पके त्रेतायुगमें हुआ इसमें मतभेद है। जिस कल्पमें भी हो उसके बहत्तर चतुर्युगीके त्रेतामें यह अवतार हुआ। वैजनाथजीके मतानुसार यह प्रथम कल्पकी कथा है।]

दोहा—जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल।
चर अरु अचर हर्षजुत राम जनम सुखमूल॥१९०॥

शब्दार्थ—जोग (योग) = फलित ज्योतिष में कुछ विशिष्ट काल या अवसर जो सूर्य और चन्द्रमा के कुछ विशिष्ट स्थानोंमें आनेके कारण होते हैं और जिनकी संख्या सत्ताइस (२७) है। इनके नाम ये हैं— विष्कंभ, प्रीति, आयुष्मान, सौभाग्य, शोभन, अतिगंड, सुकर्मा, धृति, शूल, गंड, वृद्धि, ध्रुव, व्याघात, हर्षण, वज्र, सिद्ध, व्यतीपात, वरीयान्, परिघ, शिव, सिद्ध, साध्य, शुभ, शुक्ल, ब्रह्मा, ऐन्द्र और वैधृति। लगन (लग्न)=ज्योतिषमें दिनका उतना अंश जितनेमें किसी एक राशिका उदय होता है। एक दिन रातमें जितने समयतक पृथ्वी एक राशिपर रहती है, उतने समयतक उस राशिका 'लग्न' कहलाता है। राशि बारह हैं--मेष (यह भेड़े के समान है और इसमें छयासठ तारे हैं), वृष (यह एकसौ एकतालीस ताराओंका समूह बैलके आकारका है), मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन। प्रत्येक तारासमूहकी आकृतिके अनुसारही उसका नाम है। ग्रह=वे नौ तारे जिनकी गति, उदय और अस्तकाल आदिका पता प्राचीन ज्योतिषियोंने लगा लिया था। उनके नाम ये हैं--सूर्य चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु। बार = दिन। तिथि = चन्द्रमाकी कलाके घटने या बढ़नेके क्रम-के अनुसार गिने जानेवाले महीनेके दिन, जिनके नाम संख्याके अनुसार होते हैं। पक्षोंके अनुसार तिथि-याँभी दो प्रकारकी होती हैं। प्रत्येक पक्षमें पन्द्रह तिथियाँ होती हैं--प्रतिपदा, द्वितीया आदि। कृष्णपक्षकी अंतिम तिथि अमावस्या और शुक्लकी पूर्णिमा कहलाती है। इनके पाँच वर्ग किये गए हैं—प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशीका नाम 'नंदा' है, द्वितीया, सप्तमी और द्वादशीका नाम 'भद्रा' है; तृतीया, अष्टमी और त्रयोदशीका नाम 'जया' है; चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशीका नाम 'रिक्ता' है और पंचमी, दशमी और पूर्णिमा या अमावस्याका नाम, 'पूर्ण' है।

अर्थ—योग, लग्न, ग्रह, दिन और तिथि सभी अनुकूल होगए। जड़ और चेतन (चराचरमात्र) हर्षसे भर गए (क्योंकि) श्रीरामजन्म सुखका मूल है। १६०।

टिप्पणी—१ (क) 'सकल भए अनुकूल' का भाव यह है कि योग, लग्न और ग्रह आदि ये सबके सब एकही कालमें अनुकूल नहीं होते, अनुकूल और प्रतिकूल दोनोंही रहते हैं। तात्पर्य्य कि जो योगादि प्रतिकूलभी थे वहभी उस समय सब अनूकूल होगए। इसका कारण बताया कि 'राम जनम सुखमूल' है।

(ख) 'अनुकूल' हुए अर्थात् सब शुभदायक हुए, यथा 'मास पाख तिथि बार नखत ग्रह योग लगन सुभ ठानी। गी० १।४।' (ग) 'चर अरु अचर हर्षजुत' इति। यहाँतक 'भईं हृदय हरषित सुख भारी', 'सकल लोक सुख संपति छाए' और 'चर अरु अचर हर्षजुत' इन सबों (रानियोंका, त्रैलोक्यका और जड़ एवं चेतन सभी) का सुख कहकर तब अंतमें सबके सुखका कारण रामजन्म बताया। श्रीरामजन्म सुखमूल है, इसीसे सबको सुख हुआ।

नोट—१ श्रीरामजीके अवतारके समय सुकर्मा योग [वा, प्रीतियोग-(मा० म०, वै०)]; कर्क लग्न; मेषके सूर्य, मकरका मंगल, तुलाके शनिश्चर, कर्कके बृहस्पति, और मीनके शुक्र इन पाँच परमोच्च ग्रहोंका योग हुआ। यह मण्डलेश्वर योग है। मंगलवार, नवमी तिथि थी। विशेष १६१ (१-२) में देखिए। योग, लग्न, ग्रह आदिका एक धर्म 'अनुकूल होना' वर्णन 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है।

२ यहाँ योगादिक पाँचके नाम देकर सूचित किया कि पंचांगमें जो उत्तम विधि है वह सभी अनुकूल हुए। ३—अचरका हर्ष कहकर तेज, वायु, पृथ्वी, जल, आकाश इन पाँचों तत्वोंका प्रभुकी सेवामें तत्पर होना जनाया, जैसा आगे स्वयं ग्रन्थकार लिखते हैं।—'मध्यदिवस अति सीत न घामा' में घामसे तेज, 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ' से वायु, 'बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा' से पृथ्वी और 'गगन बिमल' से आकाश तत्वकी सेवा सूचित करते हैं। (प्र० सं०)। विशेष व्याख्या १६१।५-६ टि० २ में देखिए।

नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकल पच्छ अभिजित हरिप्रीता॥ १॥
मध्य दिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा॥ २॥

शब्दार्थ—मधुमास = चैत्र मास। अभिजित—नीचे नोटमें देखिये।

अर्थ—नवमीतिथि, पवित्र चैत्रका महीना, शुक्लपक्ष और भगवान्‌का प्रिय अभिजित् नक्षत्र (मुहूर्त) था। १। दिनका मध्य अर्थात् दोपहरका समय था। न तो बहुत सरदी थी और न बहुत घाम (गरमी) थी। लोगोंको विश्राम देनेवाला पवित्र समय था। २।

टिप्पणी—१ (क) 'नौमी तिथि···' इति। 'जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल' कहकर अब उसीका विवरण करते हैं कि नवमी तिथि थी, इत्यादि। प्रथम 'नवमी तिथि' कहनेका भाव कि भगवान्‌के अवतारमें तिथि प्रधान है, तिथिही जयन्ती कहलाती है, तिथिको 'व्रत' होता है। इसीसे प्रथम 'तिथि' कहा। 'बार' प्रगट न कहा क्योंकि 'बार' के सम्बन्धमें अनेक मत हैं—मेरुतंत्रमें सोमवार है, वही देवतीर्थ स्वामीजी लिखते हैं, यथा 'अंक अवधि नौमी शशि बासर नखत पुनर्वसु प्रकृति चरे'। श्रीसूरदासजी अपने रामायणमें बुध लिखते हैं और गोस्वामीजीका मत मंगल है, यथा 'नवमी भौमबार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥ जेहि दिन रामजन्म श्रुति गावहिं। तीरथ सकल तहां चलि आवहिं॥ बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा।' इस तरह ग्रन्थकुन्डली रामकुन्डलीसे मिलाकर युक्तिसे 'बार' कह दिया। गीतावलीमें भी इसी प्रकार युक्तिसे कहा है, यथा 'चैत चारु नौमी तिथि सित पख मध्य गगन गत भानु। नखत योग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोद निधानु गी० ॥१.२॥' (वाल्मीकीय और अध्यात्ममें दिन नहीं लिखा है, केवल तिथि है। वैसेही मानसमें इस स्थलपर दिनका नाम नहीं है)। (ख) मधुमास अर्थात् चैत्रमास। यह सब मासोंमें

पुनीत है ऐसा पुराणोंमें लिखा है । [अध्यात्म रा० में जन्मके नक्षत्र आदि इस प्रकार कहे हैं—"मधुमासे सिते पक्षे नवम्यां कर्कटे शुभे । पुनर्वस्वृक्षसहिते उच्चस्थे ग्रहपञ्चके ॥१४॥ मेषं पूषणि संप्राप्ते पुष्पवृष्टिसमाकुले । आविरासीज्जगन्नाथः परमात्मा सनातनः ॥ १५ ॥" (१.३) । अर्थात् चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमीके दिन शुभ कर्कलग्नमें पुनर्वसुनक्षत्रके समय जब कि पांच ग्रह उच्च स्थान तथा सूर्य मेषराशिपर थे तब सनातन परमात्मा जगन्नाथका आविर्भाव हुआ । संतश्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि मेषराशिस्थित सूर्यके कारण 'पुनीत' कहा है] (ग) मासमें दो पक्ष होते हैं, अतः पक्षका नाम दिया कि शुक्लपक्षमें जन्म हुआ ।

नोट—१ 'अभिजित' इति । 'अभिजित' का अर्थ है 'विजयी' । इस नक्षत्रमें तीन तारे मिलकर सिंघाड़ेके आकारके होते हैं । यह मुहूर्त ठीक मध्याह्न समय आता है । वृहज्ज्योतिःसार (नवलकिशोरप्रेस, लखनऊ) में अभिजित मुहूर्त दो प्रकारका बताया गया है । उनमेंसे एक यों है—"अङ्गुल्याविंशितः सूर्ये शङ्कुः सोमे च षोडश । कुजे पञ्चदशाङ्गुल्यो बुधवारे चतुर्दश । १ । त्रयोदश गुरोर्वारे द्वादशार्कजशुक्रयोः । शङ्कुमूले यदा छाया मध्याह्ने च प्रजायते । २ । तत्राऽभिजित्तदाख्यातो घटिकैका स्मृता बुधैः ।" अर्थात् रविवार के दिन बीश अंगुलका शंकु; सोमवारको सोलह अंगुलका, मंगलको पन्द्रह अंगुलका, बुधको चौदह, बृहस्पतिको तेरह, शुक्र और शनिको बारह अंगुलका शंकु (मेख वा खूँटा आदि) घाममें खड़ा करे । जब छाया शंकुमूलके बराबर (अर्थात् अत्यंत अल्प) हो तबसे एक घड़ी पर्यन्त 'अभिजित' मुहूर्त होता है ।

दूसरे प्रकारके अभिजित मुहूर्तका उल्लेख मुहूर्तचिन्तामणिमें भी है जो इस प्रकार है—"गिरिश भुजगमित्राः पित्र्यवस्वम्बुविश्वेऽभिजिदथ च विधातापीन्द्र इन्द्रानलौ च । निर्ऋतिरुदकनाथोऽप्यर्यमाथो भगः स्युः क्रमश इह मुहूर्ता वासरे बाणचन्द्राः । ५० ।" (विवाह प्रकरण) । अर्थात् दिनमानके पन्द्रह भाग करनेपर लगभग दो-दो दंडका एक एक भाग होता है । इस प्रकार सूर्योदयसे प्रारंभ करके जो दो-दो दंडके एक-एक मुहूर्त होते हैं उनके क्रमशः नाम ये हैं—आर्द्रा (जिनका देवता गिरिश है), आश्लेषा (भुजग देवता), अनुराधा (मित्र), मघा (पितृ देवता), धनिष्ठा (वसु), पूर्वाषाढ़ा (अंबु), उत्तराषाढ़ा (विश्वे), अभिजित, रोहिणी (विधाता), ज्येष्ठा (इन्द्र), बिशाखा (इन्द्रानल), मूल (निर्ऋति), शततारका (वरुण), उत्तराफाल्गुनी (अर्यमा) और पूर्वाफाल्गुनी (भग) ।-इस प्रकारभी प्रायः चौदह दंडके बाद मध्याह्नसमयमें 'अभिजित मुहूर्त' होता है । अभिजित मुहूर्त लिखनेका भाव यह है कि इस मुहूर्तमें जन्म होनेसे मनुष्य राजा होता है,—"जातोऽभिजित राजा स्यात् ।"

२ "हरि प्रीता" इति । इस शब्दके अर्थमें मतभेद है । (१) साधरण अर्थ तो है—'जो हरिको प्रिय है' । यह मुहूर्त भगवान्‌को प्रिय है इसीसे वे सदा इसी मुहूर्तमें अवतरते हैं । (पं०) । (२) हरि=पुनर्वसु नक्षत्र । प्रीता=प्रीति नामक योगमें । (मा० म०, मा० त० वि०) । वाल्मीकीय और अध्यात्म आदि रामायणोंसे यह स्पष्ट है कि श्रीरामावतार सदा पुनर्वसु नक्षत्रमें होता है, यह अवतारका एक प्रधान नक्षत्र माना जाता है । संभवतः इससे 'हरि' शब्द से पुनर्वसु नक्षत्रका अर्थ लिया गया हो । परन्तु ज्योतिषके पंडितोंसे पूछनेसे यह ज्ञात हुआ कि 'हरि' शब्दसे ज्योतिष शास्त्रमें श्रवण नक्षत्रही अभिप्रेत होता है । 'प्रीति योग' चैत्र शुक्लमें प्रायः द्वितीया वा तृतीयाको आता है और अधिकसे अधिक षष्ठी और क्वचित् सप्तमीके आगे देखने या सुननेमें नहीं आता । सुकर्मा योग प्रायः श्रीरामनवमीको रहता है । ☞ तब यह प्रश्न होता है कि फिर 'हरि प्रीता' का अर्थ क्या है ? उत्तर यह हो सकता है कि दो नक्षत्र मिलकर अभिजित नक्षत्र वा मुहूर्त्त होता है । उत्तराषाढ़ाका चतुर्थचरण और श्रवणका प्रथम पन्द्रहवाँ भाग मिलकर अभिजित होता है । यथा "वैश्वप्रांत्यांघ्रि श्रुति तिथि भागतोऽभिजित्स्यात् ।५३।" (मुहूर्तचिन्तामणि विवाहप्रकरण) । जन्मके समय

इस मुहूर्तका अन्तिम अंश (अर्थात् श्रवण का अंश) रहता है। श्रवणनक्षत्रका देवता हरि अर्थात् विष्णु हैं; अतः 'हरि प्रीता' से श्रवणनक्षत्रका ग्रहण हुआ। इस तरह 'अभिजित हरिप्रीता' का अर्थ है कि 'अभिजित मुहूर्तके हरिप्रीता अर्थात् श्रवणांशमें' जन्म हुआ। अथवा, (३) 'हरि प्रीता' श्लेषार्थी है। नवमी तिथि आदि सबके साथभी यह लग सकता है। अर्थात् नवमी तिथि, मधुमास, शुक्लपक्ष और अभिजित मुहूर्त ये सब हरिको प्रिय हैं। क्योंकि जब-जब श्रीरामावतार होता है तब-तब इसी योगमें होता है। अथवा, (४) हिरण्यकशिपु जो किसीसे जीता नहीं जा सकता था उसे भगवान्ने इसी मुहूर्तमें मारा इससे इस मुहूर्तको हरिका प्रिय कहा। अथवा, हरि = चन्द्रमा। हरिप्रीता = जो चन्द्रमाको प्रिय है उस कर्कलग्नमें। (वै०)। वा, (५) हरि अर्थात् चन्द्रहोरा भौमवार और प्रीता अर्थात् बालवकरण। चन्द्रहोराका फल है कि शीलवान् होंगे। भौमवारका फल है कि स्वरूपवान होंगे और बालवकरण का फल है कि अतुलबलसींव होंगे। (वै०)। (६) हरि = सिंहलग्न। प्रीता = प्रीति योग। (शीलावृत्त)। औरभी कुछ लोगोंने सिंहराशिमें जन्म लिखा है परन्तु कर्कही प्रायः अन्य सबोंके मतसे निश्चित है।

टिप्पणी—२ 'मध्यदिवस…' इति। (क) अब इष्टकाल लिखते हैं। अभिजित मुहूर्त ठीक मध्याह्नमें होता है। (ख) 'अति सीत न घामा' इति। भाव कि शीतभी कम है, घाम भी कम है। 'अति शीत घाम' से दुःख होता है। (ग) 'पावन काल' में जन्म कहकर जनाया कि सबको पवित्र करेंगे। (घ) लोक = लोग, यथा 'लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः।'। विश्रामकालमें जन्म कहनेका भाव कि सबको विश्राम देंगे। पुनः अति शीत घाम नहीं है इसीसे यह काल सबको विश्रामदाता है। कालकी पावनता आगे लिखते हैं। पुनः 'मध्य दिवस' कहकर 'अति सीत न घामा' कहने का भाव कि मध्याह्नकाल है इससे 'अति शीत' नहीं है और 'अति घाम' नहीं है इसका कारण आगे लिखते हैं कि 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ'। शीतल वायु चलती है, अतएव गरमी नहीं है।

नोट—३ श्रीदेवतीर्थस्वामीजी लिखते हैं—मंगलमय प्रभु जन्म समयमें अति उत्तम दस जोग परे। अपने-अपने नाम सदृश फल दसौ जनावत खरे-खरे॥ १॥ ऋतुपति ऋतु पुनि आदि मास मधु शुक्लपक्ष नित धर्म भरे। अंक अवधि नवमी ससिबासर नखत पुनर्वसु प्रकृति चरे॥ २॥ जोग सुकर्म समय मध्य दिन रवि प्रताप जहँ अति पसरे। जयदाता अभिजित मुहूर्त बर परम उच्च ग्रह पांच ढरे॥ ३॥ नवमि पुनर्वसु परम उच्च रवि कबहुँ न तीनो संग अरे। एहि ते देवरूप कछु लखिये गाय गाय गुन पतित तरे॥४॥" (रामसुधायोग ग्रंथे)। अर्थात् मंगलमय श्रीरामजन्मसमयमें दश उत्तम योग पड़े थे। ये सब योग अपने-अपने नामके सदृश फल जना रहे हैं। इस तरह कि—(१) ऋतुपति वसन्त सब ऋतुओंका स्वामी वा राजा है और उसमें सर्दी गर्मी समान रहती है। इससे जनाते हैं कि आप समस्त ब्रह्मांडोंके राजा और सबको सम हैं, विषम किसीको नहीं। यथा 'बैरिहु राम बड़ाई करहीं।' (२) मधुमास अर्थात् चैत्रमास संवत्सरका आदि मास है, इसीसे संवत्का प्रारंभ होता है। इससे जनाया कि काल, कर्म, गुण, स्वभाव, माया और ईश्वर जो जगत्के आदि हैं उन सबोंकेभी ये आदि हैं। (अर्थात् ये आदिपुरुष हैं)। (३) शुक्लपक्ष स्वच्छ होता है। इससे जनाया कि आपके मातृ-पितृ दोनों पक्ष अथवा आपके निर्गुण और सगुण दोनों स्वरूप स्वच्छ हैं, स्वच्छ धर्मसे पूर्ण हैं। (४) 'नवमी' से जनाया कि जैसे 'नव' का अंक अंकोंकी सीमा है, इसके आगे कोई अंक नहीं, वैसेही श्रीरामजी सबकी हद हैं, सीमा हैं, सबसे परे हैं, आपसे परे कोई नहीं है। (५) 'ससि बासर' (अर्थात् चन्द्रवार। श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीके मतसे जन्म सोमवारको हुआ। मेरुतंत्रका यही मत है)। चंद्रवारका भाव कि जैसे चन्द्र आह्लादकारक, प्रकाशक और औषधादिका पोषक है वैसेही प्रभु सबके आनन्ददाता, प्रकाशक आदि हैं, यथा 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू।', 'आनँदहू के आनंद

दाता।' (६) 'पुनर्वसु' नक्षत्रका भाव कि यह पुनः धन-संपत्तिका देनेवाला अथवा पुनः बसानेवाला है; वैसेही श्रीरामजीके द्वारा देवताओंकी संपत्ति बहुरैगी और सुग्रीवादि उजड़े हुए पुनः बसेंगे। 'प्रकृति चरे' का भाव कि पुनर्वसु नक्षत्र अपने प्रकृतिसे चर अर्थात् विचरणशील प्रकृतिका है; वैसेही श्रीरामजी विचर-विचरकर लोगोंको सुख देंगे। विश्वामित्रके साथ फिरते हुए उनको सुखी करेंगे, दण्डकारण्यमें विचरकर ऋषियों आदिको सुख देंगे—'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ-जाइ सुख दीन्ह। ३।९।' इसी तरह लंकातक फिरेंगे और जलचर, थलचर, नभचर सभीको सुखी करेंगे। (७) 'सुकर्म योग' से जनाया कि ये दुष्टोंका नाश करके सद्धर्मका प्रचार करेंगे, सदा सत्कर्ममें रत रहेंगे। अथवा, जो इनको भजेगा वह सुकर्ममें लगेगा। (८) 'मध्य दिन रवि प्रताप जहँ अति पसरे' अर्थात् मध्याह्नकालमें सूर्यका प्रताप पूर्ण फैला रहता है। वैसेही आपका प्रताप ब्रह्माण्डभरमें प्रसरित रहेगा। (९) अभिजित मुहूर्त अत्यन्त जयदाता है, वैसेही आप विजयी होंगे और अपने भक्तोंको सदा जय प्राप्त कराते रहेंगे। (१०) 'परम उच्च ग्रह पांच ढरे' इति। परम उच्च पाँच ग्रहोंके पड़नेका भाव यह है कि इनके नाम, रूप, लीला, गुण और धाम ये पाँचों परम उच्च हैं। (उच्च ग्रहोंके नाम दोहा १९० में दिये जा चुके हैं)।

दश योगसे जनाया कि जो दशो दिशाओंमें व्याप्त है तथा चारों वेद और छओ शास्त्र जिसका यश गाते हैं, यह उन्हींका अवतार है। नवमी तिथि, पुनर्वसु और मेषके सूर्य कभी एकत्र नहीं होते। (इसका विशेष विवरण दोहा १९५ में देखिये)। यह योग श्रीरामजन्मके अवसरही पर एकत्र हुये थे और कभी नहीं। इस योगसे प्रभुका 'अघटित घटना पटीयसी' होना सिद्ध हुआ और यह निश्चित हुआ कि इनके गुण गा गाकर पतित तरे, तरते हैं और तरेंगे। (रा० प्र०)।

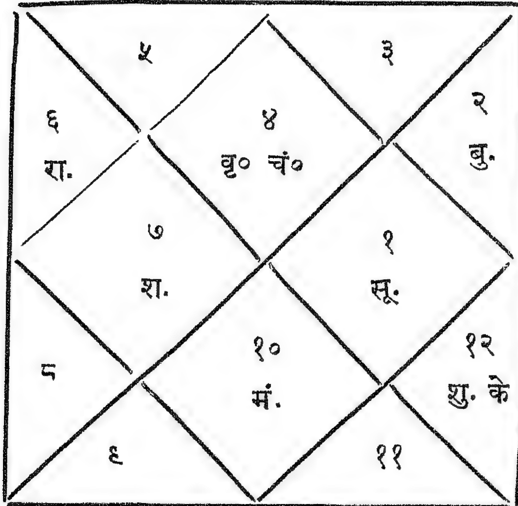
वैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीरामजन्ममें षोडश योग पड़े हैं—(१) प्रभवनामक संवत्सर (जिसका फल है कि 'लोककी उत्पत्ति पालन करनेवाला होगा')। (२) उत्तरायण (जिसका फल है—'सहज मुक्ति-दायक होनेवाला')। (३-७) नवमी, चैत्र, शुक्लपक्ष, अभिजित, वसन्त (ऋतुराज)। (८) भौमवार। (९) चन्द्रहोरा। (१०) बालवकरण। (११-१३) पुनर्वसु, सुकर्मयोग, मध्याह्न काल। (१४) मेषके सूर्य (जिसका फल है वीरोंमें शिरोमणि होना)। (१५) कर्कलग्न। (१६) पंचग्रह परमोच (फल मण्डलेश्वर होना है)।—षोडश योगसे जनाया कि पूर्ण षोडशकलाके अवतार हैं।

वाल्मीकीय भूषण टीकामें श्रीरामजन्मपर जो उच्च ग्रह पड़े थे उनके फल इस प्रकार लिखे हैं।—

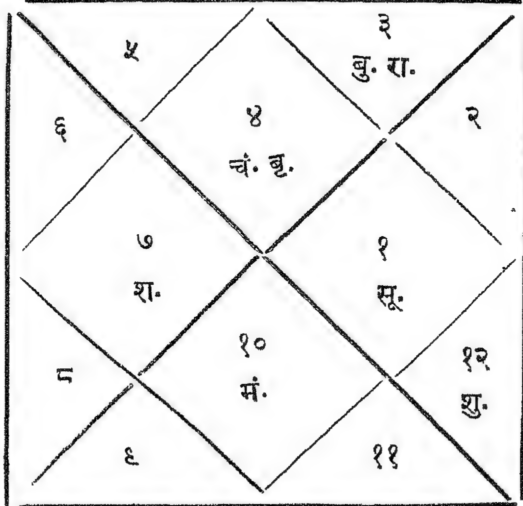
जिसका एक ग्रह उच्चस्थानमें है उसके सर्व अरिष्टोंका नाश होता है। जिसके दो ग्रह उच्च हों वह सामन्त, तीन उच्च ग्रहोंवाला महीपति, चारवाला सम्राट् और जिसके पांच ग्रह उच्च हों वह त्रैलोक्यनायक होता है। यथा—'एकग्रहोच्च जातस्य सर्वारिष्टविनाशनम्। द्विग्रहोच्चेतुसामंतस्त्रिग्रहोच्चे महीपतिः॥ चतुर्ग्रहोच्चे सम्राट् स्यात् पंचोच्चैस्त्रैलोकनायकः।' श्रीरामजन्मपर सूर्य, मंगल, गुरु, शुक्र और शनि ये पाँच ग्रह उच्चके पड़े थे। सूर्यके उच्च होनेसे मनुष्य सेनापति होता है, मंगल उच्च होनेसे बनमें राजा, गुरु उच्च होनेसे धनी और राज्याधिपति, शुक्र उच्च होनेसे राजश्रीको प्राप्त और शनिके उच्च होनेसे राजाके तुल्य होता है। जन्मके समय गुरु-चन्द्र-योग और रवि-बुध-योग पड़े हैं। प्रथम योगका फल है कि मनुष्य दृढ़ सौहृदवाला, विनीत, बन्धुवर्गका सम्मान करनेवाला, धनेश, गुणवान्, शीलवान्, और देवता तथा ब्राह्मणोंका मानने वाला होता है। रवि-बुध-योगका फल है कि वेदान्तवेत्ता, स्थिर संपत्तिवाला, यशस्वी, आर्य्य, राजाओं तथा सज्जनोंको प्रिय, रूपवान् और विद्यावान् होता है। चैत्रमासमें जन्म होनेसे मधुर भाषी और अहंकार सुखान्वित होता है। नवमीका फल है कि भुविख्याता, इन्द्रियजित्, शूर, पंडित, सर्वभूतोंसे निर्भय हो। पुनर्वसु का फल है कि सहिष्णु (सहनशील), गूढ़वृत्ति (गम्भीर स्वभाव), लीला-प्रिय, निर्लोभ, अल्पमें संतोष और

शीघ्र चलनेवाला हो। पुनर्वसुके चतुर्थ चरणमें जन्म होनेसे अत्यन्त रूपवान्, सज्जन, प्रियदर्शन, लक्ष्मीवान् और प्रियवादी होता है। लग्नमें गुरु पड़नेसे कवि, गवैया, प्रियदर्शन, सुखी, दाता, भोक्ता, राजाओंसे पूजित, पवित्रात्मा और देवद्विजाराधनमें तत्पर होता है। (सर्ग १८ श्लोक ८)।

जन्मकुण्डली (बै०)



(पं० ज्वालाप्रसाद)



इन कुण्डलियोंसे पुष्य नक्षत्रमें जन्म होना चाहिए पर पुनर्वसु नक्षत्र ही वाल्मीकि आदिमें लिखा है। प्रभुकी कुण्डलीभी अघटित घटना पटीयसी वसिष्ठजीनेही बनाई होगी, आजके ज्योतिषीके सामर्थ्यसे बाहर की बात है। परंतु जो कुण्डलियां लोगोंने दी हैं वह हमने उद्धृत करदी हैं।

प. प. प्र०—१ अभिजित नक्षत्र चैत्रशुक्ल ९ को नहीं आ सकता, अतएव 'अभिजित मुहूर्त' ही यहां समझना चाहिए। यह १५ मुहूर्तोंमेंसे एक है। यथा—वैरागनामा विजय सिताख्य सावित्र मैत्रो अभिजित बलश्च। सर्वार्थसिद्ध्यै कथिता मुहूर्ता मौहूर्ति कैरत्र पुराणविद्भिः (मुहूर्तसिंधौ)॥ ये मुहूर्त्त सर्वकार्यों के लिये शुभ हैं। २-श्रीरामजन्मकालीन ग्रहादि योग। पुनर्वसु नक्षत्र, कर्कराशि स्थ सूर्य, नवमीतिथि और शुक्लपक्ष इत्यादि उल्लेख अनेक रामायणोंमें हैं पर आजकल जिस पद्धतिसे तिथि आदिकी गणना करते हैं, उससे इन चार बातोंका एक समय अस्तित्व असंभव है।

एक तिथि १२ अंशोंकी होती है। सूर्य और चन्द्रमें १२ अंशोंका अन्तर होनेपर एक तिथि पूर्ण होती है। सूर्य और चन्द्रमें जब बिलकुल अंशकला विकलात्मक अन्तर नहीं रहता तब अमावस्या पूर्ण होती है। अतः अष्टमीके पूर्ण होनेके लिये सूर्यके आगे ९६° अंश चन्द्रमा चाहिए, तत्पश्चात् नवमीका आरंभ होगा। सूर्य मेषराशिके पहले अंशमें हैं, ऐसा माना जाय तो भी १+९६=९७ अंशमें चन्द्रमा होगा तब नवमीका आरंभ हो सकता है, पर चन्द्र पुनर्वसु नक्षत्रमें कर्कराशिका है। मेष+वृषभ+मिथुन=९०° अंश हुए। अश्विनीसे पुनर्वसुके तीन चरण=९०° अंश होते हैं। पुनर्वसुके अन्तिम कलामें चन्द्र है, ऐसा माना जाय तो भी ९०°+३-२०=९३ अंश २० कला ही अन्तर पड़ता है; नवमीका आरम्भ नहीं हो सकता है। यह तब शक्य हो सकता है जब राशिविभागों और ग्रहोंकी गणना सायन पद्धतिसे की जाय और नक्षत्र गणना नक्षत्र विभागके अनुसार हो। यह शंका 'केसरी' पत्रमें एक बार इस दासने प्रकट की थी पर किसीने भी समाधान नहीं किया। हिन्दी ज्योतिषी इस पर विचार करके समाधान करनेका प्रयत्न करें तो अच्छा होगा।

सीतल मंद सुरभि बह बाऊ। हरषित सुर संतन मन चाऊ॥ ३॥
बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा। स्रवहिं सकल सरितामृत धारा॥ ४॥

शब्दार्थ—सुरभि = सुगंधित। बाऊ = वायु। चाऊ = चाव, उत्साह। मनिआरा (मणि-आकर) = मणियोंकी खानोंसे युक्त। कुसुमित = पुष्पित, फूलोंसे युक्त, फूलेहुए। स्रवना = बहाना। अमृत=मधुरजल।

अर्थः—(सब लोगोंका विश्रामदाता पावन काल है यह कहकर अब वह विश्राम कहते हैं कि) शीतल, मंद (धीमी) और सुगंधित वायु चल रही है। देवता हर्षित (प्रसन्न एवं आनंदित) हैं। सन्तोंके मनमें आनन्द उमँग रहा है। ३। बन फूले हुए हैं, पर्वतोंके समूह मणियोंकी खानों एवं मणियोंसे युक्त होगए। अर्थात् पर्वतोंपर मणियोंकी खानें प्रगट होगईं (जिससे पर्वत भी जगमगाने लगे हैं)। सभी नदियां अमृतकी धारा बहारही हैं। ४।

नोट—१ पं० रामकुमारजी 'स्रवहिं सकल सरितामृत धारा' का अर्थ करते हैं-"सब पर्वत अमृत अर्थात् मधुर जलकी नदी स्रवते हैं।" अमृत = मधुर जल, यथा "अमृतं मधुरं जलं इत्यनेकार्थः"। २—'मनिआरा' का अर्थ शब्दसागरमें 'देदीप्यमान, शोभायुक्त, सुहावना, चमकीला' दिया है। पर यहां यह अर्थ ठीक नहीं जँचते। मनिआरा शब्द मणि + आरा प्रत्ययसे मिलकर बना है। इस प्रकार, मणिआरा= मणियुक्त, मणिवाला। अथवा, मणिआर = मणिआकर वा मणिआकरयुक्त—यह अर्थ इस प्रसंगकी जोड़वाले श्रीगिरिजाजन्म-प्रसंगसे मिलान करनेसे ठीक जान पड़ते हैं। वहां जो कहा है कि 'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भांति' वही भाव 'गिरिगन मनिआरा' का है।

टिप्पणी—१ (क) ऊपर जो कहा था कि 'पावन काल लोक बिश्रामा' और 'चर अरु अचर हर्ष जुत' उन्हींका यहाँ विवरण करते हैं। शीतल, मंद और सुगंधित वायुका चलना विश्राम और शान्तिका देनेवाला होता है। सुर और संत विशेष दुःखी थे, यथा 'सुर मुनि गंधर्बा मिलि करि सर्बा गे बिरंचि के लोका', 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा', 'निसिचर निकर सकल मुनि खए सुनि रघुबीर नयन जल छाए'। सो वे सब सुखी हुए। चाऊ (चाव)=प्रसन्नता, आनंद, हर्ष, उमंग, अनुराग। दोहेमें प्रथम चर शब्द है तब अचर; उसी क्रमसे यहां प्रथम सुर और सन्तोंका सुख कहा। ये 'चर' हैं। आगे 'बन कुसुमित०' यह अचरका हर्ष कहते हैं। (ख) सुर और सन्तोंके मनमें हर्ष है, इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सुरके विपर्य्ययमें असुर और संतके विपर्य्ययमें खल, ये दुःखी हुए; यथा "सुखी भए सुर-संत-भूमिसुर खलगन मन मलिनाई। सबइ सुमन बिकसत रबि निकसत कुमुद-बिपिन बिलखाई। गी० १। १।' 'अमर-नाग-मुनि-मनुज सपरिजन बिगत बिषाद गलानी। मिलेहि माँझ रावन रजनीचर (रजधानी?) लंक संक अकुलानी। गी० १। ४।' [अथवा, सुर हर्षित हुए क्योंकि राक्षसोंके नाशक प्रभु प्रकट हुए, अब रावणजनित क्लेश मिटेगा और संतोंके मनमें आनंदकी वृद्धि हुई कि जिसको शिवादि ध्यानमें नहीं पाते उनके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे। (वै०, रा० प्र०)] (ग) यहां प्रथम 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ' लिखकर तब तीसरे चरणमें जाकर 'बन कुसुमित गिरिगन...' इत्यादि लिखकर जनाया कि पवनके शीतल, मंद और सुगंधित होनेके कारण 'बन कुसुमित' और 'सरितामृत धारा' नहीं हैं अर्थात् यहां जो पवन चल रहा है वह वनकी आड़मेंसे आनेके कारण मंद हो यह बात यहां नहीं है और न फूलोंका स्पर्श होनेसे वह सुगंधयुक्त है तथा नदियोंके जलके स्पर्शसे उसमें शीतलता हो सोभी बात नहीं है; यह वायु स्वाभाविकही शीतल, मंद और सुगंधित थी, किसी कारणसे शीतल आदि नहीं है। प्रभुकी सेवाके लिये वन कुसुमित होगए, शीतल मंद सुगंधित वायु चलने लगी, इत्यादि।

प० प० प्र०—१ "शीतल मंद सुरभि वायु और बन कुसुमित' यह तो वसन्त ऋतुका सामान्य लक्षण

है। इसमें अवतारका वैशिष्ट्य ही क्या है?" इस शंकाका समाधान 'संतन मन चाऊ' से कहा है। वसन्त तो 'काम कृशानु बढ़ावनिहारा' होता है, उससे सन्तोंके मनमें चाव नहीं होता, कामियोंमें चाव होता है। इस समय सन्तोंको ऐसा अनुभव हो रहा है कि 'शीतल मंद सुगन्ध वायु' भक्तिरसको बढ़ानेवाला है अतः वायुका स्वभाव रामजन्मपर बदल गया है। २ कामदेवनिर्मित वसन्तवर्णनमें वृक्षोंका कुसुमित होना कहा गया है, यथा 'कुसुमित नवतरुराजि बिराजा।१।८६।६।', इसी तरह अरण्यकांडमें भी वसन्त वर्णनमें 'बिबिध भाँति फूले तरु नाना।३।३८।३।' कहा गया है। किन्तु यहाँ 'तरु कुसुमित' न कहकर 'बन, कुसुमित' कहा गया। यह भेद करके जनाया कि वनके सभी वृक्ष फूलोंसे ऐसे लद गए हैं कि वृक्षादि कुछ देखनेहीमें नहीं आते, वनमें केवल फूल ही फूल दीखते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'बन कुसुमित०' इति। 'बन' कथनसे अनेक जातिके वृक्षोंका ग्रहण हुआ। 'बन कुसुमित' अर्थात् नाना जातिके वृक्ष फूले हैं, यथा 'सदा सुमन फल सहित सब द्रुम नव नाना जाति। १.६५।' (ख) 'स्रवहिं सकल सरितामृत धारा' इति। पहाड़से नदीकी उत्पत्ति है, इसीसे पहाड़को कहकर तब नदीकी उत्पत्ति कही; यथा 'भुवन चारि दस भूधर भारी। सुकृत मेघ बर्षहिं सुख बारी॥ रिधि सिधि संपति नदी सुहाई। उमँगि अवध-अंबुधि कहँ आई। २ १।', 'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोष-तरंगिनि बाढ़ी॥ पाप पहार प्रकट भइ सोई। २.३४।', 'प्रगटीं सुंदर सैल पर मनि आकर बहु भाँति॥ सरिता सब पुनीत जलु बहहीं। १.६५।', 'स्रवहिं सयल जनु निर्झर भारी। सोनित सर कादर भयकारी। ६.८६।' इत्यादि,—तथा यहां क्रमसे वर्णन किया। (ग) 'बन कुसुमित' कहकर 'गिरिगन मनिआरा' कहनेका भाव कि पर्वतोंपर वृक्षोंके ऊपर फूल फूले हैं और वृक्षोंके नीचे पहाड़पर मणियां बिथर रही हैं तथा पहाड़के नीचे अमृतधारा नदी बह रही है। (घ) [पुनः, 'गिरिगन मनिआरा' कहनेका भाव कि मणियोंके खानोंके प्रकट हो जानेसे सब लोग धनवान होगए और नदियोंमें अमृतजल बहनेसे सब स्नान-पानसे सुखी हुए। (वै०)। अथवा, पुष्पांजलि देनेके लिये वन कुसुमित हुए, श्रीरघुनाथजीको नजर-भेंट देनेके लिये गिरिगण मणिखानियुक्त हुए और अर्घ्य आचमन आदि देनेके लिये नदियां अमृत समान जल बहने लगीं। (रा. प्र.)] (ङ) यहां, प्रथम उल्लास अलंकार है।

प० प० प्र०—३ इन सबोंमें वायु ही बड़भागी है, यह सूतिकागृहतक पहुँचेगा। वन और सरित स्थावर हैं। वायु मंद-मंद चल रही है, इसलिये वे पुष्पोंको वहाँतक नहीं पहुँचा सकते, अतः वनने सुगंध भेंटमें भेज दिया और सरिताने अपने जलकी शीतलताको वायुके साथ प्रभुकी सेवामें भेज दिया।

४ वसन्तवर्णनमें प्रथम कुसुमित वृक्षोंका वर्णन होता है तब त्रिविध वायुका।१-८६-६, १।१२६।२-३, ३।४०।७-८ देखिए। पर यहाँ क्रमभंग है और बीचमें सुर-सन्तोंका वर्णन है। इससे जनाया कि ब्रह्मलोकसे त्रिविध वायु तथा इन्द्रलोक और नन्दनवनकी वायु जब नीचेकी तरफ बहने लगी तब ब्रह्मलोकसे इन्द्रलोक तकके सुरोंने जान लिया कि भगवान्‌के प्राकट्यका अवसर आ गया अतः उनको हर्ष हुआ, केवल त्रिविध वायुसे हर्ष नहीं हुआ क्योंकि वह तो वहाँ सदा सुखद बहता ही है। जब वह वायु श्रीअयोध्याजीमें पहुँचा और भक्तिरस बढ़ानेवाला ठहरा तब सन्तोंने जान लिया जिससे उनके मनमें उत्साह बढ़ा।

सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना॥५॥
गगन बिमल संकुल सुर जूथा। गावहिं गुन गंधर्ब बरूथा॥६॥

अर्थ—जब ब्रह्माजीने वह (प्रभुके प्रगट होनेका) अवसर जाना तब (वे और उनके साथ) समस्त देवता विमान सजा-सजाकर चले। ५। निर्मल आकाश देवसमाजोंसे भर गया, गंधर्वोंके दल गुणगान करने लगे। ६।

टिप्पणी—१ (क) यहाँतक प्रभुके प्रगट होनेका अवसर कहा। 'जेहिं प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ' उपक्रम है और 'सो अवसर बिरंचि' उपसंहार है। (ख) 'बिरंचि जब जाना' का भाव कि ब्रह्माजीके जाननेसे ही वह अवसर निश्चित हुआ। 'सकल सुर' कहनेका भाव कि सभी देवता भगवान्‌के सेवक हैं। (ग) 'सो अवसर' अथात् जिसका उल्लेख ऊपर करते आरहे हैं। अर्थात् जिस अवसरमें काल, पंचतत्व, और चराचरमात्र प्रभुकी सेवा करने लगते हैं, उस अवसरमें उनका आविर्भाव होता है। इस समय ये सब सेवामें तत्पर हैं।—'जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भये अनुकूल। १९०।' यह कालकी सेवा कही, आगे टिप्पणी २ में पंचतत्वकी सेवा दिखाई है। 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ।' से लेकर 'सरितामृतधारा।' तक चराचरकी सेवा कही, इत्यादि—उस समयकी विलक्षणतासे विरंचि समझ गए कि प्रभु प्रगट होनेको हैं, उनके ही प्रगट होनेके समय यह सब बातें होती हैं। (घ) 'चले' अर्थात् देवलोकसे श्रीअवधको चले। (ङ) 'सकल सुर साजि बिमाना' इति। इससे देवताओंके मनका परम उत्साह दिखाया। (च) 'साजि' कहकर जनाया कि विमानोंको पताका, माला आदिसे आभूषित किया, अपनी-अपनी सेवाकी वस्तुयें उनमें रख लीं, गंधर्वोंने गानेके बाजे साथ लेलिये, फूल बरसानेवालोंने फूल रख लिये, नगाड़े बजानेवालोंने नगाड़े रख लिये। इत्यादि। (च) 'सकल सुर चले' इसीसे 'गगन संकुल सुर' कहा।

२ (क) 'योग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल' से पाँचों तत्त्वोंका अनुकूल होना कहा। 'मध्य दिवस अति सीत न घामा' इसमें अग्नि वा तेज तत्त्वका अनुकूल होना कहा। 'घाम' अर्थात् तेज अत्यन्त नहीं है परंच सुखद होगया। 'सीतल मंद सुरभि बह बाऊ' से पवन तत्वकी; 'बन कुसुमित गिरिगन मनिआरा' से पृथ्वी तत्वकी, (क्योंकि गिरि पृथ्वीतत्व है); 'स्रवहिं सकल सरितामृतधारा' से जलतत्व और 'गगन बिमल०' से आकाशतत्वकी अनुकूलता कही। पंचतत्व अनुकूल हुए; यथा गीतावली ग्रंथे 'व्योम पवन पावक जल थल दिसि दसहु सुमंगल मूल। १।२।' (ख) संकुल=व्याप्त=संकीर्ण=भरा हुआ। निर्मल आकाश सुरयूथोंसे व्याप्त है, यह कहकर आगे इनकी सेवा कहते हैं। गंधर्वोंके दल गुण गाते हैं, कोई फूल बरसाते हैं, कोई नगाड़ा बजाते हैं, कोई स्तुति कर रहे हैं। प्रथम गंधर्वोंका गाना लिखा, क्योंकि समस्त सेवाओंमें भगवत्-गुणगान विशेष सेवा है। वरूथके वरूथ गा रहे हैं, यह कहकर जनाया कि सभी सेवा कर रहे हैं; यही आगे कहते भी हैं—'बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा।' इस समय सब भगवान्‌की स्तुति करने आए हैं इसीसे भगवान्‌के गुण गाते हैं। (ग) 'गगन बिमल' यह आकाशकी शोभा कही। 'संकुल सुरजूथा' यह भी आकाशकी शोभा है। (घ) 'गगन बिमल संकुल०' इति। तात्पर्य्य कि देवलोकोंसे देवता चलकर श्रीअयोध्याजीके ऊपर आए, तब भारी भीड़ होगई, अवधके ऊपर जितना आकाश है वह सब भर गया। (आकाशके) बीचमें व्याप्त होना नहीं कहा क्योंकि बीचमें आकाश बहुत है और देववरूथ बराबर चले आरहे हैं। अयोध्याजीके ऊपर आकाश कम है और सब देवताओंके विमान वहाँ ठहर गए हैं; इसीसे भारी भीड़ होगई, अतः 'गगन संकुल' कहा। जब श्रीअयोध्याजीके ऊपर आए तब गंधर्व-गण गुणगान करने, पुष्प बरसाने, नगाड़े बजाने और स्तुति करने लगे। [गीतावलीमें भी कहा है—'सुर दुंदुभी बजावहिं गावहिं हरषहिं बरषहिं फूल। १।२।"]

प. प. प्र.—प्रारंभमें विरंचि और अन्तमें गंधर्वोंको कहकर जनाया कि ब्रह्मलोकसे लेकर गंधर्वलोकतकके सब देवगण उपस्थित हुए। गंधर्वलोक समस्त सुरलोकोंके नीचे है, यह तैत्ति० उ० ब्रह्मानन्दबल्लीसे ज्ञात होता है। नीचेसे ऊपरको क्रमशः लोक इस प्रकार हैं—मनुष्यलोक, मनुष्यगंधर्वलोक, देवगंधर्वलोक, पितृलोक, आजान देवलोक, कर्मदेवलोक, सूर्यादि और दिक्पाललोक, इन्द्रलोक, बृहस्पतिलोक, ब्रह्मलोक। अभीतक नागों और मुनियोंका उल्लेख न होनेसे सूचित हुआ कि इनको समाचार पीछे मिला।

बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी॥ ७॥

अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा । बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा ॥८॥

शब्दार्थ—गहगह बड़ी प्रफुल्लता वा आनंदके साथ, घमाघम, धूमधामसे, बहुत अच्छी तरह । लावहिं=लगाते हैं । लाना व लावना=लगाना । =करना । यथा 'तजि हरिचरन सरोज सुधारस रबिकर जल लय लायो ।' (वि० १६६), 'गई न निजपर बुद्धि सुद्ध ह्वै रहे न राम लव लायो ।' (वि० २०१), 'इहै जानि चरनन्ह चित लायो ।' (वि० २४३), 'बिषय बबूर बाग मन लायो ।' (वि० २४४)।

अर्थ सुन्दर अंजलियोंमें फूलोंको सज-सजाकर पुष्पोंकी वर्षा करते हैं । आकाशमें नगाड़े घमाघम बज रहे हैं । ७ । नाग, मुनि और देवता स्तुति कर रहे हैं और बहुत प्रकारसे अपनी-अपनी सेवा लगाते हैं । ८ ।

टिप्पणी— १ (क) 'बरषहिं सुमन सुअंजुलि साजी' इति । 'बरषहिं' से जनाया कि निरंतर पुष्पवृष्टि कर रहे हैं, अंतर नहीं पड़ने पाता । 'गहगह' से जनाया कि जोर-जोरसे बजा रहे हैं । 'साजी' का भाव कि जो फूल भारी हैं या कठोर हैं उनकी कली बनाकर बरसाते हैं जिसमें किसीके लगे नहीं । 'सुअंजुलि साजी' से जनाया कि विधिपूर्वक पुष्पकी वृष्टि करते हैं । फूलोंकी पाँखुरी अलग-अलग करके हाथोंकी अंजलियोंमें भर-भरकर बरसाना देवविधि है जिसे 'पुष्पांजलि' कहते हैं । पुष्पवृष्टि द्वारा अपने हर्ष और मांगलिक समयकी सूचना दे रहे हैं । (ख) 'अस्तुति करहिं०' इति । प्रथम स्वर्गवासी देवताओंका आगमन कहा और अब पातालवासी नाग देवताओंका स्तुति करना कहते हैं ; इसका तात्पर्य्य यह है कि आनेमें दोनोंका साथ न था । ब्रह्माजीके साथ जो देवता चले वे स्वर्गसे आए, पुष्पवृष्टि करने तथा नगाड़े बजाने लगे, इतने-हीमें नाग पातालसे आगए ; अतः स्तुति करते समय सबका संग और समागम होगया था ; इसीसे यहाँ नाग, मुनि और स्वर्गके देवता सबको साथ लिखते हैं ।

नोट—१ अभी तो प्रभु प्रगट नहीं हुए तब स्तुति अभीसे कैसी ? यह शंका उठाकर उसका समाधानभी लोगोंने कई प्रकारसे किया है । सन्त उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि "देवताओंने देखा कि नौ माससे अधिक होगए, प्रभु अभीतक प्रकट न हुए, अतएव घबराकर वे पुनः गर्भस्तुतिमें उद्यत हुए । इस प्रकार भगवान्को सुरति करा रहे हैं । यद्वा आश्चर्य्य प्रभावका उदय देख अपने कार्य्यके होनेकी प्रतीति हुई तो मारे हर्षके अवतारसे पहिलेही स्तुति करने लगे ।" तीसरा समाधान यह किया जाता है कि यह सनातन रीति है कि जब-जब श्रीरामावतार होता है तब-तब प्रथम स्तुति होती है तब भगवान् प्रगट होते हैं ।

२ 'बहु बिधि लावहिं निज-निज सेवा' इति । 'बहु बिधि' अर्थात् फूल बरसाकर, नाच-गाकर, स्तुति करके, इत्यादि । यही सेवा है जो उपहाररूपसे स्वामीकी भेंटमें लगा रहे हैं ।

दोहा—सुर समूह बिनती करी पहुँचे निज निज धाम ।
जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम ॥१६१॥

शब्दार्थ—जगनिवास = जिनका विश्वमात्रमें और जिनमें विश्वामित्रका निवास है ।

अर्थ—समूह देवता अर्थात् समस्त देववृन्द विनती करकरके अपने-अपने धाममें पहुँचे । जगत्-मात्रमें जिनका निवास है, जो समस्त लोकोंके विश्रामदाता हैं वे प्रभु प्रगट होगए ।❀।१६१।

टिप्पणी—१ पूर्व सब देवताओंका आगमन लिखा—'चले सकल सुर साजि बिमाना ।' इसीसे अब उनका जाना लिखते हैं,—'पहुँचे निज निज धाम' । पूर्व लिखा था कि 'सो अवसर बिरंचि जब जाना ।

❀ अर्थान्तर—जब जगनिवास अखिललोक विश्रामदाता प्रभु प्रगट हुए तब सब देवसमूह विनती करके अपने-अपने धाममें पहुँचे । (पं०)।

चले०', जिससे यह समझा जाता है कि ब्रह्मलोकके सब देवता आए, अन्यत्रके नहीं; यह संदेह निवारण करनेके लिए यहां 'पहुँचे निज निज धाम' लिखा। अर्थात् समस्त देवलोकोंके देवता आए थे। ब्रह्मलोक सब लोकोंके ऊपर है, जब ब्रह्माजी श्रीअवधको चले तब सब लोक बीचमें पड़े। ब्रह्माजी सब लोकोंके देवताओंको साथ लेते हुए अवधपुरीके ऊपर आए।

२ (क) 'जगनिवास प्रभु प्रगटे' इति। अर्थात् प्रभु कहींसे आए नहीं, वे तो जगत्में सर्वत्र पूर्ण (रूपेण) हैं; यथा देशकाल दिसि बिदिसिहु माहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाहीं। १८५। ६।' तात्पर्य्य कि वहींसे प्रकट होगए। श्रीरामजी ब्रह्मके अवतार स्वयं ब्रह्म हैं, यथा 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भएउ कोसलपुर-भूपा।', इसीसे उनका कहींसे आना न लिखा, ब्रह्म कहींसे आता नहीं। [(ख) मनु-शतरूपाजीके सामने प्रकट होनेपर कहा था कि 'भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना। १४६।८।' वही प्रभु इस समय प्रकट हुए हैं यह निश्चय करानेके लिये यहांभी 'जगनिवास प्रभु प्रगटे' कहा। विश्वबास और जगनिवास पर्य्याय शब्द हैं। इसी प्रकार मंदोदरीने 'बिस्वरूप रघुबंसमनि। ६।१४।' कहकर 'जगमय प्रभु' और 'बास सचराचर रूप राम भगवान। ६।१५।' कहा है। (ग) 'जगनिवास' का प्रगट होना 'बिधि अलंकार' है। 'प्रगटे' शब्दमें ईश्वरप्रतिपादनकी 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग' है कि भगवान् जन्मे नहीं, स्वतः प्रगट हुए। (वीरकवि)] (घ) 'अखिल लोक बिश्राम' का भाव कि प्रभुके आविर्भावका समय लोक-विश्रामदाता है, यथा 'पावन काल लोक बिश्रामा।' और, स्वयं प्रभु 'अखिल लोक बिश्रामदाता' हैं। [पुनः, भाव कि विश्वमें तो प्रभुका सदा निवास रहताही है, गुप्त भावसे प्रत्यक्ष भावमें प्राप्त हुए जिसमें संपूर्ण लोकोंकोभी विश्राम हो। (मा० त० वि०)]

नोट—१ यहाँ देवताओंका चला जाना कहते हैं और आगे १९६ (२) में पुनः कहते हैं कि 'देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा', बीचमें कहीं दुबारा आना वर्णन नहीं किया गया। तब दुबारा घर जाना कैसे कहा गया?' इस शंकाके समाधानके लिये कुछ लोग इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'देवबृन्द अपने अपने धाम (लोक) से बिनती करते हुए (श्रीअयोध्या) पहुँचे (उसी समय) जगनिवास प्रभु प्रगट हुए।' और किसीका मत है कि सब नहीं चले गए थे, जो विशेष वैभववाले थे वे स्तुति करके चले गए, वैभव त्यागकर याचक बनकर निछावर लेनेके लिये शीघ्रही फिर आवेंगे और सबोंके साथ मिलकर उत्सव देखेंगे। यथा 'राम निछावरि लेन हित हठि होहिं भिखारी।' (वै०)। जो सामान्य थे वे रह गए थे, उनका जाना दूसरी जगह कहा; क्योंकि आनेपर लिखा था कि 'चले सकल सुर' और यहाँ केवल 'सुर समूह' पद देते हैं। मा० त० वि० कार स्तुति करके चले जानेका कारण यह लिखते हैं कि इतनेहीमें रावणके खबर पानेका भय मानकर चल दिये और पाँड़ेजीका मत है कि प्रभुका अवतार प्रगट न हो जाय इस विचारसे (विशेष विभववाले) देवता चले गये। जैसा पूर्व कहाभी है, 'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सबु कोइ। ४८।'

श्रीरामदास गौड़जी—"टीकाकारोंने लिखा है कि देवता अपने अपने लोकको चले गए। परन्तु क्या देवताओंके चले जानेका यह मौक़ा है? कौन अभागा ऐसे अनुपम अवसर पर अवधसे चला जायगा? "सरकारके शरीरके एकएक परमाणु देवताओं और पार्षदोंकेही बने हैं। यह अवसर प्रकट होनेका है। 'सो अवसर बिरंचि जब जाना। चले सकल सुर साजि बिमाना।' फिर सब देवता बिनती करते हैं कि हमें शीघ्रही अपने अपने धामपर पहुँचनेकी आज्ञा हो, फिर आज्ञा पातेही उस दिव्य शरीरके सभी अवयव निज निज धामपर पहुँच जाते हैं। यही दिव्य शरीरका प्रकट होना है। 'जगनिवास' और 'अखिल लोक

विश्राम' साभिप्राय शब्द हैं, जो प्रकट होनेकी विधि बताते हैं और विराट् प्रभुके विचित्र विग्रहका पता देते हैं। इसतरह 'निज निज धाम'="सरकार (प्रभु) के अंग अंगमें ।"

प प. प्र.—प्रोफ० गौड़जीने जो लिखा है वह सत्य है। 'सर्वदेवमयो हरिः'। जिनके रोम रोममें अनन्त ब्रह्मांड हैं उन प्रभुके प्रकट होनेवाले विग्रहमें देवोंने अपने-अपने अंशसे अपने-अपने धाम (स्थान) में प्रवेश किया। चन्द्र मनमें, आदित्य नेत्रोंमें, शिव अहंकारमें, ब्रह्मा बुद्धिमें, इन्द्र पाणिमें, वायु त्वचामें, वरुण जिह्वामें और अग्नि वाणीमें—इस प्रकार निज-निज धाम पहुँचे। मानसमें ही प्रमाण है। यथा 'लोक-कल्पना बेद कर अंग-अंग प्रति जासु।" 'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान्।', 'पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अंग-अंग बिश्रामा।'—यहां 'धाम' शब्द ही है। जिस-जिस अंगमें जिस-जिस धामको विश्राम है, उस-उस धाममें उस-उस धामके देवता पहुँचे। ब्रह्मधामसे लेकर पातालतकके सभी धाम भगवान्के विग्रहमें हैं। भा० १०।१४।३२ ब्रह्मस्तुति पर श्रीधरी टीका देखिए।

प. प. प्र.—इस दोहेके आगे एक भी चौपाई नहीं है। दोहा १९२ का प्रारंभ छन्दसे ही हुआ है। मानसमें ऐसे स्थान १३ हैं—दोहा १८६ ब्रह्मस्तुति, दो० १९२ कौसल्यास्तुति, दोहा २११ अहल्या-स्तुति, अरण्य दोहा ४ अत्रिस्तुति, अरण्य दो० २० खरदूषणयुद्ध तथा वध, लं० १०१ रावणयुद्ध तथा वध, लं० १११ ब्रह्मस्तुति, लं० ११३ इन्द्रस्तुति, उत्तर १३ वेदस्तुति, उ० १४ शिवस्तुति, उ० १०१ कलिवर्णन, उ० १०२ कलिवर्णन, और रुद्राष्टक दो० १८०। ☞ अहल्यास्तुति और लं० ११५ में जो शिवकृत स्तुति है वह चौपाई छंद में है, इससे उसे इस गणनामें नहीं लिया। इन स्थानोंमें चौपाई एक भी नहीं होनेका कारण पाठकों की बुद्धि पर छोड़ता हूँ।

छंद—भए प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी।
हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी ॥१॥

अर्थ—दीनोंपर दया करनेवाले, कौसल्याजीके हितकारी, कृपालु प्रभु प्रगट हुए। मुनियोंके मनको हरनेवाले उनके अद्भुत रूपको विचारकर माता हर्षित हो रही हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'भए प्रगट' इति। प्रभुने प्रथमही मनुजीसे 'प्रगट' होनेका एक़रार किया था, यथा 'होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। १५२।२।'; अतएव 'प्रगट' हुए। (ख) 'कृपाला' का भाव कि अवतारका मुख्य कारण कृपा है, कृपा करकेही अवतार लेते हैं, यथा—'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्' (शाण्डिल्य सूत्र ४९), 'हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा। १। १२१।', 'कृपासिंधु मानुष तनु धारी। ५।३९।', 'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। १। १२२।', 'सो प्रगट करुनाकंद सोभाबृंद अगजग मोहई।' इत्यादि।१। १३। ५ देखिए। (ग) 'कृपाला दीनदयाला' इति। भाव कि सब लोग रावणके अत्याचारसे दीन और दुःखी हैं, अतः सब लोगोंको आनन्द देनेके लिये कृपा करके प्रगट हुए, यथा 'प्रभु प्रगटे अखिल लोक बिश्राम।' [पुनः भाव कि प्रभु कृपाल हैं, 'सबके ऊपर समताका पालन करनेवाले हैं' अर्थात् सबको समान भावसे देखते हैं, वेही दीनोंपर दया करके प्रगट हुए। (पां०)। वा, जो समस्त लोकोंपर कृपाल हैं तथापि दीनोंपर विशेष दयाल हैं वे प्रगट हुए। (रा० प्र०)। अथवा, 'कृपाला दीनदयाला' कौसल्याजीके विशेषण हैं। (रा० प्र०)]।

पाठान्तर—रा०प०, पं०, भागवतदासजीका पाठ 'परमदयाला' है, पर १६६१ वाली पोथीमें 'दीनदयाला' पाठ है। 'परमदयाला' पाठमें भाव यह होगा कि अखिल लोकपर दया की और इनपर 'परम' दयालु हुए। दर्शन देनेको प्रगट हुए, यह 'परम' दया है। गौड़जीका मत है कि 'परम दयाला' पाठ उत्तम है, क्योंकि कौसल्याजीको विवेक देनेका वादा है, उसे पूरा कर रहे हैं, इसीलिये यहां उन्हींके हितकारीभी हैं। 'दीन-दयाला' में कौशल्याके लिये कोई विशेषता नहीं है। कौशल्याको दीन कौन कहेगा? 'दसरथघरनि राम-महतारी', 'कीरति जासु सकल जग माची', इत्यादि प्रमाण हैं। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि मेरी समझमें

कृपाला और दीनदयाला शब्दोंका संबंध सारे विश्वसे है, कौशल्याजीके सम्बन्धवाला 'हितकारी' शब्द आगे मौजूद है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि जैसे ब्रह्माजीकी स्तुतिमें चारों कल्पोंका परिचय है, वैसेही यहांभी चारों अवतारोंका हेतु जनाया गया है। प्रथम बैकुंठवासीके दोनों अवतारोंका हेतु कहते हैं। क्योंकि ब्रह्माजीकी स्तुतिमेंभी 'कृपाला' 'दीनदयाला' यही दोनों शब्द आए हैं, यथा 'जो सहज कृपाला दीनदयाला करउ अनुग्रह सोई। १८६।' उन दोनों अवतारोंमें अदितिजी कौसल्यामाता हुईं। दोनोंमें (अर्थात् जब जलंधर रावण हुआ और जब जय विजय रावण कुंभकर्ण हुए, दोनों समय) देवता दीन दुःखी थे। उनपर कृपा करके प्रगट हुए।

टिप्पणी—२ 'कौसल्या हितकारी' इति। (क) 'कौसल्या हितकारी' का अर्थ आगे स्पष्ट किया है। "करुना-सुख सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता। सो मम हित लागी जन अनुरागी प्रगट भए श्रीकंता।"—यही हित है। कृपा करके सूतिकागार (सौरी) में ही दर्शन देनेके लिये प्रकट हुए जहाँ केवल श्रीकौसल्याजीही थीं। इस रूपका दर्शन केवल इन्हींको हुआ। [पुनः, (ख) माताका हित पुत्रद्वारा विशेषकर होता है। अथवा, पूर्व शतरूपा-शरीरमें अलौकिक विवेकका बरदान प्रभुने दियाही है, इसीसे 'कौसल्याजीके हितकारी' कहा। (पं०)। अथवा, कौसल्याजीका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये उनके कहते ही बालकरूप होनेको उद्यत होगए इससे उनका हितकारी कहा। वा, कौसल्याजी केकयीजीके सवत भावसे सदा क्लिष्ट रहीं जैसा उन्होंने वाल्मीकीयमें दशरथजीसे कहा है, आजहीसे उन्हें उस क्लेशसे निवृत्त करनेवाले हुए; अतः हितकारी कहा। वा, जिस रूपके विषयमें भगवान्ने नारदसे कहा कि 'सर्वभूत गुणैर्युक्तं नैवं मां ज्ञातुमर्हसि' और अर्जुनसे भी कहा कि 'न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा। गीता ११।८।' उस रूपको एक स्त्रीको अनिच्छित स्वयंही दृष्टिगोचर करानेसे हितकारी कहा। (मा० त० वि)। अथवा, रावणने कौसल्याजीके जन्मसेही उनके मरणके अनेक उपाय किये जैसा विश्रामसागर आदि ग्रंथोंसे सिद्ध है, पर आप बराबर परोक्ष रहकर रक्षा करते आए और अब उनके लिये पुत्रभाव ग्रहण किया; अतः 'कौसल्या हितकारी' कहा। (मा० त० वि०)। (ग) यहां कौसल्या हितकारी कहा, दशरथ-हितकारी क्यों न कहा? इसका कारण यह है कि पितासे माताको बाल-सुख विशेष होता है। अथवा श्रीकौसल्याजीने सूतिकागारमें चतुर्भुजरूप देखा, फिर कुलदेव श्रीरङ्गजीकी पूजा-समयमें युगल शिशुलीलाभी देखी और फिर बिराटरूपकाभी दर्शन किया। इस तरह ताबड़तोड़ थोड़ेही दिनोंमें इनको तीन बार ऐश्वर्य रूपसे दर्शन दे प्रभुने इनके अलौकिक विवेकको दृढ़ किया जिससे ये जन्मभर ईश्वर-भाव और पुत्र-भाव दोनों सुखोंका आनन्द लूटेंगी और श्रीदशरथजी पुत्रभावमेंही मग्न रहेंगे, साथही इनको थोड़े ही कालतक श्रीरामजीका साथ होगा और कौसल्याजीको बहुत कालतक पुत्रसुख मिलेगा। अतएव 'कौसल्या हितकारी' कहा। (बाबा हरिदासजी)। ज्ञानी भक्तोंमें प्रथम कौसल्याजीका हित किया। इसी किशोररूपसे ज्ञानी लोगोंके पास जाजाकर उनका हित करेंगे। हितका अर्थ प्रीति कर लें तो शंका-समाधानकी आवश्यकताही न रहेगी (प. प. प्र.)। (पर मेरी समझमें 'हितकारी' का अर्थ प्रीतिकारी करना खींचतान होगा। ऐसा प्रयोग इस प्रमाणमें नहीं पाया जाता)। १।१४६।८ में जो 'भगतबछल' कहा है वही यहाँ 'हितकारी' शब्दमें दिखाया। (प. प. प्र.)]

३ (क). "जेहि प्रभु प्रगट सो अवसर भयऊ। १९०।८।" पर प्रसङ्ग छोड़ा था। बीचमें 'अवसर' का वर्णन करने लगे, देवताओंकी सेवा और गर्भस्तुति कही, अब प्रभुका प्रकट होना कहते हैं। (ख) "हरषित महतारी मुनि-मन-हारी···" का भाव कि जिस रूपका ध्यान मुनि मनसे करते हैं, उसी रूपको श्रीकौसल्या अम्बा प्रत्यक्ष देख रही हैं। (ग) यह रूप मुनियों अर्थात् मननशीलों, स्वाभाविकही उदासीन, बिषयरसरूखे महानुभावोंके भी मनको हरण कर लेता है, यथा 'सो प्रकट करुनाकंद सोभाबृंद अगजग मोहई', इसीसे 'अद्भुत'

कहा। तात्पर्य कि ऐसा सुखमानिधान कमनीय रूप दूसरा नहीं है। अथवा, आयुधादि धारण किये हुए प्रकट हुए, इससे 'अद्भुत' कहा। (घ) रा. प्र. कार कहते हैं कि जो सबके पिता कहलाते हैं वे हमारे पुत्र हुए, यह विचारकर हर्षित हैं। अ० रा० में भी 'अद्भुत' शब्द आया है, यथा 'दशमे मासि कौसल्या सुषुवे पुत्रमद्भुतम्। १।३।१२।' अर्थात् कौसल्याजीने एक अद्भुत बालकको जन्म दिया। प्र स्वामी लिखते हैं कि श्रीकौसल्याजी समझी थीं कि उनके उदरसे शिशुका जन्म होगा सो न होकर एक किशोरावस्थाका धनुर्बाणधारी (वा, शङ्ख-चक्रगदाम्बुजधारी) रूपही सामने देखा, तब बड़ा आश्चर्य हुआ। वे स्तंभित चकित हो गईं। इससे अद्भुत कहा। यह तो अलौकिक आश्चर्यकारक घटना ही है कि प्रसूतिके समय बच्चा हुआ ही नहीं और ऐसा रूप प्रगट हुआ।]

पाठान्तर—'बिचारी' का पाठान्तर 'निहारी' है। सं० १६६१, १७०४ और भा० दा० की प्रतियोंमें बिचारी है। यही पाठ उत्तम है क्योंकि बिचारका उनकी दयासे उदय हुआ और मुनिमनहारी अद्भुत रूप 'बिचार' करके उन्होंने परात्परकी स्तुति की। 'निहारी' पाठमें 'बिचारी' कासा चमत्कार नहीं है। (गौड़जी)।

लोचन अभिरामा तनु घनस्यामा निज आयुध भुज चारी ॥
भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभा-सिंधु खरारी ॥ २ ॥

नोट—'अर्धभाग कौसिल्यहि दीन्हा' (१६०।१) से 'नयन बिसाला सो' तक १६६१ की प्रतिमें नया पन्ना है।

अर्थ—नेत्रोंको आनन्द देनेवाला श्याम मेघोंके समान श्याम शरीर है। भुजाओंमें अपने आयुध धारण किये हुए (वा, चारों भुजाओंमें अपने आयुध लिये हुए) हैं, भूषण और बनमाला पहिने हैं, बड़े-बड़े नेत्र हैं, शोभाके समुद्र और खरके शत्रु हैं ॥२॥

टिप्पणी—१ (क) 'लोचन अभिरामा' कहकर जनाया कि भगवान्का अद्भुतरूप देखकर कौशल्याजी-के नेत्रोंको अभिराम मिला। आगे 'तन घन स्यामा' से रूपका वर्णन है। घनश्याम शरीर नेत्रोंको अभि-रामदाता है, यह कहकर जनाया कि शरीर 'मेघ' है, नेत्र 'चातक' हैं, यथा 'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे।२।१२८।' [पुनः, 'लोचन अभिरामा' का भाव कि सभीके नेत्रोंको सुखी करनेवाले हैं, यथा 'चले लोक लोचन सुखदाता।२१६।१।', 'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन देखाइ।२१८।' 'कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्' के अनुसार यहां 'लोचन अभिरामा' और 'नयन बिसाला' कहा गया है। पं० रामचरणमिश्र लिखते हैं कि "मन आदिको त्यागकर नेत्रहीको अभिराम क्यों कहा? उत्तर—मेघवत् श्यामतनके सजातीय भावसे निजरूपकी राशि देखकर नेत्र आनन्दित हुए। भाव यह है कि इसी श्याम राशिमेंसे तिलमात्र श्यामता पाकर हम (नेत्र) सबको देखते हैं। दूसरे, दर्शन-क्रियाका आनंद नेत्रही जान सकते हैं। यह श्याम रूपही नेत्रोंकी 'निज निधि' है, इसका अणुमात्र भाग पाकर नेत्रोंको देखनेकी शक्ति है। २३२.४ 'हरषे जनु निज निधि पहिचाने।' में देखिए। (ख) 'घन श्यामा' इति। यहाँ मणि वा कमलकी उपमा न देकर घनसदृश श्याम कहनेमें भाव यह है कि मणि और नील कमल सबको प्राप्त नहीं हो सकते और मेघ सबको स्वयं आकर प्राप्त होते हैं। पुनः, मेघ शत्रु मित्र, भले-बुरे सबको एकसा देखते हैं, अमृत और बिष दोनों प्रकारकी औषधको जल पहुँचाते हैं। इसी प्रकार प्रभुकी सबपर बराबर दया है, यथा 'सब पर मोहि बराबरि दाया।७.८७।' उन्होंने कृपा करके 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह' और शत्रुको भी वही मुक्ति दी जो शरभंगादि ऋषियोंको दी थी।]

"निज आयुध भुज चारी" इति।

मयंककार इसका यह अर्थ करते हैं कि 'धनुष बाण और दोनों भुजायें ये चारों शोभायमान हैं।'

श्रीशतरूपाजीको द्विभुजरूपका दर्शन हुआ, अतएव यदि उनके सामने चतुर्भुजरूप प्रकट होता तो परतम प्रभुका वचन अविश्वसनीय होजाता और वे व्याकुल होजातीं। जैसे सुतीक्ष्णजीके हृदयमें चतुर्भुजरूप आते ही वे व्याकुल हो गए थे। कौशल्याजीकी प्रतीतिहीकेलिये द्विभुजरूपसे प्रगट होना आवश्यक था। और पं० रामकुमारजी आदि कुछ महानुभावोंका मत है कि "जैसे ब्रह्म-स्तुति और आकाशवाणीमें चार कल्पका प्रसंग है वैसेही यहांभी चार कल्पोंकी स्तुति है। तीन कल्पके अवतार चतुर्भुजीसे द्विभुजी हुए। उनमें चतुर्भुज रूप प्रगट हुए। क्योंकि कश्यप-अदितिको इन्हींने बरदान दिया था। उनके सम्बंधमें 'चारों भुजाओंमें चार आयुध शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये", ऐसा अर्थ होगा। और, साकेतबिहारी परतमप्रभुका नित्य द्विभुज षोड़श वर्षका स्वरूप है जिसका दर्शन मनु-शतरूपाजीको हुआ था, इनके संबंधमें निज आयुध धनुषबाण हैं जो भुजाओंमें प्राप्त हैं।" शब्दसागरमें 'चारी' का अर्थ इस प्रकार दिया है— "वि० [सं० चारिन्] (१) चलनेवाला। जैसे, आकाशचारी। (२) आचरण करनेवाला। व्यवहार करनेवाला। जैसे, स्वेच्छाचारी। विशेष—इस शब्दका प्रयोग हिंदीमें प्रायः समासहीमें रहता है।" इनके अतिरिक्त और भी अर्थ दिये हैं। कोई इसका अर्थ 'प्राप्त हैं' ऐसा करते हैं। और, करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'चर गति भक्षणयोः धातु' है, अर्थात् भुजाओंमें प्राप्त हैं यह अर्थ है। यहाँ ऐसे क्लिष्ट शब्दोंका प्रयोग किया गया है जो चारों कल्पोंके प्रसंगमें घट सकें। पं० रामकुमारजीनेभी द्विभुज धनुर्धारी भगवान्के अवतारवाले कल्पमें 'चारी' का अर्थ 'प्राप्त है' किया है। और पाँडेजी 'भुजचारी' का अर्थ 'निज आयुध धनुषको भुजा जिनकी खींचे हुए है' ऐसा करते हैं।

श्रीगौड़जी लिखते हैं कि "आयुध समेत चारों भुजाओंका दर्शन इसलिये हुआ कि भगवान साकेत-बिहारीजीका प्रथम आविर्भाव नारायण और सृष्टिके रक्षार्थ विष्णुरूपमें है जिस विग्रहमें दो भुजाएँ अधिक हैं, और अधिक पार्षदोंको सायुज्य होनेका गौरव मिलता है। ऐसे अवसरपर सबका हौसला रखना है, और साथही नारायण, विष्णु और परात्पर ब्रह्मका अभेदभी दिखाना है, वस्तुतः कौसल्याजीको। क्यों ? इसलिए कि शतरूपाने अंतिम तपस्या तो परात्परके दर्शनोंकेलिए की थी और वासुदेव नारायणके लिये तप करके फिर परात्परके लिये तप किया था। विधिहरिहरमें और परात्पर ब्रह्ममें भेद समझा। उनकी खुशामदमें नहीं आए। सरकारको और जगज्जननीको बुलाकेही छोड़ा। परन्तु वर माँगनेमें शतरूपाने 'विवेक' भी माँगा। इसीलिए चारों भुजाओंमें आयुध धारण किये अभेद दिखाने, श्रुतिके प्रमाण 'पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्ण-मुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' को सार्थक करने और कौसल्याको इस अभेदता, पूर्व वर और अवतारका प्रयोजन बतानेके लिये भगवान् इस प्रकार प्रगट हुए"। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि गौड़-जीके अर्थसे मैंभी सहमत हूँ। अन्य अर्थोंमें भुजचारीकी खींचातानी होजाती है।

मा. त. वि.-कार लिखते हैं कि—(१) अथवा, माताकी परीक्षाके लिये चार भुजाएँ दिखाईं। भाव यह कि द्विभुजमें वरदान दिया था, अब चतुर्भुज होनेपर पहचानती हैं या नहीं। अथवा, इससे सूचित करते हैं कि हे माता ! तुम्हारे इष्टदेव जो चतुर्भुज श्रीरङ्गजी हैं वह मैंही हूँ। अथवा, (२) 'इस ग्रंथमें गुप्त चरित है, यथा 'रामचरितसर गुप्त सुहावा। ७.११३।' अतः गर्भ और जन्मलीलासे विश्वामित्रागमन तक कश्यपअदिति दशरथ-कौसल्या रहे जहां विष्णुभगवान्का वरदान था। अतः 'कोसलपुरी प्रगट नरभूपा' गगन-गिरा है। विवाहसे बनगमनतक स्वायम्भुव मनुशतरूपा दशरथ-कौसल्यारूप परिकर रहे, क्योंकि युगल-स्वरूप देखकर पुत्र होनेका बरदान चाहा था।" इत्यादि।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'चर' का अर्थ 'गमन' है। इस प्रकार अर्थ है कि 'निज आयुध धनुष बाण दोनों हाथोंमें फेरते और मंद मंद मुसकाते प्रगट हुए'। फेरनेकी बान सदासे है ही, यथा

'कर कमलन्हि धनु सायक फेरत । जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ।', 'दुहुँ कर कमल सुधारत बाना ।
अथवा 'भुज पालना भ्यवहारयोः' अर्थात् अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इन चारोंको जो भोगे वह भुजचारी ।' पुनः धामपरत्व, रूपपरत्व, यशपरत्व और नामपरत्व इन चारों परत्वोंसे जो जगत्को पाले वह 'भुजचारी' है। अगले चरणमें 'सोभासिंधु खरारी' कहा है। खरारी विशेषण श्रीरामचन्द्रजीका है। इस गुणविशिष्ट नामसे द्विजभुजका प्रगट होना निश्चय किया । विष्णुभगवान्के नाममें मुरारिके सिवा खरारि विशेषण कहीं नहीं है । (मानस अ० दीपक)।

अ० रा० में श्रीमन्नारायण वा विष्णु भगवान्के अवतारकी कथा है। उससे भगवान् माताके सामनें प्रथम चतुर्भुजरूपसे प्रकट हुए हैं, यथा 'पीतवासाश्चतुर्भुजः ।१६।'''शङ्ख चक्र गदा पद्म वनमाला विराजितः । १.३.१७।' वाल्मीकिजी 'कौसल्या जनयद्रामं । १.१८.१०।' लिखते हैं अर्थात् कौसल्याजीने रामको जन्म दिया, जिससे द्विभुजरूपही का प्रकट होना पाया जाता है।

किसीका मत है कि वस्तुतः यहाँ 'चारी' पाठ लोगोंने बना दिया है। सं० १६६१ की पोथीका यह पन्ना नया है। 'धारी' को 'चारी' पढ़कर लिखा गया है। 'धारी' के अर्थसे शंका नहीं उठती। परंतु यह पाठ किसी पोथीमें सुना नहीं गया है जिसके आधारपर ऐसा अनुमान किया जाय। किसीका मत है कि 'चारी' को 'धारी' बनानेकी चेष्टा की गई है।

नोट—१ "निज आयुध' कहनेमें भाव यह है कि "यदि शंख, चक्र, गदा और पद्म कहें तो केवल विष्णुका बोध होता है और ग्रन्थकार द्विभुज परात्परकोभी कहा चाहते हैं। यदि धनुष बाण कहें तो केवल परात्परका बोध होता है और ग्रन्थकार केवल परात्परकोभी नहीं कहा चाहते। इसी हेतु दोनोंका प्रबोधक 'निज आयुध' पद दिया । इससे दोनों काम बनगए। (पं० रामकुमारजी)

पं० रामकुमारजीके भाव अरण्यकाड ३२ (१) में देखिए। वहाँ छप चुके हैं अतः यहाँ नहीं दुहराये जाते ।

२ पंजाबीजी यह शंका उठाकर कि 'चक्र और गदा तो आयुध हैं पर शंख और पद्मको आयुध कैसे कहा ?' उसका समाधान यह करते हैं कि इनको आयुध कहकर जनाया कि ये अन्तर्मुखी शत्रु (कामादि) के नाशक हैं,जैसे चक्र और गदा बाहरके शत्रुओंके। शंखके दर्शनसे मायाका बल जाता रहता है और कमल के प्रभावसे अविद्याका नाश होकर ब्रह्मभावकी प्राप्ति होती है। (मा त.वि., भक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमाल)।

टिप्पणी—२ (क) 'भूषन बनमाला' इति। रूप कहकर अब आभूषण कहते हैं। 'भूषण' शब्दसे आभूषणोंका ग्रहण हुआ। यदि कुछ नाम गिनाते तो उतनेहीका ग्रहण होता, इसीसे केवल 'भूषण' शब्द दिया। 'वनमाल' कई प्रकारके फूलों तथा तुलसीमंजरी आदि-से बनाया हुआ है, यथा 'सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिकाप्रसून रचित बिबिधबिधि बनाई । गीतावली ।' [अ. रा. में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—"'''वनमाला विराजितः ॥ १७॥ करुणारससम्पूर्ण विशालोत्पललोचनः । श्रीवत्सहारकेयूरनूपुरादि विभूषणः । १.३.१८।" अर्थात् करुणारसपूर्ण नेत्र कमलदलके समान विशाल हैं तथा जो श्रीवत्स, हार, केयूर और नूपुर आदि आभूषणोंसे विभूषित हैं। वनमाला विराजमान है।] (ख) 'सोभासिंधु खरारी' का भाव कि आपके शोभा-समुद्रमें खरभी डूबगया था अर्थात् शत्रुभी मोहित होगया था। यथा 'हम भरि जन्म सुनहु सब भाई । देखी नहि असि सुंदरताई । ३.१९.।' तीन कल्पोंमें जिनमें चतुर्भुज भगवानका अवतार है उनमें 'खरारी'=खल वा 'दुष्टों' के अरि। और द्विभुज धनुर्धारी भगवान्के अवतारमें 'खरारी' का अर्थ 'खरदूषण के अरि' है। 'ल' की ठौर 'र' का प्रयोग बहुत जगह ग्रन्थकारने किया है; यथा "बिनु जर जारि करै सोइ छारा ।', 'अस्थि सैल सरिता नस जारा । ६.१५.७ ।'

नोट—☞अत्यधिक शोभा वा सुन्दरताको लक्ष्य कराना यहां अभिप्रेत है; अतएव शोभासिंधुके साथही खरारी शब्द दिया गया। 'खरारी' शब्द में 'भाविक अलंकार' है, क्योंकि अभी 'खर' राक्षसका बध नहीं हुआ किंतु अभीसे भविष्यकी बात कहदीगई। (वीरकवि)। अथवा, उन्होंने भगवान्से विवेकका बरदान माँगा था; यथा 'सोइ बिबेक सोइ रहनि प्रभु हमहिं कृपा करि देहु। १।१५०।' और भगवान्ने उनको अलौकिक विवेक दिया भी; यथा 'मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरे।१५१।३।' प्रभुकी कृपासे कौसल्याजीको अलौकिक विवेक है, अतएव भविष्य बात यहाँ स्तुतिमें कहती हैं। जब कि ये जानती ही हैं कि ये परतम प्रभु हैं जो भक्तोंकेलिए लीलातन धारण किया करते हैं, तब तो वे यहभी अवश्य समझती हैं कि पूर्व जब-जब रामावतार हुआ है तब-तब खरदूषण इनकी शोभासे मोहित हुए हैं। इस अवतारमें भी आगे चलकर उनको मोहित करलेंगे और इनका युद्धमें बधभी करेंगे; यह भविष्य जानती हैं और यहभी जान गई हैं कि इन्हींका नाम सत्ययुग त्रेतामें प्रह्लादने गाया था। यदि ये पहिलेसे 'खरारी' न थे तो इनका 'राम' नाम कैसे पूर्वहीसे जपा जाता था ?

☞'खरारी' में कोई असंगति नहीं है। खरदूषणादिके बधके समय भगवान्ने अनुपम मोहन रूप धारण किया था। इस रूपका जहां कहीं निर्देश है वहाँ कवि 'खरारी' शब्दका प्रयोग करता है। असंगति समझनेवाले (खर+अरि=) 'कोमल, मंजु' इस तरह अर्थ कर सकते हैं। मिलान कीजिये—'सखर सुकोमल मंजु दोषरहित दूषनसहित।' यहभी स्मरण रहे कि भगवान्के समस्त नाम अनादि हैं—'कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि। १।१००।' पं० रामकुमारजी खर्रेमें यह भी लिखते हैं कि जहाँ जहाँ अनेक रूप धारण करते हैं वहाँ वहाँ 'खरारी' शब्दका प्रयोग प्रायः किया गया है। यहाँ चतुर्भुजसे द्विभुज हुए, अतः 'खरारी' कहा।

कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।
माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता ॥३॥
करुना-सुख-सागर सब गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता।
सो मम हित लागी जन अनुरागी भए प्रगट श्रीकंता ॥४॥

अर्थ - दोनों हाथ जोड़कर बोलीं—'हे अनन्त ! मैं आपकी स्तुति किस बिधिसे (प्रकार) करूँ। वेद पुराण आपको माया, गुण और ज्ञानसे परे, और परिमाण-रहित कहते हैं ॥ ३ ॥ जिसको श्रुति और सन्त करुणा और सुखका समुद्र तथा समस्त गुणोंका धाम (घर) कहते हैं वही अपने भक्तोंपर अनुराग करने-वाले 'श्री'-जी-के पति आप मेरे हितार्थ पगट हुए हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'केहि बिधि करौं अनंता' अर्थात् आप 'अनंत हैं, जब आपका अंतही नहीं है तब स्तुति किस बिधिसे बन सकती है, किसीभी बिधिसे तो नहीं बनसकती; यथा 'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवनि बिधि तोरी॥ महिमा अमित मोरि मति थोरी। ३।११।' (ख) 'माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना' यह निर्गुण ब्रह्मका स्वरूप है। उसीका अवतार और अवतारका हेतु आगे कहते हैं। माया आदि-से परे हैं, यथा 'ज्ञान गिरा गोतीत अज माया-गुन-गोपार। सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित अपार॥' माया से भिन्न कहनेसेही तन-मनसे परे होचुके, क्योंकि मनही तक माया है, यथा 'गो गोचर जहँ लग मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई। ३। १५। ३॥' [(ग) अमाना=मान रहित ; अर्थात् 'मीन कमठ सूकर नरहरी' इत्यादि, ऐसे रूपभी धारण कर लेते हैं, उसमें किंचित् अपनी प्रतिष्ठा हीनताकी पर्वा नहीं करते। साकेत वा बैकुण्ठादि लोकोंसे उतरकर पृथ्वीपर आकर नरवत् लीला करते हैं, यहभी भगवान्केलिये

हीनताकी बात है। पुनः, अमाना = मान (अर्थात् परिमाण) रहित, अतुलित, जिसका माप, अंदाज, वा तोल न हो। अनंत = जिसका अन्त न हो। भनंत=कहते हैं।] (घ) 'करुना-सुख-सागर०' यह सगुण स्वरूप है। करुणा अवतारका हेतु है—'मुख्यं तस्य हि कारुण्यं' इति शाण्डिल्यसूत्रे। सुखसागर हैं, अतः अपने भक्तोंको सुख देनेके लिये अवतार लेते हैं। 'सब गुन आगर' हैं, अतः भक्तोंके लिये जगत्‌में प्रगट होकर अपने गुणोंको प्रगट करते हैं—'सोइ जसु गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।' प्रथम माया-गुणज्ञानातीत कहा। जब तक निर्गुण हैं तबतक गुणोंसे परे हैं, जब सगुण हुए तब करुणा आदि दिव्य गुणोंके आगार हैं। निर्गुण ब्रह्ममें गुण नहीं हैं; इसीसे 'माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना' इतनाही वेद कहते हैं। सगुण ब्रह्ममें गुण हैं, वाणीका प्रवेश है, इसीसे श्रुति और संत सगुण ब्रह्मके गुण गाते हैं—'करुना''गावहिं श्रुति संता।' 'श्रुति संत' कहनेसे श्रुति और स्मृति सूचित हुए क्योंकि स्मृतियां सन्तोंकी बनाई हैं। पुनः, [(ङ) भगवान्‌में अनेक गुण हैं; यहाँ केवल करुणासागर, सुखसागर और गुण-आगर विशेषण देनेमें भाव यह है कि जो गुण श्रीकौसल्याजीने दर्शन पानेपर स्वयं अनुभव किये, "अपने (हृदय) में देखे" उन्हींको वे कहती हैं। जैसे कि—कौशल्याजीपर श्रीरामजीने बड़ी करुणा की, इसीसे करुणासागर कहा। दर्शन देकर बड़ा सुख दिया, इसीसे सुखसागर कहा और कौशल्याजीको प्रभुने दिव्य गुण दिये अतएव गुनआगर कहा। (च) माया गुण-ज्ञानातीत=कार्यकारण माया, रज-तम-सत्वादि गुणों और विवेक-वैराग्य-षट्सम्पत्ति मुमुक्षुतादि ज्ञानसे परे। (वै०)। = त्रिगुणात्मिका मायाजनित ज्ञानसे परे। (रा॰ प्र॰)]

टिप्पणी—२ 'श्रीकंत' पदभी चारों कल्पोंके प्रसंगोंमें घटित होता है। श्रीरामतापिनी उपनिषद्, श्रीजानकीसहस्रनाम और अध्यात्म रामायणादिमें सीताजीका एक नाम 'श्री' भी है। वाल्मीकिजी भी यह नाम देते हैं और आनंदरामायणमें तो यह लिखा है कि यह नाम सीताजीकाही है, लक्ष्मीजीको यह नाम पीछे मिला। गोस्वामीजीनेभी बहुत स्थानोंपर श्रीजानकीजीके अर्थमेंही 'श्री' शब्दका प्रयोग किया है, यथा 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी ।२।७।', 'श्रीसहित दिनकरबंस-भूषन काम बहु छबि सोहई। ७।१२।', तदपि अनुज श्री सहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी। ३।११।१८।', इत्यादि।

☞३ (क) माताको अलौकिक विवेक है, यथा 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें।' इसीसे वेद-पुराण-श्रुति-स्मृतिका प्रमाण देकर उन्होंने भगवान्‌की स्तुति की। यथा 'मायागुन-ज्ञानातीत अमाना बेदपुरान भनंता', 'करुनासुखसागर सबगुन-आगर जेहि गावहिं श्रुति संता' और 'ब्रह्मांड-निकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।' (ख) यहाँ कौसल्याजीकी मन, तन और वचनसे भक्ति दिखाई है। मूर्ति देखकर हर्षित हुईं,—'हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप बिचारी', यह मनकी भक्ति है। दोनों हाथ जोड़ना यह तनकी भक्ति है। और 'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं' यह वचनकी भक्ति है।

नोट—वैजनाथजी लिखते हैं कि 'बेद पुरान भनंता' तक वैकुण्ठवासी भगवान्‌के जो दो अवतार हुए उनकी स्तुति अदितिरूप कौसल्याद्वारा कही गई। आगे 'करुना सुख सागर...' यह स्तुति हरगण रावणके लिये जो क्षीरशायीभगवान्‌का अवतार हुआ उसकी है।

ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै ॥ ५ ॥
उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना चरित बहुत बिधि कीन्ह चहै।
कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—उर = कोख; गोद । (मंगलकोश) । = उदर । उरबासी = पुत्रभावसे प्राप्त होनेवाले ।

अर्थ—वेद कहते हैं कि मायाके रचेहुए समूह ब्रह्माण्ड आपके रोम-रोममें हैं । वही आप मेरे उरमें रहे, यह उपहास (हँसी) की बात है । यह सुनकर 'धीर बुद्धि' थिर नहीं रहती । ५ । जब (माताको) ज्ञान उत्पन्न हुआ तब प्रभु मुस्कुराए (क्योंकि वे तो) बहुत प्रकारके चरित किया चाहते हैं । (उन्होंने) सुन्दर कथा कहकर माताको समझाया कि जिस प्रकारसे वह पुत्रका प्रेम प्राप्त करे अर्थात् जिससे वह पुत्र-भावसे प्रेम करे और वात्सल्यसुख लूटे । ६ ।

श्रीलमगोड़ाजी—'उपहास' भाव हास्यरसका वह भाव है जिसे हास्यचरित्र स्वयं अनुभव करके अपने ऊपर भी हँसता है । इसीको Sense of Humour कहते हैं । आलोचनाओं और शङ्कासमाधानोंमें बहुधा यह देखा जाता है कि हास्यरसको नीचा समझा जाता है । तुलसीदासजीने ऐसा नहीं समझा । देखिये, प्रकट होनेके समयसेही हास्यरसभी मौजूद है और 'प्रभु मुसुकाये' में औरभी साफ है ।

टिप्पणी—१ (क) 'ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया०' इति । अर्थात् आपका ऐसा सूक्ष्म रूप है कि कोई जान नहीं सकता, सो आप मुझे दर्शन देनेके लिये प्रगट हुए । पुनः, आपका इतना भारी स्वरूप है कि करोड़ों ब्रह्माण्ड एक-एक रोममें हैं सो मेरे उदरमें बसे । तात्पर्य्य कि मुझपर कृपा करके मुझको दर्शन देनेके लिये सूक्ष्मातिसूक्ष्मसे बड़े हुए और मेरे उदरमें निवास करनेकेलिये बड़ेसे सूक्ष्म हुए । (ख) पूर्व कहा कि आप मायासे भिन्न हैं,—'मायागुनज्ञानातीत०' । और यहां मायाके कार्य्यसेभी पृथक् होना कहा अर्थात् मायाके बनाए हुए ब्रह्मांडोंमें आप नहीं हैं, वरंच ब्रह्मांड आपमें हैं । ['ब्रह्मांड निकाया···' कहकर आपको अनेक विराटोंका कारण जनाया । (रा. प्र.)]

२ (क) 'मम उर सो बासी यह उपहासी०' इति । भाव कि जो सुनेगा वह यही कहेगा कि कौसल्याका उदर कितना भारी था कि जिसमें इतना बड़ा ब्रह्म रह सका, एवं इतना बड़ा ब्रह्म कैसे अति छोटा होकर कौसल्याके गर्भमें रहा ? (ख) 'धीर मति थिर न रहै' इति । यहां "न रहै' यह वर्तमान क्रिया कैसे दी, भविष्यक्रिया देनी थी कि 'न रही' अर्थात् सुनकर धीरोंकी मति स्थिर न रहेगी ?" इस शंकाका समाधान यह है कि यहां कौसल्याजी अपनेको कहती हैं कि करोड़ों ब्रह्मांड आपके रोमरोममें हैं यह सुनतेही मेरी धीर बुद्धि स्थिर नहीं रहजाती अर्थात् चलायमान होती है कि करोड़ों ब्रह्माण्डोंको धारण करनेवाले मेरे उदरमें कैसे रहे । [पर, पंजाबीजी, पांड़ेजी, बैजनाथजी और सन्त श्रीगुरुसहायलालजी 'धीर मति' से 'अन्य धीरों (धैर्य्यवानों) की बुद्धि' ऐसा अर्थ करते हैं । अर्थात् उनकी बुद्धि डगमगा जाती है, जैसे सतीजी भ्रममें पड़ गई थीं कि 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद । सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत बेद' । संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'अजन्मा ब्रह्मके प्राकृतवत् उत्पन्न होनेसे उपहास होगा, इसका भाव यह है कि आप तो मेरे लिये केवल प्रगट-मात्र हुए हैं पर कहलायेंगे कि अजन्मा होकर कौसल्यागर्भसंभूत हुए, इससे आपकी निन्दा होगी । यहां तक कि धीर लोगोंकीभी बुद्धि बिगड़ जायगी । अर्थात् वे नास्तिक हो जायँगे । कहेंगे कि अज होकर वह प्राकृतोंके समान स्त्रीके मर्मस्थानका विषय होकर कैसे जन्म ले सकता है ? वे इस बातको असत्य ठहरायेंगे अथवा ऐसा कहनेवालोंको शाप देने लगेंगे ।"

नोट—१ इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—"जठरे तव दृश्यन्ते ब्रह्माण्डाः परमाणवः । २५। त्वं ममोदरसम्भूत इति लोकान्विडम्बसे । भक्तेषु पारवश्यं ते दृष्टं मेऽद्य रघूत्तम ।२६।" (अ. रा. १. ३)। अर्थात् आपके उदरमें अनेकों ब्रह्माण्ड परमाणुओंके समान दिखाई देते हैं । तथापि आपने मेरे उदरसे जन्म लिया ऐसा जो आप लोगोंमें प्रकट कर उन्हें मोहित कर रहे हैं उससे मैंने आपकी भक्तवत्सलता देख ली ।'

२ यह श्रीसाकेतविहारीके अवतारवाले कल्पकी स्तुति है जो शतरूपा-कौसल्याजीने की है। (वै०)।

टिप्पणी—३ "उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना" इति। (क) 'प्रभु' का भाव कि समर्थ हैं, जब जैसा चाहें वैसा बनादें, ज्ञानीको मूढ़, मूढ़को ज्ञानी। यथा 'भलेहि मंद मंदेहि भल करहू। १३७।२।', '....ज्ञानी मूढ़ न कोइ। जेहि जस रघुपति करहिं जब सो तस तेहि छन होइ।१२४।', 'मसकहि करहिं बिरंचि प्रभु अजहिं मसक ते हीन।' (ख) हास्य आपकी माया है। यथा 'माया हास।६।१५।', 'बोले बिहसि चराचरराया।१२८।६।' देखिये।—'हासो जनोन्मादकरी च माया'। आप तो अनेक नरनाट्य करनेको हैं, ज्ञान बना रहेगा तो माधुर्य लीलामें विघ्न होगा, अतएव हँसकर इनपर माया डाल दी, ज्ञानको ढक दिया, यथा "ब्वालोऽयं मे हरिः साक्षादिति ज्ञानमयी स्वभूत तदा जहास श्रीकृष्णो मोहयन्निव मायया' इति गर्गसंहितायाम्'।

ज्ञानीके निकट चरित्रकी शोभा नहीं रहती, जैसे स्वांगके जाननेवालेके निकट स्वांगकी शोभा नहीं रहती। इसीसे ज्ञान न रहने पाया। 'बहुत बिधि' अर्थात् जन्मसे लेकर परधामयात्रातकके समस्त चरित्र। [पुनः, 'मुसुकाना' का भाव कि अभी तो ज्ञान बघारती हो, आगे जब वात्सल्यरसमें पगोगी तब यह सब भूलजाओगी। बैजनाथजी लिखते हैं कि यह मुस्कान दयादृष्टिमय है। विद्यामायाके वशसे शांतरसमय रूप ज्ञान मिटाकर वात्सल्यरसमय-बुद्धि कर दी।]

४ (क) 'कथा सुहाई०' इति। तीन कल्पोंमें यह कथा सुनाई कि तुम पूर्वजन्ममें कश्यप-अदिति थीं और चौथे कल्पमें सुनाई कि तुम मनु-शतरूपा थीं। तुमने हमारे लिये तप किया। हम तुम्हारे पुत्र हों यह वर तुमने माँगा और हमने दिया। अतएव हम तुम्हारे पुत्र हुए। तुमको पुत्रसुख देनेको प्रगट हुआ हूँ। तुम वह सुख लूटो। (ख) किसी कथाका नाम न दिया जिसमें सब कल्पोंकी कथाओंका ग्रहण होजाय। (ग) तपसे भगवान् प्रसन्न होकर पुत्र हुए, इसीसे कथाको 'सुहाई' कहा। (घ) 'बुझाई' से जनाया कि माताको पूर्वजन्मकी सुध नहीं रहगई थी। (ङ) ज्ञान उपजा तब मुस्कुराकर उसे दबादिया और 'सुहाई' कथा कहकर अपनेमें माताको प्रेम कराया, क्योंकि प्रेमीके निकट लीला बनती है, ज्ञानीके निकट नहीं।

माता पुनि बोली सो मति डोली तजहु तात यह रूपा।
कीजै सिसु लीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा॥७॥
सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा।
यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा॥८॥

शब्दार्थ—डोली = फिर गई, डिग गई, चलायमान हुई, चलती हुई। 'सीला' (शील) = शुद्ध पवित्र आचरण, स्वभाव, व्यवहार, यथा—'शुचौतु चरिते शीलमित्यमरः।' दोहा १६८ (६) भी देखिए।

अर्थ—(जब) माताकी वह (ज्ञान) बुद्धि डिग गई, (तब) वह पुनः (यों) बोली—हे तात! यह रूप छोड़िये और अत्यन्त प्रियशील बालचरित कीजिये (क्योंकि) यह सुख परम अनुपम है। ७। माताके बचन सुनकर वे सुजान देवताओंके स्वामी बालक (रूप) होकर रोने लगे। इस चरितको जो लोग गाते हैं वे संसाररूपी कुयेंमें नहीं पड़ते, हरिपद प्राप्त करते हैं।८।

टिप्पणी—१ (क) 'माता पुनि बोली' इति। भाव कि प्रथम बोली थीं, यथा 'कह दुइ कर जोरी', पर भगवान्‌ने हँसकर उनका ज्ञान हटा दिया। माताको सुन्दर कथा सुनाने लगे थे तब वह चुप होगई थीं, जब भगवान् बोल चुके, तब पुनः बोलीं। (ख) 'सो मति डोली' इति। पूर्व इतनाही कहा था कि 'उपजा जब ज्ञाना प्रभु मुसुकाना' और अब कहते हैं कि 'सो मति डोली', इससे जनाया कि 'हास' और 'बुझाना' तथा 'कथा सुहाइ' कथन करना, यह सब ज्ञानको अपहरण करनेके निमित्त था। अब ज्ञान दूर होगया और पुत्र

भाव प्राप्त होगया, इसीसे वह रूप तज देनेको कहती हैं, अब बाललीला देखना चाहती हैं। सुतभाव प्राप्त हुआ, इसीसे 'तात' सम्बोधन करती हैं। पूर्व ईश्वरभाव था तब 'श्रीकंत' 'अनंत' इत्यादि कहकर संबोधन किया था। [(ग) शिशुलीलाको 'अति प्रियशीला' कहा क्योंकि यह महा-महा-अलभ्य सुख है, ब्रह्मादि देवता इसके लिये तरसते हैं। यथा 'विधि महेस मुनि सुर सिहात सब देखत अंबुद ओट दिये। गी० १।७', 'जा सुखकी लालसा लटू सिवसुकसनकादि उदासी। तुलसी तेहि सुखसिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी। गी० १।८।' उसमें मग्न रहनेपरभी तृप्ति नहीं होती, अतः 'अति प्रियशीला' कहा] पुनः, 'अति प्रियसीला' का भाव कि प्रियशील तो ऐश्वर्य्य भी है पर माधुर्य्यलीला अति-प्रियशील है। 'परम अनूपा' का भाव कि अनुपम सुख आपके रूपमें है, और परम अनुपम सुख आपकी बाललीलामें है, यथा 'सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति', 'सोउ जानेकर फल यह लीला।' रूप त्यागकर चरित करनेको कहा, क्योंकि भक्तोंको हरिसे अधिक हरिचरित प्रिय है। [पाँड़ेजी लिखते हैं कि यह परम अनूप सुख है, इसलिये कि आपको बाललीलाका सुख हो और हमको माता होनेका सुख मिले। 'परम अनूपा' क्योंकि ऐसा सुख किसी औरको नहीं प्राप्त हुआ और जिन्होंने इन चरितोंको देखा अथवा जो चरितोंको सुनेंगे वे सब समस्त सुकृतोंके पात्र हो जायेंगे। यथा 'तुलसिदास ऐसो सुख रघुपति पै काहू तो पायो न बिये। गी० १।७', 'ह्वैहैं सकल सुकृत सुख भाजन, लोचन लाहु लुटैया। अनायास पाइहैं जन्म फल तोतरे बचन सुनैया॥ भरत राम रिपुदवन लषनके चरित सरित अन्हवैया। तुलसी तब के से अजहुँ जानिबे रघुबर नगर बसैया। गी० १।६।']

नोट—इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—'उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम्। दर्शयस्व महानन्द-बालभावं सुकोमलम्।...' (अ.रा. १।३।२६)। अर्थात् हे विश्वात्मन्! आप अपने इस अलौकिक रूपका उपसंहार कीजिये और परम आनन्ददायक सुकोमल बालभावका सुख दीजिए। 'अतिप्रियशीला' में 'महानन्दबालभावं सुकोमलम्' काभी भाव है।

टिप्पणी—२ 'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना०' इति। (क) 'सुजाना' का भाव कि प्रेम पहिचाननेमें आप 'सुजान' हैं,—('नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ', 'जानसिरोमनि कोसलराऊ')। प्रथम माताको समझाकर प्रेम प्राप्त किया, यथा 'कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै'। प्रेम प्राप्त होनेपर उस प्रेमको पहिचाना, अन्तःकरणका सुतविषयक प्रेम देखा, अतएव 'सुजान' कहा, यथा 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनिदुरलभ गति दीन्हि सजाना। आ० २७', 'देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥ २।३०४।', 'स्वामि सुजान जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जी की। २।३१४।'' (ख) 'रोदन ठाना होइ बालक' इति। माताके बचन हैं कि यह रूप तजकर बाललीला कीजिये, अतएव बालक होकर रुदन करनेलगे, क्योंकि जब बालक उत्पन्न होता है तब रोने लगता है। [श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'ठाना' शब्दमें एक ओर हास्यरस है तो दूसरी ओर 'जस काछिय तस चाहिय नाचा' वाली लीलाका प्रारंभ है।] (ग) 'सुरभूप' अर्थात् सुरोंके रक्षक हैं। सुररक्षानिमित्तही बालक हुए हैं, क्योंकि रावणकी मृत्यु नरके हाथ है, यथा 'नरके कर आपन बध बाँची।' और बालककी प्रथम लीला रुदन है, अतः रोने लगे हैं। इसतरह 'सुजान' कहकर यहभी जनाया कि लीला करनेमें परम चतुर हैं, कब क्या करना चाहिये यह सब जानते हैं। अतएव अत्यन्त प्रिय वाणीसे रुदन करने लगे जैसा आगे स्पष्ट कहते हैं। [बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि सुजान होते हुए अजानकी तरह रोने लगे, इसीसे 'सुरभूप' कहा। सुरभूप हैं अर्थात् मायावी देवताओंके राजा हैं। 'रोदन ठाना' इस लीलासे पुत्रके प्रसव होनेका सबको निश्चय कराया।]

प्र० सं०—'होइ बालक सुरभूपा' इति। 'होइ बालक' से स्पष्ट है कि षोड़शवर्षके नित्य किशोररूपसे आपने माताको दर्शन दिया था; अब नित्यकिशोररूप छोड़कर बालक बनगए। इसके साथ 'सुरभूपा का भाव यह है कि आपके लिये यह कोई बड़ी बात नहीं है, देवता रूप बदल सकते हैं और आप तो देवताओंकेभी स्वामी हैं। पुनः भाव कि आप प्राकृत बालक नहीं हैं। किन्तु प्रकृति पार हैं। प्राकृत बालक 'नरभूप' होते हैं, न कि सुरभूप। देवता दिव्य होते हैं और ये देवभूप हैं, इनका शरीर दिव्य चिदानंदमय है।

टिप्पणी—३ 'यह चरित जे गावहिं' इति। (क) स्तुतिके अन्तमें ग्रन्थकार उसका फल वा माहात्म्य कहते हैं कि श्रीरामजीके जन्मचरित्र गान करनेसे पुनर्जन्म नहीं होता, यथा 'जिन्ह जिन्ह देखे पथिक प्रिय सियसमेत दोउ भाइ। भवमग अगम अनंदु तेइ बिनु श्रम रहे सिराइ। २।१२३।' पथिकके दर्शनसे भवमार्ग दूर हुआ। जैसा चरित्र है वैसाही विकार दूर करता है। (☞यह स्तुति प्रायः सभी वैष्णवमंदिरोंमें आरतीके समय प्रातःकाल गाई जाती है। (ख) 'ते न परहिं भवकूपा' का भाव कि यद्यपि उन्होंने भवकूपमें पड़ने योग्य कर्म किये हैं तथापि इस चरित्रके गानसे वे भवकूपमें नहीं पड़ते परंच हरिपद पाते हैं।)

नोट—इसी तरह अ० रा० मेंभी यहाँपर माहात्म्य कहा है। यथा 'संवादमावयोर्यस्तु पठेद्वा शृणुयादपि। स याति मम सारूप्यं मरणे मत्स्मृतिं लभेत्।१।३।३४।' अर्थात् जो इस संवादको पढ़े या सुनेगा वह मेरी सारूप्य मुक्ति पावेगा और मरणकालमें उसे मेरी स्मृति बनी रहेगी।

वीरकवि—१ यहां दो असम वाक्योंका समतासूचक भाव 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है। २—'ठाना' शब्दसे लक्ष्यक्रम विवक्षितवाच्यध्वनि है जिसमें सबको बालकोत्पत्तिकी एक साथही सूचना होजाय।

दोहा—बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार।
निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार ॥१९२॥

अर्थ—ब्राह्मण, गऊ, देवता और संतोंके हितार्थ (प्रभुने) मनुष्य अवतार लिया। शरीर स्वेच्छारचित है, माया, (सत्व, रज, तम तीनों) गुणों और इन्द्रियों से परे है। १९२।

टिप्पणी—१ विप्र आदिके हितार्थ अवतारकथनमें तात्पर्य्य यह है कि ये सब राक्षसों द्वारा पीड़ित हैं, यथा 'करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥ तबतब प्रभु धरि बिबिधि सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जनपीरा।१।१२१।' [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि ब्राह्मण समीचीन शुभकर्मका स्थापन करते हैं, (धेनु यज्ञ तथा पूजनहेतु दूध, दही, घृत आदि देती है। गाय बछड़ा और दूध घीसे संसारका हित करती है, उसके दूध, मूत्र, गोबर आदिसे पंचगव्य बनता है), सुर सेवा-पूजा लेकर जगत्की रक्षा करते हैं और सन्त तो सहज-स्वभावसेही परहितनिरत होतेही हैं। अतएव इनके हितार्थ अवतार लेना कहा। पुनः धेनुसे धेनुरूप पृथ्वीका भी ग्रहण है क्योंकि अवतारहेतुमें यह मुख्य है]

२ बिप्र-धेनु-सुर-संत हित अवतार लिया पर अवतारसे कुछ इन्हींका हित नहीं हुआ वरंच सबका हित है। पूर्व कह आए हैं कि 'जगनिवास प्रभु प्रगटे अखिललोक बिश्राम'। विप्रको प्रथम कहा क्योंकि अवतार लेतेही इन्हींका प्रथम हित हुआ कि असंख्य द्रव्य मिला, यथा 'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह।१९३।' 'मनुज' से यह भी भाव निकल सकता है कि यह अवतार 'मनु'-दशरथके लिये है।

३ 'निज इच्छा निर्मित तनु०', शरीर स्वेच्छारचित है अर्थात् यह शरीर कर्मोंके संबंधका नहीं है जैसा कि मनुष्योंका होता है, यथा 'जेहि जेहि जोनि कर्मबस भ्रमहीं'। जीवोंके शरीर माया-गुण-इन्द्रियमय होते हैं और प्रभुका शरीर इन तीनोंसे परे है—'चिदानंदमय देह तुम्हारी' एवं 'अवतरेउ अपने भगत हित

निज-तंत्र नित रघुकुलमनी'। भगवान्‌ने श्रीमनुशतरूपाजीसे कहा था कि 'इच्छामय नरबेष सँवारे। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारे। १५२।१।' वही 'इच्छामय' तन बनाकर प्रगट हुए। मनुज-अवतार लिया क्योंकि बिप्रधेनु-सुरसंतहित मनुज-तनसेही होसकेगा,-'रावन मरन मनुज कर जांचा'। मनुजके भाव पूर्व आचुके हैं। ['निज इच्छा' अर्थात् अपने संकल्पमात्रसे, प्राकृत पुरुषोंकी तरह नहीं। 'माया-गुन-गोपार' कहनेका भाव कि परम ऐश्वर्य त्यागे हुए नहीं है। यहाँ शंका होती है कि इच्छा वा संकल्पमात्रसे तो चराचरमात्र सभी रूप हुए, यथा श्रुतिः 'एकोऽहं बहु स्याम्' तब यहाँ 'मनुज अवतार' लेनेमें 'निज इच्छा' कहा सो क्यों? मनुष्य अवतार क्यों हुआ? इस शंकाके निवारणार्थ कहा कि 'बिप्र धेनु सुर संत हित···' अर्थात् इन्होंने रावणके वधके लिये अवतार लेनेकी प्रार्थना की थी, और उसको वर था कि नरके हाथ मरेगा। (मा. त. वि.)]

नोट—१ पूर्वार्द्धमें साधारण बात कहकर उत्तरार्द्धमें उसीका विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करनेका भाव 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। २ श्रीवैजनाथजी यह शंका उठाकर कि "गरीबके घर ऐसे अवसरपर ऐसी अवस्थामें दो-एक स्त्रियाँ अवश्य रहती हैं और यहाँ तो चक्रवर्तीमहाराजकी पटरानियाँ हैं फिर भला कैसे संभव है कि यहाँ (सूतिकागारमें और उसके निकट) कोई और न था? तो फिरभी किसी और ने न जाना, किसीने स्तुति करते न सुना, दर्शन केवल कौशल्याजीको हुए यह कैसे मानलें?', उसका समाधान करते हैं कि यह भगवत्-लीला है-'सो जानइ जेहि देहु जनाई।' (भगवान् श्रीकृष्णके जन्मसमयभी देखिये कितने पहरेदार वहाँ थे। माता-पिता बंधनमें थे। तोभी उस समय सब सोगए। इनकी बेड़ियाँ खुलगईं', इत्यादि। 'अति बिचित्र भगवंत गति को जग जानै जोग'। भगवान् जिसपर कृपा किया चाहें उसपर लाखोंके बीचमेंभी कृपा कर देते हैं और दूसरेको कुछभी पता नहीं चलता। यह बात तो अनुभवी भगवत्कृपापात्रही जानते बूझते हैं दूसरोंकी समझके बाहर है।)

ब्रह्मस्तुति (दोहा १८६ छंद) और कौसल्यास्तुति (प. प. प्र.)

श्रीब्रह्माजी		श्रीकसौल्याजी		श्रीब्रह्माजी		श्रीकौसल्याजी
सुरनायक	छंद १	१ सुरभूपा छंद ४		व्यापक	छंद २	१४ अमाना (अप्रमेय)
जनसुखदायक	,,	२ जन अनुरागी ,, २		चरित पुनीता	,,	१५ यह चरित जे गावहिं०
असुरारी	,,	३ खरारी ,, १		मुकुंदा,भवभयभंजन		१६ ते न परहिं भवकूपा
सिंधुसुता प्रियकंता	,,	४ श्रीकंता ,, २		विगतमोहमुनि बृंदा····ध्यावहिं	छंद२	१७ मुनिमनहारी (सगुनरूप)
गोद्विजहितकारी	,,	५ बिप्रधेनुसुर०, हितकारी		जेहिसृष्टिउपाई	छंद३	१८ ब्रह्मांडनिकायानिर्मितमाया
अद्भुतकरनी	,,	६ अद्भुतरूप छंद १		अतिअनुरागी	,, २	१९ जनअनुरागी
मरम न जानै कोई	,,	७ ममउरसो बासी, थिर न रहै		भगवाना		२० प्रभु
सहजकृपालादीनदयाला	८	प्रगटकृपाला दीनदयाला		जाकहँ कोउ नहिंजाना		२१ ज्ञानातीत
करहु अनुग्रह	,,	९ तजहुतातयहरूपापरमअनूपा		वेद पुकारे		२२ जेहि गावहिं श्रुति
अबिनासी	,,२	१० अनंता		गुनमंदिर		२३ सब गुन आगर
गोतीत	,,	११ गोपार,गुन(इन्द्रिय) अतीता		सब बिधि सुंदर		२४ सोभासिंधु
मायारहित	,,	१२ मायातीता		सुखपुंजा		२५ सुखसागर
परमानंदा	छंद२	१३ यह सुख परम अनूपा				

☞ मनुशतरूपाको जो दर्शन हुआ है, उससे भी पाठक मिलान करलें। शब्दोंके भाव स्पष्ट हो जायँगे।

प. प. प्र.—कौशल्या-स्तुति भरणीनक्षत्र है। साम्य इस प्रकार है—(१) यह दूसरी स्तुति है और भरणी दूसरा

नक्षत्र है। (२) इस स्तुतिसे ही रामकथाका आरंभ है। 'रामकथा कलिपन्नग भरनी' कहाही गया है। सकल विश्व आनन्द और उत्साहसे भर गया है और 'भ्रियते अनया इति भरणी'। (३) भरणी नक्षत्रमें तीन तारे हैं। यहाँ 'मायागुनज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता', 'करुनासुखसागर सबगुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता' और 'ब्रह्मांडनिकाया निर्मित माया रोम-रोम प्रति बेद कहै', ये तीन तारे हैं। भाव यह कि रामकथा रूपिणी भरणी वेद-पुराण श्रुति-सन्तोंके वचनोंको लक्ष्य करके ही कही है। (४) भरणी नक्षत्रका आकार योनिसदृश है; तीनों तारे एकही प्रतिके (4th. dimention) हैं। वेद, पुराण और सन्तोंके बचन समान महतीके हैं यह जनाया। योनि=जन्मस्थान, कारण। और यह स्तुति अजन्माके जन्मका कारण है। (५) भरणीका देवता यम है और यह स्तुति दुष्टोंका शमन, संयमन करनेवाले प्रभुकी ही है। 'यमो दण्डधरःकालः' और 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता' ऐसे जो प्रभु हैं उनकी यह स्तुति है। यमका अर्थ विष्णु भी है। (६) 'दानि मुकुति धन धरम धामके' यह नक्षत्रकी फलश्रुति है और स्तुतिकी फलश्रुति है—'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं' (अर्थात् धाम पाते हैं) और 'ते न परहिं भवकूपा' अर्थात् मुक्त हो जाते हैं)। विना धर्मके मुक्ति वा हरिपद नहीं मिलता, और 'मुनिधन जन सर्वस' तो इस स्तुतिमें ही सबको साक्षात् दिया है।

सुनि सिसु-रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी ॥१॥
हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनंद मगन सकल पुरबासी ॥२॥

शब्दार्थ—संभ्रम=आतुरतासे। शीघ्रतासे। हर्षकी त्वरासे। यथा 'संभ्रमऽ साध्वसेविभ्रमात्संवेगादरयोरपि इति मेदिनी', 'सहित सभा संभ्रम उठेउ रबिकुल कमल दिनेसु।२।२७४।'

अर्थ—बच्चेके रोनेका परम प्रिय शब्द सुनकर सब रानियाँ आतुरतासे वहाँ चली आईं ॥१॥ दासियाँ हर्षित होकर जहाँ-तहाँ दौड़ी गईं। सभी पुरवासी आनंदमें मग्न होगए ।।२।।

टिप्पणी—१ (क) 'सिसुरुदन' पर प्रसंग छोड़ा था, यथा 'सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक० ।' बीचमें इस चरितके गानका माहात्म्य कहनेलगे; यथा 'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा'। फिर अवतारका हेतु कहा,—'बिप्रधेनु सुरसंतहित० ।' अब पुनः उसी जगह से प्रसंग उठाते हैं—'सुनि सिसुरुदन०'। (ख) 'सिसुरुदन' को 'परमप्रियबानी' कहनेका भाव कि पूर्व बाललीलाको 'अति प्रियशीला' कहा था,—'कीजै सिसुलीला अतिप्रियसीला०'। शिशुरुदन बाललीला है। अतएव उसे परमप्रिय कहा। संभ्रम अर्थात् जल्दी आनेसे सब रानियोंका हर्षित होना सूचित किया। सब रानियाँ 'चलि आईं' इससे जनाया कि प्रथम वहाँ कोई नहीं था। एकान्तमें भगवान्ने कौसल्याजीको दर्शन दिए। ['सुनि' और 'चलि आईं' इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि सबको यही जानपड़ा कि बालक हमारे निकटही रो रहा है। यह भगवत्-लीला है कि सबको अपने अपने महलोंमें या जो जहाँ थीं वहीं रुदनका शब्द सुनाई पड़ा। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'संभ्रम त्रयमिच्छन्ति भयमुद्वेगमादरम्' अर्थात् संभ्रम पद तीनकी इच्छा करता है—भय, उद्वेग और आदर। जहाँ जैसा देश काल हो वैसा अर्थ जानना चाहिए। यहाँ आदर और प्रीतिका देश है।" बैजनाथजी 'संभ्रम' का भाव यह लिखते हैं कि सबको अत्यंत चाह थी कि राजाके पुत्र हो इससे पुत्रकी रोदन-वाणी अत्यन्त प्रिय लगी, अतएव वात्सल्यरसवश हर्षके मारे विह्वलतासे उनकी बुद्धि भ्रमित हो गई इससे वे सूतिकागृहमें ही चली आईं। सब रानियोंने रोना सुना, इस कथनसे यह भी सूचित होता है कि गर्भाधानके समयसे सब दिन गिनती रहीं, सबको मालूम था कि आज-कलमें पुत्रजन्म होनेही वाला है, सबका ध्यान उसी ओर था, इसीसे सर्वप्रथम उन्हींने रोना सुना और सबने सुना।]

२ (क) 'हरषित जहँतहँ धाईं दासी' इति। जब सब रानियाँ आईं तब उनके साथ ही साथ दासियाँ

भी आईं। दासियोंको काम करनेकी आज्ञा हुई, तब वे जहाँ-तहाँ दौड़ी गईं। इन्हींके द्वारा पुरवासियोंको खबर मिली। दासियाँ हर्षित हैं। उनके हर्षका कारण पुरवासी उनसे पूछते हैं, यथा 'कहु कारन निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन।' [दासियाँ हर्षसे फूलीहुई उस समयके आवश्यक व्यवहारियोंको बुलानेके लिये दौड़ी चली जा रही हैं, लोग इस तरह जातेहुए देख पूछतेभी हैं और वे स्वयंभी जहाँ-तहाँ कहती हैं। राजाके पुत्र न होनेसे सब दुःखी थे; अग्निदेवके वाक्यसे सबको आशा लगी थी, वह सफल हुई। अतएव सभी आनंदमें मग्न होगए हैं] (ख) 'आनँद मगन सकल पुरबासी' इति। यह कहकर जनाया कि सब पुरवासी आनंदमें मग्न होकर जन्मोत्सव करनेलगे जैसे राजाने सुननेपर आनंदमग्न हो जन्मोत्सव किया, यथा 'परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा' तथा 'सींचि सुगंध रचैं चौकैं गृह आँगन गली बजार। दल-फल-फूल दूब दधि रोचन घर घर मंगलचार। गी. १।२।' (ग) [रोना सुनकर रानियों दासियों, पुरवासियों सभीका आनन्दमग्न होना अर्थात् कारण कार्य्यका एक संग होना 'अक्रमातिशयोक्तिअलंकार' है।]

प. प. प्र.—जैसे मानसमें केवल तीन रानियोंके नाम हैं वैसेही गीतावली, वाल्मी· रा·, अ. रा· और पद्मपुराण आदिमें हैं। मानसमें तीनसे अधिक रानियोंका उल्लेख कमसेकम ३० बार मिलता है। भेद इतनाही है कि सर्वमत संग्रहहेतु ३५०,७००,७५० इत्यादि कोई निश्चित संख्या मानसमें नहीं दी। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।—(१) 'प्रथम राम भेंटी कैकेई।···भेंटी रघुबर मातु सब ।२।२४४।', 'गहि पद लगे सुमित्रा अंका। जनु भेंटी संपति अतिरंका॥ पुनि जननी चरननि दोउ भ्राता। परे पेम ब्याकुल सब गाता।२।२४५।४-५।'—यहाँ कैकेई, रघुबर मातु सब, सुमित्रा और (राम) जननी (कौसल्या) सबका स्पष्ट उल्लेख है। (२) 'सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी। १।१९३।१।'—कौसल्याजी इन रानियोंमें नहीं हैं। यदि केवल तीन ही रानियाँ होतीं, तो 'सब' दो ही रही थीं, अतः कह सकते थे कि 'चलि आईं दुइ रानी', पर कहा 'सब'। इससे सिद्ध हुआ कि और अनेक रानियाँ थीं। (३) 'पुछिहहिं दीन दुखित सब माता।' 'पूछिहि जबहिं लखन महतारी। कहिहउँ कवन सँदेस सुखारी॥ रामजननि जब आइहि धाई। २।१४६।१-३।'—यहाँ 'सब माता', 'सुमित्रा' और 'कौसल्या'जीका स्पष्ट निर्देश है।

प्र. स्वामीके विचार पूर्व दोहा १८८ के नोट २ (प्र. सं.) की पुष्टि और उसके अन्तिम विचारोंका खण्डन करते हैं। पृष्ठ ३-४ देखिए।

दसरथ पुत्र-जन्म सुनि काना। मानहु ब्रह्मानंद समाना॥३॥
परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा॥४॥

अर्थ—श्री दशरथजी पुत्रका जन्म कानोंसे सुनकर मानों ब्रह्मानंदमें समागए॥ ३॥ मनमें परम प्रेम है, शरीर पुलकित (रोमांचको प्राप्त) है, बुद्धिको धीरज देकर उठना चाहते हैं॥ ४॥

टिप्पणी— १ (क) 'पुत्रजनम सुनि' इति। 'हरषित जहँ-तहँ धाईं दासी' जो पूर्व कह आए, उन्हींमें-से कुछ दासियोंने राजाको खबर दी। जो प्रथम खबर देगा वही विशेष कृपाका पात्र होगा। बखशीशकेलिये तुरत दासियोंने खबर दी। (ख) 'ब्रह्मानंद समाना' इति। अर्थात् ऐसा भारी आनंद हुआ जैसा 'ब्रह्मानंदमग्न' को होता है। अथवा, यह कहें कि पुत्रजन्मका शब्द जो कानमें पड़ा वह मानों शब्द नहीं है वरंच ब्रह्मानंद ही है जो कानोंमें समागया है। जब श्रीरामजीके जन्मका संदेश ब्रह्मानंदके समान है, तब श्रीरामजीकी प्राप्तिके आनन्दको क्या कहा जाय? खीर (हविष्यान्न) से भगवान्‌की प्राप्ति हुई, इसीसे हविकी प्राप्तिमें ब्रह्मानन्द हुआ था, यथा 'परमानंद मगन नृप हरष न हृदय समाइ॥ १८९॥' वही आनंद जन्म सुनकर हुआ,—'मानहु ब्रह्मानंद समाना'। ब्रह्मानंद और परमानंद एकही हैं।

नोट—१ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि "सच है, सगुणसाकाररूपका आनंद ऐसाही है। मुसलमान

कवि सर मुहम्मद इकबालसे भी न रहा गया। वे कहते हैं—'कभी ऐ हक़ीक़ते मुन्तजर नजर आ लिबासे मजाजमें। कि हजारों सिजदे तड़प रहे हैं मेरे जबीन नियाज में।' अर्थात् ओ असीम सत्ता! जिसकी तीव्र प्रतीक्षा हो रही है, कभी तो भौतिक आवरणमें प्रकट हो, हजारों सिजदे मेरी पेशानीमें तेरे चरणों-पर अर्पित होनेके लिये तड़प रहे हैं।—यह तो एक रूप है। वेदकी १६०० श्रुतियोंमें उपासनाके उतने रूप दिखाए और भक्तिने 'जाकी रही भावना जैसी'के अनुसार भक्तके लिये 'प्रभु मूरति' वैसी प्रकट कर दी, फिर भी किसीने पार न पाया। बात वही है जो मौलाना रूमके इस पदसे प्रगट है—'बनामे आं कि ऊ नामे न दारद। बहर नामे कि ख्वानी सर बरआरद।' अर्थात् मैं उसके नामसे प्रारंभ करता हूँ जिसका कोई नाम नहीं है, पर जिस भी नामसे उसे पुकारो वह प्रकट हो जाता है।"

२ श्रीबैजनाथजी इस प्रकार भी अर्थ करते हैं कि "मानों ब्रह्मानंद कानोंके द्वारा आकर हृदयमें समा गया।" और श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि "रामचन्द्रजी ब्रह्म ही हैं परन्तु राजाका उनमें पुत्रभाव भी है इस-लिये यहाँ उत्प्रेक्षा की गई"। श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "पुत्र होनेका सुख प्रवृत्तिमार्ग है और ब्रह्मानंद निवृत्तिमार्ग है। पुत्र होना लौकिक विषयी सवासिक सुख है पर यहाँ यह बात नहीं है। राजा निर्वासिक श्रीरामप्रेमानंदमें मग्न हैं पर यहाँ प्रत्यक्ष प्रेमानंद न कहा, क्योंकि प्रेममें उमंग उठती बैठती है जैसे जलमें लहर और यहाँ एकरस थिर प्रेम है। पुनः, (वह प्रेम) वासनारहित है। अतएव कहा कि ऐसा सुख हुआ मानों ब्रह्मानंदमें डूब गए।" कुछ लोग 'समाना'का अर्थ 'सामान्य' करते हुए यह भाव कहते हैं कि जन्मका संदेसा ऐसा है कि उसके आगे ब्रह्मानंद सामान्य जान पड़ने लगा, यथा 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन।७।८८।' अथवा, ब्रह्मानंद लज्जावश समुद्रादिमें समा गया' (रा० प्र०)।

३ योगी जब ब्रह्मानंदमें मग्न होजाते हैं तब उनको शरीरकी सुधबुध नहीं रह जाती, वैसीही राजाकी दशा है। प्रेम और हर्षमें उनके सारे अंग शिथिल होगए, इसीसे वे उठ नहीं पाते। यहाँ 'उक्तविषया वस्तू-त्प्रेक्षा अलंकार' है। बाबा हरीदासजीका मत है कि श्रीदशरथजी महाराज दधिकाँदोके लिये धीरज धरकर उठना चाहते हैं। और, पंजाबीजी तथा पं० रा० कु० जी का मत है कि पुत्रके दर्शनके लिये मतिको धीर कर रहे हैं कि प्रभुका दर्शन अवश्य चलकर करना चाहिये। बैजनाथजीका मत है कि 'दर्शनके लिये बारबार उठना चाहते हैं पर लोकलज्जासे मतिको धीर करके रह जाते हैं। (मेरी समझमें पं० रामकुमारजीका मत ठीक है)।

टिप्पणी—२ (क) 'परम प्रेम मन०' इति। यहाँ राजाके तन, मन और वचन तीनोंका व्यवहार वर्णन किया है। बालकके लिये मनमें 'परम प्रेम' है, तनमें पुलकावली होरही है, वचनसे बाजा बजानेको कहा—'कहा बोलाइ बजावहु बाजा'। (ख) ब्रह्मानंदको प्राप्त हुए, इसीसे 'परम प्रेम' हुआ कि चलकर बालक-को देखैं, इसीसे उठना चाहते हैं और बालकके 'विषे' (लिये बुद्धिको धीर अर्थात् स्थिर करते हैं जैसा आगे लिखते हैं,—'जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई'। जैसे ब्रह्मानंद नहीं कहते बनता, वैसेही परम प्रेम भी कहते नहीं बनता, यथा 'पुनि पुनि मिलति परति गहि चरना। परम प्रेम कछु जाइ न बरना। १०२।७' इसीसे दोनोंकी 'समता' कही। (ग) पुनः, 'चाहत उठन०' अर्थात् नांदीमुखश्राद्धादि कृत्य कर्म करनेके लिये उठना चाहते हैं, बुद्धिको धीर करते हैं, इस कथनसे पाया गया कि बुद्धि ब्रह्मानंदमें मग्न है, कहती है कि 'सुनकर जो ब्रह्मानंद हुआ उसे भोगिये, कहाँ जाइएगा' और उठने नहीं पाते।

नोट—४ मिलता हुआ श्लोक यह है—'अथ राजा दशरथः श्रुत्वा पुत्रोद्भवोत्सवम्। आनन्दार्णवमग्नोऽसावा-ययौ गुरुणा सह। अ० रा० १।३।३६।" अर्थात् श्रीदशरथजीने पुत्रोत्पत्तिरूप उत्सवका शुभ समाचार सुना तो

वे मानो आनन्दसमुद्रमें डूब गए और गुरु वसिष्ठके साथ वे राजभवनमें आए। अ० रा० में भी यह नहीं बताया कि किससे सुना वैसेही मानसमें भी नहीं लिखा है। परन्तु रानियोंका सुनना कहकर दासियोंका इधर उधर जाना कहकर उसके पश्चात् दशरथजीका सुनना कहनेसे अनुमान हुआ कि किसी दासीने कहा होगा। 'सुनि काना'—क्या सुना ? 'पुत्रजन्म'। यहाँ 'सिसु रुदन' सुनना नहीं कहते हैं, इससे दासी आदिसे सुनना पाया जाता है। वे० भू० जीका मत है कि "जब कोई उत्तम समाचार किसीके द्वारा मिलता है तब उसको बख़शीश दी जाती है, यदि दासीसे सुना होता तो बख़शीश देना भी लिखा जाता, अतः यहाँ 'सुनि काना' का भाव यही है कि शिशुका रुदन सुनकर ही पुत्रजन्मका निश्चय किया और परमानंदसे भर गए, तब परिचारिकाओंको 'कहा बुलाइ बजावहु बाजा'। खबर देने कोई गया होता तो उसे पुरस्कार देते और उसीसे बाजा बजवानेके संबंधमें आज्ञा देते।" यह भी हो सकता है। और यह भी कि सुनानेवालेका जब नाम नहीं दिया तब पुरस्कार देना कैसे लिखते! दासीने सुननेपर सेवकोंको बुलाकर बाजाके संबंधमें आज्ञा दी हो यह भी हो सकता है। अथवा "जहँ तहँ धाईं दासी" वे दौड़ती जा रही हैं, जो मिलते हैं उनसे शुभसंवाद कहती जाती हैं (कि बड़ी महारानीके पुत्र हुआ)। यही शब्द राजाके कानमें पड़ा। अतः 'पुत्रजन्म सुनि काना' कहा।

जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई ॥५॥
परमानंद पूरि मन राजा। कहा बोलाइ बजावहु बाजा ॥६॥

अर्थ—जिसका नाम सुनतेही मंगल-कल्याण होता है, वही प्रभु मेरे घर आए हैं॥ ५॥ राजाका मन परमानन्दसे परिपूर्ण होगया। उन्होंने बाजेवालोंको बुलाकर कहा कि बाजे बजाओ। (वा, उन्होंने कहा कि बाजेवालोंको बुलाकर बाजे बजवाओ)॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'जाकर नाम सुनत सुभ होई।०' इति। राजाने तो मनु-तनमें वर माँगा था कि 'सुत विषयक तव पद रति होऊ। १५१।५।' तब यहाँ ऐश्वर्य्यका ज्ञान कैसे हुआ ? इसमें बात यह है कि वसिष्ठजीने राजाको ऐश्वर्य्यज्ञान कराया था कि 'धरहु धीर होइहहिं सुत चारी। त्रिभुवन बिदित भगतभय-हारी। १८६।४।' 'कहि बसिष्ठ बहुबिधि समुझायउ। १८६।३।' में भी पूर्व वरदान आदि कहकर समझाना पाया जाता है। इसीसे अभी राजाको वह ऐश्वर्य्यज्ञान बना हुआ है, आगे पुत्रके दर्शनके पश्चात् न रह जायगा। (ख) 'सुनत सुभ होई', यथा 'जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहिं सम गति अबिनासी।' शंकरजी नाम सुनाकर मुक्ति देते हैं। इस प्रकार 'सुभ' का अर्थ यहाँ मुक्ति है। (ग) राजाके चतुष्टय अन्तःकरण भगवान्में लगे यह इस प्रसंगमें दिखाया है—'परम प्रेम मन पुलक सरीरा' सुनकर मनमें प्रेम हुआ, चित्तसे दर्शनार्थ 'चाहत उठन', बुद्धि भगवान्में स्थिर कर रहे हैं—'करत मति धीरा', और 'मोरे गृह आवा प्रभु सोई' वही प्रभु मेरे घर आया यह अहंकार है। [(घ) 'मोरे गृह आवा' अर्थात् पुत्रभावसे प्राप्त हुआ। अतः चलकर दर्शन करना चाहिए। (वै०, रा० प्र०)]

२ (क) 'परमानंद पूरि मन राजा' इति। प्रथम तो कानोंमें ब्रह्मानंद समाया, अब ब्रह्मानंदसे मन परिपूर्ण होगया। (ख) 'कहा बोलाइ बजावहु बाजा' इति। बाजा बजनेसे सबको जाहिरी होती है, सबको सूचना होजाती है, दूसरे मंगल अवसरपर बाजे बजाए ही जाते हैं। यह आनन्दोत्सवका द्योतक है, इसीसे प्रथम बाजा बजानेकी आज्ञा दी तब वसिष्ठजी और विप्रवृन्दके बुलानेको कहा, उसी क्रमसे कह रहे हैं। (ग) पुरवासियोंके संबंधमें 'आनंद मगन सकल पुरबासी' और, राजाके संबंधमें 'परमानंद पूरि मन राजा' कहकर जनाया कि राजाको सबसे अधिक सुख हुआ। (घ) [श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि "परमानन्दमें मन-कर्म-वचनके व्यवहार स्थिर हो जाते हैं फिर बजानेकी आज्ञा क्योंकर दी ? उत्तर—व्यव-

यथा—'जातकर्म करि कनक बसन मनि भूषित सुरभि समूह दये । गी० १।३।', 'जातकरम करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन्ह दान । गी० १।२ ।'

'नांदीमुखश्राद्ध' । 'जातकर्म'

जीवकी सद्गतिके लिये दश कर्म कहे गए हैं-गर्भाधान, सीमन्तक, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णवेध, यज्ञोपवीत, विवाह और मृतक कर्म । जातकर्मसे लेकर विवाहतक सब कर्मोंके आदिमें अभ्युदयिक नामक प्रसिद्ध नान्दीमुखश्राद्धका अधिकार है। जन्मपर जातकर्म होता है, उसके आदिमें नान्दीमुख-श्राद्ध चाहिये । (वैजनाथजी) । निर्णयसिंधुमें लिखा है कि जन्म, यज्ञोपवीत इत्यादि पर यह श्राद्ध पहले पहरमें होता है, परन्तु पुत्रजन्ममें समयका नियम नहीं है । यह श्राद्ध माङ्गलिक है; इसलिये पिताको पूर्वमुख बिठा-कर वेदिकापर दूब बिछाकर चौरीठा, हरदी, तिल, दही और बेरीके फल मिलाकर इनके नौ पिंड बनाकर पिंडदान कराया जाता है, फिर दक्षिणा दीजाती है । (वैजनाथजी) । 'नान्दीमुख' नामका कारण यह है कि पितृगण इस पिंडको लेनेके लिये नाँदकी नाईं मुख फैलाए रहते हैं । — (करुणासिंधुजी) ।

☞ 'जातकर्म' । इस संस्कारमें बालकके जन्मका समाचार सुनतेही पिता मना कर देता है कि अभी बालककी नाल न काटी जाय । तदुपरान्त वह पहने हुए कपड़ों सहित स्नान करके कुछ विशेष पूजन और वृद्ध-श्राद्ध आदि करता है । इसके अनन्तर ब्रह्मचारी, कुमारी, गर्भवती या विद्वान् ब्राह्मणद्वारा धोई हुई सिलपर लोहेसे पीसे हुए चावल और जौके चूर्णको अँगूठे और अनामिकासे लेकर मंत्र पढ़ता हुआ बालककी जीभपर मलता है । फिर मधु और घृत मिलाकर पिता उसे चार बार सोनेके पात्रसे बालककी जीभपर लगाता है । फिर कुश और जलसे बालकका प्रोक्षण करके आचार्य दहिने कानमें आठों कंडिकायें सुनाते हैं । माता दहिना स्तन धोकर नाल और बालकपर डालती है। गणेशादिका पूजन करके वेदी बनाकर सरसों, पीपल और घीकी आहुति देते हैं. शिवमंत्रसे सूत बाँधा जाता है, फिर छुरेका पूजन करके नाल काटा जाता है ।

☞ ये दोनों कर्म सूतिकागारहीमें होते हैं, पर आजकल प्रायः देखनेमें नहीं आते । सूतिकागृहमें जाकर देखनेकीभी रीति अब प्रचलित नहीं है ।

श्राद्ध=शास्त्रके विधानके अनुसार जो कृत्य पितरोंके उद्देश्यसे श्रद्धापूर्वक किया जाता है । जैसे तर्पण, पिण्डदान, विप्रभोजन, होम, दान इत्यादि । श्राद्ध शुभकार्य्योंके आरंभमेंभी होता है और पिता आदिके मरण-तिथिपरभी । श्राद्ध ५ वा १२ प्रकारके माने गए हैं । 'नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धि, पार्वण, सपिंडन, गोष्ठी, शुद्ध्यर्थ, कर्म्मांग, दैविक, यात्रार्थ और पुष्ट्यर्थ'—(श. सा.) ।

नोट—१ जातकर्म, नालच्छेदन और उस समयके दानके सम्बन्धमें 'शुक्ल यजुः शाकीय कर्मकाण्ड-प्रदीप' (निर्णयसागर) में 'जातकर्म निर्णय' प्रकरणमें यह विधान लिखा है कि संतानका जन्म सुनतेही पिता आदि कर्मकरनेवाला वस्त्र सहित स्नान करके नालच्छेदनके पूर्व अथवा यदि उस समय न हो सका हो तो नामकरणके समय जातकर्म करे । चाहे रात्रिमें प्रसव हो चाहे दिनमें, चाहे ग्रहणमें, मृताशौचमें, जननाशौचमें ही जन्म क्यों न हो, जातकर्म करना चाहिए । यथा—'श्रुत्वा पुत्रं जात मात्रं सचैल स्नात्वा कुर्याज्जात-कर्मास्य तातः । नालच्छेदात्पूर्वमेवाथवा स्यान्नाम्नायुक्तं पुत्रिकाया अपीदम् ।। रात्रौ शावाशौचके जात्यशौचे कार्यं चैतन्मात्र पूजादि युक्तम् ।' इति धर्मनौकायाम् ।

जातकर्मके पश्चात् दानका विधान इस प्रकार है । सुवर्ण, भूमि, गौ, अश्व, छत्र, छाग, वस्त्र, माल्य, शय्या, आसन, गृह, धान्य, गुड़, तिल, घृत और भी जो घरमें द्रव्य आदि हो वह दानमें दिया जाय । पुत्रजन्मके समय घरमें पितर और देवता आते हैं, इसलिये वह दिन पवित्र माना जाता है; ऐसा महा-भारतके आदिपर्वमें कहा है । दान और प्रतिग्रह नालच्छेदनके पूर्व अथवा उस दिनभर करे, ऐसा मनुस्मृति

और शङ्ख स्मृतिमें कहा है। यथा 'अत्र दद्यात्सुवर्णं वा भूमिं गां तुरगं तथा। छत्रं छागं वस्त्रमाल्यं शयनं चासनं गृहम्। धान्यं गुडं तिलां सर्पिरन्यच्चास्ति गृहे वसु। आयान्ति पितरो देवा जाते पुत्रे गृहं प्रति। तस्मात् पुण्यमहः प्रोक्तं भारते चादिपर्वणि॥ दानं प्रतिग्रहं नाभ्यामच्छिन्नायां तदन्निव। कुर्यादित्याहतुः शङ्ख मनू इति।'

नालच्छेदन और सूतकके संबंधमें शास्त्र कहता है कि जबतक नाल काटा नहीं जाता तबतक सूतक प्रारंभ नहीं होता। काटनेके पश्चात् सूतक लगता है। यथा "यावन्नछिद्यते नालस्तावन्नाप्नोति सूतकम्। छिन्ने नाले ततः पश्चात् सूतकं तु विधीयते। (स्कंद पु० अ० ११।३१)।" जन्मसे छः महूर्त्त अर्थात् लगभग पाँच घंटेके भीतर और संकटकालमें आठ महूर्त्त अर्थात् लगभग छः घंटेके भीतर नालच्छेदन हो जाना चाहिए। इसके पश्चात् तो सूतक लगेगाही चाहे नालच्छेदन हो या नहीं हो। यथा "काल प्रतीक्षा बालस्य नालच्छेदनकर्मणि। षण्महूर्त्तात्परं कार्यं संकटेऽष्टमुहूर्तके॥ तदूर्ध्वं छेद्यमच्छेद्यं पित्रादिः सूतकी भवेत्। (संस्कार भास्कर 'जातकर्म निर्णय' प्रकरण)।

नोट—२ यहाँ जो विप्रोंको दान दिया गया वह जातकर्मके पश्चात् और नालच्छेदनके पूर्व दिया गया। इस दानका शास्त्रोंमें बड़ा फल कहा गया है। शास्त्रमें सुवर्ण, भूमि, गऊ आदि दानमें गिनाये गए हैं वैसेही यहाँ 'हाटक धेनु' आदि कुछ गिनाये हैं।

३ मिलता हुआ श्लोक यह है—'तथा ग्राम सहस्राणि ब्राह्मणेभ्यो मुदा ददौ। सुवर्णानि च रत्नानि वासांसि सुरभीः शुभाः। अ० रा० १।३।३६।' इस श्लोकके उत्तरार्धमेंभी दोहेके उत्तरार्धके चारों प्रकारके दान हैं।

ध्वज पताक तोरन पुर छावा। कहि न जाइ जेहि भाँति बनावा॥१॥
सुमन बृष्टि अकास तें होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई॥२॥
बृंद-बृंद मिलि चलीं लोगाईं। सहज सिंगार किएँ उठि धाईं॥३॥

अर्थ—ध्वजा, पताका और बंदनवारोंसे नगर छागया है। जिस प्रकार पुर सजाधजा हुआ है वह कहा नहीं जासकता। अर्थात् ध्वजा, पताका और बंदनवारोंकी शोभा कहते नहीं बनती तब पुरके सजधज-की शोभा कौन कहसके एवं ध्वजा, पताका और बंदनवारोंका बनाव जिस प्रकारसे है वहभी नहीं कहते बनता॥ १॥ आकाशसे फूलोंकी बृष्टि हो रही है। सब लोग ब्रह्मानंदमें मग्न हैं॥ २॥ स्त्रियाँ झुण्ड-की-झुण्ड मिलकर चलीं। साधारणही शृङ्गार किये हुए वे उठ दौड़ीं॥३॥

टिप्पणी—१ (क) राजाका कृत्य कहचुके कि पुत्रजन्म सुनकर ब्रह्मानन्दमें मग्न हुए और जन्मोत्सव करने लगे। अब पुरवासियोंका कृत्य कहते हैं कि ये भी जन्म सुनकर आनन्दमें मग्न हुए—'आनंदमगन सकल पुरबासी'। तब ये क्या करने लगे? ये भी उत्सव मनाने लगे—'ध्वजपताक०' इत्यादि। पुनः यथा 'मनि तोरन बहु केतु पताकनि पुरी रुचिर करि छाई। गी० १११।' आगे देवताओंका कृत्य कहते हैं। (ख) [ध्वजा ५ हाथकी और पताका ७ हाथकी होती है। ध्वजा सचिह्न होती है। गोस्वामीजीने ध्वजाकी केलेसे उपमा दी है और पताकाकी ताड़से। इससे कह सकते हैं कि ध्वजा उँचाईमें देशी कदली वृक्षके समान और पताका ताड़वृक्षके समान होता था। यथा 'कदलि ताल बर धुजा पताका। ३।३८।२।' वैजनाथजी तोरणका अर्थ 'बहिद्वार' करते हैं—'तोरणन्तु बहिद्वारमित्यमरः'। शब्दसागरमें दोनों अर्थ दिये हैं—"बहिद्वार, विशेषतः वह द्वार जिसका ऊपरी भाग मंडपाकार तथा मालाओं और पताकाओंसे सजायागया हो। घर या नगरका बाहरी फाटक।' और 'वे मालाएँ आदि जो सजावटके लिये खंभों और दीवारों आदिमें बाँधकर लटकाई जाती हैं। बंदनवार"] (ग) 'सुमनबृष्टि अकास ते होई' इति। देवताओंने स्तुतिके समय स्तुति की, यथा 'सुरसमूह बिनती करी पहुँचे निज-निज धाम'। अब पुष्पवृष्टि करनेका समय है, अतः अब फूल बरसाते हैं; यथा 'सजि सजि यान अमर किंनर मुनि जानि समय सुरगन ठए। नाचहिं नभ अपसरा मुदित मन पुनि पुनि बरषत सुमन

चए। गी० १.३।' [वृष्टि=झड़ी, वर्षा ।=ऊपरसे बहुतसी चीजोंका एक साथ गिरना या गिराया जाना। यह शब्द लगातार कुछ समयतक इस कृत्यका होना सूचित करता है।] (घ) प्रथम राजाका ब्रह्मानन्दमें मग्न होना कहा, अब सब लोगोंका ब्रह्मानंदमें मग्न होना कहते हैं—'ब्रह्मानंद मगन सब लोई' और आगे स्त्रियोंका आनन्द वर्णन करते हैं। लोई=लोग।

२ (क) 'बृंदबृंद मिलि चलीं लोगाई' इति। पुत्रजन्म सुनकर सब स्त्रियोंको आनन्द हुआ। बस सबकी सब एकसाथ एकही समय घरसे निकलीं और एक-संग होकर चलीं, इसीसे वृन्द बृन्द होगईं। पुनः, 'वृन्दवृन्द मिलि चलीं' कहकर जनाया कि गलियोंमें भारी भीड़ हो गई है, यथा—'दल फल फूल दूब दधि रोचन युवतिन्ह भरि-भरि थार लये। गावत चलीं भीर भइ बीथिन्ह बंदिन्ह बांकुरे बिरद बये। गी० १।३।' (पुनः, वृन्दवृन्द= अपनी अपनी टोलियाँ बनाकर चलीं। अपने-अपने मेलके, जोड़के इत्यादि पृथक् पृथक् वृन्द हैं)। (ख)— 'सहज सिंगार किये०' इति। भाव कि उस समय विशेष शृंगार करके जाना चाहिए था क्योंकि एक तो मंगलका अवसर है, दूसरे राजमहलमें जा रही हैं, पर मारे आनंदके साधारण स्वाभाविक शृङ्गार जो किये थीं वैसी-ही चल दीं, (शीघ्र आनन्दमें सम्मिलित होकर जन्म सफल करें इस विचारसे) विशेष शृङ्गारकी पर्वा न की। 'ब्रह्मानंद मगन सब लोई' कहकर यह ब्रह्मानन्दमग्नका स्वरूप दिखाया। उसके आगे बाहरके शृंगारमें कौन समय खोवे। [(ग) यहाँ पहले 'चलीं लोगाई' कहा और फिर 'उठि धाई' कहते हैं। इसका भाव यह कहा जाता है कि पहले जो गईं उनके विषयमें 'चलीं' कहा और जो पिछड़गईं उनका उठ दौड़ना कहा गया। ये सोचती हैं कि कहीं ऐसा न हो कि पीछे पहुँचनेसे भीड़ होजानेके कारण हम भीतर न पहुँच सकें, अतएव दौड़ीं। वा, वृंद-वृन्द होकर चलना कहा और एकत्र होकर उठ दौड़ना कहा। वा, घरमें जो बैठी हुई थीं, वे घरसे उठकर दौड़ीं, जब बाहर आईं तो औरोंका भी साथ हुआ तब वृन्दवृन्द मिलकर चलना कहा गया।]

नोट—☞'तुलसीदासजीके कलाकी शैली है कि एक वृंदका नमूनेकी तरह वर्णन कर दिया। सब उसी वृन्दका वर्णन है। 'सहज सिंगार किये उठि धाई' में दूसरा वृन्द न समझना चाहिये। आशय यह है कि जल्दी उठ दौड़ीं, विशेष शृङ्गारकी परवा नहीं। इसी नमूनेपर और वृन्दोंकोभी समझ लेना चाहिये।' (लमगोड़ाजी)

कनक कलस मंगल भरि थारा। गावत पैठहिं भूप दुआरा ॥४॥
करि आरति नेवछावरि करहीं। बार बार सिसु चरनन्हि परहीं ॥५॥

शब्दार्थ—निछावर=एक उपचार या टोटका जिसमें किसीकी रक्षाकेलिये कुछ द्रव्य या वस्तु उसके सिर या सारे अंगोंके ऊपरसे घुमाकर दान कर देते हैं या डाल देते हैं। इसका अभिप्राय यह होता है कि जो देवता शरीरको कष्ट देनेवाले हों वे शरीर और अंगोंके बदलेमें द्रव्य आदि पाकर संतुष्ट हो जायँ।

अर्थ—सोनेके कलशों और थालोंमें मंगल भरभरकर गाती हुई राजद्वारमें प्रवेश करती हैं। ४। आरती करके न्योछावर करती हैं और बच्चेके चरणोंपर बारबार पड़ती हैं। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'कनककलस०' इति। कलश सिरपर धरे हैं और सोनेके थारमें अनेक मङ्गल द्रव्य भरकर हाथमें लिये हैं। 'कनक' शब्द कलश और थार दोनोंके साथ है। यथा 'दधि दुर्बा रोचन फल-फूला। नव तुलसीदल मंगलमूला ॥ भरि-भरि हेम-थार भामिनी। गावत चलिं सिंधुरगामिनी। ७।३।' [यही दधि, दूब आदि मंगलद्रव्य हैं। कलशमें शुद्ध श्रीसरयूजल, आमके पत्ते, दूब, अंकुर और उसके ऊपर यव और दीपक मंगलसूचक द्रव्य हैं।] (ख) पुरुष राजाके द्वारपर आए, यथा 'गुर बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा। आए द्विजन सहित नृपद्वारा'। और, स्त्रियाँ राजद्वारमें प्रवेश कर रही हैं; जैसा क़ायदा है वैसाही लिखते हैं।

२ (क) 'करि आरति नेवछावरि करहीं ।०' इति । आरती करके शिशुके चरणोंपर पड़ती हैं, यह कहकर जनाया कि स्त्रियोंकोभी ऐश्वर्य्य का ज्ञान है । अग्निदेवने सब सभाको समझाया था कि राजाके यहाँ भगवान्‌का अवतार होगा । सभाके लोगोंने अपने अपने घरमें यह बात कही । इस प्रकार स्त्रियोंकोभी ऐश्वर्य्यका ज्ञान हुआ । जैसे पुरुषोंने जाकर दर्शन किया, वैसेही स्त्रियोंने जाकर चरणोंमें प्रणाम किया । बार बार शिशुके चरणोंमें पड़ना मारे प्रेमके है, यथा—'पद अंबुज गहि बारहिंबारा । हृदय समात न प्रेम अपारा ।' एवं 'प्रेममगन मुख बचन न आवा । पुनिपुनि पदसरोज सिरु नावा ।' इत्यादि ।

नोट—१ शिशुके चरणोंमें पड़नेकी रीति अब देखने-सुननेमें नहीं आती, पर यहाँ श्रीरामजन्मपर ऐसा हुआ । पं० रामकुमारजीका मत ऊपर दिया गया है कि स्त्रियोंको ऐश्वर्य्यका ज्ञान है । श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'प्रणाम करना ईश्वरभाव वा अति सुंदर मूर्ति देखकर वा ज्येष्ठ राजपुत्र जानकर' । श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि मनुजीको वरदान देनेके पश्चात् प्रभुने परिकरोंको आज्ञा दी कि अवधमें जाकर रहो, हमभी आते हैं । ये पुरवासी सब पार्षदही हैं और इन्हें जानते हैं कि ये ब्रह्म हैं । पुनः, यहभी कारण हो सकता है कि राजा ईश्वरका अंश माना जाता है, अतएव पूजनीय है । राजाके पुत्र न होनेसे प्रजा दुःखी थी कि न जाने आगे कौन राजा हो, अब उनकी अभिलाषा पूर्ण हुई । पं० श्रीराजारामशरणलमगोड़ाजी लिखते हैं कि "भगवान्‌के सुंदर बालकरूपका चमत्कारही है कि जो रीति नहीं है वह होपड़ी । अब तो छठी इत्यादिमें बालकको कृष्ण वा राम मानकर आरती करनेकी रीति (जहांतहां) चल पड़ी है । घरघरसे आटेकी बनी आरती कुछ अनाज और निछावरके साथ छठीके दिन साथ आती है"

२ पुरवासिनियोंकी भीड़ है । सब आरती करती हैं और चरणोंपर पड़ती हैं, यह दोनों प्रकारसे हो सकता है । एक तो यह कि जो जहांतक पहुँच सकी है वह वहींसे उस दिशामें भावना करके आरती करती है और भावसेही पैरों पड़ती है । अथवा, भगवान् यहां सबको प्रत्यक्ष देख पड़ रहे हैं, इसीसे 'चरनन्हि परहीं' कहा ।

वे० भू० जीका मत है कि नंदीमुख श्राद्ध और जातकर्म आंगनमें हो रहा है । राजा पुत्रको गोदमें लिये बैठे हैं, पुरवासिनियाँ उसी समय आरती लियेहुए वहाँ पहुँचीं, इसीसे बच्चेके चरणोंमें पड़ने, आरती और निछावर करनेका अधिकार सबको प्राप्त हो रहा है ।

मागध सूत बंदिगन[1] गायक । पावन गुन गावहिं रघुनायक ॥६॥
सर्बस दान दीन्ह सब काहू । जेहिं पावा राखा नहिं ताहू ॥७॥

अर्थ—मागध (वंशके प्रशंसक) सूत (पौराणिक) बंदी (विरुदावली कहनेवाले भाट) और गान करनेवालोंके समूह रघुकुलके स्वामी श्रीदशरथजीके पावन गुण गाते हैं । ६ । सबने सर्वस्व दान दिये । जिसने पाया उसनेभी न रक्खा अर्थात् उसनेभी दान कर दिया वा दे डाला । ७ ।

टिप्पणी—१ (क) 'मागध-सूत-बंदिगन गायक ।०' इति । [मागध=वैश्य पिता और क्षत्रिया मातासे उत्पन्न संतान । ये राजाकी वंशपरंपरासे जीविका पाते हैं, राग-तालमें कीर्ति गान करते हैं । सूत=क्षत्रिय पिता और ब्राह्मणी मातासे उत्पन्न संतान । ये पौराणिक कहलाते हैं और श्लोकोंमें वंशका यश वर्णन करते हैं । बंदी=भाट । ये कवित्तोंमें विरुदावली वर्णन करते हैं । गायक=गवैये । जैसे कि —ढाढ़ी, कलावत, विदूषक (भाँड़), कत्थक, नट इत्यादि ।] (ख)—'पावन गुण' का भाव कि दशरथजीके सब गुण पवित्र हैं, कोई भी निन्द्य कर्म उनने नहीं किये । उनके गुणोंको देवता गाते हैं, यथा 'बिधि हरि हरु सुरपति दिसिनाथा । बरनहिं सब दसरथ गुनगाथा । २. १७३ ।' भीतरका हाल पहले कहकर

१ पाठान्तर—गुनगायक । नंगेपरमहंसजी 'गुनगायक' को मागधादिका विशेषण मानते हैं ।

तब यह बाहरका हाल कहते हैं। मागधादि सब बाहर द्वारपरही हैं; यथा 'मागध-सूत द्वार बंदीजन जहं तहं करत बड़ाई । गी० १।१।'

२ 'सरबस दान दीन्ह सब काहू।०' इति। (क) सबने सर्वस्व दान दिया। यथा 'पुरबासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज-निज संपदा लुटाई। गी० १. १।' जिसने पाया उसनेभी दान कर दिया, यथा 'पाइ अघाइ असीसत निकसत जाचकजन भए दानी। गी० १।४।' उमँगि चलेउ आनँद लोक तिहुँ देत सबनि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेइ देखियत रामकृपा- चितवनि चितये। गी० १।३।' (ख) 'सरबस' सर्वस्वका अपभ्रंश है। स्व=धन, यथा 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोस्त्रियां धने। अमर ३।३।२११।' अर्थात् 'स्व' का अर्थ जाति, आत्मा, आत्मीय और धन है। सर्वस्व = सब धन। सबने अपना सब धन लुटा दिया। राजाने अपना भंडार लुटा दिया; यथा 'रानिन्ह दिये बसन मनि भूषन राजा सहन भंडार। गी० १।२।' पुरवासियोंने अपनी सब संपदा लुटा दी। मंगनोंने जो पाया सो उन्होंनेभी लुटा दिया। तात्पर्य्य कि राजासे लेकर भिक्षुक तक सबकी एकरस उदारता यहां (देखी जा रही) है। जैसे राजा देते हैं वैसेही पुरवासी देते हैं। जैसे रानियां देती हैं वैसेही पुरवासिनियां देती हैं, यथा 'बारहिं मुक्ता रतन राजमहिषी पुर सुमुखि समान। गी० १।२।' जैसे पुरवासी देते हैं, वैसेही भिक्षुक देते हैं। (ग) यहां क्रमसे तीन प्रकारके दानका वर्णन किया गया। प्रथम राजाका दान कहा—'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह', तब प्रजाका दान कहा—'सर्बस दान दीन्ह सब काहू'। 'सब काहू' से प्रजा अभिप्रेत है। तत्पश्चात् भिक्षुकोंका दान कहा—'जेहि पावा राखा नहिं ताहू'। 'जेहि पावा' से भिक्षुक अभिप्रेत हैं।

जातकर्मके समय राजाने विप्रोंको दिया जो उस संस्कारके लिए आए थे। पुरवासिनी स्त्रियां जो आईं वे 'करि आरति नेवछावरि करहीं'। निछावर किसने पाई इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया। पर तुरतही इसके आगे मागधादिके गुणगान करनेका उल्लेख होनेसे अनुमान होता है कि निछावर इन्हींको दी गई। अथवा इन्हींमें लुटा दी गई। यहां तक दोही लोगोंका दान कहा गया। राजा और पुरस्त्रियोंका। तो यह शंका होती है कि क्या मागधादि याचकोंको राजा, रानियां, मंत्री आदिने कुछ नहीं दिया? इसका उत्तर 'सरबस दान दीन्ह सब काहू' में मिलता है। अर्थात् सभीने मागधादि सब याचकों को दान दिया। प्रजा, पुरस्त्रियां, मंत्री आदिने तो दिया ही, राजा और रानी आदि सूतकाधिकारी लोगोंनेभी दिया। दोहेमें नान्दीमुख श्राद्धादि करनेपर दानका उल्लेख किया गया। वहांसे लेकर 'सरबस दान…' तक दानका उल्लेख हुआ। इससे सूचित किया कि यह सब नालोच्छेदनके पूर्व हुआ और जातकर्म के पश्चात्।

नोट—१ यहां 'सब काहू' का अर्थ 'सब किसीने' इस विचारसे ठीक है कि प्रसंगानुकूल यहां तीन प्रकारके दान कहे गए हैं—एक तो राजदान जो दोहा १९३ में लिखा गया। दूसरा पुरवासियोंका दान, यह सर्वस्व दान इन्हींका है। और, तीसरा याचक दान। तीनोंका वर्णन ऊपर टिप्पणीमें आगया है।

२ सर्बस = सब कुछ। सर्वस्व = सब तरहका अर्थात् मणि, वस्त्र, गौ, अन्न, गज, रथ, घोड़े इत्यादि। सर्वस्वका अर्थ गीतावलीके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। यथा 'पुरवासिन्ह प्रिय नाथ हेतु निज निज संपदा लुटाई।', 'अमित धेनु गज तुरग बसन मनि जातरूप अधिकाई। देत भूप अनुरूप जाहि जोइ सकल सिद्धि गृह आई।', 'बारहिं मुकुता रतनराज महिषी पुर सुमुखि समान। बगरे नगर निछावरि मनिगन जनु जुवारि यव धान। गी० १।२।', 'अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं।', 'उमगि चलेउ आनंद लोक तिहुँ देत सबनि मंदिर रितये। तुलसिदास पुनि भरेई देखियत रामकृपा चितवनि चितये।', 'राम निछावर लेनको (देव) हठि होत भिखारी। बहुरि देत तेइ देखिये मानहुँ धनधारी। गी० १।६।१२।'

☞ सर्वस्वदानके विषयमें जो शङ्काएँ लोग किया करते हैं उनका समाधान उपर्युक्त उद्धृत उदा-

हरणोंसे होजाता है। अधिक विस्तृत व्याख्याकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। 'जेहि पावा राखा नहिं ताहू' अर्थात् उन्होंनेभी दे डाला, लुटा दिया कि जो चाहे लेले। यह सब नगरभरमें बिथरे पड़े हैं—'बगरे नगर निछावरि०।' अन्तमें किसके पास रहा, यह प्रश्नही इस प्रमाणके आगे नहीं रहजाता। यह श्रीरामजन्ममहोत्सव है, अतएव गोस्वामीजीने 'राखा नहिं ताहू' कहकर दानकी इति नहीं की। इस समय रघुकुल और पुरवासियोंकी अतिशय उदारता दिखारहे हैं। यह 'अत्युक्ति' अलंकार है।

प० प० प्र०—'सर्बस दान दीन्ह सब काहू' इति। इसपर बहुत मत मतान्तर हैं तथापि मानसमें दान देना केवल विप्रोंको ही सर्वत्र पाया जाता है, दूसरोंको जब कुछ दिया जाता है तब देना, बकसीस देना, निछावर देना शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। यथा 'दिये दान आनंद समेता। चले बिप्रबर आसिष देता। १।२८५।८।', 'दसरथ बिप्र बोलि सब लीन्हे। दानमान परिपूरन कीन्हे। १।३३१।६।', 'दिये दान बिप्रन्ह बिपुल ...। ३४५।'; 'सादर सकल माँगने टेरे॥ भूषन बसन बाजि गज दीन्हे। ३४०। १–२।', 'जाचक लिये हँकारि दीन्हि निछावरि कोटि बिधि।२९५।', 'प्रेम समेत राय सबु लीन्हा। भइ बकसीस जाचकन्हि दीन्हा। १।३०६।३।'– इत्यादि उद्धरणोंसे सिद्ध होता है कि यहाँ 'सर्वस्व दान' विप्रोंके संबंधमें ही आया है। क्षत्रियों-वैश्योंने अपना सर्वस्व विप्रोंको दानमें दिया। [यह मत बाबा हरिदासजीका है। नोट ४ (४) देखिए]

'जेहि पावा राखा नहिं ताहू' इति। इसमें दान देना नहीं कहा। जिन्हें मिला उन्होंने उसे रक्खा नहीं। सीधा-सीधा अर्थ है तब चक्रापत्तिमें गिरनेकी आवश्यकता ही क्या है? स्मरण रहे कि यहाँ यह नहीं कहा गया है कि समस्त ब्राह्मणोंको दान मिला। जिनको नहीं मिला था उनको दान लेनेवाले विप्रोंने दिया। कोई कोई ब्राह्मण प्रतिग्रह (दान) नहीं लेते, उनको वैसा ही दिया। जो बचा उसे ब्राह्मणोंने बंदी-मागधादिको दे दिया।

यहाँ गूढ़ भाव यह है कि रामजन्मनिमित्त जो दान राजाने अल्पकालमें ब्राह्मणोंको दिया, वह तो थोड़ेही ब्राह्मणोंको मिला, अतः क्षत्रिय और वैश्योंने अन्य ब्राह्मणोंको अपना सर्वस्व दानमें दिया। राजाके अल्प दानकी समता करनेके लिये क्षत्रियों और वैश्योंको अपना सर्वस्व देना पड़ा। यह मुख्यतः यहाँ बताया है। शूद्रप्रतिग्रह तो अच्छे ब्राह्मण अब भी नहीं लेते हैं अतः क्षत्रियों और वैश्योंने सर्वस्व दान दिया।

नोट—३ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि "मैं जब अपनी अवस्थाका निरीक्षण करता हूँ तो भगवान्के द्वारका केवल मंगन जान पड़ता हूँ। यह भी माँग, वहभी माँग। यह सत्य है कि वहाँ 'सब वस्तुका दान' भगवान्की ओरसे होता है। परंतु शर्त यह है कि स्वार्थके निमित्त माँग न हो वरंच 'जिन्ह पावा राखा नहिं ताहू' अर्थात् परोपकारके निमित्त हो। आहा! यदि ऐसा मंगनभी हो जा !!"

४ हम टीकाकारोंके मत पाठकोंके निमित्त लिखे देते हैं, जिसको जो भाव या समाधान भावे ग्रहण करे।

(१) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रथम ब्रह्मादिक आए उन्होंने पाया, इतनेमें याचक जुटे तब इन्होंने मिला हुआ सब दान याचकोंको लुटा दिया।' (२) किसीका मत है कि अवधवासी सब लुटाते गए और देवता जो भिक्षुक बनकर आए थे वे लेते गए,—'राम निछावर लेनकहँ हठि होत भिखारी।' (३) विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि "सब काहू को' अर्थात् जो लोग वहाँ उपस्थित थे उनको राजाने दिया और इनने पाये हुये दानको लुटा दिया। बस यहीं तक देनेकी हद है। पुनः दूसरा अर्थ—'पहिले जो आए उनको अनेक वस्तुयें दीं। परंतु वे आनंदके कारण बैठेही रहे, इतनेमें जो और बहुतसे लोग आए उनके साथ पहिले आएहुए लोगोंकोभी फिरसे और वस्तुएँ दे दीं, उन्हें 'राखा नहिं' अर्थात् दुबारा देनेमें संकोच न रक्खा। पुनः, जिन्हें वह दान मिला उनके पास वह बात न रहगई जिसके लिये दान दिया जाता है अर्थात् दारिद्र्य न रहगया।–'धनद तुल्य भे रंका'।" (४) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'सब काहू' अर्थात् सब अवध-

वासी परिजन महाजन सभीने दिया। दानके अधिकारी ब्राह्मणही होते हैं। अतएव ब्राह्मणोंको सबने दिया। और जिन ब्राह्मणोंने पाया उन्होंने याचकोंको लुटा दिया। श्रीरामजन्मके अवसरपर देवता याचक बने हैं— 'इंद्र बरुन यम धनप सुर सब नरतनधारी। रामनिछावरि लेनको हठि होत भिखारी।'। (५) कोई-कोई शंकानिवारणार्थ 'सरबस' का अर्थ मोक्ष करते हैं अर्थात् राजाने सबको मोक्षका दान किया। जिसने पाया उसने उसे भक्तिके आगे तुच्छ मानकर दे डाला।पर —यह अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं है। (६) पुराने खर्रेमें पं० रा० कु० जीने लिखा है कि यह शंका व्यर्थ है क्योंकि यहाँ एकको देना और एकका पाना लिखते हैं। (पर यह भाव टिप्पणीसे विरुद्ध है)। (७) श्रीगौड़जी लिखते हैं कि 'इसमें शंका व्यर्थ है। द्वारपर जो जो आते गए लेते गए। वे भी इतने लदे कि जाते-जाते जो जो मिला उसे देते गए। क्या सारे संसारके लोग आए? या संसारमें आदमीही न रहे? चौपाई साफ है। (८) श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि "इसमें जो यह शङ्का करते हैं कि जो पाता गया वह दूसरेको देता गया तो अन्तमें वह दान क्या हुआ? (उत्तर) ग्रंथमें ऐसा कोई शब्द नहीं है कि जिससे यह सूचित हो कि जो पाता गया वह दूसरेको देता गया, किन्तु शब्द तो मूलमें यह है कि 'जेहि पावा' अर्थात् जिसने पाया। किसने पाया? मागध, सूत, बन्दियोंने पाया। 'ताहू नहि राखा' अर्थात् उसने नहीं रक्खा। किसने नहीं रक्खा? मागध सूत बन्दियोंने नहीं रक्खा। फिर क्या किया? दूसरेको दे दिया। बस मूल शब्द खतम हुआ। जब मूलका कोई शब्दही नहीं है तब दानकी क्रिया आगेको कैसे बढ़ सकती है? अतः विना शब्दके अपनी तरफसे शंका उठाना बृथा है।" (९) किसीका मत है कि श्रीरामजी सबके सर्वस्व हैं; यथा 'मुनि धन जन सरवस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहिं सुख माना। १९८।२।' श्रीरामजीकोही राजाने दूसरोंको दिया, दूसरेने तीसरेको, इस तरह सब एक दूसरेको देते गए। वे० भू० जीका मतभी इसी पक्षमें है। वे कहते हैं कि "यहाँ 'हाटक धेनु बसन मनि' आदिका ग्रहण 'सर्वस्व' शब्दसे नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो दातव्य वस्तुओंका नाम लिया जाता। अथवा, 'रुचि बिचारि पहिरावन दीन्हा।', 'दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा।' आदिकी तरह कहा जाता। अतः यहाँ अर्थ है कि राजाने 'अपने सर्वस्व' राजपुत्रको राजमहलमें जुटे हुए सब लोगोंको दान दे दिया। अर्थात् यह सब आपका होकर जीवे। सबकी गोदमें दिया किंवा समष्टिरूपसे सबको दिया कि यह आप सब पंचोंका पुत्र है, लीजिए। जिनको दिया 'राखा नहि ताहूँ' अर्थात् उसनेभी आशीर्वाद देकर लौटा दिया। इसीसे राजाने गुरुसे कहा है 'सबहिं राम प्रिय जेहि बिधि मोहीं।' प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि 'नवजात शिशुका दान दिया' ऐसा कहना अनुचित है। दान दी हुई वस्तुपर दाताका स्वामित्व नहीं रहता है और दान शास्त्रविधिपूर्वक दक्षिणायुक्त देना पड़ता है। प्रथम दस दिन तो नवजात शिशुको सूतिकागृहके बाहर नहीं निकाला जाता है। हाँ, पालकारोहणके दिन बालक एक दूसरेके हाथमें इस प्रकार दिया लिया जाता है; पर वह दान देना नहीं है।

मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा ॥८॥

दोहा—गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुषमा-कंद।
हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद ॥१९४॥

अर्थ—मृगमद (कस्तूरी), चंदन और कुंकुम (केसर) का कीचड़ समस्त गलियोंके बीच बीच अर्थात् गलियोंमें हो रहा है ॥ ८ ॥ घर-घर मंगल बधाइयाँ बज रही हैं, मंगलाचार होरहा है, (क्योंकि) परम शोभाके कंद (मूल, समूह वा मेघ) प्रभु प्रगट हुए हैं। नगरके स्त्री-पुरुषोंके वृन्द जहाँ-तहाँ सभी हर्षको प्राप्त हैं ॥ १९४ ॥

टिप्पणी—१ 'मृगमद चंदन०' इति। यहाँ 'बिच-बीचा' का अर्थ मध्य नहीं है वरंच 'में' है। महोत्सवमें कस्तूरी, चन्दन और केसर इत्यादि घोलघोलकर एक दूसरेपर छिड़कते हैं। ऊपरसे गुलाल और अबीर डालते हैं। यथा 'कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर। गी० १।२।' इसीसे गलियोंमें कीच होगई है। यथा 'बीथिन्ह कुंकुम कीच अरगजा अगर अबीर उड़ाई। गी० १।१।' यहाँ मृगमद, चन्दन और कुंकुम कहे गए, अगर और अबीर नहीं कहे। क्योंकि आगे इनको कहना है, यथा 'अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़ै अबीर मनहु अरुनारी। १६५।५।' [महोत्सवमें अरगजा अर्थात् चंदन कस्तूरी, केसर इत्यादि मिलाकर परस्पर लोग एक दूसरेपर छिड़कते तो हैं ही, साथही गलियाँभी इन वस्तुओंसे सींची जानेकी रसम पाई जाती है; यथा 'गली सकल अरगजा सिंचाई। ३४४।५।']

२ 'गृहगृह बाज बधाव सुभ०'। (क) घरघर बधावे बजनेमें भाव यह है कि जैसे श्रीरामजन्मसे राजारानीको हर्ष हुआ, वैसेही सबको हर्ष है। यथा 'ज्यों हुलास रनिवास नरेसहिं त्यों जनपद रजधानी। गी० १।४।' इसीसे घर-घर मंगलचार और दान होता है, बधाई बजती है। यथा 'सींचि सुगंध रचैं चौकैं गृह आँगन गली बजार। दल फल फूल दूब दधि रोचन घरघर मंगलचार। गी०।१।२।५।' [(ख) 'प्रगटे सुखमाकंद' इति। यह पाठ १६६१ की प्रतिका है। 'प्रगटेउ प्रभु सुखकंद', 'प्रभु प्रगटे सुखकंद' और 'प्रगट भए सुखकंद' (पं० रा० कु०), पाठान्तर हैं। 'सुखमाकंद' सबसे प्राचीन और उत्तम पाठ है। इसलिये कि ऊपरकी आठ पंक्तियोंमें सबकी परमाशोभाका वर्णन है। 'ध्वज पताक' से 'बीचा' तक नगर, नागर, नागरी, दानी, पात्र, तथा दान इन सबोंकी शोभाका वर्णन है। यह परमाशोभाकी वर्षा है, इसलिये परमाशोभाका मेघ (सुखमाकंद) कहा। सुखकंदसे सुखमाकंदमें अधिक चमत्कार है।] कौशल्याजीके यहाँ प्रगट हुए, यह पूर्व कह चुके, यथा 'भये प्रगट कृपाला०'। अब पुनः प्रगट होना कहकर जनाया कि श्रीरामजन्मसे सबको ऐसा सुख हुआ कि मानो श्रीरामजी घरघरमें प्रगट हुए। कंद=मूल। यथा 'चर अरु अचर हरषजुत रामजनम सुखमूल।' सबको सुख प्राप्त हुआ, इसीसे 'सुखकंद' कहा। कौसल्याजीके यहाँ भगवान् साक्षात् प्रगट हुए, इसीसे चराचरको हर्ष हुआ। सबके घर-घर भावसे प्रगट हुए, इसीसे नारिनरवृन्दको हर्ष होना कहा। तात्पर्य्य कि साक्षात्का प्रभाव विशेष है, पुत्रजन्मका आनंद प्रथम स्त्रीको प्राप्त होता है, इसीसे प्रथम 'नारि' कहा तब 'नर'। (पुनः, नारिवृंदको प्रथम कहा क्योंकि ये भीतर गई थीं।)

कैकय-सुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भैं ओऊ ॥१॥
वह सुख संपति समय समाजा। कहि न सकइ सारद अहिराजा ॥२॥

अर्थ—राजा केकयकी कन्या श्रीकैकेयीजी और श्रीसुमित्राजी इन दोनोंनेभी सुन्दर पुत्रोंको जन्म दिया। १। उस आनन्द ऐश्वर्य्य, समय और समाजको सरस्वती और शेषभी नहीं कह सकते। २।

नोट १—यहां 'दोऊ' शब्द देहली-दीपक न्यायसे दोनों ओर लग सकता है। इस प्रकार अन्वय होगा—'कैकेयी सुंदर सुत जनमत भई। ओऊ सुमित्रा दोऊ सुंदर सुत जनमत भई।' इस तरह यहां सूक्ष्मरीतिसे सुमित्राजीके दो पुत्र कहे गए। (श्रीनंगे परमहंसजी)।

टिप्पणी—१ (क) कैकयसुताको प्रथम कहकर जनाया कि प्रथम कैकेयीजीके पुत्र हुआ तब सुमित्राजीके। जिस क्रमसे पायस दिया गया, उसी क्रमसे जन्म वर्णन करते हैं। इन दोनों रानियोंको एक संग लिखकर जनाया कि दोनोंने एक समयमें पुत्र जनमे। यथा 'तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भए मंगल-मुद कल्यान। गी० १।२।' 'ओऊ' कहनेका भाव कि जैसे कौसल्याजीने सुंदर पुत्र जनमा वैसेही इन दोनोंनेभी सुंदर पुत्र जनमे, यथा 'चारिउ सील रूप गुन धामा'। (ख) 'वह सुख संपति समय समाजा।०' इति। श्रीरामजन्ममें सुख वर्णन किया, यथा—'सुमन वृष्टि अकास तें होई। ब्रह्मानंद मगन सब लोई।', 'हरषवंत

सब जहँ तहँ नगर नारि नर बृंद ।'; यह सब सुख है । 'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह ।' इत्यादि संपत्तिका द्योतक है । 'सो अवसर बिरंचि जब जाना । चले सकल०' इत्यादि अवसर है । और 'गुर बसिष्ठ कहँ गयेउ हँकारा । आए द्विजन्ह सहित नृप द्वारा ।' यह समाज है । पुनश्च 'अष्टसिद्धि नवनिद्धि भूति सब भूपति भवन कमाहिं । समउ समाज राज दसरथको लोकप सकल सिहाहिं । गी० १।२।२३ ।' (बैजनाथजी-का मत है कि चौथेपन एकही पुत्रसे परम सुख हुआ । उस उत्सवके होतेही दूसरा पुत्र हुआ, फिर दो और हुए । अतः समय और सुख अपूर्व हो गए । ब्रह्मा-शिवादि देवता, सिद्ध, मुनि सब एकत्र हैं, अतः समाज-भी अपूर्व है । ऋद्धि-सिद्धि परिपूर्ण हैं इससे 'संपत्ति' भी अपूर्व है ।) । (ग) 'वह सुख' कहनेका भाव कि यह सुख त्रेतायुगमें रामजन्मके समयमें हुआ और वक्ता लोग उसका वर्णन वर्तमान कालमें अपने-अपने श्रोताओंसे कर रहे हैं ।

२ 'कहि न सकइ सारद अहिराजा' इति । शारदा स्वर्गकी वक्ता हैं और शेषजी पातालके । जब येही नहीं कह सकते तब मर्त्यलोकमें तो कोई वक्ता इनके समान है ही नहीं जो कह सके । इसीसे इस लोक-के किसीभी वक्ताका नाम न कहा । पुनः भाव कि जब शेष-शारदा नहीं कह सकते तब हम कैसे कह सकते हैं ? यथा 'जो सुखसिंधु सकृत सीकर ते सिव-बिरंचि प्रभुताई । सोइ सुख अवध उमगि रहेउ दस दिसि कवन जतन कहौं गाई । गी० १।१।११ ।', 'आनँद महँ आनँद अवध आनंद बधावन होई' । (यहां 'संबंधा-तिशयोक्ति अलंकार' है । (वीरकवि)]

नोट—२ चौथेपनमें एकही पुत्रसे न जाने कितना सुख होता है और यहां तो एकदमसे चार पुत्र हुए फिर उस परम सुखको कौन कह सके—'सोइ सुख उमगि रहेउ दस दिसि०' । ☞ गोस्वामीजीके मतसे चारों भाई एकही दिन हुए, ऐसा कई उद्धरणोंसे प्रमाणित होता है, यथा—'जनमे एक संग सब भाई'; 'पूत सपूत कौसिला जायो अचल भयउ कुलराज ॥ चैत चारु नौमी तिथि सित पख मध्य गगन-गत भानु'''। २"। सुनि सानंद उठे दसस्यंदन सकल समाज समेत । लिये बोलि गुरु सचिव भूमिसुर प्रमुदित चले निकेत । ६ । जातकर्म करि पूजि पितर सुर दिये महिदेवन दान । तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भये मंगल मुद कल्यान । ७ । आनँद महँ आनँद अवध आनंद बधावन होइ । उपमा कहौं चारि फलकी मोको भलो न कहै कबि कोइ । गी० १।२ ।'; 'आजु महामंगल कोसलपुर सुनि नृपके सुत चारि भए । १ । अति सुख बेगि बोलि गुर भूसुर भूपति भीतर भवन गए । जातकर्म करि कनक बसन मनि भूषित सुरभि समूह दये । ३ । दल फलफूल दूब दधि रोचन युवतिन्ह भरि-भरि थार लये । गावत चलीं भीर भइ बीथिन्ह बंदिन्ह बाँकुरे बिरद बए । ४ । कनककलस चामर पताक ध्वज जहँ तहँ बंदनवार नये ।०' इत्यादि । (गी० ३) ।

गी० बा० पद ३ से यह जान पड़ता है कि एकही दिन किंचित् आगे-पीछे चारों भाइयोंका जन्म हुआ, तत्पश्चात् नगरमें बधाई, उत्सवादि हुए । मानसके क्रमसे यह सिद्ध होता है कि श्रीरामजन्म होनेपर गुरु बुलाए गए, जातकर्म-संस्कार हुआ, दान दिया जा रहा है, उसी समय कैकेयीजी और सुमित्राजीके पुत्र हुए । अथवा, यह भी हो सकता है कि मुख्य तो श्रीरामजन्म है इससे उनके जन्मपर जो हुआ सो कहा गया, तब भाइयोंका जन्म कहा गया । हुए सब एकही दिन ।—पर, किसीका मत है कि भरतादिका जन्म कहकर तब 'वह सुख०' से पूर्वदिवसका सुख फिर कहने लगे; इससे भरतादिका जन्म दूसरे दिन जनाया । और, गी० बा० ४ से जान पड़ता है कि दशमीको तीन पुत्र हुए । यथा 'दिन दूसरे भूप भामिनि दोउ भईं सुमंगलखानी । भयो सोहिलो सोहिले मों जनु सृष्टि सोहिलो सानी' । और पद ५ के 'ज्यों आजु कालिहु परहुँ जागरन होहिंगे नेवते दिये ।', इन शब्दोंसे ज्ञात होता है कि दशमीको भरतजी और एकादशीको श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हुए । उसी हिसाबसे एक-एक दिन पीछे इनकी छठियाँ होती गईं । तीन पदोंमें तीन बातें लिखी गईं क्योंकि इस विषयमें मतभेद है । उपर्युक्त पद्योंसे समय और सुख तथा समाज और संपत्ति इन चारोंका अपूर्व और अनुपम होना स्पष्ट है ।

अध्यात्मरामायणका मत है कि जब गुरुजीद्वारा श्रीरामजीके जातकर्म आदि आवश्यक संस्कार होगए तब कैकेयीजी और सुमित्राजीके पुत्र हुए। यथा 'गुरुणा जातकर्माणि कर्तव्यानि चकार सः। ३७। कैकेयी चाथ भरतमसूत कमलेक्षणा। सुमित्रायां यमौ जातौ पूर्णेन्दुसदृशाननौ। ३८। अ० रा० १।३।' अ० रा० का यह प्रसंग मानससे मिलता-जुलता-सा है जैसा मैं ऊपरसे दिखाता आ रहा हूँ। वाल्मीकीय सर्ग १८ में अन्य तीनों भाइयोंके जन्मके नक्षत्र दिये हैं; यथा "भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः।'''१३। अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्रा जनयत्सुतौ।'''१४। पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः। सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ। १५।" अर्थात् कैकेयीजीने श्रीभरतको उत्पन्न किया और सुमित्राजीने श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नको उत्पन्न किया। भरतजी पुष्य नक्षत्र और मीन लग्नमें उत्पन्न हुए और श्रीलक्ष्मणशत्रुघ्नजी आश्लेषा नक्षत्रमें हुए, जब कि सूर्य कर्कट लग्नमें उदित हुए थे। इससे जान पड़ता है कि दूसरे दिन दशमीको कुछ रात रहे श्रीभरतजी और मध्याह्नमें श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी हुए।—"भरतजननस्य उदयात्पूर्वत्व ज्ञापनाया त्रोदित इत्युक्तम् यद्वा उदिते प्रवृद्धे मध्याह्नकाले इत्यर्थः। रामस्य पुनर्वसुनक्षत्रं तिथिर्नवमी भरतस्यपुष्यनक्षत्रं दशमी सौमित्र्योश्चदशमी आश्लेषातारेति विशेषः। १४।" (श्रीगोविन्दराजीय टीका)

प्र. स्वामीजी लिखते हैं—"मा. पी. "नोट में 'सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ'। सार्प = अश्लेषानक्षत्र, कुलीरे (चन्द्रे) कर्कराशिमें चन्द्र और मध्याह्नकालमें हुआ सूर्य मेषराशिमें है, यह रामजन्म-कालकथनमें स्पष्ट कहा है। 'जब सूर्य कर्कटलग्नमें उदित हुए थे' यह अर्थ बड़ी भूल और अनर्थ है। चैत्रमें नवमीको सूर्य जब मेषराशिमें हैं तब सूर्यका कर्कटराशिमें उदय आषाढ़मासमें ही होगा। यह भूल मा. पी. में असावधानीके कारण हुई है। जब मेषराशिमें सूर्य हैं तब मीन लग्न सूर्योदयके पूर्वही आयेगा। अतः भरतजीका जन्म दशमी मानना ही पड़ता है। नवमीको पुनर्वसु है, दशमीको सूर्योदय पूर्वकालमें पुष्यनक्षत्र है और आश्लेषामें लक्ष्मणशत्रुघ्नका जन्म मध्याह्नकालमें कहा। अतः एकादशी मानना ज्योतिषशास्त्रानुसार ही सयुक्तिक है और वही गोविन्दराजीयटीकामें साररूपमें लिखा है। (मा०सं० न संस्कृत जाने न ज्योतिष। जैसा टीकाओंमें पाया लिख दिया है।)

☞ मानसमें श्रीभरतादि भाइयोंका जन्म सूर्यके (श्रीरामनवमीके दिन) ठहरे रहते ही कहा गया है संध्याका रूपक और सूर्यका अस्त होना इसके पश्चात् है। इससे स्पष्ट रूपसे मानसकल्पकी कथामें चारों भाइयोंका एकही दिन प्रादुर्भाव सूचित कर दिया गया है।

अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती। प्रभुहि मिलन आई जनु राती॥ ३॥
देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी॥ ४॥

अर्थ—अवधपुरी इस प्रकार सुशोभित होरही है मानों रात्रि प्रभुसे मिलने आई है। ३। सूर्यको देखकर मानों मनमें सकुचा गई। तथापि संध्याके अनुमान बनगई। [तो भी मनमें विचार करके संध्या बनकर वहीं रह गई। (प्र० सं०)]

टिप्पणी—१ 'अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती।०' इति। (क) मध्याह्नकाल (दोपहरका समय) संध्याकासा होगया, इसीसे रात्रिका रूपक करते हैं। मास-दिवसका दिन होगया तब मानों रातभी मिलने आई है। यथा—'देखन हेतु राम बैदेही। कहौ लालसा होइ न केही।' 'प्रभु' हैं, इनके निकट रात्रि और दिन दोनों इकट्ठा हो सकते हैं। उनके लिए कोई बात असंभव नहीं है। (ख) 'आई जनु राती' का भाव कि श्रीरामजन्म मध्याह्नमें हुआ, उस समय दिन था, रात न थी, अतएव रात आई। (ग) "अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती" देहरीदीपक है, पूर्वापर दोनोंसे इसका संबंध है। पहले रामजन्ममें दिन रहा, इसीसे प्रथम दिनकी शोभा कही। जब लोगोंने धूप की (अर्थात् जलाई), अबीर उड़ाई और वेद-ध्वनि होने लगी तब

रात्रिके आगमनकीसी शोभा हुई । रात्रिका स्वरूप अयोध्याजीके स्वरूपसे दिखाते हैं क्योंकि विना साक्षात् रात्रि आए रात्रिका स्वरूप नहीं दिखाते बनता ।—'अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती' का यही भाव है ।

नोट—रात्रिका मिलने आना क्यों कहा ? यह प्रश्न उठाकर दो एक महानुभावोंने इसका उत्तर भी दिया है । जैसे कि—(१) यहां रात्रिसे रात्रिके अभिमानी देवतासे तात्पर्य है । वह मिलने क्यों आया ? इस लिए कि मैं चन्द्रलोकाभिमुख हूँ । चन्द्रज्योतिसे उपलक्षित स्वर्गके दिव्य भोगोंको भोगकर पुनः लौटना पड़ता है, यह समझकर अनावृत मार्गके लोग मुझे अंगीकार नहीं करते । अतः मैं आपकी शरण हूँ । इसीसे भगवान्‌ने 'चन्द्र' पद अपने नाममें ग्रहण किया । अथवा, (२) रात्रिसे रात्रिरूप कुंभक अभिप्रेत है । वह मिलने आई । भाव कि मेरा साफल्य आपके राजयोगके ग्रहणमें है । इसीसे वशिष्ठजीके द्वारा वासिष्ठयोग (योगवासिष्ठ) में राजयोगकी सफलता की । अथवा भाव कि अवतार सूर्यवंशमें सूर्यदेवके समय (दिन) में हुआ, अतः मैं आकर मिली हूँ कि अब मुझेभी तो अपने दिव्य जन्मकर्मसे सफल जनाना उचित है । अतः भगवान्‌ने कृष्णावतारमें अर्द्धरात्रिको जन्म लेकर उसे सफल किया और रास रहस्यभी रात्रिमें किये । अथवा, भगवान्‌के 'अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।' इस वाक्यको स्मरणकर उनका अवतार जान पहलेही मिलनेको आई कि कहीं ऐसा न हो कि मुझेभी निशाचरोंका मेली समझकर मेरीभी दुर्दशा करें । अथवा, इससे मिलने आई कि जैसे अपने दिव्य जन्मद्वारा दिवसाभिमानी देवताको आपने सफल किया, वैसेही विवाहके समय मुझे कृतार्थ कीजिए । अतः भगवान्‌ने उसे कृतार्थ किया, यथा 'पुरी बिराजति राजति रजनी । रानी कहहिं बिलोकहु सजनी ॥ सुंदर बधुन्ह सासु लै सोईं । फनिकन्ह जनु सिर-मनि उर गोईं । ३५८।३-४।' (मा० त० वि०) । अथवा, श्रीरामचन्द्रजी समाधि-निशाके पति हैं यह समझ-कर रात्रि मिलने आई । (रा० प्र०) ।

(२) वस्तुतः यह कविकी कल्पनामात्र है । न रात्रि मिलने आई और न मिलना कहा ही गया । केवल उत्प्रेक्षा की गई है । मध्याह्नसमयमें अबीरसे आकाशपर अरुणाई छा गई और बहुत धूपसे धुआँभी छाया हुआ है जिससे ऐसा जान पड़ता था कि मानों संध्या होगई । कविने केवल संध्यासमान दृश्यको लक्षित करके उत्प्रेक्षा की है; किंतु टीकाकार महोदयोंने उसमें भावोंकी भावनाभी दर्शित की ।

टिप्पणी – २ 'देखि भानु जनु मन सकुचानी ।०' इति । (क) सूर्य्य हैं, इससे रात नहीं होसकती । सूर्य्यको देखकर रात्रि मनमें सकुचती हुई आई, इसीसे दिन नहीं रहसकता । दोनोंकी संधि है, इसीसे संध्याका रूपक करते हैं । (ख) 'बनी संध्या अनुमानी' का भाव कि संध्या नहीं है, दिन है, संध्याकी नाईं बनगई है । यदि साक्षात् संध्या होती तो 'संध्या भई' कहते । दिन, रात और संध्या तीन काल हैं, ये तीनों श्रीरामजन्ममें हाजिर हैं, यथा—'काल बिलोकत ईस रुख०' । (ग) 'तदपि' का भाव कि सूर्य्यके रहते रात्रि नहीं होती तथापि संध्याके अनुमान हुईं । (घ) सकुचानेका भाव कि सूर्य पुरुष हैं, रात्रि स्त्री है; अतः देखकर सकुचना कहा । सकुचकर चली नहीं गई, संध्याके अनुमान बन गई । [रात्रिका पति चन्द्रमा (निशापति) है, उसके लिये सूर्य्य पर-पुरुष है । अतः सकुचना उचित ही है] ।

नोट—२ नगरमें अबीर और अगरका धुआँ छाया हुआ है । यही उत्प्रेक्षाका विषय है । रात्रि जड़ है । उसे मिलनेके लिये दोपहरमें आनेको कहना कविकी कल्पना मात्र है । अतः यहां 'अनुक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा' है । रात्रिका संकोचवश संध्या बन जाना अहेतुको हेतु ठहराना 'असिद्धास्पदहेतूत्प्रेक्षा' है ।

पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि "अवधपुरीका बालरूप रामसे मिलनेका रूपक कवि बाँधना चाहते थे । पर रामजीसे पुरीका वियोग कदापि नहीं होता, यह सोचकर वे रूपक बदलते हैं ।"

"देखि भानु जनु मन सकुचानी ।०" इति । "अर्थात् रात्रि भानुकुलभानु श्रीरामको देखकर सकुची । किंतु सुर-नर-नागोंकी उत्सुकता देख रात्रिरूपा अवधपुरीभी दौड़ी पर वहाँ अपने सनातन संगीहीको देखकर

संकुचित हुई कि यह सर्वस्व धन तो मेरा ही है, मुझसे अलग नहीं। यह समझ समस्त अपने रात्रिरूपी रूपको न हटा सकी। जहाँ सूर्य्य है वहाँ रात्रि नहीं फबती, अतः उस समय सूर्यरूप रामबालके संयोगसे संध्याका अनुहार धारण करलिया"। "यहाँ अयोध्याका रूपक प्रथम रात्रिसे क्यों बाँधा और फिर रूपक बदल कर संध्याका अनुमान क्यों कराया? उत्तर—'राति (ददाति) सर्वं सुखं या सा रात्रिः।' अर्थात् रात्रि सब जीवोंको विश्राम देनेवाली है; वैसेही सब जीवोंकी विश्रामस्थली अयोध्याजीको समझकर प्रथम रात्रिसे रूपक दिया। रात्रिमें सुषुप्तावस्था होती है और श्रीअयोध्याजी सदा जाग्रत् अवस्थामें रहती हैं, रामकार्य्यसे समाहित चित्त है। अतः संध्याका रूपक बाँधा। जिस वेलामें मनुष्य भली भाँति श्रीरामजीका ध्यान करते हैं, उसे 'संध्या' कहते हैं। संध्यारूपा अयोध्यामें सदा श्रीसीतारामका ध्यान और जागरूकता रहती है। संध्या तीन हैं—सायं, मध्याह्न और प्रातः। यहाँ प्रातः संध्याका रूपक जानना चाहिये। क्योंकि आगे वेदध्वनि का वर्णन है; वेदपाठ सायंकालमें वर्जित है क्योंकि अनध्यायका समय है। वेदपाठ प्रभातहीमें सुशोभित है। पुनः, आगेकी चौपाई 'कौतुक देखि पतंग भुलाना०।' से संबंधभी मिलता है। यदि सायं-संध्याका रूपक रखते हैं तो सूर्य्यास्तके अनन्तर—'मंदिर मनि समूह जनु तारा' यह चौपाई घटित होगी, फिर 'कौतुक देखि पतंग भुलाना', इसको कैसे घटित करेंगे? सायंसन्ध्याके रूपकमें अनेक दूषण उपस्थित होते हैं।" (पं० रा० च० मिश्र)

☞ श्रीमिश्रजीके मतसे यहां प्रातः सन्ध्याका रूपक है। सायंसन्ध्याके पक्षमेंभी बहुत कुछ कहा जा सकता है। जन्म मध्याह्नमें हुआ और रात्रि दिनके बाद आती है, पीछेसे नहीं। यहां प्रत्यक्ष वेदध्वनि हो रही है; उसीपर पक्षियोंकी बोलीकी उत्प्रेक्षा की गई है। यदि सन्ध्याके अनुसार वेदध्वनिका रूपक किसी दूसरे शब्दपर किया जाता तो यह दोष आ सकता था। रहा 'कौतुक देखि पतंग भुलाना' इसको तो इस उत्प्रेक्षासे पृथक् ही मानना पड़ेगा क्योंकि मध्याह्न कालके सूर्य्य किसीभी सन्ध्याके वर्णनके अनुकूल नहीं हो सकते।

अगर धूप बहु जनु अँधिआरी। उड़ै अबीर मनहुँ अरुनारी ॥५॥
मंदिर मनि-समूह जनु तारा। नृप गृह कलस सो इंदु उदारा ॥६॥

शब्दार्थ—अगर = एक सुगंधयुक्त लकड़ी जिसको पूजनके समय जलाते हैं जिससे सुगंध उड़ती है। धूप = चंदन, गुग्गुल, राल, अगर आदिके जलानेसे जो धुआँ उठता है। अरुणारी = अरुणाई, ललाई, लाल रंग। अबीर = गुलाल। रंगीन बुकनी जिसे लोग होलीके दिनोंमें अपने इष्ट मित्रोंपर डालते हैं। यह प्रायः लाल रंगकी होती और सिंघाड़ेके आटेमें हलदी और चूना मिलाकर बनती है। अब आरारोट और विलायती बुकनियोंसे तैयार की जाती है।

अर्थ—अगरकी बहुतसी धूपका बहुतसा धुआँ (जो हुआ वही) मानों (संध्याके समयकासा अँधेरा है। जो अबीर उड़ रहा है वही मानों (संध्यासमयकी) अरुणाई है। ५। (समस्त) मंदिरोंके मणि-समूह मानों तारागण हैं। राजमहलका कलश ही उदार (पूर्ण) चन्द्रमा है। ६।

टिप्पणी—१ 'अगर धूप बहु जनु अँधियारी।०' इति। (क) अष्टगंधके आदिमें अगर है। अतएव 'अगर' शब्द प्रथम रखकर 'अगरधूप' से अष्टगंध धूप सूचित कर दिया है। नगर बड़ा भारी है। अगरकी धूप बहुत हुई, तब कुछ अंधकार संध्याकासा हुआ। (ख) 'उड़ै अबीर०' इति। अटारियाँ बहुत ऊँची हैं, महल कई कई खंडके हैं। ऊपरसे लोग अबीर छोड़ते हैं, वही दिशाओंकी ललाई है। संध्याकी ललाईकी उपमा (उत्प्रेक्षा) है इसीसे 'मनहुँ अरुनारी' कहते हैं। प्रथम अरुणता होती है तब तारागण देख पड़ते हैं, इसीसे प्रथम 'अँधियारी' कहकर तब तारागण कहते हैं।

२ 'मंदिर-मनि समूह जनु तारा ।०' इति । (क) ऊपर 'अवधपुरी सोहइ येहिं भाँती ।…' में अवधकी शोभा कहकर रात्रिकी शोभा कही। रात्रिकी शोभा चन्द्रमा और तारागणसे है; यथा, 'ससिसमाज मिलि मनहु सुराती ।' इसीसे रात्रिकी शोभा कहनेमें चन्द्रमा और तारागणका वर्णन किया। मंदिर बहुत ऊँचे हैं, मंदिरोंमें ऊपर जो मणि लगे हैं वे तारागण हैं। (ख) 'इंदु उदारा' का भाव कि नवमी तिथिका चन्द्र खंडित होता है। 'उदार' कहकर पूर्णचन्द्र सूचित किया। पूर्णचन्द्रकी उपमासे जनाया कि कलश बहुत ऊँचा है; यथा 'धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहुँ रबि ससि दुति निंदत।' पूर्णमासी पूर्णतिथि है, उसीमें पूर्णचन्द्र होता है। पूर्णचन्द्रकी उपमा देकर जनाया कि राजाका महल पूर्ण (मासी) है और महलका पूर्ण कलश पूर्णचन्द्र है। पुनः, (ग) 'नृपगृह कलस सो इंदु उदारा' कहनेका भाव कि राजाके गृहमें बहुत कलश हैं, इनमेंसे जो उदार अर्थात् जो सबसे बड़ा भारी ('उदारो दातृ महतः') कलश है वही पूर्णचन्द्र है। (घ) पूर्णिमाको संध्याहीमें चन्द्रोदय होता है, इसीसे संध्याके रूपकमें पूर्णचन्द्र वर्णन किया गया।

नोट—१ पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि "अरुणोदयमें बड़ेही तारे दिखाई देते हैं, छोटे नहीं, ऐसेही छोटे मुक्ता आदि रत्न नहीं दिखाई देते, किन्तु मणिसमूहही बड़े तारागण दिखाई देते हैं। राजभवनके कलशको उदार चंद्रमा कहा। जो अपना सर्वस्व देनेको उद्यत हो उसे 'उदार' कहते हैं। यहां चन्द्रमा अपना सर्वस्व सूर्य्य के लिये देनेको उद्यत है।"—[कलशके संबंधसे यहां 'उदार' से पूर्णका बोध होगा यद्यपि पूर्णिमा नहीं है। व', उदार = श्रेष्ठ उत्तम (प्र० सं)]

भवन बेद धुनि अति मृदु बानी । जनु खग मुखर समय जनु सानी ॥७॥
कौतुक देखि पतंग भुलाना । एक मास तेइं जात न जाना ॥८॥

शब्दार्थ सानी = मिली हुई। मुखर = शब्द। पतंग = सूर्य। तेइं = उसने।

अर्थ—राजभवनमें अत्यन्त कोमल वाणीसे (जो) वेद-ध्वनि हो रही है (वही) मानों समयमें मिली हुई (अर्थात् समयानुकूल; संध्यासमयकीसी। संध्यासमयमें बहुतपत्ती एक संग बोलते हैं, बड़ा शब्द होता है। वैसेही यहां बहुतसे ब्राह्मण मिलकर वेद-ध्वनि कर रहे हैं। अतः कहा कि 'समय जनु सानी') पक्षियोंकी वाणी (अर्थात् चहचहाहट) है। ७। (यह) कौतुक देखकर सूर्य्य (भी) भुलावेमें पड़गए वा भूलगए अर्थात् उनको अपनी सुधबुध न रहगई। (इसीसे) उनको एक मासका व्यतीत होजाना न जान पड़ा। ८।

नोट—'भवन बेद धुनि…' इति। संध्यासमय बहुतसे पत्ती एकसाथ बोलते हैं जिससे बड़ा शब्द होता है वैसेही बहुत ब्राह्मण मिलकर, वेद पढ़ते हैं। यहां अगणित ब्राह्मणोंके मिलकर वेदध्वनि करनेसे जो शब्द हो रहा है उसकी उत्प्रेक्षा पक्षियोंकी संध्यासमयानुकूल सुहावनी बोलीसे की गई है। वेदपाठ अत्यन्त मृदु वाणीसे हो रहा है, इसीसे पक्षियोंकी वाणीकी उपमा दीगई। पक्षियोंकी वाणी अति मृदु होती है। (पं० रामकुमार)। पक्षियोंके शब्दका अर्थ नहीं समझ पड़ता, पर उनकी बोली प्रिय लगती है, जैसे वेदकी ऋचाओंका उच्चारण अर्थ न जाननेपरभी कैसा भला लगता है। (श्रीजानकीशरणजी)।
२—सन्तउन्मनीटीकाकार 'समय जनु सानी' मेंके 'जनु' का अर्थ 'उद्भव' कहते हैं। अर्थात् समयके उद्भवसे सनी हुई खगरागिनीसी जान पड़ती है। भाव यह कि इस समय जो आनंद उमड़ रहा है, जो सुख उत्पन्न हुआ है, उस समय-जन्य सुखसे सनी हुई पक्षियोंकी बोली है। ऊपर जो अर्थमें लिखा गया वह पं० रामकुमारजीके मतानुसार अर्थ है। पांडेजी 'समय सुख सानी' पाठ देते हैं और अर्थ करते हैं कि 'जैसे पत्ती बसेरेमें आके सुखसानी वाणी बोली बोलते हैं।'

टिप्पणी—१ (क) पत्तीगण संध्या समय सघन वृत्तमें बोलते हैं। यहां राजाका भवन कल्पवृत्त है, जहाँ चारों भाई अर्थ, धर्म, काम और मोत्तरूप विराजते हैं। यथा 'जनु पाये महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि। ३२५।' (ख) इस प्रसंगमें आठ बार उपमा (उत्प्रेक्षा) कही गई—'प्रभुहि मिलन आई जनु राती', 'देखि भानु जनु मन सकुचानी', 'अगरधूप बहु जनु अँधियारी', 'उड़ै अबीर मनहु अरुनारी', 'मंदिर-मनि-समूह जनु तारा', 'नृपगृह-कलस सो इंदु उदारा', 'जनु खगमुखर' और 'समय जनु सानी'। आठ बार कहकर आठ प्रकारकी लुप्तोपमा यहां जनाई। [यह पं० रामकुमारजीका मत है। परंतु लाला भगवानदीन एवं पं० महावीरप्रसाद मालवीयके मतानुसार 'जनु', 'मनहु', आदि शब्द उत्प्रेक्षा अलंकारमें होते हैं। अर्धाली ५,६,७ में अगरधूप, अबीर, मंदिरमें जड़ेहुए मणिसमूह, महलके शिखरका कलश और घरमेंकी वेदध्वनि उत्प्रेक्षाके विषय प्रथम कहे गए तब उत्प्रेक्षा की गई। अतएव इनमें 'उक्त-विषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।]

२ 'कौतुक देखि पतंग भुलाना' इति। कौतुक एक तो जो कुतूहल हो रहा है वह। दूसरा कौतुक यह कि सूर्य्यने रात्रि कभी नहीं देखी थी सो रामजन्मोत्सवमें देख ली—यह भाव दरसानेके लिये प्रथम रात्रिका वर्णन करके तब 'कौतुक देखि पतंग भुलाना' कहते हैं।

नोट—बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "यहां 'पतंग' नाम सहेतुक है कि बड़े उड़ने-चलने-वाले थे सोभी श्रीरामजन्ममहोत्सव देखकर अपने चलनेकी मर्यादाही भूल गए, तब भला और लोगोंको यदि तन-मन-धनकी विस्मृति होगई तो आश्चर्य क्या? सूर्य्यका रथ हमेशा पुरीके ऊपर जब मध्याह्नमें आता है, तब घड़ी भर थम जाता है। सूर्य्यको बस यही बोध रहा (कि इतनी ही देर ठहरे)। हमेशा जब अन्य समय रामोत्सव होता है तब सूर्य्य मनुष्यरूप धरकर पृथ्वीपर उतर आते हैं और मुख्यरूपसे संसारका कार्य्य मर्यादापूर्वक वैसेही होता रहता है। पर इस समय रथसमेत थम गए। यहाँ देह धरकर नहीं आए, क्योंकि इस कुलके आदि-पुरुषा हैं, कपट वेषसे आते तो प्रेममें कहीं असली रूप प्रकट हो जाता जिससे भगवान्‌का अवतार प्रकट हो जाता तब रावण बध न होता। दूसरे, आकाशसे उत्सवका दर्शन अधिक अच्छा हो रहा है।"

दोहा—मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ।
रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ ॥१६५॥

अर्थ—(सूर्य्य एक मास व्यतीत होना न जान पाए इसीसे) महीने दिन (अर्थात् ३० दिन) का एक दिन हो गया। इस मर्म (भेद, रहस्य) को कोई नहीं जानता। सूर्य्य अपने रथ सहित ठहरे रह गए (तब) रात कैसे होती?। १६५।

टिप्पणी—१ 'मास दिवस कर दिवस भा०' अर्थात् महीना भर नवमीहीका दिन बना रह गया। २ 'रथ समेत रबि थाकेउ' अर्थात् सूर्य्यके घोड़े, सारथी, वेदोंके पाठ करनेवाले और जितने सूर्य्यके साथ रहनेवाले थे वे सब 'थाके' अर्थात् ठहर गए। थाकेउ = ठहर गए, यह बंगाल प्रान्तकी भाषा है। [पुनः, 'रथ समेत' का भाव कि रथी सूर्य्य, घोड़े और सारथी अरुण तीनोंही आनंदमें निमग्न थे। एककोभी चेत होता तो रथ चलता।] और प्रसिद्ध अर्थ यह है कि जन्मोत्सवकी शोभा देखकर सूर्य्य थक गए (अर्थात् शिथिल होगए)। जब महीने भरका दिन होगया तो महीनेभर संध्याही बनी रह गई। तात्पर्य कि न किसीने भोजन किया, न शयन और न और ही कोई नित्यके कृत्य किये, सारा दिन जन्मोत्सव करतेही व्यतीत होगया। ३—'मरम न जानै कोइ' इति। भाव कि जब सूर्य्यही 'कौतुक देखि भुलाना', जो 'दिनकर' हैं, दिनके करनेवाले हैं, जब उन्हींने मर्म न जाना तब और कौन जान पाता? इसीसे प्रथम सूर्य्यका भुलाना

कहकर तब अन्य सबका न जानना कहा। ४—'निसा कवन बिधि होइ' इति। भाव कि जब प्रभुको मिलने-के लिए रात्रि आई तो रात्रि होजानी चाहिये थी सो न हुई, क्योंकि 'रथ समेत रबि थाकेउ'

"मास दिवस कर दिवस भा" इति।

जिस राशिपर सूर्य्य रहते हैं-उसीपर चन्द्रमा अमावस्याको होता है। मेषके सूर्य्यके योगसे अमा-वस्याको अश्विनी चाहिये। अश्विनीसे पुनर्वसु सातवाँ है। अतएव अश्विनी अमावस्याको हो तो पुनर्वसु नवमीको नहीं पड़ सकता किंतु मघा पड़ेगा जो दशवाँ है। पुनर्वसु नवमीको तभी पड़ सकता है जब अमावस्याको पूर्वाभाद्रपदा हो; पर अमावस्याको पूर्वाभाद्रपदा होनेसे मेषके सूर्य्य नहीं हो सकते थे। और श्रीरामजन्मपर ये तीनों अर्थात् मेषके सूर्य्य, पुनर्वसु और शुक्ला नवमी पड़े, यह प्रामाणिक बात है।

इस असंगतिका मिलान किसीने इस प्रकारसे किया है कि "नवमीको मीनके दश अंशपर सूर्य्य थे। बीस दिन तक तो मीनहीके सूर्य्य और रहने चाहिये तब मेषके सूर्य्य आते हैं। मेषका दशवाँ अंश परम उच्च होता है, यह दशवें दिन पड़ना चाहिये। अब यह तो निश्चित और सर्वमान्य है ही कि पुनर्वसु और नवमी थी जिसके योगसे यह मानना पड़ेगा कि नवमीको मीनके सूर्य्य दशवें अंशपर थे और उसी दिन दोपहरसे मेषके दशवेंपर आगए। श्रीमद्गोस्वामीजीकी सम्मतिमें यह बात तबतक सम्भव नहीं जबतक सूर्य्यदेव एक मास तक वहां उपस्थित न रहे हों। इसी विचारसे कहा गया कि 'मास दिवस कर दिवस भा'।"

परन्तु इस उपर्युक्त कथनमें यह बाधा पड़ती है कि हम लोग जो प्रतिदिन सूर्य्यको उदय होकर अस्ताचलकी ओर जाते हुये देखते हैं यह उनकी अपनी निजकी गति नहीं है; किन्तु एक वायुमंडल है जो सूर्य्य, चन्द्र, तारागण आदिको पृथ्वीके ऊपर नीचे घुमाता रहता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जब वायुमंडल रुकेगा तभी सूर्य्यभी रुकेंगे और उनके साथही चन्द्र, तारागण आदिभी रुक जायेंगे। जब सब नक्षत्र और सूर्य्य दोनोंही रुक गए तब राशिका परिवर्तन कैसे संभव हो सकता है? जो राशि, नक्षत्र, आदि उस समय हैं वेही एक मास तक बने रह जायँगे। इसीका समर्थन प्रायः दूसरे ढंगसे श्रीमान् गौड़जीके आगेके लेखसे भी होता है।

☞यह पूर्ण परतम ब्रह्मके आविर्भावका समय है, उनकी अघटित घटना है, इसमें क्या आश्चर्य है? जो परमेश्वरको सर्वशक्तिमान न मानते हों उन्हींको आश्चर्य्य हो सकता है। रघुकुलमें आविर्भाव है। असंभवका संभव कर देना प्रभुके अवतारका द्योतक है। सूर्य्य परमानन्दमें मग्न हो गए। उन्हें स्वयं न जान पड़ा कि हमें यहां एक मास होगया।

'मरम न जानै कोइ' इति।

जो ऐसे तीन नक्षत्रोंको एकत्र कर सकता है जिनका एकत्र होना असंभव है, उसकी लीलाको कौन समझ सकता है?—'सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। २।१२७' महर्षियोंने अपनी-अपनी रामायणोंमें इन नक्षत्रोंके नाम दिये हैं। पर पूज्यपाद गोस्वामीजीने 'सकल भये अनुकूल', 'पुनीत' और 'सुभ' कहकर छोड़ दिया था। यहां 'मास दिवस कर दिवस भा" इस अघटित घटनाको लिखकर उन्होंने अन्य ग्रन्थोक्त असंभव ग्रहादिके योगोंका संभव होना जना दिया।

श्री नंगे परमहंसजी 'मास दिवस' का "३६० घंटे" का एक दिन" ऐसा अर्थ लिखते हैं। इसमें "दिवस' से केवल दिन (रात नहीं) का अर्थ लिया गया है और दिनका साधारण मान १२ घंटा होना है। इस तरह मास दिवसमें ३६० घंटे हुए।

'मास दिवस' शब्द कई स्थलोंपर आया है। सर्वत्र इसका अर्थ सभी टीकाकारोंने 'एक मास', 'तीस

दिन' ही किया है और परमहंसजीनेभी 'मास दिवस तहँ रहेउ खरारी । ४।६।७।' और 'मास दिवस महुँ नाथ न आवा । ५।२७।' में 'महीनाभर' और 'एक माह' अर्थ लिखा है।

जब किसीने न जाना तो कविने कैसे जाना ? उन्हीं सूत्रधर प्रभुकी कृपासे। पहले ही कह चुके हैं—'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी।' अतः कवि जान गए। बड़ा दिन होनेसे किसीका मन क्यों न घबड़ाया, क्योंकि दुख-सुखका अनुभव करनेवाला मन है; यथा 'बिनु मन तन दुख-सुख सुधि केही।' और मनके प्रेरक श्रीरामजी हैं; यथा 'उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन'। पुनः, श्रीरामजन्मोत्सवके कौतुकमें सूर्य्यदेव भूल गए थे। उनकी भूलको श्रीरामजीको सँभालना पड़ा, क्योंकि उन्हींके उत्सवमें भूले थे। अतः किसीका मन नहीं घबड़ाया और न किसीको मर्म जान पड़ा। (नगे परमहंसजी)

श्रीरामदास गौड़जी—कालका मान "देश" के विविध पिंडोंकी सापेक्ष गतिपर अवलम्बित है। इस वैवस्वत ब्रह्मांडमें भगवान् दिवाकरही इसके नियामक हैं। यदि उनकी गति रुक जाय या घट जाय तो उसी निष्पत्तिसे पृथ्वी, चन्द्रमा, मंगल, गुरु आदि सभी ग्रहोपग्रहोंकी गतिभी सापेक्ष रीतिसे रुक जाय या घट जाय। अतः जब कभी परात्पर अवतरित होते हैं, भुवन-भास्कर रुक जाते हैं और अखिल ब्रह्माडोंके नियामककी अद्भुत लीला देखनेमें भूल जाते हैं। इनके साथही जगत् (चलनेवाला), संसार (संसरण करनेवाला), ग्रह, उपग्रह तो क्या, सारी सृष्टिकी गति रुक जाती है। यथा, जो अंकुर चौबीस घंटेमें निकलता वह महीनेभरमें निकलता है, जो भोजन दो पहरमें पचता वह साठ पहरमें पचता है, जितनी सांस चौबीस घंटेमें चलती उतनीही महीनेभरमें चलती है, जितना नाड़ीका थपकन चौबीस घंटोंमें होता महीनेभरमें होता है। घड़ीकी सुई जो बारह घंटोंमें घूम जाती वह पन्द्रह दिनोंमें घूम जाती है।

प्रकृतिके परमाणु परमाणुसे लेकर बड़ेसे बड़े पिंडकी गति सापेक्ष होती है। अतः ज्योतिषियोंके लियेभी, जो कालका मान सापेक्ष गतिसे लगाते हैं, सूर्यके रुकने या सुस्त हो जानेका हाल जानना असंभव है। इस विपर्ययका हाल कोई वैज्ञानिकभी नहीं जान सकता। इसीलिये 'मरमु न जानइ कोइ'। 'पतंग' (पतं + गम्) इसीलिये कहा कि गिरने वा बैठनेके लिये (अस्त होनेके लिये) चलता है। सो वही पतंग अपना अस्त होना भूल गया। 'पतंग' का प्रयोग साभिप्राय है।

विज्ञानकी अधूरी शिक्षा होनेके कारण यह बातें कम लोग जानते हैं कि जैसे पृथ्वी चलती है वैसेही सूर्यभी बड़े वेगसे चलता है। जिस दिशाको सूर्य चलता है, उसीकी गतिके अनुसार बढ़ती हुई पृथ्वी उसका परिक्रमण करती है। उसी तरह तेहरी चालसे बढ़ते हुए चन्द्रमा पृथ्वीका परिक्रमण करता है। यदि सूर्यकी गति घटे तो अपेक्षाकृत सबका वेग घटेगा, नहीं तो तुरन्तही सारा ब्रह्माण्ड छिन्न-भिन्न हो जायगा। यह पिंडोंकी प्रत्यक्ष गतिका वर्णन है। इन पिंडोंके अभिमानी देवता भगवान् भास्कर, भगवती धरित्री, भगवान् चन्द्रमा अपनी अपनी सापेक्ष गतिके नियामक हैं, यह हमारा हिन्दूशास्त्र कहता है। ऊपर जो 'मरमु न जानइ कोइ' की हमने व्याख्या की है वह आज पर्य्यन्तके विज्ञानसे सिद्ध व्याख्या है। आजकल हमलोगोंकी उलटी बुद्धि आसुर शास्त्रोंका अधिक प्रमाण मानती है। इसलिये मैं निःसंकोच कह सकता हूँ कि अभिनव शुक्राचार्य जर्मनीके प्रोफ़ेसर ऐन्स्टैन (Einstein) का सापेक्षवाद (Theory of Relativity) मेरी उपर्युक्त व्याख्याका समर्थक है। यह व्याख्या मैंने नये जर्मन सापेक्षवादके प्रकाशित होनेके कई वर्ष पहले की थी। कालकी सापेक्षता 'वैज्ञानिक अद्वैतवाद' में भी दिखाई गई है। सापेक्षवाद भारतवर्षके लिये कोई नयी चीज नहीं है।

प्रोफ़े० दीनजी—हमारे विचारसे 'मास दिवस कर दिवस भा' इससे यह लक्षित कराया गया है कि जब श्रीरामजीका जन्म हुआ उस समय 'अधिक चैत्र मास' था। इस लिये अशुद्ध चैत्रमें कोई शुभ कृत्य

नहीं हुआ। एक मास बाद जब अशुद्ध चैत्र बीत गया तब कृत्य किये गए। अधिक मास शुद्धमासके बीचमें रहता है। चैत्र अधिक होनेसे दोनों मास इस प्रकार रहेंगे—शुद्ध चैत्र कृष्ण+अशुद्ध चैत्र शुक्ल+अशुद्ध चैत्र कृष्ण+शुद्ध चैत्र शुक्ल। अधिक मासकी जिस तिथिको सन्तानोत्पत्ति होती है शुद्धकी वही तिथि मानी जाती है। सुतराम् इस प्रकार श्रीरामजीका जन्म अशुद्ध चैत्र शुक्ल ६ को हुआ और उनकी जन्म-तिथिका मान हुआ शुद्ध चैत्र शुक्ल ६ से। इस प्रकार पूरा एक मास बट्टे खातेमें चला गया और अशुद्ध चैत्र शुक्ल ६ से शुद्ध शुक्ल ६ तक एक मासकी गणना एक दिन हुई। इस अनुमानमें सत्यता कहांतक है वह हम नहीं बता सकते। ('आज' से उद्धृत। श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्र)।

पं० श्रीशुकदेवलालजी—"श्रीराम-होरिलके जन्ममहोत्सवपर जो परमानंद हुआ उसी कारणसे अब-तक ग्राम और नगरवासी चैत्रको, होरिल महोत्सव संबंधसे, महापावन जानकर अपने अपने घरोंके कूड़े-कर्कटको फाल्गुनके अंतमें नगरके बाहर जलाकर उड़ा देते हैं और नवीन लेपन करके घरोंको शुद्ध करते हैं, नाना प्रकारके पक्वान्न मिष्टान्न बनाते हैं, अबीर गुलाल अरगजादि परस्पर छिड़कते हैं, नृत्य वादित्र करते हैं, नवीन वस्त्राभूषण स्रक गंध धारण करते हैं और महामंगल परम पावन जानकर मृतकों के शोकको विसर्जन करते हैं, आनन्द मनाते हैं। परन्तु अज्ञानतावश उसको होरी, होरी कहते हैं। होरी पद होरिलका अपभ्रंश है और होरिल झड़ूले बालको कहते हैं।"

प. प. प्र.—यह रामजन्मका दिवस है। 'सुनि सिसुरुदन परमप्रिय बानी।···।१९३।१।' से दो० १६५ तक गिननेसे ३० पंक्तियाँ होती हैं। मासके दिनभी तीस होते हैं। इस दोहेके साथ प्रथम दिन पूरा हुआ। इस हिसाबसे आगे गणना कीजिए तो 'नामकरन कर अवसर जानी।···' बारहवीं पंक्तिमें पड़ता है। इस तरह नामकरणका १२ वें दिन होना सूचित किया। शास्त्रानुसार पुत्रका नामकरण १२ वें दिन ही विहित है। ☞ इसी तरह 'रामचरितमानस एहि नामा' श्रीरामचरितमानसका नामकरण भी चरितके प्रकाशमें आनेसे अर्थात् 'जेहि दिन रामजनम श्रुति गावहिं।··· ।३४।६।' से १२ वीं पंक्तिमें हुआ। चरित्र पुत्र है। ☞ कन्याका नामकरण १३ वें दिन होता है। यह भी मानसकी परम अद्‌भुत संकेत कलामें देख लीजिये। कविता-सरिताका जन्म 'चली सुभग कविता सरिता सो।···।३९।११।' में कहा और उसका नामकरण १३ वें शब्दपर कहा है। शब्द-संख्यासे 'नाम' १३ वाँ शब्द पड़ता है—'चली १ सुभग २ कविता ३ सरिता ४ सो ५। राम ६ बिमल ७ जस ८ जल ९ भरिता १० सो ११। सरजू १२ नाम १३··· ।'

यह रहस्य काहू नहिं जाना। दिनमनि चले करत गुन गाना॥ १॥
देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥ २॥

शब्दार्थ—दिनमनि=दिनके प्रकाशक=सूर्य्य। रहस्य=वह गुप्त विषय जिसका तत्व सबको समझमें न आ सके=गुप्त चरित।

अर्थ—यह गुप्त चरित्र किसीनेभी न जाना। सूर्य्य गुणगान करते हुए चले। १। सुर, मुनि और नाग-देव महोत्सव देखकर अपने अपने भाग्यकी बड़ाई करते हुए अपने अपने घरको चले। २।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि 'मरमु न जानै कोइ' और अब यहां फिर कहते हैं कि 'यह रहस्य काहू नहिं जाना'। इससे पुनरुक्ति दोष आता है? नहीं; पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि यहाँ दो बातें कही गई हैं। एक तो यह कि "मास दिवस कर दिवस भा' यह मर्म किसीने न जाना। दूसरी यह कि 'रथ समेत रबि थाकेउ' यह रहस्यभी किसीने न जाना। दो बातोंके लिये दो बार कहा। (ख) 'दिनमणि' का भाव कि सूर्यसे दिनका प्रकाश होता है जब वे यहां मासभर थँभे रहे तब मासभरके दिनोंका प्रकाश (अनुभव) न हुआ। अर्थात् न जाने गए। जब चले तब 'दिनमनि' नाम देकर जनाते हैं कि सब दिन न्यारे-न्यारे जाने

गए। [बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "दिनमणि नाम तो रविका उलटा है; क्योंकि रविका मणि दिन है न कि दिनका मणि रवि। जो जिससे उत्पन्न वा प्रगट होता है वह उसका मणि कहलाता है। जैसे, अहिमणि, गजमणि। 'दिनमणि' नाम सहेतुक है। क्योंकि पुत्रके नामसे पिताका नाम होता है और कहीं पिताके नामसे पुत्रका नाम होता है। सो आजका दिन ऐसाही है कि पुत्रके नामसे पिताका नाम होगा। जिस दिन श्रीरामजन्म हुआ वह दिन धन्य है।"] (ग) 'चले करत गुनगाना' इति। पूर्व 'रवि थाकेउ' कहा था, अतः अब उनका चलना कहते हैं। श्रीरामगुणगान करते चले; यथा 'करहिं राम कल कीरति गाना।'

२ (क) 'देखि महोत्सव सुर मुनि-नागा।' इति। प्रथम सूर्यका चलना कहकर तब इनका चलना कहा। तात्पर्य्य कि सूर्यके चलनेसे काल बदला तब सबको चलनेकी इच्छा हुई। (ख) 'चले भवन बरनत निज भागा' इति। तात्पर्य्य कि श्रीरामजन्मोत्सव बड़े भाग्यसे मिलता है, इसीसे देवता, मुनि, नाग प्रत्येक रामनवमीको अयोध्याजीमें आकर जन्मोत्सव रचते हैं। 'असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं पद-पंकज सेवा॥ जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल कीरति गाना।' सब श्रीरामजन्मोत्सव देखनेसे अपने भाग्य मानते हैं।

औरो एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥ ३॥
काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहि कोऊ॥ ४॥
परमानंद प्रेमसुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥ ५॥

अर्थ--हे गिरिजे! तुम्हारी बुद्धि अत्यन्त दृढ़ है (इससे) मैं एक औरभी रहस्य अर्थात् अपनी चोरी तुमसे कहता हूँ, सुनो। ३। कागभुशुंडी और हम, दोनों (प्राणी) साथ-साथ मनुष्यरूप धारण किये हुये जिसमें कोई जाने नहीं, परमानंद, प्रेम और सुखसे फूले (अर्थात् पूर्ण) और मनमें मग्न अपनेको भूलेहुये गलियोंमें फिरते रहे। ४-५।

टिप्पणी--१ "औरो एक कहौं निज चोरी" इति। (क) 'औरो एक' का भाव कि 'मास दिवस कर दिवस भा···' इत्यादि गुप्त रहस्य मैंने तुमसे कहा। अब और भी एक गुप्त बात तुमसे कहता हूँ, जो अपने सम्बन्धकी है। अर्थात् अपनी गुप्त बात कहता हूँ। (ख) 'निज चोरी' पदसे जनाया कि श्रीपार्वतीजी साथमें न थीं, शिवजी इनसे चुराके मनुजरूपसे भगवानके दर्शनार्थ गए थे। [गोस्वामीजीका काव्यकौशल देखिए। चोर प्रायः रातमेंही चोरी करते हैं। इसीसे शंकरजीकी चोरीकी बातभी सूर्यके चले जानेपर कही। सूर्य दिनमें चोरी करते हैं, यथा 'बरषत हरषत लोग सब करषत लखै न कोइ। तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु सो होइ। दो० ५०८।']

नोट--१ 'औरो···निज चोरी' का दूसरा भाव कि सूर्य्यादिकी चोरी तो सुनाईही कि उन्होंने 'मासदिवसकी' चोरी की, अब अपनीभी चोरी सुनाता हूँ कि तुमसेभी छिपाके मैं वहाँ किस वेषसे गया था। अतएव 'औरो एक' और 'निज चोरी' पद दिये। चोरी = चुराई व छिपाई हुई बात, गुप्त बात। पार्वतीजीने अपने प्रश्नोंके अन्तमें यह प्रार्थना की थी कि 'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयालु राखहु जनि गोई। १११।४।' यहाँ उसी प्रश्नका उत्तर देते हैं।

२ पं० रामचरणमिश्रजी कहते हैं कि 'सूर्य्यने समयकी चोरी की, समय सूर्य्यहीका स्वरूप है। यह सूर्य्यकी 'निज' अर्थात् अपने रूपकी चोरी हमने तुमसे कही, अब दूसरी हमारी 'निज' चोरी सुनो। अतएव 'औरो एक' कहा। शंकरजीने सोचा कि जब रामजीके पुरुषाही चोरी किये हुये उत्सवमें सम्मिलित हैं तो हमभी चोरीही द्वारा क्यों न सम्मिलित हों।

३☞ "रामावतार गुप्तही अधिक है। इसीसे इन चोरियोंका हास्यरस और आनंद विचारणीय है"—(लमगोड़ाजी)।

४ "सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी" इति। (क) 'अति दृढ़ मति' के संबंधसे यहाँ 'गिरिजा' नाम दिया। भाव कि श्रीरामजीके संबंधमें संशय करनेसे तुमने अति कष्ट झेले, फिरभी तुमने प्रश्न किया और श्रीरामचरित सुने बिना तुमसे न रहा गया। जब तुम इतनी दृढ़ भक्ता हो तब तो तुम अवश्य किसी अनधिकारीसे यह रहस्य न कहोगी; अतएव तुमसे कहता हूँ। पर्वत अचल है, उसकी कन्या क्यों न दृढ़ मति हो ? (पं०)। पुनः, (ख) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "आजतक यह बात चुराये रहे, न कही। क्योंकि तुमको साथ लेजाते तो तुम स्त्रियोंके संग होकर भीतर चली जातीं और रामरूप देख प्रेमवश तुम्हारा कपट नारिवेष छूट जाता तो भेद खुल जाता कि राम ब्रह्म हैं कि जिनके दर्शनको उमाजी आई हैं और प्रभु रावणवधार्थ गुप्तरूपसे अवतरे हैं, वधमें बाधा पड़ती। पुनः तुमसे इस लिये न कही कि तुमको सुनतेही रोष आ जाता, तुम कहतीं कि बाल-उत्सवमें तो स्त्रियोंका बड़ा काम रहता है, तुम पुरुष होते हुए गए हमको न ले गए। तुम्हारा मन हमसे व्यग्र हो जाता जैसा कि स्वाभाविक है। पर, तुम 'गिरजा' हो, तुम्हारी बुद्धि मेरी भक्तिमें अति दृढ़ है, अतः तुमसे अब कहता हूँ।" पुनः, भाव कि—(ग) यह चरित बिना श्रीरामकृपाके कोई जान नहीं सकता; यथा 'यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जा पर होई।' श्रोता 'सुमति' हो तब उससे कहना चाहिये। तुम 'अति दृढ़ मति' वाली हो, इससे तुमसे कहता हूँ। (पं० रामकुमारजी)। पुनः, (घ) 'अति दृढ़ मति' अर्थात् तुम्हारी बुद्धि श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें तथा उनकी कथामें अत्यन्त दृढ़ है।

नोट—५ (क) "कागभुसुंडि संग" का भाव कि श्रीभुशुण्डिजीपर श्रीरामजीकी बड़ी कृपा है। वे इस चरितके जानकार हैं; यथा 'जबजब राम मनुज तनु धरहीं। भगतहेतु लीला बहु करहीं॥ तबतब अवध-पुरी मैं जाऊँ। बालचरित बिलोकि हरषाऊँ॥ जनम महोत्सव देखौं जाई। बरष पाँच तहँ रहउँ लोभाई। ७।७५।" जानकारके संगमें अधिक सुख होता है। (पं० रामकुमारजी) (ख) "कागभुसुंडि संग हम दोऊ' का अर्थ इस प्रकारभी करते हैं कि "कागभुशुंडीजीके साथ हम थे। दोनों"। भुशुण्डीजीके संगके और कारण येभी हैं कि—वे आपके शिष्य हैं, उन्होंने आपसेही रामचरित पाया है। दूसरे आप दोनों बालरूप रामके अनन्य उपासक हैं; यथा 'बंदउँ बालरूप सोइ रामू।' (शिवजी), 'इष्टदेव मम बालक रामा।' (भुशुण्डीजी)। उत्सवका पूर्णानंद तभी मिलता है जब भेदी साथ हो और ये भेदी हैं ही। ☞ गीतावलीमें नाम-करण-संस्कारके पश्चात् श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डीजीका वर्णन आया है जो इस प्रसंगकी जोड़का है। यथा 'अवध आजु आगमी एक आयो। करतल निरखि कहत सब गुनगन बहुतन परिचौ पायो। बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुनायो। सँग सिसु सिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो॥ पाँय पखारि पूजि दियो आसन असन बसन पहिरायो। मेले चरन चारु चारों सुत माथे हाथ दिवायो॥ नखसिख बाल बिलोकि बिप्रतनु पुलक नयन जल छायो। लै लै गोद कमल कर निरखत उर प्रमोद अनमायो॥ जन्मप्रसंग कहेउ कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो। राम भरत रिपुदवन लखनको जय सुख सुजस सुनायो॥ तुलसीदास रनिवास रहसबस भयो सबको मन भायो। सनमान्यो महिदेव असीसत सानँद सदन सिधायो॥ गी० १.१४।'

६ 'कागभुसुंडि संग' इति। यहाँ श्रीकाकभुशुंडीजी का नाम प्रथम देकर उनको प्रधान रक्खा और अपनेको गौण। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि शिवजीने कहा है कि मैं तुमको वह कथा सुनाता हूँ जो भुशुण्डीजीने गरुड़जी को सुनाई थी; यथा 'कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़। १२०।', 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई। जो भुसुंडि खगपतिहि सुनाई। ७।५२।' और फिर श्रीपार्वतीजीके

पूछनेपर कि आपने इनका सम्वाद कब और कहाँ तथा कैसे सुना उन्होंने उत्तरमें कहा है कि "मैं जिमि कथा सुनी भवमोचनि। सो प्रसंग सुनु सुमुखि सुलोचनि॥ ७।५६।१।'''तब कछु काल मराल तनु धरि तहँ कीन्ह निवास। सादर सुनि रघुपति-गुन पुनि आयउँ कैलास।५७।" इस प्रकार शिवजीने श्रीभुशुंडीजीसे कथाका सुनना बताया है। अतः प्रथम कहकर उनको सम्मान देना योग्यही है। यहभी भगवान् शङ्करकी शालीनता और निर्ममता, अमानता 'सबहि मानप्रद आपु अमानी।' का नमूना है, उदाहरण है।

७ 'मनुजरूप' इति। नररूपसे क्यों गए? यह प्रश्न उठाकर लोगोंने उसका उत्तर यों दिया है—(१) प्रसिद्ध तनसे वह सुख न मिलता। (२) देवरूपसे प्रत्यक्ष जानेसे प्रभुका ऐश्वर्य्य प्रगट होजाता—'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ। ४८।' (३) जिस देश जिस समाजमें जाकर वहाँका पूर्ण रसास्वाद लेना हो, वहाँ उसी समाजके अनुकूल तद्रूप होकर सम्मिलित होनेसे वह रस मिल सकता है। (४) दोनोंके परम उपास्य श्रीरामचन्द्रजीहीने मनुष्य-शरीर धारण किया, अतएव इन्होंनेभी मनुष्यरूप धारण किया और जूठन और दर्शनका योग तो आज है ही नहीं; इसलिये पुरवासियों के साथ मिलकर उत्सवका आनंद लूटने लगे। (मा० म०)। (५) प्रेमरस चुरानेके लिये मनुजरूप धरकर गए वह प्रेमरस पाकर परमानंदसे फूलगए (पाँड़ेजी)। (६) मेरी समझमें तो इसका उत्तर गोस्वामीजीने स्वयं देदिया है कि 'जानइ नहिं कोई'। फिर बात यहभी है कि इस रूपसे सूतिकागृहतक पहुँच सकनेकी आशा है। वे ताकमें हैं कि कब और कैसे दर्शनानंद-दान मिले।

८ 'श्रीपार्वतीजीसे चुराकर क्यों गए?' - इसके कारण नोट ४ में लिखे गए हैं। एक कारण यह भी है कि स्त्रियोंका साथ होनेसे पूर्ण आनन्द न ले सकते। (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ 'परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं०' इति। (क) 'फिरहिं'=फिरते हैं; यह वर्तमान काल वाचक क्रिया है। कहना तो भूतकाल चाहिये था अर्थात् गलियोंमें फिरते रहे थे, सो न कहा। इसमें तात्पर्य्य यह है कि जैसा सुख रामजन्म देखनेसे हुआ वैसाही सुख वह चरित कहनेसे हुआ; यह भाव दरसानेके लिये वर्तमान क्रियाका प्रयोग किया गया। (ख) जो सुख सबको हुआ वही शिवजी और भुशुंडीजीको हुआ; यथा 'परमानंद पूरि मन राजा', 'ब्रह्मानंद मगन सब लोई' तथा यहाँ 'परमानंद प्रेम सुख फूले'। (ग) [पं० रामचरणमिश्रजी यह भाव कहते हैं कि 'योगिराज शंकरजीके हृदयका ब्रह्मानंदभी वहाँसे निकलकर साकार ब्रह्मके प्रेमके सुखसे फूला हुआ और मन भूला अर्थात् विचारको भूल (मन ज्ञान और विचारकोभी कहते हैं) आनंदमें डूबा अवधकी गलियोंमें फिर रहा है। जब ब्रह्मानंदही यहाँ मारा-मारा फिर रहा है तब ब्रह्मज्ञानियोंकी कौन कहे।" यह भाव इस अर्धालीको आगेके 'यह सुभ चरित जान पै सोई।'''' के साथ लेकर कहा गया है।]

नोट—६ 'बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले' इति। मनका व्यवहार संकल्प-विकल्प है, वह चंचल है। सो वह महोत्सवमें ऐसा मग्न होगया कि अपना स्वभावही भूल गया, जिससे प्रेममें सुधबुध न रह गई कि कहाँ किस ओर जा रहे हैं, इत्यादि। 'बीथिन्ह' में फिरनेके भाव ये कहे जाते हैं—(१) नगरमें सर्वत्र एक समान उत्सव हो रहा है। जैसे राजाके यहाँ उत्सव है वैसेही समस्त नगरमें है। इसीसे बीथियोंमें फिरते हैं। (पं० रा० कु०)। (२) पुरवासिनी स्त्रियाँ गलियोंमें होकर राजमंदिर और महलोंको जा रही हैं। और, महलकी दासियाँ एवं जो जो स्त्रियाँ दर्शन करके लौट रही हैं, वे परस्पर शिशुके रूप गुण कहती-सुनती चली आ रही हैं उनके श्रवणका आनंद गलियोंमेंही है। (मा० म०)। (३) घरघर बधावे बज रहे हैं, राजमार्गपर बड़ी भीड़ है कि कानसे लगकर कोई बोले तभी सुनाई दे, अन्यथा नहीं; यथा 'निकसत पैठत लोग परस्पर बोलत लगि-लगि कान। गी० १।१।' (४) दोनों अनन्य सेवक हैं। राजद्वारपर दान बट रहा है। यदि वहाँ जाते हैं तो अनन्य व्रतमें बट्टा लगता है क्योंकि प्रभुको छोड़ दूसरेके हाथ से दान कैसे लें?

और, वहाँ जाकर दान न लें तोभी प्रभुका अपमान ही है। महोत्सवका आनंद तो जैसा राजद्वारपर है वैसाही गलियोंमेंभी देख रहे हैं। गलियोंमें देख लेनेसे राजद्वारपर जानेकी आवश्यकताही न रही और अपने धर्मका निर्वाहभी होगया। अथवा (५) बीथिन्ह का अर्थ मार्ग, रास्ता, गली, सड़क सभी है। इस प्रकार यह शंकाही नहीं रह जाती। सभी ठौर आनंद लूटते थे। 'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिचबीचा' से स्पष्ट है कि 'बीथिन्ह' का अर्थ मार्ग, सड़क, गली, सभी है। गलियोंमें अरगजाका कीच हो और सड़कें अरगजासे न सींची गई हों, यह कब संभव है?

यह सुभ चरित जान पै सोई। कृपा राम कै जापर होई॥ ६॥
तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहिं मन भावा॥ ७॥
गज रथ तुरग हेम गो हीरा। दीन्हे नृप नाना बिधि चीरा॥ ८॥

अर्थ—पर यह शुभ चरित वही जानता है जिसपर श्रीरामजीकी कृपा होती है॥ ६॥ उस अवसर पर जो जिस प्रकार आया, राजाने उसको वही दिया जो उसके मनको भाया। अर्थात् मनभावता दान सबको दिया गया॥ ७॥ गज, रथ, घोड़े, सोना, गौ, हीरा और अनेक प्रकारके वस्त्र राजाने दिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'यह सुभ चरित' अर्थात् जिस चरितमें शिवजी और भुशुंडीजी मग्न रहे और अपनेको भूले हुए गलियोंमें फिरते रहे वह चरित श्रीरामकृपासेही जाननेको मिलता है, अन्यथा नहीं। ['यह सुभ चरित' से जनाया कि यह चरित मंगल-कल्याण-कारी है। यह चरित = 'जिस बातके लिये हम चोरी करने गए वह चरित'। (पां०)। = जिसको हम चोरीसे देखने गए वह श्रीरामजन्म-चरित। अथवा, महीने भरका एक दिन हो जाना और देवताओंका मनुजरूपसे उत्सव देखना इत्यादि शुभ चरित। (वै०)।] जो चरित वे किसीको न जनाया चाहें उसे कोई जान नहीं सकता। 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानै कोइ', 'रथ समेत रबि थाकेउ०।' 'यह रहस्य काहू नहिं जाना' और 'मनुजरूप जानै नहिं कोई'— ये सब चरित किसीको न जनाया क्योंकि जाननेसे ऐश्वर्य खुल जाता। शिवजी और भुशुंडीजी इत्यादि ऐश्वर्य्यके ज्ञाता हैं। इन्हींको प्रभुने जनाया है। जिस चरितमें सूर्य्य, शिव और भुशुंडीजी मग्न हुए, अपनेको भूल गए—उसका जानना और उस सुखका होना यह श्रीरामकृपासे है। (ख) 'जान पै सोई' का भाव कि जिसे प्राप्त हुआ वही जानता है और केवल जानता ही भर है, कह नहीं सकता; यथा 'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई।' [(ग) 'कृपा राम कै जापर होई'—भाव कि रहस्यका जानना केवल श्रीरामकृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं है। पुनः भाव कि अन्य पदार्थ अन्य साधनोंसे मिल सकते हैं पर यह नहीं मिल सकता। (रा० प्र०)]

२ 'तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा।०' इति। (क) अर्थात् देवता भिखारी बनकर आए,—'राम निछावर लेन हित देव हठि होत भिखारी। गी० १।६।' गंधर्व गायक बनकर आए, वेद बंदीरूपसे आए। इत्यादि। (ख) 'दीन्ह भूप०।'—भाव कि रामजन्ममें दान वर्णन किया; यथा 'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह। १९३।' इत्यादि। अब भरतादिक तीनों भाइयोंके जन्ममें दान कहते हैं कि 'दीन्ह भूप जा कहँ जोइ भावा'। ['दीन्ह भूप' से यह भी जनाया कि राजाने देवताओंको जान लिया। यथा 'भूमिदेव देव देखि कै नरदेव सुखारी।' इसीसे 'बोलि सचिव सेवक सखा पटधारि भंडारी' कहा कि 'देहु जाहि जोइ चाहिए सनमानि सँभारी।'''। गी० १।६। ११-१२।' पं० रामकुमारजीने जो लिखा है कि यह भरतादिके जन्मका दान है वह इससे कि याचकोंने 'चारों पुत्रोंके चिरजीवी होनेका आशीर्वाद दिया है।'] (ग) 'गज रथ तुरग०' इति। ऊपर जो कहा कि 'जोइ भावा' उसीका अर्थ यहां स्पष्ट करते हैं। गज और तुरंगके

बीचमें रथ कहकर जनाया कि गज-रथ दिये और तुरंगरथ दिये। हाथी या घोड़े जुते हुए रथ दिये (एवं हाथी और घोड़ेभी दिये)। इसीतरह गौको हेम और हीराके बीचमें देकर जनाया कि हेम और हीरा तो दिया ही और जो गौएँ दीं वे हेम और हीरासे अलंकृत थीं। यथा 'सब बिधि सकल अलंकृत कीन्ही। मुदित महिप महिदेवन्ह दीन्ही। ३३१।३।' गोदानका यही विधान है, न कि जैसा आजकल कि ।–) वा १।) में गोदान कराया जाता है। (घ) 'नाना बिधि चीरा' अर्थात् सूती, ऊनी, रेशमी, कौषेय इत्यादि बहुमूल्य कपड़े।

वे० भू० जीका मत है कि "श्रीरामजीका जातकर्म संस्कार आँगनमें हुआ। तत्पश्चात् राजपुत्र सूतिका-गृहमें भेजा गया। तदुपरान्त नालोच्छेदन हुआ और तभीसे जननाशौच लग गया। इसी कारण दूसरे और तीसरे दिन महारानी श्रीकैकेयी और श्रीसुमित्राजीके पुत्र होनेपर नान्दीमुखश्राद्ध, जातकर्म एवं दान मान आदि नहीं हो सकते थे और शास्त्रविरुद्ध दान उस धर्मयुगमें लेताही कौन! श्रीरामजीकी बरही हो जानेपर उसी दिन अन्य तीनों राजकुमारोंकाभी सूतक निवृत्त हो गया। यथा 'जनने जननं चेतत्स्यान्मरणे मरणं तथा। पूर्वशेषेण शुद्धिः स्यादुत्तराशौचवर्जितम्।' (माधवीये तथा वैष्णवधर्मसंहितायाम्)। सूतकके कारण बरहीके पूर्व भाइयोंकी निछावरें लोग न पा सके थे। इसीसे आज बरहीके उपलक्ष्यमें 'तेहि अवसर···भावा।'

दासकी समझमें 'तेहि अवसर' उसी दिन नवमीको सूर्यके चलनेपर तीनों भाइयोंका जातकर्म संस्कार समाप्त हुआ। उसी समय यह दान दिया गया। दोहा १९३ में शास्त्रीय प्रमाण लिखे जा चुके हैं जिनसे सिद्ध होता है कि दूसरे पुत्रके जन्मपर पहलेका जननाशौच बाधक नहीं होता। जातकर्म संस्कार किया जाना विधि है (यदि दूसरा पुत्र सूतकमें पैदा हो तो भी) और दान उसका एक अङ्ग है। और दासकी समझमें तो मानसकल्पमें तो चारों भाई एकही दिन हुए। इस दशामें तो दिनभर दान तो नालच्छेदनके पश्चात्‌भी हो सकता है। दोहा १९३ में देखिए।

दोहा—मन संतोषे सबन्हि के जहं तहं देहिं असीस। सकल तनय चिरजीवहु तुलसिदास के ईस ॥१९६॥

अर्थ—सबके मनमें संतोष है। जो जहाँ है वहींसे आशीर्वाद दे रहा है 'तुलसिदासके ईश (स्वामी) सब (चारों) पुत्र बहुत काल जीवें (दीर्घायु हों, चिरजीवी हों)।' १९६।

टिप्पणी—१ (क) 'मन संतोषे' क्योंकि सबने मनभावता दान पाया है, नहीं तो मन कभी नहीं भरता चाहे घर भलेही भर जाय। (ख) 'जहँ तहँ' अर्थात् साक्षात् (प्रत्यक्ष) में और परोक्षमें। (तथा जहँ तहँ = जहाँ-तहाँ = जो जहाँ है वहीं)। (ग) 'देहिं असीस'। क्या आसिष देते हैं यह उत्तरार्द्धमें ग्रंथकार स्वयं लिख रहे हैं—'सकल तनय चिरजीवहु०' (घ) 'सकल तनय चिरजीवहु' से सूचित हुआ कि सब भाई एकही समयमें जनमे हैं; यथा 'तेहि अवसर सुत तीनि प्रगट भए', 'जनमे एक संग सब भाई'। इसीसे धन पाकर सब भाइयोंको आशीर्वाद दे रहे हैं। [(ग) गीतावलीमें आशीर्वाद इस प्रकार है,—'असही दुसही मरहु मनहि मन बैरिन्ह बढ़हु बिषाद। नृप सुत चारि चारु चिरजीवहु संकर-गौरि-प्रसाद। गी० १।२।१७।' पर यह बधावे लिये हुए स्त्रियोंके आशीर्वाद हैं।]

नोट—१ ☞ 'तुलसिदास के ईस' इति। यह कविकी उक्ति है। उनका हृदय इस समय परमानंदमें मग्न है। वे इस महोत्सवके अवसरपर पुरवासियों एवं सभी दान लेनेवालोंके मुखोंसे अपना भविष्य दासत्व निश्चय करा लेना चाहते हैं, यह उनकी चतुरता है। कविका अपना भविष्य दूसरोंसे कहलाना 'भाविक' अलङ्कार है। 'तुलसिदास के ईस' यह वचन सबके मुखोंसे कहलाकर वे श्रीरामजीमें अपना स्वामी-

सेवक भाव पुष्ट करते हैं। पुनः, यह भी कह सकते हैं कि कवि इस महोत्सवको लिखते लिखते परमानंदमें स्वयं ऐसे मग्न होगए कि आपभी मनसे पुरवासियों और याचकोंमें जा मिले हैं. मंगन बनकर मँगतोंके साथ स्वयंभी आशीर्वाद देने लगे कि 'हे हमारे स्वामी! आप चिरजीवी हों!. पंजाबीजीका मत है कि याचकोंके साथ अपना नामभी देनेका भाव यह है कि आपने औरोंको 'जो जेहि भावा' अर्थात् उसका मनोवांछित पदार्थ दिया, मुझको भक्ति दीजिये; चारों भाई मुझे अपना अनन्यदास बना लें।

पं० रामचरणमिश्रजीका मत है कि "इस महान् उत्सवमें सुर-नर-नाग आदि सम्मिलित होकर आनन्दमें मग्न हैं। इस रसको वर्णन करते करते कविकाभी चिच्छक्तिरूप आत्मा वहीं उपस्थित हुआ। और, अन्य लोगोंकी दृष्टि बालभावहीकी है परंच कविपर भाव सेव्य-सेवकका आरूढ़ है। अतः कवि स्वामिभाव-दृष्टिसे ईश्वरता स्मरण करते हुए यहां कहते हैं—'तुलसिदास के ईश!' अथवा, कविने सोचा कि यह वात्सल्यरसका प्रकरण है, ऐसा न हो कि कहते कहते मेरा मनभी वात्सल्यरसमें डूबकर ईश्वरता भूल जाय। अतः अपने मनको सावधान करतेहुए ईश्वरताको स्मरण करते हैं।"

२ 'सकल तनय०' इति। यहां राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न नाम न कहकर 'सकल तनय चिरजीवहु' कहा क्योंकि अभी जन्म हुआ है, नामकरण अभी नहीं हुआ है, तब नाम कैसे लिखें?

३ इस दोहेसे जन्मोत्सवकी इति लगाई।

कछुक दिवस बीते येहिं भांती। जात न जानिय दिन अरु राती ॥ १ ॥
नाम-करन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी ॥ २ ॥
करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा ॥ ३ ॥

अर्थ—कुछ दिन इस प्रकार बीते। दिन रात बीतते जान नहीं पड़े ॥ १ ॥ नामकरणका अवसर जानकर राजाने ज्ञानी मुनि श्रीवसिष्ठजीको बुला भेजा ॥ २ ॥ उनकी पूजा करके राजा यों बोले—'हे मुनि! जो नाम आपने विचार रक्खे हैं सो धरिये ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कछुक दिवस बीते०', इस अर्धालीमें छठीका वर्णन लक्षित कराया गया। छठीमें रातको जागरण होता है। गीतावलीमें तीन रात छठीका जागरण और उत्सव कहा गया है। सुखके दिन पलके समान बीत जाते हैं। 'रात दिन जाते न जान पड़े' यह कहकर जनाया कि ये कुछ दिन सुखमें बीते। (ख) 'कछुक' अर्थात् दश ग्यारह। क्योंकि नामकरण पाँचवाँ संस्कार है जो जन्मसे ग्यारहवें या बारहवें दिन होता है। यथा 'एकादशे द्वादशकोपिश्रे'। [ग्यारहवाँ दिन इस संस्कारके लिये बहुत अच्छा है, न हो सके तब बारहवें दिन होना चाहिये। गोभिल गृह्यसूत्रमें ऐसीही व्यवस्था है। स्मृतियोंमें वर्णानुसार व्यवस्था मिलती है। जैसे, क्षत्रियके लिये १३ वें, वैश्यके लिये १६ वें और शूद्रके लिये २२ वें दिन।] (ग) 'नामकरन कर अवसर जानी' इति। 'जब दिन-रात जाते न जाने, तो नामकरणका अवसर कैसे जाना?' इसका उत्तर यह है कि 'दिनका होना, रातका होना तो जाना गया, उनका बीत जाना न जान पड़ा। अर्थात् सुखके दिन थे, इससे जल्दी बीत गए। प्रथम तो एकमासका दिन हो गया था, जो बीतताही न था, जब प्रमाणके दिन हुए तब बीतने लगे। सो कुछ दिन इस भांतिसे बीते कि रात न होती थी सो होने लगी। अब रातभी होती है। पुनः भाव कि प्रथम महीने भरका दिन हुआ सो न जान पड़ा और अब रात और दिनका जाना नहीं जान पड़ा—ऐसा सुख हुआ।

२ (क) 'अवसरु जानी' कहकर जनाया कि राजा पंडित हैं, इसीसे उन्होंने समय जानकर गुरुको बुलवा भेजा है। सब संस्कार गुरुहीने किये हैं। यथा 'गुरु बसिष्ठ कहँ गएउ हँकारा' (जन्मपर), 'भूप बोलि पठये मुनि ज्ञानी' (यहाँ); 'चूड़ाकरन कीन्ह गुरु जाई। २०३।३।', 'दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता। २०४।३।',

'गुरु गृह पढ़न गए रघुराई । २०४।४ ।' सब कार्य्योंमें 'गुरु' प्रधान हैं । (ख) 'मुनि ज्ञानी' इति । यहाँ गुरुको 'मुनि ज्ञानी' कहा; क्योंकि नामकरण संस्कारमें बड़े ज्ञानका काम है, अन्य सब संस्कारोंमें विशेष ज्ञानका प्रयोजन नहीं है । आगे 'इनके नाम अनेक अनूपा । मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा' इन वचनोंसे यह भाव स्पष्ट हो जाता है । [कर्णवेध, चूड़ाकरण, अन्नप्राशन, इत्यादिमें विशेष विचारका काम नहीं पड़ता, केवल मंत्रोच्चारण करना पड़ता है । पुनः, 'ज्ञानी' विशेषण दिया क्योंकि ये इनके यथार्थ स्वरूपके ज्ञाता हैं, वैसाही नामभी रक्खेंगे ।]

नोट—१ नामकरण जिस विधिसे हुआ उसका कुछ उल्लेख गीतावलीमें है; यथा "···जल दल फल मनिमूलिका कुलि काज लिखाए ।। १ ।। गनप गौरि हरि पूजिकै गोबृंद दुहाए । घर-घर मुद मंगल महा गुन गान सुहाए ।।···।।२।। गृह आँगन चौहट गली बाजार बनाए । कलस चँवर तोमर ध्वजा सुबितान तनाए । चित्र चारु चौकैं रचीं लिखि नाम जनाए । भरि-भरि सरबर बापिका अरगजा सनाए ।। ३ ।।···बरे बिप्र चहुँ बेदके रबिकुल गुरु ज्ञानी । आपु बसिष्ठ अथर्वनी महिमा जग जानी । लोक रीति बिधि बेदकी करि कह्यो सुबानी । सिसु समेत बेगि बोलिय कौसिल्या रानी ।। ५ ।। सुनत सुआसिनि लै चलीं गावत बड़-भागी···।। ६ ।। चारु चौक बैठत भईं भूपभामिनी सोहैं । गोद मोद मूरति लिये सुकृतीजन जोहैं ।।···७ ।। लगे पढ़न रच्छा ऋचा ऋषिराज बिराजे ।"—'मुनि ज्ञानी' का भाव इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है ।

गोभिलगृह्यसूत्र और नामकरण-पद्धतिमें विधानमें भेद है । पहलेमें यह विधान है कि बच्चेको वस्त्राभूषण पहनाकर चौकपर बैठकर माता उसे बामभागमें बैठे हुए पिताकी गोदमें दे । फिर उसकी पीठकी ओरसे परिक्रमा करती हुई उसके सामने आ खड़ी हो । तब पति वेदमंत्रका पाठ करके बच्चेको फिर माताकी गोदमें दे दे । फिर होम आदि करके नाम रक्खा जाय । दूसरेमें यह विधान है कि पिता गौरी, षोड़श-मातृका आदिका पूजन और वृद्धिश्राद्ध करके अपनी पत्नीको बामभागमें बैठावे, फिर पत्थरकी पटरीपर दो रेखाएँ खींचे, फिर दीपक जलाकर पुत्रके कानके पास 'अमुक०' इत्यादि कहकर नामकरण करें ।' (श० सा०)

२ (क) 'करि पूजा०' इति । पूजा करके तब नाम धरनेको कहा जिसमें पुत्रोंका मंगल कल्याण हो । (ख) 'मुनि गुनि राखा' इति । भाव यह कि वे ज्ञानी हैं, जानते हैं कि अमुक दिन नामकरण होगा, इसलिये पहलेसेही विचार कर रक्खा होगा । विचारवाले काम तुरतके तुरत प्रायः ठीक नहीं होते । इसीसे 'मुनि' विशेषण दिया, अर्थात् आप मननशील हैं, नामकरणमें मननका काम है सो आप मनन कर ही चुके होंगे । धरिये = रखिए । नाम धरना=नामकरण करना । नामकरणमें नाम कहा नहीं जाता वरंच धरा वा रक्खा जाता है, इसीसे 'कहिअ नाम' न कहा । भगवत्-नामकी प्राप्ति गुरुके द्वारा चाहिये । (पं० रामकुमारजी) ।

३ नामकरण वैशाख कृ० ५ को अनुराधा नक्षत्रमें हुआ । (वै०)

इन्ह के नाम अनेक अनूपा । मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा ।। ४ ।।
जो आनंदसिंधु सुखरासी । सीकर तें त्रैलोक सुपासी ।। ५ ।।
सो सुखधाम राम अस नामा । अखिल लोक दायक बिश्रामा ।। ६ ।।

शब्दार्थ—सीकर (शीकर)=जलके बूँदका एक कणमात्र । सुपासी=सुखी करनेवाले ।

अर्थ—(श्रीवसिष्ठजी बोले—) हे राजन् ! इनके नाम अनेक और अनुपम हैं । मैं अपनी बुद्धिके अनुसार कहूँगा ।।४।। जो आनंदके समुद्र और सुखकी राशि हैं, जिस (आनंद सिंधु) के एक कणसे त्रैलोक्य सुखी होता है ।।५।। वह सुखधाम है । उनका राम ऐसा नाम है जो समस्त लोकोंको विश्राम देनेवाला है ।।६।।

टिप्पणी—१ 'इन्ह के नाम अनेक०' इति । (क) 'इन्हके' से सूचित हुआ कि रानियाँ चारों पुत्रोंको लेकर चौकमें समीपही बैठी हैं, इसीसे मुनि अंगुल्यानिर्देश करके कहते हैं कि इनके नाम अनेक हैं । (ख) 'अनूपा' कहकर नामकी सुंदरता दर्शित की । और, 'अनेक' कहकर जनाया कि आप इनका एक नाम धरनेको कहते हैं पर इनके नाम अनंत हैं, और अनूप हैं, अर्थात् अत्यन्त सुन्दर-सुन्दर सब नाम हैं, वैसे नाम क्या कोई धर सकता है ? जैसे इनके अनेक सुन्दर नाम हैं, वैसे हम कहनेको समर्थ नहीं हैं, इसीसे कहते हैं कि 'मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा' अर्थात् अपनी बुद्धिही भर हम कहेंगे ।

नोट—१ 'जो आनंदसिंधु सुखरासी ।०' इति । पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "नामीमें तीन विशेषण दिये—आनंदसिंधु, सुखराशि और सुखधाम । नाममें तीन मात्रायें हैं जो तीनों सुखरूप हैं । 'सो सुखधाम राम अस नामा ।०' यह नामका अर्थ है । नामीका धर्म है 'सीकर ते त्रैलोक सुपासी' । और, नामका धर्म है 'अखिल लोक दायक बिश्रामा ।' यथा 'विज्ञानमानंदं ब्रह्म यस्य मात्रामुपादायान्यानि भूतानि उपजीवन्ति इति श्रुतिः', 'विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानाम्' इति हनुमन्नाटके ।" पुनः "सो सुखधाम राम अस नामा ।०" का दूसरा अर्थ कि 'वह सुखका धाम राम ऐसा नाम है' अर्थात् जिसको प्रथम आनंदसिंधु सुखराशि कह आए वही ब्रह्म रामनाम है, नामी सुखराशि है, नाम सुखधाम है । तात्पर्य्य कि नाम-नामी दोनों एकही वस्तु हैं । ब्रह्मके दो विशेषण आनंदसिंधु और सुखराशि कहनेका भाव यह है कि रामनाममें दो अक्षर हैं । इसीसे ब्रह्मके दो विशेषण दिये । और यह जनाया कि वही ब्रह्म राम-नाम है । रामजी ब्रह्म हैं; यथा 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा । ब्रह्म भयेउ कोसलपुर भूपा ।' (पं० रामकुमार) ।

रा० प्र० कार लिखते हैं कि "आनंदसिंधु, सुखराशि और सुखधाम तीनों लगभग एकही अर्थ देते हैं, तब यह तीनों क्यों लिखे ?" और स्वयं उत्तर देते हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासनाके विचारसे तीन विशेषण दिये गए । ज्ञानीको आनंदकी पिपासा (प्यास) रहती है, उसके लिये आनंदसिंधु कहा । कर्मकांडी यज्ञादिक करके स्वर्गादिका सुख चाहते हैं उनके लिये सुखराशि कहा । और, उपासक सुखमय अविचल धाम चाहते हैं, उनके लिये सुखधाम कहा । यथा 'मुख्य रुचि होति बसिवेको पुर रावरे । वि० २१० ।'

मा० म० कार लिखते हैं कि "यहाँ समष्टि और व्यष्टि दोनों शोभित हैं । आनंदसिंधुके सुखकी राशि जो समष्टि ब्रह्म और जिस सुखराशिके सीकरांशसे त्रैलोक सुखी होता है यह व्यष्टिका स्वरूप है । इन दोनों (सुखों) का मुख्यधाम (श्रीरामचन्द्रजी) जो संपूर्ण लोकोंका विश्रामदायक है, ऐसे पुत्रका नाम 'राम' होगा । वा, 'आनंदसिंधु' यह रूपपरत्वकी अपार महिमा है और 'सो सुख-धाम' यह नामकी महिमा है । अर्थात् परस्वरूप आनंदसिंधु और सुखराशि है । पुनः, उसका अखिललोकको सुख देनेवाला राम ऐसा नाम है ।"

बाबा हरिदासजीका मत है कि "रामोपासकोंके लिये रामनाम सुखसिंधु है, ज्ञानियोंको सुखराशि और कर्मकांडियोंको सुखधाम है । अथवा, राकार सुखसिन्धु है, अकार सुखराशि है, मकार सुखधाम है, इसीसे यहाँ तीन सुखवाचक विशेषण दिये ।"

२ (क) मुनि ज्ञानी हैं । उन्होंने ऐश्वर्य्य सूचक नाम रक्खे । 'आनंदसिंधु' अर्थात् जैसे सब जलका अधिष्ठान समुद्र वैसेही आनंदके अधिष्ठान ये हैं, यथा 'आनँदहू के आनँददाता ।' मिलान कीजिये गीतावलीके "सुभको सुभ मोद मोदको 'रामनाम' सुनायो । आलबाल कल कौसिला दल बरन सोहायो । कंद सकल आनंदको जनु अंकुर आयो ॥' इस पद ६ से । (ख) 'सीकर तें त्रैलोक सुपासी' इति । यथा 'जो सुखसिंधु सकृत सीकर तें सिव-बिरंचि-प्रभुताई । गी० १।१ ।' अर्थात् संसारमें ब्रह्मा और शिवजीके अमित वरदानसे जो प्रभुता देखी-सुनी जाती है वह उस सुखसिंधुका एक कणमात्र है । पाँड़ेजी लिखते हैं कि सींकको जलमें डुबाकर पृथ्वीपर पटकनेसे जो उड़े वह कण वा सीकर है ।

३ (क) शुकदेवलालजी 'सीकर तें त्रैलोक सुपासी' का अर्थ यों करते हैं कि "सीकरसे त्रैलोक्यपर्य्यन्तका प्रकाशक है। अर्थात् सबमें रम रहा है और जिसमें सब रम रहे हैं।" (ख) 'इन्हके नाम अनेक अनूपा' कहकर प्रथम अपनी अयोग्यता ठहराई कि इनके नाम वर्णन नहीं किये जा सकते और फिर कहा कि 'मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा'। अतः यह 'निषेधाक्षेप अलंकार' है। (वीर)।

४ बैजनाथजी लिखते हैं कि चार प्रकारके नाम होते हैं-जाति, गुण, क्रिया और यहच्छा। यहाँ क्रिया नाम कहा। अर्थात् 'दयादृष्टि (से) सबमें रमत (रमते) हैं। अथवा शोभामय अपने रूपमें सबको रमाते हैं इससे 'राम' कहा। [यह भाव अ० रा० के "यस्मिन् रमन्ते मुनयो विद्ययाज्ञानविप्लवे। तं गुरुः प्राह रामेति रमणाद्राम इत्यपि। १.३.४०।" इस श्लोकमें है। अर्थात् विद्या (विज्ञान) के द्वारा अज्ञानके नष्ट होजानेपर मुनि लोग जिनमें रमण करते हैं अथवा जो अपनी सुन्दरतासे भक्तोंके चित्तोंको रमाते अर्थात् आनन्दमें मग्न करते हैं, उनका गुरुने 'राम' नाम रक्खा।] इनका जन्म पुनर्वसुके चौथे चरणमें हुआ; इससे इनके राशिका नाम हिरण्यगर्भ अथवा हिरण्यनाभ होना चाहिए।

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥ ७॥
जाके सुमिरन तें रिपु नासा। नाम सत्रुहन बेद प्रकासा॥ ८॥

दोहा—लच्छनधाम राम प्रिय, सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा, लछिमन नाम उदार॥१९७॥

शब्दार्थ—भरन (भरण)=पालन। पोषन (पोषण)=पालन करके वृद्धि और पुष्टि करना।

अर्थ—जो संसारभरका भरण-पोषण करता है उसका 'भरत' ऐसा नाम होगा॥७॥ जिसके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है उसका नाम शत्रुघ्न वेदोंमें प्रसिद्ध है। ८। जो सुलक्षणोंके धाम, श्रीरामजीके प्रिय और सारे जगत्के आधारभूत हैं गुरु वसिष्ठजीने उनका लक्ष्मण (ऐसा) श्रेष्ठ नाम रक्खा॥ १९७॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिस्व भरन पोषन कर जोई' से जनाया कि भरतजी विष्णुके अवतार हैं। भरण पोषण करना विष्णुभगवान्का धर्म है। (ख) तीन कल्पोंमें विष्णुका अवतार है। विष्णु-अवतार होनेपर नामकरण इस प्रकार किया कि "जो आनंदसिन्धु सुखराशि सुखधाम हैं अर्थात् विष्णु, उनका राम ऐसा नाम है और विश्वभरण पोषणकर्ता जो विष्णु हैं उनके 'कर' में जो है अर्थात् शङ्ख, उसका नाम भरत है। जिसके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है अर्थात् चक्र, उसका शत्रुघ्न नाम है। सकल जगत्का आधार जो शेषजी हैं उनका लक्ष्मण नाम है।" और मनुके कल्पमें ऐसा नाम धरा कि जो आनंदसिंधु सुखराशि सुखधाम अर्थात् ब्रह्म है, उसका 'राम' नाम है। विश्वभरणपोषणकर्त्ता विष्णुका नाम 'भरत' है। जिसके स्मरणसे शत्रुका नाश होता है अर्थात् शिव उनका 'शत्रुघ्न' नाम है और सकल जगत्के आधार जो ब्रह्माजी हैं उनका नाम 'लक्ष्मण' है। अर्थात् तीनों भाई त्रिदेवके अवतार हैं। प्रमाण, यथा "संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना॥१४४.६॥" जिनके अंशसे उत्पन्न हैं वे ही कहते हैं कि "अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥१५१।२॥" [वे० भू० रा० कु० का मत है कि ये तीन अंश त्रिदेवावतार नहीं हैं। त्रिदेव तो ब्रह्मके अंशसे उत्पन्न होते हैं न कि अंश हैं। 'उपजहिं जासु अंस तें' शब्द हैं। इस विषयपर विस्तृत लेख दोहा १८७ (२) 'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहौं०' में है।]

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि-(१) 'भरत' नाम भी क्रिया-नाम है। कैकेयीजी क्रिया-शक्ति हैं, उनका फल धर्मरूप भरतजी हैं। इनका जन्म पुष्यनक्षत्रके दूसरे चरणमें हुआ। अतः इनके राशिका नाम

'हेमनिधि' होना चाहिए। (२) शत्रुघ्न भी क्रियानाम है। इनका जन्म श्लेषाके प्रथम चरणमें हुआ; इससे 'डील तेजनिधि' राशिका नाम होना चाहिए। (३) लक्ष्मणजी यमज हैं। इनके राशिका नाम 'डील धराधर' होना चाहिए।

२ चारों भाइयोंका अवतार जगत्‌हितार्थ हुआ, यह बात उनके विशेषणोंसे सूचित कर दी गई है। 'उदार' कहा क्योंकि श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य्य हैं, जीवोंको कल्याण मार्गपर चलाते हैं, भक्ति प्रदान करते हैं। कलियुगमें श्रीरामानुजाचार्य्य आपहीके अवतार हैं।" (बाबा हरिदासजी)

३ अ० रा० में नामकरणका मिलता हुआ श्लोक यह है—"भरणाद् भरतो नाम लक्ष्मणं लक्षणान्वितम्। शत्रुघ्नं शत्रुहन्तारमेवं गुरुरभाषत ॥४१॥" मानसमें 'विश्व भरन पोषन कर', 'लच्छनधाम' और 'रिपुनासा' की जगह उसके पर्याय 'भरणाद्', 'लक्षणान्वितम्' और 'शत्रुहन्तारं' शब्द श्लोकमें हैं।

टिप्पणी—२ 'विश्वके आनन्ददाता राम, विश्वके भरणपोषणकर्त्ता भरत, विश्वके शत्रुनाशकर्ता शत्रुघ्न और विश्वके धारणकर्ता लक्ष्मणजी हैं। अर्थात् विश्वके उपकारार्थ चतुर्व्यूह अवतार है। ब्रह्मके स्वरूपका राम नाम है और भाइयोंके गौण नाम हैं। ब्रह्ममें गुण नहीं हैं, इसीसे श्रीरामजीका गौण नाम नहीं धरा।"

प० प० प्र०—'लच्छन' शब्द शुद्ध संस्कृत भाषाका है (अमर व्याख्या-सुधा देखिये)। श्रीलक्ष्मणजीको ही रामप्रिय, सकल जगत आधार, और उदार क्यों कहा? मानसमें श्रीभरतजी ही श्रीरामजीको सबसे अधिक प्रिय हैं और श्रीरामजी भरतजीको?—यह ध्यानमें रखना चाहिए कि ये सब वचन वेदतत्त्व विचारसे ही कहे गये हैं, अतः इस शंकाका समाधान भी आध्यात्मिक विचारसे ही करना आवश्यक है।

विश्वात्मा, विश्व-विभु लक्ष्मण है, वह जाग्रदवस्थाका अभिमानी है। कोई भी जीव जाग्रत् अवस्थासे ही तुरीया-समाधि-अवस्थामें वेदतत्त्वसे एकरूपहो सकता है, वेदतत्वको मिलता है। तैजस और प्राज्ञको, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थामें, अपनी-अपनी अवस्थासे तुरीयमें प्रवेश करना असंभव है। सुषुप्ति तो अज्ञानावृत अवस्था है और स्वप्न अज्ञान और विपरीत-ज्ञान-युक्त होता है। जाग्रत्‌का अभिमानी अपनी अवस्थाका त्याग करके तुरीयामें जा सकता है, स्वप्नाभिमानी और सुषुप्त्याभिमानी ऐसा नहीं कर सकता। विशेष ३२५ छंदमें देखिए।

'सकल जगत आधार'—जब ब्रह्मावतार राम होते हैं। तब शेषशायी नारायण लक्ष्मण होते हैं। श्रीमन्नारायणसे ही ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई, अतः आधिदैविक विचारसे 'सकल जगत-आधार' उचित ही है। अध्यात्मदृष्टिसे शेषका अर्थ है उच्छिष्ट ब्रह्म। ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके अनन्तर जो मायायुक्त ब्रह्म शेष रहा वही उत्‌शिष्ट ब्रह्म है। अथर्ववेद ११।७।१-२८ देखियेगा। इस उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर ही ब्रह्मांड टिक रहा है। जगत्‌का देह अर्थ करनेपर भी यही बात सिद्ध होती है। देहमें भी शेषजी अंशरूपसे रहते हैं। कन्दके ऊपर और मूलाधारके नीचे बीचमें उनका स्थान है। वहाँ कुण्डलाकार नाड़ीमें इनका निवास होता है। पिण्डकी रचना करके जो शेष रहता है वह पिंडका आधार होता है। पिंडमें इस शेषजीको कुण्डलिनी शक्ति कहते हैं। जगत्‌का देह अर्थमें प्रयोग भागवतब्रह्मस्तुतिमें मिलता है।

'उदार'—जो सर्वस्वका त्याग करता है, 'अपनी' कहनेके लिये कुछ भी नहीं रखता, अपना व्यक्तित्व भी त्याग देता है, वही सच्चा उदार है। जो जाग्रति, स्वप्न और सुषुप्तिका त्याग करेगा वही उदार है। उर्मिला, श्रुतिकीर्ति और माण्डवी तीन अवस्थायें हैं। लक्ष्मणजी वनगमन समय उर्मिलाजीसे मिलने भी न गए, १२ वर्षतक आहार और निद्राका त्यागकर श्रीरामसेवामें निरत रहे। अपने संबंधमें तो उन्होंने कभी स्वप्नमेंभी कुछ विचारा नहीं, श्रीरामजीको सुख मिले यही अपना कर्तव्य समझते थे। वे केवल रामसेवा-

मूर्ति हैं। श्रीरामलक्ष्मणजीका समान विशेषणोंसे कविने 'कुन्देन्दीवर सुन्दरावतिबलौ…' में वर्णन किया है और उनको भक्तिप्रद कहा है।

नोट—४ "लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजीके नामकरणमें क्रमभंग हुआ है" अर्थात् लक्ष्मणजी भरत-जीसे छोटे और शत्रुघ्नजीसे बड़े हैं; उनका नामकरण शत्रुघ्नजीके पीछे कैसे हुआ? यह शंका यहाँ उठाकर लोगोंने उसका समाधान कई प्रकारसे किया है—

(१) मनुवरदान तथा आकाशवाणी देखिये, ब्रह्म अपने अंशों सहित अवतीर्ण हुआ है। गुरुजीने चारों पुत्रोंको 'वेदतत्त्व' कहा है। प्रणव (ओंकार) वेदतत्व है। प्रणवकी मात्राओंके संबंधमें वेदोंमें निम्न वाक्य हैं—

माण्डूक्योपनिषद्में बताया गया है कि प्रणवकी तीन मात्रायें वा पाद अकार, उकार और मकार हैं। जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्वके कारण प्रणवकी पहली मात्रा अकार है। यथा "जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति…। माण्डू० ९।" स्वप्न जिसका स्थान है वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्वके कारण ओंकारकी द्वितीय मात्रा उकार है, यथा "स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति…। माण्डू० १०।" सुषुप्तिस्थानवाला प्राज्ञ मान और लयके कारण तीसरी मात्रा मकार है; यथा "सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति…। माण्डू० ११।" और मात्रा-रहित ओंकार तुरीय है, यथा "अमात्रश्चतुर्थो…। १२।"

श्रीरामोत्तरतापिनी उपनिषद्में बताया है कि प्रणवमें षडक्षर हैं। प्रथम अक्षर अकार है, दूसरा उकार, तीसरा मकार, चौथा अर्धमात्रा, पाँचवाँ अनुस्वार (बिन्दु) और छठा अक्षर नाद है। यथा "अकारः प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति। मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति। बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति। नादः षष्ठाक्षरो भवति…"। फिर यह भी बताया है कि श्रीसुमित्रानन्दन श्रीलक्ष्मणजी अकाराक्षरसे प्रादुर्भूत हुये हैं। ये (जाग्रत्के अभिमानी) 'विश्व'के रूपमें भावना करने योग्य हैं। श्रीशत्रुघ्नजीका आविर्भाव प्रणवके 'उकार' अक्षरसे हुआ है। ये (स्वप्नके अभिमानी) 'तैजस' रूप हैं। श्रीभरतजी (सुषुप्तिके अभिमानी) 'प्राज्ञ' रूप हैं। ये प्रणवके 'मकार' अक्षरसे प्रकट हुए हैं। श्रीरामजी प्रणवकी अर्धमात्रारूप हैं। (ये ही तुरीय पुरुषोत्तम हैं)। ब्रह्मानन्द ही इनका एकमात्र विग्रह है। यथा "अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥ प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः। अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः॥"

उपर्युक्त श्रुतियोंसे स्पष्ट है कि वेदतत्व प्रणवकी मात्राएँ, अक्षर वा पाद अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयके वाचक वा रूप हैं। श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न, श्रीभरत और श्रीरामजी क्रमसे विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीयरूप हैं। और 'अ', 'उ', 'म' से क्रमशः श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न, श्रीभरतका प्रादुर्भाव हुआ है तथा श्रीरामजी अर्धमात्रारूप हैं—

श्रुतियोंमें प्रणवकी व्याख्या की है, इसीसे उनमें अकारादि क्रम लिया है क्योंकि प्रणवकी मात्राएँ क्रमसे 'अ उ म अर्द्धमात्रा' हैं; और इसीसे उनमें उनके वाचक श्रीलक्ष्मण, श्रीशत्रुघ्न, श्रीभरत और श्रीराम इस क्रमसे आए हैं।

यहाँ (मानसमें) नामकरणसंस्कारमें गुरु वसिष्ठजीने उपर्युक्त क्रमको उलट दिया है। (अर्थात् 'अ' 'उ' 'म' 'अर्द्ध मात्रा' को उलटकर अर्द्ध मात्रा, 'म', 'उ', 'अ' यह क्रम लिया); क्योंकि रामचरितमें श्रीरामजी मुख्य हैं। उन्होंने प्रथम तुरीयके पति ब्रह्म श्रीरामसे नामकरण प्रारंभ किया। तो उनके पश्चात् सुषुप्तिके स्वामी प्राज्ञरूप (मकार) श्रीभरतजी, फिर स्वप्नके अभिमानी तैजसरूप (उकार) शत्रुघ्न-जी और अन्तमें जाग्रत्के स्वामी विश्वरूप (अकार) श्रीलक्ष्मणजी के नाम क्रमसे आए।

गुरु वसिष्ठको नामकरणके प्रारंभमें 'ज्ञानी' विशेषण दे आए हैं, यथा 'नामकरन कर अवसरु जानी। भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी। १९७।२।' वे ज्ञानी हैं, इसीसे तो उन्होंने वेदोंमें जैसा उत्पत्तिका क्रम है उसीके अनुसार नामकरण किया, केवल भेद इतना किया कि पूर्ण ब्रह्मसे प्रारंभ किया, अंशसे नहीं।

(यही मत प्रायः पं० रामकुमारजी, रा० प्र०, मा० त० वि०, वै०, प. प. प्र. का है)।

(२) अथवा, उत्पत्ति क्रमके अनुसार नामकरण किया गया। यमज पुत्रोंकी उत्पत्तिके विषयमें हमारे शास्त्रोंमें बताया है कि जब वीर्य द्विधा अर्थात् दो भाग होकर रजमें प्रवेश करता है तब दो गर्भ होते हैं। परन्तु प्रसूति (अर्थात् जन्म) प्रवेशके विपरीत होती है। अर्थात् जिस भागका प्रवेश प्रथम होता है उसकी प्रसूति पीछे होती है और जिसका प्रवेश पीछे होता है उसकी प्रसूति पहले होती है। यथा "यदा विशेत्द्विधाभूतं बीजं पुष्पं परिक्षरत्। द्वौ तदा भवतो गर्भौ सूतिर्वेश विपर्ययात्।" (इति पिण्डसिद्धिस्मरणात्। श्रीधरी टीका)। इसका उदाहरण भागवतमें मिलता है। कश्यपजीने जुड़वा दो पुत्रोंमेंसे जो अपनी देहसे प्रथम हुआ उसका नाम हिरण्यकशिपु रक्खा और दितिने जिसको प्रथम जन्म दिया उसका हिरण्याक्ष नाम रक्खा। यथा "प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्यः प्राक् स्वदेहाद्यमयोरजायत। तं वै हिरण्यं कशिपुं विदुः प्रजा यन्तं हिरण्याक्ष-मसूतसाग्रजः। भा० ३।१७।१८।" "हिरन्याक्षोऽनुजस्तस्य। १९।", 'जज्ञाते तौ दितेः पुत्रौ दैत्यदानववन्दितौ। हिरण्य-कशिपुर्ज्येष्ठो हिरण्याक्षोऽनुजस्ततः। भा० ७।१।३९।" हिरण्याक्ष प्रथम पैदा हुआ फिरभी उसको आधानके क्रमसे छोटा कहा गया। और हिरण्यकशिपुको जो पीछे उत्पन्न हुआ बड़ा कहा। इसी प्रकार यहां कौसल्याजीको दिये हुए चरुसे लक्ष्मणजी हुए हैं जिसका भक्षण प्रथम होनेसे उसका आधानभी प्रथम हुआ था। केकयीजी-के दिये हुये चरुसे शत्रुघ्नजीका आधान पीछे हुआ। उपर्युक्त शास्त्रके नियमसे शत्रुघ्नजीकी उत्पत्ति प्रथम होनेपर भी आधानके क्रमसे वे छोटे माने गए और लक्ष्मणजी बड़े। अतः उत्पत्ति क्रमसे नामकरण होनेसे शत्रुघ्नजीका नामकरण प्रथम हुआ।

(३) रा० प्र० का मत है कि 'युग्म बालकमें जो पीछे होता है उसका गर्भाधान प्रथम होता है। अतः शत्रुघ्नजीका नामकरण प्रथम हुआ।' परन्तु यदि इनके कथनानुसार शत्रुघ्नजीका आधान प्रथम हुआ है तो इसमें दो विरोध उत्पन्न होते हैं। एक तो कैकेयीजीके दिये हुए चरुका भक्षण प्रथम मानना पड़ेगा, दूसरे ऊपर (२) में दिये हुए शास्त्रके नियमानुसार उनको लक्ष्मणजीसे बड़ा मानना पड़ेगा जो मानसका मत नहीं है और बड़ा मानते हैं तब तो प्रथम नामकरणमें शंकाही नहीं हो सकती।

(४) पं० विश्वनाथमिश्रजी लिखते हैं कि "हमारे विचारसे कौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजी अपनी-अपनी गोदमें पुत्रोंको लिये बैठीं थीं और वसिष्ठजी नामकरण कर रहे थे। पहले कौसल्याजी श्रीरामजीको लिए बैठी थीं; फिर कैकेयी और उनके पश्चात् सुमित्राजी थीं। मारे दुलारके सुमित्राजीने शत्रुघ्नको दाहिनी ओर ले रक्खा था और लक्ष्मणको बाईं ओर। छोटा होनेके कारण शत्रुघ्नको दाहिनी ओर रखना मातृत्वस्वभावसिद्ध बात है। हमारे विचारसे नामकरणमें भरतका नामकरण करलेनेपर शत्रुघ्न पहले पड़े तो उनका नामकरण न कर लक्ष्मणका नामकरण करने लगनाभी अनुचित होता। यही कारण था कि शत्रुघ्नका नामकरण पहले हुआ। यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो प्रथम उत्पन्न होगा उसका गर्भाधानभी प्रथम होगा। अतएव शत्रुघ्नको बड़ा कहनेसे इस शंकाका समाधान नहीं होसकता।" (प. प. प्र. इससे सहमत हैं)।

(५) पंजाबीजी कहते हैं कि—(क) कविताके क्रमसे कदाचित् आगे पीछे हुआ हो इससे इसमें दोष नहीं है। अथवा, (ख) श्रीरामजी सबके आदि हैं और लक्ष्मणजी संकर्षण हैं अर्थात् सर्वसृष्टिके आकर्षण करनेवाले हैं, इससे उन्हें पीछे कहा। अथवा, (ग) श्रीरामजी आदि हैं और लक्ष्मणजी अंत, ये संपुटके

समान हैं। भरत-शत्रुघ्नजी मध्यमें रत्नवत् हैं। अर्थात् जैसे संपुट रत्नकी रक्षा करता है वैसेही श्रीराम-लक्ष्मणजी श्रीभरतशत्रुघ्नरूपी रत्नोंकी रक्षा वनके दुःखोंमें तथा कैकेयीके कलंकोंसे करते हैं।

(६) पांडेजीका मत है कि "शत्रुघ्नजीके पीछे श्रीलक्ष्मणजीके नामकरण करनेका आशय यह है कि श्रीराम, भरत और शत्रुघ्नजीके लिये एक-एक लक्षण—'अखिललोक दायक विश्रामा', 'बिश्वभरनपोषन' और 'सुमिरन ते रिपुनासा' जो क्रमसे कहेगए हैं उन सब लक्षणोंको एकत्र श्रीलक्ष्मणजीमें दिखाना था। अतएव उन तीनोंका नामकरण करके तब लक्ष्मणजीका नामकरण 'लच्छनधाम' विशेषण प्रथम देकर करते हुए जनाया कि श्रीरामजीका विश्वको विश्राम देना, श्रीभरतजीका विश्वको भरणपोषण करना और श्रीशत्रुघ्नजीका शत्रुसे रक्षा करना, ये तीनों गुणभी श्रीलक्ष्मणजीमें हैं और इनके अतिरिक्त 'रामप्रिय' अर्थात् रामके प्यारे एवं राम जिनको प्यारे हैं, और 'सम्पूर्ण जगत्के आधारभूत', ये गुणविशेष हैं। इसीसे गुरु-वसिष्ठने इनके नामको 'उदार' अर्थात् परिपूर्ण विशेषण दिया।"

(७) श्रीस्नेहलताजीका मत है कि यहां गोस्वामीजीने ऐश्वर्य्यसूचक नाम दिये हैं, इसलिये यहां छोटे बड़ेका बिचार नहीं है। माधुर्य्य नाम दिये जाते तो उसमें बड़े छोटेका विचार अवश्य करते।

(८) किसीका मत है कि 'भरत शत्रुघ्नकी जोड़ी एकसाथ कही और आदि-अंतके योगसे राम-लक्ष्मणकी जोड़ी कही।'

(९) गौड़जी भरत शत्रुघ्नको यमज मानकर दोनोंका नामकरण साथ होनेका कारण उनका एक कल्पमें यमज होना कहते हैं।

श्रीलमगोड़ाजी—'नामकरण' इति। (सं० १९९५ भाद्रपद वाली 'सुधा' के पृष्ठ २२३)—"गुरु वशिष्ठने नामकरण संस्कारके समयही चारों भाइयोंके नामोंकी स्पष्ट व्याख्या कर दी है। उन्होंने रामको 'सकल-लोक-दायक-विश्राम' कहा है तो भरतको 'विश्व भरण पोषण' करनेवाला। शत्रुघ्नको दैवीसत्ताका वह अंश बताया है, जिसके 'सुमिरन तें' रिपुका नाश होता है। लक्ष्मणजीको 'सकल जगत आधार' कहा है और यह बता दिया है कि चारों भाई वेदतत्वके अवतार हैं, न कि किसी देवताके। सरोजनी नाइडूजीने सृष्टि-रचनाके उस पौराणिक कलापूर्ण चित्रणका नवीन प्रकटीकरण किया है, जिसमें शेषशायी भगवान् क्षीर-सागरमें योगनिद्रामें मगन हैं, और लक्ष्मीजी पायँते बैठी हुई पैर दबा रही हैं। कमलको सम्बोधित करते हुये "जीवन और मृत्युके अधिपतियोंका समकालीन" कहा है। (Crenal with the Lords of life & Death) उभय प्रसंगोंके पाठसे स्पष्ट हो जायगा कि कवयित्रीजी वाले दो व्यक्तियोंकेही रूपान्तर वशिष्ठजीकी चार व्यक्तियाँ हैं। राम और भरत जीवनाधिपतिके दो रूप। एक वह जो शान्ति एवं आनन्दमय है, परन्तु (विशेषतः) सृष्टिसे बाहर, जिससे सृष्टि निकलकर फिर उसीमें विश्राम पा जाती है, और दूसरा विश्वभरणपोषण करनेवाला रूप, जो सृष्टिके अन्दर काम करता है। यदि एक व्यापक विष्णुरूप तो दूसरा पालक विष्णुरूप।

"इसी प्रकार मृत्युके अधिपतिके भी दो रूप हैं। एक शेषरूप, जो मानो सृष्टिसे बाहर रहकर 'कृतांतभक्षक' भी है और 'जगदाधार अनन्त' रूपमें 'जनत्राता' भी और दूसरा सृष्टिके भीतर रहनेवाला वह रूप जिसके स्मरणसे रिपुका नाश होता है। गीतामेंभी दैवी शक्तिके ये ही दो रूप माने गये हैं, एक वह, जिससे साधुओंका परित्राण होता है, और दूसरेसे दुष्टोंका विनाश। परन्तु यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि यह तत्व उसी तरह पृथक्-पृथक् नहीं पाये जाते जैसे, सत, रज और तम। जिस व्यक्तिमें जो तत्व प्रधान होता है, वैसाही उसका नामकरण।" वस्तुतः यह व्यक्तियाँ वेदतत्व है या नहीं इसमें मत-भेद हो सकता है, पर ये नाम किसी न किसी रूपमें वेदमें आए अवश्य हैं। श्री पं० जयदेव शर्मा-कृत सामवेद भाष्यके पृष्ठ ४६०-४६१ पर निम्नलिखित मंत्र अर्थ सहित पाया जाता है।—यो जानाति न जीयते हन्ति

शत्रुमभीत्य, स पवस्य सहस्रजित् । [जो स्वयं जीत लेता है और दूसरेसे जीता नहीं जाता, तथा सम्मुख आकर शत्रुको नाश करता है, वह हजारोंको जीतनेवाला बल स्वरूप तू हमारे प्रति आ, प्रकट हो, हमें प्राप्त हो ।] 'शत्रुघ्न' की कैसी सुन्दर व्याख्या है ।

"अब उसी पुस्तकके पृष्ठ ४३८ पर देखिये तो आपको निम्नलिखित मंत्र अर्थ सहित मिलेगा— 'तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवे दिवे, पुरूणि बभ्रो बिचरन्ति मामव परिधीरिति ताइहि ।' [हे परमात्मन् ! सारे संसारके भरण-पोषण करने वाले ! रातमें तेरे और दिनमें भी तेरेही रसमय कोशमें मैं रस प्राप्त करता हूँ । पक्षियों या रश्मियोंके समान हम दीप्तिसे जाज्वल्यमान सूर्य्यके समान सर्वाधार परम देव आपके पास कर्मबंधनको पार करके प्राप्त होते हैं] 'भरत' की कैसी सुन्दर व्याख्या है ? ('जगदाधार' भी मौजूद और 'जगत प्रकाश्य प्रकाशक राम' भी)…पाठकोंको बड़ा आनन्द आयेगा यदि वे उपर्युक्त बिचार शैलीके आधारपर राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ियोंपर विचार करेंगे—यह सोचते हुये कि भरत रामके और शत्रुघ्न लक्ष्मणके रूपान्तर हैं, [एक जोड़ी अयोध्याका आन्तरिक प्रबन्ध करती है तो दूसरी अन्तर राष्ट्रीय गुत्थियां सुलझाती है । इस दृष्टिकोणसे 'पिता दीन्ह मोहि कानन राजू । जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू ।' बहुतही बढ़ जाता है । मिल्टनकी भाषामें एक जोड़ी Cosmos (सृजित सृष्टि) को संचालित करती है तो दूसरी Chaos (असृजित अंश) को विजय करके सुधारती है । शैतानके राजको हटाकर स्वर्गका राज्य (Kingdom of Heaven) स्थापित करती है । एक पैराडाइजके दोषोंको तप और त्याग द्वारा हटाती है तो दूसरी पैराडाइजकी सीमामें वह अंश वापस लाती है जो दैवी शासन से मानो बाहर निकल गया था—महाकाव्य कलामें अयोध्या और लंकाके ऐसेही अर्थ हो सकते हैं ।

धरे नाम गुर हृदय बिचारी । बेदतत्व नृप तव सुत चारी ॥ १ ॥
मुनि-धन जन-सरबस सिव-प्राना । बालकेलि रस तेहिं सुख माना ॥ २ ॥

अर्थ—गुरुजीने हृदयमें विचारकर नाम रक्खे अर्थात् नामकरण किया (फिर कहा—) हे राजन् ! तुम्हारे चारों पुत्र वेदके तत्व हैं ॥ १ ॥ जो मुनियोंके धन, भक्तोंके सर्वस्व और शिवजीके प्राण हैं उन्हींने बालक्रीड़ा-रसमें सुख माना है । अर्थात् वेही बालकरूप होकर बालकोंकीसी क्रीड़ा कर रहे हैं ॥ २ ॥❀

टिप्पणी—१ (क) राजाने मुनिसे जो कहा था कि 'धरिअ नाम जो मुनि गुनि राखा' उसको यहाँ चरितार्थ किया "धरिअ नाम" उपक्रम है और 'धरे नाम गुर हृदय बिचारी' उपसंहार है । (ख) 'वेद तत्व' हैं अर्थात् वेद इन्हींका गुण गान करते हैं; वेदका सिद्धान्त ये ही हैं । 'वेदतत्त्व' होनेके प्रमाण ऊपर दोहा १९७ में दिये जा चुके हैं । ☞ यहाँ तक नामकरणका उल्लेख हुआ, जो सब वसिष्ठजीकी उक्ति है । (ग) 'बेदतत्त्व नृप तव सुत चारी' का भाव कि नामकरण करके बताया कि हमने इनको वेदोंका तत्व समझकर नामकरण किया है । यह प्रमाण दिया है । तात्पर्य्य कि जैसा जगत्में नाम धरने (नामकरण करने) की रीति है वह रीति हमने नहीं बरती, उसके अनुसार हमने नामकरण नहीं किया । जिस नक्षत्रके जिस

❀ 'बालकेलि रस तेहिं सुख माना' का अर्थ बैजनाथजी यह करते हैं—(मुनि, हरिजन और शिव आदि) "यावत् रामसनेही हैं सब बालकेलिरसास्वादनमें सुख मानकर श्रवण कीर्त्तन करते हैं ।" परंतु यदि ऐसा अर्थ अभिप्रेत होता तो तिन्ह' पाठ होता । ब्रह्मनेही भक्तिवश बालविनोदमें सुख माना यह आगे प्रसंगभरसे स्पष्ट है । अ० रा० मेंभी कहा है—"रामस्तु लक्ष्मणेनाथ विचरन्बाललीलया । रमयामास पितरौ चेष्टितैर्मुग्धभाषितैः ॥४३॥ सर्ग ३ ।" अर्थात् लक्ष्मणजीके साथ विचरते हुए श्रीरामजी अपनी बाललीलाओं, चेष्टाओं और भोलीभाली बातोंसे माता-पिताको आनंदित करने लगे ।

चरणमें जन्म होता है वही (उसीका प्रथम) अक्षर नामके आदिमें रक्खा जाता है सो हमने नहीं किया वरंच जैसा वेद कहते हैं वैसा नाम धरा है।

नोट—१ नामकरणके विषयमें ज्योतिषशास्त्रमें यह नियम है कि प्रत्येक नक्षत्रके चार चरणोंके पृथक्-पृथक् चार अक्षर जो निश्चित किये गए हैं उनमेंसे जो अक्षर जिस नामके आरंभमें हो वही नाम उस चरणमें जन्म लेनेवालेका धरा जाता है। जैसे कि "चू चे चो ला अश्विनी' अर्थात् अश्विनीनक्षत्रके चार अक्षर चू, चे, चो, और ला हैं। अंतएव अश्विनीके प्रथम चरणमें जन्म लेनेवालेका नाम वही रक्खा जायगा जिसका प्रथम अक्षर 'चू' हो। अर्थात् चूड़ामणि, इत्यादि। इसके अनुसार इन चारोंका नामकरण नहीं हुआ। पुनर्वसुके चार चरणके "के को हा ही" ये अक्षर हैं, इनमें 'रा' अक्षर नहीं है, परन्तु नाम 'राम' रक्खा गया।

मा० त० वि०—'बेदतत्व नृप तव सुत चारी' का भाव कि "वेदतत्व प्रणव एकाक्षर ब्रह्म है—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' (गीता ८.१३), परन्तु वह 'अकार, उकार, मकार और अर्द्धमात्रा' द्वारा ख्यात है, इसीसे वही चारों वर्ण चारों पुत्र हैं। वेदतत्व तुम्हारे चारो पुत्र हुए हैं इस कथनका भाव यह है कि आपकी भक्ति-समाधिका फलरूप पुत्रभावमें गोचर हुआ है। यथा "अतीन्द्रिय राम सुखं नराणां सतां मुनिनां सुगोचरोऽपि। इमेहि तद्भक्तिसमाधि नेत्रे इतीन्द्रियं चाप्यवलाकयन्ति। इति कोशलखण्डरामायणे।"

टिप्पणी—२ 'मुनि-धन जन-सरबस सिव प्राना।' इति। यहां मुनि, जन और शिव तीनोंका, क्रमशः एकसे दूसरेका, उत्तरोत्तर अधिक प्रियत्व तथा प्रेम दिखानेके लिये तीनोंके लिये क्रमशः विशेष प्रियत्व तथा प्रेम-बोधक धन, सर्वस्व और प्राण विशेषण दिये गए हैं। मुनिसे जन विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं और जनसे शिवजी विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं, क्योंकि 'धन' से सर्वस्व विशेष है और 'सर्वस्व'से प्राण विशेष (अधिक) हैं। यथा "मांगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥ देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥ २०८।४-५।' (इसमें क्रमसे धन, सर्वस्व और प्राणका देना इसी भावसे कहा गया है)। शिवजीसे अवधवासी विशेष (प्रिय तथा प्रेमी) हैं तभी तो भगवान् उनको सुख देनेके लिये बालकेलि करते हैं। यथा "जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महुँ संतत मगन। ७।८८।', 'प्रानहुँ ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल। २०४।' (अवधवासियोंको प्राणोंसेभी अधिक प्रिय हैं)।

नोट—२ (क) 'मुनि धन' का भाव यहभी है कि वाल्मीकि, विश्वामित्र आदि मुनियोंको ऐसे प्रिय हैं जैसे लोभीको धन। लोभीका चित्त सदा धनके उपार्जन, वृद्धि और रक्षामें संलग्न रहता है। उसके अतिरिक्त उसे कुछ नहीं सूझता, यहांतक कि मृत्युके समयभी उसका ध्यान धनहीमें रहता है। विश्वामित्रजीके संबंधमें तो स्पष्ट ही कहा है—'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई। २०६।३।' पुनः भाव कि 'जैसे परम कृपन कर सोना। २५६।२।' अर्थात् जैसे कृपणका ध्यान निरंतर गड़े हुए धनपर रहता है, वह सदा उसको सँभालता रहता है, इत्यादि, वैसे ही ये मुनियोंको प्रिय हैं। विशेष 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम। ७।१३०।' और २५६.२ में देखिए। (ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि अगस्त्य, नारद, पराशर और वाल्मीकि आदि मुनियोंके 'धन' कहनेका तात्पर्य यह है कि अगस्त्यजीने संहिता, रामायण आदि रामचरित ही गाया, श्रीनारदजी रामभक्तिका उपदेश करते हैं और पराशर तथा वाल्मीकिजीने भी रामचरित ही गाया। अतः उनका 'धन' कहा।

२ 'जन सरबस' इति। जन=भक्त; हरिजन। हरिभक्तोंके आप सर्वस्व अर्थात् सब कुछ हैं, यथा 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव। त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव। त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥' पाण्डवगीताके इस श्लोकमें भी यही कहा है कि संसारमें यावत् प्रेमके नाते हैं वे सब एकमात्र श्रीरामजी

ही हैं। भक्त अन्य किसीको अपना करके नहीं जानते मानते। यथा 'स्वामि सखा पितु मातु गुरु जिन्हके सब तुम्ह तात।२।१३०।', 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं।२।१ ०।५', "राम हैं मातु पिता गुर बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। राम की सौंह भरोसो है राम को रामरँग्यो रुचि राच्यो न केही॥ जीयत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही।...। क० ७।३६।', 'राम मातु पितु बंधु सुजन गुर पूज्य परमहित। साहिब सखा सहाय नेह नाते पुनीतचित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति॥ परमारथ स्वारथ सुजस सुलभ राम ते सकल फल। कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम ते मोर भल॥ क० ७।११०।' पुनः, यथा शिवसंहितायाम् श्रीहनुमद्वचनम्—'पुत्र-वत्पितृवद्रामो मातृवद्भ्रातृवत्सदा। श्यालवद्धामवद्रामः श्वश्रूवच्छ्वशुरादिवत्॥ पुत्रीवत्पौत्रवद्रामो भागिनेयादिवन्मम। सखावत्सखिवद्रामः पत्नीवदनुजादिवत्। यः प्रीतिः सर्वभावेषु प्राणिनामनपायिनी। रामे सीतापतावेव निश्चिन्निहिता मुनेः॥' (यह श्लोक वैजनाथजीने दिया है)।

३ 'सिव प्राना' इति। शिवजी निरंतर श्रीरामजीके नाम, रूप, चरित आदिमें लगे रहते हैं। मानस उन्हींका संवाद है। अतः उनका प्राण कहा। (वै०)।

वीरकविजी—हिन्दी नवरत्नके लेखकोंने ११५ वें पृष्ठपर गोस्वामीजीकी हँसी उड़ाई है कि "अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम प्रभु मम उर अंतर।' यह गोस्वामीजीने महादेवजीसे कहवाया है। सो क्या महादेवजी लक्ष्मणका भी ध्यान करते थे? पर उसमें भालु-कीशोंको निकाल दिया, यही उनकी बड़ी अनुग्रह हुई इत्यादि।" यहाँपर लेखक महोदय देखें कि चारों पुत्र वेदतत्व (ब्रह्म) कहे गए हैं। ऐसी अवस्था में उनकी समालोचना कहाँतक स्तुत्य कही जा सकती है।

बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन राम-चरन रति मानी॥३॥
भरत सत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई* ॥४॥
स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी। निरखहिं छबि जननी तृन तोरी॥५॥

शब्दार्थ—बारे=बालपन, थोड़े ही दिनोंकी अवस्था। पति=स्वामी। 'मानी'—मानना=स्वीकार वा अंगीकार करना, ध्यानमें लाना, संकल्प करना। पुनः, मानी=अभिमानी। (पं० रा० कु०)। रति मानी=प्रेमपन ठाना, अनुरक्त होगए।=प्रेमके अभिमानी हुए, यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' 'तृन तोरी'—तिनका तोड़ना लोकोक्ति है, मुहावरा है। सुन्दर वस्तुको देखकर बुरी नज़रसे बचानेके लिये तिनका तोड़नेकी रीति है। तिनकेकी ओट लेकर वा उसको तोड़कर देखती हैं कि नज़रका प्रभाव उसीपर पड़े, बच्चेको नजर न लगे। यथा 'सुंदर तनु सिसु बसन बिभूषन नखसिख निरखि निकैया। दलि तृन प्रान निछावरि करि करि लैहैं मातु बलैया। गी० १।६।२।'

अर्थ—बालपनेहीसे अपना हितैषी और स्वामी जानकर श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम किया अर्थात् रामचरणानुरागी हुए (एवं रामप्रेमाभिमानी हुए)॥३॥ श्रीभरतशत्रुघ्न दोनों भाइयोंमें

* बड़ाई—१६६१, १७०४ (रा० प०)। बढ़ाई—पं०, वै०; भा० दा०। 'बढ़ाई' पाठसे अर्थ सुगमतासे लग जाता है।—'प्रभु और सेवकमें जैसी प्रीति होनी चाहिये वैसी प्रीति बढ़ाई।' 'जसि प्रीति बड़ाई' का अर्थ रा० प्र० में इस प्रकार है—'प्रभु सेवक में जैसी प्रीति (और) बड़ाई चाहिये वैसी हुई।' श्लिष्ट शब्द द्वारा कविजी एक और अर्थ प्रकट करते हैं कि 'भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई 'प्रभु' श्रीरामचन्द्रजीके वैसे ही सेवक हैं जैसे सेवककी प्रीतिकी बड़ाई है।" इस तरह यहाँ 'विवृतोक्ति अलंकार' है पर उदाहरणका अंगी है। (वीर)।

स्वामी-सेवकमें जिस प्रीतिकी प्रशंसा है वैसी प्रीति हुई ॥ ४ ॥ श्याम गौर दोनों सुन्दर जोड़ियोंकी छबिको माताएँ तिनका तोड़-तोड़कर देखती हैं ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बारेहि ते निज हित०', यह स्वाभाविकी भक्ति है, साधनसे नहीं हुई है। 'लछिमन रामचरन रति मानी' अर्थात् श्रीरामजीके सेवक हुए। चरणमें अनुराग होना सेवक-भावका द्योतक है। पायस-भागके अनुसार यह भाव उनमें हुआ। 'कौसल्या कैकेई हाथ धरि। दीन्ह सुमित्रहि मन प्रसन्न करि। १९०।४।' इस अर्धालीका भाव यहाँ चरितार्थ करते हैं। अर्थात् यहाँ पायसके भागोंका अभिप्राय स्पष्ट करते हैं कि कौसल्याजी और कैकेयीजीके हाथोंपर धरकर तब सुमित्राजीको दो भाग क्यों दिये गए थे। विशेष १९०।४ में लिखा जा चुका है। (ख) 'प्रभु सेवक जसि।०' अर्थात् शत्रुघ्नजीने बचपनसे ही भरतजीको अपना स्वामी जानकर प्रीति की। चारों चरणोंका तात्पर्य्य यह है कि लक्ष्मणजी श्रीरामजीके पास खेलते हैं और शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीके पास खेलते हैं। जब माता उनको उनके स्वामीके पास कर देती हैं तब किलकारी मारते, प्रसन्न होते हैं।—यह भाव 'बारेहि ते···' का है। ['बारेहि ते निज हित पति जानी' दोनों अर्धालियोंके साथ है।]

नोट—१ (क) अ० रा० में मिलता हुआ श्लोक यह है—"लक्ष्मणो रामचन्द्रेण शत्रुघ्नो भरतेन च। द्वन्द्वीभूय चरन्तौ तौ पायसांशानुसारतः। १।३।४२।" अर्थात् पायसांशोंके अनुसार लक्ष्मणजी श्रीरामचन्द्र-जीके और शत्रुघ्नजी भरतजीके जोड़ीदार होकर रहने लगे। पुनः, यथा वाल्मीकीये—'बाल्यात्प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः। १।१८।२८···भरतस्यापि शत्रुघ्नो लक्ष्मणावरजो हि सः। ३२। प्राणैः प्रिय-तरो नित्यं तस्य चासीत्तथा प्रियः।···३३।' अर्थात् लक्ष्मणजी बाल्यावस्थासे ही श्रीरामजीके अनुगत थे।··· लक्ष्मणजीके छोटे भाई शत्रुघ्नजी भरतजीको प्राणोंके समान प्रिय थे और भरतजी शत्रुघ्नजीको प्राणप्रिय थे। पुनश्च, यथा 'लक्ष्मणस्तु सदा राममनुगच्छति सादरम्। ६१। सेव्य-सेवकभावेन शत्रुघ्नो भरतं तथा।···६२। अ० रा० १।३।'—'प्रभु-सेवक-जसि' का भाव इससे स्पष्ट है।

(ख) ☞ प्रायः लोग प्रश्न करते हैं कि बचपनसे प्रीति कैसे जानी गई? इसका एक उत्तर तो ऊपर टिप्पणीमें आ ही गया। दूसरा प्रमाण सत्योपाख्यान अ० २८ में इसका मिलता है। उसमें कथा इस प्रकार है कि एक बारकी बात है कि कौसल्याजीकी दासी किसी कारणसे श्रीसुमित्राजीके महलमें गई तो वहाँ उसने दोनों पुत्रों (श्रीलक्ष्मण-शत्रुघ्नजी) को राजाकी गोदमें खेलते देखा और वहाँसे कौसल्याजीके महलमें आई तो यहाँभी उसने उन दोनोंको देखा। संदेह होनेसे वह बीसों बार कौसल्या-भवनसे सुमित्रा-भवनमें और सुमित्राभवनसे कौसल्या-भवनमें गई आई। यह देख राजाने उससे हठ करके पूछा कि तेरा चित्त कैसा मोह-भ्रममें पड़ा हुआ है, क्या बात है जो तू बीसों बार इधरसे उधर जाती आती है? तब उसने बताया कि यहां श्रीसुमित्राजीके दोनों पुत्रोंको श्रीरामजीके निकट देखती हूँ और वहां दोनोंको आपकी गोदमें बैठे पाती हूँ; इससे मैं परम संदेहमें पड़ रही हूँ।—"इमौ च बालकौ राजन् शत्रुसूदन-लक्ष्मणौ। कौशल्यांके मया दृष्टौ रामस्य निकटेस्थितौ। १८। अत्रैव तव चांके वैवर्त्ते ते सुमनोहरौ। तत्र गच्छामि तत्रैव चात्रद्यायामि अत्र वै। १९।" राजा यह सोचकर कि यह क्या बक रही है शीघ्र कौसल्या-जीके भवनमें गए और वहां श्रीरामके साथ लक्ष्मण-शत्रुघ्नको बालक्रीड़ा करते देखा, फिर कौसल्याभवनके झरोखेसे सुमित्राभवनमें दोनों पुत्रोंको माताके पास देखा तब तो राजा परमाश्चर्यको प्राप्त हो कुछ निर्णय न कर सके। यथा "ययौ शीघ्रं तथा सार्द्धं कौसल्याभवनं नृपः। २१।···तत्र गत्वा नरेशोऽपि चात्मनो ददृशे सुतौ।२२। क्रीडंतौ रामचन्द्रेण सुमित्रातनयौ तु तौ। तस्मिन्काले स्मितं चक्रे कौशल्या यत्र तिष्ठति। २३। गवाक्षे च मुखं कृत्वा सुमित्राभवने नृपः। विलोकयामास सुतौ क्रीडंतौ जननीयुतौ। २४।···यदा तु निर्णयं कर्तुं न शशाक महीपतिः। २६।" तब गुरु वसिष्ठ बुलाए गए और उनसे सब वृत्तान्त कहा गया। उन्होंने क्षणभर ध्यानकर विचार किया कि

यह इनकी बालक्रीड़ा है। ये एक क्या दसबीस, हज़ार तथा करोड़ों असंख्यों रूप धारण कर सकते हैं, इसमें संशय क्या, किन्तु राजाको यह बताना उचित नहीं, नहीं तो उनको वात्सल्यरसका सुख न मिलेगा, इत्यादि। उन्होंने कहा कि यह गंधर्वकी माया है, हम उपाय करते हैं, अब यह माया न होगी और अन्तमें राजासे कहा कि जैसा मैं कहता हूँ वैसा आप करें। लक्ष्मणजी सदा रामजीके महलमें उनके साथ खेलें और शत्रुघ्न-जी भरतजीके साथ रहें तो आगे ऐसी माया फिर न होगी। यथा "यथाब्रवीमि राजेन्द्र तथा कुरु नरोत्तम। रामस्तु लक्ष्मणेनापि सदा क्रीडन्तु मन्दिरे। ३९। भरतो रिपुहन्ता च वयसोशानुसारतः। न कदाचिद्भ्रमस्त्वेवं तव राजन्भविष्यति। ४०।" राजाने यह बात सुमित्राजीसे कही और उन्होंने वैसाही किया। नित्यही प्रातःकालमें वे लक्ष्मणजीको उठाकर श्रीरामजीके पास और शत्रुघ्नजीको भरतजीके पास पहुँचा देती थीं।

उपर्युक्त चरितसे यह सिद्ध हुआ कि चारों भाई अलग-अलग रहते थे। श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजी-के साथ और शत्रुघ्नजी श्रीभरतजीकी सेवामें रहना चाहते थे। यह कैसे हो; उसके लिये यह लीला रची गई। वसिष्ठजीने उनका आशय जानकर वैसाही उपाय कर दिया। इस चरितसे स्पष्ट है कि बालपनेसे ही श्रीलक्ष्मणजीका प्रेम श्रीरामजीमें और शत्रुघ्नजीका श्रीभरतजीमें था।

टिप्पणी—२ 'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी।०' इति। लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी अपने अपने स्वामी-के पास रहनेसे प्रसन्न रहते हैं। अतः माता लक्ष्मणजीको रामजीके पास और शत्रुघ्नजीको भरतजीके पास रख देती हैं। इस प्रकार (श्याम-गौरकी) दो जोड़ियाँ हो जानेसे अधिक शोभा होजाती है। इसी से जोड़ीकी छबि देखती हैं। यथा "दीन्हि असीस देखि भल जोटा। २६९।७', 'स्याम गौर किमि कहौं बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी। २२९।२।' [इन दोनोंमें श्याम-गौरकी एक जोड़ी है। आगेभी कहा है—'सखि जस राम लखन कर जोटा। तैसेइ भूप संग दुइ ढोटा। ३११।३।' इत्यादि। 'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी' का ऐसाभी अर्थ हो सकता है कि राम-भरत दोनों श्यामकी एक जोड़ी और लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों गौरकी एक जोड़ी। पर, एक श्याम और एक गौर अर्थात् राम-लक्ष्मण और भरत-शत्रुघ्नकी जोड़ीही प्रसंगानुकूल है। अ० रा० मेंभी श्याम-गौरकी एक जोड़ी कहा है।]

चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा ॥६॥
हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा ॥७॥

शब्दार्थ—'शील'=शुद्ध पवित्र आचरण, चरित, स्वभाव। यथा—'शुचौ तु चरिते शीलं' इत्यमरे। पुनः शील, यथा भगवद्गुणदर्पणे—'हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च वीभत्सै कुत्सितैरपि। महतोऽच्छिद्रं संश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वरा ॥' अर्थात् हीन दीन मलिन वीभत्स और कुत्सित ऐसे मनुष्यके साथभी बड़ोंके निष्कपट प्रेम वा व्यवहारको सुशीलता कहा है। रूप = जिस सौंदर्यके कारण शरीर बिना भूषणके ही भूषित सरीखा जान पड़े उसे रूप कहते हैं। यथा 'अंगान्यभूषितान्येव वलयाद्यैविभूषणः। येन भूषितवद्भान्ति तद्रूपमिति कथ्यते।' (श्रीगोविन्दराजीय टीका वाल्मी० ३.१.१३)। = वह सौंदर्य जिससे अलंकारादिभी सुशोभित होते हैं।

अर्थ—(यों तो) चारों भाई शील, रूप और गुणोंके धाम हैं तथापि श्रीरामजी अधिक सुखसागर हैं एवं सुखसागर श्रीरामजी (सबसे) अधिक हैं ॥ ६ ॥ (उनके) हृदयमें कृपारूपी चन्द्रमा प्रकाशित है। (उनकी) मनको हरनेवाली मुस्कान (उस कृपाचन्द्रकी) किरणोंको सूचित करती है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तदपि अधिक' का भाव कि यद्यपि ऐसी शोभा सभीकी हो रही है कि सभी शोभाके धाम हैं तथापि श्रीरामजी सबसे अधिक हैं। (ख) 'अधिक सुखसागर रामा' का भाव कि 'सब भाइयोंके दर्शनसे सुख होता है पर श्रीरामजीके दर्शनसे सुखका समुद्र होता है (अर्थात् सुखसमुद्र हृदयमें उमड़ आता है)। पुनः भाव कि तीनों भाई शील, रूप, गुण और सुखके धाम हैं और श्रीरामजी शील, रूप, गुणके समुद्र हैं एवं सुखके समुद्र हैं। धामसे समुद्र अधिक है। [गीतावलीमेंभी ऐसाही कहा है।

यथा 'या सिसुके गुन नाम बड़ाई । को कहि सकै सुनहु नरपति श्रीपति समान प्रभुताई ॥ १ ॥ जद्यपि बुधि बय रूप सील गुन समय (सम ये) चारु चारिऊ भाई । तदपि लोक लोचन चकोर ससि राम भगत सुखदाई ॥ २ ॥ सुर नर मुनि करि अभय दनुज हति हरिहि धरनि गरुआई । कीरति बिमल बिश्व-अघ-मोचनि रहिहि सकल जग छाई ॥ ३ ॥ याके चरन सरोज कपट तजि जो भजिहैं मन लाई । सो कुल-युगल सहित तरिहैं भव, यह न कछू अधिकाई ॥ ४ ॥ सुनि गुरुबचन पुलक तन दंपति हरष न हृदय समाई । तुलसिदास अवलोकि मातु मुख प्रभु मन में मुसुकाई ॥ पद १६ ॥' (ग) वैजनाथजी लिखते हैं कि शीलसे ऐश्वर्य और रूपसे माधुर्य्यगुणोंके धाम सूचित किये । (घ) पहले चारोंको शीलादिका धाम कहकर फिर भेद प्रकट करना 'विशेषक' अलंकार है ।]

२ (क) 'हृदय अनुग्रह-इंदु प्रकासा' इति । श्रीरामजीको सुखसागर कहा । माताओं को छबि दिखाकर सुख देते हैं, यह पूर्व कह आए । यथा 'स्याम गौर सुंदर दोउ जोरी निरखहिं छबि जननी तृन तोरी ।' भाइयोंको अनुग्रह करके सुख देते हैं यह यहाँ बताया । क्योंकि सब भाई सेवक-भावसे प्रीति करते हैं । (ख) 'सूचत किरन' का भाव कि अनुग्रहरूपी चन्द्रमा देख नहीं पड़ता, मनोहर हासके द्वारा सूचित होता है । [इस भावके अनुसार अर्थ होगा कि "मनोहर हास (रूपी) किरण (उस चंद्रमाको) जनाता है ।"—यही अर्थ रा० प्र० और पंजाबीजीने दिया है । पांड़ेजी अर्थ करते हैं कि "उस (अनुग्रह रूपी चन्द्रमा) की किरण मनोहर हँसनिमें देख पड़ती है ।" यहाँ अनुग्रह चंद्रमा है, हास किरण है और हृदय आकाश है । प्रभुकी यह अनुग्रहकी सुन्दर हँसी भक्तोंके हृदयकी जलनको मिटाती है । यथा 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत । २.२३६.८ ।' यहाँ 'परंपरित रूपक अलंकार' है ।]

कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना । मातु दुलारै कहि प्रिय ललना ॥ ८ ॥

दोहा—ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कोसल्या कें गोद ॥ १९८ ॥

शब्दार्थ—'पलना' (पालना, पल्यंक)=रस्सियोंके सहारे टँगा हुआ एक प्रकारका गहरा खटोला या बिस्तरा जिसपर बच्चोंको सुलाकर झुलाते हैं; हिंडोला । 'दुलारहिं'=दुलार लाड़प्यार करती हैं; बहलाकर प्यार करती हैं । प्रेमके कारण बच्चोंको प्रसन्न करनेकेलिये उनके साथ अनेक प्रकारकी चेष्टाएँ की जाती हैं, वे सब इस शब्दमें आजाती हैं । 'ललना'=बच्चोंके प्यारके नाम । यथा 'बाछरू छबीलो छौना छगन मगन मेरे कहत मल्हाइ मल्हाई', 'ललन लोने लैरुआ बलि मैया । सुख सोइये नींद बेरिया भई चारु चरित चारिउ भैया । कहति मल्हाइ लाइ उर छिन-छिन छगन छबीले छोटे छैया ।···गी० १।१७ ।'

अर्थ—कभी गोदमें और कभी उत्तम पालनेमें माताएँ प्यारे लालन (इत्यादि प्यारके नाम) कह कहकर उनका लाड़-प्यार करती हैं ॥८॥ जो ब्रह्म व्यापक, निर्दोष और मायासे निर्लिप्त वा मायासे रहित, सत्व, रज और तम तीनों मायिक गुणोंसे परे त्रिगुणातीत, क्रीड़ारहित और अजन्मा है वही प्रेमाभक्ति वा प्रेम और भक्तिके वश कौशल्याजीकी गोदमें है । १९८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कबहुँ उछंग०' इति । इस अर्धालीमें सूक्ष्मरीतिसे दोलारोहण वा दोलोत्सवका वर्णन है । यह माताओंका उत्साह है कि कभी गोदमें ले लेती हैं और कभी पालनेमें झुलाती हैं । गीतावली पद १५ और १८ से २१ तक इस संबंधमें पढ़ने योग्य हैं । इस उत्सवमें बच्चेको श्रृङ्गार करके पालनेपर लिटाकर गान किया जाता है । (ख) 'कबहुँ उछंग' अर्थात् गोदमें लेकर हलराती हैं । 'कबहुँ बर पलना' अर्थात् पलनेपर लिटाकर झुलाती हैं । यथा 'लै उछंग कबहुँक हलरावै । कबहुँ पालने घालि झुलावै ॥' (ग) 'बर'

कहकर पालनेके बनावकी सुन्दरता कही। यथा "कनक-रतन-मय पालनो रच्यो मनहुँ मारसुतहार। बिबिध खिलौना किंकिनी लागे मंजुल मुक्ताहार। रघुकुलमंडन रामलला ॥ १ ॥ जननि उबटि अन्हवाइ कै मनि भूषन सजि लियो गोद। पौढ़ाए पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद। दसरथनंदन रामलला ॥ गी० १।१६।'

२ (क) "व्यापक ब्रह्म०" इति। तात्पर्य्य कि प्रेम-भक्तिके वश होकर परमेश्वरने अपनी मर्यादा छोड़ दी। जो सर्वत्र व्यापक है वह ही एक जगह आ प्रकट हुआ। जो ब्रह्म अर्थात् बृहत् है वही छोटा हो गया, राजाका लड़का बना अर्थात् जीव कहलाया और इतना छोटा होगया कि कौसल्याजी उसे गोदमें लिये हैं। (यहाँ 'द्वितीय अधिक अलंकार' है)। जो निरंजन (मायारहित) है वह मायारचित पृथ्वीपर लीला करते देखनेमें आया। जो निर्गुण है उसने गुण धारण किये वा जो अव्यक्त है वह व्यक्त हुआ। जो विनोद-बिगत है वह विनोद कर रहा है। यथा 'एहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा'। जो अजन्मा है उसने जन्म लिया और माताकी गोदमें है।—यह सब क्यों? केवल 'प्रेम भगति वश'। मनु-शतरूपाजी के प्रेम और भक्तिके वश होकर वे प्रभु आज मर्यादा त्यागकर वात्सल्य-सुख दे रहे हैं। यथा 'देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले ॥'''नृप तव तनय होब मैं आई।', 'होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत।' (ख) 'कौसल्या कें गोद' इति। यहाँ (अर्थात् जबतक माताकी गोदमें हैं तब) तक विशेष सुख माताहीको है, इसीसे माताका नाम यहाँ दिया। पुनः, भाव कि जो योगियोंके मनमें नहीं आते वेही कौसल्याकी गोदमें आगए, यह प्रेमकी प्रबलता है, प्रेमकी महिमा है।

नोट—१ गोस्वामीजीकी यह शैली है कि जब माधुर्य्यका वर्णन होता है तब उसके साथ ऐश्वर्यका टाँका लगा देते हैं जिसमें पाठक मोहमें न पड़ जायँ। कलाकी भाषामें इसीको नाटकीय और महाकाव्यकला-के एकीकरणकी युक्ति कहते हैं।

२ श्रीबैजनाथजीका मत है कि इस दोहेमें सूर्य्यावलोकनोत्सव सूचित कर दिया है। कौसल्याजी आज ज्येष्ठ शु० ११ को शिशुको गोदमें लेकर आँगनमें निकली हैं। इसीसे यहाँ सर्वांगकी माधुरीका वर्णन करेंगे, क्योंकि अब सबोंने प्रभुका दर्शन किया। गोदका ध्यान आगे देते हैं।

प. प. प्र. का मत है कि यहाँ गोदुग्धप्राशनविधि सूचित किया है जो शास्त्रानुसार जन्मनक्षत्रमें एकतीसवें दिन होता है। 'कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना।''' यह दो० १९५ के बादसे अट्ठाईसवीं पंक्ति है। विशेष विस्तार मराठी गूढ़ार्थचन्द्रिका में किया है जो छपनेवाली है।

काम कोटि छबि स्याम सरीरा। नील कंज बारिद गंभीरा ॥ १ ॥
अरुन चरन पंकज नख जोती। कमल दलन्हि बैठे जनु मोती॥ २ ॥

अर्थ—नील कमल और जलसे भरे हुए बरसनेवाले गंभीर मेघोंके समान श्याम शरीरमें करोड़ों कामदेवोंकी छबि है ॥ १ ॥ लाल-लाल चरणकमलोंके नखोंकी ज्योति (चमक, द्युति) ऐसी जान पड़ती है मानों कमलदलोंपर मोती बैठे हैं (अर्थात् जड़े हुए हैं) ॥ २ ॥

☞पांड़ेजी प्रथम अर्धालीका अर्थ यह करते हैं—"श्रीरामजीके श्याम शरीरमें करोड़ों कामदेवों, करोड़ों नीलकमलों और करोड़ों गंभीर नीले बादलोंकी छबि है।"

टिप्पणी - १ (क) 'काम कोटि छबि०' इति। नाम कहकर अब रूप कहते हैं। कामदेव श्याम है और छबिमान् भी। [पुनः, सृष्टिमात्रमें कामदेव सबसे अधिक सुंदर माना गया है, यथा 'काम से रूप'''। क० ७.४३।' अतएव उसकी उपमा दी कि करोड़ों ऐसे कामदेवोंके एकत्र होनेपर जैसी छबि हो वैसी छबि श्रीरामजीके श्याम शरीरकी है। पुनः, भाव कि एक कामदेवसे त्रैलोक्य मोहित हो जाता है तब जिसमें

असंख्यों कामदेवोंकी छबि है उसका दर्शनकर भला ब्रह्माण्डमें कौन ऐसा है जो न मोहित हो ? (रा० प्र०) ।] (ख) कामकी 'छबि' और मेघकी 'गंभीरता' धर्म कहे, पर नीलकंजके धर्म न कहे, क्योंकि इसके धर्म स्पष्ट हैं, सब जानते हैं कि नीलकमलमें श्यामता और कोमलता धर्म हैं, यथा 'नीलांबुज श्यामल कोमलांगं··· । अ० मं० श्लो० ३ ।' बारिद=जल देनेवाला = सजल मेघ । (ग) निर्गुण ब्रह्मके विशेषण व्यापक, निरंजन, अज, आदि ऊपर कह आए । वही ब्रह्म जब सगुण रूपसे मनुशतरूपाजीके सामने आया तब उसके स्वरूपमें तीन प्रकारकी नीलता (नीलापन) कही है,—'नील-सरोरुह नील-मनि नील-नीरधर स्याम' । वही तीनों नीलमाएँ कौसल्याजीके यहाँ आनेपर कही हैं । 'नीलकंज बारिद गंभीरा' ये दो यहाँ कहीं और नीलमणिको उत्तरकांडमें कहा है, यथा 'मरकत मृदुल कलेवर स्यामा । ७।७६।५ ।' [यहाँ नीलमणिकी उपमा न दी, क्योंकि अभी प्रभुकी शैशवावस्था है जिसमें सब अंग अत्यन्त कोमल होते हैं । जब 'अजिरबिहारी' होंगे तब मर्कतमणिकी उपमा देंगे । मणि पुष्ट और कठोर होता है । उत्तरकांडमें महलके आँगनमें खेलते समयका ध्यान है; यथा 'बाल बिनोद करत रघुराई । बिचरत अजिर जननि सुखदाई ॥ मरकत मृदुल···। ७.७६ ।' और मनु-शतरूपाके सामने किशोरावस्थासे प्रभुने दर्शन दिये हैं; इससे वहाँ 'नीलमणि' की भी उपमा दी गई।

२ (क) 'अरुन चरन पंकज०' इति । यहाँ नखशिख वर्णन करते हैं इसीसे चरणसे प्रारम्भ किया। [वात्सल्य रसका प्रसंग होनेसे यहाँ चरणसे ध्यानका वर्णन उठाया । (वै०) । चरणोंको अरुण कहकर यहाँ तलवोंका वर्णन जनाया । चरण-तल अरुण हैं । चरणोंके ऊपरका भाग श्याम है सो ऊपर 'काम कोटि छबि स्याम सरीरा' में कह चुके हैं । पदपीठ नीलकंज और पद-तल अरुण-कमलके समान है । प्रथम सारे शरीरकी शोभा कहकर, अब पृथक्-पृथक् सब अंगोंकी शोभा कहते हैं । (ख) 'कमल दलन्हि बैठे जनु मोती' इति । लक्ष्मीजीका वास कमलमें है । वही यहाँ कहते हैं । मोती लक्ष्मी है सो कमलदलमें बैठी है । लक्ष्मीजी चरणसेविका हैं । अतएव मोतीका कमलदलोंपर बैठना कहकर जनाया कि लक्ष्मीजीही कमलमें भगवान्की चरण-सेवाके लियेही आ बैठी हैं ।

नोट - १ कमलदलपर मोती रुक नहीं सकता, अतएव 'बैठे' पद देकर उत्प्रेक्षा की कि मानों मोती उसपर जमाए वा जड़ गए हैं वा आकर स्थिर होगए हैं । यहाँ मोतियोंने अपना रंग त्यागकर अरुण कमलका रंग ग्रहण किया है । नखोंमें तलवोंकी अरुणता झलक रही है । मिलान कीजिये—'स्याम बरन पदपीठ अरुन तल लसत बिसद नखश्रेनी । जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी ॥' गी० ७।१५।', 'पदुमराग रुचि मृदु पदतल ध्वज अंकुस कुलिस कमल यहि सूरति । रही आनि चहुँ बिधि भगतन्हि की जनु अनुरागभरी अंतरगति ।गी० । ७।१७।२ ।' (२) 'काम कोटि···गंभीरा' में 'वाचक लुप्तोपमा' है और 'कमलदलन्हि ' में 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है ॥ (वीर) ।

रेख कुलिस ध्वज अंकुस सोहे । नूपुर धुनि सुनि मुनि मन मोहे ॥ ३ ॥

अर्थ—(दाहिने चरणके तलवेमें) वज्र, ध्वजा और अंकुश चिह्न शोभित हैं । नूपुर (घुँघुरू, पैजनी, पाजेब) की ध्वनि (शब्द) सुनकर मुनियोंका मन मोहित हो जाता है ॥ ३ ॥

टिप्पणी - १ (क) [श्रीरामजीके चरणोंमें अड़तालीस (प्रत्येक चरणमें चौबीस चौबीस) चिह्न वा रेखायें कही गई हैं । परंतु ऋषियोंने ध्यानके लिये, किसीने २२, किसीने १३, किसीने ६ इत्यादि विशेष उपयोगी समझकर उतनेहीका वर्णन किया है । भक्तिसुधास्वादतिलक भक्तमाल (श्री १०८ सीतारामशरण भगवान्प्रसाद श्रीरूपकलाजीकृत), लाला भगवान्दीनजीके 'रामचरणचिह्न', मुं० तपस्वीरामसीतारामीयजीके भक्तमाल और महारामायण इत्यादिमें इनका विस्तृत वर्णन है । श्रीमद्गोस्वामिपादने प्राय: चार चिह्नोंको विशेष उपयोगी जानकर उन्हींका अंकित होना वर्णन किया है । सब चिह्नोंका ध्यानभी कठिन है । भक्तिरसबोधिनीटीकामें श्रीप्रियादासजीने इन चारोंके ध्यानके फल यों कहे हैं—"मनही मतंग मतवारो हाथ

आवै नाहिं ताके लिये अंकुस लै धार्यो हिये ध्याइए। ऐसेही कुलिस पापपर्वतके फोरिबे को भक्तिनिधि जोरिबेको कंज मन ल्याइए ॥'', ''छिनमें सभीत होत कलि की कुचाल देखि ध्वजा सो बिशेष जानो अभयको बिश्वास है।''] (ख) यहाँ तीनही रेखाएँ लिखीं। चौथीका नाम उत्तरकांडमें दिया है, यथा 'ध्वज कुलिस अंकुस कंज युत बन फिरत कंटक किन लहे। ७।१३।४।' एक जगह चार रेखाओंके नाम कहकर सर्वत्र उन चारोंको जना दिया है; बारंबार सबका उल्लेख नहीं करते।—यह गोस्वामीजीकी शैली सर्वत्र ग्रंथभरमें देखी जाती है; यथा 'ललित अंक कुलिसादिक चारी। ७.७६।' इसीसे यहाँ 'कमल' की रेखा नहीं कही गई।

नोट—१ पंजाबीजीका मत है कि यहाँ तीनहीसे सब चिह्न समझ लेना चाहिए। (पर गोस्वामीजी ने 'चारी' शब्द देकर चारही विशेषोपकारी चिह्नोंकाही उल्लेख मानसमें किया है।)

२ बैजनाथजीका मत है कि वज्र दक्षिण पदके अँगूठेके और अंकुश तथा ध्वजा एँड़ीके निकट होनेसे प्रसिद्ध देख पड़ते हैं इससे वही तीन कहे। अथवा, पापका नाश, मनका वश करना और कामादि शत्रुओंसे विजयका ही प्रयोजन था इससे वही तीन कहे। अथवा, तीनही कहे कि इन्हें सुनकर लोग और चिह्नोंको भी समझ लेंगे।

टिप्पणी—२ (क) 'नूपुर धुनि सुनि मुनिमन मोहे' इति। मुनिमनका मोहित होना कहकर नूपुरके शब्दका अतिशय मधुर, मनोहर और आह्लादवर्द्धक होना जनाया। यथा 'नूपुर चारु मधुर रवकारी। ७.७६.७।' यहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति अलंकार' है। मुनिके मन 'विषयरसरूखे' होते हैं, सांसारिक विषयोंमें कदापि नहीं जाते, सो जब वेभी मोहित हो जाते हैं तब तो यह निश्चय है कि यह शब्द अवश्य 'अप्राकृत' होगा। (ख) नूपुर-ध्वनि यहाँ कहा। यह शब्द क्यों होता है, यह आगे 'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई' में कहा है। अर्थात् घुटने और हाथोंके बलसे बिचरते हैं तब नूपुर बजते हैं।

कटि किंकिनी उदर त्रय रेखा। नाभि गभीर जान जिहिं देखा ॥ ४ ॥
भुज बिसाल भूषन जुत भूरी। हिय हरि नख अति सोभा रूरी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—किंकिनी (किंकिणी = करधनी, कटिसूत्र, क्षुद्रघंटिका, जेहर। हरिनख = बघनहाँ; बघनखा; बाघ या सिंहका नख (नाखुन)। यह एक आभूषण है जिसमें बाघके नाखुन चाँदी या सोनेमें मढ़े होते हैं जो गलेमें तागेमें गूथकर पहिना जाता है। यथा 'कठुला कंठ बघनहां नीके। नयन-सरोज अयन सरसीके ॥ गी०। १।२८।' प्रायः बच्चोंको यह इस लिये पहिनाते हैं कि वे वीर हों और डरें नहीं। जुत = युत, युक्त। भूरी = बहुत, समूह। रूरी = उत्तम, सुन्दर, अच्छी, श्रेष्ठ, निराली।

अर्थ—कमरमें किंकिणी और पेटपर त्रिबली है। नाभि (तोंदी, तुन्दी, ढोंढी) गहरी है (उसकी गहराईको तो वही जाने जिसने देखा है ॥ ४ ॥ बहुतसे आभूषणोंसे युक्त (आजानु; घुटनेपर्य्यन्त) लंबी-लंबी भुजाएँ हैं। हृदयपर बघनखाकी छटा अत्यन्त निराली है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नूपुर धुनि०' के पश्चात् 'कटि किंकिनी०' को कहकर सूचित किया कि किंकिणीमेंभी मधुर ध्वनि होती है। यथा 'कटि किंकिनि कल मुखर सुहाई। ७ ७६.८।' ['त्रयरेखा' = त्रिबली अर्थात् वह तीन बल जो पेटपर पड़ते हैं। इन बलोंकी गणना सौन्दर्य्यमें होती है। यथा 'रुचिर नितंब नाभि रोमावलि त्रिबलि बलित उपमा कछु आव न। गी०। ७.१६।' दोहा १४७ 'उदर रेख बर तीनि।' में भी देखिये। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'त्रिरेखा सूचित करती है कि त्रिदेव इसी चिह्नसे उत्पन्न हुए हैं।'] (ख) 'नाभि गँभीर जानि जिहिं देखा' इति। गंभीरता नाभिकी शोभा है। 'जान जिहिं देखा' अर्थात् जिसने देखा वही जानता है, पर कह वहभी नहीं सकता तब हम क्या कहें? यहाँ श्रृङ्गारके वर्णनमें वीभत्स वर्णन करना रसाभास है, इसीसे गुप्तांगोंका वर्णन नहीं किया गया।

"जान जिहिं देखा" इति।

पं० रामकुमारजीका मत है कि "नाभिकी गंभीरता कौसल्याजीने देखी है; सो वेही जानें, कह वे भी नहीं सकतीं। 'जिहिं देखा' एकवचन है। एकवचन देकर जनाया कि रूपके देखनेवाले बहुत नहीं हैं, इसीसे 'जिन्ह देखा' ऐसा बहुवचन नहीं कहा।"

प्रायः अन्य सभी टीकाकारोंका यह मत है कि यहाँ ब्रह्माजीकी ओर इशारा है। भगवान्‌ने जब सृष्टिकी उत्पत्ति करनी चाही तब प्रथम जल उत्पन्न करके 'नारायण' नाम-रूपसे उसमें शयन किया, फिर उनकी नाभिसे कमल उत्पन्न हुआ और उससे ब्रह्माजी। ब्रह्माजीने जब इधर-उधर कुछ न देखा तब वे कमलनालमें प्रवेशकर उसके आधारका पता लगाने चले। सौ वर्षतक इसी खोजमें फिरते रह गए, पर पता न लगा। नाभिकमलका अंत न पाया तब वे समाधिस्थ होगए। सौ वर्ष बीतनेपर भगवान्‌ने दर्शन दिया। (भा० स्क० ३ अ० ८)। यहाँ गोस्वामीजी उन्हींकी साक्षी देते हैं कि उसकी गहराईकी थाह वे तो पाही न सके तब दूसरे किस गिनतीमें हैं।

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'कुरानशरीफ़मेंभी लिखा है कि भगवान्‌का सिंहासन जलपर है।'

'Whose throne is on the waters' (Yusuf Ali's translation of the Quran)

☞राजारामशरण लमगोड़ा—तुलसीदासजीके नखशिखवर्णन ऐसे सुन्दर हैं और उनमें देश, काल, पात्र, अवस्था और अवसरका इतना सूक्ष्म विचार है कि यदि श्रीरामजीके सभी ऐसे वर्णन एकत्रित करके रक्खे जावें तो उनके जीवनकी सारी अवस्थाओंका बड़ा ही सुन्दर कलापूर्ण चित्रण होजावेगा। चित्रकारी-कलाकेभी वे बड़े सुन्दर शाब्दिक नमूने हैं।

टिप्पणी—२ (क) किंकिणीके बाद 'भुज बिसाल भूषनजुत भूरी' कहकर सूचित करते हैं, कि हाथ मेंके कंकण भी बज रहे हैं। कंकणमें शब्द होता है, यथा 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि'। इस प्रकार कंकण, किंकिणी और नूपुर तीनोंकी ध्वनि कही। (ख) यहाँ हृदयमें हरिनखकी अति शोभा कहते हैं और (आगेके चरणमें) उरमें मणियोंके हारकी शोभा कहते हैं, यह भेद कहकर जनाया कि मणि तारागण हैं और हरिनख चन्द्रमा है। तारागणसे चन्द्रमाकी शोभा अधिक है। (ग) ['भुज बिसाल' अर्थात् आजानुबाहु हैं। बड़े भाग्यशालियोंके ऐसे विशाल बाहु होते हैं। महात्मा श्री (राम) नारायणदासजी रत्नसागर श्रीजनकपुर और पं० श्रीजानकीवरशरणजीमहाराज श्रीअयोध्याजी आजानुबाहु थे। इनकी कीर्ति विख्यात है। विशाल कहकर जनाया कि जनकी रक्षामें सदा सर्वत्र तत्पर हैं। इनकी विशालता भुशुण्डीजीने जानी है। यथा 'सप्त आवरन भेद करि जहाँ लगे गति मोरि। गएउँ तहाँ प्रभु भुज निरखि ब्याकुल भएउँ बहोरि'। पुनः यथा "जहाँ जमजातना घोर नदी भट कोटि जलच्चर दंत टेवैया। जहँ धार भयंकर वार न पार न बोहित नाव न नीक खेवैया। तुलसी जहँ मातु पिता न सखा नहिं कोउ कहूँ अवलंब देवैया। तहाँ बिनु कारन राम कृपाल बिसाल भुजा गहि काढ़ि लेवैया॥ क० ७.५२।' (ख) कुछ लोगोंने शोभा और रूरी का एकही अर्थ मानकर पुनरुक्तिके भयसे 'रूरी' को 'हिय' का विशेषण मान लिया है। रूरी=सुन्दर।]

नोट—१ 'भूषन जुत भूरी' इति। भूषणोंके नाम न दिये जिसमें भावुक समयके अनुसार जो चाहें लगा लें। २—जनके मोहरूपी हाथीको डरवानेके लिये हरिनख धारण किया है। (रा० प्र०)

उर मनिहार पदिक की सोभा। बिप्र चरन देखत मन लोभा॥ ६॥

शब्दार्थ—पदिक = बज्रबट्टू, चौकी, धुकधुकी। 'पदिकहार भूषन मनि जाला' १४७ (६) देखिये। अयोध्याविंदु (देवतीर्थस्वामीकृत) में लिखा है—"पदिकहार रघुबरकंठनमें सात मणिनको झलकि रहा।

मोहनमाला जाहि कहत हैं अधिक छबिनमें छलकि रहा । भावी रामचरित जनु सातो कांडनसे हिय हलकि रहा । स्ववरण-सूतनसे ग्रंथित लखि देवहुको मन ललकि रहा ।"

अर्थ—वक्षस्थलपर मणियोंका हार और पदिककी शोभा हो रही है । भृगुलता देखतेही मन लुभा जाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'उर मनिहार' इति । यहाँ किसी मणिका नाम न देकर जनाया कि हारमें सब प्रकारके उत्तम मांगलिक मणि हैं । मणिहार और पदिककी शोभा एक साथ कहकर सूचित करते हैं कि मणिहार और पदिक दोनों मिलकर शोभित हो रहे हैं । यथा 'गज मनि माल बीच भ्राजत कहि जात न पदिक निकाई । जनु उड़गन मंडल बारिद पर नवग्रह रची अथाई । वि० ६२ ।' (ख) 'बिप्र-चरन देखत मन लोभा' इति । बिप्रचरण आभूषणकी तरह शोभित है, इसीसे आभूषण-वर्णनके बीचमें विप्रचरणकोभी वर्णन किया । [यह चिह्न भगवान्‌के वक्षस्थलकी कोमलता और हृदयकी क्षमाको प्रकट कर रहा है । ऐसा कोमल है कि उसपर भृगुजीके चरणका चिह्न आजतक विराजमान है । यथा "उर बिसाल भृगुचरन चारु अति सूचत कोमलताई । वि० ६२ ।' भगवान् क्षमाशील ऐसे हैं कि उल्टे अपनाही अपराध मान लिया । भृगुजीने सबकी परीक्षा ली पर क्षमावान् एक आपही ठहरे । भृगुचरण देखकर स्मरण हो आता है कि 'ऐसा क्षमावान् स्वामी दूसरा कौन है ?' कोईभी तो नहीं, बस यह स्मरण होतेही मन लुब्ध हो जाता है कि उपासना योग्य येही हैं । (पांडेजी) इसीसे 'देखत मन लोभा' कहा ।]

नोट—१ यहाँ भृगुलताका वर्णन है । मनु-शतरूपा-प्रकरणमें इसका वर्णन नहीं है । इसके विषयमें कुछ तो 'उर श्रीवत्स० । १४७।६ ।' में लिखा गया है । कुछ लोगोंके भाव यहाँभी लिखे जाते हैं ।–(१) पंजाबीजी लिखते हैं कि यह 'चरणचिह्न अवतारोंका लक्षण है ।' (२) रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'व्यूह, विभु, अर्चा और अंतर्यामी समस्त रूप इसी रूपसे हैं । इसलिये उन रूपोंका चिह्नभी इस रूपमें रहता है ।' (३) कोई लिखते हैं कि यहाँ अंशी और अंशमें अभेद दिखाया है । देवता आर्त्त हैं, जानते हैं कि विष्णु भगवान् भक्तोंके हितार्थ अवतार लिया करते हैं । अतः उनकी प्रतीतिके लिये प्रभु यह चिह्न आविर्भाव होनेपर ग्रहण कर लेते हैं ।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "नवाही के परमहंस श्री १०८ श्रीस्वामी रामशरणजी महाराज कहते थे कि श्रीगोस्वामीजीका मानस उनके और ग्रंथोंसे निराला है । उसमें तीनही जगह विप्रचरणकी चर्चा है । १—यहाँ, २—'उर धरासुर पद लस्यो' (लं० दो० ८६); ३—'विप्रपादाब्जचिन्हम्' (उ० मं०) । तीनों जगह भृगुका नाम नहीं है । अतः यह विप्र-चरण श्रीवसिष्ठजीका चरण-चिह्न है । गी० बा० १२वें पदके अनुसार झड़वानेके पीछे कौशल्याजीने प्रार्थना की कि बच्चेके वक्षस्थल पर आप अपना चरण रख दें जिससे यह कभी डरे एवं चौंके नहीं । गुरुजीने वैसाही किया, वह चिन्ह है । श्रीपरमहंसजी श्रीरामजीकी रूपनिष्ठाकी अनन्यतामें प्रसिद्ध थे ।"

इसमें संदेह नहीं कि परमहंसजी महाराज परम अनन्य निष्ठावाले थे । इसीसे उन्होंने 'विप्र' से वसिष्ठजीका अर्थ लिया है । परंतु गीतावलीका जो प्रमाण दिया गया है उसमें स्पष्ट शब्द ये हैं—"बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के । सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के । जासु नाम सर्बस सदासिव पार्वती के । ताहि झरावति कौसिला, यह रीति प्रीति की हिय हुलसति तुलसी के । माथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे ।···निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहति मृदु बचन प्रेम के से पागे ॥ तुम्ह सुरतरु रघुबंसके, देत अभिमत माँगे । मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद जाके सकल अमंगल भागे ॥ अमिय बिलोकनि करि कृपा मुनिबर जब जोए । तब तें राम अरु भरत

लषन रिपुदवन सुमुख सखि ! सकल सुवन सुख सोए।"; इससे वक्षःस्थल पर चरण रखनेकी प्रार्थना और चरणका रखना केवल कल्पना सिद्ध होती है। फिर यदि चरण रखा होता तो चारों भाइयोंके यह चिह्न होता।

अन्य कतिपय महात्माओंका मत है कि जिन वसिष्ठजीसे हाथ जोड़कर कविने श्रीरामजीकी प्रार्थना मानसमें कराई है; यथा 'राम सुनहु मुनि कह कर जोरी। कृपासिंधु बिनती कछु मोरी। ७.४८।' उनसे वक्षःस्थल पर चरण कभी न रखवायेंगे। यदि नरनाट्यके अनुसार चरणका स्पर्श हुआ भी हो तो स्पर्शमात्रसे चिह्न बन जाना असंभव जान पड़ता है। भृगुजीने तो बलपूर्वक आघात किया था अतः उससे चिह्न हो जाना उपयुक्तही है।

२ 'विप्र-चरण' इति। 'भृगुचरण' के संबंधमें श्रीमद्भागवत स्कंध १० अ० ८९ में यह कथा है कि एक समय जब सरस्वती नदीके तटपर ऋषिगण एकत्र हो यज्ञ कर रहे थे तब वहीं यह तर्क उपस्थित हुआ कि त्रिदेवमेंसे कौन श्रेष्ठ है ?' जब वे आपसमें निर्णय न कर सके तब समाजने ब्रह्माके पुत्र महर्षि भृगुको इस विषयकी परीक्षा करनेके लिए भेजा। वे प्रथम ब्रह्मलोक ब्रह्माकी सभामें गए और उनके सत्वकी परीक्षाके लिये उनको दंडप्रणाम स्तुति न की। पुत्रकी इस धृष्टतापर ब्रह्माजी अत्यंत कुपित हुए। तब मुनि कैलाशको गए। श्रीशिवजी भाईसे मिलनेको आनन्दपूर्वक उठे, परन्तु उन्होंने यह कहकर कि 'तुम कुमार्गगामी हो, मैं तुमसे नहीं मिलना चाहता' उनका तिरसकार किया। इसपर शिवजीने अत्यन्त कुपित हो उनपर त्रिशूल उठाया, परन्तु जगदम्बा श्रीपार्वतीजीने उनको शान्त कर दिया। वहाँसे चलकर ऋषि बैकुण्ठ पहुँचे जहाँ देव जनार्दन श्रीजीकी गोदमें लेटे थे। भगवान्‌को लक्ष्मीकी गोदमें सिर रक्खे हुए शयन करते देख भृगुजीने उनकी छातीमें एक लात मारी। भगवान् तुरत लक्ष्मीसहित पर्य्यंकपर से उतर मुनिको प्रणामकर कोमल मीठी वाणीसे बोले—'ब्रह्मन् ! आपको आनेमें कोई कष्ट तो नहीं हुआ ? पर्यंकपर विराजिए, विश्राम कर लीजिए। प्रभो ! मैंने आपका आगमन न जाना, मेरे अपराधको क्षमा कीजिये। भगवन् ! आपके कोमल चरणोंमें मेरे कठोर वक्षःस्थलसे चोट लग गई होगी (कहनेके साथही उनके चरणको सोहराने लगे)—तीर्थोंको भी पावन करनेवाले अपने चरणामृतसे हमें पवित्र कीजिए। मेरे लोकके सहित मुझे तथा मुझमें स्थित लोकपालोंको पवित्र कीजिए।—""पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्‌गतान्। पादोदकेन भवस्तीर्थानां तीर्थकरिणा। ११।" यह आपका चरण-चिह्न शोभाका एकमात्र आश्रय है, इसे मैं सदैव आभूषणवत् धारण किए रहूँगा। भृगुजी अवाक् रह गए। उनका हृदय भर आया और नेत्रोंसे प्रेमानन्दाश्रु बहने लगे। लौटकर भृगुजीने सब वृत्तान्त और अपना अनुभव ऋषिसमाजको सुनाया। इस प्रकार सिद्धान्त स्थित करके सब उन्हीं सत्यमूर्त्तिका भजन करने लगे।

कंबु कंठ अति चिबुक सुहाई। आनन अमित मदन छबि छाई॥ ७॥
दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे। नासा तिलक को बरनै पारे॥ ८॥

शब्दार्थ—पारे = पार पा सके समर्थ हो सकें। वा, पारना = सकना, यथा 'प्रभु सनमुख कछु कहइ न पारैं', 'सोक बिकल कछु कहै न पारा' एवं 'बाली रिपुबल सहै न पारा'।

अर्थ—कंठ शंखके समान (त्रिरेखायुक्त) और ठोड़ी बहुतही सुहावनी है। मुखपर असंख्यों कामदेवोंकी छबि छा रही है॥ ७॥ दो-दो दाँत (ऊपर नीचे) हैं, लाल-लाल ओंठ हैं। नासिका और तिलकका वर्णन कौन कर सकता है ? (कोई भी नहीं)॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'कंबु कंठ'। शङ्ख समान कहकर जनाया कि त्रिरेखायुक्त है और मानों त्रैलोक्यसुखमाकी सीमा है। यथा "रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ। २४३।८।' तीनों लोकोंकी शोभा कंठमें है। नीचेकी रेखामें पातालकी, मध्यरेखमें मर्त्यलोककी और ऊपरकी रेखामें स्वर्ग-

लोककी शोभा है। विशेष १४७ (१) में देखिये। [त्रिरेखायुक्त होनेके और भाव ये कहे जाते हैं—(१) त्रिपाद्विभूतिके ये ही स्वामी हैं। (रा० प्र०)। (२) तीनों लोकोंके कर्ता हरि इन्हींके गले पड़े हैं। (रा० प्र०)। (३) मानों तीनों लोकोंकी शोभा वा त्रिपाद्विभूति है। (वै०)। पंजाबीजीकी टीकामें 'कंबु' का भाव 'त्रिरेखायुत और सतखंड' लिखा है।]

(ख) 'कंबु कंठ' अर्थात् कंठ त्रिभुवनकी शोभाकी सीमा है, यह कहकर 'अति चिबुक सुहाई' और 'आनन अमित मदन छबि छाई' कहनेका भाव कि कंठ त्रिभुवनशोभाकी अवधि है और चिबुक इसके ऊपर है (अतः इसकी शोभा अधिक है, यह अत्यंत शोभित है) और मुख इसके भी ऊपर है (अर्थात् ऊपर होनेसे चिबुकसे भी अधिक शोभा इसकी है। इसीसे इसकी शोभाके विषयमें 'अमित मदन छबि छाई' कहा। (उत्तरोत्तर अधिक शोभा दिखाई)। (ग) 'आनन अमित···' इति। शरीरमें कोटि कामकी छबि कही,—'काम कोटि छबि स्याम सरीरा', और मुखमें अमित कामदेवोंकी छबि कहते हैं। वहाँ 'कोटि' और यहाँ 'अमित' शब्द देकर जनाया कि समस्त शरीरकी छबिसे मुखकी शोभा अधिक है, यथा 'राम देखि मुनि देह बिसारी। भए मगन देखत मुख सोभा। २०७।४-५।' समस्त शरीर देखकर विश्वामित्रका वैराग्य भूल गया और मुखकी शोभा देख वे अपनी सुधिही भूल गए (शोभासमुद्रमें डूबही गए। पं० रामकुमारजीके खर्रेमें 'देह' शब्द छूट गया है। संभवतः "बिरति बिसारी" पाठसे उपर्युक्त भाव कहा गया है)।

नोट—१ जान पड़ता है कि प्रथम समष्टि छबि कहकर जब नखशिख वर्णन करने लगे तब चरणोंसे ध्यानका वर्णन करते हुए ऊपरकी ओर आए। जब मुखारविन्दपर दृष्टि पड़ी तब सोचे कि इसके सामने तो अनंत कामदेवोंकी शोभाभी धूलिके बराबर है; अतएव यहाँ अमित विशेषण दिया। (प्र० सं०)।

२ श्री नंगे परमहंसजी 'आनन' का अर्थ 'आँख' करते हैं और उसकी पुष्टिमें कहते हैं कि "यदि आननका अर्थ मुँह किया जाय तो अनर्थ हो जायगा क्योंकि नेत्रके लिये दूसरा कोई शब्दही नहीं है कि जिसका अर्थ नेत्र किया जाय। और नेत्र मुँहका प्रधान अंग है।···नेत्रके बिना मुँहकी शोभा हो ही नहीं सकती···और यहाँ शोभाका प्रसंग है। अतः आननका अर्थ आँख होगा। यदि कहिए कि ग्रंथकारने मुँह नहीं लिखा, आठो अंग लिखे हैं तो चिबुक, नेत्र, दाँत, ओष्ठ, नाक, ललाट, कपोल और कान यही आठ अंग मुँह कहलाता है, मुँह कोई दूसरी चीज नहीं है।···'नींदउ बदन सोह सुठि लोना। मनहुँ साँझ सरसी-रुह सोना।' में 'बदन' का अर्थ आँख ही होगा, क्योंकि प्रसंग नींदका है।···मुखके लिये लाल कमलकी उपमा नहीं दी जाती। "कंध बालकेहरि दर ग्रीवा। चारु चिबुक आनन छबि सीवा॥ नील कंज लोचन भव मोचन।" में आनन और नेत्र दोनों कहे गए हैं, इसलिये वहाँ आननका अर्थ मुँह किया जायगा। पर जहाँ आनन एकही शब्द लिखा गया है और नेत्रोंके लिये दूसरा शब्द नहीं है वहाँ आननका अर्थ आँखही होगा।" ['आनन' का अर्थ 'नेत्र' प्रचलित कोशोंमें कहीं सुना नहीं जाता। यदि कविको नेत्र कहना था तो वे 'आनन' की जगह 'नयनन' और बदनकी जगह 'नयन' लिख सकते थे। यदि यह अर्थ कहीं मिलता तो भी प्रसंगके अनुकूल यहाँ यह अर्थ है या नहीं इसपर विचार किया जाता।]

श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि नेत्रका वर्णन यहाँ जानबूझकर कविने नहीं किया, क्योंकि "आज सूर्य्यावलोकनोत्सव है। शिशु राम अभी सूर्यके सामने नेत्र नहीं खोल सकते। इससे नेत्र बंद हैं। नेत्र खुले होते तो उनकी शोभाका वर्णन किया जाता।" उत्तरकांडमें भुशुंडीजीसे क्रीड़ा करते समयका ध्यान है, वहाँ नेत्र खुले हैं, इससे वहाँ नेत्रोंका भी वर्णन है। जैसे उत्तरकांडमें क्रमसे 'दर ग्रीवा'; 'चारु चिबुक' और 'आनन छबि' शब्द आए हैं वैसेही यहाँभी 'कंबु कंठ', 'चिबुक सुहाई' और 'आनन···छबि' पद हैं। इस तरह दोनों जगह एकही अर्थ माना जायगा। इसी तरह किशोरावस्थाके ध्यानमेंभी मुख और नेत्र दोनोंका वर्णन है। यथा 'सरद मयंक बदन छबि सीवा।···नव अंबुज अंबक छबि नीकी। १४७। १-३।'

प्र० स्वामीका मत है कि नेत्रोंका वर्णन यहाँ भी है। 'बिप्रचरन देखत' में वे 'देखत' क्रियासे बालक रामजीका देखना अर्थ करते हुए कहते हैं कि "बालक रामजी अब बैठने लगे हैं और बैठे हुये बिप्रचरण देखते हैं। उनका मन बिप्रचरण देखनेमें लुब्ध हो गया है। बैठे हैं इसका प्रमाण यह है कि कविने चरणोंसे हृदयतक यथाक्रम वर्णन किया, इसके बाद कंठका वर्णन चाहिए था, पर प्रभु इस समय मुख नीचे किये हुए भृगुचरणको देख रहे हैं जिससे कंठ दिखाई नहीं पड़ा, जब देखना बंद हुआ तब कंठ दीखने लगा और चिवुक भी। इस प्रकार उनका देखना कहकर नेत्रोंका वर्णन उसीमें जना दिया। सूर्यावलोकन बिधि तीसरे महीनेमें विहित है, उस समय 'दुइ दुइ दसन' नहीं होते। ('देखत' श्रीराममें लग सकता है या नहीं पाठक स्वयं विचार करें)।

पं० रामकुमारजीने इसका समाधान दूसरी प्रकार किया है जो १६६ (१२) में दिया गया है।

टिप्पणी--२ (क) 'दुइ दुइ दसन अधर अरुनारे' इति। तात्पर्य्य कि अधरकी अरुणता दाँतोंमें आ गई है, इससे दाँत कुछ लाल हैं। दो-दो-दाँत कहकर जनाया कि छः मासके हो चुके, दाँत जम आए हैं। (ख) 'नासा तिलक को बरनै पारे' इति। भगवान्की नासा अश्विनीकुमार हैं, यथा 'जासु घ्रान अश्विनीकुमारा'। अश्विनीकुमार सब देवताओंसे सुंदर हैं। 'तिलक', यथा 'तिलक-रेख सोभा जनु चाकी' १४७ (४) देखिए।

सुंदर श्रवन सुचारु कपोला। अति प्रिय मधुर तोतरे बोला ॥९॥*
चिक्कन कच कुंचित गभुआरे। बहु प्रकार रचि मातु संवारे ॥१०॥
पीत झगुलिया तनु पहिराई। जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ॥११॥

शब्दार्थ—तोतरे (तोतले) = रुक-रुककर टूटे-फूटे अस्पष्ट शब्द जो बच्चोंके मुखसे निकलते हैं। चिक्कन = चिकने। कच = बाल। कुंचित = घुँघराले। गभुआरे = गर्भवाले; जो जन्मसेही रक्खे हुए हैं। झँगुलिया = अंगरखी; छोटे बच्चोंके पहननेका ढीला कुरता। जानु पानि = बकैयाँ, बइयाँ; दोनों हाथों और दोनों पैरोंको पृथ्वीपर टेककर बच्चे चलते हैं वह चाल। = हाथ और घुटनेके बल। वा, 'जाँघपर हाथ धरकर' – (स्नेहलताजी)।

अर्थ—सुन्दर कान हैं, अत्यन्त सुन्दर गाल हैं, सुन्दर तोतले बचन बड़े ही मधुर और बड़ेही प्रिय लगते हैं ॥ ९ ॥ जन्मके समयसेही रक्खेहुए चिकने और घुँघराले बाल हैं। माताने बहुत प्रकारसे रचकर

*** इसके बाद "नीलकमल दोउ नयन बिसाला। बिकट भृकुटि लटकनि बर भाला॥"**

यह अर्द्धाली पांडेजी, पंजाबीजी, शुकदेवलालजी (जिन्होंने मूल मानस रामचरित की भी न जाने कितनी चौपाइयाँ रामायणमें से काट-छाँट डाली हैं) और विनायकी टीकाकारने भी दी है। परन्तु काशिराज, श्रावणकुंज, छक्कनलालजी इत्यादि वाली प्राचीन प्रतियोंमें यह अर्द्धाली कहीं नहीं पाई जाती। नागरी-प्रचारिणी सभा एवं श्रीरामदासजी गौड़ और पं० शिवलाल पाठक भी इसे क्षेपक ही मानते हैं। रामायणी सन्तोंका भी यही मत है। श्रीयुत जानकीशरणजी (स्नेहलताजी) कहते हैं कि इस प्रसंगमें नेत्रका वर्णन नहीं है। यह चौपाई लोगोंने और ठौर इसका वर्णन होनेके कारण यहाँ भी मिला दी है। वस्तुतः यह सूर्य्यावलोकनका समय है। अभी श्रीराम-शिशु तीन महीने के हैं। तीन मासका बच्चा सूर्यके सामने नेत्र कैसे खोल सके? अतएव नेत्र खुले नहीं हैं न उनका यहाँ वर्णन है। यहाँ केवल सूर्य्यावलोकन समयका ध्यान वर्णन किया गया है। वे० भू० पं० रा० कु० दास यहाँ लेखकका प्रमाद मानते हैं और कहते हैं कि भूलसे छूट गई है।

उनको सँवार दिया है॥ १०॥ पीली अँगरखी देहपर पहिनाई है। घुटनों और हाथोंके बल चलना मुझे बहुतही प्यारा लगता है॥ ११॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुंदर श्रवन सुचारु कपोला' इति। अभी कर्णवेध संस्कार नहीं हुआ है, इसीसे कानोंका भूषण नहीं वर्णन किया गया। विशेष १४७ (१ ५) में देखिये। (ख) 'अति प्रिय मधुर०' इति। भाव कि 'तोतरे बोल' तो सभी बालकोंके प्रिय और मधुर होते हैं पर श्रीरामजीके तोतले बचन अति प्रिय और अति मधुर हैं। अति मधुर हैं इसीसे अति प्रिय हैं। (ग) मुखकी शोभा ऊपर कह चुके,—'आनन अमित०'। अब यहाँ मुखके बोलकी शोभा कहते हैं।

२ "बहु प्रकार रचि मातु सँवारे"—भाव कि केश एक तो अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं, अच्छे हैं, चिकने हैं, घुँघराले हैं, काले हैं, उसपरभी माताने बहुत प्रकारसे रचकर उन्हें सँवारा है। अतर-फुलेल लगाकर ऐंछा है, इससे चिक्कन हैं और सँवारा है इससे कुंचित हैं।

३ (क) 'पीत झँगुलिया तनु पहिराई' से पाया जाता है कि गर्मीके दिन हैं। चैत्रमें जन्म हुआ। भादों कुँआर छठा महीना है छठे महीने बालक बकैयां (घुटनों और हाथोंके बल) चलता है। 'तनु पहिराई' का भाव कि श्याम तनु पाकर पीत झँगुलीकी शोभा हुई है; यथा 'पीत झीनि झगुली तनु सोही ७ ७७॥' (ख) 'जानु-पानि बिचरनि मोहि भाई' इति। भाव कि जो जानु-पाणिसे मुझको पकड़नेको दौड़ते थे यथा 'जानुपानि धाए मोहि धरना॥ ७ ७९॥', वह शोभा मेरे हृदयमें बस गई है, मुझे भाती है, पर कहते नहीं बनती। (परन्तु आगेके 'तिन्हकी यह गति प्रगट भवानी॥ २००।२॥' यह शिवजीका कथन सिद्ध होता है)। पुनः भाव कि जानु-पाणिसे बिचरनेमें चरण उलट जाते हैं, तलवोंके अड़तालीसों चिह्नोंका दर्शन होता है और हाथोंको पृथ्वी कमलके फूलोंका आसन देती है। [(ग) ☞इस अर्धालीमें सूक्ष्म रीतिसे 'भूमि उपवेशन' उत्सव जनाया है। भाद्रपद कृ० १३ को पुष्य नक्षत्रमें प्रथम-प्रथम आँगनमें शिशुको भूमिपर बिठलानेकी रस्म बरती गई। उसीका ध्यान यहाँ वर्णन किया है।] सर्वांग शृङ्गार सहित ज़रतार रेशमी पीत झँगुली तनमें पहनाकर माताओंने बच्चोंको भूमिपर बैठाया है। (वै०)। (घ) 'मोहि भाई' कहकर जनाया कि जानु-पाणि-विचरण देखकर चंचल मन स्थिर हो जाता है। (रा० प्र०)। (ङ) मिलानका श्लोक—'जानुभ्यां सहपाणिभ्यां प्रांगणे बिचचारह। क्वचिच्चवेगतो याति क्वचिद्याति शनैः शनैः॥' सत्योपाख्याने अ० २५।६)]

रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। सो जानै सपनेहु जेहि देखा॥१२॥

दोहा—सुख संदोह मोहपर ज्ञान-गिरा-गोतीत।
दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥१९९॥

अर्थ—रूपका वर्णन तो वेद और शेषभी नहीं कर सकते। वही जाने जिसने स्वप्नमेंभी देखा हो॥ १२॥ सुखके समूह अर्थात् आनन्दघन, मोहसे परे, ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे (जो श्रीराम ब्रह्म हैं वही) दंपति (राजा रानी) के परम प्रेमके वश पवित्र बाल-चरित्र कर रहे हैं॥ १९९॥

टिप्पणी १ (क) 'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा' इति। भाव कि जितनी शोभा हमने कही, उतनीही नहीं है, वरंच बहुत है, उसे शेष और श्रुतिभी नहीं कह सकते। (ख) ☞भगवान्‌का नखशिख वर्णन किया गया; सब अंगोंका वर्णन किया पर नेत्रोंका वर्णन नहीं किया गया। इसका कारण यह है कि भुशुण्डीजीने रूपको साक्षात् देखकर (उत्तरकांडमें) गरुड़जीसे वर्णन किया। उसी रूपको गुरुमुखसे सुनकर हमने वर्णन किया। पर भुशुण्डीजीने रूपको देखकर उसका वर्णन किया, इसीसे वहां नेत्रका

वर्णन है, हमने विना देखे वर्णन किया इसीसे हमारे यहां नेत्रका वर्णन नहीं है। अथवा, श्रीरामजीका ऐसा अद्भुतरूप है कि श्रुति-शेषभी ठीक-ठीक नहीं कह सकते, वर्णन करनेमें सबसे कुछ न कुछ बाकीही रह जाता है। भुशुण्डीजीसेभी भृगुचरणचिह्न कहनेमें रह गया। वैसेही यहां नेत्रका वर्णन रह गया। (विशेष १९९ ७-८ में देखिए)।

प०प०प्र०— शिवजी कहते हैं 'सो जानै सपनेहु' जेहि देखा'। इससे अनुमान होता है कि शिवजीने यह लीला देखी है। कब और कैसे देखी इसका संकेत भुशुण्डीजीकी मोहकथामें है जो 'जानु-पानि धाए मोहि धरना ॥ ७।७६।६ ॥' से शुरू हुई। मोहनिवृत्तिके पश्चात् भुशुण्डीजीने कहा है कि 'लगे करन सिसु कौतुक तेई ॥ ७।८८।५ ॥' 'तेई' से 'जानुपानि धाए मोहि धरना' इत्यादिकोही सूचित किया है। इसके अनन्तर सोरठेमें कहा है—'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेषकृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुख महँ संतत मगन ॥ ८८ ॥' अर्थात् उस सुखकेलिये शिवजीको अशिव बेष लेना पड़ा। भुशुण्डीजीने इस सुखके लिये 'लघु वायस वेष' लिया। काक-देह अमंगल है। इससे सिद्ध हुआ कि भुशुण्डीजीके साथ शिवजी भी लघु वायस बेषमें 'जानुपानि बिचरनि' देखते थे; अतः कहा कि 'मोहि भाई'। जब शिवजी विप्रवेषमें आए तब भुशुण्डीजीभी विप्रवेषमें आये थे, और जब भुशुण्डीजी लघुवायसरूपसे शिशु-चरित देखते तब शिवजीभी उनके साथ लघुवायसरूपमें ही रहे, पर शिवजीको मोह नहीं हुआ।

टिप्पणी—२ "सुख संदोह मोहपर" इति। (क) सुखके पात्र हैं, मोहसे परे हैं; यथा 'नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा ॥ ११६.५ ॥' इतने विशेषण देकर तब 'दंपति परम प्रेम बस०' कहनेमें भाव यह है कि जो ब्रह्म इतना अगम्य है, वही प्रेमके वश होकर इतना सुगम हो गया कि शिशु बनकर चरित कर रहा है। श्रीमनुशतरूपाके प्रेमवश उनके बालक हुए और उनको वात्सल्यसुख देनेके लिए शिशुचरित करते हैं। (ख) 'पुनीत' अर्थात् ऐसे पवित्र हैं कि अधमाधम प्राणीभी इन्हें सुननेसेही पवित्र हो जाते हैं। (ग) ☞ जबतक माता-पिता की गोदमें रहे तब तक माता-पिता को ही विशेष सुख रहा। जब गोदसे उतरकर आँगनमें खेलने लगे तब माता-पिता (दोनों) को सुख होने लगा, इसीसे यहाँ 'दंपति प्रेम बस' कहा और पूर्व केवल 'कौसल्याके गोद' कहा था। जानु-पानि-बिचरण होने लगा तब पिताभी गोदमें लेने लगे। और आगे बाहर निकलनेपर सभी कोसलपुरवासियोंका सुख लिखते हैं; 'एहि बिधि राम जगत पितु-माता। कोसलपुर-बासिन्ह सुखदाता ॥"—'सुखसंदोह' हैं, अतः सबको सुख देते हैं।

खर्रा—१ इस दोहेमें भगवान्के सब अंगोंका वर्णन है, नेत्रोंका वर्णन नहीं है और देखनेवालोंका तीन बार वर्णन है। यथा 'बिप्रचरन देखत मन लोभा', 'नाभि गंभीर जान जिहिं देखा', 'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा'। २—यहां नाम, रूप, लीला और धाम क्रमसे कहे गए। प्रथम नामकरणसे नाम कहा, 'काम कोटि छबि स्याम सरीरा' से लेकर 'सो जानै सपनेहुँ जेहि देखा' तक १२ अर्धालियोंमें रूपका वर्णन हुआ, 'जानु पानि बिचरनि मोहि भाई' और 'कर सिसुचरित पुनीत' इत्यादि लीला है। और, आगे 'कोसलपुर बासिंन्ह०' से धाम कहा। ३—बाललीलाप्रकरणमें तीन दोहे एकही प्रकारके हैं।—'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन विगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद।', 'सुखसंदोह मोहपर ज्ञान-गिरा-गोतीत। दंपति परम प्रेमबस कर सिसु चरित पुनीत।' और 'व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगति हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप ॥२०५॥' तीनोंमें ऐश्वर्य्य वर्णित है। प्रथममें कौसल्याजीका, दूसरेमें राजाका और तीसरेमें पुरवासियोंकाभी प्रेम क्रमसे पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। ४—'एहि बिधि राम जगत पितु माता' के आगे ५ अर्धालियोंमें उपदेश है।

प. प. प्र.—इस दोहेके अंगभूत १२ चौपाइयाँ हैं। यही 'सतपंचचौपाई मनोहर हैं जो 'उर धरने' अर्थात् ध्यानके योग्य हैं। १२ चौपाई अन्यत्र नहीं हैं। इन चौपाइयोंमें सूर्यावलोकन, निष्क्रमण, भूम्यु-

पवेशन और अन्नप्राशन आदि बारह मासोंमें करने योग्य सब बिधियाँ शास्त्रानुकूल समयमेंही की गईं यह अत्यन्त गूढ़ रीतिसे कहा है। मराठी 'गूढ़ार्थचन्द्रिका' में विस्तारसे लिखा है।

एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुरबासिन्ह सुखदाता ॥१॥
जिन्ह रघुनाथ-चरन रति मानी। तिन्ह की यह गति प्रगट भवानी ॥२॥

अर्थ—जगत्के माता-पिता श्रीरामचन्द्रजी इस प्रकार (अवधमें जन्म लेकर बाललीला करके) कोशलपुरवासियोंको सुख देनेवाले हुए ॥ १ ॥ हे भवानी! श्रीरामजीके चरणोंमें जिन्होंने प्रेमपन ठाना, अनुराग किया (अर्थात् जो श्रीरामपद-प्रेमाभिमानी हैं) उन (उपासकों) की यह गति प्रकट है। (तात्पर्य्य कि आज इस कलिकालमें, वर्तमान कालमेंभी जो रामचरणमें रतिमान हैं, रामचरणानुरक्त हैं उनकोभी उस उस समयके कोशलपुरवासियोंकी नाईं वे सुख देते हैं) ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'जगत पितु माता' अर्थात् संसारके उत्पन्न-पालनकर्ता जो भगवान् हैं, एवं जो भगवान् माता-पिताके समान जगत्के सुखदाता हैं। जो राम सारे जगत्के माता-पिता हैं वे कोसलपुर-वासियोंको सुखदाता हैं, इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण जगत्को जिसने उत्पन्न किया वह स्वयंही अवधमें आकर पुरवासियोंको सुख देनेके लिये (पुत्ररूपसे) उत्पन्न हुआ। एवं जो जगत्सुखदाता है वह एक पुरको सुख दे रहा है, यह कैसी विचित्र बात है! पुनः, भाव कि जब वह स्वयंही इनको सुख देने आया और दे रहा है, तब उनके सुखका वर्णन कौन कर सकता है? (ख) 'कोसलपुरबासिन्ह सुखदाता' का भाव कि कोशलपुरमें निवास होनेसे उनपर बड़ा ममत्व है; यथा 'अतिप्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धामदा पुरी सुखरासी॥' [(ग) 'एहि बिधि राम जगत पितु माता' यह चरण सूत्ररूप है। 'जगत पितु माता। कोसलपुरबासिन्ह' तीन नाम इसमें दिये। इन तीनोंको सुख दिया। प्रथम माताको, फिर माता-पिता दोनोंको, फिर कोसलपुरवासी एवं जगत्को।—(स्नेहलताजी)]।

२ (क) 'जिन्ह रघुनाथ चरन रति मानी' इति। प्रथम अर्धालीमें केवल कोसलपुरवासियोंको सुख देना कहा, इसीसे अब 'जिन्ह रति मानी' कहकर जगत्भरके उपासकोंको सुख देना कहते हैं। (ख) यहाँ गोस्वामीजीने ऐश्वर्य्यसूचक नाम न देकर 'रघुपति', 'रघुराई' इत्यादि माधुर्य्य नाम दिये हैं। इसमें भाव यह है कि प्रभुके सगुण रूपमें, उनके अवतारमें, जिनका प्रेम है, उन्हींको ये सुख मिल सकते हैं, दूसरोंको नहीं। (ग) 'तिन्हकी यह गति प्रगट' का भाव कि बात पुष्ट करनेकेलिये वेदशास्त्रादिका प्रमाण दिया जाता है सो यहाँ प्रमाणकी आवश्यकता नहीं। उपासकोंकी गति प्रगट है, आँखसे देख लो, प्रमाणका काम नहीं। [(घ) पुनः, भाव यह कि पूर्वकालमें श्रीमनु-शतरूपाजीने अनन्य प्रेमपन निबाहा इसीसे आज प्रभु उनको प्रत्यक्ष बालचरितका अनंद (रूप फल) दे रहे हैं। इसी तरह जो कोई भी प्रभुसे अनन्य प्रेम करेगा उसकी-भी गति अवधवासियोंकीसी होगी, उनकोभी प्रभु ऐसाही मनोवांछित सुख देंगे। (प्र० सं०) । अवध-वासियोंका प्रेम वियोगके समय प्रत्यक्ष देखा गया है। प्रभु तो उनके प्रेमको प्रथमसेही जानते हैं, इसीसे उनको सुख दिया है।

रघुपति बिमुख जतन कर कोरी। कवन सकै भव बंधन छोरी ॥३॥
जीव चराचर बस कै[1] राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे ॥४॥

शब्दार्थ—बिमुख = जिसको प्रेम न हो, जो मन न लगाए, प्रतिकूल। कोरी = कोरियों, बीसों, करोड़ों। = खाली-खाली, व्यर्थ। भाखे = बोलती है, संभाषण करती है। भय भाखे = भयपूर्वक संभाषण करती है। बोलते डरती है। भय खाती है।

---

१ 'करि'—पाठान्तर।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीसे विमुख (रहकर मनुष्य चाहे) कोरियों (वा, व्यर्थ कितनेही) उपाय (क्यों न) करें, उनका संसार-बंधन कौन छुड़ा सकता है ? ॥ ३ ॥ जिस मायाने चर अचर सभी जीवोंको अपने वशमें कर रक्खा है, वहभी प्रभुसे भय खाती है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'रघुपति-बिमुख जतन कर कोरी ।०' इति । (क) उपासकोंकी गति ऊपर कही । अब जो उपासनाका निरादर करते हैं, जो रामविमुख हैं, उनकी गति कहते हैं । 'जतन कर कोरी' का भाव कि यज्ञ, ज्ञान, तप, जप आदि करोड़ों यत्नोंसेभी भवबंधन नहीं छूट सकता; यथा "जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी । ते पाइ सुर दुरलभ पदादपि परत हम देखत हरी ॥ ७।१३ ॥" तात्पर्य्य कि ज्ञानादि करोड़ों यत्नोंसे श्रीरामभक्ति श्रेष्ठ है । (ख) "कवन सकै भवबंधन छोरी", रघुपतिबिमुखका भवबंधन कौन छोड़ सकता है, इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि रघुपतिकी भक्ति यदि करे तो भक्ति भवबंधनको छुड़ा देती है; यथा 'देखा जीव नचावै जाही । देखी भगति जो छोरै ताही । २०२।४ ॥' (ग) [☞प्रमाण यथा—'जप जोग बिराग महामख साधन दान दया दम कोटि करै । मुनि सिद्ध सुरेस गनेस महेस से सेवत जन्म अनेक मरै ॥ निगमागम ज्ञान पुरान पढ़ै तपसानलमें जुगपुंज जरै । मन सों पन रोपि कहै तुलसी रघुनाथ बिना दुख कौन हरै ॥ क० ७।५५ ॥' पुनश्च यथा 'विना भक्तिं न मुक्तिश्च भुजमुत्थाय चोच्यते । यूयं धन्या महाभागा येषां प्रीतिस्तु राघवे ॥' (सत्योपाख्याने)। पुनश्च, "ये नराधम लोकेषु रामभक्तिपराङ्-मुखाः । जपं तपं दया शौचं शास्त्राणामवगाहनम् । सर्वं वृथा विना येन शृणुत्वं पार्वति प्रिये ॥" (रुद्रयामले । वै०) । अर्थात् विना भक्तिके मुक्ति नहीं होती यह हम हाथ उठाकर कहते हैं, जिनकी प्रीति श्रीरघुनाथजीमें है वे आप लोग धन्य हैं । हे प्रिय पार्वती ! सुनो । जो अधम मनुष्य श्रीरामभक्तिसे विमुख हैं उनके जप, तप, दान आदि सब व्यर्थ हैं] ।

नोट—श्रीभुशुण्डीजीने जो "बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल ॥ ७।१२२ ॥' कहा है वही भाव यहांके 'रघुपति बिमुख जतन कर कोरी । कवन सकै भवबंधन छोरी ।' का है । वहां 'कमठ पीठ जामहिं बरु बारा', 'बंध्यासुत बरु काहुहि मारा', 'फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला', 'तृषा जाइ बरु मृगजल पाना', 'बरु जामहिं सस सीस बिषाना', 'अंधकारु बरु रबिहि नसावै', 'हिम ते अनल प्रगट बरु होई', 'बारि मथें घृत होइ बरु' और 'सिकता तें बरु तेल' इन नौ असंभव दृष्टान्तोंको देते हुए उनके आदि, मध्य और अंतमें यही सिद्धांत अटल बताया गया है । श्रुति-पुराण आदि सब ग्रंथोंकी साक्षी दी गई है । उपक्रम, अभ्यास और उपसंहार तीनोंमें यही सिद्धांत किया गया है ।

टिप्पणी—२ (क) 'जीव चराचर बस कै राखे ।०' इति । अब भवबंधनका स्वरूप कहते हैं । मायाने चराचरको वश कर रक्खा है । यही भवबंधन है । 'बस कै राखे', वश करके रक्खा है अर्थात् भवबंधन नहीं छोड़ने देती । (ख) 'सो माया प्रभु सों भय भाखे', यही माया प्रभुके सामने ढीठ होकर नहीं बोल सकती, डरती रहती है । भाव कि वह प्रभुके अधीन है, प्रभुकी इच्छाके विरुद्ध कुछभी करने-का साहस वह नहीं कर सकती । इससे जनाया कि जिनसे वह डरती है; उन्हीं प्रभुकी शरण हो जानेसे मायासे छुटकारा मिल जाता है; यथा 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते माया-मेतां तरन्ति ते ॥ गीता ७।१४ ॥' [(ग) यहां दो असंभव वाक्योंकी समताका भावसूचक 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है । (वीर)]

भृकुटि बिलास नचावै ताही । अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही ॥५॥
मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई । भजत कृपा करिहहिं रघुराई ॥६॥

अर्थ—प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) उस मायाको अपनी भौंहके इशारेपर नचाते हैं । ऐसे प्रभुको छोड़कर

भला कहिये तो सही कि किसका भजन किया जाय ? (अर्थात् और कोईभी भजने योग्य नहीं है; सभी तो मायाके वशीभूत हैं) ॥ ५ ॥ मन, कर्म और वचनसे चतुराई (चालाकी, छल, कपट) छोड़कर भजन करतेही श्रीरघुनाथजी कृपा करेंगे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'भृकुटि-बिलास नचावै ताही' इति । यथा 'जो माया सब जगहि नचावा । जासु चरित लखि काहु न पावा ।। सो प्रभु-भ्रू-बिलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा । ७।७२ ।' अर्थात् जो माया चराचरमात्रको नचाती है वही प्रभुके भ्रू-बिलासपर नाचती है । 'नचावै' पदसे पाया जाता है कि श्रीरामजीके सामने माया मूर्तिमान खड़ी रहती है, यथा 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी । अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी । २०२।३ ।' प्रथम कहा कि 'सो माया प्रभु सों भय भाखे' अर्थात् माया प्रभुसे डरते हुए (बड़े अदबसे) बोलती है और यहाँ 'भृकुटि बिलास नचावै ताही' से जनाया कि वह बोलती है पर प्रभु उससे नहीं बोलते, भौंहके इशारेहीसे उसे नचाते हैं । पुनः 'नचावै' से जनाया कि माया नटी है; यथा 'नाच नटी इव सहित समाजा । ७.७२ ।", 'माया खलु नर्तकी बिचारी । ७.११६ ।

नोट—१ अस प्रभु छाड़ि भजिय कहु काही' इति । 'अस' अर्थात् जिसको माया डरती है और जिसके इशारेपर माया नाचती है, ऐसे समर्थ स्वामी । प्रभु=समर्थ स्वामी । 'भजिय कहु काही' क्योंकि और सभी तो 'माया बिबस बिचारे' हैं। भाव कि जो स्वयं मायावश है वह दूसरेको मायासे कब छुड़ा सकता है? जिसको माया डरती हो, जिसके वह अधीन है, जो उसके स्वामी हों, वे ही उससे छुड़ा सकते हैं । श्रीरामजी ही एकमात्र ऐसे हैं, अतएव इन्हींका भजन करना चाहिए । उनकी भक्ति करनेसे माया डरती रहेगी । यथा 'माया भगति सुनहु तुम्ह दोऊ । नारिबर्ग जानै सब कोऊ ॥ पुनि रघुबीरहि भगति पियारी । माया खलु नर्तकी बिचारी ॥ भगतिहि सानुकूल रघुराया । ताते तेहि डरपति अति माया । रामभगति निरुपम निरुपाधी। बसै जासु उर सदा अबाधी ॥ तेहि बिलोकि माया सकुचाई । ७.११६।' एवं 'हरिमायाकृत दोष-गुन बिनु हरिभजन न जाहिं । रामभजन करनेसे वह अपना प्रभाव न डाल सकेगी ।

टिप्पणी—२ (क) 'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई । ०' इति । प्रथम 'जीव चराचर बस कै राखे' यह मायाका प्राबल्य कहा । फिर मायासे छूटनेका उपाय कहा—'अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही' अर्थात् प्रभु श्रीरामकी कृपाही उपाय है । अब श्रीरामकृपाप्राप्तिका साधन बताते हैं कि भजन करे । 'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई भजत' यह इस साधन (भजन) की सिद्धिका उपाय बताया । उदाहरण यथा 'मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुरजूथा । १८६ ।' देवता चतुराई छोड़कर शरणमें गए, अतएव तुरंत आकाशवाणी हुई,—'गगन गिरा गंभीर भै हरन सोक संदेह । १८६ ।'

नोट—२ मन अपना स्वभाव नहीं छोड़ता, यथा 'नाम गरीबनिवाज को राजु देत जन जानि । तुलसी मन परिहरत नहिं घुरबिनिया की बानि । दोहावली।१३ ।' इसे सत्संगमें लगा देनेसे, इसपर प्रथम नियम का भार इतना डाल देनेसे कि उससे उसे छुट्टीही न मिले (क्योंकि खाली बैठनेसे वह अवश्य विषयोंका चिन्तवन करेगा), श्रीरामनाम और श्रीरामचरितका प्रभाव जानकर उनमें उसे लगादेनेसे, वह धीरे धीरे विषयोंसे हटकर इधर लग जायगा तब प्रभु अवश्य कृपा-विशेष करेंगे । देखिए, देवताओंके मनवचनकर्मसे शरण होनेपरही ब्रह्मवाणी हुई थी ।

३ 'छाड़ि चतुराई' इति । चतुराई क्या है ? चालाकी, छल, कपट ही चतुराई है । स्वार्थ छल है; यथा 'छल स्वारथ फल चारि बिहाई' । कपट प्रभुको नहीं भाता; यथा 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा' । इसीसे श्रीभरतजी कहते हैं कि प्रभुके न आनेका कारण यही जान पड़ता है, यथा 'कारन कवन नाथ नहिं आएउ । जानि कुटिल किधौं मोहि बिसराएउ ।।'''कपटी कुटिल मोहि प्रभु चीन्हा । ताते नाथ संग नहिं लीन्हा ।७।१।' स्वार्थ और छल छोड़कर प्रभुहीसे नाता जोड़ना, उन्हींको उपाय और उपेय जानकर उन्हींका

एक मात्र अपने सब कार्योंमें आशा-भरोसा रखना,—दंभ कपटसे नहीं वरंच शुद्ध अन्तःकरणसे-यही 'छाँड़ि चतुराई' का भाव है। यथा "जानकीजीवनकी बलि जैहौं। चित कहै रामसीयपद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥ उपजी उर परतीति सपनेहु सुख प्रभुपद बिमुख न पैहौं। मन समेत या तनके बासिन्ह इहै सिखावनु दैहौं॥ श्रवनन्हि और कथा नहिं सुनिहौं रसना और न गैहौं। रोकिहौं नयन बिलोकत औरहिं सीस ईसही नैहौं॥ नातो नेह नाथ सों करि सब नाते नेह बहैहौं। यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं॥ विनय १०४।', बस यही जीवन अपना बनाना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। गीतावलीमें प्रभुनेभी यही लक्षण विभीषणजीसे कहे हैं जिससे वे अपनाते हैं; यथा 'सब बिधि हीन दीन अति जड़ मति जाको कतहुँ न ठाउँ। आये सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ॥ जिन्ह के हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ।...नहि कोऊ प्रिय मोहिं दास सम कपट प्रीति बहि जाउ। ५.४५।'

४ 'कृपा करिहहिं रघुराई' का भाव कि उनकी कृपासे ही मायाकी निवृत्ति होगी; यथा 'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरै तुम्हारेहि छोहा। ४।३।२।'

एहिं बिधि सिसु बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा॥७॥
लै उछंग कबहुंक हलरावै। कबहुँ पालने घालि झुलावै॥८॥

दोहा—प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।
सुत सनेह बस माता बालचरित कर गान॥२००॥

अर्थ—इस प्रकार प्रभु (जगत्-पितु-माता श्रीरामचन्द्रजी) ने बालक्रीड़ा की और समस्त पुरवासियोंको सुख दिया॥७॥ प्रेममें डूबी हुई माता कौसल्याजी उन्हें कभी (तो) गोदमें लेकर हिलाती डुलाती और कभी पालनेमें लिटाकर झुलाती हैं॥८॥ (इस तरह प्रेममें डूबी हुई) रात दिन जाते नहीं जानतीं। पुत्रके प्रेमवश माता उसके बालचरित गाया करती हैं॥ २००॥

टिप्पणी—१ (क) "पूर्व कह आए कि 'एहि बिधि राम जगत पितु माता। कोसलपुरबासिन्ह सुख दाता।' और यहाँ पुनः कहते हैं कि 'एहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा। सकल नगरबासिन्ह सुख दीन्हा'। यह पुनरुक्ति है", यह शङ्का लोग करते हैं। पर यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, क्योंकि पूर्वकी चौपाई 'एहि बिधि राम जगतपितुमाता।०' इत्यादि उपदेशके संबंधमें है कि उनका ऐसा प्रेम है कि जो जगत्‌मात्रके माता-पिता हैं उन्होंने इनको अपना माता पिता बनाया और स्वयं पुत्र होकर उनको सुख दिया। और 'एहि बिधि सिसु-बिनोद प्रभु कीन्हा' इत्यादि कथाके सम्बंधमें है। जैसे कि किष्किन्धाकांडमें 'बरषा-बिगत सरद रितु आई।' और 'बरषागत निर्मल रितु आई।' में एक ऋतुवर्णनके संबंधमें कहा गया और दूसरा लीलावर्णनके संबंधमें। (ख) शिशुविनोद गीतावलीमें स्पष्ट है कि कभी हाथ पसारते हैं, कभी किलकारी मारते हैं, कभी रिसा जाते हैं, इत्यादि। [यथा 'आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके। रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावतहूँ, रोवत राम मेरो सो सोच सबही के॥ देव पितर ग्रह पूजिये तुला तौलिये घीके। तदपि कबहुँक सखि ऐसेहि आरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के॥ बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के। सुनत आइ रिषि कुस हरे नरसिंहमंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के॥ जासु नाम सरबस सदा सिव पार्बतीके। ताहि झरावति कौसिला यह रीति प्रीतिकी हिय हुलसत तुलसी के॥ गी० १२।', "माथे हाथ रिषि जब दियो राम किलकन लागे। महिमा समुझि लीला बिलोकि गुरु सजल नयन तनु पुलक रोम-रोम जागे॥ लिये गोद धाए गोद ते मोद मुनि-मन अनुरागे। निरखि मातु हरषी हिये आली ओट कहत मृदु बचन प्रेम के से पागे॥ तुम सुरतरु रघुबंसके देत अभिमत माँगे। मेरे बिसेषि गति रावरी तुलसी प्रसाद

जाके सकल अमंगल भागे ॥ गी० १२ ॥'; 'गहि मनिखंभ डिंभ डगि डोलत। कलबल बचन तोतरे बोलत ॥ ४ ॥ किलकत झुकि झाँकत प्रतिबिंबनि। देत परम सुख पितु अरु अंबनि ॥ गी० २८ ॥'; 'नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि।…परसपर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि गिरि-परनि ॥ २ ॥ झुकनि झाँकनि छाँह सों किलकनि नटनि हठि लरनि। तोतरि बोलनि बिलोकनि मोहनी मनहरनि ॥ ३ ॥ सखिबचन सुनि कौसिला लखि सुढर पाँसे ढरनि। लेत भरि भरि अंक सैंतति पैंत जनु दुहुँ करनि ॥ गी० २५ ॥']

२ "लै उछंग कबहुँक हलरावै।०" इति। यह कौसल्याजीके चित्तका उत्साह है, कभी गोदसे उतारकर नीचे बिठा देती हैं तब बकैयाँ चलने लगते हैं,—'जानु पानि-बिचरनि मोहि भाई'। कभी गोदमें लेकर हिलाती-डुलाती हैं, कभी पालनेमें लिटाकर झुलाती हैं और बालचरित गान करती हैं। ☞ "कबहुँ उछंग कबहुँ बर पलना। मातु दुलारै कहि प्रिय ललना। १६८।८।" पर कथाका प्रकरण छोड़कर बीचमें श्रीरामरूपका वर्णन करने लगे थे, फिर भक्ति और मायाकी महिमा कही। अब पुनः कथाका प्रसंग वहींसे उठाते हैं—'लै उछंग०'। [उछंग (सं० उत्संग। प्रा० उच्छंग)=गोद, कौरा। उछंग लेना=गोदमें लेना; हृदयसे लगाना।]

३ 'प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन०' इति। (क) प्रथम लिख आए कि 'सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या कें गोद' अर्थात् कौसल्याजीके प्रेम और भक्तिके वश होकर ब्रह्म कौसल्याजीकी गोदमें आया। और अब यहाँ कौसल्याजीका प्रेम वर्णन करते हैं। (ख 'निसि दिन जात न जान' अर्थात् दिन रात इतने सुखसे बीते कि पताही न चला। सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते। 'निमिष सरिस दिन जामिनि जाहीं', 'पुरजन नारि मगन अति प्रीती। बासर जाहिं पलक सम बीती। अ० २५२।', 'सुख समेत संबत दुइ साता। पलसम होहिं न जनिअहिं जाता। अ० २८०।' (ग) 'सुत सनेह बस' यहाँ कहकर दिखाया कि जैसे उधर भगवान् कौसल्याजीके प्रेमके वश हुए वैसेही कौसल्याजी भी पुत्रके स्नेहके वश हैं। इस प्रकार माता और पुत्रका अन्योन्य प्रेम दिखाया। सुत-स्नेह-वश हैं, इसीसे सुतका चरित गाती हैं। [बालचरितका गान गीतावलीमें स्पष्ट है। यहाँ दो एक पद उद्धृत किये जाते हैं। यथा—(१) "सुभग सेज सोभित कौसल्या रुचिर राम सिसु गोद लिये।…बालकेलि गावति हलरावति पुलकति प्रेम-पियूष पिये ॥ २ ॥…गी० १.७।'; (२) 'ह्वैहौ लाल कबहिं बड़े बलि मैया। रामलषन भावते भरत रिपुदवन चारु चारिउ भैया ॥ १। बाल बिभूषन बसन मनोहर अंगनि बिरचि बनैहौं। सोभा निरखि निछावरि करि उर लाइ बारने जैहौं ॥ २ ॥ छगन मगन अँगना खेलिहौ मिलि ठुमुकु ठुमुकु कब धैहौ। कलबल बचन तोतरे मंजुल कहि माँ मोहि बुलैहौ ॥ ३ ॥ पुरजन सचिव राउ रानी सब सेवक सखा सहेली। लैहैं लोचन लाहु सुफल लखि ललित मनोरथ बेली ॥ ४ ॥ जा सुख की लालसा लटू सिव सुक सनकादि उदासी। तुलसी तेहिं सुखसिंधु कौसिला मगन पै प्रेम पियासी। गी० ६।' (३) 'छोटी छोटी गोड़ियाँ अंगुरियाँ छबीली छोटी नख जोति मोती मानो कमल दलनि पर। ललित आँगन खेलैं ठुमकु ठुमकु चलैं झुंझुनु झुंझुनु पायँ पैजनी मृदु मुखर। किंकिनी कलित कटि हाटक जटित मनि मंजु कर कंजनि पहुँचियाँ रुचिरतर। पियरी झीनो झंगुली साँवरे सरीर खुली, बालक दामिनि ओढ़ी मानौ बारे बारिधर ॥ १ ॥ उर बघनहा कंठ कठुला झडूले केस, मेढ़ी लटकन मसिबिंदु मुनि मनहर। अंजन रंजित नैन चित चोरै चितवनि मुख सोभा पर वारौं अमित असमसर। चुटकी बजावती नचावती कौसल्या माता, बालकेलि गावति मल्हावति सुप्रेम भरि। किलकि किलकि हँसैं दुइ दुइ दँतुरियाँ लसैं, तुलसीके मन बसैं तोतरे बचन बर ॥ गी० ३०।"। (प्र० सं०)]

नोट—१ यहाँ माताका पुत्रविषयक स्नेह रति भाव है। श्रीरामजी आलम्बन विभाव हैं। उनकी मृदु मुसुकानि उद्दीपन विभाव है। माताका गोदमें लेकर हलराना, पालनेमें झुलाना आदि अनुभाव हैं। हर्षादि संचारी भावोंसे विस्तृत हो व्यक्त हुआ है। (वीर)

२ 'सुत सनेह बस०' इति। जब भगवान् सूतिकागारमें किशोर रूपसे प्रगट हुए तब कौसल्याजीको ऐश्वर्यका ज्ञान उत्पन्न हो गया था। प्रभुने उस समय यह सोचकर कि हमें तो अभी बहुत तरहके चरित करना हैं और ये ऐश्वर्यमें मग्न हैं, हँसकर पूर्व जन्म, तप और वरदानकी बात कही जिसमें माता सुत-विषयक प्रेम करे। प्रभुके वचन और हँसीरूपी मायासे उनकी मति बदल गई और उन्होंने वह रूप छोड़कर शिशुलीला करनेकी प्रार्थना की, बस भगवान् तुरत शिशु हो शिशुचरित करने लगे—'रोदन ठाना होइ बालक सुरभूपा'। 'प्रेम मगन कौसल्या···' यहाँ तक माताको सुख देनेके लिये शिशुचरित हुए। अब यह देखकर कि ये नितान्त 'सुत स्नेह' में मग्न हैं, ऐश्वर्य सर्वथा भूल गई हैं, इनको फिर ऐश्वर्यका ज्ञान दिलाने-लिये अद्भुतरूप दिखावेंगे, क्योंकि ये पूर्व जन्ममें बर पा चुकी हैं कि 'अलौकिक विवेक कभी न मिटे' (१५१।३)। भगवान्को यज्ञरक्षाके लिये मुनिके साथ और फिर चौदह वर्षके लिये वनमें जाना है, यदि 'सुत स्नेह' मेंही ये मग्न रहीं तो उन लीलाओंके समय उनकोभी बहुत क्लेश होगा और वे यहीं शरीर त्याग दें तो पूर्वका वरदान व्यर्थ हो जायगा। ये सब बातें यहाँ बीजरूपसे 'सुत-सनेह बस···' से जना दी हैं। दोहा २०२ भी देखिए।

प० प० प्र०—दोहेके प्रथम और तीसरे चरणमें एक-एक मात्रा न्यून है, और उनके अन्त्याक्षर दीर्घ होनेसे उच्चारणमें १२-१२ मात्राएँ ही हैं। छन्दोभंग-दोष द्वारा कौसल्याजीका अत्यन्त प्रेमविवश होना सूचित किया। बालचरित गान करनेमें बार-बार गद्गद कण्ठ हो जाती हैं, कुछ कहा नहीं जाता। ऐसी दशामें बीच-बीचमें उनकी वाणी रुक जाती है।

एक बार जननी अन्हवाए। करि सिंगार पलना पौढ़ाए॥ १॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह अस्नाना॥ २॥

अर्थ—एक बार माताने (श्रीराम-शिशुको) स्नान कराया और शृङ्गार करके पालनेमें लिटा दिया॥१॥ (फिर) अपने कुलके इष्टदेव भगवान्की पूजाके लिये स्नान किया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) नहलादेनेसे बालकको निद्रा आजाती है, इसलिए स्नान करा दिया और पालनेमें लिटा दिया जिससे लिटातेही बालक रामजी सोगए, जैसा आगे स्पष्ट है,—'देखा बाल तहाँ पुनि सूता'। (ख) 'करि सिंगार'। शृङ्गार तो पूर्व वर्णन कर चुके हैं, स्नानके समय झँगुली, आभूषण आदि सब उतारे गए थे, यह बात 'अन्हवाए' सेही सूचित करदी, अतएव अब पुनः शृङ्गार करना लिखा गया। शृंगार वही है जो पूर्व लिख आए। (ग) 'निज कुल इष्टदेव भगवाना' इति। 'अपने कुलके इष्टदेव भगवान्' कहकर जनाया कि भगवानही को कुलदेवके भावसे पूजती हैं। इसीसे आगे नैवेद्यका 'चढ़ाना' लिखते हैं। यदि केवल भगवान्-भावसे पूजतीं तो नैवेद्यका 'लगाना' लिखते। 'कुल इष्टदेव' से कुलदेवता सूचित किये। इष्टदेव और कुलदेव दो पृथक्-पृथक् बातें हैं। 'कुल इष्टदेव' कहकर तब उनका नाम बताया कि 'भगवान' उनका नाम है। 'निज' पद दिया क्योंकि अपने-अपने कुलके देवता पृथक्-पृथक् होते हैं।

नोट—१ "निजकुल इष्टदेव भगवाना" इति। रघुकुलके कुलदेवता श्रीरङ्गजी हैं। 'भगवान' कहकर जनाया कि और कोई देवी देवता इस कुलके इष्ट नहीं हैं, स्वयं भगवान् विष्णुही इष्टदेव हैं। रघुवंशी वैष्णव हैं। वाल्मीकिजीने इनके कुल-इष्टको 'जगत् नाथ' नामसे लिखा है। 'श्रीरङ्गक्षेत्र माहात्म्यमें श्रीरङ्गजीका विस्तृत वर्णन है। जब सृष्टिके आदिमें भगवान्ने चतुर्भुजरूप हो जलमें शयन किया और उनकी नाभि-कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए एवं ब्रह्माको सृष्टि रचनेकी आज्ञा हुई तब उन्होंने प्रार्थना की कि इसमें पड़कर मैं संसारमें लिप्त न हो जाऊँ। भगवान्ने आज्ञा दी कि हमारा स्मरण भजन करते रहना, इससे संसार-बंधनमें न पड़ोगे। उस समय ब्रह्माजीने भगवद्-आराधनकी विधि पूछकर फिर प्रार्थना की कि जिससे

हमारी उत्पत्ति हुई है इसी स्वरूपका ध्यान मुझे दीजिए। भगवान्ने उस समय यह विमान उनको दिया था। 'रङ्ग' नाम विमानका है जो प्रणवाकार है। उसीमें भगवान्का अर्चाविग्रहभी विराजमान् था। जो ध्यान और आराधन ब्रह्माजीको बताया गया वही 'पञ्चरात्र' नामसे ख्यात है। राजा इक्ष्वाकुने जब मनु महाराजसे इसे पढ़ा तब उनको इसका पता लगा; उनकी लालसा हुई कि भगवदाराधनके लिए उस विग्रहको प्राप्त करें। अतः तप करके ब्रह्माजीको प्रसन्न करके वे उसे माँग लाए। परधामयात्राके समय विभीषणजीको श्रीरामचन्द्रजीने यह विग्रह देकर कहा कि ये इस कुलके देवता जगन्नाथ हैं—"आराधय जगन्नाथं इक्ष्वाकु-कुल-दैवतम्"। तुम इनका आराधन करना परन्तु मार्गमें कहीं रखना नहीं, पृथ्वीपर रख दोगे तो ये फिर वहाँसे न हटेंगे। विभीषणजी कावेरी तटपर चन्द्रपुष्करणी क्षेत्रमें पहुँचे तो उनको लघुशंका लगी तब इन्होंने विमान वहाँ रख दिया, फिर विमान वहाँसे न उठा। (कहा जाता है कि आजतक विभीषणजी वहाँ पूजन करने आते हैं। लगभग ८० वर्ष की बात है कि वह सरकारी तौरपर परस्पर वाद-विवाद होनेके कारण बंद रहा था, खुलनेपर उसके भीतर दीपक जलता और पूजन किया हुआ पाया गया)।—(वेदान्त शिरोमणि श्रीरामानुजाचार्य्य, वृन्दावन)

२ (क) 'पूजा हेतु कीन्ह असनाना' से जनादिया कि श्रीरामजीको विना स्नान किये ही नहलाया था, क्योंकि इनको अपना पुत्र समझती हैं। देवताके लिये स्नान किया। अथवा, प्रथम प्रातःकाल जो स्नान शरीरशुद्धि और नित्य नियम करनेके लिये किया जाता है सो कर चुकी थीं। अब भगवान्की पूजाके निमित्त पुनः स्नान किया, क्योंकि लड़केको तेल, उबटन आदि लगाकर स्नान कराया है, घरका काम किया है, इससे अशुद्ध होगई हैं। (यह माधुर्यमें कर रही हैं)।

नोट—३ यहाँ गोस्वामीजी सूक्ष्म रीतिसे अन्नप्राशन (पसनी) उत्सवका वर्णन कर रहे हैं। आज बालक रामको प्रथम-प्रथम अन्न चटानेका महूर्त्त और तिथि है। इसीलिये माताने प्रभुको स्नान कराकर वस्त्रभूषणादिसे शृङ्गार करके पालनेमें लिटा दिया। प्रायः स्नानसे बच्चेको नींद आजाती है, वही यहाँ हुआ। राम शिशु सोगए। तब माताने जाकर स्नान और पूजन किया। माधुर्य्यमें मग्न होनेके कारण सोचा कि अपने कुलदेवता भगवान्को भोग लगाकर बच्चेको प्रसाद पवावें (खिलावें)। अतएव भगवान्के आगे पकान्नका थाल रखकर भगवान्को निवेदित किया।

करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा। आपु गई जहँ पाक बनावा ॥३॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई ॥४॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥५॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदयं कंप मन धीर न होई ॥६॥

शब्दार्थ—नैबेद्य (नैवेद्य) = वह भोजनकी सामग्री जो देवताको चढ़ाई या निवेदित की जासके।= भोग (घी, चीनी, श्वेतान्न, दधि, फल इत्यादि नैवेद्य द्रव्य कहे गए हैं। नैवेद्य देवताके दक्षिण भागमें रखना चाहिए। कुछ ग्रंथोंका मत है कि पक नैवेद्य बाएँ और कच्चा दहिने रखना चाहिए)। पाक = पक्वान्न, रसोई। सूता = सोता हुआ।

अर्थ - पूजा करके उन्होंने नैवेद्य चढ़ाया। (फिर) स्वयं वहां गईं जहाँ पक्वान्न बनाया गया था। अर्थात् रसोईमें गईं॥ ३॥ वहांसे माता चलकर फिर वहीं (श्रीरङ्गमन्दिरमें) आईं। पुत्र वहां जाकर भोजन कर रहा है यह देखकर (वा, वहां जाकर पुत्रको भोजन करते देख)॥ ४॥ माता भयभीत होकर (अपने) शिशुके पास गईं (जहाँ उसे सुलाकर आई थीं) तो वहां बालकको फिरभी सोता हुआ देखा॥ ५॥ फिर (श्रीरङ्गमंदिरमें) आकर (यहांभी) उसी पुत्रको देखा। [वा, जो पुत्र भोजन करता

था उसीको फिर देखा। (पं० रामकुमार)]। उनका हृदय काँपने (धड़कने) लगा। मनमें धैर्य नहीं होता ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'आपु गई' । नैवेद्य अर्पण करके वहाँ से हट जाना होता है। भोग लगते समय पर्दा डाल दिया जाता है कि देवता उसे ग्रहण करें। इसीसे माता नैवेद्य चढ़ाकर स्वयं पाकशालामें चली गईं। 'पाक' के दर्शनका माहात्म्य है, इसीसे वहां गईं और पाकका दर्शन किया। [इस लिये भी जाना हो सकता है कि देखलें कोई भोगका पदार्थ रह तो नहीं गया। रसोई (पक्वान्न) लेजाकर भगवान्‌को अर्पण करदी, पश्चात् आकर पाकका दर्शन करनेका भाव अपने समझमें नहीं आता और न उसका विधान वा प्रमाणही मालूम है]

नोट—१ नैवेद्य चढ़ाना = भोग लगाना। यह मुहावरा है। देवताको खानेके पदार्थ सामने रखकर निवेदन करना कि यह नैवेद्य आपको अर्पण है, आप इसे स्वीकार करें, भोग लगाएँ, खायँ, कृतार्थ करें। पुनः यहभी रीति है कि देवताके हाथ, कंधे, शीश और मुखपर नैवेद्य रखदेते हैं, अतएव 'चढ़ाना' कहा जाता है। इस शब्दसे दोनों मतोंकी रक्षा होती है। पं० रामकुमारजीका मत ऊपर लिखा जा चुका है कि भगवान्‌को कुलदेवके भावसे पूजा करनेसे 'चढ़ावा' कहा, भगवान्-भावसे पूजतीं तो 'लगावा' कहते।

टिप्पणी—२ (क) 'बहुरि मातु तहवाँ चलि आई' । अर्थात् जब समझ लिया कि अब भोग लग चुका, भगवान् पा (खा) चुके, तब उनको आचमन करानेकेलिये आईं। 'तहवाँ' अर्थात् जहाँ नैवेद्य चढ़ाया था। (ख) 'भोजन करत देखि सुत जाई' इति। श्रीरामजी भोजन करने लगे, इससे जनाया कि इनके कुलदेव भगवान् श्रीरामजी ही हैं क्योंकि यदि भगवान् रामचन्द्रजीको छोड़ कोई और कुलदेव होता तो श्रीरामजी दूसरेका भाग न खाते।

२ (क) 'गै जननी सिसु पहिं भयभीता' इति। शिशुके लिये चिन्तित हो भयभीत होगईं कि मेरे बालकको कुछ हो तो नहीं गया। मैं तो बच्चेको पालनेपर सुला आई थी, यहां कैसे आया ? यहाँ किसने लाकर बिठा दिया ? इत्यादि। 'जननी' का भाव कि जिस पुत्रको उन्होंने जन्म दिया था उसके पास गईं, जो बालक भोजन कर रहा है यह कौन है इसमें संदेह है।

(ख) 'पुनि सूता' । भाव कि एक बार उसे सोता हुआ देखकर तब स्नान, पूजा और रसोईके लिये गई थीं, अब जब फिर गईं तबभी वहां बच्चेको ज्योंका त्यों सोता हुआ पाया। 'सूता' अवधप्रान्तकी बोली है। (ग) 'बहुरि आइ देखा सुत सोई।०' इति। 'सोई' वही पुत्र जिसको प्रथम भोजन करते देख गई थीं। [वा, जिसे पालनेपर सोता छोड़ आई थीं। (घ) एकही बालक श्रीरामको पालनेमें सोते और रंगमंदिरमें भोजन करते वर्णन करना 'तृतीय विशेष अलंकार' है। (वीर)]

(घ) 'हृदय कंप०' । प्रथम जब भोजन करते देखा था तब भयभीत हुई थीं। जब यहां और वहां दो बालक निश्चित होगए तब हृदय कंपित हुआ अर्थात् विशेष भय होगया। यही दशा सतीजीकी हुई थी, यथा 'हृदय कंप तन सुधि कछु नाहीं। नयन मूँदि बैठीं मग माहीं ॥ ५५. ६ ॥' (ङ) 'मन धीर न होई' अर्थात् धैर्य्य धारण करना चाहती हैं पर धीरज होता नहीं। कारण आगे कहते हैं।

इहां उहां दुइ बालक देखा। मति भ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥७॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥८॥

शब्दार्थ—विशेष = भेद। = खास बात। आन = दूसरी, अन्य। मुसुकानी = मुस्कान।

अर्थ—(मनमें सोच रही हैं कि मैंने) यहाँ और वहाँ दो बालक देखे। यह मेरी बुद्धिका भ्रम है या

कोई और विशेष (खास कारण वा बात) है ॥ ७ ॥ प्रभु श्रीरामचन्द्रजी माताको व्याकुल देखकर मधुर (मंद मीठी) मुस्कानसे हँस दिये ॥ ८ ॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी 'आन बिसेषा' का अर्थ 'विशेष दूसरा बालक है' ऐसा करते हैं। सुत जो भोजन कर रहा है उसके निकट खड़ी हैं, इसीसे 'इहां' कहती हैं और जहां बालक पालनेमें सो रहा है उसके लिये 'उहाँ' कहा। यह बात निश्चय करना चाहती हैं कि बात क्या है पर निश्चय नहीं होता। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'आन बिसेषा' अर्थात् कोई और खास बात है, ऐसा तो नहीं है कि कुलदेवने ही यह माया रची हो। (मेरे पुत्रका रूप धरकर भोजन करने लगे हों)। शंका-निवारणार्थ विचार करती हैं, यह 'वितर्क संचारी भाव' है।

टिप्पणी—१ 'प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी' इति। माताकी व्याकुलता दूर करनेकेलिये हँसे, यथा 'जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥ २।२३६ ॥' और हँसकर मायाका विस्तार किया जैसा आगे कहते हैं;—'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड'। मधुर मुस्कानसे हँसनेका भाव कि ठट्ठा मारकर हँसनेसे माता अधिक भयभीत हो जाती, अतः जैसे सदा माताकी ओर देखकर हँसा करते थे वैसेही मंदमुस्कानसे हँस दिये। इसी प्रकार जब सतीजी दुःखित हुई थीं तब उनको अपना कुछ प्रभाव दिखाया था—'जाना राम सती दुख पावा। निज प्रभाव कछु प्रगटि जनावा।'

नोट—२ (क) जननी अकुला उठी, अर्थात् अद्भुतरससे भयानकरस हो जानेही चाहता है यह देखकर प्रभु हँस दिये। 'कौसल्याजीमें भय स्थायी था। हास्यरस दर्शित करके प्रभुने उसको शान्त कर दिया। जब विस्मयमात्र स्थायी रहगया तब अपना यथार्थ अद्भुत रूप दिखाते हैं।' (वै०)। (ख) यहाँ 'हास्यकलाकी बड़ीही सुन्दर युक्ति है कि भ्रम उत्पन्न करदिया जाय। हास्यचरित्र जब भयभीत होजाय तब हँसकर उसका परिहास हो। यह युक्ति यहां बड़े कोमलरूपमें प्रयुक्त हुई है।' (लमगोड़ाजी)। (ग) कुछ लोगोंने यहाँ शंका उठाकर कि "हँसि' और 'मुसुकानी' में पुनरुक्ति है", उसका समाधान यों किया है कि हँसकर माया डाली और मधुर मुस्कान तो उनका सहज स्वभावही है। परन्तु हमारी समझमें तो 'मधुर मुसुकानी' से हँसीका प्रकार बताया है। इसमें पुनरुक्ति है ही नहीं। (घ) बाबा हरिदासजीका मत है कि 'माताको घबड़ाईहुई देख श्रीरामजी हँस दिये कि हमने तो सूतिकागारहीमें प्रगट होकर जना दिया था कि हम ईश्वर हैं जिन्होंने तुम्हें वर दिया था तब क्यों भूलमें पड़ रही हो। तब माताभी मुस्करा दीं कि हां ठीक है, आपकी माया प्रबल है। प्रथम यह बात जनाकर तब विराट्रूप दिखाया, नहीं तो और अधिक घबड़ा जातीं।" इस तरह वे 'मधुर मुसुकानी' को मातामें लगाते हैं।

दोहा—देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥२०१॥*

अर्थ—(प्रभुने) माताको अपना अद्भुत अखंड रूप दिखलाया जिसके रोम-रोममें करोड़ों-करोड़ों ब्रह्माण्ड लगे हुए हैं ॥ २०१ ॥

टिप्पणी—१ (क) यहां भगवान्के रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़े और भुशुण्डीजीको भगवान्के पेटमें करोड़ों ब्रह्माण्ड देख पड़े थे; यथा 'उदर माँझ सुनु अंडजराया। देखेउँ बहु ब्रह्मांड निकाया ।७.८०।' इससे सूचित हुआ कि भगवान्के भीतर-बाहर असंख्यों ब्रह्मांड हैं। (ख) 'देखरावा' इति। विना दिखाए

* 'रोम रोम प्रति लागे' इस चरणमें १२ मात्रायें हैं, अन्त्याक्षर दीर्घ है। मात्राकी न्यूनताद्वारा जनाया कि माता आश्चर्य और भयसे स्तंभित एवं चकित होगई हैं। अकुलानी तो पहलेसे ही हैं, अब शरीर काँपने लगा ॥ प. प. प्र. ॥

रूप नहीं देख पड़ता; अतएव 'देखरावा' कहा। [बैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ 'दिखावा' सकर्मार्थक क्रिया न देकर 'देखरावा' कहा जो प्रेरणार्थक क्रिया है। इसका भाव यह है कि आपने न दिखाया, अपने दूसरे रूपसे 'देखरावा'। दोनों रूप वर्तमान हैं। जिस रूपसे शयन किये हुए हैं वह नैमित्य (नैमित्तिक) है। उसमें प्रथम शिशु हुए। फिर प्रति दिन उस रूपकी वृद्धि होती गई। दाँत निकले, बकैयाँ चले, इत्यादि। आगे यज्ञोपवीत, विद्यारंभसंस्कार, पौगंड, कुमार और किशोरादि होंगे। इत्यादि। इस नैमित्तिक रूपसे नरनाट्य करते हुए पृथ्वीका भार उतारेंगे। इस रूपसे ऐश्वर्य नहीं दिखायेंगे, माधुर्य लीलाही करेंगे। और, जिस रूपसे श्रीरंगमन्दिरमें भोजन करते हैं वह प्रभुका नित्य बालरूप है जिसका स्मरण-ध्यान शान्त वा वात्सल्यरसवाले भुशुण्डि, सनकादि और लोमशादि मुनि करते हैं। उस नित्य रूपसे यह अद्भुतरूप दिखाया। अर्थात् जो ऐश्वर्य गुप्त रक्खे हुए थे उसे प्रगट कर दिया"।] (ग) 'अद्भुत रूप'—अर्थात् जिसे न कभी सुना था न देखा, यथा 'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥ ७.८०॥' 'निज' का भाव कि मत्स्य, कमठ आदि अवतारोंके रूप धारण करनेसे हैं और यह रूप स्वतः है, धारण करनेसे नहीं। (घ) 'अखंड' का भाव कि यह रूप सदा एकरस रहता है, इसके खंडन होनेसे समस्त ब्रह्मांडोंका नाश है।

नोट—१ ☞कौशल्याजीने सोया हुआ रूप देखा, भोजन करता हुआ रूप देखा और विराट्रूप देखा। इसमें बात यह है कि जब कौसल्याजीने श्रीरामजीकी स्तुति की तब तीन रूपोंका वर्णन किया। निर्गुण, सगुण और विराट्। यथा—'माया-गुन-ज्ञानातीत अमाना बेद पुरान भनंता' यह निर्गुणरूप है। इसीसे सोया हुआ रूप देखा जो गुणोंसे रहित और जगत्के व्यवहारसे भिन्न है। दूसरे 'करुना-सुखसागर सब-गुन आगर जेहि गावहिं श्रुति संता', यह स्तुतिमें सगुणरूपका वर्णन है। अतएव जागता हुआ रूप देखा जो करुणा, सुख और दिव्य गुणोंका सागर है। तीसरे 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै', यह विराट् रूपका वर्णन है जो उस स्तुतिमेंही है। इसीसे विराट्रूपकाभी दर्शन कराया गया,—'देखरावा मातहि···रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड'। (पांड़ेजी)।

२ यह अद्भुत रूप इस समय दिखानेका क्या प्रयोजन था? उत्तर–(क) प्रभुने अलौकिक ज्ञान देने-का वचन दिया है। यथा 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें। कबहुँ न मिटिहि अनुग्रह मोरें॥ १५१।३॥' इस समय उस अनुग्रहका उचित अवसर है, क्योंकि माता वात्सल्यरसकी अधिकतामें आपका ऐश्वर्य भूल गई हैं। कहाँ तो यह अनन्यता पूर्व जन्ममें कि 'बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ माँगहु बर बहु भाँति लोभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥' और लालसा भी उन्हींके दर्शनों-की थी; यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना'। फिर दर्शन होनेपर उन्हींको पुत्र-रूपसे माँग लिया। अब जब पुत्ररूप हो घरमें वर्तमान हैं तो उनको भूलकर इनसे भिन्न दूसरेको अपना इष्टदेव मानकर उनका प्रसाद प्रभुको देना चाहती थीं। प्रभुने अपने रोम रोममें करोड़ों ब्रह्माण्ड जिनमेंसे प्रत्येकमें एक एक ब्रह्मा विष्णु महेश नारायण आदि थे, दिखाकर ज्ञान दिया कि "हमही तुम्हारे इष्टदेव हैं जिनको तुमने वरमें पुत्र-भावसे माँगा था और ये सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और देवता हमारे अंशसे हैं। हमहीमें सब हैं, हमसे पृथक् कुछ नहीं, हमारे विद्यमान रहते तुम अन्यकी भावना क्यों करती हो, रंगजीने कभी प्रगट होकर भोजन न पाया, हम साक्षात् पारहे हैं।" इस स्वरूपके देखते ही उनको ज्ञान हो गया कि 'जगत-पिता मैं सुत कर माना'; बस यही ज्ञान देना था। (ख) इसका एक उत्तर "सुत सनेह बस माता" दोहा २०० के नोटमें लिखा गया है। (ग) "यहाँ कौसल्या अम्बाको रोम-रोममें अमित ब्रह्मांड दिखाए परन्तु श्रीभुशुण्डीजी, यशोदाजी और अर्जुनजीको मुखके भीतर यही सब दिखाया था न कि बाहर?" यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने यह दिया है कि 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो'।

माताने प्रथम सूतिकागारमें दर्शन होनेपर स्तुतिमें कहा था कि 'ब्रह्मांडनिकाया निरमित माया रोम रोम प्रति बेद कहै' जिससे यही माताका निश्चित विश्वास प्रगट होता है। अतएव भगवान्‌ने उसी प्रकारका रूप दिखाया कि जिसमें वे उसीमें और दृढ़ होजायँ और उनको विश्वास होजाय कि ये वही भगवान् हैं। (इस विराट् दर्शनका मिलान भुशुण्डीवाले विराट्-दर्शनसे कर लें जो ७.८०.२ से लेकर दोहा ८२ तकमें वर्णित है)। (घ) मानसी वंदनपाठकजी यह प्रश्न करते हुए कि "माताको तो पूर्व अलौकिक विवेक दे चुके थे फिर उस रूपके भूलने और विश्वरूपके दर्शनमें क्या हेतु है ?" उसका उत्तर यह देते हैं कि "ग्रन्थकारका संकल्प है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई'। व्यासजीने गीतामें विश्वरूपदर्शन अर्जुनजीके हेतुसे कहा है और श्रीमद्भागवतमें माताको मुख दिखानेके हेतुसे विराट्‌दर्शन कहा, वैसेही यहाँ माताद्वारा विश्वरूपका दर्शन कराना सिद्ध है।"

नोट—श्री दीनजी यहाँ 'अल्पालंकार' और वीरकविजी 'द्वितीय अधिक अलंकार' मानते हैं।

अगनित रबि ससि सिव चतुरानन। बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥१॥
काल कर्म गुन ज्ञान सुभाऊ। सोउ देखा जो सुना न काऊ ॥२॥
देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी ॥३॥
देखा जीव नचावै जाही। देखी भगति जो छोरै ताही ॥४॥

अर्थ—अगणित (बे गिनती, असंख्य) सूर्य्य, चन्द्रमा, शिव और ब्रह्मा, बहुतसे पर्वत, नदियाँ, समुद्र, पृथ्वी, वन ॥ १ ॥ काल, कर्म, गुण, ज्ञान और स्वभाव, एवं और भी पदार्थ देखे जो कभी सुनेभी न थे ॥ २ ॥ जो सब प्रकार प्रबल है, उस मायाको देखा कि (भगवान्‌के सामने) अत्यन्त भयभीत हाथ जोड़े हुए खड़ी है ॥ ३ ॥ जीवको देखा जिसे वह (माया) नचाती है और भक्तिको देखा जो उसे (जीव-को) छुड़ाती वा छोड़ देती है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'अगनित रबि ससि०' इति। रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्मांड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सूर्य्य, चन्द्रमा, शिव और ब्रह्मा भिन्न-भिन्न हैं, इसीसे इन सबोंको अगणित कहा। (ख) 'बहु गिरि सरित सिंधु गिरि कानन' इति। पर्वतसे नदी निकली है, नदीसे समुद्र है (समुद्रमें नदियाँ जाती हैं एवं समुद्र सरितपति है), समुद्रसे पृथ्वी है, यथा 'अद्भ्यः पृथ्वी संभूता', और पृथ्वीसे वन होते हैं। अतएव गिरिसे प्रारंभकर क्रमसे सरित आदि कहे गए। प्रथम यह कहकर कि रोमरोममें असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं, यहाँ ब्रह्माण्डोंके भीतरका हाल लिखते हैं। 'अगनित रबि०' इत्यादि ब्रह्मांडके अभ्यंतरके पदार्थ हैं। (ग) एकही समयमें रवि और शशि दोनोंका देखना कैसे सम्भव है ? उत्तर यह है कि दोनोंको एकसाथ कहकर जनाते हैं कि किसी ब्रह्मांडमें रात है और किसीमें उसी समय दिन है। (अथवा, यहभी अद्भुतता है जो रूपमें देखी)।

२ (क) 'काल कर्म गुन ज्ञान सुभाऊ' इति। [भागवतदासजीका पाठ 'गुन दोष सुभाऊ' है और पं० रा० कु० जीने उसी पाठपर भाव कहे हैं*। ऐसीही उत्तरकांडमें एक अर्धाली है; यथा 'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहिं न ब्यापिहि काऊ। ७।११४।' (लोमशवचन भुशुण्डिप्रति)। पिछले चरणका

* प० प० प्र० भी 'दोष' पाठके पक्षमें हैं। कालानुसार कर्म होता है, कर्मानुसार सत्वादि गुण बढ़ते हैं। गुणोंका कार्य दोष, दोषसे दुःख। गुण दोष मायाकृत हैं और ज्ञान तो माया तथा संचितादि कर्मोंका निरास करता है। काल कर्म गुण स्वभाव सुख-दुःखदायक हैं और ज्ञान मोह विनाशक तथा सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे मुक्त करनेवाला है। अतः गुन और सुभाऊ के बीचमें 'ज्ञान' को रखना उचित नहीं। (प० प० प्र०)

'बहु' इन सबोंकाभी विशेषण है। अर्थात् काल, कर्मादिके बहुत रूप देखे। सुभाऊ (स्वभाव) = जीवोंकी प्रकृति। [लव, निमेष, दंड, घड़ी, दिन, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर आदि 'काल'; शुभाशुभ कर्म जैसे तप, यज्ञ, हिंसा, चोरी आदि; शुभाशुभकर्मोंके अनुसार स्वभाव बनता है जो जन्मसेही होता है। गुण सत्व, रज, तम। अथवा, स्वरूपधारी कालका रूप, कर्मरूप पुरुष, ज्ञान परोक्ष और अपरोक्ष आदि और स्वभाव इन सबोंको रूपवान् (मूर्तिमान्) देखा। (रा० प्र०)]। (ख) 'सोउ देखा जो सुना न काऊ', यथा 'जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू' न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ। ७।८०।' जो कभी सुनाभी न था सो देखा, इसका कारण यह है कि भगवान्‌के उदरमें सब प्रपंच अन्यही अन्य भाँतिका है, यथा 'देव दनुज गन नाना जाती। सकल जीव तहँ आनहि भाँती॥ महि सरि सागर सर गिरि नाना। सब प्रपंच तहँ आनै आना॥ ७।८१।'—ये सब न सुने थे सोभी देखे।

३ (क) 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी' इति। सब बिधि गाढ़ी अर्थात् दृढ़ है, प्रबल है। सब प्रकार अर्थात् रूपसे, सेनासे और स्वभावादि सभी तरह। ['गाढ़ी' अर्थात् जिसका बंधन बड़ा कठिन है। इस विशेषणको देकर सूचित किया कि उसकी प्रचंड सेना सहित उसको देखा। 'माया कटक प्रचंड' का वर्णन ७।७० (६) -७१ में देखिए। बैजनाथजी 'सब बिधिकी माया अर्थात् आह्लादिनी, संदीपनी, संधिनी, विद्या, अविद्या इत्यादि सब प्रकारकी दुस्तर माया' ऐसा अर्थ करते हैं। (ख) 'अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी' इति। तात्पर्य्य कि मारे डरके बैठती नहीं। शिशुलीलाप्रसंगमें मायाके संबंधमें तीन बार उल्लेख हुआ।—'जीव चराचर बस कै राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे॥', 'भृकुटिबिलास नचावै ताही। अस प्रभु छाँड़ि भजिय कहु काही' और 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी। अति सभीत जोरें कर ठाढ़ी॥' तात्पर्य्य कि "माया प्रथम श्रीरामजीसे भयसहित बोलती रही, तब पूछकर नाचने लगी, और जब नाच चुकी तब हाथ जोड़े खड़ी है।" ['अति सभीत हाथ जोड़ें' खड़ी होनेका भाव यह भी कहा जाता है कि "उसने कुछ अपराध अवश्य किया है जिससे वह हाथ जोड़े भयभीत खड़ी है। वह अपराध क्या है? वह यही है कि भक्तिके अधिकारी जीवको उसने बाँध रक्खा था। भक्ति उसे छोड़ रही है। छूटनेका लक्षण यह है कि वह जीव प्रेमसे भगवत्-यश-श्रवण कीर्त्तन करता है।] (ग) ब्रह्मांड कहकर माया कही क्योंकि समस्त ब्रह्मांडोंकी रचयिता मायाही है, यथा 'लव निमेष महुँ भुवन-निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ २२५।४।' अतएव कार्य्य कहकर कारणभी कहा।

४ (क) 'देखा जीव नचावै जाही ०' इति। काल, कर्म, गुण, दोष, स्वभाव—येही जीवके दुःखदाता हैं; यथा 'काल करम गुन सुभाउ सबके सीस तपत' (विनय), 'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुखु तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ। ७.११४।' जीवको बाँधनेवाली माया देखी, जीवको छुड़ानेवाली भक्ति देखी, यह कहकर जनाया कि ये सब मूर्तिमान् देख पड़े। माया जीवको वशमें किये है; यथा 'जीव चराचर बस कै राखे'; इसीसे उसको नट-मर्कट-नाईं जो चाहती है, वही नाच नचाती है। श्रीरामजी मायाको वश किये हैं, वह सदा अत्यन्त सभीत हाथ जोड़े खड़ी रहती है, जैसा चाहते हैं उसे नचाते हैं,—'भृकुटि बिलास नचावै ताही'। तात्पर्य्य कि जैसे मायाके आगे जीव असमर्थ हैं, वैसेही श्रीरामजीके आगे माया असमर्थ है। और कोई उस जीवको बंधनसे छोड़ देना चाहे तो माया उसे छोड़ने नहीं देती, यथा 'छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करै तब माया। ७.११८।' जब भक्ति छोड़ती है तब माया विघ्न नहीं करती, क्योंकि वह भक्तिसे डरती है; यथा 'भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया।७।११६।' ['छोरै' अर्थात् छोड़ देती है; इस कथनसे यहभी सिद्ध होता है कि भक्ति स्वतन्त्र है, वह जीवको बंधनसे छोड़ देनेको समर्थ है। यह कहते हुए कि इस दुष्टा मायाने बिचारे भोले-भाले जीवको बंधनमें डाल रक्खा है, वह उस बंधनको काटकर उसे छोड़ देती है। पुनः, 'छोड़ती है' अर्थात् काल-कर्म-स्वभावादिकी गति रोककर, सत्व-रज-तम

गुणोंके फंदेको तोड़कर, श्रवण-कीर्तनादिकी गतिमें लगाकर जीवको प्रभुके सम्मुख कर देती है। (वै०)। 'जीव चराचर बस करि राखे। सो माया प्रभु सों भय भाखे। भृकुटि बिलास नचावै ताही।' यह वाक्य यहाँ चरितार्थ किया (प० प० प्र०)]

प० प० प्र०—कौसल्याजीको पुत्र-मोहसे छुड़ाने और अपनी मायासे मुक्त करनेके लिये ही यह विश्वरूप दर्शनकी लीला है। कौसल्याजीने सब मर्म इस घटनासे जान लिया और 'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि' ऐसा वर माँग लिया। माया तो सारे जगत्को नचाती है, यथा 'जो माया सब जगहि नचावा।···७।७२।', 'जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।३।१५।२।' तब यहाँ 'जीव' एकवचनका प्रयोग क्यों? उत्तर—एकवचनसे जनाया कि कौसल्याजीने देखा कि अपने (मेरे) जीवको माया नचाती है और यह भी देखा कि भक्ति उसे मायाबंधनसे छोड़ रही है। राम भगवान् परमात्मा हैं, यह इतने दिन भूल गई थीं, यही उनके जीवको नचाना है। प्रभुने स्पष्ट दिखा दिया कि तू अज्ञानी बनकर मोहमें फँस गई थी पर मेरी भक्ति करती है इसीसे मैंने भक्तिको आज्ञा दी कि तुझको मोहबंधनसे छुड़ा दे। मायाने तुझे मोहमें डाला था इसीसे वह मेरे सामने नाचती और क्षमा चाहती है।

तन पुलकित मुख बचन न आवा। नयन मूँदि चरननि सिरु नावा॥ ५॥
बिसमयवंत देखि महतारी। भए बहुरि सिसुरूप खरारी॥ ६॥
अस्तुति करि न जाइ भय माना। जगत-पिता मैं सुत करि जाना॥ ७॥

शब्दार्थ—बिसमयवंत = आश्चर्य्ययुक्त, डरीहुई। बहुरि = फिरसे, दुबारा, पुनः।

अर्थ—शरीर पुलकित होगया (रोएँ खड़े होगए), मुखसे वचन नहीं निकलता। (माताने) आँखें बंदकर चरणोंमें सिर नवाया॥५॥ माताको भयभीत देख खरके शत्रु श्रीरामजी फिर शिशुरूप होगए॥६॥ स्तुति नहीं करते बनती, डरगई हैं कि (अरे!) जगत्पिताको मैंने पुत्रही समझ लिया था॥७॥

नोट—१ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि भक्ति अर्थात् विद्यामायाके देखतेही माताकी आँखें खुलगईं बालचरितमें भूली हुई थीं सो भक्तिको देखतेही थाहसी पागईं। प्रभुके प्रभावका, उनके ऐश्वर्य्यका, स्मरण हो आया, इसीसे 'तन पुलकित' होगया।

टिप्पणी—१ (क) पुलक प्रेमसेभी होता है और भयसेभी, पर यहाँ डरसेही रोंगटे खड़े होगए हैं, जैसा आगे स्पष्ट है—'अस्तुति करि न जाइ भय माना।' भयसे वचन मुँहसे नहीं निकलते और भारी व्याकुलता होनेपर आँखें मुँद जातीही हैं; यथा 'मूदेउँ नयन त्रसित जब भयऊँ।७।८०।', 'नयन मूँदि बैठीं मग माहीं।५५।६।' तथा यहाँ 'नयन मूँदि चरननि सिरु नावा'। (ख) पुनः 'मुख बचन न आवा' का भाव कि बोलना चाहती हैं, कुछ कहनेकी, स्तुति करनेकी, इच्छा होती है पर वचन नहीं निकलता। (ग) 'बिसमयवंत देखि महतारी' इति। बिराट्रूप देख माताको विस्मय हुआ और जब वे पुनः शिशुरूप होगए तब भय माना कि 'जगतपिता मैं सुत करि जाना।' माताको विस्मित देख शिशुरूप होगए, इससे जनाया कि माताका दुःख न देखसके, करुणा आगई; यथा 'करुनामय रघुनाथ गुसांई। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥' (घ) 'भए बहुरि सिसुरूप खरारी' इति। 'खरारी' नाम साभिप्राय है। इससे जनाया कि (खरादि राक्षसों वा) खलोंको मारना है इसीसे ऐश्वर्य्य छिपाते हैं और इसीसे पुनः शिशुरूप होगए। 'बहुरि' का भाव कि प्रथम माताकी जन्म-समयकी स्तुति सुनकर वे शिशुरूप हुए थे, यहाँ शिशुरूप छोड़ विराट्रूप हो गए थे, अब पुनः शिशुरूप होगए।

नोट—२ 'शिशुरूप' होगए, इस कथनसे स्पष्ट करदिया कि माताको मुखारविन्दके भीतर विराट्रूपका दर्शन नहीं कराया था वरंच साक्षात् विराट्रूप धारण कर लिया था। खरके वधमें अनेक रूप धारण किये

थे। वहाँ यह कौतुक किया था कि सभी एक दूसरेको रामरूपही देखने लगे थे। यहाँ भी कौतुक किया है। जब जब भगवान् अनेक रूप धारण करते हैं तब तब प्रायः इस नामका प्रयोग होता है। यह शब्द अतिशय सौंदर्य्यभी प्रगट करनेके लिए प्रयुक्त होता है। पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि 'खर' पद केवल उपलक्षणमात्र है। देवताओंके सर्वनाम और सर्वविशेषण सर्वकालमें दिये जाते हैं। यथा "कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि। १००।" विशेष 'सोभासिंधु खरारी। १६२।' में देखिए।

३ यहाँ प्रभुका विराट्रूप देखकर माताका आश्चर्य स्थायीभाव है। श्रीरामजी आलंबन विभाव हैं। रोम-रोममें करोड़ों ब्रह्मांडों तथा शिव-ब्रह्मादिके दर्शन उद्दीपन विभाव हैं। हृत्कम्प, स्तम्भ आदि अनुभावोंद्वारा व्यक्त होकर शंका आदि संचारी भावोंकी सहायतासे 'अद्भुत रस' हुआ है।

टिप्पणी—२ (क) 'अस्तुति करि न जाइ भय माना' इति। ईश्वरको पुत्र मानना यह भयकी बात है; यथा 'तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी। अस समुझत मन संसय होई।१५०।६,७।' (ख) 'अस्तुति करि न जाइ' का भाव कि प्रथम बार जब अद्भुतरूप देखा था तब स्तुति की थी, यथा 'हरषित महतारी मुनि मन हारी अद्भुत रूप बिचारी। १६२।' अब पुनः अद्भुतरूप देखा,—'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड'। इस रूपकोभी देखकर स्तुति करना चाहती हैं पर भयके कारण स्तुति नहीं कर सकतीं। (ग) 'भय माना' इति। भाव कि श्रीरामजीकी ओरसे माताको कुछ भी भय नहीं है फिरभी माताने अपने मनसे भय मान लिया है। (घ) 'जगतपिता मैं सुत करि जाना' इति। पिताको पुत्र मान लेना पाप एवं भारी धृष्टता है। (ङ) जन्मसमयके अद्भुतदर्शनपर भगवान्‌की अनन्तता विचारकर सोचती थीं कि स्तुति कैसे करें; यथा 'कह दुइ कर जोरी अस्तुति तोरी केहि बिधि करौं अनंता।' और यहाँ भयके कारण स्तुति नहीं कर सकतीं। [(च) जगत्पिताको पुत्र समझा यह अपराध विभाव, कंपादि अनुभाव, दीनता संचारी और भय स्थायी होनेसे 'भयानकरस' आगया। (वै०)। यहाँ 'द्वितीय असंगति अलंकार' की ध्वनि है। (वीर)]

हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥ ८॥

दोहा—बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि॥ २०२॥

शब्दार्थ—ब्यापै = फैले, असर करे, मोहित करे, सतावे, व्याप्त हो। जनि = मत, नहीं। माई = माता।

अर्थ—भगवान्‌ने माताको बहुत तरहसे समझाकर कहा—हे माता! सुनो, यह बात कभी कहीं न कहना॥ ८॥ कौसल्याजी हाथ जोड़कर बारंबार विनती करती हैं कि 'हे प्रभो! मुझे आपकी माया अब कभीभी न व्यापै'। २०२।

टिप्पणी—१ 'हरि जननिहि बहु बिधि समुझाई' इति। [यहाँ 'हरि' नाम दिया क्योंकि समझाकर माताका विस्मय हरण किया है] (ख) जब माताको विस्मय हुआ तब भगवान्‌ने शिशुरूप होकर समझाया जैसे जन्मसमय समझाया था; यथा 'कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।' समझाकर तब ऐश्वर्य्य प्रगट करनेको मना किया (ग) 'बहु बिधि' यह कि तुम भय न मानो कि हमने जगत्पिताको पुत्र करके माना। तुम पूर्व अदिति रही हो, कश्यपजीके साथ तुमने तीन कल्पोंमें तप किया था और इसी तरह स्वायंभुव मनुके साथ शतरूपा रही हो वहाँ भी तुमने मनुजीके साथ तप किया था। दोनों रूपोंमें तुमने हमसे यही वर माँगा था कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँ। इसीसे हम तुम्हारे पुत्र हुए हैं। [पुनः, समझाया कि तुमने हमसे यहभी वर माँगा था कि 'हमारा विवेक बना रहे, हम वात्सल्यमें बिलकुल

भूल न जायँ; आपके ऐश्वर्य्यका ज्ञान, आपका स्वरूप कभी ध्यानसे जाता न रहे; जो सुख, जो भक्ति, जो अनन्य प्रेम, जो विवेक और जो रहनी आपके 'निज भक्त' चाहते हैं वह सब हमें मिले। इस समय तुम वात्सल्यमें मग्न होकर हमारा स्वरूप भूल गई थीं, हमको इष्टदेवसे भिन्न बालकही समझने लगी थीं। तुम्हारे इष्टदेव तो हमही हैं। शतरूपारूपमें जिनके दर्शनके लिये तुमने तप किया था, यथा 'देखिय नयन परम प्रभु सोई ॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथबादी ॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना ॥१४४ ३-६।', हम वही हैं। तुम्हारे प्रेमके वश वात्सल्यसुख देनेके लिये बालकरूपसे तुम्हारे यहाँ क्रीड़ा कर रहे हैं। इत्यादि। इसी कारण विराट्दर्शनमें ईश्वर-जीवका भेदभी दर्शित कराया है। यह रूप राजाको कभी न दिखाया क्योंकि वे माधुर्य्य-के उपासक हैं, उन्होंने वर माँगा था कि 'सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ ॥ १५१.५॥' इस रूपके दर्शनका सौभाग्य तुम्हींको प्राप्त हुआ है। इस दिव्यरूपका दर्शन पूर्वकी तपस्याके फलसे ही तुमको हुआ है। इत्यादि।—'रूपमेतत्त्वया दृष्टं प्राक्तनं तपसः फलम् ॥ अ० रा० १.३.३३ ॥' (अ० रा० में जन्म-समयके दर्शनसमयका यह श्लोक है) । दोहा २०० 'सुत सनेह बस' पर नोट देखिए। (घ) 'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई' इति। ऐश्वर्य्य प्रगट हो जानेसे ब्रह्माका वचन मिथ्या हो जायगा। रावण-की मृत्यु मनुष्यके हाथ है। अतः ऐश्वर्य्य प्रगट न करना। [पुनः पिताजीसे भी न कहना क्योंकि हमने उनको पुत्रभावमें दृढ़रूपसे टिकने (स्थित रहने) का वर दिया है, ऐश्वर्य्य खुलनेसे मेरा वचन झूठा हो जायगा। (हरीदासजी)]

२ (क) 'बार बार कौसल्या बिनय करै कर जोरि' इति। मायाका स्वरूप देखकर डर गई हैं, यथा 'देखी माया सब बिधि गाढ़ी'। इसीसे विनय करती हैं कि माया न व्यापे। बारंबार विनय करना अत्यन्त भयका सूचक है। माताको ज्ञान हुआ इसीसे उन्होंने अब हाथ जोड़े और 'प्रभु' संबोधन किया,—'अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि'। माताका वात्सल्यभाव शिथिल होगया पर श्रीरामजीका भाव उनके प्रति पुष्ट है। वे उनको माताही माने हुए हैं। इसीसे 'जननी' और 'माई' कहते हैं,—'हरि जननी बहुबिधि समु-झाई' तथा 'कहसि जनि माई'।

नोट—१ (क) प्रभुने मातासे कहा कि इस अद्भुत दर्शन और प्रसंगकी चर्चा किसीसे न करना; उसपर वे कहती हैं कि मैं आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य करती हूँ परन्तु आपभी मेरी बात मानें कि आपकी माया मुझे कभी न सतावे। इसमें व्यंग्य यह है कि तुम न मानोगे तो मैं इस बातको प्रगट कर दूँगी, सबसे कह दूँगी कि मेरा बेटा बड़ा मायावी है। (रा० प्र०)। (ख) अ० रा० में जन्म-समय माताकी यही प्रार्थना है, यथा "आवृणोतु न मां माया तव विश्वविमोहिनी ॥ १.३.२८ ॥' (ग) इसके पश्चात् माताका ज्ञान बराबर बना रहा।

बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥१॥
कछुक काल बीते सब भाई। बड़े भए परिजन सुखदाई ॥२॥
चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई। बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई ॥३॥

अर्थ—भगवान्ने बहुत प्रकारके बालचरित किये और दासोंको अत्यन्त आनंद दिया ॥ १ ॥ कुछ समय बीत जानेपर सब (चारों) भाई बड़े होकर कुटुंबियोंको सुख देनेवाले हुए ॥ २ ॥ गुरुने जाकर चूड़ा-करण संस्कार किया। ब्राह्मणोंने फिर बहुत दक्षिणा पाई ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'बहु बिधि कीन्हा' कथनका भाव कि जितना हमने कहा है इतनाही न समझिये वरंच बहुत तरहके बालचरित किये जो लिखे नहीं जासकते। दूसरे चरणमें 'अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा' कहनेसे स्पष्ट हुआ कि ये बहुत विधिके चरित्र दासोंको आनंद देनेकेलिये किये गए थे।

नोट—१ (क) ☞ बालचरितके रसास्वादनके इच्छुकोंको गीतावली और सत्योपाख्यान अवश्य पढ़ने सुनने चाहियें। कभी रोना-धोना; कभी जँभाना, अलसाना; कभी अनखाना, अनरसे होजाना; कभी हँसना, खेलना, किलकारी मारना; कभी बंदरको देख डरना, कभी बंदरके बिना रोने लगना; कभी कौव्वेको पूआ दिखाना और कभी उसे पकड़ने दौड़ना; कभी अपना प्रतिबिंब खंभों आदिमें देख नाचने लगना इत्यादि बहुत प्रकारके चरित हैं जो माता, पिता, परिजन आदिके आनंदके लिये प्रभुने किये। यथा "रोवनि धोवनि अनखानि अनरसनि डिठि मुठि निठुर नसाइहौं। हँसनि खेलनि किलकनि आनंदनि भूपति भवन बसाइहौं।···रानी राउ सहित सुत परिजन निरखि नयन फल पाइहौं। चारु चरित रघुबंसतिलक के तहँ तुलसी मिलि गाइहौं॥" (गी० १।१८ में लालसा-द्वारा ये चरित बताए गए हैं); "किलकनि चितवनि भावति मोही॥ रूपरासि नृप अजिर बिहारी। नाचहिं निज प्रतिबिंब निहारी॥ मोहि सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा।···किलकत मोहि धरन जब धावहिं। चलउँ भागि तब पूप देखावहिं॥ आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं। जाउँ समीप गहन पद फिरि फिरि चितइ पराहिं॥ ७।७७॥' (यह निज दास भुशुण्डीजीको तथा घरभरको सुख देनेकी क्रीड़ा थी), 'सजल नयन कछु मुख करि रूखा। चितइ मातु लागी अति भूखा॥ देखि मातु आतुर उठि धाई। कहि मृदु बचन लिये उर लाई॥···७८८॥' इत्यादि। (ख) बैजनाथजी लिखते हैं कि अब वर्ष समाप्त होगया, इसीसे कवि कहते हैं कि (जन्म, छठी, बरहीं, सूर्यावलोकन, भूम्युपवेशन, दोलारोहण, अन्नप्राशन से लेकर वर्षगाँठ पर्यन्त) बहुत प्रकारके चरित किये। इनके उत्सवोंद्वारा सकल पुरवासियोंको अत्यन्त आनंद दिया]।

टिप्पणी—२ 'कछुक काल बीते सब भाई।०' इति। सुखके दिन जल्दी बीत जाते हैं, जानही नहीं पड़ते; यथा 'जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति॥ ७।१५॥' अतएव 'कछुक' कहा। 'सब भाई बड़े हुए' यह कहकर जनाया कि सबका चूड़ाकरण-संस्कार एकही साथ एकही दिन करनेको है। बालचरित देखकर दासों और परिजनों दोनोंको सुख हुआ, इसीसे दोनोंके नाम लिखे—'अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा' और 'भए परिजन सुखदाई'।

नोट—२ (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि "जबतक वर्ष पूरा नहीं होता तबतक मासकी गिनती होती है। वर्ष पूर्ण होनेपर वर्षकी गणना होनी चाहिए। अतः 'कछुक काल' कहकर जनाया कि दो वर्ष बीत गए, अब तीसरा लगा। 'बड़े भए' अर्थात् पैरोंसे चलने लगे तब परिजन आदिको सुखदाता हुए। भाव कि जोही बुलाता उसके पास चले जाते" और उसके भावानुकूल उसे सुख देते। (ख) 'परिजन सुखदाई' में 'लक्षणामूलक गुणीभूत व्यंग' है कि अत्यन्त बाल्यावस्थाका आनंद केवल रनवासको प्राप्त था। (वीरकवि)।

३ (क) 'चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई' इति। 'चूड़ाकरण'—चूड़ा=चोटी, शिखा। जन्मसे तीसरे या पांचवें वर्ष यह संस्कार होता है जिसमें 'गभुआरे' बाल पहलेपहल मुड़वाए जाते हैं और चोटी रखाई जाती है। हिन्दुओंके १६ संस्कारोंमेंसे यह भी एक संस्कार है। चूड़ाकरण = मुंडन। (श० सा०)। परन्तु मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि "चक्रवर्ती राजाओंके सिरपर छुरा लगानेकी रीति नहीं पाई जाती, इससे चूड़ा पहिनावनेका अर्थ संभवित होता है।" (पांडेजी)। बाबाहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि चक्रवर्ती राजा होनेपर अर्थात् राज्याभिषेक होनेके पश्चात् फिर छुरा सिरपर नहीं छुआया जाता। यह बात चूड़ाकरण-संस्कारके समयके लिए नहीं है। इस कालमें छुरा लगानेकी रीति न माननेसे षोड़श संस्कारोंमेंसे एक संस्कारही जाता रहेगा।' प्र० स्वामी बताते हैं कि शास्त्रोंमें उपनयन तथा चूड़ाकरण दोनोंमें मुण्डन आवश्यक है। जहाँ प्रायश्चित्तांग क्षौर कहा है वहाँ दुगुना प्रायश्चित करनेपर क्षत्रियराजाओंको क्षौरकी आवश्यकता नहीं है; तथापि चौल,

उपनयन, महानाम्न्यादिव्रतचतुष्टय, समावर्तन, ज्योतिष्टोमादि अध्वरदीक्षा और माता-पितृ-मरणनिमित्त चौर मुंडन राजाओंके लिये भी आवश्यक है; ऐसा धर्मशास्त्रग्रन्थोंमें कहा है। (ख) 'कीन्ह गुर जाई' इति। सब कार्य्योंमें गुरुजीही प्रधान हैं, यथा 'गुर बसिष्ठ कहँ गयउ हँकारा ॥ १९३।७ ॥', 'नामकरन कर अवसर जानी। भूप बोलि पठए मुनि ज्ञानी ॥१९७।२ ॥', 'दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ।।२०४।३।।'; वैसेही यहां 'चूड़ाकरन कीन्ह गुर जाई'। 'जाई' शब्दसे सूचित होता है कि किसी देवताके स्थानमें मुंडन होता रहा है क्योंकि यदि घरमें होता तो 'जाई' न कहकर 'चूड़ाकरन कीन्ह गुर आई' ऐसा कहते जैसा कि पूर्व जन्म-समय कहा है-'आए द्विजन्ह सहित नृपद्वारा'। (पं० रा० कु०)। अथवा, बाललीलाओंमें मग्न होनेसे माता-पिता आदिको चूड़ाकरणके अवसरकी सुध ही न रही, यह देख गुरुजी स्वयंही राजमहलमें गए। (प. प. प्र.)। (ग) 'बिप्रन्ह पुनि दछिना बहु पाई' इति। 'पुनि' के दो भाव होते हैं। एक यह कि जब चूड़ाकरण होगया तब दक्षिणा दी गई। पुनि=तत्पश्चात्, तब। दूसरा यह कि चूड़ाकरणमें अब पुनः दक्षिणा पाई। इस कथनसे जनाया कि नामकरणसंस्कारमेंभी ब्राह्मणोंको दक्षिणा मिली थी, यद्यपि उसका उल्लेख वहाँ नहीं किया गया था और अब फिर मिली। (पं० रा० कु०)। [अथवा, 'पुनि' से जनाया कि प्रथम जन्म-समय दक्षिणा पाई थी; यथा 'हाटक धेनु बसन मनि नृप बिप्रन्ह कहँ दीन्ह'। अब पुनः पाई। वा, 'पुनि' शब्दका कोई अर्थ नहीं है। बुँदेलखण्डप्रान्तमें बहुत जगह यह शब्द बिना अर्थकेही बोला जाता है। यथा 'मैं पुनि गएउँ बंधु सँग लागा ॥ ४।६ ।', 'मैं पुनि पुत्रबधू प्रिय पाई। २।५६ ।' इत्यादि में। (प्र० सं०) । (घ) यहाँ चूड़ाकरण संस्कारमें गुरु प्रधान हैं। गुरु बड़े दानी हैं। जैसे जन्मसमयमें राजाने दान दिया वैसेही यहाँ वसिष्ठजीने दान दिया। (पं० रा० कु०)। [यहाँ राजारानीका नाम नहीं देनेसे यह भाव संभवतः कहा गया है। 'पाई' शब्दसे औरोंकाभी वहां होना अनुमान किया जासकता है। पर प्रधानता गुरुजीकी ही है। इन्हींके द्वारा दी गई हो यह सकता है]। (ङ) चूड़ाकरण ज्येष्ठशुक्ल दशमी भृगुवार हस्तनक्षत्र कन्यालग्नमें हुआ। (वै०)। पर ज्येष्ठपुत्रका चूड़ाकरण और उपनयन संस्कार ज्येष्ठमासमें तथा जन्ममासमें निषिद्ध है। (प. प. प्र.)]

प० प० प्र०—'पुनि दछिना बहु पाई' इति। (क) चूड़ाकरणके पूर्व कर्णवेध संस्कार होता है, उसकी चर्चा बालकांडमें नहीं है पर अयोध्याकांडके 'करनवेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा' इस श्रीमुखवाक्यसे उस संस्कार का होना सिद्ध होता है। कर्णवेध का काल तीन सालतक है। इसके लिये चैत्र, कार्तिक, पौष, फाल्गुन और ज्येष्ठ विहित हैं। चूड़ाकरणके लिये माघ, फाल्गुन, वैशाख और ज्येष्ठ विहित हैं। पर ज्येष्ठ पुत्रके लिये ज्येष्ठ मास निषिद्ध है। अतः दोनों संस्कार एकही दिन करनेके लिये फाल्गुन मासही रह जाता है। इससे निश्चित होता है कि तीसरे वर्षके फाल्गुन मासमें प्रथम कर्णवेध हुआ। उसकी दक्षिणा विप्रोंने पाई। तत्पश्चात् चूड़ाकरण हुआ तब विप्रोंने पुनः दक्षिणा पाई। यह 'पुनि' से जना दिया।

परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत चारिउ सुकुमारा ॥ ४ ॥
मन क्रम बचन अगोचर जोई। दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई ॥ ५ ॥
भोजन करत बोल जब राजा। नहिं आवत तजि बाल समाजा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—अगोचर = जो इन्द्रियोंका विषय नहीं है, इन्द्रियोंसे जिसका अनुभव नहीं हो सकता।

अर्थ—चारों सुन्दर राजकुमार अगणित परम मनोहर (मनके हरनेवाले सुन्दर) चरित करते फिरते हैं ॥ ४ ॥ मन, कर्म और वचनसे जिनका अनुभव नहीं हो सकता वही प्रभु दशरथजीके आँगनमें बिचर रहे हैं ॥ ५ ॥ भोजन करतेमें जब राजा बुलाते हैं तब बालसखाओंका समाज छोड़कर नहीं आते ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'परम मनोहर चरित अपारा। करत फिरत०' इति। जब छोटे थे तब 'जानुपाणि' से बिचरते थे, अब बड़े होनेपर पैरोंसे चलते हैं, यह बात 'करत फिरत' से जनायी। 'परम मनोहर' से जनाया

कि कोई बुरे खेल नहीं खेलते, कोई दुःखदायी चरित्र नहीं करते, वरंच सुखदाता चरित्र करते हैं। इसीसे ग्रंथकार बारंबार चरित्रोंकी प्रशंसा करते हैं। यथा 'बालचरित अति सरल सुहाए' इत्यादि। ['परम मनोहर' = मनको अत्यंत हरनेवाले। अर्थात् शीलसहित सरल स्वभाव, प्रसन्नमुख, स्मितपूर्वक सबसे भाषण, परस्पर प्रीतिसहित क्रीड़ा; इत्यादि। (वै०)] 'अपार' का भाव कि लड़कोंके साथ अनेक खेल खेलते हैं। 'चारिउ सुकुमारा' से जनाया कि चारों भाई संग रहते हैं।

२ (क) 'मन क्रम बचन अगोचर जोई', यथा 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तैत्ति० २.४), 'मन समेत जेहि जान न बानी। ३४१.७', 'वेद बचन मुनि मन अगम ते प्रभु०। २।१३६।' प्रथम कहा कि चारों सुकुमार चरित करते-फिरते हैं और अब बताते हैं कि ये चरित कहाँ करते हैं—'दसरथ अजिर'। (ख) 'दसरथ अजिर बिचर' से जनाया कि अभी राजभवनके बाहर नहीं निकलते, अभी छोटे हैं। बाहर जानेका सामर्थ्य अभी नहीं है। ये अपार चरित्र आँगनकेही हैं। पुनः, (ग) 'दसरथ अजिर बिचर प्रभु सोई' का भाव कि पहिले कौसल्याजीके प्रेमसे 'प्रभु'का प्रगट होना कहा था; यथा 'सो अज प्रेम-भगति-बस कौसल्या कें गोद'। अब 'दसरथ अजिर' कहकर उन्हीं प्रभुका दशरथजीके प्रेमसे प्रगट होना कहते हैं। इस तरह यहाँ राजा और रानी दोनोंका प्रेम पृथक् पृथक् कहा। कहीं-कहीं एकहीमें दोनोंका प्रेम कहते हैं, यथा 'दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत'। [(घ) 'प्रभु सोई' अर्थात् जो ऐसा समर्थ स्वामी है कि मन, कर्म और वचनका विषय नहीं होसकता, इनसे जाना नहीं जा सकता, वही दशरथ-अजिर-विहारी हो रहा है, यह अघटित घटना है। वे समर्थ हैं, सब कुछ कर सकते हैं। 'अघटित-घटना-पटीयसी।' (ङ) 'बिचर' शब्द बड़ा अनूठा है। इसमें चलना, फिरना, क्रीड़ा करना, आनंद विहार करना सभी भावोंका समावेश हो जाता है।]

३ 'भोजन करत बोल जब राजा।०' इति। राजा इनको भोजन करानेके लिये बुलाते हैं पर ये बालसमाजको छोड़कर नहीं आते, इससे जनाया कि- (क) श्रीरामजीका बालकोंमें बड़ा प्रेम है, इसीसे उनका संग नहीं छोड़ते। (अपने वर्गमें सबका प्रेम होता ही है। किसी फ़ारसी कविने कहा भी है— 'कुनद हमजिंस बा हमजिन्स परवाज़। कबूतर बा कबूतर बाज़ बा बाज़।' अर्थात् एक वर्गवाले अपने वर्गके साथ उड़ते हैं, कबूतर कबूतरके साथ, बाज़ बाज़के साथ उड़ता है। और अपने यहाँभी कहा है कि 'स्ववर्गे परमा प्रीतिः।')। ये सब आपके बालसखा हैं, अतएव बहुत प्रिय हैं। (ख) अवधवासियोंके बालक राजमहलमें आकर श्रीरामजीके साथ खेलते हैं। (ग) राजा जहाँ भोजन करने बैठे हैं, उसीके पास आँगनमें सब खेल रहे हैं; इसीसे राजा वहींसे बुला रहे हैं। [(घ) बालकोंके साथ खेलमें मग्न होनेसे भूखप्यास भूली हुई है, इसीसे समाज छोड़कर नहीं आते। (वै०)]

नोट—अ० रा० १.३ में मिलानेके श्लोक ये हैं—"अङ्गणे रिङ्गमाणं तं तर्णकाननु सर्वतः। ४६। दृष्ट्वा दशरथो राजा कौसल्या मुमुदे तदा। भोक्ष्यमाणो दशरथो राममेहीति चासकृत। ४७। आह्वयत्यतिहर्षेण प्रेम्णा नायाति लीलया।" अर्थात् आँगनमें बछड़ेके पीछे-पीछे सब ओर बालगतिसे दौड़ते देख राजा और कौसल्या अति आनंदित होते थे। भोजन करनेके समय जब राजा उन्हें 'राम! आओ' ऐसा कहकर अत्यन्त हर्ष और प्रेमसे बारंबार बुलाते तब खेलमें लगे रहनेके कारण वे न आते थे।

कौसल्या जब बोलन जाई। ठुमुकु ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई ॥७॥
निगम नेति सिव अंत न पावा। ताहि धरै जननी हठि धावा ॥८॥
धूसर धूरि भरे तनु आए। भूपति बिहसि गोद बैठाए ॥९॥

शब्दार्थ—बोलन=बुलाने। 'ठुमुकु'—जल्दी-जल्दी थोड़ी-थोड़ी दूरपर पैर पटकतेहुए बच्चोंका चलना;

फुदकफुदककर रह-रहकर कूदते हुए चलना; "छोटे पद घन पैंगिया, कटि मटकाते, हाथ हिलाते, नूपुर बजाते इत्यादि रीतिसे चलना" ठुमुककर चलना कहलाता है। (वैजनाथजी)। पराई=भागकर। धरै=धर पकड़नेके लिए। धूसर=धूर लपेटे हुए; लगी हुई धूलिसे भरे; यथा 'बालबिभूषन बसन बर धूरि धूसरित अंग'। =खाकी; मटीली; यथा 'धूसरस्तु सितः पीत लेशवान्वकुलच्छविरिति शब्दार्णवे', 'ईषत्पांडुस्तु धूसरः।' (अमरे १.५.१३। भानुदीक्षितकृत टीका)। अर्थात् किंचित् श्वेत और पीत मिला रंग; श्वेत, किंचित् पीत और मौलसिरीके पुष्पकी कान्ति मिश्रित रंग।

अर्थ—जब कौसल्याजी बुलाने जातीं तब प्रभु ठुमुकठुमुककर भाग चलते हैं ॥ ७ ॥ जिनको वेद नेति-नेति कहते हैं (अर्थात् इनकी इति नहीं है, इतनाही नहीं है) और शिवजीने जिनका अन्त नहीं पाया, माता उन्हींको पकड़नेकेलिये हठ करके दौड़ती हैं ॥ ८ ॥ धूल भरेहुए धूसर तनसे वा शरीरभरमें धूल लपेटेहुए आए। राजाने हँसकर गोदमें बिठा लिया ॥ ९ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कौसल्या जब बोलन जाई' से जनाया कि जहाँ बालकोंके समाजमें श्रीरामजी खेल रहे हैं वहीं माता कौसल्या बुलाने गईं (और राजा खाने बैठ गए थे इससे उन्होंने वहींसे बुलाया था।) इसीसे वे माताको देखकर भाग चले। (ख) 'ठुमुक ठुमुक प्रभु चलत पराई' इति। इससे जनाया कि अभी जल्दी जल्दी भाग नहीं आता। 'प्रभु' कहनेका भाव कि जो असंभवको संभव करनेवाले हैं, जो 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः' प्रभु हैं, वे ही भक्तके प्रेमवश समर्थ होते हुए भी यह चरित कर रहे हैं कि भाग नहीं पाते, धीरे धीरे भागते हैं, मानों भागही नहीं सकते।

नोट—१ 'कौसल्या जब बोलन जाई' इति। ☞ इससे जान पड़ता है कि राजाका नियम था कि जबतक वे श्रीरामजीको न खिला लेते तबतक आप नहीं खाते थे। यही कारण है कि जब उनके बुलानेसे नहीं आते तब परम सती कौसल्याजी स्वयं या राजाके कहनेसे उनको बुलाने जाती हैं, जिससे राजा उनको भोजन कराके आपभी भोजन करें। माधुर्य्यरसमेंभी उपासनाका कैसा निर्वाह किया है !!

टिप्पणी—२ 'निगम नेति सिव अंत न पावा।०' इति। (क) प्रथम जो कहा था कि 'मन क्रम बचन अगोचर जोई' उसीका यहाँ अर्थ करते हैं कि शिवजीके मनको अगोचर हैं और वेदके वचनको अगोचर हैं। 'शिव अंत न पावा' कहकर 'नेति' शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि वेद 'नेति' कहते हैं अर्थात् अंत नहीं पाते। (ख) 'ताहि धरै जननी हठि धावा' इति। 'ताहि' अर्थात् जो शिवके मन और वेदकी वाणीको अगोचर है, उसीको माता तनसे पकड़नेकेलिए दौड़ती हैं। [पुनः, 'ताहि धरै' का भाव कि जबतक वे निकट नहीं पहुँचतीं तबतक ठुमुक-ठुमुक चलते, जब वे पास आ जातीं तब भाग चलते। तब माता हठ करके दौड़तीं कि देखैं कहाँतक भागोगे।] (ग) 'जननी' के साथ 'धाई' स्त्रीलिङ्ग क्रिया चाहिये थी सो न देकर पुल्लिंग क्रिया 'धावा' लिखी। भाव यह कि यहाँ माताका पुरुषार्थ दिखाते हैं कि ईश्वरको पुरुषार्थ-करके पकड़ लाईं। जैसा काम किया वैसा शब्द दिया। पुरुषार्थ किया अतएव पुल्लिंग क्रिया दी।

नोट—२ 'सिव अंत न पावा' का भाव यह भी है कि 'जिन शिवजीका अंत ब्रह्मादिने न पाया वे शिवजीभी श्रीरामजीकी महिमाका अंत न पा सके तब और दूसरा कब पा सकता है? यथा 'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना। ११४।४।' (शिववाक्य है)। शिवजीकी साक्षी इससे दी कि उनका इष्ट यही बालकरूप है, इसी स्वरूपका उन्होंने स्वाभाविक मंगलाचरण किया है—'बंदौं बालरूप सोइ रामू। ११२।३।', 'द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी। ११२.४।' दशरथ-अजिरविहारीकी अनंतताके लिये 'दशरथअजिरविहारी' केही उपासककी साक्षी तो युक्तियुक्त ही है।

टिप्पणी—३ 'धूसर धूरि भरे तन आए।०' इति। (क) वेद और शिव जिनका अन्त न पा सके, उन्हें जननी पकड़ लाईं। इस चरितसे यह दिखाया कि भक्तिसे भगवान् पकड़े मिलते हैं। कौसल्याजी

भक्तिरूपा हैं, यथा 'पंथ जात सोहहिं मतिधीरा । ज्ञान भगति जनु धरे सरीरा । १४३.४।' ज्ञानरूप राजाके बुलानेसे रामजी नहीं आते—'नहिं आवत तजि बालसमाजा'; उनको भक्ति महारानी पकड़ लाईं । (ख) [किसीका मत है कि 'मर्कट न्याय' ज्ञानदेशका है । बंदरका बच्चा उचका उचका फिरता है, अपनी ओरसे माँको पकड़ता है, गिरा तो गया । और भक्तिका मार्जारदेश है, बिल्ली स्वयं अपने बच्चेको पकड़कर चपटा लेती है । ये दोनों देश यहाँ दिखाए हैं ।]

नोट—३ 'धूसर धूरि भरे तन आए' का यह भी भाव हो सकता है कि माता दौड़कर पकड़ने चली, पर आप भाग चले, माता न पकड़ पाई, थककर बैठ गई, तब आप हँसते हुए पास आ गए, माताने पकड़ लिया । यथा "धावत्यपि न शक्नोति स्प्रष्टुं योगिमनोगतिम् । प्रहसन्स्त्वयमायाति कर्दमाङ्कितपाणिना । अ०रा० १.३.४६।" माताने पकड़ लिया यह भाव अ० रा० के 'कौसल्याधावमानापि प्रस्खलन्तीं पदे पदे ॥५६॥ रघुनाथं करे धृत्वा किञ्चिन्नोवाच भामिनी ।" इस श्लोकमें है । अर्थात् कौशल्याजी दौड़ीं पर पग-पगमें फिसलने लगीं । अन्तमें उन्होंने श्रीरामजीको पकड़ लिया किंतु कहा कुछ नहीं ।

४ 'भूपति बिहँसि गोद बैठाए' इति । शरीरमें धूल लपेटे हुए हैं, यह देख राजा हँसे । ☞ 'यह हास्यरसका बड़ाही सुन्दर रूप है । एक अँग्रेजी हास्यरसके मर्मज्ञने ठीक कहा है कि सर्वोत्तम हास्यरस वही है जिसमें हास्यचरित्रके प्रति हमारा प्रेम और बढ़ जावे ।' (लमगोड़ाजी) । यद्यपि राजा वात्सल्य-रसमें मग्न हैं तथापि यहाँ हास्यरस प्रबल हो गया । धूसर तन विभाव, मुखविकास अनुभाव, हर्ष संचारी होनेसे हास्यरस हुआ । (वै०)

दोहा—भोजन करत चपल चित इत उत अवसरु पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ॥२०३॥

शब्दार्थ—चपल = चंचल । इत उत=इधर उधर । 'किलकत'—'किलकनि, किलकारी' भरते वा मारते हुए । किलकारी=गंभीर और अस्पष्ट स्वर जिसे लोग आनन्द उत्साहके समय मुहँसे निकालते हैं; हर्षध्वनि; आनन्दसूचक शब्द । ओदन=भात, पका हुआ चावल । दधि=दही ।

अर्थ—(श्रीरामजी गोदमें बैठे) भोजन कर रहे हैं, (परन्तु माता उन्हें बालकोंके समाजसे पकड़ लाई हैं, वे समाज छोड़ना न चाहते थे, इसीसे उनका) चित्त चंचल है, इधर-उधर मौक़ा पाकर किलकारी मारते हुए मुहँमें दही-भात लपटाए हुए भाग चले ॥ २०३ ॥

नोट—१ 'इत उत' के अर्थ कई प्रकारसे किये गए हैं । (१) चित इत चित उत=इधर राजाके दिये हुए ग्रासके खानेमें चित्त है; उधर बालकोंमें चित्त है; बालकसमाजमें खेलनेकेलिये मौक़ा पाकर भाग जानेकी ताकमें हैं । (पं० रा० कु०) । इसीसे चित्तको चंचल कहा । (२) 'इत उत (देखते हैं)' (पं० रा० कु०) । अर्थात् चित्त इधर-उधर है कि किधरसे कैसे मौक़ा भागनेका लगे, क्योंकि राजा गोदमें लिये हैं, हाथ लगाए हैं, छूटनेका अवकाश नहीं है । (३) 'अवसरु पाइ इत उत भाजि चले'=मौक़ा पाकर इधर-उधर भाग चले । वा, (४) 'इत उत' अर्थात् माता-पिता दोनोंकी ओर देखते हैं कि दोनोंकी दृष्टि बचाकर निकल भागें । ऐसा अवसर जल पीनेके समय प्रायः मिल जाता है । (५) 'इत उत अवसर पाइ'=इधर (पिता) उधर (माता; दोनोंकी ओरसे) मौक़ा पाकर (भाग चले) ।

टिप्पणी—१ 'अवसरु पाइ' अर्थात् जैसेही राजाका बायाँ हाथ, जिससे वे आपको पकड़े हुए थे, अलग हुआ और दहिना हाथ कौर सानने में लगा, वैसेही भागनेका मौक़ा मिल गया । 'किलकत'—छूटनेसे प्रसन्न हुए, इसीसे किलकारी मारते भागे और इस प्रकार और सखाओंको दूरसेही आगमन जना दिया । २—यह

प्रभुका स्वभाव दिखाते हैं कि वे सबका प्रेम रखते हैं, सबको मान देते हैं। पकड़ लानेमें माताका मान रक्खा, भोजन किया इस तरह पिताका मान रक्खा। और, बालसखाओंको छोड़कर आना पड़ा था सो इसतरह विना आचमन किये भागकर पुनः उनके पास जानेसे उनका मान रक्खा।

नोट—२ 'मुख दधि ओदन लपटाइ' इति। बालपनमें दही भातमें रुचि अधिक होती है; अतएव दही भात लिपटाना कहा। दहीभात खाया है सो इधर-उधर लिपटा हुआ है, बस वैसेही विना मुहँ धोए भाग गए। वा, 'महाराजके मुख, दाढ़ी आदिमें लगाकर भागे।' (रा० प्र०)। अपनेही मुखमें लपटानेवाली बाललीलासे परिजन, मित्र आदि सभीको हास्यरसास्वाद मनमाना मिलेगा। पिताके मुखमें लपटानेसे तो केवल घरहीमें हास्यरसकी नदियाँ बहतीं। (प. प. प्र.)। दही वा दालभात भी मुँहमें लपटाए हुए भागना बालकस्वभाव तो है ही, पर यहभी चरित कृपागुणसे खाली नहीं है। वे यही जूंठन आँगनमें भुशुण्डीजीके लिये गिराएँगे; क्योंकि वे इसके अधिकारी हैं; यथा "लरिकाईं जहँ जहँ फिरहिं तहँ-तहँ संग उड़ाउँ। जूठनि परइ अजिर महँ सो उठाइ करि खाउँ। ७.७५।"

प. प. प्र.—बालकांड दो० १८८ से अयोध्याकांडकी समाप्तितक प्रत्येक दोहेमें ८ चौपाइयाँ (अर्धालियाँ) हैं। यह सामान्य नियम है। जहाँ कहीं न्यूनाधिक हैं वहाँ कुछ न कुछ हेतु है। गूढ़-चन्द्रिकामें ऐसे अपवादभूत स्थानोंमें हेतु स्पष्ट किये गए हैं। इस दोहेमें ९ चौपाइयाँ देकर सूचित किया कि ऐसी नव नवीन बाललीला करते हैं और यह कि अब अवस्था नौ सालकी हुई, उपनयनकाल समीप आ गया। तत्पश्चात् ऐसी लीलाएँ देखनेमें न आयेंगी।

बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए ॥ १ ॥
जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिँ राता। ते जन बंचित किए बिधाता ॥ २ ॥

अर्थ—(भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके) बालचरित बहुतही सरल (भोलेभाले) और सुहावने मनभावने हैं। शारदा, शेष, शंकरजी और श्रुतियोंने इन चरित्रोंको गाया है ॥ १ ॥ जिनका मन इनमें अनुरक्त नहीं हुआ अर्थात् जिन्होंने श्रीरामजी एवं उनके इन चरित्रोंसे प्रेम नहीं किया, उन लोगोंको ब्रह्माने ठग लिया ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बालचरित अति सरल०' इति। यहाँतक कुछ बालचरित गाए। अब बताते हैं कि वे चरित अति सरल और सुहाए हैं। [सरल हैं अर्थात् अटपट नहीं हैं; जैसे स्वाभाविक सीधे बच्चोंके होते हैं वैसे हैं। सीधे-सादे। सुहावने = सुन्दर। (रा० प्र०)। वा, 'सरल सुहाये' = कुटिलता और दोषोंसे रहित। 'अति सरल सुहाये' का भाव कि बाल्यावस्थामें सभी बच्चोंके चरित सरल और सुहावने होते हैं पर इनके बालचरित 'अति सरल०' हैं। (पंजाबीजी)।] शारदादिका प्रमाण देते हैं। (ख) 'सारद सेष संभु श्रुति गाए' इति। शारदाने शारदारामायणमें, शेषने शेषरामायणमें, शंभुने अध्यात्मरामायण वा मानसरामायण वा महारामायणमें और वेदोंने वेदरामायणमें विस्तारसे बालचरित्र वर्णन किये हैं। तात्पर्य्य कि इन्हींके प्रमाणसे हमने बालचरित्र वर्णन किया।

नोट—१ 'बालचरित' इति। यथा 'कबहूँ ससि माँगत आरि करैं कबहूँ प्रतिबिंब निहारि डरैं। कबहूँ करताल बजाइके नाचत, मातु सबै मन मोद भरैं॥ कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै, पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं। अवधेसके बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिरमें बिहरैं" । क० १.४ ।'; "रामलषन इक ओर भरतरिपुदवनलाल इक ओर भए। सरयुतीर सम सुखद भूमिथल गनि गनि गोइयाँ बाँटि लये॥ कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि चढ़ि मन कसि कसि ठोंकि ठोंकि खये। कर कमलनि बिचित्र चौगानैं खेलन लगे खेल रिझये॥२॥ ···एक लै बढ़त एक फेरत सब प्रेम प्रमोद बिनोदमये। एक कहत भइ हार रामजूकी एक कहत भइया भरत

जये ॥ ४ ॥ प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये । पाइ सखा सेवक भरि जनम न दूसर द्वारि गये ॥ ५ ॥ हारे हरष होत हिय भरतहि जिते सकुचि सिर नयन नये । तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग रये ॥ ७ ॥ गी० ४३ ।", "बाल बिभूषन बसन बर धूर धूसरित अंग । बालकेलि रघुबर करत बाल बंधु सब संग ॥ ११७ । राज अजिर राजत रुचिर कोसलपालके बाल । जानु-पानि-चर चरित बर सगुन सुमंगल माल । ११८ ।" (दोहावली) ।

टिप्पणी—२ (क) 'जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता ।०' इति । (क) भाव कि शारदा शेषादिने इनमें प्रीति की और इनके बालचरित्र गाते हैं, तब तो सभीको इनसे प्रेम करना आवश्यक है, जीवन तभी सफल है जब इनमें मन लगे । (ख) 'ते जन बंचित किये बिधाता'—भाव कि भगवान्‌में मन न लगकर संसारके पदार्थोंमें मन लगा तो समझ लो कि ठगे गए । क्योंकि अन्य सब पदार्थ भक्तिके बाधक हैं; यथा 'सुख संपति परिवार बड़ाई । सब परिहरि करिहौं सेवकाई ॥ ए सब रामभगतिके बाधक । कहहिं संत तव पद अवराधक । ४।७।१६-१७ ।'

नोट—२ रातना = अनुरक्त होना, लगना । बंचित = ठगा हुआ, छला हुआ, विमुख । रा० प्र० कार कहते हैं कि प्राकृतमें 'बंचित' शब्द व्यर्थका अर्थ भी देता है । 'बंचित किये' = व्यर्थ ही पैदा किया । 'ते जनु बंचित किये बिधाता', यथा 'नर ते खर सूकर स्वान समान कहो जगमें फल कौन जिये', 'जेहि देह सनेह न रावरे सों असि देह धराइ के जाय जियै । क० ७. ३८ ।' यही बिधाताका ठगना है । खर, सूकर और श्वान तीनों अमंगलकर्ता हैं, वैसेही ये विमुख हैं, केवल पेट भरना जानें। कवितावलीमें कहा है—'पग नुपुर औ पहुँची कर कंजनि मंजु बनी मनिमाल हिये । नव-नील कलेवर पीत झगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये ॥ अरबिंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये । मनमों न बसेउ ऐसो बालक जो तुलसी जगमें फल कौन जिये ॥ क० १।२ ।' ☞मिलान कीजिए—"मानुषं जन्म संप्राप्य रामं न भजते हि यः । वंचितः कर्मना पाप इति जानीहि बुद्धिमान् । इति सत्योपाख्याने ।"

भए कुमार जबहि सब भ्राता । दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता ॥ ३ ॥
गुर-गृह गए पढ़न रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥ ४ ॥
जाकी सहज स्वास श्रुति चारी । सो हरि पढ़ यह कौतुक भारी ॥ ५ ॥

अर्थ—ज्योंही सब भाई कौमार-अवस्थाके हुए त्योंही गुरु, पिता और माताने उन्हें जनेऊ दिया अर्थात् उनका यज्ञोपवीतसंस्कार किया ॥ ३ ॥ रघुराई श्रीरामचंद्रजी (भाइयों सहित) गुरुजीके घर विद्या पढ़ने गए । थोड़ेही कालमें उनको सब विद्यायें आ गईं ॥ ४ ॥ चारों वेद जिसकी स्वाभाविक श्वास हैं वे भगवान् पढ़ें यह बड़ा भारी कौतुक (तमाशा, आश्चर्य्य) है । ॥ ५ ॥

नोट—१ 'भए कुमार' इति । पुराणों तथा अन्य ग्रंथोंमें 'कौमार' शब्द भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त देखनेमें आता है । युवावस्थाके पूर्व किसीने एकही अवस्था मानी है (बाल्य अथवा कौमार), किसीने तीन और किसीने चार (बाल्य, कौमार, पौगंड, कैशोर) । स्मृतिके अनुसार मनुष्य जीवन की आठ अवस्थायें हैं—कौमार, पौगंड, कैशोर, यौवन, बाल, वृद्ध और वर्षीयान् । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णजीके संबंधमें कुमार और पौगंड अवस्थाओंका उल्लेख आया है । यथा 'एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्मा हि मोक्षणम् । मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे । १०।१२।३७ ।' इसकी टीकामें श्रीधरस्वामीजीने "कौमारं पंचमाब्दान्तं पौगण्डं दशमावधि । कैशोरमापंचदशाद्यौवनं तु ततः परम् ॥" यह व्याख्या की है । अर्थात् पाँचके अंततक कौमार, दसतक पौगण्ड, पंद्रह वर्षतक कैशोर और उसके आगे युवावस्था है । अ० रा० में मानससे मिलते हुए श्लोक ये हैं—'अथ कालेन ते सर्वे कौमारं प्रतिपेदिरे । ५९ । उपनीता वसिष्ठेन सर्वविद्या-

विशारदाः। धनुर्वेद च निरता सर्वशास्त्रार्थवेदिनः। ६०। बभूवुर्जगतां नाथा···" अर्थात् कुछ काल बीतनेपर वे सब भाई कौमार अवस्थामें प्राप्त हुए। तब बसिष्ठजीने उनका उपनयन संस्कार किया। संपूर्ण जगत्के स्वामी समस्त शास्त्रोंके मर्मके ज्ञाता और धनुर्वेद आदि संपूर्ण विद्याओंके पारगामी हो गए। अ० रा० के प्राचीन टीकाकार नागेशभट्टके शिष्य श्रीरामवर्माजीने 'कौमारं प्रतिपेदिरे' का अर्थ किया है "कौमारं पंचवर्षाधिकत्वम्' अर्थात् पाँच वर्षसे अधिक अवस्थाके हुए। इन प्रमाणोंके अनुसार "भए कुमार" का अर्थ है—'पूर्ण कौमारावस्थाको प्राप्त हुए' अर्थात् पाँच वर्षके हो चुके, छठा लगा।

श्रीमद्भागवत स्कंध ७. ६ में श्रीप्रह्लादजीके वचन हैं—"मुग्धस्य बाल्ये कौमारे क्रीडतो याति विंशतिः। ७।" 'अन्वितार्थप्रकाशिका टीकामें इसकी टीका इस प्रकार है कि मूढ़ अवस्थामें बाल्यकालमें दश वर्ष बीते और कौमारमें खेलते हुए दसवर्ष बीते। इस तरह ग्यारहवें वर्षसे बीस वर्षतककी अवस्थाको कौमार कहा गया। और तंत्रमतमें सोलह वर्षकी अवस्था तकको "कौमार" कहा गया है। इन प्रमाणोंके अनुसार भए कुमार" का अर्थ होगा—'जब कौमार अवस्थामें प्रवेश किया। अर्थात् दसवर्षके हो चुके, ग्यारहवाँ वर्ष लगा।'

यहाँपर उपनयन संस्कारमें भी ये दोनों अर्थ लग सकते हैं।

यज्ञोपवीत संस्कार तब होता है जब बालकको विद्या पढ़नेके लिए गुरुके पास भेजा जाता है। इस संस्कारके उपरान्त बालकको स्नातक होने तक ब्रह्मचर्यपूर्वक रहना पड़ता था और भिक्षावृत्तिसे अपना तथा अपने गुरुका निर्वाह करना पड़ता था। इस संस्कारका ब्राह्मणके लिये प्रायः आठवें, क्षत्रियके लिये ग्यारहवें और वैश्यके लिये बारहवें वर्ष करनेका विधान है। यथा 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयेद्गर्भाष्टमे ऽवैकादशवर्षं राजन्यं द्वादशवर्षं ऽवैश्यं॥ ३॥" (पारस्कर गृह्यसूत्र द्वितीय कांड)। छन्दावलीरामायणमेंभी ग्यारहवें वर्ष उपवीत होना कहा है; यथा "ग्यारह वर्ष के राम भए जब। बोलि गुरु उपबीत दिये तब।" वैजनाथजी ग्यारहवें वर्ष वैशाख शु० १० गुरुवार उत्तराफाल्गुनी वृषलग्नमें उपनयनका होना लिखते हैं। उपर्युक्त गृह्यसूत्रके अनुसार ग्यारहवें वर्ष उपनयन हो सकता है।

☞ शास्त्र यह भी कहता है कि यदि बालक बहुत होनहार कुशाग्रबुद्धि हो तो ब्राह्मणका पाँचवें, क्षत्रियका छठे और वैश्यका आठवें वर्षमें उपनयन संस्कार कर दिया जाय। यथा "ब्रह्मवर्चस कामस्य कार्यं विप्रस्य पंचमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे॥ मनु० २।३७॥" इसके अनुसार कौमारावस्था पूर्ण होतेही छठे वर्ष उपनयन हुआ हो इसमेंभी आश्चर्यकी कोई बात नहीं। जिनके लिये 'अलप काल बिद्या सब आई' कहा है, उनके लिए मनुके इस वाक्यानुसार छठे वर्ष उपवीत-संस्कारका होना ही अधिक उपयुक्त है।

प्र. स्वामी ग्यारहवें वा बारहवें वर्षके पक्षमें हैं और लिखते हैं कि "छठा वर्षभी अपवादभूत क्यों न हो मान्य है; पर यह विचारणीय है कि ऐसे प्रियतम बालकोंको छठें वर्ष गुरुगृह भेजनेको दशरथजी और माताके तैयार होनेका संभव कहाँतक है। फिर बाललीलाका प्रमोद किस प्रकार मिलता? १९३ (१) में जन्म हुआ, २०४ (३) में उपनयनका उल्लेख है। ११ दोहे बीचमें हैं, यह भी एक कालसंकेत मानना अनुचित नहीं है। इससे मानना पड़ेगा कि उपनयन बारहवें वर्षके फाल्गुनमें हुआ। उस फाल्गुनमें भी कर्कमें गुरुका होना संभाव्य है। ग्यारहवेंमें या बारहवेंमें फाल्गुन कृ० ५ या शु० १० को हुआ। शुक्ल दशमीको गुरुचन्द्र युति रहेगी और कृ० ५ को गुरुचन्द्र रवि त्रिकोण योग होगा। वैजनाथजीने वैशाखमें लिखा है। वैशाखमें तो रवि वृषभमें होता है और उन्होंने कोई आधारभी नहीं दिया है। वैशाखमें तो १२ वाँ गुरु निषिद्ध है। हाँ, ग्यारहवें वर्षके फाल्गुनमें मीनराशिमें रवि और कर्कराशिमें गुरुका होना संभाव्य है। मीनका रवि और

कर्कका गुरु यह नव पंचम त्रिकोणयोग और धनु वृश्चिकका चन्द्र उत्तमोत्तम त्रिकोणयोग होता है। कु० ५ का दिन होगा।"

टिप्पणी—१ (क) 'सब भ्राता' कहकर जनाया कि सब भाइयोंका 'व्रतबंध' (यज्ञोपवीतसंस्कार) एक साथ हुआ; यथा 'करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा ॥ २।१० ॥' [(ख) 'दीन्ह जनेऊ' —जनेऊ हाथमें पकड़कर पहनाते हैं, अतएव 'दीन्ह' कहा] (ग) 'गुरु पितु माता' इति। यज्ञोपवीत-संस्कारमें यही क्रम है। प्रथम गुरुजी आते हैं (संस्कार करानेमें ये अग्रगण्य हैं), तब पिता संकल्प करते हैं, तत्पश्चात् माता भिक्षा देती है। (घ) 'गुरु गृह गए पढ़न रघुराई' इति। [उपनयन होनेपरही मनुष्य द्विजातीय कहलाता है और तभी वेदादिके पढ़ने तथा कर्मकांड (संध्या आदि) में प्रवृत्त होनेका अधिकार प्राप्त होता है। उपनयन होनेपर विद्या पढ़नी चाहिये; इसीसे उपनयन कहकर विद्याध्ययन करनेको गए, यह कहा] 'गए' पदसे जनाया कि श्रीरामजी गुरुजीके आश्रममें जाकर रहे। यही प्राचीनकालकी विद्याध्ययन-की रीति है कि जबतक विद्या पढ़े तबतक गुरुके स्थानमें रहे, गुरुकी शुश्रूषा करे और विद्या पढ़े। (ङ) 'अल्पकाल' अर्थात् आठ दिनमें। (पं०)।

नोट—२ (क) "सब विद्या" इति। अर्थात् चौदहों विद्यायें। विशेष दोहा ६.८ मा० पी० भाग १ पृष्ठ २०४ देखिए। मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है कि मनुष्यके जानने योग्य दो विद्याएँ हैं—एक परा दूसरी अपरा। उनमेंसे (जिसके द्वारा लोक और परलोक संबंधी भोगों तथा उनकी प्राप्तिके साधनोंका ज्ञान होता है वे) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, शिक्षा (जिसमें वेदोंके पाठकी विधिका उपदेश है), कल्प (जिसमें यज्ञादिके विधिका वर्णन है), व्याकरण, निरुक्त (वैदिक शब्दोंका कोष), छन्द (वैदिक छन्दोंकी जाति और भेदका जिससे ज्ञान होता है) और ज्योतिष, इन दसका नाम 'अपरा' है। और जिसके द्वारा ब्रह्मका ज्ञान होता है वह 'परा' विद्या है। (यहभी वेदोंमेंही है। इस अंशको छोड़कर शेष सब 'अपरा' विद्या है)। यथा "द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥ ४ ॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥ ५ ॥" (प्रथम मुंडक प्रथम खण्ड)।—इसके अनुसार 'सब विद्या'से परा और अपरा दोनों विद्याएँ अभिप्रेत हैं। (मा० त० वि०)। (ख)—'सब विद्या' का अर्थ श्रीरामजीके संबंधमें क्या है यह भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है, "गीर्वाणवाणीनिपुणो रामस्तैः प्रणतां सदा। रामस्सरस्वती जिह्वो ब्रह्मोक्तोऽमरपूजितः ॥ दैत्यदानवनागानां भाषाभिज्ञो रघूद्वहः। भूतप्रेतपिशाचानां भाषाविद्राघवः प्रभुः ॥ अन्योन्यदेशभाषाभिस्तत्रैव व्यवहारकः। सर्वत्र चतुरो रामः फारसीमपिपेठिवान् ॥ काशानां भाषया रामः कीशेषु व्यपदेशिकः। ऋक्षराक्षसपक्षिषु तेषांगीर्भिस्त-थैव सः ॥ यावन्तः कारवो लोके ये च विद्योपजीविनः। तेषामाचार्यतां प्राप्तो रामो दाशरथिर्गुणैः। इत्यादि।" (वै०)। अर्थात् देववाणी (संस्कृत) में निपुण, वेद जिनको कंठस्थ हैं और सरस्वती (अर्थात् समस्त शास्त्र पुराणादि) जिनकी जिह्वा पर हैं, दैत्यों, दानवों, नागों, भूत-प्रेत-पिशाचों तथा अन्य-अन्य देशोंकी भाषाओं और व्यवहारोंके ज्ञाता, फ़ारसी, काशों और कीशों तथा रीछ, राक्षस, पक्षी आदिकी भाषाके पंडित, जितने लोग चित्रकारी, तंतुकारी, शिल्पकारी आदि कलाओंके ज्ञाता और उसीसे निर्वाह करनेवाले हैं अपने गुणोंसे उनके आचार्यताको प्राप्त थे।

३ अल्पकालमें सब विद्या कैसे आगई ? इसका समाधान आगे करते हैं—'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी'। वेदादि ब्रह्मके निःश्वास हैं ऐसा बृहदारण्यक उपनिषद् द्वितीय अध्याय चतुर्थ ब्राह्मण याज्ञवल्क्यमैत्रेयी संवादमें बताया गया है। यथा "स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसित-मेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यै-वैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥ १० ॥" अर्थात् जिस प्रकार जिसका ईंधन गीला है, ऐसे आधान किये हुए

अग्निसे पृथक् धूआँ निकलता है, हे मैत्रेयि ! इसी प्रकार ये जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस (अथर्ववेद), इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, मन्त्रविवरण और अर्थवाद हैं, वे सब परमात्माके ही निश्वास हैं ॥ १० ॥

वेद अपौरुषेय हैं, यह समस्त ऋषियों और आचार्योंका निर्णय है। 'श्वास' कहनेसे तो वे 'पौरुषेय' हो जायँगे ? इसका समाधान यह है कि प्रभुका शरीर सच्चिदानंद स्वरूप है, अतः श्वासभी सच्चिदानंद है। श्वास और जिसका श्वास दोनों एक ही हुए।

टिप्पणी—२ 'सहज श्वास···' इति। लंकाकांडमें मंदोदरीने रावणसे श्रीरघुवंशमणिका विश्वरूप कहा है। वहाँ 'मारुत श्वास निगम निज बानी' कहा है और यहां 'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी' कहते हैं। दोनों बातें ठीक हैं। ईश्वरमें अज्ञान तीनों कालमें नहीं है (उसका अखंडैकरस ज्ञान सर्वकालोंमें है, उनका श्वासभी सच्चिदानन्दरूप है कि जो चारों वेदोंके रूपमें है)। ईश्वर अज्ञानी बनकर पढ़ता है, यह कैसा ? उसीपर कहते हैं यह 'भारी कौतुक' है, बड़ाभारी नरनाट्य है। 'भारी' से जनाया कि उनकी सभी लीलायें 'कौतुक' हैं, पर अखंडज्ञान होतेहुए अज्ञानी बनना यह सबसे 'भारी कौतुक' है।

नोट—४ 'कौतुक' शब्दसे वही बात हास्यरसरूपसे जनाई है कि जो वाल्मीकिजीने कही है—'जस काछिय तस चाहिय नाचा'। (लमगोड़ाजी)।

बिद्या बिनय निपुन गुन सीला। खेलहिँ खेल सकल नृपलीला ॥६॥
करतल बान धनुष अति सोहा। देखत रूप चराचर मोहा ॥७॥
जिन्ह बीथिन्ह बिहरैं सब भाई। थकित होहिँ सब लोग लुगाई ॥८॥

अर्थ—विद्या, नम्रता, गुण और शीलमें निपुण (पूर्ण) हैं। वे नृपलीलाके अर्थात् राज्यसम्बन्धी सब खेल खेला करते हैं ॥ ६ ॥ हाथोंमें धनुषबाण बड़ी शोभा दे रहे हैं। रूप देखतेही चर-अचर (सभी जीव) मोहित होजाते हैं ॥ ७ ॥ जिन गलियों मार्गोंमें सब भाई विहार करते निकलते हैं, वहाँके सभी स्त्रीपुरुष ठिठककर देखते रहजाते, स्नेहसे शिथिल होजाते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'विद्या बिनय निपुन गुन सीला' इति। विद्याकी शोभा विनयसे है, इसीसे इन दोनोंको एकसाथ रक्खा; यथा 'विद्याविनयसंपन्ने'। [विद्या पाकरभी किंचित् अभिमान नहीं है वरंच विशेष नम्रता है। विद्या पाकर विनम्रता न हुई तो विद्या व्यर्थ है; यथा "जथा नवहिं बुध बिद्या पाए ।४।१४।', 'पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ। ३।४०।' गुण और शीलमें निपुण, यथा 'सीलसिंधु सुनि गुर आगमनू।' 'चले सबेग राम तेहि काला । २।२४३।', 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान। १।२९ ॥' 'बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचनरचना अति नागर। २८५।३।' वाल्मीकिजीने जो लिखा है कि 'वे ज्ञान संपन्न हुए, गुणोंसे युक्त हुए, लोकापवादसे डरनेवाले, मर्यादाका पालन करनेवाले, सब विषयोंकी जानकारी रखनेवाले और भूत-भविष्यके जानकार हुए', यथा 'ते यदा ज्ञानसंपन्नाः सर्वे समुदिता गुणैः। ह्रीमन्तः कीर्तिमन्तश्च सर्वज्ञा दीर्घदर्शिनः। १.१८। ३३।', ये सब भाव "बिद्या बिनय···" में आजाते हैं।] (ख) 'खेलहिं खेल सकल नृप-लीला' इति। अर्थात् सेनाका व्यूह बनाते हैं, सेनापति नियुक्त करते हैं, सेना खड़ी करके कवायद कराते हैं। बालसखाओंकी सेना बनाते हैं और आप राजा बनते हैं। सबका न्याय करते हैं, राजसभा करते हैं, बालसखाओंमेंसे मंत्री आदि बनाते हैं। इत्यादि सब नृपलीलाके खेल हैं। [कवि आगे स्वयं लिखते हैं कि क्या नृपलीलाके खेल खेलते हैं। "विद्या, विनय आदि आचरण तो शान्तरसके हैं तब नीतिरसकी वीरता कैसे होगी जो राजकुमारोंमें होना आवश्यक है ?" इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि 'खेलहिं खेल सकल नृपलीला'। (वै०)] (ग) ☞ ऊपर जो कहा

था कि 'अल्पकाल सब बिद्या आई' वह अल्पकाल यहाँ दिखाते हैं कि सब विद्या पढ़ चुके फिरभी खेलनेकी अवस्था बनीही रहगई। इतनी जल्दी सब पढ़ लिया। २—[श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि "किसीने खूब कहा है कि 'अदनासे झुके तो सबसे आलाजह है'। अर्थात् छोटेके साथभी नम्र व्यवहार करे तो बड़प्पन है। टैगोरजीने गीतांजलिमें ठीक लिखा है कि "तेरा प्रणाम भगवान्तक नहीं पहुँचता, कारण कि तू अपने मस्तकको भगवान्के चरणोंपर नहीं नवाता, जो चरण वहाँ हैं जहाँ सबसे गरीब, सबसे दीन और सबसे गये बीते लोग हैं।"]

३ 'करतल बान धनुष अति सोहा' इति। 'अति सोहा' का भाव कि धनुषबाण तो स्वयंही शोभित हैं, पर करतलके संबंधसे वे 'अति' शोभित हुए, उनकी शोभा बहुत बढ़गई। 'सोहा' क्रिया एकवचन है और धनुष बाण दो हैं, 'सोहे' कहना चाहिए था सो न कहकर 'सोहा' कैसे कहा? उत्तर यह है कि एक करतलमें बाण शोभित है, दूसरेमें धनुष शोभित है,—यह दिखानेके विचारसे एकवचन क्रिया दी। 'अति सोहा' का स्वरूप दूसरे चरणमें दिखाते हैं कि इतना शोभित है कि रूप देखकर चराचर मोहित हो जाता है।

नोट—१ "देखत रूप चराचर मोहा" इति। रूपका एक लक्षण हम पूर्व दोहा १९८ (६-७) में लिख आए कि विना भूषणादि शृङ्गारके भी जो भूषितवत् जान पड़े उसे रूप कहते हैं। सौन्दर्यका लक्षण यह है कि क्षणक्षणपर उनका सौंदर्य्य नवीनही मालूम होता था; यथा 'क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेवरूपं रमणीयतायाः। (शिशुपालवध ४.१७)।' यही रमणीयता श्रीरामजीके रूपमें थी। जब भगवान् श्रीराम दण्डकारण्यमें वनवासी वेषमें गए थे तब वहाँके लाखों वर्षके तपस्वी ऋषियोंके मन, उनके सौंदर्यको देखकर ऐसे आसक्त होगए कि उन्होंने यह भावना की कि हम स्त्रियाँ होतीं और ये हमारे पति; उसीकी पूर्ति भगवान्ने कृष्णावतारमें की। अर्थात् वे सब स्त्रियाँ हुईं और रासक्रीड़ाके संबंधसे उनकी इच्छाकी पूर्ति की गई। यह बात निम्न श्लोकसे सिद्ध होती है।—"पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छन्सुविग्रहम्॥ १६४॥ ते सर्वे स्त्रीत्वमापन्नाः समुद्भूतास्तु गोकुले। हरिं संप्राप्य कामेन ततो मुक्ता भवार्णवात्। १६५। पद्म पु० उ० २४५।"

स्त्रियोंका पुरुषके सौंदर्यपर आसक्त होना तो सर्वत्र सुना जाता है परंतु पुरुषोंका और वह भी विषयरस रूखे लाखों वर्षके बूढ़े ऋषियोंका पुरुषपर इस भावसे आसक्त होना कल्पनातीत है, प्रकृतिके प्रतिकूल है, इससे श्रीरामका सौंदर्य कैसा होगा इसका अनुमान पाठक स्वयं कर लें। ऐसा सौंदर्य किसी और अवतारमें सुननेमें नहीं आता। अतः 'देखत रूप चराचर मोहा' कहा।

२ (क) 'थकित होहिं सब लोग लुगाई' अर्थात् सब स्त्री पुरुष घरसे निकलकर खड़े होजाते हैं, भीड़ लग जाती है। थकित होते हैं; यथा 'थके नारि नर प्रेम पियासे। मनहुं मृगीमृग देखि दियासे।' थकित होनेका कारण प्रथम लिख आए कि 'देखत रूप चराचर मोहा' और इस अर्धालीमें मोहित होजानेवालोंकी दशा लिखते हैं कि रूप देखकर थक जाते हैं, देहसुध नहीं रहजाती। 'पुनः, 'थकित होहिं' अर्थात् मोहित होकर अचल हो जाते हैं, टकटकी लगाए मुग्ध देखते रहजाते हैं, अंग शिथिल पड़ जाते हैं। यथा 'थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहिं जनु चितव चकोरी॥ २३२।५-६।', 'देखि तुलसीदास प्रभु-छबि रहे सब पल रोकि। थकित निकर चकोर मानहु सरद इंदु बिलोकि। गी० १.३८।', 'सुभग सकल अंग अनुज बालक संग देखे नर-नारि रहैं ज्यों कुरंग दियरे। गी० १.४१।', इत्यादि। (ख) गलियोंमें बिचरैं तो दशरथनंदन और थकें देखनेवाले। कारण कहीं, कार्य्य कहीं। इसका क्या कारण है, यह आगे दोहेमें कहते हैं कि ये सबको प्राणोंसेभी प्रिय हैं, इन्हें

देखकर शिथिल होजाते हैं, मानों अपने प्राण इनपर निछावर कर दिये हैं। यहाँ 'प्रथम असंगति अलंकार' है।

३ "करतल बान'' 'जिन्ह बीथिन्ह'''", यथा कवित्तरामायणे—'पदकंजनि मंजु बनी पनहीं धनुही सर पंकज-पानि लिये। लरिका संग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिये॥'''। १६॥' 'चौहट हाट हिये' यही 'बीथिन्ह' का भाव है। पुनः, यथा पाद्मे "वीथिंवीथिं जगामाथ क्रीडार्थं रघुसत्तमः। अजडाश्च जडाश्चैव सप्राणा इव तेऽभवन्॥ (पं० रा० कु०)। पुनः भाव कि मुण्डकोपनिषद् २।२।४ में ब्रह्मके वाचक प्रणवको धनुष और जीवात्माको बाण कहा गया है, यथा "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म'''", इसीसे ये मुक्तिदाता हैं और अति शोभित हैं (मा० त० वि०)।

दोहा—कोसल-पुरबासी नर नारि बृद्ध अरु बाल।
प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपालु॥२०४॥

अर्थ—अवधपुरवासी स्त्रीपुरुष बुड्ढेसे लेकर बच्चेतक सभीको दयालु श्रीरामचन्द्रजी प्राणोंसेभी अधिक प्रिय लगते हैं॥ २०४॥

टिप्पणी—१ पूर्णावस्थावाले वृद्धोंको कहकर फिर बालकोंको कहा। इस प्रकार आदि-अंतके ग्रहणसे मध्यका ग्रहण होगया। अर्थात् बीचकी युवा, कौमारादि अवस्थावालोंकोभी इतनेहीसे जना दिया। २-'प्रानहु ते प्रिय लागत'। भाव कि प्राण बहुत प्रिय है, यथा 'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं।', उससेभी अधिक ये प्रिय हैं। ३—'राम कृपाल' का भाव कि सबपर कृपा करके गलीगलीमें बिचरते हैं जिसमें सबको दर्शन होजाय। यथा 'जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा॥ २०५।५॥' सब लोगोंको सुखी करते हैं इसीसे 'कृपानिधि' कहा। अयोध्यावासी श्रीरामजीकी कृपाको खूब समझते हैं, वे भली प्रकार जानते हैं कि हमपर कृपा करके हमको दर्शन देनेकेलियेही गलियोंमें बिचरते हैं। (वैजनाथजी लिखते हैं कि "प्रानहु ते प्रिय लागत" का भाव यह है कि ये सब श्रीरामस्नेहको ब्रह्मज्ञानसे अधिक मानते हैं। इससे पुरवासियोंको नित्य परिकर जनाया, नहीं तो सबकी एक रीति न होती)।

बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई। बन मृगया नित खेलहिं जाई॥ १॥
पावन मृग मारहिं जिय जानी। दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी॥ २॥
जे मृग राम बान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे॥ ३॥

अर्थ—भाइयों और सखाओंको बुलाकर साथ ले लेते हैं और प्रतिदिन वनमें शिकार खेलने जाते हैं॥ १॥ जी-से जानकर पवित्र मृगोंको मारते हैं और प्रत्येक दिन लाकर राजाको दिखाते हैं॥ २॥ जो 'मृग' श्रीरामजीके बाणसे मारे गए वे अपना मृगतन छोड़ देवलोकको चले गए॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीरामजी श्रीकौसल्याजीकी गोदमें रहे,—'सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या कें गोद'। फिर 'जानुपाणिसे' बिचरने लगे। उसके बाद पैरों चलने लगे,—'ठुमुकु-ठुमुकु प्रभु चलहिं पराई'। पहले दशरथ-अजिरमें खेलते रहे, फिर बाहर खेलने लगे थे,—'जिन्ह बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई।' और अब 'बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई।०'। (ख) प्रथम बंधुको कहकर सखाको कहा। इससे बुलानेका क्रम बताया कि प्रथम भाइयोंको बुलाते हैं, तब सखाओंको। (ग) 'संग लेहिं' कहकर शिकारमें श्रीरामजीकी प्रधानता कही। पूर्व कहा था कि नृपलीला-खेल खेलते हैं। वनमृगयाभी नृप-लीला है और राज-धर्मभी है, इसीसे वनमें शिकार खेलते हैं। ['खेलहिं खेल सकल नृपलीला' का यहाँभी निर्वाह है। स्वामी हैं, सबसे बड़े हैं; इसीसे सबसे पहले शिकारके लिये तैयार होगए। राजाको फुर्ती चाहिए ही। कवितावली-

में मृगयाका अच्छा वर्णन है; यथा, "सरयू बर तीरहि तीर फिरैं रघुवीर सखा अरु बीर सबै"। गोमतीतटपर वनमें शिकारको जाते हैं। (घ) श्रीरामजीके सखाओंके नाम ये हैं—प्रतापी, शत्रुनाश, प्रतापाब्ध्य, युधिष्ठिर, सुकर्मा, सुष्ठुरूप, जय, विजय, सुकंठ, दीर्घबाहु, (चंद्रचारु) चारुचंद्र, भानु (चंद्रभानु), रिपुवार, अरिजित्, शील, सुशील, गजगामी, सबलाश्व, हरिदश्व, नीलरत्न, वीरभद्र, भद्राश्व, जयंत, सुबाहु इत्यादि। विशेष चौ० ४ में देखिए। ये सब शिकारमें साथ जाया करते थे।] (ङ) 'नित खेलहिं जाई' क्योंकि अभी लड़के हैं। लड़कोंका मन खेलमें बहुत लगता है। 'मृगया' खेल है, इसीसे नित्य खेलते हैं। वनमें जाकर शिकार खेलते हैं, इस कथनसे जनाया कि श्रीअयोध्याजीके बाहर समीपमें जो वन और उपवन हैं उनमेंके मृग नहीं मारते; वे मृग केवल दर्शनार्थ हैं। बाहरके वनोंमें जाकर शिकार करते हैं।

नोट—१ 'पावन मृग मारहिं जिय जानी।०' इति। पं० रामकुमारजीका मत है कि जिनको सुकृती समझते हैं, जिनको जानते हैं कि इन्होंने पूर्व जन्ममें सुकृत किये हैं, स्वर्ग जानेके योग्य हैं, उनको मारकर स्वर्ग पहुँचा देते हैं जैसा आगे वक्ता स्वयं कहते हैं,—'ते तनु तजि सुरलोक सिधारे'। जो वध करने योग्य नहीं हैं उन्हें नहीं मारते।" और अर्थ ये कहे जाते हैं—'पावन' अर्थात् कृष्णसार, कस्तूरीवाले मृग, काले मृग। इनके घुटने नहीं होते, इनका बैठना असंभवसा है, बैठनेमें इनको बहुत दुःख होता है। (वै०, रा० प्र०)। अथवा, जो ऋषिशापसे मृगयोनिमें आगए हैं, जिनका उद्धार आवश्यक है। सत्योपाख्यानमें ऐसे अनेक मृगोंकी चर्चा आई है। (वै०)।

'मृग' शब्द सभी पशुओंकी संज्ञा है। इसी ग्रन्थमें 'मृग' शब्द सूकरके लियेभी प्रयुक्त हुआ है; यथा 'चलेउ बराह मरुतगति भाजी॥ १॥···प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा॥···तदपि न मृग मग तजै नरेसू॥१॥ १५७।६॥' यहांपरभी 'मृग' शब्द सिंह, हाथी, मगर, भैंसा आदि सभी हिंसक जीवोंकेलिये प्रयुक्त हुआ है। जैसा कि सत्योपाख्यान अ० ४१ से स्पष्ट और सिद्ध है। अ० ४१ में विल्वनामक गंधर्वका शापसे अरना भैंसा होना लिखा है जिसे रघुनाथजीने मारा। पुनः अध्याय ४६ में सूकर, सिंह आदिके शिकारके कई प्रमाण हैं। एक सिंह, एक हाथी और एक मगर, इत्यादिके शरीर मरनेपर दिव्य हो गए थे। विस्तृत कथायें सत्योपाख्यानमें हैं, पाठक वहाँ पढ़ सकते हैं।

श्रीनंगे परमहंसजीका भी यही मत है, हमारे मतसे कुछही अंतर है। वे लिखते हैं कि "चित्रकूटके किरातोंका यह कहना कि "बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा॥ तहं-तहं तुम्हहिं अहेर खेलाउब। सर निर्झर भल ठाउँ देखाउब। २.१३६।' स्पष्ट इस बातका प्रमाण है कि सिंह, गैंडा आदिका ही शिकार होता था, क्योंकि वनके बेहड़ थलोंमें तथा पर्वतके कंदराओं-खोहोंमें सिंहही आदि हिंसक भयानक मृग रहते हैं, कुछ हिरनों या भेड़-बकरियोंके लिये 'कंदर-खोहा' नहीं कहा गया है।" वे यह लिखते हैं कि "शिकारके प्रसंगमें मृगका अर्थ हिरन नहीं हो सकता है।" दासकी समझमें यहाँ केवल वनका उल्लेख है, पर्वत कंदरा आदिका नहीं। वनमें हिरनभी झुंडके झुंड रहते हैं और इनका शिकारभी कियाही जाता है। मृगमें सिंह, मगर, हाथी, गैंडा, अरना भैंसा आदि तो हैं ही पर साथही साथ हिरनभी आ जाते हैं। मृगयाके समय सत्योपाख्यानमें मृगयूथोंका सामने आना और उनपर लक्ष्य करना पाया जाता है। इस मृगयूथमें कृष्णसार और मृगीका बच्चोंके साथ होनाभी लिखा है। कृष्णसार हिरन होते हैं। अतः उस झुंडमें सब हिरनही हिरनका होना सिद्ध होता है।—इससेभी सिद्ध होता है कि 'मृग' से 'हिरन' अर्थभी लिया जा सकता है। इसी प्रसंगमें गुहने कहा है कि मृगयूथको मारनेमें क्या वीरताका लाभ होगा, हम लोग सिंह और गजादीका शिकार करें। यथा "मृगयूथवधेनैव ह्यस्माकं किं भविष्यति। सिंहानां च गजानां च मृगया क्रीयतां वने। सत्यो० ४६. १४।"

पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि इस चौपाईमें 'पावन' और 'जिय जानी' ये दो शब्द बड़े विल-

क्षण पड़े हैं जो कविके हृदयके अगाध आशयको सूचित कर रहे हैं। चौपाईका अर्थ है—"श्रीरामजी जिन मृगोंको अपने जियमें जानते हैं कि ये पावन हैं उन्हींको मारते हैं। अथवा, जिन मृगोंके जिय (जीवात्मा) को पावन (शुद्ध स्वरूप) मोक्षाधिकारी जानते हैं उनको मारते हैं।" ये मारे जानेपर मृगशरीर छोड़कर सुरलोकको प्राप्त होजाते हैं। यहाँ अभिप्राय यह है कि "बद्ध आत्माको स्थूल शरीरसे पृथक्कर मुक्त स्वरूपमें करनेको हिंसा नहीं कहते, अनेक जन्मोंसे संसारवेदनाओंको भोग करनेवाले जीव श्रीरामजीके कर-तीर्थसे स्थूल देहका नाता त्यागैं तो यह बड़े सुकृतका परिणाम है। देखिए, मारीचने क्या सोचा था? यही न कि रावणके हाथसे मरनेसे भवबन्धन न छूटेगा, इससे श्रीरामजीके ही हाथोंसे क्यों न मरकर मुक्त हो जाऊँ। —'उभय भाँति देखेसि निज मरना। तब ताकेसि रघुनायक सरना।' इससे यहाँ क्षत्रियका सामान्य धर्म पालनकर विशेष धर्म (अहिंसा) का भी निर्वाह किया है। और श्रीरामजीका अवतार सामान्य मृगोंके मारनेके लिये नहीं है; किन्तु धर्मबाधक खलरूप मृगोंके मारनेके अर्थ है; यथा 'हम छत्री मृगया वन करहीं। तुम्हसे खल मृग खोजत फिरहीं। ३.१९।" कोई कोई कहते हैं कि महारामायणसे पता चलता है कि रावणने राक्षसोंको मृगरूपसे भेजे थे, जैसे कंसके भेजे दैत्य अनेक रूपोंमें भगवान् श्रीकृष्णजीके पास आए थे। इसीसे 'जिय जानी' पद दिया। अर्थात् वे जान लेते थे कि ये राक्षस हैं, अब इनका 'पूर्वज' सुकृत इन्हें हमारे पास लाया है; अतः पावन हैं। उक्त कथनका भाव यह है कि सदय हृदयसे आत्माके सुधारके अर्थ जो निग्रह किया जाता है वह निग्रह नहीं किन्तु अनुग्रह है। और, जो निर्दय हृदयसे आत्माके दुःखार्थ निग्रह है वही निग्रह हिंसा है। [☞'पावन मृग जिय जानी' कहकर जना दिया है कि जो ऐसे समर्थ, त्रिकालज्ञ और सदय हृदय नहीं हैं, किन्तु जो अपनी उदरपूर्ति मांस-भक्षण अथवा क्रीड़ाके विचारसे जीवोंका वध करते कराते हैं वे क्षम्य नहीं, वे महापापके भागी हो नरकमें पड़ेंगे।]

नोट—२ मिलान कीजिये—"अश्वारूढो वनं याति मृगयायै सलक्ष्मणः। हत्वा दुष्ट मृगान्सर्वान्पित्रे सर्वं न्यवेदयत्॥ अ० रा० १।३।६३॥" अर्थात् भगवान् राम नित्यप्रति श्रीलक्ष्मणसहित धनुष बाण और तरकश धारण कर घोड़ेपर सवार हो मृगयाके लिये वनको जाते और वहां हिंसक पशुओंको मारकर उन सबोंको पिताजीके अर्पण कर देते थे।

३ 'दिन प्रति नृपहि देखावहिं आनी' इति। (क) पूर्व कहा था कि 'बन मृगया नित खेलहिं जाई' इसीसे यहां 'दिन प्रति' शिकार लाकर दिखाना कहा। इससे जनाया कि नित्य शिकार खेलने जाते थे, किसी दिनभी शिकार खाली न जाता था, और यह कि बन इतनी दूर था कि नित्य वहांसे लौटकर आ जाते थे। (ख) 'नृपहिं देखावहिं' इसलिये कि राजाको मालूम हो जाय कि अब बाणका लक्ष्य ठीक होने लगा है क्योंकि आगे विश्वामित्रजीके साथ वनको जाना है। अतः हस्तलाघवता दिखानेका प्रयोजन है। राजा देखकर बहुत प्रसन्न भी होंगे। प्र. स्वामीका मत है कि दिखानेमें हेतु यह है कि शास्त्रविरुद्ध तथा कानून-विरुद्ध शिकार नहीं खेलते यह पिताजी देखलें।

श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि किसी फारसी कविने खूब कहा है—'हमा आहुवाने सहरा सरे खुद निहादा बर कफ़, ब उमीद आँ कि रोजे ब-शिकार ख्वाही आमद।' अर्थात् जंगलके सब हिरन अपना सिर हथेलीपर लिये इस उमीदपर हैं कि किसी दिन तू शिकारको आवेगा।—धन्य है यह इश्क (प्रेम) की कुर्बानी (बलिदान)!!

४ 'जे मृग रामबान के मारे।०' इति। (क) 'रामबाणके मारे' कहनेका भाव कि और वीरोंके हाथ मरनेसे स्वर्ग होता है, पर तत्क्षण नहीं और श्रीरामजीके बाणोंसे मृत्यु होनेसे तुरत दिव्यरूप हो स्वर्गको प्राप्त होजाते हैं। 'सिधारे' शब्दभी यह बात जना रहा है। यथा 'तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा।' (पं० रा० कु०)। (ख) यहां 'सुरलोक' शब्द दिया गया क्योंकि एक तो

विशेषकर गंधर्वादि शापसे 'मृग' हुए थे, वे बाणसे मारे-जानेपर अपना पूर्व दिव्यरूप पाकर अपने अपने लोकको गए। उनका शापोद्धार होगया, जहां वे जाना चाहते थे वहीं भेज दिये गए। दूसरे जो विशेष सुकृती थे वे हरिपद साकेतको प्राप्त हुए। इसका पर्याप्त प्रमाण सत्योपाख्यानमें मिलता है। इस शब्दमें सब कथाओं, एवं सब कल्पोंके श्रीरामावतारोंके चरितों तथा सभी ऋषियोंके वचनोंका निर्वाह हो जाता है। 'सुरलोक' में स्वर्ग, वैकुंठ, क्षीरसागर, साकेत, गंधर्वलोक, यक्षलोक इत्यादि सभीका ग्रहण प्रसंगानुकूल हो सकता है।

अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अज्ञा अनुसरहीं ॥४॥
जेहि बिधि सुखी होहिँ पुर लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा ॥५॥

शब्दार्थ—संजोग = समागम, जोड़-तोड़ या योग (लगजाना, भिड़जाना)।

अर्थ—भाइयों और सखाओंके संग भोजन करते हैं। माता-पिताकी आज्ञा पालन करते हैं ॥ ४ ॥ जिस प्रकार श्रीअयोध्यापुरीके रहनेवाले सुखी हों, दयासागर श्रीरामजी वही योग प्राप्त कर देते हैं ॥ ५ ॥

'अनुज सखा संग भोजन करहीं' इति।—

शिकारगाहके पीछे इस चरणके होनेसे किसी-किसी महानुभावने यह भाव कहा है कि शिकारगाहहीमें सब बैठकर शिकारका मांस भोजन करते थे। हमारी समझमें यह अर्थ करना महा अनर्थ है, महापाप है। यह अर्थ प्रायः मांसभक्षक, निर्दयी जीवहिंसक, पराई आत्माको दुखानेमें प्रसन्न होनेवाले या शाक्त लोगही करते होंगे। यह अर्थ और भाव मानसके विज्ञ, मानसके मर्मज्ञ, मानसको गुरुसे पढ़े हुए कदापि नहीं करते। एक महानुभावने 'मांसभक्षण' सिद्ध करनेकेलिये यहांतक लिख डाला है कि "ग्रन्थकार वैष्णव हैं, साक्षात् रामजीका मृगमांस भोजन करना कहीं नहीं लिखते। पर आशयसे यहाँ सूचित करदिया है कि मृगादिको ले आते हैं और मृगमांस भोजन करते हैं"। शोक है कि उन्होंने यह विचार न किया कि पूर्व कह आए हैं कि रघुवंशी वैष्णव हैं, उनके कुलके इष्टदेव भगवान् हैं।—'निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना'। भला वैष्णवोंका कहीं यह अभक्ष्य आसुरी भोजन करना पाया जाता है? फिर कुछ अवैष्णव एक प्रामाणिक टीकाकारका हवाला (प्रमाण) देते हैं कि उन्होंने ऐसा अर्थ किया है। हमें एक तो इसमें संदेह है कि उनकी हस्तलिखित टीकामें ऐसा भाव लिखा हो। संदेहका कारणभी है। उनकी टीकामें कुल सात कांड हैं पर जो नवलकिशोर प्रेसने छापा है उसमें आठ कांड हैं। इसी तरह उसमें और अनेक बातें हैं जो प्रथम संस्करणमें नहीं हैं। क्या जाने प्रेसवालोंकी कृपासे जहां तहाँ भावभी अपने मनके उसमें ठूँस दिये गए हों। दूसरे, वह टीका १२ पंडितोंकी सहायतासे लिखी गई थी। वे पंडित एक राजाकी तरफसे वेतन पाते थे। संभव है कि किसी शाक्त पंडितने उसमें यह भाव चुपचाप घुसेड़ दिया हो। तीसरे, यदि यह भाव उनकाही हो तोभी हम उसको स्वीकार करनेको तैयार नहीं हैं, सम्मानपूर्वक उनके मतसे सहमत नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्व प्रसंगसे इस भावसे पूर्ण विरोध है।

गोस्वामीजीके समस्त ग्रंथोंमें कहींभी मृगमांस भोजन करना नहीं पाया जाता। इसलियेभी वह भाव यहाँ नहीं लगाया जा सकता। फिर 'देखावहिं आनी' भी हमारे मतकी पुष्टि कररहा है कि इनको खाते नहीं। खाते तो लाकर दिखाते कैसे?

हमारी समझमें यहां उनकी (श्रीरामजीकी) दिनचर्या वर्णन करते हैं। सवेरे उठकर नित्य क्रिया करके भाइयों और सखाओंको साथ लेकर वनको जाते हैं, शिकारको लाकर पिताको दिखाते हैं। इतनेमें भोजनका समय आजाता है और वे सब भाइयों और सखाओं सहित एकसाथ बैठकर भोजन करते हैं। सखाओं और भाइयोंको साथ भोजन कराना नीति है। ऐसे सेवक फिर कभी विरोधी नहीं होते।

यह दास श्रीनंगेपरमहंसजीके मतसे भी सहानुभूति प्रकट करता है। वे लिखते हैं कि "यह प्रसंग श्रीरामजीके पृथक् पृथक् गुणवर्णनका है। श्रीरामजी भाइयों और सखाओंको संग लेकर नित्य शिकारको वनमें जाते हैं। जो पुण्यात्मा जीव शाप वा वरके कारण मृगयोनिको प्राप्त होकर प्रभुके हाथ मुक्त होनेकी आशा जोह रहे थे उनका जियमें जान करके, शिकार करते···। अब दूसरा गुण श्रीरामजीका यह वर्णन किया गया है कि यद्यपि आप बड़े हैं, चक्रवर्तीराज्यके उत्तराधिकारी हैं तथापि कोई विशेषता न ग्रहण करके, भोजन प्रसादभी छोटे भ्राताओं और सखाओंको संगही लेकर करते हैं। अब देखा जाय कि भोजनके इस अनुपम प्रसंगको शिकारके प्रसंगके साथ जोड़कर यह अनर्थ करदेना कि उन्हीं शिकारोंका मांस भाइयों और सखाओंके संग खाते थे, महा-अयोग्य है। वह शिकार तो राजाको दिखानेहीके निमित्त लाना कहा गया है और इसीसे ध्वनितभी है कि शेर गैंडा इत्यादिके हिंसक मृगोंका शिकार होता था जिसको दिखानेसे चक्रवर्तीकुमारकी शूरताका परिचय हो। सिंहादिका शिकार मांसाहारीभी खानेकेलिये नहीं करते, न उनका मांस खायाही जाता है।

फिर दूसरे चरणमें लिखते हैं कि 'मातु पिता अग्या अनुसरहीं'। इससेभी निश्चय है कि यह तीसरा गुण वर्णन करते हैं। शिकार करके आये, भोजन तैयार है, पितामाताका वात्सल्यही यही है कि वे तुरत उनको भोजन कराते हैं। आज्ञा दी कि चलो, अब सब भोजन करलो, बस तुरत भोजन करने चले गए। भाई सखा सब साथ आए ही हैं, साथही भोजन करने लगे।

नोट—१ (क) 'अनुज सखा सँग भोजन करहीं'। प्रथम अनुजको फिर सखाओंको कहकर पंक्तिका क्रमभी दिखा दिया है। पासमें पहले भाई बैठे हैं तब सखा। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि आज शिकार-में कुछ विलंब होगया है, इससे आतेही भोजन करना वर्णन किया। (ख) 'अग्या अनुसरहीं'। "क्या आज्ञा पालन करते हैं यह आगे लिखते हैं—"आयसु माँगि करहिं पुरकाजा'।" (पं० रा० कु०)। शिकारगाहके पीछे यह चरण होनेसे यह भावभी कहा जाता है कि वहीं शिकारगाहमें भोजन करते थे, घरसे पकवान बनकर साथ जाया करता था।

२ श्रीरघुनाथजीके सखाओंके नाम; यथा "सखायो रामचन्द्रस्य बहवः संति शौनक। शत्रुघ्नोभरतश्चैव लक्ष्मणः परवीरहा ॥ १ ॥ प्रतापी शत्रुनाशश्च प्रतापाग्र्यो युधिष्ठिरः। सुकर्मा सुष्ठुरूपश्च जयश्चविजयस्तथा ॥ सुकंठे दीर्घ-बाहुश्च सुशिराश्चातिविक्रमी। चारुचंद्रश्च भानुश्च रिपुवारस्तथारिजित् ॥ ३ ॥ तथा शीलः सुशीलश्च गजगामी मनोहरः। सबलाश्वो हरिदश्वो तथान्ये च सहस्रशः ॥ ४ ॥' (सत्यो० पू० ३८)। पुनश्च यथा "प्रतापाग्र्यं नीलरत्नं वीरभद्रं महा-बलम् ॥ २ ॥ सबलाश्वं हरिदश्वं शोणाश्वं हरिदश्वकम्। चन्द्रभानुं चन्द्रचारुं रिपुवारं रिपुञ्जयम् ॥ ३ ॥ भद्राश्वंच जयन्तंच सुबाहुञ्च महामतिम्। अन्यानपि महावीरान् मृगयासिद्धिकारकान् ॥ ४ ॥" (सत्यो० पू० ४३)।

टिप्पणी—१ "जेहि बिधि सुखी होहिं पुरलोगा।०' इति। [यह चौथा गुण वर्णन करते हैं।] जो बड़े हैं उनकी आज्ञानुसार चलते हैं। जो बराबरके हैं उनके साथ भोजन करते हैं। अब जो छोटे हैं उनके साथका बर्ताव (आचरण, व्यवहार) कहते हैं। प्रजा अपने सेवक हैं अतः छोटे हैं, उनको सुख देनेके लिये उचित संयोग जुटा देते हैं। पुरवासी बहुत हैं, सबकी रुचि रखते हैं, सबको सुख देते हैं, अतएव सुखकी विधियाँ बहुत हैं, कहाँतक लिखें; इसीसे कहते हैं कि वही संयोग अर्थात् उपाय करते हैं। तात्पर्य्य कि जो जिस विधिसे सुखी होसकता है उसी विधिसे उसे सुखी करते हैं। भाइयोंसखाओंको साथमें लेकर शिकारको जाते हैं, साथमें भोजन करते हैं, इसतरह उनको सुखी करते हैं। माता-पिताकी आज्ञा पालनकर उनको सुख देते हैं। बड़े, बराबरके और छोटे सबके साथ यथार्थ व्यवहार वर्तते हैं। सबको सुखी करते हैं, इसीसे 'कृपानिधि' विशेषण दिया।

बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥६॥
प्रातकाल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा ॥७॥
आयसु माँगि करहिं पुर-काजा। देखि चरित हरषै मन राजा ॥८॥

अर्थ—मन लगाकर वेदपुराण सुनते हैं। (जो बात कठिन है वह) आप स्वयं भाइयोंसे समझाकर कहते हैं ॥ ६ ॥ श्रीरघुनाथजी प्रातःकाल उठकर माता, पिता और गुरूजीको प्रणाम करते हैं, मस्तक नवाते हैं ॥ ७ ॥ और, आज्ञा माँगकर नगरका काम करते हैं। चरित देख-देखकर राजा मनमें प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बेद पुरान सुनहिं' क्योंकि आप वेदपुराणोक्त धर्म्मके संस्थापनकर्ता हैं। स्वयं आचरण करके सबको उपदेश करते हैं कि वेदपुराण मन लगाकर सुनने चाहिए। (ख) 'मन लाई' क्योंकि जो मन लगाकर न सुने वह कथा सुनने सुनानेका अधिकारी नहीं है; यथा 'यह न कहिय सठही हठसीलहि। जो मन लाइ न सुन हरिलीलहि।' (ग) 'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई'। भाई सब ज्ञाता हैं परन्तु 'सुनी चहहिं प्रभु-मुख कै बानी ॥ ७.३६ ॥' अतएव जो बातें कठिन हैं उनको वे पूछते हैं और प्रभु समझाते हैं। प्रभुके समझानेमें श्रीरामजीका भाइयोंपर वात्सल्य दिखाया। भाई प्रभुके मुखसे सुनना चाहते हैं क्योंकि उनके वचनसे भ्रम दूर होता है,—'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी ॥ ७.३६ ।' [कथा सुनकर उसका अनुमोदन करना चाहिये, यथा 'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं'। भाइयोंको समझानेमें अनुमोदनका भावभी आगया। ☞यह चौथा गुण कहा। 'समुझाई' से जनाया कि विस्तृत व्याख्या करते हैं]

नोट—१ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "श्रीरामजी भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनों भाइयों-को समझाते हैं कि देखो वेद पयसिंधुरूप हैं। इनमें जो ज्ञान, कर्म, उपासना आदि अनेक भेद हैं वेही उत्तम रत्न हैं और जो केवल ईश्वरकी कथा है वही अमृतरूप है, भवरोगका नाश करती है, मृतकरूप ईश्वरविमुख जीवोंको ईश्वरसन्मुखकर जीवन प्रदान करती है। और जो उसमें भक्ति है वही मधुरतारूप है जो सर्वोत्तम है।" यथा 'ब्रह्म पयोनिधि मंदर-ज्ञान संत सुर आहिं। कथा-सुधा मथि काढ़हिं भगति मधु-रता जाहि ॥ ७.१२० ॥'

टिप्पणी—२ 'प्रातकाल उठि कै रघुनाथा ।०' इति। (क) वेदपुराण सुनते हैं, भाइयोंको समझाते हैं, और जो वेदपुराण कहते हैं उनको करते हैं। (जो उपदेश करे उसपर स्वयं चले यह परम आवश्यक है (—'पर उपदेस कुसल बहुतेरे। जे आचरहिं ते नर न घनेरे ॥ ६.७७ ॥'☞यह पाँचवाँ गुण कहा। प्रातःकाल उठकर गुरुजनोंको प्रणाम करना विधि है; अतः इसे करते हैं)। (ख)—'प्रातकाल' अर्थात् ब्रह्ममहूर्त्तमें। 'मातु पिता गुरु नावहिं माथा' इति। जैसे-जैसे क्रमसे माथा नवाते हैं वैसाही लिखते हैं। [माताके पास सोते हैं; अतः उठनेपर प्रथम माताकाही दर्शन होता है तब पिताका और बाहर जानेपर गुरुका। अथवा] प्रथम माताको तब पिताको तब गुरुको क्योंकि माता पितासे बड़ी है और पिता गुरुसे बड़े हैं, यथा 'उपाध्यायान् दशाचार्य्य आचार्य्याणां शतं पिता। सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेनातिरिच्यते। इति मनुः ॥ २।१४५ ।' यह भी दिखाया कि माता, पिता और गुरुसे पहले सोकर उठते हैं, यथा 'गुर ते पहिले जगत-पति जागे राम सुजान।'

३ 'आयसु माँगि करहिं पुरकाजा ।०' इति। (क) प्रथम जो कहा था कि 'मातु पिता अज्ञा अनु-सरहीं' उसीको स्पष्ट करते हैं। जो माता पिता आज्ञा देते हैं वही करते हैं (यह 'अज्ञा अनुसरहीं' का भाव है) और अपनी ओरसे आज्ञा माँगते हैं इतनी श्रद्धा मातापिता में है। अपनी ओरसे आज्ञा क्यों माँगते

हैं ? इसका उत्तर 'जेहि बिधि सुखी होंहिं पुर लोगा । करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा' से ध्वनित होता है। उसीका भावार्थ 'आयसु माँगि०' में स्पष्ट किया है। पुरका कार्य्य स्वयं करते हैं जिसमें पुरवासियोंको सुख मिले, उन्हींको सुख देनेका संयोग आज्ञाद्वारा उपस्थित करदेते हैं। (ख) पुत्रको राज्यकार्य्य करते देख पिताको हर्ष हुआही चाहे, अतः पुरकाज करनेपर 'हरषै मन राजा' कहा। ☞इसतरह माता, पिता, गुरु तीनोंको सुख देना दिखाया। [भोजन करानेमें माताको सुख; यथा "अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं ॥ ७.२६ ॥' पुरकाजसे पिताको सुख और प्रणामसे तथा कथाश्रवणसे गुरुको सुख। पुनः, 'पुरकाज' करनेसे राजाको हर्ष होता था, इस कथनसे जनाया कि श्रीरामजी बड़े नीतिज्ञ थे। यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।' पुरकाज करनेमें ये चारों देखे गए]

नोट—२ ☞प्रतिदिनके ये नियम बड़े महत्वके हैं। अब छूट गए हैं, इसीसे तो समाजका संयम नष्ट होगया है। कोई माता, पिता और गुरुको मानताही नहीं। (अब तो लड़के कहते हैं कि माताका हमपर क्या उपकार, वह तो अपनी अग्नि बुझानेमें लगी थी, हम उससे निकल पड़े। बापको कहते हैं कि ये मूर्ख हैं, हम साइन्स आदि पढ़े हैं, अपटूडेट हैं, यह गँवार बुड्ढा बोदी अक्लका है, इसकी आज्ञा हम कैसे मानें, यह हमारी आज्ञामें चले। गुरुको गुरुडम और पोपिज्म कहकर उसका बायकाट किया जाता है। मंत्र पुस्तकोंमें लिखे हैं, हम स्वयं पढ़ सकते हैं, गुरुकी क्या जरूरत। इत्यादि इत्यादि)। स्वतंत्रताकी मादकतामें गति यह है कि 'बापै पूत पढ़ावै १६ दूनी ८'। ठीक है उल्टी शिक्षा तो होहीगी। (लमगोड़ाजी)।

३ समानार्थी श्लोक ये हैं—"प्रातरुत्थाय सुस्नातः पितरावभिवाद्य च। पौरकार्याणि सर्वाणि करोति विनयान्वितः। ६४। बन्धुभिः सहितो नित्यं भुक्त्वा मुनिभिरन्वहम्। धर्मशास्त्ररहस्यानि शृणोति व्याकरोति च। ६५।" (अ० रा० १।३)। मानसमें क्रम उलटा है। 'बेद पुरान सुनहिं···' प्रथम है और 'प्रातःकाल···' पीछे। क्रम उलटकर यहभी जनाया है कि कथा तीसरे पहर अथवा रात्रिको होती है। उसके पश्चात् शयन करते हैं और सवेरे सबसे पहले उठते हैं। मानसमें 'गुरु' को भी प्रणाम करना कहकर गुरुमेंभी वैसीही श्रद्धा दिखाई।

दोहा—ब्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप।
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप ॥२०५॥

शब्दार्थ—व्यापक, अनीह, अज, नाम न रूप—दोहा १।१३।३-४ मा० पी० भाग १ पृष्ठ २३६, २४०, २४१, २४२ देखिए। अकल = कला रहित, अव्ययरहित, सर्वांगपूर्ण। अकल, अनीह, अज—दोहा ५० मा० पी० भाग २ देखिए। निर्गुण—१।२१।८, १।२३।१, १।२३ मा० पी० भाग १ पृष्ठ ३७६-७,३६३-४, देखिए।

अर्थ—जो व्यापक है, कलारहित है, प्राकृत चेष्टा वा इच्छा रहित है, अजन्मा है, अव्यक्त एवं मायिक गुणोंसे परे है, प्राकृत नाम-रूप-रहित है, वही भक्तोंके लिये अनेक प्रकारके सुन्दर उपमारहित चरित्र कर रहा है ॥ २०५ ॥

टिप्पणी—१ भाव कि जो व्यापक है वह एक देशमें (प्रगट देख पड़ रहा है), जो पूर्ण है वह खंडित देख पड़ता है, जो चेष्टारहित है वह चेष्टा करता हुआ देख पड़ता है। ☞यहाँतक तीन दोहोंमें (१६८, १६६ और यहाँ २०५ में) प्रायः एकही बात कही है और एकसेही विशेषण दिये हैं। १६८ में माताकाही नाम लिखा, क्योंकि तब माताकी गोदमें रहनेसे माताको ही विशेष सुख मिला था। १६६ में पिताकोभी कहा (क्योंकि अब आँगनमें विचरने लगे थे) और जब महलसे निकलने लगे तब पुरवासियों, भक्तोंको सुख मिला; इसीसे बाहर निकलनेपर दोहा २०५ में उसी ब्रह्मका भक्तोंको सुख देना कहा। इस तरह तीन दोहे तीन व्यक्तियोंके विचारसे पृथक्-पृथक् लिखे गए।

नोट—भक्तोंके लिये अवतार लेते हैं; यथा 'अवतरेउ अपने भगतहित निजतंत्र नित रघुकुलमनी' भक्त भूमि भूसुर सुरभि०'। भक्तोंके लिये चरित्र करते हैं, यथा 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं'। अतः भक्तोंकोभी सुख देना लिखा।

☞'बालचरित पुनि कहहु उदारा' इस प्रश्नका उत्तर समाप्त हुआ। "यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिल कथा सुनहु मन लाई॥ २०६ (१)॥"

अवतार और बालकेलि प्रकरण समाप्त हुआ।

विश्वामित्रयज्ञरक्षा एवं अहल्योद्धार प्रकरण

यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई॥ १॥

अर्थ—मैंने यह सब चरित गाकर कहा (अब) आगेकी कथा मन लगाकर सुनो॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा। १८८।६।' इसपर अवतार हेतुकी इति लगाई थी। 'यह सब चरित कहा मैं गाई' यहाँ बालचरितकी इति लगाई। पहिले पृथक् पृथक् कहा, यहाँ सबको एकत्र कर दिया। यथा 'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भव कूपा। १६२. ६।', 'बालचरित अति सरल सुहाये। सारद सेष संभु श्रुति गाए। २०४.१।' तथा 'यह सब चरित कहा मैं गाई'। 'सब' में उपर्युक्त दोनोंभी आगए। (ख) 'सुनहु मन लाई' कहकर आगेकी कथाकी सुन्दरताका परिचय देरहे हैं। इन शब्दोंसे जनाते हैं कि अगली कथा बहुत सुन्दर है। मन लगाकर सुनने योग्य है। (ग) ☞सभी कथाओंको सुन्दर कह आए हैं; यथा 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा', 'बालचरित अति सरल सुहाए'। इसीसे आगेकी कथाकोभी सुन्दर कहा। (घ) 'आगिलि कथा सुनहु' अर्थात् यह कथा समाप्त हुई।

२ बाल (अर्थात् शिशु, कुमार और पौगंड अवस्थाओंके) चरित समाप्तकर अब किशोरावस्थाके चरित कहते हैं। यहाँसे विवाहकी भूमिका है। बालचरितका प्रश्न करके पार्वतीजीने विवाहका प्रश्न किया है; यथा 'बालचरित पुनि कहहु उदारा। कहहु जथा जानकी बिवाही। ११०।५-६।'; अतएव यहाँसे श्रीपार्वतीजीके चतुर्थ प्रश्न 'कहहु जथा जानकी बिवाही' का उत्तर चला। इसमें श्रीभुशुण्डीजीके मूल रामायणके इस अंशका वर्णन है—'रिषि आगमन कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिवाह।' इस समय श्रीरामजी चौदह वर्षके हो चुके, पन्द्रहवाँ चल रहा है, जैसा वाल्मीकीयमें दशरथजीके वचनोंसे स्पष्ट है। यथा "ऊनषोडश वर्षो मे रामो राजीवलोचनः। १. २०. २।" अर्थात् मेरा कमलनयन राम अभी सोलह वर्षसेभी कम अर्थात् पन्द्रह वर्षका है। मायादर्श रामायणमें और भी स्पष्ट है, यथा "श्रीरामेण यदा स्वयं शिवधनुर्भक्त्वा जितो जानकी। ह्यासीत्पंचदशाब्दिकेन वयसाषड्वार्षिकी मैथिली।"

※ "मन लाई" के भाव ※

पं० रा० कु०—बिना मन लगाए चरित समझमें न आयेगा, इसीसे सर्वत्र मन लगानेको कहा है।

वैजनाथजी—विवाह आदि अगला चरित शृङ्गारसहित माधुर्य्यलीला है, इससे मन लगाना कहा।

पंजाबीजी—आगे विश्वामित्रजीका राजाके पास जाना कहेंगे। राजा उनसे वचनबद्ध होनेपरभी कहेंगे कि राम मुझे प्राणोंसे अधिक प्रिय हैं। इससे उनमें मोह या अज्ञानका आरोपण न कर बैठना किन्तु यह समझना कि ऐसा प्रेम है तभी तो प्रभुका आविर्भाव इनके यहाँ हुआ। ताड़का सुबाहु आदिकी कथाभी मोहित करनेवाली है, उससे यह न समझ लेना कि प्रभुमें क्रोधादि विकार हैं, वे तो यह क्रीड़ा सन्तों और देवताओंकी रक्षा और राक्षसोंकी मुक्तिके निमित्त कर रहे हैं। पुनः, यह न संशय करना कि मुनिभी तो मनुष्य हैं, इनसे राजा क्यों डरे? मुनिकी उत्तम करनीका यह प्रभाव है कि राजाभी उनसे डरते हैं, अतः हमकोभी उत्तम करनी करना चाहिए, यह उपदेश यहाँ है।

रा० प्र०—"बिना मन लगाए मनमें इसका आना कठिन है। वा, 'प्रभुतन आधा सीता रानी। रूप अगाध सील-गुन-खानी।' ये जो हैं उनका संयोग आगे वर्णित है"; अतएव 'मनलाई' कहा।

बिश्वामित्र महामुनि ज्ञानी। बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी॥ २॥

अर्थ—महामुनि और महाज्ञानी विश्वामित्रजी (सिद्धाश्रमको) शुभ आश्रम जानकर वनमें निवास करते हैं॥ २॥

नोट—१ 'महामुनि ज्ञानी' अर्थात् समस्त मुनियोंमें और समस्त ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ हैं। 'महामुनि' कहा, क्योंकि तपस्याके बलसे क्षत्रियसे ब्राह्मण हुए, ऐसा कोई दूसरा नहीं हुआ। यथा 'मुनि मन अगम गाधिसुत करनी। मुदित बसिष्ठ बिपुल बिधि बरनी। ३५९।६।'

पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि "विश्वामित्र (नाम), महामुनि और ज्ञानी ये तीनों पद सहेतुक और परस्पर एक-एकके भावको पुष्ट कर रहे हैं। विश्वामित्र = विश्व + अमित्र। अर्थात् आपके सत्संगसे संसारका अभाव हो जाता है। वा, आपने संसारके पदार्थोंको नश्वर समझ उनसे ममत्व हटा लिया है। वा, संसारको शत्रु समझकर आपने अपने अनादिकालके परममित्र श्रीरामजीकी खोज की, ऋषियोंके आचरण स्वीकार किये। अतएव आगे 'महामुनि' कहा। वेदशास्त्रके तत्त्वके पारदर्शीको 'मुनि' कहते हैं और जो उस तत्वका स्वरूपही बनकर तदाकार हो जाय वह 'महामुनि' है। तत्त्वका रूप होनेसे 'ज्ञानी' कहा। इन तीनोंके गुणोंसे संयुक्त हैं इसीसे तो यह जानते थे कि यह आश्रम शुभ है।"

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'ज्ञानी' विशेषण दिया गया क्योंकि इन्होंने अपने आश्रमहीसे प्रभुका प्रादुर्भाव जान लिया।

२ 'बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी'। (क) इस वनका नाम 'चरितवन' है। पुनः, आश्रम तो बस्ती आदिमें भी रहता है परन्तु वहाँ उपाधिभी रहती है। निरुपाधिके विचारसे 'बिपिन' कहा। और विपिनमें निवास कहकर वैराग्य दिखाया। (रा० कु०)। (ख) 'सुभ आश्रम जानी' इति। 'शुभ' का भाव कि यहाँ अनुष्ठान शीघ्र सिद्ध होते हैं, यह आश्रम सिद्धपीठ है, परब्रह्मपरमात्मा श्रीरामजी इसे अपने चरण-कमलोंसे पवित्र और सुशोभित करेंगे। इस आश्रमका नाम सिद्धाश्रम है जो गंगाजीके दक्षिण तटपर स्थित है और आजकल 'बक्सर' नामसे विहार-प्रान्तमें प्रसिद्ध है। (ग) पुनः, 'शुभ' का भाव कि आश्रम 'परम-पावन' है। सब मुनि शुभ अर्थात् परम पावन आश्रम जानकरही बसा करते हैं; इसीसे ऋषियोंके आश्रमोंको यह (परमपावन) विशेषण दिया जाता है; यथा 'भरद्वाज आश्रम अति पावन', 'देखि परम पावन तव आश्रम। गयेउ मोह संसय नाना भ्रम।' (घ) सब मुनि शुभ आश्रम जानकर बसा करते हैं; यथा 'तीरथ बर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधिदाता॥ बसहिं तहाँ मुनि सिद्ध समाजा। १४३. २-३।' इत्यादि। यहाँ जप, योग, यज्ञ सिद्ध होते हैं, अतः शुभ जानकर यहाँ बसे। (पं० रा० कु०)। (ङ) यह आश्रम गंगातटपर चंडीदेवीके स्थानके पास है। श्रीअयोध्याजीसे ६४ कोशपर माना जाता है। इस आश्रम-पर महातपस्वी विष्णुभगवान्ने सैकड़ों युगोंतक तपस्या करनेके लिये निवास किया था और वामन भग-वान्का यह पूर्वाश्रम है। महातपस्वी विष्णु यहीं सिद्ध हुए थे। अतः इसका नाम सिद्धाश्रम है। यथा "इह राम महाबाहो विष्णुर्देवनमस्कृतः। वर्षाणि सुबहूनीह तथा युग शतानि च॥ २॥ तपश्चरणयोगार्थमुवास सुमहातपाः। एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः॥ ३॥ सिद्धाश्रम इति ख्यातः सिद्धो ह्यत्र महातपाः। वाल्मी० १।२९।'; अतः 'शुभ आश्रम जानी' कहा। ऐसा जानकरही विश्वामित्रजी यहाँ यज्ञ करनेके लिये कौशिकीतट छोड़कर आए थे। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीसे यहभी कहा है कि महात्मा वामनने यहाँ निवास किया। उनके प्रति मेरी भक्ति होनेसे मैं यहाँ रहता हूँ—'मयापि भक्त्या तस्यैष वामनस्योपभुज्यते १।२९।२२।' अतः 'शुभ जानी' कहा।

३ 'विश्वामित्र' इति। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीके पूछनेपर बताया है कि "ब्रह्मपुत्र राजा कुशके चार

पुत्रोंमेंसे 'कुशनाभ' दूसरा पुत्र था। राजा कुशनाभने पुत्रप्राप्तिके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ किया जिसके फलस्वरूप 'गाधि' नामका परमधार्मिक पुत्र हुआ। यही महात्मा गाधि मेरे पिता हैं। कुशवंशमें उत्पन्न होनेसे 'कौशिक' कहा जाता हूँ। (वाल्मी० १।३३।३, १।३४।१,५ ६)। मेरी बड़ी बहिनका नाम 'सत्यवती' था जो महर्षि ऋचीकको ब्याही गई थी जो इस शरीरसे ही स्वर्गको गई और उसके नामसे कौशिकी नामकी एक महानदी बही। इसीसे मैं हिमवानकी तराईमें उसके तटपर सुखपूर्वक निवास करता हूँ। यज्ञ करनेके लिये मैं वहाँसे यहाँ सिद्धाश्रममें आया और तुम्हारे पराक्रमसे मुझे सिद्धि मिली।—"अहं हि नियमाद्राम हित्वा तां समुपागतः। सिद्धाश्रममनुप्राप्तः सिद्धोऽस्मि तव तेजसा। वाल्मी० १।३४।१२।"

इनका नाम 'विश्वरथ' था। ब्रह्म-ऋषित्व प्राप्त होनेपर 'विश्वामित्र' नाम हुआ। इनके जन्मकी कथा इस प्रकार है,—एक बार श्रीसत्यवतीजी और उनकी माताने श्रीऋचीकजीके पास पुत्रकामनासे जाकर उसके लिये प्रार्थना की। ऋषिने दो प्रकारके मंत्रोंसे चरुको सिद्ध करके उनको बताकर कि अमुक चरु तुम (सत्यवती) खा लेना और अमुक तुम्हारी माता खा लें। यह कहकर वे स्नानको चले गए। माताने सत्यवतीके चरुको श्रेष्ठ समझकर उससे उसका चरु माँग लिया और अपना उसको दे दिया। यथा 'स ऋषिः प्रार्थितः पत्न्या श्वश्र्वा चापत्यकाम्यया। श्रपयित्वोभयैर्मन्त्रैश्चरुं स्नातुं गतो मुनिः॥ ८॥ तावत्सत्यवती मात्रा स्वचरुं याचिता सती। श्रेष्ठं मत्वा तयाऽयच्छन्मात्रे मातुरदात्स्वयम्॥ ९॥ भा ९।१५।'

विष्णुपुराणमें इसको और स्पष्ट करके लिखा है कि 'ऋचीकजीने दो चरू सत्यवतीको दिये और बता दिया कि यह तुम्हारे लिये है और यह तुम्हारी माँके लिये। 'इनका तुम यथोचित उपयोग करना' यह कहकर वे वनको चले गये। उपयोग करनेके समय माताने कहा,—'बेटी! सभी लोग अपनेही लिये सबसे अधिक गुणवान् पुत्र चाहते हैं, अपनी पत्नीके भाईके गुणोंमें किसीकीभी विशेष रुचि नहीं होती। अतः तू अपना चरू मुझे दे दे, और मेरा तू ले ले, क्योंकि मेरे पुत्रको तो संपूर्ण भूमंडलका पालन करना होगा और ब्राह्मणकुमारको तो बल, वीर्य तथा संपत्ति आदिसे लेनाही क्या है? ऐसा कहनेपर सत्यवतीने अपना चरू माताको दे दिया। यथा 'पुत्रि सर्व एवात्मपुत्रमतिगुणमभिलषति नात्मजायाभ्रातृगुणेष्वतीवादृतो भवतीति॥ २१॥ अतोऽर्हसि ममात्मीयं चरुं दातुं मदीयं चरुमात्मनोपयोक्तुम्॥ २२॥ मत्पुत्रेण हि सकलभूमण्डलपरिपालनं कार्यं कियद्वा ब्राह्मणस्य बलवीर्यसम्पदेत्युक्ता सा स्वचरुं मात्रे दत्तवती॥ २३॥" (वि० पु० ४।७)।

जब ऋषिको यह बात ज्ञात हुई तब उन्होंने अपनी पत्नीसे कहा कि तुमने यह बड़ा अनुचित किया। ऐसा हो जानेसे अब तुम्हारा पुत्र घोर योद्धा होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मवेत्ता होगा। सत्यवतीके बहुत प्रार्थना करनेपर कि मेरा पुत्र ऐसा न हो, उन्होंने कहा कि अच्छा, पुत्र तो वैसा न होगा किन्तु पौत्र उस स्वभावका होगा। राजा गाधिके स्त्रीने जो चरू खाया उसके प्रभावसे विश्वामित्रजी हुए जो क्षत्रिय होते हुए भी तपस्वी और ब्रह्मर्षि हुए।

इनके सौ पुत्र हुए इससे इनके कौशिकवंशकी बहुत अधिक वृद्धि हुई। ये बड़े क्रोधी थे। शाप दे दिया करते थे। राजा हरिश्चन्द्रके सत्यकी सुप्रसिद्ध परीक्षा लेनेवालेभी यही हैं। ऋग्वेदके अनेक मंत्र ऐसे हैं जिनके द्रष्टा ये या इनके वंशज माने जाते हैं। ब्रह्मगायत्रीके ये ऋषि हुए। ये बड़े तेजस्वी हुए। इन्होंने तपके प्रभावसे क्षत्रियत्वको छोड़कर ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। इसकी संक्षिप्त कथा यों है कि एकबार ये बड़ीसेना समाज लेकर शिकारको गए। मार्गमें वशिष्ठजीके आश्रम पर ठहरे। मुनिके पास एक कामधेनु थी जिसकी सहायतासे उन्होंने राजाका सेनासहित बड़ा आदर-सत्कार किया। विश्वामित्रको जब यह मालूम हुआ तो उन्होंने वह गऊ उनसे माँगी। देना स्वीकार न करनेपर राजा उसे बलात्कार लेजाने लगे; परन्तु इसमें वे सफल न हुए। फिर बड़ी भारी सेना लाकर उन्होंने उसे छीनना चाहा, पर उनकी सब सेना और पुत्र मारेगए। एक पुत्र बचा उसे राज्य दे इन्होंने कठिन तपस्या करके शिवजीसे अस्त्र शस्त्र

प्राप्त किए और उनके बलपर फिर वशिष्ठजीसे गऊ छीनने आये, परन्तु इनके ब्रह्मदण्डके आगे उन सब अस्त्र-शस्त्रोंका तेज नष्ट होगया। लज्जित होकर ब्रह्मत्व प्राप्त करनेके उद्देश्यसे इन्होंने कठिन तप किए। ब्रह्मादि देवताओंने इन्हें तब ब्रह्मर्षि पद दिया। ये वशिष्ठजीके ऐसे परम शत्रु होगए थे कि उनके पुत्रोंको शाप देकर इनने भस्म कर दिया था। वाल्मीकीय (सर्ग ५१ से ६५ तक) में विस्तृत कथा है। दोहा ३५६ (६) में और भी देखिए।

जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीँ । अति मारीच सुबाहुहि डरहीँ ॥३॥
देखत जज्ञ निसाचर धावहिं । करहिँ उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥४॥

अर्थ—जहाँ मुनि जप, यज्ञ और योग करते हैं। मारीच और सुबाहुको अत्यन्त डरते हैं ॥ ३ ॥ यज्ञ देखतेही निशाचर दौड़ पड़ते (धावा करते) और उपद्रव (उत्पात) करते हैं जिससे मुनिको दुःख होता है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) ['जहँ' (जहां) अर्थात् उस सिद्धाश्रमपर। 'जहँ' का संबंध पूर्वकी अर्धालीसे है। किसी किसीका मत है कि, 'जहँ'=जहां कहींभी आश्रममें।] (ख) 'जप जोग जज्ञ' इति। 'जप' को प्रथम कहनेका भाव कि जपयज्ञ भगवान्का स्वरूप है, अतः सबमें श्रेष्ठ है; यथा 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि'। श्रेष्ठ की गणना प्रथम होनीही चाहिये। पुनः, क्रमका भाव कि जप उपासना है, यथा 'मंत्रजाप मम दृढ़ बिश्वासा'। योग ज्ञान है, यथा 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी'। यज्ञ कर्म है, यथा 'त्रेता बिबिध जज्ञ नर करहीं'। (इस तरह कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंमें मुनिको तत्पर दिखाया।)

२ 'अति मारीच सुबाहुहि डरहीं' इति। (क) भाव कि राक्षस जप, योग और यज्ञ नहीं करने देते; यथा 'जप जोग बिरागा तप मख भागा श्रवन सुनै दससीसा। आपुन उठि धावै रहै न पावै धरि सब घालै खीसा।' इसीसे डरतेरहतेहैं कि वह सुनतेही आकर उपद्रव मचावेगा। यथा 'मुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाइ धावा मुनिद्रोही'। (ख) 'मारीच सुबाहुहि' में मारीचका नाम प्रथम देकर जनाया कि मारीच ज्येष्ठ भ्राता है और सुबाहु लघु है। यथा 'नाम राम लछिमन दोउ भाई', 'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई' और 'भरत सत्रुहन दूनौ भाई', इत्यादि। (ग) 'मारीच सुबाहुहि डरहीं' कहकर जनाया कि रावणने पृथ्वीभरमें जहाँ-तहाँ राक्षसोंकी चौकी बिठा दी है जो राक्षसोंके राज्य और उनके नीतिकी रक्षा करते हैं। जो राक्षसों वा रावणकी नीतिके विरुद्ध काम करते हैं उनको सताते हैं। इस देशके रखवाले मारीच और सुबाहु हैं। इसीसे उनसे डरना कहा गया। मारीच और सुबाहुकी कथा १।२४।४ में देखिये।

नोट—१ 'अति डरहीं' के भाव—(क) डरते तो सब दिन हैं पर जप, यज्ञादि करते 'अति' डरते हैं, क्योंकि जपादि करनेसे राक्षस वैर मान लेते हैं। इनका करना उनसे वैर ठानना है। (पं० रा० कु०)। (ख) बलसे किसीको जीत नहीं सकते, यह डर सदा रहता है। और यह समझकर कि 'वे शापसे राक्षस हुए हैं, उसमें अब दूसरेका शाप लग नहीं सकता' उनका डर और अधिक होगया है; इसीसे 'अति डरहीं' कहा। (वै०)। (ग) डरते तो सभी राक्षसोंसे थे, पर इनसे बहुत डरते थे। इसका कारण आगे स्वयं कहते हैं कि 'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं'। (घ) किसीका मत है कि 'जप और योग' के समय तो साधारण डर रहता था और यज्ञ करनेमें 'अति' डरते थे क्योंकि धुआँ निकलतेही निशाचरोंको पता लगजाता था और वे तुरत दौड़पड़ते थे। (ङ) 'मारीच' बड़ा क्रोधी और मुनिका द्रोही भी है, इसीसे 'अति' डरते हैं। क्रोधी वैरी भयंकर होता है।

टिप्पणी—३ देवता राक्षसोंके बैरी हैं,—'हमरे बैरी बिबुधबरूथा'। यज्ञसे देवता प्रबल होते हैं, इसीसे राक्षस यज्ञ विध्वंस करते हैं। 'धावहिं' शब्द देकर जनाया कि यज्ञके नष्ट करनेमें बड़े सावधान हैं,

शीघ्रही नष्ट कर डालते हैं, समाचार मिलतेही तुरत धावा बोल देते हैं, स्वयंभी दौड़ते जाते हैं। यथा 'आपुन उठि धावै रहै न पावै०' (रावण), 'मुनि मारीच निसाचर कोही। लै सहाय धावा मुनि द्रोही' तथा यहां 'देखत जग्य निसाचर धावहिं'। 'देखत' पदसे जनाया कि निशाचर यज्ञकी खोजमें बराबर लगे रहते हैं। ['देखत' से जनाया कि धुआँ उठताहुआ देख जान जाते हैं कि यज्ञ होता है। ताकमें तो रहते ही हैं। कभी नियमके प्रारंभ होते ही विघ्न करते हैं और कभी यज्ञपूर्तिके समय; जभी वे देख पाते हैं, ये दोनों बातें 'देखत' शब्दसे जना दीं जो वाल्मीकीयमें कही हैं। यथा "अहं नियममातिष्ठे सिद्धयर्थं पुरुषर्षभ। तस्य विघ्नकरौ द्वौ तु राक्षसौ कामरूपिणौ ॥ ४ ॥ व्रते मे बहुशश्चीर्णे समाप्त्यां राक्षसाविमौ ॥ १।१६।४-५॥']

४ 'करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं' इति। (क) उपद्रव=उत्पात। विष्ठा, मांस, रुधिर आदि वहाँ बरसाते, यज्ञकी सामग्री खराब करते, साधारण ब्राह्मणोंको मार डालते हैं, इत्यादि सभी बातोंका ग्रहण इस शब्दसे होगया। यथा "तौ मांसरुधिरौघेन वेदिं तामभ्यवर्षताम् ॥ वाल्मी० १।१९।६ ॥' (ख) मुनि दुख पाते हैं, शापसे राक्षसोंका नाश इससे नहीं करते कि शापसे पापका डर है और कुछ न बोलनेसे, दंड न देनेसे, वे खल निरादर करते हैं। जैसा कि गीतावली पद ४५ में कहा है—"चहत महामुनि जाग जयो। नीच निसाचर देत दुसह दुख कृस तनु ताप तयो। श्रापे पाप, नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो।" पुनश्च यथा 'प्रीति के न पातकी, दिएहूँ साप पाप बड़ो ॥ गी० १।६४ ॥' [पुनः, शाप न देनेका दूसरा कारण यहभी है कि शापसे इनकी मृत्यु होनेमेंभी संदेह है, इसीसे दुःख सहते हैं, शाप नहीं देते, जैसा कि आगे लिखते हैं—'हरि बिनु मरिहि न निसिचर पापी'। अर्थात् इनकी मृत्यु भगवान्‌केही हाथसे होनी है। शाप व्यर्थ होजानेसे वे और भी निरादर करेंगे। पुनः, यज्ञकी दीक्षा लेकर बैठनेपर क्रोध करना वर्जित है और वे यज्ञारंभके पश्चातही विघ्न करते हैं इससे शाप दे नहीं सकते। यथा 'न च मे क्रोधमुत्स्रष्टुं बुद्धिर्भवति पार्थिव ॥ तथाभूता हि सा चर्या न शापस्तत्र मुच्यते ॥ वाल्मी० १.१९ ॥' 'मुनि दुख पावहिं'—विष्ठा-मांसादिकी वृष्टिसे दुःख होता ही है, साथही यज्ञ नष्ट हो जानेसे वे निरुत्साहित हो जाते हैं, यहभी दुःख ही है]

गाधितनय मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरहिँ न निसिचर पापी ॥५॥
तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा ॥६॥

अर्थ—राजा गाधिके पुत्र श्रीविश्वामित्रजीके मनमें चिंता छा गई कि ये पापी निशिचर बिना भगवान्‌के न मरेंगे ॥ ५ ॥ तब मुनिश्रेष्ठने मनमें विचार किया कि प्रभुने पृथ्वीका भार उतारनेकेलिये अवतार लिया है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'गाधितनय मन चिंता ब्यापी' इति। आश्रमके शुभ होने तथा इस भविष्यका ज्ञान होनेसे कि यहां एक दिन परतम प्रभु पधारेंगे एवं बनमें निवास करने और अद्वितीय पराक्रमी पुरुषार्थी तपोधन महात्मा ब्रह्मर्षि होनेसे इनको प्रथम 'महामुनि' और 'महाज्ञानी' कहा था। अब कहते हैं कि उनको चिन्ता व्याप गई है। मुनियों और ज्ञानियोंके मन निर्मल होते हैं। उनको चिन्ता आदि कुछ भी कभी छू नहीं जाते इसीसे चिन्ताके संबंधसे यहाँ मुनि आदि न कहकर 'गाधितनय' कहा। सज्जनका दुःख दूर करना, पापियोंको दंड देना और मारना यह राजाका धर्म है। सो विश्वामित्रजीने सज्जनोंका दुःख दूर करने और पापी निशाचरोंके नाश करनेकी चिंता इस समय की। अतः 'गाधितनय' नाम युक्तियुक्त ही है। शत्रुनाशकी चिंता राजाओंको स्वाभाविक होतीही है। [पुनः 'गाधितनय' कहकर इनका पूर्वपरिचय दिया गया कि ये पराक्रमी राजाके पुत्र हैं, अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें निपुण हैं, निशाचरोंको स्वयं मार सकते थे, परन्तु इन्होंने ऐसा न किया क्योंकि 'मुनिवर' और 'ज्ञानी' हैं, जानते हैं कि हरिहीके हाथसे मरेंगे। दूसरे, इनपर अस्त्र-शस्त्र-विद्याका प्रयोग करनेसे मेरा बड़े दुःखसे कमाया हुआ ब्रह्मत्व नष्ट हो जायगा। चिन्तामें

विचार नहीं रहजाता और मुनि विचारवान् होते हैं। इसलिये संकल्पविकल्पसे 'गाधितनय' और आगे 'विचार' के सम्बन्धसे 'मुनिवर' कहा गया।" (रा० च० मिश्र) ।] ☞चिन्ता व्यापी अर्थात् चिन्ताग्रस्त होगए कि क्या उपाय करें जिससे यज्ञ सिद्ध हो, क्या करें जिससे ये दुष्ट उपद्रव न करें। सोचते हैं कि विना इनके मरे कार्य न होगा। ये मरें कैसे ? शाप दे नहीं सकते, दबनेसे निरादर करते हैं, इत्यादि।

नोट—१ "अब चिन्ता क्यों व्यापी ? यहाँ तो वर्षोंसे रहते हैं ?" इस प्रश्नका उत्तर यह है कि—(१) सब कार्य्य समयहीपर प्रभुकी इच्छा एवं प्रेरणासे होते हैं। जब भगवान्‌की इस लीलाका समय आया तब भगवत्प्रेरणासे मनमें चिन्ता व्यापी। श्रीरामजी घरसे अब बाहर निकलने लगे हैं, वनमें जाकर हिंसक जीवोंका शिकारभी करने लगे हैं। राजाकोभी इनके अस्त्र-शस्त्र-विद्यामें कुशल होजानेका विश्वास होचुका है जैसा कि 'प्रति दिन नृपहि देखावहिं आनी' में बता आए हैं। इसके पूर्व चिन्तासे कार्य्य नहीं चल सकता था। पुनः, (२) सत्योपाख्यान उ० ४ में इस संबंधमें यह लिखा है कि शिवजीने स्वप्नमें मुनिको इस समय आज्ञा दी कि श्रीअवध जाकर श्रीरामजीको ले आओ। यथा "महेश्वरेण चाज्ञतो विश्वामित्रो महामुनिः। सिद्धाश्रमाच्चचालाशु रामार्थं मुनिपुंगवः ॥ १ ॥" इसीसे अब ऐसे विचारोंका उदय हुआ।

टिप्पणी—२ 'हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी' इति। (क) भक्तोंके क्लेशोंको हरेंगे, राक्षसोंको मारेंगे, इसी विचारसे 'हरि' नाम दिया गया। यथा 'भक्तानां क्लेशं हरतीति हरिः'। (ख) 'हरि बिनु मरहिं न' इस कथनसे पाया गया कि मारीच, सुबाहु आदिकी मृत्यु हरिकेही हाथ है। (ग) निसिचर पापी हैं; भगवान् पापियोंको मारते हैं। राक्षसोंको 'पापी' कहनेका भाव कि पापी पृथ्वीका भार हैं और भगवान् पृथ्वीका भार उतारनेके लिए अवतार लेते हैं, जैसा कि आगे कहते हैं। अतः इनको मारकर भार उतारेंगे।

३ 'तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा।०' इति। (क) जब मनमें चिन्ता व्यापी तब मनमें विचार किया। मनन करना, विचार करना, मुनियोंका कामही है। विचार करनेसे चिन्ता दूर होती है और मन सावधान होजाता है। अतः विचार करके मनको सावधान किया। इति भावः। (ख) 'प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा' इति। पृथ्वीका भार हरण करनेको समर्थ हैं, अतः 'प्रभु' कहा। राक्षस पृथ्वीके भार हैं, उनके लिये भगवान्‌ने अवतार लिया है, इस कथनमें तात्पर्य्य यह है कि संयोग हम मिला दें। मनमें जो विचार किया वह भगवान् स्वयं ही कह चुके हैं, उसे मुनि जानते हैं। यथा 'हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई ॥' [वैजनाथजी लिखते हैं कि 'वर' विशेषण दिया क्योंकि त्रिकालज्ञ हैं, विचारवान् हैं, उन्होंने विचारकर जान लिया कि इस आश्रमपर भगवान्‌के आगमनका समय आगया। रा० प्र० कार लिखते हैं कि प्रभुके अवतारका निश्चय किया, इससे मुनिवर कहा (सत्योपाख्यानमेंभी श्रीरामजीके लेने जानेके संबंधमें 'महामुनि' और 'मुनिपुंगव' विशेषण आए हैं। 'तब मुनिबर''''महि भारा' से यहभी जनाया कि इस विचारके साथही उनकी चिंता दूर होगई। यथा 'सापे पाप नये निदरत खल, तब यह मंत्र ठयो। बिप्र साधु सुर धेनु धरनि हित हरि अवतार लयो ॥ सुमिरत श्रीसारंगपानि छनमें सब सोच गयो। गी० १.४५।']

एहूँ मिस देखौं पद जाई[१]। करि बिनती आनौं दोउ भाई ॥ ७ ॥

ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना ॥ ८ ॥

अर्थ—इसी बहानेसे भगवान्‌के चरणोंका जाकर दर्शन करूँ और विनती करके दोनों भाइयोंको ले आऊँ ॥ ७ ॥ जो प्रभु ज्ञान, वैराग्य और समस्त गुणोंके स्थान हैं, उनको मैं भर नेत्र देखूँगा ॥ ८ ॥

१—यहि मिस देखौं प्रभु पद जाई। को० रा०।

टिप्पणी—१ (क) 'एहूँ' मिस' अर्थात् यज्ञरक्षाके बहाने । बहानेसे दर्शन करनेमें भाव यह है कि साक्षात् दर्शन करनेमें भगवान्का ऐश्वर्य्य खुल जायगा, यह संकोच है। यथा 'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ। ४८।' (ख) 'देखौं पद जाई'—इस कथनसे भगवान्के चरणोंमें विश्वामित्रजीकी भक्ति दिखाई। आगे माधुर्य्यके अनुकूल भगवान्से चरणसेवा लेंगे (करायेंगे)। (ग) 'करि बिनती' इति। तात्पर्य्य कि अपने कार्य्यके बहानेसे ले आऊँ। (घ) 'दोउ भाई' कहकर जनाया कि विश्वामित्रजी जानते हैं कि श्रीरामलक्ष्मणका सदा संग रहता है। लक्ष्मणजी श्रीरामजीके अनुगामी हैं। यथा 'बारेहि तें निज हित पति जानी। लछिमन राम चरन रति मानी।' अथवा 'प्रभु अवतरेउ हरन महिभारा' यह प्रथम विचार करना कह आए। पृथ्वीका भार हरन करनेके लिये प्रभु श्रीरामजीका अवतार है, यथा 'एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार। सुररंजन सज्जन सुखद हरि भंजन भुविभार।', 'जय हरन धरनी भार महिमा उदार अपार' इति इन्द्रस्तुतिः, 'जग कारन तारन भव भंजन धरनी भार। की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।' (कि०), इत्यादि। और श्रीलक्ष्मणजीका अवतारभी भारहरणके लिये है, यथा 'सेष सहस्र-सीस जग-कारन। सो अवतरेउ भूमि भय टारन'। इत्यादि। इसीसे श्रीराम-लक्ष्मण दोनों भाइयोंको लाना कहा। (ङ) 'करि बिनती आनौं दोउ भाई' कहनेसे सूचित हुआ कि राजासे मिलनेमें संदेह नहीं है, श्रीरामलक्ष्मणजीके आनेमें संदेह है कि पिताको त्यागकर कैसे आवेंगे। [पंजाबीजीका यही मत है। वे लिखते हैं कि 'यह पद प्रभुके निमित्त है क्योंकि उनसे तो विनयही कर सकते हैं कि चलकर सबको कृतार्थ कीजिए और राजाको तो त्रास दिखावेंगे।' विश्वामित्रजीको सन्देह हो रहा है कि राजा तो दे देंगे क्योंकि ब्रह्मण्य हैं, पर न जाने प्रभु मातापिताको त्यागकर आवेंगे या नहीं, अतएव सोचते हैं कि उनकी बिनती करेंगे। विनय करनेसे वे अवश्य आवेंगे क्योंकि वे तो 'ज्ञान बिराग सकल गुणोंके धाम' हैं। इसीसे आगे जब प्रभु साथ होगए तब मुनि कहते हैं कि 'प्रभु ब्रह्मन्य देव मैं जाना। मोहि निति पिता तजेउ भगवाना।'; परन्तु श्रीबैजनाथजी आदि राजासे बिनती करनेका अर्थ करते हैं, क्योंकि प्राणप्रिय पुत्रको देना कठिन है, याचक बनकर माँगना बिनती है। गीतावली पद ४८ से, इस दीनकी समझमें, राजासेही बिनती करना सिद्ध होता है। यथा 'राजन रामलखन जौ दीजै। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ मुनि सनाथ सब कीजै।' राजा न देना चाहेंगे इसका कारण आगे राजाके उत्तरहीमें स्पष्ट है।]

नोट—१ 'एहूँ' मिस देखौं पद जाई' तथा 'सो प्रभु मैं देखब भरि नयना' दो बार देखनेकी लालसासे सूचित करते हैं कि मुनि प्रभुके अनुरागमें भरे हुए हैं और उनका लक्ष्य प्रभुका दर्शन है जिससे वे कृतार्थ होना चाहते हैं, यज्ञरक्षा एक बहाना मात्र है। यथा 'द्रष्टुं रामं परमात्मानं जातं ज्ञात्वा स्वमायया॥ अ० रा० १।४।१॥' अर्थात् श्रीरामजी अपनी इच्छासे नररूपसे प्रकट हुए हैं यह जानकर विश्वामित्रजी उनका दर्शन करनेके लिये श्रीअयोध्यापुरीमें आए। गीतावलीके पद ४५, ४६ से भी इस भावकी पुष्टि होती है। दोहा २०६ देखिए। जनकमहाराजसे भी मुनिने यही कहा है; यथा 'मख-मिस मेरो तब अवध गवनु भो॥ गी० १।६४॥'

टिप्पणी—२ 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना।...' इति। भाव कि—(क) मुनियोंका धर्म्म है कि ज्ञान, वैराग्य आदि समस्त गुणोंको (धारण) करें। श्रीरामजी ज्ञान वैराग्य समस्त गुणोंके धाम हैं, अतः उनको भर नेत्र देख लेनेसे हमारे वह धर्म पूर्ण होजायेंगे। उनका दर्शन करलिया तो ज्ञान वैराग्य आदि सभी कर चुके। [कथनका भाव कि ज्ञान वैराग्यादि सभी कर्म्मोंका फल भगवान् रामजीका दर्शन है; यथा 'आजु सुफल तपु तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू॥ सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू॥ २।१०७॥'. (भरद्वाजवाक्य)। दर्शन होनेपर इनका करना बाक़ी नहीं रह

जाता। दर्शनसे हमारे ज्ञान वैराग्य समस्त सद्गुण सिद्ध होगए], यथा 'तुम्हरे दरस आस सब पूजी। २। १०७॥' पुनः, (ख) जो ज्ञानके धाम हैं वे भी ज्ञानसे इन्हींको देखते हैं, यथा 'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। विरागके अयन हैं, इसीसे वैरागी सब प्रपंचसे वैराग्य करके इन्हींको ग्रहण करते हैं। सद्गुणोंके अयन हैं अर्थात् समस्त सद्गुण इन्हींके (प्राप्त्यर्थ) किए जाते हैं। पुनः, (ग) मुनि ज्ञान वैराग्य सकल गुणोंको धारण कियेहुए हैं; अतः अपनी भावनाके अनुसार उन्होंने भगवान्को इन सबोंका स्थान कहा। यथा 'जिन्हकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।' पुनः, [(घ) ज्ञानके अयन हैं, अतः ज्ञानसे हमारे अभीष्टको जानेंगे। वैराग्यअयन हैं, अतः मातापिताका त्याग करेंगे। गुणअयन हैं, युद्धकलामें कुशल हैं; अतः उनको निशिचरोंका भय नहीं है, वे उनका वध करेंगे। (बाबा रामदासजी)। पुनः, (ङ) मुनिके मनमें संदेह था कि आवें या न आवें, उसका निवारण वे स्वयं कर रहे हैं कि वे अवश्य आवेंगे क्योंकि वे 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयन' हैं।]

नोट—२ 'सो प्रभु मैं देखब भरि नयना' का भाव कि अभीतक ध्यानमें देखते रहे हैं, भर-नेत्र देखनेको नहीं मिले, किन्तु आज उनको इन नेत्रोंसे भरपूर देखूँगा। देखनेकी अति उत्कंठा है; इसीसे देखना दो बार कहा। ☞इससे प्रगट है कि मुख्य श्रीरामदर्शन है, राक्षसोंका वध गौण है। ☞यहां अपने आचरणसे उपदेश देते हैं कि जहां जिस तीर्थमें जाय वहां भगवान्का दर्शन मुख्य रक्खे और जो कुछ कार्य्य हो उसे सामान्य समझे। (पं० रामकुमार)।

दोहा—बहु बिधि करत मनोरथ जात लागि नहिं बार।
करि मज्जन सरजू[1] जल गए भूप दरबार ॥२०६॥

अर्थ—बहुत प्रकारसे मनोरथ करते चले जाते हैं, (इसीसे) पहुँचते देर न लगी। श्रीसरयूजलमें स्नान करके राजद्वारपर गए॥ २०६॥

टिप्पणी—१ (क) 'बहुबिधि करत मनोरथ' इति। बहु बिधिके मनोरथ ऊपर कह आए। 'एहूँ मिस देखौं पद जाई', 'करि बिनती आनौं दोउ भाई', 'ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना' ये ही 'बहु बिधि'के मनोरथ हैं। [नोट—इतने मनोरथ कहकर तब 'बहु बिधि' पद देकर अन्य-भी बहुत प्रकारके मनोरथ जना दिये, जो अन्य ग्रंथोंमें हैं। यथा 'आजु सकल सुकृत फल पाइहौं। सुख की सींव अवधि आनंद की, अवध बिलोकि हौं पाइहौं॥ सुतन्हि समेत दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं। रामचंद्र मुखचंद्रसुधा-छबि नयन चकोरनि प्याइहौं॥ सादर समाचार नृप बूझिहैं हौं सब कथा सुनाइहौं। तुलसी ह्वैहौं कृतकृत्य आश्रमहिं राम लखन लै आइहौं। गीतावली ४६॥'] (ख) 'जात लागि नहिं बार' इति। मुनि मनोरथोंके आनन्दमें मग्न हैं, शरीर पुलकायमान होरहा है। अतएव रास्ता कुछभी जान न पड़ा; वे शीघ्र पहुँच गए। यथा 'करत मनोरथ जात पुलकि प्रगटत आनंद नयो। तुलसी प्रभु अनुराग उमगि मग मंगलमूल भयो॥ गी० १।४५॥' ☞विचारोंकी धुनमें मार्ग जान नहीं पड़ता यह देखाही जाता है; यथा 'एहि बिधि करत सप्रेम बिचारा। आएउ सपदि सिंधु एहि पारा॥ ५।४३॥' [कुछ लोग 'बार' का अर्थ दिन करते हैं। अर्थात् एक दिनभी न लगा। श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि आश्विन कृ० ६ को सिद्धाश्रमसे चले और चौथे दिन नवमीको प्रातःकाल श्रीअवध पहुँचे। इस तरह श्रीरामजी इस समय चौदह वर्ष, पाँच मास, पन्द्रह दिनके हैं।]

२ 'करि मज्जन सरजू जल' इति। शास्त्राज्ञा है कि तीर्थमें जाय तो जातेही तीर्थस्नान करे; यथा

१ सरजू—१७०४, १७२१, छ०। सरयू—को० रा०। सरऊ—१६६१, १७६२।

'करि तड़ाग मज्जन जलपाना । बट तर गएउ हृदय हरषाना ।। ७।६३ ।।', 'मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा । पूजि जथा-बिधि तीरथ-देवा ।। तब प्रभु भरद्वाज पहिं आए ।। २।१०६ ।।' [पुनः, इसी पार सरयूजीमें स्नान करनेका भाव—(१) प्रातःकाल पहुँचे, इससे नित्य क्रियासे निवृत्त हो लिये । वा, (२) 'वेदाज्ञा है कि तीर्थ मिलनेपर उसमें प्रथम स्नान किये बिना उसका उल्लंघन न करे । (वै०) । वा, (३) श्रम-निवृत्यर्थ स्नान किया । (पं०) । वा, (४) किसीके घर जाना हो तो प्रथमही स्नान पूजन आदि नित्य क्रियासे निवृत्त हो लेना उचित है, क्योंकि न जाने वहां पहुँचनेपर अवसर मिले या न मिले । अतएव स्नान करके गए ।]

३ 'गए भूप दरबार' इति । दरबार=द्वार । = वह द्वार वा फाटक जहांपर डेवढ़ी लगती है, बिना इत्तला और आज्ञाके कोई भीतर जाने नहीं पाता । (मा० त० वि०) । यथा 'प्रमुदित पुरनरनारि सब सजहिं सुमंगलचार । एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार । (अ० २३); अर्थात् राजद्वारपर इतनी भीड़ है कि एकही एक करके लोग भीतर जा या बाहर निकल सकते थे । पुनः यथा 'गएउ सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज ।। ६।१८ ।। तुरत निसाचर एक पठावा । समाचार रावनहि जनावा ।। सुनत बिहँसि बोला दस-सीसा । आनहु बोलि कहां कर कीसा ।। लं० १६ ।।' अर्थात् सभाके द्वारपर अंगदने पहुँचकर ड्योढ़ीदारको भेजा कि रावणको खबर करदो । यही अर्थ सत्योपाख्यान और वाल्मीकीय आदि ग्रन्थोंसेभी पुष्ट होता है । सत्योपाख्यान उ० ४ में लिखा है कि 'साकेतनगरं दृष्ट्वा मुमुदे कौशिको मुनिः । राजद्वारं समागत्य ददर्श महती श्रियम् ।। २ ।। द्वारपालाः समागत्य प्रणेमुः शिरसा मुनिम् । मुनिना प्रेषिताः सर्वे राजानां च विजिज्ञपुः ।। ३ ।। राजा दशरथः श्रुत्वा वशिष्ठादिभिरन्वितः ।'' अर्थात् राजद्वारपर मुनि आए, द्वारपालोंने प्रणाम किया और जाकर राजाको खबर दी, तब राजा वशिष्ठादि सहित लेने आए । वाल्मीकिजीभी लिखते हैं कि 'अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः । सराज्ञो दर्शनाकांक्षी द्वाराध्यक्षानुवाच ह' । अर्थात् द्वारपालोंसे राजाके दर्शनकी आकांक्षा प्रगट की । और, नीतिभी यही है, सनातन परिपाटी यही है कि द्वारपालसे बिना खबर कराये भीतर नहीं जाना चाहिए । उसी नीतिका पालन मुनिने यहां किया । पांड़ेजी लिखते हैं कि "सरयूजलमें स्नान करके मुनि राजाके दर्बारमें गए', यह अर्थ कहनेमें अगली चौपाईसे शंका होती है कि 'जब दर्बारमें गये तो राजाको देखना चाहिये था, सुननेका प्रयोजन नहीं है । इसलिये वे ऐसा अर्थ करते हैं कि पहले पदमें विश्वामित्रका वर्णन है और दूसरेमें यह कि राजा जिस समय सरयूजीमें स्नान करके दर्बारमें पहुँचे तब मुनिके आगमनको सुना ।" पं० ज्वालाप्रसादजीनेभी यह अर्थ लिखा है । परन्तु यह अर्थ असङ्गत है और 'दरबार' का अर्थ न समझनेके कारण किया गया है । ऋषिके आगमन-के प्रसंगमें राजाके प्रसंगका अर्थ अयोग्य है । इसी प्रकार कुछ लोगोंने यह अर्थ किया है कि 'दर्बारकी ओर चले' । परन्तु उपर्युक्त प्रमाणोंसे ऐसे अर्थोंकी आवश्यकताही नहीं रहती ।

मुनि आगमन सुना जब राजा । मिलन गएउ लै बिप्र समाजा ।।१।।
करि दंडवत मुनिहि सनमानी । निज आसन बैठारेन्हि आनी ।।२।।

अर्थ—राजाने जब मुनिका आगमन (आना) सुना तब विप्रसमाजको साथ लेकर मिलने गए ।।१।। दंडवत् प्रणाम करके मुनिका आदर-सत्कार करते हुए उन्हें लाकर अपने आसनपर बिठाया ।। २ ।।

टिप्पणी—१ 'मुनि आगमन सुना जब राजा ।०' इति । (क) विश्वामित्रजीके द्वारपर ठहरनेका एक कारण यहभी है कि राजा द्वारपर उनको आदरपूर्वक लेजानेके लिये आवें, जिसमें राजाकी भक्ति (कायम) रहे, उनके भक्तिकी प्रशंसा हो और ऋषिका उचित सम्मान हो, द्वारपालपर क्रोध न हो । (ख) 'लै बिप्र समाजा' इति । विश्वामित्रजी विप्र हैं, ब्रह्मर्षि हैं, इसीसे राजा विप्रसमाजको साथ लेकर मिलने

गए। यथा 'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ज्ञाति। चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ एहि भाँति ॥ २१४ ॥" श्रीजनकजी महाराजके यहां जब मुनि मिलने गए तब विश्वामित्रजी अकेले न थे। उनके साथ राजकुमार श्रीरामलक्ष्मणजीभी थे। इसीसे वहां श्रीजनकजी महाराज मंत्रियों, ब्राह्मणों, सुभटों और अपने ज्ञातिवर्गके लोगोंको भी साथ लेकर मिलने गए। यहां केवल मुनि हैं, अतएव केवल विप्रसमाजको साथ लेकर राजा मिले। (किसीका मत है कि 'उस समय राजा पूजामें थे जब आगमन सुना, उस समय वहां विप्रमंडली उपस्थित थी, अतः उसीको साथ ले लिया।' वाल्मीकीयके अनुसार राजा उस समय राजभवनमें गुरु वसिष्ठ मंत्रियों और कुटुम्बियोंसे पुत्रोंके विवाहकी सलाह कर रहे थे कि विश्वामित्रजीने आकर द्वारपालोंसे अपने आगमनकी सूचना भेजवाई। (सर्ग १८।३६-३९)। यह तो अवश्यही है कि एक जातिवाला अपने सजातीयको देखकर अति प्रसन्न होता है, मुनिके आदर और प्रसन्नताके लिये मुनिसमाजका लेना योग्यही है।

२ 'करि दंडवत मुनिहि सनमानी ।०' इति। (क) 'दंडवत' शब्द देकर साष्टाङ्ग दंडवत् प्रणाम सूचित किया। दंडवत करनाभी सम्मान है औरभी सम्मान आगे कहते हैं। 'निज आसन बैठारेन्हि आनी', यहभी सम्मान है। यथा 'सकल बरात जनक सनमानी। दान मान बिनती बर बानी।' तथा यहां दंडवतसे सम्मान किया। [वाल्मीकिजी लिखते हैं कि राजा प्रसन्नतापूर्वक उनकी अगवानीको चले, जैसे ब्रह्माकी अगवानी इन्द्र कर रहे हों। राजा देखकर प्रसन्न हुए और मुनिको अर्घ्य दिया—'प्रहृष्टवदनो राजा ततोऽर्घ्यमुपहारयत्। १।१८।४४ ॥'—ये सब भाव 'सनमानी' से सूचित कर दिये गए]। (ख) 'निज आसन' (अर्थात् राज्य-सिंहासन) पर बैठानेका दूसरा भाव यह है कि यह समस्त राज्य आपकाही है, हम आपके सेवक हैं। विवाहके बाद बिदाईके समय जो कहा है 'नाथ सकल संपदा तुम्हारी। मैं सेवक समेत सुत नारी।' वही भाव यहां 'निज आसन बैठारेन्हि' मात्र कहकर सूचित कर दिया है।

चरन पखारि कीन्हि अति पूजा। मो सम आजु धन्य नहिँ दूजा ॥३॥
बिबिध भाँति भोजन करवावा। मुनिबर हृदय हरष अति पावा ॥४॥
पुनि चरननि मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी ॥५॥

शब्दार्थ—मेलना = डालना, रखना। यथा 'मेली कंठ सुमन की माला', 'पदसरोज मेले दोउ भाई।'

अर्थ—चरणोंको धोकर उनकी बहुत अर्थात् भली भांति षोडशोपचाररीतिसे पूजा की (और कहा—) मेरे समान भाग्यवान पुण्यवान वा सुकृती आज दूसरा कोई नहीं है ॥ ३ ॥ (उन्हें) अनेक प्रकारके भोजन कराए। मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने हृदयमें बहुत हर्ष प्राप्त किया ॥ ४ ॥ फिर राजाने चारों पुत्रोंको (मुनिके) चरणोंपर डाल दिया अर्थात् प्रणाम कराया। रामचन्द्रजीको देखकर मुनि देहकी सुध भूलगए ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ 'अति पूजा' इति। षोडश प्रकारसे पूजा की। उसके कुछ अंग यहां लिखे अर्थात् 'आनी' से आवाहन, 'आसन बैठारेन्हि' से आसन, 'चरन पखारि' से पाद्य, 'भोजन करवावा' से नैवेद्य; ये चार अंग यहां कहे गए। शेष सब अंग 'अति पूजा' पदसे जना दिये। महामुनि स्वयं कृपा करके दर्शन देने आए हैं, यह अपना महत्भाग्य समझ 'अति' पूजा की। ४५ (५-६) भी देखिये।

२ 'मो सम आजु धन्य नहिं दूजा' इति। (क) 'आजु' और 'न दूजा' से जनाया कि मुनि इसके पहले आजतक किसी राजाके यहां न गए थे और न चक्रवर्तीमहाराजके यहांही कभी आए थे जैसा राजाके 'मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ' इन वचनोंसे स्पष्ट है। आजही प्रथम-प्रथम आए हैं इसीसे 'आजु धन्य०' कहा। (ख) साधुके आगमनसे, साधु-सेवा इत्यादिसे गृहस्थ धन्य होतेही हैं, यथा 'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन्ह।' (श्रीभुशुण्डीजी), 'बड़े भाग

पाइय सतसंगा'। और फिर महामुनि ब्रह्मर्षि विश्वामित्रजीका आगमन! इस भाग्यकी बड़ाई कौन कर सकता है !! [(ग) 'नहिं दूजा' इति। श्रीजानकीमंगलमेंभी ऐसाही कहा है। यथा "कहेउ भूप मोहि सरिस-सुकृत किए काहु न ॥ ६ ॥ काहू न कीन्हेउ सुकृत सुनि मुनि मुदित नृपहि बखानहीं।" 'नहिं दूजा' कहनेका भाव कि जो विश्वामित्रजी किसीके यहां नहीं जाते वेही आज श्रीराम-लक्ष्मणजीको लेनेके लिये दशरथजीके यहां आए और जनकमहाराजके यहां जायेंगे सोभी रामकार्य्यहीके लिये। ☞इस प्रकार कथनकी शिष्ट पुरुषोंमें रीतिभी है। गीतावलीमेंभी ऐसाही कहा है, यथा 'देखि मुनि रावरे पद आजु भयउँ प्रथम गनती महँ अब ते हौं जहँ लौं साधुसमाज।' (पद ४७)। पुनः, 'मोसम आजु धन्य नहिं दूजा' का भाव कि मेरा जन्म आज सफल हो गया और मेरा जीवन धन्य हुआ क्योंकि आज मैंने उस महात्माका दर्शन पाया है जो प्रथम राजर्षि थे और जिन्होंने तपस्याद्वारा अपना गौरव फैलाया, ब्रह्मर्षि पदवीको प्राप्त किया। आपका पवित्र आगमन मेरे लिये एक आश्चर्य है। आपके शुभदर्शनसे मैं और यह स्थान पुण्यतीर्थ क्षेत्र होगए। यथा "अद्य मे सफलं जन्म जीवितं च सुजीवितम् ॥ पूर्वं राजर्षि शब्देन तपसा द्योतितप्रभः। ब्रह्मर्षित्वमनुप्राप्तः पूज्योऽसि बहुधा मया। तदद्भुतमभूद्विप्र पवित्रं परमं मम। शुभक्षेत्रगतश्चाहं तव दर्शनात्प्रभो।' (वाल्मी० १।१८।५२-५४)।' पुनश्च यथा 'कृतार्थोऽस्मि मुनीन्द्राहं त्वदागमनकारणात् ॥ ३ ॥ त्वद्विधा यद्गृहं यान्ति तत्रैवायान्ति संपदः।' (अ० रा० १।४ ।।', "यथामृतस्य संप्राप्तिर्यथा वर्षमनूदके ॥ ५० ॥ यथा सदृश दारेषु पुत्रजन्माप्रजस्य वै। प्रनष्टस्य यथा लाभो यथा हर्षोमहोदयः ॥ ५१ ॥ तथैवागमनं मन्ये स्वागतं ते महामुने ॥ वाल्मी० १।१८ ॥" अर्थात् आप ऐसे महात्मा जहां जाते हैं वहां सब संपत्तियाँ आ जाती हैं; अतः मैं आज कृतकृत्य हो गया; जैसे किसीको अमृत मिल जाय, सूखे देशमें पानी पड़जाय, पुत्रहीनको पुत्र मिल जाय, खोईहुई वस्तु मिल जाय, और जैसे पुत्रविवाह आदिमें हर्ष होता है, मैं आपका आगमन वैसाही समझता हूँ। ये सब भाव यहां जना दिये]

३ (क) 'बिबिध भांति' अर्थात् भक्ष्य, भोज्य, चोष्य और लेह्य चारों प्रकारके भोजन। यथा 'चारि भाँति भोजन श्रुति गाई। एक एक बिधि बरनि न जाई ॥ छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भांती।' (ख) 'मुनिबर हृदय हरष अति पावा' इति। हर्ष कहकर जनाया कि भोजन बहुत अच्छे बने हैं। पुनः दूसरा भाव कि राजा विप्रसमाज लेकर उनका स्वागत करने आए, उनके योग्य उनका पूजन-सत्कार किया, अन्तः पुरमें आसन दिया, षट्रस चारों प्रकारके भोजन कराये, इत्यादिसे राजाका प्रेम और श्रद्धा अपने प्रति देखकर उनको अपने मनोरथकी पूर्ति, अपने कार्य्यकी सिद्धिमें विश्वास हुआ; अतः हर्षित हुए। (ग) भोजनकी प्रशंसा मुखसे न की क्योंकि शास्त्रमें व्यंजनकी प्रशंसा करना मना है।

४ (क) 'पुनि चरननि्ह मेले सुत०', यहां राजाकी चतुरता दिखाते हैं कि जब मुनिके हृदयमें अत्यन्त हर्ष हुआ तभी पुत्रोंको लाकर प्रणाम कराया जिसमें इसी आनंद प्रसन्नतामें पुत्रोंको शुभाशीर्वाद दे दें। 'पुनि' अर्थात् भोजनके बाद प्रसन्न देखकर। (ख) 'राम देखि मुनि देह बिसारी' इति। भाव कि श्रीरामजी सब भाइयोंमें अधिक सुन्दर हैं, यथा 'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा। ☞देह बिसारनेका स्वरूप कवि आगे प्रत्यक्ष दिखाते हैं कि प्रणाम करनेपर पुत्रोंको आशीर्वाद देना चाहिये था, (यथा 'दीन्हि असीस बिप्र बहु भांती। चले न प्रीति रीति कहि जाती ॥ ३६०।६ ॥') और जो बहुत तरहके मनोरथ प्रथम करते आए थे कि 'सुतन्ह सहित दसरथहि देखिहौं प्रेम पुलकि उर लाइहौं', सो कुछ न किया, क्योंकि देहकी खबरही नहीं है। [पांड़ेजी लिखते हैं कि 'बिरति बिसारी' अर्थात् 'वैराग्यको बिसराके रागी होगए। अर्थात् रामको देखकर गृहस्थाश्रमको धन्य माना।']

नोट—१ (क) यहां वात्सल्यरसमें मग्न होना दिखाया है, क्योंकि इस रसका मुख्य स्थान मुख ही है; यथा 'जननी सादर बदन निहारे'। श्रीजानकीमंगलमें गोस्वामीजीने इस दशाका वर्णन यों किया है—"रामहि भाइन्ह सहित जबहि मुनि जोहेउ। नयन नीर तनु पुलक रूप मन मोहेउ ॥ ११ ॥ परसि-कमल

कर सीस हरषि हिय लावहिं । प्रेम पयोधि मगन मुनि पार न पावहिं । मधुर मनोहर मूरति सादर चाहहिं । बार बार दसरथ के सुकृत सराहहिं ॥ १२ ॥"—ये सब भाव 'देह बिसारी',…'भए मगन' से सूचित किये । (ख) 'राम देखि…बिसारी' में भाव यह है कि देखा चारोंको पर श्रीभरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नको देखकर आनंद हुआ और श्रीरामजीको देखा तब प्रेमावेश आगया । (वै०) । अथवा, तीनों भाइयोंको देखनेपर परमानंद प्राप्त हुआ, पर श्रीरामजीको देखनेपर अभ्यासभी जाता रहा । (रा० प्र०) ।

भए मगन देखत मुख सोभा । जनु चकोर पूरन ससि लोभा ॥६॥
तब मन हरषि बचन कह राऊ । मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ ॥७॥
केहि कारन आगमन तुम्हारा । कहहु सो करत न लावौं बारा ॥८॥

अर्थ—मुखकी शोभा देखतेही (उसमें ऐसे) मग्न होगए मानों चकोर पूर्णचन्द्रको देखकर लुभा गया हो ॥ ६ ॥ तब राजाने मनमें प्रसन्न होकर (ये) वचन कहे—'हे मुनि ! ऐसी कृपा (तो) आपने कभी एवं किसीपरभी नहीं की (जैसी आज मुझपर की) ॥ ७ ॥ किस कारणसे आपका आगमन हुआ ? कहिये, उसे (पूरा) करनेमें देर न लगाऊँगा ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भए मगन देखत मुख-सोभा' । भाव कि मुखकी शोभा अत्यन्त भारी है, यथा 'मुखछबि कहि न जाइ मोहि पाहीं । जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ।'; इसीसे देखकर मग्न होगए । (ख) 'जनु चकोर पूरन ससि लोभा' इति । चकोरकी उपमा देकर जनाया कि एकटक टकटकी लगाए देख रहे हैं; यथा 'यकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा । रामचंद मुखचंद्र चकोरा ।' (ग) श्रीरामचन्द्रमुखकी उपमा पूर्ण-शशिकी है, खंडित चंद्रकी नहीं । जैसे चकोर नेत्रद्वारा अमृत पान करता है, वैसेही श्रीरामजीके मुखचन्द्रकी शोभारूपी अमृतका मुनि अपने नेत्रोंद्वारा पान करते हैं; यथा 'रामचंद्र मुखचंद्र छबि लोचन चारु चकोर । करत पान सादर सकल प्रेम प्रमोद न थोर ।।' (घ) ☞ गीतावलीमें कहे हुए 'रामचंद्र मुखचंद्र सुधा-छबि नयन चकोरन्ह प्याइहौं' इस मनोरथको यहां चरितार्थ किया है ।

२ 'तब मन हरषि बचन कह राऊ ।०' इति । (क) तब अर्थात् पूजन, भोजन और पुत्रोंके प्रणाम और श्रीरामदर्शनके बाद आगमनका कारण पूछा । उत्तम लोगोंकी यही रीति है । यथा 'गुर आगमन सुनत रघुनाथा । द्वार आइ पद नायउ माथा ॥ सादर अरघ देइ घर आने । सोरह भाँति पूजि सनमाने ॥ गहे चरन सियसहित बहोरी । बोले राम कमल कर जोरी ॥…आयसु होइ सो करौं गोसाईं । सेवक लहइ स्वामि सेवकाई ॥ २।६ ॥' (ख) 'मन हरषि' का भाव कि जिस उत्साहसे पूजन किया—'चरन पखारि कीन्हि अति पूजा', जिस उत्साहसे भोजन कराया, उसी उत्साहसे हर्षपूर्वक कार्य्य करनेको कहते हैं (वा, अपने पुत्रोंपर कृपादृष्टि और अनुराग देख हर्ष है) । (ग) 'मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ' इस कथनसे पाया गया कि राजा ऐसी कृपाके सदा अभिलाषी रहते हैं जैसा कि विश्वामित्रजीकी बिदाईके समयके वचनसे स्पष्ट है; यथा 'करब सदा लरिकन्ह पर छोहू । दरसन देत रहब मुनि मोहू ॥ १।३६० ॥'

३ 'केहि कारन आगमन तुम्हारा' इति । मुनि पूर्व कभी नहीं आए, अब जो आए हैं तो अवश्य किसी कारणसेही आए होंगे, यही समझकर कारण पूछा । पुनः, कारण पूछनेका और भाव कि राजाने विचार किया कि इनको किसी पदार्थकी इच्छा नहीं हो सकती, ये पूर्णकाम हैं, अतएव जिस कारणसे आए हों वही उनसे पूछकर करना मुझे उचित है । (यह भाव श्रीजानकीमंगलसे पुष्ट होता है । यथा "तुम्ह प्रभु पूरनकाम चारि-फलदायक । तेहिते बूझत काजु डरौं मुनिनायक ॥ १३ ॥') वे जानते हैं कि विश्वामित्र मंगन नहीं हैं; इसीसे माँगनेको न कहकर आगमनका कारण पूछा । और, जब विश्वामित्रजीने कहा कि मैं याचने आया हूँ तब राजाने माँगनेको कहा; यथा 'माँगहु भूमि धेनु धन कोसा०' । (ख) 'कहहु सो०' अर्थात् आपके

कहनेभरकी देरी है, करनेमें देर न लगेगी। (ग) ☞ यहांतक राजाको मन, वचन और कर्म तीनोंसे कार्य्य करनेमें अनुकूल वा तत्पर दिखाया। मनमें हर्ष हुआ, वचनसे आगमनका कारण पूछा और विलंब-रहित कार्य्य करनेको कहा।

नोट—१ मिलानके श्लोक—'यदर्थमागतोऽसि त्वं ब्रूहि सत्यं करोमि तत् ॥ अ० रा० १।४।४ ॥' "ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति। ...कार्यस्य न विमर्शं च गन्तुमर्हसि कौशिक। कर्ता चाहमशेषेण दैवतं हि भवान्मम ॥ वाल्मी० १।१८ ॥' अर्थात् आप जिस कामके लिये पधारे हों वह बतलाइए। आप किसी बातका संकोच न करें। मैं आपके सब कार्य करूँगा क्योंकि आप मेरे देवता हैं। 'करत न लावौं बारा' में वाल्मीकीय और अ० रा० के भाव आ गए कि मैं सत्य कहता हूँ, प्रतिज्ञा करता हूँ, आप किंचित् संकोच न करें, देवता जिसमें प्रसन्न हो वही उपासकका कर्त्तव्य है, अतएव जिसमें आपकी प्रसन्नता होगी वही मैं करूँगा। इत्यादि।

असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आएउँ नृप तोही ॥ ९ ॥
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होब सनाथा ॥ १० ॥

शब्दार्थ—जाचन (याचना)=प्राप्त करनेके लिये विनती करना; प्रार्थना करना; माँगना। सनाथ= कृतार्थ, यथा 'कह बाली सुनु भीरु प्रिय समदरसी रघुनाथ। जौं कदाचि मोहि मारहिं तौ पुनि होउँ सनाथ ॥ ४।७ ॥'

अर्थ—(मुनि बोले—) हे राजन्! मुझे निशाचरवृन्द सताते हैं। (इसलिये) मैं तुमसे (कुछ) याचना करने आया हूँ ॥ ९ ॥ छोटे भाई (लक्ष्मण) सहित रघुनाथ श्रीरामचन्द्रजीको मुझे दो। निशाचरोंके मारे जानेसे मैं सनाथ हो जाऊँगा ॥ १० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'असुर समूह सतावहिं' कहकर अत्यन्त दुःखका होना सूचित किया। ['करहिं, उपद्रव मुनि दुख पावहिं ॥ २०६।४ ॥' के सब भाव 'सतावहिं' में हैं] 'सतावहिं मोही' का भाव कि यद्यपि राक्षसोंके सतानेसे सभी मुनियोंको दुःख होता है; यथा 'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं। तथापि सब मुनियोंके दुःखको विश्वामित्रजी अपना दुःख मानते हैं, क्योंकि ये महामुनि हैं, मुनिवर्य्य हैं, मुनिराज हैं, इसीसे 'मोही' कहा। (ख) 'जाचन आएउँ'। दानी लोग याचकको 'नहीं' नहीं करते, इसीसे कहा कि याचना करने आया हूँ; यथा 'सकल कामप्रद तीरथराऊ। बेद बिदित जग प्रगट प्रभाऊ ॥ मांगौं भीख त्यागि निज धरमू। आरत काह न करै कुकरमू ॥ अस जिय जानि सुजान सुदानी। सफल करहिं जग जाचक बानी ॥ २.२०४ ॥' (ग) 'नृप' संबोधनका भाव कि गरीबके यहांसे चाहे याचक विमुख लौट जाय पर राजाके यहांसे तो कदापि विमुख न जाना चाहिये। पुनः, भाव कि हमारा यज्ञ सिद्ध कराके नरोंका पालन करो। यज्ञसे मनुष्योंका पालन इस तरह होता है कि यज्ञसे मेघ बनते हैं जिससे वर्षा होती है, फिर जलसे अन्न होता है और अन्नसे प्रजा पलती है। यथा 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ गीता ३।१४ ॥' (घ) ☞ यहां अपने लिये 'मैं' और राजाके लिये 'तोही' एक वचन शब्दोंका प्रयोग करके जनाया कि मुझसा याचक तुमको न मिला होगा और न मिलेगा कि जिसने कभी किसीसे याचना न की हो और सुकृती दाताओंमेंभी तुम एकही हो, तुम्हारी समताको कोई पहुँच नहीं सकता कि जिसके यहां मैं याचक बनकर आया। [यथा "भली कही भूपति त्रिभुवन में को सुकृती-सिरताज ॥ गी० १।४७ ॥', "सदृशं राजशार्दूल तवैव भुवि नान्यतः (वाल्मी० १.१९.२)]

२ (क) 'अनुज समेत देहु' इति। अनुज तो भरत लक्ष्मण और शत्रुघ्न तीनोंही हैं परन्तु (पायसके भागोंके बाँटेजानेके क्रमसे श्रीकौसल्याजीके हाथसे दिये हुए पायससे होनेके कारण श्रीलक्ष्मणजीको अनुज प्रायः सर्वत्र कहा गया है। इसी प्रकार श्रीशत्रुघ्नजीको प्रायः सर्वत्र भरतानुज कहा गया।) 'अनुज'

शब्द श्रीलक्ष्मणजीमें रूढ़ि है, इसीसे इससे यहाँ लक्ष्मणजीका बोध होगा। (ख) लक्ष्मणसहित रामजीको माँगनेका भाव यह है कि इन्हीं दोनों भाइयोंके हाथसे इन राक्षसोंकी मृत्यु है। और, मुनि त्रिकालज्ञ हैं, जानते हैं कि हमारे यज्ञकी रक्षा सब कल्पोंमें श्रीरामजी लक्ष्मण समेत करते आए हैं। अतः दोनोंको माँगा। [और कुछ लोगोंके मतसे लक्ष्मणजीको माँगनेके कारण ये हैं कि "लक्ष्मणजी भी भूमि भार उतारनेके लिये अवतरे हैं, यथा 'सेष सहस्रसीस जगकारन। जो अवतरेउ भूमिभय टारन ॥ १७।७ ॥' वा, मारीचभी अनुज समेत है, वा दोहीसे काम चल जायगा अतः इन्हीं दोको माँगा।] सेना नहीं माँगी, क्योंकि जानते हैं कि सेना राक्षसोंके हाथ मार डाली जायेगी, हमको उसका पाप लगेगा। (ग) 'निसिचर बध०'। मुनिको निश्चय है कि निशाचरोंका वध होगा, इसीसे उनका वध होना कहा। बधसे यज्ञ सिद्ध होगा और यज्ञकी सिद्धिसे मुनि अपनेको कृतार्थ मानते हैं। ['सनाथ' होनेमें दूसरा भाव यह है कि अबतक मैं अनाथ था, कोई मेरी रक्षा करनेवाला न था, ये जाकर असुर-समूहको मारेंगे तब और भी सब रावणके भेजेहुए राक्षस समझ जायेंगे कि हमारा (विश्वामित्रका) भी कोई भारी सहायक स्वामी है, अतएव फिर कोई न सतायेगा। बिना रक्षकके अनाथ जानकर मुझे सताते हैं।]

दोहा—देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान। धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं[1] इन्ह कहँ अति कल्यान ॥२०७॥

शब्दार्थ- मोह=स्नेह; यथा 'साँचेहु उनके मोह न माया'। =वैचित्य, अन्यमनस्कता, चित्तकी भ्रांति।

अर्थ—राजन्! प्रसन्न मनसे दो, मोह और अज्ञानको छोड़ो। तुमको धर्म्म, सुयश और प्रभुता वा ऐश्वर्य्य प्राप्त होगा और इनका परम कल्याण होगा॥ २०७॥

नोट—१ 'देहु भूप मन हरषित०' इति। इन वचनोंसे स्पष्ट बोध होता है कि 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' यह सुनतेही राजाके मुखकी द्युति कुम्हला गई। राजाकी दशा गीतावलीमें इस प्रकार वर्णित है—'रहे ठगिसे नृपति सुनि मुनिवरके बयन। कहि न सकत कछु रामप्रेमबस पुलक गात भरे नीर नयन।' (पद ४६)। यह चेष्टा देख मुनि प्रथमही, उनके 'नहीं' करनेके पूर्वही कहने लगे कि दानमें हर्ष होना चाहिये, यथा 'तुलसी जे मन हरष नहिं ते जग जीवत जाय'। 'देहु हरषित' अर्थात् जैसे हर्षित मनसे तुमने देनेको कहा था, यथा 'तब मन हरषि बचन कह राऊ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउ बारा।' वैसेही हर्षित मनसे दो।

२ 'तजहु मोह अज्ञान' अर्थात् तुम इनका स्वरूप नहीं जानते, इनका ऐश्वर्य्य नहीं जानते; इसीसे तुमको मोह है, स्नेह और ममत्ववश होकर समझते हो कि ये राक्षसोंके सामने कैसे जायेंगे, इत्यादि। गीतावली पद ४८ से इसका भाव स्पष्ट होजाता है, यथा 'डरपत हौ साँचे सनेह बस सुतप्रभाव बिनु जाने। बूझिये बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥ रिपु रन दलि मख राखि कुसल अति अलप दिनन्हि घर ऐहैं। तुलसिदास रघुबंसतिलक की कबिकुल कीरति गैहैं।' यह मोह और अज्ञान आगेकी चौपाइयों-से भी स्पष्ट है।

३ 'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं।' इति। अर्थात् हर्षपूर्वक इनको देनेसे तुम्हारे धर्मकी प्रशंसा होगी, कि राजा बड़ेही धर्मज्ञ हैं, धर्मात्मा हैं, बातके धनी हैं, अपने प्राणोंसेभी अधिक प्रिय पुत्रोंको दे दिया। [यथा 'यदि ते धर्मलाभं तु यशश्च परमं भुवि॥ स्थिरमिच्छसि राजेन्द्र रामं मे दातुमर्हसि॥ वाल्मी० १।१६॥'] पुनः मुनियोंकी रक्षा और यज्ञादि धर्मके कार्य्य हैं, इनसे धर्मकी रक्षा और प्रचार तथा देवताओंका उपकार

१ कों—१७२१, छ०, १७०४। कहँ- को० रा०। कौं—१६६१, १७६२।

होगा ।—यह धर्म्मकी प्राप्ति होगी । पुनः, 'धर्म सुयश' अर्थात् स्वार्थ परमार्थ दोनों सिद्ध होंगे । याचकको संतुष्ट किया, अपने वचनका पालन किया, ऐसे पुरुष संसारमें विरलेही कोई होते हैं, यह यश होगा । 'मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं' यह यहां चरितार्थ होगा ।

पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि 'जबसे राजा दशरथने शब्दवेधी बाणसे श्रवणका वध किया तबसे उनके यशमें धब्बा लग गया था । इसीसे जनकजीने इनको निमंत्रित न किया । मुनिके साथ जानेसे राजकुमारोंको सर्वोच्च प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और धनुषके टूटनेपर चक्रवर्ती महाराजभी सादर बुलाए जायेंगे । पूर्वका कुयश मिटकर त्रैलोक्यमें सुयश फैलेगा ।'

स्वयंवरमें राजाओंको बुलानेकी क्या रीति थी यह जाने विना यह मान लेना कि निमंत्रण नहीं गया था कुछ उचित नहीं जान पड़ता । प्रथम तो यह प्रमाण होना चाहिये कि औरोंको निमंत्रण गया था, इनको नहीं गया । तब न जानेका कारण देखना चाहिए । सत्योपाख्यानमें कहा है कि राजा जनकने पृथ्वीभरके सब राजाओं तथा सब लोकोंमें अपनी प्रतिज्ञा घोषित कर दी थी । यथा "जनकस्तु तदा राजा श्रावयामास स्वं पणम् ॥ ३५ ॥ पृथिव्यां सर्व लोकेषु नरदेवेषु भूरिशः ।" यह घोषणा सुनकर बहुतसे राजा जनकपुर आए । यथा 'तच्छ्रुत्वा भूभुजः सर्वे ह्याजग्मुर्मिथिलां पुरीम् ॥ ३६ ॥" (सत्य० उ० २) । श्रीविश्वामित्रजीसे जानकर कि श्रीराम-लक्ष्मणजी चक्रवर्तीमहाराजके पुत्र हैं, राजा जनकने अपनेको परम धन्य माना है, इक्ष्वाकुकुलमें इनका जन्म जानकर इनको इक्ष्वाकुमहाराजके समान जाना और वे बोले कि ये लोग इक्ष्वाकुकुलके हैं और हम लोग उस कुलके किंकर हैं, ये हमारे पूज्य हैं, यह घर उन्हींका है । इत्यादि । यथा, "इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविमौ । कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः ॥ ६ ॥'' 'इक्ष्वाकूणां गृहं चैतत् वयं तेषां च किंकराः ॥ '' १७ ॥" (सत्य० उ० ६) । इससे स्पष्ट है कि यदि दशरथजी कलंकित होते तो 'राजाधिराज' दशरथजीके पुत्र जानकर कभी जनकजी ऐसे आनंदमें मग्न न होते । अभी तो उन्होंने इनके गुण जानेभी नहीं हैं, केवल इतनाही जाना था कि राजाधिराजके पुत्र हैं । मानसमेंभी निमंत्रणकी बात कहीं नहीं कही गई । उसमेंभी यही कहा है कि 'दीप दीप के भूपति नाना । आए सुनि हम जो पनु ठाना ॥ २५१।७ ॥'

वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है कि पुत्रेष्टि यज्ञमें श्रीजनकमहाराज तथा श्रीरोमपादजी आदि सब निमंत्रित थे और सब उस यज्ञमें श्रीदशरथजीके यहां आए थे । यदि कलंककी बात होती तो ये लोग क्यों जाते ? फिर जो कलंक कहा जाता है वह भी बे-सिर-पैरका है, श्रवणने स्वयं बताया था कि 'मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मेरी माता शूद्रा है और पिता वैश्य। आप ब्रह्महत्याका भय न करें । यथा 'ब्रह्महत्याकृतं पापं हृदयादपनीयताम् ।··· सूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप ॥ वाल्मी० २।६३।५०,५१ ॥'

प्र. स्वामी भी मेरे उपर्युक्त विचारोंसे सहमत हैं और कहते हैं कि जनकमहाराजने किसीको निमंत्रण नहीं दिया, यह मानसके 'दीप दीप के भूपति नाना । आए सुनि हम जो पन ठाना' इस वाक्यसे भी सिद्ध होता है । जो प्रण ठाना था उसे सुनकर राजा लोग आए । यदि निमंत्रण होता तो 'सुनि' न कहते । इससे सिद्ध होता है कि डुगडुगी, डौंड़ी फिरवाकर या और किसी प्रकार सर्वत्र प्रगट कर दिया था ।

श्रीदशरथजी क्यों न गए ? अब यह प्रश्न रह जाता है । इसका उत्तर यह हो सकता है कि राजा परम धर्मात्मा हैं । पुत्रके लिये व्याह किया जाता है कि पितृ प्रसन्न हों, राज्य नष्ट न हो । अब चार पुत्र हैं ही, और साठ हजार वर्षकी अपनी आयु हो चुकी है, अतः अब उनकी कोई अभिलाषा रह न गई । अतः न गए । दूसरे राजा जनक अपने मित्र हैं, उनकी कन्या अपनी कन्याके तुल्य है, अतः न गए कि धनुष तोड़नेसे पापका भागी होना पड़ेगा । इत्यादि । (और लड़के कोमलांग हैं तथा उनकी भावनानुसार धनुष तोड़नेमें असमर्थ हैं, यह जानकर उनकोभी न भेजा ।)

४ 'प्रभु' इति। यज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, ताड़का-सुबाहु आदिके वध, धनुष-भङ्ग और परशुरामगर्वदलन-से राजाकी महिमा बढ़ेगी। इसी 'प्रभुत्व' की ओर यहाँ लक्ष्य है। पं० रामकुमारजी 'प्रभु' को भी संबोधन मानते हैं। मुनि 'प्रभु' संबोधन करेंगे इसमें संदेह करके अधिक टीकाकारोंने उसका अर्थ 'ऐश्वर्य' किया है। प. प. प्र. पं० रामकुमारजीसे सहमत हैं। वे भी प्रभुका अर्थ नृप, स्वामीही लेते हैं—'स्वामीत्वीश्वरः पतिरीशिता। अधिभूर्नायको नेता प्रभु परिवृढोऽधिपः' इत्यमरे।

५ 'इन्ह कहँ अति कल्यान' इति। अर्थात् आपके धर्मसे इनका परम कल्याण होगा,—'बाढ़ै पूत पिताके धर्मन'। विजय, कीर्त्ति और विवाह आदि सभी प्राप्त होजायेंगे। (पं० रा० कु०)। पुनः ऐसाभी कहा जाता है कि राजाके सम्मुख मुनि बैठेहुए उन्हींको 'भूप' संबोधन देकर कह रहे हैं कि 'तुम्ह कों' अर्थात् तुमको तो धर्मादि प्राप्त होंगे और अँगुली या नेत्रके बिलाससे चारों पुत्रोंकी ओर देखते हुए (क्योंकि चारों वहीं विद्यमान हैं) कहते हैं कि 'इन्ह कहँ अति कल्यान' होगा। तात्पर्य कि हमारे साथ तो दोही जायेंगे, इनका विवाह तो होगा ही पर शेष दो जो यहाँ रहजायेंगे उनकाभी विवाह हो जायगा। किसीकी चिंता तुम्हें न करनी पड़ेगी। रामायणोंसे पता चलता है कि राजकुमारोंके बड़े होनेपर राजाको चिन्ता हुई थी कि इनका विवाह कैसे हो। चक्रवर्त्ती राजा कहीं याचना करने नहीं जाते। वाल्मीकीय अ० १८ में स्पष्टही कहा है कि राजा उस समय पुरोहितों और बंधुवर्ग तथा मंत्रियोंके साथ पुत्रोंके विवाहके संबंधमें विचार कर रहे थे—"अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति ॥ ३७ ॥ चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः।")। वाल्मी० में मुनिने कहा है कि मैं इनका बहुत प्रकारसे कल्याण करूँगा—'श्रेयश्चास्मै प्रदास्यामि बहुरूपं न संशयः ॥ १।१९।१०॥' ☞ उस कल्याणसे इनकी ख्याति तीनों लोकोंमें होगी। अतः 'अति कल्यान' पद दिया।

सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कंप मुख दुति कुमुलानी ॥१॥
चौथें पन पाएउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेहु बिचारी ॥२॥

अर्थ—मुनिके अत्यन्त अप्रिय वचन सुनकर राजाका हृदय काँप उठा और उनके मुखकी कांति मलिन पड़गई ॥ १ ॥ (वे बोले—) हे विप्र! मैंने चौथेपनमें चार पुत्र पाए हैं, आपने विचारकर वचन नहीं कहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'सुनि राजा अति अप्रिय बानी।०' इति। (क) 'अति अप्रिय' का भाव कि 'अनुज समेत देहु रघुनाथा' ये वियोगमात्रके वचन 'अप्रिय' लगे, उसपर 'निसिचर बध मैं होब सनाथा' (अर्थात् निशाचरोंसे युद्ध करनेकी बात जो कही उससे ये और वे दोनों वचन) 'अति अप्रिय' लगे। (ख) प्रथम राजाके मन, वचन और कर्म तीनों शोभित थे, तीनोंमें प्रसन्नता प्रगट दिख रही थी; यथा 'तब मन हरषि बचन कह राऊ। मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ॥ केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा।'' वे तीनों अब मलिन होगए। 'देहु भूप मन हरषित' से मनकी मलिनता स्पष्ट है तभी तो मुनिने कहा कि 'हर्षित मन' से दो, राजाके मनका हर्ष जाता रहा था। 'मुख दुति कुमुलानी' यह तन वा कर्मकी मलिनता है। और, 'राम देत नहिं बनै' यह वचनकी मलिनता है। वचनको झूठा कर देना, वचन-का पालन न करना, यह वचनकी मलिनता है। [पुनः, 'हृदय कंप' यह मनकी मलिनता है। (प्र० सं०)। (ग) 'अति अप्रिय' से जनाया कि ये वचन हृदय और मनको विदारित करनेवाले थे; यथा 'हृदयमनो-विदारणं मुनिवचनं'''॥ वाल्मी० १।१९।२२॥'' इसीसे तो 'हृदय कंप०' यह दशा हुई]

२ 'चौथें पन पाएउँ सुत चारी।०' इति। (क) अवस्थायें चार हैं—बाल्य, युवा, मध्य और जरा। यथा 'लरिकाई बीती अचेत चित चंचलता चौगुनी चाय। जौबन ज्वर जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष

भरि सदन बाय ॥ मध्य बयस धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय । अब सोचत मनि बिनु भुअंग जिमि बिकल अंग दले जरा धाय ॥' इति विनये । (ख) 'चौथें पन' कहनेका भाव कि हमको पुत्र दुर्लभ थे, उपायसे प्राप्त हुए हैं, दुर्लभ वस्तु देनेमें बड़ा कष्ट होता है । [चौथे पनमें जो सन्तान होती है वह अति प्रिय होती है । तरुणावस्थामें पुत्रके होनेकी आशा रहती है । श्रीदशरथजीकी वह पूर्ण अवस्था बीत गई थी । साठ हज़ार वर्षकी अवस्था होजानेपर ये पुत्र हुए थे; यथा 'षष्टिवर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक ॥ वाल्मी० १ २०।१० ॥' यह दशरथजीने स्वयं मुनिसे कहा है । अतएव यहभी भाव है कि यद्यपि मेरे चार पुत्र हैं और एकभी पुत्र जीवित रहे तो वंश चल सकता है पर ये चारो मेरे बुढ़ापेके पुत्र हैं, इससे चारों अत्यंत प्रिय हैं । अत्यन्त प्रिय वस्तु माँगना न चाहिए । (ग) 'बिप्र' का भाव कि आप वेदवेत्ता हैं—"वेदपाठी भवेद्विप्रः" (मनु०), निरक्षर नहीं हैं; आपको विचारपूर्वक वचन कहना चाहिये था । (हरीदासजी) । (घ) 'बचन नहिं कहेहु बिचारी' अर्थात् आपने इसका विचार न किया कि वृद्धावस्थामें सन्तानका वियोग कैसे सहन होगा, फिर आप जरावस्थाके छोटे-छोटे अत्यंत सुकुमार पुत्रोंको राक्षसोंसे युद्ध करनेकेलिये माँगते हैं । 'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा । कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ।' भला ये राक्षसोंसे युद्ध करने योग्य हैं ? यहभी आपने न विचारा । [पुनः 'बचन न कहेउ 'बिचारी' का दूसरा भाव कि पुत्र माँगनेकी वस्तु नहीं । भूमि, धन आदि माँगनेकी चीज़ें हैं सो माँगनी चाहिए थीं, जैसा आगे कहते हैं]

रा० च० मिश्रजी—राजा वात्सल्यरसमें मग्न हैं, प्रेमांध होरहे हैं, इसीसे मुनिके गूढ़ अभिप्रायसे भरे हुए 'धर्म सुजस' इन बचनोंका आशय नहीं समझे । वियोग और निशिचरका सामना इन्हीं दोनोंने इनके हृदयको आच्छादित कर लिया है । इसीसे वे कातर हो रहे हैं । यह श्रीरामप्रेमकी महिमाका उत्कर्ष है ।

प. प. प्र.—'बिप्र बचन नहिं कहेउ बिचारी' इति । यहाँ महामुनि विश्वामित्रजी अविचारी विप्र होगए ! ऐसा क्यों ? ☞ यहाँ गोस्वामीजीकी भावनिदर्शनकलाका कमाल दृष्टिगोचर हो रहा है । देखते चलिए—पहले विश्वामित्र महामुनि थे, यथा 'विश्वामित्र महामुनि ज्ञानी । बसहिं बिपिन सुभ आश्रम जानी । २०६।२ ।' पर, विश्वकल्याणके ही लिये क्यों न हो जब क्षत्रिय राजाके पास जाकर याचना करनेका विचार मनमें करने लगे तब महामुनि से कविने उनको मुनिवर बनादिया, महामुनि न रहगए । यथा 'तब मुनिवर मन कीन्ह बिचारा ।'...'करि बिनती आनौं दोउ भाई । २०६।६-७ ।' और जब याचना करनेके लिए राजद्वारपर पहुँच ही गए, तब 'मुनिवर' पदवीसे भी गिरकर वे 'मुनि' मात्र रह गए । यथा 'मुनि आगमन सुना जब राजा । २०७।१', 'करि दंडवत मुनिहिं सनमानी ।', 'राम देखि मुनि देहु बिसारी', 'मुनि अस कृपा न कीन्हिहु काऊ (२०७।२,५,७) । जब राजासे विनय करके याचना की तब तो विश्वामित्रजी मुनिभी न रहगए, अबिचारी विप्र हो गए । क्षत्रिय राजाके पास जाकर कुछ याचना करना मुनियोंके लिये उचित नहीं है । ऐसा करनेसे मान, तेज और निस्पृहता की हानि होती है । आगे भी मुनि वा विप्र ही कहा है । जब जनकपुर अमराईमें ठहरे, राजद्वारपर नहीं गए तब वे फिर महामुनि पदको प्राप्त हुए । (☞ ऐसे ही भावनिदर्शन अगणित स्थलोंमें आए हैं । यत्रतत्र उनका उल्लेखभी मा० पी० के संस्करणोंमें हुआ है । इस प्रसंगमें भी है ही । केवल बीचमें एक बार मुनि शब्दोंके बीचमें 'मुनिवर' भी आया है । यथा 'विविध भाँति भोजन करवावा । मुनिवर हृदय हरष अति पावा । २०७।४ ।' इस पर स्वामीजी की दृष्टि नहीं पड़ी, अतः उस अपवादके संबंधमें कुछ विचार नहीं लिखे) ।

मागहु भूमि धेनु धन कोसा । सर्बस देउं आजु सहरोसा ॥ ३ ॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं । सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं ॥ ४ ॥

अर्थ—हे मुनि ! पृथ्वी, गौ, धन, खज़ाना माँगिये । मैं हर्ष और उत्साह पूर्वक आज सर्वस्व सभी

कुछ देडालूंगा ॥ ३ ॥ देह और प्राणसे अधिक प्रिय कुछभी नहीं होता सोभी, हे मुनि ! मैं आपको पलमात्रमें दे डालूंगा ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'माँगहु भूमि धेनु धन कोषा।०' इति। (क) विश्वामित्रजीके 'देहु भूप मन हरषित' इन वचनोंके उत्तरमें राजाके ये वचन हैं कि भूमि आदि माँगिये, हम सब हर्षपूर्वक देंगे। प्रथम देनेको कहा था—'कहहु सो करत न लावौं बारा', अब नहीं करनेसे मुनि कहेंगे कि तुम्हें नहीं देना था तो प्रतिज्ञा क्यों की थी ? अतः कहते हैं कि 'मांगहु भूमि' 'सहरोसा', जिसमें 'नहीं' न ठहरे, बात झूठी न पड़े और लड़कोंको देनाभी न पड़े। (ख) राजाने प्रथम आगमनका कारण पूछा, माँगनेको नहीं कहा, क्योंकि विश्वामित्र माँगनेवाले महर्षियोंमें नहीं हैं। कारण पूछनेपर जब उन्होंने कहा कि 'मैं जाचन आएउँ नृप तोही' तब उसके उत्तरमें कहते हैं कि 'माँगहु०'। (ग) राजाकेलिये भूमि मुख्य है, सदा राज्य बढ़ानेकीही इच्छा उसे रहती है, इसीसे प्रथम 'भूमि' को कहा। [मुनियोंको गौओंकी आवश्यकता रहती है, उनको यज्ञादिके लिये धनकी जरूरत होती है, अतः उसे माँगनेको कहा। और राजाके प्रधान अंगोंमेंसे एक अंग कोषभी है; अतः उसेभी देदेनेको कहते हैं।] (घ) 'सर्बस देउँ आजु' इति। 'आजु' का भाव कि सर्वस्व दान करदेनेकी सब दिन श्रद्धा नहीं रहती, सदा उत्साह एकरस नहीं बना रहता, आज उत्साह है क्योंकि आप ऐसे महामुनि याचक बनकर आए हैं। हमारा भाग्य क्या इससे बढ़ कर हो सकता है ? इस परमानन्दमें आज सर्वस्व दे सकता हूँ।

नोट—'सहरोसा' इति। सहरोसा = सहर्ष, हर्षपूर्वक। पं० रामकुमारजी, काष्ठजिह्वास्वामीजी इत्यादि महात्माओंने यही अर्थ लिखा है और यही ठीक और संगत है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वाल्मीकिजीने 'हरस' शब्दको 'हरुस' किया और गोस्वामीजीने अनुप्रासकेलिये उसको 'हरोस' करदिया— 'हरोसेन सहितः सहरोसः।' यथा 'सुनु मुनि तोहि कहौं सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। ३।४३।'

बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि "विरोध लक्षणासे 'रोष' का अर्थ 'हर्ष' जानना चाहिए; पुनः, प्राकृतमें 'सहरोस' शब्द हर्षवाची है"। अरण्यकाण्डमें भी यही शब्द इसी अर्थमें प्रयुक्त हुआ है, यथा— "सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।" यहाँ तो किसी प्रकार दूसरा अर्थ लगाया ही नहीं जासकता क्योंकि नारदजीपर कदापि क्रोध नहीं; वे तो आपको बड़ेही प्रिय हैं और फिर यहाँ तो क्रोधका कोई कारण ही नहीं। इसी प्रकार यहाँ दानकी प्रतिज्ञा एक महामुनि, ब्रह्मर्षिसे कर रहे हैं; दान हर्षपूर्वक दिया जाता है, नहीं तो वह दान व्यर्थ और हानिकारक होजाता है। छन्द बैठानेके लिये 'हरसा' का 'हरोसा' (हरोषा) होगया। ऐसे उदाहरण सूरदास तथा केशवदासजीके ग्रन्थोंमें बहुत मिलते हैं; यथा 'कीधौं नई सखी सिखई है निज अनुराग बरोही' (यहाँ 'बरही' का 'बरोही' बनाया गया); 'कलिकाल महाबीर महाराज महिमेवाने' (यहां 'महिमावान' का 'महिमेवाने' हुआ)। पुनः, रामायणी संत-इसका ऐसा भी अर्थ करते हैं कि—सहरोसा = सह + रोषा। और 'रोष' का अर्थ उमंग, सूरता, हर्ष करते हैं जैसा 'बंदौं खल जस सेष सरोषा। ४,८।' में सरोषाका अर्थ शेषजीके सम्बन्धमें लिखा जाचुका है। 'रोस' का एक अर्थ शब्द-सागरमें भी 'जोश, उमंग' दिया है; यथा "बिगत जलद नभ नील खड़्ग यह रोस बढ़ावत'—(हरिश्चन्द्र)।

कुछ टीकाकारोंने 'क्रोध सहन कर' वा 'अपने ऊपर क्रोध करके हठपूर्वक' ऐसा अर्थ किया है पर ये अर्थ असंगत हैं। दानमें इसका प्रयोजन कैसा ? ऐसी कल्पना भौंडी होगी।

टिप्पणी—२ 'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।०' इति। (क) राजा दानी हैं, इसीसे उन्होंने भूमि और धन देनेको कहा और शूरवीर हैं इससे देह और प्राण देनेको कहा। तात्पर्य कि दानीको धनका छोह

(ममत्व) नहीं रहता और शूरवीरको देह और प्राणका मोह नहीं होता। यथा 'दानि कहाउब अरु कृपनाई। होइ कि खेम कुसल रौताई। २।३५।' (ख) 'तें प्रिय कछु नाहीं' कहकर जनाया कि भूमि कोष और सर्वस्व आदि सब पदार्थ प्रिय होते हैं, पर देह और प्राण परम प्रिय होते हैं, यथा 'सबकें देह परम प्रिय स्वामी।५।२२।' (ग) देह और प्राण देनेको कहनेमें आशय यह है कि राक्षसोंसे युद्ध करनेमें देह और प्राणोंका काम है, सो आज्ञा हो तो मैं साथ चलकर राक्षसोंसे युद्ध करूं। (घ) 'सोउ मुनि देउँ निमिषि एक माहीं' इति। भाव कि देह और प्राण जल्दी नहीं दिये जाते, पर मैं उसे माँगतेही निमिषमात्रमें देदूंगा, माँगकर देख लीजिये। ☞भूमि आदिके देनेमें 'देउँ आजु सहरोसा' और देह और प्राण देनेमें 'देउँ निमिष एक माहीं' कहा। भेदमें भाव यह है कि भूमि, कोष और सर्वस्व देनेमें प्रायः हर्ष नहीं रहता, विस्मयकी प्राप्ति होजाती है। अतः उसके देनेमें 'हर्ष' कहा और देह और प्राण देनेमें प्रायः संकोच और विलंब होता है, इसीसे इनके देनेमें 'निमिष एक माहीं' कहा। जैसे दधीचिजीने प्राण देदिये और जैसे निषादराजने कहा था कि 'तजौं प्रान रघुनाथ निहोरे। दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरे।' वैसेही राजा श्रीरघुनाथजीके बदले अपने प्राण देनेको तैयार हैं। राजा प्राण देनेको कहते हैं, पुत्रोंको देनेको नहीं कहते, क्योंकि वे सोचते हैं कि पुत्रोंको देदेनेसे हमारे प्राण चले जायेंगे, राक्षस हमारे पुत्रोंको मार डालेंगे। और, हमारे प्राण देनेसे हमारेही प्राण जायेंगे, हमारे पुत्र तो बचे रह जायेंगे। [वाल्मीकीयमें कहा है कि मुनिसे यह जानकर कि मारीचादिका स्वामी रावण है राजाने कहा कि मैंभी उसके अथवा उसकी सेनाके साथ युद्ध करनेको समर्थ नहीं हूँ तब इन बालकोंको उनसे युद्ध करने क्योंकर भेज दूँ। ''तेन चाहं न शक्नोमि संयोद्धुं तस्य वा बलैः ॥''' १।२०।२० ।' वाल्मीकीयके इस भावको गोस्वामीजीने कितनी उत्तम रीतिसे 'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं।''' ' कहकर निबाहा है। भाव कि युद्धमें मैं प्राण रहते पीछे न हटूंगा, जीत न भी सकूं तो क्या ?

सब सुत प्रिय मोहिं प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनै गोसाईं ॥५॥
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा ॥६॥

अर्थ—सब पुत्र मुझे प्राणोंके समान प्रिय हैं। (उनमेंभी) हे गुसाईं (स्वामिन्)! रामको (तो किसी प्रकार) देते नहीं बनता ॥ ५ ॥ कहाँ तो अत्यन्त भयानक और कठोर (निर्दयी) राक्षस और कहाँ ये परम किशोर अवस्थाके सुंदर बालक ! ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं।०' इति। (क) सब पुत्र प्राणके समान प्रिय हैं, भाव कि पुत्रोंके देनेमें संकोच है, रामलक्ष्मणकी कौन कहे भरत शत्रुघ्नकोभी नहीं देसकते। पुनः भाव कि पुत्रके समान देह और प्राण हैं सो देह और प्राण उनके बदलेमें देनेको कहते हैं। इस प्रकारके कथनसे 'नहीं' करना न ठहरा। (ख) 'राम देत नहिं बनै' इति। विश्वामित्रजीने मुख्य रामजीहीको माँगा है, इसीसे प्रथम चारों पुत्रोंको कहकर अब उनसे पृथक् दूसरे चरणमें कहते हैं कि रामको देते नहीं बनता। सब पुत्रोंको प्राणप्रिय कहकर तब 'राम देत नहिं बनै' कहनेसे सूचित हुआ कि रामजी प्राणोंसे भी अधिक प्रिय हैं। सबको प्राणप्रिय न कहकर यदि रामलक्ष्मणकोही ऐसा कहते तो मुनि न जाने भरत-शत्रुघ्नकोही मांग लेते। अतः प्रथम सभीको देना अस्वीकार किया। 'देत नहिं बनै' से जनाया कि इनके वियोगसे दुःसह दुःख होगा; यथा 'सुत हिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे ॥ २।३०८ ॥' इनका विरह मरणसे अधिक दुःखदाई है; यथा 'मांगु माथ अबहीं देउँ तोही। रामबिरह जनि मारसि मोही ॥ २।३४ ॥'

नोट—१ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'माँगहु भूमि धेनु०' इत्यादि कहनेपरभी जब मुनि प्रसन्न

१—'प्रिय प्रान कीं नाईं—१६६१ की प्रतिमें है। १७०४, १७६२ में भी है। उपर्युक्त पाठ १७२१, छ०, भा० दा० का है। को० रा० में 'मोहि प्रिय' पाठ है।

न हुए, उदासही बने रहे तब कहा 'देह प्रान ते···'। इतनेपरभी प्रसन्न न हुए, तब विचार किया कि हमने प्राण तक देनेको कहा तबभी उदासही बने रहे; इसमें क्या कारण? सोचनेपर यह बात चित्तमें आई कि देहका देना तो ठीक है पर प्राण तो पवनरूप है उसे कैसे देंगे? यह बात हमारी असत्य है। अतएव कहा कि 'सब सुत मोहि प्रिय प्रान कि नाईं।०' अर्थात् तीन सुत हमारे प्राणसमान हैं उन्हें देसकते हैं पर श्रीरामजीको देते नहीं बनता, क्योंकि ये 'गोसाईं' हैं; इनके देनेमें इन्द्रियोंमें शक्ति न रहजायगी।

पंजाबीजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि "यहां यह व्यंजित किया कि कदाचित् और किसी पुत्रको माँगो तो क्लेश सहकर मैं देभी दूं, पर श्रीरामजीको नहीं देसकता अर्थात् अपना 'जीवन राम दरस आधीन' बताया। वा, ज्येष्ठ पुत्र पिताको अधिक प्रिय होता है, इससे 'देत नहिं बनै' कहा।"

पं० रामचरणमिश्रजी यही प्रश्न उठाकर कि 'जब सभी प्राणकी नाईं हैं तो रामको पृथक् करके क्यों कहा?' उसका उत्तर यह देते हैं कि "सब पुत्र प्राणके समान हैं और श्रीरामजी प्राणके भी प्राण हैं; यथा 'प्रान प्रान के जीवके जिय सुखके सुख राम॥ २।२९०॥' मूर्छादिकोंकी किसी-किसी दशामें प्राणवायु पृथक्भी होजाती है परंच यदि प्राणकी चेतयिता पृथक् नहीं हुई तो प्राणी फिरभी जीवित होजाता है और यदि बिलग होगई तो फिर जीवित नहीं होसकता। श्रीरामजी प्राणके चेतयिता हैं। अतएव रामको देते नहीं बनता। क्योंकि रामजी 'गोसाईं' अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठाता हैं" सब प्राणसम हैं, पर राम अधिक हैं, इसमें 'विशेषक अलंकार' की ध्वनि है।

२ वाल्मी० १।२०।११-१२ में भी कहा है "चतुर्णामात्मजानां हि प्रीतिः परमिका मम। ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च···' अर्थात् यद्यपि मेरे चार पुत्र हैं तथापि मेरी सबसे अधिकप्रीति ज्येष्ठ पुत्रमें है। अ० रा० में राजा के वचन हैं "···रामं त्यक्तुं नोत्सहते मनः। बहुवर्षसहस्रान्ते कष्टेनोत्पादिताः सुताः॥ ६॥ चत्वारोऽमरतुल्यास्ते तेषां रामोऽतिवल्लभः। रामस्त्वितो गच्छति चेन्न जीवामि कथञ्चन॥ १।४।१०॥' पर ये वचन इसी प्रसंगमें वहाँ गुरु वसिष्ठसे सम्मति लेनेमें कहे गए हैं। मानससे ये बचन मिलते-जुलते हैं।

टिप्पणी—२ 'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा।' इति। (क) रामजीको देते नहीं बनता, इसका अब हेतु दो वाक्योंसे देकर श्रीरामजी और निशाचरोंमें महदन्तर सूचित करते हैं। निशिचर 'अतिघोर कठोर' हैं अर्थात् उनकी ओर ताकते भय लगता है, वे देखे जाने योग्य नहीं, वे अनेक शस्त्रास्त्र सह सकते हैं। और, पुत्र परम सुंदर हैं, परम किशोर हैं, अर्थात् दर्शनयोग्य हैं, इनको सदा देखतेही रहें यही जी चाहेगा (जैसे आप एकटक देखतेही रहगए थे), इनके शरीर अत्यन्त कोमल हैं। अभी परमकिशोर हैं अर्थात् अभी किशोरावस्थाका प्रारंभ हुआ है, शस्त्रास्त्र सह नहीं सकते, यथा 'कहं धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा'। 'अति' घोर और कठोर दोनोंका विशेषण है। इसी तरह 'परम' सुंदर और किशोर दोनोंसे सम्बन्ध रखता है। (ख) विश्वामित्रजीने राजामें मोह और अज्ञान कहे। वे दोनों यहां राजाके वचनोंमें देखे जारहे हैं। 'राम देत नहिं बनै' तक मोह कहा और 'कहं निसिचर०' यह अज्ञान है। श्रीरामजीके प्रभावको नहीं जानते, यही अज्ञान है। ['कहं निसिचर०' में 'प्रथम विषमालंकार' है। 'परम किशोर' हैं अर्थात् समर कभी देखा नहीं, तब निशिचरोंसे समर कैसे करेंगे? उन्हें देखकर ये डर जायेंगे। (हरीदासजी)]

सुनि नृप गिरा प्रेम-रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी॥७॥

तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहं पावा॥८॥

अर्थ—प्रेमरसमें सनीहुई राजाकी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनिने हृदयमें आनंद माना॥ ७॥ तब वसिष्ठजीने राजाको बहुत प्रकारसे समझाया (जिससे) राजाका संदेह दूर होगया॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'नहीं' सुनकर क्रोध होना चाहिये था, सो न हुआ, क्योंकि मुनि ज्ञानी हैं। ज्ञानीके क्रोध नहीं होता। वाल्मीकीयमें लिखा है कि मुनिको क्रोध हुआ। यह भाव गोस्वामीजी "हृदय हरष माना' इन शब्दोंसे दिखाते हैं। तात्पर्य्य कि ऊपरसे क्रोध किया पर भीतरसे प्रेमरससानी वाणी सुन, प्रसन्न हुए। श्रीरामजीमें प्रेम होना हर्षकी बात है। इससे विश्वामित्रजीके ज्ञानकी शोभा कहते हैं; यथा 'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। करनधार बिनु जिमि जलजानू।' (ख)—'तब बसिष्ट बहु बिधि समुझावा' इति। वाल्मीकीय और अध्यात्मादि अनेक रामायणोंमें ऋषियोंने अनेक प्रकारसे समझाना लिखा है। इसीसे ग्रंथकारने उन समस्त विधियोंके ग्रहणार्थ यहां कोई बिधि न लिखी। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि समझानेकी बिधि न लिखनेका कारण यहभी होसकता है कि ग्रंथकारका चित्त बहुत कोमल है, विधि कहनेमें देर लगती तबतक विश्वामित्रके चित्तकी विरसताको कवि न सहसके। अतएव इस पदसे समझाने-की विधि निकाल झट 'अति आदर दोउ तनय बोलाये' पुत्रोंके समर्पण करनेका प्रसंग लगा दिया। दूसरे, रघुकुलके अमल यशमें मैल आते देख राजाके हृदयमें आईहुई कृपणताके निकालनेमें शीघ्रताके कारण 'बहु बिधि समुझावा' कह झट दानियोंकी उदारताका प्रसंग लगा दिया।]

नोट—१ यहां गोस्वामीजीके शब्द कैसे उत्कृष्ट हैं। राजाके इन वचनोंसे मुनिके कार्यमें बाधा-सी दिख रही है तोभी हृदयमें खेद न हुआ। 'हृदय हरष' कहकर गोस्वामीजीने वाल्मीकीय आदि कुछ रामा-यणोंमें वर्णित रोषका समाधानभी करदिया और साथही गुप्तरीतिसे इन शब्दों तथा 'बसिष्ट बहु बिधि समुझावा' से ऊपरकी रुखाईभी जना दी। खेद न होनेका कारण रामप्रेमकी महिमा है। पं० रामचरण-मिश्रजी कहते हैं कि 'हृदय हरष' के साथ 'मुनि ज्ञानी' विशेषण देकर जनाया कि 'ये विचारमान हैं, जानते हैं कि यदि ऊपरभी हर्षके चिह्न देख पड़े तो काम विगड़ जायगा। अतएव प्रेमका उद्गार जो ऊपरको उमड़ा आरहा था उसे दबाया।'

२ ऐसे ऐसे प्रसंग गोस्वामीजी दो-एक शब्दोंहीमें विस्तारके भयसे समाप्त कर देते हैं, बसिष्ठजीका राजाको एकान्तमें समझाना आगेकी चौपाईसे सिद्ध होता है कि 'अति आदर दोउ तनय बोलाए'। चारों पुत्र मुनिके समीप थे। जब राजाने मुनिके चरणोंपर डालकर पुत्रोंसे प्रणाम कराया था तबसे वे वहीं बने रहे, वहाँसे उनका जाना वर्णन नहीं किया गया। यदि गुरुने राजाको विश्वामित्रके समीपही समझाया होता तो पुत्रोंका बुलाया जाना यहां न कहा जाता। राजाको एकान्तमें लेजाकर समझानेका कारण एक तो यहभी है कि उनको श्रीरामजीके ऐश्वर्य्यका ज्ञान कराना है जो श्रीरामजीके सामने नहीं करा सकते थे, क्योंकि श्रीरामजीकी इच्छा नहीं है कि उनका ऐश्वर्य्य खुले। यथा 'हरि जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥ २०२।८॥', 'एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन॥ अ० रा० १।४।१६॥' (यह राजासे बसिष्ठजीने कहा है कि यह अत्यंत गोप्य बात है किसीसे कहियेगा नहीं)।

३ क्यों समझाना पड़ा ? इसका एक कारण तो गीतावली एवं अ० रा० में यह मिलता है कि मुनिने कहा था कि 'डरपत हौ साँचेहु सनेहबस सुतप्रभाव बिनु जाने। बूझिय बामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने॥ पद ४८॥', 'बसिष्ठेन सहामन्त्र्य दीयतां यदि रोचते। पप्रच्छ गुरुमेकान्ते राजा चिंतापरायणः॥ १।४।८॥' अतएव राजाने गुरुकी सलाह ली। दूसरे, गीतावलीके 'रहे ठगि से नृपति सुनि मुनिवर के बयन। कहि न सकत कछु रामप्रेमबस पुलक गात भरे नीर नयन। गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो'''॥ पद ४९॥' इस उद्धरणसे यह ज्ञात होता है कि राजाको प्रेमसे विह्वल देखकर गुरुने स्वयं उन्हें एकान्तमें लेजा-कर समझाया। तीसरा कारण यहभी होसकता है कि गुरुने यह देखकर कि विश्वामित्रजीको बड़ा क्रोध आगया है, जैसा कि वाल्मीकीयसे स्पष्ट है क्योंकि वहां उन्होंने क्रोधावेशमें आकर राजासे कहा है कि 'प्रतिज्ञा

करके नहीं देते हो तो लो हम जाते हैं, तुम मिथ्यावादी होकर जियो।', और इनके कोपसे पृथ्वी हिलने लगी है, राजाको समझाया।

४ 'बहु बिधि समुझावा' इति। सब रामायणोंमें समझाना एकसा नहीं देखा। किसी ऋषिने कुछ लिखा किसीने कुछ। सबका पक्ष रखनेके विचारसेभी ग्रंथकारने इस प्रसंगको दोही शब्दोंमें समाप्त कर दिया। 'बहु बिधि'; यथा—(क) तुम्हारे कुलकी उदारता प्रसिद्ध है कि 'प्रान जाहु बरु बचनु न जाई ॥२।२८॥', 'मंगन लहहिं न जिन्हके नाहीं'। प्रतिज्ञाके उल्लङ्घनसे कुलके अमल यशमें कलंकका दाग़ लग जायगा। राजन् धर्मपर स्थित रहिये। (ख) "जो कोई किसीको कुछ देनेको कहकर फिर नहीं देता उसका तेज, धर्म, ज्ञान, तप, सत्य, शोभा और श्री सबके सबका नाश होजाता है और वह अंतमें यमलोकको प्राप्त होता है। तुमने प्रथम कहा था कि 'कहहु सो करत न लावौं बारा' और अब बदल गए, यह अनुचित है।" (शीलावृत्ति)। (ग) विश्वामित्र बड़े क्रोधी हैं। देखो, हमारे सौ पुत्रोंको शाप देकर भस्म कर दिया, वे तुम्हारे कुलको नष्टभ्रष्ट करदेंगे। (घ) स्नेह और ममताके वश पुत्रोंकी सुकुमारतासे भयभीत न हो। विश्वामित्र साधारण ऋषि नहीं हैं, तपस्याके प्रतापसे सम्पूर्ण शस्त्रास्त्रविद्याका उनमें निवास है, वे यह सब विद्या राजकुमारोंको देदेंगे और अपने तेजसे इनकी रक्षा करेंगे। उनके प्रतापसे ये सब निशिचरोंको मारेंगे और उनके द्वारा त्रैलोक्यमें इनका यश फैल जायगा। राजन्! तुम अभी-अभी उनके विवाहकी चिन्ता कर रहे थे। श्रीशिवजीने उसी चिन्ताके निवारणार्थ विश्वामित्रजीको यहाँ उन्हें लेनेकेलिये भेजा है। वे इनका विवाह करादेंगे और इनकाही नहीं वरंच भरतशत्रुघ्नकेभी विवाह इन्हींके कारण होंगे। (ङ) विश्वामित्रजी त्रिकालज्ञ हैं, वे भविष्य जानते हैं। इनके द्वारा कुछ अपूर्व कार्य्य होना है। (च) ये दोनों राजकुमार महिभार उतारनेकेलिये अवतीर्ण हुए हैं। तुम माधुर्य्यमें भूलेहुए हो, इसीसे कातर होरहे हो। ये मनुष्य नहीं हैं वरंच सनातन परमात्मा हैं। पूर्व जन्ममें आपने वर माँगा था कि आप हमारे पुत्र हों, ये रामचन्द्र वही परब्रह्म परमात्मा हैं। विश्वामित्र यज्ञरक्षाके बहाने आदिशक्तिसे इनका संबंध करावेंगे। (अध्यात्म रा० १।४।१२-२०)। गीतावलीमेंभी कहा है "गुरु बसिष्ठ समुझाय कह्यो तब हिय हरषाने जाने सेष-सयन॥ पद ४९॥" श्रीजानकीमंगलमेंभी कहा है—'कहि गाधिसुत तप तेज कछु रघुपति प्रभाउ जनायऊ॥ १५॥'

५ 'नृप संदेह नास कहँ पावा' इति। राजा ऐश्वर्य्य भूल गए हैं, माधुर्य्यमें मग्न हैं, इसीसे श्रीरामरूपमें संदेह है।—'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुंदर सुत परम किसोरा।' यह संदेह था, सो मिटगया।

अति आदर दोउ तनय बोलाए। हृदय लाइ बहु भाँति सिखाए॥ ९॥
मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ॥१०॥

अर्थ—(उन्होंने) अत्यंत आदरसे दोनों पुत्रोंको बुलाया और हृदयसे लगाकर बहुत प्रकारसे उनको शिक्षा दी॥ ९॥ (फिर मुनिसे बोले) हे नाथ! ये दोनों पुत्र मेरे प्राण एवं प्राणनाथ हैं। हे मुनि! (अब) आपही इनके पिता (अर्थात् रक्षाकरनेवाले) हैं और कोई (इनकी रक्षा करनेवाला अब) नहीं है (वा, आप और कुछ नहीं हैं, पिताही हैं)॥ १०॥

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—यह कुल प्रसंग महाकाव्यकलाकी दृष्टिसे बड़े महत्वका है। महाकाव्यकलाके तीन विभाग होते हैं—१ आध्यात्मिक, २ आधिदैविक, ३ आधिभौतिक (सृष्टीय)। रामचरितमानसमें तीनोंका वर्णन है; परन्तु प्रथमका संकेतमात्ररूपमें कथन 'नामकी महिमा-प्रसंगमें' है। उदाहरणके तौरपर देखिये—'राम एक तापसतिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी।' (मानों अहिल्या हमारी

पत्थर बनी हुई जड़ मति ही है । विनयमेंभी कहा है—'सहससिला ते अति जड़ मति भई है' ।) पुनः, 'भंजेउ रामु आप भवचापू । भवभयभंजन नाम प्रतापू ।' (मानों धनुष 'भवभय' ही है) । दूसरा पक्ष (आधिदैविक) तो बहुतही स्पष्ट लिखा हुआ है और आधिभौतिक पक्षभी कम नहीं । केवल अन्तर यह है कि नारदजीने वाल्मीकीयकी मूल कथा ब्रह्मलोकमें कही थी जहां सब आधिदैविक रूप जानते थे और इस लिये यह जानने-को उत्कंठित थे कि नटराजने आधिभौतिकरूप 'काँछ कर' कैसा नाचा । इसीलिये वहां आधिभौतिक रूपकाही अधिक वर्णन है, परन्तु तुलसीदासजीकी कथाका मूल शिवपार्वती-संवाद है । जहां आधिभौतिक नाच देखकरही संदेह वा भ्रम उत्पन्न हुआ था और पार्वतीजी आधिदैविक रहस्य जानना चाहती थीं । इसी कारणसे इसी पक्षपर ज़ोर है । (विस्तारसे 'रामचरितमानस एक नाटकी महाकाव्य' नामक पुस्तकमें लिखा जा रहा है जिसका कुछ अंश लेखोंके रूपमें 'चाँद' में प्रकाशित होचुका है) ।

यहां इस प्रसंगका राष्ट्रीयरूप दिखाना है जो बड़ाही शिक्षाप्रद है—१ विश्वामित्र वह ब्रह्मशक्ति है जो सारे विश्वका कल्याण चाहती है (मित्र), परन्तु स्वयं बलका प्रयोग नहीं करती । २—लेकिन क्षात्रशक्तिसे याचना करती है कि विश्वविघ्ननिवारणके लिये बलका प्रयोग करे । ३—राष्ट्रकेलिये इन दोनोंही क्या, सभी श्रेणीकी, शक्तियोंका सहयोग होना चाहिये ।—परशुरामके विश्वनेतृत्वमें श्रेणीयुद्ध था, इसीसे रावणकी अनार्य्यशक्ति बढ़ रही थी । रामके नेतृत्वमें परस्पर सहयोग हुआ (राष्ट्रीय नेता विचार करें) । ४—राष्ट्रकी युवकशक्तिके प्रतिनिधिही राम और लक्ष्मण हैं जिनको 'स्वयं सेवक' के रूपमें माँगा गया । ५—लेकिन माँगा गया पितासेही । यह नहीं किया गया कि 'पिता, माता और गुरु' की आज्ञाका अवलंघन कराया जावे । देखिये न, हमारे देशमें युवकशक्ति अब कितनी अमर्यादित हो रही है कि राष्ट्रीय नेताओंकाभी कहना नहीं मानती । यह आज्ञा-भंग शिक्षाका फल है ।

महाराजा दशरथजी राष्ट्रकी वृद्ध 'पिता' शक्तिके प्रतिनिधि हैं जो मोहके कारण युवकशक्तिका दान नहीं करना चाहती । वसिष्ठजी उस शिक्षाशक्तिके प्रतिनिधि हैं जो राष्ट्रके बसानेमें इष्ट है और ठीक उपदेश देकर युवक शक्तिका दान राष्ट्रके कल्याणकेलिये कराती है ।

'बल', 'विवेक', 'दम' और 'परहित' का सुन्दर प्रयोग होकरही राष्ट्रका रथ आगे बढ़ता है और ताड़का सुबाहुरूप आसुरी शक्तिका निवारण होता है । राष्ट्र और गृहस्थीकी मर्यादाभी बनी रही और कामभी बन गया ।

टिप्पणी—१ 'अति आदर दोउ तनय बोलाए ।०' इति । (क) 'अति आदर' का भाव कि आदर तो सदा सब दिनही करते रहे पर आज वियोगका दिन है, आज अपने समीपसे उनको बिदा करना चाहते हैं, अतएव आज 'अति आदर' किया । [वा, वसिष्ठजीसे उनके ऐश्वर्य्यका बोध अभी-अभी हुआ है, इससे "अति आदर ०' । वा, भाव कि आदर तो सभी पुत्रोंका करते हैं पर ये ऐसे हैं कि विश्वामित्र ऐसे मुनि इनके लिये याचक बनकर आए, अतएव 'अति आदर०' कहा ।] (ख) 'हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये' इति । वियोग समझ स्नेहवश हुए, इसीसे हृदयमें लगाया । [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि अब यह प्रश्न होता है कि "ऐश्वर्य्य जान गए थे तो फिर 'हृदय लाइ बहु भाँति सिखाये'—शिक्षा कैसी ? उत्तर यह है कि गुरुके समझानेसे राजाका बुलाते समय अवश्य ईश्वरीयभाव रहा पर उनका मुख देखतेही वे पुनः माधुर्य्यमें मग्न होगए, गुरुदत्त ज्ञान चलता हुआ । वियोगका समय था, अतः वात्सल्यरससे हृदयमें लगा लिया और शिक्षा देने लगे । हृदयमें लगानेका एक भाव यह भी है कि शरीरसे तो वियोग होता है पर मेरे हृदयमें बने रहना ।] (ग) 'बहु भाँति०' कहा क्योंकि शिक्षाके सम्बन्धमेंभी अनेक मत हैं । [इन्हींको माता, पिता और गुरु समझना, इनकी सेवा करना, इनकी सेवासे संसारमें कुछ भी दुर्लभ नहीं है, इनके वचनोंका कभी तिरस्कार न करना, इनकी आज्ञाओंका पालन करना । यथा "अनुशिष्टोऽस्म्योध्यायां गुरुमध्ये महात्मना । पित्रा दशरथेनाहं

नावज्ञेयं हि तद्वचः। बाल्मी० १। २६। ३।" (यह बात श्रीरामजीने ताटकावनके समीप विश्वामित्रजीसे स्वयं कही थी)]।

२ 'मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ।०' इति। (क) प्राण हैं अर्थात् इनके वियोगसे हमारे प्राणोंका वियोग है; यथा "सुतहिय लाइ दुसह दुख मेटे। मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।२।३०८।' आप पिता हैं। "पातीति पिता" जो रक्षा करे वह पिता है। तात्पर्य्य कि आपही अब इनके रक्षक हैं, इनकी रक्षासे हमारे प्राणोंकी रक्षा होगी। अतएव इनकी रक्षा आप स्वयं करते रहियेगा। (ख) ☞अपने प्राण बचानेके लिये राजाने अपना पितृत्वधर्म ऋषिमें स्थापित कर दिया, इससे पिता-पुत्रका संयोग बना रह गया इसीसे राजाकी मृत्यु वियोगसे न हुई, नहीं तो जीवित न रहते। क्योंकि पूर्व जन्ममें इन्होंने वर माँगा था कि 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना।' (ग) ☞पुत्रोंके प्रिय होनेमें 'प्रान की नाईं' कहा था; यथा 'सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं"। और, वियोगमें उनको प्राण कहते हैं—'मेरे प्रान नाथ सुत दोऊ'। इस भेदको दिखाकर सूचित किया कि राजाका स्नेह उत्तरोत्तर अधिक होता गया। प्रथम स्नेह था तब प्राणकी नाईं कहा और सौंपते समय जब स्नेह अधिक होगया तब कहते हैं कि दोनों पुत्र हमारे प्राण हैं। 'आन नहिं कोऊ' अर्थात् हमने आपको इनका पिता कहकर सौंप दिया है, अब आप इनके पिताही हैं और कुछ नहीं हैं। ['अन्नदाता भयत्राता यश्चविद्यां प्रयच्छति। जनिता चोपनेता च पञ्चैते पितरः स्मृताः।' अन्नदाता, भयसे रक्षा करनेवाला, विद्यादाता, पैदा करनेवाला (जनक) और उपनयनकर्ता इन पाँचोंको पिता कहते हैं। राजा दशरथने इनमेंसे प्रथम तीन प्रकारका पितृत्व विश्वामित्रको सौंपा। जनिता और उपनेता दशरथजीही हैं। (प० प० प्र०)]

नोट—१ श्रीजानकीमंगलमें 'तुम्ह मुनि पिता···' के स्थानपर ये वचन हैं—"करुणानिधान सुजान प्रभु सों उचित नहिं बिनती घनी।१५। नाथ मोहि बालकन्ह सहित पुर परिजन। राखनहार तुम्हार अनुग्रह घर बन।···"।

पं० रा० च० मिश्र—'दोनों पुत्र मेरे प्राणनाथ हैं' यह अर्थ है। भाव कि प्राणहीके विलग होनेसे शरीर नहीं रहता तब भला 'प्राणोंके नाथ' के विलग होनेसे कैसे रह सकेगा? रामजीके साहचर्य्यसे लक्ष्मणजीको भी प्राणनाथ कहा। इनके जानेसे शरीरका विश्वास नहीं, इस कारण, हे मुनीश्वर! आपही पिता हैं और कोई नहीं। यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति अलंकार' है। [☞इसीसे फिर राजाने पुत्रोंकी खबर न ली, क्योंकि जब मुनिही पिता हैं तब यदि खबर लेते तो उनका यह कथनही असत्य ठहरता। सेना सेवक आदि भी साथमें इसी भावसे न दिये। विशेष दो० २०८ नोट ५ में देखिए]

प० प० प्र०—इस प्रसंगका आध्यात्मिक रूप देखिए। राम=विमल ज्ञान। लक्ष्मण=परम विराग (परवैराग्य)। विश्वामित्र=सत्संग। विश्वामित्रयज्ञ=ब्रह्मसत्र, ज्ञानसत्र—'ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टस्यामिति मे मतिः। गीता १८।१०।' ताटका=स्थूल-देह-बुद्धि। मारीच=लिंगदेह। सुबाहु=कारणदेह। भवचाप=संसृति। सीता=ब्रह्मविद्या। जानकी=पराभक्ति। भवचापभंग=भवभंग। भवभंग विमलज्ञानही कर सकता है। अन्य साधनरूपी भूपोंसे यह नहीं हो सकता।

राष्ट्रीयदृष्टिसे श्रीयुत लमगोड़ाजीने ठीकही लिखा है। महाराष्ट्रने इस बातका अनुभव भारतके इतिहासमें असर कर दिया है। शिवाजी महाराज और श्रीरामदास समर्थ इन दोनोंके सहयोगसे ही दक्षिणमें धर्मराज्यकी स्थापना होगई। क्षात्रतेज और ब्रह्मतेजका जब सहयोग हुआ तब मुगलसत्ता, मुसलमानोंकी सत्ता, अधर्मकी सत्ता नामशेष होगई।

प० प० प्र०—दोहा २०७ और दोहा २०८ में उनके अंगभूत १०, १० चौपाइयाँ हैं। इससे दोहा २०७ में विश्वामित्रजीने श्रीरामप्रभुकी याचना की। श्रीरामजी पूर्णाङ्क '१' हैं, यदि वे न मिले और संसारकी सारी

सम्पदा मिल जाय तो भी विश्वामित्रके लिये उसकी कीमत शून्य (०) है। 'यदि रामरूपी पूर्णाङ्क मुझे मिल जाय तो मेरे पास जो साधन-सामर्थ्य है उसकी इसके होनेसे दस-दसगुणी वृद्धि होगी' यह विश्वामित्रजीकी भावना इस १० अङ्कसे सूचित की। दो० २०८ में श्रीदशरथजीकी भी ऐसीही भावना १० चौपाइयाँ देकर दिखाई हैं। भावना यह है कि 'राम-पूर्णाङ्कके दे देनेसे मेरा सब ऐश्वर्यादि शून्यवत् रहेगा और मेरी देहभी शून्यवत् होजायगी। एक इस अंकके रहनेसे इसके आधारपर सब प्रकारके सुख दिन प्रति दिन दशगुने बढ़ते जायँगे।' श्रीरामजीको दे देनेपर श्रीदशरथजी मृतक-समान ही रह गए, यह आगे स्पष्ट कहा है जब पुनर्मिलन हुआ, यथा 'मृतक सरीर प्रान जनु भेंटे।'

दोहा—सौंपे भूप रिषिहि सुत बहु बिधि देइ असीस।
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस॥
सोरठा—पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि-भयहरन।
कृपासिंधु मति धीर अखिल बिस्व कारन करन॥२०८॥

अर्थ—बहुत तरहसे आशीर्वाद देकर राजाने पुत्रोंको ऋषिके सुपुर्द कर दिया। प्रभु माताके महलमें गए और चरणोंमें माथा नवाकर चलदिए। पुरुषोंमें सिंहरूप अर्थात् श्रेष्ठ, कृपाके समुद्र, धीरबुद्धि, समस्त ब्रह्मांडोंके कारण और करण एवं कारणकेभी कारण दोनों वीर भाई मुनिका भय दूर करनेकेलिये हर्ष, (प्रसन्नता और उत्साह) पूर्वक चले॥ २०८॥

टिप्पणी—१ 'सौंपे भूप रिषिहि सुत०' इति। (क) प्रथम राजा मुनिसे कह चुके कि 'तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ' इसीसे 'सौंपना' कहा। जो वस्तु जिसकी होती है, उसीको सौंपी जाती है। मुनि इनके पिता हैं, अतः ये उनके हवाले करदिये गए। पुनः 'सौंपे' से जनाया कि पुत्रोंका हाथ पकड़कर मुनिके हाथमें पकड़ा दिया। (ख) मुनियोंने अपनी-अपनी रामायणोंमें अनेक आशीर्वाद लिखे हैं। इसीसे 'बहु बिधि' लिखकर ग्रंथकारने उन सबोंका ग्रहण किया। ❀ (ग) 'जननी भवन गए प्रभु' इति। माताके महलमें जाना और वहाँसे चल देना कहकर श्रीरामलक्ष्मणजीकी पिताका वचन पालन करने और मुनिके साथ जानेमें श्रद्धा जनाई। मातासे मिलकर बहुत शीघ्र चले आए, बिलंब न किया, जिसमें लोग यह न समझें कि मुनिके साथ जानेका मन नहीं है। (घ) 'प्रभु चले'। यहाँ 'प्रभु' से दोनों भाइयोंका ग्रहण है,

❀ "राममाहूय विधिवल्लक्ष्मणेन समन्वितम्॥ १२॥ मुनये चार्पयामास ह्याशिषा सह भूमिपः॥१३॥ पितुराज्ञाकरौ तौ च पादयोः पेततुस्तदा। प्रवत्स्यतोश्च मूर्द्धानौन्यपतन्नश्रुबिंदवः॥ १४॥ नेत्राभ्यां राजराजस्य चचाल मुनिसत्तमः। लक्ष्मणानुचरं रामं परिगृह्य मुदान्वितः॥१५॥ आशिषं युयुजे राजा वाहिनीं न च रक्षिणः। आशीरेव क्षमातत्र वाहिन्या न प्रयोजनम्॥ १६॥ मातृपादान्प्रणम्याथ जग्मतुः पुरुषर्षभौ॥ १६॥ इति सत्योपाख्याने उत्तरार्द्धे चतुर्थोध्यायः।" अर्थात् श्रीरामलक्ष्मणजीको प्रेमपूर्वक बुलाकर आशीर्वाद देकर राजाने मुनिको अर्पण कर दिया। आज्ञाकारी दोनों पुत्रोंने पिताके चरणोंपर मस्तक नवाया तब राजाके नेत्रोंसे अश्रुबिन्दु उनपर पड़े। तत्पश्चात् मुनि प्रसन्नतापूर्वक दोनोंको लेकर चले। (१२-१५)। राजाने साथमें सेना या रक्षक कुछ नहीं दिये, केवल आशीर्वाद दिया। उन्होंने यही सोचा कि आशीर्वादही इनका रक्षक है, सेना आदिका क्या प्रयोजन है? सब माताओंको प्रणाम करके दोनों पुरुषश्रेष्ठ मुनिके साथ चल दिये। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि माता-पिताने स्वस्तिवाचन किया, गुरुने माङ्गलिक मंत्रोंसे अभिमंत्रित किया। राजाने सिर सूँघा।' यथा "कृतस्वस्त्ययनं मात्रा पित्रा दशरथेन च। पुरोधसा वसिष्ठेन मङ्गलैरभिमंत्रितम्। वाल्मी० १।२२।२। स पुत्रं मूर्ध्न्युपाघ्राय राजा दशरथस्तदा।" यह आशीर्वादही है।

दोनोंने प्रणाम किया और दोनों चले। गोस्वामीजीने 'प्रभु' शब्द लक्ष्मणजीके लिये अन्यत्रभी प्रयुक्त किया है; यथा 'तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। २।७५।', 'जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा। ६।७६।' इत्यादि। (ङ) ☞ राजाका आशीर्वाद देना लिखा गया परन्तु दोनों भाइयोंका राजाको प्रणाम करना न लिखा गया और माताको प्रणाम करनाही लिखा गया, माताका आशीर्वाद देना नहीं लिखा गया। यहाँ दोनोंका अनुवर्तन है; 'बहु विधि देइ असीस' और 'नाइ पद सीस' दोनोंको दोनोंही जगह अर्थ करते समय लगा लेना चाहिये। यह ग्रंथकारकी शैली है और काव्यका एक गुण है। यहाँका आसिष वहाँभी समझा जायगा और वहाँका प्रणाम यहाँभी समझना चाहिए। गीतावली और जानकीमंगलसे इस भावकी पुष्टिभी होती है। यथा 'रिषि संग हरषि चले दोउ भाई। पितु पद बंदि सीस लियो आयसु सुनि सिष आसिष पाई। गी० ५०।', "ईस मनाइ असीसहि जय जस पावहु। न्हात खसै जनि बार…। जा० मं० १८।'

नोट—१ राजा तो अत्यन्त विह्वल होगए थे, पर माताकी ऐसी चेष्टा नहीं कही गई। शीघ्र यहाँसे चल दिये, माताने कुछ न कहा? इसका कारण है। गीतावलीमें स्पष्ट इसका उल्लेख है। आगमी द्वारा इनको ज्ञात होगया था कि मुनिके द्वारा इनके विवाह होंगे। अतएव वे प्रसन्न हैं। दूसरे, इनको प्रभुसे अलौकिक ज्ञानका वरदान मिल चुका है और अन्नप्राशनके समय प्रभु दुवारा अपने ऐश्वर्य्यका बोध करा चुके हैं। (मा० त० वि०)। अभी तो माता प्रसन्न हैं पर जब कुछ दिन बीत जायेंगे और पुत्रोंकी सुध न मिलेगी तब वे बड़ीही चिंतित होंगी। यथा गीतावल्याम्—'मेरे बालक कैसे धौं मग निबहेंगे। भूख पियास सीत श्रम सकुचनि क्यों कौसिकहि कहेंगे। को भोरही उबटि अन्हवैहै काढ़ि कलेऊ दैहै। को भूषन पहिराइ निछावरि करि लोचन सुख लैहैं॥ नयन निमेषनि ज्यों जोगवैं नित पितु परिजन महतारी। ते पठये रिषि साथ निसाचर मारन मखरखवारी॥ सुंदर सुठि सुकुमार कोमल काकपच्छ धर दोऊ। तुलसी निरखि हरषि उर लैहौं बिधि होइहहिं दिन सोऊ॥ पद ९७', 'रिषि नृप सीस ठगौरी डारी। कुलगुरु सचिव निपुन नेवनि अबरेब न समुझि सुधारी॥ सिरिस सुमन सुकुमार कुँवर दोउ सूर सरोष सुरारी। पठए बिनहि सहाय पयादेहि केलि-बान-धनुधारी। अति सनेह कातरि माता कहै…। पद ९८।'

२—'जननी भवन' से कौसल्या और सुमित्रा दोनोंके यहाँ जानाभी हो सकता है। श्रीसुमित्राजी लक्ष्मणजीकी जननी हैं।

टिप्पणी—२ (क) "पुरुष सिंह दोउ" अर्थात् दोनों भारी सामर्थ्यवान् हैं, जैसे सिंह निर्भय निशंक अकेलेही हाथियोंके समूहमें घुसकर उनके मस्तकोंको विदीर्ण कर डालता है, वैसेही ये दोनों विना सेना-सहायककेही 'असुर समूह' जो मुनिको सताते हैं (जैसा मुनिने राजासे कहा था—'असुर समूह सतावहिं मोही') उन्हींका नाश करने चले हैं और करेंगे। यथा 'अवध नृपति दसरथके जाये। पुरुष सिंह बन खेलन आये। समुझि परी मोहि उन्हकै करनी। रहित निसाचर करिहहिं धरनी। आ० २२।' 'पुरुष सिंह' इति। वाल्मी० ३ ३१ में इस रूपकको मारीचने खूब निबाहा है। वह रावणसे कहता है कि यह मनुष्यसिंह सो रहा है। इसको जगाना अच्छा नहीं है। पुरुषोंमें सिंह इस रामचन्द्रका रणस्थलमें अवस्थान करनाही (इस सिंहके) संधि और बाल हैं। रणकुशल राक्षसगणरूपी गजेन्द्रोंका यह सिंह नाश करनेवाला है। यह शररूपी अङ्गोंसे परिपूर्ण है और तीक्ष्ण असिही इसके दाँत हैं। यथा "असौ रणान्तः स्थितिसन्धिवालो विदग्ध-रक्षो मृगहा नृसिंहः। सुप्तस्त्वया बोधयितुं न शक्यःशराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः। ४७।'] (ख) 'दोउ बीर' अर्थात् ये संग्राममें सम्मुख लड़ाई करके राक्षसोंका वध करेंगे, छल आदिसे नहीं। (ग) 'हरषि चले' से जनाया कि मुनिका भय हरण करनेमें दोनोंको उत्साह है। यात्रा समय मनमें हर्ष होना शकुन है, यथा—'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा। चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा।', 'हरषि राम तब कीन्ह पयाना। सगुन भये सुंदर

सुभ नाना।', इत्यादि। (घ) 'चले मुनि भय हरन' इति। ☞ यज्ञरक्षा और असुर समूहके वधके हेतु दोनों भ्राता मुनिके साथ चले हैं, मुनिका भय दूर करने जारहे हैं। ये कार्य वीरोंके हैं। इसीसे यहाँ 'वीर' और 'कृपासिंधु' विशेषण दिए हैं। शत्रुका वध करनेमें बल और बुद्धि चाहिये। यहाँ वीरसे बल और मतिधीरसे बुद्धि दो विशेषणोंमेंही दोनों गुण दरसा दिये। यथा 'ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिध पार गयउ मतिधीरा।' (ङ) 'अखिल बिश्व कारन करन' जो सकल विश्वके कारण हैं और करनेवालेभी हैं अर्थात् विश्वके उपादान और निमित्त दोनों कारण आपही हैं जैसे घटका उपादान कारण पृथ्वी (मृत्तिका) है और निमित्त कारण कुलाल है। ये विशेषण देकर जनाया कि ऐसे भी जो प्रभु हैं वह अपने भक्तोंपर कृपा करके भक्तका भय हरने चले। तात्पर्य कि भक्तोंहीके लिये भगवानका अवतार है, यथा—'ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगतहेतु लीलातनु गहई।' [बाबा रामदासजी लिखते हैं कि कारण दो प्रकारका है, नित्य और नैमित्तिक। पंचभूत, काल, कर्म, गुण, स्वभाव और माया इत्यादि नैमित्तिक कारण हैं। इन सबोंके कर्त्ता श्रीरामजी नित्य कारण हैं। इतने बड़े होकरभी वे भक्तोंके अधीन हैं। अथवा, 'अखिल विश्व-कारण' बैकुण्ठ भगवान् हैं, उनकेभी आप कारण हैं यह जनाया। यथा "रावन सो राजरोग बाढ़ेउ बिराट उर···" (क०)। मं० श्लो० ६ 'अशेषकारणपरं' देखिए। (अथवा, संपूर्ण विश्वके जो कारण हैं, उनकेभी आप करनेवाले हैं। 'करण' का एक अर्थ 'अत्यंत निकट साधक' भी है; यथा 'करणं साधकतमं क्रिया सिद्धौप्रकृष्टो हेतुः' अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो अत्यन्त हेतु हो उसे करण कहते हैं।)]

नोट—३ यहाँके सब विशेषण साभिप्राय हैं। 'पुरुषसिंह' अर्थात् पुरुषोंमें शेरबबर वा नरशेर हैं। असुरसमूह इनके सामने हाथीके समान हैं। 'वीर' हैं, अतः सेना सहायककी आवश्यकता नहीं। मुनि भय हरने जाते हैं क्योंकि 'कृपासिंधु' हैं; यथा 'अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥ निसिचर हीन करौं महि भुज उठाय पन कीन्ह। सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह। ३।९।' पुनः, भाव कि मुनिने अपनेको राजासे अनाथ सूचित किया था, यथा 'निसिचर बध मैं होब सनाथा', अतएव उनपर समुद्रवत् कृपा करके उनको सनाथ करेंगे। 'हरषि चले' क्योंकि युद्धमें राक्षस-वधमें, उत्साह है। माता पिताके वियोगमें किंचित् क्लेश न हुआ। अतः 'मतिधीर' कहा। इनके लिये असुरोंका वध कौन बड़ी बात है? क्योंकि ये तो 'अखिल विश्वकारनकरन' हैं जो 'त्रिभुवन सक मारि जिआई'। (रा०प्र०, वै०)

४—वीरता पाँच प्रकारकी कहीगई है। वह पाचों यहाँ प्रभुमें दिखाई गई हैं। यथा 'त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो बिचक्षणः। पराक्रममहावीरो धर्म्मवीरः सदास्वतः॥ पंचवीराः समाख्याता राम एव सपंचधा। रघुवीर इति ख्यातः सर्ववीरोपलक्षणः॥" त्यागवीर हैं, अतः 'मतिधीर' कहा। मातापिताके वियोगका किंचित्भी दुःख न हुआ। दयावीर हैं, अतएव 'कृपासिंधु मुनिभय हरन चले' कहा। 'हरषि चले' तथा 'पुरुषसिंह' से पराक्रममहावीर जनाया। मुनिभयहरण एवं यज्ञरक्षा धर्म्मके कार्य्य हैं, अतएव इनसे धर्मवीर जनाया। विद्यावीर तो पूर्वही कह आए हैं कि 'जाकी सहज श्वास श्रुति चारी।०' इत्यादि, और आगे बाणविद्यामें निपुणता दिखाते हैं कि एकही बाणसे ताड़काका वध करडाला; पुनः अखिल विश्वके कारण एवं करण हैं इससे 'विद्यावीर' हुए।

५ सेना और सेवक साथ क्यों न भेजे? इसका एक कारण यह कहा जाता है कि ताड़का, मारीच और सुबाहुको किसी मुनिका शाप था कि बालक विरथियोंके हाथोंसे निरादरपूर्वक तुम्हारी मृत्यु होगी। और कारण यह हैं—(२) प्रभुका प्रताप और ऐश्वर्य्य गुप्त रखनेके विचारसे मुनि इनको पैदल लेगए। (३) सेना और रथ साथ होनेसे सम्भव था कि निशिचर युद्ध करने न आते (तो भी मुनिका प्रयोजन सिद्ध न होता) और इनका वध आवश्यक था। अतएव विना सेना इत्यादिके गए। (४) पूर्व लिख आए हैं कि सेनासे इनका बध हो न सकता था, सेना मारी जाती, व्यर्थका पाप मुनिको होता। अतः सेना न ली। रामजी

मुनिके साथ हैं, जैसे मुनि रहते हैं वैसेही ये भी रहेंगे। मुनिके साथ रहकर किसीसे सेवा कराते न बनेगी, इसीसे सेवक न लिये। मुनि पनहीं (जूती, पदत्राण) नहीं पहिनते, सवारीपर नहीं चढ़ते, इसीसे आपनेभी सवारी न ली, न पदत्राण पहिने। (पं० रा० कु०)। (६) इस लीलाका विधान कल्प-कल्पमें ऐसाही रहता है। (७) जब मुनिको पितृत्व सौंप दिया तब सेना आदि साथ करना अयोग्य था; क्योंकि इससे यह सिद्ध होता कि अभी उन्होंने पितृत्व नहीं दिया, तभी तो पुत्रोंकी रक्षाका उपाय स्वयं कर रहे हैं, मुनिपर विश्वास नहीं है। (८) सत्योपाख्यानके पूर्वोक्त उद्धरणसे स्पष्ट है कि राजाने आशीर्वादमात्रको उनका रक्षक समझकर सेना आदि साथ न दी।

नोट—६ यहाँ वीररसका स्वरूप वर्णन कियागया। जबतक निशिचरोंका वध और मुनिके यज्ञकी रक्षा निर्विघ्न न होजायगी तथा अहल्योद्धार कर जबतक जनकपुर न पहुँचेंगे तबतक ग्रंथकार युगल सरकारोंके लिये शृङ्गार या वात्सल्यके पद—जैसे,—राजकिशोर, किशोर, राजकुमार, कुँवर, सुत, बाल, इत्यादि—का निर्देश न करेंगे। क्योंकि वनमें वीरताका काम है, माधुर्य्यका नहीं। हाँ! मुनिके हृदयमें महाराजा दशरथके संयोगसे, वात्सल्यरसकी छाया जमगई है। जबतक दोनों भाई मुनिके साथ वनमें रहेंगे तबतक कवि रघुराया, प्रभु, रघुवीर और रघुपति आदि वीरता और ऐश्वर्य्य-सूचक शब्दोंसे निर्देश करेंगे।" (पं० रा० च० मिश्र०)।

७ विश्वामित्रजी नवमीको आए और द्वादशीको श्रीअयोध्याजीसे गए।

अरुन नयन उर बाहु बिसाला। नील जलज तनु स्याम तमाला ॥१॥

कटि पट पीत कसे बर भाथा। रुचिर चाप सायक दुहु हाथा ॥२॥

अर्थ—नेत्र लाल हैं। छाती (वक्षःस्थल) चौड़ी और भुजायें लंबी हैं। नील कमल और श्याम तमाल वृक्षकासा श्याम शरीर है॥ १॥ कमरमें पीताम्बर है जिसमें श्रेष्ठ तरकश कसे हुए हैं। दोनों हाथोंमें सुन्दर धनुष बाण (धारण किये) हैं॥ २॥

☞ यह ध्यान वीररसका है। इसीसे इसमें नेत्रोंकी अरुणतासे उठाकर कटितकका वर्णन है। वीररसका वर्णन कटिसे शिरतक या सिरसे कटितक होता है। मुनिकी सहायता करने चले हैं, इसीसे वीररूपका वर्णन करते हैं। यह प्रथम-दिग्विजयकी यात्रा है।

टिप्पणी—१ (क) लाल नेत्र, विशाल हृदय और विशाल भुजाएँ शत्रुको भयदायक हैं। श्याम गात भक्तोंका भय मोचन करनेवाला है; यथा 'स्यामलगात प्रनत भय मोचन॥ ५।४५॥' [पं० रामकुमार जी 'नील जलद' पाठको उत्तम मानते हैं। वे लिखते हैं कि भगवान् परोपकार करने चले हैं, इसीसे मेघ और वृक्ष परोपकारियोंकी उपमायें यहां दीगईं। नील मेघकी गंभीरता और तमालकी श्यामता यहाँ कही गई।]

नोट—'तमाल'—यह सुन्दर सदाबहार वृक्ष पंद्रह बीस हाथ ऊँचा होता है और अधिकतर पर्वतोंपर और जहांतहां यमुनातटपर पाया जाता है। यह दो प्रकारका होता है, एक साधारण दूसरा श्याम। श्याम तमाल की लकड़ी आबनूस की सी होती है, पर यह कम मिलता है। इसके फूल लाल, पत्ते गहरे हरे शरीफ़ेके पत्तोंसे मिलते-जुलते होते हैं। इस नामका एक वृक्ष हिमालय और दक्षिण भारतमेंभी होता है। (श० सा०)।

टिप्पणी—२ (क) 'कटि पट पीत०' इति। पीत वस्त्र वीरोंका बाना है। (पुनः, भगवान्‌को पीताम्बर प्रिय है। पीतांबर उनका एक नामभी है। इसीसे जहां ध्यानका वर्णन होता है वहां पीतांबरको भी कहते हैं)। 'बर भाथा' कहकर अक्षय तूणीर सूचित किया। तरकशकी श्रेष्ठता यही है कि कितनेही बाण

उसमेंसे निकाले जायँ वह कभी चुकै नहीं, खाली न हो। 'रुचिर चाप सायक'—धनुष और बाण सुंदर हैं। धनुषकी सुंदरता यह है कि शत्रुके काटे न कटे और बाणकी सुन्दरता यह है कि किसीभी शस्त्रास्त्रसे न रुके और निष्फल वा व्यर्थ न जाय, अमोघ और अचूक हो। यथा 'जिमि अमोघ रघुपति के बाना'। हनु० अंक ७ श्लो० ८ 'सुवर्णपुंखाः सुभटाः सुतीक्ष्णा वज्रोपमा वायुमनः प्रवेगाः।' (अर्थात् सुवर्णके पुंखोंवाले, अमोघ, अत्यन्त तीक्ष्ण बज्रके सदृश, पवन और मनके तुल्य वेगवाले) के सब विशेषण 'रुचिर' सायक कहकर जना दिये। पुनः, रुचिरता यहभी है कि इनसे मारे हुए जीव सद्‌गतिको प्राप्त होते हैं; यथा 'जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे ॥ २०५।३ ॥', 'रघुबीर सर-तीरथ सरीरन्हि त्यागि गति पैहैं सही ॥ ५।३ ॥' 'दुहुँ हाथा' अर्थात् दक्षिण हाथमें बाण है और वाममें धनुष है। धनुष बाण हाथोंमें लिये कहकर सावधान सजग जनाया।]

नोट--जहां जहां शत्रुपर चढ़ाईका वर्णन है प्रायः वहां ऐसाही ध्यान वर्णन किया गया है, यथा 'आयसु माँगि राम पहिं अंगदादि कपि साथ। लछिमन चले क्रुद्ध होइ बान सरासन हाथ ॥ ६।५१ ॥ छतज नयन उर बाहु बिसाला। हिम गिरि निभ तन कछुयक लाला ॥' तथा यहां 'अरुन नयन उर बाहु बिसाला। ....रुचिर चाप सायक दुहुँ हाथा।...' इत्यादि।--यह वीर रूपका वर्णन है। ६.५१ में लक्ष्मणजीका ध्यान है; इससे वहां 'हिम गिरिनिभ तनु' अर्थात् गौर वर्ण कहा गया पर साथही 'कछुयक लाला' कहा जो वीररसके कारण है।

स्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिस्वामित्र महानिधि पाई ॥३॥
प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना। मोहि निति[1] पिता तजेउ भगवाना ॥४॥

शब्दार्थ—ब्रह्मण्यदेव = ब्राह्मणही हैं देवता जिनके; निर्हेतु ब्राह्मणोंको माननेवाले। निति = लिये। यह 'निमित्त' का अपभ्रंश है।

अर्थ—एक श्याम, दूसरे गौर, दोनों सुन्दर भाइयोंको पाकर विश्वामित्रजी (मानों) महानिधि पागए ॥ ३ ॥ (वे मनही मन सोचते हैं कि) मैंने निश्चय जान लिया कि प्रभु ब्रह्मण्यदेव हैं। मेरे लिये भगवान्‌ने अपने पिताकोभी छोड़ दिया ॥ ४ ॥

पं० राजारामशरण लमगोड़ाजी—याद रहे कि हर सभ्यतामें कोई न कोई मुख्य गुण पूज्य माना जाता है। जैसे - अमेरिकामें 'डालर' (Dollar) द्रव्य, इंगलैंडमें 'वाक्‌शक्ति'। (पारलियामेन्टका अर्थ ही है 'वक्तृताका स्थान'), पाश्चात्य सभी देशोंमें पशुबल 'बल' (Brute force) पूज्य है और उसका फलभी सामने है। आर्य्यसभ्यतामें ब्राह्मणशक्ति (Spiritual power) ही पूज्य थी। यहां उस शक्तिको न तो अलग (करके) निष्फलही किया था (no Vaticanizing) और न राज्य और ब्राह्मण्य शक्तियोंको मिलाकर गड़बड़ किया गया था (no Khilafat); बल्कि क्षात्रशक्ति शासन करती थी पर ब्राह्मण्यशक्तिके उपदेशोंके अनुसार। डाक्टर भगवानदासजी ठीक कहते हैं कि कानून बनानेवाले (Legislators) किन्हीं व्यक्तिसमूहोंके स्वार्थके प्रतिनिधि (Representatives of particular interests) न होने चाहियें बल्कि उनका निस्स्वार्थ (Disinterested) होनाही ठीक है। (विस्तारसे देखना हो तो डाक्टर भगवान्‌दासजीके ग्रन्थ देखिये)।

ब्राह्मण संसारके निष्काम सेवक थे, इसीसे उनकी शिक्षाभी वैसीही होती थी। (गुरुकुल कांगड़ीके एक अभिनन्दनपत्रमें उन्हें (Selfless Servants of Humanity) कहा गया था और ठीक कहा गया

१ हित=को० रा०। निति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०। 'निति' अवधप्रान्तकी बोली हैं।

था। श्रीजवाहिरलालजीनेभी अपनी आत्मकथामें ब्राह्मणत्वका कुछ ऐसाही आभास दिखाया है।) जब वे द्रव्योपार्जन नहीं करते थे, तो क्या राष्ट्रके प्रत्येक व्यक्तिका दानद्वारा उनकी सेवा करना धर्म नहीं? फिर दान लेकर वे दानहीमेंसे तो दे डालते थे। यदि ऋषियोंको कभीभी यह खयाल होता कि अकृतज्ञ राष्ट्रमें आगे उनकी सन्तान भूखों मरेगी तो इतने धर्म्मग्रन्थ शास्त्र इत्यादि लिखनेमें कदाचित् उनका मन न लगता। यदि कोई तनिक आविष्कार करता है तो उसे राष्ट्र पेटेन्ट देकर कृतज्ञता दिखाता है तो फिर ब्राह्मणोंका पालन और पूजन क्यों न हो, जिन्होंने सारी विद्याओंके आविष्कार किये, ग्रन्थ रचे और शिक्षा-दीक्षाका भार अपने ऊपर रक्खा। कुछ विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन यह है कि फिर बारंबार न कहना पड़े। क्योंकि रामराज्यमें 'कवच अबेध्य (अभेद) बिप्र-गुरपूजा' ही माना गया है।

टिप्पणी—१ (क) 'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई' इति। यहांतक दो अर्धालियोंमें केवल श्रीरामजीका वर्णन करके इस अर्धालीमें श्रीलक्ष्मणजीका रंगमात्र वर्णन किया। इससे यह जनाया कि जो वर्णन श्रीरामजीका है—'अरुन नयन उर बाहु बिसाला। कटि पटपीत कसे बर भाथा। रुचिर चापसायक दुहुँ हाथा' वही वर्णन श्रीलक्ष्मणजीकाभी है, पर उनका रंग पृथक् है, इसीसे रंगको पृथक् वर्णन किया। श्रीरामजीकी श्यामता दो बार वर्णन की,—'नील जलज तन स्याम तमाला' और 'स्याम गौर सुंदर दोउ भाई।' प्रथम रूपवर्णनमें तनकी श्यामता कही और दूसरी बार श्याम गौर दोनोंके एकत्र होनेकी शोभा कही। (ख) दोनों भाइयोंका श्याम गौर वर्ण कहकर महानिधिका पाना कहा। कारण कि नवनिधियोंमेंसे दो निधियाँ श्याम गौर हैं—नील और शङ्ख। श्रीरामजी नीलनिधि हैं और श्रीलक्ष्मणजी शङ्खनिधि हैं। नवनिधियां, यथा 'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकर कच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलश्च खर्बश्च निधयो नव।' (विशेष दोहा २२०।२ देखिए)। (ग) निधि राजाके यहां होती है। श्रीरामलक्ष्मणजीभी राजाके यहां थे, राजासे मुनिको प्राप्त हुए; इसीसे 'निधि पाई' निधिका पाना कहा। राजाने निधि देनेको कहा था; यथा 'मांगहु भूमि धेनु धन कोषा।' यह कहकर फिर राजाका देना कहा, यथा 'सौंपे भूपति रिषिहि सुत०'। और अब मुनिका पाना कहते हैं,—'बिस्वामित्र महानिधि पाई'। साधुओंके धन भगवान्ही हैं इसीसे भगवान्के पानेपर 'महानिधि' का पाना कहा। [(घ) निधियाँ जड़ हैं, अनित्य हैं और भगवान् नित्य हैं, सच्चिदानंदघन हैं। निधियोंसे अत्यन्त अधिक हैं, उन्हींसे सब निधियाँ हैं। अतएव उनको 'महानिधि' कहा। (ङ) वैजनाथजी लिखते हैं कि 'विश्वामित्र पूर्णकाम होगए मानो संख्यारहित धन पागए']

टिप्पणी—२ (क) 'मोहि निति पिता तजेउ०' इति। जैसे पिता दशरथजी श्रीरामजीको नहीं त्याग करते थे, वसिष्ठजीके समझानेपरही पुत्रोंको मुनिके सुपुर्द किया था; वैसेही श्रीरामजी पिताको प्राणसमान जानकर न त्याग करते, क्योंकि भगवान्का वचन है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। पर भगवान्ने ऐसा न किया। [इन वचनोंसे ज्ञात होता है कि मुनिको संदेह था कि भगवान् साथ आवेंगे या न आवेंगे। वे सोचते हैं कि 'यद्यपि राजाने देदिया था तथापि वे कह सकते थे कि हम अभी युद्धके लायक नहीं हैं, हम न जायेंगे, तो हमारा कौन वश था? पर कैसी प्रसन्नताके साथ माता-पिताको त्यागकर वे हमारे साथ चले आए।'] ये अवश्यही ब्रह्मण्यदेव हैं। इसमें अब किंचित् संदेह नहीं। मुझ ब्राह्मणकेलिये तुरत प्रसन्नतापूर्वक तैयार होगए। [पुनः, 'ब्रह्मण्यदेव' कहकर अपने ब्राह्मणत्वका अहंकार जनाते हैं। (रा० च० मिश्र)]। इसपर प्रश्न होसकता है कि श्रीरामजी साथ जानेसे इनकार करते तो राजा क्या अप्रसन्न न होते कि हमारी आज्ञा न मानी? इसका उत्तर यह होगा कि राजा बहुत प्रसन्न होते। क्योंकि जिनके प्रेमकेलिये राजाने उन्हें देनेमें 'नहीं' करदिया वे स्वयं यदि राजाके प्रेमके कारण न जाते तब राजा अप्रसन्न क्यों होते? उनके मनकीही होजाती, इससे वे अत्यन्त प्रसन्न होते। यथा 'बचन मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु॥ २।४४॥' इसीसे मुनि सोचते हैं कि 'मोहि निति पिता तजेउ'। निति=निमित्त।

यहां मध्यम अक्षरका लोप है। (ख) 'भगवान' कहकर जनाया कि ये केवल पिताके भेजनेसे नहीं आए, वरंच मेरी हार्दिक इच्छा जानकर अपने मनसे आए। 'भगवान' हैं अर्थात् समग्र ऐश्वर्य्यसे परिपूर्ण हैं, अतएव वे किसी अटकसे नहीं आए, कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो उनके पास न हो, जिसकी उन्हें जरूरत हो। वे तो पूर्णकाम हैं। किसीकी अपेक्षा करके हमारे साथ आए हों यह बात नहीं है। [पुनः, भगवान्का भाव कि षडैश्वर्य्यसंपन्न होकरभी सब सुख छोड़ हमारे साथ कष्ट उठा रहे हैं। जंगलीमार्गमें पैदल चल रहे हैं। (रा० च० मिश्र)]।

चले जात मुनि दीन्हि देखाई। सुनि ताड़का क्रोध करि धाई ॥५॥

अर्थ—मार्गमें जाते हुए मुनिने ताड़काको दिखा दिया। सुनतेही वह क्रोध करके दौड़ी ॥५॥

नोट—१ वाल्मीकीयमें कहा है कि मुनिके साथ जब दोनों भाई एक भयानक वनमें पहुँचे तब उन्होंने उस वनका नाम आदि पूछा। मुनिने बताया कि पूर्व वे बड़े हरे-भरे मलद और कारूष देश थे। ताटका राक्षसी जो यहांसे आधे योजनपर निवास करती है, उसने इन देशोंको उजाड़ डाला; तबसे ये भयानक वन होगए। हमलोग ताटका-वनसे होकर चलें। तुम उसका वध करो। (और, अ० रा० में ताटका वनमें पहुँचनेपर श्रीरामजीसे कहना लिखा है)। मुनिके वचन सुनकर उन्होंने धनुषपर प्रत्यंचा चढ़ाकर तीव्र टंकार किया जिससे सब दिशाएँ गूँज उठीं। इस शब्दको सुनकर ताड़का क्रोधित और किंकर्तव्यमूढ़ हो उठ दौड़ी। (वाल्मी० १।२४।१३ से १।२६।८ तक। अ० रा० १।४।२६-२८)। वाल्मीकीयमें ताटकाका अनेक माया करना भी लिखा है और अ० रा० में ताड़काके आतेही श्रीरामजीका उसे एकही बाणसे मार डालना कहा है जो मानसके मतसे मिलता है।

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थोंमें 'ताटकाको दिखाना' नहीं कहा गया है, किंतु टंकार सुनकर उसका आना और मारा जाना कहा है। और, मानसमें 'मुनि दीन्हि देखाई' कहकर तुरत 'सुनि ताड़का' शब्द कहे गए हैं। 'चले जात' से सूचित करते हैं कि ताड़का मार्गमें मिली। ताटकावनमें ताटकाका निवास और उसका तथा उसकी दुष्टताका परिचय पूर्वही करा दिया गया था, यह बात 'दीन्हि देखाई' के साथही 'सुनि ताड़का' का उल्लेख करके जना दी गयी। यह दिखाना केवल अपनी आज्ञामें तत्पर करनेके लिये है। 'सुनि' शब्दसे यहां प्रसंगानुकूल यही बोध होता है कि मुनिने केवल दिखायाही नहीं किन्तु औरभी कुछ कहा जो ताड़काने सुना। क्योंकि दिखानेके बाद टंकारको सुनना उपयुक्त नहीं जँचता। 'दीन्हि देखाई' से उसका बहुत निकट होना सूचित होता है। 'सुनि' से जनाया कि मुनिने उसकी ओर अंगुल्यानिर्देश करते हुए कहा कि देखो, यही वह ताड़का है, इसपर दया न कीजिये। यही सुनकर वह बड़े क्रोधसे दौड़ी। (पं०, वै०, रा० प्र० का भी यही मत है)।

संत श्रीगुरुसहायलालजी नृसिंहपुराणका प्रमाण देकर लिखते हैं कि मुनिने यह कहा—'हे राम! हे राम! हे महाबाहो! ताड़का राक्षसी रावणकी आज्ञासे इस वनमें रहती है। इसने बहुतसे मनुष्यों, मुनिपुत्रोंको मार खाया है, इसे आप मारिये।' यथा 'राम राम महाबाहो ताटका नाम राक्षसी। रावणस्य नियोगेन वसत्यस्मिन्महावने। तथा मनुष्य बहवो मुनिपुत्रा मृगास्तथा। निहिता भक्षिताश्चैव तस्मात्त्वं जहि सत्तम।' इस प्रकार उसका दिखा देना सुनकर ताड़का क्रुद्ध हो दौड़ी। 'दीन्हि देखाई' के पीछे 'सुनि …' शब्द देकर गोस्वामीजीने पिता एवं गुरुकी मर्यादाका पालन किया है। आपने प्रश्नोत्तरका प्रसंगही दूर करके गुरु-आज्ञा-पालनकी मर्यादाका निर्वाह कैसा विचित्र किया है!! साथही इन्हीं शब्दोंमें वाल्मीकि आदि ऋषियोंकी वाणीकीभी रक्षा कर दी गई है।

पं० रामचरण मिश्रजीका मत है कि 'चले जात' से मुनिकी भयभीतता सूचित होती है। यह भाव 'एकहि बान प्रान हरि लीन्हा' को भी पुष्ट कर रहा है। प्रत्यंचाको टंकारका शब्द 'सुनकर क्रोधकर धाई हुई

ताड़काको मुनि दिखाई दीन्ह' इस प्रकार अन्वय करनेसे शंका नहीं रहती। यह बात अन्य रामायणोंसे सिद्ध है कि वनमें प्राप्त होतेही प्रभुने प्रत्यंचा चढ़ाया, उसकी टंकार वनभरमें गूँज उठी। उसीको सुनकर ताड़का दौड़ी आई। 'दीन्हि देखाई' केवल उसके मारनेके लिये। यहां प्रश्नोत्तरका मौकाही नहीं है। दिखा देनाही वधकी आज्ञा सूचक है। सत्योपाख्यानमेंभी टंकार सुनकर आना लिखा है। (उत्तरार्ध ४।४४)।

एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निज पद दीन्हा ॥६॥

अर्थ—श्रीरामजीने एकही बाणसे उसके प्राण हर लिये और दीन जानकर उसको 'निजपद' दिया॥६॥

टिप्पणी—१ (क) 'एकहि बान' इति। जब भगवान् क्रीड़ा करते हैं तब अनेक बाण चलाते हैं, नहीं तो एकही बाणसे काम लेते हैं; यथा 'द्विशरं नाभिसंधत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान्॥ हनु० ना० १।४८॥' अर्थात् श्रीरामजी दो बाण नहीं चलाते और अपने आश्रितको दो बार स्थापित नहीं करते। पुनः, 'एकहि बान' का भाव कि ताड़का एक बाणसे मरनेवाली न थी, अनेक बाणोंसे मारे जानेपर कहीं मरती तो मरती। श्रीरामजीने उसे एकही बाणसे मारडाला। इस कथनसे रामबाणकी प्रबलता दिखाई। [☞ मुनिजी बहुत डरेहुये हैं, इससे निशिचरोंको अपने अत्यन्त पराक्रमकी सूचना देने एवं गुरुकी आज्ञामें अपना अनुराग और तत्परता जनाने तथा मुनिका भय हरण करनेके लिये, एकही बाणसे उसको समाप्त किया। अथवा, यह सोचकर कि कहीं वह स्त्रीवधका दूषण न कहने लगे जिससे उस दुष्टासे संभाषणकी नौबत आवे, वा, कहीं वात्सल्यवश मुनिको संदेह न हो, उसे सद्यः एकही बाणसे मारडाला। वाल्मीकीय तथा नृसिंहपुराणसे स्पष्ट है कि श्रीरामजीने शंका की थी कि स्त्रीवध कैसे करें, यह महापाप है। उसपर मुनिने कहा कि इससे सब प्राणी व्याकुल हैं, अतः इसके वधसे पुण्य होगा। यथा 'अस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः। भवन्ति सततं तस्मात् तस्याः पुण्यप्रदो वधः।" (नृ० पु०, मा. त वि.)। अथवा, देरतक रणक्रीड़ा करते रहनेसे कदाचित् वह शरणमें आजाय तो उसको फिर मार न सकेंगे और उसका वध आवश्यक है क्योंकि गुरुकी आज्ञा है। अतः एकही बाणसे मारा। अथवा, स्त्री है इसको बहुत बाणों-द्वारा पीड़ित करना ठीक नहीं उसपर दया करके एकही बाणसे मारा। (पं०)। (ख) 'दीन जानि'—यह यक्षिणी थी। [अगस्त्यजीके शापसे पिशाचिनी और दुष्टा होगई थी। पिशाचिनी अपना पद पानेमें दीन है। शापित होनेसे उसे दीन जाना। (मा० त० वि०)। पुनः, अबला और विधवा दीन होतीही हैं, यह दोनों है। अतएव 'दीन' कहा। (पं०)। वा, परलोकपथसाधनमें सर्वथा हीन है इसमें शुभकर्मोंका लेशभी नहीं है, यह केवल पापरूपिणी है, हमको छोड़ इसकी मुक्तिका अवलंब और कुछभी नहीं है, इस प्रकार दीन जानकर गति दी। (बाबा हरीदास)।] (ग) 'निज पद दीन्हा' इति। अर्थात् वह पूर्वानुसार परम सुंदरी यक्षिणी होगई। यथा 'ततोऽति सुन्दरी यक्षी सर्वाभरणभूषिता। शापिपिशाचतां प्राप्ता मुक्ता रामप्रसादतः॥ अ० रा० १।४।३१॥' पुनः, 'निज पद' पाना रामबाणका माहात्म्यही है। अतः 'निजपद दीन्हा' कहा। [गोस्वामीजीने यहाँ 'निजपद' देकर सब मतोंकी रक्षा की है। परब्रह्म परमात्मा रामजीके बाणसे फिर भव नहीं रहजाता। मुक्ति होजाती है। उस अवतारमें अर्थ होगा कि मरतेहुए दिव्य रूप धारणकर परधामको प्राप्त हुई। निजपद = हरिपद, हरिधाम। अन्य रामावतारोंमें, 'निज पद' = यक्षिणी रूप। जो अध्यात्म आदिका मत है। सत्योपाख्यानमें स्वर्गकी प्राप्ति कही है—'देहं त्यक्त्वा च स्वर्गता। उतरार्ध अ. ४.४६)

नोट—१ "स्त्री अवध्य है। शास्त्रकी आज्ञा है कि न तो उसको मारे, न उसका अंग भंग करे। तब यहाँ ताड़काका वध क्यों किया ?" पं० रामकुमारजी आदि अनेक टीकाकारोंने यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया है कि गुरु आदिका वचन श्रेष्ठ है परम धर्म है। यथा "सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ ७७।३-४॥' (शंकरवाक्य); 'गुरु पितु मातु स्वामि हित बानी। सुनि मन मुदित करिय भल जानी॥ उचित कि अनुचित

कियें विचारू । धरमु जाइ सिर पातक भारू ॥ अ० १७ ॥' गुरुवचन मानकर स्त्रीका वध किया । (पं० रा० कु०) । परन्तु इसमें फिर यह शङ्का करके कि शूर्पणखाके नाक कान काटनेमें तो किसीकी आज्ञा न थी, वहाँ यह उत्तर काम न देगा ? उसका समाधान यह करते हैं कि आततायीका वध उचित है । आततायी छः प्रकारके हैं । उनमेंसे एक स्त्री अपहरण करनेवालाभी है; यथा 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ।' वह राजकुमारीको खाने दौड़ी थी । सत्योपाख्यानसे भी यही बात सिद्ध होती है कि गुरुकी आज्ञा से मारा, यथा 'कौशिकेन समाज्ञप्तः शरं धनुरुपाददे । घृणयास तदा बाणं मुमोच ताड़कोरसि । उत्तरार्द्ध अ० ४।४८।' वाल्मी० १.२६ में श्रीरामजीने स्वयं मुनिसे कहा है कि मेरे पिताने मुझे यही उपदेश किया था कि विश्वामित्रके वचनोंका कभी तिरस्कार न करना, उनकी आज्ञाका पालन करना । आप ब्रह्मवादी हैं । मैं आपकी आज्ञासे उसका वध करूँगा । इससे भी गुरुकी आज्ञा मुख्य है ।

२ (क) वाल्मीकीयमें श्रीरामजीके संकोच करनेपर विश्वामित्रजीका विस्तृत समाधान है । "नहि ते स्त्रीवधकृते घृणाकार्य्या नरोत्तम । चातुर्वर्ण्यहितार्थं हि कर्तव्यं राजसूनुना । १ । २५ । १७ ।" पुनः, नृसिंहपुराणे यथा 'इत्येवमुक्तो मुनिना रामस्सस्मितमब्रवीत् । कथं तु स्त्रीवधं कुर्यामहमद्य महामुने । स्त्रीवधे तु महत्पापं प्रवदन्ति मनीषिणः । इति रामवचः श्रुत्वा विश्वामित्र उवाच तं । अस्यास्तु निधनाद्राम जनाः सर्वे निराकुलाः । भवन्ति सततं तस्मादस्याः पुण्यप्रदोवधः ।'—सारांश यह कि जब किसी दुष्टा स्त्रीके वधसे चारों वर्णोंका हित हो तो उसका वध करना राजाका कर्त्तव्य है, इसने बहुतेरे मनुष्यों मुनियों आदिको मार खाया है, इसके वधसे सदाके लिये लोग दुःखसे छूट जायँगे और तुमको पुण्य होगा । (ख) जो कोई भी अस्त्रशस्त्र लेकर सम्मुख आकर आक्रमण करे और जिससे प्रजापालनमें विघ्न होता हो उसका वध उचित है चाहे वह मित्र, गुरु आदिही क्यों न हो । अतएव ताड़काका वध किया गया । यथा 'मित्रं वा बंधवो वापि पिता वा यदि वा गुरुः । प्रजापालनविघ्नाय यो हन्तव्यः स भूभृता ।" (मार्कं० पु०, पं०) । (ग) इसके वधसे अन्य सब दुष्टोंको भय होगा कि जब इन्होंने अवध्याको न छोड़ा तब हम पर दया कब करने लगे । (पं०) । (घ) अधमा नारीसे अधमही पैदा होंगे, यह सोचकर वध किया । (रा० प्र०) ।

नोट—३ (क) "निशिचरोंसे युद्धका यहाँसे अथश्री वा श्रीगणेश हुआ, पहले स्त्रीहीपर हाथ चलाना अमङ्गल है ?" यह शंका उठाकर पंजाबीजी तथा हरिहरप्रसादजीने उसका समाधान यह किया है कि "अविद्याके नाशसे कामादिक नष्ट होजाते हैं, प्रथम अविद्याका नाश करना जरूरी है । ताड़का अविद्यारूपिणी है । नामबन्दनामें ताड़काको दुराशासे रूपक दिया है;—'सहित दोष दुख दास दुरासा ।' इसके बधसे और निशिचरोंकाभी वध होना सिद्ध किया ।" क्योंकि दुराशाके नाशसे कामादि शेष आसुर-संपत्तिका नाश सुगमतासे हो जाता है ।

(ख) ☞ बिना तामसी वृत्तिका संहार किये कोई पुरुष वीर नहीं कहला सकता । संभवतः यही कारण है कि संसारके सर्वश्रेष्ठ वीरोंने पहले दुष्टा स्त्रियोंही पर हाथ साफ़ किया । इन्हींसे दुष्टदलनका श्रीगणेश किया । श्रीरामजीने ताटकाका, श्रीहनुमान्‌जीने सिंहिकाका और श्रीकृष्णजीने पूतनाका वध किया ।

प. प. प्र.—ताटका और पूतना दोनों स्थूलदेहबुद्धिके प्रतीक हैं । जबतक स्थूलदेहबुद्धिका विनाश नहीं होता तबतक उसके पुत्र-पौत्र-परिवारादिकका विनाश असंभव है । कारणदेह (अज्ञान) का तो संहार ही करना पड़ता है और वह ज्ञानरूपी पवित्रबाणसे ही हो सकता है । अतः 'पावक सर सुबाहु पुनि मारा' । —'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥ गीता ४।३८ ॥', 'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ॥ गीता ५।१६॥' मारीच सूक्ष्म वा लिंग देह है । इसका विनाश तो प्रारब्धक्षय होनेपर ही होता है, अतः उसको मारा नहीं जाता । अन्तःकरणको ब्रह्माकार, रामाकार बनाना ही इसका नाश है । सूक्ष्मदेहके सहारेसे ज्ञानो-

रार भक्तिकी और भजनकी संभावना रहती है। अतः इसको दूर फेंक दिया। इसके मनको रामाकार बना दिया है। ऐसे आध्यात्मिक अर्थोंके श्रीमानसमें जैसे भरपूर और शास्त्रशुद्ध आधार मिलते हैं, वैसे वाल्मी०, अ० रा० आदिमें नहीं हैं। श्रीरामने ताटकाका सुत, परिवार, सेना सहित बिनाश किया और गति दी, वैसेही श्रीकृष्णने पूतनाका शरीर नाश किया और गति दी।

तब रिषि निज नाथहि जिय चीन्ही। बिद्यानिधि कहुँ बिद्या दीन्ही ॥७॥
जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा ॥८॥

अर्थ—तब ऋषिने जीसे अपने स्वामीको पहिचानकर उन विद्यासागरको (वह) विद्या दी ॥ ७ ॥ जिससे भूख प्यास न लगे और शरीरमें अमित बल और तेजका प्रकाश हो ॥ ८ ॥

नोट—१ मुनिके पूर्व वाक्य ये हैं। 'प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा', 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना'। इनसे मुनिका प्रभुको जानना स्पष्ट है। तो अब 'तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही' किस भावसे कहा गया? इस शंकाको उठाकर महानुभावोंने उसका समाधान यह किया है—(१) प्रथम दोनों चौपाइयोंमें जो जानना कहागया वह विष्णुबुद्धिसे और अब 'निज नाथहि चीन्ही' जो कहा गया वह परब्रह्म भावसे कहा गया। अर्थात् अब जाना कि ये परात्पर परब्रह्म हैं। (रा० प्र०)। (२) विश्वामित्रको ईश्वरत्वज्ञान पहले तो यथार्थ था, परन्तु जब श्रीदशरथजीने पुत्रोंको सौंपकर कहा कि 'तुम्ह मुनि पिता आन नहि कोऊ' तबसे वात्सल्यरसकी अधिकता होगई; इस कारण मुनि इनके वात्सल्यमें ऐश्वर्य भूलगए जिसका प्रमाण गीतावलीमें है। यथा 'पैठत सरनि सिलनि चढ़ि चितवत खग मृग बन रुचिराई। सादर सभय सप्रेम पुलकि मुनि पुनि पुनि लेत बोलाई।' (५०), 'खेलत चलत करत मग कौतुक बिलमत सरित सरोवर तीर। तोरत लता सुमन सरसीरुह पियत सुधासम सीतल नीर ॥ ३ ॥ बैठत बिमल सिलनि बिटपनि तर पुनि पुनि बरनत छांह समीर। देखत नटत केकि कल गावत मधुप मराल कोकिला कीर।' (५२)। फिर जब एकही बाणसे ताड़काका प्राण हर लिया तब फिर ऐश्वर्य्यकी स्मृति हो आई कि ये ईश्वर हैं। (वन्दनपाठकजी)। (३) यहां वात्सल्यरस प्रधान है क्योंकि इस रसके उदय होतेही ऐश्वर्य्यका आभास मिट जाता है। जैसे श्रीमद्भागवतमें अक्रूरजी यमुनामें निमग्न होके ऐश्वर्य्य देखनेपरभी रथारूढ़ कृष्णके वात्सल्यसे ऐश्वर्य्य भूल गए। ऐसेही भुशुण्डि और लोमश आदिभी भूल भूलगए। (रा० च० मिश्र)। (४) माधुर्य्य लीला देखकर मुनिको भ्रम था, वह भ्रम अब ताड़कावधसे दूर होगया, क्योंकि ताड़काका मारना 'अमानुष' कर्म है। यथा कौशल्यावाक्ये—'मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी ॥'''३५६ ॥...' "सकल अमानुष करम तुम्हारे।' माधुर्य्यलीलामें भ्रम हो जाना आश्चर्य्य नहीं है; यथा 'निर्गुनरूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ। सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होइ ॥ ७७३ ॥' पुनः, 'जिय चीन्ही' का भाव कि पूर्व वेदपुराणादिसे जानते थे, सुने थे, पर जब ताड़काको एक बाणसे मारडाला तब 'जिय में चीन्हे'। (पं० रामकुमार)। (५) 'पहले जगत्का नाथ' जानते थे अब 'निज नाथ' जाना—यह भेद पहले और अबके जाननेमें है। (६) "मार्गमें चलते हुए दोनों भाई बालकेलि करने लगे, उसीसे मुनि ऐश्वर्य्य भूलगए जैसा गीतावलीके उद्धरणमें दिखा आए हैं। मुनिको बड़ा ज्ञानी जान उनको भुला दिया। जब दीन अधीन हुए, तब शीघ्र ताड़कावधसे ऐश्वर्य्य जनादिया। पहले मुनिको ज्ञान, तपोबल और अस्त्रशस्त्र आदिका मनमें अभिमान था, वह नष्ट हुआ और प्रभुमें विश्वास हुआ तब सब समर्पण कर दिया। (शीलावृत्त)।(७) "अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचरबध मैं होब सनाथा।" जाननेपर भी यह शंका थी कि इस सुकुमार शरीरसे और इस अवस्थामें निशाचरवध कर सकेंगे या नहीं। जब प्रत्यक्षही देखा कि केवल केलि-धनुहीसे एकही बाणसे ताटकावध कर डाला, तब यह जान लिया कि अब निशाचरवध होगा और मैं

सनाथ हो जाऊँगा। जबतक निशाचरवध न होगा तबतक मैं तपः सामर्थ्य संपन्न होता हुआ भी अनाथ ही हूँ। सनाथ होनेमें अब संदेह नहीं रहगया। अब प्रभु श्रीरामजीके कारण मैं सनाथ हूँ ऐसा पूर्ण विश्वास और मनमें सेव्य-सेवक-भावसे प्रेम उत्पन्न हुआ।—'जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती।' भगवान हैं यह पहले जाना, पीछे उनके प्रभावकी प्रतीति ताटकावधसे मिली, तब प्रतीतिने प्रीतिको जन्म दिया।' (प. प. प्र.)

टिप्पणी—१ 'बिद्यानिधि कहं बिद्या दीन्ही' इति। जबतक नदी आदिका जल समुद्रसे पृथक् नदी हीमें रहता है तबतक वह छोटा (थोड़ा) रहता है, पर जब वह समुद्रमें जाकर समुद्रमें मिल जाता है तब वह बड़ा होजाता है, वैसेही यहाँ जानो। जबतक बिद्या मुनिके पास रही तबतक उसकी बड़ाई न थी पर जब वही विद्या विद्यानिधिके यहाँ आई तब उसने बड़ाई पाई। यथा 'विद्या दई जानि बिद्यानिधि बिद्यहु लही बड़ाई।' (गी० ५३)। पुनः, विद्यानिधिको विद्या देना ऐसाही है जैसा कि समुद्रका अंजलि भर जल लेकर समुद्रकोही अंजली देना। भाव कि एक अंजलि जलसे समुद्र न तो कुछ बढ़ही गया न घट, पर अंजलि देनेवालेकी बड़ाई होती है; यथा 'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये।' वैसेही इस समर्पणसे मुनि और उनकी विद्याको बड़ाई मिली। वाल्मीकीयमें मुनिने कहा है कि 'यद्यपि ये सब गुण आपमें विद्यमान हैं तथापि इन्हें ग्रहण करो'। पुनः, 'विद्यानिधि कहँ' का भाव कि कुछ अज्ञानी जानकर नहीं पढ़ाया वरंच यह जानकर कि ये विद्यानिधि हैं, इनको पढ़ाया।

नोट—२ 'विद्या दीन्ही' इति। बला और अतिबला नामक अस्त्रविद्याके मंत्र मुनिने दिये। इस विद्याके प्रभावसे न तो शारीरिक परिश्रम कुछ जान पड़ता है, न कोई मानसिक कष्टही होता है और न रूपमें किसी प्रकारका परिवर्तन होता है। मुनिने औरभी प्रभाव यह बताया है कि 'इससे सोते या असावधान किसीभी अवस्थामें राक्षस तुम्हारा अपकार नहीं कर सकते, तुम्हारे समान बलवान् पृथिवीमें एवं तीनों लोकोंमें कोई न होगा। क्योंकि ये विद्याएँ सब प्रकारके ज्ञानोंकी जननी हैं। ये ब्रह्माकी पुत्री हैं और बड़ी तेजस्विनी हैं। इनसे बड़े-बड़े लाभ होंगे। इत्यादि। यथा "न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः ॥१३॥ न च सुप्तं प्रमत्तं वा धर्षयिष्यन्ति नैर्ऋताः। न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यामस्ति कश्चन ॥ १४॥ त्रिषु लोकेषु वा राम न भवेत्सदृशस्तव ॥···१५ ॥···बलाचातिबला चैव सर्वज्ञानस्य मातरौ ॥ १७ ॥···पितामहसुते ह्येते विद्ये तेजः समन्विते ॥ १६ ॥···" (वाल्मी० १।२२)।

३—वाल्मीकीय और अ० रा० के कल्पोंमें बला और अतिबला अस्त्रविद्याएँ ताटकावधके पहले ही दी गई हैं और मानसके कल्पमें ताटकावधके पश्चात्।

टिप्पणी—२ 'जाते लाग न छुधा पिपासा' यह कहकर फिर 'अतुलित बल तनु तेज प्रकासा' कहनेका तात्पर्य्य यह है कि भूखप्यास बंद होनेसे शरीरका बल और तेज-प्रकाश जाता रहता है; पर इस विद्याको पढ़ लेनेसे भूखप्यास न रहनेपरभी बल, तेज और प्रकाश बढ़ताही जाता है। इन दोनों विद्याओंका नाम बला और अतिबला है; यथा अध्यात्मे "ददौ बलां चातिबलां विद्ये द्वे देवनिर्मिते। ययोर्ग्रहणमात्रेण क्षुत्क्षामादि न जायते ॥ १।४।२५ ॥" [इस विद्याके देनेका अभिप्राय यह है कि निशिचरसमूहसे युद्ध करना होगा, यज्ञमें कई दिन लगते हैं, न जाने युद्धमें भोजनका अवसर मिले या न मिले; क्योंकि निशिचर बड़े घोर और बलवान् होते हैं, वे कई दिनतक बराबर लड़ सकते हैं। वाल्मी० १।३०।५ में कहा है कि दोनों भाइयोंने छः दिन रात विना सोये यज्ञकी रक्षा की। इन विद्याओंके संबंधमें वाल्मी० १।२२ मेंभी कहा है 'क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्ये ते नरोत्तम ॥ १८ ॥' 'क्षुत्पिपासे' मानसका क्षुधा-पिपासा है। और उपर्युक्त नोटमेंके उद्धरणमें जो 'न बाह्वोः सदृशो वीर्ये पृथिव्यां···त्रिषु लोकेषु' और 'न रूपस्य विपर्ययः' कहा है वही क्रमशः

मानसके 'अतुलित बल तनु' और 'तेज प्रकासा' हैं ।] बला और अतिबलाकी प्राप्ति कहकर आगे औरभी विद्याओंकी प्राप्ति कहते हैं । आगे दोहेमेंभी देखिये ।

प. प. प्र.—'विद्यानिधि' 'पिपासा' इति । इस विद्याका मंत्र सावित्र्युपनिषदमें दिया है । ऋषि, छन्द, देवता, और न्यास आदि सब वहाँ दिये हैं और 'क्षुधादि निरसने विनियोगः ।' इसका मुख्य हेतु क्षुधातृषादि षडूर्मियोंको जीतना है । इस विद्याको 'चतुर्विधपुरुषार्थप्रदा' भी मंत्रमें ही कहा है । इस मंत्रका प्रति दिन १००० जप ४० दिनतक करनेसे एक अनुष्ठान होता है और ऐसे चार अनुष्ठान करनेपर अधिकारीको मंत्रसिद्धिकी अनुभूति होती है, ऐसा श्रीगुरुमहाराजका वचन इस दासने सुना है और अल्प प्रमाणमें इस मंत्रका अनुभवभी देखा है । इस मंत्रको अर्काविद्याका मंत्र गुरुमहाराजने नहीं कहा और न उपनिषदमें ही ऐसा उल्लेख है । इस मंत्रमें मुख्य है गायत्री मंत्र ।

दोहा—आयुध सर्ब समर्पि कै प्रभु निज आश्रम आनि ।
कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगति[1] हित जानि ॥२०६॥

शब्दार्थ—निज आश्रम—यह आश्रम सिद्धाश्रम नामसे प्रसिद्ध है । यहीं भगवान्‌ने वामन अवतार लेकर देवकार्य्य किया था, यथा सत्योपाख्याने—'सिद्धाश्रमं समागत्य सिद्ध्यर्थं कौशिकस्य च । उत्कंठितो बभूवात्र वामनोह्यभवत्पुरा । (उ० ४।५२)' । पुनश्च "एष पूर्वाश्रमो राम वामनस्य महात्मनः । वाल्मी० १.२९.३ ।", "मयापि भक्त्या तस्यैव वामनस्योपभुज्यते । २२ ।" हित = हितैषी, हितू । प्रिय ।

अर्थ—समस्त अस्त्रशस्त्र समर्पण करके प्रभुको अपने आश्रममें लाकर उन्हें परम हितैषी (वा, इनको भक्ति प्रिय है यह) जानकर भक्तिपूर्वक कन्द मूल फल भोजन समर्पण किया । २०६ ।

पं० रा० च० मिश्रजी—मुनिके हृदयमें जो ब्राह्मणत्वका अहंकार था (जैसा 'प्रभु ब्रह्मन्यदेव मैं जाना' से स्पष्ट है) वह उन्होंने विद्या समर्पण करके दूर किया—यह समझकर कि 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पितम् ।'; रहा क्षत्रियत्वका अहंकार, उसे आयुध समर्पण करके छुड़ायेंगे । क्योंकि आत्मा जबतक निरहंकार नहीं होजाता तबतक शुद्धबुद्ध मुक्त स्वरूप नहीं हो सकता । पुनः, दूसरा भाव यह है कि यहाँ वात्सल्यरसने फिर ऐश्वर्य्यको दबा दिया है तभी तो प्रभुको विद्या देने लगे । जब राजासे इनको माँगने गए थे तब इनपर ऐश्वर्य्य सवार था और राजापर वात्सल्य; और जब राजाने इनको पिता बना दिया तबसे इनमें वात्सल्य प्रधान हो गया । ताड़कावधपर ऐश्वर्य्यका स्मरण हो आया था, परन्तु फिर वात्सल्यने आ घेरा । मुनिने सोचा कि वनमें न जाने भूख प्याससे दुर्बल हो जायँ तो इनके माता-पिता क्या कहेंगे, अतएव माधुर्य्य-पक्षमें इनको विद्या दी और शस्त्रास्त्र दिये ।

नोट—१ इस दोहेसे मिलता हुआ श्लोक यह है—'सर्वास्त्रजालं सरहस्यमन्त्रं प्रीत्याभिरामाय ददौ मुनीन्द्रः । अ० रा० १।४।३३ ।'

२ 'सर्व आयुध' से वह समस्त दिव्यास्त्र और उनके संहार जना दिये जिनका विस्तृत वर्णन वाल्मी० १।२७।४-२१, १।२८।४-१२ में है । वे ये हैं—दण्डचक्र, धर्मचक्र, कालचक्र, विष्णुचक्र, ऐन्द्रचक्र, वज्रास्त्र, शिवजीका श्रेष्ठ शूल, ब्रह्मशिर, ऐषीक, ब्रह्मास्त्र, मोदकी और शिखरी नामकी गदाएँ, कालपाश, धर्मपाश, वरुणपाश, दो अशनी (एक शुष्क, दूसरी आर्द्र), शिवास्त्र और नारायणास्त्र, अग्निका प्रिय अस्त्र शिखर, वायव्य, हयशिर, क्रौञ्च, दो शक्तियाँ, कंकाल, मूशल, कपाल, किंकिणी, नन्दन, गंधर्वोंका मोहनास्त्र, प्रस्वापन, प्रशमन, वर्षण, शोषण, सन्तापन और विलापन गुणवाले अस्त्र; कामदेवका दुर्धर्ष मादन; मानव,

---

[1] भगति—१६६१, पं० । भगत—रा० प्र० ।

मोहन, तामस, सौमन, संवर्त और मौसल; सत्य और मायामय; सूर्यका तेज; प्रभु अस्त्र; चन्द्रका शिशिर, दारुण त्वाष्ट्र और शीतेषु नामक अस्त्र।—ये सब कामरूपी हैं, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले, बड़े बली और मनोरथ सिद्ध करनेवाले हैं। अस्त्रोंके संहारामंत्रोंके नाम इसी तरह वाल्मी० १।२८।४-१२ में दिये हैं।

३ 'समर्पि कै' इति। आयुधोंका समर्पण इस प्रकार किया कि पूर्व ओर मुख करके बैठे और श्रीरामजीको समस्त आयुधोंके सब मंत्र दिये। मुनिके जप करतेही वे सब आयुध श्रीरामजीके पास आगए। सब आयुधोंके देवता सामने हाथ जोड़कर बोले कि हम आपके दास हैं, आप जो आज्ञा दें वह हम करें। यथा 'स्थितस्तु प्राङ्मुखो भूत्वा शुचिर्मुनिवरस्तदा। ददौ रामाय सुप्रीतो मन्त्रग्राममनुत्तमम्। २२।...' जपतस्तु मुनेस्तस्य विश्वामित्रस्य धीमतः। उपतस्थुर्महार्हाणि सर्वाण्यस्त्राणि राघवम्। २४। ऊचुश्च मुदिता रामं सर्वे प्राञ्जलयस्तदा। इमे च परमोदार किंकरास्तव राघव। २५।' (वाल्मी० १.२७)। सब आयुध कामरूप हैं। जब जिसका स्मरण किया जाता है। वह समीप आ जाता है।

४ 'आयुध सर्ब समर्पि कै' कहकर तब 'निज आश्रम आनि' लिखकर शब्दोंके क्रमसे ही जना दिया कि आयुध समर्पित करनेके पश्चात् आश्रममें लेगए। इससे सूचित हुआ कि ताटकावधसे मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए और आनंदके मारे उन्होंने ताटकावनमें ही तुरत विद्या और आयुध समर्पण कर दिए। यथा "प्रहस्य राघवं वाक्यमुवाच मधुरस्वरम्।१। परितुष्टोऽस्मि भद्रं ते राजपुत्र महायशः। प्रीत्या परमया युक्तो ददाम्यस्त्राणि सर्वशः।२। वाल्मी० १।२७" "ख्याल दली ताड़का देखि रिषि देत असीस अघाई। गी० ५३।" "सुन्दस्त्रीदमनप्रमोद मुदितादास्थाय विद्योदयं... । हनु० १।७।" अर्थात् ताड़कावधके आनंदसे प्रसन्न हुए मुनिसे विद्याओंको ग्रहण कर।

५ ये सब अस्त्र मुनिने तपस्याद्वारा महादेवजीकी प्रसन्नतासे प्राप्त किये थे।

६ "कंद मूल फल भोजन..." इति। भक्तोंके यहाँ जो कुछ रहता है वही प्रभु प्रेमपूर्वक अङ्गीकार करते हैं। इसीसे कहते हैं कि कंदमूल फल जो उनके आश्रममें थे सो ही दिए। राजा समझकर कंदादि नहीं दिए; क्योंकि राजाओंके योग्य यह भोजन नहीं है। उनके योग्य सामग्री वनमें कहाँ? जो यह कहो कि ये मुनि तो बड़े समर्थ हैं, ऋद्धि सिद्धि इनके आश्रित हैं, इन्होंने तो स्वर्गकी रचना की थी, फिर इन्होंने राजाओंके योग्य भोजन पदार्थ क्यों न दिए?' तो इसीके निवारणार्थ कविने यह पद रक्खा है—'भगतिहित जानि'। इनको भक्ति प्रिय है, भक्तिसे जो कुछभी अर्पण किया जाता है उसे ये अङ्गीकार करते हैं। यथा 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।' गीता ९।२६। विश्वामित्रने यह विचार किया कि ये भक्तहितकारी हैं, हमारे साथ रहनेसे हमारेसे आचरण ग्रहण किए हुए हैं। अर्थात् जैसे हम नंगे पैर वैसे ये भी हमारे साथ बिना सवारी सेवकके और हम सब कंदमूल भोजन करते हैं तो ये अन्य पदार्थ कैसे अङ्गीकार करेंगे; अतएव कंद-मूल-फल दिए। पुनः, प्रथम कहा कि वह विद्या दी जिससे भूख प्यास न लगे, तो फिर कंद-मूल-फल देनेका प्रयोजन ही क्या रह गया? इसलिए संदेह निवारणार्थ 'भगतिहित जानि' कहा, यह हेतुसूचक बात कहना 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है।

७ आश्विनकी अमावस्याको सिद्धाश्रममें पहुँचे थे।

प्रात कहा मुनि सन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई ॥१॥
होम करन लागे मुनि झारी। आपु रहे मख की रखवारी ॥२॥

शब्दार्थ—झारी = झुण्डके झुण्ड; सब। रखवारी = रखवाली, रक्षा।

अर्थ—प्रातःकाल (होते ही) श्रीरघुनाथजीने मुनिसे कहा कि आप जाकर निडर होकर यज्ञ करें॥१॥ सब मुनि (जाकर) होम करने लगे और आप यज्ञकी रखवालीपर रहे॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'प्रात कहा मुनि सन रघुराई' कहकर जनाया कि श्रीरामजी सब कृत्योंका समय

जानते हैं। यह समय मुनियोंके यज्ञ करनेका है यहभी जानते हैं; इसीसे 'प्रात कहा' लिखा। [श्रीराम-लक्ष्मणजी देशकालके उचित कर्त्तव्यके जाननेवाले हैं, शत्रुओंके संहारक और देशकालोचित वचन बोलनेवाले हैं। यथा 'अथ तौ देशकालज्ञौ राजपुत्रावरिंदमौ। देशे काले च वाक्यज्ञावब्रूतां कौशिकं वचः। वाल्मी० १।३०।१।"] यह भी जनाया कि श्रीरामजी गुरुसेवामें कैसे तत्पर हैं। ये उत्तम सेवक हैं, इसीसे मुनिको कहना न पड़ा कि हम यज्ञ करेंगे तुम रक्षा करना, इन्होंने अपनीही ओरसे मुनिसे यज्ञ करनेको कहा। आगे भी समय जानकर आपका सेवा करना पाया जाता है; यथा 'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई। २२७।२।' इत्यादि। (ख) 'रघुराई' का भाव कि रघुवंशी ब्राह्मणोंके अभयदाता होते आए हैं और ये तो रघुवंशके राजा हैं, इसीसे मुनिसे 'निर्भय' होनेको कहा। (ग) 'निर्भय जज्ञ करहु' कहा क्योंकि मुनियोंको मारीच और सुबाहु आदि राक्षसोंका भय था, यथा 'जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहि डरहीं। २०६।३।', 'असुर समूह सतावहि मोही। २०७।६।' (घ) 'करहु तुम्ह जाई' से जनाया कि यज्ञशाला आश्रमसे कुछ दूरीपर अलग बना हुआ था। यहभी जनाया कि जाइए, हम यहाँ रक्षाके लिये खड़े हैं। [पं० रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि "ताड़कावधसे मुनि ऐश्वर्य्य जान गए थे, फिर रामजीने इनसे निर्भय होनेको क्यों कहा ? तात्पर्य्य यह है कि मुनिके ऐश्वर्य्यज्ञानको फिर वात्सल्यने दबा लिया था। इससे फिर प्रभुने अपने ऐश्वर्य्यका स्मरण कराया। 'जाई' पदसेभी भय सूचित होता है। मुनि इनका साथ नहीं छोड़ते। इतने भयभीत हैं कि राजकुमारोंका सान्निध्य नहीं छोड़ सकते। अतः 'निर्भय' से ऐश्वर्य्य स्मरण कराते हुये फिर 'तुम्ह जाई' पद दिया।]

२ (क) 'होम करन लागे मुनि भारी' इति। श्रीरघुनाथजीके कहनेपर सब मुनि यज्ञशालामें जाकर होमके पूर्वकी सब बिधि करके होम करने लगे अर्थात् यज्ञकुंडमें आहुति देने लगे। यज्ञमें होमही मुख्य है, इसीसे होम करनाही लिखा और विधियों क्रियाओंका उल्लेख नहीं किया। पुनः, भाव कि और विधियाँ तो किसी तरह निबह भी जाती थीं पर होम नहीं निबह पाता था, इससे 'होम' हीको कहा। (ख) 'मुनि भारी' से जनाया कि इसके पूर्व केवल वही मुनि होम करने बैठते थे कि जो समर्थ थे, असमर्थ मुनि नहीं बैठते थे, परन्तु इस समय श्रीरामजीका बलभरोसा पाकर समस्त मुनिगण होम करनेलगे। वा, सब मुनि इसलिये एकदमसे बैठगए जिसमें यज्ञ जल्दी पूर्ण होजाय, मारीच सुबाहु आदि न आने पावें। (इस भावसे मुनिके हृदयमें अबभी भय भरा हुआ देख पड़ता है)। (ग) 'आपु रहे मखकी रखवारी' से जनाया कि धनुष बाण लेकर खड़े होगए। ('करहु तुम्ह जाई' और 'आपु रहे...' से जनाया कि मुनि यज्ञशालामें यज्ञ करने गए और आप बाहर खड़े होकर रक्षामें तत्पर हुए। 'रखवारी' से जनाया कि तरकश पीतपटसे कसे हाथोंमें धनुष बाण लिये, रोदा चढ़ाए रखवाली करने लगे)।

नोट—अ० रा० में ऐसाही कहा है—"श्रीरामः कौशिकं प्राह मुने दीक्षां प्रविश्यताम् ॥ ३ ॥...तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह ॥४॥ अ० रा० १।५।" यह यज्ञ छः दिन-रात का था। यथा 'अद्यप्रभृति षड्रात्रं रक्षतां राघवो युवाम्। वाल्मी० १।३०।४।' अर्थात् आजसे छः रात्रितक आप दोनों राघव यज्ञकी रक्षा करें।

सुनि मारीच निसाचर क्रोही। लै सहाय धावा मुनिद्रोही ॥३॥
बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा ॥४॥
पावक सर सुबाहु पुनि मारा१। अनुज निसाचर कटकु संघारा ॥५॥

१—जारा १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मारा—१६६१, १७०४।

शब्दार्थ—सहाय = सेना, कटक, यथा 'अनुज निसाचर कटकु संघारा'। फर = फल, अनी, बाण का अग्रभाग जो लोहेका और नोकीला होता है जिससे आघात किया जाता है।

अर्थ—(यज्ञ समाचार वा स्वाहा शब्द) सुनकर मुनियोंका द्रोही (शत्रु) क्रोधी राक्षस मारीच सेना लेकर दौड़ा ॥ ३ ॥ श्रीरामजीने विना फलवाला बाण उसपर चलाया जिससे वह सौ योजन (४०० कोस) वाले समुद्रके पार जा गिरा ॥ ४ ॥ फिर अग्निबाणसे सुबाहुको मारा। (इधर) भाई लक्ष्मणजीने निशाचर-सेनाका नाश किया ॥५॥

नोट—'सुनि मारीच' इति। पूर्व २०६ (४) में कहा था कि 'देखत जग्य निसाचर धावहिं' और यहाँ कहते हैं कि 'सुनि मारीच ...धावा मुनिद्रोही'। दो जगह दो बातें लिखनेका भाव यह है कि इसके पूर्व मुनि लोग भय के कारण छिपकर यज्ञ किया करते थे, शब्द नहीं होने देते थे; तब निशाचर धुआं देखकर धावा करते थे। इसीसे पूर्व 'देखत जज्ञ निसाचर धावहिं' लिखा था और, इस समय रघुनाथजीके बलभरोसेपर यज्ञ करने बैठे हैं और मुनिभी बहुतसे हैं, सभी आहुति देते हुए 'स्वाहा' शब्द जोर-जोर उच्चारण कर रहे हैं जिससे शब्द बनभरमें गूँज उठा है, यह शब्द सुनकर मारीचने धावा किया। पुनः, दो जगह पृथक्-पृथक् दो शब्द देकर जनाया कि मारीच सुनकरभी यज्ञ नष्ट करता है और देखकरभी। (पं० रामकुमार)। किसी-किसी रामायणमें ऐसा लिखा है कि इन्होंने दूतोंसे अपनी माँका वध और बड़ेभारी यज्ञकी तैयारीकी खबर पाई थी। वाल्मीकीयमें विश्वामित्रजीका राजासे यह कथन है कि मारीच-सुबाहु यज्ञकी पूर्तिके समय आकर उपद्रव करते हैं; पर मानसका मत यह जान पड़ता है कि होमका प्रारंभ होतेही कुछ देरमें मारीच आपहुँचा। यहाँ 'होम करन लागे' शब्द हैं। यही मत अ० रा० का है, यथा "तथेत्युक्त्वा मुनिर्यष्टुमारेभे मुनिभिः सह ॥ ४ ॥ मध्याह्ने ददृशाते तौ राक्षसौ कामरूपिणौ। मारीचश्च सुबाहुश्च'' ॥५॥ (सर्ग ५)।" अर्थात् विश्वामित्रजीने मुनियोंके साथ यज्ञ करना आरंभ करदिया। मध्याह्नसमय मारीच सुबाहु दोनों राक्षस दिखाई दिये। हनुमन्नाटकमेंभी यज्ञ प्रारंभ होनेपरही राक्षसोंका आना लिखा है,— 'क्लृप्ते कौशिकनन्दनेन च मखे तत्रागतान् राक्षसान्। हत्वा...। १।७।' अर्थात् विश्वामित्रके पवित्र यज्ञका आरंभ करनेपर वहाँ आए हुए राक्षसोंको मारा।

टिप्पणी—१ (क) 'निसाचर क्रोही' का भाव कि मारीच स्वाभाविकही क्रोधी है और यहाँ तो क्रोधका हेतुही उपस्थित है तब क्योंकर न क्रोध करता। तात्पर्य कि क्रोध करके उसने धावा किया। (ख) 'लै सहाय'। सहायक सेना साथ लेकर धावा करनेका कारण यह है कि श्रीरामजीने ताड़काको एकही बाणसे मारडाला था। अतएव वे समझते हैं कि राजकुमार भारी बलवान् हैं। [पुनः, भाव कि इसके पूर्व केवल सेना और नायकोंसे काम लेता रहा था; यथा 'असुरसमूह सतावहिं मोही'; मारीचको स्वयं यज्ञविध्वंस करने नहीं जाना पड़ता था पर अबकी शत्रुको परम सबल जानकर वह स्वयं आया और सेनाभी साथ लाया।] (ग) 'मुनि द्रोही' कहा क्योंकि मुनियोंको अपना धर्म कर्म न करने देते थे। यथा 'जहँ जप जज्ञ जोग मुनि करहीं। अति मारीच सुबाहुहिं डरहीं। २०६.३।'

नोट—'बिनु फर बान' इति। तीरके नोकपर लोहा लगा रहता है जिसे अनीभी कहते हैं, यही नोकीला लोहा फर (फल) है। इसे निकाल लेनेसे थोथा तीर रहजाता है। जब प्राण लेना अभिप्रेत नहीं होता तब विना फलका बाण चलाया जाता है। विना फलका बाण क्यों चलाया? उसे जीता क्यों छोड़ दिया? क्योंकि इससे आगे काम लेना है। अरण्यकाण्डकी लीलामें इसका काम है, यह बड़ा सुन्दर कपट-मृग बनसकता है; श्रीसीताहरणलीला और रावणवधका यह कारण बनेगा। लीलामें सहायक होगा। इससे श्रीरामजीका त्रिकालज्ञ, सर्वज्ञ और भगवान् होना सिद्ध होता है। यथा 'हत्वाऽमूमुचदाशु भाविविदसौ मारीच-मुग्राकृतिम्॥ (हनु० १।७)। अर्थात् होनेवाली बातको तत्काल जाननेवाले श्रीरामजीने भयानक आकृतिवाले

मारीचको छोड़ दिया अर्थात् मारा नहीं। विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि रामरत्नाकर रामायणमें लिखा है कि देवगण डर रहे थे कि मारीचबध होनेसे सीताहरण असम्भव होजायगा—'बिनु मारीच न सीताहरन। तेहि बिनु कहाँ दशानन मरन', अतएव उनके मनकी गति जानकर उसे न मारा। मुं० जंगबहादुरसिंह (बाबा जयरामदास) मानसशङ्का मोचनमें एक भाव यह लिखते हैं कि मारीच "श्रीराम-लक्ष्मणसीता तीनों रूपोंका ध्यान करता था, यथा 'श्रीसहित अनुज समेत कृपानिकेत पद मन लाइहौं'। अतएव जब तीनों एकट्ठा होंगे तब उसे मारेंगे।"

'सत जोजन गा सागर पारा' इति।

पं० रामकुमारजी 'पार' का अर्थ 'तट' करते हैं। वे लिखते हैं कि "शत योजनका जो समुद्र है उसके पार अर्थात् तटपर गिरा। मारीच समुद्रके इसी पार रहा है, यथा अध्यात्मे (३.६.२) 'ययौ मारीच सदनं परं पारमुदन्वतः'। पुनश्च 'सत जोजन आयेउँ छिन माहीं' बक्सरसे समुद्र सौ योजन है। (पर इसमें संदेह है)। 'शतयोजन सागर' कहकर यह निश्चित किया कि किस समुद्रके पार मारीच जाकर गिरा क्योंकि सागर तो बहुत हैं। ये शब्द न होते तो सन्देह बना रहता कि न जाने किस समुद्रके पार गिरा। [भारत-वर्ष और लंकाके बीचमें जो समुद्र है वह सौ योजनका है। किष्किंधाकांडमें इसका प्रमाण है; यथा 'जो नाँघै सतजोजन सागर। करै सो रामकाज मति आगर। ४।२६।१।' इसीसे 'सतजोजन' को सागरका विशेषण मानकरही अर्थ करना अधिक संगत जान पड़ता है। यदि 'सागरके पार सौ योजनपर गिरा' ऐसा अर्थ करें तो भी उपर्युक्त संदेह बनाही रहता है कि किस समुद्रके पार गिरा। और इस अर्थका प्रमाणभी कहीं नहीं मिलता। अध्यात्मरामायणमें कहा है कि 'तयोरेकस्तु मारीचं भ्रामयञ्छतयोजनम्। पातयामास जलधौ तदद्भुतमिवाभवत्। १।५।७।' अर्थात् एक बाणने मारीचको आकाशमें घुमाते हुए सौ योजनकी दूरीपर समुद्रमें गिरा दिया। वाल्मी० रा० मेंभी यही है—'संपूर्णं योजनशतं क्षिप्तः सागर संप्लवे।१।३०।१८।', 'तेनाहं ताडितः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने। १६। पातितोऽहं तदा तेन गंभीरे सागराम्भसि। प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लंका प्रतिगतः पुरीम्। ३।३८।२१।']

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'समुद्रके इस पारके कोशों (अर्थात् बक्सरसे समुद्रके इस तटतक) का प्रमाण न लिखा। समुद्रके पार जाना लिखनेसेही इधरका प्रमाण जना दिया। शतयोजनपर समुद्रमें जो लंका है उसमें गिरा।' पं० रामकुमारजी प्रथम ऊपर दिया हुआ अर्थ लिखकर फिर 'अथवा' लिखकर दूसरा अर्थ यहभी लिखते हैं—'सौ योजनका जो समुद्र उसके उस पार गया।' अधिक लोगोंका मत यही है और यही अर्थ संगत है। उस पार समुद्र-तटपर गिरा, पीछे इस पार चला आया होगा। वाल्मी० ३।३८।२१ में उसने स्पष्ट कहा है कि समुद्रमें गिरा था, वहाँसे लंकामें आया। अ० रा० में कहा है कि तबसे इस निर्भय स्थानमें रहता हूँ। यथा '.....पतितोऽस्मि सागरे। तत्प्रभृत्यहमिदं समाश्रितः स्थानमूर्जितमिदं भयार्दितः। ३।६।२१।' 'शतयोजनवाले समुद्र पार गया' इससे पाया गया कि वायव्यास्त्रका प्रयोग किया गया। यहाँ 'द्वितीयविभा-वना' अलंकार है क्योंकि बिना फलके बाण अर्थात् अपूर्ण कारणसे पूरा कार्य हुआ। कारण कार्य एक साथ होनेसे 'अक्रमातिशयोक्ति' भी है।

अब यह प्रश्न होता है कि 'जब वह लंकामें जा गिरा तो उसने रावणसे क्यों न निवेदन किया ?' इसका उत्तर यह है कि दैवयोगसे तथा उस बाणके प्रभावसे उसके मनमें भय और भ्रान्ति होगई जिससे उसने लज्जित होकर न तो रावणहीसे कुछ कहा और न अपने आश्रमहीपर लौटकर आया जैसा कि उसके वचनोंसे प्रमाणित होता है;—'मुनि मख राखन गयउ कुमारा। बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा॥ सत-जोजन आएँउ छन माहीं। तिन्ह सन बयरु किये भल नाहीं॥ भइ मम कीट भृंगकी नाईं। जहँ तहँ मैं देखौं दोउ भाई। ३।२५।'

टिप्पणी—१ 'पावक सर सुबाहु पुनि मारा।'''' इति। (क) प्रथम मारीचपर बाण चलाया गया फिर सुबाहु मारा गया, तब सेना। ऐसा लिखकर यहभी जना दिया गया कि इसी क्रमसे ये निशाचर आगे पीछे थे। मारीच ज्येष्ठ भाई आगे था, उसके पीछे सुबाहु रहा और उसके पीछे सेना थी। अतः इसी क्रमसे वध आदि हुआ। मारीच और सुबाहु मुख्य थे, अतः इनको श्रीरामजीने स्वयं मारा और अनुचरोंको लक्ष्मणजीने मारा। (ख) 'पावकास्त्रसे सुबाहुको मारा' कहकर जनाया कि वायु (वायव्य) अस्त्रसे मारीचको उड़ाया। वायुसे अग्नि है सो अग्निबाणसे सुबाहुको मारा। अग्निसे जल है और जलके स्वामी वरुण हैं। वरुणास्त्रसे कटकका संहार किया।

नोट—वाल्मीकीयमें लिखा है कि 'मारीच-सुबाहु आदि राक्षस आकाशमें दिखाई दिये। वे शीघ्रता-पूर्वक दौड़े आ रहे हैं, यह देखकर श्रीरामजीने मनु-निर्मित शीतेषु नामक मानवास्त्र मारीचपर चलाया जिसके लगनेसे वह समुद्रमें सौ योजनपर जा गिरा। वह चक्कर खाने लगा, मूर्च्छित और भ्रमितबुद्धि होगया। बाणके वेगने ही उसे अचेतन कर दिया। मानवास्त्रने उसे इस तरह उड़ाया जैसे वायु मेघको।' यथा 'मानवास्त्रसमाधूतानिलेन यथा घनान्। १५।'''विचेतनं विघूर्णन्तं शीतेषुबलपीडितम्। १६।' परन्तु अ० रा० में इस बाणका नाम नहीं दिया है। वैसेही मानसमें नाम नहीं दिया है। मानसके राममें विशेषता यह है कि यह बाण विना फलके चलाया गया।

यह प्रसंग अ० रा० से मिलता है। इसमें निशाचर-सेनाको लक्ष्मणजीने मारा है, यथा 'अपरे लक्ष्मणेनाशु हतास्तदनुयायिनः। १।५।८।'—यही मानसका मत है। वाल्मीकीयमें श्रीरामजीने ही सेनाको भी मारा।

मारि असुर द्विज निर्भयकारी। अस्तुति करहिं देव मुनि भारी॥ ६॥
तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥ ७॥
भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना॥ ८॥

अर्थ—निशिचरोंको मारकर ब्राह्मणोंको निर्भय करनेवाले श्रीरामजीकी स्तुति सारे देवता और मुनि करने लगे॥ ६॥ श्रीरघुनाथजीने वहाँ कुछ दिन और रहकर ब्राह्मणोंपर दया की॥ ७॥ भक्तिके कारण मुनिने बहुतसी प्राचीन वा पुराणोंकी कथायें कहीं, यद्यपि प्रभु उन्हें जानते थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'अस्तुति करहिं देव मुनि भारी।०' इति। मुनि निर्भय हुए, उनके यज्ञकी रक्षा हुई, सदाकेलिये कंटक दूर हुआ। अतः उनकी स्तुति करना उचितही है; पर देवताओंने क्यों स्तुति की? यहाँ स्तुति करनेमें देवकोही प्रधान रक्खा गया, यह क्यों? क्योंकि देवता सदासे राक्षसोंके वैरी हैं, यथा 'हमरे बैरी बिबुध बरूथा' (रावणवाक्य)। दूसरे, यज्ञकी रक्षासे देवगणभी अपने-अपने भागकी रक्षासे निर्भय हुए, उनके भाग उनको मिले। मुनिलोग यज्ञ करके देवताओंको उनका भाग देते हैं जिसे पाकर वे बलवान् होते हैं, इसीसे राक्षस देवता और मुनि दोनोंको दुःख देते हैं; यथा 'करिहहिं बिप्र होम मख सेवा। तेहि प्रसंग सहजेहि बस देवा। १६६।२।' अब दोनों निर्भय हुए। देवता अपना वैर स्मरणकर प्रसन्न हुए, अतः उन्होंने आकर स्तुति की। [(ख) देवताओंको प्रथम कहनेका भाव—(१) देवताओंको हजारों वर्षोंपर आज यज्ञभाग मिला। जिसे पाकर आज वे तृप्त हुए। अतएव वे प्रथमही स्तुति करने आपहुँचे। (२) यज्ञकी समाप्तिपर ऋषिगण प्रभुकी भुजाओंका पूजन करने लगे, यथा 'जे पूजी कौसिकमख रिषयन्हि। गी० ७।१३।' पूजनके बाद स्तुति होती है सो देवताओंने प्रथमही स्तुति प्रारंभ करदी, अतएव मुनियोंको पीछे कहा। अ० रा० में भी देवताओंका स्तुति करना और विश्वामित्रका श्रीरामजीका पूजन करना कहा गया है; वैसेही यहाँ।] (ग) द्विजोंके लिये राक्षसोंको मारा, इसीसे द्विज निर्भयकारी कहा।

२ 'कछुक दिवस' इति। (क) अध्यात्ममें तीन दिन ठहरना लिखा है, यथा 'पुराणवाक्यैर्मधुरैर्निनाय

दिवसत्रयम् । ११ । चतुर्थेऽहनि संप्राप्ते कौशिको राममब्रवीत् । १।५ ।' अर्थात् पुराण और इतिहासादिकी मधुर कथाएँ सुनाते हुए तीन दिन बिताए। चौथा दिन आनेपर मुनिने श्रीरामजीसे कहा। वाल्मीकीयमें यज्ञ छः दिन हुआ और दूसरेही दिन वहाँसे सब जनकपुर गए। कितने दिन और रहे ? इसमें मतभेद है। कोई ३, कोई ५, कोई ७ दिन लिखते हैं। अतः गोस्वामीजीने 'कछुक दिवस' लिखकर सबके मतोंकी रक्षा की है। (ख) 'पुनि' का भाव कि यज्ञरक्षाके लिये मुनि माँगकर लाए थे, अबतक यज्ञरक्षार्थ रहे और यज्ञरक्षा कर-चुकनेपरभी कुछ दिन और रहगए। 'पुनि' के यहाँ दोनों अर्थ हैं—'फिर' एवं 'और'। (ग) 'कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया' इति। विप्रोंपर क्या दया की ? सुनिये। यज्ञरक्षाके निमित्त मुनि ले आए थे, सो यज्ञरक्षाका कार्य्य तो होचुका, यज्ञकी पूर्ति होगई और असुरसमूहका नाशभी होगया, अब अयोध्यापुरीको लौट जाना चाहिए था, सो न गए। ब्राह्मणोंकी इच्छा देख उनपर कृपा करके रहगए। तात्पर्य्य कि अनुपम मूर्त्तिका दर्शन पाकर ऋषियोंको यह लालसा हुई कि कुछ काल इसी प्रकार हमको और दर्शनानन्द मिले। उनके हृदय-की जानकर रहगए। [पंजाबीजीका मत है कि कुछ दिन और इससे रहगए कि ऐसा न हो कि मारीचके और कोई साथी सहायक शेष हों जो मुनियोंको आकर सतावें।] (घ) दया करनेके सम्बन्धसे 'रघुराया' कहा, क्योंकि रघुवंशी सदा द्विजरक्षक होते आए हैं। रघुरायासे जनाया कि द्विजरक्षा करनेमें ये सबोंसे श्रेष्ठ हैं।

३ 'भगति हेतु बहु कथा पुराना।' इति। (क) यथा 'बेद पुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं। ७।२६।' 'भगति हेतु' का भाव कि यह कथायें प्रभुको उपदेश देने या ज्ञान प्राप्त करानेके लिये नहीं कहते, किन्तु अपनी भक्ति (जो प्रभुमें है उसके) कारण कथा सुनाते हैं। कथा सुनाना भक्ति है। श्रीरामजी विप्रोंपर दया करके यहाँ ठहरगए, अतएव उनको कथा सुनाते हैं, उनकी भक्ति करते हैं; यथा 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा। ३।३५।८।' अर्थात् अपनी भक्ति इस प्रकार जना रहे हैं।—दोनोंमें अन्योन्य प्रीति वर्णन की। ☞यह 'विप्र' शब्द विश्वामित्रजीके लिये प्रयुक्त हुआ है। [वैजनाथजी लिखते हैं कि 'मुनि कथा पुराण इसलिए कहते हैं कि जैसा बड़े करते हैं वैसाही फिर और लोग करने लगते हैं। अतः भक्तिके प्रचार हेतु कहते हैं और प्रभु सुनते हैं।'] (ग) 'बहु कथा पुराना' कहकर जनाया कि कथा सुननेमें श्रीरामजीकी अत्यन्त श्रद्धा है। इसीसे पहुनाई कम की, कंदमूल-फल भोजन को दिये। (घ) "पाँचसात दिनमें 'बहुत कथा पुरान' कैसे संभव है ? इसका समाधान यह है कि इससे कवि सूचित कर रहे हैं कि कथा तीनों कालों (प्रातः, मध्याह्न और रात्रि) में होती थी। त्रिकाल कथाके प्रमाण,—प्रातसे मध्याह्नतक; यथा 'बेदपुरान बसिष्ठ बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं।' पुनः, मध्याह्नसे सायङ्कालतक, यथा 'करि भोजन मुनिवर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी। २६७।५।' पुनः सायङ्कालसे आधी रात तक, यथा 'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी।२२६।२।' (ङ) ☞भगवान् जैसा कथामें प्रसन्न होते हैं वैसा पहुनाईमें नहीं होते। मुनिने भक्तिको प्रधान रक्खा। 'भगति हित' जानकर भोजन दिया था, यथा 'कंद मूल फल भोजन दीन्ह भगतिहित जानि।', और भक्तिहीके हेतु कथा कही।

तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई ॥९॥
धनुषजज्ञ सुनि[1] रघुकुल नाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा ॥१०॥

अर्थ—तब (अर्थात् कुछ दिनोंके पश्चात्) मुनिने आदरपूर्वक समझाकर कहा—हे प्रभो! चलकर एक चरित देखिए॥ ९ ॥ रघुकुलके स्वामी श्रीरामजी धनुषयज्ञ सुनकर मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रके साथ हर्ष-पूर्वक चले ॥ १० ॥

१ करि-१७०४। कह-१७६२। सुनि-१६६१, १७२१, छ०, को० रा०।

नोट—१ 'तब' इति । (क) ऊपर जो कहा है कि "तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया । रहे···" उन्हीं कुछ दिनोंके पश्चात् कुछ दिनोंके बाद कब कहनेका अवसर आया यह सत्योपाख्यानसे जाना जाता है । अर्थात् श्रीजनक महाराजका निमंत्रण मुनिको आया, यथा "तस्मिन्काले नरेशस्य जनकस्य महात्मनः । प्रतिहारो महाबुद्धिराजगाम महामतिः ॥१॥ प्रणम्य च मुनीन्सर्वान् यज्ञार्थं च विजिज्ञपन् । दूत उवाच । जनकस्य गृहे राज्ञो धनुर्यज्ञोऽहि वर्तते । २। भवद्भिर्गम्यतां शीघ्रं दया च यदि क्रियते । तच्छ्रुत्वा मुनयः सर्वे कुमाराभ्यां समन्विताः ॥ ३ ॥ जग्मुश्च मिथिलां तूर्णं विश्वामित्र पुरः सराः । कथाप्रसंगं शृण्वंतौ देशनद्युपवर्णनम् ॥४॥ आपतुः परमं हर्षं मुनिभ्यो रामलक्ष्मणौ । अध्याय ५ ।" अर्थात् उसी समय महात्मा जनकके महाबुद्धिमान् कर्मचारीने आकर और सब मुनियोंको प्रणाम करके यज्ञमें चलनेकी इस तरह प्रार्थना की कि राजा जनकजीके यहाँ धनुर्यज्ञ हो रहा है, उसमें आप दया करके शीघ्र चलें । यह सुनकर सभी मुनि राजकुमारों सहित विश्वामित्रजीको आगे करके चले । रास्तेमें देश उपवन आदिकी सुंदर कथाएँ सुनकर सब मुनि और राम लक्ष्मण परम हर्षको प्राप्त हुए । (ख) 'तब मुनि सादर' के 'तब'-शब्दसे यह सूचित होता है कि कथा-प्रसंगके बीचमें ही श्रीजनक-महाराजका भेजा हुआ निमंत्रण आया था । इसीसे यह चौपाई 'भगति हेतु बहु कथा पुराना । कहे···' के बादही लिखी गई है ।

टिप्पणी—१ (क) 'सादर' इति । विश्वामित्रजीकी इच्छा है कि श्रीरामजी जनकपुर चलें, इसीसे उन्होंने आदरपूर्वक समझाकर कहा जिसमें उनका उत्साह बढ़े और वे स्वयं जनकपुर चलनेको राजी हो जायँ; क्योंकि बिना उनकी इच्छाके उनको दबाकर नहीं कहसकते कि चलो । यह भक्तिके विरुद्ध होगा । (ख) 'सादर' अर्थात् बड़ी सुन्दर रीतिसे उनके मनको जोहते हुए और धनुर्यज्ञकी कथामें रुचि बढ़ाते हुए ।

नोट—२ 'तब···कहा बुझाई' इति । वाल्मी० १।३१ में कहा है कि प्रातःकालके सब कृत्य समाप्त करके दोनों भाई मुनिके पास आए । श्रीरामजीके कहनेपर कि हम लोग सेवाके लिये उपस्थित हैं जो आज्ञा हो उसका हम पालन करें, मुनिने कहा कि मिथिलाके राजा जनकका शुद्ध धार्मिक यज्ञ हो रहा है, हम लोग वहाँ जायँगे । तुमभी चलो । वह धनुष बड़ा ही अपूर्व है । देवताओंने जनकके किसी पूर्वजको वह धनुष उनके एक यज्ञकी समाप्ति पर यज्ञके फलमें दिया था । उसमें बड़ा बल है, वह बड़ाही घोर और चमकीला है । देवता, गंधर्व, असुर, राक्षस आदि कोईभी उसपर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा सके । राजा जनक उसकी पूजा करते हैं । वह यज्ञस्थानमें ही रक्खा हुआ है । वहाँ हम लोगोंके साथ चलकर तुम उस धनुषको और उस विलक्षण यज्ञको देखोगे । (श्लोक ४-१३) । अ० रा० में मुनिने कहा है कि राजा जनकके यहाँ महेशजीका धरोहर रूपमें रक्खाहुआ एक बड़ा भारी धनुष है । उस सुदृढ़ धनुषको तुम देखोगे और महाराज तुम्हारा बड़ाही सत्कार करेंगे ।—'तत्र माहेश्वरं चापमस्ति न्यस्तं पिनाकिना ॥ १३ ॥ द्रक्ष्यसि त्वं महासत्त्वं पूज्यसे जनकेन च । १।५।१५ ।' यहभी कहा है कि हम लोग वहाँ जाते हैं । वत्स ! तुमभी यज्ञको देखकर फिर अयोध्यापुरीको लौट सकते हो ।—'दृष्ट्वा क्रतुवरं पश्चादयोध्यां गन्तुमर्हसि । अ० रा० १।६।२ ।' उपर्युक्त सब बातें 'कहा बुझाई' से जना दीं । और भी जो अन्य रामायणोंमें कहा हो वह भी इसमें आगया ।

३ 'चरित' देहली-दीपक है । 'सादर कहा बुझाई एक चरित' और 'चरित एक देखिअ·····' ।

टिप्पणी—२ 'चरित एक प्रभु देखिअ जाई' इति । (क) कौन चरित है वह यहाँ स्पष्ट नहीं है । आगे-की अर्धालीमें स्पष्ट करदिया है कि वह चरित 'धनुषयज्ञ' है । समझाकर यह चरित कहा अर्थात् बताया कि किस तरह राजा जनकको धनुष प्राप्त हुआ, क्यों और किस प्रकार उन्होंने धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा की, धनुषयज्ञकी रचना और धनुषयज्ञमें देशदेशके राजाओं, देवों, दैत्यों, राक्षसोंका श्रीसीताजीके

लिये आना और धनुष तोड़नेवालेको त्रिभुवन विजयरूपी यशकी प्राप्ति इत्यादि सब बातें विस्तारसे कहीं। (ख) 'प्रभु' संबोधनका भाव कि आप समर्थ हैं, (यह विजय प्राप्त करनेयोग्य है)। (ग) 'देखिय जाई' अर्थात् यह चरित आपके देखने योग्य है, इसीसे मैं कहता हूँ कि चलकर देखिये, नहीं तो न कहता। ['प्रभु' शब्दमें 'भाविक अलंकार' से सूचित करते हैं कि इस अद्भुत चरितके प्रधान पुरुष एक आपही हैं; अतएव 'चरित एक प्रभु' कहा। जैसे यह चरित एकही (अनुपम) है वैसेही आपही इसके लिये एक हैं, दूसरा नहीं। (रा० च० मिश्र)]

टिप्पणी—३ 'धनुषजज्ञ सुनि रघुकुलनाथा।०' इति। (क) 'रघुकुलनाथ' का भाव कि सभी रघुवंशी वीर होते आए और हैं, यथा 'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहिं समाज अस कहै न कोई।' कि 'अब जनि कोउ माषै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥ २५२।३॥' और श्रीरामजी तो रघुकुलके नाथ हैं अर्थात् वीरशिरोमणि हैं, यथा 'कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी। २५३।२॥' (ख) 'हरषि चले'। वीरताका काम सुनकर वीरको हर्ष होनाही है। धनुष तोड़नेमें वीरताका काम है। इसीसे धनुषयज्ञ सम्बन्धी चरित सुनकर उत्साह बढ़ा और हर्षपूर्वक साथ चले। (फिर गुरुकी आज्ञाभी है कि चलो)। यात्रामें हर्ष शकुनका द्योतकभी है। (ग 'मुनिवरके साथा' कहकर मुनिको मुख्य रक्खा। मुनिको निमंत्रण आया था, इसीसे उनके साथ श्रीरामजीका जाना कहा।

नोट—४ विश्वामित्रजीने राजासे कहा था कि 'धर्म सुजस प्रभु तुम्हकौं इन्ह कहँ अति कल्यान। २०७।' अब उसी 'अति कल्यान' के लिये जनकपुर लिये जाते हैं। मा० त० वि०कार लिखते हैं कि "यज्ञ-रक्षाका केवल बहाना था। शिवजीकी आज्ञासे मुनि इन्हें माँग लाए थे कि इनकी शक्तिसे इनको मिलादें। प्रमाण— 'गत्वाऽयोध्यां पुरीं दिव्यां रामं नीत्वा ततः पुरः। प्रापय मिथिलां तत्र सीतया सह योजय। मया दत्तास्त्र-शस्त्राणि देहि रामाय माचिरम्। रामं पुत्रं ययाचे तं गोपयित्वा स्वयम्वरम्।···रक्षाव्याजेन यागस्य रामं तत्र निनीषति' इति कोशलखण्डे।" अर्थात् दिव्य पुरी श्रीअयोध्यामें जाकर वहांसे श्रीरामजीको मिथिलामें लेजा-कर सीताजीके साथ मिला दो। जो अस्त्रशस्त्र मैंने दिये हैं उन्हें श्रीरामजीको अर्पण करदो। विश्वामित्रजीने जाकर स्वयंवरकी बात गुप्त रखकर यज्ञरक्षाके बहाने श्रीरामजीकी याचना की और ले जानेकी इच्छा कर रहे हैं। यहभी स्मरण रहे कि राजाने अपना पितृत्व-धर्म मुनिको सौंप दिया था, इसलिये मुनिको दुबारा उनकी आज्ञा लेनेकी कोई आवश्यकता न थी।

आश्रम एक दीख मग माहीं। खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं॥११॥
पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी। सकल कथा मुनि कहा बिसेषी॥१२॥

अर्थ—मार्गमें एक आश्रम देखा। वहां पक्षी, पशु, जीव-जन्तु (कुछभी) न थे॥ ११॥ पत्थरकी शिला देखकर प्रभुने मुनिसे पूछा तब मुनिने विस्तारपूर्वक अच्छी तरहसे सब कथा कही॥ १२॥

टिप्पणी—१ 'आश्रम एक दीख मग माहीं।०' इति। (क) मार्गमें एक आश्रम देखा, यह कहकर जनाया कि विश्वामित्रजी अहल्योद्धार करानेकेलिये उसी रास्तेसे और जहां शिला पड़ी थी वहींसे होकर प्रभुको लिये जा रहे हैं। (ख) 'खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं' इति। यह आश्रम वनमें है, वनके वृक्ष-समूहोंके आश्रित रहनेवालोंमें खग और मृग प्रधान हैं; इसीसे इनको कहकर तब जीव-जन्तुको कहा। 'जीव' शब्द बड़ोंके लिये और 'जंतु' छोटे जीवोंकेलिये प्रयुक्त होता है। यथा 'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया। जीव चराचर जंतु समाना॥ ३।१३॥' 'जीव जंतु' = बड़े छोटे सब प्रकारके जीव। (ग) खगमृग भी तो जीवजंतुमें आगए, तब इनको जीवजन्तुसे पृथक्भी क्यों कहा गया? इसका कारण यह है कि फूले-फले वनोंमें खग-मृगका निवास अवश्य रहता है, यथा 'नाना तरु फल फूल सुहाए। खग

मृग बृंद देखि मन भाए', "फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन। कूजहिं खगमृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा ॥ ७।२३ ॥" (इति अवधवनं), 'खगमृग बिपुल कोलाहल करहीं। बिरहित बैर मुदित मन चरहीं ॥ २।१२४ ॥' (वाल्मीकि आश्रमः), तथा 'खगमृगबृंद अनंदित रहहीं। मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं ॥ ३।१४ ॥' (दण्डकारण्यं)। अतएव प्रथम पशु पक्षी बनमें अवश्य दिखाई देते, उनके लिये चारों ओर दृष्टि डाली। जब वे न देख पड़े तब अन्य जीवजन्तुओंको देखने लगे, पर और भी कोई जीव न दिखाई पड़े, तब मुनिसे पूछा।] यथा "मृगपक्षिगणैर्हीनं नानाजन्तुविवर्जितम्। दृष्ट्वोवाच मुनीं श्रीमान् रामो राजीवलोचनः ॥ अ० रा० १।५।१६ ॥'—अ० रा० में भी खग, मृग और जन्तु शब्द आए हैं। इसीसे प्रथम खगमृग कहा, तब जीवजन्तु और तत्पश्चात् पूछना कहा। (घ) जीवजन्तु-पशुपक्षी-विहीन होनेका कारण गौतम ऋषिका शाप है। यथा 'नानाजन्तुविहीनोऽयमाश्रमो मे भविष्यति' इति अध्यात्मे ॥१।५।२६॥' [(ङ)—मानसके मतसे यह आश्रम गंगाजीके इसी तरफ़ था और यही मत अ० रा० का है। यथा 'इत्युक्त्वा मुनिमिस्ताभ्यां ययौ गङ्गासमीपगम् ॥ १४ ॥ गौतमस्याश्रमं पुण्यं यत्राहल्यास्थिता तपः ॥ १५ ॥' वहांभी अहल्योद्धारके पश्चात् गंगा-पार जानेके लिये तटपर गए हैं। (अ० रा० १।६।२)।

वाल्मीकीयके मतानुसार यह आश्रम गंगाके उस पार मिथिला प्रान्तमें है। यथा 'मिथिलोपवने तत्र आश्रमं दृश्य राघवः। पुराणं निर्जनं रम्यं पप्रच्छ मुनिपुंगवम् ॥ १।४८।११ ॥ अर्थात् मिथिलाके उपवनमें एक पुराना निर्जन पर रमणीय आश्रम देखकर श्रीरामजीने मुनिश्रेष्ठसे पूछा। उनके मतानुसार यह आश्रम तिर्हुतमें कमतोल स्टेशनके पास है जहाँ श्रीरामा पंडितने अहल्या-आश्रम बनवाया है। परन्तु गोस्वामीजीके मतसे यह आश्रम सिद्धाश्रमसे पूर्व अहिरौली ग्राममें वा उसके निकट है जहांसे गंगाघाट उतरकर जनकपुर प्रान्त मिलता है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि भोजपुरमें यह बात प्रसिद्धभी है। कल्पभेद इसमें समझना चाहिए। यह प्रसंग अ० रा० से बहुत कुछ मिलता है।]

२ 'पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी।०' इति। (क) प्रथम आश्रम देखा फिर शिला देखी। अतः देखना दो बार कहा। 'पूछा मुनिहि' देहलीदीपक है। सुंदर आश्रम देखकर पूछा कि ऐसे फूले फले बनमें जीवजन्तु न होनेका क्या कारण है? और पत्थरकी स्त्री देखकर उसका हाल पूछा कि यह शिला कैसी पड़ी है? (ख) 'सकल कथा मुनि कही बिसेषी' इति। बनके निर्जन तथा पशुपक्षी जीवजन्तुविहीन होनेका जिस प्रकार गौतमजीका शाप था वह सब कथा मुनिने कह सुनाई और दूसरे प्रश्नका उत्तर दोहेमें देते हैं कि यह गौतमकी स्त्री अहिल्या है। (ग) 'बिसेषी' कहकर जनाया कि सब कथा तो अध्यात्म आदि अनेक रामायणोंमेंभी है पर विस्तारसे नहीं है। जैसा वाल्मीकीयमें विस्तारसे वर्णन है वैसा कहा, यह बात दिखानेके लिये 'बिसेषी' कहा। विस्तारसे कहनेमें भाव यह है कि जिसमें सब बात समझकर श्रीरामजी अहल्यापर कृपा करें कि हजारों वर्षोंसे क्लेश सहकर हमारा स्मरण करती रही है। मुनिकी इच्छा है कि प्रभु उसपर कृपा करें जैसा आगेके मुनिके वचनोंसे स्पष्ट है—'चरन कमल रज चाहती कृपा करहु रघुबीर।' इसीसे विस्तारसे अहल्याकी कथा कही, जैसे भगवान्ने गिरिजाकी करनी विस्तारसे शिवजीसे कही थी जिसमें शिवजी उनपर प्रसन्न होकर उनको व्याह लावें। यथा 'अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी।'

नोट—'सकल कथा मुनि कही बिसेषी' इति। कथा यह कही कि इस आश्रममें जगद्विख्यात मुनिवर गौतमजी तपस्या द्वारा भगवान्की उपासना करते थे। यह देवाश्रमके समान दिव्य था। देवता भी इसकी प्रशंसा करते थे। (वाल्मी० १।४८।१५)। ब्रह्माजीने एक अत्यन्त रूपवती कन्या उत्पन्न की जिसका नाम अहल्या रक्खा। समस्त देवगण उसके रूपपर मोहित थे। यह देख ब्रह्माजीने कहा कि जो सबसे पहले तीनों लोकोंकी परिक्रमा करके आवेगा उसको यह लोक-सुन्दरी कन्या व्याही जायगी। इन्द्रादि समस्त

देवता अपने-अपने वाहनोंपर चले। गौतमजीकी अपने शालग्राममें अनन्य निष्ठा थी। इन्होंने अपने शालग्रामजीकी परिक्रमा कर ली और ब्रह्माके पास गए। इधर देवगण जहाँ जाते वहाँ आगे महर्षि गौतमको देखते थे। सबने इनका आगे होना स्वीकार किया। अतः वह कन्या गौतमजीको मिली। (यह कथा हमने पद्म या किसी पुराणमें स्वयं पढ़ी है)।

दूसरी कथा इस प्रकार है कि ब्रह्माजीने इस कन्याको महर्षि गौतमके पास थाती (धरोहर) रक्खी। बहुत काल बीत जानेपर जब ब्रह्माजी पुनः इनके पास आए तो इनका परम वैराग्य देखकर उनके ब्रह्मचर्यसे संतुष्ट होकर वह लोकसुन्दरी सेवापरायणा कन्या तापसप्रवर गौतमजीको ही दे दी।—"तस्मै ब्रह्मा ददौ कन्यामहल्यां लोकसुन्दरीम्। ब्रह्मचर्येणसन्तुष्टः शुश्रूषणपरायणाम्। अ० रा० १.५.२०।' इन्द्रको बहुत बुरा लगा, क्योंकि वह तो उसे अपनीही सोचे बैठा था, समझता था कि हमें छोड़ यह दूसरेको नहीं मिल सकती, हम देवराज हैं। उसके रूप-लावण्यपर मुग्ध होकर वह नित्यप्रति उसके साथ रमण करनेका अवसर ताकता रहा।

एक दिन मुनिवरके बाहर चले जानेपर वह गौतमजीका रूप धारणकर आश्रममें आया। (वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजीने यह भी कहा है कि मुनिवेषधारी इन्द्रने अहल्यासे कहा कि प्रार्थी ऋतुकालकी प्रतीक्षा नहीं करता, मैं तुम्हारे साथ संगम चाहता हूँ। अहल्याने समझ लिया कि यह मुनिके वेषमें इन्द्र है, फिर भी उस मूर्खाने देवराजके प्रति कुतूहल होनेके कारण उसने उनकी बात स्वीकार की।—"मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनन्दन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलम्। १.४८.१९।" पुनः कृतार्थ मनसे उसने इन्द्रसे कहा—हे देवराज! मैं कृतार्थ हुई। आप शीघ्र यहाँसे जाइए। गौतमसे अपनी और मेरी सब तरहसे रक्षा कीजिएगा।—'कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो। २०।')। अहल्याके साथ रमणकर वह शीघ्रतासे वहाँसे चल दिया। आश्रमसे शीघ्र बाहर निकल जानेकी चिंतामें इन्द्र अपना रूप पुनः धारण करनेको भूल गया। इसी समय मुनि भी वहाँ लौट आए। आश्रमसे अपना रूप धारण किए हुये पुरुषको बाहर निकलते देख मुनिने कुपित होकर पूछा—"रे दुष्टात्मन्! रे अधम! मेरे रूपको धारण करनेवाला तू कौन है? "पप्रच्छ कस्त्वं दुष्टात्मन्ममरूपधरोऽधमः। अ० रा० १.५.२३।' "सच सच बता नहीं तो मैं तुझे अभी भस्म करदूँगा।" तब इन्द्रने कहा—"मैं कामके वशीभूत देवराज इन्द्र हूँ, मेरी रक्षा कीजिए। मैंने बड़ा घृणित कार्य किया है।" तब महर्षिने क्रोधसे उसको शाप दिया कि 'हे दुष्टात्मन्! तू योनिलंपट है। इसलिये तेरे शरीरमें सहस्र भग हो जायँ।' "योनिलंपट दुष्टात्मन् सहस्रभगवान्भव। अ० रा० १.५.२६।" - यही शाप मानसका मत है जैसा—'रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना। ३१७।६।' से स्पष्ट है। वाल्मीकीयमें शाप दूसरी प्रकारका है।

देवराजको शाप देकर मुनि आश्रममें आए। देखा कि अहल्या भयसे काँपती हुई हाथ जोड़े खड़ी है। महर्षिने उसको शाप दिया कि 'दुष्टे! तू मेरे आश्रममें शिलामें निवास कर। यहाँ तू निराहार रहकर आतप, वर्षा और वायुको सहती हुई तपस्या कर और एकाग्रचित्तसे श्रीरामका ध्यान कर। यह आश्रम सब जीव-जन्तुओंसे रहित हो जायगा। हजारों वर्षोंके बाद श्रीराम जब आकर तेरी आश्रयभूत शिलापर अपने चरण रक्खेंगे तब तू पापमुक्त हो जायगी और उनकी पूजा, स्तुति आदि करनेपर तू शापसे मुक्त होकर फिर मेरी सेवा पायेगी। यथा 'दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामाश्रमे मम। २७।' 'यदा त्वदाश्रयशिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति। तदैव धूतपापा त्वं रामं संपूज्य भक्तितः। ३१। परिक्रम्य नमस्कृत्य स्तुत्वा शापाद्विमोक्ष्यसे। …३२। अ० रा० १।५।" (वाल्मी० रा० में शिलामें निवास और श्रीरामपदस्पर्शकी चर्चा नहीं है। यह सब प्रसंग अ० रा० के अनुसार है)। शाप देकर मुनि हिमालयके उस शिखरपर चले गए जहाँ सिद्ध और चारण निवास करते हैं।—

"इममाश्रममुत्सृज्य सिद्धचारणसेविते। हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे महातपाः। वाल्मी० १।४८।३३।" अहल्या तबसे शिलामें निवास करती हुई तप कर रही है।

प० प० प्र०—इस दोहेमें १२ चौपाइयाँ देकर जनाया कि आश्विन शुक्ल १२ को सवेरेही सिद्धाश्रमसे निकले।

दोहा—गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर।
चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ॥२१०॥

अर्थ—हे रघुवीर धीर! महर्षि गौतमकी स्त्री शापके कारण पत्थरकी देह (तथा धीरज) धरे हुए आपके चरणकमलोंकी रज चाहती है। इसपर कृपा कीजिए। २१०।

टिप्पणी—१ आश्रमका वृत्तान्त पूछा, अतः उसकी कथा विस्तारसे कही। शिलाका हाल पूछा, उसे अब कहते हैं। २ 'श्रापबस' कहनेका भाव कि कर्मके वश देह धारण करनी पड़ती है, यथा 'जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं', 'जेहि जोनि जनमौं कर्मबस०'। वैसेही मुनिपत्नीने शापवश पत्थरकी देह धारण की है। [श्रीवैजनाथजी 'उपल देह धरि धीर' का अर्थ यह लिखते हैं कि धीरज धरेहुए है। अर्थात् एक दिन आपके दर्शन पाकर कृतार्थ हो जाऊँगी'। 'उपल देह धरि' में अ० रा० तथा वाल्मीकीयका यह भाव आ जाता है कि सब प्राणियोंसे अलक्षिता रहकर कठोर तपस्यामें दिन बिता रही है।] ३ 'चरन कमल रज चाहती' अर्थात् मुनिका वचन है कि 'श्रीरामजी यहाँ आवेंगे। उनके चरण-स्पर्शसे तुम पवित्र होजाओगी। यथा 'यदा त्वदाश्रय-शिलां पादाभ्यामाक्रमिष्यति। तदैव धूतपापा त्वं…' इति अध्यात्मे। इसीसे चरणकमलरज चाहती है, यथा 'तव पादरजः स्पर्शं कांक्षते पवनाशना। अ० रा० १।५।३४।' ४ —'कृपा करहु' अर्थात् अहल्याको पवित्र कीजिये, यथा 'आस्तेऽद्यापि रघुश्रेष्ठ तपो दुष्करमास्थिता। ३४। पावयस्व मुनेर्भार्यामहल्यां ब्रह्मणःसुताम्।' अ० रा० १।५।' ५—'रघुबीर' का भाव कि आप कृपा करनेमेंभी वीर हैं। वीरमें कई भेद हैं—युद्धवीर, दयावीर, दानवीर, विद्यावीर, और पराक्रमवीर। यहाँ दयावीरताके विचारसे 'रघुबीर धीर' कहा। 'राम' नाम बसिष्ठजीनें दिया और आज 'रघुवीर' नामका नामकरण भी दूसरे गुरु विश्वामित्र मुनि द्वारा हुआ।

प० प० प्र०—मानसमें श्रीरामावतारकालसे अबतक 'रघुबीर' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ था। विश्वामित्रजीने अनेक रघुवंशी वीरोंके चरित देखे थे और उन्होंने स्वयं पुरुषसिंह वीर रघुनाथजीका चरित्र भी इतने दिनोंके साथमें देख लिया। तब उन्होंने मानों यह नई पदवी उनको देदी। दूसरी बार भी उन्होंनेही रघुबीर कहा है, यथा 'इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना।' जब प्रथम 'रघुबीर' संबोधित किया तब वहाँ केवल उनके अनुयायी मुनिगणही थे। जन-समाजमें यह नाम प्रसिद्ध करनेकी इच्छासे जनकपुरीके समीप अमराईमें 'रघुबीर' संबोधित किया। तबसे यह नाम प्रसिद्ध हुआ। जनकजीकी पत्रिका जब अवधमें आई तबसे अवधपुरीमेंभी 'रघुबीर' शब्दका बहुत प्रयोग हुआ है।

विश्वामित्रजीने छः प्रकारकी अलौकिक वीरता इनमें देखी। (दोहा २०८ नोट ४ में पंचवीरता दिखा आए हैं, वहाँ भी देखिए)। पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके 'हरषि चले मुनि भय हरन' इसमें धर्मवीरता, माता-पिता आदिके त्यागमें त्यागवीरता, केवल एक बाणसे ताटकावध करनेमें धनुर्वेद विद्या तथा 'विद्यानिधि' से विद्यावीरता, 'दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा' तथा 'कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया' में दयावीरता, मारीचको बिना फलके बाणसे शतयोजन दूरीपर फेंकने और सुबाहुको एकही बाणसे मारने तथा यज्ञशाला में एक बूँद रक्त न आने देने इत्यादिमें पराक्रम वीरता देखी। छठी ऋजुतावीरता है। श्रीअवधसे जबसे चले तबसे सरलता तो बराबर देखतेही रहे पर 'प्रात कहा मुनिसन रघुराई। निर्भय जग्य करहु तुम्ह जाई'

में विशेष देख पड़ी। आगे पुष्पवाटिका प्रसंगमें तो यह ऋजुता पाठकोंको स्पष्ट दीखती है। 'गईबहोरि[२], 'गरीबनेवाजू[४] 'सरल[६] सबल[५] साहिब[३] 'रघुराजू'[१] में गोस्वामीजीने छः प्रकारकी वीरता सूचित की है।

छंद—परसत पद पावन सोक-नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोर रही॥

शब्दार्थ—सही—फारसी शब्द है जिसका अर्थ है "सचमुच", "ठीक-ठीक", "निश्चय"।

अर्थ—पवित्र और शोकके नाश करनेवाले (श्रीरामजीके) चरणोंका स्पर्श करते वा होतेही सचमुच (निश्चयही) तपकी पुंज तपस्विनी (तपोमूर्तिसम प्रकाशमय) अहल्या प्रकट होगई। जनोंको सुख देनेवाले, रघुकुलके स्वामी श्रीरामचंद्रजीको देखतेही सम्मुख होकर हाथ जोड़े रह गई। अर्थात् उसको देहकी सुध न रह गई वा एकटक टकटकी लगाए देखतीही रहगई।

नोट—१ 'परसत पद पावन'—ऐसाही अ० रा० में है, यथा "रामः शिलां पदा स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम्। १।५।३६।' अर्थात् अपने चरणसे उस शिलाको स्पर्शकर तपस्विनी अहल्याको देखा।

टिप्पणी—१ (क) चरणोंमें तो अनेक गुण हैं परन्तु यहाँ 'पावन' और 'शोकनशावन' दोही गुण लिखे, क्योंकि यहाँ इन्हीं दोका प्रयोजन था। अहल्या परपुरुषगमनरूपी-पापसे अपावन होगई थी, उसको पावन किया और पतिके त्यागसे, शापजनित पतिवियोगसे शोकयुक्त थी, उसे शोकरहित किया, इसीसे 'पावन सोक नसावन' दो विशेषण दिये। यथा 'प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपा सुधा सिंचि बिबुधबेलि ज्यों फिरि सुख फरनि फरी। गी० १।५५।' पुनः, (ख) "पावन सोकनसावन' का भाव कि पद पावन हैं, पापके नाशक हैं। पापका फल शोक है, यथा 'करहिं पाप पावहिं दुख भय रुज सोक बियोगा', सो आपके चरण उस शोकके भी नाशक हैं। तात्पर्य्य कि कार्य्य और कारण दोनोंका नाश करते हैं। पावन-गुणसे पापका और शोकनशावनगुणसे शोकका नाश हुआ। (ग) 'प्रगट भई' अर्थात् पाषाणशरीर त्यागकर अपने पूर्व सुंदर रूपको प्राप्त हुई। यथा 'परिहरि तुरत त्यागि पाहनतनु छबि मय देह धरी। गी० १।५५।' (घ) 'तपपुंज'। भाव कि अहल्याने हजारों वर्ष तप किया। श्रीरामपदस्पर्शसे तपका फल उदय हुआ। पुनः भाव कि मलिन थी सो तेजसे युक्त होकर प्रगट हुई। तपसे तेज होता है, यथा 'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा'।

नोट—२ 'तपपुंज सही' इति। वाल्मी० रा० में विश्वामित्रजी ने कहा है कि अहल्याके साथ महर्षि गौतमने अनेक वर्षोंतक इस आश्रममें तपस्या की थी—'स चात्र तप आतिष्ठदहल्यासहितः पुरा। वर्षपूगान्यनेकानि''' । १।४८।१६।' अहल्याको शाप देकर फिर शापसे मुक्तिका समय और उपाय बताते हुए गौतमजीने कहा कि जब तू श्रीरामजीका आतिथ्य-सत्कार करेगी तब तुझे अपना पहला सौन्दर्य पुनः प्राप्त हो जायगा। —"तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता। मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि। ३२।" वाल्मीकिजी लिखते हैं कि जब इन लोगोंने आश्रममें प्रवेश किया तो देखा कि महाभागा अहल्याकी तपस्याकी ज्योति चारों ओर फैली थी। देवता, असुर आदि मिलकरभी उस तेजस्विनीको नहीं देख सकते थे। ऐसा जान पड़ता था कि ब्रह्माजीने बड़े प्रयत्नसे उस दिव्य स्त्रीको मायामयीके समान बनाया था। वह इस समय धूमसे घिरी हुई अग्निशिखाके अथवा कोहरेसे छिपीहुई पूर्णमासीके चन्द्रमाकी स्वच्छ प्रभाके, वा जलमें पड़े हुए सूर्यके प्रतिबिंबके समान देख पड़ती थी।—ऐसी दिव्य अहल्या गौतमके शापवश तीनों लोकोंके जीवोंके न देखनेयोग्य हो गई थी। यथा—'ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।''' प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव। धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥ सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव। मध्येऽम्भसो दुराधर्षां दीप्तां सूर्यप्रभामिव॥ सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह। वाल्मी० १।४९।१३-१६।' श्रीरामजीके चरणस्पर्शसे वही तेजोमय पूर्वरूप प्रकट होगया। अतः 'तपपुंज सही' विशेषण दिया।

पंजाबीजी 'तपपुंज' से गौतमऋषिका अर्थ करते हैं और 'सही' का अर्थ 'सखी' करते हैं। वे कहते हैं कि व्यभिचारिणीको तपस्विनी कैसे कह सकते हैं? परन्तु गीतावलीसे यह विशेषण अहल्या ही के लिये सिद्ध होता है। वैजनाथजीके मतानुसार 'तपपुंज = तपोधनसे भरी जैसे पूर्व थी वैसी ही'। मिलान कीजिये गीतावली पद ५६ और ६५ से। यथा 'परसत पदपंकज रिषिरवनी। भई है प्रगट अति दिव्य देह धरि मानो त्रिभुवन छबि-छवनी॥ देखि बड़ो आचरज पुलकितनु कहत मुदित मुनि-भवनी। जो चलिहैं रघुनाथ पयादेहि सिला न रहिहि अवनी॥ परसि जो पाय पुनीत सुरसरी सोहै तीनि पथ गवनी। तुलसीदास तेहि चरनरेनु की महिमा कहै मति कवनी॥', 'सिलाछोर छुअत अहल्या भई दिव्यदेह गुन पेखे पारस के पंकरुह पांय के।'—यह चरणरज-का प्रताप है। पुनः सत्योपाख्याने यथा—'सुन्दरी साभवत् क्षिप्रं रामचन्द्रप्रसादतः। उ० ५. ६।' इस तरह 'तपपुंज' का अर्थ 'प्रकाशमय, तेजोमय, अतिदिव्य' है। पं० रा० च० मिश्र 'सही' का अर्थ सहगामिनी अर्थात् 'स्त्री' करते हैं और लिखते हैं कि 'सही' शब्द देकर गौतमजीके तपके आधिक्यकी साक्षी दे रहे हैं जिसके प्रभावसे अचेतन पत्थरमेंभी चेतनत्वका आवेश बना रहा। [यह मात्रिक त्रिभंगी छंद है। इसके चारों चरणोंमें ३२, ३२ मात्राएँ होती हैं। प्रथम १० मात्राओंपर फिर ८,८ पर और अंतमें ६ पर विश्राम होता है। चरणान्तका अक्षर गुरु होता है]

टिप्पणी—२ (क) 'जनसुखदायक' का भाव कि इस रूपका सुख निज जनही पाते हैं, प्रभु अपने जनको दर्शन देते हैं। 'सनमुख होइ' क्योंकि सामनेसे दर्शन अच्छी तरह होता है। दर्शनसे अहल्याको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ, अतः 'जनसुखदायक' कहा। (ख) 'सनमुख होइ कर जोरि रही' इति। यथा 'निगम-अगम-मूरति महेस-मति-जुवति बराय बरी। सोइ मूरति भइ जानि नयनपथ एकटक तें न टरी। गी० १।५५।' अर्थात् वेदोंको भी अगम जिस मूर्तिको शिवजीकी बुद्धिरूपिणी स्त्रीने अन्य सब रूपोंको बराकर बरबस वरण किया वही मूर्ति हमारे दृष्टिगोचर हुई, यह जानकर एकटक देखती रहगई। पुनः भाव कि स्तुति करना चाहिये थी सो करते नहीं बनती, क्योंकि मारे प्रेमके अधीर होगई है जैसा आगे कहते हैं। पुनः भाव कि हाथ जोड़े रहगई जिसमें रघुनाथजी प्रसन्न होवें। यथा—'अंजली परमा मुद्रा क्षिप्रं देवप्रसादिनी'॥

अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही।
अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल * नयन जलधार बही ॥१॥

अर्थ—अत्यन्त (निर्भर) प्रेमके कारण धैर्य्य जाता रहा, शरीर पुलकायमान होगया, मुखसे वचन नहीं निकलते अर्थात् कंठ गद्गद होगया। वह अतिशय बड़भागिनी अहल्या प्रभुके चरणोंमें लगी (अर्थात् प्रणाम कर रही है) और उसके दोनों नेत्रोंसे प्रेमाश्रुकी धारा बह रही है॥ १॥

टिप्पणी—१ 'अति प्रेम अधीरा०' इति। (क) अर्थात् उसके तन, मन और वचन तीनों प्रेमसे शिथिल होगए। यथा 'पुलकाङ्कितसर्वाङ्गा गिरा गद्गदयैलत। अ० रा० १. ५. ४२।' 'अति प्रेम' से मन, 'पुलक सरीरा' से तन और 'मुख नहिं आवै बचन कही' से बचनकी अधीरता कही। प्रेम कहकर ये सब प्रेमकी दशाएँ कहीं कि तन पुलकित है, प्रेमाश्रु बह रहे हैं, स्तुतिके लिये मुखमेंसे वचन नहीं निकलते। (ख) 'अति प्रेम' का भाव कि मस्तकपर चरण धरनेका प्रेम है; यथा 'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपालु हरी।' फिर दर्शनकी प्राप्तिका प्रेम है, यथा 'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना'। (दोनों बातोंको विचार-विचार-कर कृतकृत्य हो रही है।)

२ (क) 'अतिसय बड़भागी' का भाव कि ज्ञान, वैराग्य, जप, तप आदि धर्म करनेवाले 'भागी'

* पहले 'जुग नयनन्हि' पाठ था। 'न्हि' पर हरताल देकर हाशिये पर 'ल' बनाया गया है।

(भाग्यवान्) हैं और चरणसेवक बड़भागी हैं, पर अहल्या 'अतिशय बड़भागिनी' है; क्योंकि इसके शीशपर भगवान्‌ने अपना चरण रक्खा और इसने भगवान्‌के चरणोंपर अपना सिर रक्खा। यथा 'जे गुरुपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहु बेदहु बड़भागी॥ राउर जापर अस अनुरागू। को कहि सकै भरत कर भागू।२।२५६।' तात्पर्य्य कि भरतजी अति बड़भागी हैं। 'अति' के लिये वही जगह (अर्थात् चरण) खाली है। [☞यों भी कह सकते हैं कि श्रीरामचरणानुरागी 'बड़भागी' हैं और जिनपर प्रभु स्वयं कृपा करें वे 'अतिशय बड़भागी' हैं]। (ख) 'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई०', इसीसे चरणोंमें लगी, और 'देखत रघुनायक जन सुखदायक' के संबंधसे 'जुगलनयन जलधार बही', और 'अति प्रेम अधीरा०' है अतएव 'धीरज मन कीन्हा'। प्रेम होनेपर नेत्रोंसे अश्रुपात और शरीरमें पुलक होता है, इसीसे प्रथम 'अति प्रेम' कहा तब उसका उमगना कहा; यथा 'उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू' तब 'जुगल नयन जलधार बही'। (ग) अ० रा० १।५।४१ में भी ऐसा ही है—'हर्षाश्रुजलनेत्रान्ता दण्डवत्प्रणिपत्य सा।'

नोट—प्रभुके चरणोंमें अनुराग करनेवालोंको ग्रंथकारने सातों काण्डोंमें बड़भागी कहा है; यथा 'ते पद पखारत भाग्यभाजन जनकु जय जय सब कहैं।१।३२४।', 'नाथ कुसल पद पंकज देखें। भयउँ भाग भाजन जन लेखें।२।८८।५।', 'भूरि-भाग-भाजनु भयहु मोहि समेत बलि जाउँ। जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छलु कीन्ह रामपद ठाउँ॥ २। ७४।', 'परेउ लकुट इव चरनन्हि लागी। प्रेममगन मुनिवर बड़भागी। ३।१०।२१।', 'सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी। जो रघुबीर चरन अनुरागी। ४।२३।७।', 'हम सब सेवक अति बड़भागी। संतत सगुन ब्रह्म अनुरागी॥ ४ २६।१३॥', 'अहो भाग्य मम अमित अति रामकृपा-सुखपुंज। देखेउँ नयन बिरंचि सिव सेव्य जुगल पदकंज॥ ५।४७॥', 'बड़भागी अंगद हनुमाना। चरन कमल चाँपत बिधि नाना॥ ६। ११।७॥' 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी। राम पदारबिंद अनुरागी'—

धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहुँ चीन्हा रघुपति कृपा भगति पाई।
अति निर्मल बानी अस्तुति ठानी ज्ञानगम्य जय रघुराई॥

अर्थ—मनमें धीरज (धारण) किया, प्रभुको पहिचाना और रघुनाथजीकी कृपासे भक्ति पाई। अत्यन्त निर्मल वाणीसे स्तुति करने लगी—'ज्ञानसे जाने जाने योग्य श्रीरघुनाथजी! आपकी जय!'

नोट—जब रघुनाथजीने कृपा की और भक्ति दी तब मनको धीरज हुआ जिससे उसने प्रभुको पहचाना और चरणोंको पकड़ लिया, उसके नेत्रोंसे अश्रुधारा बह निकली। इस दशाके प्राप्त होनेपर वक्ता लोग उसके भाग्यकी प्रशंसा करते हैं कि अतिशय बड़भागिनी है। अर्थात् इसके भाग्यकी प्रशंसा किससे की जा सकती है? (प्र० सं०)।

टिप्पणी—१ (क) 'धीरजु मन कीन्हा'। पूर्व 'अति प्रेम' से अधीर होना कहा था, अब धैर्य्य धारण करना कहा। श्रीरामरूप ऐसाही है उसे देखतेही धैर्य्य जाता रहता है, मन तन कुछ वशमें नहीं रह जाते। श्रीजनकमहाराज, रानियों और हनुमान्‌जी इत्यादिकी यही दशा हुई थी। ☞उन्होंनेभी पीछे धैर्य्य धारण किया तब कुछ कह सके; यथा 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ प्रेममगन मन जानि नृप करि बिबेकु धरि धीर। बोलेउ मुनिपद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर॥ २१५॥', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह-सिथिल सब रानी॥ पुनि धीरजु धरि कुँअरि हँकारी॥ ३३७।५-६॥', 'पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रुचिर बेष कै रचना॥ पुनि धीरजु धरि अस्तुति कीन्ही॥ ४।२॥' इत्यादि। (ख) 'प्रभु कहुँ चीन्हा'। गौतमजीके वचनोंको स्मरणकर प्रभुको पहचाना। यथा 'गौतमस्य वचः स्मृत्वा ज्ञात्वा नारायणं परम्॥ अ० रा० १।५।४०॥' 'स्मरन्ती गौतमवचः॥ वाल्मी० १।४९।१७॥' गौतमजीका वचन है कि श्रीरामजी यहाँ आवेंगे, चरणसे स्पर्श करेंगे, तब तुम पवित्र हो जाओगी। अतएव जब चरणके

स्पर्शसे दिव्य देह प्राप्त हुई तब उसने जान लिया कि येही प्रभु श्रीरामजी हैं। (ग) 'रघुपति कृपा भगति पाई' इति। विश्वामित्रजीका वचन है कि इसपर कृपा कीजिये, यह चरणकमलरज चाहती है। अतएव गुरुकी आज्ञासे श्रीरामजीने अहल्यापर कृपा की, उसको चरणसे स्पर्श किया जिससे उसको अपना दिव्य रूप मिल गया। कृपाका फल भक्ति है, यह श्रीरामजीने उसको अपनी ओरसे दी; यथा 'अब करि कृपा देहु बर एहू। निज पद सरसिज सहज सनेहू॥ २।१०७॥' (भरद्वाजः), 'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजनु करौं दिनराती॥ ४।७॥' (सुग्रीवः), 'नाथ भगति अति सुखदायनी। देहु कृपा करि अनपायनी॥ ५।३४॥' (हनुमान्), 'नाथ एक बर माँगउँ राम कृपा करि देहु। जनम जनम प्रभु पद कमल कबहुँ घटै जनि नेहु॥ ७।४६॥' (वसिष्ठः)। इत्यादि। तात्पर्य्य कि विना कृपा भक्तिकी प्राप्ति नहीं है, प्रभुकी कृपाहीसे वह मिलती है। जिसपर कृपा होती है उसे भक्तिभी मिल जाती है। (घ) पुनः भाव कि प्रभुको पहचानना ज्ञान है। प्रभुको पहचाना अर्थात् उसे ज्ञानकी प्राप्ति हुई; इसीसे उसने प्रथम ज्ञानकी बात कही कि 'ज्ञानगम्य जय रघुराई'। पहचाननेके बाद भक्तिकी प्राप्ति कही,—'रघुपति कृपा भगति पाई'। इसीसे ज्ञानके बाद भक्तिकी बात कहती है कि 'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन०"। [(ङ) 'रघुपति कृपा' दीपदेहली है। भगवान्को पहिचाननाभी उन्हींकी कृपासे होता है, यथा "सोइ जानै जेहि देहु जनाई।... तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानत भगत...॥ २।१२७॥"]

टिप्पणी—२ (क) 'अति निर्मल बानी०'। प्रेम भक्तिकी प्राप्तिसे वाणी निर्मल होगई, यथा 'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई॥ ७।४९।६॥' अति प्रेमसे अधीर थी। उस प्रेमधारासे वाणी निर्मल होगई। वाणीके अठारह दोष हैं वेही मल हैं, यथा 'बोले बचन बिगत सब दूषन। मृदु मंजुल जनु बागबिभूषन।' उन सब दोषोंसे रहित होनेसे 'अति निर्मल' कहा। [पुनः, 'अति निर्मल' का भाव कि श्रीरामपदके स्पर्शसे निर्मल हुई और भक्तिकी प्राप्तिसे 'अति निर्मल' होगई। इससे जनाया कि इसकी सब वाणी प्रेमभक्तिमय है। (प्र० सं०)] (ख) 'अस्तुति ठानी'। 'ठानी' शब्दसे सूचित किया कि बहुत देरतक बहुतभारी विस्तारकी स्तुति की। अध्यात्मादिमें बड़ी भारी स्तुति है। (अ० रा० में अठारह श्लोकोंमें स्तुति है।)। (ग) 'ज्ञानगम्य' अर्थात् जो ज्ञानी हैं वही आपको जानते हैं और ज्ञानविहीन लोग तो आपके आचरण देखकर मोहित हो जाते हैं, यथा 'अहोविचित्रं तव राम चेष्टितं मनुष्यभावेन विमोहितं जगत्। अ० रा० १।५।४४॥' इससे पाया गया कि अहल्याको ज्ञान और भक्ति दोनोंही प्राप्त हुए। अध्यात्ममेंभी ज्ञानभक्ति-मिश्रित स्तुति है। गोस्वामीजीनेभी वही बात यहां जनाई है। [पुनः भाव कि आप ज्ञानसे जाने जाते हैं और मैं अपावन और अज्ञानी स्त्री हूँ, आपको क्योंकर जानसकती हूँ, यथा 'सती हृदय अनुमान किय सब जानेउ सर्वज्ञ। कीन्ह कपट मैं संभुसन नारि सहज जड़ अज्ञ'। जब आपकी कृपा हुई तब मैं आपको पहचान सकी। यथा 'तुम्हरिहि कृपा तुम्हहिं रघुनंदन। जानत भगत भगत उर चंदन॥ २।१२७॥' (ङ) 'रघुराई' कहकर रघुवंशकी और रघुवंशियोंमेंभी आपकी उत्कृष्टता जनाई]।

☞पहले अहल्याजीके मन, तन और वचनकी शिथिलता लिखी, यथा 'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा०'। अब तीनोंका व्यापार कहते हैं। जो मन प्रेमसे अधीर था वह अब धीर हुआ,—'धीरज मन कीन्हा०' इत्यादि। धीरज धरना, पहचानना और भक्तिका पाना ये सब मनके धर्म हैं। शरीर पुलकित था सो अब चरणोंमें लगा है,—'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही' चरणोंमें लगना आँसूका गिराना, यह शरीरका व्यापार है। मुखसे वाणी नहीं निकलती थी सो अब स्तुति करने लगी। स्तुति करना वाणीका धर्म है। इस तरह दिखाया कि अब मन, तन और वचन तीनोंकी अधीरता निवृत्त होगई है।

मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन रावनरिपु जन सुखदाई।
राजीव-बिलोचन भव-भय-मोचन पाहि पाहि सरनहिं आई ॥२॥

अर्थ—हे प्रभो ! मैं अपवित्र स्त्री हूँ और आप जगत्‌को पावन करनेवाले हैं, रावणके शत्रु और जनों-के सुखदाता हैं। हे कमलनयन ! हे संसारके भयके छुड़ानेवाले ! मैं शरणमें आई हूँ, मेरी रक्षा कीजिये, रक्षा कीजिये ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मैं नारि अपावन०' अर्थात् एकतो मैं स्त्री हूँ जो सहजही जड़, अज्ञ और अपावनी होती है, यथा 'सहज अपावनि नारि० ॥ ३।५ ॥', उसपरभी मैं धर्महीना हूँ। तात्पर्य कि अपनेको पवित्र नहीं करसकती और आप जगत्‌मात्रको पवित्र करनेमें समर्थ हैं, तब मुझ एक अपवित्र स्त्रीको पवित्र करदेना आपकेलिये कौन बड़ी बात है ? आपने मुझको पवित्र करके सुख दिया। (ख) 'रावनरिपु जन-सुखदाई' इति। अर्थात् रावणको मारकर अपने भक्तोंको सुख दीजियेगा और यश विस्तारकर जगत्‌को पवित्र कीजियेगा। ☞'रावणरिपु' से सूचित होता है कि श्रीरामजीके दर्शनसे अहल्याको भविष्यका ज्ञान होगया। अथवा, भविष्य रामायण सुने रही हो, (चाहे गौतमजीनेही शापानुग्रह करते समय कहा हो), यथा 'रामु जाइ बन करि सुर काजू। अचल अवधपुर करिहहिं राजू ॥ अमर नाग नर राम बाहुबल। सुख बसिहहिं अपने अपने थल ॥ यह सब जागबलिक कहि राखा। देवि न होइ मुधा मुनि भाषा ॥ २।२८५ ॥' (जैसे याज्ञवल्क्यजीने सुनयनाजी आदिसे कहा ऐसेही गौतमजीने इनसे कहा)। इत्यादि। पुनः रावणरिपुसे लंकाकांड और जनसुखदाईसे उत्तरकांडका चरित कहा, क्योंकि रावणका वध करके अवधमें आकर राज्यपर बैठ अवधपुरवासियों एवं जगत्‌मात्रको सुख दिया है। [रावणरिपुमें भविष्य बात पहलेही कही जानेसे 'भाविक अलंकार' है। 'अपावनि' और 'जगपावन' का यथायोग्य संग 'प्रथम सम' अलंकार है,]

२ (क) 'राजीव बिलोचन' इति। कृपादृष्टिसे देखनेमें नेत्रोंको कमलका विशेषण देते हैं, यथा 'देखी राम सकल कपि सेना। चितइ कृपा करि राजिवनैना। ५।३५।', 'राजिव नयन धरें धनु सायक। भगत बिपतिभंजन सुखदायक। १८।१०।', 'तब निज भुजबल राजिव-नयना। कौतुक लागि संग कपि सैना। ४।३०', 'मैं देखौं खल-बल-दलहिं बोले राजिवनयन। ६।६६।' राक्षसोंके वधमें कृपादृष्टि है, यथा 'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर-भाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परमगति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी ॥ ६।४४।', 'चित्ते कृपा समरनिष्ठरता च दृष्ट्वा'। अतएव 'राजीव बिलोचन भवभय-मोचन०' का भाव यह हुआ कि कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखकर मेरी रक्षा कीजिए। दोहा १८।१० भी देखिए। (ख) 'पाहि०' अर्थात् कृपादृष्टि करके भवभय छुड़ाइये। 'पाहि पाहि' यह रक्षामें विश्वास करना तृतीय शरणागति है। यही शरणमें आना है। 'सरनहि आई' का भाव कि भगवान्‌को शरणार्थी प्रिय है, यथा 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाईं। ५।४४।' (ग) ☞[अहल्या तो जहाँकी तहाँ खड़ी है, एक पगभी उसे चलना नहीं पड़ा; तब 'आई' कैसे और कहाँसे ? उत्तर यह है कि षट्‌शरणागतिमेंसे एक शरणागति 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' 'रक्षामें प्रतीति आना वा होना' है। यहाँ 'शरण आई' उस प्रतीतिके आनेके लिये प्रयुक्त हुआ है। (प्र० सं०)। 'शरण आना' मुहावरा है; 'शरणागत होना, शरण हूँ।' इसके पर्य्याय हैं। शरण होनेके लिये कहीं आनेजानेकी जरूरत नहीं। भगवान् सर्वत्र हैं जो जहाँ है वहीं कह सकता है कि शरणमें आया हूँ, जिसका अभिप्राय यह है कि अबतक आपसे विमुख रहा, संसारमें भटकता रहा, अब आपकोही एकमात्र रक्षक और स्वामी जानकर आपके आश्रित हूँ।]

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भव-मोचन इहै लाभ संकर जाना ॥

अर्थ—मुनिने जो शाप दिया बहुत ही अच्छा (एवं यह मेरा अत्यन्त भला) किया, मैं उसे परम अनुग्रह मानती हूँ (उसीका फल स्वरूप आज) मैंने भवके छुड़ानेवाले, क्लेशों के हरनेवाले आपको नेत्रों भर (अघाकर) देखा। इसीको (तो) शंकरजी परम लाभ समझते हैं।

टिप्पणी—१ (क) शापसे भगवान् मिले इसीसे 'अति भल' और 'परम अनुग्रह' माना, यथा 'बालि परमहित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा। ४।७।१६।', 'रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परमहित माना। ३।७।६।' क्या 'अति भल' किया सो आगे कहती हैं कि 'देखेउँ भरि लोचन०'। 'अति' के योगसे (अनुग्रहके साथ भी) 'परम' पदका प्रयोग किया। 'अति भल' किया इसीसे 'परम अनुग्रह' माना। अर्थात् शापको आशीर्वाद माना। (ख) 'परम अनुग्रह' इति। भाव कि पतिप्रतिकूला स्त्री भगवान्‌को प्रिय नहीं है, इसीसे पतिका उपकार, पतिकी अनुग्रह अपने ऊपर कहती हैं। [(ग) 'अतिभल' और 'परम अनुग्रह' का और भाव कि शाप दे भला किया और दर्शनका आशीर्वाद (शापानुग्रह में) दिया यह 'अति' भल किया। शापसे छुड़ाया यह अनुग्रह है और 'देखेउँ भरि' यह परम अनुग्रह है, जो उस शापकेही बदौलत (कारण) हुआ।] (घ) 'मैं माना' का भाव कि जो उपकार नहीं मानता वह कृतघ्न होता है। उपकार न मानना सम्भव है, उसके न माननेका कारण है क्योंकि मुनिने तो क्रोध करके शापही दिया (भगवान्‌की कृपासे) शापसे उपकार होगया। प्रत्यक्ष उपकार तो मुनिने किया नहीं। अतएव उपकार 'मान' लेना कहा। यदि अहल्या ऐसा न कहती तो पाया जाता कि मुनिने शाप दिया इसीसे अहल्याका मन उन (गौतम मुनि) की ओरसे मलिन है; पर 'परम अनुग्रह मैं माना' कथनसे उसकी सफ़ाई होगई। [शापको अनुग्रह मानना अर्थात् दोषका गुण हो जाना 'अनुज्ञा' अलंकार है। पं० रा० कु० जी इसे 'लेशालंकार' कहते हैं।]

२ (क) 'देखेउँ भरि लोचन' अर्थात् जो मूर्ति अनुभवमें नहीं आती वह मैं नेत्र भरकर देख रही हूँ। (ख) पहले कहा कि 'राजीव बिलोचन भव-भय मोचन पाहि पाहि सरनहि आई' और अब कहती हैं कि 'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन', इसका तात्पर्य्य यह है कि जिसको भगवान् कृपा करके देखैं अथवा जो भगवान्‌को देखे दोनोंहीका एवं दोनोंही प्रकारसे भवमोचन होता है। यथा 'जड़ चेतन मग जीव घनेरे। जिन्ह चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परम पद जोगू।' [पुनः भाव कि पूर्व राजीव-बिलोचन०' कहकर जो भवभयसे रक्षाकी प्रार्थना की थी उसीको यहाँ 'देखेउँ हरिभवमोचन०' में चरितार्थ कर दिखाया है। अर्थात् आपके दर्शनसे मेरा भवसे छुटकारा हो गया, दर्शनसे मुझे अपना सहज स्वरूप प्राप्त हो गया।] (ग) 'इहै लाभ संकर जाना' भाव कि जब शंकरजी इसीको लाभ मानते हैं और किसी चीज़को नहीं तब तो इस लाभसे अधिक कोई लाभ नहीं है। दर्शन-लाभही परम लाभ एवं लाभकी अवधि है। यथा 'लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरें दरस आस सब पूजी। २।१०७।' (घ) 'संकर जाना' यथा 'संकर हृदिपुंडरीक निबसत हरि चंचरीक निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई। गी० ७।३।', 'संकर मानस राजमराला', 'ए दोउ बंधु संभु-उर-बासी। २४६।४।', इत्यादि। [इस लाभको शंकरजी जानते हैं, इसीसे वे कर्म और ज्ञानको छोड़ आपके ध्यानमें लगे रहते हैं। पुनः, "इहै लाभ 'संकर' जाना"। अर्थात इसी लाभको हमने कल्याणकारक जाना है। (रा० प्र०)] (ङ) दर्शनको लाभ कहनेका भाव कि आपके दर्शनसे हमारे सब मनोरथ पूरे हो गए। इसीसे आगे कहती हैं कि मैं और कुछ बर नहीं माँगती। [(च) अ० रा० यथा "भवभयहरमेकं···कमल विशदनेत्रं सानुजं राममीडे। १।५।६०।"]

बिनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न मागौं बर आना।
पद कमल परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना॥ ३॥

अर्थ—हे प्रभो ! मैं बुद्धिकी बहुत भोली (भोंडी, बोदी) हूँ, अर्थात् बुद्धिहीना हूँ, मेरी (यह) विनती है (सो सुन लीजिये)। हे नाथ ! मैं और कोई बर नहीं माँगती। (केवल यही चाहती हूँ, यही विनय करती

हूँ कि) आपके चरण-कमलकी पराग (रज) में मेरा मनरूपी भौंरा अनुराग करे और उसके मकरंदरसको पान करता रहे ॥ ३ ॥

☞यह अर्थ पं० रामकुमारजीकृत है। 'पदकमल परागा (में) अनुरागा करै रस पान करै।' कुछ लोग इस प्रकार अन्वय करते हैं—'पदकमलपरागा और अनुराग रूपी रस पान करै' वा 'पदकमलपरागा (के) अनुरागरूपी रसका पान करै'।

टिप्पणी—१ (क) 'बिनती मोरी' का भाव कि आपके दर्शनका लाभ पतिके वचनसे हुआ। अब मेरी बिनती है (अर्थात् यह मैं अपनी ओरसे माँगती हूँ)। वा, अभीतक जो आपने कृपा की वह तो आपने गौतम मुनि तथा गुरु विश्वामित्रजीका कहा किया, अब मेरी बिनती सुनिये। (ख) 'मति भोरी' अर्थात् मुझे झूठ-सच कुछभी समझ नहीं पड़ता; यथा 'मुनि कह मैं बर कबहुँ न जाँचा। समुझि न परै झूठ का साँचा।२।११।' इसीसे और वर नहीं माँगती। पुनः भाव कि वेदशास्त्रादि तो मैंने पढ़े नहीं कि जिससे विचारकर कुछ और उत्तम वर माँगूँ, इससे जो आपने दिया है—'रघुपति कृपा भगति पाई'—वही मैं फिरभी माँगती हूँ, 'आन' कुछ नहीं चाहती। अर्थात् जो आपने दिया है वही एकरस प्राप्त रहे। पुनः, 'न बर माँगौं आना' का भाव कि आपके दर्शनसे सब मनोरथ पूर्ण होगए, इसीसे अब कुछ माँगना नहीं है। अथवा, इस प्रकार अर्थ करलें कि 'हे प्रभो ! मेरी यह बिनती है कि मैं मतिभोरी हूँ। चरणकमलकी रजमें प्रीति छोड़कर मैं अन्य कोई वर न माँगूँ।' (ग) 'प्रभु' अर्थात् आप 'कर्त्तमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थः' हैं। और मैं मतिकी भोरी हूँ, अर्थात् आपकी स्तुति करनेयोग्य मुझमें बुद्धि नहीं है; यथा 'कह मुनि प्रभु सुनु बिनती मोरी। अस्तुति करौं कवन बिधि तोरी॥ महिमा अमित मोरि मति थोरी। रबिसनमुख खद्योत अँजोरी ॥३।११।२।' (घ) ☞अन्य वर नहीं माँगती हूँ, इसमें आशय यहभी है कि यदि अन्य वर माँगै तो जो वचन प्रथम कहे थे कि जो लाभ हमको हुआ उस लाभको शङ्करजीनेही जाना है, वे मिथ्या हो जायेंगे। भारी लाभकी प्राप्ति होनेपर अन्य लाभका माँगा जाना जनाता है कि माँगनेवाला भारी लाभको लाभ नहीं समझ रहा है। भक्त लोग भक्ति पाकर अन्य वर नहीं माँगते। (ङ) चरणमें प्रेम होना 'पादसेवन' अर्थात् चतुर्थ भक्ति है। —'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनम्।'

२ 'पद कमल परागा रस अनुरागा०' इति। (क) प्रथम जो कहा था कि मैं मति भोरी हूँ उसीको पुष्ट करती हैं कि मैं कुछ नहीं जानती, इतनाभर जानती हूँ कि आपके चरणरजसे मेरा उद्धार हुआ, पत्थरसे मैं दिव्य स्त्री होगई, मुझमें ज्ञान उत्पन्न होगया और भक्ति प्राप्त हुई। रजका यह सब प्रभाव मैंने आँखों देखा है। इसीसे रजमें अनुराग चाहती हूँ। पदपरागमें मेरा मन अनुराग करे, यथा 'बंदौं गुरपद-पदुमपरागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।' अथवा, पदकमलपरागा और रसरूपी अनुरागको मेरा मन मधुप पान करे। मनका चरणोंमें लगना पान करना है। भौंरा परागको खाता है (उसमें लोटता है) और रस पीता है। अर्थात् पराग और रस दोनोंमें उसका अनुराग रहता है। इसीसे पराग और रस दोनों कहे। तात्पर्य्य कि इसी प्रकार मेरा मन रज समेत चरणोंमें लगा रहे। उसको कभी छोड़े नहीं। [रा० प्र० का मत है कि रजमें अनुराग हो अर्थात् उसे चाटे, उसमें लोटे और उसका रस अर्थात् चरणामृत पान करे। भाव कि भ्रमरकी तरह मन लुब्ध रहे, चाहे परागमें लोटे, चाहे मकरंद पान करे। अ० रा० में चरणकमलोंकी आसक्तिपूर्ण भक्ति माँगी है, यथा "देव मे यत्र-कुत्रापि स्थितताया अपि सर्वदा। त्वत्पादकमले सक्ता भक्तिरेव सदास्तु मे। १।५।५८।"]

जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी।
सोई पद पंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी॥

अर्थ—जिस चरणसे परम पवित्र गंगाजी प्रगट हुई (जिन्हें) शिवजीने शिरपर धारण किया, और जिस चरणकमलकी ब्रह्माजी पूजा करते हैं, वही चरणकमल, हे कृपालु हरि ! आपने मेरे सिरपर रक्खा।

टिप्पणी—१ (क) जिन चरणकमलोंका अनुराग ऊपर माँगा है उन्हींका अब माहात्म्य कहती हैं। इन चरणोंसे आप स्वयं पावन हुईं, इसीसे चरणकी पावनता (प्रथम) कहती हैं। चरण ऐसे पावन हैं कि वहाँसे जो सुरसरि प्रगट हुई वह परम पुनीत हैं, चरणका प्रक्षालन समझकर उन परमपुनीत गङ्गाको शिवजीने सिरपर धारण कर लिया तब उन चरणोंकी पावनताको कौन वर्णन कर सकता है? गंगा साक्षात् ब्रह्मद्रव हैं सो आपके चरणसे पैदा हैं। चरणकी यही बड़ाई है कि ब्रह्म (ब्रह्मद्रवरूपसे) आपके चरणोंसे पैदा हुआ है। (ख) 'परम पुनीत' यथा—"मकरंद जिन्हको संभुसिर सुचिता अवधि सुरबर नई"। पुनः भाव कि और सब नदियाँ पुनीत वा अति पुनीत हैं, किंतु सुरसरि परम पुनीत हैं। पुनः, भाव कि यह ब्रह्मा और शिवादिको पवित्र करनेवाली है जो स्वयं पावन हैं, और 'सुरसरि' है इससे देवता लोग पवित्र होते हैं। (घ) 'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज' अर्थात् आपके चरणोंको ब्रह्माजीने पूजा अर्थात् उनका प्रक्षालन किया, उसी प्रक्षालन (चरणामृत) को शिवजीने शिरपर धारण किया। साक्षात् वही चरण मेरे सिरपर आपने कृपा करके रक्खा। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि मेरा भाग्य शिवजी और ब्रह्माजीसे भी अधिक बड़ा है। 'सोई' दीपदेहली है अर्थात् ब्रह्मा और शिवजीसे पूजित और आदरित। (ङ) 'सिर धरेउ कृपालु हरी' का भाव कि आपने अपनी अहेतुकी कृपासे मेरे शीशपर अपना चरण रक्खा कुछ मेरे सुकृतोंसे नहीं, मेरे ऐसे सुकृत कहाँ थे? चरणोंसे क्लेश हरलिये अतः 'हरि' संबोधन किया। 'क्लेशं हरतीति हरिः'। (च) ☞चरणस्पर्श और दर्शनसे जो उपकार हुआ वह यहाँतक कहा। —'परसत पदपावन०' का उपकार 'सोई पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपालु हरी' यह कहा और 'देखत रघुनायक०' का उपकार 'देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना' यह कहा। हरिचरणोंसे उद्धार हुआ इसीसे बारंबार हरिचरणमें पड़ती हैं।

नोट—अ० रा० में इस प्रकार कहा है—"अहो कृतार्थास्मि जगन्निवास ते पादाब्जसंलग्नरजःकणादहम्। स्पृशामि यत्पद्मजशङ्करादिभिर्विमृग्यते रन्धितमानसैः सदा।१.५.४३। यत्पादपङ्कजपरागपवित्रगात्रा भागीरथी भवविरञ्चिमुखान्पुनाति। साक्षात्स एव मम दृग्विषयो यदास्ते किं वर्ण्यते मम पुराकृतभागधेयम्।४५।" अर्थात् आपके जिन पदारविन्दोंका ब्रह्मा-शंभु आदि सर्वदा एकाग्रचित्तसे अनुसंधान किया करते हैं उन्हींके रज कणका स्पर्शकर आज मैं कृतार्थ हो रही हूँ। जिन चरणकमलोंके परागसे पवित्र हुई श्रीभागीरथीजी शिवविरंचि आदिको भी पवित्र कर रही हैं उन्हींका आज साक्षात् मुझे दर्शन हो रहा है।

एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी।
जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पति लोक अनंद भरी॥४॥

अर्थ—इस प्रकार महर्षि गौतमकी पत्नी (अर्थात् दिव्यरूप होकर, भगवान्‌की स्तुति करके और) श्रीहरिके चरणोंमें बारंबार पड़-पड़कर चलती हुई। जो अत्यन्त मनको भाया था वही वरदान उसने पाया और आनन्दमें भरी हुई अपने पतिके लोकको गई॥ ४॥

टिप्पणी—१ 'बार बार हरि चरन परी' इति। हरिचरणोंसे उद्धार हुआ, इसीसे उपकार मानकर बारंबार चरणोंमें पड़ी। पुनः, भक्ति पाई है, अतः बारबार चरणोंपर पड़ी, भक्तलोग भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना बारंबार करतेही हैं। २ ☞उपक्रममें भगवान्‌ने अपना चरण अहल्याके सिरपर धरा,—'परसत पदपावन सोकनसावन प्रगट भई तपपुंज सही'—उद्धार करना यह स्वामीका धर्म है। उपसंहारमें अहल्या भगवान्‌के चरणोंमें अपना शीश बारंबार धरती है,—यह सेवकधर्म है। जब स्तुति करने लगी तब चरणोंमें पड़ी—'अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही'। और जब चलने लगी तब बारंबार चरणोंमें पड़ी।—तात्पर्य कि चरणका प्रभाव कहकर चरणोंको प्रणाम किया, फिर

जब चलने लगी तब चलनेके हेतु ने (विदा होनेके समय) प्रणाम किया। स्तुतिके पश्चात् प्रणाम करना चाहिये, इससे स्तुति कर चुकनेपर प्रणाम किया। पुनः, चरणोंकी भक्तिका वर मिला इससे चरणोंमें प्रणाम किया। इत्यादि कारणोंसे अपनी कृतज्ञता जनानेके लिये बारंबार प्रणाम करती हैं;—'मो पहिं होइ न प्रत्युपकारा। बंदउँ तव पद बारहिं बारा। ७।१२५।'

३ (क) 'जो अति मन भावा सो बरु पावा' इति । यह वर प्रथमही कह आए हैं; यथा 'नाथ न बर माँगउ आना। पदकमलपरागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना'। 'अति मन भावा' क्योंकि इसका प्रभाव स्वयं आँखों देख लिया है। (ख) 'बर पावा' इति। अहल्याका वर माँगना तो स्पष्ट है पर श्रीरामजीका वर देना स्पष्ट नहीं किया गया। क्योंकि गुरुजी समीपही खड़े हैं। उनके संकोचसे प्रगट रूपसे 'एवमस्तु' न कह सके। (प्रत्यक्ष कहनेसे मर्यादाको हानि पहुँचती। अतएव मुखसे कुछ न कहा पर उसको मनोवाञ्छित वर दे दिया इस तरह कि) उसके हृदयमें श्रीरामजी प्राप्त हो गए। यही वर पाना है। जब मूर्ति हृदयमें आई तब पदकमलपरागको मन-मधुप पान करने लगा। भक्तलोग मूर्तिसहित चरणोंमें मन लगाते हैं, मूर्तिसे पृथक् चरणोंका ध्यान नहीं करते। जब आनन्दमूर्ति हृदयमें आई तब आनन्दसे भरी पतिलोकको गई। (नोट—वक्तालोग औरोंके सन्देहनिवारणार्थ स्वयं इस बातको इस प्रकार प्रकट कर रहे हैं कि उसने मनोवांछित बर पा लिया इसीसे आनन्दमें भरी हुई है)। (ग) 'आनंद भरी'। भक्तिका वर मिला जो अत्यंत दुर्लभ है, यथा 'प्रभु कह देन सकल सुख सही। भगति आपनी देन न कही', दुर्लभ वस्तुकी प्राप्तिसे अति आनंद हुआही चाहे। पुनः भाव कि पहले दुःखसे भरी थी अब आनंदपर आनंद है—एक तो चरणस्पर्शका आनंद, दूसरे दर्शनका आनंद, तीसरे मनभाये वरकी प्राप्तिका आनंद, चौथे पतिकी प्राप्तिका आनंद, इत्यादि बहुत प्रकारके आनंदकी प्राप्ति होनेसे आनंदसे भर गई। यहाँ 'प्रथम प्रहर्षण अलंकार' है।

[☞ कहा जाता है कि गौतमजीभी इस समय वहाँ आ पहुँचे थे और अहल्याको साथ लेकर चले गए। यथा 'संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सह गता पुनः।' इति सत्योपाख्याने। पुनः, यथा 'रामके प्रसाद गुरु गौतम खसम भए रावरेहू सतानंद पूत भए मायके। गी० १।६५।', 'करि बहु बिनय राखि उर मूरति मंगल-मोद-मई। तुलसी होइ बिसोक पतिलोकहि प्रभु गुन गनत गई। गी० १।५७।'

प० प० प्र०—अहल्याकृत स्तुति और कृत्तिकानक्षत्रका साम्य। (१) अनुक्रम—यह तीसरी स्तुति है और कृत्तिका तीसरा नक्षत्र है। (२) नामसाम्य—कृत्तिका='कृत्तिः कृत्यते इति कृत्तिः कृती छेदने' (अमर व्या० सु०)=छेदन करनेवाली। इस स्तुतिने सकल घोर पापों और भवखेदका छेदन कर डाला। (३) तारा संख्या-साम्य—षड्भिः खुराभं। (पं० रघुनाथशास्त्री कृत धुनाके) नक्षत्रोंके नकशेमें सात तारे दिखाये हैं, पर खाली आँखोंसे छ ही देखे जा सकते हैं, दूरबीनसे सात देख पड़ते होंगे। वैसेही इस स्तुतिमें 'रघुनायक, रघुपति, रघुराई, प्रभु जग पावन, हरिभवमोचन, कृपाल हरी' ये छः हैं, सातवाँ गिनना हो तो 'हरिचरन' है ही। (४) आकारसाम्य—नक्षत्राकार 'खुराभं' है। अर्थात् टापके सदृश वा उस्तरा, छुराके समान कहा है पर अश्वकी टापके समानही दीखता है। टापमें ऊपर और नीचेका, ऐसे दो भाग होते हैं। ऊपरका भाग सहजही देखनेमें आता है, वैसेही यहाँ रघुनायक, रघुपति, रघुराई ऊपरसे सहजही जाने जाते हैं और ये शब्द पूर्वार्धमें ही हैं। 'प्रभु' टापके नीचेके मध्यभागके समान मध्यमें है, गुप्त है, पहिचानना दुष्कर है। 'हरिभवमोचन', 'कृपाल हरि' यह भी किसी बड़भागीको ही सूझ पड़ता है। 'हरिचरन' का अर्थ घोड़ेका चरणभी होताही है। (५) देवता साम्य—नक्षत्रका देवता अग्नि है। और इधर गौतमजीका क्रोधाग्नि और शापाग्निही इसका मूल कारण है। (६) फलश्रुतिसाम्य—'सद्गुरु ज्ञान बिराग जोग के। १।३२ ३। फलश्रुति है। इधर रामकृपासे अहल्याजीको प्रभुका ज्ञान हुआ। उसने केवल भक्तिही माँगी और कुछ न माँगा। मोक्षादिसे भी विरागही रहा। पतिवियोग हुआ था सो पतियोग हुआही—'गई पतिलोक अनंदभरी'।

दोहा—अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन-रहित दयाल ।
तुलसिदास सठ तेहि[1] भजु छाँड़ि कपट जंजाल ॥२११॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ऐसे दीनबंधु और कारणरहित कृपा करनेवाले हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे सठ (मन)! कपट जंजाल छोड़कर उन्हींका भजन कर॥ २११॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर दिखा आए कि अधमा, अपावनी, पतिसे त्यक्ता, जड़ पाषाण हुई पड़ी, सर्वसाधनहीना अहल्याका निस्स्वार्थ उद्धार किया। (ख) 'दीनबंधु' हैं अर्थात् दीनोंकी सदा सहायता करते हैं, यथा 'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहुके घाए। २।३०६।' जैसे उत्तम श्रेष्ठ भाई क्लेशमें, कुअवसरमें, काम आते हैं वैसेही प्रभु दीनोंके क्लेशमें, संकटमें सुबंधुसे भी अधिक सहायक होते हैं। (ग) 'कारन-रहित दयाल' हैं, दीनोंपर कारणरहित दया करते हैं। भाव कि अहल्यापर दया करनेका कोई भी कारण न था। पतिबंचक स्त्रीपर दया कैसी? [(घ) ☞शिलासे दिव्य स्त्री बनादी। दीनकी सहायता करनेमें समर्थ होनेसे 'प्रभु' और पतिवियोग तथा निज पापजनित शोकको बिना कारण अपनी दयासे नाश करनेसे, दया करके क्लेश हरनेसे 'हरि' कहा। स्वयं वहाँ जाकर कृपा की। पाप और शाप दोनोंसे मुक्त किया। यथा 'ऐसे राम दीन हितकारी। अति कोमल करुनानिधान बिनु-कारन परउपकारी॥ साधनहीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनि नारी। गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर श्राप ते तारी।' विनय १६६।' पुनश्च 'राम भलाई आपनी भल कियो न काको। हरयो पाप आपु जाइकै संताप सिलाको। विनय १५२।']

नोट—'अस प्रभु' से सूचित होता है कि अहल्याके प्रकरणको कहते हुये कविका मन स्तुतिमें तद्रूप हो गया है। अतः आपभी सम्मिलित होकर कहते हैं कि 'अस प्रभु'। इस दोहेके पूर्वार्द्धमें अपनेको गुप्ता-लंकारसे छिपाया परंच उत्तरार्द्धमें प्रेमोद्गारने उन्हें प्रगट कर दिया।—'तुलसीदास'। (रा० च० मिश्र)। 'कारनरहित दयाल', यथा 'लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथहित, नीके देखे देवता देवैया घने गत्थ के···। और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के। क ७।२४।', 'हरिहुँ और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई। लै चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बालमिताई। विनय १६३।'

टिप्पणी—२ (क) 'तुलसिदास सठ ताहि भजु०' इति। भगवान्को ऐसा जानकर भी नहीं भजता, इसीसे गोस्वामीजी अपने मनको शठ कहते हैं। यहाँ गोसाईंजीका नाम है, इसीसे मनका अध्याहार है। गोस्वामीजी अपनेको शठ न कहेंगे, अपने मनको शठ कहते हैं। यथा 'तजि सकल आस भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना। ५।६०।', 'पाई न केहि गति पतित पावन राम भजि सुनु सठ मना। ७।१३०।' इत्यादि। अथवा, अपनेको शठ कहते हैं, यथा 'सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु। १।२८।', 'कलिकाल तुलसी से सठन्हि हठि रामसनमुख करत को। २।३२६।' तथा यहाँ 'तुलसिदास सठ०', इत्यादि।। मनको शठ कहनेमें भाव यह है कि तू पत्थरसे अधिक जड़ नहीं है, तब तू भजनमें क्यों नहीं तत्पर होता? देख, शिला तो दिव्य मूर्ति हो गई तब तू क्या उससे भी गया गुजरा है कि तेरा उद्धार न होगा! गोस्वामीजी अपने मनको धिक्कारते हैं और उसे (तथा उसके द्वारा दूसरोंको) उपदेश देते हैं कि कपट जंजाल छोड़कर भगवद्भजन करो] (ख) 'छाँड़ि कपट जंजाल'। 'कपट-जंजाल' भजनके बाधक हैं, यथा—'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।५।४४।', 'गृह कारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला। ३।८।' कपट छोड़ना भीतरकी सफ़ाई है, जंजाल छोड़ना बाहरकी सफ़ाई है। भीतर बाहर दोनोंकी सफ़ाई के लिये कपट और जंजाल दोनोंको कहा।

यज्ञरक्षा और अहल्योद्धार प्रकरण समाप्त हुआ।

(श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु। श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः)

१—ताहि–को० रा०। तेहिं–१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०।

प्रेमडगरिया मिथिला-नगरिया

(नगर-दर्शन-प्रकरण)

श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी)—श्रीरामचरितमानस एक नाटकीय महाकाव्य है। अंग्रेजी साहित्य-में यह धारणा है कि महाकाव्य (Epic) की उड़ान ऊपरको (Vertical) और नाटक (Drama) का फैलाव बराबरपर (Horizontal) होता है। इससे इन दोनों कलाओंका एकीकरण नहीं हो सकता। फ़ारसी भाषाकी भी धारणा है कि 'रज़्म' (Epic अर्थात् रौद्र और वीररसप्रधान कविता), 'बज़्म' (Drama or Lyric अर्थात् शृङ्गार और हास्य रसोंकी कविता) और 'पंद व नसायह' (अर्थात् शान्त-रसकी शिक्षाप्रद कविता) एक नहीं हो सकतीं।—(विस्तारसे इस विषयका लेख चाँदमें प्रकाशित हो चुका है); मगर कवि मुशकिल-पसंद होते हैं। स्पेन्सर (Spencer) ने प्रयत्न किया, किंतु फिर 'फेयरी क्कुइन' (Fairy Queen) को महाकाव्यका रूपही दे डाला। दोनों कलाओंके संमिश्रणमें वह सफल न हुआ। मिलटनने तो महाकाव्य संबंधी नाटकके ऐक्ट और सीन सब ढाँचा पैराडाइज़ लास्ट' (Paradise Lost) के लिये बना लिया और सूर्यदेवके लिये प्रारंभिक स्तुतिभी लिखी, लेकिन फिर उनकी हिम्मत टूट गई। टेनिसन (Tennyson) ने फिर उद्योग किया तो कुछ दृश्य 'आइडल्स अफ़ दि किंग' (Idylls of the King) लिख सके। फ़ारसी-में सिकन्दरनामा और शाहनामा अच्छे महाकाव्य हैं, परन्तु उनकी उड़ान अधिकतर भौतिक ही है। उनमें आधिदैविक कला बहुत कम है और आध्यात्मिक तो कुछ भी नहीं है। फिर उपर्युक्त किसीभी महाकाव्यमें विज्ञान, ज्ञान, योग, दर्शन, भक्ति, कथा, नीति और व्यवहार संबंधी रहस्य भी पूर्ण नहीं हैं।—ये तो भारत-वर्षके पुराण और इतिहासरूपी महाकाव्योंमेंही ठीक तरह मिलते हैं। हाँ, डैन्टी (Dante) के 'डिवाइन कामेडी' (Divine Comedy दैवी सुखान्तक काव्य) में कुछ रहस्य है, किंतु वहाँ महाकाव्यका ओज गुण नहीं है। होमर (Homer) के 'इलियड (Ileod) और ओडेसी' आधिदैविक हैं किन्तु उपर्युक्त रहस्योंकी चर्चा वहाँ नहीं है। इसीसे तो 'अर्नेस्टउड' (Ernest Wood) ने लिखा है कि तुलसीकृत रामायण लेटिन और ग्रीक भाषाके महाकाव्योंसे बढ़ा-चढ़ा हुआ है। और फ्रेज़र (Frazer) ने लिखा है कि तुलसीदास मिलटन और स्पेन्सरसे पीछे नहीं हैं। सर जार्ज ग्रियरसन (Sir George Grierson) मानते हैं कि तुलसीदास एशियाके छः बड़े (महान्) लेखकों में हैं।

यदि बालकांडके प्रारंभिक भागको प्रस्तावना कहा जाय और उत्तरके अंतको उपसंहार, तो बीचका हिस्सा बड़ेही सुन्दर नाटकोंकी शृङ्खलावाला महाकाव्य रहजाता है। चित्रकूटतक नाटकी-कला प्रधान है, तो उसके उपरान्त महाकाव्य कला, तथापि दोनों कलाओंका साथ कभी नहीं छूटा।

☞तनिक विस्तारसे लिखनेका प्रयोजन यह बताना है कि अब हम बड़े सुन्दर सुखान्त नाटकीय-कलाके अंशमें प्रवेश कर रहे हैं और यहाँ 'मानस-पीयूषकार' का शीर्षक भी बड़ाही सुन्दर है❀। याद रहे कि विश्वामित्रके प्रसंगमें महाकाव्यकला प्रधान थी। मगर नाटकीयकलाके संकेत उसमें भी मौजूद हैं। उदाहरणार्थ—दशरथ-विश्वामित्र-वसिष्ठ-संवाद थोड़ेही उद्योगसे नाटकीय बनाया जासकता है, जिसमें

❀ यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि यह शीर्षक मेरे गुरुदेवजी महाराज अनंत श्रीसीतारामशरण भगवान्प्रसाद श्रीरूपकलाजीका लिखाया हुआ है, इसमें दासकी कोई करामात नहीं है। यह बड़ाई उन्हीं श्रीगुरुदेवजी की है। जिन्होंने 'मानस-पीयूष' लिखवा लिया।

भविष्यसूचक 'इन्ह कहँ अति कल्यान' वाली बात मौजूद है। फिर ताड़कावध और अहल्योद्धारमें उस आधिदैविक और नैतिक रहस्यका प्रकटीकरण है जो आगेके नाटककी जान है। हाँ! विश्वामित्राश्रममेंही मानों नाटकके दूसरे ऐक्टका संकेत है।—'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥ धनुष जज्ञ सुनि···।'

जब इस बातका प्रमाण कि ये उस प्रेमके नाटकके अंश हैं सखियोंकी वार्ता "सुने जे मुनिसंग आये काली।···" इत्यादि तकमें भी है तब फिर जनक-स्वागत इत्यादिमें क्यों न हो। रामका यश श्रीरामजीसे पहले पहुँच गया था। हाँ, यह स्मरण रहे कि यहां कविने महाकाव्यकलाही प्रधान रक्खी है; इससे बहुधा ये अंश संक्षेपमेंही खेले जाते हैं।

नाटकीय कलामें यह अंश दृश्य प्रधान है। जैसे 'हैमलेट' और 'टेम्पेस्ट' नामक शेक्सपियरके नाटकोंके प्रारंभमें। शेक्सपियर और तुलसीके समयमें वर्तमान नाटकोंकेसे रंगमंच नहीं होते थे, इससे तुलसीदासजी नाटकका परदा भी शब्दोंमें ही तैयार करते हैं। फिल्म-कला निस्संदेह इन दृश्योंको ठीक ठीक दिखा सकती है।

अब हम नाटकीयकलाके विकासकी ओर बढ़ रहे हैं। इस प्रेमके नाटककी सूक्ष्मता समझानेके लिए फ़ारसीका यह पद मुझे बहुत काम देता है—'चु याबद बूय गुल ख़्वाहद कि बीनद। चु बीनद रूय गुल ख़्वाहद कि चीनद॥' जब फूलकी सुगंध मिलती है तो जी चाहता है कि देखें; जब देखता है तो जी चाहता है कि चुन लें।

देखिये प्रेमके विकासकी श्रेणियाँ, 'प्रेमडगरिया' की मंजिलें—(१) फूल (प्रेमी व प्रेमिका) की सुगंध मिलना। (२) दर्शनकी अभिलाषा। (३) उद्योग। (४) साक्षात्कार। (५) संयोगकी इच्छा। (६) उद्योग और कठिनाइयोंसे प्रेमकी परख। और, (७) संयोग।—यही सुखान्तक नाटक यहांसे विवाहतक है।

तुलसीदासजीकी नाटकीयकलामें कवि साथ है। वह हमारा मित्र, दार्शनिक शिक्षक और पथप्रदर्शक (Friend, philospher and guide) है और इसीलिये व्यक्तियों, परिस्थितियों, और वक्ताओंका आलोचक है, मगर बर्नार्डशाकी तरह उसकी भूमिका, उपसंहार और आलोचना शुष्क और गद्यात्मक नहीं बल्कि सरसता और काव्यकलासे ओत-प्रोत है।

☞ पाठकोंसे निवेदन है कि इन्हीं दृष्टिकोणोंसे कला-संबंधी अंशका विचार करेंगे तो उन्हें बड़ा आनंद मिलेगा। इसीसे पहलेही कुछ विस्तारसे निवेदन किया है।

चले राम लछिमन मुनि संगा। गए जहाँ जग-पावनि गंगा॥१॥
गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥२॥

अर्थ - श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनिके साथ चले। जहाँ जगत्‌को पवित्र करनेवाली गंगाजी हैं वहां गये। १। राजा गाधिके पुत्र विश्वामित्रजीने सब कथा सुनाई जिस प्रकार देवनदी गंगाजी पृथ्वीपर आईं। २।

टिप्पणी—१ चले राम लछिमन···' इति। (क) 'चले'—अहल्याको कृतार्थ करनेके लिये खड़े हो गये थे, अब पुनः चले। ☞ जब जब कहीं रुकना पड़ता है तब-तब वहांसे चलते समय 'चले' अर्थात् चलना कहते हैं। यथा 'जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस···। २०८।'; माताके पास बिदा होने गये थे वहां रुके, अतः वहांसे चलना कहा। वहांसे मुनिके पास आये, जब मुनिके साथ अयोध्याजीसे चले तब फिर कहा—'पुरुषसिंह दोउ बीर, हरषि चले मुनि-भय-हरन। २०८।' पुनः यथा 'धनुषजज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले मुनिबर के साथा। २१०। १०।' सिद्धाश्रममें आनेपर ठहरे थे, यहां मुनिको

निर्भयकर अब धनुषयज्ञ देखने चले। पुनः यथा 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया। २१२। ४।' गंगातटपर रुके थे, स्नानादि करनेपर फिर वहांसे 'चले'। तथा यहां अहल्योद्धार करनेको रुके थे, जब वह स्तुतिकर पतिलोकको चली गई, तब फिर 'चले राम…' कहा]। (ख) 'चले राम लछिमन मुनि संगा' इति। मुनिके संग श्रीरामलक्ष्मणजी चले, यह कहकर चलनेका क्रम दिखाया कि मुनि आगे-आगे हैं, उनके पीछे श्रीरामजी और श्रीरामजीके पीछे श्रीलक्ष्मणजी हैं। [(ग) यहां यह शंका की जाती है कि 'जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्षभी लिखा गया है, यथा 'हरषि चले मुनि-भय-हरन। २०५।', 'हरषि चले मुनिबर के साथा', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया', पर यहाँ 'चले' के साथ 'हरषि' शब्द नहीं है, यह क्यों?' और इसका समाधान यह किया जाता है कि अहल्या ब्राह्मणी और ऋषिपत्नी है। उसको चरणसे स्पर्श करना पड़ा। आपका मर्यादा पुरुषोत्तम अवतार है। क्षत्रिय होनेसे आपके मनमें इसकी बड़ी ग्लानि है। आप सोचते हैं कि हमसे बड़ा अपराध हुआ, इससे मनमें बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है। यथा "सिला पाप संताप बिगत भइ परसत पावन पाउ। दई सुगति सो न हेरि हरषु हिय चरन छुए को पछिताउ। विनय १००।" हृदयमें हर्ष नहीं है, इसीसे चलते समय 'हरषि चले' नहीं लिखा गया। (प्र० सं०)]। (घ) 'गए जहाँ जगपावनि गंगा' इति। उपर्युक्त शंका और समाधानके संबंधसे एक भाव यह है कि अहल्याजीके सिरपर अपना चरण धरनेसे मनमें पश्चात्ताप हो रहा था कि हमसे बड़ा अपराध हुआ वह सोच 'जगपावनी गंगाजी' को देखकर जाता रहा। 'जगपावनि' का भाव कि हमारा सब पाप गंगाजीमें स्नान करनेसे नष्ट हो जायगा, क्योंकि ये जगपावनी हैं, हम पवित्र हो जायँगे-यह भाव माधुर्यमें है। दूसरा भाव यह है कि आप जगपावन हैं, यथा 'तीरथ अमित कोटि सम पावन', 'मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन…', और गंगाजीभी जगपावनी हैं, इसीसे गंगाजीको देखकर बड़ा हर्ष हुआ जैसा अयोध्याकांडमें कहा है—'उतरे राम देवसरि देखी। कीन्ह दंडवत हरष बिसेषी। २। ८७।' [पुनः, 'जगपावनि' विशेषणका भाव कि श्रीरघुनाथजीने एक अहल्याको पावन किया और गंगा जगत्को पावन करनेवाली हैं (पां०)]।

नोट १—'गाधिसूनु सब कथा सुनाई…' इति। वाल्मीकीयमें लिखा है कि श्रीरामजीने विश्वामित्रजीसे प्रश्न किया कि 'यह त्रिपथगा (तीन धारावाली गंगा) किस प्रकार तीनों लोकोंमें घूमकर समुद्रसे मिली' (१. ३५. ११)। उनके वचनसे प्रेरित हो मुनिने गंगाके जन्म और वृद्धिका वृत्तान्त कहा। जो संक्षेपसे यह है—सुमेरुकी कन्या हिमाचलकी स्त्री मेनाकी बड़ी कन्या गंगा हुई। देवकार्यकी सिद्धिके लिये देवताओंने इस कन्याको हिमवान्से माँग लिया और उन्हें लेकर देवलोकको चले गये। (वाल्मी० १.३५. १३-१८)।

यह कथा सुनकर फिर उन्होंने गंगाजीकी स्वर्गसे मृत्युलोकमें आनेकी कथा पूछी और यहभी पूछा कि 'गंगा तीन धाराओंमें क्यों बहती हैं और उनका नाम त्रिपथगा क्यों पड़ा?'—इन प्रश्नोंके उत्तरमें सर्ग ३६, ३७ में कार्तिकेय-जन्म-संबंधी गंगाकी कथा कही। फिर सर्ग ३८ में राजा सगरकी कथा कही जो संक्षेपसे इस प्रकार है—इक्ष्वाकुवंश (रघुकुल) में एक राजा सगर अयोध्यामें धर्मात्मा और पराक्रमशील राजा हुये। उनकी दो रानियाँ केशिनी और सुमति थीं। (महाभारत वन पर्वमें इनके नाम शैब्या और वैदर्भी हैं। वाल्मी० १.३८.३ में केशिनीको विदर्भराजकी कन्या कहा है। इससे संभव है कि ये नाम पिताके संबंधके हैं। सुमति गरुड़की बहिन थीं, ऐसा सर्ग ४१ श्लोक १६ में कहा है।) दोनों रानियों और राजाने हिमालयपर जाकर भृगुऋषिके सोनेवाले पर्वतपर सौ वर्ष तपस्या की। भृगुजीने प्रसन्न होकर वर दिया कि एक रानीके वंश बढ़ानेवाला एकही पुत्र होगा और दूसरीके साठहजार बली, कीर्तिमान् और उत्साही पुत्र होंगे। जो एक पुत्र उत्पन्न करना चाहे वह एक उत्पन्न करे और जो बहुत चाहे वह बहुत उत्पन्न करे। केशिनीने एक माँगा और सुमतिने साठ हजार।—(पद्मपुराण और महाभारतमें यहाँकी कथासे भेद है।

पद्मपुराणमें और्व ऋषिका और महाभारतमें शंकरजीका वरदान देना कहा है ॐ। श्रीमद्भागवत और महाभारत वनपर्वकी कथायें मिलती जुलती हैं)। केशिनीके असमंजस नामक एक दिव्य बालक उत्पन्न हुआ और सुमतिके गर्भसे एक तुंबी उत्पन्न हुई। [राजाने तूँबी को फेंकनेका विचार किया। उसी समय गंभीर स्वरसे आकाशवाणी हुई कि ऐसा साहस न करो। इस तरह पुत्रोंका परित्याग करना उचित नहीं है। इस तुँबीके बीज निकालकर उन्हें कुछ-कुछ घीसे भरे हुए घड़ोंमें पृथक्-पृथक रख दो। इससे तुम्हें साठ हज़ार पुत्र होंगे।'—(महाभारतवनपर्व)]। घीसे भरे घड़ोंमें रखकर, धात्रियोंने उनका पालन किया। उस तुंबीसे इस प्रकार साठ हज़ार अतुलित तेजस्वी घोर प्रकृतिके और क्रूर कर्म करनेवाले एवं आकाशमें उड़कर चलनेवाले पुत्र उत्पन्न हुये। दूसरी रानीका पुत्र असमंजस अपने पुरवासियोंके दुर्बल बालकोंका गला पकड़कर सरयूमें डाल देता था और जब वे डूबने लगते तब हँसता था। सब पुरवासी भय और शोकसे व्याकुल रहने लगे। एक दिन राजासे सबने आकर प्रार्थना की कि असमंजससे हमारी रक्षा कीजिये। महात्मा सगरने पुरवासियोंके हितार्थ अपने पुत्रको नगरसे निकाल दिया। राजा हो तो ऐसा हो ! प्रजाकी प्राणोंसे रक्षा करना राजाका धर्म था न कि प्रजाहीका सत्यानाश करना !! असमंजसके एक पराक्रमी पुत्र अंशुमान् थे जो सबको प्रिय थे।

बहुत काल बीतनेपर राजा सगरने हिमालय और बिन्ध्याचलके बीचमें एक अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ली। घोड़ा छोड़ा गया। (वह घूमता-घूमता जलहीन समुद्रके पास पहुँचा तब वह अदृश्य हो गया।) इन्द्रने राक्षसका वेष धरकर उसे चुराकर भगवान् कपिलदेवके आश्रममें बाँध दिया। सगरके साठ हज़ार राजकुमारोंने समुद्र, द्वीप, वन, पर्वत, नदी, नद और कन्दरायें सभी स्थान छान डाले परन्तु पता न लगा। तब लौटकर उन्होंने सब समाचार राजासे कह दिया। राजाने क्रोधमें आकर आज्ञा दी कि उसे जाकर खोजो, ख़ाली हाथ लौटकर न आना। ये लोग फिर खोजने लगे। एक जगह पृथ्वी कुछ फटी देख पड़ी जिसमें एक छिद्र भी था, उन्होंने उसे पातालतक खोद डाला। वहाँ घोड़ेको उन्होंने घूमते और चरते हुये देखा। उसके पास महात्मा कपिलदेवभी दिख पड़े। मुनि ध्यानमें थे। कालवश ये राजकुमार क्रोधसे भर गये और कहने लगे कि देखो, कैसा चोर है ? घोड़ा चुराकर यहाँ मुनिवेष बनाकर बैठा है।' 'अरे मूर्ख ! तूने हमारे यज्ञका घोड़ा चुराया है। हम लोग सगरके पुत्र तुझे दंड देनेको आगये, यह तू जान ले।' इस कोलाहलसे मुनिकी आँखें खुल गईं और उन्होंने बड़े क्रोधसे हुंकार किया जिससे सब राजकुमार उनके तेजसे भस्म हो गये। (वाल्मी० १ सर्ग ३६,४० । भा०)। महाभारत वन पर्वमें लिखा है

ॐ पद्म पु० उत्तरखंडमें महादेवजीने नारदजीसे कहा है कि 'सुबाहुके पुत्र 'गर' हुए। शत्रुओंने इनका राज्य छीन लिया तब ये परिवारसहित भृगुनन्दन और्वके आश्रमपर चले गये। और्वने उनकी रक्षा की। सगर वहीं पैदा हुए और बढ़े। और्वने अस्त्र-शस्त्र तथा वेदविद्याका भी अभ्यास करा दिया। सगरके दो रानियाँ थीं। वे दोनोंही तपस्याके द्वारा अपने पाप दग्ध कर चुकी थीं। इससे प्रसन्न होकर और्वने उन्हें वरदान दिया। एकने साठ हज़ार पुत्र माँगे और दूसरीने एकही ऐसे पुत्रके लिये प्रार्थना की जो वंश चलानेवाला हो।' (कल्याणसे)।

महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि दोनों (राजा और रानियों) ने कैलासपर जाकर कठिन तप किया। शंकरजी प्रकट हुये और दोनोंने प्रणामकर उनसे पुत्रके लिये प्रार्थना की। शंकरजीने कहा कि 'जिस महूर्त्तमें तुमने वर माँगा है, उसके प्रभावसे एक रानीसे अत्यंत गर्वीले और शूरवीर साठ हज़ार पुत्र होंगे किंतु वे सब एक साथही नष्ट हो जायँगे। दूसरी रानीसे वंशको चलानेवाला केवल एकही शूरवीर पुत्र होगा।'—ऐसा कहकर शंकरजी अन्तर्धान हो गए।

कि नारदने सब समाचार राजासे कहा। देखिये महात्माके अपमान का फल! अब एकमात्र अंशुमानही राज्यमें थे। राजाने उनको बुलाकर और समझाकर भाइयों और यज्ञके घोड़ेको ढूँढनेको भेजा। ये अपने चाचाओंकी खोदीहुई पृथ्वीके रास्तेपर पहुँचे। सब दिग्गजोंको प्रणाम किया और उनसे अशीर्वाद पाकर उस स्थानपर पहुँचे जहाँ सगरके पुत्रोंकी भस्म पड़ी हुई थी। उन्होंने सबको जलांजलि देना चाही पर कहीं जल न मिला। तब गरुड़ने आकर अंशुमान्से कहा कि ये कपिलदेवजीके क्रोधसे भस्म हुये हैं, साधारण जलसे इनको लाभ नहीं होनेका। इनको गंगाजलसे जलांजलि देना। घोड़ा लेकर जाओ! (वाल्मी० १।४१।१६—२१।); परन्तु वनपर्वमें लोमशजीने युधिष्ठिरजीसे कहा है कि अंशुमान् कपिलदेवजीके आश्रम-पर गये और उनकी स्तुति की। उन्होंने वर माँगनेको कहा। उन्होंने यज्ञ-अश्व माँगा और अपने पितरोंके उद्धारकी प्रार्थना की। उन्होंने प्रसन्नतासे घोड़ा दिया और वर दिया कि तुम्हारा पौत्र भगीरथ गंगाजीको लाकर इन सबका उद्धार करेगा। घोड़ा लाकर अंशुमान्ने राजाको दिया और यज्ञ पूरा किया गया। सगरके पश्चात् अंशुमान् राजा हुए। उन्होंने अन्तमें अपने धर्मात्मा पुत्र दिलीपको राज्य सौंपकर गंगाजीके लिये तप किया। दिलीपने भी गंगाजीके लिये बहुत प्रयत्न किया। उनके पुत्र भगीरथजी अपने पितरोंका वृत्तान्त सुनकर बहुत दुःखी हुए और मंत्रियोंको राज्य सौंपकर वे हिमालयपर तपस्या करने लगे। इन्होंने राज्याभिषेक होते हुए राज्य छोड़ दिया और एक हजार वर्षतक घोर तपस्या की। तपस्यासे प्रसन्न होकर ब्रह्माजी देवताओं सहित वहाँ आये और वर माँगनेको कहा। उन्होंने गंगाजीके लिये और एक पुत्रके लिये प्रार्थना की। उन्होंने मनोरथ पूर्ण होनेका वर दिया पर साथ ही यह भी कहा कि गंगाजीके वेगको पृथ्वी न सह सकेगी। उसको धारण करनेकी शक्ति शिवजीको छोड़ किसीमें नहीं है, अतः तुम उनको प्रसन्न करो। यह कहकर और गंगाजीको भगीरथजीका मनोरथ पूर्ण करनेकी आज्ञा देकर ब्रह्माजी स्वर्गको गये। (वाल्मी० १।४२।१४—२५)। [वनपर्वमें लोमशजीने कहा है कि गंगाजीनेही तपस्यासे प्रसन्न होकर दिव्यरूपसे भगीरथ महाराजको दर्शन दिया और कहा कि जो कहो मैं वही करूँ। * भगीरथजीने कहा कि 'मेरे पितृगण महाराज सगरके साठ हजार पुत्रोंको कपिलदेवजीने भस्म कर यमलोकको भेज दिया। जबतक आप अपने जलसे उनका अभिषेक न करेंगी, तबतक उनकी सद्गति नहीं हो सकती। उनके उद्धारके लिये ही आपसे प्रार्थना है।' गंगाजीने कहा कि मैं तुम्हारा कथन पूरा करूँगी। परंतु जिस समय मैं आकाशसे पृथ्वीपर गिरूँगी उस समय मेरे वेगको रोकनेवाला कोई न होनेसे मैं रसातलको चली जाऊँगी। तुम उसका उपाय करो' (भा० ९।९।३-५)। 'तीनों लोकोंमें भगवान् शंकरको छोड़ कोई ऐसा नहीं जो मुझे धारण कर सके। अतएव तुम उनको प्रसन्न कर लो जिसमें मैं गिरूँ तो वे मुझे मस्तकपर धारण कर लें।' (महाभारत)] भगीरथजीने तब पुनः तीव्र तपस्या की और महादेवजीको प्रसन्न करके उनसे गंगाजीको धारण करनेका वर प्राप्त कर लिया। शंकरजी हिमालयपर आकर खड़े हो गये। भगीरथजी गंगाजीका ध्यान करने लगे। इन्हें देखकर गंगाजी स्वर्गसे धाराप्रवाहरूपसे चलीं और शिवजीके मस्तकपर इस प्रकार आकर गिरीं मानो कोई स्वच्छ मोतियोंकी माला हो। शंकरजी दस हजार वर्षोंतक उन्हें अपनी जटाओंमें धरे रह गये। भगीरथजीने पुनः तपस्या करके शंकरजीको प्रसन्न किया। तब उन्होंने गंगाजीको जटाओंसे छोड़ा।†

---

* पद्म पु० उत्तरखण्डमें कहा है कि दस हजार वर्ष तपस्या करनेपर विष्णु भगवान् प्रसन्न हुए। उनके आदेशसे गंगाजी आकाशसे चलीं।

† शिवजीने विन्दुसरमें गंगाको छोड़ा। वहांसे उनकी सात धारायें हुईं। ह्लादिनी, पावनी, और नलिनी पूर्व दिशाकी ओर गईं। सुचक्षु, सीता और सिन्धु ये तीन पश्चिमको गईं। और सातवीं धारा भगीरथके पीछे-पीछे गई। (वाल्मी० १।४३।११—१४)। जह्नु ऋषि यज्ञ कर रहे थे। उनकी यज्ञ-

गंगाजीने राजासे कहा कि 'मैं तुम्हारे लिये ही पृथ्वीपर आयी हूँ, अतः बताओ मैं किस मार्गसे चलूँ ?' यह सुनकर आगे आगे राजा रथपर और पीछे-पीछे गंगाजी, इस तरह कपिलजीके आश्रमपर, जहाँ सगर-पुत्रोंकी राख पड़ी थी, वे गंगाजीको ले गये। जलके स्पर्शसे उनका उद्धार हो गया। गंगाजी सहस्रधारा होकर कपिलजीके आश्रमपर गईं। समुद्र उनके जलसे तत्काल भर गया। राजा भगीरथने उनको पुत्री मान लिया और पितरोंको गंगाजलसे उन्होंने जलांजलि दी। उस जलके स्पर्शसे सगरपुत्रोंका उद्धार हुआ।

☞ यह नदी गंगोतरीसे निकलती है और मंदाकिनी तथा अलकनंदासे मिलकर हरिद्वारके पास पथरीले मैदानमें उतरती है।

दूसरी कथा श्रीमद्भागवत ५।१७ में है। उसमें श्रीशुकदेवजीने गंगाजीका विवरण इस प्रकार दिया है कि जब भगवान्‌ने त्रिलोकको नापनेके लिये अपना पैर फैलाया तो उनके बांयें पैरके अँगूठेके नखसे ब्रह्मांड-कटाहके ऊपरका भाग फट गया। उस छिद्रमें होकर जो ब्रह्मांडसे बाहरके जलकी धारा आयी, वह उस चरणकमलको धोनेसे उसमें लगे हुए केसरके मिलनेसे लाल हो गयी। उस निर्मल धाराका स्पर्श होतेही संसारके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, किंतु वह सर्वथा निर्मलही रहती है। पहले किसी और नामसे न पुकारकर उसे 'भगवत्पदी' ही कहते थे। वह धारा हजारों युग बीतनेपर स्वर्गके शिरोभागमें स्थित हुई, फिर ध्रुवलोकमें उतरी, जिसे 'विष्णुपद' भी कहते हैं। ध्रुवलोकमें आजभी ध्रुवजी नित्यप्रति बढ़ते हुए भक्तिभाव से 'यह हमारे कुलदेवताका चरणोदक है' ऐसा मानकर उसे बड़े आदरसे सिरपर चढ़ाते हैं। और फिर सप्तर्षिगण 'यही तपस्याकी आत्यन्तिक सिद्धि है' ऐसा मानकर उसे जटाजूटपर धारण करते हैं। वहाँसे गंगाजी आकाशमें होकर चन्द्रमण्डलको आप्लावित करती हुई मेरुशिखरपर ब्रह्मपुरीमें गिरती हैं। वहांसे सीता, अलकनंदा, चक्षु और भद्रा नामसे चार धाराओंमें विभक्त हो जाती हैं। उनमें सीता ब्रह्मपुरीसे गिरकर केसराचलोंके सर्वोच्च शिखरोंमें होकर नीचेकी ओर बहती गंधमादनके शिखरोंपर गिरती है और भद्राश्ववर्षको प्लावित कर पूर्वकी ओर खारे समुद्रमें मिल जाती है। इसी प्रकार 'चक्षु' माल्यवानके शिखर-पर पहुँचकर वहांसे केतुमाल वर्षमें बहती पश्चिमकी ओर क्षीरसमुद्रमें जा मिलती है। 'भद्रा' मेरुपर्वतके शिखरसे उत्तरकी ओर गिरती है तथा एक पर्वतसे दूसरे पर्वतपर जाती हुई अन्तमें शृङ्गवान्‌के शिखरसे गिरकर उत्तर कुरुदेशमें होकर उत्तरकी ओर बहती हुई समुद्रमें मिल जाती है। 'अलकनंदा' ब्रह्मपुरीसे दक्षिणकी ओर गिरकर अनेकों गिरिशिखरोंको लाँघती हुई हेमकूट पर्वतपर पहुँचती है। वहाँसे अत्यंत तीव्र वेगसे हिमालयके शिखरोंको चीरती हुई भारतवर्षमें आती है और फिर दक्षिणकी ओर समुद्रमें जा मिलती है। इसमें स्नान करनेके लिये आनेवालोंको पद-पदपर अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञोंका फल भी दुर्लभ नहीं। (श्लोक २ से १० तक)

तीसरी कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भगवान् व्यासने ब्राह्मणोंके पूछनेपर कि "गंगाजी कैसे इस रूपमें प्रकट हुईं ? उनका स्वरूप क्या है ? वे क्यों अत्यंत पावनी मानी जाती हैं ?", उनसे गंगाजीकी कथा विस्तारसे कही है, जिसका संक्षिप्त विवरण यह है। ब्रह्माजीने नारदजीके पूछनेपर कहा था कि पूर्वकालमें सृष्टिका आरंभ करते समय मैंने मूर्तिमती प्रकृतिसे कहा कि 'देवि ! तुम संपूर्ण लोकोंका आदि-कारण बनो। मैं तुमसेही संसारकी सृष्टि करूंगा।' यह सुनकर परा-प्रकृति सात स्वरूपोंमें अभिव्यक्त हुई।

सामग्री गंगाजीने बहा दी, इससे क्रोधमें आकर वे गंगाजीका सब जल पी गये। देवताओंने उनको प्रसन्न किया और कहा कि गंगा आपकी कन्याके नामसे प्रसिद्ध होंगी। तब मुनिनें उन्हें कानके मार्गसे निकाल दिया और भगीरथजीके पीछे-पीछे वे फिर चलीं। (वाल्मी० १।४३।३४-३६)। भगीरथके मनो-रथके लिये वे रसातलमें गईं। तीन धाराओंमें बहनेसे उनका त्रिपथगा नाम हुआ। (वाल्मी० १।४४।६)

वे सात स्वरूप ये हैं। (१) गायत्री (जिससे समस्त वेद, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा और दीक्षाकी उत्पत्ति मानी जाती है) । (२) वाग्देवी भारती वा सरस्वती (जो सबके मुख और हृदयमें स्थित है और समस्त शास्त्रोंमें धर्मका उपदेश करती है) । (३) लक्ष्मी (जिससे वस्त्र और आभूषणकी राशि प्रकट हुई। सुख और त्रिभुवनका राज्य इन्हींकी देन है। ये विष्णु भगवान्‌की प्रियतमा हैं) । (४) उमा (जिनके द्वारा शंकरजीके स्वरूपका ज्ञान होता है। यह ज्ञानकी जननी और शंकरजीकी अर्धांगिनी हैं) । (५) शक्तिबीजा (जो अत्यंत उग्र, संसारको मोहमें डालनेवाली, जगत्‌का पालन और संहार करनेवाली है) । (६) तपस्विनी (जो तपस्याकी अधिष्ठात्री है) । (७) धर्मद्रवा (जो सब धर्मोंमें प्रतिष्ठित है) । धर्मद्रवाको सर्वश्रेष्ठ जानकर मैंने कमंडलमें रख लिया। जब वामनावतार लेकर बलिके यज्ञमें भगवान्‌ने चरण बढ़ाया तब एक चरण आकाश और ब्रह्माण्डको भेद कर मेरे सामने उपस्थित हुआ। मैंने कमण्डलके जलसे उस चरणका पूजन किया। उस चरणको धोकर जब उसका पूजन कर चुका, तब उसका धोवन हेमकूट पर्वतपर गिरा। वहाँसे शंकरजीके पास पहुँचकर वह जल गंगाके रूपमें उनकी जटाओंमें स्थित हुआ। वे बहुत काल जटाओंमें भ्रमती रहीं। वहाँसे भगीरथजी उन्हें पृथ्वीपर लाये।''

☞ इस प्रकार एक कथाके अनुसार यह जल ब्रह्माण्डकटाहके बाहरका जल है जो भगवान्‌के चरण-नखकी ठोकर लगनेसे वहाँसे इस ब्रह्माण्डके भीतर भगवान्‌के चरणको धोता हुआ बह निकला। दूसरी कथाके अनुसार परा-प्रकृतिही जो धर्मद्रवा नामसे जलरूपमें ब्रह्माके कमंडलमें थी उसीसे भगवान्‌का चरण जब धोया गया तो वह धोवनही गंगा नामसे विख्यात हुआ। भगवान्‌के चरणका धोवन होनेसे ''विष्णु-पदसरोजजा' और 'बिष्णुपदकंजमकरंद' आदि नाम हुए।

चौथी कथा भा० ४।१।१२-१४ में यह लिखी है कि महर्षि मरीचिजीके कर्दमजीकी पुत्री कलासे दो पुत्र कश्यप और पूर्णिमा हुए। पूर्णिमाकी कन्या देवकुल्या हुई। यही कन्या दूसरे जन्ममें श्रीहरिचरणकी धोवनसे गंगारूपमें प्रगट हुई।

टिप्पणी—२ 'गाधि सूनु सब कथा सुनाई''' इति। (क) 'सब' कहकर जनाया कि श्रीरामजीकी भक्ति देख विस्तारसे गंगाजीकी सब कथा कही। कौन कथा सुनाई, यह अगले चरणमें बताते हैं—'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई'। (ख) विश्वामित्रजी 'भक्तिहेतु' श्रीरामजीको कथा सुनाया करते थे। यथा 'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना। २१०।८।', वैसे ही यहाँभी बिना श्रीरामजीके पूछे सुरसरिकी कथा कहने लगे। गीतावलीमें पूछनेपर मुनिने सुरसरिकी कथा कही है, यथा ''बूझत प्रभु सुरसरि प्रसंग कहि निज कुल कथा सुनाई। गाधिसुवन सनेह-सुख-संपति उर आश्रम न समाई। गी० १।५३।' इस भेदका समाधान 'कल्प भेद हरिचरित सुहाए। भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए। ३३।७।' है। किसी कल्पमें पूछनेसे कही और किसीमें बिना पूछे कही। (गीतावली की कथा प्रायः वाल्मीकीयसे मिलती है। मानस और गीतावलीके कथा प्रसंगोंमें जहाँ-तहाँ बहुत भेद है। वाल्मीकीयमें बीचमें शोणनदके तटपर एक रात निवास हुआ है। वहाँ श्रीरामजीने उस देशका वृत्तान्त पूछा। वह देश कौशिकजीके पूर्वज कुशके पुत्र राजा वसुकी राजधानी थी। इस संबंधसे विश्वामित्रजीने अपने वंशकी कथा सुनाई थी। सर्ग ३१ में प्रश्न है और सर्ग ३२, ३३, ३४ में कथा है। आगे जब गंगातटपर पहुँचे तब सुरसरि-प्रसंग पूछा है। मानसमें गंगातट पर रुके हैं। गीतावलीमें 'सुरसरिप्रसंग' और 'निज कुल कथा' दोनोंका सुनाना वाल्मीकीयके अनुसार है) । (ग) 'सब' कथा विस्तारसे सुनाना कहा, 'सब' से विस्तार सूचित कर दिया, पर अपने ग्रंथमें उसका विस्तार न किया; यह ग्रंथकारकी बुद्धिमानी है। (घ) 'जेहि प्रकार सुरसरि महि आई' इति। 'सुरसरि' और 'महि आई' शब्दोंसे जनाया कि ये देवनदी हैं, स्वर्गसे पृथ्वीपर आई हैं। स्वर्गसे यहाँ क्यों और किस प्रकार आईं, यह सब कथा कही। (ङ) पूर्व गंगाजीको 'जगपावनि' कहा—'गए जहाँ जगपावनि गंगा'। अब यहाँ बताते हैं

कि वे जगपावनी कैसे हैं—सुरसरि पृथ्वीपर आईं, इसीसे जगत् पवित्र हुआ। स्वर्गमें रहनेसे केवल देवलोक-पावनी थीं। (च) कथा सुनाई और गंगाजीकी महिमाका वर्णन किया; क्योंकि गाधिराजा बड़े प्रतिष्ठित थे; ये उनके पुत्र हैं। गाधि धातुका अर्थ प्रतिष्ठा है—'गाधि प्रतिष्ठालिप्सयोर्ग्रंथेच'। [प्र० सं० में हमने लिखा था कि श्रीरामजीके पूछनेपर कथा कही। गीतावलीके अनुसार 'गाधिसुनु' से यह भाव ले सकते हैं कि 'निज कुल कथा' भी सुनाई है, इसीसे 'गाधिसूनु' नाम दिया। परन्तु 'जेहि प्रकार' से उसका निषेध होता है। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'गाधिसूनु' नाम देकर जनाया कि बहुत कालीन हैं, गंगाजी इनके सामने आई हैं। (रा० प्र०)]

तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए। बिबिध दान महिदेवन्हि पाए ॥ ३ ॥

हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर निअराया ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—सहाया = सहायक। निअराना = निकट पहुँचना; निकट आना या जाना = पास होना।

अर्थ—तब प्रभुने ऋषियों समेत स्नान किया। ब्राह्मणोंने अनेक प्रकारके दान पाये ॥ ३ ॥ मुनिवृन्दके सहायक श्रीरामजी हर्षपूर्वक चले। शीघ्रही विदेह राजाका नगर निकट आगया (अर्थात् जनकपुरके निकट पहुँच गये ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'तब प्रभु रिषिन्ह...' इति। (क) 'तब' अर्थात् गुरुमुखसे गंगाजीकी महिमा सुनकर (तब स्नान किया)। माहात्म्य सुनकर स्नान करनेमें भाव यह है कि महिमा सुननेसे तीर्थमें श्रद्धा होती है और स्नानकी विधि बनती है।—[श्रद्धासे मनोरथ सफल होता है। कथा सुननेसे विधि मालूम होती है। (प्र० सं०)। पुनः, 'तब' का भाव कि मुनिसे कथाद्वारा जानकर कि गङ्गाजी हमारे पूर्वजोंके उद्धारहेतु स्वर्गसे पृथ्वीपर आई हैं, 'प्रभु' होते हुये भी उन्होंने गंगामें स्नानकर अपनेको पवित्र माना। (प्र० सं०)]। (ख) ☞ श्रीरामजी तो सब जानते हैं। वे अपने आचरण द्वारा जगत्के समस्त प्राणियोंको उपदेश देते हैं कि तीर्थमें जाय तो तीर्थकी महिमा सुनकर तब विधिपूर्वक उसमें स्नान करे। यथा "मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। भा० ५। १९। ५।" अर्थात् 'आपका यह मनुष्यावतार केवल राक्षसोंका वध करनेके लिये ही नहीं हुआ, किन्तु मनुष्योंको शिक्षा देनेके लिये हुआ है।' अयोध्याकांडमें आपका, गंगाजीकी महिमा कहकर तब श्रीसीता अनुज समेत स्नान करना लिखा है; यथा 'सचिवहि अनुजहि प्रियहि सुनाई। बिबुधनदी महिमा अधिकाई॥ मज्जन कीन्ह पंथ-श्रम गयऊ। २।८७।'; इससे स्पष्ट है कि गंगाजीमें आपकी बड़ी भक्ति है। इसीसे आप गंगाजीका माहात्म्य कहतेभी हैं और सुनते भी हैं। (ग) "रिषिन्ह समेत नहाए" इति। ऋषियों सहित स्नानसे जनाया कि श्रीरामजीकी ऋषियोंमें अत्यन्त भक्ति है, इसीसे वे सब काम ऋषियों समेत करते हैं। यथा 'तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया', 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनिबृंद समेता। २१४। ७।', 'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजनु बिश्रामु। २१७।', 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुषमख-साला। २४०।४।', इत्यादि। अयोध्याकाण्डमें आपने मातासे कहा है कि 'मुनिगन मिलनु बिसेष बन सबहि भाँति भल मोर। २।४१।' पुनः यथा 'तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया।'—ये सब उदाहरण श्रीरामजीकी भक्तिके प्रमाण हैं। (घ) गङ्गाको उतरकर उस पार स्नान करना अन्य प्रमाणोंके अनुसार यहाँभी समझना चाहिये। यथा 'तब मज्जनु करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा। २।१०३।', 'करि मज्जन सरयू जल गए भूप दरबार। २०६।' यहाँ गंगा उतरने, पार करनेका प्रसंग कुछ नहीं लिखते क्योंकि अयोध्याकाण्डमें इसे विस्तारसे लिखना है।

२ 'बिबिध दान महिदेवन्हि पाए' इति। (क) बहुत प्रकारका दान अर्थात् अन्न, वस्त्र, सुवर्ण, मणि,

गऊ, हाथी, घोड़े, पालकी, आभूषण, इत्यादि । (ख) 'महिदेवन्हि पाए'—यहाँ ब्राह्मणोंका दान पाना लिखते हैं, दानका देना नहीं लिखते । कारण यह है कि यहाँ श्रीरामजीके पास कुछभी द्रव्य नहीं है और वैरागियोंका साथ है, इसलिये यहां उन्होंने संकल्पमात्र कर दिया (और कह दिया कि श्रीअयोध्याजीमें आकर ले लेना)। बड़े-बड़े राजाओं और रईसोंमें अबभी यह रीति प्रचलित है, अतः यहां साक्षात् पदार्थोंका देना न लिखा, केवल पाना लिखा । जहाँ साक्षात् पदार्थ दानमें दिया जाता है, वहां देना लिखते हैं । जैसे लङ्कासे लौटनेपर प्रयागमें दान देना लिखा है । यथा 'पुनि प्रभु आइ त्रिबेनी हरषित मज्जनु कीन्ह । कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ दान बिबिध बिधि दीन्ह । ६।११६ ।', क्योंकि यहाँ पुष्पकविमानपर दानके सब पदार्थ साथ हैं । इसी प्रकार श्रीभरतजीका त्रिवेणी-स्नान समय दान देना लिखा है, यथा 'सबिधि सितासित नीर नहाने । दिये दान महिसुर सनमाने । २।२०४ ।' क्योंकि भरतजीके साथ सब सामग्री मौजूद थी । जैसे यहां ऋषियोंके साथमें श्रीरामजीके पास कुछ न था, वैसेही वनयात्रामें 'तापस बेष बिसेषि उदासी' होनेसे उस समयभी श्रीरामजी खाली हाथ थे, इसीसे उस समय प्रयागमें स्नान करनेपर दानका देना नहीं लिखा गया; यथा 'मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा'। [और न शृङ्गवेरपुरसे चलकर पार उतरनेपर दानका उल्लेख हुआ, यथा 'तब मज्जन करि रघुकुल नाथा । पूजि पारथिव नायउ माथा । २।१०३ ।' ☞यहां यह प्रश्न हो सकता है कि 'वनयात्रामें दान देना न लिखा सो ठीक है, पर जैसे यहां 'बिबिध दान महि देवन्ह पाए' अर्थात् विप्रोंका दान 'पाना' लिखा है, वैसेही वहाँ 'पाना' भी तो नहीं लिखा है ?', इसका समाधान यह है कि इस समय श्रीरामजी श्रीविश्वामित्रजीके साथ राजकुमारकी हैसियतसे हैं, पिताने उनको मुनिके साथ भेजा है । अतः इस समय राजकुमारोंको संकल्प करनेका अधिकार है । और, वन-यात्रामें उनको अयोध्याके कोषपर कोई अधिकार न था; क्योंकि वह राज्य तो, कैकेयीजीके वरदानके अनुसार भरतजीका हो चुका था । दूसरे,] उस समय अयोध्यामें उपद्रव था, ये तो आपही वहांसे निकाल दिये गये थे (तब संकल्प कैसे करते ? अतः न देनाही लिखा गया और न पाना ही)। (रा० प्र० कारका मत है कि विश्वामित्र तो सिद्ध मुनि हैं, ऋद्धि-सिद्धि उनकी दासी हैं । उन्होंने अपने तपोबलके संबंधसे हाथी, द्रव्य आदि सभी वहाँ उपस्थित कर दिये, इसीसे 'महिदेवन्हि पाए' लिखा गया । अथवा, घोड़ा, हाथी आदिका मूल्य श्रीरामजीने अपने बहुमूल्य आभूषण द्वारा दे दिया । अथवा, मारीच-सुबाहु आदिका संहार करनेपर बहुतसा लूटका माल मिला था, उसीसे यहां दान दिया गया)। (ग) 'रिषिन्ह समेत नहाए' कहकर सूचित करते हैं कि विविध दानभी ऋषियोंके समेत किया । प्रभुने दान दिया और ऋषियोंसे भी दान कराया । यथा 'कपिन्ह सहित बिप्रन्ह कहुँ दान बिबिध बिधि दीन्ह । ६।११६ ।' (जब पशुओंके साथ स्नान करनेपर उनसे दान कराया तब भला ऋषियों-सहित नहानेपर ऋषियोंसहित दान देनेमें संदेहही क्या हो सकता है ?)।

३ 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया ।…' इति । (क) हर्ष होना स्नानका गुण है । स्नान किया, इससे मन प्रसन्न हुआ और यात्रामें हर्षका होना शकुन है । यात्रामें शकुन बारंबार हर्षद्वारा जनाया है, यथा 'अनुषजज्ञ मुनि रघुकुल नाथा । हरषि चले मुनिबर के साथा । २१० । १० ।', 'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनि-भयहरन । २०८ ।'; तथा यहां । [पुनः, हर्ष इससे कि जनकपुर पहुँचकर श्रीराजकिशोरीजी और उनकी परिकरियोंको जो परम-शोभा-संपन्न हैं देखेंगे । (रा० प्र०)] (ख) 'मुनिबृंद सहाया' कहकर जनाया कि मुनिवृंदको साथमें लेकर चले । यथा 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला । देखन चले धनुष मखसाला । २४०.४ ।' (ग) 'बेगि' से सूचित होता है कि गंगाजीसे जनकपुर निकट ही है । (पुनः, 'बेगि' का संबंध पूर्वार्द्धसे भी है । चलनेमें भी शीघ्रता है क्योंकि राजा जनकके दूतोंने कहा था कि शीघ्रही चलिये । मार्गमें दो जगह ठहरना पड़ा था, अतएव शीघ्रतासे चले । वैजनाथजीका मत है कि श्रीजानकीजीके दर्शनकी उत्कंठासे शीघ्रतासे चले ।) । (घ) 'बिदेह नगर' कहकर नगरकी अद्भुतता दिखाई । जैसे विदेह राजा अद्भुत हैं, देह

धारण किये हुये भी विदेह हैं, वैसेही उनका नगर भी अद्भुत है; यथा 'बिधिहि भयेहु आचरज बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी। ३१४। ८।' [(ङ) यहां 'प्रथम हेतु अलंकार' है। चलना कारण और विदेहनगरके समीप पहुँचना कार्य दोनों एक साथ कहे गये हैं। (वीर)]

पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी॥ ५॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना॥ ६॥

शब्दार्थ—रम्यता=रमणीयता, सुंदरता, शोभा। साहित्यदर्पणके अनुसार वह माधुर्य जो सब अवस्थाओंमें बना रहे, वा क्षण-क्षणमें नवीन-रूप धारण किया करे। बापी=बावली।

अर्थ—जब श्रीरामजीने नगरकी रमणीयता देखी तब (वे) भाई (लक्ष्मण) सहित अत्यन्त प्रसन्न हुये॥ ५॥ अनेकों बावलियां, कुयें, नदियाँ और तालाब (देखे) जिनमें अमृत समान (मधुर) जल और मणियोंकी सीढ़ियां हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'पुररम्यता राम···' इति। [(क) श्रीरामजी अब प्रसन्न हैं, उनकी प्रसन्नताके संबंध से 'पुररम्यता' की प्रशंसा की। यथा 'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत। २२७।' (प्र० सं०)] (ख) 'हरषे अनुज समेत बिसेषी' से पाया गया कि पुर अत्यन्त रमणीय है। पुरकी विशेष शोभा है, इसीसे विशेष शोभा देखकर विशेष हर्ष हुआ। यथा 'बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत। २२७।' [अथवा, स्नान करके चले तब हर्ष हुआ और जब 'पुररम्यता' देखी तब विशेष हर्ष हुआ। अथवा, धनुष यज्ञ सुना तब हर्ष हुआ था, यथा 'धनुषजज्ञ सुनि रघुकुलनाथा। हरषि चले···। २१०। १०।' जब नगरकी शोभा देखी तब यह समझकर विशेष हर्ष हुआ कि जब बाहरकी यह शोभा है तो भीतर तो कुछ अपूर्वही शोभा होगी। अथवा, विशेष हर्ष आगे कुछ विशेष मंगल होनेका द्योतक है। प्रवेशके समय हर्षका होना शकुन है, इसके फलरूप श्रीराजकिशोरीजीकी प्राप्ति होगी। (वै०, रा० प्र०)] (ग) यहाँ यह शंका होती है कि और सब कृत्य तो मुनियोंके साथ वर्णन करते आये हैं, जैसे कि चलना, स्नान करना, दान देना, भोजन करना, इत्यादि, परन्तु यहां मुनियों वा ऋषियों सहित न कहकर 'अनुज समेत' कहते हैं। यह क्यों? इसका समाधान यह है कि मुनि सात्विकी होते हैं, वे रजोगुणी वस्तुओंको देखकर नहीं प्रसन्न होते वरंच श्रीरामसम्बन्धी सतोगुणी पदार्थोंमें प्रसन्नता मानते हैं, जैसे, श्रीहनुमान्‌जी जब लंकामें गये तब वहां के बड़े बड़े दिव्य रत्नजटित स्थानों और महलोंको देखकर उन्हें प्रसन्नता न हुई और वहीं जब बिभीषणजीका सतोगुणी स्थान देखा, बिभीषणजीके मुखसे 'रामराम' सुना और उनसे मिले तब प्रसन्न हुये। यथा 'रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ। नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ। ५। ५।', वैसेही यहां पुरकी रमणीयतासे ऋषियोंको हर्ष न हुआ। राजकुमारोंको राजसी पदार्थ देखकर हर्ष होना योग्यही है। अतएव 'मुनि समेत' न कहकर 'अनुज समेत' हर्षित होना कहा गया।

प० प० प्र०—मिथिलापुरी देखकर मुनियोंको हर्ष नहीं हुआ। पर श्रीअयोध्याजीका सौन्दर्य आदि देखते ही मुनियोंकी क्या दशा हो जाती है यह उत्तरकांडमें देखिए। यथा 'नारदादि सनकादि मुनीसा।··· दिन प्रति सकल अजोध्या आवहिं। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥···महिं बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाचा। ७। २७। १-६।'

अब कहिये जनकपुरी श्रेष्ठ है या अवध? धनुर्भंगोत्सवके लिये सजाई हुई जनकपुरीको देखनेसे सानुज रघुनाथजीको हर्ष हुआ, यह ठीक है, पर वास्तविक कारण हर्षका क्या है यह निश्चित करनेके लिये यह बात ध्यानमें अवश्य रखकर विचार करना चाहिए कि जो सम्राट्‌कुमार अवधसरीखे परम रमणीय नगरमें रहते थे, उन्होंने १५-२० दिनों तक किसी भी नगर आदिकी शोभा देखी नहीं, कुछ दिन तो घने

काननमें और कुछ दिन मुनि-आश्रममें रहनेके पश्चात् आज रम्य जनकपुरी देखी, इससे उनको हर्ष होना बालस्वभाव-निदर्शक है। ☞ दोनों पुरियोंका मिलान दोहा २१४ (३–४) में देखिए।

टिप्पणी—२ "बापी कूप···" इति। (क) सब जलाशयोंमें सीढ़ियां हैं। बावलियोंमें नीचे उतरनेकी, कुओंमें कुँयेंकी जगतपर चढ़नेकी, नदियों और तालाबोंमें बँधे हुये पक्के घाटोंपर उतरनेके लिये सीढ़ियां हैं। [(ख) 'सुधा सम' अर्थात् मधुर, मनोहर, मंगलकारी, सुशीतल, रोगहारक, इत्यादि। 'नाना' कहा क्योंकि जनकपुरमें बड़े-बड़े बहुत तालाब थे, अब भी रत्नसागर, विहारकुण्ड, अग्निकुण्ड आदि बड़े-बड़े तालाब और कमला, विमला, दूधमती लक्ष्मणा, रासा आदि अनेक छोटी-छोटी नदियां हैं]

गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥ ७॥
बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥ ८॥

शब्दार्थ—कूजना = मधुर शब्द करना; चहचहाना। बनजाता [बन (= जल) + जात] = कमल।

अर्थ—मकरंदरस पीकर मतवाले भौंरे सुन्दर गुंजार कर रहे हैं। बहुत रंग-बिरंगके पक्षी सुन्दर मधुर शब्द कर रहे हैं॥ ७॥ रंग-बिरंगके कमल खिले हैं। शीतल, मन्द और सुगंधित तीन प्रकारकी वायु सदा सुख दे रही है॥ ८॥

टिप्पणी—१ 'गुंजत मंजु···' इति। (क) जलाशयों (वापी, कूप, सरित, सर) का वर्णन करके पक्षियोंका वर्णन करते हैं, इससे पाया गया कि ये जलाशयके पक्षी, जलकुक्कुट और कलहंस आदि हैं। यथा 'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। ३। ४०। २।' (यह पंपासरपरका वर्णन है)। (ख) 'मंजु' कहनेका भाव कि भ्रमर गुंजार करते हुये छबि पा रहे हैं, यथा 'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।' (ग) 'मत्तरस भृंगा' भ्रमरोंको यहाँ रससे मतवाले कहकर आगे उस रसका वर्णन करते हैं कि कहांसे मिला, 'बरन बरन बिकसे बनजाता।' 'मत्तरस' कहकर जनाया कि कमल फूले हुये हैं। भ्रमर और पक्षी कमलके स्नेही हैं, इसीसे भ्रमरोंका गुंजार और पक्षियोंकी कूज कहकर आगे कमलका फूलना कहते हैं। [मत्तरस = रसके मतवाले। (पां०)]

२ (क) 'बरन बरन बिकसे बनजाता' इति। यथा 'सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा।' तथा 'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहु रंग।' दोहा ३७ (५) भाग १ तथा दोहा ४० भाग १ देखिए। (ख) 'त्रिबिध समीर सदा सुखदाता' इति। नदी और तालाबोंके जलके स्पर्शसे वायु शीतल है, सुमन-बाटिका और कमलोंके स्पर्शसे सुगन्धित है और वन-बागकी आड़से आती है इससे मन्द है। सदा त्रिबिध समीर चलती रहती है, इससे पाया गया कि कमल और पुष्पवाटिकायें सदा फूली रहती हैं अर्थात् वसन्त यहां सदा बना रहता है, इसीसे 'सदा सुखदाता' कहा। (वसन्त सुखदायक होता ही है)। (ग) ☞ यहां पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंका सुख वर्णन करते हैं। 'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधा सम मनि सोपाना।' से जिह्वा इन्द्रियका, 'गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा।' से श्रवणेन्द्रियका, 'बरन बरन बिकसे बनजाता' से नेत्रेन्द्रियका (फूले हुये कमलोंको देखकर नेत्रोंको सुख मिलता है) और 'त्रिबिध समीर सदा सुखदाता' से नासिका और त्वचाका सुख कहा। सुगंध नासिकाका विषय है और स्पर्श त्वचाका। [यहां पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके विषय प्राप्त हैं। 'सलिल सुधासम' यह जिह्वाका विषय रस है, 'गुंजत···कूजत कल' यह पक्षियों आदिका शब्द श्रवणका विषय है, 'त्रिबिध समीर' में सुगंध और स्पर्श नासिका और त्वचाके विषय कहे गए और रंग बिरंगके कमल यह नेत्रोंका विषय रूप प्राप्त है। (प्र० सं०)]

दोहा—सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास।
फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥ २१२॥

अर्थ—पुष्पवाटिका (फुलवारी), बाग और वन, जिनमें बहुतसे पक्षियोंका निवास है, फूलते, फलते और सुंदर पत्तोंसे लदे हुए नगरके चारों ओर सुशोभित हैं।

श्रीराजारामशरणजी—हमने पहिले भी कहा है कि कवि चित्रपट (परदा) भी शब्दरूपमें वर्णन कर देता है कि एक ओर नाटकके परदे बनानेवालेको सहायता मिले और दूसरी ओर केवल पढ़नेवालेके सामने पूरा चित्र आजावे। यहांके और आगेके वर्णनोंमें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

१ प्राकृतिक सौंदर्य्य बाटिका, बाग और वन तथा उनके अंदरके पुष्प इत्यादिमें है।

२ मानवीयकलाकाभी सुन्दर वर्णन है। — (क) 'मनिसोपान'—'चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे' इत्यादिमें पच्चीकारी और मीनाकारीका संकेत है। (ख) कोट और महलोंके वर्णनमें शिल्पकला। (ग) पुरट पट और कुलिशकपाट इत्यादिमें सुवर्णकारी और जड़ियोंकी कला। (घ) सारे वर्णनमें 'नगर रचना' (Town Planning) की कला।—मैंने अपने एक वैदिक मेगजीन (Vedic Magazine) में प्रकाशित लेखमें तुलसीदासजीकी Designing Art डिजाइनिंग कलाका विस्तारसे वर्णन किया है। जनकपुर और अयोध्याके वर्णनोंमें 'नगररचनाकला' का पूर्ण विकास है। (ङ) चित्र सूना और चुप नहीं है। वहां मानवी प्रगतियां चुहिल पुहिल, त्रिबिधि बयारि, कलरव इत्यादि भी हैं। किसीने ठीक कहा है कि फ़िल्मकलाकारका प्रकटीकरण चित्रों द्वाराही होता है। हमने देखा है और देख रहे हैं कि तुलसीदासजीकी चित्रणकला भी वैसीही है।

नोट—मैं तो जब 'ताज' और आगरा एवं दिल्लीके महल इत्यादि और उनकी शिल्प पच्चीकारी व मीनाकारीको देखता हूँ और यह स्मरण करता हूँ कि 'मानस' की रचना शाहजहाँसे पहिले हो चुकी थी और यह समझता हूँ कि तुलसीदासजीका सम्बन्ध रहीमखां व खानखाना इत्यादिसे था तो यह अवश्य निश्चय होता है कि मूल कारीगरोंपर हमारे कविका प्रभाव निश्चयही पड़ा है। (फुलवारी, गिरिजामन्दिर और सीताविवाहमंडपको साथ साथ विचारिये और यहांके वर्णनके साथ देखिये।)

३ हां, यह याद रहे कि यहां एक परदा नहीं किन्तु अनेक परदे हैं। यह भी याद रहे कि आगेकी नाटकीकलावाली वार्ताओंमें यथासमय हमको इन्हीं परदोंमेंसे उचित परदेकी उपस्थिति समझ लेनी चाहिये। कविने इसीलिये एक जगह लिख दिया है कि वार्ताओंके बीचमें अड़चन न हो।

४ गांधीजीने एक बार ठीक लिखा था कि 'विहार' प्रान्तका नामही प्रकट करता है कि प्रकृतिमाताका वह विहारस्थान है। 'सियनिवास' होनाभी उसी ओर संकेत करता है। आजभी संसारके सबसे घने वासस्थलोंमें चीन और विहारही समझे जाते हैं। विहारके लिये किसीने ठीक कहा है कि सारा सूबाही प्राकृतिक संपत्ति और सुन्दरताके साथ एकही बस्ती सी है।

महाकाव्यकलामें जहाँ प्रकृतिमाताका पूर्ण विकास है वही 'रम्यता' है और इसीलिये रामरूप पुरुष वहीं आकर रमता है—'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद जिन्हहिं०।' प्रकृतिमाता और पुरुष-पिताका आकर्षण एक दूसरेकी ओर फिर उनका सम्मिलनही एक ओर महाकाव्यका दृश्य है तो दूसरी ओर शुद्ध शृङ्गारके नाटकीय कलाका भी।

नोट—प्रारम्भमें विस्तृत नोटका आशयही यह है कि इस दृष्टिकोणसे विचार करते चलें तो कलाका मर्म और उसकी सुन्दरताका विशेष अनुभव होगा।

५ कैसी सुन्दरतासे ऐसे दृश्य दिखाकर राम और लक्ष्मणमें Æsthetic Faculty सौन्दर्यानुभवकी शक्तिका विकास कुशल कवि कराता है, नहीं तो अबतक तो शान्त और वीर रसोंका ही विकास उनमें था—'पुररम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी।'

टिप्पणी—१ (क) 'सुमनबाटिका, बाग, बन, फूलत फलत सुपल्लवत' में 'यथासंख्य अलंकार' है पुष्पवाटिका फूलती है, बाग फलते हैं और बन सुन्दर पत्तोंसे सुशोभित रहते हैं। (ख) 'बिपुल बिहंग

निवास' इति । पूर्व जो पक्षी कहे गए वे जलके आश्रित रहनेवाले पक्षी अर्थात् जलपक्षी थे और ये वन-बाग-बाटिकाके पक्षी हैं, इसीसे उनसे पृथक यहां पुनः 'बिहंग' का वर्णन हुआ। भ्रमरोंको ऊपर कहा,—'गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा', पर यहाँ न कहा; ये भी तो दोनों जगह, जल और थलमें, होते हैं ? इसका उत्तर यह है कि भ्रमर वाटिका, आदिमें भी अवश्य होते हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु भ्रमर न्यारे-न्यारे नहीं हैं, वही भौंरा जलके आश्रित फूलोंपर और वही वाटिकाके फूलोंपर बैठता है; इससे दोनोंके भौंरोंको एकही जगह कहकर एकही जनाया। (ग) 'सोहत पुर चहुँ पास' इति। जिस प्रकार ये सब पुरके चारों ओर सोह रहे हैं वह क्रमसे दिखाते चले आरहे हैं। इसतरह कि पुरके बाहर प्रथम 'बापी कूप सरित सर' हैं, तब सुमनबाटिका हैं, फिर बाग हैं, अन्तमें वन हैं। यथा 'बन बाग उपबन बाटिका सर कूप बापी सोहहीं ।५।३।' यहाँ लङ्कामें पुरके बाहरसे पुरतकका वर्णन किया है। ऐसाही क्रम अयोध्याके वर्णनमें है जब पुरके बाहर-से पुरतकका वर्णन किया गया है। यथा 'बाहेर नगर परम रुचिराई ॥ देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बाटिका तड़ागा ॥ बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं। बहुरंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं। आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं। ७।२६।' और यहाँ जनकपुरमें 'सोहत पुर चहुँ पास' और आदिमें 'पुर रम्यता राम जब देखी' पद देकर जना दिया कि पुरके पाससे बाहेर वनतकका वर्णन यहाँ उठाया है। (घ) ☞यहां पुरकी और बापीकूपादिकी अन्योन्य शोभा कहते हैं। पुरकी शोभा बापीकूपादिसे है और बापीकूपादिकी शोभा पुरके पास चारों ओर होनेसे है।

बनै न बरनत नगर निकाई। जहां जाइ मन तहँ लोभाई ॥१॥
चारु बजारु बिचित्र अँबारी। मनिमय बिधि१ जनु स्वकर सँवारी ॥२॥

शब्दार्थ—निकाई = शोभा, सुंदरता। अँबारी = छज्जा। (श० सा०)। = रविश। (श० सा०)। = तिदरी दूकान। (पश्चिमदेशोंमें)। = दोनों तरफ़की दूकानें = दूकानोंकी क़तार (पंक्ति) की कतार। (रा० प्र०)। = दूकानोंके सामनेके मार्ग या पटरी। (गौड़जी)। स्वकर = अपने हाथसे।

अर्थ—नगरकी शोभा-सुंदरताका वर्णन नहीं करते बनता। मन जहां जाता है वहीं लुभा जाता है॥ १॥ सुंदर बाजार है। मणिजटित वा मणिकीही विचित्र 'अँबारी' है मानों ब्रह्माजीने अपने हाथोंसे सजकर बनाई है॥ २॥

नोट—१ पुरके चारों ओरकी शोभा कहकर अब पुरके भीतरकी शोभा कहते हैं। पुरके बाहरकी शोभा इतनी भारी है कि उसने दोनों भाइयोंको विशेष हर्षित कर दिया, अर्थात् लुभा लिया; यथा 'हरषे अनुज समेत बिसेषी'। तब पुरके भीतरकी शोभा कौन कह सकता है ? यथा 'पुर सोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई। ७।२६।' अतः कहा कि 'बनै न बरनत नगर निकाई'।

टिप्पणी—१ 'बनै न बरनत···' इति। (क) 'बनै न बरनत नगर निकाई' का भाव कि हमने पुरके बाहरका वर्णन किया, किंतु भीतरका नहीं कर सकते। पुनः, भाव कि पुरके भीतरकी शोभाका वर्णन करने-को जी तो चाहता है पर उसका वर्णन करते नहीं बनता। क्यों नहीं करते बनता, इसका कारण दूसरे चरणमें देते हैं—'जहां जाइ मन···'। मनही लुब्ध होजाता है (जो इन्द्रियोंका राजा है) तब वर्णन कैसे हो ? मन सावधान हो तब तो कुछ कहा जा सके; यथा 'सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर। ५।३३।' जब कारणही नहीं तो कार्य कैसे हो ? वर्णन करनेमें मनही तो मुख्य है, वाक् आदि इन्द्रिय तो उसीके अधीन कार्य करते हैं। (ख) 'जहां जाइ मन तहँ लोभाई' कहकर जनाया कि पुरकी

१—जनु बिधि-१७२१,१७६२, को० रा०। बिधि जनु—१६६१, १७०४, छ०।

शोभा अपार है। [(ग) शंका—'निकाई' का वर्णन नहीं हो सकता तो आगे उसका वर्णन कैसे किया ?' समाधान—आगेका वर्णन कुछ अंशोंका दिग्दर्शनमात्र है। 'निकाई' के कुछही अंशों वा अंगोंका वर्णन आगे है, न कि 'निकाई' का। (घ) 'नगर-निकाई' के और भाव—(१) 'कोई नगर किसी वस्तुका होता है, यह नगर 'निज निकाई' का है। (पां०)। अथवा, (२) जैसे देवनगर, गंधर्वनगर, इत्यादि, वैसे ही यह 'निकाई-नगर' है। अर्थात् सुंदरताका निवासस्थान है, (जो 'सुंदरता कहँ सुंदर करई' उन श्रीसीताजी-का यहां निवास है), इसीसे 'बनै न बरनत'। (रा० प्र०)]

नोट—२ यहाँ एक शंका यह की जाती है कि "अभी तो श्रीरामजीने नगरमें प्रवेश नहीं किया, अभी तो वहांकी शोभा उनके देखनेमें नहीं आई। विना नगरमें प्रवेश किये उनको नगरकी शोभा कैसे देख पड़ी जो आपने अभीसे शोभाका वर्णन प्रारंभ कर दिया ? जब वे नगरमें प्रवेश करते और उसे देखते चलते तब उसका वर्णन योग्य था ?"। समाधान यह है कि यह वर्णन वक्ताओंका है। वे ही भीतरकी शोभा कह रहे हैं। श्रीरामजीने अभी पुरके बाहरकी शोभा देखी है, (इसीसे पुरके बाहर उनका देखना कहआये; यथा 'पुररम्यता राम जब देखी'। पुरके भीतरकी शोभा अभी उन्होंने नहीं देखी, इसीसे भीतरके वर्णनमें उनका देखना नहीं कहा)। आगे पुरके भीतरकी शोभा देखने जायँगे तब उसको लिखना था, परउस समय पुरवासिनियोंकी प्रीति और सखियोंकी वार्तालाप लिखनी है। (उस समय पुरकी शोभाका वर्णन करनेमें अड़चन पड़ेगी, वहां नगरका वर्णन करनेसे संवादमें नीरसता आजानेका भय है, वहाँ पुरकी शोभाके वर्णनका मौक़ा न होगा)। इसलिये वक्ता लोगोंने नगर की शोभाका दिग्दर्शन यहीं करा दिया। आगे नगरमें यही वर्णन समझ लेना चाहिये।

३ करुणासिंधुजी यहाँ 'नगर' से कोटका भाव लेते हैं और लिखते हैं कि बाहर "चहुँ फेर नगर देखकर पश्चिम दरवाजेसे नगरमें प्रवेश किया। यहाँ बाज़ार" आदिक हैं। वैजनाथजी भी यही लिखते हैं।

परंच यहाँ राजकुमारोंका नगर-प्रवेश करना गौरवताके विरुद्ध है क्योंकि आगे केवल राजकुमारोंके अपरिचित प्रवेशमें क़हर मच गया, जब परिचित विश्वामित्रके साथ प्रवेश होता तो क्या चुपचाप निकलकर अमराईको निकलजाते ? इससे यहाँ नगरके निकट पहुँचनेपर राजकुमारोंका बाहरी शोभाका अवलोकन हुआ और यहाँ समयगत नगर-वर्णन कविकी ओरसे है। और राजकुमारोंके सम्मानार्थ "कौसिक कहेउ मोर मन माना।०' से रघुबीरको सुजान विशेषण देकर ऐश्वर्य्य विभूतिका लक्ष्य कराकर अमराईमें निवास कराया। जब जनकजी स्वयं आकर ऐश्वर्य्यमें मुग्ध होके इनको लेगये तब पुरप्रवेश उचित है; अतएव कविने पुरकी बाहरकी शोभासे उपक्रम किया और 'पुरबाहिर सरसरित समीपा।००।२१४।४।' से अंतमें उपसंहारकर अमराईका वास लिखा। (रा० च० मिश्र)।

टिप्पणी—२ 'चारु बजार बिचित्र अँबारी' इति। (क) प्रथम नगरकी समष्टि शोभा कही, 'बनै न बरनत नगर निकाई'। अब पृथक्-पृथक् बाज़ार इत्यादिकी शोभा कहते हैं। क्रमसे पुरका वर्णन करते हैं—प्रथम पुरके बाहरकी शोभा कही, फिर बाज़ारकी तब पुरवासियोंके निवासस्थानोंकी, तत्पश्चात् राजा जनक और उनके मंत्रियों आदिके स्थानोंकी शोभा कही। (ख) सब वस्तुओंको सुन्दर कहते हैं, विस्तारसे वर्णन किसीका नहीं करते। ऐसा करके 'बनै न बरनत नगर निकाई' इस वचनको सिद्ध रक्खा। [(ग) 'बिचित्र' से जनाया कि रंग-विरंगकी मणियोंसे जटित हैं। अथवा, मणियोंकीही बनी हैं, इसीसे अनोखी हैं। अथवा, दूकानोंमें चित्र-विचित्र पदार्थ रक्खे होनेसे ये भी विचित्र हैं। अथवा, उनमें अनेक चित्र बने हैं, चित्रसारी होनेसे बिचित्र कहा] (घ) 'मनिमय' कहकर वस्तुसे मकानकी शोभा कही

और 'बिधि जनु स्वकर सँवारी' से दूकानोंके बनावकी शोभा कही। ब्रह्मा सृष्टिकी रचना मनके संकल्प मात्रसे करते हैं। यहाँ स्वकर सँवारी' कहकर ब्रह्माकृत बनावकी उत्कृष्टता कही। जो ब्रह्मा ब्रह्माण्डकी रचना अपनी इच्छा (संकल्पमात्र) से कर सकता है, उसने जनकपुरको अपने हाथसे बनाया और वह भी सँवारकर। [तात्पर्य कि जनकपुरकी शोभा ऐसी है कि ब्रह्माकी सृष्टिमें किसी नगरकी नहीं है। इसीसे कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों ब्रह्माने इसमें अपना तन मन दोनों लगा दिया। 'जनु' शब्दसे सूचित होता है कि मिथिलापुरी स्वतः सिद्ध है और ब्रह्माकी रचनासे बाहर है।]

धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना॥ ३॥
चौहट सुंदर गली सुहाई। संतत रहहिं सुगंध सिंचाई॥ ४॥
मंगलमय मंदिर सब केरे। चित्रित जनु रतिनाथ चितेरें॥ ५॥

शब्दार्थ—चौहट = चौक जहां शहरपनाहके चारों फाटकोंसे जो राजमार्ग आए हैं वे मिले हैं; प्रायः जौहरी और बड़े महाजन यहीं बैठते हैं। चितेरे = चित्रकार, तसवीर बनानेवाले, यथा 'मनहुँ चितेरे लिखि लिखि काढ़ी' (सूर)।

अर्थ—श्रेष्ठ कुबेरके समान अनेकों श्रेष्ठ धनाढ्य बनिये (व्यापार करनेवाले) सभी तरहकी (बेचनेकी) अनेक वस्तुयें लेकर (दूकानोंमें) बैठे हैं॥ ३॥ सुन्दर चौकें और सुहावनी गलियाँ हैं जो निरन्तर (अरगजा आदि) सुगंधसे सिंचाई हुई रहती हैं॥ ४॥ सबके घर मङ्गलमय हैं। उनमें चित्र कढ़े हुए हैं मानों कामदेवरूपी चित्रकारने उनको बनाया है। अर्थात् अत्यन्त सुन्दर चित्र बने हुए हैं॥ ५॥

नोट—'बर धनद' कहकर इनको कुबेरसे अधिक धनाढ्य जनाया।

टिप्पणी—१ 'धनिक बनिक बर धनद समाना।' इति। (क) ☞ बाजार कहकर अब बाजारमें बैठनेवालोंको कहते हैं। (ख) 'बर धनद समाना' का भाव कि कोई कोई कुबेरके समान हैं और कोई कोई कुबेरसे 'बर' अर्थात् श्रेष्ठ हैं। अधिक, सम और कम तीन संज्ञायें होती हैं। इनमेंसे जनकपुरके वणिक कुबेरसे या तो अधिक धनाढ्य हैं या कुबेरके समान हैं, कुबेरसे कम कोई नहीं है। धनिक 'बनिक' का विशेषण है; क्योंकि जिसके धन हो वही 'धनिक' कहलाता है, और वस्तु बेचना सबका धर्म नहीं है, वैश्यहीका धर्म वस्तु बेचना है। यह बाजार है, यहां वणिककी ही दुकानें हो सकती हैं जो व्यापार करते हैं, अन्य धनी लोग यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं। अथवा, 'बर धनद समाना'–धनी वणिक कुबेरके समान श्रेष्ठ हैं।* (ग) 'बैठे सकल बस्तु लै नाना' इति। 'बर धनद समाना' कहकर 'बैठे सकल०' कहनेका भाव कि यद्यपि कुबेरके समान हैं, तब भी बाजारमें वस्तु लेकर बेचनेके लिये बैठे हैं। तात्पर्य कि धनाढ्य होनेपर भी अपने धर्म्ममें तत्पर हैं, उसे त्यागा नहीं। 'सकल' अर्थात् बजाज, सराफ़, इत्यादि सभी वैश्य हैं, यथा 'बैठे बजाज सराफ़ बनिक अनेक मनहु कुबेर ते।' ['सकल' वस्तुका विशेषण भी हो सकता है। भाव यह कि कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जो उनके पास न हो। (प्र० सं०)]। (घ) "चौहट सुंदर गली सुहाई।" इति। बाजारके आगे चौक है, अब उस चौककी शोभा कहते हैं। बाजार, चौक और गलियाँ सभी सुन्दर हैं, इसीसे सबमें सुन्दरता वाचक विशेषण दिये। चारु बजारु, सुन्दर चौहट, सुहाई गली। (ङ) "संतत रहहिं सुगंध

* करुणासिंधुजी धनिकसे सर्राफ और वणिकसे 'अन्य पदार्थ बेचनेवाले' ऐसा अर्थ करते हैं। और पांड़ेजीके मतानुसार "धनिक = बेचनेवाले और 'बनिक' = मोल लेने वाले; दोनों कुबेरके समान हैं अर्थात् न उनकी वस्तु चुके, न उनका धन चुके। पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं "वणिक कुबेरके समान धनिक और कुबेरसे श्रेष्ठ हैं।"

सिंचाई'' इति। यथा 'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा।', 'गली सकल अरगजा सिंचाई।' 'संतत' कहनेका भाव कि अन्यत्र उत्सवोंमें गलियाँ सींची जाती हैं और यहाँ निरन्तर सुगंधसे सींची जाती हैं। [चौक बाजार, गलियोंकी सफ़ाई, शुद्धता और अरगजासे सिंचाई देखकर अनुमान होता है कि यह सब सफ़ाई आदि स्वयंबरके कारण हुई है, इसका निराकरण करनेके लिये 'संतत' शब्द दिया। राजाका प्रताप इससे प्रकट होता है। (पं०)। ☞इस सम्बन्धमें यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जनकपुरमें 'अरगजाकुंड' भी है।]

२ 'मंगलमय मंदिर सब केरे।०' इति। (क) 'मंगलमय' अर्थात् बंदनवार, पताका, अक्षत, अंकुर, दूब, दधि इत्यादि मंगलवस्तुओंसे सब पूर्ण हैं; यथा 'बंदनवार पताका केतू। सबन्हि बनाये मंगल हेतू। ७।९।', 'कनककलस तोरन मनिजाला। हरद दूब दधि अच्छत माला॥ मंगलमय निजनिजभवन लोगन्ह रचे बनाइ।', 'हरद दूब दधि पल्लव फूला। पान पूगफल मंगलमूला। अच्छत अंकुर रोचन लाजा। मंजुल मंजरि तुलसि बिराजा।' पुनः, भाव कि मंगलकारक मंगलदाता श्रीगणेशादि देवताओंकी प्रतिमाएँ वा चित्र घर-घर बाहर कढ़े हुए हैं; यथा 'सुरप्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं। मंगलद्रव्य लिये सब ठाढ़ीं। २८८।७।' ☞स्मरण रहे कि बाजार, राजाके महल और पुरवासियोंके मंदिर सभी मणिमय हैं, यथा 'चारु बजारु बिचित्र अँबारी। मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी', 'धवलधाम मनि-पुरट-पटु सुघटित नाना भाँति। २१३।' और 'नृपगृह सरिस सदन सब केरे। २१४।३।' इस सम्बन्धसे 'मंगलमय मंदिर' से सूचित करते हैं कि सबके घरोंमें मणियोंके बन्दनवार हैं, मणिमय कदलीके खंभे हैं, मणिमय कमलके फूल हैं और मणियोंहीकी सुर-प्रतिमाएँ दीवारों और द्वारोंपर कढ़ी हुई हैं तथा सभी मंगलद्रव्य मणिमयीही हैं। प्रमाण, यथा 'मंजुल मनिमय बंदनवारे। मनहुँ पाकरिपु चाप सँवारे।', 'बिधिहि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनककदलिके खंभा। मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीर कोरि पचि रचे सरोजा॥ सुर-प्रतिमा खंभन्ह गढ़ि काढ़ीं। मंगल द्रव्य लिये सब ठाढ़ीं।' इत्यादि। जैसे विवाहके समय मण्डपादिकी रचनामें ये सब मंगल मणिमय बनाए गये, वैसेही घर-घर मंगलद्रव्य मणिमय मंदिरोंके साथही साथ बनाए हुए हैं। [नोट—'अभी तो विवाहादिका प्रसंग कुछ भी नहीं है, अभीसे बंदनवारादि मंगल रचनाएँ क्यों की गईं'? इस संभवित शंकाका समाधान टिप्पणीसे होगया कि यहां सबके घरोंमें ये मंगल मणिमय स्वतः बने हुए हैं जो सदा एकरस बने रहते हैं, यह बनाव कुछ इस समय नहीं किया गया है। दूसरा समाधान श्रीसंतशरण पंजाबीजीकृत यह है कि 'ऐसा भी हो सकता है कि धनुषयज्ञके लिये अनेकों राजा आए हुए हैं, अतएव नगर सजाया गया है।'] (ख) 'सब केरे' कहकर जनाया कि सबोंके मंदिर एक प्रकारके हैं। बाजारकी दूकानें सब मणिमय हैं और एकही प्रकारकी हैं। बनिक सब एकही प्रकारके हैं। कुबेरके समान सब हैं। चौकें और गलियाँ सब एक प्रकारकी और सदा सुगंधसे सींचीहुई रहती हैं। सबके मंदिर मंगलमय चित्रित एकही प्रकारके हैं। पुरनरनारि सब एकही प्रकारके अर्थात् सुभग, शुचि, सन्त, धर्मशील, ज्ञानी और गुणवान् हैं। जनकजी और सूर, सचिव, सेनप सभीके स्थान एकही से हैं।—सबको समान दिखाकर जनाते हैं कि राजा जनककी दृष्टि सबपर समान है, इसीसे सबको (अपने) समान बनाए हैं।

नोट—'चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे' इति। कामदेव शृङ्गाररसका देवता है, इससे वह जो चित्रकारी करेगा वह अवश्य अति सुन्दर होगी। अतएव यहाँकी अति सुन्दरता जनानेके लिये उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों कामदेवहीने चित्रकार (मुसव्विर) का रूप धरकर मङ्गल पदार्थोंकी चित्रसारी की है। यहाँ 'असिद्धविषयाहेतूत्प्रेक्षा' अलंकार है।

पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता॥६॥

अति अनूप जहँ जनक निवासू । बिथकहिँ बिबुध बिलोकि बिलासू ॥७॥
होत चकित चित कोट बिलोकी । सकल भुवन सोभा जनु रोकी ॥८॥

शब्दार्थ—बिथकहिं = बहुतही दंग रह जाते हैं। स्तब्ध, मुग्ध वा मोहित होकर देखते रह जाते हैं, वहाँसे हटनेको जी नहीं चाहता।

अर्थ—नगरके स्त्री और पुरुष सब सुन्दर, पवित्र, संतस्वभाव, धर्म्मात्मा, ज्ञानी और गुणवान् हैं ॥६॥ जहाँ जनक महाराजका निवासस्थान है वह (तो) अत्यन्त अनुपम है। वहाँके ऐश्वर्य्य एवं शोभाको देखकर देवताभी विशेष थकित हो जाते हैं ॥ ७ ॥ क़िलेको देखकर चित्त चकित होजाता है मानों उसने सब लोकोंकी शोभाको रोक रक्खा है ❀ ॥८॥

☞'पुर नर नारि सुभग सुचि संता ०।' से मिलताजुलता वर्णन आगेभी है, यथा 'नगर नारि नर रूप-निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना। ३१४।६।'

टिप्पणी—१ (क) मन्दिरोंकी शोभा कहकर अब उनमें रहनेवालोंकी शोभा कहते हैं। (ख) 'संत धर्मशील ज्ञानी' कहकर जनकपुरवासियोंको कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंसे युक्त जनाया। संत-से उपासक, धर्मशीलसे कर्मपथमें आरूढ़ और ज्ञानीसे ज्ञानकांडयुक्त कहा। सुभग (सुन्दर) और शुचि (पवित्र) शरीरसे। पुनः, संतसे भगवान्के दास और साधुलक्षणोंसे युक्त जनाया, वेषधारी नहीं। और, ज्ञानीसे पदार्थ और समयके जाननेवालेभी जनाया। (ग) 'पुर नर नारि' कहकर 'सुभग सुचि संत' इत्यादि सब लक्षण चारों वर्णों और चारों आश्रमोंमें दिखाए। इसीसे किसी एक वर्ण या आश्रमका नाम नहीं लिखा। ये छः गुण सबोंमें हैं, क्या नीच क्या ऊँच, क्या स्त्री क्या पुरुष! (घ) प्रथम 'सुभग' गुण देनेका भाव कि शरीर सबका अधिष्ठान है इसीसे प्रथम शरीरकी सुन्दरता कही। शरीर सुन्दर है और उसको वे सदा 'शुचि' अर्थात् पवित्र रखते हैं। †

२ (क) 'अति अनूप' इति। जनकनिवासको 'अति अनूप' कहकर पूर्व कहे हुए सब स्थानोंको 'अनुपम' जना दिया। 'जनक निवासू' कहनेमें भाव यह है कि राजाओंके अनेक स्थान और महल होते हैं, सब पुरभी जनकजीका ही है पर उससे यहाँ तात्पर्य्य नहीं है, जो उनका ख़ास निवासस्थान है, जिसमें वे रहते हैं, वह 'अति अनुपम' है। (ख) 'बिथकहिं' का भाव कि सभी पुरवासियोंके स्थान अनुपम हैं, उन्हींको देखकर देवता थक जाते हैं, यथा 'देखि जनकपुर सुर अनुरागे। निज निज लोक सबहि लघु लागे।३१४।४।' और जनकजी का स्थान 'अति' अनुपम है इससे इसको देखकर 'विशेष थक' जाते हैं। (ग) 'बिथकहिं बिबुध' का भाव कि जब बड़े-बड़े पंडित देवता दंग रह जाते हैं तब औरोंकी गिनती ही क्या? देवताओंके पास बड़ा ऐश्वर्य्य है सो उनका यह हाल है कि 'जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥' तब जनकजीकी संपदा देखकर देवता 'थक' गए तो आश्चर्य्य ही क्या? पुनः, 'जेहि तिरहुति तेहि समय निहारी। तेहि लघु लगहि भुवन दसचारी। २८६।७।', तब भला राजाके स्थानकी शोभा कहाँतक कहें।

३—"होत चकित चित कोट बिलोकी।०" इति। (क) प्रथम जनकमहाराजके स्थानका ठिकाना न लिखा, इतनाही कहा कि 'अति अनूप' है। अब उसका ठिकाना बताते हैं कि कोटके भीतर है। (ख)

❀ अर्थान्तर—"मानों सकल भुवनकी शोभा कोटके भीतर रोकी है।" (पं० रामकुमार)।

† पांडेजी—"सुभग=सुन्दर ऐश्वर्य्य (से पूर्ण)। शुचि=पवित्र शान्तरससे युक्त"। 'शुचि' से भीतर बाहर दोनोंकी पवित्रता जनाई। पवित्र मन और पवित्र आचरण।

नगरके विषयमें कहा था कि 'जहँ जाइ मन तहँ लोभाई' । पुरकी शोभामें मन लुब्ध होगया और कोटकी शोभा देखकर यहाँ 'चित' 'चकित' होगया, आश्चर्य्यमें डूब गया, क्योंकि 'सकल भुवन' की शोभा एकत्रित हुई है। (ग) ☞ किसी-किसी राजाका नगर कोटके भीतर रहता है, जैसे कि अयोध्याका, यथा 'पुर चहुँ पास कोट अति सुंदर'। परन्तु जनकपुर कोटके बाहर है, इसीसे जनकपुरको पृथक् कहा और कोटको उससे पृथक् अब कह रहे हैं। [(घ) 'भुवन सोभा जनु रोकी' अर्थात् ब्रह्मांड भरकी शोभा अपनेमें धारण कर ली है। (पं०)]

रा० च० मिश्रजी-जनकभवनका वर्णन करते समय प्रथम कविका चित्त भवन कोटपर पड़ा। उसीके वर्णनमें कवि उत्प्रेक्षा करते हैं कि सम्पूर्ण भुवनोंकी शोभारूपिणी श्रीजनकतनयाको 'जनु' अपने अंदर रोक रक्खा है। 'जनु' पद इसलिये दिया है कि श्रीकिशोरीजीकी शोभा रोकी नहीं रह सकती। अतएव आगे दोहेके पूर्वार्द्ध में भवनद्वारको लक्ष्यकर कहते हैं कि जहाँ सीताजीका स्वयं निवासही है उस सुंदर सदनकी शोभा कैसे कही जा सकती है।

नोट—रा० प्र० कार लिखते हैं कि "कोटकी आड़में सकल भुवनकी शोभा पड़ गई है (अर्थात् इसके आगे उसे कोई देखही नहीं सकता)। वा, सकल भुवनकी शोभाको रोककर उसपर इसने अपना दखल कर लिया है।" श्रीवैजनाथजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'सब लोकोंकी शोभाको बटोरकर क़िलारूपी सीमा खींचकर रोक ली है"। और कुछ लोग यह भाव कहते हैं कि सब भुवनोंकी शोभा प्रकृतिमय है और कोटके भीतरकी अप्राकृत है इससे मानों वह उन सबोंको भीतर नहीं आने देता। इत्यादि।

दोहा—धवल धाम मनि पुरट पट्ट सुघटित नाना भाँति । सिय-निवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति ॥२१३॥

शब्दार्थ—धवल=उज्वल, स्वच्छ। पुरट=सोना, सुवर्ण। पट=किंवाड़े। परदे (रा० प्र०)। वस्त्र। (पं० रा० कु०)। 'मनि पुरट पट्ट'=मणिजटित सुवर्णके किंवाड़े।=जरकशीके परदे जिनमें मणि, मुक्ता आदि गुथे हुये हैं। सुघटित=सुन्दर रीतिसे गढ़े, रचे वा बनाये हुये।

अर्थ—स्वच्छ उज्वल महलोंमें मणिजटित स्वर्णके किंवाड़े लगे एवं मणिमुक्ता गुथे हुये ज़रकशीके परदे पड़े हैं जो अनेक प्रकारसे सुन्दर रीतिसे बने हुये हैं। (साक्षात्) श्रीसीताजीके निवासवाले सुन्दर महलकी शोभा (भला) कैसे कही जा सकती है ? । २१३।

नोट—१ (क) 'धवल' से जनाया कि स्फटिकमणि, हीरे आदिकी श्वेत दीवारें हैं। (ख) 'मनि पुरट पट्ट' इति। वैजनाथजी और पंजाबीजी 'पट' का अर्थ 'किंवाड़े' लिखते हैं। ये खिड़कियों और झरोखोंके किंवाड़े हैं। (वै०, रा० प्र०)। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'मणिजटित सोनेकी खिड़कियोंकी किंवाड़ियाँ, अथवा, खिड़कियोंके रत्न लगे सुनहले तास आदिके परदे हैं। पाँड़ेजी 'पट' का अर्थ पटली करते हुये लिखते हैं कि "उज्जवल घर है। उसपर सोनेकी पटली नाना भाँतिके मणियोंसे सुन्दर जड़ी हुई लगी है। और पण्डित रामकुमारजी पूर्वार्धका यह अर्थ लिखते हैं—"उज्जवल स्थान है। मणि, स्वर्ण और वस्त्रोंसे नाना भाँतिसे सुघटित है। अर्थात् सोनेके मकान मणि और मुक्तासे जटित हैं, परदे पड़े हैं, इसीसे धाम धवल है।" आगे 'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा' में 'कपाट' की चर्चा है, इसीसे 'पट' का अर्थ किंवाड़ा लेनेमें अड़चनें पड़ती हैं। (ग) बाबा हरिदासजी 'सुघटित' का अर्थ 'मंगलमय अर्थात् सूर्यवेधी आदि दोषोंसे रहित' लिखते हैं।

टिप्पणी—१ 'सोभा किमि कहि जाति' इति। "जनक महाराजके स्थानकी शोभा बहुत बढ़ाकर कह चुके, अब उस अत्युक्तिकी समाइति करते हैं"(अर्थात् बताते हैं कि इसमें अत्युक्ति नहीं है, यह कथन

यथार्थ है)—'सिय निवास ''जाति' अर्थात् इसमें श्रीसीताजीका निवास है, तब इसकी शोभा कौन कह सकनेको समर्थ है ? इसी प्रकारका वर्णन आगेभी है । यथा 'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु । तेहि पुरकी सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु । २८९ ।' और इसी प्रकार श्रीदशरथभवनके विषय-में आगे कहा है, यथा 'सोभा दसरथ भवन कै को कबि बरनै पार । जहाँ सकल सुर सीसमनि राम लीन्ह अवतार । २९७ ।'

नोट—पहले चारों ओरकी पुष्पवाटिका बाग़ वन आदिकी अत्यन्त शोभा कही । फिर पुरकी रमणीयता कही, जिसे देखकर श्रीरामलक्ष्मणजी हर्षित हुये । फिर उससे विशेष श्रीजनकमहाराजके निवास-स्थानको 'अति अनूप' कहा । श्रीसीताजीके निवासके महलकी शोभा कहनेमें अपनेको असमर्थ जनाया । (इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर एकसे दूसरेकी शोभा अधिक दिखाई) । (रा० प्र०) । इसके अनुसार श्रीसीताजीका महल अलग है । श्रीकरुणासिंधुजी तथा वैजनाथजीका मत है कि श्रीसीताजीके निवासका मन्दिर राजमन्दिरसे मिला हुआ अलग है । परन्तु कुछ लोगोंका मत है कि यहाँ राजमहल (रनवास) की समष्टि शोभाका वर्णन है । श्रीसीताजीको अवस्था अभी छः वर्षकी है, वेभी राजमहलमें अपनी माताके साथ रहती हैं । बिलग भवन करनेमें माता-पिताके वात्सल्यमें बाधा पड़ती है, त्रुटि आती है और यह लोक-विरुद्ध भी है । अतः रनवाससे पृथक् इनका भवन नहीं हो सकता । कहा जाता है कि बाणासुरकी कन्या ऊषाको छोड़ किसी अन्य राजकन्याका पृथक् सदन होनेका उल्लेख नहीं मिलता ।

सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा । भूप भीर नट मागध भाटा ॥ १ ॥

बनी बिसाल बाजि गज साला । हय गय रथ संकुल सब काला ॥ २ ॥

शब्दार्थ—कुलिस (कुलिश) = वज्र, हीरा । कपाट = किंवाड़ । नट—टि० १ (घ) में देखिये । बिसाल (विशाल)=लंबा, चौड़ा और ऊँचा । साला (शाला)=रहनेके स्थान वा घर । संकुल = परिपूर्ण; इतने कि कठिनतासे अट सकें ।

अर्थ—सब दरवाज़े सुंदर हैं, सबमें वज्र (हीरे) के* किंवाड़े लगे हैं । (द्वारपर) राजाओं, नटों, मागधों और भाटोंकी भीड़ लगी रहती है ॥ १ ॥ घोड़े और हाथियोंके रहनेकी बड़ी विशाल शालायें अर्थात् बाजिशालायें (घुड़शाल) और गजशालायें बनी हैं जो सभी समय हाथी, घोड़ों और रथोंसे भरी रहती हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'सुभग द्वार सब कुलिस कपाटा ।०' इति । (क) धामकी सोभा कहकर अब धामके दरवाज़ोंकी शोभा कहते हैं । [पं० रामकुमारजीने दोहेमें 'पट' का अर्थ वस्त्र किया है, इसीसे उसी धामका दरवाजा और किंवाड़ा अब यहाँ कहते हैं । और जो लोग 'पट' का अर्थ किंवाड़े करते हैं उनके मतानुसार अब यहाँ राजद्वारका वर्णन है । यह कोटका वह द्वार है जहाँसे लोग राजमहलमें प्रवेश करते हैं ।] (ख) सुभग अर्थात् अपने स्वरूपसे सुंदर हैं । (ग) 'भूप भीर नट मागध भाटा'—यह द्वारकी दूसरी शोभा कही । राजाओं और याचकोंकी भीड़ लगी रहती है । यह राजद्वारकी शोभा है । 'भूपभीर' से जनकमहाराजका ऐश्वर्य्य दिखाया कि सप्तद्वीपके राजा मिथिलेश महाराजके दर्शनों और भेंट देनेके निमित्त द्वारपर खड़े हैं । यथा 'पुर बाहेर सर सरित समीपा । उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा ।' एवं 'पितु बैभव बिलास मैं डीठा । नृपमनिमुकुट मिलित पद पीठा । २९८ ।' नट मागधादि याचकोंकी भीड़से जनकजीकी उदारता दिखाई । तात्पर्य्य कि राजा ऐश्वर्य्यमान् और उदार हैं । [(घ) 'नट'—"पुराणानुसार एक संकर जाति जिसकी उत्पत्ति मालाकार पिता और शूद्रा मातासे मानी जाती है । वा, प्राचीन कालकी एक संकर जाति जिसकी

* पंजाबीजी 'वज्रके समान दृढ़ किंवाड़े' ऐसा अर्थ करते हैं ।

उत्पत्ति शौचिकी स्त्री और शौंडिक पुरुषसे मानी गई है, जिसका काम गाना बजाना बतलाया गया है।" (श० सा०) । = कत्थक आदि । बाँस आदिपर खेल तमाशा करनेवाले । 'भूप भीर नट मागध भाटा' का दूसरा भाव कि राजाओंकी भीड़ नट आदि याचकोंकी तरह लगी रहती है (रा० प्र०)]

२ 'बनी बिसाल बाजि गज साला।०' इति । (क) 'बिसाल' अर्थात् बड़े ऊँचे लंबे चौड़े जिसमें पर्वताकार हाथी बँधे हैं। 'विशाल' कहकर 'संकुल सब काला' कहनेका भाव यह है कि गजशाला, हयशाला बहुत बड़ी बनी हैं, तबभी गँजी रहती हैं। हाथी-घोड़ोंकी बहुतायत दिखाते हैं कि इतने हैं कि अटते नहीं। पुनः, (ख) 'बनी' से बाजि-गज-शालाओंकी सुन्दरता कही। विशालसे जनाया कि हाथी घोड़े बड़े-बड़े हैं, इसीसे शालायें ऊँची हैं। हाथी घोड़े बहुत हैं, इसीसे शालायें लंबी हैं। और, कई पंक्तियोंमें सब बँधे हुए हैं इसीसे शालायें चौड़ी हैं। विशालशब्दसे ऊँचे, लंबे और चौड़े तीनोंका बोध कराया। (ग) 'हय गय रथ संकुल सब काला' इति। यहाँ हाथी, घोड़े और रथ कहे, आगे चौपाईमें पैदलभी कहते हैं, यथा 'सूर सचिव सेनप बहुतेरे'। जब सेनापति बहुत हैं तो पैदल सेनाभी बहुत होगी। इस तरह चतुरंगिनी सेनाका होना सूचित किया। [हाथी घोड़ोंके लिये तो बाजिगजशालाओंका होना कहा, पर उत्तरार्द्धमें 'हय गय' के साथ 'रथ' को लिखनेका क्या प्रयोजन ? इस प्रश्नका एक उत्तर तो आगया कि चतुरंगिनी सेना दिखानेके बिचारसे 'रथ' को लिखा। दूसरे इससे यह भी जनाया कि इनमें रथमें भी जुतनेवाले घोड़े हाथी हैं, वे रथभी इन्हीं शालाओंमें रहते हैं। चतुरंगिनी सेना का विवरण दोहा १५४ (३) भाग २ में देखिए।]

सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे ॥३॥
पुर बाहेर सर सरित समीपा। उतरे जहं तहं बिपुल महीपा ॥४॥

शब्दार्थ—सूर (शूर) = वीर योद्धा। सेनप = सेनापति, फ़ौजका नेता। केरे = के।

अर्थ—शूरवीर, मंत्री और सेनापति बहुतसे हैं। सभीके घर राजसदनकेसे हैं।३। नगरके बाहर नदी और तालाबोंके समीप (निकट, सामने और आसपास) जहाँ-तहाँ बहुतसे राजा उतरे हुए हैं।४।

टिप्पणी—१ 'सूर सचिव सेनप बहुतेरे।०' इति। (क) अनेक जाति के हाथी, अनेक जातिके घोड़े, अनेक प्रकारके रथ और अनेक प्रकारके बरदीवाले पैदल हैं, इसीसे प्रत्येकके न्यारे-न्यारे सेनापति हैं। प्रत्येक सेनामें बहुत सुभट रहते हैं, इसीसे बहुत शूरवीर हैं। इन्तिजाम, माल, फ़ौज, कोष, न्याय, राष्ट्र इत्यादि अनेक प्रकारके राजकीय कार्य्य हैं, इसीसे प्रत्येक कार्य्यके लिये पृथक्-पृथक् मंत्री हैं जो अपने अपने कार्य्यमें पूरे पंडित हैं। (ख) 'नृपगृह सरिस सदन सब केरे' इति। इससे मिथिलेशमहाराजकी नीतिनिपुणता दिखाई। मंत्री आदिका वेतन इतना भारी है कि वे राजाके समान होरहे हैं; इसीसे वे लोग राजाका सब काम अपनाही काम समझते हैं। [नोट—राजाके सात अंगोंमेंसे मंत्री प्रधान अंग है। सुग्रीवके पास यही एक अंग रह गया था सो देखिये कि इसीसे उन्हें फिर राज्य प्राप्त होगया। 'सूर सचिव सेनप बहुतेरे' इस चरणमें शब्दोंके रखनेमें शब्दोंकी योजनामें महाकविने बड़ी बुद्धिमानी दिखाई है। आगे पीछे शब्दोंके प्रयोगमात्रसे बिना कुछ और कहे ही उन्होंने राजाकी नीतिनिपुणता यहाँ दिखा दी है। नगरके घरोंका वर्णन होरहा है। क्रमशः आगे पीछे जैसे मकान बने हैं वैसाही लिखा जा रहा है। राजा ऐसे चतुर हैं कि उन्होंने मंत्रियोंकी रक्षाकेलिये उनके महल 'सूर' और 'सेनापति' के बीचमें बनवाए हैं। अतएव यहाँ भी सूर और सेनपके बीचमें सचिवको लिखा गया। बाबाहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि इससे राजाकी उदारता और भृत्योंपर प्रीति प्रकट हो रही है। पंजाबीजी लिखते हैं कि 'बनी बिसाल बाजि गज साला।···' से राजाकी अति समृद्धता, 'सूर सचिव···केरे' से राजाकी उदारता और अति सुहृदता तथा 'पुर बाहेर···' से स्वयंवरका स्वरूप दिखाया।]

२ 'पुर बाहेर सर सरित समीपा।०' इति (क) ☞'पुररम्यता राम जब देखी। २१२।५।' से 'फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास। २१२।' तक श्रीरामजीका नगरके बाहरकी रमणीयता का देखना वर्णन किया गया था। उसके बाद 'नृप गृह सरिस सदन सब केरे'। तक बीचमें कवि पुरका वर्णन करने लगे, अब पुनः वहींसे कहते हैं। (ख) प्रथम कह आए हैं कि 'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना'; इनमेंसे बावली और कुओंसे राजाओंके दलका निर्वाह नहीं हो सकता, क्योंकि उनके साथ हाथी, घोड़े, ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते हैं। वे कुँयें और बावलीमें जल कैसे पियेंगे? इसीसे 'बापी कूप समीप' ठहरना नहीं लिखते। उतरे=टिके, ठहरे, डेरा या छावनी डाली। ☞(ग) 'उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा' इति। जहं तहं से जनाया कि सब राजा पृथक् पृथक् ठहरे हैं। 'बिपुल महीपा' अर्थात् द्वीपद्वीपके, देश-देशके, लोक-लोकके राजा आए हुए हैं; यथा--'दीप दीपके भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना। देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा। २५१।' एवं 'छोनीमेंके छोनीपति छाजै जिन्हैं छत्र-छाया छोनी-छोनी छाए छिति आये निमिराजके। कवितावली १।८।' इस समय स्वयंवर सुनकर सब राजा आये हैं।

☞ जनकपुर श्रीजानकीजीकी जन्मभूमि है और अयोध्या श्रीरामजीकी। इसीसे गोसाईंजीने दोनों पुरोंकी शोभा एकसी वर्णन की है। यथा—

श्रीजनकपुर		श्रीअयोध्याजी
पुररम्यता राम जब देखी। हरषे नगर बिलोकि बिसेषी॥	१	पहुँचे दूत रामपुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥
बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥	२	बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं। सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं।७।२९।
गुंजत मंजु मत्त रस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥	३	बरनबरन बिकसे बनजाता। बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं। ७।२९।
त्रिबिध समीर सदा सुखदाता	४	मारुत त्रिबिध बह सुंदर। ७।२८।
सुमनबाटिका बाग बन बिपुल बिहंगनिवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥	५	'सुमन बाटिका सबहि लगाईं। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ लता ललित बहु जाति सुहाईं। फूलहिं सदा बसंतकी नाईं॥'; 'आराम रम्य पिकादि खगरव जनु पथिक हंकारहीं।७।२९। 'सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नये'।७।३२।
बनै न बरनत नगर निकाई	६	पुर सोभा कछु बरनि न जाई।७।२९।
चारु बजार बिचित्र अँबारी मनिमय जनु बिधि स्वकर सँवारी॥	७	'बाजार रुचिर न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइए।७।२८। 'मनिखंभभीति बिरंचि बिरची।७।२७।'
धनिक बनिक बर धनद समाना। बैठे सकल बस्तु लै नाना॥	८	बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।७।२८।
चौहट सुंदर गली सुहाई।	९	बीथीं चौहट रुचिर बजारू। ७।२८।
संतत रहहिं सुगंध सिंचाई	१०	गली सकल अरगजा सिँचाई।
मंगलमय मंदिर सब केरे	११	मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ। १।२९६।
चित्रित जनु रतिनाथ चितेरे	१२	चारु चित्रसाला गृह गृहप्रति लिखे बनाइ।

श्रीजनकपुर		श्रीअयोध्याजी
पुरनरनारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता	१३	"रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गतिके अधिकारी॥ अल्पमृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुंदर सब बिरुज सरीरा॥'''सब निर्दंभ धरमरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥ सब गुनज्ञ पंडित सब ज्ञानी। सब कृतज्ञ नहिं कपट सयानी।७।२१।"
अति अनूप जहं जनकनिवासू। बिथकहिं बिबुध बिलोकि बिलासू॥	१४	भूपभवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदन मन मोहा॥
होत चकित चित कोट बिलोकी	१५	पुर चहुँ पास कोटि अति सुंदर। ७।२७।
धवल धाम	१६	धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। ७।२७।
मनि पुरट पट सुघटित नाना भाँति	१७	मनि खंभ भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची।७।२७।
सियनिवास सुंदर सदन सोभा किमि कहि जाति	१८	सोभा दसरथ भवन कइ को कबि बरनै पार। जहाँ सकल सुरसीसमनि राम लीन्ह अवतार।७।२९७।
सुभगद्वार सब कुलिस कपाटा	१९	प्रतिद्वारद्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्ह खचे
भूपभीर नट मागध भाटा	२०	'मागध सूत बंदि नट नागर। गावहिं जसु तिहुँलोक उजागर', 'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे। २।२।'
बनी बिसाल बाजि गज साला हय गय रथ संकुल सब काला	२१	रचि रुचिजीन तुरंग तिन्ह साजे। बरनबरन बरबाजि बिराजे॥ रथ सारथिन्ह बिचित्र बनाये। ध्वज पताक मनिभूषन लाए। कलित करिवरन्ह परी अँबारी। कहि न जाइ जेहि भाँति सँवारी॥'
सूर सचिव सेनप बहुतेरे। नृप गृह सरिस सदन सब केरे॥	२२	'अवधपुरी बासिन्ह कर सुख संपदा समाज। सहस सेष नहि कहि सकहिं जहं नृप राम बिराज। ७।२६।'

प. प. प्र.—'जनकपुरी और दशरथपुरीकी तुलना' इति। (क) धनुर्भंगोत्सवके लिये सजाई हुई जनकपुरीको देखकर सानुज रघुनाथजीको हर्ष हुआ। और उधर सुशोभित जनकपुरीके दूत जब राम विरहाकुल (क्योंकि दोनों भाई विश्वामित्रजीके साथ गए हैं) दशरथपुरीमें आए तब 'हरषे नगर बिलोकि सुहावन। २९०।१।' (ख) जनकपुरीके भवनोंको मंगलमय बनानेके लिये मानों रतिनाथ चितेरेको हाज़िर होना पड़ा, पर दशरथपुरीमें 'मंगलमय निज निज भवन लोगन्ह रचे बनाइ। १।२९६।' (ग) 'जनकपुरीमें धनुर्भंगोत्सव कालमें भी 'बीथी सींची चतुर सम चौकैं चारु पुराइ।१।२९६।' यह नहीं हुआ। (घ) श्रीजनकनिवासको देखकर इन्द्रादि देवता विशेष थकित होते हैं, पर 'भूपभवन किमि जाइ बखानी। बिस्वबिमोहन रचेउ बिताना। १।२९७।४।', 'भूप भवन तेहि अवसर सोहा। रचना देखि मदन मन मोहा। १।३४५।१।', जो कामदेव ब्रह्मादि समस्त देवोंको भी मोहित करता है वह भी दशरथपुरी अयोध्याकी शोभा आदि देखकर मोहित हो गया। जनकनिवासका कुछ वर्णन तो कविने किया ही, उसे 'अति अनूप' कहा, पर दशरथजीका भवन 'किमि जाइ बखाना।' (ङ) अयोध्याजीमें जैसे घोड़े हैं कि जलपर थलके समान चलते हैं और 'टाप न बूड़ बेग अधिकाई' 'निदरि पवन जनु चहत उड़ाने।', वैसे जनकपुरमें नहीं हैं।—इसी प्रकार अनेक उद्धरण दिये जा सकते हैं जिनसे दशरथपुरी सभी बातोंमें जनकपुरीसे श्रेष्ठ सिद्ध होती है। उपर्युक्त तुलनामें उत्तरकांडके वाक्य नहीं लिये गए हैं। उनको तुलनामें लेना उचित नहीं है क्योंकि वह तो रामराज्यकी पुरी अयोध्या है।

देखि अनूप एक अँबराई। सब सुपास सब भाँति सुहाई॥ ५॥
कौसिक कहेउ मोर मनु माना। इहाँ रहिअ रघुबीर सुजाना॥ ६॥
भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता। उतरे तहँ मुनिबृंद समेता॥ ७॥

शब्दार्थ—सुपास=सुविधा; सुभीता। मन मानना = रुचना; मनको अच्छा लगना; पसन्द होना। यथा 'ज्ञान नयन निरखत मन माना। ३७। १।', 'मनु माना कछु तुम्हहिं निहारी। ३। १७। १०।'

अर्थ—एक अनुपम आमका बाग़ देखकर, जहां सब तरहकी सुखसुविधा थी और जो सब प्रकार सुंदर था, श्रीविश्वामित्रजीने कहा—हे सुजान रघुबीर! मेरे मनको यह (बाग़) रुचता है, (अतएव) यहीं ठहरिये॥ ५-६॥ 'हे नाथ! बहुत अच्छा।' ऐसा कहकर कृपाके धाम श्रीरघुनाथजी मुनिसमाज सहित वहां उतरे॥ ७॥

टिप्पणी—१ 'देखि अनूप एक अँबराई।०' इति। (क) 'सब सुपास' अर्थात् जल, थल, फल, फूल, छाया, इत्यादि का सुख, "अति शीत अति ऊष्णतारहित", स्नान पूजन भजन एकान्त इत्यादिका सुख, वा ऋषियोंको सात्विक पदार्थोंका और राजकुमारोंको राजसीका सुख। ['सब सुपास' अर्थात् सुंदर मंदिर है, शीतल मिष्ट जल है, सुन्दर छाया है, मनोहर पुष्प हैं, फुहारे छूट रहे हैं। 'सब भाँति सुहाई' अर्थात् चारों ओर बड़ी हरियाली है, निकट कोई मार्ग नहीं है, इससे धूलसे सुरक्षित है। किसीका डेरा निकट नहीं है, इससे ऊँचे शब्दसे और मलिनतासे रहित है। नगरसे न तो अत्यन्त निकट है और न अत्यन्त दूर है—ऐसा सुंदर यह रसाल-बाग है। (पं०)। रा० प्र० कार लिखते हैं कि पतझाड़के ऋतुमें अन्य वृक्षोंमें छाया नहीं रहती परन्तु अमराईमें तबभी छाया रहती है।] (ख) 'सब भाँति ०' अर्थात् जलाशय, मकान, वृक्ष, लता, स्वच्छता, बनाव इत्यादि सब प्रकार सुन्दर है। इसीसे 'अनूप' कहा। 'अनूप' स्थानमें टिकनेका भाव यह है कि श्रीरामजी समस्त राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, इसीसे विश्वामित्रजी सबसे श्रेष्ठ स्थानमें टिके। इसी तरह राजा जनकने इनको सबमें श्रेष्ठ समझकर सबसे उत्तम मंचपर बिठाया था, यथा 'सब मंचन्ह तें मंच इक सुंदर बिसद बिसाल। मुनि समेत दोउ बंधु तहं बैठारे महिपाल।'

२ (क) 'कौसिक कहेउ मोर मनु माना' इति। पहले यह कहकर कि अमराई अनूप है, सब भाँति सुंदर है, अब उसी बातको चरितार्थ करते हैं कि जिन विश्वामित्रजीको सृष्टि रचनेका सामर्थ्य है वे भी इसे देखकर प्रसन्न होगए, अतएव यह निश्चयही अत्यन्त सुंदर है।❀ [यहां वंशका और क्षत्रिय राजाका संबंध-सूचक नाम दिया क्योंकि यहाँ ठहरनेका जो विचार किया गया वह राजनीतिदृष्टिसे ही, न कि मुनिकी दृष्टिसे। प. प. प्र.।] (ख) 'इहाँ रहिय रघुबीर सुजाना' इति। 'इहां' दीपदेहली है। 'मोर मनु माना इहां' और 'इहां रहिय'। 'मोर मनु माना' कहकर जनाया कि हमको पसंद है। और 'रघुबीर' सम्बोधन करके टिकनेको कहकर जनाया कि रघुवंशियोंके भी टिकने योग्य है। मुनि और राजा दोनोंके योग्य है। पुनः, 'रघुबीर' का भाव कि आप वीर हैं, वीरोंका वास पृथक् चाहिये, यथा 'कहुं कहुं सुंदर बिटप सुहाये। जनु भट बिलग बिलग होइ छाये। ३। ३८।' (ग) 'सुजाना' का भाव कि आप सब जानते हैं कि यहां रहनेसे

❀ बैजनाथजी कहते हैं कि यह अमराई 'कौशिकी' नदीके तटपर थी, अतः 'मोर मन माना' कहा। इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया कि 'मुनि राजा दशरथके यहाँ कैसे सीधे राजद्वारपर चले गए थे, बीचमें न ठहरे थे?' दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि वहां याचक बनकर गए थे, भिक्षुकको अभिमान कैसा? और यहां निमंत्रित होकर आए हैं। (रा० प्र०)। इस भावकी पुष्टता 'उतरे तहं' से होती है, क्योंकि इन शब्दोंमें प्रधानता विश्वामित्रजीकी नहीं रक्खी गई है वरंच श्रीरघुनाथजीकी। (रा० प्र०)।]

सब प्रकारका सुपास होगा। यहां रहनेसे आपकी प्रतिष्ठा होगी। हम अकेले होते तो सीधे राजद्वार या महलमें चाहे चले भी जाते; पर हमारे साथ आप दोनों चक्रवर्ती राजकुमार हैं, आपकी मर्यादा प्रतिष्ठा भी रखनी उचित ही है। जबतक राजा स्वयं मिलने न आवें और सम्मानपूर्वक महलमें न ले जावें तबतक नगर-के भीतर ठहरना उचित नहीं। जब आकर सादर लेचलेंगे तब चलेंगे। (पुनः, भाव कि आप जानते हैं कि जब-जब आपका अवतार होता है, तबतब पहले बाहर अमराईहीमें उतरना हुआ है।) ☞ यहाँ लोगोंके इस प्रश्नका भी उत्तर हो गया कि 'मुनि राजा दशरथके यहाँ कैसे सीधे राजद्वारपर चले गए थे, बीचमें न ठहरे थे ?' दूसरा उत्तर इसका यह भी है कि वहाँ याचक बनकर गए थे, भिक्षुकको अभिमान कैसा ? और यहाँ निमंत्रित होकर आये हैं। (रा० प्र०)। इस भावकी पुष्टता 'उतरे तहँ···' से होती है, क्योंकि इन शब्दोंमें प्रधानता विश्वामित्रजीकी नहीं रक्खी गई है, वरंच श्रीरघुनाथजीकी। (रा० प्र०)]

३ 'भलेहि नाथ कहि कृपानिकेता।०' इति। (क) गुरुने आज्ञा दी कि "इहां रहिये"। श्रीरामजीने 'भलेहि नाथ' कहकर आज्ञाको शिरोधार्य किया और 'भलेहि' कहकर यह भी जनाया कि यह स्थान हमारे मनका भी है। [पुनः भाव कि आप स्वामी हैं जैसी आपकी इच्छा ! आप हमारे वंशकी बड़ाई मान्यता रखना चाहते हैं, यह आपकी कृपा है। श्रीरघुवीरने जो सम्मति दी वह इस हेतुसे कि ये हमारे गुरु और (पिता-नातेसे) स्वामी हैं, इनका यथोचित मान-सम्मान होना आवश्यक है। बिना बुलाये राजद्वारपर जाना महामुनि गुरुजीके लिये उचित नहीं। प. प. प्र.।] (ख) 'कृपानिकेता' कहा क्योंकि मुनियोंपर कृपा करके यहां ठहरे हैं। मुनि सब थके प्यासे होंगे, तथा यहां उनको सब प्रकारका सुपास होगा, यहां विश्राम पावेंगे। यथा 'एहि बिधि जाइ कृपानिधि उतरे सागर तीर। जहं तहं लागे खान फल भालु बिपुल कपि बीर। ५। ३५।' (वहां वानरोंपर कृपा करके उतरे थे, इससे 'कृपानिधि' कहा था), पुनः, 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला'। [पंजाबीजी लिखते हैं कि "मुनिको बड़ाई देनेकेलिये उन्हें 'नाथ' सम्बोधन देकर उनकी आज्ञाको प्रमाण किया। अतएव 'कृपानिकेता' कहा।"]

श्रीराजारामशरणजी—इस वर्णनमें उपन्यासकलाका पूर्णतः विकास है। मियर महोदयने नाटक और उपन्यासकलाओंके गुणदोषोंका निरीक्षण करके यह प्रश्न इस शताब्दीके प्रारम्भमेंही उठाया था कि भविष्य काव्यकलाका रूप क्या होगा ? वे नाटकके ढाँचेको बहुत संकुचित समझते थे और उपन्यासोंकी भरमारसे ऊब गए थे। महाकाव्यकला विज्ञानके ठोकरसे उन्नीसवीं शताब्दीहीमें चुप होगई थी। बर्नार्डशा Bernardshaw ने अपने नाटकोंमें कुछ उद्योग इन कलाओंके मिश्रण और नैतिक वैज्ञानिक इत्यादि रहस्योंके प्रकटीकरणका किया है, मगर उनकी आलोचनायें और प्रस्तावनायें गद्यात्मक और मस्तिष्कीय उधेड़बुनके कारण शुष्क हैं। तुलसीका कमाल है कि सब चीजें मौजूद हैं फिर भी भावों-रसोंसे ओतप्रोत हैं। इसीसे तो मैं तुलसीदासको विश्वकवि कहता हूँ।

अब नाटकीयकलाकी ओर विकास प्रारम्भ होता है। याद रहे कि हमारा कवि केवल वार्तायें नहीं लिखता बल्कि सारी प्रगतियों इत्यादिका भी वर्णन कर देता है, जिससे नाटकीय अभिनेता और फिल्मकला-कारोंको बड़ी सहायता मिलती है और पढ़नेवालेके सामने तो जीताजागता चित्र उपस्थित हो जाता है।

बिश्वामित्र महामुनि आए। समाचार मिथिलापति पाए॥ ८॥

दोहा—संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुर ग्याति।
चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ येहि भाँति॥ २१४॥

शब्दार्थ—ग्याति (ज्ञाति)=एकही गोत्र वा वंशके लोग; गोतिया; भाई-बंधु।

अर्थ—महामुनि विश्वामित्रजी आए हैं (यह) समाचार (सूचना, खबर) मिथिलाके राजा श्रीजनकजीको मिला ॥ ८ ॥ पवित्र निष्कपट मंत्रियों, निश्छल सच्चे बहुतसे योद्धाओं, श्रेष्ठ (वेदपाठी) ब्राह्मणों, गुरु श्रीशतानन्दजी और अपने जातिके (श्रेष्ठ वा वृद्ध) लोगों कुटुम्बियोंको साथमें लेकर और प्रसन्न होकर, इस प्रकार राजा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीसे मिलनेको चले ॥ २१४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'महामुनि' अर्थात् भारी मुनि हैं—[२०६ (२) देखिये] इसीसे भारी तैयारीके साथ मिलने जाना चाहिये; अतः भारी तैयारी की, जैसा आगे कहते हैं। (ख) 'समाचार पाए'; किससे ? अमराईके बाग़वानोंसे, क्योंकि मुनि वहीं आकर टिके हैं।* (ग) 'मिथिलापति पाये' का भाव कि जो कुछ समाचार मिथिलापुरीमें होता है वह सब राजाको प्राप्त होता है। दूत और सेवक लगे हुए हैं जो क्षण-क्षणकी ख़बर देते हैं। [पंजाबीजी लिखते हैं कि 'विदेहजीकी यथार्थ दृष्टिमें सेवक-स्वामी-भाव नहीं है, परन्तु व्यावहारिक दृष्टिमें मिथिलापुरीके पति हैं और महामुनि इनके पुरमें आए हैं। अतएव सेवक बनकर उनके दर्शनको गए। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि वसिष्ठजीके शापसे जब निमिका 'शरीर पतन' हुआ और ऋषियोंने उनके शरीरको मथ करके पुत्र उत्पन्न किया तबसे इस वंशके सभी राजाओंको तीन उपाधियाँ मिलीं, एक तो 'मिथिलेश' क्योंकि प्रथम पूर्वज मथनसे उत्पन्न हुए। दूसरी, 'जनक' क्योंकि केवल पितासे हुए और तीसरी 'विदेह', क्योंकि इनकी उत्पत्ति मैथुनसे नहीं हुई। मुनियोंके आशीर्वादसे यह वंश योगी, ज्ञानी और भक्त रहा है।]

नोट—१ राजा निमिके कोई पुत्र न था। इसलिये ऋषियोंने उनके शरीरको मथा जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके 'जनन' होनेसे 'जनक', विदेहके लड़का होनेसे वैदेह और मंथनसे पैदा होनेसे 'मिथि' ये तीन नाम प्रसिद्ध हुये। यथा 'जननाज्जनकसंज्ञां चावाप। २२। अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः मथनान्मिथिरिति ।२३।' (वि० पु० अंश ४ अ० ५)। इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आये हैं।

२—मिथिलाप्रदेश जिसे आजकल तिरहुत कहते हैं, उसके अन्तर्गत आजकल बिहारप्रान्तके दो जिले मुजफ्फरपुर और दरभंगा हैं। 'जनकपुर' प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ इसकी राजधानी थी जो वर्तमानकालमें नेपालराज्यके अन्तर्गत है। यह सीतामढ़ीसे लगभग छः सात कोश पर है। राजा जनकका नाम 'शीरध्वज' और उनके छोटे भाईका 'कुशध्वज' था। (प्र० सं०)।

३ 'महामुनि' की जोड़में इधर 'मिथिलापति' पद दिया। बड़े महात्माओंके मिलने और दर्शनोंको राजाधिराजका जाना योग्यही है। 'महामुनि' से लोकोंसे परे-विभूतिका ऐश्वर्य्य जनाया और 'मिथिलापति' से लोकविभूति सूचित की; अतएव मिथिलापतिको महामुनिसे मिलनेपर लोक-ऐश्वर्य्य और ज्ञानविभूतिका, राजकुमारोंके दर्शनमें लय होना सूचित करेंगे—'बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा', 'भएउ बिदेहु बिदेह बिसेषी।' (प्र० सं०)।

टिप्पणी—२ 'संग सचिव सुचि०' इति। (क) साथमें निष्कपट मंत्री, बहुतसे योद्धा, ब्राह्मण, गुरु और बंधुवर्गके गुरुजनोंको लेकर जाना साभिप्राय है। [राजा जनकने स्वयंवर रचा है; उसमें धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञा है। सत्योपाख्यान अ० ५१,५२ से विदित होता है कि धनुष-भङ्गकी प्रतिज्ञाके कारण काशिराज सुधन्वा और रावण आदि कई राजा जनकके शत्रु हो गए थे और सुधन्वासे तो एक सालतक बराबर युद्ध हुआ। (वाल्मी० १.७१ में संकाश्य नगरीके राजा सुधन्वासे एक वर्ष युद्ध होना कहा है)। न जाने किस समय क्या काम पड़ जाय। अतएव मंत्र (सलाह) लेनेके लिये निश्छल मंत्रियोंको, दुष्ट राजाओंसे अपनी रक्षाके निमित्त शुचि-सुभट, और वहभी बहुतसे, साथ लिये।] नगरके बाहर बहुतसे राजा आ आकर

* बैजनाथजीका मत है कि नगरके बीचमेंसे होकर अमराईमें गये हैं, इससे बहुत लोगोंने पहचान लिया था, उन्हीं लोगोंने राजाको समाचार दिया।

जुटे (एकत्रित हुए) हैं; अतः 'भूरि भट' संग लिये। जहाँ जैसा प्रयोजन पड़े वहाँ वैसा कहें इस विचारसे मंत्रियोंको साथ लिया। विश्वामित्र गुरु हैं, इसीसे गुरु शतानंदजीको साथ लिया। बड़ोंसे सकुटुम्ब मिलना चाहिये इससे कुटुम्ब साथ है। (विश्वामित्रजी ऋषि हैं, वैसेही श्रीशतानन्दजीभी गौतमऋषिके पुत्र हैं। मुनिके साथ विप्रमण्डली है, इसीसे 'भूसुर' ब्राह्मणोंको साथ लिया। मुनिके साथ राजकुमार हैं, अतः यहाँ बंधुवर्ग हैं। वस्तुतः मुनिके सम्मानार्थ गुरु ब्राह्मण आदि को साथ लेकर दर्शनको गए।) (ख) 'मुदित राउ'—राजा उनका आगमन सुन बड़े प्रसन्न हुए अर्थात् उनके आगमनको अपने बड़े भाग्यका उदय माना। यथा 'बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे'।

२ राजा दशरथ जब विश्वामित्रजीसे मिलने गये तब केवल ब्राह्मणसमाज लेकर गए, यथा 'मुनि आगमन सुना जब राजा। मिलन गयेउ लै बिप्रसमाजा'। कारण कि वहाँ राजा निर्भय हैं, उनका कोई शत्रु नहीं है; अतः मंत्री और सुभटका काम न था। पर गुरुको साथ क्यों न लिया? इसका उत्तर यह है कि वसिष्ठजी विश्वामित्रजीसे बड़े हैं, वे विश्वामित्रजीकी पेशवाई (अगवानी) में नहीं जा सकते। वसिष्ठजी के देनेसे विश्वामित्रजीको ब्रह्मर्षिकी पदवी मिली है। जबतक उन्होंने इनको ब्रह्मर्षि नहीं कहा तबतक ये ब्रह्माके कहदेने परभी अपनेको ब्रह्मर्षि नहीं मान पाये थे। अथवा, श्रीरामजीके सम्मानार्थ राजाजनक सुभट, मंत्री और निमिवंशी यह राजसी समाज लेकर गए और विश्वामित्रजी ब्राह्मण हैं, अतः उनके सम्मानार्थ ब्राह्मण और गुरुको साथ लिया। राजा दशरथजी विप्रसमाज साथ लेगए थे, उन्हींमें वसिष्ठजीको समझ लें, क्योंकि वाल्मीकीयमें वसिष्ठजीकाभी साथ जाना लिखा है; यथा 'तेषां तद्वचनं श्रुत्वा सपुरोधाः समाहितः ॥४२॥'''वसिष्ठं च समागम्य कुशलं मुनिपुंगवः ॥ ४७ ॥' अर्थात् राजा द्वारपालोंकी बात सुनकर पुरोहितके साथ प्रसन्नता पूर्वक चले।''' मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने वसिष्ठजीके पास जाकर उनकी कुशल पूछी। (वाल्मी० १।१८)।

कीन्ह प्रनामु चरन धरि माथा। दीन्हि असीस मुदित मुनिनाथा ॥ १ ॥
बिप्रबृंद सब सादर बंदे। जानि भाग्य बड़ राउ अनंदे ॥ २ ॥
कुशल प्रश्न कहि बारहिं बारा। बिश्वामित्र नृपहि बैठारा ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—कुशलप्रश्न = कुशल-मंगल (खैरो-आफियत) पूछना। कुशल=क्षेम, राजीखुशी।

अर्थ—(उन्होंने) चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम किया। मुनिराज विश्वामित्रजीने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया ॥ १ ॥ (मुनिके साथके) सब ब्राह्मणसमाजको राजाने आदरसहित प्रणाम किया और अपना बड़ा भाग्य समझकर प्रसन्न हुए ॥२॥ बारंबार कुशलप्रश्न करके विश्वामित्रजीने राजाको बिठाया ॥३॥

टिप्पणी—१ "कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा ।०" इति। (क) चरणोंपर सिर धरकर प्रणाम करना अत्यन्त आदर है, अत्यन्त भक्ति है, (यही आगे कहते हैं—'विप्रबृंद सब सादर बंदे', वहाँभी 'सादर' से यही समझ लेना चाहिये), यथा 'गुरआगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नायेउ माथा। २।८।', 'संबत सोरह सै एकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा।' इत्यादि। अत्यन्त नम्रतासे प्रणाम किया, इसीसे मुनि प्रसन्न हुए और 'दीन्हि असीस मुदित।' [पुनः भाव कि जिसकी दृष्टिमें जगत्की सत्ताही नहीं, उसने चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणामकर ऋषियोंका मान किया यह देखकर मुदित हुये। अथवा, यह सोचकर कि इनके मनोरथके पूर्ण करनेवालोंको हम साथ लाये हैं, प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दिया। (पं०)] (ख) ☞चरणोंपर मस्तक रखकर प्रणाम करनेकी विधि है, यह मनुस्मृतिमें लिखा है। इसीसे श्रीरामजीने परशुरामजीसे कहा कि 'हमहि तुम्हहि सरबरि कसि नाथा। कहहु न कहां चरन कहँ माथा। २८२। ५।' (ग) 'मुदित मुनिनाथा' इति। राजा मुनिसे मिलनेके लिये मुदित हैं, यह दोहेमें कह आए हैं, वैसेही यहाँ मुनि राजाको मुदित होकर आशीर्वाद दे रहे हैं। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते०' के अनुसार। [विश्वामित्रजीको प्रणाम किया, उन्होंने आशीर्वाद दिया, विप्रवृन्दको भी प्रणाम किया। 'सादर' से वैसाही प्रणाम यहां भी

सूचित कर दिया जिसमें दुबारा उन्हीं शब्दोंको दुहराना न पड़े। तब क्या विप्रवृन्दने आशीर्वाद न दिया? उसका उल्लेख यहाँ नहीं है? इसका उत्तर 'मुनिनाथ' शब्दसे दे दिया है] मुनिनाथ कहकर जना दिया कि ये सब मुनियोंके स्वामी हैं, सर्वश्रेष्ठ हैं, इससे पहले इन्होंने आशीर्वाद दिया तब औरोंने भी पृथक्-पृथक् आशीर्वाद दिया। यह गोस्वामीजीकी अनूठी शैली है।

२ (क) 'बिप्रबृंद सब सादर बंदे' इति। इससे जनाया कि सबोंकी पृथक्-पृथक् वन्दना की। और 'सादर' कहकर सूचित किया कि इनकोभी विश्वामित्रके समानही मानकर वैसेही प्रेमसे प्रणाम किया। (ख) 'जानि भाग बड़'—ब्राह्मणों महात्माओंकी प्राप्ति बड़े भाग्यकी बात है; इसीसे बड़े लोगोंने सदा इसे बड़ा भाग्य माना है; यथा 'भूसुर भीर देखि सब रानी। सादर उठीं भाग बड़ि जानी। ३५२।२।' इसीसे राजा आनन्दित हुए। (ग) 'सादर' और 'अनंदे' शब्दोंसे सूचित करते हैं कि पृथक्-पृथक् हरएकको प्रणाम करनेमें राजाने क्लेश नहीं माना, वरंच इसे अपना बड़ा भाग्य माना। 'अनंदे' से आशीर्वादकी प्राप्तिभी सूचित होती है।

नोट—आशीर्वादके सम्बन्धमें कुछ लोगोंका मत है कि १ 'समाजमें जो मुखिया होता है उसीको यथोचित दण्डप्रणाम किया जाता है, औरोंको केवल हाथ जोड़ना और सिर झुकाना ही काफी है। इसी प्रकार मुखियाके आशीर्वादसे सबका आशीर्वाद समझा जाता है। ऐसाही यहाँ हुआ। वा, २—राजा जनक योगेश्वर हैं, बड़े बड़े महर्षि इनके पास शिक्षाके लिये आते हैं; अतएव विप्रवृन्दने अपनेको आशीर्वाद देने योग्य न समझा। वा, ३-उन्होंनेभी आशीर्वाद दिया, इसीसे राजा आनन्दित हुए। ([illegible] पृथक्-पृथक् सबकी वंदना की और सबसे आशीर्वाद प्राप्त किया, यथा 'बिप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। मन भावती असीसैं पाई।' यह बात आगेके 'कुशल प्रश्न कहि' सेभी अनुमानित होता है। नहीं तो मुनिनाथका आशीर्वाद देनेके बाद तुरतही कुशल-प्रश्न करना लिखा जाता। जब सबको प्रणाम कर चुके तब कुशल पूछी)

टिप्पणी—३ 'कुसल प्रश्न कहि बारहि बारा।०' इति। (क) राजाने मुनिका बड़ा आदर किया वैसेही मुनिने राजाका बड़ा आदर किया। बारंबार कुशल पूछना और बिठाना आदर है। 'कहि' पाठसे जनाते हैं कि मुनिने बारंबार कुशल-प्रश्न किया और राजाने बारंबार कुशल कही। [बारंबार 'कही', यथा 'हमरे कुसल तुम्हारिहि दाया', 'अब कुसल कौसलनाथ आरत जानि जन दरसन दियो। ७।४१', 'प्रभाव राउर सादर साईं। कुसल हेतु सो भयउ गोसाईं।२।२७०।' श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'राजाके सम्मानके लिये कुशल-प्रश्न किया और ज्ञानवान् हैं, इससे अति सम्मान-हेतु बारंबार प्रश्न किया।' मिलान कीजिये (सत्योपाख्यान अ० ५४) "कुशलं वर्तते राजन् सप्तस्वंगेषु तेऽधुना। येषां कुशलतो राजा वर्तते सर्वदा सुखी॥ सर्वत्र कुशलं नाथ त्वयि तिष्ठति रक्षके। येषां कुशलकामोऽसि कुशलं तेषु नित्यशः। त्वं वै कुशलमूर्तिश्च तपसा दुष्करेण वै।" इससे यहाँ भाव निकाल सकते हैं कि पृथक्-पृथक् सातों राज्याङ्गोंका कुशल, परिवार, प्रजा आदिका कुशल-प्रश्न किया और वे प्रत्येकका उत्तर देते गए। अतः 'बारहिं बार' कहा। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि विश्वामित्रजीने राजासे कुशल और उनके यज्ञकी निर्विघ्नताके संबंधमें पूछा। यथा 'पप्रच्छ कुशलं राज्ञो यज्ञस्य च निरामयम्। १।५०।६।' पर मानसके 'बारहिंबारा' में अधिक प्रश्न और उत्तर अभिप्रेत हैं।] (ख) 'नृपहि बैठारे' इति। बिठायासे आसन देना नहीं पाया जाता। राजाके साथ बहुत ब्राह्मण हैं, मुनिके साथभी बहुत हैं, जब सबके लिये आसन हो तब तो राजाकोभी आसन दिया जाय। सबको छोड़कर राजा आसनपर नहीं बैठ सकते (क्योंकि राजा ब्रह्मण्यदेव हैं)। दूसरे, क़ायदा है, शिष्टाचार है कि जो अपनेको सेवक मानता है, वह स्वामीके आगे आसनपर नहीं बैठता। अतएव आसन देना न कहा गया। [वाल्मी० १।५० में लिखा है कि राजाने विश्वामित्रजीसे प्रार्थना की कि आप सब मुनियोंके साथ आसनपर बैठें और उनके बैठ जानेपर राजाभी सब मंत्रियों आदिके साथ पृथक्-पृथक् आसनपर बैठे। यथा 'आसनेषु यथान्यायमुपविष्टाः समन्ततः।१२।']

तेहि अवसर आये दोउ भाई । गए रहे देखन फुलवाई ॥४॥
स्याम गौर मृदु बयस किसोरा । लोचन सुखद बिस्वचित चोरा ॥५॥
उठे सकल जब रघुपति आये । बिस्वामित्र निकट बैठाये ॥६॥

शब्दार्थ—बयस (वयस्)-बीता हुआ जीवन काल, अवस्था, उम्र । किसोर-बयस=किशोरावस्था, १६ वर्षके भीतरकी अवस्था ।

☞नाटकीयकलामें चरित्रोंके प्रवेशका अवसर बड़े मर्म और मार्केकी चीज है । श्रीरामलक्ष्मणके प्रवेशका वर्णन और प्रभाव विचारणीय है । (लमगोड़ाजी) ।

अर्थ—उसी अवसरपर दोनों भाई आए । वे फुलवारी देखने गए थे ॥ ४ ॥ (एक श्रीरामजी) श्याम (दूसरे श्रीलक्ष्मणजी) गौर (गोरे) दोनों कोमल शरीर और किशोर अवस्थाके, नेत्रोंको सुखदायक और विश्वमात्रके चित्तको चुरानेवाले हैं ॥ ५ ॥ जब रघुनाथजी आए, सभी उठकर खड़े होगए । विश्वामित्रजीने उनको अपने पास बिठा लिया ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तेहिं अवसर आए' का भाव कि ये अवसरके जानकार हैं, (अपनी मर्यादाके अनुसार अवसरपरही आया करते हैं); यथा 'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि । उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि ॥ २४० ॥ राजकुँअर तेहि अवसर आए ।' तथा यहाँ जब सब लोग बैठ गए तब आए । अभी कुछ वार्ता न प्रारंभ होने पाई थी । वार्ताके बीचमें आनेसे एक तो वार्तामें विघ्न होता, दूसरे उस समय लोगोंका चित्त वार्तामें लगा होनेसे उठनेकी सन्धि, उठकर आदर करनेका मौक़ा फिर न रह जाता । (ख) 'गए रहे देखन फुलवाई' इति । ऊपरसे तो दिखाया कि फुलवारी अनुपम है, सब भाँति सुंदर है, अतः उसे देखने गए और भीतरी (गूढ़) अभिप्राय यह है कि राजा जनक आने ही चाहते हैं, यदि यहाँ रहते हैं तो छोटे होनेके कारण उन्हें देखकर हमें उठकर खड़े होना पड़ेगा, क्योंकि बड़ेको अभ्युत्थान देना धर्म है । और ऐसा करनेसे चक्रवत कुलकी अप्रतिष्ठा होगी । और, राजा आदिके आकर बैठजानेपर यदि हम आवेंगे तो सब हमको देखकर उठेंगे (जैसा आगे स्पष्ट है कि 'उठे सकल जब रघुपति आए') । अर्थात् लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये श्रीरघुनाथजीने ऐसा किया । वे लोक और वेद दोनोंकी मर्यादाके पालक और रक्षक हैं, वे न ऐसा करते तो कौन करता ? [(अथवा), फुलवारी देखनेके बहाने (मिष, व्याजसे) मुनिने प्रथमही इनको हटा दिया था । अब सब बैठे हैं । इनके आनेपर सब खड़े होंगे, इससे कुलकी मर्यादाभी बनी रहेगी । (प्र० सं०) । बैजनाथजीका मत है कि फुलवारीसे ही श्रीमिथिलेशजीको आते देख आप भी चले आये ।] (ग) यह फुलवारी इसी अमराईकी है जिसमें उतरे हैं, इसीसे यहां गुरुकी आज्ञाके माँगनेका उल्लेख नहीं है, क्योंकि यहाँ कहीं बाहर जाना नहीं है । [फुलवारी देखने जानेमें प्रयोजन भी है । प्रभुको गुरु-सेवाका बड़ा ख़याल है, सेवामें ही उनका ध्यान है । प्रातःकाल कहांसे दल फूल लाना होगा, कौन फुलवारी निकट है, इत्यादि विचारसे वे फुलवाड़ी देखने गए । (प्र० सं०)]

२ 'स्याम गौर मृदु बयस किसोरा ।०' इति । (क भगवान्के) श्यामवर्णमें अत्यन्त सौंदर्य्य है, इसीसे जहां सुंदरता कहते हैं वहां 'श्याम गौर' कहकर सुंदरता कहते हैं । यथा 'श्याम गौर सुंदर दोउ भाई । बिस्वामित्र महानिधि पाई ।', 'श्याम गौर किमि कहौं बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।', 'सुंदर श्याम गौर दोउ भ्राता । आनँदहू के आनँददाता ।' इत्यादि । तथा यहां । तात्पर्य्य कि जिसके वर्णमें ऐसी सुंदरता है उसके अंगोंकी और शृङ्गारकी शोभा कौन कह सकता है ? भाव कि श्याम-गौर जोड़ी सौंदर्य्यकी अवधि है । ☞भगवान्के सब अंगोंमें 'श्याम गौरता' है, सब अंगोंमें मृदुता है और सभी अंगोंमें किशोरावस्था है । (ख) 'रूप' नेत्रोंका विषय है, इसीसे नेत्रोंको सुखदाता है । (ग) 'लोचन

सुखद विश्वचित चोरा' अर्थात् नेत्रोंको सुख देकर चित्तको चुरा लेते हैं। तात्पर्य कि रूप देखनेवालेका चित्त भगवान्‌के रूपमें सदा बना (लगा) रहता है, अपने पास नहीं आता। इसीसे चुराना कहा। पुनः भाव कि नेत्रोंके सामने चोर कभी चोरी नहीं करता। और ये लोचनोंको सुख देकर चित्तको चुराते हैं, चोर तो कहीं-कहीं ही चोरी कर पाते हैं और ये तो विश्वभरके चित्तको चुरा लेते हैं। (घ) ☞ भगवान्‌के सभी अंग लोचनसुखद हैं और सभी चित चोर हैं, यथा 'गाथें महामुनि मौर मंजुल अंग सब चित चोरहीं'— यहाँ किसी अंगका वर्णन नहीं है, इसीसे सर्वाङ्गका ग्रहण है।

नोट—१ (क) पं० रामचरणमिश्रकी टिप्पणी 'लोचन अभिरामा तनु घनश्यामा' १९२ छंद पर देखिये। यहाँ जनकमिलनमें 'चोर' पद उपक्रम है और आगे सभामें 'राजत राज समाज' इस दोहेमें उसका उपसंहार है। अतः इसकी विशेष व्याख्या वहीं देखिये।

(ख) श्री पं० रामदासगौड़जी कहते हैं कि विश्वचितचोर बड़ाही उपयुक्त विशेषण है। विश्वकी चेतना स्वयं सच्चिदानन्दघन भगवान् हैं। इस लोचनसुखद श्याम गौर मृदुकिशोर अवस्थाके रूपने अपने भीतर विश्वके चेतनको, सच्चिदानन्दघनको चुरा रक्खा है। क्योंकि यह मोहनरूप तो चोरोंका सरदार है, श्रुतिमें कहा भी है, "ॐ तस्कराणांपतयेनमः"। [विश्वचित्तकेही भावसे फुलवारीमें जगदम्बा सीताजीके आभूषणोंकी ध्वनि सुनकर सरकार कहते हैं – 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहुँ कीन्ही।']

(ग) चोर आँख बचाकर चोरी करता है क्योंकि देखलियाजाय तो शस्त्रादिसे पीछा किया जाय, पर ये नेत्रोंके देखते देखते सुख देकर चित्तको चुरा लेते हैं और अत्यन्त भीतरकी वस्तुको निकाल लेनेवाले हैं। (रा० प्र०, बै०)। पुनः, चोरको दंड दिया जाता है पर यदि वह चोर नेत्रोंको सुख देनेवाला हो तो उसे कौन अपना सर्वस्व न दे देगा ? अतः चोर कहते हुए भी 'लोचन सुखद' कहा। (अनुरागलताजी)।

टिप्पणी—३ 'उठे सकल जब रघुपति आए।०' इति। (क) इससे दोनों भाइयोंका भारी तेज, प्रताप और बड़ाई दिखाई। जिन रामजीके किंचित् प्रतापसे उनके एक छोटेसे दूत अंगदको देखकर महा-प्रतापी रावणकी सारी सभा उठकर खड़ी होगई थी, यथा 'उठे सभासद कपि कहँ देखी। ६।१९।', स्वयं उन्हींको साक्षात् देखकर राजा जनक इत्यादि सब खड़े होगए तो आश्चर्य्यही क्या ? यह तो उनके योग्यही है। * (ख) उठकर सबने आपका आदर किया। उठनेसे श्रीरामजीकी बड़ाई हुई, बड़प्पन और प्रतिष्ठा हुई; इसीसे सबके उठनेका उल्लेख किया गया। विश्वामित्रजीने उनको अपने पास बिठालिया, यह मुनिने उनका आदर किया। (ग) आना दो बार कहा गया,—'तेहि अवसर आये दोउ भाई' और 'उठे सकल जब रघुपति आए'। यह दो प्रयोजनसे, प्रथम बार 'अवसर' जानकर समयसे आना कहा और दूसरी बार आतेही सबका उठना कहा। बीचमें यह कहने लगे थे कि कहाँ गए थे, कहाँसे आए, इसीसे फिर आनेकी बात कही गई। (घ) भाइयोंको बिठाना कहा, क्योंकि इससे उनका मुनिके जीमें कैसा आदर है यह सबको दिखाना है; और सबोंका बैठना कथन करनेका कुछ प्रयोजन नहीं है, इससे सबका बैठना न कहा। जब श्रीरामजी बैठगए तब सभी बैठ गए। (ङ) निकट बैठाना वात्सल्यरसका प्यार है।

भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ ७॥
मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥ ८॥

अर्थ—दोनों भाइयोंको देखकर सब सुखी हुए। (सबके) नेत्रोंमें जल (प्रेमाश्रु) भर आया और शरीर पुल-कित (प्रेमसे प्रफुल्लित रोमांचित) होगए॥७॥ मधुर मनोहर मूर्तिको देखकर विदेहराज विशेष विदेह होगए॥८॥

* पंजाबीजीका मत है कि 'मुनीश्वरोंका उठना विश्वामित्रजीकी इच्छासे हुआ और मुनियोंको देखकर तथा श्रीरामलक्ष्मणके तेजके कारण जनकके सब लोगोंका उठना हुआ।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम और सबोंका प्रेम कहकर तब विदेहराजका प्रेम कहेंगे; यह सूचीकटाह न्याय है। (ख) दोनों भाई लोचन-सुखद हैं; इसीसे देखकर सब सुखी हुए और सबको प्रेम हुआ। प्रेमकी दशा आगे कहते हैं—'बारि बिलोचन०।' ☞पूर्व जो 'लोचनसुखद विश्वचितचोरा' कहा था उसको यहाँ चरितार्थ करते हैं। प्रारम्भमेंही विश्वचितचोर कहकर जनादिया कि यहाँ सब चित्त लगाये हुए देख रहे हैं, यथा 'राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई'। (ग) 'बारि बिलोचन०' इति। नेत्रों में जल आनेका हेतु सुख है। सुख जल है जो नेत्रोंके द्वारा ऊपर देख पड़ा, यथा 'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'।

२ 'मूरति मधुर मनोहर देखी।०' इति। (क) नेत्रोंको मधुर हैं क्योंकि रूप नेत्रका विषय है। दर्शनसे मन हर जाता है। इसीसे प्रथम 'मधुर' कहकर तब 'मनोहर' कहा। दो इन्द्रियाँ महाप्रबल हैं, एक नेत्र, दूसरी मन। 'मधुर मनोहर' से जनाया कि ये इन दोनोंको वशमें कर लेते हैं। बाहरकी इन्द्रियों-में नेत्र सबसे प्रबल हैं और भीतर मन प्रबल है, इसीसे इन्हीं दो इन्द्रियोंका सुख कहा। (ख) 'मधुर मनोहर' इन दोनों शब्दोंको आगे चरितार्थ किया है। 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक' में 'मधुर' शब्दको और 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा' में 'मनोहर' शब्दको चरितार्थ किया है।

(स्मरण रहे कि दोनों भाइयोंकी मूर्ति मधुर और मनोहर है, क्योंकि आगे राजा स्वयं दोनों भाइयोंका देखना कहते हैं, यथा 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥००', 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥' ☞इस प्रसंगभरमें दोनों ही भाइयोंका वर्णन है। अतः इस अर्धालीको केवल श्रीरामजीमें न लगाकर दोनों भाइयों में लगाना चाहिये)।

☞ 'भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी' इति। ☜

पं० रामकुमारजी—१ 'विशेष विदेह' हुए कहनेका तात्पर्य्य यह है कि साथके सब लोग विदेह होगए थे, यथा 'तुलसिदास प्रभु देखि लोग सब जनक समान भए। गी० ६१।' और, जनकजी सबसे विशेष ज्ञाता हैं, इसीसे वे विशेष विदेह हुए। पुनः, भाव कि जनकजी ब्रह्मसुखमें विदेह रहते थे सो श्रीरामदर्शनसे विशेष विदेह होगए क्योंकि ब्रह्मसुखसे श्रीरामजीके दर्शनका सुख विशेष है, यथा 'भए मगन सब देखनहारे। जनक समान अपान बिसारे', "जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नरनारि तेहि सुखमहँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति।७।८८॥" 'अवलोकि रामहि अनुभवत मनु ब्रह्मसुख सौ गुन दिए। जानकीमंगल २५।' [☞श्रीविदेहराजकी इस समय-की दशाका वर्णन गीतावलीमें विशेष रीतिसे वर्णित है। उससे 'विदेह विशेषी' का भाव भली प्रकार समझमें आजायगा; इसीसे उसको हम यहां उद्धृत किये देते हैं। यथा 'देखे रामलषन निमेषैं बिथकित भईं प्रानहु ते पियारे लगे बिनु पहिचाने हैं॥ ब्रह्मसुख हृदय दरस-सुख लोयननि, अनुभये उभय सरस राम जाने हैं। तुलसी बिदेहकी सनेह की दसा सुमिरि मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं। पद ५६।' पुनश्च, 'सुखके निधान पाये, हियके पिधान लाए ठगकेसे लाड़ू खाये, प्रेम मधु छाके हैं। स्वारथरहित परमारथी कहावत हे, भे सनेह बिबस बिदेहता बिबाके हैं॥ २॥ सील सुधाके अगार, सुखमाके पारावार, पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं। लोचन ललकि लागे, मन अति अनुरागे, एकरसरूप चित्त सकल सभा के हैं॥३॥" (पद ६२) पुनश्च यथा 'देखि मनोहर मूरति मनु अनुरागेउ। बँधेउ सनेह बिदेह बिराग बिरागेउ।' (श्रीजानकीमंगल२६)]

२ जैसे 'जनक विशेष विदेह हुए', यह कहकर जनाया कि और सब विदेह होगए थे, वैसेही सब लोगोंके 'बारि बिलोचन पुलकित गाता' कहकर जनक महाराजकेभी नेत्रोंमें जल और शरीरमें पुलकावली-का होना बतादिया। यथा 'भए बिदेह नेह बस देह दसा बिसराए। पुलक गात न समात हरष हिय सलिल सुलोचन छाए। गी० १।६३।'

पाँड़ेजी—"विदेह = देहाभास रहित। विदेहसे विदेह होना देही होजाना है।"

प्रो० श्रीरामदास गौड़जी—राजा जनक विदेह निर्गुण उपासक थे, उन्हें तो संसारकी असारता और ब्रह्मकी नित्यताका ज्ञान निरन्तर बना रहता था। देहमें रहतेभी वे देहरहितसी ही भावना रखते थे। परन्तु परात्परके सगुणरूपके प्रत्यक्ष दर्शनसे उन्हें देहकी साधारण वृत्तियाँभी भूल गईं। अगोचर निर्गुण ब्रह्मकी कल्पना परबुद्धिसेही हो सकती थी जिसमें ये सदा लीन रहते थे। इस समय वह परबुद्धि बरबस ब्रह्मकी कल्पनाको छोड़ इन्द्रियोंकी ओर प्रवृत्त हुई। इन्द्रियाँ सब विषयोंको छोड़ परात्परके सगुण रूपमें लीन हो गयीं। इस प्रकार पहले जो ब्रह्मज्ञान 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्ते' इस धारणासे ब्रह्मकी ओर प्रवृत्त था, 'इन्द्रियाणि रामे वर्त्तन्ते' यह तथ्य देखकर 'बरबस ब्रह्मसुखहि त्यागा', जिस बातका वे स्वयं एक़रार करते हैं।

पं० रामचरणमिश्र—यहाँ 'विशेष विदेह' से यह सूचित होता है कि पहले राजाका मन समाधिमें लय-विक्षेपको प्राप्त होता रहा था अब इस मूर्त्तिके माधुर्य्यमें मनभी हाथसे जाता रहा, बेहाथ होगया। अतः लय-विक्षेपका भय जाता रहा। अब देहका अध्यास और मनकाभी अभ्यास जाता रहा, इससे 'विशेष विदेह' कहा। ☞इस अर्धालीमें 'गोस्वामीजीने उपासनाका तत्व कूट कूटकर भर दिया है। राजा ब्रह्मज्ञानी हैं, ब्रह्मसुखमें निमग्न रहे, अब वह ब्रह्मसुख सरकार-सुखमें लय हो जानेसे अधिक सुखरूप होगया, क्योंकि छोटी पूँजीही बड़ीमें लीन होती है। ब्रह्मज्ञानके ध्यानमें जो प्रकाशरूप है वह श्रीसाकेतविहारीजीका आभासमात्र है, जब राजाको आभासका मूलाधार आश्रयस्वरूप नेत्रगोचर हुआ तब ब्रह्मके ध्यानका फल साक्षात्कार हुआ और यही कहना पड़ा कि 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा'।

पंजाबीजी—'मधुर' से बाह्य इन्द्रियोंको और 'मनोहर' से अंतःकरणको प्रिय जनाया। राजा परम विदेही होगए अर्थात् ज्ञानके बल विदेह तो थे ही अब प्रेमके बल विशेष विदेह हो गए।

बैजनाथजी—मधुर-जिसे देखकर तृप्ति न हो। पहले साधारण विदेह थे, अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंके विषय और मन आदिकी वासनाओंको विवेक-बलसे खींचकर आत्मदृष्टिसे ब्रह्मानंदमें स्वाभाविक ही मग्न रहते थे। वह विदेहता ज्ञानबलके आश्रित थी, इससे साधारण थी। और, यहाँ इन्द्रियोंकी वृत्तिको माधुरीने खींच लिया और मन आदिकी वृत्तिको मनोहरताने; अतः श्रीरामप्रेमानंदके परवश हो स्वरूपमें जो दृष्टि थी वह परस्वरूप रामजीमें लग गई।

रा० प्र०—ब्रह्मस्वरूपमें विदेह हो रहे थे, उन्हें माधुर्यकी भी प्राप्ति हुई, अतः द्विगुण तत्वकी प्राप्तिसे 'विशेष विदेह' कहा। अब तक देह-रहित थे, अब मन-रहित भी हो गए, अतः 'विशेष विदेह' कहा। [यहाँ 'यमक' अलंकार है—प्रथम 'विदेह' राजा जनकका वाचक है और दूसरा 'विदेह' देहाभास रहितके अर्थमें है।]

करुणासिंधुजी—राज्य विषयमें न लिप्त होनेसे ज्ञान-विदेह तो थे ही, अब देहविदेह भी होगए क्योंकि इन्द्रियोंके व्यवहार रुक गए; अतएव 'विशेष' कहा।

मा० त० वि०—ब्रह्मस्वरूप तथा माधुर्य द्विगुणतत्वकी प्राप्तिसे विशेष विदेह हुए। अथवा, विदेहदशा-की शेखी (अभिमान) जो अहंब्रह्मास्मि मानते थे वह बाक़ी न रहगई, किन्तु दासोऽहं भाव उपज आया। अतः 'बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा।'

दोहा—प्रेम मगन मनु जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर।
बोलेउ मुनि पद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर ॥२१५॥

शब्दार्थ—गदगद (गद्गद) गिरा=अधिक हर्ष प्रेम और श्रद्धादिके कारण स्वरके रुक जानेसे रुकरुककर वा असंवद्ध वचन जो निकलें।=प्रेमसे विह्वल दशाके वचन। गँभीर=गहरी। एवं जिसका आशय समझना कठिन हो; गूढ़। बहुत आशय भरी हुई।

अर्थ—मनको प्रेममें मग्न (डूबा हुआ) जान ज्ञानसे धीरज धारण कर राजा मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर गद्गद और गंभीर वाणीसे बोले॥ २१५॥

टिप्पणी—१ 'करि बिबेक धरि धीर' इति। प्रेममें जब मन मग्न होजाता है तब मुँहसे कुछ कहते बोलते नहीं बनता, यथा 'कोउ किछु कहै न कोउ किछु पूछा। प्रेमभरा मन निज गति छूँछा। २।२४२।' राजा प्रेममें मग्न हैं अतः कुछ बोल न सकते थे। इसीसे उन्होंने मनको सावधानकर विवेक किया। विवेक करके धीरज धारण किया। धीरज धरकर तब आगे वचन कहते हैं। 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक' से लेकर 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा।' तक विवेक कहा है।

नोट—पं० रामकुमारजीने दोनों अर्थ दिये हैं। एक तो यह कि 'विवेक करके, धीरज धरके और मुनिके चरणोंमें सिर नवाकर०'। दूसरे यह कि 'विवेक करके, धीरज धारण किया और मुनिके०'। पर प्रधान अर्थ उनका प्रथमही है, क्योंकि आगेकी व्याख्या उसीके अनुसार की है। श्रीरामदास गौड़जीका मतभी यही जान पड़ता है। वे लिखते हैं कि "परात्पर ब्रह्म तो बुद्धि विवेकादि सबसे परे है। 'यो बुद्धेः परतस्तु सः'। बुद्धि विवेक संसारके अन्तर्गत हैं। यहाँ तो वह सामने है 'जेहि जाने जग जाइ हेराई'। अतः बुद्धि विवेक तो उसपर निछावर हो चुके थे। धैर्य्य धर विवेकको बटोरकर मुशकिलसे अक़्ल ठिकाने करके बोले।"

रा० प्र०—"करि विवेक' अर्थात् मनको समझाया कि तू इतनेहीमें क्यों तृप्त होगया? अभी तो तूने एक छटामात्र देखी है, शोभामें डूब जानेसे आगे फिर और व्यवहार हँसी बोलचाल इत्यादि अनेक लीलाओंका रसास्वाद क्योंकर मिलेगा?

टिप्पणी—२ 'बोलेउ मुनिपद नाइ सिरु' इति। श्रेष्ठ लोग, शिष्टपुरुष बड़ोंको प्रणाम करके बोला करते हैं। यथा 'करि प्रनाम मुनि मंडलिहि बोले गदगद बयन। २।२१०।' (भरतः), 'गे नहाइ गुर पहिं रघुराई। बंदि चरन बोले रुख पाई। २।२६०।', 'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान। नाइ रामपदकमल सिरु बोले गिरा प्रमान। १।२५२। (लक्ष्मणः) । इत्यादि। पुनः, भाव कि श्रीरामजीके स्वरूपको जानना चाहते हैं, इसीसे चरणोंमें मस्तक नवाकर पूछते हैं। जिज्ञासूको ऐसाही चाहिये। [श्रीपार्वतीजी, श्रीभरद्वाजजी इत्यादि के उदाहरण इसी ग्रन्थमें मौजूद हैं। जिज्ञासु बनकर श्रीशंकरजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी इत्यादिसे इसी तरह पूछा गया है।]

३ (क) 'गदगद गिरा गँभीर' इति। मन प्रेममें मग्न था, इसीसे वाणी गद्गद है, वाणीका स्वर एवं उसका अर्थ गंभीर है। (ख) यहाँ राजाके मन, वचन और कर्म तीनोंकी दशा कही, तीनों अनुरक्त हैं। 'प्रेम मगन मन जानि नृप' यह मन, 'धरि धीर' यह कर्म और 'बोले मुनिपद नाइ सिरु०' यह वचन है। ["सिर नवाना ('नाइ सिर') कर्म, वाणी (गद्गद गिरा) वचन है। मन, वचन और कर्म तीनों अनुरक्त हैं। तीनोंका उपराम ज्ञानसे कर रहे हैं।" (प्र० सं०)]

पं० दामोदरप्रसाद शर्मा—जब अत्यन्त भारी परिश्रमके पश्चात् जीवको आत्मानंद मिलता है तो वह अपनेही सहज आत्मानन्दीय सुखमें डूबा रहता हुआ अपनी सारी संपत्तिको मुद्दा समझता है, इस समय हम उसे शुद्धात्मा कहते हैं। कारण कि उसमें संसारी विकार नहीं रहता, संसारकी वस्तुयें उसे दुखी नहीं करतीं, उनके उदय अस्तमें वह अपनी लाभ हानि कुछ नहीं समझता, औरकी क्या चली वह अपने शरीरतकको भूल जाता है। ऐसे शुद्ध जीवको हम विदेह कहते हैं।

बस, राजा जनक इसी तरहके विदेह पुरुष थे। आत्मानंदमें वे इतने छके रहते थे कि उन्हें उनकी चित्तवृत्ति संसारकी सुधा माधुरीकी ओर स्वप्नमेंभी नहीं जाने देती थी। विष्णुभगवान्, महाविष्णुभगवान्, विराट् भगवान् और महाविराट् भगवान्को वे अपनीही नाईं विदेह पुरुष मानते थे और इन्हें उसी आत्मानंदके उपासक समझते थे। इन प्रभुओंमेंसे किसी एकभी प्रभुका जब आपको साक्षात्कार हुआ तब आपकी चित्तवृत्तिमें कभी फ़रक़ नहीं देखा गया। ब्रह्मा, विष्णु, महेशादिसे मिलना जुलना और उनके साथ उठना बैठना तो उनके जीवनके मामूली काम रहे हैं। ऐसे अवसरोंपर आत्मानंदरूपी गंभीर सागरमें आप डूबे हुए दिखे हैं। आपकी बराबरी आत्मानंदमें करनेकी यदि कोई दम भरते थे तो सनकादिकही थे। इनकाभी यही हाल रहा है।... सारांश कहनेका यह कि ये भगवान् कोटिके पुरुष आत्मानंदके सामने किसीभी देवदेवादिको कोई माल नहीं गिनते थे। इस बातका Diploma (तमग़ा) इनके भुजदंडोंपर सदैव लटकताही रहता था।

वही जनक महाराज आज श्रीरामलक्ष्मणजीकी अद्वितीय छबिको देखकर बावले होगए। आत्मज्ञान लापता होगया। आत्मानन्द परमानन्दमें जा मिला। वे चकोरवत् देखते रहगए। ज्ञानका पता नहीं। अकथनीय आश्चर्यमें डूब गये और व्याकुल होकर मुनिसे इनका परिचय माँगने लगे। शृङ्खलाबद्ध प्रश्नपर प्रश्न होने शुरू हुए।

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नृपकुलपालक ॥१॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥२॥

शब्दार्थ—'तिलक'—टीका मस्तकपर ललाटपर होता है; इसीसे 'तिलक' का अर्थ है 'शिरमौर, शिरोमणि, भूषण, प्रकाशक इत्यादि।' उभय=दो।

अर्थ—हे नाथ! कहिये, ये दोनों सुन्दर बालक मुनिकुलके भूषण हैं कि राजकुलके पालन करनेवाले हैं (अर्थात् मुनिपुत्र हैं या कि राजकुमार हैं?) ॥ १ ॥ या कि जिस ब्रह्मको वेद नेति-नेति कहकर गाते हैं, वही दो वेष (रूप) धारण करके आया है? ॥ २ ॥

प्रोफे० श्रीरामदास गौड़जी.—विवेक और बुद्धिके प्रेरकने [उरप्रेरक रघुबंसबिभूषन। "धियो यो नः प्रचोदयात्"] प्रत्यक्षमें जनकजीकी वाणीको गड़बड़ा दिया। राजकुमारोंका रूप तो साफ़ कहे देता था कि "नृपकुलतिलक" और "मुनिकुलपालक" हैं क्योंकि राजकुमारोंके मख-रखवारीकी कीर्त्ति तो कभीकी फैलचुकी थी। परन्तु सरस्वतीको सच्ची परन्तु अलौकिक बात मुँहसे निकलवानी थी। विवेकको धैर्य्यपूर्वक समेट लिया है, परन्तु वागिन्द्रिय तो सरकारहीकी स्तुतिमें मग्न है। वह कहती है 'मुनिकुलतिलक' अर्थात् नर-नारायण हैं क्या? अथवा 'नृपकुलपालक' इस ब्रह्माण्डके पालक परम्पराके रक्षक भगवान् विष्णु हैं क्या? [द्विजकुलपालक परशुरामका अवतार होचुका है। जनकजी जानते हैं। इसी लिये यहाँ नृपकुलपालक साभिप्राय है भगवान् विष्णुके लिये।] अथवा 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।' [जनकजीने जो तीन प्रश्न किये वही तीन प्रश्न बटुरूप हनुमान्जी भी किष्किंधाकांडमें करते हैं।] तीनों प्रश्नोंमें अन्तिमपर बड़ा जोर है, कारण, मेरा मन स्वभावसेही नामरूपमयसंसारसे विरक्त है, वहभी इस रूपपर ऐसा मोहित होगया है; मेरी निगाहें इनपर ऐसी अटक गई हैं जैसे चन्द्रमाके रूपपर चकोरकी। सिवा इसके जो मन कि ब्रह्मसुखमें निरंतर डूबा रहता है वह आज बरबसही ब्रह्मानंदहीको छोड़ इस छबिके आनन्दमें डूब रहा है। इत्यादि।

श्रीलमगोड़ाजी—श्री पं० जयदेवशर्म्माजीके सामवेद संहिताके भाषा-भाष्यके अध्ययनसेभी साफ़ पता लगता है कि कहीं तो ईश्वरीय सत्ताके हृदयमें प्रकट होनेकी प्रार्थना है और कहीं उसे बाहरभी प्रकट होना

कहा है। स्वामी दर्शनानन्दजीनेभी अपने उपनिषदोंके अनुवादमें लिखा है कि जीवभी जब ईश्वरमें लीन होता है तो आगमें लालहुये लोहेके गोलेकी तरह अपनेको अग्नि (ईश्वर) ही मानता है। उन्होंने अपने वेदान्तभाष्यमें लिखा है कि जीवन्मुक्त आचार्य्योंने अपनेको 'स्व' (ब्रह्मरूप) कहा है। बात केवल दृष्टिकोण-की रह जाती है। कोई अवतार कहे कोई प्रकट होना।

नोट—अध्यात्म रामायणमें श्रीजनकजीके वचन हैं कि 'ये मेरे हृदयमें इस समय नर और नारायणके समान प्रीति उत्पन्न कर रहे हैं, यथा "मनः प्रीतिकरौ मेऽद्य नरनारायणाविव ।१।६।८।" इससे गौड़जीके भावकी भी पुष्टि होती है। और वाल्मीकीयमें कहा है कि ये दो देवता मालूम होते हैं जो अपनी इच्छासे देवलोकसे मर्त्यलोकमें आये हैं। (वाल्मी· १.५०.१६)।

टिप्पणी—१ 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक ।०' इति। (क) प्रथमही 'सुंदर दोउ' यह शब्द राजाके मुखसे निकलकर राजाके अन्तःकरणकी सौंदर्य्यपर मुग्धताका परिचय देरहा है। सुन्दरताने राजाके मनमें घर बनालिया, मनको हरलिया है। यथा 'ए कौन कहाँ ते आए। नीलपीत पाथोज-बरन मनहरन सुभाय सुहाए ।। गी० ६३ ।' (ख) ['बालक' शब्द वात्सल्यस्नेहका द्योतक है। (पं०)]। (ग) 'मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक' इति। इससे पाया गया कि जब दोनों भाई फुलवाड़ी देखने गए तब धनुषबाण नहीं लिये थे, इसीसे राजाको संदेह हुआ कि ब्राह्मण हैं या क्षत्रिय। मुनिके साथ हैं इससे मुनिपुत्र होनेका संदेह हुआ और अंगोंमें राज्यलक्षण देखकर राजपुत्र होनेका संदेह हुआ। [वा, यह समझकर कि मुनिके कोई पूर्वके सम्बन्धी न हों 'नृपकुलपालक' कहा। (रा० प्र०)। "श्रीरघुबीरने अरण्यकांडमें कहा है कि हम 'मुनिपालक खलसालक बालक' हैं। जनकजीकी वाणीमें गड़बड़ी उड़ गई है, यह इस वचनसे सप्रमाण सिद्ध होता है" (पं प. प्र.)]। (घ) "मुनिकुलतिलक०" कहनेका भाव कि यदि मुनिपुत्र होंगे तो समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ होंगे और यदि राजपुत्र होंगे तो राजकुलके पालक अर्थात् किसी चक्रवर्ती राजाके पुत्र होंगे। क्योंकि ब्रह्मका अवतार जहाँभी होगा वहाँ सबसेही श्रेष्ठ होगा। आगे ब्रह्मके अवतारका अनुमान करते हैं। [और त्रेतामें नररूपसे अवतार दोही कुलोंमें होते हैं, या तो ब्रह्मकुलमें या क्षत्रियकुलमें। अतः यदि ब्रह्म हैं तो इन्हीं दोमेंसे एकमें होंगे]। (ङ) मुनिके साथ हैं इसीसे प्रथम मुनिकुलतिलक कहा। (च) प्रथम व्यवहारकी बात पूछकर तब परमार्थका प्रश्न करते हैं क्योंकि व्यवहारके अंतमें परमार्थ है।

२ 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा ।०' इति। (क) मनके हरण होजानेसे अब ब्रह्मके अवतार का अनुमान करते हैं, क्योंकि जनकजीका मन 'विरागरूप' है, वह ब्रह्मको छोड़ दूसरी जगह अनुराग नहीं करसकता। (ख) 'नेति कहि गावा' अर्थात् वेद 'न इति' कहता है अर्थात् यह ब्रह्म नहीं है, यहभी ब्रह्म नहीं है। तात्पर्य्य कि वेद यह निश्चय नहीं कर सकते कि यही है। (वा, इनकी इति नहीं है, जो हमने कहा इतना ही नहीं है)। (ग) 'उभय बेष धरि की सोइ आवा' इस कथनसे पाया गया कि ब्रह्म सगुणरूप धारण करता है। (यह इतने बड़े योगेश्वर ब्रह्मज्ञानी श्रीजनकमहाराजका सिद्धान्त है)। यही श्रीशंकर-भगवान्‌का मत है, यथा 'जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयेउ कोसलपुरभूपा। १४१।२।' जिनका मत है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता वे भ्रममें पड़े हुए हैं, यह मत उनके भ्रम और अज्ञानताका सूचक है। क्योंकि जहाँ सतीजीका अज्ञान और भ्रम कहा गया है वहाँ ऐसा लिखा है कि ब्रह्म अवतार नहीं लेता, यथा 'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद। ५०।' (घ) 'आवा' इति। 'ब्रह्म तो सर्वत्र पूर्ण है आया कहाँ से ? 'आवा' कैसे कहा ? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्मका वेष धारण करना कहते हैं, तब उसका आना जाना भी कहा जाता है। सगुणका आना और जाना दोनों होता है। हमारे यहाँ रूप धरकर आया। (वा, श्रीअवधमें रूप धारण करके प्रकट हुआ और वहाँसे हमारे यहाँ आया)। [श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि "राजा निरवयव ब्रह्मनिष्ठी हैं, इसलिये उन्होंने कहा

कि ब्रह्म तो नहीं हैं जो दो स्वरूप धरकर आए हों। यह सावयव ब्रह्ममूर्ति अतएव संदेह किया।"] ☞आगे ब्रह्म अनुमान करनेका कारण बताते हैं कि 'सहज बिरागरूप०'। पुनः 'उभय बेष धरि०' का भाव कि जैसे ब्रह्म विलक्षण है, वैसाही उसने विलक्षण रूप धरा है; एकसे दो होगया।

नोट—१ गीतावलीमें बहुत तरहसे अनेक उपमायें देकर राजाका मुनिसे पूछना लिखा है जो पढ़ने योग्य हैं। यथा "ए कौन कहाँ ते आए। मुनिसुत किधौं भूपबालक किधौं ब्रह्मजीव जग जाए। रूपजलधिके रतन सुछबि तिय लोचन ललित ललाए ॥ २॥ किधौं रबिसुवन मदन रितुपति किधौं हरिहरको बेष बनाये। किधौं आपने सुकृतसुरतरु के सुफल रावरेहि पाये ॥ ३॥ गी० १।६२।"

२ ☞श्रीरामलक्ष्मणके प्रभावमें माधुर्य्य और ऐश्वर्य्यका मिश्रण विचारणीय है। महाकाव्यकला और नाटकीयकलाका एकीकरण बड़ा सुन्दर है, मगर मजा यह है कि ब्रह्मत्व माधुर्य्य-पूर्ण-शृंगारमें प्रकट हुआ है, इससे श्रीजनकजीको भ्रमसा है कि ब्रह्मसुख छूट गया। बड़े लुत्फ़की बात है कि अभी वह यह नहीं समझते कि ब्रह्मत्व ही प्रकट हुआ है और उनके मनकी दिशासूचक सुई इसलिये अपने ध्रुवपर जा लगी। (राजारामशरणजी)।

सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥ ३ ॥
ताते प्रभु पूछौं सतिभाऊ। कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—थकित = मोहित, ठिठककर लगे रहजानेकी क्रिया। सति भाऊ = सद्भावसे।

अर्थ—मेरा मन जो स्वाभाविकही वैराग्यका रूप (साक्षात् वैराग्यकी मूर्ति) ही है (इनको देख कर) इस तरह थकित होरहा है जैसे चन्द्रमाको देखकर चकोर थकित होता है ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! इसी-लिये मैं आपसे सच्चे भावसे पूछता हूँ। स्वामिन् ! कहिये, बताइये। छिपाव न कीजिये (कोई बात छिपाइयेगा नहीं) ॥ ४ ॥

नोट—कदाचित् मुनि कहें कि अभी तो इन्हें राजकुमार कहते थे, अब ब्रह्म कैसे निश्चय करते हो; उस पर कहते हैं—'सहज…'।

टिप्पणी—१ 'सहज बिरागरूप मन मोरा।०' इति। (क) 'सहज बिरागरूप' अर्थात् विना किसी साधनके स्वतः जन्मसेही विषयोंसे वैराग्यवान् है, विषयोंमें लिप्त नहीं हुआ। ['विरागरूप' कहनेका भाव यह है कि मेरा मन मानों मूर्तिमान् वैराग्यही है, क्योंकि यदि मन और वैराग्य पृथक् पृथक् रहते (होते) तो मनसे वैराग्य कभी कभी छूट भी जाता, उसको किसी पदार्थमें राग हो जाना सम्भव था; पर यहाँ ऐसी बात नहीं है, यहाँ मन वैराग्यका रूप होगया, इसीसे वह वैराग्यसे पृथक नहीं होसकता। तात्पर्य्य कि मेरे मनमें सदा वैराग्य बना रहता है] | (ख) वैराग्यके साधन अरण्यकांडमें यों कहे हैं,—'प्रथमहि बिप्रचरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥ एहि कर फल पुनि बिषय बिरागा।३।१६।' जनकजीमें वैराग्यके ये सब साधन प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, तब बिना साधन वैराग्यरूप कैसे कहा ? 'विना साधन' का भाव यही है कि बालपनेसेही ये सब बातें हमारे मनमें अपनेसेही मौजूद थीं, हमें जन्मके बाद कोई साधन वैराग्य-प्राप्तिके करने नहीं पड़े। यथा 'मुनिगन गुर धुरधीर जनक से। ज्ञान अनल मन कसें कनक से ॥ जे बिरंचि निरलेप उपाए। पदुम पत्र जिमि जग जल जाए। २।३१७।'

नोट—१ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'नटकृत कपट बिकट खगराया। नटसेवकहि न ब्यापइ माया।' पुनः यथा "माया बलेन भवताविनि गुह्यमानम् पश्यन्ति केचिदनिशं त्वदनन्यभावाः।" अर्थात् मत्स्यादि अवतारोंमें तो प्रभु भक्तोंसे छिप न सके तब यहाँ कैसे छिप सकते थे। २—'उभय बेष धरि की सोइ आवा' उसीकी पुष्टि यहां कर रहे हैं। या यह कहिये कि "यह कैसे निर्णय किया कि ये ब्रह्म हैं ?'

इसका उत्तर यहां दे रहे हैं कि निर्विकल्प समाधिको छोड़कर मेरे मनने इनमें सुख माना है। मुझे विश्वास है कि मेरा मन कदापि प्राकृत पदार्थमें आसक्त नहीं होसकता।"—(पंजाबीजी, रा० प्र०)।

३ ☞स्मरण रखे' कि ब्रह्मनिष्ठ अनुभवी महात्माओंके अनुभव सदा सत्यही होते हैं। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीका अनुभव ब्रह्मके साक्षात्कार होनेपर हुआ—'की तुम्ह अखिल भुवनपति लीन्ह मनुज अवतार।' इसी तरह अयोध्याकांडमें तापसके विषयमें जो कहा गया है कि 'मनहु प्रेम परमारथ दोऊ', इनमेंसे श्रीरामजी तो 'ब्रह्म परमारथरूपा' हैं ही, दूसरा सिवाय 'प्रेम' (मूर्तिमान) के और कौन होगा ? विचार करें। आगे प्रेमकी दशा दिखानी है, अतः वह स्वयं आकर दिखा रहा है।

टिप्पणी—२ 'थकित होत जिमि चंद चकोरा।' इति। (क) चन्द्-चकोरकी उपमा देनेका भाव कि जैसे चकोर सबसे विरागी होकर चन्द्रमाकी छबिको देखकर थकित होता है, वैसेही हमारा सबसे विरागी मन राजकुमारोंकी छबि देखकर थकित हुआ है। दोनों राजकुमारोंकी छबि देखकर जनकजी विशेष विदेह होगये थे, इसीसे उन्होंने चन्द्र-चकोरकी उपमा दी। चन्द्रमाको देखकर चकोर विदेह हो जाता है। ☞सगुण ब्रह्मके दर्शनमें भक्तोंको चकोरकी उपमा दीगई है, यथा 'देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहिं जिमि हरिजन हरि पाई। ३।१७।७।' उदाहरण यथा 'मुनि-समूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर। ३।१२।' (ख) जनकजी अपने मनकी वृत्तिसे इनको ब्रह्म निश्चय करते हैं, यथा 'सतां हि सन्देह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।' शकुन्तलानाटके।१।१९।' (ग) चकोर पक्षी जड़ है, मूर्ख है। वह यह नहीं जानता कि चन्द्रमा कौन है ? किसका पुत्र है ? केवल उसकी सुन्दरतापर रीझता है। वैसेही हम इनको नहीं जानते। जैसे चन्द्रमाको देख चकोर देहसुध भूल जाता है, नेत्र नहीं फेरता, टकटकी लगाये रह जाता है, वैसीही हमारे मनकी दशा होरही है, वह वहीं स्थकित होकर रह गया है, इनको छोड़ता ही नहीं।—यहाँ उदाहरण अलंकार है। (प्र० सं०)]

३ 'तातें प्रभु पूछौं सतिभाऊ।०' इति। [(क) तातें = इसलिये। अर्थात् अपने वैराग्यरूप मनकी अनुरक्त दशा देखकर मुझे संदेह हो रहा है, मैं कुछ निर्णय नहीं कर सकता, इसलिये मैं पूछता हूँ। संभव है कि मुनि मनमें समझें कि राजा बड़े भारी योगेश्वर हैं, इन्होंने श्रीरघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान लिया, इनके यहाँ बड़े बड़े योगेश्वर शिक्षा लेने आते हैं, ये अवश्य हमारी परीक्षा लेनेके लिये प्रश्न कररहे हैं। अर्थात् इनके प्रश्नपर असद्भावका आरोपण होसकता था; इसीसे ये प्रथमही कहरहे हैं कि 'पूछौं सतिभाऊ' अर्थात् समीचीन भावसे, सच्चे भावसे, सत्यही अपने जाननेके लिये जिज्ञासू होकर पूछ रहा हूँ। यह न समझिये कि ये बड़े ज्ञाता हैं, हमसे किस भावसे पूछते हैं।] (ख) 'जनि करहु दुराऊ' इति। इस कथनकाभी यही प्रयोजन था। दुराव करनेकी भी यहाँ जगह है क्योंकि श्रीरामजीको अपना ऐश्वर्य सुनकर अच्छा नहीं लगता, यथा 'सहज सरूप कथा मुनि बरनत रहत सकुचि सिर नाई। विनय १६४।' वे अपने ऐश्वर्य्यको माधुर्य्यमें छिपाते हैं; इसीसे बड़े लोग ऐश्वर्यको नहीं खोलते और फिर उनके सामनेही उनका ऐश्वर्य्य प्रकट करें, इसमें तो अवश्य संदेह है। अतः कहा कि छिपाइयेगा नहीं, स्पष्ट करके कहिये। भाव यह कि भगवान्‌के स्वरूपमें संशय न रखना चाहिये। संशय हो तो उसको तुरत साफ़ कर लेना चाहिये, संदेह मिटा लेना चाहिए, क्योंकि संशयके गये बिना रामस्वरूप नहीं समझ पड़ता, यथा 'तुम्ह कृपालु सब संसउ हरेऊ। रामस्वरूप जानि मोहि परेऊ। १२०।२।' अतः मेरे संशयकी निवृत्ति कर दीजिये। ☞'सति भाउ' सच्चे भावमें दुराव नहीं होता, इसीसे कहते हैं कि दुराव न कीजिये, मैं सद्भावसे सच्चे भावसे पूछता हूँ।

नोट—४ पंजाबीजी लिखते हैं कि मुनीश्वरसे पूछनेमें राजाका भाव यह है कि जैसे कोई जौहरी

अमूल्य रत्नको स्वयं परखता है और अपनी बुद्धिकी परीक्षाके निमित्त अन्य पारखियोंसे भी निर्णय कराता है वैसे ही यह अपने अनुभवको निश्चय करना चाहते हैं ।

इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ॥५॥

अर्थ—इन्हें देखतेही (मेरा) मन इनमें अत्यन्त अनुरक्त (आसक्त, प्रेममय, प्रेमरंगमें रँगा हुआ) होगया, (वा, मेरा मन इन्हें अत्यन्त अनुरागसे देख रहा है), और उसने जबरदस्ती ब्रह्मसुखको छोड़ दिया है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिलोकत अति अनुरागा' का भाव कि मन अत्यन्त विरागी था सो इनके ऊपर अति अनुरागी होगया। (ख) 'बरबस त्यागा' का भाव कि हम ब्रह्मसुखका त्याग करना नहीं चाहते पर हमारा मन उसे त्याग रहा है। इससे पाया जाता है कि ब्रह्मसुखसे सगुण-सुख अधिक है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म जब सगुण होता है तभी उसकी शोभा अधिक होती है, यथा 'फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा ॥ ४।१७।' जैसी शोभा हुई वैसाही सुख हुआ। (ग) 'ब्रह्मसुखहि' कहनेका भाव कि योगी ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं, यथा 'ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा। २२।२।' (घ) ☞अर्धालीका भाव यह है कि मन ब्रह्मसुखको अनुभव करता है और इनको नेत्रों द्वारा देख रहा है; इसीसे इनमें 'अति' अनुराग है। अनुभवसे साक्षात् दर्शन करनेमें अधिक सुख है; इसीसे मनने ब्रह्मसुखको बरबस त्याग दिया। ☞(ङ) 'प्रेम मगन मन जानि नृप'—मन प्रेममें मग्न है, अत कहा कि 'सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा।' और 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा।' यथा 'जेहि सुख लागि पुरारि असिव बेप कृत सिव सुखद।०'

नोट—'अति' का भाव कि ब्रह्मसुखमें अनुराग था, इनमें अति अनुराग है। 'बरबस' का भाव भी इसी 'अति अनुरागा' से जना दिया है अर्थात् ब्रह्ममें सुख था और इनमें 'अति सुख' अनुभव कर रहा है। (प्र० सं०)।

कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका । बचन तुम्हार न होइ अलीका ॥६॥

शब्दार्थ—अलीका = मिथ्या, झूठा, मर्यादारहित, अप्रतिष्ठित, बेसिरपैरका।

अर्थ—मुनिने हँसकर कहा कि राजन् ! आपने अच्छा (अर्थात् यथार्थही) कहा। आपका वचन झूठा नहीं होसकता ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ 'कह मुनि बिहँसि कहेहु नृप नीका।०' इति। (क) यह हँसी प्रसन्नताकी है। राजाकी पहुँचपर विश्वामित्रजी प्रसन्न हुए कि खूब समझे। मुनिने सोचा कि राजा बड़े चतुर हैं, इन्होंने श्रीरघुनाथजीका वास्तविक स्वरूप जान लिया कि जिसमें हमभी भूल गए थे। (ख) "कहेहु नीका" अर्थात् जो आपने कहा वह सत्य है, आपका वचन यथार्थ ही है। इन शब्दोंने राजाके वचनोंकी प्रशंसा करके मुनिने उनके अनुमानको सही बताया, इतनेहीसे श्रीरामजीका ब्रह्म होना उनको निश्चय करादिया। ☞यही मुनिका उत्तर देना है। इस उत्तरमें दोनों बातें रहीं। राजाका उत्तरभी होगया और स्पष्ट रूपसे श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य्य भी न खुला। इस तरह मुनिने राम और राजा दोनोंकी रुचि रक्खी। श्रीरघुनाथजीका ऐश्वर्य्य सूचनमात्र किया क्योंकि वे पास बैठे हैं, उनको ऐश्वर्य्यकथनसे संकोच होता है। आगे माधुर्य खोलकर विस्तारसे कहते हैं। [☞श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी) इस मौक़ेपर लिखते हैं कि 'यही ठीक है, मगर यहाँ हास्यरसका वह आनन्दभी है जो उस समय होता है जब कोई मित्र भेस बदलकर आवे और हम कुछ पहिचानें और कुछ भ्रम हो और एक तीसरे मित्रको सही करनी पड़े। भ्रम, पहिचान और सही तीनों यहाँ हास्यरसके अङ्ग हैं।'] (ग) राजाने जो कहा था कि 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस

ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा' यह बात मुनिको बहुत अच्छी लगी, इसीसे वे उनकी सराहना करते हैं। 'नीक कहेहु' में राजाके अन्तिम वचनकाभी उत्तर आगया। तात्पर्य्य कि ये ब्रह्महो हैं, इनमें ब्रह्मसुखसे अधिक सुख है, ब्रह्मसे ये अधिक प्रिय हैं—यही बात आगे कहते हैं।

नोट—१ हँसनेके और भाव ये हैं—(क) मुनि हँसे कि "अभीतक निर्गुण ब्रह्महीमें सुख मानते थे, यथार्थ सुखका अनुभव आज हुआ।" (ख) "अभीतक ज्ञानको सुख मानते थे, वह आज प्रेमकी एकही चोटमें चूर्ण होगया।" (वै०, रा० प्र०)। (ग) "जैसे किसीके पास कोई अलभ्य पदार्थ छिपी हो और उसे देखकर कोई दूसरा तुरत पहिचान ले तो वह प्रथम मनुष्य प्रसन्न होता है, इसी तरह श्रीरामजीके वास्तविक स्वरूपकी पहिचानसे मुनि प्रसन्न हो हँसे।" (पं०)। (घ) अभी तो प्रश्न करते हैं और तुरत ही इनके बड़े संयोग (सम्बन्ध) और आनन्द होने हैं यह भावी विचारकर हँसे। (पं०)।

२ (क) "राजाने प्रथम देहभावका प्रश्न किया—'मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक'। फिर आत्म-भावका प्रश्न किया-'जो निगम नेति०'। मुनि आत्मभावके प्रश्नका उत्तर प्रथम देरहे हैं।" (वै०)। (ख) 'न होइ अलीका' इति। ☞ स्मरण रहे कि ब्रह्मज्ञानी, जिसको ब्रह्मका सदा Communion साक्षात्कारसाही रहता है, जिसका मन सदा उठते बैठते चलते फिरते सोते जागते सभी अवस्थाओंमें भगवान्के सन्निधिमें ही रहता है, जो सदा भगवान्‌हीकी बातें करता रहता है, उसका अनुभव कभी असत्य नहीं होता। [श्री १०८ सीतारामशरण भगवान्प्रसाद (श्रीरूपकलाजी) इसके एक ज्वलन्त उदाहरण इस घोर कलिकालमेंभी साक्षात् देखनेमें आए।] (ग) जहाँ सन्देहालंकार होता है वहाँ ब्रह्मज्ञानीके मनमें जो अनुभव आता है, वही यथार्थ होता है'। (रा० कु०)।

ये प्रिय सबहि जहां लगि प्रानी। मन मुसुकाहिं रामु सुनि बानी ॥७॥

अर्थ—(संसारमें) जहाँतक (जितनेभी) प्राणधारी जीव हैं उन सभीको ये प्रिय हैं। (मुनिके ये) वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी मनमें मुस्करा रहे हैं ॥ ७ ॥

❀ 'ये प्रिय सबहि जहां लगि प्रानी' इति। ❀

नोट—१ इस एक छोटेसे पदमें बृहदारण्यकोपनिषद्के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयि-सम्वादका निचोड़ है। इससे विश्वामित्रजीका इशारा परमात्माकी ओर है जो जनकजीके लिए स्पष्ट है, परन्तु जगत्के लिए गूढ़ है। भगवान्के ऐश्वर्यको अपनी वाक्चातुरीसे बताया और छिपाया भी। इसपर भगवान् मनही मन मुस्कुराये। (गौड़जी)।

टिप्पणी—१ "ये प्रिय सबहि···" इति। (क) 'ये प्रिय सबहि' अर्थात् कुछ आपहीको प्रिय नहीं हैं, ये तो सभीको प्रिय हैं। (ख) 'जहाँ लगि प्रानी' अर्थात् प्राणीमात्रको प्रिय हैं। 'प्रानी' शब्दमें भाव यह है कि जितने भी प्राणधारी हैं, उन सबोंके ये प्राण हैं। यथा 'प्रान प्रान के जीवन जी के।', 'प्रान प्रान के जीव के जिव सुख के सुख राम। २। २९०।' प्राण सबको प्रिय है, यथा 'देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। २०८।४।' और ये जहाँतक भी प्राणवाले हैं उन सबोंको प्रिय हैं अर्थात् उनके प्राणोंके भी प्राण हैं। 'सबको प्रिय होना' यह ब्रह्मका लक्षण है। यथा "अस्ति. भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंश पंचकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततोद्वयम्।" [अर्थात् सत्-अस्ति, चित्-भाति और प्रिय-आनन्द ब्रह्मके इन तीन लक्षणोंमेंसे यहां केवल 'प्रिय'-आनंद यह लक्षण कहकर इनको ब्रह्म जना दिया। प्रथम संस्करणमें इसीको इस प्रकार लिखा गया था, कि ब्रह्म तीन गुणोंसे जाना जाता है—स्थिर, क्रान्ति और प्रिय। मुनिने इसमेंसे 'प्रिय' गुणद्वारा ब्रह्मका स्वरूप लक्षित कर दिया। 'प्रिय सबहिं जहां लगि प्रानी', यथा 'येन प्राणः प्रणीयते' इति श्रुतिः। [मा०त०वि०)]

२ श्रीजनक महाराजने जो कहा था कि 'सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद

चकोरा।' उसीपर मुनि कहते हैं कि 'ये प्रिय सबहि जहां लगि प्रानी।' अर्थात् इनको देखकर जो दशा आपकी हुई है, वही दशा सब प्राणियोंकी होती है। आपका मन ब्रह्मसुखको छोड़कर इनमें अनुरक्त हो रहा है और जैसे आप इन्हें देखकर सुखमें, अति आनंदमें, मग्न हुये हैं, इसी तरह सब प्राणियोंका मन विषयोंको छोड़कर इनमें अनुराग करता है और सब प्राणी मग्न होते हैं।" यथा 'भए मगन सब देख-निहारे। जनक समान अपान बिसारे।', 'खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही।२.१२३।', 'तिन्ह की ओट न देखिअ बारी। मगन भए हरिरूप निहारी। ६। ४।' इत्यादि। (जलचर, थलचर और नभचर संसारमें यही तीन प्रकारके जीव हैं। तीनोंका एक-एक उदाहरण मानससे ही देकर जना दिया कि सभी प्रभुकी छबि देखकर मग्न हो जाते हैं)। इस तरह 'सबहि' से जनाया कि इनके रूपमें ज्ञानी, अज्ञानी सभी बराबर (एक समान) मोहित होते हैं, सभीको ब्रह्मानन्दसे अधिक आनंद प्राप्त होता है। तात्पर्य कि इस अंशमें सब जीव तुम्हारेही समान हैं। यह बात शब्दोंके अभिप्रायके अन्तर्गत है, स्पष्ट नहीं है।—यह समझकर श्रीरामजी मुस्कुराये कि जनक महाराजके समान कोई नहीं है, किंतु मुनिने अपनी युक्तिसे सभी जीवोंको उनके समान कहा। इतने बड़े योगेश्वरको भी सबके समान कर दिया। [और भाव ये कहे जाते हैं—ये तो देहधारीमात्र यावत् चराचर जीव हैं उन सबोंको प्रिय हैं और आप तो 'चैतन्य तत्ववेत्ता हैं' तब आपको प्रिय लगे तो कौन आश्चर्यकी बात है? (वै०)। जो ब्रह्मानंद आपको प्रिय है वह सबको प्रिय नहीं है, यथा 'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी।' और ये तो सभी चराचरको प्रिय हैं। (पं० रामकुमार)]

नोट—२ सब प्राणियोंके प्रिय कहकर संकेत किया कि ये प्राणोंके प्राण हैं, और प्राणोंके प्राण होनेसे ब्रह्म हैं। इस तरह उनका लक्ष्य श्रीजनकमहाराजको याज्ञवल्क्यजीके, "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः। ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्। बृ० ४।४।१८।" (अर्थात् जो उसे प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका मन मानते हैं; वे उस सनातन और मुख्य ब्रह्मको जानते हैं), इस उपदेशकी ओर हैं।

३ विश्वामित्रजीके 'ये प्रिय सबहि जहां लगि प्रानी' इस कथनका आशय यही जान पड़ता है कि समस्त प्राणीमात्रको ये प्रिय हैं। जो लोग इनको देखते या सुनते हैं उन्हींको ये प्रिय होते हैं यह आशय उपर्युक्त वाक्यसे नहीं झलकता किंतु जो इनको नहीं जानते हैं उनको भी ये प्रिय हैं और कभी भी किसीको अप्रिय नहीं हैं यही ध्वनि मुनिके वाक्यमें है।

इसपर शंका होती है कि "नित्य हमारे अनुभवमें आरहा है कि भगवान् प्रायः सबको प्रिय नहीं होते और यदि क्वचित् किसीको प्रिय भी हुए तो प्रायः स्वार्थका संबंध लेकर ही। तभी तो सब लोग दुःखी हैं। यही आशय गोस्वामीजीके यत्र-तत्रके वाक्योंका है, यथा 'सुनु नृप जासु बिमुख पछिताहीं। जासु भजन बिनु जरनि न जाहीं। २। ४। ७।', 'सहज सनेही राम सों तैं कियो न सहज सनेहु। ताते भवभाजन भयउ सुनु अजहुँ सिखावन एहु। वि० ११०।' इत्यादि। तब 'ये प्रिय सबहिं...' का तात्पर्य क्या है?"

समाधान यह है कि प्रत्येक प्राणीको अविनाशी और अत्यंत सुख ही प्रिय है, वह निरंतर उसीके प्रयत्नमें लगा रहता है। वह अविनाशी सुख कहां है और कैसे प्राप्त हो सकता है यह यथार्थ न जाननेसे वह स्त्री-पुत्र-धन-धाम आदि विषयोंमें प्रेम करता है और वह सुख न प्राप्त होनेसे दुःखी होता है। विनयमें भी कहा है "आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा। मृग-भ्रम-बारि सत्य जिय जानी। तहँ तू मगन भयउ सुख मानी। वि० १३६।"

महर्षिजीका तात्पर्य यह है कि जो अविनाशी अत्यंत सुख सब प्राणियोंको प्रिय है, वह ये 'श्रीरामजी' ही हैं, यथा 'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। १९७।५-६।',

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी । सत चेतन घन आनंदरासी । १ । २३ । ६ ।', 'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहं भूप । ७. ४७ ।', 'भगत कलपतरु प्रनतहित कृपासिंधु सुख धाम । ७. ८४ ।'

नोट—४ 'मन मुसुकाहिं रामु'' के भाव —(क) कैसी गुप्त रीतिसे मुनीश्वरने मेरा यथार्थ स्वरूप राजाको लक्षित करा दिया यह समझकर हँसे और हँसीको प्रकट न किया क्योंकि इससे गंभीरतामें दोष आता। (पं०) । (ख) मनमें मुस्कुराये क्योंकि गंभीर हैं। पुनः भाव कि जब मुनि ऐश्वर्य खोलने लगे तब श्रीरामजी मुस्कुराये। भगवान्‌की मुस्कान माया है। मुस्कुराये अर्थात् अपनी माया मुनिपर डाल दी। माया डाली जिसमें ऐश्वर्य न खुले। मायाका आवरण पड़ते ही मुनि ऐश्वर्य छोड़कर माधुर्यकी बात कहने लगे। मायाका यह प्रकट प्रभाव देख पड़ा कि कहाँ तो वे "ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी" यह ऐश्वर्य कह रहे थे और कहां 'रघुकुलमनि दसरथ के जाये'' यह माधुर्य कहने लगे। (पं० रामकुमार)। जितना रहस्य मुनिजीने खोल दिया इतनेसेही जनकमहाराज अपने अनुभवानुसार जान गए हैं। अधिक खोलनेसे नरलीला नीरस हो जाती; अतः मनोमय मुस्कानसे मायाको प्रेरणा दी। (प. प. प्र.) । (ग) प्रकट मुस्कानेसे लोग समझेंगे कि अपनी बड़ाई सुनकर प्रसन्न होते हैं। (अपनी प्रशंसा सुनकर प्रसन्न होना दोषमें दाखिल है, यह आत्मश्लाघा दोष कहलाता है)। श्रीरामजी अपनी प्रशंसा सुनकर संकोचको प्राप्त होते हैं, यथा 'सुनि मुनि बचन प्रेम-रस-साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने। २।१२८।१।', 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।३।४६।' यह सज्जनोंके लक्षण हैं। (पं० रामकुमारजी)। (घ) जैसे विश्वामित्रजी जनकजीके ठीक अनुभवसे, श्रीरामजी ब्रह्महो हैं यह जान लेनेसे, 'बिहँसे' थे, वैसेही श्रीरामजी हँसे कि इन्होंने हमें जान लिया। कितना ही अपनेको हम क्यों न छिपावें अनुभवी प्रेमी भक्त जानही लेते हैं। (पं० रामकुमार)। (ङ) विश्वामित्रजीकी विलक्षण उक्तिकी वाणी सुनकर मनमें मुस्कुराये। इस तरह मुनिको जनाया कि इन वचनोंके अभिप्रायमें शुद्ध ऐश्वर्य दर्शित होता है, आप शुद्ध ऐश्वर्य न कहकर माधुर्य देशमें ऐश्वर्य कहिये। मुसुकानेका अभिप्राय समझकर मुनि राजाके प्रथम प्रश्नके उत्तरके व्याजसे माधुर्यदेशमें ऐश्वर्य कहने लगे। (वै०)। (च) यहां श्रीरामजीके मुस्कुरानेमें ऐश्वर्य न कथन करनेकी व्यंजनामूलक गूढ़ व्यंग है। यदि सच्चा भेद विश्वामित्रजी प्रकाश कर देंगे तो 'रावन मरन मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साँचा।' इस कार्यमें विघ्न उपस्थित होगा। श्रीरामचन्द्रजीके संकेतको समझकर मुनि लोकमर्यादाके अनुसार कहने लगे। यह 'सूक्ष्म अलंकार' है। (वीरकवि) । (छ) मुस्कुराये जिसमें लोग लड़का जानें। (रा० प०)। मनकी 'मुस्क्यान' मुखचन्द्रकी झलकसे जाना। (रा० प० प०)। (ज) जनकजी और विश्वामित्रजी दोनोंकी वाणी सुनकर मुस्कराये, यह सूचित करनेके लिये 'मुसुकाहिं' बहुवचन क्रिया लिखी। (पं० रामकुमार)। (परंतु बड़े लोगोंके लिये बहुवचन क्रियाका प्रयोग साधारणतः किया ही जाता है)।

रघुकुलमनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाए ॥ ८ ॥

दोहा—रामु लषनु दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम।
मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम ॥२१६॥

अर्थ—ये रघुकुलमणि श्रीदशरथजी महाराजके पुत्र हैं। हमारे हितके लिये राजाने इन्हें भेजा है ॥८॥ राम लक्ष्मण (नाम हैं) दोनों श्रेष्ठ भाई रूप, शील और बलके धाम (स्थान) हैं। सारा जगत् साक्षी है कि इन्होंने राक्षसोंको संग्राममें जीतकर हमारे यज्ञकी रक्षा की ॥ २१६ ॥

टिप्पणी—१ (क) राजाने बालकोंका कुल पूछा था—'मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक'। इस प्रश्नका उत्तर यहाँ देते हैं। प्रश्नमें 'कुल' शब्द है, वैसेही यहाँ उत्तरमें 'कुल' शब्द है। रघुकुलमणि श्रीदशरथजी

हैं। (ख) वहाँ मुनिके संग आनेसे मुनिपुत्र होनेका संदेह हुआ; इसीपर मुनि कहते हैं कि हमारे साथ ये राजाके भेजनेसे आए हैं। (ग) 'मम हित लागि' का भाव कि राजाने केवल हमारे हितार्थ, हमारे यज्ञ-रक्षार्थही भेजा था, यहाँ आनेको नहीं, यहाँ तो हम अपनी ओरसे लिवा लाए हैं। (घ) इतनेही शब्दोंमें मुनिने सारी बातें कह दीं। अर्थात् कुल कहा, पिताका नाम कहा, जाति कही ('नरेश' से क्षत्रिय वर्ण जनाया), ऐश्वर्य्य कहा (रघुकुलमणिसे रघुकुल और उसके मणि दशरथजीका ऐश्वर्य्य सूचित हुआ), ('ममहित लागि' से) आनेका प्रयोजन, दोनोंके नाम (राम लषन) और छुटाई बड़ाई (प्रथम ज्येष्ठ, दूसरा लघु), ('दोउ बंधु' से) दोनों बालकोंका परस्पर सम्बन्ध, दोनोंके गुण (रूप-शील-बल-धाम) कहे। दशरथ-महाराजका ब्रह्मण्य और उदारता कही। (रघुजी आदि सभी रघुवंशी ब्रह्मण्य और दानी होते आए, उनमें भी ये मणि हैं। तभी तो हमारे हितके लिये ऐसे प्राणप्रिय पुत्रोंको हमारे साथ करदिया। पुनः, 'रघुकुलमनि दशरथके जाये' कहकर इनको ब्रह्मका अवतार सूचित किया; यथा—'ते दसरथ कौसल्यारूपा। कौसलपुरी प्रगट नरभूपा। तिन्ह के गृह अवतरिहौं जाई। १।१८७।' और जनकजी यह बात जानते हैं कि दशरथजीके यहाँ ब्रह्म रामका अवतार होगा,—'यह सब जागबलिक कहि राखा। २।२८४।' (ङ) 'मम हित लागि'। क्या हित किया, यह आगे कहते हैं—'मख राखेउ०' [☞ स्मरण रहे कि 'मम हित लागि' से मुनिने इनको यहाँ अपनी ओरसे लानेका सारा एहसान राजा जनकके ऊपर धर दिया, इसीसे तो राजा कृतार्थ होकर मुनिके चरणोंपर पड़ गए, यथा "मुनि तव चरन देखि कह राऊ। कहि न सकउँ निज पुन्य प्रभाऊ। २१७।१।" (प्र० सं०)]

२ (क) 'राम लषन दोउ बंधु बर' इति। दोनों रूप, शील और बलके धाम हैं, इसीसे दोनोंको 'बर' कहा। ['बंधुबर' से यहभी जनाया कि ये दोनों सदा साथ रहते हैं, ये दोनों श्रेष्ठ हैं। इनके अतिरिक्त और भी छोटे भाई हैं] (ख) 'रूप-सील-बल-धाम' इति। (१) रूपके धाम हैं अर्थात् जो कोई इन्हें देखता है वह मोहित हो जाता है, हमभी मोहे, यथा 'पुनि चरनन्ह मेले सुत चारी। राम देखि मुनि देह बिसारी। २०७।५।' आपके संगके सब लोग मोहित होगए, यथा 'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता।'), आप स्वयं मोहित होगए, यथा 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी। (२) 'शीलधाम' इति। पिताको छोड़कर गुरु विप्र वा साधु के संग आए और उनका मान रक्खा, इसीसे शीलधाम कहा, यथा—'सीलसिंधु सुनि गुरु आगवनू। सीय समीप राखि रिपुदमनू॥ चले सबेग राम तेहि काला'। (३) संग्राममें असुरोंको जीतनेसे बलधाम कहा। (ग) 'मख राखेउ सब साखि जग०' इति। दोनों भाई अति सुकुमार हैं और राक्षस महा घोर, भयावन और कठोर हैं। सुकुमार बालकोंका घोर निशाचरोंको मारना असम्भव प्रतीत होता है, यथा 'कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।' इनकी सुकुमारता देख सभीको संदेह हो जानेकी संभावना है, माताओंने भी संदेह किया है, यथा 'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता। कहहिं सप्रेम बचन सब माता॥ मारग जात भयावनि भारी। केहि बिधि तात ताड़का मारी॥ घोर निसाचर बिकट भट समर गनहिं नहिं काहु। मारे सहित सहाय किमि खल मारीच सुबाहु। ३५६। मुनिप्रसाद बलि तात तुम्हारी। ईस अनेक करवरें टारी॥" इसीसे सब जगत्‌की साक्षी देते हैं। अर्थात् यह बात सत्य है, सारा जगत् जानता है, छिपी हुई नहीं है। मैं कुछ इनके उत्कर्षके लिये ऐसा नहीं कहता, यह बात मिथ्या नहीं है, सभी जानते हैं। (पंजाबीजी) ।] (घ) 'जिते असुर संग्राम' कहकर जनाया कि कुछ मंत्र, यंत्र, माया वा छलसे नहीं जीता वरंच सम्मुख संग्राम करके उनको मारा।

नोट—यहाँ अवतार, नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका कथन हुआ। 'दसरथके जाये' से अवतार, 'रामलषन दोउ बंधु' से नाम और रूप, 'ममहित लागि नरेस पठाए', 'जिते असुर संग्राम' से लीला और 'रघुकुलमनि' से अवधधाम जो रघुकुलकी राजधानी है, कहा। (प्र० सं०)

नोट—गीतावलीसे मिलान कीजिये—'प्रीतिके न पातकी दियेहू साप पाप बड़ो, मख मिस मेरो तब अवध गवनु भो । प्रानहूँ ते प्यारे सुत मांगे दिये दसरथ, सत्यसिंधु सोच सहे, सूनो सो भवनु भो । १।६४।' काकसिखा सिर कर केलि तून-धनु-सर, बालक बिनोद जातुधाननि सो रन भो ।', "नाम राम घनस्याम लषन लघु नख-सिख अंग उजियारे ।। निज हित लागि माँगि आने मैं धर्मसेतु रखवारे । धीर बीर बिरुदैत बाँकुरे महाबाहु बल भारे ।। २ ।। एक तीर तकि हती ताड़का, किये सुर साधु सुखारे । जज्ञ राखि जग साखि तोषि रिषि निदरि निसाचर मारे ।। ३ ।। (पद ६६) ।"

मुनि तव चरन देखि कह राऊ । कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ ।।१।।
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता । आनँदहू के आनँद दाता ।।२।।
इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि । कहि न जाइ मन भाव सुहावनि ।।३।।

अर्थ—राजा बोले—हे मुनि ! आपके चरणोंके दर्शन पाकर मैं अपने पुण्योंके प्रभावको नहीं कह सकता (कि मेरा कितना पुण्य है कि जिसके प्रभावसे आपके चरणोंका दर्शन मुझे प्राप्त हुआ । और फिर आपके चरणोंके प्रभावसेही दोनों भाइयोंके दर्शन हुए) ।। १ ।। ये श्याम गौर सुंदर दोनों भाई आनन्दकोभी आनन्द देनेवाले हैं ।। २ ।। इनकी परस्परकी पवित्र प्रीति कही नहीं जासकती, सुहावनी है; मनही मन भाती है ।। ३ ।।

टिप्पणी—१ 'मुनि तव चरन देखि' 'कहि न सकौं ।०' इति । भाव कि – (क) बहुत पुण्यसमूह जब एकत्रित होता है तब कहीं संतदर्शन होता है, यथा 'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता ।' [(ख) अपने सुकृतकी सराहनाद्वारा राजाने मुनिकी भी स्तुति प्रशंसा की कि आपका शुभागमनही मेरे पुण्योंके उदयको जना रहा है । न जाने कितना बड़ा पुण्य होगा कि आपने आकर दर्शन दिया । यही नहीं किन्तु सगुण ब्रह्मका दर्शन कराया । अब मुझे अपनी प्रतिज्ञा पूरी होजानेका विश्वास होगया—(प्र० सं०) । विश्वामित्रजीने शुद्ध ऐश्वर्य गुप्त रखनेके लिये माधुर्य देशमें ऐसा ऐश्वर्य सुनाया जिसमें राजाका मन स्वार्थ-देशमें आसक्त होगया । अर्थात् चक्रवर्तीके ऐसे सुन्दर बलवान् बालक हैं तो धनुष अवश्य तोड़ेंगे, हमारी कन्याका जन्म सफल होगा—इस मनोरथसे परमार्थदेशी विचार समूल ही उड़ गया, अब ऐश्वर्य कौन बिचारे, अब तो वे माधुर्यमें डूब गए । (वै०) । (ग) 'कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ' इति । मिलान कीजिये—"भूमिदेव नरदेव सचिव परसपर,-कहत हमहिं सुरतरु सिवधनु भो । गी० १।६४ ।']

२ (क) 'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता०।' इति । (क) राजा दोनों भाइयोंकी सुंदरतापर मुग्ध और मग्न होगए हैं इसीसे बारंबार 'सुंदर' कहते हैं, यथा 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक' इत्यादि । (ख) 'आनँदहू के आनँददाता'—इनकी सुंदरतासे साक्षात् आनंदको भी आनंद प्राप्त होता है । तात्पर्य्य कि मैं ब्रह्मानंदका भोक्ता हूँ । आनंदरूप हूँ, सदा ब्रह्मानंदमें लवलीन रहता हूँ सो मुझको भी इनके दर्शनसे इनकी सुंदरता देखकर आनंद मिला । पुनः, भाव कि पुण्यसे आनंद मिलता है ? बड़े भारी पुण्यसे आनंदके आनंददाता दोनों भाई मिले । सौंदर्य्यकी प्रशंसा करके आगे दोनोंकी प्रीतिकी प्रशंसा करते हैं । ['आनंदहू के आनंददाता' के और भाव—(ग) यदि आनंद स्वयं मूर्तिमान् होकर, रूप धारण करके आवे, तो वहभी इनके दर्शनसे आनंद पावेगा । "आनंद" जो वस्तु है वह आपहीसे प्रकाशित है । (घ) ब्रह्मानंदको भी आनंद दिया । पुनः, आनंद जो विवाह स्वयंवर, उसको भी आनंद देंगे । हमारी प्रतिज्ञा पूर्ण करेंगे; इति भावार्थः । वा, आनंदरूप जो मेरी कन्या है उसे भी आनंद देंगे, इति व्यंग्यार्थः ।" (वैजनाथजी) । (ङ) "जैसे जगदंबाके लिये सरकारने 'सुंदरता कहुँ सुंदर करई' इत्यादि कहा, वैसेही यहाँ जनकजीने 'आनंददाता' इस अभिप्रायसे कहा कि आनंदको आनंद बनानेवाले यही हैं । स्वामी

रामतीर्थजीने जनकजीकी जिस उक्तिका अनुवाद "अपने मजे की खातिर गुल छोड़ही दिये जब । सारे जहाँके गुलशन अपनेही बन गए तब" इत्यादि गजलमें किया है, उसका निचोड़ है "आनँदहू के आनंददाता"। (लमगोड़ाजी)। (च) इनके आगे राजाका ब्रह्मानंद चलता हुआ, अतएव आनंदके आनंददाता कहा; क्योंकि ब्रह्मभी आनंद-स्वरूप है, यथा 'आनंदसिंधु मध्य तव बासा। विनय १३६।', 'आनंदो ब्रह्मेति व्यजानात्।' (तैत्ति० भृगुवल्ली षष्ठ अनुवाक)। अर्थात् भृगुने निश्चय किया कि आनंदही ब्रह्म है। पुनः भाव यह है कि इन आनंदमयके आनंदका लेश पाकर ही सब प्राणी जी रहे हैं। बृहदारण्यक अ० ४ तृतीय ब्राह्मण श्रुति ३२ कहती है "एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।" अर्थात् यह उसकी परम गति है, परम संपत्ति है, परम लोक है, परमानन्द है। इस आनंदकी मात्राके आश्रित ही अन्य प्राणी जीवन धारण करते हैं। (इसके आगे ब्रह्मासे लेकर मनुष्यपर्यन्त सभी जीव जिस परमानन्दकी मात्रा अवयवके उपजीवी हैं उस मात्राके द्वारा उसके अंशी परमानंदका बोध करानेवाली श्रुतियाँ हैं)]।

प० प० प्र०—'आनंददाता'—यह वचन सिद्धान्त है। श्रीरामजीका दर्शन जिनको हुआ, उन सबोंको आनन्द हुआ ही यह बात नहीं है। प्रभुकी इच्छा जब जिसको जितना आनंद देनेकी होती है तब उसको उतना ही आनन्द मिलता है। दाताकी इच्छानुसार ही लाभ होता है। लंकामें राक्षसोंको कितने दिनतक बारबार दर्शन हुआ, पर किसीको आनंद नहीं हुआ। खरदूषणको किंचित्‌मात्रामें हुआ, पर प्रभुने अपनी मायासे उसे उनमें रहने नहीं दिया। इसीसे तो मुनिराज आगे कहते हैं कि 'करहु सुफल सबके नयन सुंदर बदन दिखाइ'। धनुर्यज्ञमंडपमें अगणित भूपाल थे पर सबको आनन्द नहीं हुआ।

टिप्पणी—३ 'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि।०' इति। (क) भाई-भाईमें परस्पर प्रेम होना चाहिये वही अब कहते हैं। यथा—"भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती।१५३।७', 'नाथ बालि अरु मैं दोउ भाई। प्रीति रही कछु बरनि न जाई। ४।६।' (ख) 'पावनी' अर्थात् छलरहित, यथा 'कीन्हि प्रीति कछु बीच न राखा।४।५।' प्रीतिकी प्रशंसा पवित्र होनेकीही है, वह पवित्रही होनी चाहिये। यथा 'प्रीति पुनीत भरत कै देखी। २६१।२।', 'सुमिरि सीय नारद-बचन उपजी प्रीति पुनीत।२२६।', तथा यहाँ 'इन्हकै प्रीति परस्पर पावनि।' (ग) प्रीति तो भीतरकी वस्तु है इसे कैसे देखा? प्रीति अन्तःकरणकी वस्तु है, इसे अनुभवसे जाना, इसीसे कहते हैं कि 'कहि न जाइ मन भाव सुहावनि'। मनमें भाती है, कहते नहीं बनती। स्मरण रहे कि जनकमहाराजने ब्रह्मका भी तो अनुभव मनहीसे किया था—'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहिं मनु त्यागा।', वैसेही उन्होंने हृदयकी प्रीतिका भी मनसे अनुभव किया। [☞जो अन्तःकरणकी वृत्ति अन्तःकरणका हाल महीनों भी साथ रहनेपर नहीं जाना जासकता वह अनुभवी पुरुष देखतेही जान जाते हैं। पर भगवान्‌के सम्बन्धकी बात तो उनके परम प्यारे भक्तही जान सकते हैं, अन्य नहीं। और वहभी भगवान्‌की कृपासे, उनके जनानेसे—'सो जानै जेहि देहु जनाई।' श्रीजनकमहाराज द्वादश प्रधान भक्तराजोंमेंसे हैं। तब भला इनसे कब परदा हो सकता था? भक्तराजों, योगेश्वरोंका अनुभव असत्य नहीं होता। अथवा, मुनिके बचनसे यह तो मालूम ही होगया कि दोनों भाई हैं, इसीसे दोनोंको भ्राता कहा। और भाइयोंमें प्रीति होतीही है, इसीसे इनमें 'परस्पर प्रीति' कही। प्रीतिकी प्रशंसा उसके पावनताकी होती है, अतः 'पावनि' कहा। रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'ध्यान-कला ते जोगी देखैं' और जनक तो योगीराज हैं, यथा 'योगिनां जनकादयः।' योगियोंमें भगवान् अपनेको 'जनक' कहते हैं, तब इनको यथार्थ पदार्थका अनुभव क्यों न होता? (घ) 'पावनि' से पाया जाता है कि कोई प्रीति अपावनी भी होती है। दूध और जलकी प्रीतिको अपावनी कहा है, इससे उसकी उपमा नहीं

दे सकते । यथा 'उपमा राम लषन की प्रीति की क्यों दीजै षीरै नीरै। गी० ६।१५।' क्योंकि औटनेपर उसका नाम 'खोवा' होता है। अर्थात् उसने मित्रको खोदिया। वीरकविजी लिखते हैं कि "यहाँ एक गुप्त अर्थ दूसराभी प्रकट हो रहा है कि इनका परस्परमें प्रेम अर्थात् जो इनसे प्रेम करते हैं उनपर येभी वैसाही प्रेम करते हैं 'विवृतोक्ति अलंकार' है।" (प्र० सं०)। (ङ) वैजनाथजी इस अर्धालीका अर्थ और भाव यह लिखते हैं—"इनकी आपसकी प्रीति पावनी है और जैसी सुहावनी है अर्थात् जैसी शोभामय मेरे मनको भाती है वह मुझसे कही नहीं जा सकती। भाव यह कि जैसे इन भाइयोंमें प्रीति है वैसेही मेरी दोनों कन्याओंमें परस्पर प्रीति है। यदि इनका विवाह उनसे होवे तो इनकी प्रीति शोभामय होवे। यह मनमेंका भाव कैसे कहें। इति व्यंग्यः।"]

सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू । ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू ॥४॥
पुनि पुनि प्रभुहि चितव नरनाहू । पुलक गात उर अधिक उछाहू ॥५॥

अर्थ—विदेहराज आनंदमें भरकर (फिर) बोले—'हे नाथ ! सुनिये। इनका प्रेम ब्रह्म और जीवके समान स्वाभाविक है। ४। राजा बारंबार प्रभुको देख रहे हैं। उनके शरीरमें पुलक और हृदयमें विशेष उत्साह और आनंद है ॥ ५ ॥

श्रीराजारामशरणजी—महाकाव्यकलामें नाटकीयकलाका आनंद देखा ? तुलसीदासजीकी कलाका कमाल यह है कि जब माधुर्यरसपूर्ण नाटकीयकलामें अधिक विकास होगा तो यह महाकाव्यकी उड़ान छिप जायगी और हम राजकुँवररूपही प्रधान पावेंगे और विश्वामित्रका संकेत है कि इसी रूपमें देखिये। ऊपर-वाले नाटकके परदोंका बदलना इत्यादि समझ लेनेके और संकेत साफ हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'मुदित' इति। भाव कि सौंदर्य्य देखकर मुदित हुए और प्रीति समझकर भी मुदित हुए। पुनः भाव कि परस्परकी प्रीति पहले कहते न बनती थी—'कहि न जाइ मन भाव०'। मनमें अब एक उपमा आगई, अतः कहनेके लिये 'मुदित' हुए। (ख) ☞ अपना स्नेह उनमें होजानेसे दोनों भाइयोंको ब्रह्म कहा था,—'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।२१६।२।' क्योंकि भगवत्‌जनोंका स्नेह ब्रह्महीमें होसकता है, अन्यमें नहीं। और दोनों भाइयोंमें परस्पर प्रीति होनेसे 'ब्रह्म जीव' दो कहे। तात्पर्य्य कि बिना दो हुए परस्पर प्रीति नहीं होती। इसीसे 'ब्रह्म जीव इव' कहा। इससे पूर्वका सिद्धान्त बना रहा कि दोनों भाई ब्रह्म हैं। जीव और ब्रह्म दोनों एकही हैं,—'जीवो ब्रह्मैव केवलम्', 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा'। [☞ इससे केवल यह जनाते हैं कि स्वाभाविक परस्पर प्रीति दोनोंमें कैसी है, न कि यह कि एक जीव है दूसरा ब्रह्म, या ब्रह्म और जीव एकही हैं। जीव जीवही है या ब्रह्म यह झगड़ा तो सम्प्रदायोंका चला आता है। श्रीरामनामके दोनों वर्णोंको श्रीराम-लक्ष्मणकी और दोनों वर्णोंके सहज स्नेहको ब्रह्म-जीवके स्नेहकी उपमा पूर्व दी गई है। यथा "आखर मधुर मनोहर दोऊ।... कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लषन सम प्रिय तुलसी के। बरनत बरन प्रीति बिल-गाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती। २०।१,३,४।" वैसेही यहाँ वही उपमा दीगई। विशेष वहां देखिए।]

बैजनाथजी—"इनका स्नेह स्वाभाविकही ब्रह्म-जीवके समान है। अर्थात् शुद्ध जीव और ब्रह्ममें जैसा स्वाभाविकही स्नेह है वैसा इनका है। पर ब्रह्मजीवका स्नेह रूखा है क्योंकि जब ब्रह्म सशक्ति और जीव सभक्ति हो तब शोभामय होता है। वैसेही ब्रह्म श्रीरघुनाथजी जब श्रीजानकीसहित हों और लक्ष्मणजी उर्मिला सहित हों तब इनकीभी प्रीति सुहावनी लगे। इति व्यंग्यः।" इसी मनोरथवश राजा पुनः पुनः श्रीरघुनाथजीको देखते हैं।

टिप्पणी—२ 'पुनि पुनि चितव...' इति। (क) राजा श्रीरामजीकी शोभामें आसक्त हैं, इसीसे पुनः

पुनः चितवते हैं। पुनः पुनः प्रभुको देखते हैं, अर्थात् देखनेसे तृप्ति नहीं होती, जी चाहता है कि देखतेही रहें। (ख) 'उर अधिक उछाहू'—भाव कि पुलकसे जो उत्साह बाहर देख पड़ता है, उससे भी अधिक उत्साह भीतर हृदयमें है। अथवा, भाव कि जितनी बार देखते हैं, उतनी बार पुलक और दर्शनके लिये अधिक उत्साह होता है। इसीसे पुनः पुनः देखते हैं। [अथवा, "अपने मनोरथके वश राजा बारंबार देखते हैं। प्रेमकी उमंगसे शरीर पुलकित है अर्थात् रोमांच कण्ठावरोध अश्रु आदि प्रकट होते हैं। मनोरथकी पूर्णताके आश्रित उरमें उत्साह अधिक होता जाता है।" (वै०)। वा, बारबार दर्शन करते हैं, मनमें सोचते हैं कि ये सौन्दर्यनिधान हैं, शीलसिंधु हैं, इनकी किशोरावस्था है और इनका कुलभी परम उत्तम है, यथा "रूप सील बय बंस राम परिपूरन।" (जानकीमंगल २६), यदि इनसे विवाह होजाय तो अत्युत्तम है। मानसमें यहां प्रभुहि चितव' शब्द देकर जनाते हैं कि मानस-कल्पवाले अवतारमें श्रीजनकमहाराज श्रीरामजीकी प्रभुताको विचारकर पुलकित हो रहे थे। और उनके हृदयमें उत्साह बढ़ता जाता था कि ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, हम श्रीरामको सीता और लक्ष्मणको उर्मिला व्याह देंगे। विशेष आगे चौपाई ६ में देखिये। गीतावली और जानकीमंगलवाले कल्पोंमें जनकजी माधुर्य्यमें डूबे हुए हैं। उनको शोच है। यथा "रूप सील बय बंस राम परिपूरन। समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥ २६॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनिकै। लै चले···।' (जानकीमंगल), 'सोचत सत्य सनेह बिबस निसि नृपहिं गनत गए तारे।' (गी० ६६), 'जनक बिलोकि बार बार रघुबर को।···सोचत सकोचत बिरंचि हरि हर को।···' इत्यादि। (गी० ६७)। एक टीकाकारने लिखा है कि राजा जनक इनमें प्रभुताका अनुभव करते हैं और प्रमाणमें जानकीमंगलका "सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ। ३६।" यह उद्धरण देते हैं, पर यह कथन साधु राजाओंका है न कि जनकजीका। साधु राजालोग कुटिल राजाओंको सिखावन दे रहे हैं, यथा 'सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे।४०।' (ग) 'मुदित' के संबंधसे 'बिदेह' नाम और 'चितव' के संबंधसे 'नरनाहू' शब्द बड़ेही सार्थक हैं]

मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू। चलेउ लवाइ नगर अवनीसू॥ ६॥
सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहां बास लै दीन्ह भुआला॥ ७॥
करि पूजा सब बिधि सेवकाई। गयेउ राउ गृह बिदा कराई॥ ८॥

शब्दार्थ—सेवकाई=नित्य निर्वाह, उपहारादिकी सुविधा; सुश्रूषा। सेवा।

अर्थ—मुनिकी प्रशंसा (बड़ाई) कर उनके चरणोंमें सिर नवाकर राजा उनको नगरको लिवा ले चले। ६। सुन्दर सदन (स्थान, महल) जो सब समयमें सुखप्रद था, उसमें राजाने इनको लेजाकर वास दिया (ठहराया)। ७। सब प्रकारसे मुनिकी पूजा सेवा करके राजा बिदा माँगकर (अपने) घर गए। ८।

टिप्पणी—१ (क) 'मुनिहि प्रसंसि नाइ पद सीसू ०' इति। प्रशंसा यह कि आप धन्य हैं कि भगवान् आकर आपके सेवक बने। आपकी कृपासे यह दुर्लभ आनंद हमकोभी प्राप्त होगया, आखिर आप विश्वके मित्रही तो हैं, ऐसी कृपा करना आपके योग्यही थी। 'कीन्ह प्रनाम चरन धरि माथा' उपक्रम है और 'नाइ पद सीसू' उपसंहार है। [प्रश्नका उत्तर मिला, कृतज्ञ हैं, अतः चरणोंपर सिर रखकर कृतज्ञता जनाई। पुनः, मुनि विरक्त हैं, वनवासी हैं, वे नगरमें रहना कब पसंद करेंगे; अतएव चरणोंमें माथा नवाकर प्रार्थना की कि महलमें कृपया चलकर सबको कृतार्थ कीजिये। (प्र० सं०)। अन्य समस्त राजा राजसमाज ठाठसे हैं और इन राजकुमारोंकेपास कुछ भी नहीं है, बाहर रहनेसे इनको कष्ट होगा। वैसेही सब मुनि हैं, किसीके पास कुछ नहीं है। अतः नगरमें लेगए]

नोट—१ यहाँ यह प्रश्न उठाकर कि "अमराईमें ही क्यों न रहने दिया, यहीं सब रसद भेजकर सेवा

करते ?" इसका उत्तर यह देते हैं कि यहाँ सब ऋतुओंमें सुख नहीं मिल सकता, दूसरे यहाँ कैसी भी सेवा क्यों न हो कुछ न कुछ त्रुटि बनी ही रहेगी, नगरमें सब प्रकार सुख मिलेगा। पुनः राजाका प्रत्येक दिन इनके लिये अमराईमें पहुँचना कठिन है।

२ सत्योपाख्यानमें इसका कारण इस प्रकार वर्णित है—(१) राजा बोले कि आज हमारा जन्म, तप, राज्य, मिथिलापुरी और यज्ञ ये सब सफल हुए। आजकी रात्रि सुप्रभाता हुई कि जो आज इन चक्रवर्त्ति-राजकुमारोंका हमारे यहाँ आगमन हुआ। (२) हमारे पूर्वज श्रीनिमिमहाराज इक्ष्वाकुके पुत्र हैं और उस (इक्ष्वाकु) कुलमें इनका जन्म होनेसे ये इक्ष्वाकुजीके तुल्य और पूजनीय हैं, इसमें संशय नहीं।" (श्लो० ६-६)। इस तरह कहते और रूपको देखते हुए श्रीजनकमहाराज मोहित होगए। वे मनमें विचारने लगे कि हमने व्यर्थ प्रतिज्ञा की, हमारी प्रतिज्ञा रहे या न रहे, इन्हींको सीता ब्याह दें। फिर मनमें ही कहने लगे, नहीं-नहीं ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे और हमारी प्रतिज्ञा पूरी होगी। (३) फिर यह विचारकर कि परिवार-को इनका दर्शन कराना चाहिये, विश्वामित्रजीसे बोले—'यहाँ इनका ठहराना उचित नहीं, यह घर तो इक्ष्वाकुवंशहीका है, हम तो इनके एक दास हैं, वहीं चलकर ठहरिये। यथा "अद्य मे सफलं जन्म अद्य मे सफलं तपः ॥ ६ ॥ अद्य मे सफलं राज्यं पुरीयं मिथिला पुनः। अद्य मे सफलो यज्ञः सुप्रभाता निशा मम ॥७॥ यस्मादिमौ समायातौ राजराजकुमारकौ। निमिस्तु पूर्वजो स्माकमिक्ष्वाकुतनयोऽभवत् ॥ ८ ॥ इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशाविभौ। कुले तस्मिन्निमौजातौ पूजनीयौ न संशयः ॥९॥ रामरूपं समालोक्य मुमोह जनको नृपः ॥ १० ॥···धनुषश्च प्रतिज्ञेयं निरर्था च कृता मया। कन्या चास्मै प्रदेया मे पणस्तिष्ठतु या तु वा ॥ १३ ॥···दृहे मम नरानार्यः पश्यन्तु रामलक्ष्मणौ। एवं विचार्य राजा तु हृदये मुनिमब्रवीत् ॥ १५ ॥ गम्यतां मद्गृहे स्वामिन् कुमाराभ्यां तपोधनैः ॥ १६ । इक्ष्वाकूणां गृहं चैतत् वयं तेषां च किंकराः। भुज्यतां रमतां तत्र कृपां कृत्वा ममोपरि ॥ १७ ॥ उत्तरार्ध अ० ६।" (४) रास्तेमें राजा सोचते हैं कि रामचन्द्रजीको जरूर सीताजीको ब्याह देंगे और लक्ष्मणजीको उर्मिला।-इससे 'मुदित' और 'पुलकगात उर अधिक उछाहू' इत्यादिके भावोंपर भी प्रकाश पड़ता है।

३ 'बास लै दीन्ह' का भाव कि साथ लेजाकर उनको दिखाकर उनकी रुचि लेकर वहाँ वास दिया।

टिप्पणी - २ (क) 'सुंदर सदन' अर्थात् स्थानकी बनावट और सजधज सुंदर है। (किसी किसीका मत है कि इस स्थानका नामही 'सुंदर सदन' है)। (ख) 'सुखद सब काला' इति। वर्षा, हिम और ग्रीष्म सभी ऋतुओंमें सुखदायक है। सुखद स्थानमें वास देनेसे राजाकी अत्यन्त श्रद्धा पाई गई कि राजकुमारसहित मुनि हमारे यहाँ सदा बने रहें और हम सेवा करते रहें। ['यदि केवल शीतनिवारक धाममें विश्राम देते तो समझा जाता कि केवल इतनेही समय इनको वहां रखनेका विचार है। वा, शरद् ऋतु है इसमें कभी गर्म जगह और घाम आदिकी भी चाह होती है, इससे ऐसा स्थान दिया जहां सब कालका सुख प्राप्त है।' (पं०)] अथवा, यह कार्त्तिकका महीना है, इसमें दिनमें कुछ गर्मी रहती है, रात्रिमें कुछ जाड़ा रहता है और वर्षाका भी कुछ अंश रहता है, यथा 'कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी'। इस तरह इस महीनेमें तीनों ऋतुओंके धर्म कुछ कुछ रहते हैं। इसीसे 'सब काल सुखद' स्थान दिया। (वैजनाथजी लिखते हैं कि आश्विन शु० १२ को विश्वामित्रजी आये। इस तरह भी शरद् ऋतु है)।

३ 'करि पूजा सब बिधि सेवकाई।०' इति। (क) विश्वामित्रजी प्रसिद्ध तेजस्वी एवं तपस्वी महात्मा हैं और अतिथि हैं। अतिथिकी पूजा करना उचित है, कर्त्तव्य है। अतः 'करि पूजा' कहा। 'सब बिधि सेवकाई' सब प्रकारकी सेवा अर्थात् भोजनकी सामग्री, आसन, वस्त्र, भृत्य, पूजनकी सामग्री, हवनकी सामग्री, इत्यादि, हजारों प्रकारकी सेवा 'सब बिधि' में कह दी गई जो मनुष्य कर सकता है। महात्माओंको जो वस्तु दी जाती है वह 'सेवकाई' (सेवा) कहलाती है, इसीसे 'करि सेवकाई' कहा। वही जब किसी राजाको देते हैं तो उसे 'ज़ियाफ़त' कहते हैं। ['सब बिधि' दीपदेहली है। 'सब बिधि' की अर्थात् षोडशोप-

चार पूजन किया और सब बिधिकी सेवा की, जितने प्रकारकी सेवा है सब की, कोई उठा न रक्खी।] (ख) 'बिदा कराई' इति। बिना पूछे चले जानेसे सब सेवा नष्ट हो जाती है, व्यर्थ हो जाती है, इसीसे आज्ञा माँग कर गए। आज्ञा माँग लेनेसे मान रह जाता है और बिना पूछे चले जानेसे हृदयको दुःख पहुँचता है कि न जाने बिना मिले क्यों चले गए। इसीसे शिष्टपुरुष इस शिष्टाचारको वर्तते आए हैं। यथा 'मुनि सन बिदा माँगि त्रिपुरारी। चले भवन सँग दच्छकुमारी।', 'सकल मुनिन्ह सन बिदा कराई। सीता सहित चले दोउ भाई', 'जुगुति बिभीषन सकल सुनाई। चलेउ पवनसुत बिदा कराई।' इत्यादि।

दोहा—रिषय संग रघुबंशमनि करि भोजनु बिश्रामु।
बैठे प्रभु भ्राता सहित दिवसु रहा भरि जामु ॥२१७॥

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी ऋषियोंके साथ भोजन और विश्राम करके भाईसहित बैठे (तब) पहरभर दिन रहगया था ॥ २१७ ॥

टिप्पणी—१ (क) बड़ोंकी रीति है कि साथमें भोजन करते हैं। भोजन करनेकी यही शोभा है। साथके ऋषियोंके संग भोजन किया। इसीसे 'रघुवंशमणि' कहा। (भोजनके पश्चात् कथा-वार्ता होती है सो यहां न लिखी, क्योंकि लक्ष्मणजीको नगर दिखाने ले जाना है)। 'बैठे प्रभु भ्राता सहित' इति। नगर देखनेकी इच्छा है, इसीसे भ्रातासहित बैठे, (नहीं तो ऋषियोंसहित बैठना कहते), भाईकी लालसा लखकर नगर देखने जायेंगे। (ग) 'रहा दिवस भरि जाम' इति। भाव यह कि घूमने और नगरके बाजार आदि देखनेका उचित अवसर पहरभर दिन रहे अर्थात् चौथे पहरही होता है। वही चौथे पहरका अब समय है। ☞यहां तक चारों पहरोंकी दिनचर्या कह दी—प्रथम प्रहरमें पूजा, दूसरेमें भोजन, तीसरेमें विश्राम और चौथेमें नगरदर्शन।

नोट—१ यहां महाराजा जनककी सेवा-निपुणता दिखाते हैं। आजही मुनि अमराईमें जाकर ठहरे, राजा जाकर मिले, मुनिको साथ लेजाकर अन्तःपुरमें ठहराया⋯फिरभी भोजन विश्राम करनेपर एक पहर दिन बच रहा। २—☞नगर-दर्शनकी भूमिका यहांसे उठाई गई है। ३—पांड़ेजी लिखते हैं कि "ऋषि यहां मुख्य हैं और रघुनाथजी गौण हैं—(औरोंके मतसे श्रीरामजी मुख्य हैं, ऋषय गौण हैं); अतः उनके साथ भोजन विश्राम करना कहा। दूसरा अर्थ काकोक्तिसे यह होता है कि रघुवंशमणि हांके ऋषिके संग भोजन और विश्राम किया। तीसरा अर्थ यह कि जबसे रघुनाथजीने यज्ञरक्षा करने और राक्षसोंको मारनेके निमित्त ऋषियोंका पक्ष लिया है तबसे ऋषियोंके संगमें भोजन विश्राम करनेका अवसर अब मिला, सो करके लक्ष्मणसहित बैठे।" पुनः, "इस दोहेमें चार उपयोगी उपशास्त्रोंका उपयोग है, ऋषय-शब्द बहुवचन है और व्याकरणकी रीतिसे सिद्ध होता है—'ओत्वं लुकच विसर्गस्य—इस सूत्रसे विसर्ग का लोप हुआ (अतः 'ऋषय' से व्याकरण); दूसरे पद 'करि भोजन बिश्राम' में वैद्यक शास्त्र क्योंकि भोजन करके विश्राम करनेमें आरोग्यता होती है; तीसरे पद 'बैठे प्रभु भ्राता सहित' में नीति और चौथे पद 'दिवस रहा भरि जाम' में ज्योतिष शास्त्रका उपयोग वा समावेश है।" (पांड़ेजी)। ४ सत्योपाख्यानके अनुसार उस दिन मुनि-सहित श्रीराजकुमारोंने महलमें भोजन किया था। ५ रा० प्र० ने 'रिषय' से केवल विश्वामित्रका अर्थ ग्रहण किया है।

लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइअ देखी ॥१॥
प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं। प्रगट न कहहिं मनहिं मुसुकाहीं ॥२॥

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें बड़ी लालसा है कि जाकर जनकपुर देख आवें। १। प्रभुका डर और फिर (उसपर भी) मुनिका संकोच है। मनही मन मुस्कुरा रहे हैं, प्रत्यक्ष कहते नहीं हैं। २।

टिप्पणी—१ "लषन हृदय लालसा…" इति। (क) श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें लालसा हुई। लक्ष्मणजी लड़के हैं, छोटे हैं। उनके हृदयमें नगरदर्शनकी लालसाका होना योग्यही है। लड़कोंको ऐसी लालसा होना शोभा देता है। इसीसे लक्ष्मणजीके हृदयमें लालसाका होना कहा, श्रीरामजीमें नहीं। बाहरसे नगरकी (अर्थात् नगरके बाहरकी) शोभा देखी है और उससे विशेष हर्ष हुआ है, यथा 'पुर रम्यता राम जब देखी। हरषे अनुज समेत बिसेषी। २१२.५।' विशेष हर्ष हुआ, इसीसे नगर (अन्तःपुर) के देखनेकी विशेष लालसा हुई। (बाहरकी इतनी शोभा है तो भीतरकी रमणीयता न जाने कैसी होगी, यह समझकर विशेष लालसा हुई)। पुनः, (ख) श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें 'विशेष' लालसा है, इस कथनसे यह भी इंगित किया कि श्रीरामजीके हृदयमें भी नगरदर्शनकी लालसा है, पर सामान्य है, साधारण है। पुनः, [(ग) 'बिसेषी' शब्द आवश्यकता और आधिक्यको प्रकाशित करता है—इतनी उत्कट (उत्कृष्ट) इच्छा उठी कि लक्ष्मणजीके हृदयमें न रुकी, उमड़कर नेत्र, भौंह आदिमें झलक आई, क्योंकि आगे कहते हैं कि 'राम अनुज मन की गति जानी'। मन निराकार है, उसकी गति ऊपरके अंग-भावसे ही पहचानी जाती है यथा—"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकाराभ्यां ज्ञायतेऽन्तर्गतं मनः॥" (सु० र० भा० राजनीति प्र० २२६) अर्थात् मनका भाव आकार, इंगित (इशारा), गति, चेष्टा (हाव-भाव), भाषण तथा नेत्र और मुखके विकारोंद्वारा जाना जाता है। (पं० रा० च० मिश्र)। (घ) "पहले सामान्य देखा है अब विशेष देखनेकी लालसा है। अथवा, 'विशेष' का भाव कि अवश्य जाकर देख आवें।" (पां०)। पुनः, (ङ) "नये नगरके देखनेकी लालसा सबको होतीही है, उसपर भी देश-देशके राजा आये हैं, उनके साथ अनेकों रंगके पदार्थ आये हैं, इससे विशेष लालसा होती है।" (रा० प्र०)। (च) बैजनाथजी लिखते हैं कि "मिथिलानगर ऐसा मनोहर और सुखद है कि उसने रघुवंशियोंके मनको भी चंचल कर दिया।" 'जहां स्त्री और पुरुष दोनों ओर शोभावलोकनकी अभिलाषा हो वहाँ 'लालसा' कही जाती है, "कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थं लालसा द्वयोरित्यमरः। लालसाद्वयोः स्त्रीपुंसयोरित्यर्थः।" (परंतु 'लालसा द्वयोः' का अर्थ यह है कि 'लालसा शब्द स्त्रीलिंग पुल्लिंगमें चलता है')। (छ) प्रभु किसी आचार-विचार या बहुत भजन इत्यादिसे नहीं रीझते, केवल प्रेमसे रीझते हैं। जनकपुरवासियोंके मनमें आपके दर्शनोंकी बड़ी लालसा है। उन्होंने आपके चित्तको आकर्षित कर लिया है, लक्ष्मणजीकी लालसा तो केवल बहाना है। इसी लिये मुनि आगे कहते हैं कि जाओ और 'करहु सुफल सब के नयन।' (श्री जानकीशरणजी)]

२ "प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।" इति। (क) कथाका समय है। कथा और ऋषियोंका सत्संग छोड़कर नगरका दर्शन करने जाना, यह संकोचकी बात है। इसीसे यहांसे सब जगह 'सकुच' लिखते हैं। यथा 'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं।' (यहाँ), 'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई। चौ० ४।', 'प्रभु संकोच डर प्रगट न कहहीं। चौ० ५।', 'सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ। २२५।' (श्रीरामजीनेभी सकुचाते हुये कहा और यह संकोच नगरदर्शनके पश्चात् भी रहा)। (ख) प्रभुका भय कहा क्योंकि स्वामीका भय माननाही चाहिए। और, बड़ेका संकोच करनाही चाहिये, इसीसे 'मुनिहि सकुचाहीं' कहा। [(ग) श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं। वे अपने कर्मद्वारा समस्त प्राणियोंको उपदेश दे रहे हैं कि स्वामीका भय सेवकको सदा एकरस रहना चाहिये, यथा 'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की नृप ज्यों डर डरिहै। विनय २६८।' लक्ष्मणजीमें यह गुण बराबर दिखाया गया है, यथा 'कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान। २५२।', 'लषनु राम डर बोलि न सकहीं। २६७.८।' इत्यादि। (घ) प्रभु-भय इससे कहा कि सेवक-सेव्य-भावकी मर्यादाका भार प्रबल है। (रा० च० मिश्र)। (ङ) 'प्रभु-भय' से भ्रातृस्नेह दर्शित किया है। (पं०)। (च) वैजनाथजीका मत है कि उत्तम सेवक

होकर धर्मधुरीण स्वामीसे असत कामना कैसे कहें, यह प्रभुका भय है। (छ) 'मुनिहि सकुचाहीं' का भाव कि मुनि हमारी इस चपलतासे रुष्ट हो जायेंगे और मुनि बड़े हैं, महात्मा हैं, गुरु हैं, उनका अदब करनाही चाहिये, अतः 'मुनिहि सकुचाहीं' कहा। (रा० च० मिश्र)। 'मुनिहि सकुचाहीं' कहकर इनकी गुरुभक्ति दर्शित की है। (पं०)। पुनः, (ज) प्रभुका भय कि कहीं डांट न दें कि अयोध्याजीसे नजाराबाजी ही करनेके लिये यहां आये हो। और मुनिका संकोच कि वे यह न कहें कि तुम क्यों अपना स्वरूप दिखाने जाते हो, हम तो तुम्हारेही मनोरथकी पूर्तिके लिये तुम्हें यहां लाये ही हैं। (रा० प्र०)।] (झ) विशेष प्रभुका भय है (अर्थात् प्रभुका भय मुख्य है) इसीसे 'प्रभु भय' को प्रथम कहा। बहुरि = पुनः, फिर। मुनिका संकोच सामान्य है, इससे उसे पीछे कहा।

३ 'प्रगट न कहहिं मनहि मुसुकाहीं' इति। (क) 'प्रगट न कहहिं' अर्थात् वचनसे नहीं कहते। यहां दो बातें लिखते हैं—एक तो प्रकट कहते नहीं, दूसरे मनमें मुस्काते हैं। 'मन मुसुकाहीं' से जनाया कि प्रभुका इतना भय है कि मुस्कान भी प्रकट नहीं है। भय और संकोचवश प्रकट नहीं करते और मनका मनोरथ जनानेके लिये मनमें मुस्काते हैं। [मनहीमें मनोरथका वेग रोककर मुस्काकर रहजाते हैं। लाज और भयरूप संपुटमें वाणी बन्द है। (वै०)। मनोविकाश ही वस्तुतः हास है, दन्तविकाश नहीं।]

राम अनुज-मन की गति जानी। भगत बछलता हिय हुलसानी॥ ३॥
परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई॥ ४॥

शब्दार्थ—भगतबछलता (भक्तवत्सलता) = "आश्रितदोषभोक्तृत्वं वात्सल्यमिति केचन। आश्रितागस्तिरस्कार बुद्धिर्वात्सल्यमित्यपि॥ वत्सः स्नेहगुणः स्थेयांस्तद्वाता वत्सलो हरिः। इति भगवद्गुणदर्पणे।" (वै०)। तुरत के पैदा हुए बछड़े या बछियापर जो उसकी माता (गऊ) का स्नेह रहता है उसे वत्सलता वा वात्सल्य कहते हैं। वत्सका अर्थ है छोटा बछड़ा वा बच्चा। गाय अपने नये ब्याये हुये बच्चेके मल आदिको चाटकर उसे शुद्ध करती है। इसी प्रकार श्रीरामजी अपने आश्रित भक्तोंके दोषोंको स्वयं भोग लेते हैं अथवा उनके दोषोंपर दृष्टि न देकर उनके दोषोंको नष्टकर उनको शुद्ध करलेते हैं; अथवा जैसे नेहवती गाय तुरत ब्याये हुये बच्चेका संग नहीं छोड़ती वैसेही प्रभु अपने स्नेही भक्तोंके संग लगे रहते हैं। यही भक्तवात्सल्य गुण है। हुलसाना = आनन्दसहित उमग वा उमड़ आना।

अर्थ—श्रीरामजीने भाईके मनकी गति (दशा, हाल) जानली। उनके हृदयमें भक्तवत्सलता उमड़ आई। ३। वे अत्यन्त नम्रतासे, सकुचाते हुये, मुस्कुराकर और गुरुजीकी आज्ञा पाकर बोले। ४।

श्रीलमगोड़ाजी—हास्यरसमें हर्ष, लालसा और संकोचके संघर्षवाली मुस्कानकी सूक्ष्मताको विचारिये और कविकी कलाको सराहिये। प्राकृतिक सौन्दर्यानुभव 'देखन फुलवारी' इत्यादिमें कराके अब कवि उसमें नागरिकताका विकाश कराना चाहता है।

टिप्पणी—१ 'राम अनुज मनकी गति जानी।....' इति। (क) 'राम' पद साभिप्राय है। रमति इति रामः। (जो सबमें रम रहा है, सबके हृदयमें बसता है, वह मनकी गति जानेगा ही, उसका जानना योग्य ही है)। "स्वामि सुजानु जान सबही की। रुचि लालसा रहनि जन जीकी। २।३१४।", "सबको प्रभु सब मो बसै सबकी गति जान। विनय १०७।' ऐसे स्वामी श्रीरामजी हैं, इसीसे मनकी गति जान गए। क्या गति जानी? यह आगे कहते हैं—"लखन पुरु देखन चहहीं।०'। (ख) 'भगतबछलता हिय हुलसानी' इति। श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें नगरदर्शनकी लालसा हुई, अतः श्रीरामजीके हृदयमें नगर दिखलानेकी इच्छा हुई; क्योंकि 'राम सदा सेवक रुचि राखी।' यही भक्तवत्सलता है जो हृदयमें हुलसी है। पुनः, 'श्रीलक्ष्मणजीके मनकी गति देखकर भक्तवत्सलता हुलसी' इस कथनमें तात्पर्य यह है कि (उनके मनकी इस समय-

टिप्पणी—१ 'नाथ लषनु पुरु देखन चहहीं ।०' इति । (क) लक्ष्मणजीने पुर देखनेकी इच्छा वचनद्वारा प्रगट नहीं की, अतः यह निश्चय हुआ कि 'पुर देखन चहहीं' यह उनके मनकी एक गति है जो प्रभुने जान ली । दूसरी गति जो जानी वह उत्तरार्द्धमें कहते हैं कि 'प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं' । नगर-दर्शनकी लालसा, भय और संकोच सभी जान गए । (ख) लक्ष्मणजीने तो प्रभुका भय माना था, यथा 'प्रभु भय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं', परन्तु श्रीरामजी भय और संकोच दोनोंको मुनिके प्रतिही लगाते हैं, अपना भय मानना नहीं कहते; इसमें भाव यह है कि अपना डर कहनेसे अपनी बड़ाई सूचित होती, दूसरे अपना भय और गुरुका संकोच कहनेसे गुरुकी बराबरी होती है, इस तरह कि हमको डरते हैं और आपका संकोच करते हैं (एक बात हमारे प्रति है और एक आपके प्रति है, यही बराबरीका दोष है) । लक्ष्मणजीके भावसे यही पाया जाता है कि दोनोंको बराबर मानते हैं (उसमेंभी रामजीका विशेष । इसीसे 'प्रभु-भय' प्रथम है)। अतः भय और संकोच दोनों गुरुके कहे, अपना न कहा ।

नोट—१ पूर्व 'प्रभुभय बहुरि मुनिहि सकुचाहीं' कहा, और यहाँ 'प्रभु संकोच डर' कहा । 'प्रभु' को संबोधन मान लेनेसे 'संकोच और डर' को दोनोंमें भी लगा सकते हैं । ऊपरसे तो यह अर्थ स्पष्ट है कि आपका संकोच और डर है और दूसरा अर्थ लक्ष्मणजीके मनकी गतिके अनुसार भी होजाता है । यह शब्दोंके प्रयोग और योजनाका कमाल है । इस तरह 'प्रभु' का संकोच अर्थात् मुनिका संकोच और प्रभुका डर अर्थात् अपने स्वमीका डरभी आगया । श्रीमिश्रजी लिखते हैं कि "यहाँ 'प्रभु' शब्दसे रामजीने 'संकोच डर' दोनों मुनिपर घटाए और अपने प्रभुत्व और ऐश्वर्य्यको दबा लिया । पुनः, पहले प्रभुभय प्रधान, पीछे मुनिका संकोच सामान्य कह आये हैं और अब यहाँ उसका विपर्य्यय है; क्योंकि लक्ष्मणजीका भाव देख रामजी प्रसन्न हैं, अतः 'प्रभु-भय' चला गया और 'मुनि संकोच' प्रधान और उन्हींका डर गौण होगया ।" श्रीवैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'प्रभो ! आपके संकोच और हमारे डरसे नहीं कहते' । २—रा० च० मिश्रका मत है कि "यहाँ 'नाथ' शब्द श्लेषमें है । प्रथम तो गुरुजीके लिये सम्बोधन है, दूसरे, 'लषन' के साथ सम्बन्धित है कि 'नाथके सहित लषन'" ।

श्रीराजारामशरणजी—भाव-विकासकी सरलतामें यह सोच विचार नहीं होता । श्रीरामजीके सरल हृदयमें यही अनुभव होता है कि संकोच और डर गुरुका है । 'मुस्कुराहट' की मानो श्रीरामजी यह व्याख्या करते हैं कि हमसे तो कोमल संकेत कर दिया मगर स्पष्ट नहीं कहा, इसका कारण गुरुका संकोच और डर है । दोनों ओरके भावोंका निरीक्षण कितना सुकुमार है । वास्तविकता और अनुमानका अंतरही नाटककीकलाकी जान है । हाँ, सरलतामें शिष्टाचार आपही निभ गया ।

टिप्पणी—२ 'जौं राउर आयेसु मैं पावउँ ।....' इति । (क) श्रीरामजी सब काम श्रीगुरुजीकी आज्ञासे करते हैं, यथा 'निसि प्रबेस मुनि आयेसु दीन्हा । सबहीं संध्या बंदनु कीन्हा । २२६।१।', 'बार बार मुनि अज्ञा दीन्ही । रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही । २२६।६।', 'समय जानि गुरु आयेसु पाई । लेन प्रसून चले दोउ भाई । २२७।२ ।', 'बिगत दिवसु गुर आयसु पाई । संध्या करन चले दोउ भाई ।२३७।६।', 'करि मुनिचरन सरोज प्रनामा । आयेसु पाइ कीन्ह बिश्रामा । २३८।५।', इत्यादि । इसीसे यहाँभी आज्ञा माँगते हैं । (ख) 'आयेसु मैं पावउँ', 'तुरत लै आवउँ', से अपने लिये भी आज्ञाका माँगना पाया जाता है । अपनेलिये आज्ञा मांगनेका कारण यह है कि लक्ष्मणजी लड़के हैं, उनको अकेले जानेकी आज्ञा नहीं हो सकती । अतः अपने सहित जानेकी आज्ञा मांगते हैं जिसमें आज्ञा मिल जाय । [देखिए, यहाँ कैसी युक्तिसे कहा कि गुरुको आज्ञा देतेही बने । सोचे कि यदि हम अपने लिये भी आज्ञा नहीं मांगते कि साथ जायँगे तो मुनि समझेंगे कि रामजीका मन नगरमें जानेका नहीं है; अतएव वे हमको जानेको न कहेंगे और विना हमारे लक्ष्मणजीको अकेले जानेकी आज्ञा न होगी अतएव 'आयेसु मैं पावउँ' इत्यादि कहा । फिर दिन थोड़ा है,

नगर बड़ा है और विलक्षण है, देखनेमें बिलंब होजाना साधारण बात है। अतएव कहते हैं कि 'देखाइ तुरत लै आवउँ' अर्थात् दिखाकर शीघ्रही लौट आवेंगे, देर न होगी। 'देखाइ' और 'लै आवउँ' से स्पष्ट जना दिया कि हम स्वयंही साथ जाना चाहते हैं। 'नगर देखाइ' से बिलंब सूचित होता है क्योंकि नगर बड़ा है; अतः 'तुरत लै आवउँ' कहा, जिसमें रोकें नहीं]

नोट—३ वैजनाथजी 'जौं राउर अनुसासन' 'आवउँ' का भाव यह लिखते हैं कि 'यदि उनको अकेले भेजा जायगा तो बालस्वभावसे कहीं देर न लगा दें, जिससे आपको और मुझको चिन्ता हो जायगी, इससे आपकी आज्ञा हो तो मैं साथ चला जाऊँ''।

४—यहां लक्ष्मणजीकी इच्छाके बहाने आज्ञा मांग रहे हैं, यद्यपि उनको स्वयं नगर देखनेकी इच्छा है। अतः यहां 'द्वितीय पर्यायोक्ति अलंकार' है। (वीरकवि)। यथा 'मिस करि कारज साधिये जो हित चितहि सोहात।'

सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती। कस न राम तुम्ह राखहु नीती॥ ७॥
धरमसेतु पालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुख-दाता॥ ८॥

अर्थ—(श्रीरामजीके वचन) सुनकर मुनिराजने प्रेमसहित (ये) वचन कहे—हे राम ! तुम क्यों न नीतिकी रक्षा करो ! ॥ ७॥ हे तात ! तुम धर्मकी मर्यादाके पालन करनेवाले हो। सेवकोंके प्रेमके विशेष वश हो, उनको-सुख देने वाले हो॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) ['मुनीस' का भाव कि अन्य मुनियोंको यह माधुर्यसुख प्राप्त नहीं है जो आज इनको प्राप्त है। (रा० च० मिश्र)] (ख) 'कह बचन सप्रीती' इति। तात्पर्य कि श्रीरामजीके धर्मनीतिके वचन सुनकर मुनिराज प्रेममें मग्न हो गए, अतः जो वचन उनके मुखसे निकले, वे प्रेमसे भरे हुये हैं। [अथवा, श्रीरघुनाथजीने नगरमें जानेकी आज्ञा मांगी है। उसमें कुछ कालका वियोग जानकर प्रीतिसे भर गए। अतः 'कह बचन सप्रीती।' (पाँ०)। वा, श्रीरामजीकी परम नम्रता देखकर अथवा उनका ऐश्वर्य विचारकर प्रीतिसहित बोले। (पं०)। वा, श्रीरामजीकी भक्ति देखकर वात्सल्यभाव उमड़ पड़ा, अतः 'प्रीति सहित' बोले। (पं० रामकुमार)। वा, श्रीरामजीके अनेक अभिप्रायमय वचन सुनकर त्रिकालज्ञ मुनि सब जान गये, अतः अभिप्रायमय वचन प्रीतिसहित बोले। (वै०)। श्रीरामजी नीति और धर्मयुक्त वचन बोले जैसा मुनि आगे कहते हैं, इसीसे मुनि सप्रेम बोले। यथा 'धरम धुरंधर प्रभु कै बानी। सुनि सप्रेम बोले मुनि ज्ञानी।३।६।'] (ग) 'कस न राम तुम्ह राखहु नीती' इति। भाव कि तुम नीतिके यथार्थ ज्ञाता हो, यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथु। २।२५४।' परम नम्रता, बड़ोंका संकोच और आज्ञा पाकर बोलना, यह सब नीति है। इस नीतिकी रक्षा की, इसीसे मुनिने श्रीरामजीकी प्रशंसा की। (घ) ☞ देखिये, श्रीलक्ष्मणजीकी जैसी भक्ति देखकर श्रीरामजीके हृदयमें भक्तवत्सलता हुलसी, उसी प्रकारकी श्रीरामजीकी भक्तिको देखकर मुनि उनकी प्रशंसा करने लगे—

जैसे लक्ष्मणजीमें—'प्रभुभय', 'मुनिहि सकुचाहीं' और 'मनहिं मुसुकाहीं' देख श्रीरामजी प्रसन्न हुए वैसेही श्रीरामजीमें—'परम बिनीत' 'सकुचि' और 'मुसुकाई', 'अनुसासन पाई बोले' देख मुनि प्रसन्न हुए।

२ 'धरमसेतु पालक तुम्ह ताता।''' इति। (क) गुरुकी आज्ञाका पालन करना धर्म है, यथा 'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा। ७७।२।' तुम धर्मसेतुपालक हो अर्थात् सदा सनातन धर्मका पालन करते हो और तुम्हारे ऐसा करनेसे आगे भी धर्मका पालन होतारहेगा, सब लोग इस धर्मका पालन करते रहेंगे। यथा 'समुझब कहब करब तुम्ह जोई। धरम-सारु जग होइहि सोई। २।३२३।' (यह श्रीवसिष्ठजीने भरतजीसे कहा है)। भाव यह कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं

अन्य पुरुष भी उसीके अनुसार वर्तते हैं; यथा 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरोजनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। गीता ३।२१।' और श्रीरामजीका मर्यादापुरुषोत्तम अवतारही लोककी शिक्षाके लिये हुआ, न कि केवल रावणवधके लिये। यथा 'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। भा० ५।१९।५'। इस श्रीहनुमद्वाक्यकी ओर संकेत करते हुये 'धर्मसेतुपालक' कहा।—यही धर्मसेतुका पालन करना है। पुनः, ['धर्मसेतुपालक' के और भाव कि--(ख) स्वतंत्र होते हुए भी परतन्त्रता दिखाकर आज्ञा मांगी। (ग) मुनि अपनी त्रिकालज्ञतासे होनहार सूचित करा रहे हैं कि जिस पुरमें जारहे हो उसमें कुछ अधर्म आरहा है—राजाकी प्रतिज्ञा कोई राजकुमार नहीं पूरी कर सकेंगे, जिससे राजा असमंजससे धर्मसंकटमें पड़ेंगे, यथा 'सुकृत जाइ जो पन परिहरऊँ। कुंअरि कुँआरि रहउ का करऊं।२५२।५।' और आप धर्मसेतुपालक हैं, यह भार आपहीको सँभालना होगा। (पं० रा० च० मिश्र)। (घ) भवसागरके पार जानेका जो धर्मसेतु है उसके आप रक्षक हैं। (वै०)। (ङ) ब्राह्मणों और सन्तोंको सदा बड़ाई देते आये हो, इसीसे हमको बड़ाई दे रहे हो। (रा० प्र०)। इसीसे मुनीश्वरोंका मान रखना तुम्हें योग्यही है। (पं०)]

३ "धरमसेतुपालक" प्रेमबिबस सेवकसुखदाता" इति। ये सब विशेषण साभिप्राय हैं। भाव कि—(क) धर्मसेतुपालक हो, इसीसे गुरुकी आज्ञाका पालन करते हो। प्रेमविवश हो इसीसे हृदयमें भक्तवत्सलता हुलसी। सेवकसुखदाता हो, इसीसे लक्ष्मणजीके लिये प्रार्थना करते हो। (ख) परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई।' यह नीति है; 'जौं राउर आयसु मैं पावउँ' यह धर्म है; 'नाथ लषनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं।' यह प्रेमकी विवशता है (लक्ष्मणजीके प्रेमके वश हैं, इसीसे लक्ष्मणजीके लिये प्रार्थना करते हैं), और 'नगर देखाइ तुरत लै आवउं।' यह सेवक-सुखदातृत्व है। पुनः, (ग) धर्मसेतुपालक होनेके कारण आज्ञा माँगते हो और 'प्रेम बिबस सेवक-सुख-दाता' होनेसे लक्ष्मणजीके प्रेमवश होकर उनको सुख देना चाहते हो।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'धर्मसेतुपालक हो अर्थात् भवसागरपार जानेके सेतुके रक्षक हो। प्रेमविवश हो अर्थात् जो निष्काम भक्त हैं उनके विशेष वश हो। सेवक-सुख-दाता हो अर्थात् जो आर्त्त सेवक हैं उनको सुखरूप हो, उनके दुःख मिटाकर उन्हें सुखी करते हो और जो अर्थार्थी हैं उनको अर्थदायक दातारूप हो। अभिप्राय यह कि जब जनकजीके मंदिरमें भोजन करने गए तब राजकुमारोंके संग तो ऋषियोंका समाज था और वहाँ जनकादि गुरुजनोंका समाज था। उनकी लज्जावश पुरकी युवतियां प्यासी रहगईं। अर्थात् हाव-भाव-मय-वार्ता हास-कटाक्षादि-अवलोकन राजकुमारोंसे न कर पाईं, इसलिये रूप-रसकी प्याससे निज-निज निवास-स्थानमें प्रेम-बलसे पुनः मिलनेकी आशासे उदास बैठी हैं। उसी प्रेमकी डोरीसे जब अनेकों युवतियोंने खींचा तब प्रभु धैर्य न धर सके। पर धर्मधुरीण ऋषियोंके संग कैसे जायँ। अतः श्रीलक्ष्मणजीके हृदयमें विशेष लालसा प्रकटकर आज जाना चाहते हैं, नहीं तो भला लक्ष्मणजीके हृदयमें लालसा कहां? यह तो केवल आपकी प्रेरणासे हुआ। आप आर्त नर-नारियोंके प्रेमवश उनको दर्शन देकर सुख देना चाहते हैं--यह अभिप्राय मुनि समझ गए। यह भाव 'प्रेमविवश सेवक सुखदाता' का है।" (यह भाव शृङ्गारियों रसिकोंके हैं)।

२ तीनों संज्ञायें साभिप्राय हैं। क्योंकि धर्ममर्यादाका रक्षकही नम्रता दिखा सकता है। प्रेमविवशही भक्तोंकी रुचिका पालन कर सकता है और सेवक-सुख-दाताही सेवकोंको सुखी कर सकता है। यह परिकरांकुर अलंकार है। (वीर)। 'धर्मसेतुपालक सुखदाता' का भाव कि आज्ञा माँगना मुझे मान देना है।

३ पं० रामचरणमिश्रजी 'प्रेम विवश' को 'सेवक' का विशेषण मानते हैं। प्रेमविवश सेवक=जो सेवक प्रेमसे विवश अर्थात् बेक़ाबू हैं, प्रेमविभोर हैं। भाव यह कि लक्ष्मणजी आपके प्रेमाधीन हैं स्वतः कुछ नहीं कर सकते। अतः उनकी इच्छा पूर्ण करना आपका विशेष धर्म है।

दोहा—जाइ देखि आवहु नगरु सुख-निधान दोउ भाइ।
करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ ॥२१८॥

अर्थ—सुखनिधान दोनों भाई जाकर नगर देख आओ और अपने सुंदर मुखारविन्दोंको दिखाकर सबके नेत्रोंको सुफल करो ॥ २१८ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—मुनि ऐश्वर्यके अंश ('धरमसेतुपालक तुम्ह ताता। प्रेम बिबस सेवक सुखदाता') को कहते-कहते सामयिक शृङ्गारपरही आ जाते हैं। कविका संकेत है कि हम भी ऐश्वर्यको भूलकर राजकुँवरोंके 'सुन्दर बदन' के माधुर्यपूर्ण शृङ्गारको देखें। 'बीनंद रूय गुल' की तैयारी है और, नगरवासियों इत्यादिका 'सुंदर बदन' देखनाही श्रीसीताजीके लिये उस फूलकी सुगंध पानेका कारण बनेगा।

टिप्पणी—१ श्रीरामजीने आज्ञा माँगी—"जौं राउर आयेसु मैं पावउँ।…" इसीसे गुरुजी आज्ञा देते हैं—'जाइ देखि आवहु नगरु०'। श्रीरामजीने तो आज्ञा माँगी कि "नगर देखाइ तुरत लै आवउँ", परन्तु मुनि आज्ञा देते हैं कि 'जाइ देखि आवहु…दोउ भाइ'। मुनि दोनोंको नगर देखनेकी आज्ञा देते हैं जिसमें श्रीरामजी भी अच्छी तरह देख आवें, नहीं तो बिना आज्ञाके श्रीरामजी मन लगाकर न देखते, लक्ष्मणजीको शीघ्र दिखलाकर लौट आते।—[यहाँ शब्दोंकी योजनामेंही मुनिके वचनोंका 'सप्रीति'—('सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती') होना जना रहे हैं। 'जाइ देखि आवहु नगरु' कहा। प्रथम जाना, फिर नगर देखना और तब लौट आना क्रमसे कहना चाहिये था, ऐसा न करके 'जाइ देखि' के साथ 'आवहु' कहकर तब नगर पद अंतमें दिया गया। भाव यह कि मुनि इन शब्दोंसे जना रहे हैं कि हम भी तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकते; इतनाही नहीं वरंच वचन-वियोग भी असह्य हो रहा है; अतः वियोग-वाचक शब्द 'जाइ' के साथही संयोगवाचक 'आवहु' शब्द कहा। पांड़ेजीका मत है कि 'जाइ' शब्दसे वियोगवश हो नगर कहना भूल गए। जब 'आवहु' शब्दसे 'संयोग' कर लिया तब 'नगर' कहनेकी सुध हुई।"]

२ (क) 'सुखनिधान दोउ भाइ' इति। दोनों भाई सुखनिधान हैं, यथा 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा। २१६। ५।' (ख) 'सुखनिधान दोनों भाई जाओ' कहनेका भाव कि जाकर नगरको सुख दो। [तुम दोनोंके दर्शनोंसे नगरवासी सुखी होंगे। पुनः, भाव कि प्रार्थना करके गुरुको सुख दिया, यथा 'सुनि मुनीसु कह बचन सप्रीती।' लक्ष्मणजीका मनोरथ पूर्ण करके लक्ष्मणजीको सुख दिया, यथा 'प्रेम बिबस सेवक सुखदाता।' और आगे मुनिकी आज्ञा पाकर लोकको सुख देने जाते हैं। इसीसे 'सुखनिधान दोउ भाइ' कहा। श्रीलक्ष्मणजीकी कृपासे ही तो सबको सुख मिलेगा। पुनः, (ग) 'सुखनिधान' का आशय यह है कि तुम्हारे जानेसे हमें दुःख होगा इससे शीघ्र आ जाना। पुनः भाव कि नगर तुम दोनों भाइयोंके सुखका निधान है; अर्थात् इस नगरमें श्रीजानकीजो और श्रीउर्मिलाजी आदि हैं 'सुख-निधान' देहली-दीपक-न्यायसे 'नगर' और 'दोउ भाई' दोनोंके साथ लग सकता है। भाव यह है कि इसी नगरमें तुम दोनोंका ही नहीं किंतु चारों भाइयों एवं और रघुवंशी राजकुमारोंके विवाह होंगे, यह नगर सबको सुख देगा। यहीं तुम्हारी कीर्ति बढ़ेगी। विश्वामित्रजीने जो राजा दशरथसे कहा था कि 'धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान। २०७।' उस संबंधसे नगरको 'सुखनिधान' कहा। पुनः भाव कि तुम दोनों भाई नगरके (सुखके) निधान हो अर्थात् धनुषके टूटनेसे सबको सुख होगा। (पाँ०)]

टिप्पणी—२ 'करहु सुफल सब के नयन…' इति। भाव कि तुम्हारे दर्शनसे नेत्र सुफल होते हैं, यथा 'होइहैं सुफल आजु मम लोचन। देखि बदनपंकज भवमोचन। ३। १०। ६।', 'निज परम प्रीतम देखि लोचन सुफल करि सुख पाइहौं। ३। २६।', 'निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी। ७। ७६। ६।' अतः पुरवासियोंके नेत्र तुम्हारे दर्शन पाकर सुफल होंगे।

पांड़ेजी—"करहु सुफल सबके नयन" का भाव कि जो तुमने कहा कि हम नगर देख आवें (दिखला लावें) यह उल्टी बात है, आप अपने 'सुंदर बदन' को (दिखला आवें और) दिखाकर सबके नेत्र सफल करें। 'नेत्र सफल' करनेका एक तो साधारण भाव यह है ही कि सबको सुख दो, दूसरा भाव यह है कि अन्य अनेक सब राजाओंके मुँहका दर्शन निष्फल हुआ है सो तुम धनुषको तोड़कर अपने मुखारविन्दसे सफल करोगे।" अर्थात् तुम्हारा दर्शन उनको फलीभूत होगा, मंगलदायक होगा।

पंजाबीजी—"देखना अपूर्व वस्तुका होता है सो तो संपूर्ण ब्रह्माण्ड आपकी मायासे रचित है, पर आपका अवतार लोगोंको कृतार्थ करनेके निमित्त है। इस लिये 'सबके नेत्रोंको जाकर सफल करो' ऐसा कहा।

श्रीबजरंगबली अनुरागलताजी—इन चौपाइयोंमें यह भी भाव हैं कि—१ 'धर्मसेतुपालक' से सूचित किया कि आपका एकपत्नीव्रत धर्म है, पर जनकपुरवासिनी स्त्रियाँ आपके दर्शनोंके लिये लालायित हो रही हैं, इससे आप यह न करें कि उनकी ओर न देखें। आप अपने 'प्रेमविवश-सेवक-सुखदाता' गुणको काममें लाइये, शीघ्र लौटकर हमारे वियोगरूपी दुःखको दूरकर हमें सुख दीजिये और अपने मुखारविन्द अर्थात् कटाक्षयुत दर्शनसे जनकपुरकी स्त्रियोंको सुख देकर उनके नेत्रोंको सुफल कीजिये। आप भी अवश्य देखियेगा, आप न देखेंगे तो उनके नेत्र न सुफल होंगे। २—इस प्रसंगमें यह भी दिखा रहे हैं कि भक्तके लिये आचार्य्यका होना आवश्यक है, बिना आचार्य्यके प्रभु किसीको अंगीकार नहीं करते। इसीसे लक्ष्मणजीकी लालसा कहकर उनको, भक्तको भगवंतसे मिलानेमें, आगे किया।

मुनि पद कमल बंदि दोउ भ्राता। चले लोक लोचन सुखदाता ॥१॥
बालक बृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा ॥२॥

शब्दार्थ—लोक = तीनों लोक; भुवनमात्र; जन, प्राणी; लोग। यथा 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः।

अर्थ—समस्त लोकों वा प्राणियोंके नेत्रोंको सुख देनेवाले दोनों भाई मुनिके चरणकमलोंकी वंदना करके चले ॥ १ ॥ (इनकी) अत्यन्त शोभा (सुन्दरता) देखकर बालकोंके झुण्ड साथ लग गए। उनके नेत्र और मन लुभा गये हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मुनि पद कमल बंदि' इति। जब पुष्पवाटिका देखने गये थे, तब वन्दना नहीं की और यहाँ चरणोंकी वन्दना करते हैं। कारण यह है कि यहाँ न तो कुछ गुरुकार्यही है और न देवकार्यही, केवल कौतुक देखना है। इसीसे चरणोंमें प्रणाम करके गये और लौटकर भी प्रणाम किया जिसमें गुरुजी प्रसन्न रहें, नाराज न हों।—[अथवा, गुरुको प्रणाम करके जाना तो सदाही धर्म है, चाहे वह गुरुकार्य हो, चाहे देवकार्य; अतएव समाधान यह है कि यहाँ एक जगह प्रणाम कहकर इसीसे सर्वत्र यही रीति जनादी। जब-जब जाना हुआ, तब-तब प्रणाम करकेही जाना हुआ, यह समझ लें, बार-बार लिखनेकी आवश्यकता नहीं]। (ख) 'चले लोक लोचन सुखदाता' इति। गुरुजीकी आज्ञा है 'करहु सुफल सबके नयन'; इसीसे प्रथमही 'लोक-लोचन-सुखदाता' विशेषण देते हैं। 'लोक' अर्थात् 'जन' के सुखदाता हैं। [पाँड़ेजी लिखते हैं कि यहाँ 'भुवन' अर्थ नहीं है। यहाँ 'मिथिलापुरीके लोगोंको' यह अर्थ है।" बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "यह नगरकी यात्रा लोक (मात्रके) लोचन (को) सुखद है; विवाह भावी है, इसीसे सर्वलोचन-सुखदाई है।" मेरी समझमें 'लोक-लोचन सुखदाता' विशेषण है। सभीके नेत्रोंको आपके दर्शनसे सुख होता है, अतः जनकपुरवासियोंको भी सुख होगा]

२ 'बालक बृंद देखि अति सोभा।...'इति। (क) 'देखि अतिसोभा' इति। जनकपुरके लोग देवताओं-सेभी अधिक सुन्दर हैं, यथा 'नगर नारिनर रूप-निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥ तिन्हहिं देखि

सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजिआरी ॥ ३१४।६-७।' (जिस नगरके लोगोंके सौन्दर्यशोभाके आगे देवगणकी सुन्दरता मात है) उसी नगरके बालक हैं, (ये नित्यही मारमदमोचन सौन्दर्य्यका दर्शन करते रहतेही हैं, अतएव नगरनिवासियोंकीसी शोभा तो उन्हें मोहितही नहीं करसकती), जब उससे कहीं अधिक शोभा देखें तभी मोहित हो सकते हैं। अतएव 'देखि अति सोभा' कहा। ('अति शोभा' ही से सूचित करदिया कि ये बालक एवं नगर-निवासी बड़ेही सुन्दर हैं, पर ये दोनों भाई अतिशय सुन्दर हैं)। (घ) 'लगे संग' से जनाया कि इनको देखकर सब इनमें अनुरक्त होगए ऐसे कि संग हो लिये। 'लगे' से जनाया कि साथ नहीं छोड़ना चाहते। यथा 'रामहि देखि एक अनुरागे। चितवत चले जाहिं संग लागे। २।११४।७।' संग लगना कहकर आगे उसका कारण कहते हैं—'लोचन मनु लोभा'। (ङ) लोचन और मन दो वस्तुयें हैं, तब 'लोचन मन लोभे' कहना था, 'लोभा' एकवचन कैसे कहा? उत्तर यह है कि भाषामें एकवचन बहुवचनका विचार सब जगह नहीं रहता। जैसे यहाँ एकवचनका प्रयोग है, ऐसेही अन्यत्रभी लिखा है, यथा 'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मन लोभा।' (च) 'लोचन मन लोभा' अर्थात् मन लगाकर देखरहे हैं। यथा 'राम लषन सिय सुंदरताई। सब चितवहिं चित मन मति लाई। २।११६।२।' प्रथम नेत्रेंद्रिय लुब्ध हुई तब मन, अतः उसी क्रमसे कहा। मन इन्द्रियोंका राजा है। नेत्र दीवान है। दीवान जिसका आदर करे राजा उसके वश होजाय—"दृग देवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकाय।"

प. प. प्र.—श्रीरामलक्ष्मणजीके अनुपम रूपसिंधुकी अद्भुत महिमा पहले विदेह जनकराज सरीखे ब्रह्मलीन परम विरागी विज्ञानी, वृद्ध ब्राह्मण-क्षत्रियादिको भी मोहित करनेमें कैसी समर्थ हुई यह सुचारुरूपसे बताया गया है। अब समाजके दूसरे छोरकी दशा बताते हैं। एक तो बालक हैं। बालक ज्ञानी विज्ञानी बिरागी नहीं हैं। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि अज्ञानी अपढ़ बालक और विज्ञानी परम विरागी ब्रह्मलीन विदेहकी एक सी ही दशा हुई। पर उन परम विरागी वृद्धोंसे भी ये बालक अधिक बड़भागी हैं, क्योंकि वे तो विना कुछ सोच विचार किये ही कठपुतलियोंके समान 'लगे संग' और आगे चलकर संभाषण, संस्पर्श, वार्तालाप का सुखभी वे बालक ही लूटेंगे। यह सुख जनकपुरीमें और किसीकोभी नहीं मिला। ☞'मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी।' यह वचन यहाँ चरितार्थ किया है। सुतीक्ष्णजीको भी यह सौभाग्य नहीं मिला। इस मिलानसे सूचित हुआ कि सबसे छोटा होना ही परम सुखद और परम हितकारक है।

श्रीराजारामशरणजी—१ परदेका बदलना समझ लीजिये। २-फिल्मकलाकी सहायक प्रगतियां विचारणीय हैं। ३-नाटकीयकला। यवनदेश यूनान (Greece) के नाटकीय कलाकारोंने यह नियम निकाला था कि नाटकमें तीन प्रकारकी साम्यताओं (Unities) के विचार रहने चाहिये—देश, काल और कार्यक्रम। जिसका मतलब यह था कि एक अंश और दूसरे अंशमें इन बातोंका इतना अन्तर न होना चाहिये कि हमारी कल्पनाशक्तिको बहुत धक्का लगे। किन्तु शेक्सपियर इत्यादिने केवल कार्य्यक्रमकी साम्यताको ही माना है और इस प्रकार नाटकीय कलाकी संकुचिताको कम करदिया है। कालिदासनेभी कार्य्यक्रमकीही साम्यता मानी है।

मगर कलाकार हमेशा मुशकिलपसंद होते हैं। टगोरजी कहते हैं कि Joy expresses itself in law आनंद अपना प्रकटीकरण नियममेंही करता है। शेक्सपियरने टेम्पेस्ट Tempest नामक नाटकमें तीनों साम्यताओंके निर्वाहका यत्न किया। मगर प्रेमपरीक्षाके लिये लट्ठे ढोलानेका-सा कृत्रिम और भोंडा काम राजपुत्र फर्डिनैन्डसे कराना पड़ा। हमारे कविने यहाँके नाटकमें तीनों साम्यताओंको निबाहा है और प्रेम-परीक्षाके लिये धनुषयज्ञकी जोड़का नाटकीय कलामें मिलना कठिन है। अंतमें प्रेमकी वह दृढ़

अवस्था पहुँचा दी है कि—'जा पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलइ न कछु संदेहू।' दो दिनमें यह कर देना कविका कमाल है।

कुछ बातें इन दोनों नाटकोंमें और मिलती हैं।—१ दोनों सुखान्तक हैं। २-दोनोंमें प्रारंभ और अन्तमें दृश्य प्रधान। ३-दोनोंमें वानप्रस्थी युवक जीवनको (रामायणमें श्रीरामलक्ष्मणको और टेम्पेस्टमें मिरैंडा लड़कीको) संयमित बनाया है। इस प्रकार संसारमें संयमित जीवनका विकास होता है। ४—दोनोंमें आसुरी जीवनको ताड़ित किया है; कारण कि वह संयमित नहीं बना—'मूरुख हृदय न चेत'।

परन्तु कलाकी दृष्टिसे श्रीतुलसीदासजीके इस नाटकके सामने टेम्पेस्ट बच्चोंका खेलसा जान पड़ता है, यद्यपि वहाँभी अमानुषिक व्यक्तियोंका प्रयोग है। टेम्पेस्टमें स्पष्ट एक जादूगरी है तो यहाँ विश्वका आधिदैविक रहस्य नाटकरूपमें है। ☞ (५) हमने जहाँ 'परदे' लिखा है वहाँ बहुधा 'सीन' समझना चाहिये। तुलसीदासका रंगमंच बर्तमान स्टेज नहीं है वरंच शेक्सपियरके समयके रंगमंचकी भांति कुछ खुला और कुछ ढका हुआ अभिनय-स्थान है जहां परदोंकी जगह छोटे सीन बना दिये जाते हैं। आजभी हम फुलवारी और धनुषयज्ञ इसी प्रकार खेले जाते देखते हैं। इतनाही नहीं, बारात इत्यादिमें तो नगरका बाजारही रंगमंच बन जाता है और जनक-बाजारमें बहुधा हर पेशेके प्रतिनिधि हिस्सा लेते हैं। इस प्रकार नाटकी और काव्यकलाका फैलाव साधारण जनतामें होता है।

पीत बसन परिकर कटि भाथा। चारु चाप सर सोहत हाथा॥३॥
तनु अनुहरत सुचंदन खोरी। स्यामल गौर मनोहर जोरी॥४॥

शब्दार्थ—परिकर = कटिबंधन; पटुका; फेंट। 'परिकरः कटिबंधनम्' अनुहरत = अनुकूल, अनुसार, अनुरूप, उपयुक्त। सुचंदन=सु (=सुन्दर, अच्छा) + चन्दन = केसर कस्तूरी कपूर आदिसे युक्त चन्दन (का अंगराग)। खोरी (खोर)—मस्तक आदिपर चन्दनका लेप करके उसपर उँगली या कंघीसे खरोंचकर चिह्न बनाये जाते हैं। उसे खोर वा खरौटा कहते हैं। किसी-किसी टीकाकारने 'तिलक' अर्थ किया है, पर यहाँ यह अर्थ नहीं है।❀

अर्थ—पीत वस्त्र (पीताम्बर) पहने हैं, कमरमें पटुका और (उससे बँधा हुआ) तर्कश है और हाथोंमें सुंदर धनुष बाण शोभित हैं॥ ३॥ शरीरके (श्याम और गौर वर्णके) अनुकूल उपयोगी सुंदर चन्दनकी खोर लगी है। साँवले और गौर रंगकी सुंदर जोड़ी है॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'पीत बसन' इति। पीतवस्त्र वीरोंका बाना है, दूसरे, भगवान्‌को पीतवस्त्र प्रिय है। इसीसे सर्वत्र पीतवस्त्र धारण करना लिखा है, यथा 'कटि पट पीत कसे बर भाथा। २०६।२।' 'केहरि कटि पट-पीत-धर ···। २३३।', 'कटि तूनीर पीत-पट बाँधे'। २४४।१।', 'तड़ित बिनिंदक बसन सुरंगा। ३१६।१।', 'पीत पुनीत मनोहर धोती।···पिअर उपरना काँखा सोती। ३२७।३,७।', 'नव अंबुधर बर गात अंबर पीत सुर मन मोहई।७।१२।' तथा यहाँ 'पीत बसन परिकर···', इत्यादि। (ख) 'पीत बसन' अर्थात् पीतांबर कंधेमें (काँखा सोती पड़ा हुआ) है, परिकर अर्थात् कटिबंधन कटिमें है और तरकश कटिमें पीले पटुकासे कसा हुआ है। यदि यह अर्थ करें कि पीत वस्त्र कटिमें है तो ऊपरका शरीर नंगा रह जाता है। ऊपर देहमें न अंगरखा है, न दुपट्टा, यह ठीक नहीं जान पड़ता। [हमारी समझमें पीतांबर पहने हैं। कवि इतना बतला रहे हैं कि उनके वस्त्र पीत हैं, अँगरखा है या क्या है, या केवल पीतांबरी

❀ पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि "यहाँ खोर तिलक अर्थ असंगत है, क्योंकि तिलक लगाना सर्वत्र कहा है; खोरका लेख कहीं नहीं आया और फिर तिलकका वर्णन आगेभी है, 'तिलक रेख सोभा जनु चाकी'। यहाँ खोर तिलकका वर्णन नहीं है किन्तु अंगरागका वर्णन है। (क्योंकि यहाँ 'तनु' कहा है)।

ओढ़े हैं, यह पाठक रुचि अनुकूल समझ लें। कटिमेंभी पीतवस्त्रकाही फेंटा है। पं० रामचरणमिश्रजी कहते हैं कि "पीतवस्त्रका कमर-फेंटा वीर बाना है। श्रीमद्भागवत रासपंचाध्यायीमें कहा है—'पीतांबरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः। भा० १० । ३२।२ ।' अर्थात् पीत फेंटा बाँधकर कामको जीता है। नगर-दर्शनमें वीरताका काम है। सबके हृदयकमलमें घुसकर मनको जीतना है। अतः वीररससे प्रसंग उठाया। वीररसका वर्णन कटिसे, शृङ्गारका शिरसे, शान्त और करुणाका पगसे कहा जाता है।"] (ख) 'चारु चाप सर सोहत हाथा।' इति। धनुष और बाण दोनों 'चारु' अर्थात् स्वतः सुन्दर हैं, सो वे भी हाथमें सोह रहे हैं— इस कथनका तात्पर्य यह है कि हाथ अत्यन्त सुन्दर हैं, सुन्दरको भी सुन्दर करते हैं। (बाबा हरिदासजी लिखते हैं कि 'चारु' से सुन्दर और पवित्र पुण्यरूप जनाया। धनुष-बाण पापियोंको निर्वाणदायक हैं, अतः 'चारु' हैं, औरोंके धनुष पाप रूप हैं)।

२ 'तनु अनुहरत सुचंदन खोरी।...' इति। (क) तन श्याम और गौर हैं, एक तरहके नहीं हैं। (श्रीरामजी श्याम हैं और लक्ष्मणजी गौरवर्ण हैं)। तनके अनुहरत चन्दन कहते हैं। इससे सूचित किया कि चन्दन भी दो तरहका है। तनके 'अनुहरत' चन्दन है, तन सुन्दर है अतः चंदनको भी सुन्दर कहा— 'सुचंदन'। 'सुचंदन' कहकर मलयागिरिचंदन सूचित किया जिसकी प्रशंसा भगवान्‌ने स्वयं अपने मुखारविन्दसे की है; यथा 'संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ताते सुर-सीसन्ह चढ़त जग बल्लभ श्रीखंड। ७। ३७।' (ख) माथेका तिलक आगे कवि स्वयं कहते हैं—'तिलक रेख सोभा जनु चाकी।' यहाँ अभी शरीरपर जो चन्दन लगा है उसका वर्णन है। कटि कहकर कटिके ऊपर कंठ तक चंदनका खौर कहा।

नोट—१ (क) 'सुचंदन खोरी' इति। 'चन्दन खौर' में मतभेद है। कोई तो श्याम तनमें केसर कपूरमय पीले रंगके चन्दनका खौर और गौरवर्ण लक्ष्मणजीके तनपर अगर-मृगमदमय श्यामरङ्गका खौर लिखते हैं। (वै०, वि० त्रि०), कोई श्यामपर पीली और गौरपर लाल खौर होना लिखते हैं। (पं०)। और कोई श्याम तनपर लाल और गौरपर श्वेत चन्दन केसरिया पीत रंगका खौर अंगराग लिखते हैं। (रा० च० मिश्र), इत्यादि। चंदन और खौरके नाम और रंग न देकर कविने सभीके मतोंका पोषण किया है। अपनी अपनी रुचिके अनुकुल सब समझ लें। पांड़ेजीका मत है कि "यहाँ किसी तिलकका नियम नहीं किया, इसलिये कि किसी न किसी मतके विरुद्ध पाया जायगा; परन्तु जब यह कहा कि श्यामगौर मनोहर जोड़ीके अनुहरत चन्दन है तो इससे लाल चन्दन पाया गया, क्योंकि वह श्याम और गौर दोनों अंगोंमें सुशोभित होता है और वाल्मीकिजीने लाल चंदन स्पष्ट लिखा है।" अगर मिलानेसे चंदनका रंग श्याम हो जाता है।

२ 'मनोहर जोरी' इति। जोड़ी मनोहर है, यथा 'राम लषन दसरथके ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा। २६६।७।' (यहाँ शोभाका भी वर्णन वैसाही है जैसा कि बालक ग्रहण कर सकते हैं। बालकों से घिरे हैं, इससे चरण नहीं देख पड़ते। अतः चरणका वर्णन नहीं किया। वि० त्रि०)।

केहरि कंधर बाहु बिसाला। उर अति रुचिर नागमनि माला॥५॥
सुभग सोन सरसीरुह लोचन। बदन मयंक ताप-त्रय मोचन॥६॥

शब्दार्थ—कंधर=कंधा, गरदन, गला। (श० सा०)। 'कं (मस्तकं) धरतीति कंधरः'। नाग=गज; सर्प; पर्वत। नागमणि=गजमुक्ता, सर्पमणि, हीरा-पन्ना-माणिक्यादि।

अर्थ—सिंहके-से कंधे और गर्दनके पृष्ठभाग हैं, भुजायें (आजानु, घुटने तक) लंबी हैं। विशाल उर (वक्षःस्थल) पर अत्यंत सुंदर नागमणियोंकी माला है॥ ५॥ सुन्दर लाल कमलके समान नेत्र हैं। मुख-चंद्र तीनों तापोंका छुड़ाने वाला है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'केहरि कंधर' अर्थात् ग्रीवा सिंहके समान पुष्ट, मांसल, मोटी और उन्नत है। 'बाहु बिसाला'—भुजाओंकी लंबाई अन्यत्र लिखी है। यथा 'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा।' अर्थात् हाथीकी शुंडके समान लंबी, बलिष्ठ और पुष्ट भुजायें हैं; 'आजानुभुज सरचापधर संग्रामजित खरदूषनं। वि० ४५।' यहाँ सिंहकीसी मोटी ग्रीव कही और फुलवारीमें सिंहकीसी पतली क्षीण कटि कही है। ('कंधर'—१४७.७ मा० पी० भाग २ देखिए)। (ख) 'उर अति रुचिर नाग-मनि-माला' इति। भाव कि वक्षःस्थल इतना सुन्दर है कि उससे समस्त भूषण रुचिर हो गए हैं। यथा 'उर आयत उर-भूषन राजे।' नाग हाथी, सर्प और पर्वत तीनोंका वाचक है; यथा 'सुमन माल जिमि कंठ ते गिरत न जानइ नाग। ४.४.१०।' 'सर छाँड़इ होइ लागहिं नागा। ६.७२।', 'नाग पास देवन्ह भय पायो। ६।७२।', 'नगे भवः नागः।' नग (पर्वत) में जो उत्पन्न हो वह नाग (इस तरह 'नाग' से मणि, माणिक्य आदि का अर्थ भी लिया जा सकता है)। इस तरह 'नागमनि' शब्द देकर गजमुक्ताओं, सर्पमणियों और हीरा-पन्ना मणियों आदिकी माला पहने होना जनाया। ये सब पहने जाते हैं; यथा 'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी। १।११।१।' पुनः, (ग) 'सिंह और हाथीका संबंध है। इसीसे सिंहकी उपमा देकर नाग अर्थात् हाथीके मणिकी माला कही। 'केहरि कंधर' के संबंधसे 'गजमुक्ताकी माला' कही। भुजा और सर्पका संबंध है, भुजाके लिये सर्पकी उपमा दी जाती है; यथा 'भुजग भोग भुजदंड कंज दर चक्र गदा बनि आई। विनय ६२।', 'अरुन पराग जलजु भरि नीके। ससिहिं भूष अहि लोभ अमी के। ३२५.६।' अतः 'बाहु बिसाला' के संबंधसे नाग अर्थात् सर्पके मणियोंकी माला कही। उरको शैलकी उपमा दी जाती है, यथा 'सुंदर श्याम सरीर सैल ते धसि जनु जुग जमुना अवगाहैं। गीतावली ७.१३।' उरका शैलसे संबंध है, अतः 'उर अति रुचिर' के संबंधसे 'नाग' अर्थात् पर्वतके मणिकी माला कही।

नोट—१ 'केहरि कंधर''' इति। यहाँ वाचक पद (सम, जिमि, आदि) नहीं हैं। इस तरह कहकर सिंहहीका रूप जनाया। सिंहके आगेवाले हाथ विशाल होते हैं, वैसेही यहाँ भी विशाल हाथ कहे। केहरि कंधरमें वाचकधर्मलुप्तोपमा है। (प्र० सं०)। 'बिसाला' देहली-दीपक-न्यायसे 'उर' का भी विशेषण है। यथा 'उर बिसाल बृष कंध''' (जा० मं० ३३)। वीरोंके कंधे ऊँचे होते हैं, इसीसे उनकी उपमा वृषभ या सिंहके कंधेसे देते हैं। पूर्व इनको पुरुषसिंह कहा है इसीसे यहाँ सिंहकेसे कंधे कहे।

प० प० प्र०—श्रीराम-लक्ष्मणजी मुनि-भय-हरणार्थ जब महर्षि विश्वामित्रके साथ सहर्ष श्रीअवधसे निकले तभी वे 'पुरुषसिंह' हो गए और वहाँसे 'सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे। २३४। ३।' तक बराबर केहरि, सिंह आदि बने रहते हैं। 'पूछन जोग न तनय तुम्हारे। पुरुषसिंह तिहु पुर उजियारे। २९२। १।' तक इन पुरुषसिंहोंका दर्शन बार-बार होता है। यहाँसे फिर आगे अयोध्याकांडकी समाप्ति तक वे पुरुषसिंह नहीं हैं। अरण्यमें तो सिंह रहते ही हैं। जहाँ खरदूषणादि दुर्धर गजराज निवास करते हैं वहाँ श्रीरामलक्ष्मण केसरी नहीं अपितु मृगराज बने और लंकाकी समाप्ति तक पुरुषसिंह, नर केहरि और मृगराज हैं। यह भी ध्यानमें रखनेकी बात है कि बालरूपके ध्यानमें 'केहरि' का नाम भी नहीं है।

नोट - २ 'सुभग शोन सरसीरुह लोचन''' इति। (क) ऊपर कह चुके हैं कि यहाँ वीररसका शृङ्गार वर्णन कर रहे हैं। वीररसके नेत्र लाल होते ही हैं। अतः नेत्र सुंदर लाल कमलके समान हैं। कमलसे कमलदलके समान लंबे दीर्घ और लाल डोरे पड़े हुये जनाया। (ख) सुंदर कमल समान नेत्र हैं। कमलमें मकरंद और पराग होता है, भ्रमर उसपर मड़राते हैं। यहाँ नेत्र-कमलमें शील मकरंद है, कृपायुक्त चितवन पराग है, पुतलियाँ भ्रमर हैं। (रा० प्र०)। (ग) 'सुभग' से जनाया कि बड़े लंबे रसीले पैने कटाक्षसहित नेत्र हैं, बड़ी बड़ी बरुणी हैं। कटाक्षसहित देखते ही पैने कटाक्ष उरमें बरछेके समान गड़ जाते हैं। (वै०)।

टिप्पणी—२ 'ताप-त्रय मोचन' इति । (क) यह 'सरसीरुह लोचन' और 'बदन मयंक' दोनोंका विशेषण है। दोनोंही तीनों तापोंको हरते हैं। यथा 'श्याम गात सरसीरुह लोचन। देखौं जाइ ताप त्रय मोचन । ६.६२ ।' (कुम्भकर्णवाक्य) । तथा यहाँ 'सरसीरुह लोचन । बदन मयंक ताप-त्रय मोचन ।' है। चन्द्रमा शरदातपमात्रको हरता है और ये दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों तापोंको हरते हैं। दैहिकतापके हरणका उदाहरण, यथा 'निरखि राम छबिधाम मुख बिगत भई सब पीर । ३ । ३० ।' [(ख) यहाँ जनकपुरमें आपके आगमनसे तीनों ताप दूर भी होंगे ।—प्रतिज्ञारूपी दैहिक ताप (क्योंकि प्रतिज्ञा शरीरसे होती है), खल नृपों द्वारा उत्पन्न भौतिक ताप (क्योंकि ये धनुष टूटनेके पश्चात् लड़नेको कटिबद्ध होने लगे थे । भौतिक ताप क्षुद्र जीवों द्वारा होता है, वैसेही ये दुष्ट राजा अति नीच हैं) । और, परशुरामका गर्वसहित आगमन और रोष दैविक ताप (जो अकस्मात् एकाएक उत्पन्न हो गया) । (पाँ०) । ये तीनों ताप मिट गए । (ग) अथवा, भक्त चार प्रकारके हैं । उनमेंसे जो ज्ञानी भक्त हैं उनको तो कोई भय नहीं है । रहे तीन—आर्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु । इन तीनोंके तापोंको दूर करेंगे । यथा 'सखिन्ह सहित हरषीं सब रानी । सूखत धान परा जनु पानी ।', 'जनक लहेउ सुख सोच बिहाई ।', 'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती । जनु चातकी पाइ जल स्वाती ।' इत्यादि । (प्र० सं०) । अथवा, (घ) त्रय ताप अर्थात् अज्ञानी, जिज्ञासु और ज्ञानियों तीनोंके ताप हरते हैं । अज्ञानियोंको जिज्ञासा, जिज्ञासुओंको ज्ञान और ज्ञानियोंको जीवन्मुक्तिकी दृढ़ता कराते हैं ।' (प०) । अथवा, 'इस समय शरद ऋतु है । आज आश्विन शुक्ल चतुर्दशी युक्त पूर्णिमाका दिन है । धनुर्भंगकी चिन्तारूपी शरदातपसे विदेह जनकादि बड़े ज्ञानी बिरागी तथा समस्त मिथिलावासी संतप्त हैं । ऐसे अवसरपर जनकपुरमें वदनमयंक उदित हुआ है । चन्द्रमा तो रातमें उदय होता है पर यह मृगांक दिनमें ही उदित हुआ है और दिनके चौथे प्रहरमें जनक-पुरीकी बीथियोंमें होकर चल रहा है । यह चारु शशि है (१।१६।५) । राकाशशि है यह वन्दनामें ही कह रक्खा है । अतः यहाँ मयंक (=मृगांक) शब्दसे कोई दुस्तर्क न करें । जनकपुरीके नर-नारि तथा जनक तीनोंका ताप मिटानेवाले हैं, यह 'तापत्रय मोचन' से जनाया है ।' (प. प. प्र.)]

कानन्हि कनकफूल छबि देहीं । चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं ॥ ७ ॥

चितवनि चारु भृकुटि बर बाँकी । तिलक रेख सोभा जनु चाँकी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—कनकफूल = झुमका वा कर्णफूल जो कमलके फूलकी कर्णिकाके समान होता है । कुंडल कई प्रकारके होते हैं—मीनाकृत, मकराकृत, मयूराकृत, पुष्पाकृत, भ्रमराकृत, इत्यादि । यहां 'कनकफूल' से पुष्पाकृत कुंडल सूचित किये । यह कनककली और लौंगके समान होता है ❀ । बाँकी = टेढ़ी, तिरछी । चाँकी = चक्रांकित की, मुहर लगा दी । जब मालगुजारी खेतकी पैदावारके ही रूपमें दी जाती थी, तब राजाका अंश अन्नके ढेरोंमें 'चक्रांकित' कर दिया जाता था । (गौड़जी) । (२) खलियानमें अनाजकी राशिपर मिट्टी वा राखसे छापा लगाना, जिसमें, यदि अनाज निकाला जाय तो मालूम हो जाय । यथा 'तुलसी तिलोक की समृद्धि सौज संपदा सकेलि चाकि राखी रासि जाँगरु जहान भो ।' (क० ५।३२) । (श० सा०) । = छापा जो विना बँटे हुये अनाजपर लगाया जाता है । (मा० त० वि०) । और अर्थ टिप्पणी आदिमें नीचे दिये गये हैं ।

अर्थ—कानोंमें 'कनकफूल' (पुष्पाकृत कुंडल) शोभा दे रहे हैं (भाव कि इनके कानोंमें पड़जानेसे

❀ 'कनकफूल' के और अर्थ—(१) पीतवर्णके फूल (कानमें खोंसे हैं) । (रा० प्र०) । वा, (२) कनक=धतूराके समान फूल (कानोंमें हैं) । (रा० प्र०) ।

कनकफूलोंकी शोभा है)। देखतेही (देखनेवालेके) चित्तको मानों चुरायेही लेते हैं। ७। उनकी चितवन (अवलोकन, दृष्टि, नेत्रोंका कटाक्ष) मोहिनी है और भौंहें श्रेष्ठ, सुंदर और टेढ़ी-तिरछी हैं। तिलककी रेखायें ऐसी जान पड़ती हैं कि मानों 'शोभा' पर छाप या मुहर लगा दी गई है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'कानन्हि कनकफूल···' इति। (क) कानोंमें कनकफूल अत्यंत शोभा दे रहे हैं। यह स्पष्ट अर्थ तो है ही, पर 'चितवत चितहि चोरि जनु लेहीं' के संबंधसे एक अर्थ इस प्रकार होता है—कानन = बन। कनक-धतूरा। यहां कान बन है (पांड़ेजीके मतानुसार शरीर बन है), कनकफूल (जो कानमें पहने हैं) धतूरेका अमल है। धतूरेमें नशा है, यहां छबि नशा है। 'छबि देहीं'=छबि देते हैं। छबिको देकर चित्तको चुरा लेते हैं। [तात्पर्य कि जैसे बनमें धतूरेका अमल बटोहीको देकर ठग उसका सब धन चुरा लेते हैं, वैसेही यहां कानरूपी बनमें कनकफूल रूपी ठग छबिरूपी धतूरेका अमल देकर दर्शकरूपी बटोहीके चित्तरूप सब वित्तको चुरा लेते हैं। धतूरा बेहोश कर देता है, दर्शक तन-मन-वचनसे शिथिल हो जाते हैं। यथा 'एक नयन मग छबि उर आनी। होहिं सिथिल तन मन बर बानी। २।११४।८।'—पांड़ेजीके आधारपर यह भाव संभवतः सबने कुछ हेर-फेरसे लिखा है। रा० प्र० कार लिखते हैं कि कानोंमें जो धतूरेके समान (कनक) फूल हैं वे अपनी छबिसे देखनेवालेको उन्मत्त बना देते हैं जैसे बिष देकर लोग बेहोश कर दिये जाते हैं। ये 'कानन्हि' का अर्थ 'बनमें' नहीं करते हैं। प्र. स्वामी कहते हैं कि 'कानन्हि' कान-शब्दकी सप्तमी विभक्तिका बहुवचन है, अतएव कानन शब्द लेकर बन आदि अर्थ करना खींचातानी है। कनकफूल-धतूरेके फूलके आकारका कुण्डल] (ख) 'चोरि जनु लेहीं' अर्थात् चित्त कनकफूल (के देखने) में लग जाता है (उधरसे हटता नहीं)। यथा 'तुलसी तिन्ह फिर मन फेरि न पायो।', 'हेरत हृदय हरत नहिं फेरत चारु बिलोचन कोने। तुलसी प्रभु किधौं प्रभुको प्रेम पढ़े प्रगट कपट बिनु टोने। गीतावली २।२३।' (ग) चित्त कोई चुरानेकी वस्तु नहीं है। यह कविकी कल्पना मात्र 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है। (वीर)

२ 'चितवनि चारु' इति। (क) नेत्र कह आए—'सुभग सोन सरसीरुह लोचन।', अब उनका व्यापार कहते हैं। चितवन नेत्रका व्यापार है। (ख) चितवन चारु है, यथा 'चितवनि चारु मार मनु हरनी। भावति हृदय जाति नहिं बरनी। २४३।३।' पुनः, (ग) चारु=सुन्दर। ["अर्थात् चितवन सौम्य, तिरछी कटाक्षादि रहित है। यह स्थैर्यगुणकी मुद्रा है। भाव कि चित्त सदा स्थिर रहता है।" (वै०)। पुनः, (घ) चितवनि अर्थात् कटाक्ष जो शृङ्गारका मूल है। यथा 'भावः कटाक्षानि हेतुः शृङ्गारे बीजमादिमम्। प्रेममानः प्रणयश्चस्नेहोरागोऽपि स स्मृतः॥ अनुरागः स एवस्य दंकुरः पल्लवस्तथा। कलिकाकुसुमानीति फलो भोगः स एव च।' इति कोशलखंडे।' कटाक्ष तीन प्रकारका है। यथा 'कटाक्षस्त्रिविध श्यामः श्वेतस्यामस्तथाशितः।' (मा० त० वि०)]। नेत्र और चितवन दोनोंको कहकर जनाया कि केवल नेत्रही नहीं सुंदर हैं, चितवनभी सुन्दर है।

नोट—'भृकुटि बर बाँकी' इति। (क) भौंहँकी टेढ़ाई उदासीनताकी मुद्रा है। उसमें 'बर' विशेषण लगाकर उत्तम उदासीनता जनाई। अर्थात् अपने लिये कुछ नहीं चाहते हैं पर याचकमात्रके लिये उदार दाता हैं।—यह ऐश्वर्य-देशीय अर्थ हुआ। (बै०)। पुनः, (ख) 'बर' विशेषण देकर जनाया कि भृकुटि अपनी उपमासे श्रेष्ठ है। यथा 'भृकुटि मनोज चाप छबि हारी।' (पं० रामकुमार)। भृकुटीका टेढ़ी होनाही उसकी शोभा है।

"तिलक रेख सोभा जनु चाँकी" इति।

श्रीमान् गौड़जी और श० सा० के अर्थ शब्दार्थमें दिये गये। टीकाकारोंके अर्थ यहां दिये जाते हैं—

(१) पंजाबीजी—"तिलककी रेखा तो मानों शोभाको चांकी अर्थात् छापा लगाया है। भाव यह है कि समस्त शोभाको माथेहीमें रोक रक्खी है।"

(२) पांड़ेजी—(क) मानों शोभाकी राशिको घेर लिया है जिसमें डीठि (नजर, कुदृष्टि) और टोना न लगे। पुनः, (ख) चाकी=चकबक (चकित) होगई। आशय यह कि तिलक रेखा ऐसी है कि मानों शोभा स्वयं आके चकबक होकर खड़ी हो रही है।

(३) बैजनाथजी—"माधुर्यमें अर्थ यह है कि सुन्दर चितवन तथा बाँकी कामधनुषसी श्रेष्ठ भृकुटी हैं। इनके बीचमें कामबाणसी तिलककी रेखायें ऐसी शोभित हैं मानों द्युति, लावण्य, स्वरूपता, सुन्दरता, रमणीयता, कान्ति, माधुरी, मृदुता और सुकुमारता आदि अंगों सहित शोभाकी राशि चाकी है अर्थात् छापा धरा है। भाव कि किसी अंगसे खंडित नहीं है।"

(४) बाबा हरिहरप्रसादजी—चाँकी अर्थात् कसौटीपर कसी हुई कनककी रेखा। (रा० प०) कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं कि तिलककी रेखने शोभाको चकित कर दिया अथवा दबा दिया है।

(५) सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—(क) यहाँ 'चाँक' मागधी बोली है। इसका अर्थ है 'सावधान करना या होना'। बोलचालमें कहा जाता है कि 'मुझे तो उसीके बात करनेपर चांक पड़गया अर्थात् सावधानता आगई। 'तिलक रेख...चांकी' अर्थात् तिलककी ऊर्ध्वरेखाओंने मानों सर्वांगकी शोभाको 'सयग्य' (सजग) कर दिया है। भाव यह कि यह विदेहनगर है, इसमें भावात्मक होकर देख पड़ना। अथवा, श्रेष्ठ बांकी भृकुटी त्रिशूलाकार तिलकरेखद्वारा शोभाको मानो सावधान कर रही है। भाव यह कि यहां श्रीलाड़लीजीकी शोभाका मंडल है, ऐसा न हो कि छक करके तुम फीके पड़ जाओ जिससे मुझे क्रोध आवे। अतः आगे अद्भुत शोभासे सखिगणकी दृष्टिमें चकाचौंध आगया, यथा 'कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥ सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥.... । २२०। " (ख) चाँकी=छापा जो विना बटे हुए गल्लेपर दिया जाता है। भाव कि यह तिलक नहीं है किन्तु मानों शोभारूपी ढेर (राशि) के लिये छापा दिया हुआ है।

(६) पं० रामकुमारजी—(क) तिलककी रेखाओंने मानों शोभाको रोक दिया है। अर्थात् दो रेखाओंका तिलक है। दोनोंके बीचमें शोभा रुक गई। अथवा, (ख) तिलकरेखकी शोभा कैसी है मानों बिजली है। यथा 'कुंचित कच सिर मुकुट भाल पर तिलक कहौं समुझाई। अलप तड़ित जुग रेख इंदु महुँ रहि तजि चंचलताई। विनय ६२।' अथवा, (ग) तिलकरेख क्या है मानों शोभा है जो मुखकी शोभाको देखकर चकित होगई है।—(वीरकवि और त्रिपाठीजीनेभी 'चाकी' का अर्थ 'बिजली' किया है)।

(७) श्रीनंगे परमहंसजी—मानों शोभाको घेरेमें कर लिया है।

(८) एक महात्माने 'शोभा' का अर्थ 'श्री' करते हुये लिखा है कि 'तिलककी दो रेखाएँ पीत रंगकी हैं, बीचकी श्री लाल रंगकी है। 'श्री' का अर्थ शोभाभी होता है, शोभाकाभी रंग लाल है। अतः बीचकी 'श्री' शोभा हुई, वह बग़लकी दोनों रेखाओंसे घिरी है। यही चाकना है।'

तिलकमें दो ऊर्ध्वरेखाओंके बीचमें 'श्री' भी होती है यह प्राचीन आर्ष ग्रन्थोंसे स्पष्ट है। 'श्री' के 'श्रीलक्ष्मीजी', 'श्रीजानकीजी', 'शोभा' और 'श्री' तिलक आदि अर्थ भी हैं; किंतु 'श्री' (तिलक) और 'शोभा' पर्याय-शब्द नहीं हैं। यदि 'शोभा' का अर्थ 'श्री' (तिलक) होता तो यह भाव विशेष सुंदर होता। दूसरे, यदि कदाचित् 'शोभा' का अर्थ 'श्री'-तिलक हो भी, तो इस अर्थको लेनेसे 'जनु' शब्द व्यर्थ हो जाता है।

(९) प्र० सं० में कुछ औरभी अर्थ दिये गए थे—(क) मानों शोभा वहाँ वर्तमान वा स्थिर है। (ख) मानों शोभा चारों ओरसे गोठ, मढ़ या दाब दीगई है, परिपूर्ण है।

☞ मैं गौड़जी और श० सा० के अर्थको समीचीन समझता हूँ। वही अर्थ प्रथम संस्करणमेंभी दिया गया था। अन्नकी जो राशि जमींदारका अंश होती थी, उसका प्रतिनिधि उसपर अपने हाथका चिह्न

कर देता था। हाथकी छापको, चक्रकी छापको अथवा और किसी मुद्राकी छापको लगाकर किसी वस्तुको किसीके लिये अछूता या अंगौंगा करनेकी क्रियाका नाम 'चाँकना' है। तिलककी रेख क्या है, मानो शोभाकी मुहर है, पेटेन्ट है। अब दूसरेकी ऐसी शोभा होही नहीं सकती। नक़ल नाजायज़ होगी।—यह भाव है। (प्र० सं०)। सत्यके प्रमाणमें मुहर लगाई जाती है। भाव कि तिलक ने मुहर दे दी कि यही सच्ची शोभा है (वि० त्रि०)।

दोहा—रुचिर चौतनीं सुभग सिर मेचक कुंचित केस।
नख सिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस ॥२१९॥

शब्दार्थ—चौतनी = बच्चोंकी टोपी जिसमें चार बंद लगे रहते हैं। (श० सा०)। =चौगसी=चार तनों वा बन्दोंवाली कामदार टोपी या।मुकुट जिसमें बंदोंका जोड़ा कुंडलके पीछे हर एक कानके पास बँधता था। = चौगोशिया।=चारों ओरसे तनी हुई। चार कोनोंकी। (पां०)। पंजाबीजी 'रंगीन चीरा' अर्थ करते हैं। मेचक=काले। कुंचित=घुंघराले=टेढ़े बल खाये हुये छल्लेदार। नखसिख=नखसे शिखा (चोटी) तकके सब अंग; शिरसे पैर तक; ऊपरसे नीचेतक। सुदेश = जहाँ जैसी चाहिये वैसा सुंदर। =सुन्दर देश। 'सुन्दर', यथा—'लटकन चारु भृकुटिया टेढ़ी मेढ़ी सुभग सुदेस सुभाए। गीतावली १.२६।', 'सीय स्वयंबरु जनकपुर सुनि सुनि सकल नरेस। आए साज समाज सजि भूषन बसन सुदेस।' (श० सा०)। =सुन्दर अंग। (पं० रामकुमार)।

अर्थ—सुन्दर सिरपर सुन्दर चौगोशिया टोपी है। काले घुंघराले बाल हैं। दोनों भाई नख-शिखसे सुन्दर हैं। संपूर्ण शोभा जहाँ जिस अंगमें जैसी चाहिये वैसीही है, (समस्त सुंदर अंगोंमें शोभा है)।२१९।

टिप्पणी—१ [(क) 'रुचिर चौतनी' इति। 'रुचिर' से मणियुक्त डंकबीजा जरतारी विचित्र बनी हुई सूचित की। (वै०)। गीतावलीमें भी नगरमें प्रवेशके समय 'चौतनी' ही सिरपर पहने कहा गया है। यथा 'चौतनि सिरनि कनककली काननि कटि पट पीत सुहाए। १।६०।', 'कल कुंडल चौतनी चारु अति चलत मत्त गज गौंहैं। १।६१।' पुनः, 'रुचिर' से दीप्तिमान, प्रकाशमान, और 'सुभग' से ऐश्वर्यमान जनाया। (पां०)] (ख) कटिसे शोभाका वर्णन प्रारंभ किया और मस्तकपर समाप्त किया। अर्थात् कटिसे शिखा पर्यन्त ध्यानका वर्णन किया गया, इससे संदेह हो सकता था कि कटिके नीचेके अंग सुन्दर न होंगे। इस दोष एवं संदेहके निवृत्यर्थ कहते हैं—'नखसिख सुंदर', अर्थात् नखसे शिखातक सर्वाङ्ग सुंदर है। यह दोहा १४७ तथा दोहा १९९ के वर्णनोंसे भी स्पष्ट है। अन्य अंगोंकी सुंदरताका उल्लेख पाठक वहाँ देख सकते हैं। [स्मरण रहे कि यहाँ वीररसका ध्यान वर्णन किया गया है, अतः कटिसे शिरतककाही वर्णन किया गया, इससे यह प्रश्न नहीं उठ सकता कि नीचेके अंग सुंदर न होंगे। साहित्यके अनुसार वर्णन हुआ है। (ग) 'चितवनि' को चारु कहा। चितवन नेत्रका व्यापार है, नेत्रके पास भृकुटी है, भृकुटिके समीप तिलक है, तिलकसे सटी चौतनी, चौतनीसे सटा सिर, और सिरपर एवं सिरके समीप केश हैं—इस तरह क्रमसे शोभाका वर्णन किया गया। (घ) 'मेचक कुंचित केस' से यह भी जनाया कि काले घुँघराले बाल कपोलोंपर लहराते हैं। गीतावलीमें कुंचित केशोंकी शोभाका सुंदर वर्णन है। यथा 'बिथुरित सिररुह बरूथ कुंचित बिच सुमन जूथ मनिजुत सिसु-फनि-अनीक ससि-समीप आई। ७।३।' (वै०)।]

२ 'नखसिख…' इति। (क) जब कटिसे शिखातकका वर्णन किया तब सब देश (अंग) वर्णन किये, पर जब नख-शिख वर्णन किया तब कोई देश (अङ्ग) वर्णन नहीं किये। इसीसे नख-शिखके वर्णनमें कहते हैं—'सोभा सकल सुदेस' अर्थात् सकल सुदेशों (सुन्दर अङ्गों) में शोभा है। (ख) दोनों

भाइयोंकी शोभा वर्णन की, इसीसे आदि और अन्त दोनोंमें 'शोभा' शब्द रक्खा। यथा—'बालकबृंद देखि-अति सोभा। २१६।२।' (आदिमें), 'नखसिख सुंदर बंधु दोउ सोभा सकल सुदेस'।

नोट—'सोभा सकल सुदेस' के और भाव—(१) 'सकल सोभा' अर्थात् मूर्तिमान शोभा औरोंके अङ्गोंमें मानों काल (अकाल, दुर्भिक्षग्रसित) देशोंमें (अर्थात् कुदेशमें) पड़ी हुई थी, वही इन दोनोंके अङ्गोंरूपी (धन-धान्यसे पूर्ण) सुन्दर देशमें आकर मोटी होगई। (पाँ०)। (२) सुदेशमें पड़ना इससे कहा कि प्राकृत, अङ्गोंमें एक न एक दिन अकाल पड़ेगा। वहाँ यह शोभा सदा एकरस नहीं बनी रह सकती, (रोग, जरा, आदि अनेक शत्रु उसको कब एकसी रहने दे सकते हैं) और आपकी देह चिदानंदमय है, इससे यहाँ सदा एकरस बनी रहेगी। अन्यत्र अकालमें पड़ीथी, यहाँ सुकाल पाकर हरी-भरी और सुखी होगई। (रा० च० मिश्र)। (३) "नखशिखमें तो सभी अङ्ग आगए। सभी अङ्गोंकी शोभाका वर्णन तो इन शब्दोंसे होगया और कुछ अङ्गोंकी शोभाका वर्णन पहलेही कर चुके हैं, तब तो यहाँ पुनरुक्ति दोष आजाता है ?"—इस प्रश्नको उठाकर उसका समाधान यह करते हैं कि जैसे कटि से ऊपरके अङ्ग पृथक्-पृथक् कहे, वैसेही 'सोभा सकल सुदेस' से कटिके नीचेके भी अङ्गोंको पृथक्-पृथक् जनाया। पुनः नखशिख सर्वाङ्ग सुन्दर है और शोभा अर्थात् शृङ्गार सकल सुदेश अर्थात् संपूर्ण अङ्गोंमें प्राप्त है, जहाँ जैसा चाहिए। मिलान कीजिये-'नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं। गी० १।७१।'

लमगोड़ाजी—इस नखशिख वर्णनमें शृङ्गार और वीररस प्रधान है मगर शान्त रस भी मौजूद है।

प० प० प्र०—रूपका वर्णन कटि प्रदेशसे शुरू किया और भाथा, सायक, चाप आदिका आरंभमें ही उल्लेख करके वीररस प्रधानरूप जनाया और सिरतकके मुख्य-मुख्य अंगोंका ही वर्णन करके शृङ्गार-रसमें पर्यवसान किया -'मेचक कुंचित केस'। इस तरह जनाया कि देखनेवालोंका मन पहले तो वीररसमें लगता है पर आखिर-शृङ्गाररसमें ही सब डुबकी लगाते हैं। वीररसको देखते ही भवचापभंगकी आशा होगी', पर शृङ्गारकी अतिसुकुमारतापर दृष्टि पड़ते ही आशारस-भंग हो जायगा। और ऐसा हुआ ही है यह आगेके प्रसंगोंसे स्पष्ट है।

देखन नगर भूप-सुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए ॥ १ ॥
धाए धाम काम सब त्यागी। मनहुं रंक निधि लूटन लागी ॥ २ ॥

शब्दार्थ—निधि—नोट ४ में देखिये।

अर्थ—श्रीदशरथजी महाराजके पुत्र नगर देखने आए हैं, (यह) खबर पुरवासियोंने पाई ॥ १ ॥ सब घर और घरका सब कामकाज छोड़कर (ऐसे) दौड़े मानों दरिद्री कंगाल निधि लूटनेके लिये दौड़े हों ॥२॥

राजारामशरणजी—वर्तमानके स्टेजोंपर तो यह सीन दिखायाही नहीं जा सकता। हां! फ़िल्म कलाका यह बड़ाही सुन्दर नमूना है।

टिप्पणी—१ (क) 'समाचार पुरबासिन्ह पाए' इति। श्रीजनकजीके साथ मंत्री, ब्राह्मण, ज्ञातिवर्ग इत्यादि बहुतसे लोग विश्वामित्रजीसे मिलने गए थे। 'समाचार पाए' कहनेसे पाया जाता है कि उन साथके समस्त लोगोंने आकर अपने-अपने घरमें तथा इष्ट मित्रोंसे अवश्य कहा होगा कि ऐसे ऐसे परम सुन्दर दो राजकुमार चक्रवर्त्तीमहाराजके मुनिके साथ आए हैं, देखनेही योग्य हैं, इत्यादि। इस तरह थोड़ीही देरमें दोनों राजकुमारोंके सौंदर्य्यका शुहरा सारे शहरमें मच गया। सभी दर्शनाभिलाषी हो रहे हैं। दर्शनको लालायित हो रहे हैं और उधर विश्वामित्रजी कोटके भीतर महलमें टिके हैं। वहां पहरा लगा है कि एकान्तमें रहनेवाले महात्मा आए हैं, वहां भीड़ होनेसे मुनिको कष्ट होगा; अतः कोई बिना उनकी आज्ञाके वहां न जाने पाए। पुरवासी वहां जा न सकते थे। जब वे नगर देखने आए, तब

दर्शनकी सुगमता हुई। बालकवृन्द संग लगगए और इतनेहीमें समस्त पुरवासियोंको खबर मिल गई कि दोनों राजकुमार पैदलही नगर-अवलोकनार्थ आरहे हैं। ['आये' शब्द प्रभुकी कृपाकी सूचना दे रहा है कि इनके मनोरथोंको पूरा करनेके लिये स्वयंही आरहे हैं।] ☞देखिये, ये नगर देखने आए और नगर इनको देखनेकेलिये दौड़ा।

'धाये धाम काम सब त्यागी' इति।

१० प्र०—घरके सब काम छोड़कर दौड़नेका भाव कि पहले पहुँचनेसे भली भाँति देख सकेंगे, देर होनेसे भीड़के पीछे पड़जायँगे। अथवा, कहीं वे चले न जायँ कि हमें दर्शन न हो सके।

पं० रामकुमारजी—'धाम' छोड़कर भागे अर्थात् घरमें किवाड़ न लगाए, ताला न बंद किया। 'काम त्यागी' अर्थात् जो काम उस समय कर रहे थे वह वैसाही छोड़कर चलदिये। [तात्पर्य्य कि इनके दर्शन-रूपी निधिके आगे धाम और सब काम आदि निद्धियाँ तुच्छ हैं। जो इनको छोड़ धन धामादिमें लगते हैं, विधाताको उनके प्रतिकूल समझना चाहिये] यथा 'परिहरि लषन रामु बैदेही। जेहि घरु भाव बाम बिधि तेही। २।२८०।', "जरौ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो रामपद करै न सहस सहाइ। २।१८५।" [धामको अरक्षित छोड़ा, काम भी आधेमें छोड़ा, बिगड़ जाने दो; अतः 'त्यागी' कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ इस संबंधमें भा० स्कंध १० अ० २९ पढ़ने योग्य ही है। शरद्पूनोकी रात्रिमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीने बाँसुरी बजाकर मधुर मनोहर गीत गाना प्रारंभ किया; त्योंही वे व्रजगोपिकायें कामोद्दीपक गानको सुनकर झटपट झपटती हुई चल दीं, मारे उतावलीके कोई किसीको नहीं बुलाती। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि वे इतनी वेगसे चली थीं कि उनके कानोंके हिलतेहुए कुंडल अबभी मुझे दीखसे रहे हैं। जो दूध दुह रही थी वह अत्यन्त उत्सुकतावश दूध दुहना छोड़कर वैसेही चल पड़ी। कोई चूल्हेपर चढ़ा हुआ मोहनभोग, कोई उफनता हुआ दूध विना आगपरसे उतारे ज्योंकी त्यों छोड़कर चल दी। जो पतिको भोजन करा रही थी वह परसना छोड़कर, जो गोदके बच्चोंको दूध पिला रही थीं वे दूध पिलाना छोड़कर, जो पतियों की सेवा-सुश्रूषा कर रही थीं वे सेवा सुश्रूषा छोड़कर और जो स्वयं भोजन कर रही थीं वे भोजन करना छोड़कर, जो अपने शरीरमें अंगराग लेप रही थीं, जो चंदन, उबटन या आँखोंमें अंजन लगा रही थीं वे सब अपना अपना काम छोड़कर अपूर्ण शृङ्गारहीं जैसे-तैसे उलटे-सीधे आधेचौथाई भूषणवस्त्र पहिने बड़ी उतावलीसे भगवान् कृष्णके पास पहुँचनेकेलिये दौड़ पड़ीं।

ठीक वैसीही दशा यहां 'धाए धाम काम सब त्यागी' पद देकर श्रीमद्गोस्वामिपादने दर्शित कराई है। भेद केवल इतना अवश्य है कि वहाँ रासविहारमें तो भगवान्की वंशीकी मधुर ध्वनि और उसपर भी कामोद्दीपक मधुर मनोहर गानने गोपियोंके मनको हरण किया था जिससे विह्वल होकर वे इस प्रकार उत्सुकतासे विना किसी सार-सँभारके चल दीं और यही नहीं वरंच अपने पिता, पति, भ्रातादिके रोकनेपर भी न रुकी थीं। और, यहां तो युगल श्रीराजकुमारोंके नगरदर्शनका समाचारमात्रही सुनकर सब दौड़ उठे—'समाचार पुरबासिन्ह पाए॥ धाए धाम काम सब त्यागी।' इतनाही नहीं किन्तु वहां तो गोपिकाओंको लोगोंने रोका भी था और यहां तो रोकता ही कौन? सबके सबही तो दर्शनके लिये बावले हो रहे थे, रोकनेवाले स्वयंही उस प्रेमडगरियापर पग धर चुके थे, स्वयंही भागे चले जा रहे थे।

२ ☞ उपदेश—इसी तरह जो वासनाओंको छोड़कर, निष्काम, धन-धामादिकी पर्वा न करके भगवान्की ओर 'धावते' हैं उनको 'प्रभु' अवश्य प्राप्त होते हैं—'जरउ सो संपति सदन सुख०'।

प. प. प्र.—'काम' शब्द मानसमें ८० बार आया है। इसका अर्थ 'काज', 'कार्य' कहीं नहीं है। अतः यहाँ और 'सगबासी नर नारि सुनि धाम काम तजि धाइ। २।२२१।' में 'धामको भूलकर और कामका

त्याग करके धाए' ऐसा ही अर्थ करना उचित है। उदाहरण यथा—'राम भजिय सब काम बिहाई ।४।२३।६।', जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम । ५।४६ ।', 'सोइ रघुबीर प्रनत अनुरागी । भजहु नाथ ममता सब त्यागी । ६।७।५ ।', 'भजिअ राम तजि काम सब । ७।१०४ ।' इत्यादि । (मेरी तुच्छ बुद्धिमें तो यहां 'धाम' के साथ 'काम' का अर्थ कार्य ही उचित है। धाम काममें अनुप्रास है। भागवतके उद्धरणके अनुकूल भी है) ।

नोट—३ निधिकेलिये उद्योग करना चाहिये, इसीसे धाए। यथा 'उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः'। 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई ।। अबला बालक बृद्ध जन कर मीजहिं पछिताहिं । २।१२१ ।'

४—निधियोंके नाम—पद्म, महापद्म, मकर, कच्छप, मुकुन्द, नन्दक, नील और शङ्ख। यथा "यत्र पद्म महापद्मौ तथा मकरकच्छपौ, मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः।" (मार्क० पु० अ० ६५।५)। (१) पद्म नामक निधि सत्वगुणका आधार है। इसके प्रभावसे मनुष्य सोने, चाँदी और ताँबे आदि धातुओंका अधिक मात्रामें संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है। धर्म, दान, यज्ञादि भी करता है। (२) महापद्म भी सात्विक है। जो मनुष्य इसके आश्रित होता है वह पद्मराग आदि मणि, मोती और मूँगा आदिका संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है, योगियोंको दान देता है, और वह और उसके पुत्र-पौत्रादि उसी स्वभावके होते हैं। महापद्मनिधि सात पीढ़ियोंतक उसका त्याग नहीं करती। (३) मकर नामक निधि तमोगुणी होती है। उसकी दृष्टि पड़नेपर सुशील मनुष्य भी प्रायः तमोगुणी बन जाता है। वह बाण, खड्ग, धनुष, ढाल आदिका संग्रह करता, राजाओंसे मित्रता जोड़ता, शौर्यसे जीविका चलानेवाले क्षत्रियों तथा उनके प्रेमियोंको धन देता है। अस्त्र-शस्त्रोंके सिवा और किसी वस्तुके क्रय-विक्रयमें उसका मन नहीं लगता। ऐसा मनुष्य लुटेरोंके हाथसे अथवा संग्राममें मारा जाता है। (४) कच्छप निधिकी दृष्टि पड़नेपर भी मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होती है। इसके आश्रित मनुष्य पुण्यात्माओंके साथ व्यवहार करता है। यह सब ओरसे रत्नोंका संग्रह करता और उसकी रक्षाके लिये व्याकुल रहता है। यह धनको गाड़कर रखता है, न दान करता है, न अपने उपभोगमेंही लाता है। (५) मुकुन्द नामकी निधि रजोगुणमयी है। जिसपर इसकी दृष्टि पड़ती है वह मनुष्य रजोगुणी होता है, वीणा-वेणु मृदंग आदि वाद्योंका संग्रह करता है और नाचने-गानेवालोंहीको धन देता है। (६) नन्दकनामकी निधि रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे संयुक्त है। इसकी दृष्टि पड़नेपर मनुष्य अधिक जड़ताको प्राप्त होता है। यह समस्त धातुओं, रत्नों और पवित्र धान्य आदिका संग्रह तथा क्रय-विक्रय करता है, स्तुति करनेवालेको सबकुछ देता है। उसके बहुतसी स्त्रियाँ होती हैं जो संतानवती और सुन्दरी होती हैं। वह सदा नवीन मित्रोंसे प्रेम करता है, दूरसे आये हुए बंधु-बांधवोंका भरणपोषण करता है। (७) नील महानिधि सत्व और रजोगुणसे संयुक्त होती है। इसके आश्रित मनुष्य वस्त्र, कपास, धान्य, फल, फूल, मोती, मूँगा, शंख, सीपी, काष्ठ तथा जलसे पैदा होनेवाली अन्यान्य वस्तुओंका संग्रह एवं क्रय-विक्रय करता है। यह मनुष्य तालाब, बावली आदि बनवाता, पुल बँधवाता, वृक्ष रोपता, चन्दन और फूल आदि भोगोंका उपभोग करके ख्याति लाभ करता है। यह निधि तीन पीढ़ियों तक चलती है। आठवीं निधि जो शंख नामकी है वह रजोगुण और तमोगुणसे युक्त होती है तथा अपने स्वामीको भी ऐसेही गुणोंसे युक्त बना देती है ? वह मनुष्य अपने कमाये हुए अन्न और वस्त्रका अकेलाही उपभोग करता है। उसके कुटुंबी खराब अन्न खानेको और साधारण वस्त्र पहननेको पाते हैं।

पद्मिनी नामकी विद्या इन सब निधियोंकी अधिष्ठात्री वा स्वामिनी है और साक्षात् लक्ष्मीजीका स्वरूप है। ये सब निधियाँ मनुष्योंके अर्थकी अधिष्ठात्री देवी कहलाती हैं, इन सबका आधार पद्मिनी विद्या

है। देवताओंकी कृपा तथा साधुमहात्माओंकी सेवासे प्रसन्न होकर जब ये निधियाँ कृपादृष्टि करती हैं तब मनुष्यको सद्रा धन प्राप्त होता है (मार्कण्डेय पुराणमें अष्टनिधियाँ बताई गई हैं। कोई-कोई 'महाशंख' नाम की भी एक निधि कहते हैं। निधियाँ क्या हैं, यह किसीने नहीं लिखा। इसीसे हमने खोजकर उनका उल्लेख प्रमाणसहित कुछ विस्तारसे कर दिया है)।

'मनहु' रंक निधि लूटन लागी' इति।

पं० रामकुमारजी—१ लागी = निमित्त, लिये। यथा 'तुम्हहि लागि धरिहौं नरदेहा', "एक जनम तिन्हके हित लागी"। 'मानों रंक निधि लूटन लगे' यह अर्थ नहीं है, क्योंकि अभी तो निधि तक पहुँचेही नहीं हैं, लूटेंगे कैसे ? लूटनेके लिये दौड़े। २—श्रीदशरथजीमहाराजने मनु-शरीरसे तेईस हजार वर्ष तपस्या की तब यह निधि मिली। विश्वामित्रजी इस निधिको राजासे माँगकर ले आए, यथा 'श्याम गौर सुंदर दोउ भाई। बिश्वामित्र महानिधि पाई'। [अर्थात् इस निधिके विश्वामित्र ऐसे महामुनि याचक बने थे, तब कहीं उनको मिली थी—'मैं जाचन आएउँ नृप तोही'। और वहभी कितनी कठिनतासे, वसिष्ठजीकी सिफारिशसे मिली थी। उसी निधिको जनकपुरवासी लूटनेको दौड़े। तात्पर्य्य कि ऐसी दुर्लभ निधि मिथिलावासियोंको लूटमें मिली। लूटनेका अभिप्राय यही है कि ऐसी निधि अपनेही आप, अपनी .खुशीसे आ गई, बाजारमें बिना मोलके मिल गई, न तो तपही करना पड़ा और न उसके लिये याचकही बनना पड़ा; आपसे आप मिल गई। [यहाँ माधुर्य्यरस-शृङ्गार-आनन्दही 'निधि' है, जिसे नेत्ररूपी हाथोंसे लूटकर सब आनन्दित हुए। दर्शनाभिलाषी पुरवासी रंक हैं, श्रीरामलक्ष्मणजी निधि हैं, सुगमतासे दर्शन पा जाना लूटना है।]

पांड़ेजी—यहाँ रंककी उत्प्रेक्षाका भाव यह है कि योगिराज राजा जनककी प्रजावर्ग रघुवंश ऐश्वर्य्यके दरिद्री थे।" [रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि "राजा जनक निराकारके उपासक साकाररूप-धनके कँगले थे, तो उनकी प्रजा क्यों न कँगली हो ? अतः अब साकार-धन पाकर लूटने लगे।" यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है]

रा० प्र०—भाव कि जैसे धन लूटनेमें कँगले धक्का आदिसे नहीं डरते वैसेही ये सब धक्का सहते धक्का देते दौड़े जा रहे हैं। [श्रीराम-लक्ष्मण दोनों यहाँ 'निधि' हैं, जैसा 'देखन नगर भूपसुत आए' से सिद्ध है। 'भूपसुत' 'आए' बहुवचन हैं। इनमेंसे श्रीरामजी तो श्रीसीताजीकी 'निज निधि' हैं; यथा "देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने। २३२। ४।", "मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई। २४८। ८।' परंतु पुरवासी इस बातको अभी जानते नहीं हैं, इसीसे कँगलेकी तरह दौड़े हैं। दूसरे आज प्रथम दर्शन होनेको है, न जाने यहाँ कितने दिन ठहरें, फिर दर्शन हो या न हो, अतः 'धाए धाम'''']

निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई ॥३॥
जुवतीं भवन झरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं ॥४॥

शब्दार्थ—झरोखा—दीवार आदिमें बनी हुई झँझरीदार (जालीदार वा छेदवाली) छोटी खिड़की या मोखा जिसे हवा और रोशनी आदि आनेके लिए बनाते हैं। झरोखन्हि = झरोखोंमें, झरोखोंसे।

अर्थ—सहजही सुन्दर दोनों भाइयोंको देखकर नेत्रोंका फल पाकर सुखी होते हैं ॥ ३ ॥ स्त्रियाँ घरके झरोखोंसे लगी हुई अनुरागपूर्वक श्रीरामचन्द्रजीके रूपको देख रही हैं ॥ ४ ॥

नोट—१ 'सहज सुंदर' इति। वनवासके समय इन दोनोंकी सहज सुंदरताका प्रमाण मिलता है क्योंकि उस समय वस्त्र-भूषण-रहित उदासी वेष है। उस समय इनका सौन्दर्य देख ऋषि मुनि पशु पक्षी सभी विस्मित हो गए और अनिमिष नेत्रोंसे देखते रह गए। यथा "रूप संहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम्

ददृशुर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः । १३ । वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव । आश्चर्यभूतान्ददृशुः सर्वे ते वनवासिनः । १४ । वाल्मी० ३ । १ ।" त्रिपाठीजी ठीक ही लिखते हैं कि शृङ्गारसे श्रीरामजीकी शोभामें आधिक्य नहीं होता, बल्कि शोभा ढक जाती है; इसलिये दोनों भाइयोंको सहज सुन्दर कहा ।

टिप्पणी—१ (क) 'सहज सुंदर' इति । भाव कि इस समय दोनों भाई सामान्य शृङ्गारसे हैं, इसीसे कहते हैं कि 'शृङ्गारकी अपेक्षा कुछ नहीं है, दोनों भाई तो स्वाभाविकही, जन्मसेही, विना बनाव-शृङ्गारकेही सुन्दर हैं । (ख) विश्वामित्रजीने आज्ञा दी थी कि 'सुखनिधान दोउ भाइ । करहु सुफल सबके नयन', उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं । 'तुम दोनों सुखनिधान हो, सबको सुख दो' ये वचन 'निरखि सहज सुंदर दोउ होहिं सुखी०' में चरितार्थ हैं और 'करहु सुफल सबके नयन' 'लोचन फल पाई' में चरितार्थ हुये हैं । सब सुखी हुए और सबने लोचनका फल पाया । जिस क्रमसे गुरुने आज्ञा दी, उसी क्रमसे उनके वचन चरितार्थ हुए । प्रथम 'सुखनिधान' कहा, पीछे करहु सुफल', वैसेही यहाँ प्रथम 'होहिं सुखी' और पीछे 'लोचन फल' पाना कहा । [(ग) 'सहज' को दीपदेहली भी मान सकते हैं । क्योंकि जो जप, तप आदिसे भी ध्यानमें नहीं आ सकती वही सहज सुन्दर मूर्ति इनको सहजही विना किसी परिश्रमके देखनेको मिल गई । (घ) साकार प्रभुके सौंदर्य्यका दर्शनही नेत्रोंका फल है । इस फलसे ये वंचित थे सो आज इन्हें प्राप्त हो गया । (रा० च० मिश्र) । यह सहज सुन्दरता ही निधि है जिसके लिए दौड़े थे ।]

"जुवतीं भवन झरोखन्हि लागीं ।०" इति ।

पं० रामकुमारजी—(क) प्रथम सबका 'धावना' कहा—'धाए धाम काम सब त्यागी' । अब उसकी व्याख्या करते हैं कि कौन कहाँको धाए । पुरुष गलियोंमें धाए और युवतियाँ झरोखोंमें जा लगीं । प्रथम बालकोंने देखा जो बाहर खेल रहे थे, तब पुरुषोंने देखा जो अपने अपने स्थानके बाहर जा बैठे हैं, तत्पश्चात् स्त्रियोंने देखा जो घरके भीतर रहीं । इस तरह क्रमसे देखना लिखते हैं । अथवा, बालक और पुरुषोंका देखना-मात्र लिखा है और, स्त्रियोंका सम्वाद लिखनेको हैं; इससे प्रथम बालक और पुरुषोंका देखना लिखकर पीछे सूची-कटाह-न्यायसे स्त्रियोंका देखना लिखा । [☞ सहज काममें पहले हाथ लगाना तब कठिन काम करना, इसीके दृष्टान्तमें 'सूची-कटाह न्याय' कहा जाता है] (ख) रामरूप देखनेसे अनुराग होता है, यथा 'इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा' । जिनके रूपका वर्णन सुनकर अनुराग होता है उनके दर्शन करनेपर जो अनुराग होगा उसे कौन कह सकता है एवं उनको देखनेपर अनुराग होनेकी क्या कही जाय ? ग) पुरुष तो दोनों भाइयोंको देखते हैं 'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई' । परन्तु स्त्रियां केवल रामरूपको देखती हैं ।—तात्पर्य यह है कि पुरुषोंकी भावना दोनों भाइयोंकी सुन्दरतामें है, यथा 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई । नर भूषन लोचन सुखदाई । २४१।८ ।' और स्त्रियोंकी भावना श्रीरामजीके रूपमें है, यथा 'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप । जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप । २४१ ।' श्रीरामजी शृङ्गारकी मूर्ति हैं,—'श्यामो भवति शृङ्गारः' । ☞ यहां कवि स्त्रियोंकी भावनाभर दिखा रहे हैं; इसीसे 'निरखहिं राम रूप अनुरागी' कहा, नहीं तो उनका दोनों भाइयोंका देखना आगे उनके दोनों भाइयोंके सौंदर्य्य-वर्णनसे स्पष्ट ही है ।

नोट—☞ २ (क) स्त्रियोंको शृङ्गार प्रिय होता है । शृङ्गारका रंग श्याम माना गया है और श्रीरामजी श्याम हैं । अतः स्त्रियाँ इन्हींको देख रही हैं । 'अनुरागी' कहकर जनाया कि देखा तो दोनों भाइयोंको पर श्रीरामरूपको देखकर उसपर अनुरक्त होगई हैं । वैजनाथजीका मत है कि केवल युवावस्थावाली नवयौवना स्त्रियाँ संकोचके कारण झरोखोंसे लगी देखती थीं । और, रा० च० मिश्रके मतानुसार भवनके झरोखोंमें लगी हुई जो स्त्रियाँ हैं उनमें कोई मध्या, कोई मुग्धा और कोई प्रौढ़ा आदि सभी प्रकारकी स्त्रियाँ

थीं। (ख) श्रीरामरूपमें किस प्रकार कैसा अनुराग है यह सत्योपाख्यानमें वर्णित पुरस्त्रियोंकी दशा जो वहाँ मुनिको जनकपुरके राजमहलमें लानेपर हुई थी उदाहरणमें दी जा सकती है। वह यह है कि श्रीलक्ष्मणजीने सेव्यमान कोटि कामदेवोंके समान सुन्दर सदा मुस्कातेहुए बोलनेवाले सौशील्यादि गुणोंसे युक्त श्रीरामजीको देखकर स्त्रियाँ जामातसुखकी इच्छा करने लगीं कि ये दोनों हमारे जामाता हों और श्रीरामजी-की ओर बारंबार मुस्कुराकर देखता हुई उनको मोहित करनेके लिए (अर्थात् ये हमारी ओर किसी प्रकार देखें) अनेक हाव-भाव करने लगीं। कोई तो श्रीरामजीको देखकर उनके मुखारविन्दका ध्यान करती हुई लंबी स्वास छोड़ने लगीं। कोई देखकर कहती हैं कि ये मानों कामदेवही रूप धरकर आए हैं, कोई अपने रत्नजटित नूपुर बाँधने लगीं, कोई अपने रंगीन दाँतोंकोही दर्पण लेकर देखने लगीं, कोई हाथमें कमल लेकर उसीको फाड़ने टुकड़े-टुकड़े करने लगीं। इत्यादि। यथा 'लक्ष्मणेनापि गौरेण भूषितेन तथैवच ॥ २६॥ सेव्यमानं सदा तेन'''। सौशील्यादि गुणैर्युक्तं '''। ३१। कोटिकंदर्प लावण्यं स्मितपूर्वाभिभाषणम्। एवं पश्यन्ति तास्सर्वा जनकस्य-पुरस्त्रियः॥ ३२॥ रामं च लक्ष्मणंचैव जामातृसुखवाञ्छया। मुहू रामं निरीक्ष्यन्तः सस्मिताश्च वराननाः॥३३॥ हावभावंच कुर्वन्त्यो राम मोहाय सत्वरम्। काचिद्रामं निरीक्ष्यैव ध्यायमाना मुखांबुजम्॥३४॥ मुहुर्मुहुश्च निश्वासं मुञ्चमाना इतस्ततः। काचिदेवं ध्यायमाना मन्दं दृष्ट्वा मनोरमम्॥ ३५॥ कामाकृतिः कुमारोऽयं'''।'''नूपुरं च बबंधाथ पादयो रत्न शीलितम्। करादर्शे निरीक्षंती दन्तपंक्तिं सुरंजिताम्॥४१॥ काचित्कमलपुष्पं च पाटयामास पाणिना।'''४२। एवं पश्यन्ति ताः सर्वाः किशोरौ रामलक्ष्मणौ॥ ४३॥ (उत्तरार्ध अ० ७)।" पर रामचरितमानस परम श्रेष्ठ मर्यादा चरित्रका आदर्श है, अतएव सत्योपाख्यानका उद्धरण केवल शृङ्गारियोंके कामका है, अन्यके लिये नहीं। मानसके जनकपुर-निवासी तो 'पुर नर नारि सुभग सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता॥' हैं, यह पूर्वही दोहा २१३।६ में कविने बताकर हमें सावधान कर दिया है।

कहहिं परसपर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती॥५॥
सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं॥६॥

अर्थ—आपसमें एक दूसरेसे प्रेमसहित बातें कर रही हैं, कहती हैं—हे सखि! इन्होंने करोड़ों कामदेवोंकी छबिको जीत लिया है। अर्थात् इनमें करोड़ों कामदेवोंकी छबिसेभी अधिक छबि है॥ ५॥ देवता, मनुष्य, दैत्य-दानव-राक्षस, नागदेव और मुनियोंमें (तो) ऐसी शोभा कहीं सुननेमेंभी नहीं आती॥ ६॥

नोट—१ "निरखहिं राम रूप अनुरागीं" कहकर 'कहहिं परसपर''' कहनेका भाव कि अनुराग पूर्वक देखती जा रही हैं और दूसरोंसे छबिकी प्रशंसा भी करती जाती हैं। दृष्टि बराबर श्रीरामरूपमेंही डटी हुई है। पहले देखनेमें अनुराग कहा, अब उनके सौंदर्यकी चर्चामें, उसके कथनमें भी अनुराग दिखाते हैं। सखी सखीसे हृदयकी बात अब खोलकर कहती है, यह 'कहहिं परस्पर' से जनादिया।

टिप्पणी—१ 'कहहिं परसपर बचन सप्रीती' अर्थात् जितनीभी बातें वे कह रही हैं, वे सब प्रीतिसहित कह रही हैं। ☞प्रसंगभरका हाल यहाँ प्रारंभमें कह दिया कि आगेकी सारी वार्ता प्रीतियुक्त है।

नोट—२ पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'परस्पर' और 'सप्रीती' से ज्ञात होता है कि सब प्रेमोद्गारसे ऐसी भरी हुई हैं कि उनको कहनेके सिवा यह ज्ञान नहीं है कि वे किससे कहती हैं और कौन सुनता है। कोई सुनताभी है या नहीं, इसका तो किसीकोभी ज्ञान नहीं, सभी कह रही हैं तो सुनेगा कौन? दासकी समझमें 'परस्पर' का भाव यह है कि सभी एक दूसरेसे आपसमें कहती सुनती हैं। ऐसा न होता तो आगे यह कैसे कहते कि 'जो मैं सुना सो सुनहु सयानी', 'आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि।', इत्यादि। इससे स्पष्ट है कि एक कहती है, दूसरी कुछ सखियाँ सुनती हैं।

३ (क) 'जो युवतियां भवनके झरोखोंमें लगी हुई अनुरागपूर्वक रामरूपको देख रही थीं, उनकी वार्ता यहाँ समष्टिरूपसे दिखाकर सबके वचनोंको प्रकट नहीं किया। आगे उत्तरार्धसे अष्ट सखियोंका संवाद व्यष्टिरूपसे प्रकट करते हैं। अष्ट सखियोंके नामादि 'श्रीजानकी रहस्य' के सर्ग ८ में हैं। यथा "लक्ष्मणा शुभ्रशीला च भद्रा मानवती तथा। लीला श्यामा च शान्ता च सुशीला ह्यष्ट संख्यका:॥ १॥ इमास्सीता प्रियास्सख्यो युवती मध्यगास्थिता:। यथारुचि क्रमाद्वाक्यं जगदुस्तत्वसूचिका:॥२॥ लक्ष्मणा वीरसेनस्य प्रिया भार्या प्रकीर्तिता। शुभ्रशीला सुभद्रस्य श्यामा सुन्दरवल्लभा॥३॥ शान्ता वीरमणेर्भार्या शेषा: सख्य: कुमारिका:। प्रवीणास्सकलास्सौम्या: जानकीप्राण-वल्लभा:॥ ४॥" अर्थात् लक्ष्मणाजी, शुभ्रशीलाजी, भद्राजी, मानवतीजी, लीलाजी, श्यामाजी, शान्ताजी और सुशीलाजी अष्ट सखियाँ जो श्रीजानकीजीकी प्रिय थीं उन स्त्रियोंके मध्यमें थीं। वे अपनी-अपनी रुचिके अनुसार तत्वसूचक बातें कहने लगीं। १-२। लक्ष्मणाजी वीरसेनकी, शुभ्रशीलाजी सुभद्रजीकी, शान्ताजी वीरमणिजीकी स्त्री थीं। शेष सखियाँ कुँआरी थीं। (रा० च० मिश्र)।

टिप्पणी—२ 'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।' इति। (क) सब देवताओंमें काम सबसे अधिक सुन्दर है। इसीसे प्रथम उसीको लेकर कहती हैं कि कोटि-काम-छबिभी इनकी छबिके सामने तुच्छ है। यथा 'सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ। २४३।१।' ; आगे स्वयं कहती हैं—'अंग-अंग पर वारिअहि कोटि-कोटि-सत काम। २२०।' गीतावलीमेंभी पुरवासियोंके ऐसेही वचन हैं, यथा 'रोम रोम पर सोम काम सत कोटि बारि फेरि डारे। १।६६।' जानकीमंगलमेंभी कहा है-'गौर स्याम सतकोटि काम मद मोचन। ३१।'; मानसमेंभी—'स्याम सरीरु सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन। ३२७. १।' इत्यादि)।

नोट—४ 'कोटि काम छबि जीती' इति। (क) अर्थात् करोड़ों कामदेवोंको जीतकर उनकी समूह छबिको ले लिया है। भाव यह कि जैसे शत्रुका पराजय होनेपर उसके यहाँ जो अमूल्य पदार्थ होते हैं उनको जयमान राजा छीनकर ले लेता है वैसेही असंख्यों कामदेवोंने अपने छबिके गर्वमें आकर मानों श्रीरामजीका मुक़ाबला किया। (कामदेवभी श्याम है, द्विभुज और धनुर्धर है तथा वीर है; यथा 'जाकी प्रथम रेख जग माहीं। विनय ४।', 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे। २५७।१।' उन असंख्यों कामदेवों रूपी शत्रुओंका पराजय कर सबोंकी छबि-समूहको छीनकर इन्होंने अपने पास रख लिया। काम इनके आगे अब छबिरूपी धनसे रहित हो गया। (ख) असंख्यों ब्रह्माण्ड हैं और प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक कामदेव है, इस प्रकार सब मिलकर असंख्यों कामदेव हुए। (वै०)। यह अनुमानसे काव्यार्थापत्यालंकार है कि जब इन्होंने करोड़ों कामदेवोंको जीत लिया तब और देवताओंकी कौन बात है। (वै०)। वीरकविजी प्रतीप अलंकार कहते हैं। (ग) पुनः भाव कि "इनकी छबिने करोड़ोंकी कामनाओंको जीत लिया है। पर युवा स्त्री ऐसा नहीं कह सकती कि हमारी कामनाको जीत लिया है किंतु करोड़ोंके बहानेसे अपनी कामनाको प्रकट कर रही है।"—(पाँ०)।

टिप्पणी—२ (क) 'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं।' इति। सुरसे स्वर्ग, नरसे मर्त्य, असुर और नागसे पाताल, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंमें ऐसी शोभाका कहीं भी न होना जनाया। यथा 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते। देखे जिते हते हम केते॥ हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥ ३। १९।' (ख) 'सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं' इति। [रूपकी शोभा नेत्रका विषय है और कथा वार्ता आदि सुनना श्रवणका विषय है, पर यहाँ कवि कहते हैं "सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं" अर्थात् शोभाको यहाँ श्रवणका विषय कह रहे हैं। यह क्यों?—यह गोसाईंजीका सँभाल है। देखनेसे सिद्ध होता कि स्त्रियाँ सर्वत्र घूमती फिरती रही हैं। अतः इस दूषणके निवारणार्थ उनका सुनना लिखा। 'सुनिअति नाहीं' कहकर सूचित करते हैं कि ये कुलवधूयें हैं, घरके भीतरकी रहनेवाली हैं, इन्होंने पुराणादिकी कथायें

सुनो हैं और आज इन दोनों भाइयोंको देखा है। देखिये, जब शूर्पणखाने कहा कि 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं।' तब श्रीरामजीने 'देखेउँ' शब्दसे तुरत जान लिया कि यह स्त्री कुलटा है। इसी तरह खरदूषण राक्षस सर्वत्र गए हैं, तीनों लोकोंमें घूमे-फिरे-लड़े हैं, उन्होंने तीनों लोकोंके पुरुषोंको देखा है इसीसे उन्होंने सबको देखना कहा—'देखी नहि असि सुंदरताई'।] ये स्त्रियाँ परदेमें रहनेवाली हैं, इन्होंने आँखोंसे नहीं देखा है, (घरके पुरुषोंसे) सुना भर है; इसीसे 'सुनिअति नाहीं' कहती हैं। (नोट—यह अर्धाली सूत्रसी है। इसीकी व्याख्या आगे वे स्वयंही कर रही हैं। यह भी सिद्ध होता है कि परदेका नियम प्राचीनकालमें भी था।)

बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी ॥७॥
अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखी पटतरिय जाही ॥८॥

शब्दार्थ—अपर=और, दूसरा, अन्य। आही=है। पटतर=समता, समानता, उपमा। पटतरिये=उपमा दीजिये, सदृश कहा जाय।

अर्थ—विष्णु भगवान्‌के चार भुजायें हैं, ब्रह्माजीके चार मुख हैं और त्रिपुरदैत्यके शत्रु श्रीशंकरजीके पाँच मुख हैं और भयंकर वेष है ॥ ७ ॥ अन्य देवताओंमें ऐसा कोई नहीं है जिससे, हे सखी! इस छबिकी पूर्ण उपमा दी जासके ॥ ८ ॥

श्रीराजारामशरणजी—शेक्सपियरसे भी बढ़कर इस नाटकीय युक्तिका प्रयोग तुलसीदासजीने किया है, जिसके द्वारा अनेक दृष्टिकोणोंसे बड़ी रोचकता और भावपूर्णताके साथ किसी व्यक्तिगत दृश्य या परिस्थितिकी आलोचना कराई जाती है। यहाँ सखियोंकी वार्तामें इसी युक्तिका बड़ाही सुन्दर प्रयोग है। यदि प्रत्येक दृष्टिकोणका निरीक्षण किया जाय तो नोट बढ़ जायगा, लेकिन पाठकोंको आनन्द लूटनेके लिये, मजा लेलेकर पढ़ना चाहिये और सब दृष्टिकोणोंको विचारना चाहिये।

किस सुन्दरतासे रामरूपकी सुडौल मूर्तिको सब देवोंसे उत्तम प्रमाणित किया है। इसी प्रकार उधर श्रीसीताजीकी तुलनामें 'गिरा मुखर तन अरध भवानी' इत्यादि देव-शक्तियोंको उतार देंगे। परात्पर ब्रह्मरूप और आदि शक्तिकी महानता-महत्ताको किस रोचकतासे दिखाया है। शृङ्गारका आनन्द और शान्तरसका पुट सराहनीय है। महाकाव्यकला और नाटकीकला एक होकर मनोरम बन गई है।

नोट—१ ब्रह्माण्डभरके अतिशय सुन्दर पुरुषोंको यहाँ गिनाया है। जब इन्हींमें कोई उपमान होनेके योग्य नहीं ठहरता तब दूसरा और कौन है जिसकी उपमा दें। 'अपर देव' में कामदेव भी आ गया। वह भी उपमा योग्य नहीं, यह पूर्व ही कह चुकी हैं—'सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती'।

"बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी।०" इति।

पंजाबीजी—भाव यह है कि "किसीके हाथमें एक छठी अँगुली होती है तो बुरी लगती है और जहाँ दो भुजाएँ अधिक हों भला वहाँ शोभा कहाँ? उसमें द्विभुज-शरीरकीसी शोभा कहाँ? पुनः, शरीरके प्रमाणसे यदि किसीका सिर या नासिका भारी होती है तो शरीरकी शोभा न्यून हो जाती है और एक शरीरपर चार-पाँच शिर हुए तो एक सिर जैसी शोभा कहाँ हो सकती है? पुनः, शरीरभी सुन्दर हो और वस्त्रादि न हुए तो भी शोभा पूर्ण नहीं होती फिर जहाँ बाघाम्बर, सर्प, विभूति और पाँच शिर हों वह पीताम्बर और दिव्य आभूषणोंसे संयुक्त शरीरकी छबि कैसे पा सकता है?"

पं० रामकुमारजी—१ (क) बहुत अंग होनेसे विराट्‌का सा रूप हो जाता है; यथा 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा। २४२। १।' विराट्‌की गिनती शोभामें नहीं है। 'विष्णु चारिभुज' कहकर जनाया कि उनमें शोभा न रहगई। एक अँगुली बढ़जानेसे शरीर अशोभित लगता है तब

दो भुजाएँ अधिक होनेसे शोभा कहाँ ? चार भुजाओंसे अधिक अशोभा चार मुखकी है, इससे विष्णुको कहकर तब ब्रह्माको कहा और चार मुखसे अधिक अशोभा पंचमुख की है; इससे पंचमुखशंकरजीको अंतमें कहा। इस तरह यहाँ उत्तरोत्तर अशोभाकी अधिकता कहते हैं। (ख) चार मुख होनेसे चार ललाट, चार नासिकाएँ, चार मुँह, चार ठोढ़ी, आठ भृकुटीं, आठ कपोल और आठ नेत्र हैं, अतएव इनके सामने वे कैसे भद्दे लगेंगे। और, शंकरजी तो इनसे भी भद्दे हैं, उसपर भी उनका विकट वेष है, अर्थात् नंगे, नृकपाल-मालाधारी, भस्म रमाये, सर्प लपेटे, इत्यादि भयंकर वेष है। विकट वेष भयदायक होता है। यथा 'बिकट बेष रुद्रहि जब देखा। अबलन्ह उर भय भएउ बिसेषा। ९६.४।' (ग) 'पुरारि' कहनेका भाव कि त्रिपुरके वधमें जैसा क्रोध हुआ था, वैसा ही क्रोधित (क्रुद्ध मुख सदा रहता है।)

२ (क) 'अपर देउ अस कोउ ।०' इति। तीन देवताओंका सादृश्य कथन किया, उपमा दी, पर वे भी समता योग्य न ठहरे और जितने भी देवता हैं वे उपमामें दिये जानेके योग्य नहीं हैं। क्योंकि देवता तो मिथिलापुरवासियोंकेही समान सुन्दर नहीं हैं, यथा 'तिन्हहिं देखि सब सुर-सुरनारी। भए नखत जनु बिधु उजियारी।', तब भला श्रीरामजीकी उपमाके योग्य कब हो सकते हैं ? (ख) यहाँ तक देवताओंमेंकी सुन्दरता कही, उनमें उपमा ढूँढ़ी न मिली। तब असुर, नाग, नर और मुनिमें उपमा ढूँढ़नी और कहनी चाहिए थी सो न कही। कारण कि जब देवताओंमें कोई इतना सुन्दर नहीं है तब मनुष्यादि किस गिनतीमें हैं। तात्पर्य्य कि जब त्रिदेवही समतामें न ठहरे तब अन्य देवताओंकी समता न दी और जब देवताओंकीही समता न दी तब नर नाग असुर मुनिका नामही न लिया। इनका नाम तक लेना व्यर्थ समझा। बिलकुल तुच्छ समझ इनको छोड़ही दिया। [इससे यह भी प्रमाणित होता है कि मनुष्य लोग केवल पाँच जातियोंमें ही शोभाका अनुभव कर सकते हैं। सुर, नर, असुर, नाग और मुनिको छोड़कर उनके मुग्ध होने योग्य शोभा कहीं नहीं है। (वि. त्रि.)]

नोट—भगवान् विष्णुकी सुन्दरता जगत्प्रसिद्ध है; यथा "अति सुंदर सुचि सुखद सुसीला। गावहिं बेद जासु जसु लीला। दूषनरहित सकल गुनरासी। १.८०।' शिवजी भी परम सुन्दर हैं, यथा 'जटा मुकुट सुरसरित सिर लोचन नलिन बिसाल। नीलकंठ लावन्यनिधि सोह बालबिधु भाल। १०६।', 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा। १०६.६।', 'कुंद इंदु दर गौर सुंदरं। ७ मं० श्लो०।' और, ब्रह्माजी सृष्टिके रचयिता हैं, श्रीमन्नारायणके नाभिकमलसे उत्पन्न हुए हैं, वे क्यों न सुन्दर होंगे ? अन्य समस्त देवताओंमें कामदेवसे बढ़कर सुन्दर कोई नहीं, वह श्यामसुन्दर भगवान् कृष्णका पुत्रही तो है—'कृष्न तनय होइहि पति तोरा।' इसीसे इन्हींके नाम दिये।

प. प. प्र.—१ कामदेव तो रजोगुणी है और साधु संत योगी ज्ञानी आदिको शत्रु मानकर सतानेवाला है अतः तुलना योग्य न ठहरा। विष्णु सत्वगुणी हैं और चतुरानन रजोगुणी; इन दोनोंमें अधिकांग दोष है। पुरारीकी तो बात ही दूसरी है। ये तो पुरके अरि हैं और यहाँ तो जनकपुर में रूपसिंधुके दर्शनसे आनन्दसिंधुकी बाढ़ आ गई है।

२ 'यह छबि सखी पटतरिअ जाही' इस चरणमें छन्दोभंग द्वारा जनाया कि युवतीका कंठ गद्गद हो गया, शब्दोंका उच्चार करनेमें गड़बड़ी हुई है। 'यह छबि सखी प' पर विश्राम है पर 'टतरिअ जाही' में 'टतरिअ' का ठीक उच्चारण करना कठिन है।

दोहा—बय किसोर सुषमा सदन स्याम गौर सुखधाम।
अंग-अंग पर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम ॥२२०॥

शब्दार्थ—बारना = निछावर करना, उत्सर्ग वा क़ुर्बान करना।

अर्थ—किशोर अवस्था, परमा शोभाके घर, एक श्याम एक गोरे, (दोनों) सुखके धाम हैं। इनके अङ्ग-अङ्गपर करोड़ों अर्बों कामदेवोंको निछावर कर देना चाहिए॥ २२०॥

☞पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि (जब) किशोरावस्था सुखमा (परमाशोभा) की सदन है और श्याम गौर वर्ण सुखधाम है (तब अङ्गोंकी शोभा कौन कहे) एक-एक अङ्गपर सौ-सौ करोड़ कामदेव निछावर हैं॥ २२०॥

टिप्पणी—१ (क) 'कहहिं परस्पर बचन सप्रीती। सखि इन्ह कोटि काम छबि जीती।' उपक्रम है और 'अंग-अंगपर बारिअहिं कोटि-कोटि सतकाम' उपसंहार है। कामदेवसे ही उपक्रम उपसंहार करनेमें तात्पर्य्य यह है कि वह सब देवताओंसे अधिक सुन्दर है। (ख) प्रथम कहा कि कोटि कामकी छबि जीत ली और अन्तमें कहती हैं कि सौ-सौ कोटि काम एक-एक अङ्गपर निछावर हैं, इस तरह उन्होंने अपने प्रथम वचनका खण्डन किया। अर्थात् कोटि कामका जीतना जो कहा वह ठीक नहीं है, 'कोटि-कोटि शत कामका एक-एक अङ्गपर निछावर करना ठीक है। यथा 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा॥''''सियमुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंक'। अथवा, (ग) किशोर अवस्था है, सुखमाके सदन हैं, श्याम गौर हैं, सुखके धाम हैं। अर्थात् अवस्थासे शोभित हैं, सुन्दरतासे शोभित हैं, वर्णसे शोभित हैं। (इस तरह) सर्वाङ्गकी शोभा एकट्ठा कही—किशोर अवस्था सर्वाङ्गमें है, शोभासदन सर्वाङ्ग हैं, श्याम गौर सर्वाङ्ग हैं। पृथक-पृथक् अङ्गोंकी शोभा नहीं कहते बनती, इसीसे कहती हैं कि 'अंग अंगपर बारिअहिं कोटि कोटि सत काम'। तात्पर्य्य कि जिसकी इतनी न्योछावर है उसकी शोभा कौन कह सके।

नोट—१ भगवान् विष्णु, ब्रह्मा और शिवजी एवं असंख्य कामदेवोंको श्रीरामलक्ष्मणजीकी शोभाके योग्य उपमान न ठहराना 'चतुर्थ-प्रतीप' अलंकार है। (वीर)।

२ 'सुषमा सदन' अर्थात् द्युति, लावण्य, रमणीयता, मधुरता, सुकुमारता, आदि जो शोभाके अङ्ग हैं उन सबोंके मन्दिर हैं। सुखधाम हैं अर्थात् सुखसे परिपूर्ण भरे हैं, भाव यह कि जिनके दर्शन मात्रसे नेत्र और मन सुखी हुए उनकी प्राप्ति होनेपर जो सुख होगा, उसे कौन कह सकता है। (वै०)।

३ ब्रह्मा, विष्णु, महेशमें दोष दिखाए, कामदेवमें उसका अनंग (बिना अंगका) होना दोष यहाँ नहीं कहा, जैसे श्रीसीताजीके लिये उपमाओंकी लघुता दिखाते हुये कहा है—'रति अति दुखित अतनु पति जानी। २४७।५।'; इसका कारण यह है कि अशोभित वस्तु को निछावर करनेसे श्रीरामजीकी शोभाकी प्रशंसाही क्या रह जाती! दूसरे यहाँ तनधारीकीही उपमा दे रही हैं, जैसा आगे कहती हैं—'कहहु सखी अस को तनुधारी'। अतः 'अतन' का कहना संगत न होता।

४ प्र०सं०—'सखि इन्ह काम कोटि छबि जीती' यह यहाँकी छबि वर्णनका उपक्रम है और 'कोटि कोटि सत काम' पर उपसंहार है। अर्थात् सखीने कोटि कामके छबिको जीतनेसे उपक्रम उठाया अर्थात् प्रारंभ किया और 'कोटि कोटि सत' कामदेवोंको निछावरकर फेंकदेनेमें उपसंहार अर्थात् समाप्ति की। 'जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ' इन वचनोंको चरितार्थ किया। यहाँभी 'श्यामगौर' दोनों भाइयोंको 'सुखधाम' कहा है।

कहहु सखी अस को तनु धारी। जो न मोह येह* रूप निहारी॥ १॥
कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। जो मैं सुना सो सुनहु सयानी॥ २॥

* यहु-१७२१, १७६२, को० रा०। येह-१६६१, १७०४। २२२ (१) और दो० २२२, २२३ (३) (६) में भी 'येह' पाठ है। अतः यह लेख प्रमाद नहीं जान पड़ता; संभवतः वचनपर जोर देनेके लिये ऐसा प्रयोग हुआ हो।

अर्थ—हे सखि ! (भला) कहो तो, ऐसा कौन देहधारी है जो यह रूप देखकर मोहित न हो जाय (तात्पर्य कि यह रूप चराचरमात्रको मोहलेनेवाला है, ये चराचरमात्रमें सबसे अधिक सुन्दर हैं) ॥१॥ कोई (दूसरी सखी) प्रेमसहित कोमल वाणीसे बोली—हे सयानी ! जो मैंने सुना है, वह भी सुनो ॥२॥

टिप्पणी—१ "कहहु सखी अस को तनुधारी"... इति । (क) श्रीरामलक्ष्मणजीकी अत्यन्त शोभाका वर्णन करके उसीको अब और पुष्ट करती हैं कि 'अस को तनुधारी जो न मोह०', ऐसा कौन है जो न मोहित हो जाय, इसीसे जाना जाता है कि ये सबसे सुन्दर हैं । [इस कथनसे ज्ञात होता है कि इस सखीने इतनी देरमें दोनों भाइयोंकी शोभाको देख पाया । पूर्ण शोभापर दृष्टि पड़तेही यहभी मोहित हो गई, फिर और कुछ न कह सकी, यही शब्द कहती रह गई कि 'अस को...' । (प्र० सं०)] (ख) 'तनु धारी' कहकर जनाया कि औरोंकी शोभाको देखकर चेतनही मोहित होते हैं और इनकी शोभामें तो चर अचर जड़ और चेतन सभी मोहित हो जाते हैं । यथा 'करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा ।२०४।७।', 'हरि हित सहित रामु जब जोहे । रमा समेत रमापति मोहे । ३१७।३ ।', 'खग मृग मगन देखि छबि होहीं । लिये चोरि चित राम बटोही । २।१२३ ।', इत्यादि । [(ग) 'जो न मोह येह रूप निहारी' का भाव कि एक काम चराचरको मोहित कर लेता है, यथा 'सकल भुवन अपने बस कीन्हे । २५७।२ ।' और इनकी मोहनी तो ऐसी है कि अंग-अंग-पर असंख्यों कामदेव निछावर कर दिये जायँ, तब चराचरमात्र क्यों न मोहित हो जायगा । (वै०)]

वि० त्रि०—'कहहु सखी...' इति । भाव कि यदि मैं मोहित हो गई, तो इस रूपके देखनेपर सभी शरीरधारी मोहित हो जावेंगे, अतः आक्षेपार्थ प्रश्न करती है । 'येह रूप' से अङ्गुल्यानिर्देश करके रूपकी परमोत्कर्षता सूचित करती है । यह सखी अहङ्कार-तत्त्व है ।

नोट—१ वैजनाथजी और हरिहरप्रसादजीका मत है कि यह श्रीजानकीजीकी मुख्य अष्टसखियोंका संवाद है । इनमेंसे बड़ी चारुशीलाजी हैं । इनकी माता चन्द्रकान्ती और पिता शत्रुञ्जित हैं । ये अष्ट सखियाँ श्रीमिथिलेशजीके विमातृ आठ भाइयोंकी कन्यायें हैं । यहाँ तक श्रीचारुशीलाजीके वचन हैं । (वै०) । विशेष दोहा २२३ में देखिये ।

टिप्पणी—२ 'कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी ।...' इति । [(क) 'सप्रेम' का भाव कि दोनों भाइयोंको देखकर प्रेम अन्तःकरणमें भर गया है, इसीसे सप्रेम वार्ता कर रही हैं । प्रेममें तो सभी मस्त हैं, मग्न हैं— "रामरूप अनुरागीं" पूर्व कहाही गया है । दूसरे 'सप्रेम...' से यह भी सूचित करते हैं कि प्रथम सखीकी वाणी सुनकर यह प्रसन्न हुई है] । (ख) सप्रेम बोली, इसीसे वचन मृदु, कोमल और मिष्ट हुआही चाहें । [पहिली सखीभी प्रेमसे बोली थी पर उसके बोलनेमें मृदुताकी मात्रा कम थी, अहंकारका पुट था । (वि. त्रि)] (ग) 'जो मैं सुना सो सुनहु' इति । भाव कि जो तुमने सुना वह तुमने कहा, अब जो मैंने सुना है उसे सुनो । प्रथम सखीने भी सुनी बात कही थी, यथा 'सोभा असि कहुँ सुनिअति नाहीं ।' (घ) प्रथम सखीने सुन्दरता वर्णन की और यह सखी दोनों भाइयोंका सब वृत्तान्त (अर्थात् जाति, ऐश्वर्य, चरित, इत्यादि) वर्णन करेगी । (ङ) 'सयानी' कहकर उसके वचनोंकी प्रशंसा की कि तुम बड़ी चतुर हो, तुमने बहुत अच्छा और ठीक ही कहा । 'सयानी' संबोधन देकर उसके वचनोंपर अपनी प्रसन्नता सूचित की । [पुनः भाव कि इसका कथन (सयानोंके) समझने योग्य है । (प्र० सं०) । पुनः 'सो सुनहु सयानी' का भाव कि तुम सयानी हो, जिसके ऊपर इतनी आसक्ति है, उसका परिचय भी जान लेना चाहिए, अतः परिचय मैं सुनाती हूँ । सम्भवतः पतिसे सुना है, इसीसे सुनानेवालेका नाम नहीं लेती । यह सखी 'आकाशतत्व' है (वि. त्रि.)]

नोट—२ "सुनी हुई बातमें कुछ सत्य और कुछ असत्य भी होता है । सत्यका उदाहरण तो सब है ही परंतु असत्यका उदाहरण भी इसमें है—वह है "मग मुनिबधू उधारि । २२१ ।" मुनिवधूका उद्धार तो

श्रीरामजीने किया और दोहेमें 'बंधु दोउ' कहा है। इसी प्रकार दशरथजी महाराजने कहा है—'जा दिन ते मुनि गए लवाई। तबतें आजु साँचि सुधि पाई ॥ २९१.७।" अर्थात् सुध तो पाई थी पर बाज़ारू; आज सच्ची सुध पाई। इसपर कोई महात्मा कहते हैं कि इसमें असत्यका मेल नहीं है। पाठक्रमसे अर्थक्रम बली होता है। अर्थ करते समय 'मग मुनिबधू उधारि' को केवल श्रीरामजीमें लगाना होगा। जैसे "सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु। लषनु भरतु रिपुदमनु सुनि भा कुबरी उर सालु ॥ २ । १३ ।" में शाल रामजीकी कुशलसे है पर यहाँ लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्नके कुशलसे भी शाल कहा गया जो ठीक नहीं है। इसी तरह 'मग मुनिबधू उधारि' केवल श्रीरामजीके संबंधमें समझना चाहिये। (रा० प्र०)।

३ बैजनाथजीका मत है कि यह लक्ष्मणाजीका वचन है। इनकी माताका नाम विदग्धा और पिताका यशशाली है। जनकपुरके तंबोलिनकी कन्या श्रीअयोध्याजीमें ब्याही थी, उसीसे इसने सुना। पं० रामकुमारजीका मत आगे चौ० ४ टि० २ में तथा दोहा २२३ में देखिये।

ए दोऊ दसरथ के ढोटा। बाल मरालन्हि के कल जोटा ॥ ३ ॥
मुनि कौसिक मख के रखवारे। जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—ढोटा=पुत्र, बेटा। जोटा = जोड़ा। अजिर = आँगन।

अर्थ—ये दोनों श्रीदशरथजीके पुत्र हैं, बालहंसोंकी (सी) सुन्दर जोड़ी है ॥ ३ ॥ *ये कौशिक मुनिके यज्ञके रक्षक हैं, जिन्होंने रणांगनमें निशाचरोंको मारा है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ "ए दोऊ दसरथ के ढोटा।..." इति। (क) श्रीदशरथमहाराज प्रसिद्ध हैं, इसीसे अवधपति आदि तथा दोनों भाइयोंकी जाति और ऐश्वर्य न कहा। 'दसरथ के ढोटा' दशरथके पुत्र कहनेसे ही जाति और ऐश्वर्य दोनोंका कथन हो गया कि क्षत्रिय हैं, चक्रवर्ती हैं। (ख) 'बाल मरालन्हि के कल जोटा' अर्थात् सुंदर हैं। [पुनः, दशरथजीके पुत्र कहकर उत्तम उदार कुल भी जनाया और 'बाल मरालन्हि के कल जोटा' से गुण बताया कि बालकलहंसोंका सा जोड़ा है अर्थात् लड़कपनसे ही ये धर्मव्रतधारी हैं, असत् त्यागकर सत्पदार्थका ग्रहण करते हैं। (वै०)। तथा दशरथजीको हंस जनाया। 'बाल मरालन्हि' से संपूर्ण बालचरित और 'कल' से सुंदरता कही। (प्र० सं०)। 'बाल मरालन्हि' और 'कल जोटा' दोनोंसे सुकुमारता सूचित होती है, यथा 'बालमराल कि मंदर लेहीं'। इसीसे आगे कहती हैं कि 'मुनि कौसिक मख...']

२ "मुनि कौसिक मख के रखवारे।..." इति। (क) भाव यह कि ये केवल सुंदर ही नहीं हैं किन्तु कौशिक ऐसे मुनिके यज्ञके रक्षक हैं। अर्थात् महाबली हैं। यथा 'सुकुमारौ महाबलौ ।' तात्पर्य कि देखनेमें तो ये छोटे-छोटे सुंदर और सुकुमार बालक हैं पर इन्होंने बड़े-बड़े काम किये हैं; जैसे ये अतिशय सुन्दर हैं वैसेही अत्यंत वीर भी हैं। (ख) विश्वामित्रजीने जो राजा जनकसे कहा था कि "रघुकुलमनि दसरथ के जाये। मम हित लागि नरेस पठाए ॥ रामु लषनु दोउ बंधु बर रूप-सील-बल-धाम। मख राखेउ सब साखि जगु जिते असुर संग्राम। २१६।", वही सब बात यह सखी कह रही है। इससे जान पड़ता है कि राजाके संगमें जो मंत्री, भट, भूसुर, गुरु और बंधुवर्ग गए थे उन्हींमेंसे किसीकी यह स्त्री है। अपने पतिसे सुना है। विश्वामित्रजीने यह नहीं कहा कि ये श्रीकौसल्या और सुमित्राजीके पुत्र हैं। यह बात उसके पतिकी जानी हुई है उसने अपनी तरफ़से यह बात अपनी स्त्रीसे कही। २२१.८ में भी देखिये। [(ग) यहाँ विश्वामित्र नाम न कहकर कुल संबंधी 'कौशिक' नाम दिया क्योंकि कुश राजाके वंशमें उत्पन्न होनेसे इन्होंने राजहठवश अनेक दिव्यास्त्रोंको तप करके प्राप्त किया था। इस नामसे मुनिका अस्त्रशस्त्रबल द्योतित किया।

* अर्थान्तर—१ सुंदर बालहंसोंकी जोड़ी है। (पां०) । २ बाल कलहंसोंका जोड़ा है। (वै०)

(वि० त्रि०) ।] (घ) "रन अजिर निसाचर मारे" इति । भाव कि जैसे लड़के आँगनमें खेलते हैं, वैसेही खेल सरीखे इन्होंने रणमें बड़े-बड़े राक्षस मारे । और, सम्मुख लड़कर मारा । (ङ) यहाँ तक दोनों भाइयों का हाल साथ-साथ एकमें कहा, आगे पृथक्-पृथक् दोनों का हाल और चरित्र कहती है ।

स्याम गात कलकंज बिलोचन । जो मारीच-सुभुज मदु मोचन ॥ ५ ॥

कौसल्या सुत सो सुख खानी । नामु रामु धनु सायक पानी ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—सुभुज = सुबाहु नामक निशाचर ।

अर्थ—जिनका श्याम शरीर और सुंदर कमल समान नेत्र हैं । जो मारीच और सुबाहुके मद (गर्व) के छुड़ानेवाले हैं ॥ ५ ॥ वे सुखकी खान (श्रीरामजी) कौसल्याजीके पुत्र हैं । उनका नाम राम है । धनुष-बाण हाथोंमें लिये हुए हैं ॥ ६ ॥

☞ शृङ्गारमें वीररसका मिलाप कितना सामयिक और सुंदर है ।

टिप्पणी—१ (क) 'श्याम गात कलकंज बिलोचन' यह शृङ्गार है और 'जो मारीच सुभुज मद मोचन' यह वीर है । शृङ्गार और वीर कहकर आगे 'सुख-खानी' कहनेका भाव यह है कि इन्होंने शृङ्गारसे मिथिलावासियोंको सुख दिया और मारीच-सुबाहुको मारकर सुर, नर और मुनियोंको सुख दिया । यथा 'मारि असुर द्विज निर्भय कारी । अस्तुति करहिं देव मुनि झारी । २१०.६ ।' (ख) पूर्व कहा कि 'जिन्ह रन अजिर निसाचर मारे' अर्थात् दोनोंने निशाचर मारे और अब कहती है कि मारीच-सुबाहुका गर्व श्रीरामजी ने दूर किया । इससे पाया गया कि और सब निशाचरोंको लक्ष्मणजीने मारा । यथा 'सुनि मारीच निसाचर क्रोही । लै सहाय धावा मुनिद्रोही ॥ बिनु फर बान राम तेहि मारा । सत जोजन गा सागर पारा ॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा । अनुज निसाचर कटक संघारा ॥ २१० । ३-५ ।' (ग) 'मदु मोचन' का भाव कि इनको अपने बलका एवं युद्धका बड़ा अभिमान था सो चूर हो गया । ['मारा' न कहा क्योंकि मारीचका वध नहीं किया है । मारीचका गर्व छूट गया, यह उसके वचनोंसे स्पष्ट है जो उसने रावणसे कहे हैं; यथा 'मुनि मख राखन गयउ कुमारा । बिनु फर सर रघुपति मोहि मारा ॥ सत जोजन आयउँ छन माहीं । तिन्ह सन बयरु किएँ भल नाहीं ॥ भइ मम कीट भृंग की नाईं । जहँ तहँ मैं देखउँ दोउ भाई ॥ जौं नर तात तदपि अति सूरा । तिन्हहि बिरोधि न आइहि पूरा ॥ ३ ।२५ ।"]

२ 'कौसल्या सुत सो सुख खानी ।···" इति । क) पिछले दो चरणोंमें शृङ्गार और वीर कहकर अब 'सुख खानी' कहते हैं । श्रीरामजी सब प्रकारसे सुखकी खान हैं । [पुनः, श्रीकौसल्याजी भी सुखखानि हैं, क्योंकि इन्होंने सुख रूप श्रीरामको पैदा किया, यथा 'सुखस्वरूप रघुबंसमनि ··।', 'कौसल्या सुत सो०'] 'स्याम गात कलकंज बिलोचन' होनेसे रूपसे सुख देते हैं, 'मारीच सुभुज मदु मोचन' होनेसे अपनी लीलासे सुखदायक हैं । अपने 'राम' नामसे भी सुख देते हैं, यथा 'सो सुखधाम राम अस नामा । १९७ । ६ ।' धनुष बाण हाथमें लेकर सुख देते हैं, यथा 'करतल बान धनुष अति सोहा । देखत रूप चराचर मोहा । २०४।७ ।' [पुनः, 'सुखखानी' से सदा आनंदरूप जनाया । (वै०)] (ख) यत् तत्का संबंध है । जो प्रथम कह आए—'स्याम गात कलकंज बिलोचन । जो ··', उसका संबंध यहाँ 'सो कौसल्यासुत···' से है ।

गौर किसोर बेषु बर काछें । कर सर चाप राम के पाछें ॥ ७ ॥

लछिमनु नामु रामु लघु भ्राता । सुनु सखि तासु सुमित्रा माता ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—काछें-बनाये, सँवारे, धारण किये हुये; यथा "जस काछिअ तस चाहिअ नाचा । २.१२७ ।" "चौतनी चोलना काछे सखि सोहैं आगे पाछे ।" (गी० १.७२.१) ।

अर्थ—(जो) गौर वर्ण, किशोर अवस्था, सुंदर वेष बनाए हुए, हाथोंमें धनुष बाण लिये हुये, श्रीरामजीके पीछे (हैं) ॥ ७ ॥ (उनका) लक्ष्मण नाम है । वे श्रीरामजीके छोटे भाई हैं, हे सखी ! सुनो । उनकी माता सुमित्रा हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी १ (क) दो अर्धालियोंमें श्रीरामजीका वर्णन हुआ; दोहीमें लक्ष्मणजीका वर्णन करती हैं । जैसे श्रीरामजीमें शृंगार और वीर (स्वरूप) वर्णन किया वैसेही लक्ष्मणजीमें दोनों वर्णन करती हैं । 'गौर किसोर बेष बर काछें । कर सर चाप रामके पाछें' इस प्रथम अर्धालीमें शोभा कही । गौर वर्णसे, किशोर अवस्थासे, सुंदर वेषसे, धनुष बाण धारण किए हुए होनेसे और श्रीरामजीके अनुग होनेसे, इस तरह सब प्रकारसे शोभित हैं । दोनों भाइयोंके हाथोंमें धनुष बाण कहकर जनाया कि दोनों धनुर्विद्यामें प्रवीण हैं, यथा 'कहँ कोसलाधीस दोउ भ्राता । धन्वी सकल लोक बिख्याता । ६।४६ ।' जैसे श्रीरामजीको कमलनयन और सुखखानि कहा, वैसेही लक्ष्मणजीमें ये दोनों बातें समझ लेनी चाहियें और जैसे लक्ष्मणजीको 'किशोर' और 'बेष बर काछें' कहा वैसेही ये दोनों बातें श्रीरामजीमेंभी समझ लेनी चाहिएँ । ['रामके पाछें' से उनके आज्ञाकारी जनाया । (वै०) । 'बेप बर काछें' का भाव कि श्रीरामजीकी रक्षाके लिये कसे कसाये तैयार हैं । (वि० त्रि०)] (ख) 'लछिमन नाम राम लघु भ्राता' इति । 'राम लघुभ्राता' से पाया जाता कि कौसल्याजीके पुत्र हैं, इसीसे कहती हैं कि 'तासु सुमित्रा माता' अर्थात् श्रीरामजीके विमातृ लघु भाई हैं । (ग ☞विश्वामित्रजीने रानियोंके नाम नहीं कहे और स्त्रियाँ रानियोंके नाम कहती हैं । यह स्वाभाविक है, स्त्रीकी वार्ता स्त्री करती है और स्त्रियोंके संवादमें स्त्रियोंका नाम कहना सोहता भी है, इसीसे सखियोंके सम्वादमें रानियोंके नाम लिखे ।

नोट—माताओंके नाम क्योंकर मालूम हुए, इस संबंधमें पं० रामकुमारजीका उत्तर ऊपर २२१.४ में लिखा जा चुका और लोगोंके उत्तर ये हैं—(१) राजा दशरथ चक्रवर्ती महाराज हैं और श्रीकौसल्या, कैकेयी और सुमित्राजी इनकी पटरानियाँ हैं । प्रायः इनके नाम विख्यात होतेही हैं । (२) अवधसे जनकपुर कुछ दूर नहीं है, इससे भी नामोंका जानना कठिन नहीं । (३) रसिक महानुभाव कहते हैं कि वशिष्ठा नामकी एक जनकपुरकी तमोलिन श्रीअवधमें ब्याही थी जो इस समय जनकपुरहीमें थी, उसीके ये वचन हैं, वा, उसीसे इन सबोंको मालूम हुआ । विजय दोहावलीमेंसे इसका प्रमाण देते हैं कि 'अवधपुरी व्याही हुती जनकपुरीको आय । जाति तमोलिन की रही पान देत नित जाय ।' और कोई-कोई कहते हैं कि अवधपुरीकी कोई स्त्री जनकपुरमें व्याही थी उससे मालूम हुआ । (यह भी स्मरण रहे कि कौसल्या आदि नाम पिता वा देश संबंधी हैं । प्रायः सभी देशोंके लोग जानते हैं कि राजा दशरथकी तीन विवाहिता रानियाँ हैं । एक कौसलदेशके राजाकी कन्या, एक सुमित्र राजाकी कन्या और एक केकयराजकी कन्या । वस्तुतः ये उनके असली नाम नहीं हैं । असली नाम प्रायः मायकेवालेही जानते और लेते हैं ।)

दोहा—बिप्र काजु करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि ।
आए देखन चाप मख सुनि हरषीं सब नारि ॥२२१॥

अर्थ—दोनों भाई विप्र (विश्वामित्र) का काम करके राहमें (गौतम) मुनिकी स्त्रीका उद्धारकर धनुषयज्ञ देखने आए हैं । यह सुनकर सब स्त्रियाँ हर्षित हुईं ॥ २२१ ॥

☞यहाँ शान्तरसका पुट केवल उतना है कि सँभाले रहे ।

टिप्पणी—विप्रकाज करना वीरता है, मुनिवधूका उद्धार करना 'प्रताप' है । इसतरह 'विप्रकाज करि' 'मुनिबधू उधारि' से जनाया कि ऐसे वीर प्रतापी धनुषयज्ञ देखने आए हैं । यही सुन-समझकर सब स्त्रियोंको हर्ष हुआ कि ऐसे वीर और प्रतापी हैं तो अवश्य धनुष तोड़ेंगे । पुनः, 'मुनिबधू उधारि' यह वचन ऐश्वर्य्यका

द्योतक है। ऐश्वर्य्यसे विश्वास होता है और विश्वास होनेसे हर्ष होता है; यथा 'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद-पंकज-धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। २२३.४-६।' ☞प्रारम्भमें जो इस सखीने प्रथम सखीको 'सयानी' विशेषण दिया था,—'जो मैं सुना सो सुनहु 'सयानी', वह सयानपन यहाँ सिद्ध हुआ कि सखीके वचनका अभिप्राय समझकर हर्षित हुई। [शतानन्दजी राज-पुरोहित हैं, उन्हींके माता-पिता अहल्या और गौतम थे। अतः मुनिवधूके शापित होनेकी कथा जनकपुर-वासियोंमें विशेष रूपसे ख्यात थी। इसलिये नामसे परिचय न देकर 'मुनिबधू उधारि' इतना मात्र कहनेसे अहल्योद्धार सबने जान लिया। इससे परम प्रभुता और पावनता कही (वि० त्रि०)]

नोट—हर्ष होनेके कारण और महानुभावोंने ये लिखे हैं—(१-३) हर्ष हुआ क्योंकि येभी उत्तम कुलके हैं अतः श्रीजानकीजीके योग्य हैं। वा, सुबाहु आदिका वध किया, इससे बलवान् जान पड़ते हैं; अतः धनुषभी अवश्य तोड़ेंगे। अथवा, निशाचरोंका वध तो औरभी कर सकते हैं, पर अहल्योद्धार दूसरेसे नहीं हो सकता था; इससे जान पड़ा कि ये अत्यन्त प्रतापी हैं, धनुष अवश्य तोड़ेंगे। (पं०)। (४) इन सखियोंने श्रीरघुनाथजीको 'स्त्रियोंका उपकारक जाना; क्योंकि विश्वामित्रजीकी यज्ञका नाम ब्रह्मेष्टी है जो स्त्रीलिंग है, उसकी इन्होंने रक्षा की। पुनः, अहल्या स्त्री है, उसका उद्धार किया। इससे विश्वास है कि धनुष-की प्रतिज्ञामें उलझी हुई श्रीजानकीजीकाभी उद्धार करनेकोही यहाँ आए हैं। (पाँ०)। पुनः, (५) भाव यह कि बली वीर हैं और शक्तिमान् समर्थ हैं, धनुषयज्ञ देखने आए हैं, तो धनुषकी परीक्षा अवश्य करेंगे और उसे तोड़ेंगे भी। इसमें यह व्यंग्य विचारकर हर्षित हुईं कि हमाराभी मनोरथ सुफल होगा। (वै०)। (६) 'बिप्रकाज' आदि शब्दोंसे परोपकारी जनाया; अतः विश्वास है कि मिथिलापुरवासिनी स्त्रियोंका अवश्य उपकार करेंगे। (रा० प्र०)। (७) जड़का उद्धार करना आपका स्वभाव है। अहल्या गौतमकी शापसे जड़ पाषाण हो गई थी, उसका उद्धार इन्होंने किया है। शिवचापभी विष्णुभगवान्के हुंकारसे जड़ होगया था तबसे वह जनकजीके यहाँ पड़ा है। ये धनुष-यज्ञ देखने आए हैं, अतः निश्चय है कि ये अवश्य पुरुषार्थ करेंगे, उसको तोड़कर उसका उद्धार करेंगे। (धनुष जड़ है। यथा 'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी।२५८.७।') (रा० प्र०)। (८) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि यदि कोई कहे कि सुबाहुको तो बाणविद्यासे मारा था। और धनुषमें तो हाथका बल चाहिए, उसीपर 'बिप्र काज करि' कहकर फिर मुनिवधूका उद्धार कह जनाती है कि ये बड़े शक्तिमान् हैं, देखो अहल्याके तारनेमें तो हाथका भी काम न था।

देखि राम छबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि यह बरु अहई॥ १॥
जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिबाहू॥ २॥
कोउ कह ए भूपति पहिचानें। मुनि समेत सादर सनमाने॥ ३॥
सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई॥ ४॥

शब्दार्थ - जोगु=योग्य, (किसीके) उपयुक्त, लायक़। अहई=है। पनु= प्रण, प्रतिज्ञा। भजई=भजेगा। भजना=सेवन वा सेवा करना; आश्रय लेना; आश्रित होना। कोउ एक=कोई एक; बहुतोंमेंसे ऐसा एक जो अनिर्दिष्ट हो।

अर्थ—श्रीरामजीकी छबि देखकर कोई एक (अन्य स्त्री) कहती है कि यह वर श्रीजानकीजीके योग्य है॥१॥ हे सखी! यदि राजा इन्हें देख पावें तो हठपूर्वक प्रतिज्ञाको छोड़कर विवाह कर दें॥२॥ (इसपर) कोई सखी कहती है कि ये राजाके जाने-पहचाने हुये हैं। मुनि सहित इनका (राजाने) आदरपूर्वक सम्मान किया है॥ ३॥ पर हे सखी! राजा प्रतिज्ञा नहीं छोड़ते। विधाताके वश (दैवात्, दैवाधीन) हठपूर्वक

अविवेकहीका सेवन करते हैं। अर्थात् अविवेकहीको ग्रहण किये हुये हैं, अविवेकी कहलाना पसंद करते हैं, उनमें कुछ बुद्धिमानी रहही नहीं गई ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ "देखि राम छबि कोउ एक कहई।..." इति। [(क) 'कोउ एक'—बैजनाथजीका मत है कि "यह तीसरी सखी हेमा है। इसकी माताका नाम सुभद्रा और पिताका नाम अरिमर्दन है।" 'कोई एक' मुहावरा है, इससे बहुतोंमेंसे किसी एक अनिर्दिष्ट व्यक्तिको सूचित किया जाता है]। (ख) 'जोगु जानकिहि येह बरु अहई' इति। छबि देखकर श्रीजानकीजीके योग्य कहनेका तात्पर्य यह है कि छबि-में श्रीजानकीजीके योग्य है, पर धनुष तोड़ने योग्य नहीं है। यह स्त्री मिथिलापुरीकी है, इसीसे यह श्रीराम-जीको श्रीजानकीजीके योग्य कहती है। यदि अयोध्यावासिनी होती तो 'श्रीरामजीके योग्य श्रीजानकीजी हैं' ऐसा कहती। नैहरमें कन्याकी प्रधानता रहती है। (ग) 'येह बरु अहई' इति। दूसरी सखी जो इसके पहले बोली थी उसने दोनों भाइयोंका वर्णन किया था; इसीसे तीसरी सखी अंगुल्यानिर्देश करके कहती है कि 'येह बरु'। (इससे जान पड़ता है कि दोनों भाई अब सामने आ गए हैं)। पुनः भाव कि [सुंदर तो दोनों कुमार अवश्य हैं, परन्तु श्रीजानकीजीके वर योग्य यह श्याम राजकुमारही है। (वै०)। रूप देखकर रूप देखनेका फल कहती है। यह तेजस्तत्व है। (वि० त्रि०)]।

नोट—१ जो बात दूसरी सखीने कही, उसीको यह सखी पुष्ट करती है। 'देखि छबि' से जनाया कि केवल श्रीरामजानकीके छबिके मेलसे इसने श्रीरामजीको श्रीजानकीजीके योग्य बताया। मिथिलामें सुन्दरतामें सबसे श्रीजानकीजी विशेष हैं, प्रधान हैं, अतएव उनके योग्य कहा (प्र० सं०)। आगे एक सखीने भी इसी भावसे कहा है—'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी।२२३। ७।' अर्थात् जैसी सुन्दर श्रीसीताजी हैं वैसेही सुंदर श्यामवर्ण श्रीरामजी भी हैं, पुनश्च यथा 'सीय-राम संजोग जानियत रच्यौ बिरंचि बनाइ कै। गी० १।६८।६।', 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहिं ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री। गी० १।७७।६।' गी० १।८० में योग्यता दिखाई गई है; यथा "मिलो बरु सुंदर सुंदरि सीतहि लायकु साँवरो सुभग सोभाहू को परम सिंगारु मनहू को मन मोहै उपमाको को है।"

२ वरकी योग्यताके संबंधमें तीन बातें देखी जाती हैं—घर, वर, कुल। वर सुन्दर हो, घर भरा पूरा धनवान हो, उत्तम कुल हो, कुल यशस्वी हो। यथा 'जौं घरु बरु कुलु होइ अनूपा। करिअ बिबाहु सुता अनुरूपा। ७१।३।', 'रूपहि दंपति मातु धन पिता नाम बिख्यात। उत्तम कुल बाँधव चहहिं भोजन चहहि बरात।' (अज्ञात), 'कन्या सुंदर बर चहै मातु चहै धनवान। पिता कीर्त्तियुत स्वजन कुल अपर लोग मिष्ठान। (अज्ञात)।—'जोगु जानकिहि...' कहकर श्रीरामजीमें सब प्रकारकी योग्यता दिखाई। (प्र०सं०)।

३ "जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू। " इति। 'जौं सखि इन्हहि देख नरनाहू' से स्पष्ट है कि इसे नहीं मालूम है कि राजा मुनिके दर्शन करने गए थे और वहाँ इन्हें देख चुके हैं, फिर साथही इन्हें लाकर राजमहलमें ठहराया है। बैजनाथजीका मत है कि यहाँ श्रीकिशोरीजीका मंदिर जानकर श्रीरामजी यहाँ रुके हुए हैं। किशोरीजी तो स्वाभाविकही देख रही हैं और अष्टसखी उनके निकटही परस्पर वार्ता कर रही हैं।" (यह मत कहाँ तक ठीक है, पाठक स्वयं विचार कर लें)। सत्योपाख्यानके आधारपर उनका मत यह भी है कि जब श्रीरामजी ऋषियोंके साथ भोजन कर रहे थे, उस समय सब स्त्रियों सहित रानियाँ इनकी माधुरी छबिका दर्शन कर रही थीं। वे इस शंकाका, कि "फिर यह सखी यह कैसे कहती है कि 'जो सखि इन्हहिं देख नरनाहू ?" समाधान यह करते हैं कि "जिस समय राजमंदिरमें राजकुमार भोजन करने हेतु आये थे उस समय यह वहाँ नहीं थी। अथवा, विभ्रमहाव है, छबि-अवलोकनसे पूर्व सुधकी विस्मृति हो गई है।"

टिप्पणी—२ (क) दूसरी सखीने कहा था कि 'बिप्र काज करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि । आए देखन चापमख...' अर्थात् ये बड़े वीर हैं, बड़े प्रतापी हैं, धनुष अवश्य तोड़ेंगे । इसपर तीसरी कहती है कि इन्हें धनुष न तोड़ना पड़ेगा । राजा जैसेही इनको देखेंगे, इनकी छबिपर मुग्ध होकर अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर इन्हींसे श्रीजानकीजीका विवाह कर देंगे । तात्पर्य कि श्रीरामजीकी अवस्था और सुकुमारता देखकर धनुषके तोड़नेकी प्रतीति हृदयमें नहीं ठहरती, इसीसे प्रणका छोड़ना कहती है । (ख) 'नरनाहू' का भाव कि राजाओंका अर्थसेवन मुख्य इष्ट है (अर्थात् अपना कार्य-साधन प्रिय होता है), अतः वे प्रण छोड़कर व्याह कर देंगे । [राजा लोग अपने स्वार्थके लिये धर्मको नहीं मानते और ये राजा हैं । अतः ये प्रतिज्ञा छोड़ देंगे, उसका किंचित् भी विचार न करेंगे । (पां०)] । (ग) 'हठि' का भाव कि यदि ये कहेंगे भी कि हम धनुषको तोड़ेंगे तो भी राजा इन्हें तोड़ने न देंगे, अपना हठ छोड़कर इनके विवाहका हठ करेंगे, क्योंकि प्रणही विवाहको रोकता है । ['हठि' देहली-दीपक-न्यायसे 'पन' और 'बिबाह' दोनोंके साथ है । अर्थात् हठ करके प्रणको छोड़ देंगे और हठ करके विवाह कर देंगे । अर्थात् प्रतिज्ञामें हठ न करेंगे वरंच विवाहके लिये हठ करेंगे । (प्र० सं०)] 'पन परिहरि'—भाव कि प्रण छोड़ देंगे, इनको न छोड़ेंगे । जानकीमंगलमें राजाओंने भी यही कहा है; यथा 'पन परिहरि सिय देब जनक बरु स्यामहिं । बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि ।' [प्रण और हठमें भेद दिखलाती है । प्रण छोड़ना अनुचित है और अनुचितके पक्षपातको ही हठ कहते हैं । (वि० त्रि०)] ।

श्रीलमगोड़ाजी · साधारण स्त्री-जनताका कैसा सुन्दर चित्र है । उन्हें प्रेममें नेमभी 'हठ' जान पड़ता है । उर्दू कविने .खूब कहा है—'मूय आतशदीदा है हलक़ा मेरी ज़ंजीर का' (नियमकी शृङ्खला आगमें डाले हुए बालकी तरह ख़ाक हो गई है) । कविका कमाल यह है कि दृष्टिकोण दिखा दिया है किन्तु नैतिक स्वच्छंदताको प्रयोगमें नहीं आने दिया और विश्वरचयिताके भी नियमपर श्रद्धा द्वाराही बड़े मजेसे बचाया है, शुष्क उपदेश रूपमें नहीं ।

टिप्पणी—३ "कोउ कह ए भूपति पहिचानें ।..." इति । (बैजनाथजीके मतानुसार इस सखीका नाम क्षेमा है । इनकी माता 'शोभावती' और पिता रिपुतापन हैं । वि. त्रि. जीका मत है कि यह सखी 'पृथ्वी-तत्व' है) । (क) यह सखी पूर्वके वचनका खंडन करती है । जो तीसरी सखीने कहा था कि 'जौं सखि इन्हहिं देखि नरनाहू', उसपर कहती है कि 'ए भूपति पहिचाने' और जो उसने कहा था कि 'पन परिहरि हठि करै बिबाहू' इसके उत्तरमें आगे कहती है कि 'पनु राउ न तजई । बिधिबस हठि अबिबेकहि भजई ।' (ख) 'मुनि-समेत सादर सनमाने'—[अर्थात् अर्घ्य पाँवड़े देते हुए राजमहलमें लाकर सुन्दर उत्तम निवास-स्थानमें जहाँ सब प्रकारका सुपास है ठहराकर भोजन कराया, फिर सब प्रकार विनय बड़ाई की । इत्यादि आदर सम्मान है । यथा—'नाइ सीस पगनि असीस पाइ प्रमुदित पाँवड़े अरघ देत आदर सो आने हैं । असन बसन बास कै सुपास सब बिधि, पूजि प्रिय पाहुने सुभाय सनमाने हैं । गी० १।५६।२।'

४ 'सखि परंतु पन राउ न तजई ।...' इति । (क) 'परंतु' का भाव कि यद्यपि बर सुन्दर है, वीर है, प्रतापी है और श्रीजानकीजीके योग्य है तब भी ।

नोट—४ 'पन राउ न तजई' का भाव कि राजहठ, बालहठ, त्रियाहठ प्रसिद्ध है, ये तीनों अपना हठ नहीं छोड़ते । प्रतिज्ञाको हठपूर्वक निर्वाह करना राजाओंका भूषण है, प्रतिज्ञा छोड़ देनेसे राजाकी शोभा नहीं रह जाती, उसके पुण्योंका नाश हो जाता है; यथा 'सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ ।२५२।५।', 'एक कहहि भल भूप देहु जनि दूषन । नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन । ४१ ।' (जानकीमंगल), "अब करि पैज पंच महँ जो पन त्यागै । बिधिगति जानि न जाइ अजसु जग जागै । ४३ ।" (जानकीमंगल) । पुनः भाव कि राजाका प्रण वज्ररेखके समान है, यथा 'बज्र रेख गजदसन जनकपन बेद बिदित जग जान ।

गी० १।८७।'; अतः वे प्रतिज्ञा न छोड़ेंगे। श्रीजानकीमंगलमें राजाका अपने कठिन पनके कारण चिंतित होना कहा है, उससेभी यही आशय निकलता है। यथा 'रूप सील बय बंस राम परिपूरन। समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन ॥ २६ ॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनि कै।''

प० प० प्र०—यहाँ 'नरनाहू', 'राउ', 'भूपति' शब्दोंके प्रयोगमें भाव यह है कि वे सत्ताधीश हैं, उनमें दया वा मया कहां? वे तो अपनी कीर्तिको ही देखेंगे, सीताजीके सुख-दुःखका विचार वे कब करने लगे? और हमलोग तो प्रजा हैं, उनसे प्रत्यक्ष कह नहीं सकतीं। यहाँ स्त्रियोंके उतावले चंचल स्वभावका दिग्दर्शन कराया गया है।

टिप्पणी—५ "बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई।" इति। 'बिधिबस' कहनेका भाव कि राजा अपनेसे प्रतिज्ञामें हठ न करते, पर विधिके वश वे अज्ञानी हो रहे हैं। राजा बड़े चतुर हैं, पर अज्ञानमें चतुराई नहीं रह जाती, यथा 'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।२५६।५।' —[यहाँभी वही भाव है (जो २५६.५ का है) कि विधाताकी गति न्यारी है; न जाने उसे क्या करना है कि राजाका सयानपन चला गया, वे कुछ विचार नहीं करते। सब प्रकार श्रीसीताजीके योग्य, नेत्रोंका मानों फलस्वरूप और श्रीसीताजीके सुकृतोंका मानों सारस्वरूप ऐसा सुन्दर वर देखकर भी वे अपने पुराने प्रण पर टिके हुए हैं, प्रण और राजकुँवर दोनोंको प्रेमकी तुलापर तोलते तो अवश्य प्रण छोड़ देते, पर ऐसा नहीं करते, यह अविवेक है। यथा 'नैननिको फल कै धौं सियको सुकृत सारु।···ऐसिऔ मूरति देखि रह्यो पहिलो बिचारु।····गी० १.८०।' इससे यह भी जनाया कि प्रण छोड़कर विवाह कर देते तो यह विवेककी बात होती। हानि लाभ न समझना ही अविवेक है।]

नोट—५ ज्ञानी होकर अविवेक क्यों धारण किये हैं? इसका समाधान 'बिधि बस' से करती हैं। इससे यहभी भाव निकलता है कि ज्ञानीके सत्संगसे अज्ञानीका अज्ञान दूर हो जाता है पर ज्ञानी अपना हठ दूसरेके कहने समझानेसे भी नहीं छोड़ता। ऐसाही आगे श्रीजानकीजी कहती हैं, यथा 'अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिं कछु लाभ न हानी। २५८.२।' करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ राजाको विवेकवान्‌ही ठहराया और पनको अविवेकवान्। (प्र० सं०)। ☞यहाँ सखी स्नेहवश राजा वा राजाकी प्रणरक्षाको अविवेकी कह रही है। यथा 'पुर नर नारि निहारहिं रघुकुलदीपहिं। दोसु नेह बस देहिं बिदेह महीपहिं।' (जानकीमंगल ४१)। [इसका तर्क यह है कि प्रण योग्य वरके लिये ही किया गया था; अतः योग्य वर मिल जानेपर प्रणपर अड़े रहना अनुचित है। यह उचित अनुचितका विचार अपनी रुचिके अनुसार करती है, तमोवहुल है। अविवेकको विवेक और विवेकको अविवेक समझती है। अतः यह पृथ्वीतत्त्व है। (वि० त्रि०)]

कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता। सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता ॥ ५ ॥
तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू। नाहिन आलि इहाँ संदेहू ॥ ६ ॥
जौं बिधि बस अस बनै संजोगू। तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू ॥ ७ ॥
सखि हमरें आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नातें ॥ ८ ॥

दोहा—नाहिँ त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसनु दूरि।
येह संघटु तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि ॥२२२॥

शब्दार्थ—संजोग (संयोग)=संगति, सम्बन्ध, योग, बनाव बनत; जोड़। कृतकृत्य=कृतार्थ,

सफल मनोरथ, सर्वकामनापूर्ण ☞यह शब्द प्रायः आदर-सम्मान-श्रद्धा आदि सूचित करनेके लिए प्रयुक्त होता है। आरति (आर्त्ति)=बड़ी उत्कट लालसा, आकुलता। यथा 'आरत जननी जानि सब भरत सनेह सुजान। २।१८६।' नाते=संबंधसे। पुराकृत=पुरा (पुराने समयमें, पूर्वकालमें)+कृत (किया हुआ)=पूर्व जन्मोंमें किया हुआ। संघटु=संयोग। भूरि=बहुत, समूह।

अर्थ—कोई कहती है कि जो विधाता भले (अच्छे) हैं और सबको उचित फल देनेवाले सुने जाते हैं॥ ५॥ तो श्री जानकीजीको यही वर मिलेगा। हे सखी! इसमें संदेह नहीं ही है॥ ६॥ जो दैववशात् ऐसा योग बन जाय, तो सबलोग कृतकृत्य हो जायँ॥ ७॥ हे सखी! हमारे हृदयमें इससे बड़ी आतुरता हो रही है कि कभी तो ये इस नाते आवेंगे॥ ८॥ नहीं तो, हे सखी! सुनो, हमको इनका दर्शन दुर्लभ है। यह संयोग तो तभी हो सकता है जब पूर्व जन्मोंके समूह पुण्य एकत्र हों॥ २२२॥

टिप्पणी—१ 'कोउ कह जौं भल···' इति। [(क) वैजनाथजीके मतानुसार यह पाँचवीं सखी बरारोहा है। इसकी माँ मोदिनी और पिता महिमंगल हैं।] (ख) 'बिधि बस अबिबेकहि भजई' यह सुनकर पाँचवींने कहा कि "जौं भल···"। यहाँ 'बिधि' का अर्थ 'बिधाता' स्पष्ट कर दिया। 'जो भला है और उचित फलदाता है तो श्रीजानकीजीको यही वर मिलेगा', इस कथनका भाव यह है कि जानकीजीके लिए उचित वर यही है, इससे अच्छा दूसरा योग विधाताको कहीं भी नहीं मिल सकता। [यह सखी ब्रह्मदेवके भले-बुरेकी परख जानकीजीके योग्य वर मिलने न मिलनेमें कर रही है। इसे विधिका भरोसा है, वे विधि बैठा देंगे तो सबका मनोरथ पूर्ण होगा। इसे शुद्ध प्रेम कहते हैं। स्वयं मोहित है पर विवाह उनका जानकीजीसे चाहती है। (वि० त्रि०)]

२ (क) 'नाहिं न आलि इहाँ संदेहू' इति। 'इहाँ'=इस बातमें। अर्थात् विधाताके उचित फल देनेमें संदेह नहीं है। 'इसमें संदेह नहीं है' इस कथनका भाव कि जनकजीके प्रण छोड़नेमें अवश्य संदेह है पर विधाताके विषयमें संदेह नहीं है। इसीसे आगे कहती है "जौं बिधि बस—"। [(ख) यहाँ 'आलि' शब्द बड़ा भावपूर्ण है। 'अलि' भ्रमरीको भी कहते हैं। इस शब्दसे जनाते हैं कि यह भ्रमरीकी तरह छबिरूपी तालाबमें श्रीरामजीके मुखकमलके अनुरागरूपी मकरंदरसको पान करती हुई परस्पर वचनरूपी गुंजार कर रही है। अथवा, मुखसरोजके छबिरूपी मकरंदका पान करती है; यथा 'मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान। २३१।' (ग) मिलान कीजिए—'कौसिक कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै सीय-राम-संजोग जानियत रच्यो बिरंचि बनाइ कै। गी० १.६८।', 'मानि प्रतीति कहे मेरे तैं कत संदेह बस करति हियो री। तौलौं है यह संभु सरासन श्रीरघुबर जौ लौं न लियो री। जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहि ऐसो रूप दियो री। तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री।" गी० १.७७)]

३ 'जौं बिधि बस अस बनै संजोगू···' इति। (क) पूर्व सखीने कहा था कि 'बिधि बस हठि अविवेकहि भजई' और यह सखी कहती है कि 'जौं बिधि बस अस बनै संजोगू।' इस तरह जनाया कि बिगाड़ना और बनाना दोनों विधाताके अधीन हैं। राजा हठपूर्वक अविवेकको भजते हैं यह बिगाड़ना है और श्रीरामजानकीजीका बिवाह होना बनना है। बननेमें सन्देह है इसीसे सन्देहवाचक पद 'जौं' दिया और बिगड़नेमें संदेह नहीं, इससे उस सखीके बचनमें 'जौं' न कहा था। (ख) 'तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू' इति। 'सब लोगू'—भाव कि बर पाकर श्रीजानकीजी कृतकृत्य होंगी, (माता, पिता, बन्धुवर्ग, सभी स्त्री-पुरुष (तथा सुर, नर, मुनि सभी) कृतकृत्य होंगे। सबको कहकर आगे स्त्रियोंको पृथक् कहती है। [(ग) 'बिधि बस' का भाव कि राजा तो प्रण त्यागेंगे नहीं, हाँ, दैवयोगसे जो इनके हाथसे धनुष टूटे, इस तरह बिधिवश संयोग हो जाय तो। (वै०)]

४ 'सखि हमरे आरति अति—' इति । (क) 'अति आरति' का भाव कि इनके दर्शनों बिना सभीही आर्त्त हैं, पर हम अति आर्त्त हैं, क्योंकि हमलोग स्त्री हैं, घरसे बाहर नहीं निकल सकतीं । पुरुष तो अयोध्यामेंभी जाकर दर्शन कर आ सकते हैं । (ख) 'कबहुँक ए आवहिं एहि नाते' अर्थात् इनका विवाह यहाँ हो जाइ, यह नाता (ससुरालका सम्बन्ध) हो जाइ और कभी ये इस सम्बन्धसे आवें तब हम इनके दर्शन पा सकती हैं, नहीं तो हमारे लिए इनका दर्शन दुर्लभ है, इसीसे हमें अत्यन्त आर्त्ति है । [मनोरथकी पूर्ति न होनेसे ब्रह्माको बुरा कहना, विवाह हो जानेसे सबको कृतकृत्य मानना, अति आरत होनेका लक्षण है । दर्शनके लिए आर्त्त होनेसे यह सखी 'जलतत्त्व' है—'रहहिं दरस जलधर अभिलाषे' । (वि० त्रि०) । (ग) 'आरति'=मानसी व्यथा (वै०) ।=पीड़ा । (रा० प्र०) । इस उत्कंठासे इस सखीके हृदयमें दर्शनकी लगन जानना चाहिये । (वै०) । भाव यह है कि नाता न हुआ तो दर्शन होनेका नहीं । नाता हो जाने पर भी इनकीही कृपासे दर्शनोंका संयोग हो सकता है, यह आशा है । श्रीजानकीजीके नातेही हमभी इनको अपने यहाँ बुला सकेंगी । (पं०) । (घ) श्रीकरुणासिंधुजीका मत है कि ये वचन युवावस्थाकी सखीके हैं, इससे 'अति आर्त्त' है और जो मुग्धा हैं, इस रसकी ज्ञाता नहीं, वे केवल आर्त्त हैं ।]

५ "नाहि त हम कहुँ सुनहु···" इति । (क) 'हम कहुँ' अर्थात् मिथिलावासिनी स्त्रीमात्रको । 'नहीं तो दर्शन दूर हैं' का भाव कि इस समय तो धनुर्यज्ञ देखने आ गये हैं, घर लौट जानेपर यहाँ आनेके लिये कोई कारणही न रह जायगा और हम लोग तो स्त्री होनेसे वहाँ जा नहीं सकतीं । पुनः, 'दरसन दूरि' अर्थात् इस समय जैसे अत्यन्त निकट है, वैसेही व्याह न होनेसे अत्यन्त असंभव हो जायगा । [इससे जनाया कि 'अति आरति' मानसी व्यथा है, इस व्यथा (पीड़ा वा रोग) की औषधि दर्शन है] । (ख) 'पुन्य पुराकृत भूरि' इति । भाव कि इस संबंधका होना विधाताके हाथ है । विधाता कर्मफलका देनेवाला है, यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता । सुभ अरु असुभ करम फल दाता ।'

६ (क) ☞इस सखीने क्रमसे इतनी बातें कहीं—(१) प्रथम श्रीजानकीजीको इस वरकी प्राप्ति कही, यथा 'तौ जानकिहि मिलिहि बरु एहू ।' (२) प्राप्तिका संयोग बताया, यथा 'जौं बिधि बस अस बनै संजोगू ।' (३) उस संयोगको नाता कहा, यथा 'कबहुँक ए आवहिं एहि नाते ।' (४) उस नातेका संघट (बनाव) कहा कि 'यह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि' । (ख) इस संयोगके प्राप्त हो जानेपर पुरवासियोंने अपनेको अत्यन्त सुकृती माना भी है । यथा "हम सब सकल सुकृत कै रासी । भये जग जनमि जनकपुर बासी । जिन्ह जानकी राम छबि देखी । को सुकृती हम सरिस बिसेषी । ३१० । ३-४ ।" [(ग) 'पुराकृत भूरि' का भाव कि सुकृती तो अब भी हैं, सुकृतसेही इनका दर्शन हुआ है, यथा 'भूरि भाग हम धन्य आलि ए दिन ए खन । गी० १.७३ ।', 'बड़े भाग आए इत ए री । गी० १ । ७६ ।' और यह विवाहका संयोग तो तब होगा जब सुकृत समूह होंगे । इसीसे तो सबने श्रीरामजीके हाथसे धनुष टूटनेके लिये अपने-अपने सुकृतोंको लगाया है । यथा 'सुकृत संभारि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै । रघुबर कर धनु भंग चहत सब अपनो सो हितु चितु लाइ कै । गी० १ । ६८ ।', 'बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे । जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे ॥ तौ सिवधनु मृनाल की नाईं । तोरहिं रामु गनेस गोसाईं । १ । २५५ ।' सबका सुकृत मिलकर सुकृतसमूह हो गया और सभी भूरि सुकृती हैं । पुनः, 'पुन्य पुराकृत भूरि' का भाव कि पुण्यसमूह होनेसे हमें आगे भी इनके दर्शन होते रहेंगे । दर्शन किया, कर रही हैं और आगे भी करेंगी, यह पुण्यपुंजसे ही होता है । यथा 'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे । जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे । २।१२० ।']

बोली अपर कहेहु सखि नीका । येहि बिआह अति हित सबही का ॥ १ ॥
कोउ कह संकर चाप कठोरा । ए स्यामल मृदु गात किसोरा ॥ २ ॥

सब असमंजस अहइ सयानी। येह सुनि अपर कहै मृदु बानी॥ ३॥

अर्थ—दूसरी और सखी बोली—हे सखी! तुमने बहुत भली (बहुत अच्छी और ठीकही बात कही। इस विवाहसे सभीका अत्यन्त हित है॥ १॥ कोई और बोली कि शंकरजीका धनुष कठोर है (और) ये साँवले (राजकुमार) कोमल शरीर और किशोर (अवस्थाके) हैं॥ २॥ हे सयानी! सब (प्रकार) असमंजस (दुविधा) ही है। यह सुनकर और दूसरी सखी कोमल वाणी बोली॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'बोली अपर' इति। (बैजनाथजीके मतसे यह पद्मगंधा नाम की सखी है। इनकी माता 'शोभनांगी' और पिता 'बलाकर' हैं)। (ख) पाँचवीं सखीने जो कहा कि 'जो बिधि बस अस बनै संजोगू। तौ कृतकृत्य होइँ सब लोगू' उस वचनका समर्थन छठी सखी करती है। 'कहेहु सखि नीका' यह उसके वचनकी प्रशंसा एवं समर्थन है। अर्थात् तुमने जो कहा वह सत्य है, अवश्यही इस विवाहसे सभीका हित है। (पुनः 'नीका' से जनाया कि बात सबके मन को भाती है)। [(ग) 'अति हित' का भाव कि विवाहसे माता, पिता, परिजन इत्यादिका हित होता है और इस (अर्थात् श्रीरामजानकीके) विवाहसे तो समस्त मिथिलावासियोंका, समस्त अवधवासियोंका, सुर, मुनि, विप्र, संत, और पृथ्वी इत्यादिका सभीका हित है। इसीसे इसे 'अतिहित' कहा। पुनः, 'अति हित', यथा "कहहिं परसपर कोकिल बयनी। येहि बिआह बड़लाभु सुनयनी॥ बड़े भाग बिधि बात बनाई। नयन अतिथि होइहहिं दोउ भाई। बारहि बार सनेह बस जनक बोलाउब सीय। लेन आइहहिं बंधु दोउ कोटि काम कमनीय। ३१०।…तब तब राम लषन हि निहारी। होइहहिं सब पुर लोग सुखारी।" अथवा, योग्यता और ऐश्वर्य दोनोंकी समताके कारण 'अतिहित' कहा। [वि० त्रि० के मतसे यह सखी 'वायु तत्त्व' है, क्योंकि यह सबमें 'अति हित' का संचार करती है]

२ (क) 'कोउ कह'—(बैजनाथजीके मतसे यह सुलोचना नामकी सखी है जिसकी माताका नाम विलक्षा और पिताका तेजस्थ है)। सातवीं सखीके वचन प्रतिकूल हैं। इसने शंकरचापकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारता दरसाकर जो हर्ष और सुख पाँचवीं और छठीने उत्पन्न किया था उसको संकुचित कर दिया, सबको असमंजसमें डाल दिया, सबको दुःखी कर दिया, क्योंकि शिवचापकी कठोरता सभी जानती हैं। (ख) 'संकर चाप कठोरा। ए स्यामल…' अर्थात् शंकरजीका धनुष वज्रसे भी अधिक कठोर है और ये अभी नितान्त सुकुमार बालक हैं; यथा 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥ …सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा॥ २५८। ४-५।' (ये श्रीजानकीजीके वचन हैं); 'ए बालक असि हठ भलि नाहीं। रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा॥ सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं। २५६। २-४।' (ये श्रीसुनयना अंबाके वचन हैं), 'ए किसोर धनु घोर बहुत बिलखात बिलोकनिहारे। टरयो न चाप तिन्ह तें जिन्ह सुभटन्हि कौतुक कुधर उखारे। गी० १। ६६।' (ये पुरवासियोंके वचन हैं); 'सोचत बिधिगति समुझि परसपर कहत बचन बिलखाइ कै। कुँवर किसोर कठोर सरासन असमंजस भयो आइ कै। गी० १। ६८।', 'कुलिस कठोर कूर्मपीठि ते कठिन अति। क० १। १०।' अर्थात् वज्रसे तथा कछुयेकी पीठसे भी अधिक 'कठोर'। [यह सखी संशय करती है, इसकी समझमें तो किसी भाँति सामंजस्य ही नहीं बैठता। अतः यह 'मनस्तत्व' है। (वि० त्रि०)]

३ (क) 'सब असमंजस अहइ सयानी' इति। भाव कि यद्यपि सब सयानी हैं तथापि यह वचन सुनकर सब अंदेशेमें पड़ गईं, श्रीरामजीकी सुकुमारता और अवस्था देखकर धनुष तोड़नेकी प्रतीति किसीको नहीं होती। ☞बड़े-बड़े सयाने माधुर्यमें भूल जाते हैं। ऐश्वर्य सुननेसे सबको प्रतीति होती है, इसीसे अब अगली सखी ऐश्वर्य कहकर सबका संदेह दूर करती है और सबोंको विश्वास दिलाकर पुनः हर्षित कर देती है। असमंजसमें पड़ गईं अर्थात् इसका उत्तर न दे सकीं। [मेरी समझमें यह अर्थ नहीं है कि सब

असमंजसमें पड़ गई। किंतु अर्थ यह है कि सब प्रकारसे असमंजस है। बैजनाथजीने भी यही भाव लिखा है जो पं० रामकुमारजीने लिखा है।] पुनः, ["सब असमंजस (अर्थात् दुविधा) यह कि जानकीजीके जयमाल पहनानेमें पिताका प्रण रोकता है और पिताके देनेमें उनकी (पिताकी) प्रतिज्ञा रोकती है तथा धनुष तोड़नेमें श्रीरामजीकी कोमलता असमंजस है, टूटे या न टूटे यह संदेह है।" (पाँ०)] (ख) 'येह सुनि अपर कहै···' इति। (बैजनाथजीके मतसे यह 'सुभगा' नामकी सखी है जिसकी माता बिनीता और पिता महावीर्य है। 'मृदु बानी'—एक तो ये सभी मृदुभाषिणी हैं ही, उसपर भी यह वाणीको कोमल करके बोली। कोमल वाणीका प्रभाव घबड़ाये हुये व्यक्तियोंपर बहुत शीघ्र पड़ता है और पूरा पड़ता है)।

सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ॥ ४ ॥
परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी ॥ ५ ॥
सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें। येहि प्रतीति परिहरिअ न भोरें ॥ ६ ॥

अर्थ—हे सखी ! इनको कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि ये बड़े प्रभावशाली हैं, देखनेमें ही छोटे हैं ॥४॥ जिनके चरणकमलकी धूलिका स्पर्श कर अहल्या तर गई जिसने समूह पाप किये थे ॥५॥ भला वह शिवजी के धनुषको बिना तोड़े कब रह सकते हैं ? यह विश्वास भूलकर भी न छोड़ो ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कोउ कोउ अस कहहीं' इति। भाव यह कि श्रीरामजीके प्रभावके जानकार (ज्ञाता) सब नहीं होते, कोई-कोईही होते हैं; इसीसे कहती है कि कोई-कोई ऐसा कहते हैं। यथा 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः। गीता ७।३।' [अथवा, 'कोउ कोउ' से जनाया कि जो राजाके साथ मुनिके दर्शनोंको गये थे और जिन्होंने मुनिके वचन सुने थे, वेही इनके ऐश्वर्यको जानते थे और वेही ऐसा कहते हैं। यथा 'मख राखेउ सब साखि जगु जिते असुर संग्राम। २१६।' (प्र० सं०)] (ख) 'बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं' इति। यथा 'रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु तिभुवन तम भागा। २५६.८।' आगे प्रभाव कहती है—'परसि···'।

नोट—१ 'परसि जासु पद···' इति। (अर्थात् बहुत और घोर पाप किये थे। घोर पापिनी थी। पतिवंचकता घोर पाप है, इसीसे 'अघ भूरी' कहा। यथा "पतिबंचक पर-पति रति करई। रौरव नरक कल्प सत परई। छन सुख लागि जनम सत-कोटी। दुख न समुझ तेहि सम को खोटी ॥ ३।५॥" अहल्याने यह जानते हुये कि यह इंद्र है उसके मनोरथको पूरा किया, और उसके साथ संभोगकर अपनेको कृतार्थ माना। यथा 'मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनंदन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराज कुतूहलात्। १६। अथाब्रवीत्सुर श्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना। कृतार्थास्मि सुरश्रेष्ठ गच्छ शीघ्रमितः प्रभो। २०।' (वाल्मी० १।४८)। अर्थात् विश्वामित्रजी कहते हैं कि हे रघुनन्दन ! मुनिवेष धारण किये हुए इन्द्रको पहचानकर भी उस दुष्टा अहल्याने प्रसन्नतापूर्वक इंद्रकी बात स्वीकार करली। फिर कृतार्थ मनसे वह इंद्रसे बोली कि मैं कृतार्थ हुई, अब तुम यहाँसे शीघ्र जाओ।' श्रीविश्वामित्रजीनेभी उसे 'दुष्टचारिणी' कहा है; यथा 'एवमुक्त्वा महातेजा गौतमो दुष्टचारिणीम्। वाल्मी० १।४८।३३।' अतः 'अघभूरी' विशेषण दिया। पुनः अयोध्याविन्दुमें लिखा है—'का तप तेज न रह्यो नारि में इंद्रहि डारत जारी। २। येहि ते जाना मनकी पापिनि सिला करी मुनि नारी।' पुनः यथा 'गौतमकी तीय तारी मेटे अघ भूरि भारी। क० १।२१।'

टिप्पणी—२ 'सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें···' इति। (क) जो पूर्व सखीने कहा था कि "···संकर चाप कठोरा। ए स्यामल मृदुगात किसोरा।' उसीपर यह सखी कहती है कि भला ये धनुष तोड़े बिना कैसे रहेंगे ? भाव यह कि पतिवंचकतारूपी भारी पापका नाश करना धनुष तोड़नेसे अधिक कठिन काम है, धनुष तोड़ना इसके आगे कुछभी नहीं है। [पुनः भाव कि जिनके चरणरजका यह प्रभाव है,

भला उनका प्रभाव कोई क्या कह सकता है ? — 'सिलाछोर छुअत अहल्या भई दिव्य देह, गुन पेखे पारसके पंकरुह पायके''' । गी० १।६५ ।' भाव कि जिनके चरणरजके प्रभावसे अहल्याकी जड़ता नष्ट होगई, वे धनुषकी जड़ता क्यों न नष्ट कर सकेंगे ? धनुषकी जड़ताही उसकी गुरुता है, यथा 'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होउ हरुअ···' (वि० त्रि०) । पुनः भाव कि पतिबंचक स्त्रीको तीर्थभी नहीं तार सकते, सो उसकोभी इन्होंने तार दिया; यथा ' जाको तारि सकत नहिं तीरथ गंग देव श्रुति चारी । ताको रामचरनरज समरथ तारै हाँक हँकारी ।' (काष्ठजिह्वस्वामी)] (ख) 'येहि प्रतीति परिहरिअ न भोरें' इति । भाव यह कि 'बिप्र काज करि बंधु दोउ मग मुनिबधू उधारि । आए देखन चाप मख ···' दूसरी सखीके ये वचन सुनकर सबको प्रतीति और हर्ष हुआ था जो पिछली सखीके 'संकर चाप कठोरा । ये स्यामल मृदुगात किसोरा' इस कथन-से जाता रहा था और सबको धनुषके तोड़नेमें सन्देह होगया था; इसीपर यह सखी कहती है कि प्रतीति भूलकरभी न त्याग करिये । अर्थात् जैसे तुम लोगोंने एक सखीके इतनेही कथनसे, पूर्व जो विश्वास होगया था उसे क्षणमात्रमें चलता कर दिया, वैसेही जो विश्वास मैं दिला रही हूँ उसेभी कहीं न छोड़ देना । इस तरह 'परिहरिअ न भोरें' कहकर यह सबको सावधान कर रही है । इतना कहकर तब यह पाँचवीं सखीके "···जौं भल अहइ बिधाता । सब कहँ सुनिअ उचित फल दाता । २२२।५ ।" इन वचनोंकी पुष्टि करती है ।—'जेहि बिरंचि···' ।

जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी । तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी ॥ ७ ॥
तासु बचन सुनि सब हरषानीं । असइ होउ कहहिं मृदु बानी ॥ ८ ॥

अर्थ—जिस बिरंचि (विधाता) ने श्रीजानकीजीको सँवारकर बनाया है, उसीने विचारकर (उसके लिये) श्यामल वरकोभी बनाया है ॥ ७ ॥ उसके वचन सुनकर सब प्रसन्न हुईं और मीठी कोमल वाणीसे सब कहने लगीं कि 'ऐसाही हो' ॥ ८ ॥

☞मिलान कीजिये—'मानि प्रतीति कहे मेरे तैं कत संदेह बस करति हियो री । तौ लौं है यह संभु सरासन श्रीरघुबर जौ लौं न लियो री । २ । जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी औ रामहिं ऐसो रूप दियो री । तुलसिदास तेहि चतुर बिधाता निज कर यह संजोग सियो री । गी० १.७७ ।'—यह सब भाव इस सखीके वचनोंमें हैं । 'रचि सँवारी' और 'रचेउ बिचारी' के संबंधसे 'बिरंचि' नाम दिया । अर्थात् विशेष रचयिता ।

टिप्पणी—१ (क) 'जेहि बिरंचि ··बिचारी' इस कथनसे पिछली सखीके 'संकर चाप कठोरा ।' इन वचनोंका खंडनभी होगया । (ख) 'ते स्यामल बरु रचेउ बिचारी' का भाव कि जिस वस्तुके बनानेमें बड़ी चतुराई और बड़े परिश्रमसे काम लिया जाता है यदि उसके अनुरूप जो-जो और वस्तु आवश्यक है वह न रची जाय तो उस वस्तुके बनानेमें जो चतुराई और परिश्रम किया गया तथा वह वस्तु भी व्यर्थ समझी जाती है । यथा 'जौं पै इन्हहि दीन्ह बनबासू । कीन्ह बादि बिधि भोग बिलासू ॥ ए बिचरहिं मग बिनु पद-त्राना । रचे बादि बिधि बाहन नाना ॥ ए महि परहिं डासि कुस पाता । सुभग सेज कत सृजत बिधाता ॥ तरुबर बास इन्हहि बिधि दीन्हा । धवल धाम रचि रचि श्रमु कीन्हा ॥ जौं ए मुनिपटधर जटिल सुंदर सुठि सुकुमार । बिबिध भाँति भूषन बसन बादि किए करतार । २।११९ । जौं ए कंद मूल फल खाहीं । बादि सुधादि असन जग माहीं ।" 'बिचारी' से जनाया कि श्रीसीताजीको बनानेका श्रम व्यर्थ न हो यह विचारकर श्यामल वर पहलेसे ही रच रक्खा है । [यह सखी निश्चय करती है अतः यह 'बुद्धितत्त्व' है । (वि० त्रि०)] ।

२ 'तासु बचन सुनि ···' इति । भाव कि पूर्व सखीने जो कहा था कि 'सब असमंजस अहइ सयानी', वह सब असमंजस जाता रहा । सब असमंजसमें थीं, अब सब हर्षित हुईं । स्मरण रहे कि पूर्व भी ऐश्वर्य

कथनसे हर्ष हुआ था और अबभी ऐश्वर्यसूचक वचनोंसेही हर्ष हुआ।—'परसि जासु पद पंकज धूरी…' यह ऐश्वर्यकथन है। पहलेभी सब हर्षित हुई थीं और अब भी। उपक्रममेंभी सुख कहा; यथा 'बिप्रकाजु करि…सुनि हरषीं सब नारि। २२१।' और उपसंहारमें भी सुख दिखाया—'सुनि सब हरषानीं'। 'असेइ होउ' यह सबने कहा, जिसने असमंजसमें डाल दिया था वहभी एवमस्तु कहनेमें सम्मिलित हुई।

'दो बार हर्ष हुआ। दोनोंका मिलान'

(१) बिप्रकाजु करि बंधु दोउ मग मुनि बधू उधारि। आए देखन चापमख सुनि हरषीं सब नारि।	परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। येह प्रतीति परिहरिअ न भोरें॥ तासु बचन सुनि सब हरषानी। असेइ होउ कहहिं मृदु बानी।'

(२) दोनोंमें ऐश्वर्यकथन है, दोनोंमें 'सब' स्त्रियोंका हर्षित होना कहा गया है। 'सब' से जना दिया कि जिसने चापकी कठोरता और श्रीरामजीकी सुकुमारताकी ओर ध्यान दिलाकर सबको असमंजसमें डाल दिया था, वहभी प्रसन्न हुई।

(३) पूर्व एक सखीके वचनकी प्रशंसा एकहीने की थी। यथा 'बोली अपर कहेउ सखि नीका। येहि बिआह अति हित सबही का।' और, इस सखीके वचनोंकी प्रशंसा सबने की, यथा "असेइ होउ कहहिं मृदुबानी।' ☞ यहाँ मुख्य तात्पर्य विवाहसे है, कि श्रीरामजानकीजीका विवाह हो जाय। इसके लिये चारों ओरसे विचार करती रहीं पर अवलंब कहीं न मिला। प्रथम श्रीजनकमहाराजका अवलंब लिया गया; यथा 'जो सखि इन्हहि देख नरनाहू। पन परिहरि हठि करै बिबाहू। २२२।२।' यह आश्रय दूसरेके वचनसे शिथिल हो गया, यथा 'सखि परंतु पनु राउ न तजई। बिधि बस हठि अबिबेकहि भजई। २२२।४।' तब विधाताका आश्रय लिया गया, यथा 'कोउ कह जौ भल अहइ बिधाता।…जौ बिधि बस अस बनै सँजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू। २२२।६-७।'—यह आशाभी शिथिल हुई, यथा 'नाहिं त हम कहँ सुनहु सखि इन्हकर दरसन दूरि। २२२।' तब भूरि पुण्योंका सहारा दैवयोगके लिये लिया, यथा 'येह संघट तब होइ जब पुन्य पुराकृत भूरि। २२२।' यहभी आशा टूटी, क्योंकि कौन जाने पुण्य ऐसे हों या न हों। श्रीरामजीकी मधुर मूर्ति और भवचापकी कठोरताने इस अवलंबको भी छुड़ा दिया। अन्तमें जब प्रभावमें मन गया तब प्रतीति हुई और सबको हर्ष हुआ।

☞ इस संवादसे हमें यह उपदेश मिल रहा है कि श्रीरामजीको छोड़, मनुष्यादिकी क्या कहनी, देवान्तरोंकेभी आश्रित होनेसे कभीभी किसी प्रकार सुख नहीं प्राप्त हो सकता। श्रीरामाश्रित होकर उनका प्रभाव मनमें लानेसे ही जीव सम्यक् प्रकारसे सुखी हो सकता है और ऐसा करनेसे ही वह सबसे सराहनीय हो जाता है। श्रीरामजीकी आशा और उन्हींके भरोसेमें सुख है, अन्यके आशा-भरोसामें दुःखमात्र है।

दोहा—हिय हरषहिँ बरषहिँ सुमन सुमुखि सुलोचनि-बृंद।
जाहिँ जहां जहं बंधु दोउ तहं तहं परमानंद॥२२३॥

अर्थ—सुन्दर मुख और सुन्दर नेत्रोंवाली स्त्रियोंके झुंडके झुंड मनमें हर्षित हो रहे हैं और फूल बरसा रहे हैं। जहाँ-जहाँ दोनों भाई जाते हैं वहाँ-वहाँ परम आनंद हो रहा है॥ २२३।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ स्त्रियोंके तन, मन और वचन तीनोंका हाल कहा है। 'हिय हरषहिं' यह मन, 'बरषहिं सुमन' यह तन और 'असेइ होउ' यह वचन का हाल है। (ख) हर्ष बार-बार हुआ, इसीसे कविने भी दो बार लिखा, एक तो 'तासु बचन सुनि सब हरषानी', दूसरे यहाँ 'हिय हरषहिं' में। (ग)

इत्यादिमें 'कोउ' और 'अपर' शब्दोंका प्रयोग किया गया है; पहली, दूसरी, तीसरी इत्यादि ऐसा नहीं कहा गया। इससे जान पड़ता है कि ये श्रीकिशोरीजीकी प्रधान सखियाँ नहीं हो सकतीं।

☞ बाबा रामदासजी लिखते हैं कि "कुछ लोग कहते हैं कि फूल बरसाकर सखियाँ पुष्पबाटिकाका संकेत जनाती हैं और यह कहते हैं कि ये श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ हैं।—यह अर्थ पूर्वापर प्रसंगसे अस्पष्ट है (विरुद्ध है, असंगत है); क्योंकि राजकुमारीकी सखियाँ कोटमें हैं और ये सब पुरवासिनी हैं। पुनः, कदापि ये ही श्रीकिशोरीजीकी सखियाँ होतीं तो ये सब तो नेत्रोंसे देख रही हैं, पुष्पबाटिकामें भी ये अवश्य कहतीं कि हमने देखा है, परन्तु ऐसा कहना कहीं पाया नहीं जाता। वे सुननाही कहती हैं। यथा 'एक कहइ नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनि संग आए काली।२२९।४।' फिर 'देखन बाग कुअँर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥ स्याम गौर किमि कहउँ बखानी।...' इत्यादि वचनभी यही सूचित करते हैं कि साथकी सखियोंने दोनों राजकुमारोंको इसके पूर्व नहीं देखा था। (प्र० सं०)।

पं० रामकुमारजी—यहाँ आठही सखियोंका संवाद वर्णन किया गया। कारण यह है कि प्रकृति आठ प्रकारकी कही गई है; यथा 'आठइ आठ प्रकृति पर निर्विकार श्रीराम। विनय २०३।', 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ गीता ७.४।' यावत् पदार्थ हैं वे सब इन्हीं आठके भीतर आ जाते हैं। सब सखियोंकी उक्ति आठ प्रकारकी प्रकृतिके भीतर है। इसी भावका पं० विजयानन्द त्रिपाठीजीने विस्तार किया है। वे लिखते हैं कि अपरा प्रकृतिका मोहित होना ही अष्ट सखियोंका संवाद है। राम ब्रह्मपर आठो प्रकृतियाँ मोहित हैं। अपरा प्रकृति सर्वत्र ही एक सी है, अतः सर्वत्र ही एक सी क्रिया हो रही है। यह सरकारके ऊपर पहली पुष्पवर्षा है। एक बार पहले जन्मके उपलक्ष-में देवताओं द्वारा हुई थी, पर वह अयोध्यामें हुई थी, सरकारके ऊपर नहीं।

टिप्पणी—२ 'सुमुखि सुलोचनिबृंद' इति। ये विशेषण श्रीसीतारामजीके संबंधसे दिये गए। ये मुखसे श्रीरामजीके रूप, यश, लीला और प्रताप प्रभावका वर्णन कर रही हैं, अतः इनको सुमुखी कहा और नेत्रोंसे उनका दर्शन कर रही हैं, अतः सुलोचनी कहा। पुनः, ये सब झरोखोंसे देख रही हैं इससे इन सबों-के नेत्र और मुख दो ही देख पड़ते हैं, इससे सुमुखी और सुलोचनी कहा। मिलान कीजिये 'लागि झरोखन्ह झाँकहिं भूपति भामिनि। कहत बचन रद लसहिं दमक जनु दामिनि। ४४।' (जानकी मंगल)।

श्रीलमगोड़ाजी—'जाहिं जहां जहं...' इति। श्रीतुलसीदासजीकी कलाकी यह भी एक मुख्य बात है कि एक नमूना देकर पीछे यह कहकर कि इसी प्रकार बहुतसे समझ लिये जायँ, हमारी कल्पनाशक्तिको असीम विकासका अवसर दे दिया जाता है, वह संकुचित तो रह ही नहीं सकती।—यह ही कविताकी संकेत-कला (Suggestiveness of Poetry) है।

टिप्पणी—३ (क) "जाहिं जहाँ..." इति। एक जगहका आनंद वर्णन करके कवि कहते हैं कि इसी प्रकार सर्वत्रही जहाँही राजकुमार पहुँचते हैं। ऐसाही परमानंद होता है; यथा 'गाँव गाँव अस होइ अनंदू। देखि भानुकुल कैरवचंदू। २। १२२।', कहाँ तक लिखा जाय। हमने एक जगहका लिख दिया, इतनेसेही सर्वत्रका समझ लें। (ख) श्रीजनकपुरमें निर्गुण ब्रह्मका आनंद है। यथा राजा तथा प्रजा। अब निर्गुण और सगुण दोनों ब्रह्म एकत्र हुए हैं। निर्गुण ब्रह्मका सुख दोनों भाइयोंके सुखके पीछे-पीछे फिरता है। इन दोनोंको देखकर उस ब्रह्मानंदको भी सुख मिला। यथा 'सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनंदहूके आनंद दाता। २१७.२।' [(ग) 'राजा जनकके हृदयमें जो परमानंद अर्थात् ब्रह्मानंद बसा था, वह साकार स्वरूपके हृदयंगत होनेसे निकल गया था। वही परमानंद राजकुमारोंके पीछे-पीछे फिर रहा है। जब ब्रह्मानंदकी यह दशा है तब सखियोंकी क्या कहें।' (रा० च० मिश्र)। (घ) 'तहँ तहँ परमानंद' का दूसरा अर्थ यह है कि दोनों भाई अपनेको परमानंद जानते हैं परन्तु यहाँ जहाँ जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ

गली-गलीमें श्रीजानकीजीके प्रभावसे परमानंद भरा मिलता है। तीसरा अर्थ यह है कि परमहंसी परमानंद जो योगी जनककी पुरीमें बसता था वह श्रीरघुनाथजीके शृङ्गारानंद (माधुर्यानंदसे पराजित होकर जहाँ-जहाँ वे जाते हैं) उनके पीछे पीछे फिरता है। (पां०)। (ङ) जहाँ-जहाँ जाते हैं वहाँ-वहाँ परमानंदको प्राप्त होते हैं। अर्थात् मिथिलावासिनी स्त्रियोंकी छबि-छटा देख-देखकर निहाल होते हैं। (रा० प्र०)]

प० प प्र०—यह सब संवाद एकही भवनमें बैठी हुई स्त्रियोंका समझना भूल है। क्योंकि ऐसा माननेसे यह मानना पड़ेगा कि युगल किशोर इतनी देर तक मर्यादाको छोड़कर एक ही जगह खड़े रहे हैं। दोनों भाई मार्ग पर चल रहे हैं, दोनों तरफ पुरजनोंके भवन हैं। जहाँ जहाँ जैसे-जैसे ये आगे बढ़ते जाते हैं, वैसे-वैसे विविध भवनोंके झरोखोंमें लगी हुई युवतियाँ परस्पर इस प्रकार चर्चा कर रही हैं।

पुर पूरब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनुमख हित भूमि बनाई ॥ १ ॥
अति बिस्तार चारु गच ढारी। बिमल बेदिका रुचिर सँवारी ॥ २ ॥
चहुँ दिसि कंचन मंच बिशाला। रचे जहां बैठहिं महिपाला ॥ ३ ॥
तेहि पाछे समीप चहुँ पासा। अपर मंच मंडली बिलासा ॥ ४ ॥
कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई। बैठहिँ नगर लोग जहँ जाई ॥ ५ ॥

शब्दार्थ - भूमि=रंगभूमि; वह स्थान जहाँ कोई उत्सव मनाया जावे। गच=चूना, सुरखी आदिसे पीटी हुई ज़मीन, पक्का फर्श। (श० सा०)।=चूना, सुरखी आदिके मेलसे बने हुए मसालेसे बनाया हुआ पक्का फर्श; काँचका फ़र्श। (श० सा०)। यथा 'जातरूप मनि रचित अटारीं। नाना रंग रुचिर गच ढारीं। ७.२७.३।', 'ज्यों गचकाँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की। टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की। वि० ९०।', 'मनि बहु रंग रचित गच काँचा। ७.२७.६।' ढारी = बनी हुई; ढली हुई।=ढालुवाँ जिसमें जल न रुके। = ढाली वा बनाई गई। गच ढारी=ढाली हुई गच। बेदिका=वेदी, किसी शुभ कार्यके लिये विशेषतः धार्मिक कार्यके लिये तैयार की हुई ऊँची भूमि। मंच=मचान, ऊँचा बना हुआ मंडल जहाँ बैठकर लोग तमाशा आदि अच्छी तरह देख सकें, अथवा, जहाँ बैठकर सर्वसाधारणके सामने कुछ कार्य किया जा सके। बिलासा=विशेषरूपसे शोभित।

अर्थ दोनों भाई नगरकी पूर्व दिशामें गये। जहाँ धनुषयज्ञके लिये रंगभूमि बनाई गई थी ॥ १ ॥ बहुत लंबी चौड़ी सुंदर (काँचकी ढालुवाँ) गच बनाई गई थी जिस पर निर्मल सुन्दर बेदी सजाई गई थी ॥ २ ॥ चारों ओर सोनेके बड़े मचान बनाये गए थे, जहाँ राजा लोग बैठेंगे ॥ ३ ॥ उनके पीछे निकटही चारों ओर दूसरा मचानोंका मण्डलाकार घेरा शोभित है ॥ ४ ॥ जो कुछ ऊँचाईपर था और सब प्रकार सुन्दर था, जहाँ नगरके लोग जाकर बैठें ॥ ५ ॥

वि० त्रि०—दोनों भाई मुनिके साथ पश्चिम दिशासे आये थे और रंगभूमि पूर्व दिशामें है अतः उसे देखनेके लिये पुरके पूर्व ओर गए। गच ढालनेकी विद्या पहले थी अब नहीं है। दक्षिणके मन्दिरोंमें ढाले हुए पत्थर लगे पाये जाते हैं।

नोट—१ 'अति बिस्तार चारु गच ढारी·····' से जनाया कि सुंदर विस्तृत चौकोर स्थान है। 'चारु' से जनाया कि मणि माणिक्य आदिसे बनाई हुई है। 'गच' से जनाया कि पक्का चिकना चमकता हुआ फ़र्श है। पांडेजीका मत है कि हरित मणिकी गच है। बड़ी विस्तृत गचके बीचमें वेदिका बनी है जिसपर धनुष रक्खा जायगा जिसके तोड़नेके लिये स्वयंवर रचा गया। 'बिमल' से चांदी वा स्फटिक मणिकी जनायी जो बहुत शुभ्र और स्वच्छ है। 'रुचिर' से प्रकाशमान जनाया।

२ 'ता पाछे समीप चहुँ पासा।.....' इति। इससे जनाया कि यहाँ मचान सरोवरकी सीढ़ियोंकी तरह बने हुए हैं। पीछेके मंच आगेके मंचोंसे इतने ऊँचे हैं कि पीछे बैठनेवाले भी धनुषयज्ञ अच्छी तरहसे देख सकें। या यह समझिये कि जैसे नाटक देखनेवालोंके लिये एक दिशामें बैठकें बनाई जाती हैं वैसेही यहाँ चारों ओर मंच हैं। यह मंचमंडली जो बनी है इसपर राजाओंके साथका समाज (अर्थात् मंत्री, सुभट, चामर-छत्र-बरदार आदि) बैठेगा। यथा 'राजा रंगभूमि आज बैठे जाइ जाइ कै। आपने आपने थल, आपने आपने समाज, आपनी-आपनी बर बानिक बनाइ कै। गी० १.८२।'

तिन्ह के निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए॥ ६॥
जहँ बैठे देखहिँ सब नारीं। जथायोगु निज कुल अनुहारीं॥ ७॥
पुर बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिँ रचना॥ ८॥

दोहा—सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरष हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥२२४॥

अर्थ—उनके पास बहुत लंबे-चौड़े-विस्तृत सुंदर स्वच्छ बहुतसे घर रंग-बिरंगके बनाये गए हैं॥ ६॥ जहाँ बैठकर सब स्त्रियाँ अपने अपने कुलके अनुसार यथायोग्य रीतिसे (अर्थात् जहाँ जिसको जैसा उचित है उस रीतिसे) बैठकर देखें॥ ७॥ जनकपुरके बालक कोमल वचन कह कहकर आदरपूर्वक प्रभुको उसकी रचना दिखा रहे हैं॥ ८॥ सब बालक प्रेमके वश होकर इस बहाने (श्रीरघुनाथजीके) सुंदर मनोहर शरीरको छूकर शरीरमें पुलकित होते हैं और दोनों भाइयोंको देख-देखकर उनके हृदयमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है॥ २२४॥

नोट—१ (क) 'धवल' से जनाया कि स्फटिक मणिके हैं। 'बहु बरन' से जनाया कि अनेक प्रकारके, अनेक रंगोंके भिन्न-भिन्न रचनाकलाके हैं। 'जथायोग' से वर्ण, जाति, कुल, पद इत्यादिके अनुसार उत्तम, मध्यम, नीच, लघुका विचारकर बैठना जनाया; यथा 'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि। उत्तम मध्यम नीचु लघु निज निज थल अनुहारि। २४०।' (ख) धवल धाम चारों वर्णोंकी स्त्रियोंके विचारसे चौमहला बना हुआ है, ऊपर ब्राह्मणी फिर क्रमसे और सब जातिकी स्त्रियाँ। प्रत्येक वर्णके लिये पृथक् पृथक् रंगसे ये धाम रंगे गए थे। (ग) 'मृदु बचना' क्योंकि इनको देखकर सब बालक लुभागए हैं,—'लगे संग लोचन मनु लोभा।' प्रेमके वचन मृदु होतेही हैं, चाहते हैं कि हमसे बोलैं। (घ) 'प्रभुहि' कहकर जनाया कि यह रचना उनके लिये क्या है तो भी प्रेमके बस इनके कहनेपर वे देखते हैं, उनका मन रखते हैं।

श्रीराजारामशरणजी—गुरुकुल मेगज़ीन (काँगड़ी) के एक लेखमें मैंने तुलसीदासकी Designing अर्थात् रचनाकलाकी विस्तारसे व्याख्या की थी। देखिये, दरबार या रङ्गभूमिका यह ढाँचा कितना अच्छा है। सर जान हिवटने देहली दरबारके लिये सम्राट् जार्जपंचमके आगमनके समय इस बीसवीं शताब्दीमें भी कुछ ऐसाही दरबार बनाया था। हाँ, एक अन्तर है कि हमारी सभ्यतामें परदा न था, मगर स्त्री पुरुषोंका अनुचित और अनियमित मिश्रणभी न था। स्त्रियोंके लिये बैठनेका स्थान अलग है। अन्तिम पद बालकोंकी वार्ताके संकेतसे दृश्यको सजीव बना दिया गया है, मानों ऊपरका वर्णन उसी वार्ताका सारांश है।

नोट—२ 'सब सिसु येहि मिस प्रेम बस परसि...' इति। (क) सब 'परसि मनोहर गात', 'देखि-देखि दोउ भ्रात' और आगे 'निज-निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई। २२५। २।' इत्यादिसे स्पष्ट है कि यहाँ कुछ श्रीरामरहस्य दर्शित कराया गया है। सभी प्रभुका स्पर्श कर रहे हैं, सभी उनको पकड़े हुये हैं, सभी दोनों भाइयोंको अपनेही साथ देख और समझ रहे हैं, सभी रङ्गभूमिके स्थान

दिखाते हैं और अपने साथ ले चलते हैं, सभी मृदु बचन कहकर रचना दिखा रहे हैं। यही रहस्य है, कोई इस भेदको नहीं जानता। जैसे—'एकटक सब सोहहिं चहु ओरा। रामचंद्र मुखचंद चकोरा। २।११५।५।', 'मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहु निकर चकोर। ३।१२।', 'अस कपि एक न सेना माहीं। राम कुसल जेहि पूछी नाहीं॥ यह कछु नहिं प्रभु कै अधिकाई। बिस्वरूप ब्यापक रघुराई। ठाढ़े जहं तहं आयसु पाई। ४।२२।', 'आरत लोग राम सबु जाना। करुनाकर सुजान भगवाना॥ जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी। सानुज मिलि पल महुँ सब काहू। कीन्हि दूरि दुख दारुन दाहू॥ यह बड़ि बात राम कै नाहीं। जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं। २।२४४।', इत्यादि अवसरों पर भी देखनेमें आता है। (प्र० सं०)। (ख) 'येहि मिस' इति। भाव कि यद्यपि सब शिशु प्रेमके वश हैं तथापि इनका तेज प्रताप देख स्पर्श नहीं करते थे, परन्तु दिखानेके बहाने स्पर्श करते हैं। अर्थात् रचना दिखानेके बहाने हाथ पकड़-पकड़कर कहते हैं कि यह देखिये। रंगभूमिकी रचना दिखानेके बहाने अपना अभीष्ट साधन करना 'द्वितीयपर्यायोक्ति अलंकार' है। 'शिशु' शब्दसे जनाते हैं कि जैसे माता-पिता बच्चेकी बातोंको सुनते हैं वैसेही ये सुनते हैं, जैसे बच्चे माता-पिताके हाथ आदि पकड़कर उनको अपनी ओर आकर्षित करते हैं वैसे ही ये बालक करते हैं, इत्यादि। (ग) 'प्रेम बस' कहनेका भाव कि यह सौभाग्य प्रेमियोंही का है, वे ही प्रभुका स्पर्श कर सकते हैं, कर्मकांडियों, योगियों और ज्ञानियोंको यह अधिकार प्राप्त नहीं है, क्योंकि श्रीरामजीको प्रेमही प्रिय है; यथा 'रामहि केवल प्रेमु पियारा। जानि लेउ जो जाननिहारा। २।१३७।१।', 'उमा जोग जप ज्ञान तप नाना ब्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निःकेवल प्रेम।' (प्र० सं०)। (घ) 'तन पुलकहिं अति हरषु हिय....' इति। प्रभुके अंगोंके स्पर्शका यही फल है, हृदयमें आनंद छा जाता है, शरीर पुलकित हो जाता है, इत्यादि। यथा 'परसत पद पावन सोक नसावन....॥ अति प्रेमु अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही। अतिसय बड़भागी चरनन्हि लागी जुगलनयन जलधार बही। १।२११।', 'हरषि बंधु दोउ हृदय लगाए। पुलक अंग अंबक जल छाए। ३०७। ७।', 'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली। १।३२४।', 'अति आनंद उमगि अनुरागा। चरन सरोज पखारन लागा। ...पितरु पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेइ पार।२।१०१।' इत्यादि। (प्र० सं०)। (ङ) यहाँ यहभी दिखाते हैं कि बालक मन, वचन, कर्म तीनोंसे प्रभुमें लगे हुये हैं। 'अति हरष हिय' से मन, 'कहि कहि....' से वचन और 'परसि मनोहर गात' से कर्म दिखाया। (प्र० सं०)।

राजारामशरणजी—शृंगारके माधुर्य्यमें दर्शन और वार्ता थी, अब स्पर्श है। नवयुवकों और बालकों की आदत भी हाथ मिलाकर चलने और बोलने इत्यादिकी होती है। मजा तो देखिए। प्रभुको कविने बालकोंका साथी बना दिया। धन्य हैं ऐसे प्रभु कि प्रेममें बालकोंके साथ हिलमिल गए।

सिसु सब राम प्रेम बस जानें। प्रीति समेत निकेत बखानें॥ १॥
निज निज रुचि सब लेहिँ बोलाई। सहित सनेह जाहिँ दोउ भाई॥ २॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब बालकोंको प्रेमके वश जानकर प्रीतिसहित (उनके दिखाये हुये रंगभूमिके) स्थानोंकी प्रशंसा की॥ १॥ अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सब दोनों भाइयोंको बुला लेते हैं। दोनों भाई प्रेमसहित जाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) 'सिसु सब राम प्रेम बस जानें। इति। सब बालकोंके प्रेम है। उनका प्रेम पूर्व कह आए; यथा 'सब सिसु येहि मिस प्रेमबस'। इसीसे कहते हैं कि श्रीरामजीने सबको प्रेमवश जाना। (ख) 'प्रीति समेत निकेत बखानें' इति। मिथिलावासी बालकोंने रंगभूमिके स्थानोंकी रचना दिखाई, यथा 'पुर

बालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना।' सब आदरपूर्वक मृदु वचन कहकहकर दिखाते हैं इसीसे श्रीरामजी उनके दिखाये हुये स्थानोंकी प्रेमसहित प्रशंसा करते हैं जिसमें बालक प्रसन्न हों। 'बखानें' अर्थात् कहा कि तुमने बहुत अच्छी रचना दिखाई, स्थान अत्यन्त शोभामय है। [(ग) श्रीरामजी प्रीतिकी रीति जानते हैं, प्रेमीसे प्रेम करते हैं। लड़के प्रेमवश हैं इसीसे श्रीरामजीने 'प्रीति सहित' बखान किया। 'प्रीति समेत निकेत बखानें' का सम्बन्ध 'पुरबालक कहि कहि मृदु बचना....' इस अर्धाली-से है।]

२ 'निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई।....' इति। (क) अर्थात् रुचिपूर्वक बुलाते हैं, इसीसे वे जाते हैं। यथा 'राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान साधु सुर साखी। २।२१९।', 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी। तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी। २।२४४।२।', (ख) 'सब लेहिं बोलाई' इति। सब बुला लेते हैं, क्योंकि सभी प्रेमवश हैं। श्रीरामजी सबकी रुचि, सबका प्रेम, रखते हैं; इसीसे स्नेह सहित सबके साथ जाते हैं। यहाँ परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। (ग) सभी स्पर्श करते हैं, सभी बुला लेते हैं और सभीके साथ दोनों भाई जाते हैं—इससे जनाया कि अनेक रूप धारण करके आपने सब बालकोंकी रुचि रक्खी। [यह दोनों भाइयोंका रहस्य कह रहे हैं। प्रत्येक बालकके साथ दोनों भाई हैं। (प्र० सं०)]। (घ) 'सहित सनेह' देहली-दीपक है। सब स्नेह सहित बुलाते हैं (इसीसे दोनों भाई) स्नेहसहित जाते हैं। 'सहित सनेह जाहिं दोउ भाई' कहकर जनाया कि प्रभुने बालकोंको प्रेमवश जाना इसीसे आप भी उनके प्रेमवश हो गए। स्नेह सहित साथ जाना, यही प्रेमवश होना है। लड़के प्रेमविभोर हैं, दूसरे अभी बालकही हैं इससे वे यह नहीं समझते कि सबके बुलानेसे, सब जगह जानेसे इनको परिश्रम होगा। 'स्नेह सहित जाते हैं' कहकर यह भी जनाया कि दोनों भाई किंचित् भी परिश्रम नहीं मानते, क्योंकि ये स्नेह और शीलके ओर-निबाहक हैं। यथा 'को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा। २।२४।' ☞देखिये, एक ओर आदरसहित रचना दिखाना प्रेमवशाता और प्रेमसहित बुलाना है; वैसेही दूसरी ओर प्रीतिसहित बखान करना, प्रेमवशता और जहाँ-जहाँ बुलाते हैं वहाँ-वहाँ जाना है इसीसे कहा है कि 'पन्नगारि सुनु प्रेमसम भजन न दूसर आन'।

३ यहाँ दिखाया है कि सब बालकोंने अपने मन-तन-वचन श्रीरामजीमें लगा दिये। मृदु वचन कहकर रचना दिखाते हैं, तनसे पुलकित हो रहे हैं और मनसे हर्षित हैं। इसी तरह श्रीरामजीभी मन-तन-वचन बालकोंमें लगाये हुये हैं। 'प्रीति सहित'—यह मन (क्योंकि प्रेम होना मनका धर्म है), 'बखानें'—यह वचन और 'जाहिं दोउ भाई'— यह तन लगा (जहाँ-जहाँ जो बालक बुला ले जाता है वहाँ-वहाँ तनसे जाते हैं)।☞इससे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस गीतावाक्यको चरितार्थ किया।

राम देखावहिँ अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना॥ ३॥

लव निमेष महुँ भुवन निकाया। रचै जासु अनुसासन माया॥ ४॥

भगति हेतु सोइ दीन दयाला। चितवत चकित धनुष मखसाला॥ ५॥

शब्दार्थ— रचना = बनावट, कारीगरी, चमत्कारी। लव निमेष—तीन परमाणुका एक त्रसरेणु कहा जाता है, जो झरोखोंमें होकर आई हुई सूर्यकी किरणोंके प्रकाशमें आकाशमें उड़ता देखा जाता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओंको पार करनेमें सूर्यको जितना समय लगता है उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौगुनाकाल 'वेध' कहलाता है। तीन वेधका एक 'लव', तीन लवका एक निमेष और तीन निमेषका एक 'क्षण' होता है। यथा "अणुर्द्वौपरमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः। जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥ ५॥ त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालः स त्रुटिः स्मृतः। शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥ ६॥ निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः। भा० ३।११।"

अर्थ—कोमल मीठे और मनोहर वचन कहकर श्रीरामचन्द्रजी भाईको (धनुर्यज्ञभूमिकी) रचना दिखाते हैं ॥३॥ जिनकी आज्ञासे लवनिमेष (पलक गिरनेके चौथाई अंश) में माया ब्रह्मांडसमूह रच डालती है ॥४॥ वेही दीनदयाल भक्तिके कारण धनुष-यज्ञशालाको चकित (आश्चर्ययुक्त) हो देख रहे हैं ॥५॥

नोट ☞ इस ग्रंथभरमें पूज्य गोस्वामीजीका यह सँभाल है कि जहाँ माधुर्य्यकी विशेषता होती है वहाँ उसके पश्चात् तुरत प्रभुका ऐश्वर्य्य कहकर संदेह और मोहको दूरकर देते हैं; यथा 'जासु नाम सुमिरत एक बारा। उतरहिं नर भवसिंधु अपारा। सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जगु किय तिहुँ पगहु ते थोरा। २।१०१।', 'प्रभु सक त्रिभुवन मारि जिआई। केवल सक्रहि दीन्हि बड़ाई। लं० ११३।', 'गुनातीत सचराचर स्वामी। राम उमा सब अंतरजामी॥ कामिन्ह कै दीनता देखाई। धीरन्हके मन बिरति दृढ़ाई। ३।३६।', 'ब्यालपास बस भए खरारी। स्वबस अनंत एक अबिकारी॥ नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतंत्र एक भगवाना। लं० ७२।' इत्यादि, तथा यहाँ कहा कि 'लवनिमेष''जासु त्रास डर कहुँ डर होई।०'। ☞इसीको कलाकी भाषामें महाकाव्य और नाटककलाका मेल कहते हैं। कवि कितना उपयोगी है, शेक्सपियरकी कलामें यह नहीं है, इसी कारण बहुधा भ्रम होजाता है। 'चितवत चकित' का आनंद आपको तब अनुभव होगा जब उस समयका स्मरण करें कि जब आपके बालकने कोई अपनी बनाई चीज़ दिखाई हो और आपने उसको उत्साहित करनेके लिये उसकी प्रशंसा की हो। आगे 'त्रास' वाला अंश तो 'जस काछिय तस चाहिय नाचा' का औरभी सुन्दर नमूना है। ☞ बहुधा प्रश्न होता है कि क्या यह अभिनय कृत्रिम नहीं ? नाटकी अभिनेताओंका उत्तर है कि अभिनयके समय उतनी देरका वही भाव होता है। यदि और भाव याद रहे तो खेल बिगड़जाय। हमभी जब बालकोंके खेलमें सम्मिलित होते हैं तो अपने और व्यक्तित्वको गुप्त किये बिना मज़ाही नहीं आता। (श्रीराजारामशरणजी)।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा कि दोनों भाई बालकोंके बुलानेसे जाते हैं। वहाँ जाकर क्या करते हैं यह अब बतलाते हैं कि 'देखावहिं अनुजहिं रचना'। जैसे पुरके बालक रामजीको सादर मृदु वचन कहकर रचना दिखाते हैं, वैसेही रामजी भाईको मृदु मधुर मनोहर वचन कहकहकर दिखाते हैं। यहाँ यह भी दिखाया कि बालकोंके वचन मृदु हैं और रामजीके वचनोंमें मधुरता और मनोहरता दो बातें अधिक हैं। श्रीरामजी बालकोंकी प्रसन्नताके लिये उनके वचन सुनकर रचना देखते हैं और लक्ष्मणजीकी प्रसन्नताके लिये मधुर मनोहर वचन कहकर उनको दिखाते हैं। ☞यह भेद दिखाकर प्रभुका स्वभाव बताया कि भक्त जिस तरह प्रसन्न हो भगवान् वही करते हैं, वही कहते हैं, वही सुनते और वही देखते-दिखाते हैं। [सादर होनेसे मृदु, सरस होनेसे मधुर और सुस्वर होनेसे मनोहर कहा। (वि० त्रि०)] (ख) बालक बहुतसे हैं, इसीसे उनके संबंधमें 'कहि कहि मृदु बचना' लिखा था अर्थात् दो बार 'कहि' शब्द लिखा था और श्रीरामजी दिखानेवाले एकही हैं इसलिये यहाँ 'कहि' एकही बार लिखा। पुनः बालकोंकी इच्छा श्रीरामजीसे वार्ता करनेकी है, इससे 'कहि कहि' अर्थात् दो बार 'कहि' शब्द लिखा और रामजीकी इच्छा रचना दिखानेकी है (वार्ता करनेकी नहीं) अतः यहाँ एक बार 'कहि' लिखा। (ग) पुनः, 'देखावहिं' का भाव कि लक्ष्मणजीके हृदयमें नगर देखनेकी इच्छा थी, यथा 'लषन हृदय लालसा बिसेषी। जाइ जनकपुर आइय देखी।' इसीसे 'राम देखावहिं अनुजहिं रचना'। गुरुसे भी यही कहा था कि 'नगर देखाइ तुरत लै आवौं', उसको यहाँ चरितार्थ कररहे हैं। [(घ) बैजनाथजी लिखते हैं कि "बालकोंके संतोषहेतु रचनाकी चमत्कारी दिखाते हैं। आनन्दवृद्धिके अर्थ प्रिय वचन और स्नेहवृद्धिहेतु मधुर मनोहर वचन कहे।"]

२ (क) 'लव निमेष महँ भुवन निकाया' इति। कालके दो परिमाण लव और निमेष कहनेका भाव कि ब्रह्मांड बहुत हैं, किसीको लवमात्रमें बना डालती है और किसीको निमेषमात्रमें। तीन लवका एक निमेष होता है—'निमिषस्त्रिलवो ज्ञेयः'। [कोई लोग एक निमेषके साठवें भागको लव मानते हैं। कोई छ

लवका एक निमेष कहते हैं और कोई ३६ लवका एक निमेष कहते हैं। =दो काष्ठा। (श० सा०)। पलक गिरनेमात्रका समय निमिष कहलाता है। लवनिमेष=अत्यन्त अल्पकालमें। मेरी समझमें आता है कि 'समूहके समूह ब्रह्मांड' सबके सब अत्यंत अल्पकालमें रच डालती है। वा, लव निमेष=लव और निमेषके अन्दरही। इससे अधिक समय नहीं लगता।] (ख) यहाँ, भुवन=ब्रह्मांड। यथा 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया। ५।२१।', 'अवधपुरी प्रति भुवन निनारी। सरजू भिन्न भिन्न नर-नारी। ७।८१।', 'ब्रह्मांड निकाया निरमित माया रोमरोम प्रति बेद कहै। १।१९२।', 'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया। ३।१३।६।', सर्वत्र ब्रह्मांडका ही रचना कहा गया है; अतः यहाँ भी वही समझना चाहिये। (ग) 'रचइ' का भाव कि यह न समझो कि अल्पकालमें जैसा-तैसा बना डालती होगी, वह समूहके समूह बना डालती है और रचनापूर्वक बनाती है, सामान्य कारीगरी नहीं किंतु भारी कारीगरीके वे सब ब्रह्मांड होते हैं।

वि० त्रि०—विकासवादका सिद्धान्त अत्यन्त सङ्कीर्ण है। सृष्टि क्रमसे नहीं होती, युगवत् होती है, स्वप्नकी सृष्टिकी भाँति। रचनाके लिये काल चाहिये, सो पलक मारनेके पहलेही माया अनन्तकोटि ब्रह्मांड रच डालती है।

टिप्पणी—३ (क) 'भगतिहेतु सोइ दीनदयाला' इति। 'सोइ' अर्थात् जिसकी माया समूह ब्रह्मांडोंको लवमात्रमें रच डालती है। तात्पर्य्य कि मायाकी रचनासे यह रचना अधिक नहीं है तब भी उसे चकित हो आश्चर्य्यपूर्वक देख रहे हैं मानों ऐसी कारीगरी आजतक कहीं देखीही नहीं। इसका हेतु क्या है, सो 'भगतिहेतु', 'दीनदयाल' पदोंसे बता दिया है। अर्थात् बालक भक्तिपूर्वक दिखाते हैं और भगवान् भक्तिके वश हो चकित चितवते हैं। [☞ प्रभु यहाँ भक्तिकी महिमा दिखा रहे हैं कि भक्तोंके प्रेमके वश हो भगवान् नर-नाट्य अंगीकार करते हैं] क्योंकि इससे बालक प्रसन्न होंगे कि हमने बहुत अच्छी-अच्छी रचना दिखाई है। 'दीनदयाल' कहकर जनाया कि बालक दीन हैं, कुछ भी सेवा नहीं कर सकते; 'सादर प्रभुहिं देखावहिं रचना' इसको प्रभु उनकी सेवा मानकर उनपर प्रसन्न हो रहे हैं।

कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंबु त्रास मन माहीं ॥६॥
जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजन प्रभाउ देखावत सोई ॥७॥
कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई। किए बिदा बालक बरिआई ॥८॥

अर्थ—कौतुक देखकर (दोनों भाई) गुरुके पास चले। देर जानकर मनमें डर है ॥ ६ ॥ जिसके डरसे मूर्तिमान डरको भी डर होता है, वही (भगवान् राम) भजनका प्रभाव दिखा रहे हैं ॥ ७ ॥ कोमल मीठी और सुंदर बातें कहकर (श्रीरामजीने) बालकोंको जबरदस्ती बिदा किया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कौतुक देखि चले' इति। प्रभुने गुरुजीसे आज्ञा माँगी थी कि "जौं राउर आयेसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ। २१८।६।' इसपर गुरुजीने दोनोंको नगर देखनेकी आज्ञा दी—'जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ। २१८।'; इसीसे श्रीरामजीका भी कौतुक देखना लिखा—'कौतुक देखि चले'। यदि मुनि केवल लक्ष्मणजीको नगर दिखानेकी आज्ञा देते तो ग्रन्थकार श्रीरामजीका कौतुक देखना न लिखते। लक्ष्मणजीको दिखाना ऊपर कहा गया—'राम देखावहिं अनुजहि रचना।' और श्रीरामजीका भी देखना यहाँ कहा। ['कौतुक' अर्थात् रंगभूमिकी विचित्र रचना। पुनः, 'कौतुक' शब्दसे जनाया कि श्रीजनकमहाराजकी विशिष्ट रचना भी सरकारोंको कौतुक-मात्र ही है। अर्थात् तमाशा है। (ख) 'चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब···' इति। 'जानि बिलंब' देहली-दीपक है। भाव यह कि हम गुरुजीसे कहकर चले थे कि नगर दिखाकर शीघ्र ले आवेंगे सो हमको बहुत देर हो गई, यह ख़याल आते ही तुरत

चल दिये और जल्दी-जल्दी चले]। जबतक कौतुकमें मन लगा रहा तबतक विलंब न जान पड़ा, जब कौतुक देखके चले (जब उधरसे मन अलग हुआ) तब देर जानकर त्रास हुआ। (मन जब तक किसी काममें लगा रहता है तबतक स्वाभाविक ही दूसरी ओर ध्यान न जानेसे समय नहीं जान पड़ता)। (ग) 'त्रास मन माहीं' इति। डर यह कि गुरुजी नाराज (अप्रसन्न) न हों। ☞इस लीलासे भगवान् अपनी भक्तपराधीनता दरसा रहे हैं, स्पष्ट दिखा रहे हैं कि हम भक्तोंके वशमें हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं। स्वतन्त्रता दोष है; यथा—'परम स्वतंत्र न सिरपर कोई। भावै मनहिं करहु तुम्ह सोई। १३७।१।' [डर यह है कि गुरुजी यह न पूँछ बैठें कि क्यों इतनी देर हुई।—यह माधुर्य्य है]।

२ 'जासु त्रास डर कहुँ डर होई।...' इति। [(क) अर्थात् मूर्तिमान डर भी प्रभुको डरता है। इस कथनमें अत्युक्ति अलंकार है। पुनः भाव कि सबको कालका डर रहता है, वह काल भी प्रभुको डरता है। यथा 'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥...ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला। ३।१३।' वैजनाथजी लिखते हैं कि "सेवकके लिये स्वामीमें, प्रजाके लिये राजामें, राजाको देवतामें और देवताओंको शिवादिमें, इत्यादि डरके स्थान हैं। ये सब श्रीरामजीका त्रास मानते हैं, इससे प्रभुको सर्वोपरि स्वतंत्र रूप बताया।"] इस कथनका तात्पर्य यह है कि भला जिसको डर भी डरता है, (तब औरकी बात ही क्या ?), उसको डर कैसे सम्भव हो सकता है ? 'तब डरते क्या हैं ?' —इसका उत्तर उत्तरार्धमें देते हैं कि 'भजन प्रभाउ देखावत सोई'। भजनका प्रभाव दिखानेके लिये डरते हैं। [डरनेका नरनाट्य दिखा रहे हैं। अर्थात् देख लो, भजनका प्रभाव यह है; जो हमारा भजन करता है उसको हम ऐसा डरते हैं। (विश्वामित्रजीने ऐसा भजन किया कि हम उनके शिष्य बने और उन्हें डरते हैं)] (ख) 'देखावत' का भाव कि भजनका प्रभाव वेद-पुराण कहते हैं (यथा 'तहां बेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा। १३।२।') और भगवान् श्रीरामजी उस प्रभावको प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं। (देखी हुई बात सुनी हुई बातसे अधिक प्रामाणिक होती है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण है—'शुनीदा कै बुवद मानिंद दीदा' सुनी हुई बात देखी हुईके समान कब हो सकती है ?)। देखो, हम मुनिके कैसे वशमें हैं, यह प्रभाव देखकर हमारा भजन करो, प्रभु यह उपदेश आचरण द्वारा दे रहे हैं।

नोट—'भजन प्रभाव देखावत' अर्थात् हम उसके अधीन हो जाते हैं, उसके पुत्र, सखा, शिष्य इत्यादि होकर उसको सुख देते हैं। 'भक्तिरसबोधिनी' में भी कहा है—'वही भगवंत संत प्रीति को बिचार करै धरै दूरि ईशता हू पांडुन सों करी है। (कवित ६)। भक्तमालमें त्रिलोचन, सेन, धना, माधवदास जगन्नाथी, रघुनाथ गोसाईं इत्यादिकी कथायें प्रसिद्ध ही हैं। भागवतमेंभी भगवान्ने दुर्वासाजीसे कहा है— 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतंत्र इव द्विज। साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः। भा० ९।४।६३।' अर्थात् मैं भक्तके पराधीन हूँ, जैसे कोई परतंत्र मनुष्य होता है। भक्तोंने मेरा हृदय हर लिया है, इसीसे भक्तजन मुझे अत्यंत प्रिय हैं, मैं उनसे डरता रहता हूँ।

टिप्पणी—३ (क) 'कहि बातें मृदु मधुर सुहाईं'। पूर्व कह आए हैं कि 'पुरबालक कहि कहि मृदु बचना। सादर प्रभुहि देखावहिं रचना।' बालक मृदु वचन कहकहकर दिखाते हैं, इसीसे श्रीरामजीभी 'मृदु मधुर सुहाई बातें उनसे कहते हैं। ☞स्मरण रहे कि प्रभुके वचन तो सदाही 'मृदु मधुर सुहाये' होते हैं, कभी कड़ी बात नहीं सुनी गई। इस समय बालकोंके प्रेममें आपके वचन प्रेम सने हुए होनेसे और भी सुहावने हैं] (ख) 'बिदा किये बालक बरिआई' इति। अर्थात् बालक प्रेमवश आपसे अलग होना नहीं चाहते थे। 'बरिआई', यथा 'किये धरम उपदेस घनेरे। लोग प्रेमबस फिरहिं न फेरे। २।८५।' [अर्थात् आपने कहा कि देखो माता पिता राह देखते होंगे, चिन्तित होंगे, इससे अब जाइये, बहुत देर होगई, कल फिर मिलेंगे। पुनः मिलनेकी बात मधुर और सुहावनी हुआही चाहे। शील स्नेह निबाहनेके हेतु 'मृदु मधुर

सुहाई बातैं' कही गईं। यथा 'को रघुबीर सरिस संसारा। सीलु सनेहु निबाहनिहारा। २।२४।'] (ग) ☞भगवान् सब भक्तोंपर समान प्रीति करते हैं। देखिये, जैसे लक्ष्मणजीसे 'मृदु मधुर मनोहर' वचन कहे—'राम देखावहिं अनुजहि रचना। कहि मृदु मधुर मनोहर बचना', वैसेही बालकोंसे 'कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई। ०'। [भगवान् सबसे ऐसेही बोलते हैं, यह बात भी इसीसे प्रकट हो रही है।] (घ) कोटके बाहर निकलतेही बालक संग लग गए थे, 'बालकबृंद देखि अति सोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा॥ २१६।२।' वहाँतक बालक लौटते हुए फिर संग आए, वहींसे सब बिदा किये गए। नेत्र और मन दोनोंही शोभाके दर्शनमें लगे हैं; कैसे साथ छोड़ें? इसीसे वे कोटतक साथ पिछुआये चले आए, अतएव बिदा करना कहा गया! यह बालकोंका अतिशय प्रेम दिखाया। [बालक इनका डेरा देखनेके लिये साथ लगे रहे जिसमें वहाँ जा-जाकर फिर दर्शन कर सकें, परंतु वे राजमहलके भीतर जानेसे रोके जावेंगे तथा मुनिके पास भीड़ होनेसे उनको अरुचिकर होगी. तीसरे अब संध्याका समय है, दोनों भाई अब संध्या करेंगे, इत्यादि कारणोंसे बालकोंको बरिआई बिदा किया गया।]

दोहा—सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ।
गुरु पद पंकज नाइ सिर बैठे आयेसु पाइ॥२२५॥

अर्थ—अत्यन्त भय, प्रेम, विनम्रता और संकोचके साथ दोनों भाई गुरुके चरणारविन्दोंमें मस्तक नवा आज्ञा पाकर बैठे॥ २२५॥

टिप्पणी—१ 'सभय' क्योंकि देर हो गई है, यथा 'जानि बिलंबु त्रास मन माहीं'। सप्रेम क्योंकि गुरु हैं, गुरुचरणोंमें प्रेमसे प्रणाम करना चाहिये ही; यथा 'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय। तुलसी जिन्हहिं न पुलक तनु ते जग जीवत जाय। दोहावली ४२।' 'विनीत' क्योंकि धर्मके रक्षक हैं। प्रणाम करके हाथ जोड़े खड़े रह गए, गुरुने जब आज्ञा दी तब बैठे यह भी 'विनीत' से जनाया। 'सकुच' इससे कि एक तो मुनियोंका संग, फिर कथाश्रवण और सत्संगका लाभ छोड़कर नगर देखने गए, दूसरे आपका संकोची स्वभाव ही है; यथा 'कहुँ न राम सम स्वामि सँकोची'; इसीसे संकोच आदि अंत दोनोंमें लिखा गया है। २ ☞ गुरुमें श्रीरामजीका भाव एकरस है यह भी इस प्रसंगमें दिखा दिया गया। उपक्रम और उपसंहारके मिलानसे यह भाव स्पष्ट देख पड़ रहा है—

उपक्रममें		उपसंहारमें
"परम बिनीत सकुचि मुसुकाई। बोले गुर अनुसासन पाई। २१८।४।"		'सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ। २२५।'
यहाँ 'परम बिनीत' और 'सकुचि'	१	यहाँ 'बिनीत अति' और 'सकुच सहित'
यहाँ 'गुरु अनुसासन पाइ'	२	यहाँ 'आयेसु पाइ'
यहाँ 'मुनिपदकमल बंदि दोउ भ्राता'	३	यहाँ 'गुरुपद पंकज नाइ सिर' 'दोउ भाइ'
यहाँ आज्ञा पाकर बोले, आज्ञा पाकर चले	४	यहाँ आज्ञा पाकर बैठे,—'बैठे आयेसु पाइ'

यथा 'जाइ देखि आवहु नगर।···चले लोक लोचन सुखदाता।'

☞ आदिमें 'परम बिनीत सकुचि मुसुकाई' और अन्तमें 'सभय' कहते हैं। क्योंकि विलंब होनेसे यहाँ भय हो गया है। कहा तो था कि 'नगर देखाइ तुरत लै आवौं।२१८।६।' भयमें मुस्कुराहट स्वाभाविक ही लोगोंकी जाती रहती है। वही नरनाट्य यहाँ है। इसीसे उपसंहारमें 'मुसुकाई' नहीं है; उसके बदले 'सभय' है।

प० प० प्र०—यहाँ शिष्य-धर्मका आदर्श चरित्र दिखाया है। परमार्थसाधक शिष्योंको इससे उपदेश लेना उचित है।

निसि प्रबेस मुनि आयेसु दीन्हा। सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा ॥ १ ॥
कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥ २ ॥
मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई। लगे चरन चापन दोउ भाई ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निसि-प्रवेस = सायंकाल, संध्याके समय। प्रबेश = पहुँच, आगमन। संध्याबंदन—आर्योंकी एक विशिष्ट उपासना जो प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न और संध्याके समय होती है। इसमें स्नान और आचमन करके कुछ विशिष्ट मंत्रोंका पाठ, अंगन्यास और गायत्रीका जप होता है। दिनका अंतिम एक दंड और रात्रिका पहला दंड मिलकर सायं सन्ध्याकाल होता है। शयन=सोनेकी क्रिया। चापना=दबाना, मीड़ना।

अर्थ—रात आनेपर मुनिने आज्ञा दी, सभीने सन्ध्यावंदन किया ॥ १ ॥ पुराणी (पौराणिक) तथा प्राचीन इतिहासकी कथाएँ कहते-कहते दो पहर सुन्दर रात्रि बीत गई ॥ २ ॥ तब मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रजीने जाकर शयन किया और दोनों भाई चरण दबाने लगे ॥ ३ ॥

☞ नोट—१ आज जनकपुरमें पहली रात है। श्रीरामजीकी आजकी रात्रिचर्य्या विस्तारसे बखान-कर सूचित करते हैं कि प्रत्येक रात्रिमें यही चर्य्या होती है। इसी प्रकार एक दिनकी दिनचर्य्या वर्णन करके उससे प्रत्येक दिनकी चर्य्या सूचित करेंगे जिसमें बारम्बार न लिखना पड़े। इसी प्रकार श्रीलक्ष्मणजी और श्रीसीताजीकी चर्य्या एक-एक ठौर कही गई है। जब उस चर्य्याके प्रतिकूल कहीं होगा तब उसको कह देंगे। अन्यथा नहीं। श्रीजानकीशरण (स्नेहलताजी) कहते हैं कि दिन और रातकी चर्य्याका वर्णन यहाँ इस अभिप्रायसे किया गया है कि आगे पुष्पवाटिका-चरित्रसे ये श्रीमज्जानकीजीके प्रेममें ऐसे विह्वल होंगे कि यह सब चर्य्या भूल जायँगे। उस दशाको जनानेके लिए रात दिनकी चर्य्याका वर्णन किया गया है।

प० प० प्र०—नगरदर्शन प्रसङ्ग २१८ (१) पर शुरू और दोहा २२५ पर समाप्त हुआ। ८ दोहे इस नैमित्तिक कार्यके वर्णनमें हैं। अष्टधा प्रकृति जनित सर्व दृश्य नैमित्तिक ही हैं, नित्य नहीं है।

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ाजी) कहते हैं कि—'राम रमापति कर धन लेहू' पर मानों विश्व-नेता पदका चार्ज-परिवर्तन होगा। इसके पहले श्रीरामजीके चरित्रका चित्रण मानों उस पूर्णताके विकास-का है। हमें उनके निजी जीवनके वास्तविक रूपके देखनेका अवसर मिलता है। इस समय शिक्षा समाप्त करनेके बाद छुट्टीकी चर्या है, फिर भी कितनी संयमिता! सच है जिसने अपने ऊपर शासन करना (Selfdiscipline) सीखा है वही अच्छा शासक बन सकेगा। इस दृष्टिकोणसे यदि आप देखें तो हमारे नवयुवकोंके लिये यह अंश बड़ा शिक्षाप्रद है।

टिप्पणी–१ (क) 'निसिप्रवेस' का भाव कि रात्रिभरकी चर्य्या (आचरण) कहना चाहते हैं, इसीसे रात्रिके प्रारम्भहीसे प्रसंग कहना प्रारम्भ किया। (ख) 'मुनि आयेसु दीन्हा'—गुरुकी आज्ञासे ही पाससे उठ सकते हैं, धर्मकार्यमें गुरुका दृढ़ और कड़ा रहना बहुत आवश्यक है जिसमें शिष्यवर्ग नित्यके धर्मोंसे कभी विचलित न हों, अतः गुरुने आज्ञा दी। इससे मुनिकी सावधानता धर्मकार्यमें दिखाई। (ग) 'सबहीं' देहली-दीपक है। सबको आज्ञा दी और सबने आज्ञाका पालन किया। सबने सन्ध्यावंदन किया। सभीको आज्ञा दी जिसमें सभी इस कृत्यसे निवृत्त होकर कथा आकर सुनें। सन्ध्याके बादही कथाका समय है—यह बात यहाँ जना दी। 'सबहीं' अर्थात् दोनों राजकुमारोंको और सब मुनिवृंदको जो साथमें आये थे, यथा—'तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया। बेगि बिदेह नगर नियराया', 'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्रामु।' उत्तम सन्ध्याका समय सूर्यास्तके पूर्व माना गया है—२३७ (६) में नोट, देखिए। सन्ध्या कहाँ बैठकर की यह २३७ (६) में कहना है, इससे यहाँ नहीं लिखा। २३७ (६) टिप्पणी १ देखिए।

नोट—२ श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि "पंडितोंने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात बतलाई है, यथा 'महूर्तोनं दिनं नक्तं प्रवदन्ति मनीषिणः'। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक मुहूर्त दिन रहते ही मुनिजीने सबको सन्ध्यावन्दनकी आज्ञा दी। सन्ध्यावन्दनका काल सूर्यास्तसे पहले है। मानसमें भी प्रमाण है, यथा 'प्रभुहि मिलन आई जनु राती। देखि भानु जनु मन सकुचानी। तदपि बनी संध्या अनुमानी।' ब्रह्म जीवकी सन्धि सन्ध्या है। गुरुकी सेवा प्रधान है, सब उसीमें लगे हैं, अतः समय आते ही गुरुजीने आज्ञा दी।

प्र० स्वामीका मत है कि नगरदर्शनमें ही सूर्यास्त हो गया इसीसे आज रात्रि हो जानेपर सन्ध्या हुई। आज मध्यम कालमें सन्ध्या हुई। चौपाईके शब्द 'बैठे आयसु पाइ' और 'सबहीं' शब्द त्रिपाठीजीके मतको पुष्ट करते हैं।

टिप्पणी—२ "कहत कथा इतिहास पुरानी।..." इति। (क) 'पुरानी कथा इतिहास' कहनेका भाव कि जो कथा कभी सुनी नहीं होती उसमें मन बहुत लगता है, सुनी हुई कथामें मन कम लगता है, इसीसे पुरानी कथायें सुनाते हैं। मुनिने ऐसी पुरानी कथाएँ सुनाईं कि उनमें मन ऐसा लगा कि दोपहर रात्रि बीत गई, कुछ मालूम ही न हुआ। [अथवा, 'पुरानी' से जनाया कि पुराणोंकी कथाएँ और भारत आदि इतिहासकी कथायें। (रा० प्र०, पाँ०)। 'पुरानी' का दूसरा भाव यह है कि इस समय श्रीरघुनाथजीके चित्तमें मिथिलापुरीका श्रृङ्गाररस भर गया है और मुनिने जो कथायें कहीं वह शान्त रसकी थीं, इससे वह कथायें पुरानी लगीं। (पां०)। ☞ विश्वामित्रजीको प्राचीन इतिहास बहुत मालूम हैं। वे चिरकालीन ऋषि हैं। इससे जहाँ कहीं अवसर आता है, वहाँ वे प्राचीन ही कथा सुनाते हैं, यथा 'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना। २१०।८।', 'कौसिक कहि कहि कथा पुरानी। समुझाई सब सभा सुबानी। २।२७७।' राजा रघुराजसिंहजी 'सिय स्वयंबर' में इस समय राजा निमि और महर्षि वसिष्ठजीकी कथाका कहना कहते हैं। (मा० पी० प्र० सं०)। प्र० स्वामी लिखते हैं कि भक्तिविषयक कथा ही कही। 'कथा कहना' भक्तिके साथ ही मानसमें मुख्यतः प्रयुक्त है—'दोहा ४४ में देखिये)।] (ख) 'रुचिर रजनि' इति। जो समय भगवत्-कथाके कहने-सुननेमें व्यतीत होता है वही सुन्दर है इसीसे दोपहर रात्रिको 'रुचिर' विशेषण दिया। [पुनः, 'रुचिर' विशेषण देकर सत्संगका महत्व दिखाया, यथा 'धन्य घरी सोइ जब सत-संगा। ६।१२७।' अथवा, 'आज आश्विन शुक्ला द्वादशी है, चाँदनी छिटकी हुई है, अतः 'रुचिर' कहा। यह शान्तरसका अर्थ है। और श्रृङ्गाररसका अर्थ यह है कि पुष्पोंकी वर्षा द्वारा सखियोंने सवेरे फुलवारीमें आनेका संकेत किया है। श्रीकिशोरीजीसे मिलनेकी रुचिमें रात्रि एक युगके समान बीत रही थी सो कथामें पहर भर (पहरके समान) बीत गई।" (वै०)। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि आज सवेरेसे शाम तक कथाके लिये अवसर ही नहीं मिला और आज आश्विन शुक्ला चतुर्दशी युक्त पूर्णिमाकी रात्रि है, इसीसे उसे 'रुचिर रजनी' कहा। आगे चन्द्रोदय वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि आज रात्रिके समय पूर्ण चन्द्रोदय है। यह कोजागरी पूर्णिमा है, इसीसे मध्य रात्रितक कथा हुई। कोजागरीकी रात्रिमें गृहस्थोंको लक्ष्मीपूजन और क्षत्रियोंको अक्ष (द्यूत) क्रीड़ा करना शास्त्रमें कहा है। मध्यरात्रिके समयही यह विहित है। पर यहाँ बताया है कि परमार्थविन्दक साधु सन्त साधकोंके लिये तो उस समय हरिकथा कथन श्रवण करना ही उचित है। अथवा, श्रीअवधपुरी छोड़नेके पश्चात् आज मिथिला नगरमें प्रथम-प्रथम आए, इससे आजकी रात्रि रुचिर जान पड़ी। अवधसे निकलनेपर बक्सर आदिके वनमें ही समय बीता, मारीच आदि, निशाचरोंके कारण रातें चिन्तामें बीतती रहीं। (रा० प्र०)। इससे वनकी रात्रियाँ भयानक रहीं, आज नगरकी रात्रि होनेसे 'रुचिर' है। (रा० च० मिश्र)। अथवा, नगरके बालकोंसे सुन आए थे कि राजकुमारी प्रातःकाल गौरी-पूजनके लिये जाया करती हैं। उनको देखनेकी अभिलाषामें शेष दो पहर रात्रि बहुत कठिन हो जायगी। उसकी अपेक्षामें कहते हैं कि यह दो पहर रात्रि कथा सुननेमें सुन्दर बीती। (पाँ०, पं० रा० च० मिश्र)।

☞ परन्तु हमें पं० रामकुमारजीका भाव विशेष संगत जान पड़ता है। दोहा २३० में लमगोड़ाजीका नोट भी देखिये ।] (ग) 'जुग जाम सिरानी' से कथाकी समाप्ति दिखाई और कितनी देर रात्रिमें कथा होती है यह बताया। अर्थात् इससे जनाया कि दो पहर रात्रि तक कथाका समय है। इसके पश्चात् शयनका समय है। पुनः 'सिरानी' कहकर जनाया कि कथा कहते-सुनते दो प्रहर समय कुछ जान ही न पड़ा, बड़ी जल्दी बीत गया, यथा 'राम भरत गुन गनत सप्रीती। निसि दंपतिहि पलक सम बीती। ७।२९०।', (इससे सूचित किया कि सब श्रोता बड़े प्रेमसे कथा सुनते रहे। ☞ कथामें इस तरह मन लगावे)।

३ "मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई···" इति। (क) 'तब' अर्थात् कथा समाप्त होनेपर। 'जाई' से जनाया कि कथा-स्थानसे शयनागार कुछ दूरीपर अथवा पृथक् है। इससे यह भी जना दिया कि और सब श्रोता मुनि भी अपने-अपने आसनपर गए। जब मुनिवर जाकर सोये तब सब मुनि भी जाकर सोये। जब तक मुनिवर शयन न करें तबतक कोई भी शयन नहीं करसकता।—यह रीति और बड़का आदर सम्मान दिखाया। किसीका मत है कि 'सुंदर सदन' में जाकर सोये। उनके मतके अनुसार 'सुंदर सदनु सुखद सब काला। तहाँ बासु लै दीन्ह भुआला। २१७।७।' में जो 'सुन्दर सदन' कहा है वह उस सदनका नाम ही है)। (ख) 'लगे चरन चापन दोउ भाई।' इति। ☞ सब काम गुरुकी आज्ञासे करना कहते आए; यथा 'बोले गुरु अनुसासन पाई।', 'जौं राउर आयेसु मैं पावउँ। २१८।४-६।', 'गुरु-पद-पंकज नाइ सिर बैठे आयेसु पाइ। २२५।' तथा आगे भी 'समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई। २२७।२।', पर यहाँ गुरुचरण दबानेमें गुरुकी आज्ञा नहीं लिखी गई। यह भी साभिप्राय है। यहाँ उत्तम सेवकका धर्म कहते हैं। चरणसेवा दोनों भाइयोंने अपनी ओरसे की और बार-बार आज्ञा दी जानेपर ही सेवा बंद की, जैसा कवि आगे स्वयं कहते हैं—'बार बार मुनि अज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही।', यह उत्तम सेवककी रीति है। यथा 'उत्तमश्चिंतितं कार्यं प्रोक्तकारी च मध्यमः।' अर्थात् बिना कहे हुये स्वामीके चित्तमें आया हुआ कार्य करनेवाला उत्तम और कहनेपर करनेवाला मध्यम श्रेणीका सेवक है। (ऐसाही पुत्रके विषयमें भी कहा गया है, यथा "अनाज्ञप्तोऽपि कुरुते पितुः कार्यं स उत्तमः। ६०। उक्तःकरोति यः पुत्रः स मध्य उदाहृतः। उक्तोऽपि कुरुतेनैव स पुत्रो मल उच्यते। ६१।" (अ० रा० २।३)। अर्थात् जो बिना आज्ञाके ही पिताका कार्य करे वह उत्तम है, जो कहनेपर करे वह मध्यम और जो कहनेपर भी न करे वह मलतुल्य है।—और जो कार्य स्वामीके मनमें आया भी नहीं है पर सेवकके लिये उचित है, उसको करने वालेके विषयमें क्या कहा जाय?)। पुनः भाव कि मुनिने सब काम करनेकी आज्ञा दी पर चरणसेवाकी आज्ञा न दी। क्योंकि वे जानते हैं कि ये हमारे नाथ हैं, यथा "तब रिषि निज नाथहिं जिय चीन्ही। बिद्या-निधि कहुँ बिद्या दीन्ही। २०९।७।"; हाँ, साथ ही माधुर्यके अनुकूल दोनोंको सेवा करनेसे मना भी नहीं किया। [स्मरण रहे कि ईश्वरसे चरणसेवा करानेमें वात्सल्यभाव ही मुख्य कारण है। वात्सल्यभाववाले ऐश्वर्य नहीं देखते, वे तो माधुर्यमें बालकभावही मानते हैं। इससे सेवा करानेमें दोष नहीं। (वै०)]

नोट—१ काम करनेके लिये गुरुकी आज्ञा अवश्य लेनी चाहिए; परन्तु सेवामें आज्ञाकी आवश्यकता नहीं। यही कारण है कि चरणसेवा करनेकी आज्ञाका माँगना या देना यहाँ नहीं पाया जाता। कहा गया है कि तीन जगह गुरुकी आज्ञा मानना उचित नहीं है। अर्थात् सेवा, भोजन और दानमें आज्ञा न माननी चाहिए। (पाँ०)। यथा 'सेवा भोजन दानमें आज्ञा भंग न दोष। पुनि पुनि गुरुजन रोकहीं तऊ न कीजिय तोष।' यही कारण है कि चरण चाँपनेकी आज्ञा नहीं ली गई; चाँपने लग गये। सेवा, दान और भोजनके अतिरिक्त शयन करनेमें, दण्डप्रणाम करते समय उठनेमें, संग पहुँचाने जाते हुये लौटनेमें अनेक बार आज्ञा होना भूषण है। यथा 'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।' (लक्ष्मणजीसे बार-बार सोनेको कहते हैं), 'परे भूमि नहिं उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए। ७५।' (भरतजी साष्टांग पड़े हैं, उठानेसे उठते

नहीं), 'बहुरि बहुरि कोसलपति कहहीं। जनकु प्रेमबस फिरै न चहहीं ॥ पुनि कह भूपति बचन सुहाए। फिरिअ महीस दूरि बड़ि आए। ३४०।४-५।' इत्यादि। स्वामीके कहनेपर सेवा करना उत्तम सेवककी रीति नहीं है। (ग) चरणसेवा करना आज ही लिखा, सो क्यों? उत्तर—मुनिका साथ छोड़ नगरमें जाकर विलंब करने और कथामें चित्त न देनेका अपराध क्षमा करानेके लिये चरणसेवा करने लगे। (पाँ०)। अथवा, किसी भाँति रात्रि बीते इससे। वा, 'नगरदर्शन असत् कर्म है उसके उद्धारहेतु सत्कर्म करते हैं'। (बै०)। वा, रास्ता चलकर आये हैं अतः थकावट निवारणार्थ प्रभु गुरुके चरण दबाने लगे। (वि०त्रि०)। ☞वस्तुतः यहाँ आज रात्रिचर्याका वर्णन हो रहा है, यह भी एक रात्रिचर्या है, इससे इसे भी लिखा। ऐसाही नित्य करते हैं।

४ मानसमें सिद्धाश्रमसे जनकपुरको प्रस्थान करनेपर बीचमें रात्रिमें कहीं विश्राम करनेका उल्लेख नहीं है। अ० रा० में अहल्योद्धारके दूसरे दिन प्रातः जनकपुर पहुँचना कहा और वाल्मी० में प्रथम दिन शोणनदके तटपर, दूसरे दिन गंगातटपर, तीसरे दिन विशाला नगरीके राजाके यहाँ रातमें ठहरनेके पश्चात् चौथे दिन प्रातः अहल्यावाले वनमें पहुँचे जो मिथिलापुरीका ही उपवन है। अहल्योद्धार करके उसी दिन जनकपुर पहुँचे। अस्तु।—इससे सिद्ध हुआ कि कुछ कोश चलकर तब जनकपुर मध्याह्नकालके लगभग पहुँचे। अमराईमें ठहरकर तुरत ही दोनों राजकुमार फुलवारी देखने गए जहाँसे गुरुजीके लिये पुष्प आदि लाना होगा। महाराजा जनक इसी बीचमें आए। दोनों राजकुमार फुलवारी देखकर आए, तब राजा ससमाज वहाँ उपस्थित ही थे। फिर महाराज सबको महलोंमें लाये, सुन्दर सदनमें निवास दिया। यहाँ भोजन विश्राम करनेपर केवल एक पहर दिन रह गया तब नगरदर्शनको गए। वहाँसे 'निशिप्रवेश' पर लौटे, संध्यावंदन किया। दिनभरके थके होनेपर भी अर्द्धरात्रितक प्रेमसे कथा सुनी। रात्रिमें भोजन भी नहीं। इतनेपर भी जाकर सोये नहीं, गुरुके चरण चाँपने लगे। मिलान कीजिये—'गुरु के प्रान अधार संग सेवकाई हैं। नीच ज्यों टहल करैं राखैं रुख अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं। गी० १।६६।' ☞यहाँ भगवान् राजकुमार हैं, वे अपने आचरणद्वारा जनमात्रको शिक्षा दे रहे हैं कि चक्रवर्त्ती ही क्यों न हो उसे गुरुकी सेवा इसी प्रकार करनी चाहिए। यह दिखलानेहीके लिये सर्वेश्वर होते हुये भी वे सेवा कर रहे हैं। क्योंकि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। गीता ३।२१।" श्रेष्ठपुरुष जो-जो आचरण करता है अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार वर्तते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसीके अनुसार वर्तते हैं। [मानसप्रेमी श्रोता और वक्ता इसपर विचार करें कि ऐसी दशामें परमार्थसाधक कितने श्रोता मन लगाकर मध्यरात्रितक श्रवण करते हैं। (प० प० प्र०)]

जिन्ह के चरन सरोरुह लागी। करत बिबिध जप जोग बिरागी ॥४॥
ते दोउ बंधु प्रेम जनु जीते। गुर पद कमल पलोटत प्रीते ॥५॥
बार बार मुनि अग्या दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही ॥६॥

शब्दार्थ—पलोटना=दबाना। प्रीते=प्रीतिपूर्वक। अग्या=आज्ञा।

अर्थ—जिनके चरणकमलोंके लिये वैराग्यवान् लोग अनेक प्रकारके जप-योग (वा, जप और योग) करते हैं ॥४॥ वेही दोनों भाई मानों प्रेमसे जीते हुये (प्रेमाधीन होनेसे) प्रेमपूर्वक श्रीगुरुजीके चरणकमलोंको दबा रहे हैं ॥५॥ मुनिने बारंबार आज्ञा दी तब श्रीरघुनाथजीने जाकर शयन किया ॥६॥

टिप्पणी—१ 'जिन्ह के चरनसरोरुह लागी…' इति। [(क) चरणको सरोरुह कहकर वैरागियोंके मनको भ्रमर जनाया, यथा 'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं। १।३२४।'] (ख) 'करत बिबिध जप जोग'—भाव कि जपयोगादि समस्त साधन भगवान्की प्राप्तिके लिये ही किये जाते

हैं, यथा 'करि ध्यान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं । ३।३२।' ये सब साधन हैं और श्रीरामचरणकी प्राप्ति फल है। उदाहरणार्थ भरद्वाजजीके वचन देखिये;—"आजु सुफल तप तीरथ त्यागू। आजु सुफल जप जोग बिरागू।। सफल सकल सुभ साधन साजू। राम तुम्हहि अवलोकत आजू। २।१०७।" (ग) 'बिरागी' जपयोग करते हैं, इस कथनका अभिप्राय यह है कि प्रथम वैराग्यका साधन करते हैं, जब साधन करके वैरागी हो जाते हैं तब भगवत्प्राप्तिके लिये जप योगादि करते हैं। वैराग्यवान् होना भी भगवत्प्राप्तिका एक साधन है। जो विरक्त नहीं है उसे प्रभुके चरणोंकी प्राप्तिकी इच्छा ही नहीं होती। (घ) यहाँ 'करत' अर्थात् करना लिखते हैं, मिलना नहीं लिखते। [भाव यह है कि वैराग्यवान् होकर जपयोगादि करनेपर भगवत्प्राप्ति हो ही जाय यह आवश्यक नहीं है, साधन करनेपर भी किसी हीको मिलते हैं। आगे दिखाते हैं कि प्रेमसे तुरत ही वश हो दास ही बन जाते हैं। (प्र० सं०)। जप और योग दोनों कहनेका भाव कि नामका जप करते हैं, उससे थके तब ध्यान करते हैं, ध्यानसे थककर फिर जप करते हैं। इस प्रकार साधन करते हैं। (वि० त्रि०)]

२ "तेइ दोउ बंधु प्रेम जनु जीते···" इति। (क) तात्पर्य कि सब प्रकारके भजनसे प्रेमरूपी भजन अधिक है, यथा 'पन्नगारि सुनु प्रेम सम भजन न दूसर आन।', 'उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम।' जप योगादिसे प्रेमका महत्त्व विशेष है। जप योगादिसे प्रभु मिलते हैं तो प्रेमसे सेवक हो जाते हैं। विश्वामित्रजीने श्रीरामजीमें प्रेम किया। [उनका प्रेम भगवान्‌के लिये याचक बनकर श्रीअवधपुरीको जाते समय, धनुर्भंगके समय और श्रीअयोध्याजीसे विवाहके पश्चात् विदा होते समय कविने दिखाया है। यथा "एहू मिस देखौं पद जाई। करि बिनती आनौं दोउ भाई। ज्ञान बिराग सकल गुन अयना। सो प्रभु मैं देखब भरि नयना। २०६। ७-८।", "कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन।। रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी। २६२।२-३।", 'दीन्ह असीस बिप्र बहु भाँती। चले न प्रीति रीति कहि जाती। ३६०.६।'] इसीसे श्रीरामजी विश्वामित्रजीके सेवक बने। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।' कहा ही है, उसीको यहाँ चरितार्थ किया। (ख) 'प्रेम जनु जीते' से सूचित किया कि विश्वामित्रजीको भगवान् अन्य किसी साधनसे नहीं मिले वरंच उनका प्रेमही भगवान्‌को जीतकर यहाँ ले आया। इसीसे वे चरण मींड़ रहे हैं। 'जीते' कहकर जनाते हैं कि और किसी साधनसे जीते नहीं जा सकते, प्रेमहीसे जीते जाते हैं। (यथा 'भगति अबसहि बस करी')। (ग) 'पलोटत प्रीते' इति। प्रथम कहा कि ये जीतकर लाये गए हैं, इससे पाया जाता है कि मन लगाकर प्रेमसे सेवा न करते होंगे, उसीपर कहते हैं—'पलोटत प्रीते'। प्रेमसे जीते गये हैं, इसीसे प्रेमसे सेवा करते हैं, यहाँ भी 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते···' को चरितार्थ करते हैं। 'प्रीते' यहाँ कहकर आगे दोनों भाइयोंके प्रेमका स्वरूप दिखाते हैं कि 'बारबार···'।

३ "बार बार मुनि अग्या दीन्ही···" इति। (क) इससे सेवामें अत्यंत प्रेम दिखाते हैं कि मुनिके कहनेसे भी सेवा नहीं छोड़ते। बारंबार आज्ञा देनेपर तब शयन किया। एक दो बारकी आज्ञापर सेवा छोड़ देनेसे अश्रद्धा पाई जाती। [यदि सेवक एकही बारके कहनेसे सेवा छोड़ दे तो समझा जायगा कि उसकी हार्दिक इच्छा सेवा करनेकी न थी। और यदि स्वामी आज्ञा न दे तो उसमें कठोरता पाई जावे। अतएव दोनों विचारोंसे यहाँ 'बारबार' और आगे 'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता' कहना पड़ा। (प्र० सं०)]। बार बार आज्ञा देनेसे सूचित हुआ कि जैसे श्रीरामजीकी प्रीति गुरुसेवामें है वैसेही गुरुकी प्रीति श्रीरामजीमें है। [बार बार आज्ञा मिलनेपर भी सेवा नहीं छोड़ी। कथाश्रवणमें ऐसी प्रीति कि अर्धरात्रि तक प्रेमसे सुनते रहे और ऐसी गुरुभक्ति कि आज्ञा देनेपर भी सेवा नहीं छोड़ते! ऐसी सेवासे गुरुमहाराजको प्रसन्न कर लिया तभी तो 'सुफल मनोरथ होहुँ तुम्हारे' ऐसा आशीर्वाद मिला। इससे दिखाया कि जो कोई साधक

इस प्रकार गुरुका अनुगामी बनकर कथाश्रवण और सेवामें रत रहेगा वही भव-संसृति भंग करके शान्ति और भक्तिकी प्राप्ति कर सकेगा । प० प० प्र०]

(ख) 'रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही' इति । यहाँ 'रघुबर' से 'श्रीरामजी' अभिप्रेत हैं; श्रीलक्ष्मणजी अभी शयन नहीं करेंगे, क्योंकि इनको अभी अपने स्वामी श्रीरामजीकी सेवा करनी है । सेवाके पीछे उनका शयन करना कहेंगे । 'जाइ' से सूचित किया कि गुरुके शयन-स्थानसे श्रीरामजीका शयनागार पृथक् है । गुरुके सामने शयन करना निषेध है, तब श्रीरामजी वहाँ शयन कैसे करते ? शयनागार पृथक् है यह आगे स्पष्ट है, यथा 'बिगत निसा रघुनायक जागे । बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥'''बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने । होइ सुचि सहज पुनीत नहाने ॥ नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए । २३८ (६)-२३६ ।' ['रघुबर जाइ' से जान पड़ता है कि सोनेकी आज्ञा लक्ष्मणजीको नहीं दी, क्योंकि ये श्रीरामजीके सेवक हैं । यथा 'बारेहि ते निज हित पति जानी । लछिमन रामचरन रति मानी । १९८ । ३ ।' यदि मुनि उन्हें आज्ञा देते तो उनकी सेवा भंग हो जाती और यदि आज्ञा देनेपर सेवा करते, जाकर सोते नहीं, तो गुरुकी आज्ञा भंग होती । (प्र० सं०) । इस तरह 'रघुबर' देहली-दीपक है । अथवा, 'रघुबर' से दोनों भाइयोंको जनाया । दोनोंको जानेकी आज्ञा दी, यदि लक्ष्मणजीको आज्ञा जानेकी न देते तो वे कैसे जाते । 'क्या आज्ञा दी ?'—यह इसीने स्पष्ट नहीं लिखा । प्रसंगके अनुसार लगा लेना चाहिए कि दोनोंको जानेकी आज्ञा दी और श्रीरामजीसे कहा कि जाओ अब शयन करो]

चापत चरन लषनु उर लाएं । सभय सप्रेम परम सचु पाएं ॥ ७ ॥

पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता । पौढ़े धरि उर पद जलजाता ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—लाएं = लगाए हुए । सचु=सुख, आनंद, यथा 'हँसहिं संभुगन अति सचु पाएँ । १३४.५ ।' 'भोजनु करहिं सुर अति बिलंबु बिनोद सुनि सचु पावहीं । ९९ ।' जलजात=कमल ।

अर्थ—श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीके चरणोंको हृदयमें लगाए हुए डरते हुए, प्रेमसहित और परम आनंद पाते हुये दबा रहे हैं ॥ ७ ॥ प्रभु (श्रीरामजी) बार बार कहते हैं—भैया ! सो रहो । (तब वे) चरणकमलोंको हृदयमें रखकर पड़ रहे ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'उर लाएं' इति । श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामचरणानुरागी हैं, यथा 'अहह धन्य लछिमन बड़भागी । रामपदारबिंदु अनुरागी । ७ । १ ।', 'बारेहि ते निज हित पति जानी । लछिमन रामचरन रति मानी । १९८ । ३ ।' इसीसे चरणोंको हृदयमें लगाकर मीड़ रहे हैं । प्रिय वस्तुको लोग हृदयमें लगाते ही हैं; इससे उनका प्रेम सूचित होता है । 'उर लाएँ' से यहाँ चारों अन्तःकरणका लगाना सूचित करते हैं । (ख) 'सभय सप्रेम' इति । भय सहित दबाते हैं कि कहीं श्रीरामजीके चरणोंको दुःख (कष्ट) न हो । (प्रभुके चरण अत्यन्त कोमल हैं, हमारे हाथ कठोर हैं, कहीं हमारे हाथ चरणोंमें गड़ें न—यह भय है) । अथवा, प्रभुकी चरणसेवामें अत्यंत प्रेम है, इसीसे डरते हैं कि कहीं प्रभु सोनेकी आज्ञा न दे दें जो चरणसेवा छूट जाय, क्योंकि रात बहुत बीत चुकी है । अथवा, [भय यह है कि नींद न उचट जाय, हमारे कड़े हाथोंसे कोमल चरणोंमें कसक (करक) न पहुँच जाय । (पाँ०) । अथवा, सभय इससे कि डरते रहनेसे कार्य करनेमें चूक नहीं पड़ती । (वै०) । अथवा, ऐश्वर्य समझकर भय है । (पं०)] 'सप्रेम' का भाव 'उर लाएँ' में आ गया । अत्यंत प्रेम है इसीसे हृदयमें लगाए हैं । [चरणसेवा मिलनेसे सप्रेम । (रा० प्र०) । वा, भ्रातृभावसे प्रेम है । (पं०)] (ग) 'परम सचु पाएं' इति । परम आनंद पा रहे हैं, क्योंकि जानते हैं कि इन चरणोंकी सेवा ब्रह्मादिको भी दुर्लभ है, यथा 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई । चाहत जासु चरन सेवकाई । ७ । २२ ।' (ये सब चरणसेवा चाहते हैं पर इनको भी मिलती नहीं) सो

हमको प्राप्त है। [☞ सेवामें अपनेको अज्ञान मानना तथा दुर्लभ सेवाकी प्राप्तिमें अपनेको धन्य मानना उचित ही है। पुनः, 'परम सुख' पाया क्योंकि आज सेवामें कोई साझी नहीं है, आज सेवाका लाभ पूरा-पूरा मिला। घरपर यह सेवा और लोग भी बटा लेते थे, यथा 'सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई। ७। २५। १।'; पर आज यह अधिकार अकेले ही अपनेको प्राप्त है। (प्र० सं०)]

२—'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता।···' इति। (क) जिस भावसे श्रीरामजीने मुनिकी सेवा की, उसी भावसे लक्ष्मणजी श्रीरामजीकी सेवा कर रहे हैं। मुनिने बार-बार आज्ञा दी तब श्रीरामजी सोये वैसेही जब श्रीरामजीने इनको बारंबार आज्ञा दी, तब ये लेटे। [(ख) 'पौढ़े' इति। 'मुनि' और 'रघुबर' के साथ 'सयन' पद दिया।—'मुनिबर सयन कीन्हि तब जाई', 'रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही'; और लक्ष्मणजीके संबंधमें 'पौढ़े' लिखा। इससे ज्ञात होता है कि ये जागते लेटे रहे, सोये नहीं। श्रीलक्ष्मणजी रामसेवामें ऐसे तत्पर हैं, ऐसे सावधान हैं कि अवधसे बाहर श्रीरामजीके साथमें रहनेपर इनका सोना ग्रंथकारने कहीं नहीं दिखाया। यथा "सयन कीन्ह रघुबंसमनि पाय पलोटत भाइ। २.८९। उठे लषनु प्रभु सोवत जानी। कहि सचिवहि सोवन मृदु बानी। कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि बीरासन।", "प्रभु पाछे लछिमन बीरासन। कटि निषंग कर बान सरासन। ६.११.८।" बाबा हरिहरप्रसाद और पंजाबीजीका मत है कि 'पौढ़े' में शयनका भाव है]। 'पौढ़े' पर विशेष अगले दोहेके टिप्पण देखिये। (ग) "उर धरि पद जलजाता" इति। 'उर धरि' का भाव कि पहले उरके ऊपर चरणका संयोग रहा, उरमें लगाकर चरण दाबते रहे—'चापत चरन लषन उर लाए।' जब ऊपर चरणका संयोग न रहा तब चरणोंको उरके भीतर धरकर लेटे। पंजाबीजी दूसरा अर्थ यह भी लिखते हैं कि—'हृदयपर चरणकमल रखकर सोये'।)

इति श्रीनगरदर्शन-प्रकरणं समाप्तम् ।

प्रीतम-प्यारी श्रीजनक फुलवारी

अर्थात्

पुष्प-बाटिका-प्रकरण



नोट—१ इस प्रकरणमें शृङ्गाररसके रसज्ञ एवं अन्य कुछ महानुभावोंने बहुत भाव कहे हैं जिनमेंसे कुछ असंगत और क्लिष्ट कल्पना प्रतीत होते हैं। परन्तु रसिकसमाज और रामायणी लोगोंके प्रेमके कारण वे भाव भी दिये गए हैं।

दो एक साहित्यज्ञ महात्माओंने प्रथम संस्करणका यह नोट पढ़कर मुझे लिखा था कि वे भाव अमर्यादित हैं, उनको इस ग्रंथमें स्थान न देना चाहिए। परन्तु 'मानस-पीयूष' तिलक रामचरितमानसका इनसाइक्लोपीडिया (Encyclopaedia of Shri Ram Charita Manas) है; इस लिये जो भाव अन्य टीकाकारों आदिने कहे हैं उनका भी संग्रह इसमें आवश्यक है। श्रीसीतारामीय ब्रजेन्द्रप्रसाद, रिटायर्ड सब जज, बिहार (साकेतवासी) तथा श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, सम्पादक 'कल्याण कल्पतरु' की यह सम्मति थी। अतः इस संस्करणमें भी वे भाव ज्योंके त्यों दिये गए हैं।

२ पूर्व संस्करणमें हमने 'पुष्प-बाटिका-प्रकरण' दोहा २२६ के आगेकी प्रथम चौपाईसे प्रारम्भ किया था। परन्तु इस बार पुनर्विचार करने पर हमने दोहा २२६ को भी 'बाटिका-प्रकरण' में लेना उचित समझा, क्योंकि यहाँसे ही उस दिनकी चर्य्याका प्रारम्भ होता है।

३ दोहेका प्रारम्भ करनेके पहले मैं श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजीके कुछ नोट्स यहाँ देता हूँ—उन्होंने फुलवारी लीलाकी साहित्यज्ञ शाब्दिक व्याख्या बहुत वर्ष हुए 'जमाना' (उर्दू एख़बार, कानपुर) में की थी, जो फिर 'प्रभा' और 'तुलसी ग्रंथावली' में प्रकाशित हुई। उसके बादका कुछ अंश 'माधुरी' में छपा। वह पूरी शाब्दिक व्याख्या उन्होंने एक पुस्तक रूपमें लिखी है, पर अप्रकाशित रह गई। हम उसमेंसे यहाँ बहुत संक्षेपमें आलोचना शैलीके सिद्धान्तोंका दिग्दर्शनमात्र कराके कहीं-कहीं मुख्य शब्दोंकी व्याख्याका केवल संकेत देते जायेंगे।

(१) "साहित्यमें शाब्दिक व्याख्याके सिद्धान्त"—रसकिनने ठीक कहा है कि कुशल कवि या लेखकके लेखोंको शब्दशः नहीं किंतु अक्षरशः विचारना चाहिए। इसी कसौटीपर रसिकन महोदयने मिल्टनके पाँच-सात पदोंकी व्याख्या करके यह दिखाया है कि प्रत्येक शब्द कितना विचारपूर्ण है। हम शब्द बदलना तो और बात है बहुधा उसका स्थान भी नहीं बदल सकते।

गोस्वामी तुलसीदासजीके रामचरितमानस पर भी यही बात लागू होती है।

जैसे अंकगणितमें किसी अंककी अपनी और स्थानीय क़ीमतें (मूल्य) होती हैं वैसेही साहित्यमें प्रत्येक शब्दकी अपनी स्थानीय क़ीमतें होती हैं। अंक १ अपनी जगह एक है, किंतु दहाईकी जगह दस हो जाता है। इत्यादि। हाँ! तो काव्य कलामें शब्दकी क़ीमत किस प्रकार जाँची जाती है?

संक्षेपमें हमें तीन गुण देखने होते हैं—(क) 'शब्द (ध्वनि) गुण'। जैसा विषय वैसी ही 'ध्वनि' के शब्द। उदाहरण, जैसे भयानक—'रुंड प्रचंड मुंड बिनु धावहिं। धरु धरु मारु मारु गोहरावहिं।' माधुर्य और शृङ्गार—स, र, ल, म इत्यादि कोमल अक्षरोंकी बहुतायत सारे फुलवारी लीलामें विचारणीय है। दूसरे, (ख) चित्रशक्ति—किसी विचारको मूर्तिमान करना—Iconography, Ideography चुप चित्र, यथा

'नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित प्रान जाहिं केहि बाट।' फिल्म (प्रगतियों वाले) चित्र-स्थूल; यथा 'रुंड प्रचंड'…' । सूक्ष्म—'माषे लषन कुटिल भइ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं।' तीसरे, (ग) भाव शक्ति—टैगोरजीने ठीक कहा है कि कवि वही है जो 'भावकेन्द्र' पर पहुँच जाय और अपने अनुभवको शब्दोंमें प्रकट करे। इसके बिना तो कोई पद काव्य हो ही नहीं सकता। अलगसे उदाहरण क्या दें। सभी पद उदाहरण हैं।

(२) कलाकी दृष्टिसे फुलवारी लीलामें निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(क) शुद्ध शृङ्गारका विकास। शृङ्गाररसमें कालिदास और सादी जैसे कवियोंने भी मर्यादाका अवलंघन किया है। विश्वसाहित्यमें (एक) यही (पुष्पवाटिका का) सीन है जिसमें शृङ्गारमें मर्यादाका अवलंघन नहीं है और (फिर भी) रोचकता बनी हुई है। 'जाने आलम' और 'रोशनआरा' की मुलाक़ात-के बाग़का सीन 'फ़िसाना अजायब' में, और रोमियो-जूलियट की मुलाक़ातवाला सीन शैक्सपियरमें बड़े सुन्दर हैं; मगर इस सीनके साथ तुलनामें वे हमें मैरी कोरेली के इस सिद्धान्तकी याद दिलाते हैं कि एक ओर भौतिक शृङ्गारका तूफ़ान है तो दूसरी ओर चन्द्रछायाका किसी शान्त जलाशयमें आनंद। मैं तो यह कहता हूँ कि "अमिय हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार। जियत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवत एक बार।" इस प्रसिद्ध पदमें जो शृङ्गारके तीन अंश हैं, उनमेंसे हलाहल (ज़हर इश्क़) यहाँ नहीं है। हाँ, अमिय और मधुभरेका आनंद ही यहाँ है।

(ख) हाँ, ऐसे शृङ्गारके सूक्ष्म अंगोंका वर्णन है।

(ग) यहाँ नायका भेद नहीं है, मगर प्रगतियोंका निरीक्षण बड़ा मार्मिक है।

(घ) कला नाटकीय है, मगर रंगमंचके संकुचित न होनेके कारण फ़िल्मकलासे टकराती है। याद रहे कि महाकाव्यकला संकेतरूपमें बराबर क़ायम है।

(ङ) तुलसीदासजीके कलाका, विशेषतः काव्यकलाका, पूर्ण विकास नाटकीय कलाके रूपमें यहाँसे अयोध्याकांडके अंततक है। यहाँसे विवाह तक सुखमय है। (मैं सुखान्तक नहीं कहना चाहता क्योंकि हमारे यहाँ रसकी प्रधानता पर कलाका विभाजन है)। अयोध्यामें दुःखमय है (दुःखान्तक नहीं)।

(च) चरित्रसंघर्ष और विकासका बहुत सुन्दर नमूना है।

चेतावनी—कुछ गुण पहले लिख चुके हैं जो यहाँ भी लागू हैं और कुछ जगह जगह पर कमसे कम संकेत रूपसे वर्णन किये जायेंगे। इससे यह तालिका पूरी न समझनी चाहिए।

दोहा—उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान।
गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान॥२२६॥

शब्दार्थ—बिगत = बीत जाने पर। अरुणशिखा = मुर्ग़ा। इसीको आगे 'अरुणचूड़' कहा है। यथा 'प्रात पुनीत काल प्रभु जागे। अरुणचूड़ बर बोलन लागे। ३५८।५।' ❀

❀ कुछ टीकाकारोंने इसका अर्थ वेदध्वनि वा प्रातकालिक भजन भी किया है। मा० त० वि० कार 'मुर्ग़ा' अर्थ देकर फिर लिखते हैं। यद्वा 'अरुण' = निःशब्द, शिखा = प्रधान। यथा 'अरुणोऽव्यक्तरागे-स्यात्संध्यारागेऽर्कसारथौ। निःशब्दे इति विश्वः।', "शिखाग्रमात्रे चूडायाँ केकिचूड़ा प्रधानयोरिति हेमः।" अरुण-शिखा = निःशब्द तत्वकी प्रधान ध्वनि जो ऋषियोंकी वेदध्वनि वा प्रातःकालिक भजन है। पं० रा० च० मिश्रजी दूसरा एक और अर्थ करते हैं। अरुणशिखा = लाल है चोटी जिसकी। और कहते हैं कि जिनका बिन्दु नीचे नहीं खसता ऐसे ब्रह्मचारियोंके शिरके बाल लाल पड़ जाते हैं, ऐसे वेदपाठी ऋषियोंकी

अर्थ—रात बीतनेपर मुर्गे (कुक्कुट) का शब्द कानोंसे सुनकर श्रीलक्ष्मणजी उठे। जगत्‌के स्वामी सुजान श्रीरामचन्द्रजी गुरुसे पहलेही जगे॥ २२६॥

नोट—१ इस दोहेसे राजकुमारोंकी दिनचर्य्याका वर्णन प्रारम्भ हुआ है।

टिप्पणी—१ (क) सेव्य-सेवक-भावसे सबका शयन करना और जागना लिखते हैं। प्रथम गुरुजीने शयन किया; यथा 'मुनिबर सयन कीन्ह तब जाई'। तब श्रीरामजीने शयन किया, यथा 'बारबार मुनि अज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही।' तत्पश्चात् श्रीलक्ष्मणजी लेटे; यथा 'पुनि पुनि प्रभु कह सोवहु ताता। पौढ़े धरि उर पद जलजाता। २२६। ८।' जिस प्रकार स्वामी और सेवकको शयन करना चाहिए वैसा वर्णन करके अब दोहेमें जैसे उठना चाहिए वैसा कहते हैं। प्रथम सेवकको उठना चाहिए, वही यहाँ कहते हैं। प्रथम लक्ष्मणजी उठे (ये सबते पीछे लेटे थे और सबसे पहले उठे)।

श्रीविश्वामित्रजी और श्रीरामजी क्रमसे सोये थे। पर उनके जागनेका क्रम उलटा है। पहले श्रीरामजी जगे, फिर विश्वामित्रजी; यह 'गुर ते पहिलेहि जागे' से जना दिया। इसीमें दोनोंका जागना और जागनेका क्रम कह दिया। (विशेष मिश्रजीका टिप्पण देखिये)।

(ख) 'उठे लषन' इति। जैसे लक्ष्मणजीके लिये 'पौढ़े' कहा था, वैसेही यहाँ उनके लिये 'उठे' कहते हैं और जैसे मुनि और श्रीरामजीके लिये 'शयन' करना कहा था वैसेही उनके लिये 'जागे' कहा है। 'पौढ़ना' और 'उठना' कहकर जनाया कि श्रीलक्ष्मणजी सोये नहीं, बराबर जागतेही रहे। इसमें अभिप्राय यह है कि इस समय हमारे स्वामी श्रीरामजी शयन कर रहे हैं। कदाचित् गुरुको कोई काम पड़े तो वह गुरुसेवा मैंही कर दूँ, श्रीरामजीको जागना न पड़े। (यदि मैं भी सो गया तो गुरुसेवामें न पहुँच सकनेसे श्रीरामजीको गुरुसेवा-विक्षेप जनित दुःख होगा। ☞लक्ष्मणजी श्रीरामजीका दुःख किंचित् नहीं सह सकते। (प्र० सं०)। इसीसे ग्रंथकारने उनका शयन करना अथवा जागना नहीं लिखा किन्तु 'पौढ़ना' और 'उठना' लिखा। (विशेष पूर्व लिखा गया है)।

२ 'सुनि अरुनसिखा धुनि कान' इति। मुर्गेकी बोली सुनकर जागना पुराणोंमें भी पाया जाता है।

नोट—२ अरुणचूड़ अंडजयोनिवालोंमेंसे एक हैं। ये उस समय भी थे। रातमें इसकी बोली दूरतक सुनाई देती है। यह प्रातःकालमें ठीक समयपरही नित्य बोलता है और किसी पक्षीका नित्य प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्तमें ठीक समयपर बोलना नहीं सुना जाता। अतः इसीका बोलना कहा गया। राजाओंके यहाँ बिविध प्रकारके पक्षियोंके पालनेकी प्रथा सदासे चली आई है। राजाओंके कौतुकके लिये तो ये होतेही हैं, पर साथही बहुतेरे पक्षी बड़े कामके होते हैं। कबूतर दूतों और हरकारोंके काममें भी आते हुए देखे और सुने गए हैं। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि चकोर, कबूतर और अरुणचूड़ों द्वाराही भोजनमें विषकी उत्तम रूपसे सफल परीक्षा होती है। विष्णुगुप्त चाणक्यने अपने 'कौटिलीय' अर्थशास्त्रमें 'विनयाधिकारिक' के अ० २१ में आत्मरक्षाप्रकरणमें राजाओंके लिये नियम लिखा है कि अग्नि और पक्षियों द्वारा भोजनकी नित्य परीक्षा करके तब राजा कोई चीज खाय। यथा "तद्राजा तथैव प्रति भुंजीत पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा। १। २१। १८। ६।" मनुने भी राजाके लिये लिखा है "तत्रात्मभूतैः कालज्ञैरहार्यैः परिचारकैः। सुपरीक्षित-मन्नाद्यमद्यान्मंत्रैर्विषापहैः। (मनु० ७। २१७)। अर्थात् वहाँ (अन्तःपुरमें) राजा भोजनकालाभिज्ञ, दूसरों द्वारा अभेद्य, परम आत्मीय जन द्वारा प्रस्तुत, परीक्षित एवं विषनाशक वेदमंत्रोंद्वारा विशोधित अन्न व्यंजनादि उत्तम भोजन करे।

वेदध्वनि।—ये सब अर्थ संभवतः इस शंकासे किये गए हैं कि किसी-किसीने मुर्गोंकी बोलीसे जागनेकी रीति तथा मुर्गोंका पाला जाना मुसलमानी शासनके समयसे मान लिया है जो अनुमान अयथार्थ और अप्रामाणिक है। नोट-२ देखिए।

३ पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'अरुणशिखा' पदसे नगरका वास जनाया। जबसे अयोध्या छूटी तबसे आज मुर्गोका शब्द सुननेको मिला। दूसरे, यह ग्राम्यपक्षी है, नियमित समय बोलनेसे ग्रामशोभा जनाई।" (प्र० सं०)।

टिप्पणी—३ "गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे···" इति। (क) पूर्वार्धमें लक्ष्मणजीका उठना कहकर क्रमसेही जना दिया कि ये श्रीरामजीसे पहले उठे। जैसे ये श्रीरामजीसे पहले उठे वैसे ही श्रीरामजी गुरुसे पहले। क्योंकि सेवकका यह धर्म है कि स्वामीसे पहले जागे। (ख) 'जगतपति जागे' इति। 'जागने' के संबंधसे 'जगतपति' कहा। भाव कि ईश्वरके जागनेसे जगत्की 'पति' अर्थात् रक्षा होती है। ईश्वरके जागनेमें सब जगह, 'जगतपति' विशेषण देते हैं। यथा 'जानेउ सती जगतपति जागे'। बालकांड दोहा ६० (३) देखिए। (ग) 'रामसुजान' का भाव कि श्रीरामजी धर्ममें बड़े सुजान हैं, इसीसे गुरुसे पहले जागे। श्रीलक्ष्मणजीने अरुणशिखाध्वनि सुनकर जाना कि रात बीत गई, प्रातःकाल हो गया और श्रीरामजी स्वतः जानते हैं, किसी अवलंबसे नहीं। यथा "प्रात पुनीतकाल प्रभु जागे। अरुनचूड़ बर बोलन लागे। ३५८.५।" श्रीरामजी प्रथम जगे, पीछे अरुणचूड़ बोलने लगे। इसीसे 'सुजान' विशेषण दिया।

पं० रा० च० मिश्र—'जगतपति' अर्थात् ये जगत्मात्रके स्वामी हैं और समस्त संसारही इनका सेवक है, यह विशेषण देकर भी 'सुजान' विशेषण देते हैं, क्योंकि 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ। २। २५४। ५।' श्रीरामजी यद्यपि जगत्पति हैं, फिर भी मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। उनका अवतार केवल राक्षसोंके वधके लिये नहीं हुआ (राक्षसोंका वध तो थोड़ेही वर्षों बाद हो गया था, पर वे पृथ्वीपर कमसे कम उसके बाद ग्यारह हजार वर्ष तक राज्य करते रहे) किन्तु संसारको अपने आचरण द्वारा धर्मकी मर्यादाकी शिक्षा देनेके लिये हुआ; यथा "मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः। भा० ५. १६. ५।" जो गुरुसेवाकी मर्यादा है, यथा "हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ। उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥ इति मनुः।" अर्थात् (गुरुके समीप साधारण भोजन, वस्त्र, वेषभूषासे रहे) गुरुसे पहले सोकर उठे और गुरुके सो जानेपर सोये, वही श्रीरामजीमें चरितार्थ है, घटित है। अतः 'जगतपति सुजान' विशेषण दिये गए।

नोट—४ पुनः 'जगत्पति' का भाव कि इनका सोना और जागना क्या? ये तो जगत्मात्रके स्वामी हैं, सोना और जागना यह तो नरनाट्यमात्र है। सेवामें कैसे सावधान हैं, यह गीतावली १.६६ में खूब दरसाया है। यथा "गुरु के प्रान अधार संग सेवकाई हैं। नीच ज्यों टहल करैं राखें रुख अनुसरैं, कौसिक से कोही बस किये दुहुँ भाई हैं।", ऐसे सावधान होनेसे जगत्पति और सुजान कहे गए। (प्र० सं०)।

५ दिनचर्या प्रातरुत्थानसे चली। उठनेके बादकी दिनचर्या 'सकल सौच करि जाइ नहाए।···' से 'करि मुनि चरन सरोज प्रनामा। आयेसु पाइ कीन्ह बिश्रामा। २३८.५।' तक है।

सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए॥१॥

समय जानि गुर आयेसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई॥२॥

शब्दार्थ - शौच=वह कृत्य जो प्रातःकाल उठकर सबसे पहले किये जाते हैं। जैसे, पाखाने जाना (मल मूत्र त्याग करना), मुँह हाथ पैर धोना, दंतधावन। हिन्दूशास्त्रानुसार अशौचावस्थामें संध्या तर्पण आदि वैदिक कर्म नहीं किये जाते। पुनः, शौच=पवित्रता। शौच दो प्रकारका होता है, एक बाह्य दूसरा आभ्यान्तर। (बाह्य शौच मिट्टी और जलादिसे होता है। आभ्यान्तर शौच ध्यान धारणा भगवत्-स्मरण आदिसे होता है)। 'सकल शौच'—टिप्पणी १ देखिए। नित्य=वे धर्मसंबंधी कर्म जिनका प्रतिदिन करना आवश्यक ठहराया गया हो।=नित्य क्रिया। जैसे—संध्यावन्दन, अग्निहोत्र, पूजा-पाठ इत्यादि। निबाहना=पूरा करना, पालन करना। नित्य निबाहि=नित्य कर्म करके। प्रसून=फूल।

अर्थ—सब शौच-क्रिया करके जाकर स्नान किया और नित्य-कर्म पूरा करके मुनिको प्रणाम किया ।१। समय जान गुरुकी आज्ञा पाकर दोनों भाई फूल लेने चले ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) "सकल सौच" इति । मनुष्यके शरीरमें बारह मल होते हैं; यथा "वसा शुक्र-मसृङ् मज्जामूत्रविट् घ्राण-कर्ण-विट् श्लेष्माश्रु दूषिकास्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः ।" अर्थात् चर्बी, वीर्य, असृक् (रक्त) हड्डीके भीतरका गूदा, मूत्र, विष्ठा, नाकका मल, कानका खूँट, कफ, आँसू, आँखका कीचड़, पसीना ये बारह मल हैं । इसीसे 'सकल शौच' कहा । [एक महानुभावने प्र० सं० के शब्दार्थमें 'मल मूत्र त्याग' को अर्थमें देखकर यह मत प्रकट किया है कि "श्रीरामजीके विषयमें ग्राम्य-धर्म नहीं लेना चाहिए, क्योंकि उनका शरीर चिदानंदमय है; यथा 'चिदानंदमय देह तुम्हारी । बिगत बिकार जान अधिकारी । २।१२७ ।" पर मेरी समझमें अवतार लेकर नर-नाट्यमें सभी कर्म किये जायँगे । यदि मल-मूत्र-त्याग आदिका नर-नाट्य न होता तो कौसल्यादि माताओंको कितनी चिंता हो जाती, जब कि वे श्रीरामललाजीके 'अनरसे होने, दूध न पीने', उनको नजर लगजानेपर बेचैन (विकल) हो जाती थीं, तब भला मल-मूत्र-त्याग न देखकर वे चुप बैठी रह जातीं ? बैजनाथजीने भी 'सकल शौच' में दिशा मैदान आदिको लिखा है । 'सकल शौच' में ये सब हैं, रह गया भावनाके अनुसार उपासक जैसा चाहें मान सकते हैं । चिदानंद शरीरमें पसीना, श्रमबिन्दु, रक्तबिन्दु कहे गये हैं, पर यह सब भी चिदानंदमय ही हैं, दिव्य हैं । 'सकल सौच' से बाह्य शुद्धि कही । आगे 'नित्य निबाहि' से अंतर—(अंतःकरणकी, भीतरकी) शुद्धि कहते हैं] (ख) 'जाइ' से सूचित होता है कि बाहर नदीस्नान करने गये । नदी-स्नान उत्तम माना गया है । [यथा "प्रवाहे शतधेनुश्च तटाके दशधेनुकम् । कूपे वाप्यामेकधेनुर्ग्रहे स्नानन्तु केवलम् ॥ गृहाद्दशगुणं कूपं कूपाद्दशगुणं तटम् । तटाद्दश-गुणं नद्यां गङ्गासंख्या न विद्यते ।" (श्रीरामपटल) । अर्थात् नदीमें स्नानसे सौ गोदानका, तड़ागमें स्नानसे दश गौका, कूप अथवा बावलीमें स्नानसे एक गौका फल होता है और घरमें स्नान करनेसे केवल शुद्धि होती है, फल नहीं होता । (ऐसा शास्त्र कहता है और अत्रिस्मृतिमें कहा है कि) घरसे दशगुणा फल कूपपर, कूपसे दशगुणा तड़ागमें, तड़ागसे दशगुणा नदीस्नानमें होता है । गङ्गाजीमें स्नानके फलकी संख्या नहीं कह सकते ।] (ग) "मुनिहि सिर नाए" इति । गुरुको शौचादिसे निवृत्त होकर प्रणाम करना, यह भी 'नित्य क्रिया' में से एक है, यथा 'प्रातकाल उठिकै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा । २०५।७ ।'

२ (क) "समय जानि" इति । समय जानकर आज्ञा माँगी, क्योंकि उसका समय न होनेसे आज्ञा न मिलती । ['लेन प्रसून' के साहचर्यसे 'समय जानि' का भाव यह होगा कि गुरुजीकी पूजामें प्रातःकाल दल-फूलकी आवश्यकता होती है, इसलिये फूल लाने वा पूजनका समय निकट जानकर चले जिसमें पूजाके समयतक दल-फूल लाकर उपस्थित कर दें । 'समय जानि' के संबंधमें रसिक महानुभावोंने बहुतसे भाव लिखे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(१) समय = संकेत । यथा "समयः शपथाचारसिद्धान्तेषु तथाधिपि । क्रियाकारे च निर्देशे संकेते काल भाषयोः । इति मेदिनी ।" भाव यह कि जैसे नगरदर्शनकी लालसा श्रीलक्ष्मणजीके मनकी जानकर गुरुकी आज्ञा पाकर गये थे, यथा 'राम अनुज मनकी गति जानी ।···जौं राउर आयेसु मैं पावउँ । नगर देखाइ तुरत लै आवउँ । २१८।३-६ ।', वैसेही श्रीमज्जानकीजीके पुष्पवाटिकामें आनेका संकेत जान गुरुकी आज्ञा पा सुमनके बहाने चले । (मा० त० वि०) । अथवा, (२) नगरदर्शन समय सखियोंके परस्पर संवादमें सिद्धान्त ऐश्वर्यसूचक वचन सुने थे, फिर सबोंने उस वचनपर विश्वास करके सुमनकी वृष्टि की थी; यथा 'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं । बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं ।···तासु बचन सुनि सब हरषानीं । ऐसेइ होउ कहहिं मृदु बानी ॥ हिय हरषहिं बरषहिं सुमन० । २२३ ।'—इस सुमनवृष्टिमें अभ्यन्तरीय यह संकेत था कि यदि ये बड़े प्रभाववाले हैं तो सुमनके बहाने पुष्पवाटिकामें जाकर प्रथम मानसिक स्वयंवर करेंगे, फिर धनुर्भंगके लिये उद्यत होंगे । (मा० त० वि०) । अथवा, (३) दर्शनीय वस्तुओंके देखनेके लिये राजाओं

का समय बँधा रहता है। पुष्पवाटिकाके दर्शनार्थ दरवाजा खुलनेका समय आ पहुँचा, यह जानकर। (मा० त० वि०)। अथवा, (४) श्रीसरकारके गुप्त प्रकट सब चरित्र अपने-अपने अवसरोंपर हुआ करते हैं। उसीके अनुसार लीलापरिकरोंका प्राकट्य होता है। यथा 'स्वै स्वैर्लीलापरिकरैर्जनैर्दश्यानि नापरैः। तत्तल्लीलाद्यवसरे प्रादुर्भावोचितानिहि ॥' (भागवतामृतकणिका)। पुष्पवाटिका चरित्रका यही समय है, यह जानकर प्रसून ले आनेकी आज्ञासे इस चरित्रको प्रारंभ किया। (मा० त० वि०)। अथवा, (५) सखियोंकी पुष्पवृष्टिक्रियासे बाग़में मिलनेका संकेत पा प्रभुने बालकोंसे पूछा तो उन्होंने बताया कि याम भर दिन चढ़े श्रीकिशोरीजी गिरिजा पूजनको जाती हैं, यह समय जानकर। (वै०)। अथवा, (६) मुनिने अबतक कभी कहीं जानेकी आज्ञा (अपनेसे) नहीं दी थी, आज प्रथम-प्रथम पुष्पवाटिकासे फूल लानेकी आज्ञा दी। इस आज्ञामें क्या सिद्धान्त है यह जानकर चले। अर्थात् मुनिने जो श्रीदशरथमहाराजसे कहा था—'इन कहँ अति कल्यान। २०७।', न जाने उसीका समय आ गया, अतः शीघ्र चल दिये। (मा० त० वि०)। पर इसपर आगे पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी ३ और नोट २ (ख) देखिए। पं० रामचरणमिश्रका मत है कि 'फूल लेने एवं गिरिजापूजनका समय' ये दोनों भाव मुनि और श्रीरामजी दोनोंके जाननेमें घटित होते हैं।] (ख) यदि संध्या समयमें बाग़ देखने जाते तो केवल बाग़ देखना होता। प्रातः समय जानेसे दोनों काम हुए, बाग़ दर्शन और गुरुसेवा।

३ 'गुर आयेसु पाई' इति। (क) 'पाई' से पाया जाता है कि श्रीरामजीने गुरुसे पूजाके लिये फूल ले आनेकी आज्ञा माँगी और उन्होंने जब आज्ञा दे दी तब गये। (ख) समय जानना यहाँ श्रीरामजीका है और आज्ञा देना गुरुका कहा गया है। यदि गुरुका स्वयं समय जानकर आज्ञा देना कहना होता तो लिखते कि 'समय जानि गुर आयेसु दीन्हा'। [(ग) गुरुको कहना न पड़ा, इन्होंने स्वयं जाकर गुरुसे आज्ञा ली। यह उत्तम सेवक-धर्म है। (प्र० सं०)]

नोट—१ 'लेन प्रसून चले दोउ भाई' इति। (क) 'प्रसून' का सीधा और प्रसंगानुकूल अर्थ 'फूल' ही है। वैजनाथजी एक अर्थ यह लिखते हैं कि 'प्रसून=सुमन=सुंदर मन। इस तरह 'प्रसून लेने चले' का भाव यह है कि सखियों सहित श्रीजनककिशोरीजीका सुंदर मन हर लेनेको चले।" भाव यह कि कल पुरवासियोंके मन हरे थे आज अन्तःपुरवासियोंके मन हरने चले। (रा० प्र०)। (ख) 'दोउ भाई'—दोनों भाई गये क्योंकि लक्ष्मणजी श्रीरामजीको अकेले नहीं छोड़ते। अथवा, ☞ पूजामें फूल बहुत लगते हैं अतः दोनों भाई गए। (वि० त्रि०)।

२ श्रीलमगोड़ाजी—(क) 'समय जानि···चले' इति। पुरुषमें activity फुर्तीकी प्रधानता होती है और स्त्रीमें Passivity की। देखिए श्रीरामजी स्वयं गुरुपूजन (गुरुके पूजा) का समय जानकर गुरुसे आज्ञा लेकर फूल लेने जाते हैं। पर सीताजीके लिये कविने लिखा है कि 'गिरिजा पूजन जननि पठाई'। [गिरिजा, गौरीका पूजन प्रायः विवाह और सुहागके लिये होता है; इसलिये यह काम अपनेसे करनेमें कन्यायें लज्जा मानती हैं। इससे भी माताका गौरीपूजनके लिये भेजना वहाँ उचित ही है। और यहाँ स्वयं आज्ञा लेकर जानेमें ही प्रशंसा है, औचित्य है]।

(ख) 'लेन प्रसून' स्पष्ट बता रहा है कि कोई कृत्रिम गुप्त मुलाक़ात (जैसा कि ऊपर टि० २ (क) के (१), (२), (५) में महानुभावोंके भावोंसे प्रकट होता है) के समय इत्यादिके अमर्य्यादित शृङ्गारका भाव नहीं है। सरल राजकुँवर फूल लेने गए थे। हाँ! 'सो सब कारन जान बिधाता। २३१।४।' वाली बात ही और है कि सृष्टिकर्ताका विधान 'संयोग' की रचना कर रहा था। श्रीसीताजी भी गिरिजा-पूजनरूपी कार्यके लिये गई थीं। इस प्रकार दोनों ओर धार्मिक उद्देश्य थे जो शृङ्गारको मर्य्यादित किये

रहेंगे। 'दोउ भाई' इधर और 'सखीं लै आई' उधर। (२३१.२) और भी पुष्टि इस बातकी कर देते हैं कि कोई और बात नहीं है।

भूप बागु बर देखेउ जाई। जहँ बसंत रितु रही लोभाई॥३॥
लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥४॥

अर्थ—(उन्होंने) जाकर राजाका श्रेष्ठ बाग़ देखा, जहाँ वसन्त ऋतु लुभाकर रह गई है॥ ३॥ अनेक प्रकारके मन हर लेनेवाले सुंदर वृक्ष लगे हैं। रंग-बिरंगकी सुंदर श्रेष्ठ बेलोंके वितान (अर्थात् लता-भवन बने हुए) हैं॥ ४॥

'भूप बागु बर' के भाव

पं० रामकुमारजी—'भूप बाग' कहकर बाग़का नाम जनाया कि इस बाग़का नाम 'भूप-बाग' है। (जैसे राजद्वार, राजमहल इत्यादि वैसेही 'भूपबाग' अर्थात् 'राजबाग़')। 'बर' का भाव कि राजा जनकके और भी बाग़ हैं पर यह बाग़ सबसे श्रेष्ठ है।

श्रीलमगोड़ाजी—(क) भाषाके मर्मज्ञोंका कहना है कि कोई दो शब्द बिलकुल एक अर्थके नहीं होते, कुछ न कुछ अंतर अवश्य होता है। हम समझते हैं कि 'भूप' और 'नृप' समान अर्थ प्रकट करते हैं किंतु तुलसीदास-जैसे सावधान कवि ऐसा नहीं समझते। देखिये, भूप = पृथ्वीका मालिक। यहाँ बाग़की चर्चा है; इसलिये यहाँ यह शब्द कितना सुन्दर है। पृथ्वीमाताके उदरसेही तो बाग़का जन्म है। आगे श्रीराम-लक्ष्मणजीकी चर्चा होगी तब 'नृप'-बालक लिखेंगे। यथा 'एक कहइ नृप-सुत तेइ आली। २२९। ४।', 'कहँ गये नृप किसोर मनु चिंता। २३२.१।' अर्थात् नर पतिके बालक। नृपनय (Political Science) के ज्ञाताओंके लिये यह विचारणीय है कि जनकपुरमें Territorial Theory of Sovereignty प्रधान थी। वहाँका राजा भूपति होता था, इसीसे तो पहले जनक-महाराजका 'हल चलाना' शुभ समझा जाता था। और, श्रीअयोध्याजीमें Personal Theory of Sovereignty प्रधान थी इससे वहाँका राजा नृप कहा जाता था। यही बात King of England और King or Queen of Scotts में अन्तर रूपसे अंग्रेजी पढ़नेवाले जानतेही हैं। 'प्रधान' शब्द मैंने इसलिये लिखा कि जिसमें बहुत खींचातानी न की जाय। (ख) 'बाग बर' का अर्थ सरल है। फिर भी संकेतकलाका प्रयोग विचारणीय है। 'बर' दुलहको कहते हैं और आगे बाग़में 'बाग बर' और 'बसंतरितु' दुलहिनका व्याह भी रचा है। फिर श्रीसीता-रामजीका व्याह भी होनाही है। उर्दूमें यह कला 'नसीम' में उत्तम है, पर इतनी सरल नहीं है।

प० प० प्र०—लमगोड़ाजीने जो लिखा है कि 'जनकपुरमें Territorial Theory of Sovereignty प्रधान थी...' वह ठीक नहीं है क्योंकि श्रीदशरथजीको भी भूप, भूपति कहा है और जनकजीको नृप भी अनेक बार कहा है। यथा 'देखन नगर भूपसुत आए। २२०। १।', 'एक बार भूपति मन माहीं। भइ गलानि मोरें सुत नाहीं।', 'गए भूप दरबार। १। २०६।', 'देहु भूप मन हरषित...। २०७।', 'सौंपे भूप रिषिहि सुत...। २०८।' इत्यादि; 'कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। २१६। ६।', 'भलि रचना मुनि नृप सन कहेउ। २४४। ८।' इत्यादि। दोनोंके लिये 'नरेस', 'नरनाथ', 'भुआल' और 'राउ' आदिका भी प्रयोग हुआ है।

'बर' विशेषण 'बाग' और 'भूप' दोनोंका है और पृथक् भी है। 'बर भूप' = श्रेष्ठ राजा। राजाओंमें श्रेष्ठ जो श्रीजनक महाराज हैं। 'भूप' को 'बर' इससे कहा कि उनको पृथ्वीने अपना सच्चा पति ('भू-पति') समझकर उनको कन्या दी। (पां०)। पृथ्वीके श्रेष्ठ पति हैं क्योंकि पृथ्वीसे कन्या इन्हींने उत्पन्न की। यथा 'देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे तिरहुतिनाथ साखि देति मही है। गी० १। ८५। ५।' (ग)

पुनः, भूप बाग बर = श्रेष्ठ बागों (अर्थात् देवताओंके चैत्ररथ आदि उत्तम बागों) का राजा । (पां०, रा० प्र०) । वा, बर = बड़ा । (रा० प्र०) ।

मा० त० वि० (क) 'बर बाग' अर्थात् योग-विभूतिका बाग । भाव यह कि राजा जनकके योगबलसे यहाँ त्रिपाद्विभूतिका गम (प्रवेश वा आविर्भाव) हो रहा है । जनकजी योगी याज्ञवल्क्यजीके शिष्य हैं । गीतावलीमें भी कहा है—"रागऊ बिराग भोग जोग जोगवत, जोगी जागबलिक प्रसाद सिद्धि लही है । १ । ८५ । ३ ।' (ख) 'भू' आधार शक्ति । प = पतीक्षणा (मात्रिकाकोशे) । भूप=जहाँ भू-शक्ति पतीक्षणारूप है अर्थात् नित्य निकुंज नित्य बिहारका (बाग जो अशोकवनिका संज्ञक है) । (मा० त० वि० ने इसी प्रकारके और भी भाव दिये हैं) ।

टिप्पणी—१ (क) 'देखेउ जाई' से जनाया कि इसके देखनेकी इच्छा थी, सो जाकर देखा । 'लेन प्रसून चले दोउ भाई' कहकर तुरत 'भूप बाग बर देखेउ जाई' कहनेसे सूचित हुआ कि बहुत शीघ्र गए, इसीसे बीचमें और कुछ वर्णन नहीं किया गया । (ख) 'जहँ बसंत रितु रही लोभाई' इति । अर्थात् जहाँ वसंतऋतुका धर्म बारहो मास बना रहता है , जैसा आगे कहते हैं—'नवपल्लव फल सुमन सुहाए' । लतायें और वृक्ष बसंतमें पुष्पित होते हैं, यथा 'लता ललित बहु जाति सुहाई । फूलहिं सदा बसंत कि नाई ।७.२८.२ ।' (ग) इस बागमें ऋतुराज मानों सेना समेत उतरा है । सेना आगे कहते हैं । जैसे सब राजा बाहर बन-बागादिमें उतरे हैं, वैसेही ऋतुराज वसंत बागमें बसा है । राजा सर सरितके समीप उतरे, वैसेही वसंत बागके सरके समीप उतरा है । (घ) वसन्त पुल्लिंग है और ऋतु स्त्रीलिंग है । वसन्त कामका सहायक है, और कामको स्त्रीका बल है, यथा 'एहि कें एक परम बल नारी । ३ । ३८ । १२ ।' इस बागमें शृङ्गारका वर्णन है. इसीसे 'वसंत' के साथ 'ऋतु' शब्द बढ़ाकर वसंतको स्त्रीलिंग बनाकर कहा । 'वसंत रितु' स्त्रीलिंग है । [(ङ) स्त्रीलिंग क्रियाका प्रयोग इसलिये किया गया कि यहाँ श्रीकिशोरीजी नित्य आया करती हैं । यहाँ पुरुषको आनेकी आज्ञा नहीं है । अतः वसन्तने मानों स्त्रीका रूप-वेष धारण कर लिया, जिसमें यहाँ रहने पावे । अथवा, परम नायक पुरुषोत्तम श्रीरामजीकी अवाई (अगवानी तथा आगमन) में वसन्त भी सखीसमाजमें आनंद लूटनेको नायिकारूप हो गया । (रा० च० मिश्र) । (च) 'रही लोभाई' अर्थात् और स्थानोंको छोड़कर यहीं निवास कर लिया है । (मा० त० वि ०) । इससे जनाया कि यहाँ मानरहित पड़ी रहती है । (छ) वसन्तऋतु लुभाकर रह गई । भाव यह कि इस समय शरद्ऋतु है, शरद्में भी वसन्त दिखाई पड़ रहा है, इससे सिद्ध है कि यहाँ सभी ऋतुओंमें वसन्तकी शोभा रहती है । अथवा, पावस और हेमन्तका मध्यवर्ती शरद् और शिशिर-ग्रीष्मका मध्यवर्ती वसन्त भी वर्तमान है, इस तरह षट् ऋतुओंकी शोभा सदा बनी रहती है । (वै०)]

श्रीलमगोड़ाजी—संसारके बहुत कवियोंने 'सदा बहार' के विचार लिखे हैं; परन्तु किसीने इस सुन्दरता और सजीवितासे उसका कारण नहीं बताया । हमारे पूज्य कविका आशय यह है कि आई तो वसन्त अपने समय पर थी पर मुग्ध होकर रह गई और इस समय शरद्ऋतुमें मौजूद है । (राजाओंके बागमें विशेष उद्योगों द्वारा यह ठीक ही है कि वसन्तकीसी बहार सदा बनी रहती है) ।

नोट—वसन्तके साज, सेना, शोभा आदिका वर्णन ३।३७-३८ में और १।१२६।१-६ में देखिये । 'रही लोभाई' कहकर बागकी अतिशय बड़ाई प्रदर्शित करना 'संबंधातिशयोक्ति अलंकार' है । जब स्वयं वसन्त ऋतु ही लुभा गयी तब मनुष्योंकी क्या कही जाय ।

टिप्पणी—२ 'लागे बिटप मनोहर नाना...' इति । (क) 'लागे बिटप'—यह बाग है, इसीसे प्रथम वृक्षोंका वर्णन करते हैं । बागमें वृक्षोंकी ही प्रधानता रहती है । मनोहर और नाना कहकर जनाया कि सब वृक्ष अपूर्व हैं, खोज-खोजकर यहाँ लगाये गये हैं । और ऐसे ही रंग-बिरंगकी उत्तम-उत्तम बेलें लगाई गईं

हैं, वितान बनाये गए हैं। (ख) पहले बाग़को श्रेष्ठ कहा—'बाग बर'। अब उसकी श्रेष्ठता दिखाते हैं। 'लागे बिटप मनोहर···' यह बाग़की श्रेष्ठता है। (ग) मनोहर है, इसीसे उसने दोनों भाइयोंके मनको हर लिया; यथा 'बागु तड़ाग बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत। २२७।' (घ) 'बिटप' को कहकर पीछे लताओंका वर्णन किया। इससे सूचित किया कि वृक्षोंपर लतायें चढ़-चढ़कर उलझ गई हैं, वही मानों वितान तने हैं; यथा 'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी। ३।३६।१।' (बेलें जब वृक्षों पर फैलती हैं तब वे वितान सरीखी देख पड़ती हैं)।

नोट—१ 'मनोहर नाना' देहली दीपक है। नाना मनोहर विटप हैं और नाना मनोहर रंग-बिरंगकी बेलें और चँदोवे हैं। 'नाना मनोहर बिटप' का भाव कि बाग़का एक-एक वृक्ष मनको हर लेता है और यहाँ तो ऐसे विटप अनेक हैं। रंग-रंगके वृक्ष हैं जिस बाग़में ऐसे नाना प्रकारके वृक्ष होंगे वहाँ वसन्त ऋतु क्यों न लुभा जायगी? जिस वृक्षपर जिस रंगकी बेलि शोभित होती है वही उसपर छा रही है; जैसे कालेपर लाल, श्वेतपर काली, पीतपर हरी इत्यादि। [नाना रंगोंके वृक्षोंपर उन्हींके अनुकूल रंग-रंगकी बेलें उनपर छाई हैं, जैसे चंपापर विष्णुकान्ता, चाँदनीपर इश्क़पेच, आम्रपर कुन्द, तमालपर हेमलता इत्यादि, क्यारी-क्यारीके बीच एक एक रंग, इस प्रकार भाँति-भाँतिके अनेकों कुंज बने हैं। (वै०)।] यहाँ शृङ्गाररसकी अधिकता शान्तरसके भीतर कही है। शृङ्गारके समय नायिका नायकपर प्रबल रहती है, वैसेही यहाँ बेलिरूपी नायिका विटपरूपी नायकपर लिपट गई है, नायिकाने नायकको लपेट लिया है। (पाँ० । प्र० सं०)। 'बर' विशेषण दिया क्योंकि इनके नीचे नाना चरित्र होने हैं। (मा० त० वि०)।

२ 'मनोहर नाना···बेलि बिताना' के और भाव ये हैं—(क) बाग़में जो विटप लगे हैं वे विटप नहीं हैं किंतु 'मनो' (मानों) 'हर' हैं जो अनेक रूपसे यहाँ विराजमान हैं। इसमें आश्चर्यही क्या? क्योंकि यह गिरिजा बाग़ है। [अथवा, श्रीराम-रस-माधुर्य-हेतु यहाँ स्थित हैं। (वै०)] 'बरन बरन बर बेलि बिताना' अर्थात् बेलोंसे वितान (वा बेलोंके वितान) कहते हैं कि 'वर' वृक्षरूप शिवका यश वर्णन करो, वर्णन करो! (रा० प्र०)। अथवा, (ख) बाग़को श्रेष्ठ बाग़ोंका राजा कहा है, उसके अनुकूल यहाँ यह अर्थ व्यंजित होता है कि राजाओंके चँदोवा तंबू आदि होता है, सो सब यहाँ लता वितान हैं। (रा० प्र०)।

नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए ॥५॥
चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा ॥६॥

शब्दार्थ—पल्लव=पत्ते, कोंपल। संपति=धन, ऐश्वर्य। रूख (प्रा० रुक्ख)=वृक्ष। यथा 'रूख कलपतरु सागर खारा। तेहि पठए बन राजकुमारा। २।११६।४।' नटत=नाचता है। लजाना=लज्जित करना।

अर्थ—नवीन (नये-नये) सुहावने पल्लव, फल और फूल (रूपी) निज संपत्तिसे कल्पवृक्षको लज्जित कर दिया है ॥ ५ ॥ चातक (पपीहा), कोयल, तोते और चकोर आदि पक्षी बोल रहे हैं, सुन्दर मोर नाच रहे हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ "नव पल्लव फल सुमन सुहाए।···" इति। [(क) 'नव' और 'सुहाए' पल्लव, फल और सुमन तीनोंके विशेषण हैं। 'नव' का दूसरा अर्थ है—'नम्र हो गए वा झुक गए हैं। वा, नम्र, झुके हुए।' इस तरह अर्थ होगा—सुंदर पत्तों, फल और फूलोंसे वृक्षकी शाखायें झुकी हुई हैं। वा, 'पल्लव फल और फूलके भारसे झुके हुए सुहावने लगते हैं। (पाँ०, रा० प्र०)] (ख) पल्लव, फल और सुमन तीनोंको कहकर सूचित किया कि इस राजबाग़में उपवन, बाग़ और वन तीनों हैं। यथा 'भूप बाग बर देखेउ जाई' (यहाँ बाग़ कहा), 'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत। २२७।' (यहाँ उपवन कहा। आराम=

उपवन, यथा 'आरामस्यादुपवनं कृत्रिम वनमेव तत् । अमर २.४.२ ।') और, 'एक सखी सिय संगु बिहाई । गई रही देखन फुलवाई । २२८ । ७ ।' तथा 'करत प्रकासु फिरहि फुलवाई । २३१ । २ ।' (यहाँ वाटिका कहा) । (ग) वाटिका फूलती है, बाग़ फलते हैं और उपवन पल्लवित होते हैं । यथा 'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास । फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास । २१२ ।', 'सुंदर उपबन देखन गए । सब तरु कुसुमित पल्लव नए । ७ । ३२ । २ ।' ☞ इसीसे यह बाग़ पार्क Park की तरहका था, जिसमें "देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि-बहोरि । २३४ ।" की गुंजाइश (समाई) थी । (लमगोड़ाजी ।)]

नोट—१ (क) 'नव' संख्याकी हद है । 'नव पल्लव' कहकर शोभा-सुंदरताकी अवधि पल्लव जनाए । (रा० प्र०) । वास्तवमें वसंतका यहाँ लुब्ध होकर रहना कहा है । वसंतमें नवीन कोंपलें निकलती हैं, वही भाव यहाँ 'नव' का है । (ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ शृङ्गाररस वर्णन करेंगे, उसमें प्रथम उद्दीपन विभाव कह रहे हैं । बाग़ तड़ागकी शोभा उद्दीपन विभाव है जो रसका बीज है । इसे देखकर अनुभावरूप शृङ्गाररस उत्पन्न हुआ, इसीसे आगे 'जो रामहिं सुख देत' कहा है । बाग़में आज श्रीजनकनन्दिनी-रघुनन्दन-मिलापका प्रथम दिन है । वात्सल्य, सख्य, दासादि भाववालोंको प्रसिद्ध देखनेका अधिकार नहीं है, पर उनको भी देखनेकी अभिलाषा है; इस लिये वे वृक्ष, गुल्म, लता आदिके शाखा, पल्लव, फल, फूलादिके रूपमें आ विराजे हैं । ये सब श्रीरामप्रेमरसके भर रसीले हैं । इसीसे सबको 'सुहाए' कहा ।

टिप्पणी—२ "निज संपति सुररूख लजाए" इति । (क) वृक्षोंकी संपत्ति फल, फूल, पत्ते हैं; यथा "फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि नियराइ । पर उपकारी पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ । ३ । ४० ।", (पत्ते, फूल और फल तीनों एक साथ वृक्षोंमें हैं यह विलक्षणता है), दूसरे यहाँ श्रीराम-जानकीजी आए हैं; यह सौभाग्य कल्पवृक्षको कहाँ नसीब ? उसके यह भाग्य कहाँ ? इसीसे वह लज्जित है । यथा "जेहि तरु तर प्रभु बैठहिं जाई । करहिं कलपतरु तासु बड़ाई । २ । ११३ ।" [(ख) 'लजाए' इति । क्योंकि सुरतरु अपकारकी वस्तुकोभी देकर नाश करनेवाला है और यहाँ तो सदा परोपकारही सिद्ध है । पुनः, वह माँगनेपर देता है, वह भी नाशवान पदार्थ । और यह स्वतः देता है और अक्षय पदार्थ देता है । पुनः, वह अर्थ, धर्म और काम देता है और यह मोक्षसहित अमित फल देता है । पुनः वह लौकिक वा प्राकृत फल देता है और यह अलौकिक, अप्राकृत दर्शनमात्रसे रामानुरागरूपी फलकी प्राप्ति कर देता है । (मा० त० वि०) । पुनः, ये सब वृक्ष पृथ्वीसे उत्पन्न हैं और श्रीजानकीजी भी भूमिजा हैं । यह सब विभूति अनादि है । अतः 'निज संपति' श्रीजानकीजीके विहारसे सुरतरुको लज्जित करते हैं । (रा० च० मिश्र) । पुनः, कल्पवृक्ष और इस बाग़के वृक्षोंको दो पलड़ोंमें रक्खा गया तो यहाँके वृक्ष श्रीजानकीजीके नित्य दर्शनरूपी संपत्तिकी गुरुतासे यहीं रह गए, इनका पलड़ा न उठा, और कल्पवृक्षका पलड़ा इतना हलका पड़ा कि आकाशको चला गया । अथवा, लज्जाके मारे स्वर्गमें जा छिपा । (रा० प्र०)] (ग) 'सुररूख लजाए' का भाव यह है कि इस बाग़के वृक्ष कल्पवृक्षसे सुंदर हैं । 'निज संपत्ति' का भाव यह है कि अपने पत्तों, फूलों और फलोंसे देववृक्षको लज्जित करते हैं । (कल्पवृक्षमें भी फूल, फल और पत्ते होते हैं पर वे ऐसे सुंदर नहीं हैं) । यहाँ कल्पवृक्षके फल देनेसे तात्पर्य नहीं है वरंच उसकी शोभा-सुंदरतासे तात्पर्य है । [यह वेद-वादका बाग़ है । 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः । वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः ।' (वि० त्रि०)]

नोट—२ 'रूख' शब्द यहाँ बड़ा अनूठा है । देशी भाषा, देहाती बोलीमें 'रूख' वृक्षको कहते हैं । सुरतरुका लज्जित होना कह ही नहीं रहे हैं वरंच अपने शब्दोंसे कवि उसे दिखा भी रहे हैं । 'रूख' का अर्थ 'सूखा' भी है । 'सुररूख' शब्द देकर जनाते हैं कि कल्पवृक्ष इनके सामने अपनेको उनके सदृश न पाकर लज्जाके मारे रूखा पड़ गया है वा सूखी लकड़ीके समान हो गया है ।

श्रीलमगोड़ाजी—कितना सजीव बना दिया है ! यहाँके वृक्षोंको अपने सौन्दर्यका अनुभव है और

इन्होंने मानों कल्पवृक्षको भी लज्जित कर दिया है। 'Personification' निर्जीवको सजीव करना यह है। कलाकी दृष्टिसे 'सुरतरु' पाठ अच्छा है। हमें संकेतकलासे यह भासित होता है कि देववृक्ष तरावटके होते हुए भी लजा गया, कारण कि यहाँ उससे भी अधिक तरावट है। 'रूख' पाठसे यह समझना चाहिए कि लज्जासे रूखा (सूखा) हो गया, क्योंकि यदि रूख था ही तो लजानेमें कलाका कोई चमत्कार नहीं रहता।

☞प्राकृतिक दृश्यचित्रणकी बात याद रहे कि तुलसीके परदे केवल चुप नाटकीय परदे नहीं और न केवल हमारी भावनाओं और विचारोंके उत्तेजक हैं वरंच स्वयं भी सजीव हैं, मानवी प्रकृतिसे हिलमिल जाते हैं। फिर सजीवता बड़ी सरल है, कृत्रिम नहीं।

यहाँ मानों 'बाग' बर और वसन्तऋतुके विवाहोत्सवकी महफिल बनाई गई है—सुंदर वृक्ष खंभे, एक वृक्षसे दूसरे वृक्ष तक फैली हुई रंगबिरंगकी बेलोंकाही वितान है और नव पल्लव फल सुमनही सजावट है। विश्वसाहित्यके सम्बंधसे तुलसीदासजीकी संकेतकलाकी महत्ता देखिए। वे हमारी कल्पनाशक्तिको उत्तेजित करके स्वतंत्र छोड़ देते हैं, उसे जकड़-बंद नहीं करते। देखिए, यहाँ किसी विशेष वृक्ष या बेलिका नाम नहीं लिया। समयके परिवर्तनने रुचि बदलती है। इसीसे 'गुलज़ारे नसीम' के सौसन, नरगिस, लाला इत्यादिका बाग़ अब किसीको नहीं भाता और पुराना हो गया, किन्तु तुलसीकी फुलवारी वैसीही बनी है। हाँ, वृक्ष मनोहर और नाना रंगके समझने चाहिये, न कि एकही तरहके या ख़राब और इसी तरह बेल भी 'बर' और वर्ण-वर्णकी हैं।

नोट—३ "चातक कोकिल···" इति। बाग़में पक्षी तो बहुत क़िस्म (प्रकार) के हैं पर यहाँ चातक, कोकिल, कीर, चकोर और मोर इन पाँचकाही नाम दिया है। कारण कि—

(क) यहाँ बाग़की शोभा वर्णन कर रहे हैं। ये बाग़की शोभा बढ़ानेवाले पक्षी हैं। वन-बाग़ादिकी शोभाके वर्णनके साथ इन पक्षियोंका भी वर्णन किया गया है; यथा 'नीलकंठ कलकंठ सुक चातक चक्क चकोर। भाँति भाँति बोलहिं बिहग श्रवन सुखद चित चोर। २। १३७।', 'चक चकोर चातक सुक पिक गन। कूजत मंजु मराल मुदित मन॥ अलिगन गावत नाचत मोरा। जनु सुराज मंगल चहुँ ओरा। २। २३५।'-(भृंग एकही सर्वत्र रहता है), 'कूजत पिक मानहु गज माते।···मोर चकोर कीर बर बाजी। पारावत मराल सब ताजी॥···चातक बंदी गुनगन बरना। ३। ३८।' (प्र० सं०)।

(ख) यहाँ शरद्‌सेवी, वसंतसेवी और वर्षासेवी तीनों ऋतुओंमें आनंद लेनेवाले पक्षियोंको गिनाया है। ये सब एक साथ इस बाग़में बिहार कर रहे हैं, यह दिखाकर जनाते हैं कि इस बाग़में सर्वऋतुओंसे विलक्षण ऋतु है जो अकथनीय है। (रा० प्र०)।

(ग) चातक और चकोर शरद्‌सेवी हैं। इस समय शरद् ऋतु विद्यमान है और चातक शरद्‌का मुख्य सेवी है, इसीसे 'चातक' को प्रथम कहा। कोकिल और कीर वसंत सेवी हैं, (और यहाँ वसंत लुभाकर रहही गई है, अतएव वसंत सेवी इन पक्षियोंको भी कहा) शरद्‌में कुछ वर्षाका भी अंश है। (आश्विनमें वर्षा होती ही है। चतुर्मासामें आश्विन भी है)। इसीसे मोरको भी कहा। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि बेलिवितानसे चातकको मेघमंडलका भ्रम हुआ, नवपल्लवसे कोकिलको वसन्तका भ्रम हो रहा है, नवफलसे शुकको ग्रीष्मका भ्रम हुआ, और नवसुमनसे चकोरको छिटकी हुई चाँदनीका भ्रम हुआ। अतः ये सब बोल रहे हैं। ये चारो तालधारीकी भाँति कूज रहे हैं। मोर लतावितानको मेघमंडल मानकर नृत्य कर रहा है)। श्रीरामजीको देखकर सब पक्षी बोलने लगे, मोर नाचने लगे, यथा 'देखे राम पथिक नाचत मुदित मोर मानत मनहु सतड़ित ललित घन धनु सुरधनु गरजनि टँकोर।' (श्रीराम-घनश्यामको देखकर उसे मेघोंका भ्रम हो रहा है। पीताम्बरमें बिजलीका भ्रम है। धनुषकी टंकोर मेघोंका गर्जन है) चकोर मुखचन्द्र देख रहा है, यथा 'सघन छाँह तम रुचिर रजनि बदन चंद चितवत चकोर सरद रितु है।' पपीहा श्रीरामजीको

मेघ जानकर बोलता है, जलकी आशा कर रहा है। और कोकिल मानों गा रहा है, यथा 'गावत कल कोकिल किसोर।' (भरतजीको भी देखकर इसी तरह पक्षी बोले हैं, यथा 'मृग बिलोकि खग बोलि सुबानी। सेवहिं सकल राम प्रिय जानी। २.३११।' (पं० रामकुमारजी)।

(घ) यहाँ शृङ्गाररस वर्णन करना है। ये पाँचों पक्षी शृङ्गाररसके उद्दीपक हैं, रसग्राही हैं; इससे इन्हींके नाम लिखे, नहीं तो यह तो प्रथमही कह आए हैं कि यहाँ "बिपुल विहंग निवास। २१२।' है। दूसरे, ये पाँचों वसन्त, वर्षा और शरद् तीनों ऋतुओंके भोगी (भोक्ता) हैं। अपने-अपने ऋतुके भ्रमसे ये पाँचों इस बाग़में सदा बसे रहते हैं। अर्थात् इस बाग़में तीनों ऋतुयें सदा बनी रहती हैं। इस तरह कि वसंत ऋतु तो विद्यमान है ही; वह तो यहाँ आकर लुभाकर रह गई है, इससे उसके भोगी कीर और कोकिल इसमें सदा रहते हैं। वर्षा और शरद् ऋतु माननेमें चातक-चकोरोंकी भ्रान्ति रूपककी ध्वनि है। वर्षाका इसमें सदा रहना इस प्रकारसे है कि वृक्षोंके पुराने काले-काले (गहरे हरे सघन) पत्ते काली घटाके समान हैं और उनमें श्वेतपुष्पोंकी पंक्ति (वा गुच्छे) बगलोंकी पंक्तिके समान हैं, पीले फूलोंकी पंक्ति (पुष्पजाल) का वायुके संचारसे लहराना बिजलीका चमकना है। लाल, पीले, हरे पुष्पोंकी पंक्तिका मेल (वा, क़तार) इन्द्र-धनुष है। कुंजोंमें पवनके प्रवेशसे शब्दका होना मेघोंका गर्जन है पुष्परसका सदैव टपकना जलवृष्टिकी भ्रांति उत्पन्न करता है, जिसके कारण मयूर सदा सुन्दर नृत्य करता रहता है। श्यामदलोंकी सघनतामें निर्मल श्याम आकाशकी, अनेक रंगके (वा, श्वेत) फूलोंमें नक्षत्रों-तारागणोंकी, और श्रीजनककिशोरीजीके मुखचन्द्रमंडलमें शरद्पूनोंके चन्द्रमाकी भ्रांति होनेसे शरद् ऋतुकी रात्रिका अनुमानकर शरद्सेवी चकोर आनंदित है। (पांडेजी)। 'करत प्रकास फिरत फुलवाई' यह उस चन्द्रका प्रकाश है। छोटी-छोटी लाल रंगकी कलियाँ जो भूमिपर फैली पड़ी हैं वे बीरबहूटी हैं। (रा० प्र०)।

(ङ) नवीन पल्लव और बहुरंगके फूल फूले देख कोकिल और कीर वसन्त मानते हैं। किसी किसी वृक्षपर जो श्वेतवर्णलताका वितान है वह निर्मल आकाश है। (परंतु इससे आकाश श्वेतरंगका हो जायगा। मेरी समझमें पांडेजीका मत विशेष संगत है)। सहचरियों सहित श्रीजानकीजीका मुख तारागण-सहित निर्मल चन्द्रमा है। इससे चकोर शरद् समझता है। श्रीराम श्यामघनका आगमन जानकर मोर नाचता है। अथवा, नित्यही सखियोंकी छबिकी बिजली सी छटा देख आनदसे नाचता रहता है। अथवा, यहाँ चैत्ररथ, नन्दन, कैलास और वैकुण्ठादिके पक्षीगण आए हैं, जो अपने-अपने बाग़का बखान कर रहे हैं, उसे सुनकर मोर 'नटत' अर्थात् 'न, न' नहीं-नहीं करता है। भाव कि ऐसा नहीं है। (रा० प्र०)।

(च) पाँच पक्षी कहे क्योंकि भक्त पाँच प्रकारके कहे गए हैं; यथा 'आर्त्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता ७। १६।' ('च' से पाँचवाँ प्रेमीभक्त कहा गया है)। ये पाँचों पक्षी नहीं हैं वरंच मानों पाँचों भक्त हैं जो श्रीराम-जानकीका मिलन देखनेके लिये रूपान्तरसे बाग़में आए हैं। जिस क्रमसे श्लोकमें भक्तोंके नाम आए हैं, उसी क्रमसे यहाँ पक्षियोंके नाम हैं। चातक आर्तभक्त है। चातक पी पी रटा करता है, आर्त्त कष्ट-निवारणार्थ पुकारता रहता है)। कोकिल जिज्ञासु है। ('कुहूकुहू कोकिल धुनि करहीं। ३। ४०।')। कीर अर्थार्थी है, चकोर ज्ञानी हैं और मोर प्रेमी। (प्रेमी प्रेममें नाचता है)। (पं० रामकुमार)। बैजनाथजीके मतसे चातक अर्थार्थी है; कीर ज्ञानी है, चकोर आर्त्त है। ये सब पक्षीरूप धरकर अपने अपने भावोंको प्रकट कर रहे हैं। (क्यों न हो? विनयमें कहा ही है—'खेलिबे को खग मृग तरु किंकर होइ रावरो राम होइ रहिहौं।")

(छ) चातकादिका कूजना कहकर जनाया कि ये मानों गाते बजाते हैं और मोर सुन्दर गतिसे नाचता है। (इस तरह यहाँ गाने और नाचनेवाले दोनों कहे)। (वै०, रा० प्र०)।

४ ऊपर 'भूप-बाग-बर' कहा। राजाके सेना, भट इत्यादि होते हैं, बाग़को राजा कहकर अब उसकी

सेना कहते हैं । वसन्तका यहाँ लुभाकर रह जाना कहा था, अब वसन्तका साज वर्णन करते हैं । और बागको जो 'बर' कहा था वह बर पन, वह श्रेष्ठता, यहाँ दिखाते आ रहे हैं कि यहाँ नये पत्ते फूल फल सदाही बने रहते हैं, यही नहीं किन्तु फूल फल पत्ते तीनों एक साथ, यह अद्भुत संपत्ति-विभूति देखिए; और भी देखिए कि चातक, कोकिल, कीर, चकोरादि सभी यहाँ अपने-अपने ऋतुओंका आनन्द सब दिन पाते हैं । इन सबोंका एकही साथ यहाँ बिहार कहकर सब ऋतुओंमें इस बागको विलक्षण ठहराया । (प्र०सं०)

५ ऊपर कह आए हैं कि यहाँ बाग-राजाकी सेना कहते हैं ? वह सेना क्या है सो सुनिये:—नाना प्रकारके विटप नाना प्रकारकी वरदीवाले भट, ध्वजा और पताका हैं, यथा 'कहुँ कहुँ सुंदर बिटप सुहाए । जनु भट बिलग बिलग होइ छाए । कदलि ताल बर ध्वजा पताका । ३।३८ ।'; बेलें शामियाने हैं; यथा 'बिटप बिसाल लता अरुझानी । बिबिध बितान दिए जनु तानी । ३।३८।१ ।' फूल (वा, फूलोंसे सुशोभित वृक्ष) बानेबंद हैं; यथा 'बिबिध भाँति फूले तरु नाना । जनु बानैत बने बहु बाना । ३।३८।३ ।' अब नाच-रङ्गका सामान चाहिए सो यहाँ पक्षी हैं, यथा 'अलिगन गावत नाचत मोरा ।', 'चातक बंदी गुनगन बरना । ३।३८।८ ।' वा, हाथी घोड़े आदि चाहिए सो यहाँ ये पक्षी हैं, यथा 'कूजत पिक मानहुँ गज माते ।। मोर चकोर कीर बर बाजी ।' 'चातक बंदी गुनगन बरना ।' चातक भाट आदि हैं । (३।३८) ।

६ श्रीराजारामशरणजी - महफिलमें गायकोंका समूह है । शब्दगुण यह है कि पक्षियोंका 'च' और 'क' प्रधान चहकना साफ सुनाई पड़ता है और उनके नामके नाम आगए । सब ऋतुओंके पक्षी मौजूद हैं, यह कोई आश्चर्यकी बात राजाओंके बागमें नहीं है । सब ऋतुओंका लुत्फ है, यही तो वसन्तऋतुके लुभाकर रह जानेका कारण है, नहीं तो एक ऋतुको दूसरे ऋतुका मजा ही कहाँ मिल सकता है—देखा आपने कलाका चमत्कार !

'बिहंग' का शब्दगुण देखिये । 'कूजत' की गूँज साफ़ है । 'नटत कल मोरा'—नाचनेवाला 'कत्थक' भी मानों महफिलमें 'मोर' रूपमें मौजूद है । 'रा' से नाचनेमें घूम जाना और 'नचत' में मानों नाचनेवाले के पैरकी थाप ही चित्रित है । 'कल' शब्दमें 'मोर' के सुन्दर पेशवाजका संकेत है ।

मध्य बाग सरु सोह सुहावा । मनि सोपान बिचित्र बनावा ।।७।।

बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा । जलखग कूजत गुंजत भृंगा ।।८।।

अर्थ—बाग के बीचोंबीच सुन्दर तालाब सुशोभित है । मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं । रंगबिरंगकी विलक्षण बनावट है (अर्थात् अनेक प्रकारकी मणियाँ रंग रंगकी उसमें लगी हैं ।। ७ ।। जल निर्मल है, बहुत रंगोंके कमल (उसमें फूले हुए) हैं, जलपक्षी कूज रहे हैं और भौंरे गुंजार कर रहे हैं ।। ८ ।।

श्रीराजारामशरणजी—१ 'सर सोह सुहावा' का अनुप्रास कितना रसपूर्ण है ? २—'मनि सोपान' इति । जहाँ सरोवरकी सीढ़ियाँ मणियोंकी पच्चीकारीकी हैं, वहाँके मंदिरकी बनावटका क्या कहना? संकेतकला विचारणीय है । राजकुँवर फूल लेने आए थे, इससे मंदिरमें गए ही नहीं और श्रीसीताजी पूजाकी भावना से आई थीं, इससे मंदिरकी कलाकी ओर इस समय किसीका ध्यान ही नहीं है । कवि भी 'सर समीप गिरिजागृह सोहा । बरनि न जाइ देखि मन मोहा ।' कहकर इसीलिये छोड़ देगा । हाँ, कलाका आनंद सियरघुबीर-विवाह-मंडपमें देखिए और कुछ वैसा ही यहाँ भी समझ लीजिए । ३—'सरसिज' इति । कविकी सावधानी देखिए । यदि 'पंकज' लिखते तो 'बिमल' न निभता, कारण कि पंककी ओर ध्यान अवश्य जाता । [इसी तरह पंपासरोवरके जलके विषयमें 'संत हृदय जस निर्मल बारी' जब कहा तब 'बिकसे सरसिज नाना रंगा' कहा है ।] ४—'गुंजत भृंगा' इति । कैसी सुन्दर गुणकी गूँज है और 'भृंग' शब्द भी कितना उचित ?

टिप्पणी—१ (क) 'मध्य बाग सर सोह०' इति। सरकी शोभा कई प्रकारसे दिखाते हैं तड़ागकी शोभा एक तो बागके मध्यमें होनेसे है, दूसरे वह अपने स्वरूपसे सुन्दर है—मणियोंकी सीढ़ियाँ हैं, कमल अनेक रंगके फूले हुए हैं और जल निर्मल है। दो प्रकारकी सुन्दरता दिखानेके लिये 'सोह' और 'सुहावा' दो पद दिये। [पांड़ेजी यह शंका उठाकर कि 'यहाँ दो शब्द एक अर्थके होनेसे पुनरुक्ति दोष आता है ?' उसका समाधान यह करते हैं कि यहाँ कवि 'बाग सर' और 'सोह सुहावा' एक पंक्तिमें रखकर अन्योन्यालंकारका अर्थ सूचित करते हैं। 'सोह' का संबंध 'सर' से और 'सुहावा' का बागसे है। आशय यह है कि "बागका शोभित करनेवाला सर मध्यबागमें सोहता है।" तात्पर्य कि "बाग बिना सरके और सर बिना बागके नहीं सोहता। यहाँ दोनों हैं। बागकी शोभासे सर सुहावा और सरकी शोभासे बाग।" (रा० च० मिश्र)। वस्तुतः यहाँ पुनरुक्ति नहीं है, 'सुहावा' विशेषण है और 'सोह' क्रिया है] (ख) ☞बागका वर्णन कर चुके, अब सरकी शोभा कहते हैं। जैसे जैसे श्रीरामजी बागके समीप (उसके भीतर विटप आदिके समीप) जाते हैं तैसे तैसे बागका वर्णन कवि करते जाते हैं। पहले बागका समष्टिरूप उन्होंने देखा, इसीसे कहा कि "भूप बाग बर देखेउ जाई"। आगे चलनेपर क्रमसे विटप, बेलि, फल-फूल और पक्षी देख पड़े—'लागे बिटप०', 'बरन बरन बर बेलि बिताना', 'नव पल्लव फल सुमन सुहाए', 'चातक कोकिल०'। मध्यबागमें पहुँचे तब तड़ागकी शोभा देखी। [(ग) 'बिचित्र बनावा', एक तो रंग बिरंगकी मणियोंसे बना इससे विचित्र, दूसरे बनावट भी बड़ी कारीगरी और कलाकी है। तीसरे, "विचित्रता यह कि सीढ़ियोंपर लता, वृक्ष और जलका आभास पड़ रहा है और जलमें भी लता वृक्ष और सीढ़ियाँ भासित हो रही हैं अतः जलमें थल और थलमें जलकी प्रतीति होती है।" (मिश्रजी)। गीतावलीमें चित्रकूटकी शोभा कहते हुए भी कुछ ऐसा ही कहा है; यथा "जलजुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन-प्रतिबिंब तरंग। गी० २।५०।५।' पुनः, विचित्र बनाव यह कि श्वेतमणिकी भूमिका, नीलमणिकी डालैं, हरितमणिके पत्र, पीतमणि पीरोजाके फूल, लालमणिके फल, इत्यादिसे उनमें बेलैं इत्यादि बनी हैं यह विचित्रता है। (वै०)। जिसमें विशेष रचना हो उसे 'विचित्र' कहते हैं, अथवा, जिसमें विजातीय आश्चर्य हो वह विचित्र है। (रा० प्र०)। (घ) सर बागके मध्यमें बनानेका भाव कि बागका जीवन जल है और शरीरका जीवन प्राणवायु है जो हृदयमें (शरीरके मध्यमें) रहता है। इसीसे बागके जीवन सरको भी मध्यमें स्थान दिया। अथवा, नाभिको सर कहा जाता है, नाभि शरीरके बीचमें है इससे बागके बीचमें सरको रक्खा। (रा०प्र०)।]

नोट—१ 'बिमल सलिल···' इति। 'बिमल' कहकर जनाया कि स्फटिकमणिके समान स्वच्छ अगाध जल है। 'सरसिज बहुरंगा' से पाया गया कि सर सघन पुरइनसे परिपूर्ण आच्छादित है। इन पुरैनियोंके बीच बीच श्याम, श्वेत, पीत और अरुण कमल हैं, जिनमेंसे कुछ फूले हैं, कुछ अधफूले हैं और कुछमें अभी कली निकली हैं। (वै०)। जनकपुरके वर्णनमें 'सलिल सुधा सम मनि सोपाना' कहकर पुरके सभी सरोवरोंका वर्णन कर चुके हैं—२१२ (५) देखिए। इस सरकी विशेषता यह है कि यहाँके मणिसोपानकी कारीगरी विचित्र है, अनेक रंगोंके कमल इस एक तालाबमें हैं। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—२ (क) 'सरसिज बहु रंगा' इति। कमलोंका फूलना आशयसे जना दिया। जलपक्षी बोलते हैं, भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। शरद्‌ऋतु है; इसीसे जलका बिमल होना और कमलका फूलना कहा। बिना कमलके फूले भ्रमर गुंजार न करते। (ख) भ्रमर और जलपक्षी दोनों कमलके स्नेही हैं, यथा 'बालचरित चहु बंधु के बनज बिपुल बहुरंग। नृपरानी परिजन सुकृत मधुकर बारिबिहंग। ४०।' इसीसे कमलोंका प्रफुल्लित होना कहकर तब इन दोनोंका बोलना लिखा। (ग) बागके और जलके पक्षी पृथक् पृथक् लिखे और दोनों (बाग और तड़ागके वर्णन) के अन्तमें भृङ्गको कहा, क्योंकि भृङ्ग बाग और तड़ागके

सब एक ही हैं, पृथक्-पृथक् नहीं हैं। (घ) 'बिमल सलिल सरसिज बहुरंगा', यह शरद्का धर्म वर्णन किया, क्योंकि वर्तमानकालमें शरद् है।

नोट—२ ऐसा ही जनकपुरके वर्णनमें कहा है,—"बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥ गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा। कूजत कल बहुबरन बिहंगा॥ बरन बरन बिकसे बनजाता। त्रिबिध समीर सदा सुखदाता॥ २१२।६-८।' यहाँतक जलाशयके पक्षी कहे। 'सुमनबाटिका बाग बन ... २१२।' यहाँतक बाटिका, बाग, बन, कहे। फिर बाटिका, बाग, बनमेंके पक्षी कहे,—'बिपुल बिहंग निवास। २१२।' परन्तु भ्रमर एकही जगह कहा था फिर न कहा, क्योंकि भ्रमरमें भेद नहीं है। वह सर्वत्र एक है। (पं० रामकुमार)। २—'बहुरंगा' देहलीदीपक है। कमलभी बहुरङ्गके (पीत, श्याम, श्वेत, अरुण) और जलपक्षी भी बहुरङ्गके। पाँड़ेजी कहते हैं कि 'बहुरंगा' सरसिज, जलखग, कूजत, गुंजत और भृङ्ग सभीमें लगता है। कमलों और पक्षियोंका बहुरंग होना तो प्रत्यक्ष ही है, पक्षियोंकी बोली 'कूज' भी बहुरंगकी हुई। और भृङ्ग बहुरंग इससे हुए कि जिस रंगके कमल पर बैठे उसी रंगके हो गए। 'बहुरंग कमल' ३७ (५) में देखिए। अन्यत्र कहीं पीत जीरेसे भरजानेसे भृङ्गको पीत रंगका कहा गया है। ३—'जलखग कूजत गुंजत भृंगा' इति। जलपक्षीके कूजनेका भाव कि ये श्रीरामघनश्यामको देखकर बोल उठे। भ्रमरके गुञ्जारका भाव कि सब लोग श्याम होनेके कारण हमारा निरादर करते थे सो आज वे सब श्यामही पर लट्टू हो जायँगे वा श्यामपर निछावर होंगे। (रा० प्र०)।

दोहा—बागु तड़ागु बिलोकि प्रभु हरषे बंधु समेत।
परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत॥ २२७॥

अर्थ—बाग़ और तालाबको देखकर भाई सहित श्रीरामजी प्रसन्न हुए। यह बाग़ परम रमणीक है कि जो श्रीरामजीको सुख दे रहा है॥ २२७॥

श्रीराजारामशरणजी—१ 'हरषे'। कविने किस सुन्दरतासे शृङ्गारके माधुर्य्यको पैदा कर दिया? प्रातःकालका समय, बाग़की सैर और वहाँ प्रकृतिमें भी वसंतके विवाहकी रचना और फिर यहाँ सरोवरमें शिल्पकलाका सौन्दर्य्य सब मिलकर सौन्दर्य्यानुभवकी शक्ति (Æsthetic Faculty) का विकास कर देते हैं जहाँ तक इसका सम्बन्ध है वहाँ तक 'बंधुसमेत' ही सब कार्य्य होंगे; लेकिन जहाँ इससे ऊपर उठेंगे वहाँ कवि सूक्ष्मताके साथ श्रीरामके अनुभवको अलग कर देगा।—'कंकन०'।

२ रम्य, आराम और राममें कलाकी वह युक्ति है कि एक धातुसे निकले हुए शब्दोंको एक जगह प्रयोग करनेमें अलंकार बन जाता है।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ तक बाग़ और तड़ाग दोनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन करके अब दोनोंको एकत्र करते हैं कि ऐसे बाग़ और तड़ागको देखकर प्रभु हर्षित हुए। प्रथम बाग़ देखा, पीछे तालाब। इसीसे उसी क्रमसे यहाँ प्रथम 'बाग़' लिखा तब तड़ाग। (ख) दोनोंको देख लेने पर हर्ष लिखनेसे पाया गया कि अब बाग़की पूर्ण शोभा देखनेमें आई। [(ग) पुनः, 'बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु' का दूसरा अर्थ यह है कि 'तड़ागमें बाग़को देखकर प्रभु प्रसन्न हुए।' अर्थात् वृक्षों लताओं-फूल फल-पत्ते आदिकी परछाईं मणियोंकी सीढ़ियों और निर्मल जलमें देखकर हर्ष हुआ। (पांड़ेजी, रा० प्र०)]। (घ) 'परम रम्य आरामु येहु जो रामहि सुख देत।' इति। भाव कि श्रीरामजी अपनी शोभासे सबको सुख देते हैं और यह बाग़ स्वयं श्रीरामजीको सुख देता है। पुनः भाव कि जो श्रीरामजी स्वतः सुखस्वरूप हैं उनको भी इसने सुख दिया। यथा 'अस तीरथपति देखि सुहावा। सुखसागर रघुबर सुख पावा। २।१०६।२।'

वि० त्रि०—'परम रम्य' इति। रम्य नगरको देखकर ही विशेष हर्षित हुए थे। यथा 'पुररम्यता राम

जब देखी । हरषे बंधु समेत बिसेषी ।' अब उससे भी अधिक हर्ष है, क्योंकि यह 'परमरम्य' है। पर्वतोंमें कैलास, धरणीमें सेतुबंध की भूमि, (आश्रमोंमें भरद्वाजाश्रम) और बाग़ोंमें श्रीजनकमहाराजका बाग़ परम रम्य है । यथा 'परम रम्य गिरिवर कैलासू', 'परम रम्य उत्तम यह धरनी', 'भरद्वाज आश्रम अति पावन । परम रम्य मुनिवर मन भावन' । रम्यता से हर्ष और परम रम्यतासे सुख होता है ।

नोट—१ "परम रम्य आराम ·· रामहि सुख देत" इति । भाव कि 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' तथा जो जगत्को अपनेमें रमानेवाला है, जो स्वयं आनंदकंद, आनंदनिधान, आनंदरूप है, जो 'आनंदसिंधु सुखरासी । सीकर तें त्रैलोक्यसुपासी' है, जब उसको भी इस बाग़से सुख हो रहा है तो यह 'परम रम्य' क्यों न हो ? अवश्यही होना चाहिए । 'परम रम्य' का अर्थ इस युक्तिसे सिद्ध करना 'काव्यलिंग' अलंकार है। २ पाँड़ेजी लिखते हैं कि—(क) "दूसरा अर्थ यह है कि 'परम रम्य' जो वस्तु है उसका यह बाग़ आराम देनेवाला है अर्थात् वह वस्तु इसमें विश्राम करती है । ['परम रम्य' = 'मूर्तिमती परम रमणीयता वा, = परम रम्य जो जानकीजी उनका यह 'आराम' (बाग़ अथवा विश्रामस्थान) है । अतः 'रामहिं सुख देत' । (ख) 'देत' शब्द तीनों कालोंका बोधक है । 'बाग बिलोकि०···हरषे' यह भूतकाल, 'लगे लेन दल फूल मुदित' यह वर्तमान और 'तेहि अवसर सीता तहँ आई' यह भविष्यकाल हुआ । [अथवा, वर्तमानमें 'सुख देत' और भविष्यमें 'देखि सीय सोभा सुख पावा । २३०।५ ।' (प्र० सं०)]

३ मा० त० वि०—'परम रम्य' इति । 'जो श्रीरामजीका नित्य सुखदायक केलिकुंज है, यह वही 'परम रम्य आराम' है । वा, यहाँका सुख रामही जानते हैं, औरकी ऐसी दृष्टि कहाँ कि श्रीजानकीजीवनतत्त्वके प्रादुर्भावको यहाँ जान सके ।"

चहुँ दिसि चितइ पूँछि मालीगन । लगे लेन दल फूल मुदित मन ॥ १ ॥

अर्थ—चारों ओर दृष्टि डालकर (देखकर) और मालियोंसे पूछकर प्रसन्न मनसे दल फूल लेने लगे ।१।

टिप्पणी—१ 'चहुँ दिसि चितइ' इति । (क) इससे जनाया कि चारों दिशाओंमें बाग़की शोभा ऐसीही है। इसीसे चारों ओर बाग़की शोभा देखी। (ख) बाग़के मध्यमें तालाबके पास खड़े होकर चारों ओर बाग़की शोभा देखी और यह भी देखा कि गुरुजीकी पूजाके उपयोगी उत्तम दल फूल कहाँ-कहाँ हैं । (प्र० सं०) । अथवा, [(ग) कल नगरदर्शनके समय यह सुन चुके थे कि श्रीजानकीजी वाटिकामें इस समय आया करती हैं, आजभी आयेंगी । अतः चारों ओर देखा कि अभी आई हैं या नहीं । (रा प्र०, पाँ०, रा० च० मिश्र, वै०) । चारों ओर निहारनेमें सीताजीके दर्शनकी उत्कंठा व्यंजित होना 'व्यङ्ग' है । अथवा, (घ) चारों ओर देखा कि बाग़के माली कहाँ हैं, उनसे पूछकर तब फूल लें । अथवा, ङ) सिंह हैं अतः चारों ओर देखकर ही कार्यारम्भ करते हैं । यथा 'सिंह ठवनि इत उत चितव धीर बीर बल पुंज । (वि.त्रि.]

२ (क) 'पूँछि मालीगन' इति । मालियोंसे पूछकर तब फूल तोड़े (उतारे) क्योंकि ऐसी धर्मशास्त्रकी आज्ञा है । बिना पूछे पत्र, पुष्प, दल फूल इत्यादि लेनेका निषेध है । (बाग़ बहुत बड़ा है । इसीसे इसकी रक्षाके लिये बहुत माली नियुक्त हैं । इसीसे मालीगणसे पूछना कहा । श्रीरामजी तो तालाबके समीप ही हैं । कविने उनको तालाबपर पहुँचानेपर मालियोंसे पूछना कहा है । इससे जान पड़ता है कि श्रीरामजीकी शोभाका दर्शन करनेके लिये सब माली दौड़कर तालाबके समीपही एकत्र हो गए हैं, जैसे नगरदर्शनके समय सब लोग श्रीरामजीके दर्शनार्थ एकत्र हुये थे । यथा 'धाए धाम काम सब त्यागी । मनहुँ रंक निधि लूटन लागी । २२०।२ ।' तथा जैसे वनवासके समय ग्रामवासी श्रीराम-बटोहीके दर्शनको दौड़कर एकत्र हुये हैं; यथा 'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी । चलहिं तुरत गृह काज बिसारी ॥ राम-लषन सिय-रूप निहारी । पाइ नयनफलु होहिं सुखारी । २।११४ ।', इत्यादि । अतएव सबसे उसी जगह पूँछ लिया), पूछकर लेना

सभ्यता और नीतिका पालन जनाता है। [अथवा, बाग़के चारों ओर देखनेपर श्रीजानकीजीको जब न देखा तब मालियोंसे पूछा कि आई हैं या नहीं, या लौट गईं। (पां०, वै०, रा० प्र०)। अथवा, उस बाग़में कोई पुरुष नहीं जाने पाता था, वहाँ सखियाँ ही रहती थीं। इस लिये 'माली' का अर्थ है, 'मा + आलि' अर्थात् श्रीयुक्त सखी, वा लक्ष्मीसमान शोभायुक्त सखी, वा लक्ष्मी जिसकी सखी है ऐसी सखीगणसे पूछा। मा० त० वि०, रा० प्र०]

३ "लगे लेन दल फूल मुदित मन" इति। (क) यहाँ दल-फूलका नाम नहीं लेते, जिसमें सभी दलों और सभी उपयोगी फूलोंका ग्रहण हो जाय। जैसे, दूर्वादल, बिल्वदल, तुलसीदल, इत्यादि। फूल भी गुलाब, कमल, जुही, चमेली, चंपा, मोतिया, बेला, इत्यादि। (ख) प्रथम 'दल' शब्द देनेसे पाया गया कि पहले दल उतारे, पीछे फूल तोड़े। [दलका माहात्म्य अधिक है। इससे इसे प्रथम कहा। 'दल' से प्रायः तुलसीदलका ही तात्पर्य होता है। वही अर्थ यहाँ ग्राह्य है। परंतु गोस्वामीजीने बहुमतभेदके कारण 'तुलसी' शब्द नहीं दिया, जिसमें सब लोग अपने-अपने मतानुसार अर्थ लगा लें। स्नानके पश्चात् 'दल' उतारनेकी विधि है। बिना स्नानके तुलसीदल उतारना पाप है और उससे की हुई पूजा व्यर्थ हो जाती है। फूल स्नानके पहले उतारे जाते हैं पर यहाँ फूल भी स्नानके पश्चात् उतारे गए। इसका समाधान यह किया जाता है कि अपनी पूजाके लिये स्नानके बाद फूल उतारनेका निषेध है और यहाँ तो गुरुजीके लिये फूल उतारे गए हैं। पुनः, यहाँ 'दल' शब्द प्रथम देकर उसीको मुख्य जनाया गया है, इससे भी शंका न करनी चाहिए। प्र० स्वामीका मत है कि यहाँ 'दल' का अर्थ 'पलाश आदि पत्ते' लेना आवश्यक है क्योंकि आगे 'सुमन समेत बाम कर दोना' कहा है। पहले पत्ते लेकर दोने बनाकर बायें हाथमें रक्खे।] (ग) 'मुदित मन' इति। फूलोंकी सुंदरता प्रथम ही कह चुके हैं, यथा 'नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपति सुररूख लजाए।' सुंदरता देखकर मन मुदित हुआ। [पुनः, 'मुदित मन' का भाव कि आज मन भाए दल पुष्प मिलेंगे, गुरुजी भी उत्तम दल फूल पाकर प्रसन्न होंगे। पुनः मनका प्रसन्न होना शकुन है जिसका फल बाग़में श्रीजानकीजीका दर्शन होगा। (पं०, रा० प्र०)। अथवा, पिछले दिन जिस फुलवारीमें गए थे—'गए रहे देखन फुलवाई। २१५.४।' उसमें ऐसे सुन्दर दल फूल न थे तथा जबसे मुनिके साथ श्रीअयोध्याजीसे आये तबसे ऐसे सुंदर फूल आज ही मिले। अतः प्रसन्न होकर उतारने लगे। मालियोंने आज्ञा दे दी, यह भी सूचित कर दिया। अथवा, (पाँड़ेजी तथा वैजनाथजीके मतानुसार) 'मुदित मन' से जान पड़ता है कि पहले कुछ विमन हो गए थे। जब बाग़के चारों ओर दृष्टि दौड़ाई और श्रीजानकीजीको न देखा तब विमन (उदास) हो गये थे। फिर मालियोंसे पूछनेपर जब उन्होंने बताया कि आनेका यही समय है, अभी आई नहीं हैं, तब मुदित हुए और दल-फूल लेने लगे। 'लगे' शब्द विलंब सूचित कर रहा है कि वे आवें और ये उनको देखें।—(यह शृंगारियों रसिकोंके भाव हैं)] (घ) ☞दोनों भाइयोंको दल फूल लेनेमें लगाकर आगे दूसरा प्रसंग कहेंगे।

प० प० प्र०—अवधसे निकलनेपर आज ही प्रथम प्रथम ऐसे दल फूल देखनेको मिले इसीसे 'मुदित मन' हैं। यहाँ किशोरीजीके दर्शन लाभकी आशा इत्यादि वाले भाव गोस्वामीजीके सात्विक शुद्ध शृङ्गारकी मर्यादाकी हानि करनेवाले और मर्यादापुरुषोत्तमके आदर्श परम सरल शुद्ध चरित्रपर कलंक लगानेवाले हैं। २२८ (२) की टिप्पणी १ में संपादकने जो ऐसे अमर्यादित भावोंका खंडन किया है वही उचित है। 'इहाँ न विषय कथा रस नाना' यह पहले ही ग्रन्थकारने कह रक्खा है, यह कभी न भूलना चाहिए।

श्रीराजारामशरणजी १ रामजी तो साधारण रीति वा ढंगसे मालियोंके पूछनेके हेतुसे और इस हेतुसे कि किस ओर अच्छे फूल हैं, चारों ओर देखते हैं, लेकिन नाटककलाकी आँखमिचौलीका आनंद हमें मिल जाता है। दर्शक श्रीसीताजी इत्यादिको आते देख रहे हैं और उसी समय श्रीरामजी भी चारों ओर देखते हैं। क्या देखनेवालोंके दिलोंमें गुदगदी नहीं पैदा होगी कि रामजीकी नजरसे श्रीसीताजी तनिक

ओटके कारण कैसी बच गई ? क्या शृङ्गारप्रिय दर्शक यह न कहते होंगे कि कहाँका फूल तोड़ना, अरे भाई राजकुँवर ! इधर तो देखो !

२ 'मुदित' यह अवस्था रामजीकी क़रीब-क़रीब (प्रायः) स्थायी बनगई है। बनवासमें भी सखियोंने भरतजीको देख यही कहा है—'मुख प्रसन्न नहिं, मानस खेदा। सखि संदेह होत एहि भेदा। (अर्थात् श्रीरामजीका मुख तो प्रसन्न था, किंतु ये प्रसन्न मुख नहीं हैं)।

३ ☞ राजकुँवर शान्त और वीररसमें पगे थे, इससे कविने शृङ्गाररसके उद्दीपनकी इतनी चेष्टा की है। फूल तोड़ना भी इस सम्बंधसे विचारणीय है। परन्तु फूल तोड़नेका हेतु गुरुजीकी पूजा होनेके कारण शृंगार मर्यादितही रहेगा। 'गुल खिलाने' और 'गुलछर्रे उड़ानेवाली' बात न होने पावेगी। उधर जनकपुरमें शृङ्गार और वीररस (पर विशेषतर शृङ्गारही) की प्रधानता है, इससे 'गिरिजापूजन' का हेतु रखकर उसे मर्यादित रक्खा है।

तेहि अवसर सीता तहँ आई। गिरिजा पूजन जननि पठाई ॥ २ ॥

अर्थ—उसी अवसरपर श्रीसीताजी वहाँ आईं। माताने श्रीगिरिजाजीका पूजन करनेके लिये उनको भेजा है।२।

श्रीलमगोड़ाजी—'तेहि अवसर' स्पष्ट बताता है कि कविने जानबूझकर यह प्रसंग नाटकीय-कलाकी पूर्तिके लिये रचा है।

टिप्पणी—१ 'तेहि अवसर' इति। भाव कि—(क) श्रीरामजीके दल-फूल लेने आने और श्रीसीताजीके गिरिजापूजनका समय एकही है, इसीसे 'तेहि अवसर आई' कहा (इधर ये दल-फूल उतारने लगे, उधर वे भी पहुँचीं)। पुनः (ख) नारदवचनके प्रभावसे (जैसा 'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत। २२९।' से सिद्ध होता है) अथवा दैवयोगसे उसी समय आना हुआ। यथा 'सखिन्ह सहित तेहि अवसर बिधिके सँजोग गिरिजाजू पूजिबे को जानकीजू आई हैं। गी० १।६६।३।' [गीतावलीके इस उद्धरणसे नगर-दर्शनके समय पुष्पवृष्टिद्वारा वाटिकामें बुलाने आदिके संकेत वाले भावोंका खंडन हो जाता है। गोस्वामीजीका वह मत नहीं पाया जाता। बैजनाथजीने जो लिखा है कि 'श्रीकिशोरीजीकी दूती लगी थी। जैसेही दोनों भाई बाग़को चले वैसेही उसने समाचार दिया, इसीसे उसी समय सीताजी आईं' इसका भी खंडन हो जाता है। (मा० सं०)। (ग) श्रीसीताजीके गौरीपूजनका नित्यकाही यही समय है जैसा 'पुनि आउब येहि बेरिआँ काली। २३४।६।' और 'करहु सफल आपनि सेवकाई। २५७।६।' से सिद्ध होता है। इसीसे इसी समय माताने भेजा। (मा० त० वि०)]।

नोट—१ "सीता तहँ आई" इति। (क) यहाँ 'सीता' मुख्य ऐश्वर्यसूचक नाम दिया गया है। जहाँ-जहाँ ऐश्वर्यका वर्णन हुआ है वहाँ-वहाँ यह नाम दिया गया है। यथा 'सीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ। मं० श्लो० ४।', 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं···सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्। मं० श्लो० ५।' और अवतारके पूर्व ही जब प्रथम-प्रथम आपने श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन दिया तब भी यही नाम प्रकट किया गया था, यथा 'राम बाम दिसि सीता सोई। १४८।४।' हलके अग्रभागकी ठोकरसे पृथ्वीसे प्रगट होनेसे मिथिलामें भी यही नाम पड़ा था। इसी नामको यहाँ दिया। 'जानकी', 'जनकसुता' आदि नाम न दिये क्योंकि 'जानकी' आदिसे श्रीउर्मिलाजीका भी बोध होता है। (वै०)। (ख) 'सीता' नाम देनेका भाव यह है कि 'राजकुमार (श्रीरामजी) जो पूर्वानुराग (यथा 'तत्व प्रेमकर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मन मोरा। ।१५।') के कारण अथवा दर्शनाभिलाषासे संतप्त हैं उनको ये शीतल करेंगी। अथवा, पिताकी प्रतिज्ञासे स्वयं तप्त हैं सो यहाँ श्रीरामजीको देखकर शीतल होंगी। (पाँ०, रा० प्र०)। (ग) 'सीता तहँ आई' कहकर आगे आनेका कारण बताते हैं—'गिरिजा पूजन···।'

टिप्पणी—२ "गिरिजा पूजन जननि पठाई" इति । (क) माताका प्रेम कन्यामें अधिक रहता है, इसीसे जननीका पूजा हेतु भेजना कहते हैं । गिरिजाजीकी पूजा करने भेजा जिसमें योग्य वर मिले; यह बात 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा । निज अनुरूप सुभग-बरु माँगा । २२८।६ ।' से स्पष्ट है । अथवा, [(ख) पुष्पवाटिकामें राजकुमारीका आना लोक-विरुद्ध पाया जाता है, उसका समाधान करते हैं कि 'जननि पठाई' माताने भेजा है । क्यों भेजा ? गिरिजा पूजन हेतु । (पां०) । वा, (ग) कल अंतिम दिन है, कल स्वयंवर धनुषयज्ञ है । कल पूजनका अवकाश न मिलेगा और स्वयंवर समय गौरी-पूजन कुलका प्रायः नियम था जैसे रुक्मिणीजीके स्वयंवरमें भी हुआ है; यथा 'पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवयात्रा यस्यां बहिर्नवबधूर्गिरिजामुपेयात् । भा० १०।५२।४२ ।' (व्याहके एक दिन पहिले कुलदेवीकी यात्रा होती है जिसमें वधू बाहर गिरिजा पूजनके लिये जाती है) । अतः माताने भेजा कि गौरीजीका पूजनकर अपने अनुरूप वर माँग आओ । (मा० त० वि०) । वा, (घ) जिस कन्याके विवाहमें कठिनता होती है उसमें भगवती पूजनकी परम्परा है, यथा 'कात्यायनि महाभागे महायोगिन्य धीश्वरि । नंदगोपसुतं देवि पति मे कुरु ते नमः । इति मन्त्रेण ।' अतः भेजा । (मा० त० वि०) । वा, (ङ) श्रीसीताजी सदा पूजा करती थीं, आज अंतिम दिन है और धनुष जिसके तोड़नेकी प्रतिज्ञा स्वयंवरके लिये की गई है वह श्रीशिवजीका है । शिवा उनकी अर्धाङ्गिनी हैं, यदि ये कृपा कर दें तो कामनाकी सिद्धि दुस्तर नहीं । अतः गिरिजापूजनको भेजा कि जो अपना अभीष्ट होगा वह माँग लेंगी । (मा० त० वि०) । अथवा, (च) श्रीसीताजी नित्य नहीं जाती थीं, कभीही कभी माताकी आज्ञासे पूजनकी बहुतसी सामग्री साथमें लेकर गौरी-पूजनके लिये वाटिकामें जाती थीं, यह सत्योपाख्यानका मत है । यथा 'कदाचिद्वाटिकां याति पूजामादायभूयसीम् । पूजनार्थं तु गौर्यास्तु नियुक्ता मातृणां गणैः ।' जब श्रीसुनयनाजी किसी कारणवश स्वयं पूजाके लिये न जा सकती थीं तब श्रीकिशोरीजीको ही भेजा करती थीं, वैसे ही इस समय गिरिजा पूजनहेतु भेजा । (मा० त० वि०) ।

नोट—२ यहाँ यह शंका की जाती है कि "अभी तो सतीजी विद्यमान हैं, वनवासके समय सतीजी को श्रीरामजीके संबंधमें मोह होगा, उसके बहुत हजारों वर्षोंके पश्चात् सती-तनका नाश और गिरिजाजीका जन्म होगा; तब यहाँ 'गिरिजा' कैसे कहते हैं ?" कल्याणके 'शक्ति अंक' में किसी विद्वान्ने लिखा है कि सती-मरण और पार्वती-विवाहकी कथायें आदि सत्ययुग की हैं ।' इस विषयमें पूर्व लिखा जा चुका है । यहाँ यह कहना है कि यह ग्रंथकारका मत नहीं है । उनके मतानुसार तो अभी कदापि सती-मरण हो ही नहीं सकता । हाँ, औरोंका मत भले ही यह हुआ करे । हमारी समझमें तो यह शंका सर्वथा असिद्ध है । क्योंकि गोस्वामीजीने एक ऐसे ही संदेहका समाधान पहले ही लिख दिया है; यथा 'कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि । १०० ।' हमें मानसकी शंकाओंका समाधान प्रायः मानसहीसे कर लेना चाहिए । देवताओंके सब नाम अनादि हैं । यहाँ 'गिरिजा' नाम परोपकारके संबंधसे दिया गया । गिरि परोपकारी होते हैं, यथा 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्ह कै करनी । ७।१२५ ।" अतः उनकी पुत्री क्यों न उपकार करेंगी ? इच्छित वर क्यों न देंगी ? इत्यादि । (पां०) । गिरिजा प्रत्येक कल्पमें होती हैं, यह प्रसिद्ध है । स्थापना गिरिजाकी ही की जाती है क्योंकि शिव-गिरिजाका सदा नित्य संयोग है, यथा 'अजा अनादि शक्ति अविनासिनि । सदा संभु अरधंग निवासिनि । ६८।३ ।' गिरिजा पुत्रवती हैं - ये सब गुण सतीमें नहीं है । इसीसे 'सती' की स्थापना नहीं की गई, प्रत्युत गिरिजाजीकी की । (पं० रामकुमार) । अथवा, श्रीसीताजी कुँआरी हैं, इसलिये इस प्रसंगमें 'गिरिजा' 'गौरी' नाम दिये गए क्योंकि ये शब्द भी प्रायः कुँआरीके सूचक हैं । जब सीताजी अपने हृदयमें श्रीरामजीकी साँवली मूर्तिको बसाकर दूसरी बार गिरिजाजीके समीप बर माँगने जायँगी तब वहाँ 'भवानी' नाम देंगे अर्थात् भवकी पत्नी कहेंगे । विशेष २३५ (५) में देखिए । (स्मरण रहे कि जब एक कल्पके भीतर चौदह मन्वन्तर होते हैं और प्रत्येक मन्व-

न्तरमें नये देवता इंद्र मनु ऋषि आदि होते हैं। इस प्रकार न जाने कितनी गिरिजा, कितने गणेश, गौरी आदि पूर्व हो चुके हैं। अतः शंका व्यर्थ है।) संत श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि यहाँ 'गिरिजा' शब्दसे केवल अवतारी गिरिजा अभिप्रेत हैं। विशेष २२८ (४) नोट १ देखिए।

संग सखी सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी ॥३॥

अर्थ—संगमें सखियाँ हैं। सब (सखियाँ) सुन्दरी और सयानी हैं, मनोहरवाणीसे सुन्दर गीत गा रही हैं ॥ ३ ॥

श्रीराजारामशरण—यहाँका शब्द-गुण भी विचारणीय है। एकसे ध्वनिवाले शब्द और अनुप्रासवाले शब्दोंके समूह तथा जोड़े बड़े ही सुन्दर हैं, ख़ासकर 'संग सखी सब सुभग सयानी' में मानों ऐसी पराबंदी है कि मानों कुयोग्य कोई है ही नहीं। रंगमंचपर गीत गाती हुई सुन्दर सखियोंके परे (समूह) का आना कितना चित्ताकर्षक है। नाटकीकलामें इस Chorus कोरस सामुहिक गान) का आनन्द बड़ा ही सुन्दर है। 'संग सखी०' से साफ़ उन कल्पनाओंका निषेध हो जाता है। जिनसे 'सँठगठी' मुलाक़ातकी ओर संकेत हो सके।

टिप्पणी—१ (क) 'संग सखी' इति। श्रीसीताजीके साथ सखियाँमात्र हैं, कोई रक्षक सुभट इत्यादि नहीं हैं और पुरके बाहर देशदेशके अनेक राजा टिके हुए हैं; यथा 'पुरबाहर सर सरित समीपा। उतरे जहँ तहँ बिपुल महीपा।' इससे स्पष्ट है कि यह राजबाग शहर (वा शहरपनाह) के भीतर है। क्योंकि यदि शहरके बाहर होता तो श्रीजानकीजीकी रक्षाके लिये संगमें सुभटोंकी सेना अवश्य जाती; जैसे रुक्मिणीजीके संबंधमें रक्षकोंका जाना कहा गया है। (ख) 'सब सुभग' इति। सखियोंकी सुन्दरता आगे लिखते हैं, यथा 'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।' यहां सखियां छबिगृह हैं, यथा 'सखिन मध्य सिय सोहति कैसी। छबिगन मध्य महाछबि जैसी।' (ग) 'सब सयानी' इति। सब सखियाँ सयानी हैं, यह बात आगे स्पष्ट की है। यथा 'सुनि हरषीं सब सखीं सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी। २२६।३।' धरि धीरज एक आलि सयानी। सीता सन बोली गहि पानी। २३४।१।' इत्यादि। पुनः, (घ) 'सुभग सयानी' का भाव कि शरीरसे सुभग (सुंदर) हैं और बुद्धिकी 'सयानी' (चतुर) हैं। सुन्दरताकी शोभा बुद्धिसे है। इसीसे 'सुभग' और 'सयानी' दोनों गुण कहे। यथा 'जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बुलाइ। चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ। २४६।', 'बनिता पुरुष सुंदर चतुर छबि देखि मुनि मन मोहहीं', 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार। २६३।' (ङ) अथवा, 'सुभग' पद देकर 'सुभगा' आदि सब सयानी सखियोंका संगमें होना जनाया। पुनः, सुभग = सुन्दर ऐश्वर्यसे युक्त। 'सयानी' से डीलडौल और अवस्थामें भी बड़ी सूचित किया। (मा० त० वि०)]

२ (क) 'गावहिं गीत मनोहर बानी' इति। 'मनोहर' देहलीदीपक है। मनोहर गीत मनोहर वाणीसे गाती हैं। ये गीत गिरिजापूजनसंबंधी हैं। [मनोहर = सुन्दर; मनको हर लेनेवाली। मुख्यार्थ यही है। परंतु, यह अर्थ भी ध्वनित होता है, 'मानो हर वानी' = मानों सरस्वती (के भी मन) को मोहित कर लेती हैं (अपने सुन्दर गीतसे)। (पांड़ेजी)। वा, मानों हर और वाणी ही हैं जो गारहे हैं। (गिरिजाके प्रसन्नार्थ)। यथा 'गावहिं जनु बहु बेष भारती। ३४५।६।' वा, (मानों) वाणीही मनोहर गीत गारही है। (पांड़ेजी)। अथवा, श्रीरघुबीर धीरके मनको हरनेवाली वाणीमें अर्थात् मालकौस रागमें मध्यम स्वरसे सुहागबर्धक गीत गाती हैं। (वै०)]

नोट—१ सखियोंके नामोंके संबंधमें पूर्व कुछ लिखा जा चुका है। बैजनाथजीका मत है कि श्रीचारुशीलाजी हाथमें सोनेकी झारी, लक्ष्मणाजी अर्घ्यपाद्यपात्र, हेमाजी हेमथालमें गंध-फूल-पात्र, क्षेमाजी धूप दीपदानी, बरारोहाजी मधुपर्क, पद्मगंधाजी फूलमाला, सुलोचनाजी छत्र और श्रीसुभगाजी चामर लिये हुए साथ हैं।

श्रीअगस्त्यसंहिता अध्याय ४६ श्लोक ५ से २८ में क्रमशः श्रीचारुशीलाजी, श्रीलक्ष्मणाजी, श्रीहेमाजी, श्रीक्षेमाजी, श्रीवरारोहाजी, श्रीपद्मगंधाजी, श्रीसुलोचनाजी और श्रीसुभगाजी इन अष्ट सखियोंके माता पिता के नाम, जन्मकी तिथि, नाम और गुण तथा सेवाका उल्लेख करके अंतमें यह श्लोक दिया है "अष्टाविति सख्यो मुख्या जानक्याः करुणानिधेः । एतेषामपि सर्वेषां चारुशीला महत्तमा । २८ ।" अर्थात् ये श्रीजानकीजीकी मुख्य अष्ट सखियाँ हैं । इन सबोंमें श्रीचारुशीलाजी प्रधान हैं ।

श्रीसाकेतरहस्यमें भी यही नाम दिये हैं । केवल क्रम दूसरा है । श्रीरामरसायन ग्रंथ विधान ३ विभाग ११ में सखियोंके नाम भिन्न हैं और इस प्रकार हैं—"जनकलली प्रगटी जबै जनकनगरमें आय । जनम लियो मिथिला तबै सकल सखी समुदाय ।।२६।। यथायोग निमिकुल सदन लखि निज रुचि अनुसार । सुरी किन्नरी आदि बहु भईं नरी सुविचार ।। ३० ।। ते सिय संग विनोदिनी वय गुण रूप समान । बालसखी हैं आठ वर प्यारी परम प्रधान ।। ३१ ।। चन्द्रकला उर्वशी सहोद्रा कमला बिमला मानौ । चन्द्रमुखी मेनका सुरम्भा आठ मुख्य ये जानौ । प्यारी सखी विदेहसुता की बालसंगिनी सोहैं ।...३२ । सप्त सप्त यूथेश्वरी इक इक सखि स्वाधीन । हैं सहस्रयूथेश्वरी प्रति अनुचरी प्रवीन । ३३ ।" (रामरसायनमें किस ग्रंथसे यह लिया गया है, इसका पता नहीं है । किसी टीकाकारने सखियोंके नामके संबंधमें विशेष प्रकाश नहीं डाला है । जहाँ तक खोजसे मिला लिखा गया) ।

सर समीप गिरिजागृह सोहा । बरनि न जाइ देखि मनु मोहा ।। ४ ।।

अर्थ—सरके समीप गिरिजामंदिर शोभित हो रहा है, वर्णन करते नहीं बनता, देखकर मन मोहित हो जाता है ।। ४ ।।

श्रीलमगोड़ाजी—१ ताजगंजके रौजेका भी यही क्रम है । हम पहिले देख चुके हैं कि मुग़लदरबारके शिल्पकार इस वर्णनसे संभवतः अवश्य प्रभावित थे । अंतर केवल यह है कि—(क) ताजमें नदीके संबंधसे सरोवर छोटा है, जिसमें नदी जैसे जलाशयका आकर्षण कम न हो । (ख) ताजका बाग़ छोटा है और यहाँका बाग़ पार्कसा है । २—ताजकी शिल्पकला Indosara Senic मुसलमानी और भारती कलाओंका सम्मिश्रणही मानी जाती है ।

*** सर समीप गिरिजागृह सोहा ***

प्रायः जलाशयके पासही देवमंदिर बनाये जाते हैं, यथा 'दीख जाइ उपबन बर सर बिगसित बहु कंज । मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तपपुंज । ४ । २४ ।', 'तीर तीर देवन्ह के मंदिर । चहुँ दिसि तिन्ह के उपबन सुंदर । ७.२६ ।' तथा यहाँ 'सर समीप०' । 'सर समीप गिरिजागृह सोहा' इस कथनसे पाया जाता है कि यह तड़ाग दूसरा है इसके समीप गिरिजागृह है । 'बाग तड़ाग बिलोकि प्रभु'–वाले तड़ागके पास गिरिजागृह नहीं कहा गया । वह तड़ाग फुलवारीके मध्यमें है—'मध्य बाग सर सोह सुहावा' (इतना मात्र कहा गया) । और यह सर फुलवारीके बाहर (उस फुलवारी और तालाबसे अलग पर उसी बाग़के अंदर) है, यह इससे भी जाना जाता है कि आगे कवि लिखते हैं—'एक सखी सियसंग बिहाई । गई रही देखन फुलवाई' एवं 'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई' तथा 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' इत्यादि । इन उद्धरणोंसे इस सरका कुछ दूर होना प्रतीत होता है । दूसरे, उस सरोवरके निकट राजकुमार हैं । पुरुषोंके आमदरफ्त आनेजानेकी जगह, श्रीसीताजीका सखियोंसहित स्नान करना अनुचित होगा ।—यह मत श्रीकरुणासिंधुजी, श्रीपांडेजी और श्री पं० रामकुमारजी इत्यादिका है । पं० रामचरणमिश्र इससे सहमत होते हुए लिखते हैं कि 'इसका प्रमाण अगस्त्यसंहिताके उत्तरकांडमें है, यथा 'वैदेहीपवनस्यान्तर्दिश्यै शान्ये मनोहरम् । विशालं सरसस्तीरे गौरीमंदिरमुत्तमम् ॥ वैदेहीवाटिका तत्र नाना पुष्प–सु–गुम्फिता । रचिता मालिकन्याभिस्स-

शोभा ऐसा ही है, यथा 'बापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥ गुंजत मंजु मत्तरस भृंगा। कूजत कल बहु बरन बिहंगा॥ बरन बरन बिकसे बन जाता।''—इस तरह आदि और अन्तके वर्णनसे बीचका वर्णन हो चुका। २—'बरनि न जाइ देखि मन मोहा'। अर्थात् देखतेही बनता है, देखने वालेका तो मनही उसे देखकर मोह जाता है, उससे कहते नहीं बनता; तब बिना देखे कौन कह सकता है?

नोट २ यहाँ देखना चारों वक्ताओंका है। महादेवजी और कागभुशुंडीजीने देखा है। याज्ञवल्क्यजी जनकमहाराजके गुरुही हैं और गोस्वामीजी श्रीगुरु-हरि-हर-प्रसादसे दिव्यचक्षु पाए हुए हैं जिससे उनके हस्तामलक अनेक ब्रह्मांड हैं; यथा 'सूझहिं रामचरित मनिमानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन।'—जब ये चारों वर्णन नहीं कर सकते तब और कौन वर्णन करेगा?

३ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'यहाँ शृङ्गाररसमय-युद्धका वर्णन है। इससे दोनों तरफ़ बराबर सामान दिखाते जा रहे हैं, यह कविकी चातुरी है। उधर गुरुकी आज्ञा, इधर माताकी आज्ञा।' उधर बंधु सहित, इधर सखियों सहित।

४ गिरिजामंदिरका नाम 'चिन्तामणि मंदिर' है (रा० प्र०)।

मज्जन करि सर सखिन्ह समेता। गईं मुदित मन गौरि निकेता॥ ५॥

पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा॥ ६॥

अर्थ—(श्रीसीताजी) तालाबमें सखियोंसहित स्नानकर प्रसन्न मनसे गौरीजीके स्थानमें गईं॥ ५॥ विशेष प्रेमसे पूजा की और अपने योग्य सुन्दर बर माँगा॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'मज्जन करि सर' इति। सरमें स्नान करनेका भाव कि यह विधि है कि जिस देवताके पूजनको जाय, उस देवस्थानमें जो जलाशय हो उसे देवतीर्थ समझकर उसमें स्नान करे, अतः स्नान किया*। (ख) 'सखिन्ह समेता' इति। देवमंदिरमें बिना स्नान किये न जाना चाहिए और इन सब सखियोंको श्रीजनकनन्दिनीजूके पासही रहना आवश्यक है, अतएव सबोंन स्नान किया। (ग) 'गईं मुदित मन गौरि निकेता' इति। 'मुदित मन' होजाना स्नानका गुण है, यथा 'मज्जन कीन्ह पंथश्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भएऊ। २।८७।' (घ) मज्जनसे बाह्य शुद्धि और मुदित-मनसे अन्तर-शुद्धि कहते हैं। तात्पर्य कि भीतर-बाहर शुद्ध होकर भगवतीके पास गईं जैसे श्रीरामजी भीतर-बाहर शुद्ध होकर गुरुके पास गए थे,—'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए। २२७।१।' 'सकल शौच' से बाह्य शुद्धि और 'नित्य निबाहि' से अन्तरशुद्धि जनाई। (ङ) 'मुदित मन' से यह भी जनाते हैं कि गौरीपूजनमें बड़ी श्रद्धा है, बड़ा उत्साह है। यही बात आगे कहते भी हैं,—'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा'। [यह मंगलसूचक शकुनभी है—'होइहि काजु मोहि हरष बिसेषी' मनोरथ पूर्ण होगा। 'गौरि-निकेता' का भाव कि जिसका नामही चिन्तामणि मन्दिर है, उसकी स्वामिनी हमारा मनोरथ क्यों न पूर्ण करेंगी। इस विचारसे भी 'मुदित मन' कहा। (रा० प्र०)]

श्रीलमगोड़ाजी—१ कविकी संकेतकला देखिये। सखियाँ साथ हैं, कुछ क्रीड़ा हुई होगी। जिससे सब मुदित मन हो गईं। मलिक मुहम्मदजायसीने पद्मावतिमें जलक्रीड़ाका बहुत विस्तार किया है, परन्तु

* श्रीलमगोड़ाजीका मत है कि ''मज्जनमें मुंह हाथ धोना और मानसिक संकल्पके साथ कुछ जल ऊपर छिड़कना काफ़ी है। पूजा करने जब बड़े घरोंकी स्त्रियाँ जाती हैं तब स्नान घरहीसे करके प्रायः जाती हैं। बाहर स्नान ऐसे समयमें कि जब धनुषयज्ञके कारण चारों ओर समारोह है ठीक नहीं''—(पर यह बाग़ कोटके भीतर है)।

तुलसीके शुद्ध शृङ्गारमें उतनी स्वच्छन्दताकी कल्पना भी न करनी चाहिए। ☞हमारे कविकी शैलीही यह है कि ऐसे विषयोंको, कि जहाँ कुछ भी मर्य्यादा-अवलंघनकी सम्भावना होती है, बहुतही संक्षिप्त रखते हैं, या केवल संकेत कर देते हैं जैसे सुमन्तसे लक्ष्मणवाले क्रोधकी बातचीत।

२ 'निज अनुरूप सुभग बर माँगा' इति। यहाँ बड़ी सुन्दर दोरुखी तसवीर है। 'निज' को 'सौन्दर्य्य-गौरव' के अनुभवके रूपमें पढ़िये, तो 'सुभग' के साथ वह यह बताता है कि इसीके अनुसार सुभग 'बर' की प्रार्थना है। यदि लज्जाभाव (नम्रता) के साथ पढ़िये, तो यह विदित होता है कि उचित से अधिक भगवतीसे नहीं माँग रही हैं। सीता जैसी शीलवान् कन्यामें दूसरा (अर्थात् लज्जा) भावही प्रबल है, मगर 'सुभग' बता रहा है कि पहिला (अर्थात् सौन्दर्य्य गौरव) भावभी गुप्तरूपसे काम कर रहा है। मेरे मित्र और सहकारी 'सेहर' जीका एक पद मुझे इस प्रसंगमें बहुत याद आता है, कारण कि उसमें भी दो विरोधी भावोंका एकीकरण है—'आह यह जोशे मसर्रत यह तक़ाज़ाये खंदा। ज़ोरे लबे हया निगहे नाज़ शरमाई हुई'। प्रार्थनाके शब्दों का जोरके साथ उच्चारण नहीं है, इसीसे कवि अपने शब्दोंमें उसका वर्णन करता है। देवीके सामने शुद्ध हृदयके साथ प्रार्थना अमर्य्यादित कैसे कही जा सकती है? देखिए—'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं।' स्त्रियोंमें लज्जाभाव अधिक है, इससे यहाँ गुप्त प्रार्थना है, फिरभी रामदर्शनके बाद 'जय जय...' वाली स्तुतिमें ज़बान (रसना) भी खुलही गई।

टिप्पणी—२ 'पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा।०' इति। (क) देवता अनुरागसेही प्रसन्न होते हैं, यथा 'भावमिच्छन्ति देवताः', 'सुर साधु चाहत भाव सिंधु कि तोष जल अंजलि दिये'। पूजनकी समस्त सामग्रियोंमें-से अनुरागरूपी सामग्रीको इसीसे अधिक माना गया है। बिना अनुरागके सामग्री कितनी भी क्यों न हो, उस पूजाको देवता स्वीकार नहीं करते,—'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा'। [(ख) अनुराग तो और दिनभी रहता था पर आज अधिक है, यह भी जनाया। "आज अधिक अनुरागसे पूजा करनेका कारण यह है कि धनुष टूटनेकी प्रतिज्ञा एक वर्षकी थी, उसमें अब एकही दिन रहगया है, इससे राजपुत्रीको व्याकुलता हुई, अतएव अधिक अनुरागसे पूजा की।"—(पांड़ेजी)। (ग) 'निज अनुरूप सुभग बर माँगा' इति। बर=पति। इसीसे पति-प्राप्तिका आसिष गौरीजीने दिया है, यथा 'मन जाहि राच्यो मिलिहि सो बर सहज सुंदर सांवरो।' [पांडेजीका मत है कि "यहां 'बर' का अर्थ 'बरदान' श्रेष्ठतर है, क्योंकि 'पति' का अर्थ लें तो लोकमर्य्यादाके विरुद्ध रीति जान पड़ती है"। "सुभग=सुंदर, ऐश्वर्य्यवान्"। लमगोड़ाजीने ठीकही लिखा है कि 'प्रार्थनाका जोरसे उच्चारण नहीं हुआ है। कवि अपने शब्दोंमें उसे वर्णन कर रहा है। यह शुद्ध हृदयकी प्रार्थना अमर्य्यादित नहीं कही जा सकती। पुनः, 'मोर मनोरथ जानहु नीके' जो आगे कहा है वह भी प्रमाण है कि बर मनही मन माँगा गया।]

३ प्रार्थना की तो वरभी अवश्य देना चाहिये था? पर यहाँ गौरीने आसिषा नहीं दी। क्यों? क्योंकि नारदजीका वचन है कि जिसमें सीताजीका मन अनुरक्त होजायगा, रच (रँग) जायगा, जिसे वे चाहेंगी वही वांछित 'वर' उनको मिलेगा, यथा 'नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा'। (यह बात पार्वतीजीको भी मालूम है, इसीसे उन्होंने इस समय वर नहीं दिया, वरंच एक सखीको प्रेरितकर फुलवारीमें भेज दिया कि वह राजकुमारोंको देखकर इनको उनका दर्शन कराके तब यहाँ पुनः ले आवे; ऐसा अनुमान किया जा सकता है। अतएव जब वे फुलवारीमें जाकर श्रीरामजीको देख उनमें अनुरक्त हो, उनको हृदयमें रखकर, उनको मनही मन (वर रूपसे) स्वीकारकर भवानीके मंदिरमें गई तब 'मन जाहि राचेउ' उसी 'बर' की प्राप्तिका आशीर्वाद पार्वतीजीने दिया जिसे सुनकर श्रीजानकीजी मनमें बहुत हर्षित हुई। यथा—'जानि गौरि अनुकूल सियहिय हरष न जाइ कहि'। यदि बिना रामजीके देखे

प्रथमही आसिष देतीं' कि तुमको रामजी मिलेंगे तो श्रीसीताजीको इतना हर्ष न होता। क्योंकि (माधुर्य्यमें) वे अभी नहीं जानतीं कि श्रीरामजी कैसे हैं (निज अनुरूप हैं या नहीं)।

एक सखी सिय संगु बिहाई। गई रही देखन फुलवाई ॥ ७ ॥
तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई। प्रेम बिबस सीता पहिं आई ॥ ८ ॥

अर्थ—एक सखी श्रीसीताजीका साथ छोड़कर फुलवाड़ी देखने गई थी ॥ ७ ॥ उसने जाकर दोनों भाइयोंको देखा। प्रेमसे बेबस (विह्वल) होकर वह श्रीसीताजीके पास आई ॥ ८ ॥

नोट—१ कलाका कौशल देखिए कि जाते समय कविने नहीं बताया, नहीं तो हमारा ध्यान बट जाता। और, न बतानेका कैसा सुन्दर कारण दिया है कि 'सिय संग बिहाई'; उसे फुलवारी देखनेकी सूझी थी, वह चुपकेसे ही खिसक गई होगी। गानके उमंगमें वहाँ किसीने ध्यान न दिया होगा। (लमगोड़ाजी)। चुपके खिसक गई, इसीसे वहाँ कवि भी चुप साध गए, जब प्रेममें विह्वल हो सामने आई तब जाना कि कहीं गई थी, इसीसे तब आपने भी प्रगट किया।)

देखिये श्रीसीताजी जनक जैसे योगिराजकी कन्या हैं, इससे शान्तरस प्रधान है। कवि पहिले 'बूय गुल' (पुष्पकी सुगंध), कैसी सुन्दर युक्तिसे पहुँचाता है कि उससे बसी हुई सखीको लाकर उत्कंठा उत्पन्न करेगा। 'बासने' के लिये ऐसी ही सखीकी आवश्यकता थी जिसे फुलवारी देखनेमें पूजासे अधिक रुचि हो; अर्थात् जिसे शृङ्गाररस प्रिय हो। हलकी चीज़ बस जाती है जैसे कत्था, मगर पत्थर नहीं बासा जा सकता। (लमगोड़ाजी)।

२ 'एक सखी सिय संग बिहाई' इति। 'एक' कहकर जनाया कि शेष सब सखियाँ श्रीकिशोरीजीके साथ मंदिरमें हैं। पांड़ेजीका मत है कि 'एक' से जनाया कि यह सबमें प्रधान है। प्रधान होकर साथ छोड़कर चली जाय, यह तो माना नहीं जा सकता। अतएव यह निश्चय है कि वह भूलसे या अपने मनसे राजकुमारीको छोड़कर कभी न गई होगी। सब सखियाँ सयानी हैं, सयानी ऐसा कदापि नहीं कर सकती। इससे जान पड़ता है कि इसको सदा ही से यह आज्ञा है, यही इसका काम है कि वह जाकर देख लिया करे कि वहाँ कोई पुरुष तो नहीं है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि (१) सखी सयानी है; इसीसे अवकाश पाकर गई। जब श्रीसीताजी सखियों सहित स्नान करके मंदिरमें गईं, तब यह जानकर कि अब इनके साथ रहनेकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं है, पूजा करानेके लिये बहुत सखियाँ संगमें हैं ही, फुलवारी देखने गई कि देखें वहाँ कोई है तो नहीं; कदाचित् श्रीजनककिशोरीजी वाटिका देखनेकी इच्छा करें तो उनको उधर ले चलना होगा। अथवा, (२) जैसे जानकीजी यहाँ विधिवश, दैवयोगसे आईं, वैसे ही यह सखी भी दैवयोगसे फुलवारी देखने गई जिसमें श्रीरामजीको देखकर यह श्रीजानकीजीको ले आवे। अथवा, (३) यह फुलवारी देखने ही योग्य है। सबको इसके देखनेकी इच्छा होती है अर्थात् बहुत सुन्दर है—'परम रम्य आराम यह'। अतः देखने गई।

पूर्व सखियोंको 'सयानी' कहा था। अब यहाँ सयानपना दिखाते हैं कि वह साथ छोड़कर फुलवारी देखने गई जब सबको मंदिरमें पहुँचा दिया कि जबतक ये पूजा करेंगी तबतक मैं देखकर लौट आऊँगी। देखने क्यों गई? इस पर और भी अनेक अनुमान लोगोंने किए हैं जैसे कि—(१) जिधर फलफूलादि अधिक सुन्दर हों उधर राजकिशोरीको ले चलूँ। (२) यदि कोई पुरुष वहाँ हो तो उसे बाहर करा दें। (३) नारदजीने फुलवारीमें प्रिया-प्रीतमकी भेंट होना पूर्व ही कह रक्खा था और आज अंतिम दिन है,

अवश्य आज भेंट होनी चाहिए, यह सोच-समझकर राजकुमारोंका पता लेने आई कि आये तो नहीं हैं। (मा० त० वि०) । वा, फूलवाटिकामें इनका आना सुना है अतः देखने गई। (पांडेजी); इत्यादि।

पुरुषोंको देखा तो निकाला क्यों नहीं ? इसका कारण कह आए हैं कि वह तो स्वयं विह्वल हो गई, कहता कौन और क्या ? और यदि उन्हींकी खोज थी तब तो वह अपनी ही निधि हैं, जिसकी तलाश थी वह स्वयं ही आ मिला।

नोट - ३ "एक सखी" इति। यह सखी कौन है, इसमें मतभेद है। सत्योपाख्यानके "तत्राहं च भविष्यामि नाम्ना सीता च भूतलात्। तत्र त्वं सुभगा नाम्ना सखीत्वं मे प्रजास्यसि।" इस आधार पर इसका नाम सुभगा कहा जाता है। रास-समय महारानीका मान होने पर श्रीसुभगाजीने ही दूतीका काम किया है— 'श्रुत्वा वाक्यं तु सीताया जहास सुभगा सखी। सत्योपा० उत्तरार्ध २५।२२।' मा० त० वि०, बैजनाथजी और पं० रामकुमारजी का यह मत है। अथवा, 'एक' सखीसे श्रीचारुशीलाजीका संकेत है। क्योंकि ये श्रीसीतारामरहस्यकी जाननेवाली हैं। प्रिया-प्रीतमका मानसी स्वयंवर द्वारा मनोविलासका परस्पर संयोग कर देनेका काम इन्हींका है। (मा०त०वि०), इत्यादि। मा० त० वि० कार, रा० च० मिश्र और बैजनाथजीने प्रमाण भी दिये हैं। दो एक ने अपनी श्रृङ्गाराचार्याको ही यह सखी कहा है पर कोई प्रमाण नहीं दिया है।

टिप्पणी—१ 'तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई।' इति। (क) दोनों भाइयोंको देखा; इससे पाया गया कि दोनों भाई एक ही जगह फूल तोड़ रहे थे, क्योंकि यदि वे अलग-अलग होते तो सघन बागमें एक ही को देखती, दोनोंको न देख सकती। (ख) 'जाई' का भाव कि बाग बहुत सघन है। जब समीप गईं तब दर्शन हुआ। [वा 'जाई'=फुलवारीमें जाकर। संग छोड़ फुलवारीमें गई, वहाँ जाकर देखा।] (ग) प्रेम बिबस= प्रेमके विशेष वश होकर। ☞ रामरूपके दर्शनसे प्रेमकी उत्पत्ति होती है; यथा 'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता।०' (जनकादि), 'देखि राम छबि अति अनुरागीं। प्रेम बिबस पुनि पुनि पग लागीं।', 'भए बिदेह०', 'देखत रघुनायक ' 'अति प्रेम अधीरा ' (अहल्या), इत्यादि। प्रेम-विवशताकी दशा आगे कवि स्वयं लिखते हैं। (घ) 'सीता पहिं आई' इति। श्रीसीताजीको छोड़कर गई थी, इसीसे उन्हींके पास आई। अपना आनन्द उनसे कहनेके लिये आई। ☞ प्रेममें विह्वल हो गई है, तब भी लौटकर सीताजीके पास पहुँच गई [कि यह अपूर्व दर्शन उनको भी करावें। "यह सुख विशेष, यह अपूर्व पदार्थ उन्हींके भोग करने योग्य है"। ☞ भगवद्भक्त उत्तम-उत्तम वस्तु सदा अपने उपास्यदेवके लिये ही रख देते हैं, स्वयं ही उसे नहीं भोग करते।]—इससे इस सखीकी धीरता और सावधानता पाई जाती है। कारण कि जो प्रेमके वश हो जाते हैं उनको अपनी देहकी खबर नहीं रह जाती, वे कुछ काम नहीं कर सकते। यथा 'देखि भानुकुल-भूषनहिं बिसरा सखिन्ह अपान।०', 'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी। २१५।८।', 'जाइ समीप राम-छबि देखी। रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी। २६४।४।' और यह सखी उनको देखकर तुरत लौट आई।

☞ लमगोड़ाजी—कविकी संकेतकला देखिये। जहाँ ऐसी श्रृङ्गारप्रिय सखीमें इतनी मर्यादा है, वहाँके श्रेष्ठ श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंकी मर्यादाका क्या कहना!

श्रीराजारामशरणजी—'दोउ'। 'उ' का संकेत कितना सुन्दर है। जनकपुर-भ्रमण कितना सार्थक हो गया है। राजकुँवर अब वहाँ अपरिचित व्यक्तियाँ नहीं हैं जैसा कि 'बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू' से और भी स्पष्ट हो जायगा।

दोहा—तासु दसा देखी सखिन्ह पुलक गात जल नयन।
कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन॥ २२८॥

अर्थ—उसकी दशा सखियोंने देखी कि अंगोंमें पुलकावली हो रही है, नेत्रोंमें जल है। सब कोमल वाणीसे पूछ रही हैं कि अपने आनन्दका कारण कह ॥ २२८ ॥

श्रीराजारामशरणजी—१ फारसीके मसले 'सूरत बबीं हालम मपुर्स' (सूरत देख ले मेरा हाल न पूछ) का कैसा अच्छा नमूना है? भावचित्रण कितना सुन्दर और सूक्ष्म है? २—"सब" शब्द बता रहा है कि सभीको उत्कंठा है, सब एक साथ पूछती हैं। रंगमंच पर एक साथ पूछनेके चौंका देनेवाले प्रभावको बिचार कीजिये, दर्शक भी उत्कंठित हो जाते हैं। नाटकीयकला कितनी उत्तम है?

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि यह प्रेमकी बारह दशाओंमेंसे पहली 'उग्र' दशा है। प्रभुको देखते ही प्रेमानंदमें डूब गई और किसी बातकी सुधि न रह गई।

टिप्पणी—१ प्रथम कहा कि सखी 'प्रेमविवश' है, अब प्रेमकी दशा कहते हैं, कि 'पुलकगात जल नयन' है, सब पूछती हैं, इससे पाया गया कि उसके मुखसे वचन नहीं निकलता। यदि वह बोल सकती होती तो एकहीके पूछनेसे कहती, सबोंको पूछना ही क्यों पड़ता? मुहँसे वचनका न निकलना भी प्रेमकी दशा है। यथा 'अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही' (अहल्या १।२११), 'पुलकित तन मुख आव न बचना' (श्रीहनुमानजी ४।२), 'प्रेम बिबस मुख आव न बानी', इत्यादि। 'देखी सखिन्ह' और 'पूछहिं सब' से जनाया कि सीताजी पूजामें दत्तचित्त थीं, उन्होंने उसकी अवस्था नहीं देखी।

२ 'पूछहिं सब मृदु बयन' इति। सबकी सब पूछती हैं, यह स्त्रीस्वभाव है। प्रेमकी दशामें 'पुलक गात जल नयन' कहा, वचन नहीं निकलता यह नहीं कहा; क्योंकि यह दशा 'सब पूछहिं' के भीतर आजाती है; इतनहीमें आशयसे सब समझ सकते हैं। (पूछनेका प्रयोजन श्रीसीताजीका ध्यान आकर्षण करनेके लिये भी है)।

३ 'मृदु बयन' इति। कोमल वाणीसे पूछनेके कारण ये हैं—(क) प्रेममें कठोर वचन बोलनेसे हृदयपर बड़ा आघात पहुँचता है जिससे मृत्यु हो जानेकी संभावना होती है। वा, (ख) प्रेमकी नवीं दशा पहुँच गई है, कठोर बचनोंसे दशवीं दशा मृत्यु हो जाती। वा, (ग) मनका भेद लेना है। मीठे कोमल वचन बोले जिसमें अपने हर्षका कारण कहे, नहीं तो वह क्यों कहने लगी? वा, [(घ) जिसमें सीताजी न सुनें, नहीं तो इसकी दशा देखकर वे घबरा जायँगी। वा, (ङ) श्रीसीताजी श्रीगौरीजीके ध्यानमें हैं, उनके ध्यानमें विघ्न न पड़े। वा, (च) उसकी दशा देख सभी प्रेमसे विह्वल होगई हैं, इससे सबका बोल नर्म पड़ गया है। (पाँड़ेजी)। (छ) कठोर बोलनेसे कोई साधारण बात भी नहीं कहता फिर अपने अन्तःकरणका हर्ष क्यों कहने लगा। (रा० प्र०)]

नोट—२ इस दोहेमें हर्षकी पहिचानके लिए केवल दो चिह्न बताये गए हैं, एक तो 'पुलकगात' दूसरा 'जल नयन'। और ये दोना दुःख और भय आदिमें प्रायः होते हैं, सुखमें बिरलेहीको होते हैं, फिर सखि-समाजने इन चिह्नोंसे हर्षही क्यों साबित किया" इस प्रश्नको उठाकर पं० रा० च० मिश्र उसका उत्तर यह देते हैं कि 'दुःखमें करुणरस प्रधान है। अतः उसमें आँसू ऊष्ण, पुलकमें त्वचा सिकुड़ी और साथही बिषादादिक चिह्न होते हैं। और हर्षमें अद्‌भुतरस प्रधान है जिसमें आँसू शीतल, रोमांचमें त्वचाका फुलाव और तनाव और साथही नेत्र और मुखमें विकासादि हर्षके चिह्न होते हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। यह सखी अद्‌भुतरससे भरे शृंगार रसमें लीन होकर मतवाली है।" (इससे भी 'सयानी' विशेषण चरितार्थ हो रहा है)।

देखन बागु कुँअर दुइ १ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए ॥१॥

---

१ दोउ—को० रा०।

स्याम गौर किमि कहउँ बखानी । गिरा अनयन नयन बिनु बानी ॥२॥

अर्थ—दो (राज) कुँवर बाग़ देखने आए हैं । किशोर अवस्था है । सब प्रकारसे सुंदर सुहावने हैं ॥ १ ॥ एक साँवले हैं और एक गोरे । कैसे (उनका) बखानकर कहूँ ? (क्योंकि) वाणीके नेत्र नहीं हैं और नेत्रकेवाणी नहीं है ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'देखन बाग' । बाग़में देख आई है इसीसे कहती है कि बाग़ देखने आए हैं । [फूल उतारना न कहा क्योंकि सयानी है । ऐसा कहनेसे संभावना थी कि वे समझतीं कि कोई मालीके लड़के हैं जिससे उनके दर्शनकी उत्कंठा न होती । अतएव उत्कंठा बढ़ानेके लिये 'देखन बाग' कहा (पाँड़ेजी) । संभव है कि जिस समय उनपर दृष्टि पड़ी उस समय फूल न तोड़ रहे हों क्योंकि फूल भी तो घूमफिरकर उतारे जाते हैं । अथवा, वह तो माधुरी मूर्तिही देखकर मुग्ध होगई है, रूप छोड़ दूसरी ओर उसका ध्यानही कब जा सकता था ?] राजकुमार बाग़की सैर करते ही हैं, उनको फुलवारी देखना ही चाहिये, वे बाग़में जाकर फूल भी तोड़ें तो यह नहीं कहा जायगा कि फूल तोड़ने आए, बाग़ देखना ही कहा जायगा । बाग़की सैर राजाओंका स्वभाव है; यथा 'तेहि अवसर आए दोउ भाई । गए रहे देखन फुलवाई । २१४।४ ।', 'सुंदर उपबन देखन गए । ७।३२ ।' तथा यहाँ कहती है कि 'देखन बाग०' ।

नोट—१ नाटकीय कलामें अंदाज़ा (अटकल) और वास्तविकताका अंतर बहुतही सुंदर होता है । भाव-निरीक्षणमें इसीको नाटकीय सत्व कहते हैं । सच है, सखी कैसे अंदाज़ा कर सकती थी कि राजकुमार फूल तोड़ने आये होंगे, वह तो बाग़की सैरही कारण समझती है । (श्रीलमगोड़ाजी) ।

टिप्पणी—२ (क) 'कुँअर दुइ आए' इति । 'कुँअर' कुमारहीके लिये प्रयुक्त होता है, चाहे वह कितनाही बड़ा क्यों न हो जाय । यहाँ भी 'कुँअर' से राजकुमारही बताती है, उनके रूपसे इसने जान लिया कि ये राजकुमार हैं । राजकुमार कहा जिसमें इनके देखनेकी उत्कंठा श्रीजनककिशोरीजीको हो, राजकुमार न होनेसे वे क्यों देखने जाने लगीं ? फुलवारीमें दोनों भाइयोंको देखा है,—'तेहि दोउ बंधु बिलोके जाई', इसीसे 'कुँअर दुइ आए' कहा । (ख) 'बय किसोर सब भाँति सुहाए' । बिना अवस्था जाने उनके सामने जानेमें संकोच होता कि न जाने उनकी क्या उम्र हो, सयानेको देखकर लज्जा आती है । अतएव अवस्था भी कहती है । (ग) 'सब भाँति सुहाए' अर्थात् भूषण, वस्त्र, लक्षण, अवस्था, शरीर, वर्ण, शोभा, तेज, सुकुमारता इत्यादि सब प्रकारसे सुन्दर हैं । [इससे उनको शोभाकी सीमा जनाया । पुनः, संपूर्ण सामुद्रिक उत्तम राज्य लक्षणोंसे संपन्न बताया । (पाँड़ेजी) । ☞इस अर्धालीमें गुप्त रीतिसे श्रीसीताजीके संबंधकी पूर्ण योग्यता सूचित की गई है । भाव यह कि जैसी सियाजू 'सर्वलक्षणसंपन्ना नारीणामुत्तमा ।' (वाल्मी० १।१।२७) हैं वैसेही ये भी 'सर्वगुणोपेतः' (वाल्मी० १।१।१७), सर्वगुणसंपन्न हैं । पूछती क्या हो, चलकर देखो । 'सुहाए' अर्थात् सब अङ्गोंमें क्षण-क्षणपर नवीन शोभा सरसा रही है ।] (घ) 'किमि कहउँ बखानी' इति । किशोरावस्था कही, श्याम गौर वर्ण कहा, शोभा कही कि 'सब भाँति सुहाए' हैं । इतना-मात्र कहकर कहती है कि 'किमि कहौं बखानी' । क्योंकि समय नहीं है । विस्तारसे रूपका वर्णन करनेमें विलंब हो जायगा, इतनेमें राजकुमार फूल लेकर चले न जायँ ।

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' इति ।—

"जो आँखों देखा जाता है वह जिह्वासे यथार्थ कहा जाता है । यदि वाणीके नेत्र होंगे तो वह (वाणी) वही कहेगी जो उसने देखा है और यदि नेत्रोंको वाणी भी हो जाय तो नेत्र देखकर वाणीसे वही कहेंगे, तब फिर 'गिरा अनयन' और 'नयन बिनु बानी' दोनों क्यों कहा ? पुनः, जब वाणीके नेत्र होंगे तब वह और कुछ न कहेगी, जो नेत्रसे देखा है वही कहेगी, यह कैसे ?"

पं० रामकुमारजी इस शंकाका समाधान यह करते हैं कि—(१) यह कथन सहेतुक है। यह सखीकी चतुराई है। श्रीजानकीजीकी उत्कंठा बढ़ानेके लिये उसने इस युक्तिसे शोभा कही, जैसा कि आगेके 'सुनि हरषीं सब सखी सयानी। सिय हिय अति उत्कंठा जानी।' इससे स्पष्ट है। [(२) धर्मव्याधके प्रसंगमें वाराहपुराणमें इसी अर्थके शब्द आये हैं। धर्मव्याधकी परीक्षाके लिये इंद्र व्याधा बने और अग्निको वराह बनाया। वाराह धर्मव्याधके सामनेसे निकल गया, तब व्याधारूपधारी इन्द्र उनके पास आकर खड़ा हो गया और उनसे पूछा कि तुमने हमारा शिकार देखा है? उन्होंने विचार किया कि यदि बताते हैं तो हिंसा होती है और यदि कहें कि नहीं देखा है तो असत्यजनित पाप होता है। यह विचारकर उन्होंने इसी युक्तिसे अपने धर्मकी रक्षा की। वे बोले] कि "दृष्टु चक्षुर्निहतं जंगमेषु जिह्वा वक्तं मृगयो तद्विसृष्टम्। चक्षुर्दृष्टं नास्ति जिह्वे ह वक्तुं जिह्वाया स्यात्वक्तियैर्नास्ति चक्षुः।" इतिवाराहपुराणे धर्मव्याधप्रसंगे ॥❀ (३) सखियाँ पूछती हैं कि 'कहु कारन निज हरष कर' इसीसे वह प्रथम यही कहती है कि 'गिरा अनयन' है। इस कथनसे पाया जाता कि इसने दोनों राजकुमारोंको आँखों नहीं देखा है किसीसे उनकी शोभा सुनी है, अतएव इस संदेहके निवारणार्थ फिर यह भी कहा कि 'नयन बिनु बानी' है। तात्पर्य्य कि नेत्रोंने देखा है पर वे कह नहीं सकते। जिसकी वाणीमें नेत्र हों और नेत्रोंमें वाणी (वाक्शक्ति) हो वही यथार्थ कह सकता है।

नोट २ श्रीरामजीके रूप-सौंदर्य्यादि अपार और अकथनीय हैं। 'किमि कहौं बखानी' अर्थात् क्या कहूँ, देखनेही योग्य हैं, देखतेही बनै है। शोभा अकथनीय है। वर्णन न कर सकनेका कारण ऐसी उत्तम रीतिसे समर्थन करनेमें 'काव्यलिङ्ग अलंकार' है। भुशुंडीजीने भी शोभाके बारेमें ऐसाही कहा है, यथा 'प्रभु सोभा सुख जानहिं नयना। कहि किमि सकहिं तिन्हहिं नहिं बयना। ७।८८।' सूर भ्रमर गीतसारमें भी ऐसाही वर्णन आया है। यथा 'अलि हो कैसे कहौं हरिके रूप रसहि। मेरे तनमें भेद बहुत बिधि रसना न जानै नयनकी दसहि॥ जिन्ह देखे ते आहिं बचन बिनु जिन्है बचन दरसन न तिसहि। बिनु बानी भरि उमगि प्रेम जल सुमिरि वा सगुन जसहि॥ बार बार पछितात यहै मन कहा करै जो बिधि न बसहि। सूरदास अंगन की यह गति को समुझावै पाछ पद पसुहिं।'

३ 'स्याम गौर ··· बानी'। भाव यह कि "अवस्थातक तो कहना बनता है जैसा कह चुकी कि 'बय किसोर सब भाँति सुहाए'। पर श्याम गौर मैं कैसे कह सकती हूँ। क्योंकि गिराके समान अदृश्यरूप है और नयनका निःशब्दरूप है। अथवा, गिरा भी अनयन हो रही है अर्थात् अदृश्य दशामें प्राप्त है एवं नयन निःशब्दभावमें प्राप्त हैं।" (मा० त० वि०)।

वि० त्रि०—भाव यह है कि सखी प्रेमसे शिथिल है। उसकी ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियका सम्बंध भी शिथिल हो गया है। उसे स्पष्ट अनुभव हो रहा है कि आँखोंने देखा है, उनमें यदि प्रकाश करनेकी शक्ति होती तो संभव है कि उस शोभाको व्यक्त कर सकतीं।···

बैजनाथजी लिखते हैं कि "मन और चित्त वाणीके नेत्र हैं और सुबुद्धि वाणीका नेत्र है। जब नेत्र कोई पदार्थ देखते हैं तब बुद्धि उसकी उपमानादि कल्पित करती है और वाणी मन-चित्तरूपी नेत्रोंसे देखकर वर्णन करती है। पर मेरी बुद्धि तो राजकुमारोंको देखतेही भोरी होगई, इससे नेत्र बिना वाणीके हो

❀ यह श्लोक अशुद्ध है। वाराह पु० इस समय पास न होनेसे शुद्ध श्लोक नहीं दिया जा सकता। एक श्लोक इसी आशयका देवीभागवतमें व्याध और सत्यव्रतके आख्यानमें 'ऐं' बीजकी उत्पत्तिके प्रसङ्गपर भी है। यथा "या पश्यति न सा ब्रूते, सा ब्रूते या न पश्यति। अहो व्याध स्वकार्यार्थिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः।" (पं० कालीप्रसादजी शास्त्री संस्कृतम् सम्पादक)।

गए। पुनः मोहनी डालकर मन हर लिया और चितवनके कटाक्षसे चित्त चुरा लिया, इससे वाणी बिना नेत्रके हो गई। अतएव उन श्याम-गौरकी शोभा कैसे कहूँ ?''

श्रीलमगोड़ाजी—१ देखिए, यहाँ एक ओर तो ह्री जबान बंद करता है और दूसरी ओर सबका पूछना और सखीका स्वयं श्रीसीताजीके पास इसी हेतुसे आना यह चाहता है कि राजकुमारोंका वर्णन किया जाय, इस संघर्षका आनंद लीजिए और कविकी कलाकी सराहना कीजिये।

पहली कोशिशमें 'कुँवर दुइ' निकला। 'दुइ' का संकेत कितना उत्तम है, बहुत शब्द बच जाते हैं। खैर, यहाँ 'देखन बाग कुँअर दुइ आए' इतना तो कह सकी पर जब सौंदर्य्यके वर्णनका उद्योग किया तब मुग्धता भी बढ़ी और नतीजा (फल) यह हुआ कि केवल 'बय किसोर' ही निकला और जबान बन्द होते-होते 'सब भाँति सुहाए' कहकर रहगई। फिर तीसरी बार कोशिश की तो 'श्याम गौर' निकला। बार-बार कोशिशकी निष्फलताके कारण सखी भी सोचने लगी कि आखिर क्यों वर्णन नहीं हो पाता ? मुग्धतावाले प्रेमने कितनी सरल किन्तु कितनी सरस युक्तिसे उत्तर दिया है ? सराहतेही बनता है—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'।

टेनीसनने सच कहा है कि शब्द आन्तरिक सत्त्वको केवल आधापर्धा प्रकट करते हैं और आधा छिपाए रहते हैं। शब्दोंमें क्या प्रकट हुआ ? 'कुँवर दुइ', 'बय किसोर', 'श्याम गौर'। मगर संकेतकला कहती है कि और चाहियेही क्या ? यदि 'ख़त व ख़ाल' का वर्णन होता तो रुचिके अनुसार और कालके अनुसार नया या पुराना होता। और यह संकेतकला सदाही ठीक है।

सुनि हरषीं सब सखीं सयानी। सियहिय अति उतकंठा जानी॥ ३॥

एक कहइ नृपसुत तेइ* आली। सुने जे मुनि संग आए काली॥ ४॥

शब्दार्थ—उत्कंठा=लालसा। आली=सखी। काली=कल (जो बीत गया)।

अर्थ—यह सुनकर और श्रीसीताजीके हृदयमें अत्यंत उत्कंठा (अतिशय प्रबल इच्छा वा लालसा) जानकर सब सयानी सखियाँ हर्षित हुईं॥ ३॥ एक सखी कहने लगी कि 'अरी सखी! ये वही राजकुमार हैं, जिन्हें सुना है कि कल मुनिके साथ आए हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुनि हरषीं सब' इति। पूर्व कहा है कि हर्षका कारण सब पूछ रही हैं, यथा 'कहु कारनु निज हरष कर पूछहिं सब मृदु बयन। २२८।'' जब उसने हर्षका कारण बताया कि मैंने बागमें दो राजकुमार देखे। उनकी शोभा देखकर मुझे हर्ष हुआ, तब इन सबोंको भी हर्ष प्राप्त हुआ। सबने कारण पूछा था, इसीसे कारण सुनकर सभीको हर्ष हुआ। इससे यह सिद्धान्त निकला कि श्रीरामरूपके दर्शन और श्रवण दोनोंसे ही हर्ष होता है। (ख) 'हरषीं सब सखीं सयानी' इति। 'सयानी' विशेषण देकर हर्षका दूसरा कारण 'सयानपन' जनाया; अर्थात् 'सयानी' कहकर जनाया कि सखीकी उत्कंठा बढ़ानेवाली युक्तिको ये सब समझ गईं और यह भी जान गईं कि उसकी युक्तिने अपना काम पूरा पूरा कर दिया, उसकी युक्तिसे श्रीसीताजीके हृदयमें अत्यंत उत्कंठा पैदा हो गई तथा सबको संबंधकी योग्यतापर प्रतीति हो गई। इस तरह चार बातें सबके हर्षका कारण हुईं—(१) राजकुमारोंकी शोभा। (२) सखीकी युक्ति। (३) श्रीसीताजी की उत्कंठा। और (४) संबंधकी योग्यता। विशेष टि० २ (घ, ङ) में देखिए। सयानपन अक्षर-अक्षरमें झलक रहा है। (ग) 'सिय हिय अति उत्कंठा जानी' इति। उत्कंठा जानकर हर्ष हुआ, क्योंकि यदि श्रीसीताजीको उत्कंठा न होती तो सखियोंको भी श्रीरामजीका दर्शन न हो सकता। [अत्यन्त उत्कण्ठाका कारण है। इधर निज अनुरूप सुभग बर श्रीगिरिजाजीसे माँग रही हैं

* सोइ—को० रा०।

और उधर अलौकिक सौन्दर्यवाले राजकुमारके आगमनका समाचार मिल रहा है। अतः यह घटना-संयोग निष्कारण नहीं है। (वि० त्रि०)। स्मरण रहे कि 'सिय' नाम माधुर्यका है, इसीसे उत्कंठा होनेमें तथा पूर्व संग छोड़नेमें (यथा 'एक सखी सिय संग बिहाई') यह नाम दिया गया]। 'अति उत्कंठा' का भाव कि उत्कंठा तो सभी सखियोंको है पर श्रीसियाजूको 'अति' है। अर्थात् और सबोंसे बहुत अधिक है। [पंजाबीजी, वैजनाथजी और रा० प्र० कारका मत है कि अति उत्कंठा जानकर हर्ष होनेका भाव यह है कि एकान्त है इससे यहाँ उस साँवली मूर्तिको भली प्रकार अघाकर देखेंगी और सियाजूको भी दिखावेंगी]

नोट—१ "श्रीजानकीजी अभी अपने भावोंको स्वयं नहीं समझ पातीं। सखियाँ उनके चेहरे (मुख) के रंग (चेष्टा) इत्यादिसेही समझ लेती हैं और बड़ी कोमलतासे उन भावोंको उत्तेजित भी करती हैं और मर्यादित भी रखती हैं। यही उनका 'सयानपन' है। देखिए उनको हर्षही इस कारण हुआ कि उन्होंने श्रीसीताजीके हृदयकी उत्कंठा जान ली।" (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ 'एक कहइ नृपसुत तेइ आली।' इति। (क) जो सखी विह्वल होकर आई थी और जिसने राजकुमारोंकी शोभा कही है, उसीके वचनोंको यह सखी पुष्ट करती है अर्थात् उसकी प्रशंसा करती है। उस सखीने जो कहा था कि 'देखन बाग कुअँर दुइ आए" उसके 'कुअँर' शब्दका अर्थ इसने खोल दिया कि ये वेही 'नृपसुत' अर्थात् राजकुमार हैं। [पुनः, (ख) 'नृपसुत' कहकर गौरव प्रकट किया। राजा लोग नित्य नगरमें धनुषयज्ञके लिये आया करते थे, वैसे ही उनमेंसे इनको भी एक जनाया। (पां०)। पुनः, (ग) 'नरपति' के लड़के हैं, इस कथनसे जनाया कि सत्यही निस्संदेह ये और सब लोगोंसे अच्छे होंगे। 'भूप' शब्दपर जो पूर्व लिखा गया है उसे याद कीजिये। 'भूप बाग' दोहा २२७ (३) में देखिए। (लमगोड़ाजी)। 'तेइ' का संबंध आगे 'जे' से है। (घ)—'आली' इति। 'आली' संबोधनसे स्पष्ट कर दिया कि सखियाँ परस्पर एक दूसरेसे बातें कर रही हैं, क्योंकि सयानी हैं, जानती हैं कि श्रीजानकीजी लज्जावश सकुचाती हैं। ☞ कोमलता विचारिये कि कहना तो श्रीसीताजीसे है किन्तु उनके लज्जाकी मर्यादा रखते हुए एक सखी दूसरी सखीहीको संबोधित करती है। श्रीराजकुमारीसे कहनेसे उनको संकोच होगा।] (ङ) 'सिय हिय अति उतकंठा जानी' यह देहली-दीपक न्यायसे दोनों ओर है। 'हरषीं सब ...सिय हिय उतकंठा जानी' तथा 'अति उतकंठा जानी। एक कहइ'। सयानपन देखिए कि श्रीसीताजी का रुख़ देखकर बात करती है। उनकी उत्कंठा देख राजकुमारोंकी शोभा कहकर तब चलनेकी बात कहेगी।]

३ 'सुने जे मुनि संग आए काली।' इति। (क) 'सुने' से पाया गया कि जब श्रीरघुनाथजी नगर-दर्शनके लिये गए तब श्रीकिशोरीजीकी किसी भी सखीने उनको नहीं देखा, क्योंकि ये सब सखियाँ कोटके भीतरकी हैं, महलमें रहती हैं और कोट नगरसे पृथक् है, यह पूर्वही दिखा आए हैं। (ख) 'जे मुनि संग आए' इति। मुनि विश्वामित्र प्रसिद्ध हैं। इसीसे 'मुनि' ही कहा।—[पुनः, भाव कि 'मुनि तक उनके शृङ्गारके वश हुये, उनके संग-संग फिरते हैं।' (पाँ०); (परन्तु इस भावसे मुनि गौण हो जाते हैं और वस्तुतः 'मुनि संग' से मुनिको मुख्य रक्खा है)। पुनः, 'मुनिके संग आए' कहकर शान्तरस भरे, मर्यादासहित और दर्शनयोग्य जनाया। (पाँ०)। पुनः भाव कि अन्य राजकुमारोंके साथ अनुचर वर्गके अतिरिक्त कोई और विशेष सहायक नहीं है और इनके ऊपर परमपौरुषी, कालीन, त्रिकालज्ञ विश्वामित्रजी सहायक हैं, अतः इनमें विलक्षण अपूर्वताकी कोई ख़ास बात सूचित होती है। (रा० च० मिश्र)। पुनः, इससे यह भी जनाया कि ये देखनेमें तो सुन्दर कोमल हैं पर अतुलित बलशाली हैं, कौशिकजीने इनको धनुषकलामें निपुण कर दिया है, इन्होंने ताड़काका वध और मुनिपत्नी अहल्याका चरणस्पर्शमात्रसे उद्धार किया तथा सुबाहु आदि भारी भटोंका नाशकर मुनियज्ञकी रक्षा की। यथा "एई रामलखन जे मुनि संग आए हैं।...देखत

कोमल कल अतुल बिपुल बल, कौसिक कोदंड-कला कलित सिखाए हैं। २। इन्हहीं ताड़का मारी गौतम की तिय तारी, भारी-भारी भूरि भट रन बिचलाए हैं। रिषि-मख-रखवारे ···। गीतावली १.७२।' अतएव इससे निश्चय है कि ये धनुषको तोड़ेंगे, यथा 'कौसिक कथा एक एकनि सों कहत प्रभाउ जनाइ कै। सीय-राम-संजोग जानियत रच्यो बिरंचि बनाइ कै। गी० १.६८।', 'चाप चढ़ाउब राम, बचन फुर मानिय। ४७। तीनि कालकर ज्ञान कौसिकहिं करतल। सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल। मुनि-महिमा सुनि रानिहिं धीरजु आयउ। तब सुबाहुसूदन-जसु सखिन्ह सुनाएउ। ४८।" (श्रीजानकी मंगल)। ये वचन एक सखीने श्रीसुनयनाजीसे कहे हैं। वही भाव यहाँ भी है। इस तरह 'मुनिसंग' के चरित्रों द्वारा इनको परम बलवान, प्रतापी और तेजस्वी जनाया।] (ग) 'आए काली' इति। इससे मुनिका आगमन-काल निश्चित हो गया कि आजके पूर्व दिन सबेरे कुछ दिन चढ़े अमराईमें आकर ठहरे, श्रीजनकमहाराज-समाचार पातेही दर्शनको गए। और अपने साथ महलमें ले आए। फिर भोजन और विश्राम करके नगरदर्शनको गए। वहाँसे लौटकर संध्या की, फिर कथा हुई और तब शयन हुआ। प्रातःकाल आज फुलवारीमें आए।—यह सब 'आए काली' से कह दिया।

जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी॥ ५॥
बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू। अवसि देखिअहि देखन जोगू॥ ६॥

शब्दार्थ—मोहनी=वशीकरणका मंत्र; लुभानेका प्रभाव। मोहनी डालना=जादू करना; मायाके वश करना। ऐसा प्रभाव डालना कि कोई एकदम मोहित हो जाय। स्वबश=अपने वशमें। जोगू=योग्य।

अर्थ—(और) जिन्होंने अपने रूपकी मोहनी डालकर नगरके (सभी) स्त्री-पुरुषोंको अपने वशमें कर लिया है॥ ५॥ जहाँ-तहाँ सभी लोग उनकी छबिका वर्णन करते हैं। अवश्य देखना चाहिए, वे देखने ही योग्य हैं तथा देखनेका सब योग (उपस्थित) है॥ ६॥

टिप्पणी—१ 'जिन्ह निज रूप मोहनी डारी···' इति। (क) [मोहन और वशीकरण के मंत्र होते हैं जिनका प्रयोग करने से लोग मोहित और वशमें हो जाते हैं। तांत्रिक प्रयोग छः प्रकार के कहे गये हैं, उनमें से 'मोहन' भी एक है। यथा 'मारण मोहन वशकरण उच्चाटन अस्थंभ। आकर्षण सब भांति के पढ़ै सदा करि दंभ।' यहाँ रूपही मोहनमंत्र है। रूपका दर्शन कराना वा दर्शन देना मोहनमंत्रका प्रयोग करना है। और 'कीन्हे स्वबस नगर नर नारी' यही मानो वशीकरण का प्रयोग है] भाव कि मंत्रसे मोहनी डाली जाती है, पर ये अपने रूपसे मोहनी डालते हैं। तात्पर्य कि इनका रूप देखकर सब लोग मोहित हो गए हैं। पुरमें जाकर सबको दर्शन दिया, यही मोहनी डालना है। इन्होंने मोहन और वशीकरण का प्रयोग नहीं किया, पर इनका रूपही ऐसा है कि देखते ही लोग मोहित हो जाते हैं। यथा 'नख-सिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं। गी० १.७१।', 'सकल अंग मनमोहन जोहन लायक। ३३। श्रीजानकीमंगल।' [पांड़ेजी एक भाव यह भी लिखते हैं कि "जिस मोहनी रूपको इन्होंने डाल (अर्थात् फेंक) दिया उसीने सबको स्ववश कर लिया और जिसको प्रसन्नतापूर्वक अपने अंगमें रक्खे हैं उसका तो अन्तही क्या?' वह तो न जाने क्या गज़ब ढा दे!] (ख) 'कीन्हे स्वबस नगर नर नारी' इति। [(१) नगर-नर-नारीका बश करना कहकर जनाया कि येही कल नगर देखने गये थे, इसीसे सारे नगरके स्त्री-पुरुष इन्हें देखकर मोहित हो गये। गए तो देखने ये, किंतु सारा नगर इन्हींको देखने लगा। पुनः, (२) भाव कि जैसी दशा आपके सखीकी हुई—'पुलक गात जल नयन', वैसीही दशा सारे नगरके स्त्रीपुरुषोंकी हो गई है, कुछ एक इसीकी नहीं। यथा 'अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे री। गी० १,७४।', 'राम-लषन-छबि देखि मगन भए पुरजन उर आनंद

जल लोचन प्रेम पुलक तन । ३४ । श्रीजानकीमंगल ।' पुनः, (३) 'नगर नर नारी' का भाव कि मूर्खों को नहीं किन्तु पंडित पंडिता नागरिकोंको वशमें कर लिया । (पां०)। अथवा, (४) मोहनी तो केवल देखनेवालोंको व्यापती है, पर इन्होंने तो सभी स्त्री पुरुषोंको वशीभूत कर लिया, जिन्होंने अभी देखा भी नहीं है, केवल सुनाभर है इससे इनमें वशीकरण भी है । (वै०)। अथवा, (५) 'नर नारी' से जनाया कि जिनको देखना उचित है वे और जिनको उचित नहीं भी है वे भी । (प्र० सं०, पां०)। अथवा, (६) भाव कि सकल नगरके नरोंको नारि-सरिस वशमें कर लिया; आशय यह कि जब पुरुषोंको स्त्री-सरीखा वशमें करलिया तब स्त्रियोंकी तो कथाही क्या है । (रा० प्र०)। वस्तुतः यह मुहावरा है । 'नर नारी' अर्थात् सभीको । भाव कि सब नर नारी वशमें हो गए तब यह बेचारी मोहित हो गई तो आश्चर्य ही क्या ?]

नोट—१ 'बरनत छबि' का भाव कि सब छबि देखकर ऐसे वशीभूत होगये हैं कि शील, स्वभाव आदि गुणोंको छोड़ केवल छबिहीका वर्णन कर रहे हैं, और कुछ बखान करनेका अवसरही नहीं मिलता तात्पर्य कि छबि अपार है, कोई कितना ही कहता है पर पार नहीं पाता ।

२ 'बरनत छबि जहँ तहँ' के भाव—(क) जहँ तहँ अर्थात् जहां और जिधर देखिए वहाँ और उधरही छबिका वर्णन हो रहा है । आशय यह है कि मोहन और वशीकरण तो अभिचार क्रियायें हैं और ये तो शुद्ध-स्वभाव हैं इनका स्वाभाविक ही रूप ऐसा अत्यंत सुन्दर है कि पुरमें जहाँ देखिए छबिका ही वर्णन हो रहा है । (वै०)। (ख) जहाँ कोई छबिका वर्णन करता है वहीं सब एकत्र हो जाते हैं । (रा० च० मिश्र) अर्थात् जिन्होंने देखा नहीं वे अथवा जो मुग्ध होकर मूकसे हो गये हैं, वे सुनते हैं । 'बरनत छबि जहँ, सब लोगू तहँ' ऐसा अन्वय करनेसे यह अर्थ होगा । (ग) छबि जहँ तहँ = जहाँ तहाँकी छबि, तात्पर्य कि इनके सर्वाङ्ग सुठौर हैं । जिसकी दृष्टि जिस अंगपर पड़ी वह उसीको देखता रह गया । अतः कोई सर्वाङ्गकी छबि नहीं कह सकता; जहाँ-तहाँकी ही (अर्थात् कोई मुखकी, कोई नेत्रकी, कोई भ्रूकी, कोई नासिकाकी, कोई कंठकी, इत्यादि) छबि कहता है । (वै०)। (घ) रा० प्र० कार 'बरनत' का पदच्छेद 'बर नत' इस तरह करके एक भाव यह लिखते हैं कि जहाँ-तहाँ जो 'बर' (श्रेष्ठ) छबि वाले सब लोग रहे अर्थात् कामदेव और चन्द्रमा आदि वे सब इनके आगे 'नत' (नम्र) हो गए ।

३ "बरनत छबि...सब लोगू" इति । (क) 'सब लोगू' अर्थात् नगरके सभी निवासी स्त्री और पुरुष जिनको पहले कह आई है—'कीन्हे स्वबस नगर नर नारी' । उन्हींसे यह तात्पर्य है । (ख) सभीका वर्णन करनाही कहकर सूचित करते हैं कि सभी रूपरसमाधुरीमें इतने पगे हुए, ऐसे छके हुए हैं कि सब कहते ही हैं । किसीको यह होश नहीं कि वह किससे कह रहा है, कोई सुनता भी है या नहीं, जैसे नशेमें अपनीही सूझती है । पुनः, (ग) 'सब लोगू' अर्थात् जिनको उचित है एवं जिनको उचित नहीं है वे सभी । तात्पर्य कि पतिव्रता स्त्रियोंको पतिको छोड़ दूसरे पुरुषका वर्णन करना अनुचित है, पर वे भी मुग्ध होकर मर्यादा छोड़कर उनकी छबिका वर्णन कर रही हैं । (पाँ०)। (घ) 'बरनत...सब लोगू', यथा 'ए दोऊ दसरथ के बारे ।...सुखमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे । रोमरोम पर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे । १० ।...कोउ कहै तेज प्रताप पुंज चितए नहि जात भिया रे । छुअत सरासन सलभ जरैगो ये दिनकरबंस-दिया रे । ११ । एक कहै कछु होउ सुफल भये जीवन जनम हमारे । अवलोके भरि नयन आजु तुलसी के प्रान पियारे । १२ । गी० १।६६ ।', 'भूप भवन घर-घर पुर बाहर इहै चरचा रही छाइकै । मगन मनोरथ मोद नारिनर प्रेमबिबस उठैं गाइकै । २ । गी० १।६८ ।', 'रामलषन जब दृष्टि परे री । अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे री ॥ धनुषयज्ञ कमनीय अवनितल कौतुक ही भए आय खरे री । छबि सुर सभा मनहु मनसिज के कलित कलपतरु रूख फरे री । सकल काम बरषत मुख

निरखत करषत चित हित हरष भरे री ।···गी० १।७४ ।', "जबते रामलखन चितए री । रहे इकटक नर-नारि जनकपुर लागत पलक कलप बितए री । १ ।···बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता खोजत रितए री । तुलसिदास ते धन्य जनम जन मन क्रम बच जिन्हके हित ए री । गी० १।७६ ।', इत्यादि। (ङ) ☞ 'जिन्ह निज रूप···' और 'जहँ तहँ' के संकेतकी प्रशंसा हो ही नहीं सकती, लाखों दृष्टिकोण भी कम हैं । (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी--२ (क) यहाँ तक सुनी हुई बात कही । 'नृपसुत तेइ आली' से लेकर 'बरनत छबि जहँ तहँ सब लोगू' तक सब बातें सुनी हुई हैं, देखी नहीं हैं । यथा 'सुने जे मुनिसंग आए काली ।' पुनः, (ख) यहाँ तक देखनेकी योग्यता (दर्शन करने योग्य हैं यह बात) दिखाई । एक तो छबिकी प्रशंसा सर्वत्र हो रही है । दूसरे वे विश्वामित्र मुनि ऐसे भारी महात्माके साथ आए हैं । तीसरे, वे हमारे बाग़में हैं और दोनों अकेले ही आए हैं, उनके साथ और कोई है भी नहीं और न हमारे ही साथ कोई ऐसा है जिसका संकोच हो । चौथे, स्त्री, पुरुष, बाल, वृद्ध सभीने उनको देखा है और सभी उनका वर्णन करते हैं । पाँचवें, दैव-योगसे यहाँ वे आ गए हैं, और एकान्त हैं, हमें उनके दर्शनके लिये बाहर कहीं नहीं जाना है, (छठे, लोकोत्तर पदार्थ दर्शनीय होता ही है । फिर जिसके दर्शनका माहात्म्य है, जिसे सब देखना चाहते हैं, उसके दर्शनमें दोषकी सम्भावनाको स्थान नहीं है । वि० त्रि०)। इत्यादि सब योग 'सुने जे मुनि संग आये काली' से 'जहँ तहँ सब लोगू' तक इतनेही शब्दोंमें दिखाकर तब कहती है 'अवसि देखिअहि देखन जोगू' अर्थात् देखने योग्य हैं और देखनेका सब योग अकस्मात् आ उपस्थित हुआ है । तथा यही समय है, अवश्य चलकर देखना चाहिए ।

नोट—४ सखीके वचनका अंतिम पद 'अवसि देखिअहि देखन जोगू' सरलता और सरसताका नमूना है । फ़ारसीका यह शेर स्मरण आये बिना नहीं रहता—'तुरा दीदा व यूसुफ़ रा शुनीदा । शुनीदा कै बुवद मानिन्द दीदा ।' (तुझे देखा है और यूसुफ़को सुना है । सुना हुआ देखे हुयेके बराबर कैसे हो सकता है ?)। जब फूलकी सुगंध मिली तब किस सुन्दरतासे 'उसके देखनेकी चाह' पैदा की और अब आगे दिखाने ले जा रही है । (लमगोड़ाजी)।

५ 'देखन जोगू' इस श्लिष्ट-शब्दद्वारा सखी एक गुप्त अर्थ यह प्रकट कर रही है कि नारदजीने जो भविष्य वाणी की है उसकी सब बातें घट रही हैं, देखनेमें योग (विवाहसंबंध) की संभावना है । यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है । (वीर)।

तासु बचन अति सियहि सोहाने । दरस लागि लोचन अकुलानें ॥७॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई । प्रीति पुरातन लखै न कोई ॥८॥

अर्थ—उसके वचन श्रीजानकीजीको अत्यंत प्रिय लगे । दर्शनके लिये नेत्र व्याकुल हुए ॥ ७ ॥ उसी प्रिय सखीको आगे करके चलीं । उनकी पुरानी प्रीतिको कोई भाँप नहीं सकता ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'तासु बचन अति···' इति । (क) 'तासु बचन' का भाव कि प्रथम सखी जिसने राज-कुमारोंको देख आकर सब समाचार कहा था उसके भी वचन 'सुहाए' थे पर इस सखीके वचन 'अति सोहाने', क्योंकि इसने दर्शनकी योग्यता और दर्शनका योग दिखाकर दर्शन करने चलनेकी सम्मति दी । [पुनः भाव कि प्रथम सखीने सौंदर्य वर्णन किया, पर देखनेको न कहा था और इसने सौंदर्य तो कहा ही पर साथ ही साथ देखनेको भी कहा । सखी जो मर्य्यादाकी 'बारी' बनी है, उसीने राह खोल दी, अतः इसके वचन अति सुहावने लगे । (पाँ०)] पुनः 'अति सोहाने' का भाव कि सुहाए तो सभीको पर श्रीसीताजीको अत्यंत सुहाए; क्योंकि इनके हृदयमें 'अति उत्कंठा' थी । [☞ सखीकी जबान (वाणी) और कविकी

लेखनी ही श्रीसीताजीके भावोंका प्रकटीकरण कर रही हैं। हाँ, जब व्याख्या हो जाती है तब सीताजीका हृदय बोल उठता है कि ठीक है। (लमगोड़ाजी)]।

२ 'दरस लागि लोचन अकुलाने' इति। श्रीसीताजी लज्जावश अपने मनकी कुछ कह न सकती थीं। इस सखीने उनके मनकी बात कह दी कि 'अवसि देखिअहिं'। इसीलिये दर्शनके लिये नेत्र अकुला उठे। पुनः इस सखीसे सौंदर्यकी प्रशंसा सुनी इससे देखनेके लिये नेत्र व्याकुल हो रहे हैं। व्याकुलता इससे है कि कहीं राजकुमार चले न जायँ। यथा 'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता। २३२।१।'—यह भाव आगेके 'जनु सिसु मृगी सभीत। २२९।' से भी सूचित हो रहा है। [पुनः भाव कि कान और मनको तो सुननेसे सुख हुआ, पर नेत्रोंको सुख न मिला, अतः वे अकुलाए। अथवा, सखी मर्यादाकी 'बाड़ी' बनी थीं, (जबतक सखियोंकी मर्यादारूपी बारी रूँधी रही तबतक श्रीकिशोरीजीके नेत्र नहीं अकुलाए थे। जब सखीने उपर्युक्त वचनों द्वारा वह बारी तोड़ दी और राह खोल दी तब नेत्र देखनेको अकुलाए। (पाँ०)]

३ 'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई।०' इति। (क) अब चलनेसे सब सखियाँ प्रसन्न होंगी कि हमारे कहनेसे श्रीजानकीजी चलीं और यदि लज्जावश हम नहीं जातीं तो सब उदास हो जायेंगी और हम लोग राजकुमारोंको फिर कैसे देख पावेंगी, यह सब विचारकर चलीं। [(ख) यहाँ कैसी मर्य्यादा रक्खी है। श्रीसीताजीका सखीको आगे चलनेको कहना कि जहाँ उनको देख आई है, वहीं सीधे चल, आगे हो जा,—यह कुछ न कहा। इतना ही कवि कहते हैं कि उसे आगे करके चलीं। दोनों बातें हो सकती हैं। एक तो लज्जासे नेत्रोंका इशारामात्र कर दिया और वह आगे हो गई; कहनेकी जरूरत न हुई। दूसरे, कविने उनका कहना न लिखकर क़लम (लेखनी) द्वारा जना दिया कि वे तुरत चल दीं और जल्दी जल्दी चली जा रही हैं।] (ग) 'प्रिय सखि सोई' इति। श्रीरामजीको देख आई है, उनके आगमनकी खबर दी है; इसीसे प्रिय है और इसीसे उसे आगे होनेको कहा कि रास्ता दिखावे। ☞ (घ) स्मरण रहे कि यहाँ चोरीसे जाती हैं, इसीसे यहाँ गाना नहीं लिखते। जब गिरिजा-पूजनको जा रही थीं तब गाती जा रही थीं'। ['प्रिय' इससे कि श्रीरामजीसे मिलानेकी बात कही है एवं मिलावेगी (प्र० सं०)]

नोट—१ ☞ उपदेश—यहाँ यह उपदेश हमें मिल रहा है कि जो सेवक अपनेको अतिशय भानेवाला पदार्थ स्वयं न भोगकर अपने प्रभुहीको उसे समर्पण कर देता है, वह अवश्य अग्रगण्य और स्वामीको प्रिय हो जाता है। इसमें लोग और भी गूढ़ ध्वनि कहते हैं। (प्र० सं०)।

२ लमगोड़ाजी लिखते हैं कि प्रेमिककी ख़बर दी है, इसीसे 'प्रिय' हो गई, नहीं तो 'एक सखी' ही थी। अब अग्रसर है, नहीं तो चली गई थी तब किसीने जाना भी नहीं।" (नोट)—'विषय इतना सरस है कि बहुत कहनेको जी चाहता है, परन्तु विस्तारके भयसे पहले तो जो भाव और विद्वानोंकी व्याख्याओंमें आ गए हैं उन्हें नहीं दोहराता। दूसरे, पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि नोटोंको उदाहरण मात्र समझकर उसी शैलीपर प्रत्येक शब्दपर विचार करें तो उन्हें बड़ा आनंद मिलेगा।"

'प्रीति पुरातन लखइ न कोई' इति।

मानसमयंक—"श्रृङ्गारके साजको सजकर रामसंयुक्त जानकीजी साकेतके रंगमहलमें राजती रहीं, वही पुरातन प्रीति हृदयमें उमड़ रही है; अतएव बिना अपने प्रीतमको देखे दुःखित हैं।"

रा० कु०—'प्रीति पुरातन' अर्थात् मनु-शतरूपाके वरदानके संबंधसे युगल स्वरूप प्रगट हुए हैं, उसी संबंधका प्रेम है, इसको कोई नहीं जानता।

पांडेजी—'प्रीति पुरातन' = अनादि प्रीति। 'प्रीति पुरातन लखै न कोई' का दूसरा अर्थ यह भी होता

है कि श्रीजानकीजीके मनमें यह संकोच हुआ कि 'इस पुरातन प्रीतिको जिससे तन भर गया है (जो हृदय और शरीरमें छा गया है) कोई लख न ले', अतः प्रिय सखीको आगे करके ले चली। पुनः, तीसरा अर्थ यह है कि 'प्यारी सखीको आगे करके चली, परन्तु जो उनकी अनादि प्रीति है वही प्रिय सखीके रूपमें है जो मिलाने जा रही है; यह बात कोई लख नहीं पाता'।

वैजनाथजी - 'यहां अनूढ़ाके लक्षण दर्शित करते हैं कि पूर्वकालकी प्रीति जो बीजमात्र है जिसका उल्लेख आगे दोहामें है, वह बेलिसी बढ़ गई, इसीके आधारपर चली जा रही है'।

पंजाबीजी—इसमें गूढ़ ध्वनि यह है कि उनकी पुरानी प्रीतिको वा व्याकुलताको कोई जान न पावे, अतः प्रिय सखीको आगे कर लिया।

प० प० प्र०—युगलकिशोरोंको देखनेकी लालसा तो प्रबल हुई है, इसका कारण है 'पुरातन प्रीति', पर यह किसीने जाना नहीं। सीताजी भी विचारकर रही हैं कि उनको देखनेकी ऐसी प्रीति क्यों हुई। कविराज कहते हैं कि यह प्रीति नई नहीं है, पुरानी है। ☞ पुरातन प्रीति परिस्थितिके प्रभाव तथा कालकी महिमासे जब जागृत होती है तब वह व्यक्ति स्वयं ही जान नहीं पाता कि ऐसा क्यों हो रहा है। 'व्यतिष जति पदार्थान् आन्तरः कोऽपि हेतुः। न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।' कालिदासके इस उद्धरणमें 'कोऽपि हेतुः' से कारणकी अज्ञता जैसी कही है वैसे ही यहाँ भी कहा कि 'पुरातन प्रीति लखै न कोई'। (यही बिचार अगले दोहेमें लमगोड़ाजीकी टिप्पणीमें आ चुके हैं)।

राजारामशरणजी—यहाँ तक बाग़ और सरका प्रभाव श्रीराम और लक्ष्मणजी दोनोंपर एक दिखाया था। आगे प्रेमका प्रभाव केवल रामपर पड़ना कहेंगे। उस प्रेमके पृथक्करणका सिद्धांत यहीं प्रथम 'प्रीति पुरातन' में संकेतरूपसे बता दिया है।

दोहा—सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसुमृगी सभीत ॥२२६॥

अर्थ—नारदजीके वचन स्मरण कर श्रीसीताजीके (हृदयमें) पवित्र प्रीति उत्पन्न हुई। (वे) सब दिशाओंमें चौकन्नीसी देख रही हैं, मानों मृगछौनी (बच्चा हरिणी) डरी हुई (देख रही) हो ॥२२६॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुमिरि सीय नारद वचन': नारदजीका वचन है कि जिसमें इनका मन लगेगा वही वर इनको मिलेगा—'सो बरु मिलिहि जाहि मनु राचा'। (ख) 'उपजी प्रीति पुनीत' अर्थात् श्रीरामजीमें मन लगा, वे हमें अवश्य मिलेंगे। (ग) 'प्रीति पुनीत' का भाव कि बिना धनुष टूटे वा तोड़े किसी पुरुषपर पतिभावसे प्रीति करना अपुनीत है, किसीमें मन लगना प्रीतिकी अपुनीतता है। इस दोषके निवारणार्थ कहते हैं कि नारद-बचनके स्मरणसे प्रीति उपजी। नारदके बचन सदा सत्य हैं—'होइ न मृषा देवरिषि भाषा। ६८। ४।', 'नारद बचन सदा सुचि साँचा। २३६। ८।' इसीसे प्रीति उत्पन्न हुई और श्रीरामजी इनको अवश्य मिलेंगे, इसीसे प्रीति पुनीत है, अपुनीत नहीं। पुनः दूसरा भाव कि प्रीतिकी प्रशंसा उसकी पुनीततासे होती है, यथा 'प्रीति पुनीत भरत कै देखी। सकल सभा सुख लहेउ बिसेषी', 'इन्ह कै प्रीति परसपर पावनि। कहि न जाइ मन भाव सुहावनि। २१७। ३।' पुनीत=निश्छल, यथा 'भाइहि भाइहि परम समीती। सकल दोष छल बरजित प्रीती।' और, स्वार्थ ही छल है, यथा 'स्वारथ छल फल चारि बिहाई'। इस तरह 'उपजी प्रीति पुनीत' का भाव यह हुआ कि श्रीजानकीजीके हृदयमें स्वार्थरहित प्रीति उत्पन्न हुई, किसी सुखकी कांक्षासे नहीं वरंच निष्काम फलाभिसन्धिवर्जित प्रीति है। अतएव उसे पुनीत कहा। (घ) ☞ यहाँ प्रतीति, प्रीति और उससे भगवत्प्राप्ति तीनों बातें कहीं। बिना प्रतीतिके प्रीति नहीं होती; यथा 'बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती'। 'सुमिरि सीय नारद बचन' से जनाया कि नारदजीके वचनोंमें श्रीसीताजी

की प्रतीति है। प्रतीति होनेसे प्रेम उपजा। प्रेमसे भगवान्‌की प्राप्ति है सो आगे होनेहीको है।—'जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलहि न कछु संदेहू। ☞ ऐसाही पार्वतीजीके प्रकरणमें कहा गया है, प्रथम नारदवचनमें प्रतीति हुई, फिर शिवपदमें प्रेम उपजा, तब प्राप्ति हुई।

नोट १ (क) यहाँ श्रीनारदजीके वचन मुख्य हैं। इससे अनुमान होता है कि 'नारदजीने पूर्वही यह कह रक्खा था कि पुष्पवाटिकामें पतिका प्रथम दर्शन होगा, पीछे ब्याहका संबंध होगा। इस वचनका बीज हृदयमें पहलेहीसे जम गया था। उसीका स्मरण हो आया, प्रेम उत्पन्न हुआ, इससे 'येही हमारे पति होंगे' यह निश्चय हुआ। पति होंगे अतः प्रेम पुनीत है।' (पांड़ेजी, रा० प्र०)। (ख) नारदजीने ये वचन कब और कहाँ कहे थे इसमें मतभेद है। कोई निश्चित प्रमाण हमें नहीं मालूम। कोई कहते हैं कि 'किसी समय गिरिजापूजन समय पुष्पवाटिकाहीमें नारदजी आए थे। प्रणाम करनेपर उन्होंने आशीर्वाद दिया था कि इसी वाटिकामें तुम्हारे भावी पतिके तुमको दर्शन होंगे' और किसीका मत है कि महलमें राजारानी के सामने नारदजीने यह बात कही थी। श्रीगिरिजाजन्मपर जैसे नारदजीने जाकर उनका हाल कहा था वैसेही श्रीसीताजीके प्रादुर्भावपर नारदजी आए थे जैसा श्रीरूपलताजी रचित जन्मस्तुतिसे भी पाया जाता है—'नारदमुनि आए बचन सुनाए'। संभव है तभी यह प्रसंग भी कह दिया हो। (ग) जो "नारदजीके वचन थे उन्हींके अनुकूल श्रीजानकीजीकी दशा हो गई, इसको सखियोंसे छिपानेके लिये 'चकित बिलोकति०।" (पांड़ेजी)।

२ 'चकित बिलोकति' क्योंकि नेत्र दर्शनके लिए आतुर हो रहे हैं, राजकिशोर किधर हैं, कहाँ हैं, कहीं चले तो नहीं गए! वा, इसलिये कि यह प्रीति सखियोंको विदित न हो। (पांड़ेजी)। वा, यद्यपि अन्तःकरणमें उपपतिकी शंका नहीं है, पाणिग्रहण इन्हींसे होगा यह निश्चय है तो भी पिताका पन तो अभी पूरा नहीं हुआ, इससे लोकलाज कुल-कानिको विचारकर शंका करती हैं कि कोई कहीं देखता तो नहीं; इस हेतुसे चारों ओर चकित हो देखती हैं।" (बैजनाथजी)।

३ 'सकल दिसि' इति। संकोच-विवश राजकिशोरोंकी दिशाके सिवा अन्य दिशाओंमें भी देखने लगती हैं। वा, सखियोंसे छिपानेके हेतु। (पांड़ेजी, मिश्रजी)। ☞ लमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'ये शब्द नारदबचनके स्मरणके बाद आए हैं, इससे बड़े सुंदर हैं। 'नसीम' ने 'बकावलीके फूल' के लिए लिखा है—'शबनमके सिवा चुरानेवाला। ऊपरका था कौन आनेवाला॥ अपनोंमेंसे फूल ले गया कौन? सब्जेके सिवा बेगाना था कौन?…बू होके तो गुल उड़ा नहीं है।…', तो फिर राममें अधिदैविक व्यक्तित्वके विचारसे यह शब्द सारी दिशाओंके संकेतसे कि जिसमें आकाश व पातालभी शामिल हैं कितना सुन्दर है। लेकिन (फिर भी) कविने सरलता जाने नहीं दी, आँखोंका सब दिशाओंमें ढूँढ़ना बड़ा ही स्वाभाविक है। प्रेमकी आँख-मिचौनीसे ही भाव उत्तेजित होते हैं। ललचाने (अकुलाने) से 'चकित' और 'चकित' से भयकी अवस्थातक पहुँचा दिया।" ☞ "सीताजी जैसी राजकुमारी स्वयं इस उलझनमें थीं कि मैं क्यों चल पड़ी? ['ख़बर नहीं है कहाँ जाऊँगी, चली हूँ कहाँ?'] तब ही विचार-समुद्रमें गोता लगानेसे नारदके वचनका स्मरण हुआ।"

पाँड़ेजी, मिश्रजी—'जनु सिसु मृगी सभीत' इति। सभीत मृगछौनीकी उपमा बड़ी ही विलक्षण है। भययुक्त मृगछौनीकी चारों ओर 'हेरनि' से सीताजीकी अशृङ्गारित दृष्टि स्वभावतः विलक्षण सौंदर्य्यसे भरी और भोरी है। मृगछौनीको बाधक जीवों, फँसाने और फाँसनेवाले व्याधाओंका डर, वैसे ही यहाँ सीताजी को पिताके पनका भय, माताका भय, सखियोंके लखनेका भय और राजकिशोरोंकी छटामें फँस जानेका भय। भयसे चौंक चौंककर देखती हैं। [मृगी डरकर शीघ्र चारों ओर देखती है, अतएव यह उपमा दी गई। यहाँ 'उक्तविषयावस्तुत्प्रेक्षा अलंकार' है।]

प० प० प्र०—मृगीकी उत्प्रेक्षा प्रीतिको पुनीतता और नेत्रों आदिको इधर-उधर आतुरतासे घुमाना दिखानेके लिये बड़ी सुन्दर है। शिशुमृगी जब वनमें मातासे अलग हो जाती है और माता उसे दिखाई नहीं देती तब वह भयभीत होकर चारों तरफ़ सिर और नेत्र घुमाती है और माँके लिये व्याकुल होती है। उसका पुनीत मातृप्रेम ही उसे व्याकुल कर देता है। वैसे ही सीताजीके मनमें पति-भावसे प्रेम तो उपजा पर इसमें कामविकारका लेश भी नहीं है। अतः यह पुनीत है। नारदवचनसे पतिप्रेम उपजनेमें अपुनीतता नहीं है, पर यदि इस प्रीतिमें कामविकार उत्पन्न होता तब तो वह प्रीति अपुनीत ही हो जाती, क्योंकि विवाहके पूर्व किसी पुरुष या स्त्रीको देखनेमें यदि कामविकार उत्पन्न होगा तो उसको मानस-व्यभिचार ही कहना पड़ेगा।

नोट—४ यहाँ हमें उपदेश मिलता है कि उपासनाको इसी तरह गुप्त रखना चाहिए, यद्यपि चतुर लोग अनुमानसे जान ही लेते हैं।

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि ॥१॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही ॥२॥

शब्दार्थ—गुनि = विचारकर। मनसा = कामना, मनोरथ, संकल्प। सन = से।

अर्थ—कंकण (हाथका भूषण) किंकिणी (कटिभूषण, करधनी) और नूपुर (पैरके भूषण, पाजेब) की ध्वनि सुनकर श्रीरामचन्द्रजी हृदयमें विचारकर लक्ष्मणजीसे कहते हैं—॥१॥ (हे लक्ष्मणजी! यह ध्वनि तो ऐसी हो रही है) मानों कामदेवने नगाड़ा वा डंका बजाया है और विश्वविजयका संकल्प किया है। (अर्थात् नगाड़ा बजाकर विश्वको जीतने चला है) ॥ २ ॥

श्रीराजारामशरणजी- १ शब्दशक्ति विचारणीय है। गहनोंके नामभी आगए और दुन्दुभीका ठेका सुनाई भी देने लगा। २—राम पुरुष हैं, इससे शृङ्गाररस बड़ी तेजीसे बढ़ रहा है, वे अपने भावोंको समझते हैं और तुरतही बिना छलके छोटे भाईसे कह भी देते हैं। भावकी तेजीको अपूर्ण क्रियाओं Participient form से किस सुन्दरतासे व्यक्त किया है। ३—जार्ज मेरिडिथ George Meridith ने ठीक कहा है कि प्रेमिकाके सरल चलने-फिरनेमें प्रेमिकका हृदय और (ज़ोर ?) से इरादेके साथ कामकी कल्पना करता है। इसीसे कविने उत्प्रेक्षाका प्रयोग किया है कि कोई यह न समझ बैठे कि वस्तुतः ये सखियाँ और जानकीजी अपनी चालसे कामदुन्दुभी बजाती चल रही थीं (यह तो गुलछर्रे उड़ाना होता)।

प० प० प्र०—श्रीसीताजीमें जो पुनीत प्रीति उपजी वह नारदजीकी शब्दशक्तिसे। श्रीरामजीमें भी इस ध्वनि-शक्तिसे ही पुनीत प्रीति उपजी। एक सखी जो पूर्व गई थी उसके आभूषणोंकी ध्वनिसे ऐसा नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि जैसे श्रीरामजीका शरीर और सब भूषण चिदानन्दमय हैं वैसे ही श्रीसीताजीकी देह, आभूषण और आभूषणोंकी ध्वनि सभी चिदानन्दमय हैं। हृदयाकर्षण-विधिमें समान संस्कार, संकल्प, भावना आदिका ही प्रभाव पड़ता है।

टिप्पणी—१ (क) 'कंकन किंकिनि नूपुर'—तीन अङ्गोंके आभूषण अर्थात् शरीरके ऊंचे, नीचे और मध्यके आभूषण लिखकर जनाया कि जितने भी ऐसे आभूषण शरीरमें हैं जो कि शब्द करते हैं उन सबोंका शब्द हुआ। अथवा, ये तीन आभूषण अधिक शब्दकारी हैं इसीसे इन्हीं तीनोंका नाम लिखा, यथा 'कंकन किंकिनि नूपुर बाजहिं। चाल बिलोकि काम गज लाजहिं। ३१८।४।' (ख) 'कंकणसे विशेष किंकिणी बजती है और किंकिणीसे विशेष नूपुर बजता है, अतः शब्दके क्रमसे नाम लिखे।

नोट—१ और भाव ये हैं—(ग) कंकण हाथका, किंकिणी कटिका और नूपुर पदका आभूषण है। हाथ हिलनेसे पहुँचीमें लगनेसे कंकणमें मधुर शब्द होता है, हिलनेसे (चलनेपर) किंकिणीसे भी मधुर

शब्द होता है। यथा 'कटि तट रटति चारु किंकिनि रव अनुपम बरनि न जाई। वि० ६२।', और पैर उठाकर धरनेपर नूपुरोंमें विशेष शब्द होता है। तीनोंकी मिलकर जो एक साथ ध्वनि हो रही है उसे सुनकर। (वै०)। पुनः, (घ) आगे इस ध्वनिको दुन्दुभीकी ध्वनि कहते हैं क्योंकि डंकेमें तीन शब्द होते हैं। प्रथम दो बार 'कुड़ुक कुड़ुक' धीमा शब्द होता है, यह कंकण और किंकिणीका मधुर शब्द है और तीसरा 'धुम' जो गंभीर शब्द है वह नूपुरका गंभीर शब्द है। इसीसे तीनोंके मिलनेसे जो ध्वनि होती है वह नगाड़ेकी 'कुड़ुक कुड़ुक धुम' सी है। (वै०)। (ङ) पं० रामचरण मिश्रजी कहते हैं कि "प्रथम 'कंकन' पद देकर पाणिग्रहण सूचित किया, क्योंकि पहले कंकण ही के शब्दने हृदयमें प्रविष्ट होकर अपने स्वत्व होनेका अंकुर जमा लिया अन्यथा शोभा होनेसे दूषण था, पीछे किंकिणी और नूपुरके क्रमशः शब्द रामजीके हृदयंगत हुए। लौकिक कंकणादिकोंकी ध्वनि रामजीके हृदयंगम नहीं हो सकती। महारानीजीके आभरण चेतन विग्रह-स्वरूप हैं। इनसे जो ध्वनि निकलती है वह सामवेदकी 'वार्त्तान्तरीय' तीसरी शाखाके शक्ति-सूक्तिकी ऋचाओंकी ध्वनि गूँजती है, इसीसे रामजीको तत्व लक्ष्य हो गया। अगस्त्यरामायण उत्तर प्रकरण अ० ५-६ देखिए।—"नखर-निकर-कान्तं मुद्रिका नूपुराद्यैः श्रुतिनुतिरणयन्तं, मानसे योगिभाव्यम्।" यद्यपि सीताजीके चलनेमें कंकणादिकोंकी ध्वनि एक साथ ही मिली हुई निकल रही है, पर कविने मर्य्यादाकी सीमापर क्रम रक्खा है, क्योंकि वहाँ तो ध्वनि साथ ही निकली पर कवि तीनों शब्द साथ ही कैसे लिखें, जो ही शब्द प्रथम लिखते उसीमें शंका बनी रहती कि पहिले यह क्यों? अतः उक्त क्रम साभिप्राय और गंभीर है। दूसरे, साथ निकली हुई भी ध्वनि मर्य्यादा पुरुषोत्तमके मर्यादासे ही कर्णगोचर हुई। (च) दूसरे चरणमें 'राम हृदय गुनि' श्रीरामजीका इस शब्दपर विचार करना कहते हैं। वह विचार यह है—'कंकन' यह जना रहा है कि संसारमें कौन शोभावाला ऐसा है जो इनके आगे 'कंक' अर्थात् दरिद्र नहीं है। 'किंकिनि' से 'किन किन' यह ध्वनि निकलकर कहती है कि इनके सामने रमा, उमा, ब्रह्माणी, रति आदि किन किनने हार नहीं मानी, सभी ने तो हार मान ली। 'नूपुर' छननन बोलता हुआ सूचित कर रहा है कि रति आदिको लजाकर भागनेमें क्षणभर भी नहीं लगता। (रा० प्र०)।

टिप्पणी—२ 'हृदय गुनि'। भाव कि कामके नगाड़ेका शब्द श्रीरामजीके हृदयमें प्रवेश कर गया है, आगे श्रीसीताजीके स्वरूपमें आसक्त होवेंगे; यथा 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा।', 'कहत लषन सन' इति। लक्ष्मणजीसे कहते हैं क्योंकि लक्ष्मणजी 'कामजेता' हैं। मेघनादको काम कहा है, यथा 'पाकारिजित काम बिश्राम हारी', सो उस मेघनादको श्रीलक्ष्मणजीने जीता। पुनः, लक्ष्मणजीके निकट काम नहीं जा सकता, यथा 'देखि गएउ भ्राता सहित तासु दूत सुनि बात। डेरा कीन्हेउ मनहु तब कटकु हटकि मनजात। ३।३७।' लक्ष्मणजीने आभूषणोंकी ध्वनिपर किंचित् भी निगाह न डाली, किसी स्त्रीकी ओर न देखा, न कामकी कोई बात ही उन्होंने की—यही कामका जीतना है। लक्ष्मण वीर हैं, वीरकी चढ़ाई वीरसे ही कहनी चाहिये, जिसमें वह सावधान हो जाय। अतः लक्ष्मणजीसे कहा। पुनः भाव कि आभूषणोंकी ध्वनि अतीव मधुर है बिना कहे रहा न गया, इसीसे इनसे कहा।—विशेष आगे दोहा २३० में 'बोले सुचि मन अनुज सन' पर लमगोड़ाजीकी टिप्पणी देखिए।

वि. त्रि.—'हृदय गुनि…' इति। विचार करते हैं कि गतिकी रमणीयतासे भूषणोंकी ध्वनि ऐसी सुहावनी है। भूषणोंकी ध्वनि मधुर होती है पर इसका उद्दीपक प्रभाव ऐसा बलवान् है कि दुन्दुभीके घोर शब्दसे उपमित करने योग्य है। सखारूपमें लक्ष्मणजी साथ हैं अतः उन्हींसे अपना मनोभाव व्यक्त कर रहे हैं। नगर-दर्शन समय कामका पराजय हुआ, अतः पुष्पधन्वाने वाटिकामें फूल चुनते देखकर, उपयुक्त समय जानकर विश्वविजयके लिये डंका दिया क्योंकि इनके विजयसे विश्वविजय है। श्रीरामजीका कामसे बैर है, यथा 'नील तामरस स्याम काम-अरि'।

प० प० प्र०—(क) यहाँ श्रीसीताजीकी पुनीत प्रीतिका प्रभाव दिखा रहे हैं कि आभूषणोंकी ध्वनिसे श्रीरामजीमें ही पुनीत प्रीति उपजी। पुनः (ख) यहाँ श्रीरामजीकी ऋजुता और वीरता दिखाई। उनके हृदयमें इस ध्वनिसे जो खलबली मची है उसका सार उन्होंने लक्ष्मणजीसे कहा। श्रीलक्ष्मणजी शांत, स्वस्थ और कामविजयी हैं। (ग) श्रीसीताजीने अपनी प्रीति छिपा रक्खी, किसीभी सखीसे न कहा। पर श्रीरामजी पुरुष हैं, वे अपने ऐश्वर्य-भावको भूले नहीं हैं। श्रीसीताजी केवल ६-७ वर्षकी हैं। अतः बालकुमारी स्वभाव और वीराग्रणी रघुवीरके स्वभावमें इतना भेद दिखाया है।

नोट—१ (क) मिश्रजी एवं वैजनाथजीका मत है कि 'रामजी अपने हृदयको निर्विकार और मर्य्यादा की सीमा समझते थे, पर उक्त ध्वनिसे कुछ क्षुभित समझ रसका उद्दीपन भाव विचारकर स्वयं उत्प्रेक्षा करते हैं। (ख) लक्ष्मणजीसे कहनेका भाव स्नेहलताजी यह कहती हैं कि 'प्रभु उनको चिता रहे हैं कि अब होशियार हो जाओ। तुम्हारा वात्सल्य है। हमारा मन इनमें लग गया है।' और कुछ लोग यह कहते हैं कि 'आपत्तिमें भाईही याद पड़ता है, वही सहाय होता है, अतएव इनसे कहा'। (ग) यहाँ शृङ्गाररससे संपुटित वीररस है। इसका रूपक आगे दिया जायगा।

टिप्पणी—'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही।०' इति। (क) स्त्रीही कामका परम बल है, यथा 'लोभ के इच्छा दंभ बल कामके केवल नारि। ३। ३८।', 'एहि कें एक परम बल नारी। ३.३८।' इसीसे स्त्रीके आभूषणोंके शब्दको कामका नगाड़ा कहा। आभूषणोंका शब्द तालसे बजता है, यथा 'मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं। १.३२२।' इसीसे शब्द अति मधुर है। अति मधुर है, इसीसे कामके नगाड़ेके समान है। (ख) कामने नगाड़ा बजाया, इस कथनसे पाया गया कि वह सेनासहित आया है।❀ (ग) 'मनसा विश्वबिजय कहं कीन्ही' यह कैसे जान पड़ा? उसके इस प्रकार नगाड़ा बजानेसेही जाना गया कि विश्व विजय हो गया। अथवा, जब उसने विश्वविजयका मनोरथ किया तभी तो हमारे ऊपर चढ़ाई की है, हमको विजय कर लेनेसे विश्वका विजय हो ही चुका। ☞ उसने विश्वविजयकी इच्छा की, इच्छा करतेही उसने विश्वको विजय कर ही तो लिया, यथा 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय-मुख-ससि भये नयन चकोरा। २३०.३।' भगवान् विश्वरूप हैं, यथा 'बिश्वरूप रघुबंसमनि। ६.१४।', सो वे वशमें हो गए। [(घ) ☞ काम जानकीजीका बल पाकर अत्यन्त प्रबल है, इससे उसको विजय करनेवाला त्रिलोकीमें कोई नहीं है। विश्वका अर्थ 'संसार' करनेमें कोई विशेषता नहीं है। क्योंकि संसार तो कामका गुलाम है ही, उसे तो सदाही वह विजय किये हुएही है। इसलिए विष्णुसहस्रनामके अथवा, 'विश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिस्वास। लोककल्पना बेद कर अंग-अंग प्रति जासु' के आधारपर 'विश्वरूप जो मैं उसके विजयकी' यह अर्थ ठीक होगा।—'विश्वं विष्णुर्वषट्कारः'। (रा० च० मिश्र)]

प० प० प्र०—१ श्रीरामजी रघुवीर हैं, इससे उनके मनमें विश्वविजय और विजयारम्भसूचक रणदुन्दुभी बजानेकी ही उत्प्रेक्षा आ गई। ☞ यहाँसे कामदेव और रामरघुवीरका मानों विश्वविजयार्थ युद्ध आरंभ हो गया। यह रणपरिभाषा ध्यानमें रखनी चाहिए। आरम्भमें आज चन्द्रोदय-वर्णन तक तो

❀ १ यहाँ सखीगण सेना हैं। (रा० प्र०)। २ कामकी चतुरंगिणी सेना यह है—"त्रिविध पवन गज हैं। बड़े-बड़े फूले हुए वृक्ष घोड़े हैं, गुल्मलता पैदल हैं, सपल्लव रसाल रथ हैं। वसन्त सेनापति है। पयान समान डंका दिया, सखियाँ बल हैं। श्रीकिशोरीजी प्रताप हैं।—इसीसे इस समय मदन वीर अजित है। भाव कि इस समय मेरा भी धैर्य गया, अतः पराजय सहनेसे तो संधिही कर लेना भला है। मैं संधि करता हूँ।" (वै०)। पं० रामकुमारजी और पंजाबीजीका मत है कि स्त्रियाँ सेना हैं। 'बल'=सेना।

ऐसा देख पड़ेगा कि कामदेवकी ही विजय हो गई पर आगे सिद्ध होगा कि राम रघुबीरकी ही बिजय हुई। 'विस्वबिजय जसु जानकि पाई' से यह आगे स्पष्ट कहा है।

२ इस प्रसंगमें पहले युद्धमें तो कामदेवकी विजय हुई है, यह अगली चौपाईसे स्पष्ट होता है। पर मानसकविकी भावाभास निर्मित कलाका यह कमाल है कि श्रोता इस भावाभासके प्रवाहमें ही बहने लगता है और गूढ़ भावके मर्मको समन्वय रीतिसे समझनेमें असमर्थ होता है।

३ 'विश्वं विष्णुः' 'विश्वरूप' रघुवंशमणि ही हैं। और 'अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः। रा० ता० उ०।' इस समय तो मदनने श्रीरामजीपर विजय तत्काल पा ली, पर विश्वविभु श्रीलक्ष्मणजीपर विजय पानेमें वह असमर्थ ठहरा। इससे सूचित किया कि विश्वविजयके प्रयत्नमें मदनकी इच्छा पूरी न होगी। गत महायुद्धमें जापान और जर्मनीकी ही विजय प्रथम प्रति दिन होती रही, पर अन्तमें तो पराजय ही हुआ; ऐसा ही यहाँ होना है।

नोट—२ कामने विश्वविजयकी इच्छा क्यों की ? इसका उत्तर मा० त० वि० कार यह लिखते हैं कि "रणयन्नूपुरं पादे कणयन् कंकणं करे। कलयन् किंकिणीं कंठ्यां वलयं वादयन्मुहुः। नीलपीताम्बरधरौ स्रग्विणौ च शुचिस्मितौ। विराजे ते महापीठे तुमुले रासमण्डले। सर्वाः सर्वं प्रनृत्यन्ति नर्तयन्ति परस्परम्।" (अर्थात् युगलसरकार नील-पीताम्बर धारण किये हुए, माला पहने, मंदमुस्कान सहित महारासमण्डलमें दिव्य सिंहासनपर बैठे हैं। चरणमें नूपुर, हाथमें कंकण, किंकिणी और वलय मधुर शब्द कर रहे हैं। सभी परस्पर नाचती और नचाती हैं)। रासस्थल निकुंज स्थानकी ध्वनि है, इसीसे हृदयमें गुणकर भाईसे कहने लगे कि यह ध्वनि तो वैसी ही है मानों मदनने विश्वमें मेरे मनके विजयहेतु डंका बजाया है। जब महारास-स्थानमें कामकी कला कुछ न चल सकी; 'नव्य लावण्यकं दृष्ट्वा मूर्छितौ रतिमन्मथौ। इतिहनुमत्संहितायाम्।' तब संसारमें मेरा नरनाट्यमात्र लीला समझकर चढ़ाई की होगी। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'मनसा विश्व बिजय कहँ कीन्ही' का भाव यह है कि मुनिके साथ हम जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए हैं यह रहेगा कि नहीं।

वीरकवि—'मानहु मदन' 'कीन्ही' में कामदेवका नगाड़ा बजाना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह विना दुन्दुभी दिये ही त्रिलोकविजयी है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा ॥३॥
भये बिलोचन चारु अचंचल। मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल ॥४॥

अर्थ—ऐसा कहकर फिरके उस (शब्द) की ओर देखा (तो) श्रीसीताजीके मुखचन्द्रपर (श्रीरामजीके) नेत्र चकोर हो गए। अर्थात् उनके मुखचन्द्रको एकटक, टकटकी लगाये देखते रह गए॥ ३॥ सुन्दर दोनों नेत्र स्थिर हो गए, मानों निमि-महाराजने संकोचवश हो पलकों (परके निवास) को छोड़ दिया॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'फिरि चितये तेहि ओरा' इति। जब दूरसे शब्द सुन पड़ा तब मदनकी दुंदुभीका अनुमान करके कहने लगे थे और जब शब्द बहुत निकट सुन पड़ा तब फिरकर देखा। 'फिरि चितये' अर्थात् फिरकर देखा—इस कथनसे पाया गया कि सखी पीछेसे आई। श्रीरामजी लताकी ओटमें हैं, इसीसे श्रीसीताजीने श्रीरामजीको नहीं देखा और श्रीरामजीने सीताजीको देख लिया। चन्द्र चकोरको नहीं देखता, चकोर ही चन्द्रको देखता है। (ख) 'सिय-मुख-ससि भये नयन चकोरा' इति। 'भये चकोरा' अर्थात् चकोरकी तरह एकटक देखते रह गए। यथा 'एकटक सब सोहहिं चहु ओरा। रामचंद्र मुखचंद्र चकोरा।' यही बात आगे कहते हैं—'भये बिलोचन चारु अचंचल।' [चकोर पूर्णचन्द्रपर लुब्ध रहता है, यथा 'भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा। २०७.६।' नेत्रोंको चकोर कहकर जनाया कि नेत्र शोभापर लुभा

गए। मनके लुभाये विना नेत्र एकटक नहीं हो सकते, इसीसे आगे मनका लुभाना भी कहा है—'मन सिय रूप लुभान। २३१।']

नोट—१ 'फिरि' के 'र' से परकारकी तरह घूम जाना किस सुन्दरतासे दिखाया गया है। ("यह है आई कहाँ से, गरदिशे परकार पावों में ?" का जवाब है)। साथही साथ अंतमें स्थिर भावके निरूपणमें 'सियमुख ससि' वाला अनुप्रास कितना शान्तमय और सरल है। (सारी अपूर्ण क्रियाओंकी पूर्ति यहाँ हुई)। शब्दगुणमें 'च' कार की चाशनी देखिये। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—उस मदन-दुन्दुभीकी प्रभुता तो देखिए कि फूल चुनना तो पहले ही बंद हो गया, अब नादलुब्ध मन ने प्राणादि इन्द्रियोंपर ऐसी सत्ता जमाई कि यन्त्रके समान शरीरको घुमा दिया और जिधरसे ध्वनि आई थी उधर मुख हो गया और ध्वनि जहाँसे निकली थी उसे देखनेके लिये नेत्र चंचल हो गए। जैसी दशा प्रथम श्रीसीताजीकी हुई वैसी ही अब श्रीरामजीकी हुई; भेद इतना ही है कि श्रीरामजी बालमृगकी तरह सभीत नहीं हुए।

नोट—२ 'सिय मुख' को पूर्णचन्द्र कहनेका भाव कि श्रीकिशोरीजीके नेत्र और मुखकी ज्योति पूर्ववत् जैसीकी तैसी ही बनी रही और श्रीरामजीमें सात्विक भाव हो आया। अतएव येही आसक्त हुए, जैसे चकोर चन्द्रमापर आसक्त होता है, चन्द्रमा चकोरपर नहीं। (वै०)। श्रीसीताजीके मुखपर चंद्रमाका आरोप करके श्रीरामजीके नेत्रोंपर चकोरका आरोपण करना "परंपरित रूपक अलंकार" है।

प० प० प्र०—श्रीरामजीके नेत्र ही चकोर बने। श्रीरामजी शरद् शशि हैं सिय मुख शरद् शशि नहीं है, केवल शशि है। यथा 'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी', 'सिय मुख ससि भए नयन चकोरा'। अब विचार कीजिए, किसकी जय हुई। श्रीसीताजी इस महाछबिको देखते ही इतनी लुब्ध हो गई हैं कि उस रूपकी सराहना मनमें भी न कर सकीं। और श्रीरामजी तो विचार-क्षम रहे हैं, इनकी देह भी 'भोरी' नहीं हुई। इस प्रकार यहाँ श्रीरघुबीरकी ही विजय हुई है।

नोट—३ यह प्रभाव श्रीरामपर ही पड़ा लक्ष्मणजी पर नहीं, यद्यपि पहले प्रभाव एकसे थे। प्रेमके पृथक्करणका यह सिद्धान्त ही 'प्रीति पुरातन' पूर्व संबंधरूपमें पहले ही संकेतरूपसे बता दिया गया है। 'मैरी कोरेली' नामक नैतिक उपन्यासकारने भी 'जिस्का' (Ziska) नामी अँग्रेजी उपन्यासमें यह सिद्धान्त चरितार्थ कया है कि यदि वैसे प्राकृतिक संयोगवाले प्रेमिक और प्रेमिकाको अलग-अलग ध्रुवोंपर रक्खें तो भी वे आकर्षित होकर बिना मिले न रहेंगे। (लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—इस संपूर्ण प्रसंगमें कविका सँभाल ध्यानमें रखना आवश्यक है। देखिए, जब श्रीरामजीके नेत्र श्रीसीताजीको देखते हैं तब सीताजी उनकी तरफ नहीं देखती हैं और जब श्रीसीताजीके नेत्र श्रीरामजीके मुखचन्द्रको 'निहारते' हैं तब रघुबीरकी दृष्टि उस तरफ नहीं है। यह लीला 'सिय राम अवलोकनि परस्पर। ३२३ छन्द २।' तक अव्याहत बनी रही। अर्थात् विवाह-विधिमें परस्परावलोकन विधि तक रघुबीर और जानकीमें एक ही समय परस्परावलोकन नहीं हुआ है। ☞ यह परमोच्च आदर्शयुत शुद्ध सात्विक शृङ्गारकी विशेषता केवल तुलसी मानसमें ही देखनेको मिलती है।

टिप्पणी—२ (क) यहाँ श्रीरामजीके मन, वचन, कर्म तीनोंका हाल कहा है। 'हृदय गुनि' हृदयमें गुणना यह मनका हाल है, लक्ष्मणजीसे कहना 'कहत लषन सन' यह वचन है और फिर कर देखना यह कर्म है। तात्पर्य कि मन, वचन और कर्म तीनोंसे वशमें हो गए हैं।

(ख) "भये बिलोचन चारु अचंचल" इति। 'चारु' विशेषणका भाव कि एकटक होनेपर नेत्रोंकी शोभा नहीं रह जाती पर श्रीरामजीके नेत्र 'अचंचल' अर्थात् स्थिर होनेपर भी सुन्दर हैं और जब चितवते होते हैं तब तो सुन्दर होते ही हैं। यथा "चितवनि चारु मार मनु हरनी। २४३। ३।", "चितवनि चारु

भृकुटि बर बाँकी। २१९.८।" ['भये अचंचल' का भाव कि नेत्र अपनी ही वस्तुकी खोजमें हैं। जबतक वस्तु न मिली तबतक चंचल रहे, मिल जानेपर अचंचल हो गए। (पाँ०)। अथवा, अभीतक चंचलता-रहित हो किसीके रूपपर न ठहरे थे वह अपनी 'बानि' (स्वभाव) छोड़कर आज स्थिर हो गए। (रा० प्र०)। पुनः भाव कि "जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी।" भला उन रघुनाथजीकी दृष्टिको लुभानेवाला संसारका कोई प्राणीमात्र कब हो सकता है? (स्मरण रहे कि जनकपुरके 'नगर नारि नर रूप निधाना।'''तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजिआरी॥ ३१४।७।' जब ये ही श्रीरामरूप देख लुब्ध हो गए तब त्रिभुवनका कौन ऐसा प्राणी है जो अपने सौंदर्यसे, छबिसे, उनको लुभा ले? सो उन श्रीरघुनाथजीके नेत्रभी श्रीसीताजीकी छबिपर अचंचल हो गए; इससे यहाँ कोई कारण विशेष जान पड़ता है। अतः निमिकी उत्प्रेक्षा करके असंभव दोषकी निवृत्ति की। (मा०त०वि०)]

टिप्पणी—३ 'मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल' इति। (क) निमि राजाका वास सबकी पलकोंपर है। श्रीसीताजी निमिकुलकी कन्या हैं और श्रीरामजी उनके पति हैं। लड़का-लड़की (दामाद और कन्या) दोनों वाटिकामें एकत्र हुये, इसीसे मानों राजा निमि सकुचाकर पलकोंको छोड़कर चले गए कि अब यहाँ रहना उचित नहीं। पलक छोड़कर चले गए, इससे पलक खुले रह गए। शोभा देखकर पलक नहीं गिरते।—इसी (एकटक होनेके) संबंधसे उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों निमि सकुचकर चले गये। वा, [(ख) निमि यह सोचकर चले गए कि यहाँ हमारे रहनेसे इनको संकोच होगा, जिससे इनके उपस्थित कार्यमें विघ्न होगा। अपनी संतानका शृंगार-कुतूहल देखना मना है। (रा० च० मिश्रजी)]

नोट—४ पलकोंपर वास रहनेसे उनका खुलना और बंद होना अपने अधिकारमें था। जब वास हट गया तब तो वे खुले ही रह गये। यह केवल उत्प्रेक्षा है। नहीं तो आपके पलकोंपर देवताओंका वास कहाँ? आपके तो सब अंग चिदानंदमय हैं—"चिदानंदमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी। २।१२७।" शोभाको देखकर नेत्रोंका एकटक होना स्वाभाविक है। यह सिद्ध आधार है, परन्तु निमिका पलकोंको त्याग देना कल्पना मात्र है। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'सिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। न तो निमि चले गए और न सकुचे ही। यह कविकी युक्ति है।

मनुजीके पुत्र इक्ष्वाकुजीके सौ पुत्रोंमेंसे विकुक्षि, निमि और दंड तीन पुत्र प्रधान हुए। यथा 'क्षुतवतश्च मनोरिक्ष्वाकुः पुत्रो जज्ञे घ्राणतः।११। तस्य पुत्र शतप्रधाना विकुक्षि निमि दण्डाख्यास्त्रयः पुत्रा बभूवुः।१२। (वि० पु० अंश ४ अ० २)। इस तरह राजा निमि भी रघुवंशी थे। सत्योपाख्यानमें भी यही कहा है। यथा 'निमिस्तु पूर्वजोऽस्माकमिक्ष्वाकुतनयो भवत्॥ ८। इक्ष्वाकुकुलजन्मत्वादिक्ष्वाकुसदृशावमौ। कुले तस्मिन्निमौ जातौ पूजनीयौ न संशयः। ९।' (उत्तरार्ध अ० ६)। अर्थात् इक्ष्वाकुपुत्र 'निमि' महाराज हमारे पूर्वज थे। इन दोनोंका जन्म इक्ष्वाकुकुलमें होनेसे ये दोनों इक्ष्वाकुमहाराजके समान हैं और इसीसे ये दोनों हमारे पूज्य हैं। भा० ९।१३।१ में भी राजा निमिको इक्ष्वाकु महाराजका पुत्र कहा है। महर्षि गौतमके आश्रमके समीप वैजयन्त नामका नगर बसाकर ये वहाँका राज्य करते थे।

निमिने एक सहस्र वर्षमें समाप्त होनेवाले एक यज्ञका आरंभ किया और उसमें वसिष्ठजीको होता (वा, ऋत्विजके रूपमें) वरण किया। वसिष्ठजीने कहा कि पाँचसौ वर्षके यज्ञके लिये इन्द्रने मुझे पहले ही वरण कर लिया है। अतः इतने समय तुम ठहर जाओ। राजाने कुछ उत्तर नहीं दिया, इससे वसिष्ठजीने यह समझकर कि राजाने उनका कथन स्वीकार कर लिया है, इन्द्रका यज्ञ आरंभ कर दिया, इधर राजा निमिने भी उसी समय महर्षि गौतमादि अन्य होताओं द्वारा यज्ञ प्रारंभ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ समाप्त होते ही 'मुझे निमिका यज्ञ कराना है' इस विचारसे वसिष्ठजी तुरन्त ही आ गये। राजा उस समय सो रहे थे। यज्ञमें अपने स्थानपर गौतमको होताका कर्म करते देख वसिष्ठजीने सोते हुए राजाको शाप दिया कि

'इसने मेरी अवज्ञा करके संपूर्ण कर्मका भार गौतमको सौंपा है, इसलिये यह देहहीन हो जाय'।—'तत्कर्मकर्तृत्वं च गौतमस्य दृष्ट्वा स्वप्ते तस्मै राज्ञे मां प्रत्याख्यायैतदनेन गौतमाय कर्मान्तरं समर्पितं यस्मात्तस्मादयं विदेहो भविष्यतीति शापं ददौ ।८।' (वि०पु० ४।५)। श्रीमद्भागवतमें शापके वचन ये हैं—'निमिको अपनी विचारशीलता और पांडित्यका बड़ा घमंड है, इस लिये इसका शरीर पात हो जाय।' यथा 'अशपत् पतताद् देहो निमेः पण्डितमानिन। भा० ९।१३।४।'

वसिष्ठजीने शाप दिया है, यह जानकर राजा निमिने भी उनको शाप दिया। 'यस्मान्मामसंभाष्याऽज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्टगुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहः पतिष्यातीति शापं दत्वा देहमत्यजत।१०।' (वि० पु० अंश ४ अ० ५)। अर्थात् इस दुष्ट गुरुने मुझसे विना बातचीत किये अज्ञानतापूर्वक मुझ सोये हुये को शाप दिया है, इसलिये इसका देह भी नष्ट हो जायगा। इस प्रकार शाप देकर राजाने अपना शरीर छोड़ दिया। श्रीमद्भागवतमें शुकदेवजीने कहा है कि निमिकी दृष्टिमें गुरु वसिष्ठका शाप धर्मके प्रतिकूल था, इसलिये उन्होंने भी शाप दिया कि 'आपने लोभवश अपने धर्मका आदर नहीं किया, इसलिये आपका शरीर भी पात हो जाय। यथा "निमिः प्रतिददौ शापं गुरवेऽधर्मवर्तिने। तवापि पतताद् देहो लोभाद्धर्ममजानतः।भा० ९।१३।५।' महर्षि गौतम आदिने निमिके शरीरको तैल आदिमें रखकर उसे यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रक्खा। यज्ञकी समाप्तिपर जब देवता लोग अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आये तब ऋत्विजोंने कहा कि यजमानको वर दीजिये। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्म शरीरके द्वारा कहा कि देह धारण करनेपर उससे वियोग होनेमें बहुत दुःख होता है, इसलिये मैं देह नहीं चाहता। समस्त प्राणियोंके लोचनोंपर हमारा निवास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं। यथा "तदहमिच्छामि सकललोकलोचनेषु वस्तुं न पुनश्शरीर ग्रहणं कर्तुमित्येवमुक्तैर्देवैरसावशेष भूतानां नेत्रेष्ववतारितः।१८। ततो भूतान्युन्मेषनिमेषं चक्रुः।१९।" (वि० पु०)।

श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार कहा है कि सत्रयागकी समाप्तिपर जब देवता आये तब मुनियोंने उनसे प्रार्थना की कि यदि आप प्रसन्न हैं तो राजा निमिका यह शरीर पुनः जीवित हो उठे। देवताओंने 'एवमस्तु' कहा। तब निमिने कहा कि "मुझे देहका बन्धन नहीं चाहिये। विचारशील मुनि लोग अपनी बुद्धिको पूर्णरूपसे श्रीभगवान्में ही लगा देते हैं और उन्हींके चरणकमलोंका भजन करते हैं। एक न एक दिन यह शरीर अवश्य छूटेगा—इस भयसे भीत होनेके कारण वे इस शरीरका कभी संयोग ही नहीं चाहते—वे तो मुक्त ही होना चाहते हैं। अतः मैं अब दुःख, शोक और भयके मूल कारण इस शरीरको धारण करना नहीं चाहता। जैसे जलमें मछलीके लिये सर्वत्र ही मृत्युके अवसर हैं, वैसे ही इस शरीरके लिये भी सब कहीं मृत्यु ही मृत्यु है।"

देवताओंने आशीर्वाद दिया कि राजा निमि विना शरीरके ही प्राणियोंके नेत्रोंपर अपनी इच्छाके अनुसार निवास करें। वे वहाँ रहकर सूक्ष्मशरीरसे भगवान्‌का चिन्तन करते रहें। पलक उठने और गिरनेसे उनके अस्तित्वका पता चलता रहेगा। (भा० ९।१३।८-१२। यथा "विदेह उष्यतां कामं लोचनेषु शरीरिणाम्। उन्मेषणनिमेषाभ्यां लक्षितोऽध्यात्मसंस्थितः।९।१३।११।') उसी समयसे पलकोंका नाम निमेष हुआ। इस कुलसे उत्पन्न राजा इसी समयसे रघुकुलसे पृथक हुए और वैजयन्तका नाम मिथिला पड़ा।

देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचन न आवा ॥५॥
जनु बिरंचि सब निज निपुनाई। बिरचि बिस्व कहँ प्रगटि देखाई ॥६॥

अर्थ—(श्रीरामजीने) श्रीसीताजीकी शोभाको देखकर सुख पाया। हृदयमें (शोभाकी) सराहना करते हैं। वचन नहीं निकलता॥५॥ मानों ब्रह्माजीने (श्रीजानकीजीरूपी) विशेष रचना करके अपनी

सारी कारीगरी (सारी निपुणता) संसारको प्रगट कर दिखाई है। (वा, अपनी सारी कारीगरी रचकर 'विश्व' को प्रत्यक्ष कर दिखाया है) ॥ ६ ॥

लमगोड़ाजी—१ ☞ अर्धाली ५ में 'स' का अनुप्रास और दीर्घमात्राओंमें रसास्वादनका आनंद है। २ 'बीनद रूय गुल' (उस फूलका साक्षात्कार) कितना सरस है साक्षात्कारसे वह गुप्त आनंद है जिसमें हृदयकी सराहना है मगर 'बचन न आवा' की मूक अवस्थाही है। हम आगे देखेंगे कि इस हृदयकी सराहनाको कवि (जिसका अर्थ ही है क्रान्त अर्थात् सूक्ष्मदर्शी) अपनी एक्स रेज़ (X-Rays) द्वारा किस सुन्दरतासे प्रगट करेगा। नाटक कलाके मर्मज्ञ देखें कि कवि कितना आवश्यक है और, ऐसे कवि द्वारा चित्रणके सामने शैक्सपियरके नाटकोंकी 'स्वगत-वार्तायें' (Soliloquising) कितनी कृत्रिम हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'देखि सीय-सोभा सुख पावा०' इति। (क) पूर्व नेत्रको चकोर कहा,—'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा'। चंद्रमाको देखकर जो दशा चकोरकी होती है, वह सब दशा अब कहते हैं। दोनोंकी दशाओंका मिलान—

चकोरकी दशा		श्रीरामजीकी दशा—
चन्द्रमाको देखनेसे सुख मिलता है	१	देखि सीय सोभा सुख पावा
चकोर चंद्रमाको एकटक देखता रहता है	२	भये बिलोचन चारु अचंचल
चंद्रमाको देखता है, तारागण को नहीं	३	श्रीसीताजीको देखते हैं, सखियोंको नहीं
चंद्रमाको देख हृदयमें सुखी होता है	४	हृदय सराहत
,, देखकर बोलता नहीं	५	बचन न आवा

(ख) 'बचन न आवा' से जनाया कि सीताजीकी शोभा वचनसे भिन्न (परे) है, क्योंकि यदि वचनमें आ सकती तो रामजी लक्ष्मणजीसे अवश्य कहते जैसे आभूषणोंके शब्द सुनकर उसको कहा था। (ग) हृदयमें क्या सराहते हैं सो आगे लिखते हैं —'जनु बिरंचि०'।

नोट—१ 'देखि सीय सोभा' इति। शोभा "सौंदर्य्य और गुणका वह भाग है जो औरोंको अपनी आकर्षण-शक्तिसे आकर्षित करता है। इस तरह नजदीकी बढ़ती जाती है और गुण एवं सुंदरता, वास्तविकतया न कि केवल आपेक्षिक, स्वयं अनुभूत एवं विश्वसनीय होती जाती हैं"—(पं० राजबहादुर लमगोड़ाजी। माधुरी से)।

२ 'सुख पावा' क्योंकि नेत्र चकोर बन गए हैं, चकोर चंद्रको देख सुख पाता है। नेत्र अपना विषय पाकर सुखी हुए। इन्हींके लिए तो पीछे फिरे थे, जिसकी खोज थी उसे पागए। पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'पावा' शब्द खोजने, ढूँढ़नेका वाचक है। जिस सुखको ढूँढ़ते थे उसे पाया। वह सुख कैसा है, उसपर कहते हैं कि 'वचनमें नहीं आता' [अर्थात् वाणीसे अगोचर है, वाणीका विषय नहीं हो सकता, वाणीकी वहां पहुँच नहीं] (पांड़ेजी)। मिलान कीजिये—'उर अनुभवति न कह सक सोऊ'। वही भाव यहां है। पुनः 'सुख पावा' से जनाया कि आनन्दरूप सुखनिधान कहलाते थे, पर आनन्द वस्तुतः आजही पाया है। (मा० त० वि०)

३ "हृदय सराहत" के और भाव—(क) ऊपर कह आए हैं कि सखी श्रीरामजीको देख निर्बोल होगई, इससे सीताजीने यह प्रण किया कि राजपुत्रने एक सखीको निर्बोल कर दिया है, हम उनको अनबोल करेंगी। वही बात कवि यहां कहते हैं कि रघुनाथजी सीताजीको देख ऐसे आनन्दको प्राप्त हुए कि बोल न आया। (पाँ०)। (ख) 'सराहत' का श्लेषसे यह भावभी निकलता है कि "हृदय (शोभारूपी) सर (बाण) से आहत अर्थात् घायल होगया, अतएव 'वचन न आवा'।" (म० त० वि०, रा० प्र०)।

वि० त्रि०—पहिले कह आये हैं 'परम रम्य आराम यह जो रामहि सुख देत'। बागने सुख तो दिया

पर इन्होंने लिया नहीं, क्योंकि बिना आलम्बनके उद्दीपन सुखदायक नहीं होता। अब श्रीसीताजीके रूपमें आलम्बनकी प्राप्ति हुई; अतः कहते हैं 'देखि सीय सोभा सुख पावा'। (अब अनुभाव कहते हैं कि) मनसे प्रशंसा करते हैं, लक्ष्मणजीसे कहना चाहते हैं पर कह नहीं सकते। चतुष्पाद विभूतिमेंसे एक पाद ही प्रकट है और तीन पाद अप्रकट हैं। सो मानों ब्रह्मदेवने सीताजीको रचकर उनमें चतुष्पाद विभूतिको प्रकट करके दिखला दिया। यथा 'त्रिपादूर्ध्वमुदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत्पुनः।'

(श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि "सर + आहत' वाली खींचातानीसे मैं सहमत नहीं हूँ, क्योंकि इसमें 'जहर इश्क़' है और यहाँ विषपूर्ण शृङ्गार नहीं है।"—दास प्रथमही लिख चुका है कि ये टिप्पण केवल शृङ्गारियों रसिकों सखाभाववालोंके और उन्हींके लिये हैं)।

टिप्पणी—२ "जनु बिरंचि सब निज निपुनाई···" इति। (क) इस कथनका तात्पर्य यह है कि श्रीजानकीजी ब्रह्माजीके कला-कौशलकी सीमा हैं। (ख) जहाँ अत्यन्त सुंदरता कहनेको होती है वहाँ ब्रह्माका ही बनाना कहते हैं। यथा 'जेहि बिरंचि रचि सीय सवाँरी। तेहि स्यामल बरु रचेउ बिचारी। २२३।७।', 'कहा एक मैं आजु निहारे। जनु बिरंचि निज हाथ सँवारे। ३११।५।' इत्यादि। "श्रीसीताजी विधिकी बनाई हुई नहीं हैं" यह शंका करनेका कोई प्रयोजन ही नहीं है; क्योंकि यहाँ शोभाके वर्णनका प्रकरण है। विधि प्रपंचमें नररूप धारण करके प्रकट हुए हैं, इसीसे विधिके बनाये कहे जाते हैं। (☞ स्मरण रहे कि यहाँ श्रीसीताजीको विरंचिका बनाया नहीं कहते। यहाँ उत्प्रेक्षामात्र है। अतीव सुन्दरताके विषयमें और कह ही क्या सकते हैं? उत्प्रेक्षा यथार्थ नहीं होती। 'जनु बिरंचि···' से जनाया कि श्रीसीताजी अयोनिजा हैं उनका जन्म कर्मविपाक बन्धनके अतीत है।)

नोट—४ पाँड़ेजीने यह शंका उठाकर कि "आगे कहा है कि 'बिधिहि भयेउ आचरजु बिसेषी। निज करनी कछु कतहुँ न देखी। ३१४।८।' जब ब्रह्माने जनकपुरकी प्रजाके घरोंमें अपना कुछ कर्त्तव्य कहीं नहीं देखा, तब जानकीजीको बनाना कैसे संभव हो सकता है?", वे समाधानार्थ अर्थ यों करते हैं—"मानों जो जानकीजी अपनी निपुणतासे सब बिरंचोंको रचती हैं वही विश्वको प्रकट दिखाई दीं।" और कहते हैं कि ऐसा ही आगे कहते हैं—'सुंदरता कहँ सुंदर करई'।

५ वि० टी० ने यह अर्थ दिया है—"मानों ब्रह्माजीने अपनी सब चतुराईहीको रूप देकर परमेश्वर-को स्पष्ट दिखाया हो।"—यहाँ 'विश्व' का अर्थ 'परमेश्वर भगवान् राम' किया है। रा० प्र० के आधारपर यह अर्थ जान पड़ता है।

६ (क) ☞ 'बिरंचि' शब्द प्रायः वहीं वहीं दिया गया है जहाँ विशेष कौशलकी रचना कहनी होती है। ब्रह्मा हाथसे नहीं रचते। वे संकल्पमात्रसे सृष्टिकी रचना करते हैं, पर इनकी रचना मानों स्वयं की है।—यह 'बिरंच' के रचनेका भाव है। (ख) एक तो 'बिरंचि', उसपरभी 'बिरचि' और फिरभी 'सब निज निपुनाई' विचारनेही योग्य हैं। भाव यह है कि ऐसी शोभा ब्रह्मांडभरमें कहीं किसीमें नहीं है; यह 'अलौकिक' है, जैसा आगे श्रीरामजीने स्वयं कहा है—'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा।'

७ यहाँ श्रीसीताजीकी अतिशय शोभाका वर्णन उत्प्रेक्षाका विषय है। ब्रह्माकी रचना-कुशलता सिद्ध आधार है, क्योंकि वे सृष्टिकी रचना करते हैं। पर सीताजी आदिशक्ति हैं, वे स्वयं अपनी इच्छासे प्रकट हुई हैं, वे ब्रह्माकी बनाई नहीं हैं। इस अहेतुको हेतु ठहराना 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)।

८ कुमारसंभवमें इससे मिलता हुआ श्लोक यह है-"सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशि-तेन। सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौंदर्य्यं दिदृक्षयेव॥" अर्थात् समस्त उपमायोग्य द्रव्योंका समुच्चय

लेकर यथायोग्य अङ्गोंमें लगाकर सृष्टि रचयिता विरंचिने बड़ेही प्रयत्नसे सौन्दर्यको देखनेके लिये इनका निर्माण किया।

६ हृदयमें क्या सराहते हैं यह 'जनु बिरंचि…' से प्रारंभ हुआ। इसपर शंका होती है कि "जिस सुख शोभाको उसके पानेवाले न कह सके—'बचन न आवा', उसको ग्रंथकर्त्ता कैसे कहते हैं?" समाधान यह है कि "मानसके रूपकमें कह आए हैं कि जो युक्ति कहेंगे वह इस सरकी मोती उत्पन्न करनेवाली सीपी है। उसीके अनुसार दोहे तक कविकी युक्ति है।" (पाड़ेजी)। पुनः, कवि प्रथमही कह चुके हैं—'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन।', 'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक।', 'जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी।', 'सो जानइ जेहि देहु जनाई।', इत्यादि कारणोंसे शंकाके लिये कोई स्थान नहीं है।

सुंदरता कहुँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई॥७॥
सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी॥८॥

शब्दार्थ—पटतरना = बराबर करना; उपमा देना।

अर्थ—सुन्दरताको भी सुन्दर करती है। मानों छबिरूपी घरमें दीपककी लौ जल रही है॥ ७॥ कवि लोगोंने सब उपमाओंको जूठार (जूठी कर) डाला है। विदेहकुमारी श्रीजनकनन्दिनीजीकी किससे उपमा दूँ?॥ ८॥

पं० राजारामशरण—"सुन्दरता कहुँ…" यह अर्धाली काव्यकलामें बहुत ही उत्तम स्थान रखती है। इससे कविकी विश्वसाहित्यपर विजय प्रमाणित होती है।

'सुंदरता कहुँ सुंदर करई' इति। अमेरिकाके प्रोफेसरने शैक्सपियरकी इस पंक्तिकी, कि "Frailty, thy name is Woman", (कमज़ोरी तेरा नाम स्त्री है) को बड़ी प्रशंसा की है। कारण कि उपमान और उपमेय दोनों व्यक्तिवाचक संज्ञायें हुआ करती थीं और व्यक्तिवाचक संज्ञामें विचार सीमित होता है। (इसीसे तो वह नामरूपात्मक है) परंतु कविने एकको गुणवाचक करके असीमित बना दिया। ('कमज़ोरी' गुणवाचक है, इस कारण उसकी सीमा नहीं)। हिन्दूविश्वविद्यालयके प्रोफ़ेसर श्रीयाजनिकजीने बताया था कि उपर्युक्त प्रोफ़ेसरने इतनी प्रशंसा की है कि यहाँ तक कह दिया है कि यदि शैक्सपियरका सब साहित्य नष्ट हो जाय और केवल यह पंक्ति बच रहे तो भी वह ससारका श्रेष्ठ कवि प्रमाणित होगा। हमारे कविका यह चरण इससे कहीं बढ़कर है, कारण कि श्रीसीताजीको, सुंदरतावाले विचारका जो गुणवाचक है उसका भी सुंदर करनेवाला लिखा है। ठीक भी है। श्रीसीताजी अप्राकृतिक हैं और प्राकृतिक शब्द भी तो चाहे गुणवाचक ही क्यों न हों, सीमित ही हैं। और, यहाँ उसका वर्णन है कि जिसके अंशसे 'अगणित उमा रमा ब्रह्माणी' उत्पन्न होती हैं। मगर कविका चमत्कार यह है कि 'जनु' की उत्प्रेक्षा करके अतिशयोक्ति द्वारा कलाको नाटकीय और शृङ्गारकी ही श्रेणीमें रक्खे हुए है, जिसमें रोचकता बनी रहे। महाकाव्यकी उड़ानको सुन्दरतामें छिपाये रक्खा है।

☞ क्या पाश्चात्यसाहित्यपर इस प्रकार विजय नहीं हुई?

अब दूसरा चरण लीजिये—'छबिगृह दीपशिखा जनु बरई'। मेरे संस्कृत साहित्यके विज्ञ मित्रोंने मुझे बताया है कि कालिदासको 'दीपशिखावाला' कालिदास कहते हैं, कारण कि उन्होंने एक जगह प्रेमिकाको उस दीपशिखासे उपमा दी है जिसके कारण अँधेरा बाज़ार जगमगा उठे*। अँधेरेमें उजाला

* "संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा-नरेन्द्रमार्गं हि इव प्रपेदे विवर्णभावं स सभूमिपालः॥ रघुवंश षष्ठ सर्ग॥६७॥" पतिका वरण करनेवाली इन्दुमती रात्रिमें चलनेवाली दीपशिखा

करना तो कोई चमत्कार न हुआ, हमारे कविने तो 'छबिगृह दीपशिखा' उजालेमें उजाला पैदा किया है और उसे प्रमाणित भी किया है। सवेरे सूर्योदयके बाद भी श्रीसीताजीकी सुंदरताका प्रभाव श्रीरामपर यह पड़ा है कि वे लक्ष्मणसे कहते हैं कि 'करत प्रकास फिरत फुलवाई'—यह है 'सूरजको चिराग दिखाना'! इस प्रकार पूर्वी साहित्यपर भी विजय हुई। क्या इस प्रकार पूरी अर्धालीमें विश्वसाहित्यपर विजय न हुई?

श्रीसीताजीके सम्बन्धकी उपमाओंके चढ़ावको देखते चलियेगा। आप 'एहि बिधि उपजइ लच्छि जब०' वाले प्रसंगपर पहुँचकर यह अनुभव करेंगे कि आप विश्वसाहित्यके 'मेरु' (सुमेरु) पर्वत (हिमालय नहीं) की भी उच्चतम चोटीपर हैं।

कविने साफ़ आगेकी अर्धालीमें बता दिया है कि 'राम' का हृदय (शुद्ध प्रेमके कारण) कवियोंकी जुठारी-उपमाओंका प्रयोग नहीं करना चाहता।

प० प० प्र०—'जनु बिरंचि' 'बिरचि बिस्व कहुँ प्रगटि जनाई' इसकी सराहना करनेपर भी समाधान नहीं हुआ तब कहते हैं कि सुन्दरताको सुन्दर करनेवाली यही है। सौन्दर्य, लावण्य, रूप, शोभा, कान्ति, द्युति और छबि आदि जितने भी आदरणीय और हृदय प्लावित करनेवाले गुण हैं वे सब इस विदेहकुमारीसे ही मिले हैं। यह कथन उचित ही तो है, क्योंकि 'नगर नारि नर रूप निधाना। सुघर सुधरम सुसील सुजाना॥ तिन्हहिं देखि सब सुर सुरनारी। भये नखत जनु बिधु उजिआरी। ३१४। ६-७।' जिनका सौन्दर्य ऐसा है वे भी युगल किशोरोंको देखकर मोहित हो गए और अब उन रघुबीरको भी श्रीसीताजीके सौन्दर्यने मोहित कर उनके मनको सुखी किया। भाव यह कि श्रीरामजीका सौन्दर्य भी श्रीसीताजीके कारण ही है। निर्गुण निराकार ब्रह्ममें तो सौन्दर्यादि कुछ भी गुण नहीं हैं, वह अगुण है। ऐसे ब्रह्मको सगुण साकार बनानेमें 'आदिसक्ति छबिनिधि जगमूला' की ही सहायता होती है। निर्गुण ब्रह्म आदिशक्तिके संयोगसे ही सगुण और क्रियाशील बनता है। इस प्रकार यह शृङ्गाररसका वर्णन भी आधिदैविक और आध्यात्मिक अर्थसे परिपूर्ण है। अन्य धर्मावलम्बियोंके काव्यमें अध्यात्म और इतिवृत्त (व्यवहार) का ऐसा मधुर सम्मिलन नहीं है और मानसके अतिरिक्त अन्य शृङ्गाररसप्रधान काव्यमें भी भौतिक, दैविक और आध्यात्मिक अर्थरूपी त्रिवेणीका संगम मिलना दुर्लभ है।

टिप्पणी—१ (क) सुंदरताको सुंदर करना यही है कि सखियोंका मंडल छबिगृह है, श्रीजानकीजी दीपशिखा हैं। दीपक गृहको शोभित करता है। श्रीजानकीजी सखिमंडलको शोभित करती हैं; यथा 'सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे। छबिगन मध्य महाछबि जैसे। २६४।१।', "सोहति बनिताबृंद महुँ सहज सुहावनि सीय। छबि ललनागन मध्य जनु सुखमा तिय कमनीय। ३२२।' (ख) "ब्रह्माने विश्वको प्रगट दिखा दिया (कि) जानकीजी दीपशिखासम (हैं)" इस कथनसे पाया गया कि विश्व पहले अंधकारमय था, अब श्रीजानकीजीके प्रकाशसे प्रकाशित हुआ। (ग) प्रथम जानकीजीकी सुंदरता कही कि 'सुंदरता कहुँ सुंदर करई', फिर उनको दीपशिखा कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि यदि पहिले सुंदरता न कहते, केवल दीपशिखा ही कहते, तो जानकीजीकी सुंदरता न पाई जाती (वे सुंदर हैं, यह निश्चय न कहा जा सकता। क्योंकि सभी स्त्रियोंको कविने दीपशिखासम कहा है, यथा 'दीपसिखा सम जुबति तन मन जनि होसि पतंग।३।४६।'

नोट—१ कोई भी घर कितना ही छबिपूर्ण क्यों न हो, यदि उसमें दीपक न जलता हो तो उसकी शोभा नहीं। दीपककी रोशनी पानेपर ही वह शोभित होता है। इसी तरह आपकी सुंदरता मूर्तिमान

की तरहसे जिस जिस राजाको छोड़कर आगे बढ़ी वह वह राजा राजपथके अट्टकी तरह कान्तिहीन होता गया। रघुवंशके इस उद्धरणमें कालिदासजीने स्वयंवरमें जयमाल लिये राजाओंको देखती चलती हुई इन्दुमतीको चलती हुई दीपशिखाके समान कहा है।

सुंदरतामात्रको शोभित करनेवाली है, सुंदरताको भी जो सुंदरता मिली है वह आपसे ही मिली है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'विरंचिरचित सुंदरताई अँधेरी पड़ी थी, उसे इन्होंने अपने रूप (के) प्रकाशसे शोभित कर दिया ।'❀

वि० त्रि०—जितनी सुन्दरताएँ हैं वे इस सुन्दरताकी उपजीवी हैं; यथा 'जासु अंस उपजहिं गुन-खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।' अर्थात् इस सुन्दरतासे ही सब सुन्दरियोंने सुन्दरता पाई है। यह कोई दिव्य तेज है, इसीलिये दीपशिखा कहते हैं (जिसमें न तेल है न बत्ती, न धूआँ है)। दीपशिखा स्वयं प्रकाशमान है और घरको भी प्रकाशित करती है। इसी भाँति सीताजीकी दिव्य शोभासे सखीगण भी शोभायमान हैं।

प० प० प्र०—'छबिगृह दीपसिखा ···' इति। यहाँ लावण्यमें जो कान्ति द्युति (तेजस्विता) रहती है उसको सूचित किया है। सौन्दर्यमें कान्ति द्युति न हो तो उसकी क़ीमत मुरदेके सौंदर्यके समान ही होगी। दीपशिखा तो अन्धकारका ही विनाश करती है पर यह दीपशिखा ऐसी प्रचंड है कि दिनमें भी 'करत प्रकास फिरइ फुलवाई'।

साधारण प्राकृतिक युवति तनको भी मानसमें 'दीपसिखा' कहा है, यथा 'दीपसिखासम जुवति तनु मन जनि होसि पतंग। ३।४६।'

सीताजी ब्रह्मविद्या हैं। उनकी कृपासे ही अविद्यादि पंचक्लेशोंका संहार होता है और सर्वश्रेयकी प्राप्ति होती है। उनके बिना सकल सौन्दर्य रहनेपर भी जन्म-मरण-परम्पराका अन्त नहीं होता है। अज्ञान-रूपी अन्धकारका नाश करनेवाली प्रचंड दीपशिखा सीताजी ही हैं। 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः। नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता। गीता १०।११।' (अर्थात् निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करने वाले भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये मैं उनके आत्मभावमें स्थित होकर उनके अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको प्रज्वलित ज्ञानदीपकसे नाश कर देता हूँ), पर यदि इस ज्ञानदीपकमें प्रचण्ड शिखा न हो तो भगवान् तमका नाश कैसे करेंगे ? अतः मानसमें ही कहा है 'सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा।' इस तरह यहाँ भी अध्यात्म भर दिया है।

टिप्पणी—२ 'सब उपमा कबि रहे जुंठारी।०' इति। (क) 'रहे जुठारी' जूठा कर दिया है। अर्थात् प्राकृत स्त्रियोंके लिये सभी उपमाओंको प्रयोगमें ला चुके हैं। एक वा अनेक बार उन उपमाओंका औरोंमें लगाना ही उनका जूठा करना वा जुठारना है, वह अब उनकी जूठनही हुई। जैसे कोई भोजन किसीको प्रथम अर्पण किया जाय तो उनके ग्रहण करनेके बाद वह उसका जूठन कहलाता है। अतएव 'जुठारी' का भाव यह हुआ कि प्राकृत स्त्रियोंके अंगमें लगनेसे वे सब उपमाएँ भी लघु (तुच्छ) हो गईं, इससे हम उन उपमाओंको विदेहकुमारीमें नहीं लगा सकते; यथा—'उपमा सकल मोहि लघु लागीं। प्राकृत नारि अंग अनुरागीं॥ सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई। १.२४७।' और नई उपमा कोई हमें मिलती नहीं जो हम दें। उनके पटतरका कोई देखने-सुननेमें भी नहीं आया, यथा "जौं पटतरिय तीय

❀ मिलान कीजिये—"केयं श्यामोपलविरचितोल्लेखहेमैकरेखा लग्नैरङ्गैः कनककदलीकन्दलीगर्भगौरैः। हारिद्राम्बुद्रवसहचरं कान्तिपूरं वहद्भिः, कामक्रीड़ाभवनवलभी दीपिके वा विरस्ति। प्र० रा० २।७।' अर्थात् यह कौन है जो श्याम मणिके भीतर मानों सोनेकी रेखा है, जिसके अंगमें लगे हुये भूषण केलेके बीचमें लगे हुये सोनेके समान गौर हैं। जान पड़ता है कि कामके उस क्रीड़ाभवनके, जिसमें पीले हलदीके सौन्दर्यमय जलके फुहारे छूट रहे हैं, अटारीके दीपक सरीखे जाज्वल्यमान है। (यहाँ गौर शरीरपर नीली साड़ी पहने हैं और सखियाँ गौरवर्णा हैं। सखियोंको पीले जलका फुहारा कहा है)।

सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया ॥ गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी ॥ बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही । कहिय रमा सम किमि बैदेही ॥ १.२४७।" यह शोभा अनूठी है।

नोट—२ यह सब सराहना हृदयकी है; यथा 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु०'। देखिए उपमाकी खोजमेंकी कठिनताके सम्बंधसे यहाँ 'बिदेहकुमारी' कितना बड़ा शब्द दिया—'बिदेहकुमारी'—छः अक्षरोंका और उसपर भी 'विदेह' की कुमारी कहा। (अर्थात् जो देहरहित हैं, उनकी यह कन्या हैं, 'सदेह-कुमारी' हो तो उसकी प्राकृतिक उपमा भी मिल जाय और ये तो अप्राकृतिक हैं तो प्राकृतिक देहकुमारियोंवाली उपमाएँ इनमें कैसे लगाई जा सकें ?)। और, जब शोभाका वर्णन करना कहेंगे तब कितना छोटा और प्यारा शृङ्गाररसयुक्त शब्द 'सिय' का प्रयोग करेंगे। यह कविकी उक्ति प्रशंसनीय है। श्रीयुत राजबहादुर लमगोड़ाजीने एक लेखमें लिखा था कि—(क) "बिदेह-कुमारी' इत्यादि वाला उच्च व्यक्तित्व इस छोटेसे सुंदर नाममें विलीन हो गया; क्योंकि उपमाकी खोजके खयालमें काठिन्य-प्रिय-मस्तिष्क उसके उपर्युक्त व्यक्तित्वको चाहे जितना भी स्पष्ट करता, पर, वस्तुतः इस शृङ्गारी दृश्यमें छोटी राजकुमारी 'सिय' ही हमारे सामने पेश की गई हैं।' (ख) 'सुंदरताकी प्राकृतिक वास्तविकतासे 'बिदेहकुमारी' के काव्यपूर्ण चिंतनकी उड़ान भी दर्शनीय है'।

३ "अंतमें "केहि पटतरउँ" का स्वयं अपनेसे प्रश्न कैसा सुंदर और समयोचित है ? ऐसे प्रश्नोंद्वारा मुग्धतासे सहसा सचेत होजानेके उदाहरण साहित्यिक जगत्‌में अकसर मिलते हैं।"—(माधुरीसे)।

श्रीराजारामशरण (लमगोड़ाजी)—'विदेहकुमारी' का अर्थ है 'बिना देहवाली कुमारी' वा, वैसे (विना देहवाले) राजाकी पुत्री। तब तो कविका यह कहना ठीकही है कि 'प्राकृत नारि अंग अनुरागीं' वाली उपमाएँ ठीक न होंगी। यदि इतनाही शाब्दिक औचित्य (लफ़्ज़ी तलाज़मा) होता तो 'नसीम' कीही बराबरी होती जैसा "सौदा है मेरी बकावली को। है चाह बशर की बावलीको।' मगर 'नसीम' के पदमें अगर कहीं रेखांकित शब्दोंका 'कुँवाँ' और 'बावली' (बड़ा कुआँ) अर्थ कर दिया जावे तो कोई अर्थ ही नहीं होता। मगर हमारे कवि का कमाल यह है कि दोनों बातें निभ जाती हैं—'सीताजी' दिव्य व्यक्ति हैं, इस कारण उन्हें वैसा कहा और उधर 'विदेह' योगिराजकी कन्या होनेके संबंधसे भी वैसा कहना उचितही है। ठीक है योग गुणके लिये प्राकृतिक उपमा नहीं मिल सकती।

दोहा—सिय सोभा हिय बरनि प्रभु आपनि दसा बिचारि।
बोले सुचि मन अनुज सन बचन समय अनुहारि ॥२३०॥

अर्थ—हृदयमें श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन करके और अपनी दशाको बिचारकर पवित्र मन (वाले) प्रभु अपने छोटे भाईसे समयानुकूल वचन बोले ॥ २३० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचनु न आवा। २३०.५।' उपक्रम है और 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु' उपसंहार है। तात्पर्य कि वहांसे लेकर यहाँ तक प्रभुने श्रीसीताजीकी शोभा मनमें वर्णन की। मनकी बात कैसे प्रकट हुई ? (उत्तर) गुरुप्रसादसे, यथा 'श्रीगुर पद नख मनि गन जोती। सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती ॥ दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवहि जासू ॥ उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिं दोष दुख भव रजनी के ॥ सूझहिं रामचरितमनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥ दोहा १। ५-८।'—(इस प्रश्नका उत्तर ऊपरकी चौपाईमें लिखा गया है)। [(ख) शोभारूपी रत्नको 'हिय वर्णन' रूप डब्बेमें संपुट किया; 'जनु बिरंचि सब निज निपुनाई' से 'केहि पटतरउँ बिदेहकुमारी' तक शोभामय रत्न है, नीचेका पेंदा छोटा होता है वैसेही यहाँ शोभा वर्णनके उपक्रमवाली

चौपाई 'देखि सीय सोभा···" छोटी है। ऊपरका ढकन बड़ा होता है, वैसे ही यहाँ उपसंहार का दोहा बड़ा है। (प्र० सं०)]

नोट—१ 'प्रभु' इति। 'प्रभु' शब्द देकर यहाँ मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन दिखाया है। श्रीरामजीको अपने भावोंपर क़ाबू है, अधिकार है, इसीसे उनको 'प्रभु' कहा। यह शब्द देकर कवि हमें चेतावनी दे रहा है कि कहीं हम दुराचाररूपी गर्तमें जाकर न गिर पड़ें। इस शब्दसे वह बताता है कि श्रीरामजी किसी प्राकृतिक प्रयोजन वा बाह्यसौन्दर्यके कारण प्रेमासक्त नहीं हुये हैं। (लमगोड़ाजी। आगे पूरा लेख देखिये)।

टिप्पणी—२ "आपनि दसा बिचारि" इति। (क) दशा यह बिचारी कि श्रीजानकीजीकी शोभा देखकर हमारा मन चलायमान (बिचलित, क्षुब्ध) हो गया है, दक्षिण अङ्ग फड़क रहे हैं। पुनः, [(ख) अपनी दशा बिचारनेमें धर्मपरायणता और सदाचारकी दृढ़ता व्यंजित होती है। (बीर)। वा, (ग) मुखसे बोल न निकला। स्वेद, कंप, रोमांच, विवर्णता, स्वरभंग, प्रलय, अर्थात् विह्वलता आदि छओं सात्विक अनुभाव देहमें प्रकट हैं। प्रेमासक्त हो गए हैं। प्रेमकी उग्र दशा वर्तमान है।—इस अपनी दशाको विचार कर। (वै०)। वा, (घ) दशा बिचारना यह कि यह कैसी हुई अथवा यह दर्शन बिना शुभ ग्रहोंके उदयके कहाँ हो सकता ? (रा० प्र०)]

३ (क) इस दोहेमें दो बातें कहते हैं—एक तो श्रीसीताजीकी शोभा, दूसरे अपनी दशा। आगे दोहेतक इन्हीं दोनोंका क्रमशः विस्तार (व्याख्या) है। प्रथम श्रीसीताजीकी वार्ता करेंगे, फिर अपनी दशा कहेंगे, अपने मनकी शुचिता कहेंगे। (ख) अनुज श्रीलक्ष्मणजीसे कहने लगे हैं—'कहत लषन सन रामु हृदय गुनि', 'बोले सुचि मन अनुज सन'। इसीसे आगे अनुजकोही संबोधन करेंगे; यथा 'तात जनकतनया यह सोई', 'करत बतकही अनुज सन।' [(ग) 'बरनि' और 'बिचारि' अपूर्ण क्रियायें भावोंमें तात्कालिक परिवर्तनका संकेत जना रही हैं] (घ) "शुचि मन" इति। श्रीलक्ष्मणजी और गुरुजीसे शृङ्गारका कथन करना अनुचित है। गोस्वामीजी 'शुचि मन' विशेषण देकर इसका समाधान करते हैं। श्रीरामजी 'शुचिमन' हैं। अर्थात् उनके मनमें छल कपट नहीं है। यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा। ५.४४।'; इसीसे उन्होंने अनुजसे और गुरुजीसे भी कहा; यथा 'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुआ छल नाहीं। २३७ २।' ['शुचिमन' श्रीरामजीका विशेषण है। जो बात साधारणतः लोग भाई आदिसे नहीं कहते वह यहाँ कही गई है। इसीलिये इस विशेषणसे उसका समाधान किया गया है। पांडेजी का मत है कि "यह लक्ष्मणजीका भी विशेषण है। श्रीरामजी आगे अपने मनको अशुच कहेंगे, यथा 'सहज पुनीत मोर मन छोभा'।"—श्रीलमगोड़ाजीका लेख भी देखिए। प्र० स्वामी पाँड़ेजीसे सहमत हैं। लक्ष्मणजी का मन पवित्र है यह जानकर ही श्रीरामजी अपने हृदयकी दशाका चित्र शब्दोंमें प्रगट करते हैं, पर समयानुसार ही कहते हैं। श्रीसीताजीका और अपना अवतार-रहस्य प्रकट नहीं करते हैं, माधुर्य भावसे ही देश, काल और परिस्थित्यानुसार ही कहते हैं।]

प० प० प्र०—दोहा २२९ में श्रीसीताजीकी पुरातन प्रीतिकी शुचिता नारद-वचनसे सिद्ध हुई। यहाँ श्रीरामजीके रूपासक्तिकी शुचिता 'प्रभु' शब्दसे जनाई। राम प्रभु हैं, सर्वज्ञ सर्वदर्शी और त्रिकालज्ञ हैं। उन्हें इसकी सब भावी घटनाओंको जाननेमें बिलंब न लगा। पुरातन प्रेम कालधर्मानुसार जागृत हुआ है, यह जान लिया और इस जानकारीसे निश्चय किया कि इसमें कुछ भी अपवित्रता नहीं है, मनमें केवल रूपासक्ति उपजी है, उस शरीरपर प्रेम, ग्राम्यवासना, सम्भाषण या स्पर्श करनेकी इच्छा इत्यादि अपवित्रताका स्पर्श तक मनको नहीं हुआ है। मन शुचि है।

नोट—२ 'बोले सुचि मन अनुज सन' इति। विचारोंमें अपवित्रताका लेशमात्र नहीं है; इसीसे

छोटे भाईसे कहनेमें कोई अनुचित लज्जा भी नहीं है। मुख्य प्रयोजन जिसने 'आपनि दसा' का 'बिचार' होते ही लक्ष्मणजीकी उपस्थितिके ख़यालसे श्रीरामजीकी जबानके कुफल (ताले) को खोल दिया निम्न-लिखित है—(क) लक्ष्मणजी श्रीरामजीके छोटे भाई हैं। अतः श्रीरामजीको कोई ऐसा कार्य न करना चाहिए, जिससे उनके अनुयायीपर बुरा प्रभाव पड़े। प्रकटमें यह प्रेमिक-प्रेमिकाके पारस्परिक अवलोकन ('भये बिलोचन चारु अचंचल') की मुग्धता तथा हृदयरूपी जिह्वाद्वारा व्याख्याके समय शारीरिक स्तब्धता—ये सब बातें संभवतः लक्ष्मणजीपर बुरा प्रभाव डालतीं और कदाचित् ऐसा विचार उत्पन्न कर देतीं कि प्रेममें यह सभी उचित है। अतः श्रीरामजीको सब कार्य्योंकी व्याख्या उचित एवं अनिवार्य है जो जिह्वाप्रयोगके विना नहीं हो सकती (ख) सम्भवतः श्रीरामजीके दिलमें यह ख़याल रहा हो कि कदाचित् लक्ष्मणके हृदयमें छिद्रान्वेषणका ख़याल पैदा हो, इसलिये सफ़ाई जरूरी है। पर यह ख़याल केवल ख़याल ही है। (ग) सच्चे प्रेमको अपने सम्बन्धियोंसे छिपानेकी आवश्यकता नहीं और न वह एक शुद्ध एवं आकस्मिक भाव होनेके कारण छिपही सकता है।''—(श्रीलमगोड़ाजी। माधुरी वर्ष ५ खंड २ संख्या ६ से उद्धृत)।—'अनुज सन' के और भाव 'कहत लषन सन ··। २३०. १।' में दिये गए हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'रामजी शुचिमन हैं, इस लिये इन्हें भी प्रीति पुनीत उपजी। कामसे संग्राम उपस्थित है, भाईकी सहायता चाहते हैं, अतः बोले।'

२ 'बचन समय अनुहारि' इति। 'समय अनुहारि' पद दोहेमें कहे हुए 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु', 'आपनि दसा बिचारि' और 'बोले'—इन तीनोंके साथ है। तीनों सूत्ररूप हैं। इनकी व्याख्या आगे आठ अर्धालियोंमें क्रमसे की गई है। जो बातें आगे कहते हैं उन्हींका समय है। इसीसे 'समय अनुहारि' कहा। [प्र० सं० में हमने लिखा था कि ''किशोरीजी इस समय समीप हैं। अतः उन्हींकी वार्ता इस समय करना 'समय अनुहारि' बात करना है।]

श्रीयुत मुं० राजबहादुर लमगोड़ाजी—''तुलसीदासजीके नाटकीय सिद्धान्तानुसार कवि निरंतरही रंगमंच और उपस्थित जनोंके दर्मियान व्याख्याता बनकर विद्यमान रहता है और समयानुसार हमें चेतावनी देता रहता है कि कहीं हम दुराचाररूपी गर्तमें जाकर न गिर पड़ें और एक निर्लिप्त भ्रमरकी भाँति सदुप-देशरूपी शुद्ध रस लेते हुए पुष्पके रंगरूपपर आसक्त होकर कहीं आदर्शच्युत न हो जावें, इस लिए कोई न कोई आध्यात्मिक व्यक्तित्वभी दूर, परन्तु दृष्टिसीमाके भीतरही एक विचित्र रीति पर उपस्थित रहता है। यहाँ तुलसीदासजी स्वयंही भक्त कविकी हैसियतसे सामने हैं और 'प्रभु' शब्दमें उसीकी ओर संकेत है। व्याख्या आगे है। हमें स्थानस्थानपर मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण तथा वास्तविकता एवं चिन्तनाका साम्मिलन दृष्टिगोचर होता है। हमारा कवि दिशासूचक यंत्रकी सुईकी तरह और आध्यात्मिक व्यक्तियाँ (शिव-पार्वती इत्यादि) ध्रुवनक्षत्रकी भाँति इस संसार के कंटकाकीर्ण पथमें हमारे पथप्रदर्शकके समान मौजूद हैं। ''प्रभु''—इतनेही संकेतके अतिरिक्त यदि 'प्रभु' के व्यक्तित्वको अधिक बढ़ाया जावे, तो शृङ्गारका रंग फीका पड़ जावेगा। कवि भक्त है और उसका अभिप्राय यह है कि हम इस शृङ्गारी दृश्यमें आध्यात्मिक आभासको एकदम भूल न जावें। पर साथही यहभी स्वीकार नहीं है कि उक्त आभासपर अभीसे इतना ख़याल करें कि शृङ्गारका आनंद ही जाता रहे। वस्तुतः इस शृङ्गारी दृश्यमेंभी रामसे ऐसा कोई कार्य्य नहीं हुआ जिससे उनके प्रभुत्वपर कोई आक्षेप होसके और यही कारण है कि रामको मर्य्यादापुरुषोत्तम कहते हैं। वे आगे स्पष्ट कहते हैं कि 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।' अर्थात् मुझे अपने हृदयपर पूर्ण विश्वास है और अगर फिरभी हृदय सीताकी ओर खिंच जाता है तो निस्संदेह उसका कारण 'विधाता'का कोई अनादि सिद्धान्तका आध्यात्मिक उद्देश्य है। बहरहाल सिर्फ़ किसी प्राकृतिक प्रयोजन व बाह्यसौन्दर्यके कारण

रामचन्द्रजी प्रेमासक्त नहीं हुए। यही है मानवीयता एवं आध्यात्मिकताका सम्मिश्रण और वास्तविकता एवं चिन्तनाका सम्मिलन।

सांकेतिक रीतिपर दूसरे अर्थमें क्या यह 'प्रभु' होनेका हेतु नहीं है कि उन्हें अपने भावोंपर क़ाबू है, अधिकार है ?"

'शुचि मन' ''समय अनुहारि' इति। "न अपवित्रताका विचारोंमें लेश है और न इसलिये कोई अनुचित लज्जा है।" सात्विक प्रेममें अधिक लज्जाकी आवश्यकता नहीं है। यद्यपि इतनी लज्जा स्वाभाविक है, जिसे कविने यों प्रकट किया है—'कुछ तो है जिसकी पर्दादारी है'। अतः इतनी ही लज्जा यहाँ भी है। राम और लक्ष्मणकी वार्ता उस लज्जा एवं प्रेमके मिलनकी व्याख्या है। प्रेमकी गहनता इस धरातलपर प्रकट भी है और वह स्वयं गुप्तभी है। इसीलिये तो इस वार्ताके निमित्त तुलसीजी 'बतकही' शब्दका प्रयोग करेंगे। सदाचारकी दृष्टिसे भी कुछ लज्जा आवश्यक है, क्योंकि वार्ता छोटे भाईसे है।"

तात जनकतनया येह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई ॥१॥
पूजन गौरि सखीं लै आई। करत प्रकास फिरहि फुलवाई ॥२॥

अर्थ—हे तात! यह वही जनककुमारी है जिसके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है ॥१॥ गौरीपूजनके लिये सखियाँ (वा सखियोंको) लेकर आई हैं ॥ ❀ ॥ फुलवारीमें प्रकाश करती हुई फिर रही है ॥२॥

टिप्पणी—१ 'तात जनक तनया येह सोई'। (क) यह 'सिय सोभा हिय बरनि प्रभु' जो दोहेमें कहा था उसीकी व्याख्या वा विस्तृत वर्णन है। जिसकी शोभा हृदयमें वर्णन की उसीकी वार्ता करने लगे। (ख) 'जनकतनया येह सोई'—भाव कि श्रीजनकमहाराजके एक कन्या और भी है, पर यह वह है जिसके कारण धनुषयज्ञ हो रहा है। पुनः, [(ग) 'सोई' से प्रकट है कि परिचितकी भाँति इनका परिचय दिया जा रहा है। यहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण अलंकार' है। यथा 'इंद्रिय अरु मन ये जहाँ विषय आपनो पाय। ज्ञान करैं प्रत्यक्ष तेहि कहैं सकल कविराय।" (अ० मं०)। (घ) कैसे जाना कि इसीके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है? इसका उत्तर केशवदासकृत 'रामचन्द्रिका' में यह मिलता है कि विश्वामित्रजीके पास जो निमंत्रण गया था उसमें श्रीजानकीजीका और यज्ञशालाका चित्र भी था। अतः श्रीरामजीने 'सोई' से उसीका स्मरण कराते हुए परिचय दिया है। अथवा, गौरीपूजनके लिये आई हैं, इससे जान लिया कि इन्हींके लिये धनुषयज्ञ हो रहा है। ब्याहके एक दिन पूर्व सौभाग्यके लिये गौरीपूजन करनेकी विधि है ही, यह पूर्व बतलाया जा चुका है। अथवा, अलौकिक शोभासे जान लिया कि इसीके लिये धनुर्भङ्गकी प्रतिज्ञा है]

नोट—१ (क) उधर सखी सखीसे कहती है—'एक कहैं नृपसुत तेइ आली। सुने जे मुनिसंग आये काली।' यहाँ सब सयाने इकट्ठे हैं। अनुमानसे ही पहिचान हो गई। इधर प्रभु कहते हैं। 'तात जनकतनया येह सोई।'''। आगे इस अनुमानका आधार कहते हैं। (वि० त्रि०)। (ख) 'धनुषजग्य जेहि कारन होई' से श्रीसीताजीकी प्राप्ति केवल धनुर्भङ्गसे सूचित करते हुए श्रीरामजीका प्रेमोद्गार झलक रहा है।" (रा० च० मिश्र)।

२ "शुद्ध आचरण संबंधी विचार दर्शनीय है। कोई अन्य कवि 'प्रेमिका' 'प्रियतमा' इत्यादि संज्ञा-वाचक शब्दोंको श्रीसीताजीके लिये श्रीरामजीसे अवश्यही प्रयुक्त करा देता। पर क्या मजाल कि तुलसीदास-जीकी कवितामें ऐसी एक भी बात आ सके। श्रीसीताजी कितनीही सुन्दर और श्रीरामजीकी अप्रकट भावना

❀ इसके दोनों अर्थ किये जाते हैं। श्रावणकुंजकी पोथीमें 'सखीं' 'लै आई' पाठ है। 'सखीं' का अर्थ 'सखियोंको' लेनेसे 'आई, करत, फिरहि' सब क्रियाओंका एक कर्त्ता श्रीजानकीजी होती हैं।

कितनीही दृढ़ सही, परन्तु अभी आकस्मिक है, आचार एवं मर्यादाकी छाप उसपर नहीं हुई, अतः श्रीसीताजी केवल उसी तरह एक बाह्य वस्तु हैं जैसे कोई सुन्दर चित्र वा पुष्प। इन शब्दोंमें आकस्मिक अनुभव एवं आचारसंबंधी बंधनका एकीकरण एवं पृथक्करण दोनों प्रशंसनीय हैं। अर्थात् अभी श्रीरामजीके पवित्र हृदयमें केवल सौंदर्य्यका आभास है और प्रेमजनित भाव अप्रकट ही है। विवाहके पश्चात् 'प्रिया' शब्दका श्रीसीताजीके लिये बहुधा प्रयोग पृथक्करणको निभानेके लिये है।" (श्रीलमगोड़ाजी। 'माधुरी' से)।

टिप्पणी—२ 'पूजन गौरि सखीं लै आई।···' इति। (क) 'धनुषजग्य जेहि कारन होई' के 'होई' शब्दसे जनाया कि धनुषयज्ञ कल होगा। इसका प्रमाण यह है कि आज चन्द्रमाकी कथा कहकर शयन करेंगे और सवेरे उठकर सूर्यकी कथा कहकर स्नान करके बैठते ही धनुषयज्ञ देखनेके लिये जनकजीका बुलावा आया। इसीसे आज गौरि-पूजनके लिये सखी ले आई है। [(ख) राजकुमारी अभी बहुत छोटी है। इसीसे सखियोंका ले आना कहा। (प्र० सं०)। पुनः, (ग) 'सखीं लै आई' से मर्यादा और गौरव सूचित किया। (रा० च० मिश्र)। छोटी न भी होतीं तब भी अकेली पूजनके लिये न भेजी जातीं। साथमें पूजनकी सामग्री, स्नानके वस्त्र आदि अवश्य ही और सहेलियाँ वा दासियाँ लेकर चलतीं। बड़े लोगोंमें तो यह नित्य ही देखा जाता है।] (घ) 'करत प्रकास फिरहि फुलवाई' इति। भाव कि गौरीजीका पूजन करके अब फुलवारी देखने आई है। अपनी शोभासे फुलवारीको प्रकाशित कर रही है। यथा 'कुर्वन्तीं प्रभया देवीं सर्वावितिमिरादिशः। वाल्मी० सु० १५।२६।" (यह उस समयका हाल है जब श्रीसीताजी बहुत ही दुःखी दशामें अशोकवाटिकामें लंकामें थीं। उस समय हनुमानजीने देखा कि वे अपने प्रकाशसे सब दिशाओंको प्रकाशित कर रही हैं। तब भला इस समय उनके प्रकाशका कहना ही क्या ?)

(ङ) 'प्रकाश' कहनेका भाव कि प्रथम इनको दीपशिखा कह आए हैं—'छबिगृह दीपशिखा जनु बरई'। और दीपशिखामें प्रकाश होता है, वही अब कहते हैं कि "करत प्रकास'। [पुनः भाव कि केतकी, गुलाब आदि फूल प्रकाश करनेवाले हैं, यह निज तनके गौरवर्ण-छबि-छटाके प्रकाशसे इन सबोंको तथा सब दिशाओंको प्रकाशित कर रही है। (रा० प्र०, वै०) वा, जबतक यह मंदिरमें रही तबतक फुलवारी अँधेरी पड़ी थी, इनके फुलवारीमें आनेसे वह प्रकाशित हो गई। (वै०)। ☞ देखिए, यह दिनका समय है। सूर्य्योदय हो चुका है। सूर्योदयके पश्चात् श्रीसीताजीके सौंदर्यका जो प्रभाव श्रीरामजीपर पड़ा है उसीको कविने 'करत प्रकास फिरहि फुलवाई' से प्रकट किया है। इससे जनाया कि सूर्यसे भी अधिक प्रकाश उनमें है। इसीसे आगे इसे 'अलौकिक शोभा' कहते हैं कि जिसने उजालेमें उजाला पैदा कर दिया] (च) 'फिरहि' से जनाया कि फुलवारी देखने आई है। जहाँ-जहाँ जाती है वहाँ-वहाँ प्रकाश होता है। (छ) यहाँतक श्रीसीताजीकी वार्ता की। आगे अपनी दशा कहते हैं।

वि० त्रि०—यहाँ बागमें 'बरन-बरन बर बेलि बितान' के कारण अँधेरा हो रहा है, सो वह प्रकाश करती हुई फुलवारीमें घूम रही है। सियमुख शशि है तो प्रकाश भी चाहिए।

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा ॥३॥
सो सब कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद१ अंग सुनु भ्राता ॥४॥

शब्दार्थ—अलौकिक=अनूठी, अप्राकृतिक। छोभा=विचलित हो गया। सुभद=शुभदायक, मंगलसूचक।

अर्थ—जिसकी अलौकिक शोभा देखकर मेरा स्वाभाविक ही पवित्र मन क्षोभको प्राप्त हो गया अर्थात्

१ सुभग—छ०, १७०४, को० रा०। सुभद—१६६१, महात्मा चौपाईदासका टिप्पण, भा० दा०। १७२१, १७६७।

चलायमान हो गया ॥ ३ ॥ इसका सब (वा, वह सब) कारण तो विधाता ही जानें, पर हे भाई ! सुनो, मेरे शुभसूचक अङ्ग अर्थात् दक्षिण अङ्ग फड़क रहे हैं ॥ ४ ॥

श्रीलमगोड़ाजी—"प्रेमसंबंधी सूक्ष्मताओंके ज्ञाताओंको यह भी विदित हो कि सात्विक प्रेममें आत्मिक संबंधका होना अत्यावश्यक है। कैसी रहस्यमयी घटना है कि राम और लक्ष्मण दोनों साथ हैं पर सीताका प्रभाव केवल रामपर पड़ता है, लक्ष्मणपर नहीं। रामजीने सत्य ही कहा है कि 'सो सब कारन जान बिधाता।"—(माधुरीसे)। यहाँ 'मोर मन छोभा' से वही पुरातन आत्मिक संबंध सूचित किया है।

बाबू श्यामसुन्दरदासजी—"श्रीरामचन्द्रजी रघुकुलकी मर्य्यादा एवं अपने भावका वर्णन अगली चौपाइयोंमें करते हैं। उन्हें आश्चर्य्य है कि ऐसे कुलमें उत्पन्न होकर और स्वयं ऐसे होकर उनका मन चलायमान क्यों हुआ। पर वे इसका निराकरण करते हैं और कहते हैं कि असली बात तो विधाता जानैं, हाँ शुभ अंगोंके फड़कनेसे भविष्य शुभकी सूचना होती है।"

टिप्पणी—१ (क) 'अलौकिक सोभा' पूर्व कह आए हैं—'सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेहकुमारी'। त्रैलोक्यमें न कोई इनके समान है और न कोई इनकी उपमाही है, यही बात 'अलौकिक' से जनाई। (पुनः, भाव कि लौकिक स्त्रियोंमें हमारा मन चलायमान नहीं होसकता। दूसरे यह कि प्राकृतिक समस्त उपमाएँ और जो उनके उपमेय हैं वे सब मिलकर भी इनके पटतरयोग्य नहीं हैं)। (ख) 'सहज पुनीत'। कवि पूर्व 'शुचि मन' विशेषण श्रीरामजीको दे आए हैं, यहाँ श्रीरामजी स्वयं वही बात कहते हैं। दोनोंका एकही भाव है ['सहज पुनीत, अर्थात् जो विना साधन किये जन्मसे स्वाभाविकही पवित्र है। = जिसमें भूलकर भी कामादिका वेग नहीं व्याप्त होता। (वै०)। (ग) श्रीसीताजीकी शोभाको 'अलौकिक' और अपने मनको 'सहज पुनीत' 'तुरीया जानकी चैव तुरीयो रघुनन्दनः' इस भावसे कहा। अथवा, तुरीयारूप जानकीजीको और परमतुरीयरूप अपने मनको कहा, क्योंकि सहजावस्था तुरीयावस्था है। यथा 'बुद्धिव्यापारे परित्यक्ते निर्विकारस्वरूपावस्थितिर्भवति सेव सहजावस्था तुरीयावस्था जीवन्मुक्तिः। इति ज्योत्स्नाटीका हठप्रदी-, पिका।'—(मा० त० वि०)। पांड़ेजी 'सहज पुनीत' को 'अलौकिक सोभा' का भी विशेषण मानते हैं। और रा० प्र० कार इसे लक्ष्मणजीका संबोधन भी मानते हैं] (२) 'छोभा'—क्षुभि संचलन। मन चलायमान हो गया; अर्थात् इनके प्राप्तिकी इच्छा हुई।

२ (क) 'सो सबु कारन जान बिधाता' इति। "मनको क्षोभ होना यही एक कारण लिखते हैं, सब कारण कौन हैं ? यदि बहुत कारण होते तो 'ते सब कारन जान बिधाता' ऐसा पाठ लिखते, 'सो' न लिखते, 'सो' एकवचन है ?" इस शंकाका समाधान यह है कि 'मनका क्षोभ यह एकही बात है, इसीसे 'सो' एकवचनवाचक शब्द दिया। मनके क्षोभके कारण अनेक हैं, इसीसे 'सबु कारन' कहा। ['सो सबु कारन०' अर्थात् सो (= उसके, अर्थात् मेरे मनके क्षुभित होनेके) बहुत कारण जो हैं उनमेंसे एक यह है कि इनकी शोभा अलौकिक है और जो अन्य कारण हों उनको विधाता जानें] (ख) मनके क्षोभके अनेक कारण हुआ करते हैं, जैसे कि—काम। इससे मन क्षुभित हो जाता है, यथा 'छाँड़े बिषम बिसिख उर लागे। छूटि समाधि संभु तब जागे। भएउ ईस मन छोभ बिसेषी। १।८७।' 'पुनः, 'काल स्वभाउ करम-बरिआई। भलेउ प्रकृतिबस चुकइ भलाई'। काल, स्वभाव, कर्म और माया ये सब मनके क्षोभके कारण हैं। पुनः, भावी भी कारण है,—'हरि इच्छा भावी बलवाना।' 'होइहि सोइ जो राम रचि राखा।' [पुनः, 'सो सबु कारन' का भाव कि स्वभाव त्याग करनेका कुछ कारण अवश्य होता है, विना कारण किसीकी प्रकृति बदलती नहीं। वह सब कारण विधाता जानें। (वै०)] (ग) 'जान बिधाता' इति। भाव कि कर्मके अनुसार स्त्री-पुरुषका संयोग विधाता रचते हैं। यथा 'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ करम फल दाता।

२।२८१ ।'', 'जेहिं बिरंचि रचि सीय सवाँरी । तेहिं स्यामल बरु रचेउ बिचारी । २२३।७ ।'', 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । यह संजोग बिधि रचा बिचारी । ३.१७ ।', इत्यादि । [ऐसा कहकर पराविभूतिका ऐश्वर्य दबाकर लीलाविभूतिका कुतूहल दिखाया । (रा० च० मिश्र)] (घ) 'फरकहिं सुभद अंग' इति । अर्थात् इनकी प्राप्तिके सूचक शुभ शकुन हो रहे हैं । यथा 'फरकेउ बाम नयन अरु बाहू ॥ सगुन बिचारि धरी मन धीरा । अब मिलिहहिं कृपाल रघुबीरा । ६.८६ ।' पुरुषके दक्षिण नेत्र, बाहु आदि का फड़कना शुभशकुन है, प्रियकी भेंटका सूचक है । यथा 'फरकहिं मंगल अंग सुहाए।'''सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी । २।७।६ ।' [पुनः दाहिने अंग फड़क रहे हैं । इससे सूचित होता है कि श्रीसीताजीसे हमारा वाम अंग भूषित होनेवाला है । 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी' । (वै०)] (ङ) यहाँतक अपनी दशा कही, आगे मनकी शुचिता कहते हैं । (च) लक्ष्मणजी कुछ बोलते नहीं, अतः कहते हैं, 'सुनु भ्राता' ।

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ ॥५॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु पर नारि न हेरी ॥६॥

अर्थ—रघुवंशियोंका (यह) सहज (जन्महीका, बिना किसी साधनके) स्वभाव है कि उनका मन कभी भी बुरे मार्गपर पैर नहीं रखता ॥ ५ ॥ मुझे (तो अपने) मनका अत्यन्त विश्वास है कि जिसने (जागृति अवस्थाकी कौन कहे) स्वप्नमेंभी परस्त्रीको नहीं देखा ॥ ६ ॥

श्रीयुत लमगोड़ाजी—''तुलसीजीकी काव्यशैली कैसी अनुपम है कि जब कभी उन्होंने श्रीरामजीसे कोई भी स्वप्रशंसाके शब्द प्रयुक्त कराये हैं, तो उन्हें अधिकतर अभियुक्तके रूपमें रख दिया है कि सफ़ाईमें कुछ स्वप्रशंसा अनिवार्य हो जाय और सगर्विताकी कोई बात भी न मालूम हो । शासन-विधानमें भी अभियुक्तको नेकचलनीके सबूतका मौक़ा दिया जाता है । सत्य है कि आत्मज्ञान, स्वाभिमान तथा इन्द्रिया-वसान मनुष्यको महान् शक्तिशाली बना देते हैं । इन तीनोंका प्रकटीकरण इसी दोहेसे प्रारंभ होता है ।'' (माधुरीसे)

टिप्पणी—१ (क) 'सहज सुभाऊ' अर्थात् उनका मन स्वतः वशमें रहता है, उनको साधन करके मनको वश करना नहीं पड़ता । जैसे योगी लोग साधनसे मनको कुपंथसे निवारण करते हैं वैसे इन्हें नहीं करना पड़ता, स्वाभाविकही इनका मन कुपंथमें नहीं जाता । (ख) 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ' कहकर जनाया कि बाल्यावस्थासे लेकर मरणपर्यन्त किसी रघुवंशीका मन कुपंथमें नहीं जाता । [श्रीरघुनाथजीका तात्पर्य 'रघुबंसिन्ह' से लक्षणाद्वारा केवल अपने कुलसे, रघुमहाराजसे लेकर श्रीरामचन्द्रजी तक से है ।—(गौड़जी) । रघुबंसिन्ह = संसारमें जहाँ तक जितने रघुवंशी हैं] (ग) ''मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ'' इति । मन कुमार्गमें पाँव नहीं धरता, इस कथनसे जनाया कि जब वह उस मार्गपर पैर ही नहीं रखता, अर्थात् कुपंथकी इच्छाही नहीं करता, तब कुत्सित कर्म कैसे करेगा ? [मनके पैर नहीं होते, तथापि वह इधर उधर दौड़ता-फिरता है । मनका चलायमान् होना उसका 'पग धरना' है । यहाँ परायी स्त्रीपर दृष्टि डालना ही कुपंथ है । (प्र० सं०) । पुनः भाव कि तनकी तो बातही क्या, मन भी कुपंथपर नहीं चलता] । 'न काऊ' कभी भी नहीं । अर्थात् बाल, युवा, वृद्धा किसी भी अवस्थामें जब मनही नहीं चलायमान होता तब तनसे व्यवहार कैसे करेगा ? ['धरै न काऊ' से सूचित किया कि रघुवंशियोंको कुपंथ देख पड़ता है । वे जानकर उसपर पैर नहीं रखते हैं । (प्र० सं ०)] (घ) इस चरणका दूसरा अर्थ यह भी होता है कि ''रघुवंशी मनसे कभी कुपंथमें पाँव नहीं धरते' । (ङ) ☞ रघुवंशियोंको इन्द्रियजित कहकर तब आगे अपने को कहते हैं—'मोहि अतिसय०' । इसमें तात्पर्य यह है कि (मैं भी रघुवंशीही हूँ) रघुवंशके प्रभाव-सेही मैं भी इन्द्रियजित हूँ । ☞ देखिये, श्रीरामजी साक्षात् अपनेको नहीं कहते कि हम ऐसे हैं, रघुवंशके

प्रभावसे अपनेको ऐसा कहते हैं। जैसे सब रघुवंशी रघुवंशके प्रभावसे इन्द्रियजित हैं वैसेही मैं भी हूँ। मर्यादापुरुषोत्तम हैं, कितने सँभालके वचन हैं जिनमें आत्मश्लाघा स्वाभिमान छू भी नहीं जाता, कैसे अभिमानरहित वचन हैं। (लोग अपने मुखसे अपनी प्रशंसा वा अपनी उत्कृष्टता नहीं कहते, क्योंकि यह अयोग्य है, अतएव वंशका प्रभाव कहकर अपनी सफ़ाई दी)।

२ 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी।०' इति। (क) 'अतिसय' का भाव कि सब रघुवंशियोंको अपने-अपने मनकी प्रतीति है, पर मुझको 'अतिशय प्रतीति' है। (ख) 'सपनेहु' का भाव कि लोगोंको जाग्रत्‌में ज्ञान रहता है पर सोतेमें ज्ञान नहीं रहता, पर मेरा मन तब भी परनारीको नहीं देखता।* (ग) 'पर नारि न हेरी' इति। (देखिए माता श्रीकेकयीसे भरतजीने भाई श्रीरामजीके निर्वासित होनेके कारण पूछते हुए यह भी पूछा था कि क्या उन्होंने किसी परस्त्रीका संसर्ग तो नहीं किया था—'कच्चिन्न परदारान्वा राजपुत्रोऽभिमन्यते। वाल्मी० २.७२.४५।' तब वनवास देनेवाली उस केकयीने भी यही उत्तर दिया कि वे तो परस्त्रीको आँखसे भी नहीं देखते—'न रामः परदारान्स चक्षुर्भ्यामपि पश्यति। २.७२.४८।' 'अपि' में यह भाव तो है ही कि संसर्ग तो दूर रहा, वे उनको देखते भी नहीं। पर यह भी भाव ले सकते हैं कि जब आँखसे देखते ही नहीं तब स्वप्नमें भी कब देख सकते हैं। राक्षसोंके नाशकी प्रतिज्ञा करके सुतीक्ष्ण-जीसे विदा होकर चलने पर श्रीसीताजीने स्वयं भी कहा है कि धर्मनाशक परस्त्री-संसर्गकी तो आपने कभी अभिलाषा भी नहीं की। यह भाव आपके मनमें ही न कभी पूर्व था और न अब भी है। यथा 'कुतोऽभिलषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम्। तव नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूत्ते कदाचन ॥५॥ मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित्।' वाल्मी० ३.९।', वही मानसमें श्रीरघुनाथजी स्वयं कह रहे हैं)। इससे जनाया कि यदि यह राजकुमारी अन्य किसीको प्राप्त होनेवाली होती तो मेरा मन कभी न चलायमान होता, इससे जाना जाता है कि यह हमको प्राप्त होनेवाली है। यह बात हमारे मनकी वृत्तिसे जानी जाती है, यथा—'असंशयं क्षत्र परिग्रह क्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि संदेह पदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तः करण प्रवृत्तयः।' इति शकुंतला नाटके। [ये विचार रघुवंशी श्रीदुष्यन्त महाराजके हैं। वे शकुन्तलाको देखकर मनमें विचार कर रहे हैं कि यह निश्चय ही मुझ क्षत्रियके ग्रहणयोग्य है। जब कि मेरा श्रेष्ठ मन इसमें अभिलाषा करने लगा है। क्योंकि संदेहयुक्त पदार्थोंमें सज्जनोंके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति ही प्रमाण है (तात्पर्य कि अनुचित विषयमें सज्जनोंका मन जाता ही नहीं, अतः जहाँ उनका मन गया वह पदार्थ उनके योग्य ही समझना चाहिये)]। (घ) रघुवंशियोंके सम्बन्धमें 'पगु धरै न काऊ' कहा और अपने सम्बंधमें 'परनारि न हेरी' कहा। इसमें तात्पर्य्य यह है कि पंथपर पैर नहीं धरते, इस कथनसे पाया जाता है कि रघुवंशियोंको कुपंथ देख पड़ता है, वे जानकर उसपर पैर नहीं रखते और 'न हेरी' से पाया गया कि हमारा मन कुपंथको वा उसकी ओर देखता ही नहीं। 'पर-नारि' ही कुपंथ है। स्वप्नमें परस्त्रीपर दृष्टि नहीं डाली, इसीसे मनपर 'अतिशय प्रतीति' है। [(ङ) 'परनारि न हेरी' कहकर श्रीसीताजीको अपनी ही शक्ति सूचित की। (रा० प्र०)] (च) यहाँ अपने मनकी शुचिता कही। इस तरह यहाँतक दोहे की सब बातें चरितार्थ हो गईं।

वि० त्रि०—'मोहि अतिसय प्रतीति···' इति। भाव कि मैंने तो अपने मनकी परीक्षा कर ली है। विश्वामित्रके आगमनके पूर्व विवाहबंधनमें डालनेके लिये बहुत-सी कन्याएँ मेरे पास भेजी गईं, पर मेरे मनने उन्हें देखा भी नहीं। (पर इस भावका क्या आधार है यह त्रिपाठीजीने नहीं लिखा)। वासना न होनेसे स्वप्न भी नहीं होता। अतः यह बात भी नहीं कि सूक्ष्म वासना रही हो, जिसका मुझे पता न हो।

---

* श्रीरामजी जाग्रत्-स्वप्नादि अवस्थाओंसे परे हैं। इनको स्वप्न कहाँ? पर नरनाट्यमें ऐसा कथन उपयुक्त ही है। 'स्वप्नमें भी'—यह मुहावरा है। अर्थात् कभी भी।

जिन्ह कै लहहि न रिपुरन पीठी । नहिँ पावहि १ पर तिय मनु डीठी ॥७॥
मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीँ । ते नर बर थोरे जग माहीं ॥८॥

शब्दार्थ—डीठी = दृष्टि । पीठी = पीठ ।

अर्थ—शत्रु संग्राममें जिनकी पीठ नहीं पाता अर्थात् जो शत्रुको कभी पीठ नहीं देते, सन्मुख लड़ते हैं, कभी पीछा देकर नहीं भागते । पराई स्त्री जिनका मन और दृष्टि नहीं पाती अर्थात् परस्त्रियाँ जिनके मनको या दृष्टिको आकर्षित नहीं कर सकतीं, अपनी ओर नहीं खींच ले जा सकतीं ॥ ७ ॥ और, मँगता (माँगनेवाले, याचक वा भिक्षुक) जिनकी 'नहीं' नहीं पाते (अर्थात् जिनके मुखसे याचकके लिये कभी 'नहीं' शब्द नहीं निकलता, 'नहीं मिलेगा' ऐसा कभी जो नहीं कहते, जिनके यहाँसे याचक विमुख नहीं लौटता) ऐसे श्रेष्ठ मनुष्य जगत्में थोड़े ही हैं ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'मनु डीठी' । यहाँ मन और दृष्टि दोनोंको कहा क्योंकि देखनेसे मन चलायमान होता है, यथा 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा । सहज पुनीत मोर मनु छोभा ।' प्रायः पहिले दृष्टि जाती है तब मन भी साथ जाता है । (ख) 'जिन्हकै लहहि···माहीं' इति । केवल रघुवंशियोंका मनको जीतना कह-कर अब संसारमें जो और मनुष्य इन्द्रियजित् हैं उनके विषयमें कहते हैं कि जिनकी पीठ शत्रु नहीं पाते, परतिय जिनका मन और दृष्टि नहीं पाती और मंगन 'नहीं' नहीं पाते - संसारमें ऐसे पुरुष थोड़े हैं । इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि रघुवंशी तो सभी ऐसे ही हैं । (ग) 'जग माहीं' अर्थात् नगरों, ग्रामों, देशोंकी कौन कहे समस्त संसारमें ढूँढ़नेपर कुछ ही मिलेंगे । [भाव यह कि संभवतः कोई कहे कि किसी एक दो ग्रामादिमें कदाचित् ऐसे मनुष्य न हों तो क्या, संसारमें तो ऐसे बहुत होंगे, उसपर कहते हैं कि संसारभरमें भी कहीं ही कोई मिलेंगे ।] (घ) 'नर बर' का भाव कि जिसमें ये तीनों गुण हों वही श्रेष्ठ है ।

२ ☞ श्रेष्ठता तीन वर्णोंमें दिखाई, क्योंकि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये ही तीन वर्ण श्रेष्ठ माने गए हैं । इन्हीं तीनोंके धर्म यहाँ कहे गए हैं । 'नहिं पावहि परतिय मनु डीठी', यह ब्राह्मणका धर्म है, ब्राह्मणको इन्द्रियजित होना चाहिए । 'लहहिं न रिपु रन पीठी', यह क्षत्रियका धर्म है कि शत्रुको पीठ न दे । 'युद्धे चाप्यपलायनम्' । 'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं' यह वैश्यका धर्म है कि भिक्षुकको विमुख न लौटावे । यथा 'सोचिय बयसु कृपन धनवानू । जो न अतिथि सिव भगति सुजानू । २.१७२ ।' यहाँ क्षत्रियधर्म प्रस्तुत है, इसीसे इसीको प्रथम कहा ।

३ यहाँ क्रमसे एकका साधन दूसरेको और दूसरेका तीसरेको जनाया । अर्थात् जो बातें कहीं उनके साधन भी कहे । 'जिन्ह कै लहहि न रिपु रन पीठी' यह कहकर इसका कारण वा साधन बताते हैं कि 'नहि पावहि परतिय मनु डीठी' । अर्थात् जो परस्त्रीमें अपने मन और दृष्टिको नहीं लगाते वे एकमात्र इसी धर्मके बलसे संग्राममें सदा विजयको प्राप्त होते हैं । पुनः 'नहिं पावहि परतिय मनु डीठी' क्योंकि 'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं' अर्थात् मंगनको जो कभी विमुख नहीं जाने देते, एकमात्र इसी धर्मके प्रभावसे उनका मन कभी परस्त्रीमें नहीं जाने पाता । दोका साधन कहा, पर इस तीसरेका साधन न कहा कि किस साधनसे यह बात प्राप्त हो जाती है । इससे जनाया कि इसका साधन यही है । "मंगन 'नहीं' नहीं पाते" इसी धर्मसे कोई विमुख नहीं जाता । श्रुतियोंसे पाया जाता है कि जो कोई किसीको 'नहीं' नहीं करे तो उसके यहाँ सब पदार्थ पूर्ण रहते हैं । इसीसे इसका दूसरा साधन नहीं लिखा । ☞ मिलान कीजिए—'रघूनां हृदयेनैव प्रापुरन्याः किलस्त्रियः । पृष्ठे न लेभिरे युद्धे रिपवः शस्त्रपाणयः ।' इति सत्योपाख्याने । ☞ तात्पर्य्य कि रघुवंशियोंमें ये तीनों गुण हैं । ['जिन्हकै लहहि न रिपु रन पीठी' में वीरता गुण, 'नहि पावहि परतिय

१ लावहिं-को० रा० । पावहि-१६६१, भा० दा०, १७०४, रा० प्र० ।

मनु डीठी' में धीरता गुण और 'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं' में उदारता गुण कहकर तब 'ते नर बर थोरे''' कहनेका भाव कि इन गुणोंसे युक्त (धीर, वीर, उदार) पुरुष संसारमें दुर्लभ हैं। (वै०)] 'मंगन लहहिं न जिन्हकै नाहीं' से पात्रापात्रविचारके विना मंगतामात्रको दान देनेवाले जनाए।

नोट—१ किसीका मत है कि जिसमें केवल प्रथम दो गुण, शत्रुको पीठ न देना और परस्त्रीपर दृष्टि न डालना हों, संसारमें उसको पराजय करनेवाला कोई पैदा ही नहीं हुआ। और गोस्वामीजीने 'नरवर' श्रेष्ठ मनुष्यके तीन लक्षण बताये हैं जिनमें इन दोके अतिरिक्त तीसरा 'याचकको विमुख न लौटाना' है। उत्तम वा श्रेष्ठ कहलानेका अधिकारी तभी होगा जब इन तीनोंसे युक्त हो, अन्यथा नहीं। ये तीनों लक्षण श्रीलक्ष्मणजीमें भी पाए जाते हैं। (प्र० सं०)। २—इन तीनों गुणों वा लक्षणोंके वर्णनमें 'नहि पावहि परतिय मनु डीठी' यह लक्षण अन्य दोके बीचमें रखकर तीनोंमेंसे इस गुणको प्रधान सूचित किया। यही यहाँका मुख्य प्रसंग है। यह गुण जिसमें होगा वह रणमें पीठ न देगा और कभी कोई याचक उसके यहाँसे विमुख न लौटेगा। इन्हींका खुलासा श्रीसुग्रीवजीके इन वचनोंमें पाया जाता है—'नारि-नयन-सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥ लोभपास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥ यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई। ४।२१।' (प्र० सं०)। जो शत्रुको पीठ न दिखावेंगे, मर भले ही जायँ, वे युद्धवीर हैं, उन्हींकी गति परिव्राट् योगयुक्त की सी होती है, वे सूर्य्यमण्डलका भेदन करते हैं। यथा 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्य्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राट् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः।' 'नहिं पावहि परतिय मनु डीठी' वे धर्मवीर हैं और 'मंगन लहहिं न जिन्ह कै नाहीं' वे दानवीर हैं। 'ते नरबर थोरे जग माहीं' में भाव यह है कि उन थोड़ोंमेंसे मैं भी हूँ जिन्होंने भय, काम और लोभपर जय पाई है। (वि० त्रि०)।

३ "इसी प्रसंगपर जयपुरके रघुवंशियोंका कवित्त है—'राजा जयसिंह दो बातें तो न दीन्ही कहूँ, बैरिनको पीठ औ न डीठ परनारी को।' सो गोस्वामीजीने वे दोनों बातें तो लिखीं ही और एक बात अपनी तरफसे लिखी कि 'मंगन लहहिं न जिनकै नाहीं', क्योंकि सबसे ऊपर चलते हैं। इतना ही नहीं वहाँ तो केवल दो गुणोंका वर्णन है और यहाँ अनेक आशय भरे हैं।" - (बाबा रामदासजी)।

४ 'सो सब कारन जान बिधाता' से 'ते नर बर थोड़े जग माहीं' तक पर पांड़ेजी लिखते हैं कि "सब कारणोंको विधाता जानें। वे सब कारण ये हैं कि रघुवंशियोंका सहज स्वभाव है कि कुपंथमें पग नहीं धरते फिर क्या कारण कि हमारा मन चंचल हो गया? हमें मनकी प्रतीति है। और, अब ऐसा हुआ कि 'सिय-मुखससि भए नयन चकोरा' यह क्यों? यह अपनी दशा कहकर रघुनाथजी अपने भाईकी प्रशंसा रीति अनुसार इस तरह करते हैं कि जिनकी पीठको शत्रु रणमें नहीं पाते, इत्यादि वे श्रेष्ठ नर जगत्‌में थोड़े हैं। ये तीनों बातें लक्ष्मणजीमें विद्यमान हैं क्योंकि कामशत्रुने इनकी पीठको नहीं पाया। जानकीजी सखियों समेत आईं, सो उन्होंने इनकी दृष्टिको नहीं पाया और रघुनाथजी एवं विश्वामित्रजीकी सेवामें ऐसे तत्पर हैं कि जिसने जो सेवा माँगी वह इन्होंने पूरी की।"

५ यहाँ मन, कर्म और वचन तीनों दिखाए। रणमें पीठ न देना यह तन वा कर्म है, 'परतिय मन डीठी' में मन और 'नाहीं न करना' यह वचन।

प० प० प्र०—यहाँ साहित्य समालोचक शंका करते हैं कि 'इस परम रम्य श्रृङ्गाररसमें सामान्य नीति सिद्धान्त, युद्धकी परिभाषा और याचकोंका दैन्य किस कामका? इससे तो रसहानि होती है।' समाधान—२३० (१) की टीकामें लिखा गया है कि श्रीरामजी रघुबीर हैं, अतः स्वभावानुकूल मदन से युद्धकी ही भाषामें यह प्रसंग शुरू हुआ है। जब कामने रण-दुंदुभी बजाकर युद्धका आह्वान दे दिया तब रघुवंशवीरोत्तम होनेसे कुल स्वभावानुसार उस आह्वानका स्वीकार किया गया। उसको पीठ दिखाना तो कायरोंका लक्षण है

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "जहाँ समीचीन वार्ता होती है वहाँ ग्रंथकार 'बतकही' शब्दका प्रयोग करते हैं। यथा 'हंसहिं बक गादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही", "करत बतकही अनुज सन०", 'एहि बिधि होत बतकही आए बानरजूथ', 'तब बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि', 'काज हमार तासु हित होई। रिपुसन करेहु बतकही सोई', "दसकंधर-मारीच-बतकही। जेहि बिधि भई सो सब तेहि कही" और, 'निज निज गृह गए आयसु पाई। बरनत प्रभु बतकही सुहाई।'—विशेष दोहा ६ (२) भाग १ पृष्ठ २०० देखिए।

पं० रामचरण मिश्रजी लिखते हैं कि "यह ओछा और हलका पद है। 'वार्ता' ऐसा पद क्यों न दिया? इसपर सिद्धान्त यह है कि कहने सुननेमें भले ही ओछा लगे परंच गोस्वामीजीने इस पदको बड़ी विलक्षणतासे गौरव दिया है। (लक्ष्य) 'हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही' में 'बतकही' का विशेषण 'बिमल' दिया है और यहाँ रामजीकी बतकही निर्मल है; यथा 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी।' इत्यादि। इस ग्रन्थमें जहाँ छलहीन शुद्ध चित्तकी वार्ता है वहाँ 'बतकही' का प्रयोग हुआ है।"

नोट—१ "अनुज सन " इति। (क) 'अनुज' से संकेत है कि वे तनिक पीछे थे। उनसे तनिक मुड़कर बात करनेमें श्रीसीताजीके देखनेका अवसर मिल जाना शृङ्गार और नाटकीय कलाकी जान है। (ख) 'म, प, ब' इत्यादि ओष्ठोंसे उच्चारण होनेवाले अक्षरोंका प्रयोग मानों 'मन' के चुम्बनका शब्द-गुण-संबंधी चित्र ही खींच देता है। देखिए इस प्रसंगमें भौंरोंको 'मधुप' कहना कितना उचित है। (ग) उस 'फूल' के साक्षात्कारके उपरान्त भावकी सुन्दरतामें यह 'मन' का छविरूपी-मकरंद-पान कितना सरस और स्वाभाविक है। यह ही तो उस फूलके चुन लेनेका उद्योग करायेगा लेकिन अभी तो ख़याली संयोग और वियोगका आनंद दोनों ओर देखिये और कविकी सूक्ष्म कलाकी दाद दीजिये।" (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—१ (क) 'बोले सुचि मन अनुज सन' यह उपक्रम है और 'करत बतकही अनुज सन' यह उपसंहार है। (इतना विचार करनेपर भी क्षोभ न हटा। मन-मधुप छबिमकरन्द पान कर रहा है और गुनगुनाता जाता है। वि० त्रि०)। (ख) 'मन सियरूप लोभान' कहकर आगे बताते हैं कि किस अंगमें लुभाया है। 'मुख सरोज०' अर्थात् मुखकी छबिमें लुभाया है। यही पूर्व भी कह आए हैं,—'सियमुख ससि भये नयन चकोरा'। चकोर चन्द्रमाका लोभी होता है, यथा 'भये मगन देखत मुख सोभा। २०७।' श्रीरामचन्द्रजीका मन श्रीसीताजीके मुखचन्द्रपर चकोरकी नाईं लुभाया हुआ है। यह पूर्व कहा था और यहाँ कहते हैं कि 'सियमुखसरोज' में मधुपकी तरह लुभाया है। दो उपमायें (चकोर और मधुपकी) देनेका भाव यह है कि चकोरकी उपमा रात्रिकी है और मधुपकी उपमा दिनकी है। इस प्रकार कविने दो जगह उपमायें देकर सूचित किया कि अब श्रीरामजीका मन श्रीसीताजीके रूपमें दिनरात लुभाया रहेगा। (मुख-शशिके लिये नयन चकोर हुए। और मुखसरोजकी छबिके लिये मन मधुकर हुआ। आँख और मन दोनों बँध गये। वि० त्रि०)। (ग) [पाँड़ेजी लिखते हैं कि "भौंरेका स्वभाव है कि मकरंद-पान करते समय शब्द नहीं करता, फिर थोड़ी देर बाद उसीके आसपास गूँजता हुआ उड़ता फिरता है, ऐसे ही श्रीरघुनाथजी एक बार बतकही लक्ष्मणजीसे करते हैं और एकबार सीताजीके मुखकी छबिको निहारते हैं। (नोट—लक्ष्मणजीसे बतकही करना गुंजार है, मुखचन्द्रपर दृष्टि जमाना मौन होकर मकरंदरसका पान करना है।)] (घ) ☞ श्रीसीताजीके रूपमें श्रीरामजी मन, कर्म और वचन तीनोंसे आसक्त हुए, यह यहाँ दिखाया है। 'मन सियरूप लोभान' (मन है), 'करत मधुप इव पान' (कर्म है), और 'करत बतकही०' (यह वचन है)। (ङ) [वीरकविजी लिखते हैं कि "पहले रामचन्द्रजीके मनमें वितर्क हुआ कि रघुवंशियोंका पराई स्त्रीपर आसक्त होना

अकार्य्य है। इस भावको शुभ अङ्गके फड़कनेसे मति संचारीभावने दूर कर दिया। तब निःशंक मुखछबि देखने लगे। प्रथमको दूसरे भावने और दूसरेको तीसरेने क्रमशः दबा दिया। यह 'भाव सबलता' है।'']

नोट—२ 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। २३०।१।' से लेकर यहाँतक यह भी दिखाया है कि श्रीजानकीजीके स्वरूपमें श्रीरामचन्द्रजीको पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे सुख प्राप्त हुआ। 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि।' यह श्रवणेन्द्रियका विषय है। 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा।' यह नेत्रेन्द्रियका विषय है। 'तात जनकतनया येह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई।' यह जिह्वा इन्द्रियका विषय है। श्रीजानकीजीकी वार्ता करके सुख पा रहे हैं। और, 'मुखसरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान।'—इससे नासिका और त्वचा दोनों इन्द्रियोंका विषय कहा, क्योंकि मधुप कमलमें बैठकर मकरंद पान करता है—इससे स्पर्श भावका ग्रहण होगा। यहाँ सचात् स्पर्श नहीं है। उपमाद्वारा स्पर्शको कह दिया गया। कमलमें सुगंध है। मधुप गंध ग्रहण करता है। यह नासिका इन्द्रियका विषय है। श्रीसीताजीकी शोभाका वर्णन हृदयमें कर रहे थे, इसीसे उन्हींकी वार्ता करने लगे। (पं० रामकुमारजी)।

श्रीलमगोड़ाजी—''श्रीलक्ष्मणजीसे श्रीरामचन्द्रजी ने 'बतकही' की, परन्तु वे एक शब्द न बोले। यह क्यों ? लक्ष्मणजी उनके अनुज हैं और उन्हें अपने भाईपर पूर्ण विश्वास है तथा उनके हृदयमें भ्राता के प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं सम्मानके भाव विद्यमान हैं और इसी कारण उनकी जिह्वासे एक शब्द भी आक्षेप-का नहीं निकला। लक्ष्मणजी छिद्रान्वेषी उपदेशक बनकर साथ नहीं हैं, प्रत्युत सहृदय भ्राता बनकर। लक्ष्मणजीकी सहृदयता और सहानुभूतिके उदाहरण ग्रंथमें अनेक ठौर है।'' (माधुरीसे)

नोट—३ लक्ष्मणजीको अदबका इतना ख़याल है कि फुलवारीकी लीलामें आदिसे अंततक वे बोलेही नहीं। श्रीकिशोरीजीके चरणोंको छोड़कर उन्होंने जीवनपर्य्यन्त कभी सिर उठाकर उनकी ओर तो देखा ही नहीं। यहाँकी तो बात ही न्यारी है। यहाँ तो प्रभुकी बातें सुनते भर हैं। उनकी दृष्टि तो प्रभुके बराबर भी नहीं पड़ सकती। लक्ष्मणजी सरीखे मुँह लगे छोटे भाईके शीलका गोस्वामीजीने अपूर्व चमत्कारिक दृश्य दिखाया है।

बैजनाथजी—(क) यहाँ प्रभुको धीरता, वीरता और उदारता तीनोंसे 'रीते' (खाली, रहित) दिखाते हैं। वचनों द्वारा श्रीकिशोरीजीकी प्रशंसा करते हैं—इससे अपनी अधीरता प्रकट की। 'मन सियरूप लोभान'—लोभी होनेसे उदारतासे 'रीते' दिखाया। 'मुख सरोज···पान' से प्रभुको याचक और किशोरीजी को दानी ठहराया। इस तरह कि श्रीसीताजीके मुखको कमल कहा है और प्रभुके मनको लोभी भ्रमर कहा है जो मकरंद पान करता है, इसलिये वह याचक हुआ और कमल रस देनेवाला दानी निश्चित हुआ। (ख) पुनः, 'सियमुख ससि भये नयन चकोरा' इस लक्षणसे किशोरीजी सावधान ठहरीं और 'नयन चकोर' से प्रभु वीरतासे रहित हुए। किशोरीजीका मन सावधान है और प्रभुका मन सियरूप पर लुब्ध है, इससे धीरता रहित दिखाया।-(ये शृङ्गारियोंके भाव हैं)।

मा० त० वि०—यहाँ जो 'करत बतकही···' इत्यादि कहा है वह ''श्रोतव्यं मन्तव्यं निदिध्यासितव्यं साक्षात्कारकर्तव्यमिति'' इस श्रुतिके अनुसार कहा है। अर्थात् जबतक साक्षात्कार न हो तबतक ये सब कर्म करने चाहिएँ वैसे ही सिय-छबिके साक्षात्कारतक बतकही करते रहे और मन लुभाया रहा। अथवा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' के अनुसार श्रीकिशोरीजीकी प्रेमासक्तता देख आपने भी वैसा ही भाव जनाया। अथवा, अभी केवल मानसी स्वयंवर उचित है, इससे इस दोहेमें वाचिक, मानसिक और कायिक आसक्ति दिखाई।

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता* ॥१॥
जहँ बिलोक मृगसावक नैनी। जनु तहँ बरिस कमलसित श्रेनी ॥२॥

शब्दार्थ—चकित=चौकन्नी, हक्काबक्का सी। मृगसावक (मृग-शावक)=हिरणका बच्चा। बरिस=(की) वृष्टि हुई, वर्षा हो रही है। कमल-सित=श्वेत कमल। सित=श्वेत।

अर्थ—श्रीसीताजी चारों दिशाओंमें चौकन्नी सी देखती हैं। मनमें चिन्ता है कि राजकिशोर कहाँ चले गए॥ १॥ बाल-मृगनयनी श्रीसीताजी जहाँ देखती हैं वहाँ (ऐसा जान पड़ता है) मानों श्वेतकमलों की पंक्ति बरस जाती है॥२।

श्रीलमगोड़ाजी—(क) 'चितवति चकित चहूँ दिसि' इति। यहाँ 'च' का अनुप्रास 'चकित' और 'चिंतित' अवस्थामें कितना सुन्दर है?। (ख)-प्रेमकी आँखमिचौनीमें यह बियोग बड़ा ही भावपूर्ण है। इसी प्रकार कुशल कविने बड़ी ही कुशलतासे प्रेमको पकाया है, नहीं तो इतनी शीघ्र एकही दिनमें 'जा पर जा कर सत्य सनेहू।' की अवस्थातक पहुँचना कठिन था, जब यह निश्चय हो गया कि भगवान् मुझे 'रघुपति की दासी' अवश्य बनावेंगे।

टिप्पणी—१ (क) श्रीसीताजीका प्रसंग "चकित बिलोकति सकल दिसि···। २२६।" अर्थात् 'चकित' पदसे छोड़ा था, अब वहींके 'चकित' शब्दसे पुनः प्रसंगको उठाते हैं।—'चितवति चकित'। (कवि एक है, इस लिये दोनों ओरकी घटनाएँ जो साथ-साथ हो रही हैं उनको वह एक साथ नहीं लिख सकता। अतः एक ओरका वृत्तान्त थोड़ा कहकर फिर दूसरी ओरका वृत्तान्त कहने लगता है। श्रीसीताजी चकित होकर देख रही हैं। कविको अवसर मिला कि इस बीचमें श्रीरामजीकी ओरका वृत्तान्त कहें। तब श्रीरामजीकी ओरका वृत्तान्त कहने लगे। जब यहाँ तक कथा पहुँची कि श्रीसीताजीके मुखसरोजके छवि-मकरन्दको श्रीरामजीका मन-मधुप पान करने लगा, तब कविको श्रीसीताजीकी ओरके वृत्तान्त कहनेका अवसर मिला। अब जहाँसे छोड़ा था वहींसे कथा प्रारम्भ करते हैं। वि० त्रि०)। (ख) 'चहूँ दिसि' इति। पूर्व जो 'सकल दिसि' कहा था उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि 'सकल दिसि'-'चहूँ दिसि'। [परन्तु श्रीलमगोड़ाजीके मतानुसार पूर्वका 'सकल दिसि' साभिप्राय है, भावगर्भित है और यहाँ अब सकल दिशाओंकी आवश्यकता ही नहीं रह गई है—विशेष आगे तथा दोहा २२९ में उनकी टिप्पणी देखिए। (ग) 'कहँ गये नृपकिसोर' इति। 'नृपकिशोर' शब्दसे उनकी स्वाधीनता दो प्रकारसे जनाई—एक तो 'नृप', दूसरे 'किशोरावस्था', जिसमें मन चंचल हुआ करता है। (पाँड़ेजी)] (घ) 'मन चिंता' इति। 'सीताजी' और 'चिंता' में अनुप्रास एक अक्षर 'ता' का है। ऐसा ही प्रयोग ग्रंथकारने अन्यत्र भी किया है। यथा 'मुख मलीन उपजी मन चिंता। त्रिजटा सन बोली तब सीता। ६।९८।२।' (ङ) मनमें चिंता करती हैं कि कहाँ गए और चारों दिशाओंमें देखती हैं। तात्पर्य कि संकोचके मारे सखियोंसे पूछ नहीं सकतीं। अथवा, इतनी देरमें बागके बाहर तो जा नहीं सकते, तब गए कहाँ?

पाठान्तर—प्राचीनतम १६६१ वाली पोथीमें यह पाठ है। श्रीपाँड़ेजीकी छपी पुस्तकमें 'चीता' पाठ है (संभवतः बैजनाथजीने उसीमेंसे यह पाठ लिया है)। टीकामें वे लिखते हैं कि 'चीता अनुप्रास हेतु कहा गया, शब्द चिंता है। चिंता तीन बातोंकी है—प्रथम यह कि चले तो नहीं गए; दूसरे यह कि सखियाँ अन्तःकरणकी प्रीति पहचान न लें; तीसरे राजा जनकके प्रणकी।" बैजनाथजी लिखते हैं कि यह 'विप्रलम्भ' की चिन्ता दशा है।

श्रीरामदास गौड़जी 'चीता' पाठ पसंद करते हैं। उनके मतानुसार— "मनचीता=मनने जिसे

* चिंता-१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। चीता -पां०, को० रा०, बै०, गौड़जी।

चुन लिया। 'मन चीता' में श्रीकिशोरीजीके पहलेसे वरण कर लेनेका निर्देश है। पाठक २२६ वें दोहेके ऊपरकी चौपाईसे इस प्रकरणको यों मिलाकर पढ़ें।—'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई॥ सुमिरि सीय नारद-बचन उपजी प्रीति पुनीत। चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत॥ २२९॥ चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मन-चीता॥' इत्यादि। "प्रीति पुरातन" है। 'आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। सोउ अवतरिहि मोरि यहु माया।' नारदकी बात भी याद आयी। मनने चुन लिया, वरण कर लिया। इस बातका निर्देश 'मनचीता' विशेषणसे हो जाता है। चिन्ताका अभी कोई काम नहीं। चिन्ताका काम तब आएगा जब 'नखसिख निरखि राम कै सोभा। सुमिरि पितापन मन अति छोभा।' तब तो 'जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर स्यामल मूरति।'"

टिप्पणी—२ (क) 'जहँ बिलोक' का भाव कि प्रथम चारों ओर देखना कहा था, इससे अब 'जहँ' कहकर जनाया कि श्वेतकमलोंकी वृष्टि केवल उसी तरफ़ होती है जिधर देखती हैं, जब जिधर और जहाँ देखती हैं उसी तरफ़ ऐसा जान पड़ता है, अन्य तीन तरफ़ नहीं। (ख) पूर्व जो २२९ वें दोहेमें कहा था कि 'चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसुमृगी सभीत' अब उसीका मिलान करते हैं। 'जनु सिसुमृगी सभीत' के संबंधसे यहाँ 'मृगसावकनैनी' कहा। (ग) [हिरनके बच्चेकी आँखकी उपमा देकर 'नई नई जलभरी आँखें' सूचित कीं।(पांड़ेजी)]

'जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी' इति।

पं० रामकुमारजी—'श्वेत कमल' इति। सत्व, रज, तम तीन गुण हैं। रसनिधिके 'अमी हलाहल मद भरे श्वेत श्याम रतनार। जिअत मरत झुकि झुकि परत जेहि चितवन एक बार।' इस दोहेमें चितवन रजोगुणी, तमोगुणी और सतोगुणी तीनों प्रकारकी दिखाई गई है। यहाँ केवल सतोगुणी दृष्टिसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं, इसीसे यहाँ श्वेतकमलकी उपमा दी गई। दृष्टिकी स्वच्छता इससे दरसाई। [सतोगुण अमृतसम जिलानेवालेका रंग श्वेत है। रजोगुणका रंग लाल है और तमोगुणका श्याम है। गोस्वामी तुलसीदासजी श्रीजानकीजीकी चितवनको अमियमय श्वेत शुद्ध सात्विक जनाते हैं। इसीसे उन्होंने उनसे श्वेत कमलोंकी वृष्टिकी उत्प्रेक्षा की।] पुनः भाव कि कमलकी वृष्टि कहकर काम के बाणकी वृष्टि जनाई। यथा—"नियतिन्तु स्मर नाराचाः कान्ता दृग्पात कैतवात्।'

पांड़ेजी—"जिधर श्रीसीताजी जाती हैं उधर ही सब सखियोंका समूह देखने लगता है। यहाँ यह शंका होती है कि 'आँखोंकी सुन्दरता श्यामता वा अरुणताकी कही जाती है। यहाँ श्वेत कहनेका क्या प्रयोजन ?' समाधान यह है कि राजपुत्री सखियों समेत शृङ्गार किये हुए नहीं है (अभी स्नान करके पूजामें लगी थीं) इसीसे आँखें श्वेत हैं। दूसरे यह कि श्वेत लोचनमें प्रीति अर्थात् मित्रताका भाव है, श्याममें विष अर्थात् शत्रुताका भाव है और लालमें मद अर्थात् मध्यस्थका भाव है। आँखोंमें सब वस्तुएँ इन्हीं तीन भावोंसे देखी जाती हैं। यही बात बिहारीने अपने प्रसिद्ध दोहे—'अमी हलाहल मद भरे०' में कही है। यहाँ प्रयोजन मित्रताके भावका है, इसीसे श्वेत नेत्र कहे।"

पं० श्रीरामदासगौड़जी—दो नेत्रोंसे कमलश्रेणीकी वर्षा कैसे संभव ? इस तरह कि चकित चितवन है, इससे ताबड़तोड़ झड़ाझड़ वृष्टि हो रही है। सीताजीकी चितवन पुनीत पवित्र अमृत सत्कीर्त्तिमय विमल है, इसीलिये श्वेतकमलसे उसकी उपमा दी गई। बरसना क्यों कहा ? इसलिये कि हमारे विज्ञानमें ज्योतिभी परमाणुमय है, अनात्म है, पदार्थ हैं, Material है। Einstein एन्स्टैनकी आधुनिक Quantum theory of light ज्योति-परमाणुवाद भी इसी हिन्दूविचारका पोषक है। कविकी कल्पनामें परमाप्रकृति सीताजीके

स्थूल शरीर आँखोंके सरोवरसे निकले विमल अवलोकनरूपी श्वेतकमल प्रकृतिके तमोगुणसे निर्लिप्त हैं। चितवनकी ज्योतिके परमाणु बरस जाते हैं, मानों कमलोंकी एक सीधी पंक्ति बरस जाती है। कविकी कल्पना बड़ी चमत्कारिक और अपूर्व है।※

लमगोड़ाजी—'जहँ बिलोक···श्रेनी' बड़ी ही सुंदर अर्धाली है। शीघ्रताके साथ आँखें चारों ओर घूम रही हैं, इससे श्वेत कमलोंकी मानों झड़ी लग जाती है। इससे भी यह भाव सुंदर है कि "भए बिलोचन चारु अचंचल" संकेत है कि आँखें मिल गई थीं। श्रीरामजीकी आँखें ही श्रीसीताजीकी आँखोंमें बसी थीं, इस लिये जिधर सीताजी देखती थीं, उधर यह जान पड़ता था कि मानों श्वेत कमलोंकी वर्षा हो रही है। श्वेत अमृतका रंग है और शृङ्गारका प्रारंभ है। अभी ठीक भी यही है। कविकी सूक्ष्मदर्शिता अभी स्पष्ट हो जायगी जब आगे ही चलकर आप देखेंगे कि श्रीरामके नखशिख वर्णनमें 'लोचन रतनारे' आया है, मानों इतनी देर शृङ्गार 'मधु' कोटि तक पहुँच गया और श्वेत आँखोंमें प्रेमने लालिमा उत्पन्न कर दी। (मद ?)—इन सुंदर कल्पनाओंके लिये 'जनु' के साथ उत्प्रेक्षा कितनी उचित है। रसकिन Ruskin ने ठीक कहा है कि सुंदर वस्तु सर्वदा सुखमय है। वियोगमें आँखोंकी याद ही अपना काम कर रही है। यहाँ तो अभी क्षणिक वियोग और प्रारंभिक अवस्था ही प्रेमकी है। लेकिन यही दृढ़ होकर अशोकवाटिकामें भी आधार बनेगी।—'ध्यान तुम्हार कपाट'।

अब रामदर्शन हो जानेपर केवल चारों तरफ़ देखना रह गया, क्योंकि नृपकिशोररूपमें देखा है। आकाश और पाताल वाले विचारकी अब ज़रूरत नहीं।

नोट—और भी भाव ये कहे जाते हैं—

रा० प्र०—(१) वहाँ वहाँ भ्रमरोंसे युक्त श्वेतकमलोंकी मानों पंक्ति पड़ती है। नेत्रकी पुतलीको व्यंग्यसे भ्रमर कहा। (२) श्वेत कमल कहनेका भाव यह है कि श्वेत कटाक्ष सुखदायक होता है और श्याम कटाक्ष दुःखदायक है। भाव यह कि चाहसे देखना सुखदायक है और अचाहसे देखना दुःखदायक। इसीसे 'जानकीमंगल' में लिखा है—'जेहि दिसि राजकुमारि सुभाय निहारै। नीलकमल सर श्रेनि मयन जनु डारै। ५१।' (तुलसी रचनावालीमें पाठान्तर है पर अर्थ एक ही है)। यहाँ स्वाभाविक ही निहारती हैं। और वहाँ (जानकीमंगल प्रसंगमें) राजाओंकी ओर अचाह दृष्टिसे देखती थीं। (अथवा, यहाँ अभी स्नान किया है इससे शृङ्गार नहीं है। स्वयंवरके समय यज्ञशालामें शृङ्गार किए हुए हैं। आँखोंमें सुरमा लगाना भी शृङ्गार है, इससे उस समय नील-कमलकी उपमा दी है।)

बैजनाथजी—"सौम्यदृष्टि होनेसे श्वेतकमल कहे। अंक नौ हैं। नवोंकी एक पंक्ति है। यहाँ आठ सखियाँ हैं और एक किशोरीजी, इन नवोंकी दृष्टिकी एक पंक्ति हुई। अथवा, अठारह नेत्रोंकी दो पंक्तियाँ हुईं।"—यद्यपि यह अर्थ है, फिर भी यह प्रसंगको भूषित नहीं करता; क्योंकि यह अर्थ शान्तरसके योग्य है।" इस समय किशोरीजीमें तीन दशायें वर्तमान हैं—अभिलाषा, स्मृति और चिन्ता। राजकुमारको देखनेकी अभिलाषासे जिस स्थलपर देखती हैं वहाँ जब वे नहीं देख पड़ते तब करुणारस हो आता है जिससे दृष्टिमात्रका वह काल कमलाश्रित ब्रह्माके वर्षोंके समान वीतता है। आतुरताका यही लक्षण है।

※ १ प्राचीन पाठ 'कमल सित श्रेनी' ही है। किसीने 'कमल श्रित श्रेनी' पाठ दिया है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि जहाँ 'श्रित' पाठ है वहाँ भावार्थ यह होगा कि "जब राजकिशोर न दिखाई दिए तब करुणा-रस हो आया। इससे पलमात्र भी उनको 'कमलाश्रित' ब्रह्माजीके वर्षोंकी श्रेणीके समान बीतने लगा। ऐसी आतुरता हुई कि 'निमिष बिहात कलप सम तेही'।" २—वीरकविजी लिखते हैं कि 'कमल आसमानसे बरसते नहीं। यह कविकी कल्पनामात्र है। अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।

मा० त० वि०—(१) कमलश्रित (भ्रमर) की श्रेणीकी वर्षा होती है। भाव यह है कि खेदके मारे तिलमिली छा जाती है मानों मोतियाबिन्दकी आदि दशा हो। अथवा, (२) वर्ष=भारतवर्ष। मृग-शावकनयनी जहाँ जहाँ देखने लगती है, वहाँ वहाँ वह अवलोकन ऐसा जान पड़ता है मानों भारतवर्षभरमें मृगोंका झुंड बँध गया है। सखियाँ भी उसी ओर देखती हैं कि कदाचित् किशोरीजी न देख पावें, हमको दिखाई दें तो हम दिखला दें और ऐसा हुआ भी।

प० प० प्र०—'कमल सित' क्यों लिखा, सित कमल सीधा सीधा क्यों न लिखा? 'सिताम्बुज श्रेनी' वे लिख सकते थे पर ऐसा न करके उन्होंने अर्थानुकूल शब्दक्रम रक्खा है। भाव यह है कि जहाँ जहाँ मृगशावकलोचनी श्रीसीताजी देखती हैं, वहाँ वहाँ मानों कमलके आकारके सदृश सित-श्रेणीकी वर्षा ही करती हैं। सित = दीप्त = दीप्तिमान=प्रकाशयुक्त।—'शुभ्रं दीप्तेऽभ्रके सिते' (हेमः)। पूर्व 'करत प्रकास फिरइ फुलवाई' से शरीरकी दीप्ति दिखाई और यहाँ नेत्रोंकी दीप्ति दिखाते हैं'। सीताजीकी दृष्टिसे कमलके आकारकी प्रकाशमय श्रेणी (पंक्ति) भूतलपर पड़ी हुई देखनेमें आती है। कमल गोल बर्तुलाकार होता है, उसके मध्यमें कमलकोष रहता है जो कमलदलोंसे घिरा रहता है। सीताजीके नेत्र मृगशावकके नेत्रोंके समान हैं, अतः बीचमें कृष्णवर्ण गोलाकार पुतली है। ऊपर और नीचेके पलकोंसे कमलके समान नेत्र बर्तुलाकार हैं। पलकोंपरके बाल काले और विरल, छूटे छूटे हैं। सीताजीके नेत्रोंसे जो प्रकाश निकलता है, वह पलकोंके बालोंमेंसे जमीनपर पड़ता है। पलकोंके बाल लंबे और पतले हैं, अतः दो बालोंके बीचमेंसे भी लंबा और पतला प्रकाश जो पड़ता है, वह कमल दलके समान दीखता है। इस प्रकार श्वेत कमलदलोंका बर्तुल-सा तैयार होता है। बाल बर्तुलके मध्यमें प्रकाश नहीं पड़ता क्योंकि पुतली काली है। अतः बीचमें प्रकाशहीन कृष्णवर्णकी जमीन ही रहती है जो कमलकोषके सदृशही दीखती है। 'कहँ गए नृपकिसोर' यह जाननेके लिये चंचलतासे इधर-उधर ताकती हैं और चल रही हैं, अतः कमलके समान प्रकाशमय बर्तुलोंकी श्रेणियाँ पृथ्वीपर देखनेमें आती हैं। इसीसे कहा कि 'बरिस कमल सित श्रेनी'।

वि० त्रि०—कामका धनुष फूलका है, प्रत्यञ्चा भ्रमरमयी है और चंचल नेत्रवालियोंका कटाक्ष ही बाण है। पुष्पधन्वाने पहिले डंका दिया था, अब बाण वर्षा कर रहा है, क्योंकि कामका परम बल नारी है। इन्हीं शरोंसे रामजी आहत हैं—यह भाव भी 'हृदय सराहत' से निकलता है।

लता ओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाए॥ ३॥
देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने॥ ४॥

शब्दार्थ—लखाए=इशारेसे बताया या दिखाया।

अर्थ—तब सखियोंने सुन्दर श्याम गौर किशोर कुमारोंको लताकी ओटमें लखाया॥ ३॥ उनके ललचाए हुए नेत्र रूपको देखकर ऐसे प्रसन्न हुए (एवं नेत्र ललचाए और ऐसे प्रसन्न हुए) मानों अपनी निधि पहचाननेसे (प्रसन्न हुए हों)॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'लता ओट' इति। [श्रीरामजीके छिपनेके संबंधमें 'ओट' शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने तीन जगह किया है। एक तो यहाँ 'लता ओट'। दूसरे, सुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें, यथा 'अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई। ३.१० १३।' तीसरे, सुग्रीव और बालिकी लड़ाईमें, यथा 'पुनि नाना बिधि भई लराई। बिटप ओट देखहिं रघुराई। ४.८.८।' इन तीनों प्रसंगोंमें 'ओट' के साथ भिन्न-भिन्न शब्द आए हैं। प्रथममें लता, दूसरेमें तरु और तीसरेमें बिटपकी ओटमें श्रीरामजीको दिखाया है। भेद साभिप्राय है। तीनोंमें पृथक् पृथक् रसोंका वर्णन है। पहलेमें शृङ्गाररसका प्राबल्य दिखाया।···(प्र० सं०)] फुलवारी शृङ्गार है। शृङ्गारमें स्त्रीकी प्रधानता है। अतः शृङ्गाररसका प्रसंग

होनेसे यहाँ 'लता ओट' कहा, क्योंकि 'लता' स्त्रीलिंग है। शान्त रसमें कवि 'तरु' का प्रयोग करते हैं। श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें शान्तरसकी प्रधानता है। इससे वहाँ 'तरु' कहा। 'तारयतीति तरु' जो तारै उसका नाम 'तरु' है, इस तरह 'तरु' शान्तरससूचक नाम है। और, वीररसके प्रसंगमें कवि 'बिटप' शब्द देते हैं (जो पुरुषवाचक है), यथा 'इतना कहत नीतिरस भूला। रनरस बिटप पुलक मिस फूला। २.२२६।' इसीसे तीसरी जगह 'बिटप ओट देखहिं रघुराई' कहा, क्योंकि वहाँ वीररसका प्रसंग है। पुनः, (ख) 'लता ओट' कहनेका भाव कि लता फूलती है, और यहाँ दोनों भाई फूल तोड़ते हैं। (ग) 'लता ओट तब सखिन्ह लखाए' इति। भाव कि चकित अवलोकनसे भगवान् नहीं मिलते। ईश्वर लतारूपी मायाकी ओटमें है। जब सखीरूपी श्रुतियाँ लक्षित कराती वा बताती हैं तब देख पड़ता है। यथा 'पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइअ मर्म। मायाछन्न न देखिए जैसे निर्गुन ब्रह्म। ३.३९।' [(घ) 'सखिन्ह' बहुवचन है। सब सखियाँ राजपुत्रोंको देखने और श्रीजानकीजीको दिखानेकी अभिलाषिणी हैं। अतः सबकी एक साथ ही उनपर दृष्टि पड़ी। इसीसे सभीका लखाना कहा। 'लखाए' से प्रकट बोलना आदि नहीं पाया जाता, क्योंकि राजकुमार निकट हैं। (पां०)। (ङ) 'लखाए' शब्द प्रेमकी आँख मिचौलीमें कितना सुंदर है। (लमगोड़ाजी)। (च) अथवा, "किशोरीजीकी दृष्टि रुकी रही और सखियाँ तो प्रत्यक्ष देखती ही रहीं कि राजकुमार गुलाबकी कुंजमें कुंदकी लताकी ओटमें हैं। जब करुणासे उत्कंठा, चिंता, चपलता, वितर्कादि संचारी और विवर्ण-स्वेदादि सात्विक भाव किशोरीजीके अङ्गोंमें देखे तब सबने जान लिया कि दर्शनकी आतुरताके कारण यह दशा हो गई है। अतः तब सखियोंने लखा दिया कि देखो वे लताकी ओटमें हैं।" (वै०)। अति उत्कण्ठा होनेसे श्रीसीताजीने न देखा, सखियोंने देख लिया। (वि० त्रि०)]

२ 'स्यामल गौर किसोर सुहाए' इति। प्रथम जो सखी देख आई थी, उसने जो-जो अङ्ग सखियोंको कह सुनाए थे, उन्हीं अङ्गोंको कहकर यहाँ सखियोंने श्रीकिशोरीजीको लताकी ओटमें राजकुमारोंको दिखाया, उस सखीने 'स्यामल गौर किसोर सुहाए' बताया था। यथा 'देखन बागु कुँअर दुइ आए। बय किसोर सब भाँति सुहाए॥ स्याम गौर किमि कहौं बखानी।" 'लखाए' से सूचित करते हैं कि सब सखियाँ श्रीसीताजीको बता रही हैं कि वे 'श्यामल गौर किशोर सुहाए' ये ही हैं, देखो। [पुनः, 'सुहाए' अर्थात् रंग और अवस्था सुहावनी है। वा, श्याम, गौर और किशोर जो पूर्व सखीसे सुनकर श्रीजानकीजी-को 'सुहाए' हैं। (पांड़ेजी)]

'देखि रूप लोचन ललचाने' इति।

"प्रथम कहा था कि 'दरस लागि लोचन अकुलाने' और अब कहते हैं कि 'देखि रूप लोचन ललचाने'। जब रूपकी प्राप्ति होगई तब लालच होनेका काम ही क्या ? जब तक दर्शन नहीं होता, वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती, तभी तक 'लालच' कहा जाता है, यथा—'सकुचन्ह कहि न सकत गुरु पाहीं। पितु दरसन लालचु मन माहीं। ३०७।५।' पिता जनकपुर आगए उनके दर्शन नहीं हुए इससे 'ललचाना' कहा गया। पर यहाँ तो दर्शन होगए तब 'ललचाने' कैसे कहा ?"—यह प्रश्न उठाकर लोगोंने उसका उत्तर यह दिया है—

१—'ललचाने' लोचनका विशेषण है। ललचाना पूर्व ही कहा था,-'दरस लागि लोचन अकुलाने'। दर्शन होने पर अधिक सुख हुआ, यथा—'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानइ सोई'। अतः अर्थ है कि 'ललचाए हुए नेत्र रूप देखकर हर्षित हुए मानों अपनी निधि पहिचानी है'। रूप नेत्रका विषय है, वही उसकी निधि है। श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंके रूप नेत्रोंके निधि हैं यहाँ दो निधियाँ हैं, एक श्याम, दूसरी गौर। श्याम अर्थात् नीलनिधि रामजी हैं, गौर अर्थात् शङ्खनिधि लक्ष्मणजी हैं। 'निज निधि पहिचाने' अर्थात् नील निधि (श्रीरामजी) हमारी है, शंखनिधि हमारी नहीं है। वह उर्मिला हमारी बहिनकी है,

इसीसे रघुपति-छबि देखी और उन्हींको उरमें धारण किया, लक्ष्मणजीको नहीं।—(पं० रामकुमारजी)

२ देखकर भी ललचाए, क्यों? यह विचारकर कि श्यामताकी इस राशिमेंसे तिलमात्र श्यामता हमारे भीतर होनेसे यह आनंद है। यदि कहीं समस्त यह राशि हमारे अन्तर्गत होजाय तो अवाच्य सुख हो। 'निज निधि' यही श्याम स्वरूप है, इसका अणुमात्र भाग पाकर नेत्रोंको देखनेकी शक्ति है जैसा बिहारीने कहा है-'कोटि भानु जो ऊगवैं तऊ उज्यारु न होय। तनक श्यामकी श्यामता जो दृग परी न होइ।' अतः पूर्ण स्वरूप पा जानेसे हर्ष हुआ।''—(रा० च० मिश्र)

३ ''यह लीलाका आदर्शमात्र है, वस्तुतः महारानीजीके नेत्रोंसे इनका क्षणमात्र भी वियोग नहीं। इसीसे कविने 'जनु' पद देकर उत्प्रेक्षासे निर्वाह किया है''। मुं० रोशनलाल आदि कई टीकाकारोंने अर्थ किया है कि ''रूपको देखकर नेत्र ललचा गए''। ललचानेका भाव यह है कि जितना देखनेमें आया इतना सुना न था। और जैसे कोई अपनी खोई हुई वस्तुको पहिचानकर हर्षित होता है, वैसे ही ये हर्षित हुए'' (पांड़ेजी)।

४ आपका रूपही ऐसा है कि जितना देखो उतनी ही अधिक चाह उपजती जाती है, कभी भी तृप्ति नहीं होती। यथा। 'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी॥ चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु-सतरूपा॥…। १।१४८।'''एक लालसा बड़ि उर माहीं।''' चाहउँ तुम्हहिं समान सुत०। १४९।' श्रीमनुशतरूपाजीको देखनेपर भी ऐसी तीव्र लालसा उत्पन्न हुई कि वे तृप्त नहीं होते और यह लालच है कि सदा ही इनको देखते रहिए। इसीसे चाहते हैं कि आप पुत्र होकर लोचनोंको सुख दें। (प्र० सं०)। पुनः,

५ अब भी क्यों ललचा रहे हैं? इसके कारणका पता 'पहिचाने' शब्दसे भी कुछ-कुछ लगता है। जैसे कोई खोई हुई अपनी वस्तु सामने आ जाय तो प्रसन्नता अवश्य होती है, वैसे ही यहाँ बहुत कालसे बिछुड़े हुए आज इस लीलाभूमिमें श्रीरामजीके दर्शन होनेपर खुशी हुई। पर वे दूर हैं; अतः उनके निकटसे देखनेका लालच, अथवा, वह वस्तु फिर ग़ायब न हो जाय उसपरसे दृष्टि हटानेकी इच्छा नहीं होती। (लालच बढ़ी कि नेत्र इन्हें देखते ही रहें अब ये सामनेसे न जायँ)। स्मरण रहे कि यहाँ वस्तु का पाजाना नहीं कहते, केवल पहिचानना कहते हैं। यही भेद है जो श्रीसीताजीके विषयमें आगे कहते हैं—'मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई'। देखिए बिछुड़े हुए मित्र मिलते हैं तो उन्हें छोड़नेको जी नहीं चाहता, बराबर देखते रहते ही बनता है। (रा० च० मिश्र)।

६ पहले दर्शनके लिये ललचाए थे। दर्शन होनेपर लालच गया नहीं। अब पानेका लालच है। एक दृष्टिकोण यह भी है कि 'दर्शनके लिये ललचाई हुई आँखोंको अब अपनी निधि पहचाननेके कारण हर्ष हुआ'' परन्तु इसमें 'मरज बढ़ता गया ज्यों-ज्यों दवा की'—यह बीचकी श्रेणी रह जाती है। (लमगोड़ाजी)। [मिलान कीजिये—'कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित एरी। (गी० १-७६)—यह नेत्रोंका लालच है]।

७ जो नेत्रोंको आकर्षित करे उसे 'रूप' कहते हैं, जैसे चुंबक लोहेको। श्रीराम रूपके निधि हैं ही। इसी लिये नेत्र दूरसे देखकर हर्षित हुए और निकट से अघाकर देखनेको ललचाए। (वै०)।

८ अथवा, वेदवतीरूपमें बहुत तपस्या की थी पर दर्शन न हुए थे। दर्शन आज ही हाथ लगे। अतः 'ललचाए' और 'हरषे०'। (मा० त० वि०)।

९ ललचाए कि बहुतसे नेत्र होते तो अघाकर देखतीं। (रा० प्र०)। 'पहिचाने' से पूर्वका परिचय सूचित होता है।

१० (क) सुनकर 'दरस हेतु लोचन अकुलाने' और रूपको देखकर नेत्र ललचाने। 'ललचाने' का भाव

कि और भी मनोयोगसे देखनेके लिये ललचाये। (ख) श्रीरामजी दूसरोंको भी निधिरूप ही देख पड़ते थे, पर वे उनकी निधि नहीं थे, अतः वे लूटने चले थे; यथा 'धाए धाम काम सब त्यागी। मनहु रंक निधि लूटन लागी।'; पर 'निज निधि' को सीताजीने पहिचाना। इसी लिये कहा था 'प्रीति पुरातन लखै न कोई'। आँखें प्रसन्न हो उठीं कि यही तो हमारी निधि है। (वि० त्रि०)।

थके नयन रघुपति छबि देखे। पलकन्हिहू परिहरीं निमेषें ॥५॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥६॥

शब्दार्थ—भोरी=स्तंभित, यथा—'सूर प्रभुकी निरखि शोभा भई तरुनी भोरि।'—(सूर)।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी छबि देखकर नेत्र 'थक' (स्थिर, अचंचल हो) गए। पलकोंने भी पलक मारना छोड़ दिया। अर्थात् एकटक देखते खुले रह गए ॥५॥ अधिक स्नेहसे (अर्थात् स्नेहकी अधिकता के कारण) देह 'भोरी' हो गई। (देहकी सुधबुध न रहगई)। ऐसा जान पड़ता है मानों शरद्‌ऋतुके चन्द्रमाको (देखकर) चकोरी निहार रही हो ॥ ६॥

❋ "थके नयन रघुपति छबि देखे" ❋

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'थके' अर्थात् अचंचल हुए। इससे जनाया कि रूप अपार है। देखकर थक गए, पार न पा सके; यथा 'सील सुधा के अगार सुखमाके पारावार पावत न पैरि पार पैरि पैरि थाके हैं। गीतावली १.६२।', 'रामहि चितै रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन।२६६.८।' (परशुराम)। अर्थात् छबि समुद्र है, इसीसे अपार है। छबिसमुद्रको देखकर नेत्र एकटक एकही जगह लगे रह गए, यही 'थके नयन' का भाव है। यथा—'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी। एकटक रहे नयनपट रोकी। १४८.५।' नेत्र 'थके' इससे पलक भी खुलेके खुले रह गए।

गौड़जी लिखते हैं कि 'थके' संस्कृतके 'स्थग' धातुसे है, जिसका अर्थ है 'ठग जाना'। 'थके' का वास्तविक भाव है "ठगे गए, इसलिये निश्चल भावसे स्तंभित होगए"। यात्रीका जब सर्वस्व हरण हो जाता है तब वह चौकन्नासा खड़ा रहजाता है, किधर जाय, अपने मालको कहाँ तलाश करे। यहाँ हृदय छीन लिया गया, चितवन क़ैद कर ली गई, ठग ली गई, इसी लिये नयन 'थके'।

मुं० रोशनलाल लिखते हैं कि "थकना इससे कहा कि देरसे 'हेर' (ढूँढ़) रहे थे। वा, 'थके' अर्थात् छबिपर ठहर गए। (नोट—थाकना बँगला भाषामें ठहरनेको कहते हैं)। वा, इस छबिका इतना विस्तार है कि उसीका आनन्द लेते-लेते थक गए, उससे पार हो अंगोंतक न पहुँचे, जैसे सूर्य्यकी आभासे पार होकर सूर्य्यतक किसीकी दृष्टि नहीं पहुँचती। अर्थात् जैसे कोई इच्छा करे कि देखैं पर उनके तेजके आगे उन्हें न देख सके।" (पांडेजी)। वीरकविजी लिखते हैं कि 'थके' शब्दमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि छबिका भार देरतक नेत्र सँभाल न सके, इस लिये थक गए। थका हुआ हिलता डोलता नहीं, अतः पलकोंने भी हिलना डोलना छोड़ दिया।

नोट—१ 'रघुपति' कहकर जनाया कि रघुनाथ (वा जीवोंके पति) श्रीरामजीकी छबि देखी न कि लक्ष्मणजी की। (पं० रा० कु०)। पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि श्रीरामजीके हृदयने महारानीजीको स्वीकारकर उनके मुखको अवलोकन किया, तब महारानीने भी महाराजकी ओर देखा। इसी को विवाह-पद्धतिमें 'परस्पर' कहा है—'परस्परं समं जेथा' यह मंत्र है। अतः पतिभाव होनेसे 'रघुपति' पद दिया। २—'पलकन्हिहूँ परिहरी निमेषें' और 'मनहुँ सकुचि निमि तजेउ दिगंचल' का मिलान कीजिए। ☞ नयन थके कहकर इस चरणमें पलकोंका थकना कहा और 'अधिक सनेह देह भै भोरी' से देहका भी थकना कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'अधिक सनेह' इति। भाव कि स्नेह तो तभी हो गया था जब सखीके मुखसे

रूपसौन्दर्यको सुना था, अब देखनेसे स्नेह अधिक हो गया। सामान्य स्नेहमें देहकी खबर बनी रही। अधिक स्नेह होनेपर देहसुध भूल गई। (ख) — नयन, पलक और देह तीनों थक गए, यह कहकर तीनों (के थकने) की उपमा देते हैं। 'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'। चकोरके नयन, पलक और देह तीनों थकते हैं। इस तरह तीनोंका दृष्टान्त एकहीमें यहाँ पूर्णरूपसे कहा गया। यहाँ श्रीरामजीका मुखचन्द्र ही शरदपूनोंका चन्द्रमा है यद्यपि यहाँ मुख-शब्द नहीं दिया है पर अन्यत्र यह शब्द आया है; यथा 'भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा।', 'रामचंद्र-मुखचंद्र छबि लोचन चारु चकोर', 'अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख-ससि भये नयन चकोरा', इत्यादि। इससे यहाँ भी 'मुख' का ग्रहण हुआ। पुनः, (ग)—चन्द्र-चकोरके दृष्टान्तसे दोनोंकी परस्पर अनन्यता दिखाई। जैसे चकोर चन्द्रको छोड़ अन्यकी ओर नहीं देखता, वैसे ही श्रीरामजी जानकीजीको छोड़ अन्य किसी स्त्रीकी ओर नहीं देखते; यथा 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहुँ पर-नारि न हेरी। २३१.६।' वैसे ही श्रीजानकीजी श्रीरामजीको छोड़ अन्यकी ओर नहीं देखतीं; यथा 'तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा। ५.६।', 'तन मन बचन मोर पनु साचा। रघुपति पद सरोज चितु राचा। २५६.४।', 'जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं। ६.१०८।', 'अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा। वाल्मी० ५.२१.१५।' (ये वचन भी स्वयं श्रीसीताजीका है जो उन्होंने रावणसे कहा है)। जैसे श्रीरामजीने अपना हृदय श्रीसीताजीको दे दिया, वैसे द्विगुण प्रेमसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको अपने हृदयमें धारण किये हुए हैं। इसीसे प्रभुने कहा है "तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एक मन मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं। ५.१५", 'मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः।' ' 'तस्याश्च भर्ता द्विगुणोहृदये परिवर्तते। वाल्मी० १.७७.२६-२७।' इसीसे ग्रन्थकारने श्रीरामजीको चकोर और सियमुख को चन्द्र तथा श्रीसीताजीको चकोरी और श्रीराममुखको चन्द्रकी उपमा दी। दोनोंके नेत्र एक दूसरेकी शोभापर चकोर हो रहे हैं। एक चकोर है तो दूसरी चकोरी है।

पं० रा० च० मिश्र—यद्यपि यहाँ केवल 'भोरी' पदमें उत्प्रेक्षा घटित है पर कविका आशय गूढ़ है। राजकुमार लता-ओटमें हैं, उनका सर्वाङ्ग दर्शन नहीं हो रहा है किंच मुखही दिख रहा है। जैसे लताओट सरकारी झाँखी दिख रही है, वैसे ही कविता-ओट मुख-दर्शनका भाव झलक रहा है, किंच कविने मर्यादा-हेतु उपमेयको लुप्तकर उपमानभर कहा है। वहाँ रामपक्षमें सामान्य शशि कहा और नेत्रही चकोर बने, स्वयं नहीं—'सियमुखससि भए नयन चकोरा', और यहाँ विशेष शरद-शशि कहा और स्वयं चकोरी बनीं। चकोरकी तृप्ति शरद-शशिके सिवा सामान्य शशिसे नहीं। अतः यहाँ शरद्-शशि कहकर तृप्तिकी पूर्ति की। वहाँ जब साधारण शशिसे तृप्ति न हुई, तब मन-मधुपको मुखसरोजके छबि-मकरन्दसे तृप्त किया है। इसी अतृप्तिको दिखलानेके लिये ही तो फिर 'मुख सरोज मकरंद छबि करै मधुप इव पान। २३१।' कहा है। ['सियमुख-ससि भये नयन चकोरा' में शरद शशि न कहकर केवल शशि लिखकर जनाया कि श्रीरामजीकी देह भोरी न हुई। (वि. त्रि.)]

☞श्रीराजारामशरण—विचार करनेकी बात यह है कि दोनों ओर भाव एकही प्रकार बढ़ते हैं। हाँ, स्त्रीमें धीरे परन्तु अधिक जोरदार और स्थायी होते हैं, कारण कि वहाँ हृदय प्रधान होता है और पुरुषमें मस्तिष्क प्रधान।

मुं० रोशनलाल—१ जबतक सामान्य स्नेह रहा तबतक संभाले रहीं, जब सुने हुएसे विशेष रूप देखा तब अधिक सनेहसे देहसुध जाती रही। जैसे शरदशशिको देख चकोरीको देहका भान नहीं रह जाता। पुनः, २—जैसे शरदृऋतुके घामसे तप्त चकोरीको शरद्चन्द्रकी शीतलकिरणका स्पर्श होते ही देहसुध

नहीं रहती वैसेही पिताकी प्रतिज्ञासे तप्त राजकुमारी राजकुमार-शरदचंद्रके रूप-किरणको देख शीतलता पाकर देह-सुध भूल गई।

वैजनाथजी—आसक्तिसे परस्पर एक दूसरेका अवलोकन प्रेमका तीसरा भेद 'संक्रान्ति दशा' है। 'थके नयन' यह श्रम संचारी, 'देह भोरी' में आलस्य संचारी, दोनों ओर (परस्पर) अवलोकनमें रति स्थायी—इस तरह शृङ्गार रसकी पूर्णता है।

लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक-कपाट सयानी ॥७॥

अर्थ—नेत्रोंकी राह श्रीरामचन्द्रजीको हृदयमें लाकर उस सयानी (श्रीसीताजी) ने पलकरूपी किंवाड़े लगा दिए ॥ ७ ॥

पं० रामकुमारजी—१ पूर्व कहा था कि 'जहँ बिलोक मृगसावकनयनी। जनु तहँ बरिस कमलसित-श्रेनी।' अब यहाँ 'लोचनमग रामहिं उर आनी' कहकर जनाते हैं कि श्वेत कमलोंरूपी पाँवड़े देती हुई नेत्र-रूपीमार्गसे रामजीको हृदयमें ले आईं। पुनः, २—'लोचनमग' का भाव कि मूर्ति विना देखे ही (वेद, पुराण, शास्त्र, रामायणादि ग्रन्थोंमें केवल पढ़ या सुनकर ही बुद्धिके अनुभवसे) मनसे समझकर हृदयमें लोग ले आते हैं, वह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो मूर्ति साक्षात् प्रत्यक्ष सामने खड़ी है, इसीसे यहाँ (श्रवण या मनरूपी मार्गसे लाना न कहकर) लोचन-मार्गसे लाना कहा। जो वस्तु सामने देख पड़ती है, वह नेत्रही द्वारा अन्तः-करणमें जाती है। तात्पर्य्य कि मूर्तिको देखकर हृदयमें धारण कर लिया। [अथवा, श्रीरामजी बड़े कोमल हैं, यथा 'कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा'। नेत्रसे बढ़कर कोमल वस्तु नहीं। जो वस्तु उत्तम और अत्यंत प्रिय होती है, उसे लोग बड़े यत्नसे रखते हैं। अतः इन्हें परम प्रिय जानकर नेत्ररूपी कोमल मार्गसे लाकर उरमें रक्खा। इसी प्रकार श्रीरामजीने इनको 'चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं'। अथवा, शब्द होता तो श्रवण-मग कहा जाता; यहाँ रूपको हृदयमें रक्खा है, इसीसे (रूपके लिये) 'लोचनमग' कहा। (पाँ०)। वा, और किसी प्रकार ये पकड़े न जा सकेंगे, अतः हृदयमें बंद (क़ैद) कर लिया। (रा० च० मिश्र)। उधर लोचनमगसे छबि मकरन्दका पान हो रहा था, इधर लोचनमगसे स्वयं श्रीरामजीको हृदयमें लाकर पलककपाट बन्द कर लिया। प्रभु प्रेमके बन्दी हो गए। कामका विश्वविजय पूरा हो गया। यहाँ विहृत हाव है। संयोग-समय लज्जादिकसे अभिलाषाकी असन्तुष्टिको विहृत हाव कहते हैं। जब भक्त प्रेमवश होता है तभी भगवान उसके बन्दी होते हैं। 'अवसि देखिए देखन जोगू' दूसरी बात है और प्रेमवश हो जाना दूसरी बात है। (वि० त्रि०)]

नोट—मा० त० वि० कार लिखते हैं कि हृदयमें लानेका भाव यह है कि हृदय 'मानस-कुञ्ज' है जिसमें भावकी भूमि, प्रीतिका प्राकार, दयाका द्वार, दीनताका दासा, दास्यताकी देहरी, चितवनकी चौखट, चातुर्यकी चौसंडी, कीर्तनका किंवाड़, बन्दनाका बन्दनवार, मुस्कानकी मेहराब, मनोरथका मुर्गोल, छायाकी छजुली, गौरवका गोफ़ा, अनुरागका आँगन, करुणाकी कुरसी, मोदका महरूर, भक्तिकी भीति, श्रवणकी सीढ़ी, चाहकी चित्रसारी, विवेककी बारहदरी है। उसमें नेहकी निसेनी और ज्ञानका बँगला है जिसपर क्रियाका कलश है। इसपर प्रेमका पत्तर है। विचारका वितान है, उसपर मनका मुक्ता, शुद्ध वासनाका बिस्तर, गुरुज्ञानका गलीचा, सेवाधर्मका सिंहासन, जिसपर आवेशका आसन, गूढ़ताकी गादी, तेज-पुंजकी तकिया, यशका जशन (महफिल), शान्तिका छत्र, अद्भुत चमत्कारका चमर, समताकी शय्या, विज्ञानका बिछौना, पर-प्रभाका प्रकाश, रागानुरागका अतरदान, केलिकलाका पानदान, व्यंग वचनका पीकदान, परस्पर कटाक्षका गुलाबपाश, चतुष्पाद विभूतिका चौघड़ा, निर्वाणकलाका शमादान है। नानारसोन्मुखी सहचरियोंसे युक्त इस 'मानसकुंज' में लोचन-मगसे श्रीरामजीको ले आईं। अर्थात् निवृत्ति संपन्न चित्तवृत्ति और निमेषोन्मेषवर्जित दृष्टि जहाँ हुई वहीं भगवत-तत्वका अनुभव होता है।

टिप्पणी—'दीन्हे पलक कपाट सयानी' इति । (क) पलक बंद कर लिये, अतः 'सयानी' कहा। विना आँख बंद किये बेपर्दगी थी, सब कोई देखता था कि श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं। पलक बंद कर लेनेसे सब बात बन गई—परदेसे श्रीरामजीको देख रही हैं, इस तरह परदेसे दर्शन करनेमें अब लज्जा वा संकोच किसीका नहीं होनेका। दूसरे, सखियाँ यही जानेंगी कि श्रीसीताजी गौरीजीका ध्यान कर रही हैं, यह परदा आँख मूँद लेनेसे हो गया। पुनः, सब सखियोंको 'सयानी' कहा था, यथा 'संग सखी सब सुभग सयानी। २२८।३।' अब दिखाया कि श्रीसीताजी भी 'सयानी' हैं। [(ख) 'दीन्हे कपाट' अर्थात् हृदयमें रखकर नेत्र वंद कर लिये, हृदयमें ध्यान करने लगीं, जिसमें सखियाँ न जानें। अथवा, कहीं राजपुत्र अदृश्य न हो जायँ, अकुलाकर निकल न भागें, इसलिये पलकरूपी किंवाड़े लगा लिये। (यह श्रृंगाररसका भाव है। पाँ०।) 'सयानपन' यह है कि अपनी बात जितनी गुप्त रहे उतनी ही भली है। (पं०)]

बैजनाथजी—पलकको कपाट कहकर नेत्रोंको द्वार सूचित किया। सयानपन यह है कि सखियाँ इनकी विशेष आसक्ति न जान जायें। अथवा, राजकुमार कहेंगे कि प्रथम हमें देखकर पल्ला बंद कर लिया और अब एकटक देख रही हैं, इस मर्यादा हेतु पल्ला बंद कर लिया। (परन्तु मेरी समझमें नहीं आता कि पूर्व पल्ला बंद करना किस चौपाईमें कहा गया है)। अथवा, प्रथम चकित होकर ढूँढ़ना पड़ा था, इस भयसे राजकुमारको 'बंधुवा' (क़ैद) कर लिया। अथवा, उधर श्रीलक्ष्मणजी साथ हैं और इधर सखियाँ साथ हैं। इनके समीप शृङ्गारकी पूर्णताका अभाव है; अतएव उरको एकान्त स्थान विचारकर उसमें प्रभुको पाकर पल्ला बंद कर लिया—यही विशेष सयानपन है।

शीलावृत्ति—'सयानी' का भाव यह है कि सीताजीने मनमें विचार किया कि एक लघु लताकी ओटमें हो जानेसे हमको कैसा भारी दुःख हुआ, छटपटा गईं, और ये अभी यहाँसे चले जायँगे और मैं भी चली जाऊँगी तब प्राण कैसे रहेंगे? अतएव अभी इनको देखते-देखतेमें ध्यान खर कर लूँ, जो कोई अंश ध्यानमें न आवे तो अभी देखकर सुधार लूं, इसी हेतु 'दीन्हे पलक कपाट सयानी'।—"ध्यान तुम्हार कपाट" इति सुंदरकांडे।

नोट—संत श्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि "रूप देखकर आँख मींच लेनेपर औरका और भी लक्ष्य होने लगता है जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें।—'हृदय चतुरभुजरूप देखावा'। इससे यहाँ 'शयानी कपाट' जो शांभवी मुद्रा है, उससे तात्पर्य है। अर्थात् पलकोंपर 'शयानी कपाट' दे दिये। अर्थात् नेत्र खुले ही रहे पर लक्ष्य वस्तुके अतिरिक्त और कोई वस्तु न देख पड़े, इसे योगी जानते हैं।" और भी अनेक भाव लिखे हैं, क्लिष्ट समझ कर यहां नहीं लिखे गए।

श्रीगौड़जी—श्रीकिशोरीजी भी सयानी हैं। उनके संगकी सखियाँ भी 'सब सुभग सयानी' हैं। कोई किसीसे कुछ कहती नहीं है। अपने मन ही मन समझ जाती हैं कि किशोरीजी 'प्रेमवश' हैं। प्रेमवश ही होकर उन्होंने सरकारको देखकर ध्यानमें आँखें मूँद ली हैं। प्रकरण भरमें कहीं आँखें चार होनेकी कथा नहीं है। कितनी कोमलता है। 'नखशिख शोभा' देखकर दृष्टिके पाँवड़े बिछाकर उसपरसे सादर आँखोंकी राह हृदयमन्दिरकी एकान्त जगहमें ले गयीं और पलकके किंवाड़ बंद कर लिये। हृदयेश्वर भागने भी न पावें, एकान्त भी रहे, उधर स्थूल रूपमें आँखें चार होनेकी अकोमल घटना भी न घटे, सखियाँ झाँपने भी न पावें, समझें कि गौरीजीके ध्यानमें हैं। यही सयानपन है। एकान्तमें उधर हृदयेश्वरकी विधिवत् पूजामें मग्न हैं। इधर सरकारकी यह दशा है कि "करत बतकही अनुज सन मन सिय-रूप लोभान।" यही मौक़ा भी था, क्योंकि आँखें चार होनी उचित नहीं।

श्रीराजारामशरणजी—१ 'लोचन मग' कितना कोमल रास्ता है। २—'सयानी' इति। प्रेमकी आँख-मिचौनीमें कैसा सुन्दर प्रसंग है ? एक बार बँधुवा बना पाया तो हृदयमें बंद कर दिया, मानों संकेत है कि अब कैसे जाइयेगा ? शेक्सपियरने भी स्त्रीको एक जगह व्यंजनासे बंदीगृह कहा है और नसीमका पद भी प्रसिद्ध है—'जिंदाँमें जो जिंदा भेजना हो। अपने दिले तंगमें जगह दो।' सच है, प्रेमिकाके हृदय-वासमें जीवन है। यह भी देखिए कि यहाँ कोमलता अधिक है, रास्ता, निवासस्थान और पलककपाट सबही कोमल।

☞३ यहाँसे श्रीसीताजीके प्रेमके पात्र स्पष्ट ही राम हो गए। अब पृथक्करण हो गया। इसके पहले भी Aesthetic faculty सौंदर्य्यानुभवकी शक्तिने भी थोड़ा पृथक्करण किया था, 'थके नयन रघुपति छबि देखे'। नहीं तो दोनों भाइयोंके रूपमाधुर्य्यका प्रभाव 'श्यामल गौर किसोर सुहाए' तक एकसा था। सूक्ष्म अवस्थायें विचारणीय हैं।

[मुं० रोशनलाल—"शब्द होता तो श्रवणमग कहा जाता, रूपके लिये लोचनमग कहा। 'कपाट दीन्हे' अर्थात् हृदयमें रखकर नेत्र बंद कर लिए, हृदयमें ध्यान करने लगीं जिसमें सखियाँ न जानें। वा, कहीं राजपुत्र अदेख (अदृश्य) न हो जायँ, अकुलाकर निकल न भागें। इसीसे सयानी कहा।]

जब सिय सखिन्ह प्रेमबस जानीं। कहि न सकहिँ कछु मन सकुचानीं ॥८॥

अर्थ—जब सखियोंने श्रीसीताजीको प्रेमके वश जाना तब वे मनमें बहुत सकुचीं पर कुछ कह नहीं सकतीं ॥ ८ ॥

पं० रामकुमारजी—१ प्रेममें तनकी दशा भूल जाती है। श्रीजानकीजी प्रेमके वश हो गई हैं; अर्थात् उनको देहकी सुध नहीं रह गई, यथा 'अधिक सनेह देह भै भोरी।', उन्होंने पलक 'मूँद' लिए हैं। जब सखियोंने भाँप लिया कि ये प्रेमवश हो गईं, तब कुछ कहना चाहिए कि इन्हें आँखें खोलकर देखो, पलक क्यों बंद कर लिए, इत्यादि। पर सखियाँ कुछ कह नहीं सकतीं, क्योंकि वे संकोचमें पड़ी हैं कि यदि हम कुछ कहती हैं, तो इनको संकोच होगा और ऐसा हुआ भी जैसा आगे स्पष्ट है कि जब एक सखीने देखनेको कहा तब श्रीजानकीजीको संकोच प्राप्त हुआ, यथा 'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू ॥ सकुचि सीय तब नयन उघारे।' अतएव जानकीजीको संकोच होगा, इसीसे वे कहनेमें सकुचाती हैं। २ 'कहि न सकहिं' से जनाया कि कहनेका मौक़ा था पर संकोचसे न कहा।

वैजनाथजी—'प्रेम बस जानीं' इति। ध्यानमें इष्टरूपको पाकर मग्न होना प्रेमकी 'क्रान्तदशा' है, यथा 'देह भूलि सुख ध्यान प्रिय दशा क्रान्त की बाढ़ि। बैठ सुतीक्ष्ण अचल मग राम जगावत ठाढ़ि।' उसी प्रकार श्रीकिशोरीजी श्रीरामजीको हृदयमें पाकर ध्यानमें मग्न हैं, सखी इनको ध्यानसे जगावेगी।

नोट—१ 'मन सकुचानीं' इति। 'सकुचाने' के कुछ भाव ये हैं—(क) शास्त्रमें ध्यान छुड़ानेका निषेध है। (ख) राजकुमारीका भय है अथवा माताका भय है, वे यह प्रसंग सुनेंगी तो हमपर रुष्ट होंगी। (पं०)। (ग) 'जब दंपति एकान्त स्थानमें हों तो उनके सुखमें बाधा करना उत्तम सखियोंको उचित नहीं है—एक ओर तो इस विचारमें हैं और दूसरी ओर साथही यह विचार लाचार करता है कि इस समय राजकुमार सामने खड़े हैं, संयोग पुनः मिलना दुर्लभ है, इनको न बताना भी अनुचित है, अतः इस असमंजससे सकुचानी'। (वै०)। अथवा, (घ) प्रथम एक सखीने कहा था कि 'अवसि देखिअहि देखन जोगू' अब सोचती हैं कि बड़ी अनुचित बात हुई, अतः 'सकुचानी' (मा० त० वि०)।

गौड़जी—'सकुचानीं' इति। सखियोंको मनही मन संकोच है। संकोच सैकड़ों तरहका है। दर्शन कराके प्रेमवश करनेकी ज़िम्मेदारी (उत्तरदायित्व) का, देरका डर, ध्यानसे जगानेमें एवं असमय नेह लगानेकी अनीतिका ख़याल, फिर सामने सरकार हों और दर्शनका मौक़ा निकला जाता हो और यह उन्हें चेतावनी कैसे दें कि सामने प्रत्यक्ष दर्शन जितने क्षण हो सकते हैं कर लो, फिर ध्यान तो पीछे भी कर

सकोगी। यहाँ तक खयाल आया कि एकसे रहा न गया, ढिठाई करही बैठी। "अजी कहाँ हो! गौरीका ध्यान तो फिर कर लेना। राजकिशोरको देख क्यों नहीं लेती हो!"—सयानी सखियोंके साथमें होनेका यही तो लाभ है।☞यह प्रकरण ध्वनि-काव्यका परमोत्तम उदाहरण है। यहांके शब्द-शब्दमें व्यंजना-शक्ति उबली पड़ती है। जितने भाव एक-एक शब्दमें व्यंजित हैं उनको विस्तारसे कहनेको पोथियाँ काफी नहीं हैं।

नोट—२ संत श्रीगुरुसहायलालजीने इस चौपाईके अनेक भाव कहते हुए एक भाव यह भी कहा है कि यहां अर्घ्य पाद्यसे लेकर वस्त्रदानपर्यन्त षोड़शोपचार पूजनभी गुप्त रीतिसे आ जाता है। "लोचन मगसे मानसकुंजमें ले आईं यह 'आवाहन' किया, तदनन्तर पलक अर्थात् पलंग (वृन्दावनी बोलीमें) दिये, इति 'आसन'। तत्पश्चात् 'क' अर्थात् जलके सब उपचार किये। वहाँसे 'पाट' अर्थात् पाटाम्बर पर्यन्त निवेदन किये। कारण यह कि जब किसी सज्जनका आगमन होता है तो पहले खड़े हो कर आगे हो ले आना, तब पैर धुलाना, आसन देना, अतर दिखाना, जलपान तत्पश्चात् पूर्ण भोजन कराना, आचमन कराना, शयनकी तैयारी कर विश्राम देना, चलते समय द्रव्य, भूषण और वस्त्र देना चाहिए। यही सब यहाँ किया है।" (मा० त० वि०)।

दोहा—लता भवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद-पटल बिलगाइ॥२३२॥

शब्दार्थ—लता-भवन = लताओंसे बना हुआ घर; लताकुंज। पटल = आवरण, पर्दा। यथा 'सुनि-मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मति के।' निकसे = निकले।

अर्थ—उसी समय (जब सखियां श्रीसीताजीको प्रेमवश जानकर संकोचमें पड़ी थीं। दोनों भाई लताओंके कुंजसे प्रगट होगए, मानों दो निर्मल चन्द्रमा मेघावरणको अलग कर निकले हों। २३२।

नोट—१ 'लता-भवन' इति। पूर्व कहा था कि 'लता ओट तब सखिन्ह लखाए', अतः यहाँ लता-भवन कहकर जनाया कि वहाँ लताओंका कुंज बना हुआ था। श्रीरामलक्ष्मणजी राजकुमार हैं अतः उनके सम्बन्ध-से 'भवन' शब्द दिया। अथवा, पहले 'लता ओट' कहा था अब परस्पर स्वीकार-भावसे गृहस्थाश्रमका सम्बन्ध जनाते हुये 'कुंज' न कहकर 'भवन' कहा। (रा० च० मिश्र)। प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि भवन-शब्दसे गृहस्थाश्रमादिकी कल्पना करना शुद्ध सात्विक श्रृङ्गाररसकी मर्यादाका भंग करना है।

टिप्पणी—१ 'लताभवन तें प्रगट भे···' इति। (क) भगवान् प्रेमके अधीन हैं; प्रेमसे प्रकट होते हैं; यथा 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना। १८५.५।'; अतः जब श्रीजानकीजी प्रेमके वश हुईं तब भगवान् प्रगट हो गए। पुनः दूसरा दूरका अभिप्राय यह है कि पूर्व कह आए हैं कि 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा विश्वविजय कहँ कीन्हीं'। काम डंका बजाकर विश्वविजयके लिए चला। पास आकर वह बाण चलाने लगा। 'जहँ बिलोक मृगसावकनैनी। जनु तहँ बरिस कमलसितश्रेनी।' स्त्रीका दृग्पात कामका बान है, यथा 'नियतिन्तु स्मर नाराचाः कान्ता दृग्पातकैतवात्।' जब काम बाणों की वृष्टि करने लगा तब ये लताओटमें छिपे हुये थे, सखियोंने दिखाया कि देखो वह लताओटमें हैं। जब बाणवृष्टि बंद हुई, ('लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी' नेत्रोंका मुंदनाही बाणवृष्टिका बंद होना है), तब तुरत लताकुंजसे दोनों भाई प्रकट होगए।

प. प. प्र.—(क) यह शुद्ध माधुर्यका प्रसंग है। ऐश्वर्यभावसे जान लेना माना जाय तो सीताजी तो नेत्र मूँदे हैं, प्रेमसमाधिमें मग्न हैं, दर्शन कौन करेगा? प्रेमके कारण दर्शन देना था तो पहले ही

क्यों न दिया ? अतः प्रेमके कारण दर्शन देनेको प्रगट हुए ऐसा मानना सुसंगत नहीं है । (ख) सखियाँ सीताजीकी प्रेमविवशता देखकर संकुचित हैं, उनकी प्रेमसमाधि सखियोंकी चिन्ताका विषय हो गई है । इन सखियोंको श्रीराम-लक्ष्मणका रूपसागर दिखाकर उनकी क्या दशा होती है यह कवि प्रेक्षकोंको दिखाना चाहता है । इसलिये यह नाट्यप्रवेश है । (ग) आधिदैविक दृष्टिसे तो 'सो सब कारन जान बिधाता' ही सत्य है । (घ) प्रसंगानुकूल ऐतिहासिक दृष्टिसे लताओंके बीचमेंसे सीधा रास्ता छोड़कर निकलनेमें हेतु यह है कि विलंब हो गया है, गुरुमहाराज पूजाके लिये दल फूलकी राह देख रहे होंगे, अतः शीघ्र जाना चाहिए, ऐसा जानकर जिस रास्तेसे आये थे उसीसे शीघ्र लौटनेके विचारसे लताओंको चीरकर निकल पड़े । (ङ) जिस मदनने रणदुंदुभी बजाकर रघुबीरोंको जीतनेका विचार किया है उसकी सेना (परम सुन्दरी सखियों) के सामने रघुवीरोंको प्रगट करके और यह दिखाकर कि उस सेनाका बल कुछ भी कारगर न हो सका, कवि रघुवीरोंके मनकी सहज पावनता सिद्ध करेंगे ।

नोट--२ 'निकसे जनु जुग बिमल बिधु' इति । (क) 'चंद्रमा एक है, दोका उपमान कैसे ?' इस प्रश्नको उठाकर मिश्रजी उसका उत्तर यह देते हैं कि श्रीलक्ष्मणजी चन्द्रस्वरूप हैं और श्रीरामजी चन्द्रान्तर्गत श्यामतारूप हैं । यथा 'कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास । तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास । ६.१२ ।' (ख) मा० त० वि० कार ने यह शंका उठाकर कि "प्रथम तो केवल 'रामहि उर आनी' कहा है । यहाँ दोनों भाइयोंका प्रकट होना क्यों कहा ?" उसका समाधान यह किया है कि "रेफरूप श्रीरामजी, विन्दुरूप लषनलालजी और ध्वनिरूपभी दोनों एकही अर्धमात्र प्रतीत होते हैं, वैसेही यहाँ रूपकी प्रतीति । पुनः,दूलहके साथ सहबालाभी जाता है पर बारातसे ले आना वा ले जाना दूलहहीके बारेमें कहा जाता है। अथवा, 'प्रसन्नराघव' में श्रीकिशोरीजीके वचनोंसे जान पड़ता है कि लक्ष्मणजीपर उनका वात्सल्य भाव था इससे उनकाभी प्रकट होना कहा ।" (ग) यहाँ दोनों भाई साथ हैं और साथ लताकुंजसे निकले हैं तथा सखियोंकी दृष्टि दोनों राजकुमारोंपर है अतः दो चन्द्रमा कहे गए । (घ) इनको लेकर तीन चन्द्रमा बाटिकामें उदित हैं जिससे फुलवारी तेजोमय हो गई । (वि० त्रि०) ।

टिप्पणी--२ 'बिमल बिधु' इति । इनको 'बिमल' विधु कहनेका भाव कि प्राकृत चन्द्रमामें बहुत दोष हैं, इनमें कोई दोष नहीं हैं, ये निर्मल चन्द्र हैं । यहाँ 'बिधु' से शरद-शशि अभिप्रेत है । 'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी । २३२.६ ।' में जो पूर्व शरद्-शशि कहा था, वही प्रकट हुए ।

नोट—३ 'जनु'''जलद-पटल बिलगाइ' इति । (क) शरद् ऋतुके मेघ श्वेत रंगके होते हैं । लताभवनकी मेघ-समूहसे उपमा देकर जनाया कि बहुतसी पुष्पित श्वेत लताओंके मिलनेसे वह कुंज बना था इसीसे कुंजका रंग श्वेतमेघकासा था । (ख) 'लताभवनसे दोनों भाइयोंका प्रकट होना' यहाँ उत्प्रेक्षाका विषय है, यह पहले कह दिया गया, तब उत्प्रेक्षा की गई । कवि अपनी कल्पनासे पाठकका ध्यान बलपूर्वक खींचकर मेघसमूहको फाड़कर दो चन्द्रमाओंके निकलनेके दृश्यकी ओर ले जाते हैं जिससे लताओंको चीरकर उनके बीचसे निकलनेकी छटाका अनुमान किया जा सके । अतः यहां 'उक्त बिषया वस्तूत्प्रेक्षा' है । वीरकविजीका मत है कि यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है क्योंकि दो चन्द्रमा साथ कभी नहीं उदय होते । (ग) उपमामें 'जलद पटल बिलगाइ' कहा इससे उपमेयमें यह अर्थ निकलता है कि लताभवनको 'बिलगाकर' (चीरकर अलग करके) दोनों भाई निकले । (पं० रा० कु०) । श्रीरामजी प्रेमके अधीन हैं (उनका स्वभाव है कि पहिले ओटमें रहते हैं, अतिशय प्रेम देखकर हृदयमें प्रकट होते हैं (जैसे सुतीक्ष्णजीके प्रसंगमें) फिर नयनका विषय होते हैं, (वि० त्रि०), इससे शीघ्रताके विचारसे लताओंको फाड़कर प्रकट हो गए, रास्ता बाहर जानेका दूर था, उससे निकलनेमें देर होती; इसीलिये बनी हुई राहसे न निकले। अथवा, (घ) "जितनी देरमें कुंजके पार होकर आवेंगे उतनेमें कदाचित् श्रीजानकीजी और ही किसी ओर को चली जावें । अतः

लताकुंजके द्वारसे न निकले, विङ्कलताके मारे लताको चीरकर निकल पड़े। अथवा, प्रेमवश सखियोंको महत् खेद हुआ है। इससे बिना विलंब किये तत्काल कुंजसे न्यारे हो प्रत्यक्ष हो गए जिसमें अपना और जानकीजीका किंचित् भेद न खुले, गुप्त होना केवल लताके कुंजमें रहना मात्र प्रतीत हो।" (म० त० वि०)।

नोट—४ श्रीगौड़जीका मत है कि सरकारके पक्षकी जो बातें 'तात जनक तनया यह सोई।' से लेकर "करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लोभान। मुख सरोज मकरंद छबि करत मधुप इव पान।" तक वर्णन की गई', वे सब घटनाक्रममें वस्तुतः 'लता भवन' से प्रगट होनेके बाद की हैं। यह 'श्रव्य' काव्य है। 'दृश्य' काव्य होता तो इसीके बाद दोनों पक्षका दृश्य साथ ही दिखाया जाता।

सोभा सीव सुभग दोउ बीरा। नील पीत जलजाभ सरीरा॥ १॥

अर्थ—दोनों बीर शोभाकी सीमा (हद) हैं अर्थात् इनसे बढ़कर किसीकी शोभा नहीं है और सुंदर हैं। उनके शरीर नीले और पीले कमलकी आभा (कांति) के समान हैं॥ १॥

पं० रामकुमारजी—१ मानों दो निर्मल चन्द्रमा निकले, यह कहकर आगे 'शोभा-सीव' कहनेका भाव यह है कि चन्द्रमाकी सुन्दरतामें गिनती है; यथा 'कुँवर साँवरो री सजनी सुंदर सब अंग। रोम रोम छबि निहारि आलि वारि फेरि डारि, कोटि भानु सुवन शरद सोम कोटि अनंग। गी० २. १४।', 'सुखमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोम पर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे। गी० १.६६।' २—पूर्व कह आए कि 'कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी', सखियाँ सीताजीसे कुछ कह न सकीं। 'सोभा सीव०' इत्यादि वचन एक सखीके दूसरी सखीके प्रति हैं (जैसा आगेके 'साँवर कुँअर सखी सुठि लोना' से स्पष्ट है)। ३—'सोभासीव' कहकर 'सुभग दोउ बीरा' कहनेका भाव यह है कि जो अत्यन्त सुन्दर होते हैं, उनमें प्रायः वीरता नहीं होती, पर ये दोनों सुन्दर भी हैं और वीर भी। ४—☞श्रीरामजीकी श्यामताके लिये नील कमल, नीले मेघ, नीलमणि, दूर्वादल, इत्यादि की उपमायें दी गई हैं और लक्ष्मणजीके गौरवर्णके लिए सुवर्ण, पीत कमल, कुंद, इत्यादिकी उपमा देते हैं। तात्पर्य्य यह है कि जैसी उनकी श्यामता गौरता है वैसी कहते नहीं बनती, इसीसे अनेक उपमायें देते हैं।

नोट—१ कुछ लोगोंने 'सोभासीव' और 'सुभग' में पुनरुक्ति दोष मानकर उसका निवारण इस प्रकार किया है कि—(क) 'सोभासीव' रामजी और 'सुभग' लक्ष्मणजी हैं। वा, (ख) 'दोउ सुभग बीरा सोभासीव हैं' ऐसा अन्वय कर लें। 'सुभग' बीरका विशेषण है। वा, (ग) सुभग = सुष्ठु ऐश्वर्यसे युक्त। (रा० प्र०, वै०)।

२ पांड़ेजी लिखते हैं कि—"'सुभग' सोभा और बीरा दोनोंके साथ है। 'शोभा' से श्रृङ्गाररस (प्रीति करनेमें) और 'बीरा' से वीररस जनाते हैं। ये दोनों रस सुभग अर्थात् ऐश्वर्य्यमान होनेसे शान्तरस युक्त हैं। 'सुभग' विशेषणसे जनाया कि इनकी शोभा और वीरता श्रृङ्गार और वीररसके विकारोंसे रहित है। श्रृङ्गारका विकार कटाक्षादिक और वीरका प्रलापादिक हैं।" और पंजाबीजीका मत है कि 'सोभा' से भिन्न-भिन्न अंगोंकी प्रथक् प्रथक शोभा जनाई और 'सुभग'-से 'समुच्चय कान्ति' सूचित की।

३ 'सोभासीव सुभग बीर' कहनेका भाव कि वीर तो स्वाभाविक ही हैं पर इस समय इनकी वीरता श्रृङ्गाररसमें है। (वै०)। अथवा, वीर इससे कहा कि अपनी शोभासे सखियोंसहित श्रीजानकीजीके मनको इन्होंने विजय कर लिया है। (रा० प्र०)।

प० प० प्र०—श्रृङ्गाररसका ही दर्शन प्रथम हुआ। धनुषबाणादि नहीं हैं तथा सुभग वीररस भी उनके शरीरपर छा रहा है। इस रूपवर्णनमें उत्तरोत्तर वीररसका ओज बढ़ता है और 'केहरि कटिपट पीतधर सुखमा सीलनिधान' में तो वीररस ही प्रधान है, पर अन्तमें 'शीलनिधान' में शान्तरस ही मुख्य है।

पाठान्तर—१७२१, १७६२, छ०, कोदोरामजी, पं० रामकुमारजी (भागवतदासजी), पांड़ेजी इत्यादि

कई महानुभावोंकी पुस्तकोंमें 'जलजात' पाठ है। सं० १६६१ की पोथीमें 'जलजाभ' पाठ स्पष्ट है। 'जलजाम' लिखा गया था 'म' की ऊपरकी लकीरमें बीचमें हरताल दिया है जिससे 'भ' स्पष्ट है। 'आभा' की उपमा अन्यत्र भी ग्रंथमें मिलती है—'केकीकंठाभ नीलं सुरवर विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं', (मं० श्लो० १ उत्तरकांड)। १७०४ में भी 'जलजाभ' है। (शं० ना० चौबेजी)। पर रा० प० में 'जलजात' है। "जलजात=कमल। 'जलजात' पाठसे भाव यह है कि वीरोंकी देह कठोर होती है, इनकी देह कठोर नहीं है वरंच कमल समान कोमल है। (पं० रामकुमार)। मिलान कीजिए—'नील पीत नीरज कनक मर्कत घन दामिनि बरन तन रूपको निचोर हैं' अर्थात् जैसे कपड़ेको रंगमें डिबोकर निचोड़नेपर फीका रंग निचुड़ पड़ता है और औवल (उत्तम) रंग कपड़ेमें बना रहता है वैसेही कमल आदिके रंग आपके रूपके निचोड़े हुए फीके रंग हैं।"

मोरपंख सिर सोहत नीके। गुच्छ बीच बिच कुसुमकली के ॥२॥

अर्थ—सिरपर "मोरपंख" भली प्रकार शोभित है। बीच-बीचमें पुष्पोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं ॥२॥

टिप्पणी—१ जब नगर देखने गए तब सिरपर टोपी थी, यथा 'रुचिर चौतनी सुभग सिर मेचक कुंचित केस'। जब धनुषयज्ञ देखने गए तब 'पीत चौतनी' टोपी दिये हुए थे, यथा 'पीतचौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुम कली बिच बीच बनाई'। और जब फूल लाने गए तब मोरपंखकी टोपी रही। इसीको गीतावलीमें 'टेपारे' कहते हैं; यथा 'भोर फूल बीनबे को गए फुलवाई हैं। सीसन्ह टेपारे उपबीत पीतपट कटि दोना बाम करन सलोने भे सवाई हैं।' यहाँ कुसुम कलीके गुच्छे कहते हैं। मोरपंख कुछ ऊँचा है इसीसे उसकी बराबरीके लिए गुच्छे लगाए, कली लगाते तो न देख पड़ती, उसमें बूड़ जाती। कपड़ेकी टोपीमें कुसुमकली लगी हैं जैसे धनुषयज्ञके समय टोपीमें 'कुसुमकली बिच बीच सुहाई' कहा है। ☞ तीन जगह तीन प्रकारकी टोपी देकर जानेका भाव यह है कि नगर देखने गए थे, इसीसे कामदार टोपी देकर गए, 'रुचिर चौतनी सुभग सिर'। धनुषयज्ञ देखने गए तब पीत टोपी देकर गए क्योंकि पीतरंग वीरोंका बाना है, वहाँ वीरता दिखानेका समय था। फुलवारीमें देव-कार्य्यसे गए, इसीसे पीताम्बर और मोरपंखकी टोपी धारण की, बिना धोया हुआ कपड़ा नहीं धारण किया। कपड़ेकी टोपियाँ कामदार सब बिना धुली हुई थीं।

नोट—१ सं० १६६१ की पोथीमें 'मोरपंख' पाठ स्पष्ट है, हरताल आदि भी नहीं है और न हाशिये ही पर कोई दूसरा पाठ है। पांड़ेजी और कोदोरामजीकी छपी पुस्तकोंमें 'काकपच्छ' पाठ है। बैजनाथजीने कोदोरामजीकी पुस्तकका पाठ लिया है। पर श्रीजानकीशरणजी जिन्होंने असली पोथी देखी है वे कहते हैं कि कोदोरामजीकी हस्तलिखित पोथीमें 'मोरपंख' पाठ है। कुछ लोग 'काकपच्छ' को इससे शुद्ध मानते हैं कि मोरका पक्ष तो श्रीकृष्णजीके ध्यानमें है न कि रामजीके ध्यानमें। ऐसा जान पड़ता है कि 'मोरपंख' का ठीक अर्थ न लगा सकनेके अथवा उपासनाकी अनन्यताके कारण पाठ बदल दिया गया हो। प्राचीन पाठ 'मोरपंख' ही मिलता है। सं० १७०४, १७२१ और १७६२ में भी 'मोरपंख' पाठ है।—गीतावलीमें मोरपंखका और भी वर्णन आया है; यथा 'सिरन्हि सिखंड सुमनदल मंडन बाल सुभाय बनाए' (५४) शिखंडका अर्थ मोरकी पूछ है (श० सा०)। अर्थ लोगोंने भिन्न भिन्न लिखे हैं—१ मोरपंखी टोपी जो आगे पीछे कम चौड़ी होती है, बीचमें ज्यादा चौड़ी और लंबी होती है। २—मोरका पंख। परन्तु पंजाबीजी लिखते हैं कि "शिरपर मोरके पंख शोभित हैं और बीच बीचमें फूलोंकी कलियोंके गुच्छे लगे हैं" ऐसा अर्थ करनेमें यह दोष आता है कि मोरपंख-संयुक्त ध्यान श्रीरामचंद्रजीका कहीं नहीं पाया जाता। दूसरे, इस अर्थ से सिर नंगा पाया जाता है।" ३—संत उन्मनी टीकाकार लिखते हैं कि—"श्रीकिशोरीजीके प्रेमकी

उत्तम दशाको देख यहाँ नित्य रास रहस्यके उपवनविहारकी अकृत्रिम अद्भुत ऐश्वर्य्यकी झाँखी प्रगट की है। इस एकान्त स्थानके अतिरिक्त कहीं ऐसी झाँखी महाराजकी नहीं पाई जाती। 'प्रसन्नराघव' नाटकमें पुष्पबाटिका विहारमें सखीके वचन हैं—'अत्र ते सखि शिखंडमण्डने पुण्डरीकरमणीय लोचने' एवं 'क्रीडाशिखंडकधरेण सलक्ष्मणेन'। पुनः, रंगभूमिमें भी कहा है कि 'कुसुम कली बिचबीच बनाई। इससे सिद्ध होता है कि कमरखी मणिजटित ताज है जिसमें झब्बा ऐसा बनता है कि मालूम होता है कि चारों ओर कुसुमकली है उसके बीचका जो काम है वह मोर चंद्रिका है।''

रा० प्र० कार लिखते हैं कि इस प्रकरणमें दोनों भाई समयानुसार तीनों अवसरोंपर तीन प्रकारकी टोपियाँ पहिने हैं। नगरदर्शनसमय लाल चमकदार, रंगभूमिमें पीली और यहाँ मोरपंखी हरे रंगकी। क्योंकि फुलवारीमें हरे रंगकी प्रधानता है।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि इस समय फूल लेने आये हैं, अतः स्वाभाविक वेषमें हैं। चौतनीसे भी अधिक शोभा है। यह विच्छित्तिहाव है। किंचित् शृङ्गारसे मोहित करनेको विच्छित्तिहाव कहते हैं। इसी झाँकीको कृष्णावतारमें दिखलाकर व्रजबनिताओंको मोहित करेंगे।

'काकपक्ष' भी गीतावली में आया है—'मेचक पीत कमल कोमल कल काकपक्षधर वारे। सोभा सकल सकेलि मदन बिधि सुकर सरोज सँवारे। १.५८।' परंतु फुलवारी और रंगभूमिके समय वहाँ भी टोपीहीका ध्यान वर्णित है।—'सीसनि टिपारे०' एवं 'राजिवनयन बिधुबदन टिपारे सिर नखसिख अंगनि ठगौरी ठौर ठौर हैं।' (गी० १.६६ और ७१)। काकपक्ष जुल्फोंको कहते हैं। इस पाठसे नंगे सिर होना पाया जाता है। पुनः, इससे आगे पुनरुक्ति जान पड़ती है, क्योंकि आगे कहते हैं कि 'बिकट भृकुटि कच घूँघरवारे'। इस पाठके पक्षपाती पुनरुक्तिकी निवृत्ति यों करते हैं कि सिरके ऊपर जो सचिक्कन पट्टे होते हैं और बिखरे हुए बाल जो माथे और गलेतक फैले हुए हैं वे घुँघरारे बाल हैं।

प्राचीनतम एवं प्रायः सभी प्रामाणिक पोथियोंमें 'मोर पंख' पाठ होनेसे हमने उसीको लिया है। प्रसन्नराघवनाटकमें भी वाटिकामें भी ''शिखण्डिपिच्छमंडित कर्णपूरो'' शब्द आए हैं अर्थात् जिनके कर्णपूर मोरपंखसे शोभित है।

गीतावलीमें जनकपुरमें आगमनके समयसे धनुषयज्ञ तकमें कई बार रूपका वर्णन हुआ है। उनमें ''चौतनी सिरनि'' (१.६०), ''चौतनी चारु अति'' (१.६१), ''काक सिखा सिर'' (१.६४), ''भोर फूल बीनबे को गए फुलवाई हैं। सीसनि टिपारे उपबीत पीत पट कटि दोनों बाम करनि सलोने भे सवाई हैं।'' (१.६६) और धनुषयज्ञमें भी 'टिपारे सिर'' (१.७१) कहा गया है। ''टिपारे'' का अर्थ हिंदी-श० सा० में इस प्रकार दिया है—''[हिं० तीन + फा० पार = टुकड़ा] मुकुटके आकारकी एक टोपी जिसमें कलग़ीकी तरह तीन शाखाएँ निकली रहती हैं, एक सिरेपर, दो बग़लमें।'' मानसमें 'टिपारे' की जगह फुलवारीप्रकरणमें 'मोर पंख' है। इसीसे संभव है कि 'टिपारा' और 'मोर पंख' पर्य्याय शब्द हों।

जो 'काकपक्ष' को प्राचीन और शुद्ध मानें वे निम्न अर्थोंमेंसे जो रुचिकर समझें वह अर्थ ले सकते हैं—१ जुल्फ़। २ कामदार टोपी दोपलिया जो दोनों तरफ़ मग़ज़ीमें बढ़ी हुई होती है। ३—कांक (सर्पिणी) + पक्ष (= केश) = नागिनकेसे केश।—(मा० त० वि०)। ४—कौवेके पंखके आकारके पट्टे काले चमकदार।—(वैजनाथ)। [श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'मैं भी वैजनाथजीके अर्थसे सहमत हूँ। कारण कि मोरपंखका शृङ्गार अधिकतर कृष्णजीका है। दूसरे, टोपीसे यह शृङ्गार समयके अधिक अनुकूल है। वहीं निकट ही ठहरे थे और सवेरे गुरुकी पूजाके हेतु फूल लेने चले आए थे। तीसरे 'बिच बिच गुच्छा कुसुमकली' के साथ मिलकर इस शृङ्गारमें सजीवता और सरलता बहुत है। बाग़में जो गुच्छा

कलियोंका पसंद आया उसीको यौवनके उभारकी सरसतामें .जुल्फोंमें गूँध लिया, जैसे हम बटनहोलमें फूल या कली लगा लेते हैं। चौथे, शृंगारके माधुर्य्यका उभार स्वाभाविक हो जाता है, मानों सुन्दरताकी परखका अंश विकसित हो गया]। ५ बालोंके पट्टे जो दोनों ओर कानों और कनपटियोंके ऊपर रहते हैं। (श० सा०)।

नोट—२ 'गुच्छ बीच बिच' १६६१ का पाठ है। १७२१, १७६२ और १७०४ में भी यही पाठ है। पाठान्तर—'गुच्छा बिच बिच', 'गुच्छे बिच बिच' हैं। टोपी पहने होना अर्थ करनेमें 'गुच्छ बीच०' का भाव होगा कि ये कलियाँ रेशम और सुनहले रुपहले तार आदिकी हैं जो टोपीपर कढ़ी हुई हैं। और नंगे सिर होनेमें केशोंमें कुसुमकलीके गुच्छे अथवा मोरपंखके बीच बीचमें कुसुमकलीके गुच्छे लगे हैं यह भाव होगा।

भाल तिलक श्रमबिंदु सुहाए। श्रवन सुभग भूषन छबि छाए ॥३॥

अर्थ—माथेपर तिलक और पसीनेकी बूँदें सुशोभित हैं। सुन्दर कानोंमें सुन्दर भूषणोंकी छबि छाई हुई है। अर्थात् कुण्डलोंकी कांति फैल रही है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) स्नान करके आए हैं, इसीसे भालपर तिलक वर्णन करते हैं और श्रमबिंदु कहते हैं। (तिलकरेखकी शोभा पूर्व नगर-दर्शन-समय लिख आए हैं, यथा 'तिलक रेख सोभा जनु चाँकी। २१९।८।' इससे यहाँ इतना ही कहा)। एक तो शरद् ऋतु है, दूसरे प्रातःकाल, तीसरे फुलवारी निकट है, इतनी ही दूर आनेमें श्रमविन्दु प्रकट हो गए—इससे सूचित कर रहे हैं कि दोनों भाई अत्यन्त सुकुमार हैं। [(ख) 'सुहाए' इति। छोटे छोटे बूँद मोतीसे झलक रहे हैं, अतएव 'सुहाए' कहा। श्रम कहाँ हुआ? आश्विन मासका घाम कड़ा होता है, उससे थकावट भी आती है। पुनः, लता चीरकर निकलना पड़ा उसमें परिश्रम हुआ और अत्यन्त सुकुमार कोमल नाजुक हैं इससे दल फूल उतारनेमें भी परिश्रम हुआ। पुनः, श्रीसीताजी प्रेमविवश हैं, सखियाँ भी चिन्तित हैं, उनके प्रेमसे आप भी बेबस हो गए, इससे श्रम हुआ। श्रीलमगोड़ाजी कहते हैं कि "यद्यपि और भी कारण हैं तथापि मुख्य कारण श्रीसीताजीका प्रेम है। उनके प्रेमके कारण रगोंमें खूनकी दौड़ हो रही है, नहीं तो अभी सवेरेका समय है और फुलवारीका टहलना कोई विशेष श्रम न था। (मजा यह है कि सखियाँ सुकुमारताके कारण ही पसीनेको श्रमसे उत्पन्न समझती हैं) मैं इसको मुख्य कारण इससे समझता हूँ कि शामको (संध्या समय) इसके विपरीत जब चन्द्रमाकी किरणें शीत उत्पन्न करेंगी तब रामचन्द्रजी चन्द्रमाकी निन्दा करते हुए उसे 'हिमकर' कहेंगे।" (ग) 'सुहाए'—वैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीकिशोरीजीका दर्शनरूप फल पानेसे श्रम सफल हुआ, इसीसे श्रमविन्दु 'सुहाए' लगते हैं। (यह शृङ्गाररसका भाव है)। (घ) 'तिलक' इति। श्रीमद्गोस्वामीजीने तिलकका पूरा वर्णन ग्रंथ भरमें कहीं नहीं किया। कारण कि वैष्णवोंमें चार संप्रदाय हैं। चारोंमें दोनों ऊर्ध्वरेखाएँ अवश्य हैं, भेद केवल बीचके तिलकमें है। इस मतभेदके कारण उन्होंने 'तिलक' शब्दमात्र कहकर छोड़ दिया। गीतावलीमें भी प्रायः केवल ऊर्ध्वपुण्ड्रका ही वर्णन पाया जाता है। यथा 'भाल बिसाल बिकट भृकुटी बिच तिलकरेख रुचि राजै। मनहुँ मदन तम तकि मरकतधनु जुगल कनक-सर साजै ॥'—(उ० पद १२)।]

२ 'श्रवन सुभग भूषन छबि छाये' इति। (क) श्रवण सुभग हैं अर्थात् स्वयं सुन्दर हैं, कुछ आभूषणोंकी सुन्दरतासे सुन्दर नहीं हुए, वस्त्राभूषणके त्याग देनेपर उनकी और भी अधिक शोभा होती है; यथा 'कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यौ तज्यौ नीर ज्यों काई' इति कवित्तरामायणे। २।१।' (ख) यहाँ आभूषणोंके नाम नहीं लेते, क्योंकि प्रथम (नगर दर्शनमें) लिख चुके हैं; यथा 'कानन्हि कनकफूल छबि देहीं'। (ग) 'छबि छाये' का भाव कि मानों मूर्तिमान छबिने यहाँ छावनी डाल दी है। यहाँ आकर ठहर गई है। शोभा छा रही है।

नोट—☞ इस दोहे भरमें सखीका संवाद है, कवि या वक्ताओंका नहीं, क्योंकि कविके लिये 'सखी' शब्दसे संबोधन नहीं संभव हो सकता, जैसा संवादके अंतमें दिया गया है—'साँवर कुँअर सखी सुठि लोना'। सखीका संवाद सखीके प्रति साभिप्राय है। श्रीजानकीजीने तो अपना ध्यान सखियोंसे छिपाया, फिर भी सखियाँ जान गईं, पर उनके संकोचके कारण कुछ कह न सकीं। ध्यान क्योंकर छूटे ? उसीका प्रयत्न कर रही हैं कि आपसमें ध्यानका, श्रीरामजीके स्वरूपका, वर्णन करने लगीं कि वे सुनकर आँख खोलकर रूप देखने लगें। पर जब इस यत्नसे भी सफलता प्राप्त न हुई, ध्यान न छूटा तब दूसरी सखीने हाथ पकड़कर ध्यान छुड़ाया।

बिकट भृकुटि कच घूघरवारे। नवसरोज लोचन रतनारे ॥४॥
चारु चिबुक नासिका कपोला। हास बिलास लेत मनु मोला ॥५॥

शब्दार्थ—घूघरवारे = घुँघराले। रतनारे = लाल। बिलास = विशेष शोभा, फबनि।

अर्थ—टेढ़ी भौंहें, घुँघराले बाल और नये खिले हुए लाल कमलके समान लाल लाल नेत्र हैं ॥ ४ ॥ ठोढ़ी, नाक और गाल बड़े सुन्दर हैं। मुस्कानकी विशेष शोभा (तो मानों) मनको मोल ही लिये लेती है। अर्थात् अत्यन्त सुन्दर है।

लमगोड़ाजी—देखिए, पहले नेत्र श्वेतकमलसे थे, शृङ्गारके माधुर्य्यने लाली उत्पन्न कर दी।

टिप्पणी—१ (क) 'बिकट भृकुटि' अर्थात् धनुषाकार हैं, यथा 'भृकुटि मनोज चाप-छबिहारी'। [श्रीसीतारामजीकी भ्रू कानपर्य्यन्त लम्बी कही जाती हैं और बहुत ही टेढ़ी। दोहावलीके १८७ वें दोहेसे जान पड़ता है कि इतनी टेढ़ी हैं कि जितनी मनुष्यकी क्रोधमें हो जाती हैं; यथा 'मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहि दै दोष। तुलसीसे सठ सेवकन्हि लखि जनि परहि सरोष ॥' धनुषके समान टेढ़ी सर्वत्र कही गई हैं। पुनः, यथा 'प्रात स्मरामि रघुनाथ मुखारविन्दं···। ···कर्णान्तदीर्घनयनं नयनाभिरामम्।', 'आकर्णाकृष्ण विशाल नेत्रे··· । हनु० १०।७।' (ख) 'कच घूघरवारे' अर्थात् मरोड़दार (कुंचित) हैं। ये घुँघराले बाल कपोलोंके ऊपर आए हैं इसीसे कपोलोंके समीप केशको वर्णन किया; यथा 'घुँघरारी लटैं लटकैं मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की।' आगे कपोलका वर्णन करते हैं। (ग) 'नव सरोज लोचन रतनारे' अर्थात् अत्यंत सुन्दर हैं, कृपायुक्त हैं। ☞ जहाँ कृपादृष्टिका प्रयोजन होता है वहाँ नेत्रको कमल विशेषण देते हैं। यथा 'राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत-बिपति-भंजन सुखदायक।', 'देखी राम सकल कपि सैना। चितइ कृपा करि राजिव नैना।' [(घ) पांडेजी दूसरा अर्थ यह भी कहते हैं कि "रतनारे कमल नयन (नीचेको) नए हुए हैं, अर्थात् मर्य्यादा अनुसार श्रीजानकीजी सखियोंके निकट होनेसे दृष्टि नीचे किये हुए हैं।" राजकुमारोंको निर्मल चन्द्रमा कह आए हैं—'निकसे जनु जुग बिमल बिधु जलद पटल बिलगाइ', और कमल चन्द्रमाके सामने संकुचित हो जाता है ही, अतः यह भाव कहा गया। शृङ्गाररसके रसिक यह भाव भी कहते हैं कि 'सियमुख शशि' के सामने नेत्रकमल पड़नेके कारण 'नव' पद दिया गया। पांड़ेजी यह भी अर्थ करते हैं कि 'सामान्य कमलको शोभाको इस लोचन-कमलने जीतकर पुराना कर दिया।' अर्थात् इनके नेत्रोंके आगे लाल कमल भी 'नय' (लज्जित वा नम्र हो) जाते हैं। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि आँखको गुलाबी नये कमलकी भाँति कहनेका भाव कि प्रथम कैशोर है, किशोरावस्थाका प्रारम्भ है। इस अवस्थामें नेत्रके कोणमें लालिमा आ जाती है। यथा 'वर्णस्योज्ज्वलता कान्ति नेत्रान्ते चारुणच्छविः। रोमावलिप्रकटता कैशोरे प्रथमे सति']

२ 'चारु चिबुक नासिका कपोला।०' इति। [(क) नासिका शुकतुण्ड-सी, कपोल दर्पण-सा, जिसमें चलकुण्डलकी झलक पड़ रही हो। प्रेमवश देखकर अनुग्रह हुआ, हँसते हुए लता-भवनसे निकले। (वि०

त्रि०) । (ख) भगवान्‌की हँसी माया कही गई है। यथा 'माया हास बाहु दिगपाला'। और, माया मनको मोहती ही है, इसीसे मनको मोल लेना कहा। मोल लेनेका भाव यह है कि जो चीज मोल ले ली जाती है उसको अपना अख़्तियार (अधिकार) कुछ नहीं रह जाता, वह परतंत्र हो जाती है, इसी तरह जिसकी दृष्टि आपकी मुस्कानपर पड़ी या जिसकी ओर किंचित् भी मुस्कुराकर आप देख देते हैं, उसका मन उसके वशमें नहीं रह जाता, वह आपका ही हो रहता है, आपके हाथ (बिना मोल) बिक जाता है, फिर उसका मन कहीं अन्यत्र नहीं जाता। (ख) 'हास-बिलास' पदसे पाया जाता है कि दोनों भाई हँस-हँसकर कुछ बातें करते हैं। [इनको हँसी मनकी पूरी क़ीमत है। यह विलास नामक हाव है। संयोग समय कटाक्षादि अनेक क्रियाओंसे मोहित करनेको विलास हाव कहते हैं। (वि० त्रि०)। यहाँ गम्योत्प्रेक्षा है, क्योंकि यहाँ बिना वाचक पदके उत्प्रेक्षा की गई है। (वीरकवि)।]

मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं। जो बिलोकि बहु काम लजाहीं ॥६॥
उर मनि-माल कंबु कल गीवा। काम-कलभ-कर भुज बलसीवा ॥७॥
सुमन समेत बाम कर दोना। सांवर कुंअर सखी सुठि लोना ॥८॥

शब्दार्थ—गीवा (ग्रीव) = कंठ। कलभ = हाथीका बच्चा। कर = सूँड़। 'लोना' (बुन्देलखण्डी बोली है) = सुंदर।

अर्थ—मुखकी छबि मुझसे नहीं कही जाती, जिसे देखकर बहुतसे कामदेव लज्जित हो जाते हैं ॥६॥ वक्षस्थल (हृदय देश) पर मणियोंकी माला है, शंखके समान (त्रिरेखायुक्त पुष्ट सचिक्कन) सुन्दर ग्रीवा है। कामदेवरूपी हाथीके बच्चेकी सूँड़के समान भुजाएँ बलकी सीमा हैं ॥ ७ ॥ बाएँ हाथोंमें फूलों सहित दोना है। हे सखी! साँवला राजकुँवर तो अत्यन्त ही सलोना है ॥ ८ ॥

नोट—१ 'मुख छबि कहि न जाइ मोहि पाहीं।०' इति। भाव कि—(क) 'उपमा देकर छबि कही जाती है सो कोई उपमा देते नहीं बनती। उपमा सुन्दर वस्तुकी दी जाती है और काम सुन्दर है उसकी उपमा क्यों नहीं देते? कारण कि उसकी उपमा दें तो वह तो आप ही मुख देखकर लज्जित हो जाता है तब कामकी उपमा कैसे देते बने? (पं० रामकुमार)। (ख) उपमाके लिये अनेक कामदेवोंको एकत्र किया तो भी वे सब मिलकर भी समताके योग्य न ठहरे तब और कौन है जिसकी उपमा दें? (वै०)। पांड़ेजी 'बहु काम लजाहीं' के और भाव यह लिखते हैं कि "कवियोंकी 'कहन' (कहनेकी) कामना लज्जित हो जाती है।"; अथवा "राजपुत्रीके साथकी सखियोंकी कामना लज्जित हो जाती है। कामनाका लज्जित होना यह कि उनकी ओर ये कटाक्ष नहीं करते और अन्य पुरुषपर दृष्टि न डालना यह जो उनकी सूरता थी सो भी पराजित हो सफलताको न प्राप्त हुई।' बाबू श्यामसुन्दरदासजी लिखते हैं कि 'बहुकाम' नाम स्त्रियोंका भी है, क्योंकि उनमें पुरुषोंसे अठगुना काम कहा जाता है। वे मदमाती स्त्रियाँ भी इस छबिको देखकर लजा जाती हैं।" (ग) उपमेयकी समतामें उपमानका लज्जित होना 'चतुर्थ वा पंचम प्रतीप अलंकार' है।

२ (क) "उर मनि माल' इति। पूर्व कह आये हैं कि "उर अति रुचिर नाग-मनि-माला", इसीसे यहाँ दुबारा मणिका नाम न दिया। यहाँ भी गजमुक्ता, सर्पमणि और माणिक्य तीनों ही की माला समझना चाहिए। (माला पहने हुए रहनेका विधान है, अतएव मणिकी माला पहने हुए हैं। वि० त्रि०)। (ख) 'कंबु कल गीवा' इति। यथा 'रेखैं रुचिर कंबु कल ग्रीवाँ। जनु त्रिभुवन सुखमा की सीवाँ ॥ १।२४३।८।' रा० प्र० कार लिखते हैं कि त्रिरेखायुक्त होनेका भाव यह है कि तीनों लोकोंका शृङ्गार हारकर गले पड़ा है। (ग) 'काम कलभ कर भुज बलसीवा' इति। भाव कि श्रीरामजीकी भुजाकी उपमा तब कुछ हो सके जब कामदेव स्वयं हाथीका वेष बनावे; यथा 'जनु बाजि बेष बनाइ मनसिज राम हित अति सोहई।' (पं०

रामकुमार)। वीरकविजी लिखते हैं कि कामदेवरूपी हाथीकी सूँड़ उत्कर्षका कारण नहीं है, क्योंकि हाथीकी सूँड़ उतार चढ़ावकी होती है, यहाँ उपमासे केवल इतना ही तात्पर्य्य है तो भी 'कामकलभकर' की कल्पना करना 'प्रौढ़ोक्ति' है।

टिप्पणी—१ 'सुमन समेत बाम कर दोना' इति। दोना मालियोंने बनाकर दिया है, फूल अपने ही हाथसे तोड़ना चाहिए, इससे फूल स्वयं तोड़ रहे हैं। बाम हाथमें दोना है, दहिना हाथ फूल तोड़नेके लिये खाली है। दोना दोनों भाइयोंके हाथमें है, यथा 'सीसन टिपारे उपवीत पीत पट कटि, दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं। गी० १.६९।' २—'सुठि लोना', यथा 'चारिउँ रूप सील गुन धामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा'। बाम करमें दोना कहकर सुंदरता कहनेका भाव कि दोना हाथमें लेनेसे अधिक सुन्दर हो गए हैं—'दोना बाम करनि सलोने भे सवाई हैं'।

नोट—३ रसिक महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि "सुन्दर भावुक मनवाली स्त्रियोंके हाथका दोना यह साँवला कुँअर है। अर्थात् ऐसी स्त्रियाँ इन्हें देखकर मुग्ध हो जाती हैं, इनके वश हो जाती हैं।"

पांड़ेजी लिखते हैं कि सुमन (अच्छे सुन्दर मनवाली) बाम (स्त्रियों) के सुन्दर मनको दोनेमें लिये हैं। अर्थात् जिन सुन्दरियोंने अपना भावुक मन दिया है उनके मनोंका अनादर कर रहे हैं कि एक तो पत्तेके दोनेमें और वह भी बाएँ हाथमें लिए हैं। तब वे मनको देती ही क्यों हैं? इसका उत्तर यह है कि विशेष सुन्दरताका ऐसा ही जाल है कि उसमें उनका मन अवश्य ही फँस जाता है।

४ किसी-किसीका मत है कि "साँवर गौर सखी सुठि लोना' पाठ होना चाहिए था क्योंकि ऊपरसे दोनों कुँवरोंका वर्णन चला आ रहा है। गोस्वामीजी प्रेममें मग्न हो 'साँवर कुँअर' लिख गए अथवा सखी ही प्रेममें भूल गई। वस्तुतः 'सुठि लोना' कहकर जनाया है कि गौर कुँवर भी 'लोना' है पर यह 'सुठि लोना' है। लमगोड़ाजीकी बात भी यथार्थ है कि आखिर साँवले कुँवरको इन्होंने भी चुना। (बालक लोगोंने भी शोभा देखी और 'लगे संग लोचन मन लोभा'। उनके मन भी लुब्ध हुए पर सुन्दरताकी इस बारीकी तक वे नहीं पहुँच सके कि दोनों कुँअरोंमें एकको भी 'सुठि लोना' कह सकें। वि० त्रि०)।

दोहा—केहरि कटि पट पीत धर सुखमा सील निधान।
देखि भानुकुलभूषनहि बिसरा सखिन्ह अपान॥२३३॥

अर्थ—सिंहकीसी (पतली) कमर है, पीतांबर धारण किये हुए हैं, परमा शोभा और शीलके निधान (स्थान, समुद्र, खजाना) हैं, सूर्य्यकुलके भूषण (श्रीरघुनाथजी) को देखकर सखियोंको अपनी सुधबुध भूल गई॥ २३३॥

नोट—१ 'केहरि कटि' इति। (क) इस प्रकरणका आरंभ शृङ्गाररसमें है, जो "मोरपंख सिर सोहत नीके। २३३. २।" से उठाया गया है, और उसका विश्राम यहाँ 'केहरि कटि' वीररसपर किया गया है। इस समय कारणवश ऐसा किया गया, इसीकी अब आवश्यकता आ पड़ी है। इस दोहेसे वीररसका आरंभ हुआ और आगे यही रस प्रधान रहेगा। (पां०)। (ख) शिरसे ध्यानका प्रारंभ करके कटितक ही ध्यानका वर्णन करना शृङ्गाररसमें ही होता है। केवल मुखका ध्यान वात्सल्यरसमें प्रधान है और पदका ध्यान दास्यरसमें प्रधान है। यहाँ शृङ्गाररसके प्राबल्यसे कटितकका ध्यान कहा गया, उसके नीचेका नहीं। (रा० प्र०)। त्रिपाठीजीका मत है कि 'सुखमा सीलनिधान' कहते कहते रुक गई, चरणोंकी शोभा न कह सकी. अपनेको ही भूल गई, यही दशा सुननेवालियोंकी हुई। अथवा, फूलकी कियारीमें हैं, कटिसे नीचेके भागका दर्शन नहीं हुआ, इसलिये वर्णन नहीं किया।

२ 'पट पीत धर' इति। वीरस्वरूप कहकर वीरवेष भी कहा। केसरिया बाना वीरोंका है, यथा

'पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः । (भागवते) । (रा० च० मिश्रजी) । [पर भगवान्के ध्यानमें प्रायः सर्वत्र पीतांबर ही का वर्णन पाया जाता है] ।

टिप्पणी—१ 'सुखमा सील निधान' इति । 'सीलनिधान' कहनेका भाव कि समस्त गुण मनुष्यमें हों, सुन्दरता भी हो, पर यदि शील न हो तो शोभा नहीं है, इसीसे शोभा (सुखमा) निधान कहकर शीलके निधान कहा ।—'शीलं परं भूषणम् ।' [शीलसे शोभामें विशेषता आ जाती है । इसीसे प्रायः शोभाके साथ शील गुण भी कहा गया है । यथा 'रूप सील निधि तेज बिसाला । ७६. ५ ।', 'सोभा सील ज्ञान गुन मंदिर' (विनय ८५), 'रामु लषनु दोउ बंधु बर रूप सील बल धाम । २१६ ।' शोभा और शील दोनों भाइयोंके शरीरोंमें दर्शित हो रहे हैं ।

२ 'देखि भानुकुल भूषनहि' इति । भानुकुलभूषणका भाव कि श्रीरामजीको देखकर सखियाँ मोहित हो गईं, पर श्रीरामजी सखियोंको देखकर न मोहित हुए । (ये उनकी ओर देखते भी नहीं) । भानुबंशी कभी पर-स्त्रीपर दृष्टि नहीं डालते, यथा 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ । मन कुपंथ पगु धरै न काऊ ।२३१.५।' और श्रीरामजी तो स्वप्नमें भी कभी पर-स्त्रीकी ओर नहीं देखते, यथा 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी । जेहि सपनेहु परनारि न हेरी । २३१.६ ।' अतएव 'भानुकुलभूषन' कहा । (यह रघुकुलवीरोंका स्वभाव, शील भानुके प्रकाशवत् सिद्ध हुआ । यह सहज स्वभाव भानुकुलका भूषण है और श्रीरामजी तो इस भूषणके भी भूषण हैं तब उपर्युक्त सब वचन क्यों न चरितार्थ होंगे । प० प० प्र०) ।

नोट—१ (क) 'बिसरा सखिन्ह अपान' इति । अर्थात् एकटक देखती रह गईं, जैसा मनुशतरूपाजीके प्रसंगमें कहा है । यथा 'छबिसमुद्र हरिरूप बिलोकी । एकटक रहे नयन-पट रोकी ।। चितवहिं सादर रूप अनूपा । तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा ।। हरष बिबस तन दसा भुलानी । १४८ । ५-७ ।'; यही हाल सब सखियोंका हुआ । वे देहकी सुध भूल गईं, उनको कुछ भी सुध नहीं है कि वे कौन हैं, कहांसे और किस लिये आई हैं, इत्यादि । यथा 'तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की कहाँ ते आई, कौन काज काके ढिग कौन ठाँउ को हैं । गी० ७.४ ।' यही अपनेको भूलना है । (श्रीसीताजीकी देह 'भै भोरी' यह पूर्व कह आए । अब सखियोंकी भी वही दशा हुई) । (ख) प्रश्न—जब प्रथम देखा था तब देहकी सुध क्यों न भूली थी ? उत्तर—(१) क्योंकि पहले प्रभुको लताकी ओटमें देखा था, यथा 'लता ओट तब सखिन्ह लखाए । स्यामल गौर किसोर सुहाए । २३२. ३ ।' लताकी ओटके कारण भली प्रकार शोभा देखनेमें न आई थी । अब वे लताभवनसे प्रत्यक्ष प्रकट हो गए तब साङ्गोपाङ्ग शोभा देख पड़ी, इसीसे देह सुध भूल गईं । यथा "जाइ समीप राम छबि देखी । रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी । २६४.४ ।' तथा यहाँ सखियोंकी दशा हुई । अथवा, (२) यह प्रभुके स्वरूपका अद्भुत प्रभाव ही है । प्रथम यथार्थ स्वरूपका बोध न हुआ था, जब देखा कि ये भानुकुलके भूषण हैं अर्थात् 'भानुकोटि प्रतीकाशं कुण्डलादि श्रुतिद्वयम् । प्रवृत्तारुण संकाशं किरीटेन विराजितम् ।' हैं तब बेसुध हो गईं । अथवा, (३) अपनी सुखमाका गर्व मिट गया । (मा० त० वि०) । (ग) पांड़ेजी लिखते हैं कि अपना आपा भूलनेका कारण यह है कि सखियोंने जितना सुना था उससे कहीं अधिक शोभा राजपुत्रोंकी देखी । अथवा, अपने रूप और शोभाके संपूर्ण ऐश्वर्यके गुमानको भूल गईं । (पाँ०) । (घ) 'अपान बिसरा' से जड़ता संचारी भाव कहा । जब इष्ट या अनिष्ट सुनने या देखनेसे कोई बोध नहीं होता तो उसे जाड्य सञ्चारी कहते हैं ।

टिप्पणी—२ नगरदर्शनमें धनुष-बाणका भी वर्णन है, यथा 'पीतबसन परिकर कटि भाथा । चारु चाप सर सोहत हाथा । २१९.३ ।' और जब स्वयंबर देखने गए तब भी धनुष-बाण धारण किये थे, यथा 'कटि तूनीर पीत पट बाँधे । कर सर धनुष बाम बर काँधे । २४४.१ ।', पर यहाँ धनुष-बाणका उल्लेख नहीं

है। कारण कि शास्त्राज्ञा है कि शस्त्रास्त्र धारणकर देवताके लिये पुष्प न उतारे (तोड़े)। इसीसे फुलवारीमें शस्त्रास्त्र धारण करके नहीं आए।

नोट—४ श्रीगौड़जी लिखते हैं कि—"ध्यानसे जगानेको एक चतुर सखी उस समयकी भगवान्‌की शोभाका वर्णन करती हुई सुनाती है कि सीताजी उस ध्यानको छोड़कर प्रत्यक्ष दर्शनमें लगें, परन्तु मन सरकारमें है, तन सरकारके समक्ष है, वचन उन्हींकी शोभाका वर्णन करनेमें लगा है। उद्देश्य सखियोंका कुछ भी रहा हो, पर इस तरह तनमनवचनकी एकाग्रतासे तन्मयता आ गयीं। अपनी ही सुधबुध भूल गयीं। 'चौबे गये छब्बे बननेको दूबे बनके आये'। उस समय सबमें चतुर एक सखीने धैर्य धारण किया। अपनेको सँभाला और अपना कर्तव्यपालनकी ओर बड़ी ढिठाई से झुकी। हाथ पकड़कर किशोरीजीसे बोल ही बैठी। उन्हें संकोचमें आकर आँखें खोलनी ही पड़ीं।"

श्रीराजारामशरणजी कहते हैं कि "मैं भी गौड़जीसे सहमत हूँ। हाँ, एक सुकुमारता और विचारणीय है, सखी आँखें खुलानेके लिए नखशिखका वर्णन करती है, परन्तु वहाँ सीताजी सरकारकी आन्तरिक मूर्तिसे उस वर्णनको मिलाती हैं और और भी ध्यानमें मग्न होती जाती हैं। कहीं-कहीं इस चित्रको पूर्ण कर रही होंगी, कारण कि आँखें जल्द बन्द हो गई थीं, अब सखियोंके वर्णनसे सहायता मिली। मज़ा यह है कि आँखें खुलनेके बदले और भी बन्द हो गईं। 'मरज बढ़ता गया ज्यों ज्यों दवा की' यही लुत्फ है। विश्व साहित्यमें रामचरितमानस (हास्यरस) वाली पुस्तकमें मैंने इसे 'प्रेमकी सनक' कहा है और इस समय सीताजी 'सनकी' चरित्रका उदाहरण बनी हैं।

प० प० प्र०—ध्यानमें रखनेकी बात है कि सखियोंने भी युगलकिशोरोंकी नर-नारी-मोहक छबि देख ली, फिर भी इनमें से कोई भी इस रूपपर श्रीसीताजीके समान आसक्त नहीं हुई। इस प्रकार यहाँ 'पुर··· नारि··सुचि संता। धरमसील ज्ञानी गुनवंता' यह वाक्य चरितार्थ हुआ।

धरि धीरजु एक आलि[1] सयानी। सीता सन बोली गहि पानी॥१॥
बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू॥२॥

अर्थ—एक सयानी सखी धीरज धरकर हाथ पकड़कर श्रीसीताजीसे बोली—॥ १ ॥ 'गौरीजीका ध्यान फिर भी कर लेना। राजकिशोरको देख क्यों नहीं लेतीं?'॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'धरि धीरज एक···' इति। 'धरि धीरज'—भाव कि श्रीरामजीको देखकर सब सखियाँ विदेह हो गई थीं—'बिसरा सखिन्ह अपान', उनमेंसे एक सखीने धीरज धरा। [रा० प्र० कार लिखते हैं कि यह सखी युवा अवस्थाकी है इसीसे सुन्दर रूप देखकर विशेष आतुर हुई, अतः धीरज धरकर बोली। अथवा, यह श्रीजानकीजीकी अति प्यारी सखी है इसीसे धैर्य धारण करके इसने ढिठाई की। पुनः, 'एक' से जनाया कि यह प्रधान सखी है, मुख्य है। (पां०)। अथवा, यह वही सुशीला वा सुभगा, आदि नामकी सखी है जो प्रथम देख आई थी—'चली अग्र करि प्रिय सखि सोई'। यह एक बार पहले देखकर प्रेमविवश हो चुकी थी, अबकी दूसरी बार फिर देखकर आपा भूल गई थी, इसीसे इसे प्रथम होश हुआ, अतः धीरज धरकर यही सखी बोली। (रा० च० मिश्र)]

२ "आलि सयानी" इति। 'सयानी' का भाव—(क) वह जानती है कि श्रीसीताजी श्रीरामजीका ध्यान हृदयमें कर रही हैं फिर भी वह यह नहीं कहती कि 'श्रीरामजीका ध्यान न करो, उन्हें प्रत्यक्ष देख लो', [जिनका ध्यान कर रही हो वे तो प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने खड़े हैं, अतः ध्यान करना इस समय अयोग्य

१ अली—१७०४

है, फिर ऐसा अवसर प्रत्यक्ष दर्शनका न मिलेगा। (बै०)], वरंच यह कहती है कि 'गौरीजीका ध्यान करती हो सो फिर भी कर सकती हो' जिसमें सीताजीको संकोच न हो। [पुनः, यह सखी समय समयपर कैसा उचित है यह जानती है। इस समय सभी सखियाँ अपनेको भूली हुई हैं, उनमेंसे इसने अपना कर्त्तव्य विचार शीघ्रही धैर्य धारण किया। अतः 'सयानी' कहा। (पां०)।☞'धरि धीरज' और आगेके 'गहि पानी' दोनोंही पद सयानपनको प्रकट कर रहे हैं और उसके अगले वचनोंसे भी सयानपन सिद्ध होता है। एक तो इसने छविसमुद्र हरिरूपमें डूबते हुए भी प्रथम अपनेको सँभाला, क्योंकि स्वामिनीका कार्य करना है। दूसरे इसने सोचा कि हम सबोंके संकोचवश श्रीसीताजी प्रत्यक्ष नहीं देखतीं और आँखें बंद किये हुए हैं, हम स्वयं उनसे देखनेको कहेंगी तो वे अवश्य संकोच छोड़ देंगी। तीसरे ध्यानसे जगानेके लिये उपाय किया सो तो निष्फल हुआ अब क्या कहकर जगावें यह इसीको सूझा दूसरोंको नहीं। तीसरे (सन्तउन्मुनी-टीकाकारके मतानुसार) "उसने सोचा कि अभी तक तो ध्यानावस्थाही है, कदाचित् समाधि लग गई तो बड़ी बेहोशी होनेसे अस्मदादिकको खेदका कारण हो जायगा, इससे इसने धीरज धरा, अतः सयानी कहा"।]

३ "सीता सन बोली गहि पानी" इति। [इस समय सीताजी श्रीरघुनाथजीके ध्यानमें मग्न हैं, उनको पिताकी प्रतिज्ञाका किंचित् भी सन्ताप नहीं है, ध्यानसे शीतलताको प्राप्त हैं, इसीसे 'सीता' नाम दिया गया। (पां०)] "गहि पानी" इति। इससे जनाया कि सीताजीको ध्यानसे जगाया। जब तक श्री-रामजी लताकी ओटमें रहे तब तक न बोली जब लता भवनसे प्रकट हुए तब हाथ पकड़कर बोली—इस कथनका तात्पर्य यह है कि लताकी ओटमें देखकर जब वे ध्यान करने लगीं तब सखियोंको कहनेका मौका न था, क्या कहकर जगाती? जब वे प्रकट हुए तब विशेष लाभ समझकर बोली। आगे खड़े हुए हैं, अतः अब बोलनेका मौका देख हाथ पकड़कर कहा कि सामने खड़े हैं, देख लो। [पुनः, (ख) 'गहि पानी' बोली, क्योंकि इस समय इशारेसे काम नहीं चल सकता, कारण कि वे आँखें मूँदे हुए हैं—'दीन्हे पलक कपाट सयानी।' इशारा तो तभी दिया जा सकता था जब आँखें खुली होतीं। दूसर, अधिक बोलने, बात करनेका भी समय नहीं है, क्योंकि राजकुमार सामने खड़े हुए हैं। (पां०)। पुनः, (ग) हाथ पकड़कर बात कहना व्याकरणमें एक प्रकारका सम्बोधन भी माना गया है। (मा० त० वि०)। अथवा (घ) पानी = मर्यादा। 'बोली गहि पानी' अर्थात् मर्यादापूर्वक बोली, जिसमें राजकुमारादिको न मालूम हो कि उन्हींका ध्यान कर रही हैं। (ङ) इससे जनाती हैं कि हमने आपकी थाह ले ली कि किसका ध्यान कर रही हैं। 'पानी' जलको भी कहते हैं। 'कितने पानीमें हो' यह मुहावरा है। हमसे क्या छिपाती हो? (च) इससे सूचित किया कि "कुलका 'पानी' (मर्यादा) रक्खो"। अथवा, 'गहि पानी'=(श्रीरामजीका) हाथ पकड़ लो अर्थात् स्वयंबर कर लो। (मा० त० वि०)]

लमगोड़ाजी—मेरी 'हास्यरस' वाली पुस्तकके पृष्ठ ६० पर भी यह नोट किया गया है कि 'एक चतुर सखीने जब और कोई उपाय न देखा तो कितनी सुन्दर हँसी की'। इसके साथ 'गहि पानी' की प्रगति फिल्मकलाको तो उभारती ही है, पर साथ ही हँसीके माधुर्यको बहुत ही सरल और सरस बना देती है। फिर 'प्रेम सनक' की मग्नतासे जगानेके लिये भी तो आवश्यक है।

"बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू।—" इति।—

पं० रामकुमार—साक्षात्का दर्शन विशेष है, ध्यान करना सामान्य है, इसीसे गौरीका ध्यान फिर (पीछे) कर लेनेको कहती है। इष्टका ध्यान छोड़ना-छुड़ाना वर्जित है, अपराध है, इसीसे ध्यान छोड़नेको नहीं कहती, यह नहीं कहती कि उनका ध्यान छोड़ दो, इनको देखो, वरंच मधुरतासे कहती है कि गौरीका

ध्यान करना पर इनको देख लो। 'देखि किन लेहू' का भाव कि जिस बातको जानकीजी छिपाती हैं (कि) सखियाँ यह न जानें कि हम श्रीरामजीका ध्यान कर रही हैं, सब यही जानें कि गौरीका ध्यान कर रही हैं, उसी बात को यह सखी भी पुष्ट करती है कि फिर ध्यान कर लेना, इनको देख लो।

पाँड़ेजी, मा० त० वि०—भाव कि गौरीका ध्यान तो तुम किया ही करती हो, उसीके फलस्वरूप ये राजकुमार सामने खड़े हुए हैं, इन्हें क्यों नहीं देखतीं ? सिद्ध फल सम्मुख प्राप्त है तब साधनका काम ही क्या ? ध्यान कैसा ! प्राप्त वस्तुका ग्रहणकर फिर उसकी स्थिरताके लिए ध्यान कर लेना। ये भूपकिशोर हैं, किसीके बन्धनमें नहीं हैं, ये चल देंगे तो ऐसा अवसर फिर हाथ न लगेगा।

पाँड़ेजी (क) सखी व्यंगपूर्वक कहती है कि आपको गौरीके ध्यानका कैसा अभ्यास हो गया है कि अभी तो पूजन ध्यान कर आईं अब फिर करने लगीं, यह उसका अवसर नहीं। वा, अब तो तुम गांधर्व व्याह ध्यान द्वारा कर चुकी हो तो अनव्याही गौरीका ध्यान अब क्या करती हो, प्राप्तिमें सन्देह हो तब फिर कर लेना। (ख) भूपसे जाति-सम्बन्ध और किशोरसे अवस्था-सम्बन्ध भी जनाया।

मा० त० वि०—धनुष किसीसे न टूटा तो जयमाल स्वयंवर होगा, अतः तुम्हारा चित्त इनको चाहता है तो इन्हें अच्छी तरह देखकर पहचान लो जिसमें फिर चूक न हो। भूपकिशोरका भाव कि तुम राजकिशोरी हो और ये राजकिशोर हैं, योग भी अच्छा है।

रा० प्र०—'भूपकिसोर देखि किन लेहू' के भाव—(क) ध्यान करना स्वाधीन है, जब चाहे कर सकती हो और इनका दर्शन पराधीन है; अतः ध्यान फिर कर लेना, अभी इन्हें देखो। वा, (ख) भूपकिशोरको देखकर 'किन लेहू' अर्थात् ख़रीद लो, मोल ले लो।

नोट—यहाँ श्रीसीताजीका श्रीरामप्रेममें मग्न होना, इस प्रकट वृत्तान्तको छिपानेकी इच्छासे पार्वतीजीके ध्यानके बहाने सचेत करना 'व्याजोक्ति' है। बोधव्य जानकीजीकी ओर क्रिया व्यंजित होना व्यंग्य है। सखीको 'सयानी' कहनेमें प्रबंधध्वनि है। (वीर)

सकुचि सीय तब नयन उघारे। सन्मुख दोउ रघुसिंघ निहारे ॥३॥
नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता-पनु मनु अति छोभा ॥४॥

अर्थ—तब सीताजीने सकुच (लज्जा) कर आँखें खोलीं। रघुकुलके दोनों सिंहोंको (दोनों रघुकुल श्रेष्ठोंको) सामने देखा ॥ ३ ॥ नखसे शिखातक श्रीरामजीकी शोभा देख (फिर पिताकी प्रतिज्ञा यादकर मन बहुत ही चिन्तित हुआ (घबराया) ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) 'सकुचि' इति। 'जिस लज्जासे आँख मूँदी उन्हींको देखनेको कहती है, इसीसे सकुच कर नेत्र खोले। पूर्व कहा था कि 'लोचन मग रामहि उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी। २३१।७।' 'उररूप कोठरीमें स्वरूप ध्यानमें प्राप्त है वहाँ सखी भी आ पहुँची, किंवाड़े खोलनेको कहती है, इससे बड़ी लज्जा लगी, सकुचकर किंवाड़े खोल दिए। जैसे कोई अपने प्रीतमसहित एकान्तमें हाव-भावमें मग्न हो और वहाँ कोई सखी आकर किंवाड़े खुलवावे तब जैसा संकोच हो वैसा ही इनका हुआ। न खोलें तो भी नहीं बनता और खोलें तो मानसविहार जाता है। (पं० रामकुमार)। [वि० सा० 'हास्यरस' में श्रीसीताजीकी इस अवस्थाको 'झेंपू' चरित्रका उदाहरण कहा गया है।—(लमगोड़ाजी)] (ख) 'सकुचि' से 'संकुचित अवयवों' का अर्थ लेकर उसके भाव पंजाबीजी आदिने और भी कहे हैं। एक, ध्यान एकबारगी नहीं छोड़ा जाता, धीरे-धीरे हटाया जाता है, इससे सकुचे हुए अर्थात् थोड़ी थोड़ी आँखें खोलीं। दूसरे, यह कि वियोगके भयसे पूरी आँख न खोली। तीसरे, यह कि कहीं सखी मसखरी न करती हो, पूरी आँख खोल दें तो हँसेंगी कि देखो हमने तुम्हारा ध्यान छुड़ा दिया, भेद खुल गया न ? तुम्हारे मनमें तो ये

ही थे, दिखावमात्र गौरीका ध्यान था। अतः संकुचित अधूरी आँख खोली कि यदि राजकुमार सामने न हुए तो फिर आँख बन्द कर लेंगी। (ग)—गौड़जी लिखते हैं कि 'सकुचि नयन उघारे' कि कहीं आँखें चार न हो जायँ, नखकी ओर दृष्टि गई। फिर धीरे धीरे ऊपर उठी। इस समय अपनी बात पूरी करके सरकारकी दृष्टि लक्ष्मणजीकी ओर गई थी। संयोग अच्छा था।" (घ) उपाय काम कर गया। सखीका उपालम्भ और उपहास भी कर्तव्य है, उपालम्भ करती है कि उपास्यदेवकी भाँति राजकुमारका ध्यान करती हो। सुनकर संकुचित होकर सीताजीने नेत्र खोले। स्वच्छन्द क्रियासे संकोच हुआ। व्रीड़ा संचारी भाव हुआ। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ 'सनमुख दोउ रघुसिंघ निहारे' इति। (क)—जबतक पलकरूपी कपाट दिये रहीं तब तक श्रीरामजी भीतर (क़ैदमें) रहे। कपाट खुलते ही बाहर आ गए। (जैसे कोई क़ैदी किंवाड़े खुले पाकर घबड़ाकर भाग निकले वैसे ही ये हृदयसे भाग निकले)। (ख)—'सनमुख'। भाव कि पहले लताकी ओटसे देखा था—'लता ओट तब सखिन्ह लखाये'। अब लताभवनसे बाहर सामने खड़े देखा। (ग)—'रघुसिंघ' का भाव कि सिंह समान बलवान रूप देख पड़े। अथवा, सिंह, शार्दूल, व्याघ्र, कुंजर ये सब शब्द श्रेष्ठवाची हैं। रघुसिंघ=रघुकुलश्रेष्ठ। (घ) पंजाबीजी लिखते हैं कि 'यद्यपि राजा सब सेना सहित हैं और ये अकेले हैं, तो भी क्या? वे सब हाथी सरीखे हैं और ये सिंह हैं। 'रघुसिंह' शब्दमें एक चमत्कार यह भी है कि जब कोई सिंह पिंजड़ेमें बन्द कर दिया जावे और फिर खोला जाय तो सामने ही आवेगा वैसे ही ध्यानसे बाहर होते ही ये सामने आ गए।' पांड़ेजी लिखते हैं कि "धनुष-भंगकी आकांक्षामें कारण वीरता है, अतः इस विशेषणका यहाँ प्रयोजन ही था। धनुषकी कठोरताके आगे इनकी प्राप्ति बिना वीररसके न होगी।'

प० प० प्र०—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' श्रीरामजीके मनमें युद्धकी स्मृति ही जागृत हुई, वीररस ही जागृत हुआ क्योंकि वे रघुवीर हैं। वैसा ही यहाँ भी हुआ। श्रीसीताजी क्षत्रिय वीरकन्या हैं। क्षत्रिय कन्या अपने भावी पतिमें रूपके साथ पौरुष भी चाहती है। धनुर्भंग वीराग्रणीसे होगा और वह पुरुषसिंह ही कर सकेगा। रघुवंशी पुरुषसिंह हुए हैं पर उनमें भी श्रीरामलक्ष्मणजी सिंहके समान तेजस्वी, ओजस्वी, प्रतापवान, निर्भय, शीलसम्पन्न आदि हैं। अतः 'रघुसिंघ' कहा। जब बल पौरुष देखा तब विश्वास हुआ कि धनुष तोड़ेंगे पर जब 'नखसिख देखि राम कै सोभा' तब सन्देह हुआ और मन क्षुब्ध हो गया।

वि. त्रि—दो रघुसिंहोंको देखा—"...मृगपति सरिस असंक॥ पूरब दिसि गिरि गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बल रासी॥ मत्त नाग तम कुंभ बिदारी।" भाव यह कि श्रीसीताजी फुलवारी प्रकाश करती फिरती थीं, पर तम मरा नहीं था; इनके हाथसे मारा पड़ा।

नोट—२ 'दोउ' इति। दोनोंको देखा, पर देखनेके प्रकार (भाव) में अन्तर है। श्रीरामजीको शृङ्गाररसपूर्ण दृष्टिसे देखा और लक्ष्मणजीको वात्सल्यभावसे। यथा—'स्वामी सीय सखिन्ह लषन तुलसीको तैसो तैसो मन भयो जाको जैसियै सगाई है।' (गी० १.६६)। (रा० प्र०)]

☞प्रसन्नराघवनाटकमें भी लक्ष्मणजीको देखना कहा गया है। श्रीसीताजीने लक्ष्मणजीको देखकर कहा है—"हला, कोऽयं कनकवर्णः शिखण्डिपिच्छमंडित कर्णपूरो मुत्सत्व विमुक्त लोचन विकारः कुमारो दृश्यते। इमं पश्यन्त्या मम निज वत्स इव वात्सल्य प्रचालितं हृदयं वर्तते।" अर्थात् जो लक कर्णपूर मोर-पक्षसे शोभित हैं वह कनकवर्ण गौर शरीरवाला यह कौन है? इसे देखकर मेरे हृदयमें वात्सल्यभावसे पाले हुए अपने वत्स (बच्चे) की भावना हो रही है। इसी प्रकार लक्ष्मणजीके हृदयमें श्रीसीताजीको देखकर सुमित्राभाव उत्पन्न हुआ जैसा प्र० रा० के "अये केयमस्या सुमित्रायामिव मे सुचिरप्रवृत्ता चित्तवृत्तिः। २।१५।" इससे स्पष्ट है।

'नखसिख निरखि राम कै सोभा।०' इति।

पं० रामकुमारजी—१ प्रथम 'नख देखने' का भाव कि दोनों भाइयोंको सम्मुख देखकर लजा गईं।

लज्जा वा संकोचमें नेत्र नीचे कर लिये जाते हैं, अतः दृष्टि नीचे गई। अथवा, 'सकुचि सीय तब नयन उघारे' इसीसे दृष्टि प्रथम नखपर पड़ी। इससे यह भी पाया जाता है कि श्रीरामजी बहुत ही निकट हैं कि जिससे उनके नख देख पड़ रहे हैं। नखसे फिर धीरे-धीरे ऊपर शिखातक दृष्टि पहुँची। २—"राम कै सोभा'। प्रथम सम्मुख दोनों भाई देख पड़े तब नखसे शिखा पर्यन्त श्रीरामकी शोभा देखी। अर्थात् श्रीरामजी को अंगीकार (वरण) किया। ☞ऐसा ही सर्वत्र लिखते हैं। यथा—'थके नयन रघुपति छबि देखे', 'लोचनमग रामहि उर आनी', 'नखसिख निरखि०', 'धरि बड़ि धीर राम उर आनी' और 'चली राखि उर श्यामल मूरति'।

पाँड़ेजी—"नेत्रोंके सामने दोनों राजकुमार पड़े। 'निहारे' का तात्पर्य्य यहाँ केवल इतना ही है कि नेत्र खुलते ही साधारणतः दोनोंको सामने खड़े देखा पर नखशिख शोभा केवल श्रीरामजीकी देखी। इससे धर्मका सँभाल दिखाया। उनका मन तो पहलेसे ही रामजीकी ओर लग गया था; जब नखसे शिखातक इनके शृङ्गारको देखा तब मोहित हो गईं, यह संदेह हुआ कि धनुष तोड़नेको समर्थ नहीं हो सकते, बड़े सुकुमार हैं। अतः पिताके पनका अधिक क्षोभ हुआ।

बैजनाथजी—'यहाँ सकुचसहित नेत्र उघारना शान्तरसमय दृष्टि है, इससे दृष्टि प्रथम नखपर पड़ी। देखते समय शृङ्गाररस आ गया, इससे शिखापर्यन्त सर्वाङ्गको देखा। जब अपने मनको आसक्त देखा तब पिताके पनको यादकर धर्म बिचार सावधान हो गई कि अभी ऐसी आसक्ति अनुचित है।'

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँसे वीररस और शृङ्गारके माधुर्य्यका संघर्ष है, इसीसे कभी धीरता और कभी अधीरता होती है।

पं० रा० च० मिश्र—"कुलप्रसूता पुत्रीकी सुशीलता भरी दृष्टि नीचेसे उठती है। अतः प्रथम नख कहा। 'रघुसिंह' पदसे ज्ञात होता है कि समष्टिरूपसे वीरस्वरूप देखनेमें धैर्य्य हुआ, पर जब व्यष्टिरूपसे नख-शिखतक सुकुमारता ही देखी तब क्षोभ हुआ। यहाँ पूर्वापरका आशय सोचने योग्य है। श्रीरामजी श्री-जानकीजीके मुखकमल ही पर ठहर गए। पर मैथिलीजीके देखनेमें कवि कोई अंग नियत नहीं करते, केवल रूप, छबि, शोभा ही का देखना कह रहे हैं। कारण यह कि श्रीरामजीको अपने पुरुषार्थका भरोसा है। अतः मैथिलीको स्वीकारकर मुखछबिपर ठहर गए। और इधर जनकतनया छबिपर तो मुग्ध है पर सुकुमारताको देखकर सब अंगोंको देखती है कि कहीं पन पूर्ण करनेकी जड़ता भी घुसी है या नहीं? अतः दृष्टि भटकती है और रूपमें फँसकर मुग्ध हो रही है।" *

☞अब यहाँ शोभा और प्रतिज्ञा दोनोंका प्राबल्य साथ-साथ दिखा रहे हैं। शोभाकी सीमा सुकुमारता है और धनुषकी सीमा कठोरता है। जहाँ देखनेसे प्रीतिकी वृद्धि है, वहीं ही धनुषका स्मरण भी है। यथा—'निरखि निरखि रघुबीर छबि, बाढ़ै प्रीति न थोरि। २३४। जानि कठिन सिवचाप बिसूरति', 'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितुपन सुमिरि बहुरि मन छोभा २५८।१।', 'धरि बड़ि धीर राम उर आनें। फिरी अपनपउ पितुबस जानें। २३४।८।' तथा 'नखसिख देखि'''—इसका कारण यह है कि प्रीतिकी ६ (नौ) दशाएँ हैं। अन्तिम दशा मृत्यु है। इनकी प्रीति नवीं दशाको प्राप्त हो चुकी। जब दसवींकी प्राप्तिकी ओर जाने लगती है तब धनुष आकर उसे रोक देता है। यथा 'कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनन्दनः। हनु०। १।६।'

* कोई महानुभाव नखपर प्रथम दृष्टि डालनेका यह भाव कहते हैं कि "आप सोचती हैं कि देखें ये चरण कैसे हैं जिनसे जड़ अहल्याका उद्धार हुआ, क्योंकि इससे हृदयको शान्ति होती है कि जिनके चरण-रजका यह प्रताप है वे हमारा उद्धार भी अवश्य करेंगे।"

"राम कै सोभा"—'राम' शब्दमें यहाँ 'रमनेवाले' का अर्थ है। (पाँ०)।

टिप्पणी—'मन अति छोभा'। मनमें क्षोभ प्राप्त हुआ कि इनसे धनुष कैसे टूटेगा; यथा 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।' 'अति सुकुमारता' देख 'अति छोभा'।

परबस सखिन्ह लखी जब सीता। भये[1] गहरु सब कहहिं सभीता ॥५॥

पुनि आउब येहि[2] बेरिआं काली। अस कहि मन बिहसी एक आली ॥६॥

शब्दार्थ—गहरु=देर, विलंब। बेरिआँ=समय।

अर्थ—जब सखियोंने श्रीसीताजीको पराये (अर्थात् श्रीरामजीकी शोभाके) वशमें देखा (और यह समझ लिया कि शोभाका दर्शन छोड़कर यहाँसे चलनेकी इच्छा न करेंगी। तब) सब सखियाँ डरी हुई (आपसमें) कहने लगीं कि बड़ा विलम्ब हो गया ॥ ५ ॥ 'इसी समय कल फिर आवेंगी' ऐसा कहकर एक सखी मनमें मुस्कुराई ॥ ६ ॥

नोट—१ 'परबस' का भाव कि सीताजी श्रीरामजीकी छबिपर आसक्त हो गई हैं, चलनेकी इच्छा नहीं है और घर लौट जानेका समय बीत गया है। 'सीता' शब्दमें भाव यह है कि वे शीतल हो रही हैं, ऐसेमें देर होनेकी चेतावनी दें तो शीतलतामें विघ्न पड़ेगा। (पाँ०)। सीताजीसे ऐसी दशामें चलनेको भी नहीं कह सकतीं और चलना अवश्य है, इससे भय दर्शित करती हुई आपसमें कह रही हैं कि 'देर हो गई'; जिसका भीतरी आशय यह है कि अवश्य चलना चाहिए। 'सभीता' का भाव कि जिसमें सीताजीको भी भय हो, और भय हुआ भी जैसा आगे स्पष्ट है—'भएउ बिलंब मातु-भय मानी।' जब इस वचनका भी कुछ प्रभाव न पड़ा, तब उनमेंसे एक सखीने गूढ़ वचन कहे और हँस दी। हँसकर अपने वचनमें व्यङ्ग जनाया जिसमें लजाकर अवश्य घरको चल दें। यह गूढ़ता है। २—'भये गहरु सब कहहिं सभीता' का शब्दगुण (Symphony) विचारणीय है—(श्रीलमगोड़ाजी)। ३—'भये गहरु''सभीता' इति। भय यह कि "विलम्ब जानकर यदि कोई यहाँ आकर देखे तो मातासे जाकर कह देगी कि वे तो पूजा नहीं करती थीं, बरंच राजकुमारोंको देखती रहीं, तो एक तो हमारा अपमान होगा, दूसरे हमको दण्ड दिया जायगा और फिर हम साथ भी न आने पावेंगी, इत्यादि विचारकर सब सभीत हैं। और इस इशारेसे जनाती हैं कि और दिनोंसे आज अधिक देर हो गई, अब चलना चाहिए।"—(वैजनाथजी)। पुनः, 'राजकुमारोंका भी भय है, इससे चलनेको नहीं कह सकतीं'—(पंजाबीजी)। उनका प्रेम देखकर चलना जो वियोगवाचक वचन है उसे कहते डरती हैं। वा, उनकी रुचिभंगका भय है। प्रेमवश जाननेसे संकोच हुआ और परबस जाननेसे भय हुआ।

'पुनि आउब एहि बेरिआँ काली।' इति।

☞ग्रन्थकार स्वयं ही आगे कह रहे हैं कि यह वाणी गूढ़ है—'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी।' इस वाणीमें क्या गूढ़ आशय है उन्हें महात्माओंने यों कहे हैं—

श्रीलमगोड़ाजी—यहाँ फिर वही व्यंग और वही झेंप है (जो 'सकुचि सीय तब नयन उघारे' में है) हाँ, इस अन्तरके साथ कि अब हास्य स्पष्ट कर दिया है—चाहे वह मनकी हँसीके साथ ही क्यों न हो, और पहले चिन्तासे मिश्रित था।

पं० रामकुमार—१ श्रीजानकीजीको इस समय चलनेकी इच्छा नहीं है। इसीसे यह सखी व्यंग्यके भीतर चलनेको कहती है। 'पुनि आउब' कल इस समय फिर आवेंगी, अर्थात् अब चलो। २—प्रथम

१ भये—१६६१, १७०४, १७६२, पाँड़ेजी। पाठान्तर 'भई'। 'भयउ'-मानसांक, को० रा०। भयेउ—१७२१, छ०। २ एहि बेरिआं—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

सखियोंने विलम्ब सुनाकर चलना व्यंजित किया पर वे वचन सुनकर भी (विलम्ब हुआ यह सुनकर भी) जब इन्होंने चलनेकी इच्छा न की, तब एक सखीने बिचारा कि बिना यह शोभा आगेसे हटे (ध्यानसे छूटे) ये चलनेकी इच्छा कदापि न करेंगी, अतएव ऐसी बात कहना चाहिये जिसमें ये सकुचाकर शोभा देखना छोड़कर चलनेकी इच्छा करें। अतएव ये वचन कहे। तात्पर्य्य कि शोभा देखकर इतनी आसक्त हो गई हो, कल सवेरे फिर इसी समय आवेंगी, तुम्हें यह शोभा फिर दिखा ले जावेंगी, अब चलो। ३—'बिहँसी', इससे व्यंग्यका स्वरूप स्पष्ट हो गया। यदि हँसती नहीं तो सीताजीको संकोच नहीं होता, वे सखीकी बातको सत्य जानतीं। हँसीसे हँसी करना निश्चय हुआ। प्रगट हँसनेसे मर्य्यादा न रहती। जैसे गूढ़ वचन कहे वैसे ही मनमें हँसी। जिस हँसीमें शब्द हो, वह हँसना है। जिस हँसीमें शब्द न हो, कुछ मुख विकसित हो वह मुस्कान है। मुख न विकसित हो और न शब्द हो परन्तु मुखसे हँसीका भाव दर्शित हो इस तरहकी मुस्कान मनमें मुस्काना कहा जाता है। गुप्त बात कही और गुप्त मुस्कानसे हँसी।

वि० त्रि०—अपने अपराधसे सभीत है। जब एक सखीकी दशा हम लोगोंने आँखोंसे देख ली थी, तब हम लोग इन्हें यहाँ क्यों ले आईं? यह शोभा ही उन्मादकारिणी है। भाव पलटनेके लिये माताका स्मरण दिला रही है। प्रकट हँसनेसे सीताजीका अपमान होता। अपनी उक्तिपर स्वयं ही हँस रही है, क्योंकि कल इस समय आना असंभव है, इस समय तो धनुषयज्ञ होता रहेगा। ध्वनि यही है कि इस समय चलो, धैर्य धरो।

पाँड़ेजी—१ इस समय जानकीजीका प्रेम रामजीमें देखकर वियोगसूचक कठोर शब्द 'अब चलिये, देर हुई' नहीं कह सकतीं, इसलिये उस वियोगको संयोगसे ढाँपकर कह रही हैं कि कल इसी समय फिर आवेंगी। 'फिर आवेंगी, ये फिर मिलेंगे।' यह संयोगके वचन हैं, पर इनमें यह भाव भरा है कि अभी चलना चाहिए। इस कथनसे जनाती है कि तुम्हारा मन राजपुत्रमें लग गया है। फिर भी इस बातको प्रगट न कहकर मन ही में हँसती है जिसे सीताजीको प्रगट संकोच न हो। २—'कहनि' (कथन) की दूसरी चतुरता यह है कि विलंब होना जताती है और किसीसे यह नहीं कहती कि अब जायेंगी, किसीको चलनेके लिए बाध्य नहीं करती, परन्तु युक्तिसे इन वचनोंसे चलनेकी ध्वनि निकल रही है। ३—एक भाव यह है कि राजपुत्रोंसे कहती है कि इसी समय कल फिर आइयेगा।—[वीरकविजी लिखते हैं कि "यहाँ उद्देश्य तो रामचन्द्रजीके प्रति है और कहनी है सखीसे, 'व्याजोक्ति अलंकार है'। अपने लिये आनेकी बात कहना बोधव्य है, उसकी क्रिया सीताजी और रामचंद्रजीकी ओर व्यंजित होना व्यंग है।" वैजनाथजीका मत है कि "सखियोंके प्रति कल आना कहकर रामचंद्रजीको इशारेसे संबोधित करनेमें गूढ़ोक्त्यालंकार है; और यदि ऐसा समझें कि राजकुमारोंहीसे कह रही है तो गूढ़ोत्तरालंकार होता है; पुनः स्वयंदूतत्व होता है"।] ४—आज जो इतना विलम्ब कर रही हो तो क्या कल फिर आने पाओगी? 'पुनि आउब' अर्थात् माता कल न आने देगी तो फिर कल इनके दर्शन दुर्लभ हो जायेंगे। अतः यदि कल फिर यह आनन्द लूटना हो तो अब चलिये। और, उधर श्रीरामचन्द्रजीको भी संकेत कर रही है कि आज देर कीजियेगा तो क्या कल गुरुदेवजी आने देंगे? ५—कल यही समय फिर आवेगा। अर्थात् राजकुमार कल सवेरे फिर इसी समय फूल तोड़ने आवेंगे ही तब फिर मिलाप होगा। उधर राजकुमारोंको सूचना देती है कि कल इसी समय राजकुमारी फिर यहाँ आवेंगी तब आप भी आइयेगा, इतनाही प्रेम बस है।

रा० प्र०—अथवा, सखियोंसे भी कहती है कि तुम सब राजकिशोरीके संगसे निकाल दी जाओगी और सखियाँ साथमें दी जायँगी। माता रुष्ट होगी कि इतना विलंब करा दिया। अथवा, अपने प्रति भी कहती है कि किशोरीजी पुनः भलेही आवें पर मैं तो अब न आऊंगी, ऐसी दशा अपनी कौन करावे?

संतश्रीगुरुसहायलालजी—'मन बिहँसी' इति। भाव कि "हमको हँसती थीं सो आज तुम्हारी भी

वही दशा हो गई है। अथवा, तुम राजकिशोरी हो, बड़ी सयानी हो, तुम्हें एकदमसे बिना सोच-विचारके ऐसा चित्त चंचल न करना चाहिए, न जाने औरोंकी क्या दशा होगी।"

गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी। भयेउ बिलंबु मातु भय मानी॥७॥
धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें॥८॥

अर्थ—गूढ़ वाणी सुनकर श्रीसीताजी सकुचा गईं। देर हो गई (यह जानकर) माताका भय मानने लगीं॥७॥ बड़ा धैर्य धारणकर वे श्रीरामजीको हृदयमें ले आईं (अर्थात् बसा लिया) और अपनेको पिताजीके अधीन जान लौट पड़ीं॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'सकुचानी'। जो प्रीति सखियोंसे छिपाए हुए थीं उसे सखीने व्यंग्यद्वारा प्रगट कर हँस दिया, इसीसे सकुचा गईं। रूपका देखना छोड़नेसे सखियोंका वचन चरितार्थ हो गया, विलंब जानकर डरीं (कि माता क्या कहेंगी?) [पांड़ेजी 'मातु भय मानी' का दूसरा भाव यह कहते हैं कि "देर होनेसे माता भी भय मानती होंगी। क्योंकि देश-देशके राजा आए हुए हैं, न जाने किसीके मनमें क्या हो।"] (ख) 'धरि बड़ि धीर०' इति। भाव कि मनमें अत्यंत क्षोभ हुआ था,—'सुमिरि पितापनु मनु अति छोभा' (वहींसे इसका संबंध है); इसीसे बड़ा धीरज धरना पड़ा। अथवा, अत्यंत प्रियके वियोगमें बड़ा धीरज धरना पड़ता है, इससे बड़ा धीरज धरा। पुनः भाव कि शोभा छोड़ी नहीं जाती, बहुत धीरज धरकर छोड़ा। (पाँड़ेजी कहते हैं कि बड़ी लगनमें बड़ा वियोग होता है, इसीसे बहुत धीरज धरना पड़ा)। (ग)—'राम उर आने' अर्थात् जब बाहरसे वियोग हुआ तब भीतरसे संयोग किया। ('राम उर आने' इससे नारदवचन सत्य होगा। उन्होंने कहा था कि जिसमें तुम्हारा मन रँग जायगा, जिसे तुम हृदयमें धारण कर लोगी वह वर तुम्हें मिलेगा। इसीसे गौरीजी कहेंगी 'नारद बचन सदा सुचि साँचा। सो बर मिलिहि जाहि मनु राचा। २३६.८।') (घ) 'अपनपउ पितु बस जानें' इति। भाव कि मैं पिताके अधीन हूँ और पिताका प्रण है कि जो धनुष तोड़े वही हमारी पुत्रीका पति होगा। तात्पर्य्य कि यदि हम स्वतंत्र होतीं तो इन्हींको जयमाल डाल देतीं।

पांड़ेजी—'फिरी अपनपउ पितुबस जानें' इति। भाव कि 'सब राजा धनुषसे हार मान गए और ये राजपुत्र उसके तोड़नेमें समर्थ नहीं हो सकते, इससे पिताहीके अधीन हम हैं, वे चाहे हमें इनको ब्याह दें, चाहे न ब्याहें; हमारा तो कुछ वश ही नहीं—ऐसा सोचकर मनको समझाकर लौटीं।

वीरकविजी—यहाँ सीताजीके मनमें एकसाथ ही कई भाव उत्पन्न हो गए हैं। गूढ़ गिरा सुनकर संकोच होना 'व्रीड़ा संचारी' भाव है। देरके कारण माताका भय है। धीरज धरना धृत संचारीभाव है, अपनपौ पितुवश जान लौटना विषाद और चिन्ता संचारी भाव है। अतएव यहाँ 'प्रथम समुच्चय' अलंकार है।

☞श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—(क) यह भी तुलनाके योग्य है कि श्रीरामजीको कितनी जल्दी अपनी दशाका ज्ञान हो जाता है और श्रीसीताजीको कितनी देरीसे। स्त्रीकी निमग्नता देरसे उत्पन्न होती है, पर देरतक रहती है। (ख) 'बोले' (सुचि मन अनुज सन)—कैसा काव्य चमत्कार है। श्रीरामकी हृदयरूपी जिह्वाने जैसी व्याख्या की, वैसी श्रीसीताजीसे संभव नहीं। वहाँ तो केवल 'कहँ गए नृपकिसोर मन चिंता' का ही एक आकस्मिक प्रश्न होगा और कुछ नहीं। तात्पर्य्य यह कि जितना भावोंमें आधिक्य एवं तथ्य होता है उतना ही विवरण कम होता है। व्याख्याशक्ति एवं वाग्मिता दोनोंका संबंध मस्तिष्कसे है और अनुभवका संबंध हृदयसे। इससे 'उर अनुभवति' की दशा होती है परन्तु वही बोलना कठिन है। प्रत्युत वहाँ तो यही होगा कि 'न कहि सक सोऊ, फिर बिचारा कवि उसकी व्याख्या कैसे करे? (ग)—न

सीताजीकी हृदयरूपी जिह्वाने कुछ वर्णन किया और न सीताजीने जिह्वाद्वारा ही सखियोंसे कुछ कहा। इसी कारण तो उनकी भावनाओं एवं प्रवृत्तियोंकी व्याख्या के हेतु सखियोंकी जिह्वा और कविकी लेखनीकी अधिक आवश्यकता हुई। (घ) पुनः, तुलना श्रीरामजीके 'आपनि दसा बिचारि' से कीजिये, श्रीसीताजीको अपनी दशा का ज्ञान भी सखियोंके ख़याल दिलानेसे, बल्कि भयकी ठोकर लगानेसे, उत्पन्न हुआ जब सब बोल उठीं कि 'भयउ गहरु'। सच है और स्त्रीत्वकी यह रोचक विशेषता है। पुरुषमें मस्तिष्क और स्त्रीमें हृदयका शासन होता है, अतः पुरुष अपने भाव एवं विचारका जितना अन्वेषण कर सकता है उतना स्त्री नहीं कर सकती। (माधुरी से)।

दोहा—देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़ै प्रीति न थोरि॥२३४॥

अर्थ—मृग (हिरन वा पशु), पक्षी और वृक्षोंको देखनेके बहाने बारंबार लौट-लौट (फिर-फिर) पड़ती हैं, रघुबीर रामचंद्रजीकी छबि देख-देखकर अनुराग कुछ थोड़ा नहीं (अर्थात् बहुत अधिक) बढ़ता जाता है॥ २३४॥

टिप्पणी—१ (क) जब चल दीं तब फिरकर रामजीको कैसे देखें। यदि फिरकर उनको देखतीं तो सखियाँ हँसतीं, अतः लज्जावश उनकी ओर देख नहीं सकतीं। इसलिए मृग, बिहंग और वृक्षोंको देखनेके बहाने पुनः पुनः फिरकर पीछे देखती हैं। [☞ माताका भय मानकर, अपनेको पिताके अधीन जानकर, बड़ा धीरज धरकर श्रीरामजीकी मूर्तिको हृदयमें ले आईं, तथापि मूर्ति त्यागी नहीं जाती, इसीसे पुनः पुनः फिरती हैं। मन उनकी छबिमें फँस गया है, हाथमें नहीं आता, इससे उसे समझानेकेलिये बारंबार फिरती हैं—(पांड़ेजी)। मृग बिहंग तरु साधारण उक्ति सामान्य शब्द हैं। बागमें पशु पक्षी वृक्ष सभी हैं। निगाह पीछे फिरती है, इस ढंगसे कि देखनेवाला समझे कि मृगादि देख रही हैं। इनके बहाने श्रीरामछबिका दर्शन करना, अपना इच्छित अभीष्ट साधन करना 'दूसरी पर्य्यायोक्ति' अलंकार है।] (ख)—जब श्रीरामजी फुलवारीमें आए तब मृगोंका वर्णन नहीं किया था और अब यहां 'मृग' को भी कहते हैं, इससे जाना जाता है कि इस समय कहीं से आ गए, इसीसे अपूर्व समझकर प्रथम मृगका ही बहाना किया तब बिहंगका बहाना किया कि देखो 'चातक, कोकिल, कीर, चकोरा। कूजत बिहग नटत कल मोरा'। तरुका मिष करती हैं कि 'लागे बिटप मनोहर नाना। बरनि बरनि बर बेलि बिताना' देखो वृक्ष कैसे फूले हुये हैं। (ग) एकही वस्तुका बहाना कई बार नहीं किया, यह सूचित करनेकेलिए कई चीज़ें लिखीं। बिहंग, मृग और तरु तीन बहाने किये, तीनोंकेलिए तीन बार लौटीं और तीन बार रामजीको देखा। इसीसे 'निरखि निरखि' पद दिया। अर्थात् जितनी बार फिरती हैं, उतनीही बार छबि देखती हैं। [(ग)'रघुबीर-छबि' में अर्थका श्लेष है। वीरताकी छबिका निरीक्षण करनेपर विश्वास हुआ कि ये अवश्य धनुष तोड़ेंगे, तब अपार प्रीति बढ़ी। (घ) पूर्वार्द्धमें अवहित्था संचारी भाव है। यथा 'अवहित्थाऽऽकारगुप्तिर्भवेद्भावेष केनचित्।' (वि० त्रि०)]

श्रीराजारामशरणजी—'आई कहांसे गर्दिशे (घुमाव) परकार पावोंमें' का कितना सुन्दर उत्तर है। 'र' अक्षर विचारणीय है। यह भी विचारणीय है कि बाग़ पार्कका सा बड़ा है, जहाँ इस तरह बार-बार फिरनेका मौक़ा मृगों बिहंगों और तरुवोंके देखनेके बहानेसे संभव है।

पाँडेजी—'देखने' से स्थूल और 'निरखि' से सूक्ष्म दृष्टि सूचित होती है। श्रीसीताजीने जो रघुनाथजीकी वीरता सुनी थी और देखनेमें कोमलता देखी, तो उस सुकुमारताने सीताजीके हृदयको दबा लिया,

जिससे वे अधीर हो गईं, यहां तक कि 'फिरी अपनपउ पितु बस जानें' । अतएव चलते समय उस अधीरता-को दूर करनेकेलिए वीरताकी छबि निरखि-निरखि रघुनाथजीकी ओर देखती हैं। अतः 'रघुबीर' पद यहाँ दिया। यहां वीरताहीका प्रयोजन है। वीरताकी छबि जिसे वे ढूँढ़ रही थीं वह मिल गई, इससे प्रीति अधिक बढ़ी। यदि उसे न पाया होता तो प्रीतिके बढ़नेका कारण न होता। प्रीति का उपजना पूर्व कहही आए हैं।

टिप्पणी—२ 'बाढ़ै प्रीति' का भाव कि प्रथम प्रीति उपजी थी। यथा 'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीत', अब वह बढ़ने लगी। जितने बार देखती हैं, उतनी बार बढ़ती है। ३ 'न थोरि' का भाव कि यह न समझो कि हर बार थोड़ी बढ़ती होगी, यह प्रीति थोड़ी थोड़ी नहीं बढ़ी किन्तु बहुत बहुत बढ़ती जाती है। अर्थात् पुलकावली होती है और रोम खड़े होते हैं।

नोट—रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि यहाँतक प्रीतिके विशेषणमें 'अधिक' और 'अति' विशेषण देते आए। अब प्रीतिकी सीमा पूर्ण होनेपर 'न थोरि' विशेषण देते हैं। अर्थात् अब प्रीतिकी पूर्णतामें न्यूनता लेशमात्रभी शेष न रह गई। वैजनाथजी लिखते हैं कि "ज्यों ज्यों राजकिशोरी घूमघूमकर देखती हैं, त्यों त्यों राजकुमारोंके निकट होते जानेसे शोभा विशेष दिखाई देती है। अतः 'बाढ़ै प्रीति न थोरि' कहा।"—(निकट कैसे हुए?)

जानि कठिन सिवचाप बिसूरति। चली राखि उर श्यामल मूरति ॥१॥

अर्थ—शिवजीके धनुषको कठिन जानकर हृदयमें साँवली मूर्तिको रखकर बिसूरती हुई चलीं ॥१॥

पं० रामकुमारजी—१ (क) बिसूरती चलीं कि धनुष कठोर है, कैसे टूटेगा? मूर्ति कोमल है। एक चरण में शिवचापकी कठोरता इत्यादि की चिंता और दूसरेमें श्यामल मूर्तिका हृदयमें बसाना कहकर दोनोंकी प्रबलता दिखा रहे हैं। न तो धनुषकी कठोरताका संदेह ही दूर होता है और न श्यामल मूर्ति ही त्यागी जाती है।—इन दोनोंका प्राबल्य सर्वत्र दिखाया है। यथा 'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पितु पनु मनु अति छोभा। २३४.४।"; 'धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें ॥२३४.८।" 'जानि कठिन…' (यहाँ); और 'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा।२५८। १।' (ख) श्रीरामजीकी शोभा और पिताका प्रण दोनोंकी प्रबलता लिखनेका भाव यह है कि जब श्रीराम-जीको देखती हैं तब प्रीति बढ़ती है, पर जब दशवीं दशाकी नौबत आने लगती है तब पिताके प्रणकी सुध आ जाती है जिससे वह दशा रुक जाती है, यही गुण है, यथा—'सो कुचालि सब कहँ भइ नीकी। अवधि आस सब जीवन जीकी॥ नतरु लखन सियराम बियोगा। हहरि मरत सब लोग कुरोगा॥ राम कृपा अवरेब सुधारी। बिबुधधारि भै गुनद गोहारी। २.३१७।' (ग) श्रीजानकीजी बार बार रामजीको उरमें ले आती हैं, इसीसे ग्रंथकारने भी बारंबार हृदयमें ले आना लिखा; यथा—'लोचन मग रामहि उर आनी', 'धरि बड़ि धीर राम उर आनी', और 'चली राखि उर श्यामल मूरति'। [बारबार हृदयमें लाना कहकर जनाया कि जब जब मूर्त्तिको हृदयमें धारण करती हैं तब तब शिवचापका स्मरण उसे आकर निकाल देता है। यथा—'लोचन मग रामहि उर आनी'; हृदयमें मूर्ति रक्खी वैसे ही 'सुमिरि पितापनु मन अति छोभा" बस प्रणका स्मरण होते ही मूर्ति बाहर निकल गई। पुनः, 'धरि बड़ि धीर राम उर आने' त्योंही 'जानि कठिन सिवचाप बिसूरति' ने आकर मूर्तिको फिर निकाल दिया। अतएव अब फिर मूर्तिको हृदयमें धरकर चलना कहा। (प्र० सं०)]

प० प० प्र०—'लोचन मग रामहि उर आनी' पूर्व २३२ (७) में कह आए। जब एक बार हृदय में ले आना कह चुके तब पुनः पुनः आगे हृदयमें ले आना कैसे कहते हैं। यथा 'धरि बड़ि धीर रामु उर आने। फिरी अपनपउ पितु बस जानें। २३४।८।'; 'निरखि-निरखि रघुबीर छबि। २३४।', 'चली राखि उर श्यामल

मूरति । २३५।१ ।', 'रघुबीरहि उर आनि । २४८ ।'--इसका कारण यही है कि हृदयमें ले तो आती हैं पर हृदयमें रहते नहीं हैं। धनुष पर ध्यान आता है तब सशंक होती हैं, वीरतापर दृष्टि जाती है तब विश्वास होता है और वे रघुवीरको हृदयमें रखती हैं। इससे सिद्ध होता है कि सीताजीमें अपने ऐश्वर्य की स्मृति नहीं है, वे राम और सकल-उर-बासी भगवान् को भिन्न समझती हैं। भवानीका आशीर्वाद शुभांगोंका स्फुरण और नारदजीका वचन इतने आश्रय मिले तो भी निश्चय नहीं हुआ कि श्रीरामजी धनुषको तोड़ सकेंगे। इसीसे तो यज्ञमंडपमें आनेपर भी गणपति, शिव, शिवचाप आदिसे विनय की है। क्या यह कामके विश्व विजयका लक्षण है? कितनी चंचलता, छिपाव, दीनता, निराशा! श्रीरामजीमें ये कोई बातें नहीं हैं। उन्हें आत्मविश्वास है। अब कहो कि मन किसने दिया है और विजेता कौन है? [शृङ्गारी टीकाकारोंके शृङ्गार-युद्धके उत्तरमें प्र० स्वामीजीके ये लेख चले आ रहे हैं। उसी उत्साहमें उन्होंने बहुत कुछ लिख डाला है। वस्तुतः माधुर्यका निर्वाह जैसा श्रीसीताजीके चरित्रमें है वैसा श्रीरामजीके चरित्रमें नहीं हुआ। वाल्मीकिजीने ठीक ही कहा है कि रामायणमें श्रीसीताजीका ही चरित्र महत्वका है। जैसा उनका चरित होना चाहिए वैसा ही हुआ है और जैसा श्रीरामजीका चरित्र इस प्रसंगमें होना चाहिए वैसा ही हुआ है; इसके विरुद्ध होता तो वह चरित दूषित हो जाता]।

नोट—'बिसूरति' के अनेक अर्थ महानुभावोंने किये हैं—१ सोचती, बिचारती, चिंता करती हुई। मनमें दुःख मानती हुई।—ये अर्थ श० सा० में दिये हैं। सं० विसूरण=शोक। २ मनमें विलाप करती हुई—(मानसांक)। ३—बि=दोनों (ओर की) + सूरति=सुरति (स्मरण) करती हुई - (वैजनाथजी)। ४-बिगत सूरत (अर्थात् उसकी असली सूरत न रह जाना) अर्थात् टूटा हुआ जानती हुई (पांड़ेजी)।

इन अर्थोंके अनुसार इस अर्द्धालीके भावार्थ क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

१ (क)—(पंजाबीजी)—"शिवजीके धनुषको कठिन जानकर चिंता करती हुई, वा प्रभुकी प्राप्ति एवं धनुषकी कठोरताको विचारती हुई, साँवली मूर्तिको हृदयमें धरकर चलीं (कि देवीसे वर माग लें कि इन्हींसे धनुष टूटे)।" (ख) पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'बिसूरति' का अर्थ विचार करना है। विचारमें अनेक बातोंकी कल्पना हुआ करती है। पर आगेके चरणसे यह विचार ज्ञात होता है कि यद्यपि शिवधनुष महाजड़ है, बड़े बड़े वीर हार गए हैं, तथापि इनकी वीरताके सामने हमारा कार्य्य इनसे अवश्य होगा; क्योंकि बुद्धि की दृढ़ताके कारण कई पाये जाते हैं। एक तो नारदवचन, दूसरे गिरिजाका विश्वास, तीसरे जिस सुकुमारतासे चित्तमें व्यामोह था उसके परदेके भीतर वीरताका पूर्ण दृश्य है। इस निश्चयात्मिका बुद्धिसे 'चली राखि उर स्यामल मूरति'। अन्यथा अर्थ करनेमें दोष आता है।" (ग) बाबू श्यामसुंदरदासजी लिखते हैं कि 'यहाँ संदेह होता है कि जो धनुषकी कठिनाईको जानती थीं तो चिंता करना व्यर्थ था और जो चिंताहीमें थीं तो फिर हृदयमें मूर्त्तिका धरना व्यर्थ था। इसका भाव इतना ही है कि सीताजीके मनमें जब रामचन्द्रजीकी ओर अधिक प्रीति बढ़ी तब उन्हें उनके पानेकी लालसा हुई। पर यह शिवधनुष टूटे बिना संभव न था, इसलिये उन्हें बड़ा सोच हुआ कि अब काम कैसे बने, पर वे कुछ निश्चय न कर सकीं। मनोकामनामें कठिनाई देखकर भी वे निराश न हुईं और रामचंद्रजीकी मूर्त्तिको अपने हृदयमें रखकर वहाँसे चलीं। आगे चलकर जब कोई उपाय न सूझा तो सीताजी "गईं भवानी भवन बहोरी।"

२ श्रीभाईजी श्रीहनुमान्प्रसादपोद्दारजी लिखते हैं कि—"शिवजीके धनुषकी कठोरताका स्मरण आनेसे उन्हें चिंता होती थी कि ये सुकुमार रघुनाथजी उसे कैसे तोड़ेंगे, पिताके प्रणकी स्मृतिसे उनके हृदयमें क्षोभ था ही, इसलिये मनमें विलाप करने लगीं। प्रेमवश ऐश्वर्यकी विस्मृति हो जानेसे ही ऐसा हुआ, फिर भगवान्के बलका स्मरण आते ही वे हर्षित हो गयीं और साँवली छबिको हृदयमें धारण करके चलीं।"

३ (क) "शिवचापको कठिन जानकर दोनों ओरकी सुरति करती हुई हृदयमें साँवली मूर्ति रखकर चलीं, अर्थात् एक ओर तो चापकी कठोरता, पिताके पन आदिपर ध्यान और विचार जाता है और दूसरी ओर हृदयमें रघुवीर छबिको बसाये होनेके कारण उनके बल, वीरता और प्रतापका स्मरण करती हैं।" (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि—"जब प्रीति अधिक बढ़ी तब जानकीजी अपनेको फिर सावधान करती हैं। इस तरह कि ये बड़े सुकुमार हैं, शिवचाप कठिन है, इसे कैसे तोड़ेंगे। फिर रघुबीरकी ओर देख विचारती हैं कि इन्होंने ताड़का सुबाहु आदिको मारा तो ये धनुष कैसे न तोड़ सकेंगे? फिर यह तर्क उठा कि ताड़का आदिके वधमें तो केवल बाणविद्याका प्रयोजन था, धनुषमें तो बल चाहिए, उसपर फिर इधर यह विचारा कि अहल्या इनकी पगधूरिहीसे तरगई तो इनके हाथोंमें इतना प्रभाव क्यों न होगा कि धनुष तोड़ सकें? इत्यादि, अनेक रीति से दोनों ओर चित्त जाता है।"

४ पांड़ेजी कहते हैं कि "धनुषको कठिन जानते हुएभी रामचंद्रजीकी साँवली मूर्तिको हृदयमें रखने-से धर्मकी सामान्यता पाई जाती है। अर्थात् सतीत्वधर्मके विरुद्ध होता है। इसलिये 'बिसूरति' का दूसरा अर्थ विगत सूरति वा टूटा हुआ ही अधिक संगत जान पड़ता है। इस तरह अर्थ यह होगा कि 'शिवजीके कठिन धनुषको टूटा हुआ जाना।' अथवा, यह अर्थ किया जाय कि रघुनाथजीकी वीरताके आगे चापको बिसूरते (टूटा हुआ) पाया, तो उनको अपना जान उनकी श्यामल मूर्ति अपने हृदयमें रखली।' अभी रामचंद्रजी धनुषके पास पहुँचे भी नहीं और सीताजीका यह निश्चय कर लेना कि धनुषको उन्होंने तोड़ दिया, 'आत्मतुष्टिप्रमाण अलंकार' है। (वीरकवि)।

५ (क) रा० प० प०—बिसूरति = विगत सूरत अर्थात् बेचैत होकर। (ख) रा० प्र०—कोई कहते हैं कि बिसूरति = भयावन। अथवा, 'बिसूरति चली' = देहाध्यास बिसार हुए चली। भाव यह कि श्रीराम-जीकी मूर्तिको अति कोमल जान और चापको कठिन मानकर चली।

इसी तरह मा० त० वि० में अनेक अर्थ दिये हैं जो बहुत क्लिष्ट समझकर मैंने नहीं लिखे हैं। ☞ यह शब्द तुलसी ग्रन्थावलीमें कई जगह प्रयुक्त हुआ है। यथा—(क) 'कहौ सो बिपिन है धौं केतिक दूरि। जहाँ गवन कियो कुँवर कोसलपति, बूझति सिय पिय पतिहि बिसूरि।' (गी० २.१३)। (ख) "नाम राम अरु लषन सुरारि निकंदन। रूप सील बल राम परिपूरन॥ समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन॥ २६॥ लागे बिसूरन समुझि पन मन बहुरि धीरज आनिकै। लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै।" (श्रीजानकीमंगल। यहाँ जनकमहाराजका बिसूरना कहकर फिर मनमें धैर्य धारण करना कहा है)। (ग) "कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति। कहि अस बचन सखिन्ह सन रानि बिसूरति। जो बिधि लोचन अतिथि करत नहिं रामहिं। तौ काउ नृपहि न देत दोसु परिनामहिं। ४६। अब असमंजस भएउ न कछु कहि आवै। रानिहि जानि ससोच सखी समुझावै।" (श्रीजानकीमंगल। यहाँ रानीका 'बिसूरना' कहकर फिर उसीका अर्थ आगे 'ससोच' शब्द देकर कर दिया है।)

इस तरह शब्द सागरमें दिये हुए अर्थही अधिक संगत प्रतीत होते हैं। यही अर्थ पं० रामकुमारजी और पंजाबीजीने किया है। वि० त्रि० भी 'बिसूर' का अर्थ 'खेद करना' कहते हैं। खिदर्बिसूरः। बिसूरइ खिद्यते। यहाँ चिन्ता संचारी है। चिन्ता सहित आना कहा 'कहँ गये नृपकिसोर मन चिंता', अब चिन्ता सहित जाना कहते हैं।

प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन[1] खानी॥२॥

---

१ कै—छ०, १७०४। गुन—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०।

अर्थ—सुख, स्नेह, शोभा और गुणोंकी खानि श्रीजानकीजीको जब प्रभुने जाते हुए जाना ।।२।।

नोट—१ श्रीरामचंद्रजी जानकीजीकी छबि देखते रहे थे, यथा 'मुखसरोज-मकरंद छबि करत मधुप इव पान'', जब जाते जाना तब उनकी मूर्ति हृदयमें रख ली। 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को चरितार्थ किया। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "मृग, विहंग और तरुके बहानेसे अभी तक फिर-फिर आती थीं, अब, जब जानकीजी 'चलीं राखि उर स्यामल मूरति'', तब रघुनाथजी जान गए कि अब न लौटेंगी, अब जाती हैं; तब उनको हृदयमें रक्खा''; इस कथनका तात्पर्य यह है कि जब साक्षात् देख पड़ती हैं, तब ध्यान क्यों करें, जब निगाहसे हटने लगीं तब उरमें बसाया।

२—रा० च० मिश्रजी लिखते हैं कि "प्रभु' शब्द ऐश्वर्य्य और सर्वशक्तिमत्ताका सूचक है और स्वामीका भी वाचक है। भाव यह कि श्रीसीताजीको स्वीकार कर लेनेके समय यह शब्द प्रयुक्त किया गया। इस प्रकरण भरमें यह शब्द और कहीं नहीं आया, केवल श्रीसीताजीके आगमन समयके प्रारंभमें और यहां अन्तमें भी यह शब्द देकर प्रभुकी प्रभुतासे इस प्रकरणको संपुटित किया है।'' अथवा, प्रभु शब्द इससे दिया कि अपना प्रभुत्व समझते हैं, जानते हैं कि हम धनुष तोड़ेंगे और जानकीजीको ब्याहेंगे; इसीसे 'परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही।' श्रीलमगोड़ाजीके भी विचार कुछ ऐसे ही हैं। (स्मरण रहे कि माधुर्य नाम 'जानकी' जनकसंबंधी दिया, ऐश्वर्य्यवाचक 'सीता' नाम न दिया, क्योंकि सीतावियोग तो कभी भी नहीं होता, उनका तो नित्य संयोग है)।

३ पांड़ेजी—पूर्व कह आये हैं कि "मुखसरोज-मकरंद छबि करत मधुप इव पान''। अब यहाँ दिखाते हैं कि मकरंद पान करनेमें कितने आसक्त हैं। जानकीजी चल दीं पर उनको सुध अब हुई जब वे फिर फिरकर आपको देखती हैं। पुनः, पूर्व जो सीताजीके संबंधमें कहा था कि 'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।' उसको श्रीरामजीकी दशामें चरितार्थ कर दिखा रहे हैं कि वे कैसे चकित हो गए हैं कि जैसे मृग दीपकको देखकर सब सुधबुध भूल एकटक खड़ा रह जाता है। यथा 'सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइ कै रूप दीपिका निहारि मृग मृगी नर नारि, बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइ कै। गी० १.८२.६।' (रंगभूमिमें श्रीसीताजीके आनेपर सब स्त्री-पुरुष रूपको देखकर इस तरह देहसुध भूल एकटक देखने लगे थे)—जब सावधान हुए तब जाना। क्या जाना? उनका लौटना जाना एवं जानकीजीको जाना (अर्थात् अभी तक तो सुधबुध भूले थे, इससे न जाना था अब जाना), जैसा जाना सो आगे कहते हैं—'सुख सनेह सोभा गुन खानि' हैं, यह जाना। ये चारों बातें दृष्टिमिलापसमय ही उनमें पाई थीं, परन्तु जान अब पड़ीं। (संग छूटनेपर मनुष्यके गुण याद आते हैं। जैसे मृग ज्यों ज्यों दीपकसे दूर होता जाता है त्यों त्यों सावधान होता जाता है)।

नोट—४ 'सुख सनेह सोभा गुन खानी' इति। सुखखानि हैं, यथा 'देखि सीयसोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा।' स्नेहकी खानि हैं, यथा 'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'। शोभाखानि हैं, यथा 'सुंदरता कहँ सुंदर करई'। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई'। गुणखानि हैं, यथा 'लोचनमग रामहि उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी'। पुनः, पांड़ेजीके मतानुसार "देखन मिस मृग बिहग तरु फिरै बहोरि बहोरि' यह चिह्न चतुराईका है और गुणका अर्थ 'चतुराई' है। 'गूढ़ गिरा सुनि सिय सकुचानी' यह भी गुण है। गूढ़ गिराका समझ लेना गुण है और मृगबिहंगादिके बहाने से देखना स्नेह और गुण प्रकट करता है।

५ श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि—"शुद्धाचरणसंबंधी विचार सराहनीय है। कविने सीताजीकी अलौकिक सुन्दरताके साथ केवल सुख और शोभा इन्हीं दो अंशोंकी व्याख्याकी पूर्ति की है।''' आगे गुण

और स्नेहकी खानि होनेका विश्वास कब और किस प्रकार शुरू हुआ। परन्तु स्मरण रहे कि ये सब शृंगार-की श्रेणियाँ हैं। स्नेह और गुणका विश्वास उत्पन्न होते ही गुणोंके मस्तिष्कीय अन्वेषणके पूर्वही विश्वास पूर्णरूपेण हो जाता है।

परम-प्रेम-मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही ॥३॥

अर्थ—परम-प्रेमकी कोमल स्याही बनाकर सुन्दर चित्तरूपी भीत (दीवार, पटल) पर (उनको वा उनके चित्रको) खींच लिया, चित्रित कर लिया ॥ ३ ॥

नोट—'चित्त भीती' १६६१ तथा भा० दा० इत्यादि में है। पांड़ेजीने 'चित्रभीतर' पाठ दिया है। 'चित्त भीती' पाठ शुद्ध है; क्योंकि 'चित्र' शब्द नपुंसकलिंग है जो भाषामें पुल्लिग माना जायगा। उसके साथ 'लीन्ही' क्रिया असंगत है। जो कहो कि किसको लिखा ? तो पूर्व चौपाईमें 'जब' पाठ है और 'जब' 'तब' का नित्य संबंध है, अतः दोनों अर्धालियोंका मिला हुआ अन्वय है। 'जानकी' यह पद कर्मकारक होकर 'लीन्ही' क्रियामें घटित है।

बाबा माधोदासजी रामायणी—"राजकुमारी कोमल हैं इससे रामजी उन्हें अपने 'चारुचित्र' पर खींचा चाहते हैं, जिसमें चित्राङ्गमूर्तिमें भी वही कोमलता आवे, इससे पराकाष्ठाका जो प्रेम है उसीको कोमल स्याही बनाया। पुनः, स्याही काली होती है परन्तु आप गौराङ्गिनी हैं और प्रेमका रंग स्वर्णकासा होता है, जैसा आपका वर्ण, वैसा ही प्रेमका। अतः प्रेम हीको स्याही बनाया था।"

पाँड़ेजी—"परम प्रेमहीको स्याही बनाया और उसपर भी उसे कोमल बनाया, यह प्रेमकी विशेषता है। श्रीजानकीजीकी मूर्ति और उनके अङ्ग कोमल हैं। यदि स्याहीमें किंचित् भी कठोरता होगी तो काम न चलेगा, उससे वह उनके अङ्गोंमें खेद उत्पन्न करेगी। अतः परम-प्रेम-मय कोमल स्याही बनाई। अर्थात् परम प्रेम पूर्वक उनको हृदयमें धारण कर लिया।"

पं० रामकुमारजी—१ (क) प्रीति रंग है, इसीसे यहाँ प्रेमको मसि कहा, यथा—'सखि रघुबीर मुख छवि देखु। चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु। गीतावली ७१६।' जानकीजीपर अत्यन्त प्रेम किया, यही प्रेमकी स्याही बनाना है। प्रेमसे जानकीजीको चित्तमें रक्खा, यही मूर्तिका लिखना है। (ख) प्रेमकी मसि बनानेका भाव यह है कि मूर्ति (चित्र) विना मसिके नहीं बनती, इसी तरह जानकीजी बिना प्रेमके हृदय में नहीं आतीं। 'लिख लेने' से सूचित किया कि अब जानकीजी श्रीरामचन्द्रजीके चित्तमें रातदिन रहेंगी। (ग)—'चारु चित्त भीती' का भाव कि जब भीति बहुत अच्छी होती है तब उसपर चित्र सुन्दर बनता है। श्रीरामजीका चित्त कोमल है, यथा 'कोमल चित कृपालु रघुराई।' इसीसे जानकीजीकी सुन्दर कोमल मूर्ति उसपर खींच ली।

मा० त० बि०—परम प्रेममय (अर्थात् सुरति-निरतिता-संपन्न) मृदु अर्थात् सहज योगको स्याही बनाया। चारु चित्त अर्थात् चित्तमें जो चारु अर्थात् बाणलिङ्ग है, यथा शिवसंहितायाम् "पद्मस्थतत्परं नेजो बाणलिंग प्रकीर्तितम्। तस्य स्मरणमात्रेण दृष्टादृष्टफलं लभेत्।"; उसमें लिख लिया। भाव कि तुम मुझे छोड़कर कहाँ जाओगी, तुम्हारी मूर्ति तो मेरे सुरतिसे बिसरनेकी नहीं।

बैजनाथजी—श्रीकिशोरीजीके अङ्ग कोमल हैं। चित्तमें कठोरतारूपी दूषण न आवे, इसलिये परम प्रेममय मृदु मसि अर्थात् कुंदनवर्ण कोमल स्याही बनाकर, सुमतिरूपी कलमसे मनरूपी चित्रकार द्वारा चित्तरूप सम सुवर चिक्कण निर्मल चमकदार भीतिपर हृदयके भीतर चारु अर्थात् सुन्दर सर्वाङ्ग सुठौर श्रीकिशोरीजीका चित्र लिख लिया।

☞ नोट—श्रीजानकीजीके संबंधमें कहा था कि 'चली राखि उर स्यामल मूरति', अर्थात् साँवली

साँवरो'। [बैजनाथजीका मत है कि "पहली बार वंदना-स्तुति रह गई थी, पूजा और ध्यान पूर्व ही कर चुकी थीं। ध्यानहीके समय सखी आ गई थी, इससे अब पूजाकी पूर्तिके लिये फिर आईं।" लमगोड़ाजीका मत है कि "श्यामल मूर्ति अब हृदयमें बस गई है पर मिलना कठिन जान पड़ता है, इसीसे देवीकी शरणमें फिर आईं।" ☞यह भी याद रहे कि श्रीसीताजीको नारदवचन याद आ चुका है—'सुमिरि सीय नारद बचन०', अतः उसीकी पूर्तिके लिये पुनः भवानीभवनमें गईं। (ख)—'भवानी' इति। मयंककारका मत है कि "यद्यपि वर्तमान सती ही हैं परंतु जानकीजीने पूजन गिरिजाजीका किया क्योंकि पतिनिमित्त गिरिजाहीका पूजन वेदविहित है। पुनः, भू (पृथ्वी) और भूधरसे अपनाइत है अर्थात् संबंध है। अतएव जानकीजीने अपनी अभिलाषा गिरिजाहीसे प्रकट की, क्योंकि वे भी उक्त प्रकार सम्बन्धी हैं। इसके अतिरिक्त जो कुछ जानकीजीको माँगना है सो सब गिरिजाहीमें है, सतीमें नहीं। अतः गिरिजाका पूजन करके जो प्रशंसासूचक विशेषण कहे वही माँगा।"] (ग)—'बंदि चरन' इति। चरणवंदन चौथी भक्ति है, यथा 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोःस्मरणं पादसेवनं'। हाथ जोड़नेसे देवता शीघ्र प्रसन्न होते हैं—"अंजली परमा मुद्रा क्षिप्रं देव प्रसादिनी", 'सकत न देखि दीन कर जोरे'। अतः 'बोली कर जोरी'। पदवंदन और करबद्ध प्रार्थनासे देवता भला मानते हैं, यथा "भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।" (विनय १३५)। [बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रथम चरणकी वंदना करके उन्होंने पूजाकी समाप्ति की। फिर विशेष प्रसन्नता हेतु हाथ जोड़कर स्तुति करने लगीं] ☞ कोई हाथ जोड़कर वन्दना वा बिनती करते हैं, यथा 'बिनती सचिव करहिं कर जोरी। जियहु जगतपति बरिस करोरी।', 'बिनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन' इत्यादि। कोई चरण पकड़कर विनय करता है, यथा 'सुनि सुबचन भूपति हरषाना। गहि पद बिनय कीन्ह बिधि नाना। (भानुप्रताप), 'करि बिनती पद गहि दससीसा। बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा', 'गहि पद बिनय कीन्ह बैठारी। जनि दिनकरकुल होसि कुठारी।' इत्यादि। और, कोई चरणोंमें प्रणाम कर तथा हाथ जोड़कर विनय करते हैं—यह विनयकी पूर्ण मुद्रा है। यथा 'बंदौ पद धरि धरनि सिर बिनय करौं कर जोरि।' तथा यहाँ 'बंदि चरन बोली कर जोरी'।

नोट—१ 'जय जय' में आदर और प्रेमकी वीप्सा है। स्तुतिकी रीति यही है कि जो स्तुति करे उसमें अपने आभ्यान्तरिक अभिप्रायके अनुसार विशेषणयुक्त विनय सुनाई जाय। ठीक वैसी ही विनय यहाँ है। सब विशेषण साभिप्राय हैं। लमगोड़ाजी भी लिखते हैं कि "हमारी स्तुतिमें बहुधा हमारे भावों का प्रतिबिंब होता है। श्रीसीताजीके सामने स्त्री-जीवनकी सभी अवस्थायें नाच रही हैं और देवीमें वे सब अवस्थायें मंगलमय हैं, इसीसे देवीकी उन सब अवस्थाओंका वर्णन स्तुतिमें है।" पांड़ेजीका मत है कि 'जय जय' शब्द याचनाका है। अपने मनोरथकी याचना करती हैं। अतः 'जय जय' कहा। रा० प्र० कार लिखते हैं कि सती और गिरिजा दोनों स्वरूप जनानेके लिये दो बार 'जय' शब्द दिया। प्र० स्वामी अर्थ करते हैं कि 'अपने ऐश्वर्य्यका उत्कर्ष प्रकट कीजिए'। सीताजी भव-शक्तिका प्रकटीकरण ही चाहती हैं। ('जय' के अर्थ विस्तारसे मानसपीयूषमें कहीं दिये गए हैं। सूचीसे पता लगेगा)।

टिप्पणी—२ (क) 'गिरिबरराजकिसोरी' कहकर पितापक्षकी श्रेष्ठता कही, पिताके सम्बन्धसे बड़ाई करती हैं और 'महेस-मुखचंद्र चकोरी' से पतिके सम्बंधसे बड़ाई की, तथा आगे 'गजबदन षड़ानन माता'से पुत्र-पक्षकी श्रेष्ठता, पुत्रके संबंधसे बड़ाई कही। इसी प्रकार निषादराजने श्रीजानकीजीकी बड़ाई की है, यथा 'पिता जनक जग-बिदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस-सखा रघुराऊ॥ रामचंद्र पति सो बैदेही। सोवति महि बिधि बाम न केही।' पर्वत परोपकारी होते हैं, यथा 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्ह कै करनी॥७.१२५।' गिरिबरराजकी कन्या कहकर सूचित करती हैं कि आप परोपकारीकी कन्या हैं अतः स्वयं

भी उदार और परोपकारी अवश्य होंगी । हमारा उपकार करनेमें आप समर्थ हैं । पुनः भाव कि गिरिराजके यहाँ अवतार लेकर आपको पतिकी प्राप्ति करनेमें जो कष्ट हुआ और प्राप्त होनेपर जो सुख हुआ उस सबका अनुभव आपको है । पुनः, आपने प्रतिकूल पतिको भी अनुकूल कर लिया था, मैं पिताके प्रणके कारण पीड़ित हूँ, मुझे श्रीरामजीकी प्राप्ति कराकर सुख दीजिये । (पाँड़ेजी इत्यादि) । (ख) 'गिरिबरराजकिशोरी'से उनकी उदारता और परोपकारता कही । 'महेश मुखचंद्र चकोरी' से जनाया कि आप महान् ईश्वर शिवजीकी सानुकूला हैं । जब 'महेश' ही आपपर प्रसन्न हैं तब आप क्या नहीं दे सकतीं ? [सब कुछ दे सकती हैं । इस शब्दको देकर कर्तव्यशक्तिकी अधिकता सूचित की (मुं० रोशनलाल) । (ग) "चकोरी चंद्रमाकी अनन्य प्रेमिका है । वैसेही आपमें पातिव्रत्य परिपूर्ण है । मैं भी पतिकी अनुकूलता, अनन्यता और पातिव्रत्य चाहती हूँ"—। (बैजनाथजी) । यहाँ 'परंपरित रूपक' है । अथवा, (घ) 'गिरिबरराजकिसोरी' का भाव यह कि जैसे हिमाचलने आपका पाणिग्रहण शंकरजीको कराया था वैसेही यह कृपा हो कि मेरे पिता मेरा पाणिग्रहण श्रीरामजीको करावें । (पं०) । पुनः (ङ) 'गिरिबरराजकिशोरी' से जन्म और 'महेस मुखचंद्र चकोरी' से अभूतपूर्व तपस्या कही । (वि० त्रि०)]

प० प० प्र०—(क) भाव कि आप जब गिरिबरराजकिशोरी थीं अपनी उस समयकी अवस्थाका स्मरण कीजिए । आप गिरिबरराजकिशोरी हैं और मैं विदेहराजकिशोरी हूँ । आपने अलौकिक तप किया था पर मेरे लिये तपका समय नहीं है, अतः आप अपनी तपस्याका कुछ अंश प्रकट कीजिए और वह अपना सामर्थ्य रघुवीरकी भुजाओंमें भर दीजिए । भगवान्‌ने आकाशवाणीद्वारा आपको आश्वासन दिया था, आप मुझको वर देकर महा धर्मसंकटसे बचाइये, यह उपकार कीजिए, इत्यादि । (प० प० प्र०) । (ख) 'जय महेसमुखचंद्र चकोरी' इति । 'सरद ससिहि जनु चितव चकोरी' श्रीसीताजी की यह दशा ही यहाँ प्रगट हो रही है । भाव यह है कि आप भी मेरे समान कुमारी-दशामें ही शिव-मुख-चंद चकोरी बन गई थीं । मैं रघुपति मुख-चंद्र चकोरी बनी हूँ; पर यह धनुर्भंगपर निर्भर होनेसे मैं सभीत, सचिन्त और धर्मसंकटमें हूँ । आपकी चकोरिता इच्छानुसार पूरी हुई जिससे आपको परम सुख हुआ । आप मुझपर कृपा करके अपना ऐश्वर्य प्रकट कीजिए जिससे रघुवीर ही धनुर्भंग कर सकें ।

जय गजबदन षडानन माता । जगतजननि दामिनि दुति गाता ॥६॥
नहिँ तव आदि अंत* अवसाना । अमित प्रभाउ बेदु नहिँ जाना ॥७॥

---

* 'आदि अंत अवसाना'—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, १७०४ (परंतु रा० प्र० में 'आदि मध्य अवसाना' है), मा० त० वि०, पं० राम कु०, वि०त्रि०, भा०दा० । आदि मध्य अवसाना—को० रा०, गी० प्र० ।

अवसान और अंत पर्याय शब्द हैं । पर पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'अंत' का अर्थ मध्य है । यहाँ 'अंतर' को 'अंत' कहा है । अंतिम अक्षर रकारका लोप हो गया है । संत श्रीगुरुसहायलालजीने अर्थ इस प्रकार किया है—"न तो आपका आदि है और न आपके अंतका अवसान अर्थात् हद है किन्तु आप अमित प्रभावरूपा हो ।" शब्दसागरमें 'अवसान' का अर्थ विराम, ठहराव और सीमा भी दिए गए हैं । साकेतवासी पं० शंभुनारायण चौबे (काशी ना० प्र० पुस्तकालयाध्यक्ष) ने भी 'अंत' पाठ लिया है । प्राचीनतम पोथीका यह पाठ है और न उसमें हरताल है न पाठान्तर । अर्थ भी ठीक लगता है । अतः हमने इस संस्करणमें उसीको रक्खा है ।

वि० त्रि० ने भी 'अंत' पाठ रक्खा है और भाव यह लिखा है—"आविर्भाव और तिरोभावका अंत वा समाप्ति नहीं, अर्थात् आपके अनन्त अवतार हैं । (वह जगन्मूर्ति नित्य है, उसीसे यह संसार व्याप्त है, फिर भी उसकी उत्पत्ति अनेक प्रकारसे सुनी जाती है । यथा "नित्यैव सा जगन्मूर्तिस्तया सर्वमिदं ततम् । तथापि तत्समुत्पत्तिर्बहुधा श्रूयतां मम) ।"

अर्थ--हे गजबदन गणेशजी और छः मुखवाले स्वामिकार्तिकजीकी माता ! हे जगन्माता जगदम्बे ! हे बिजलीकी कांतिके समान शरीरवाली ! आपकी जय !॥६॥ आपके आदि अंतकी सीमा नहीं है (अर्थात् आपके अनन्त अवतार हैं)। आपका प्रभाव अपार है, उसे वेद भी नहीं जानते ॥७॥

टिप्पणी--१ (क) 'जय गजबदन षडानन माता' इति। गजबदनको प्रथम कहकर सूचित किया कि गणेशजी बड़े हैं और षडाननजी छोटे हैं। (पर मानससे तो षडाननकाही जन्म प्रथम स्पष्ट है। विवाहके पश्चात् इन्हींका जन्म प्रथम हुआ)। 'जय जय गिरिवरराजकिसोरी' से 'षडानन माता' तक माधुर्य्य कहा, आगे 'जगतजननि०' से ऐश्वर्य्य कहते हैं। (ख) जब गिरिवरराजकिशोरी कहा तब (यह जाना गया कि कुँआरी हैं इससे) पतिका वर्णन किया, (केवल पतिसे जाना जाता कि सन्तान या तो है ही नहीं या उत्तम नहीं है इससे) तत्पश्चात् पुत्रोंको कहा (कि पुत्र कितने प्रतापशाली और तेजस्वी हैं। एक तो प्रथमपूजनीय हैं और दूसरे देवसेनापति हैं। ☞ जो स्त्री उत्तम कुलमें नहीं उत्पन्न होती, जो पतिव्रता नहीं है एवं जो पुत्रवती नहीं है, उसकी बड़ाई न वेदमें है न लोकमें। इन्हीं तीन बातोंसे स्त्रीकी बड़ाई होती है। इसीसे तीनों बातें कहकर प्रशंसा की।

नोट—१ गजबदन और कार्तिकेयकी माता कहनेके और भाव—(क) देवताओंने शिवजीको प्रसन्न कर वर माँगा कि 'राक्षसोंके कर्मोंमें विघ्न हुआ करे ऐसा कोई उपाय हो', तब शिवजीने पार्वतीजीके गर्भसे गजबदनको उत्पन्न किया। (लिंग पु० अ० १०४)। और, तारकासुरके वधके लिये शिवजीने आपसे विवाह करके षडाननको उत्पन्न किया। ऐसे पराक्रमी राक्षसोंके विघ्नकर्त्ता देवताओंकी उत्पत्तिका कारण आपही हैं तब धनुषके भंगमें रावणादि नाना कुटिल भूपोंके प्रति विघ्न कर देना और महान् कठोर धनुषको श्रीरघुनाथजीसे ही पराक्रम देकर भंग करवाना आपके लिये कौन बड़ी बात है ?

(ख) संसारमें जितने भी कार्य सिद्ध होते हैं उनके कर्त्ता तथा विघ्नहर्ता गणेशजी हैं और जितने सूरता-वीरताके कार्य सिद्ध होते हैं उनके सिद्धिके कारण कार्त्तिकेय हैं। इन दोनोंकी उत्पत्तिकी कारण आप ही हैं। [मुझे दोनोंका काम है। एक तो श्रीरामजीके द्वारा धनुषका टूटना, दूसरे उसके पश्चात् परशुरामादि वीरोंका मान मर्दन करना।—इसीसे दो कामोंके लिये दोनोंकी माता कहकर स्तुति की, नहीं तो एक पुत्रका नाम लेनेसे भी सबकी माताका बोध हो सकता था। (शीला, मा० त० वि०)]।

(ग) "गणेशजी सिद्धिसदन, विघ्नविहंडन और मंगलदाता हैं। षडाननने तारकासुरको संग्राममें मारकर देवताओंको अपने अपने लोकोंमें बसाया था। ऐसे प्रतापी तेजस्वी पुत्रोंकी आप माता हैं। हमारे मनोरथ सिद्ध कीजिए, धनुषरूपी तारकासुरका विघ्न श्रीरामजीके द्वारा मिटाकर हमारे मनोरथरूपी स्थानमें हमें बसा सकती हो।" (पाँड़ेजी)।

(घ) गजाननकी सूँड़में आपने विघ्नविनाशक शक्ति दी है, रामबाहु भी सूँड़के समान हैं, अतः उसमें भी शक्ति भर दीजिए जिसमें वे धनुष तोड़ सकें। 'षडाननमाता' का भाव कि सद्योजात बालकमें तारकासुरके वधकी दिव्य शक्ति आपने ही दी, अतः रघुवरबाहुसे धनुर्भंग करा देना आपके लिये सहज सुलभ है। (प० प० प्र०)।

(ङ) "आपके दो सबल प्रतापी पुत्र हैं, हमको ऐसे ही दो पुत्रोंकी आकांक्षा है। यह मनोरथ गीतावलीसे सिद्ध होता है, यथा 'राम कामतरु पाइ बेलि ज्यों बौंड़ी बनाइ, माँग-कोषि तोषि पोष फैलि फूलि फरिकै।' (१।७०) (वै०)।

टिप्पणी—२ 'गजवदन षडानन-माता' कहकर 'जगतजननि' कहनेका भाव कि आप कुछ इन्हीं दो की माता नहीं हैं, किन्तु जगत्‌भरकी माता हैं। यथा 'जगतमातुपितु संभु भवानी। १०३।४।' 'दामिनिद्युति गाता'

अर्थात् आपके सब अंग दिव्य हैं, प्रकाशमय हैं, आपका शरीर पांचभौतिक पंचतत्वोंका नहीं है।'जगतजननि' कहकर 'दामिनिदुति गाता' कहनेका भाव कि आप जगत्‌मात्रको अपने प्रकाशसे प्रकाशमान किए हुए हैं।

नोट—२ 'जगतजननि…' के और भाव—(क) "यदि आप कहें कि हमारा तुम्हारा क्या नाता ? तो उसपर (अपना नाता बताती हैं) कहती हैं कि आप जगन्माता हैं, मैं भी जगत्‌में हूँ और माता बच्चेकी रक्षा करती ही है, 'जिमि बालक राखै महतारी'। (पाँ०)। पुनः जगतजननी अर्थात् जगतको उत्पन्न करने वाली हो; अतः आपके लिये कोई कार्य कठिन नहीं। (रा० प्र०)। ☞ अपना कोई न कोई दृढ़ संबंध ईश्वरसे अवश्य लगाकर उस नातेके अनुसार बरतनेसे बड़ा सुख प्राप्त होता है। अनुभव करके देख लीजिये। अभीष्ट-सिद्धिके लिये नाता बड़ा ही प्रबल सहायक है और यों तो प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं, जिस तरह चाहें अपना लें। विनयके "तोहि मोहि नातो अनेक मानिये जो भावै। ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।" (पद ७९), इस पदमें भी नाता, नेह लगानेके लिये आवश्यक बताया है। (ख) 'दामिनि दुति गाता' का भाव कि अँधेरेमें कुछ नहीं सूझता, उसमें बिजलीकी दमक होती है तो रास्ता दिखाई पड़ता है। धनुष अन्धकार है, यथा 'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी।२३९।१।', जिससे हमें कुछ नहीं सूझता और न पिता ही को कुछ सूझता है—'समुझत नहिं कछु लाभ न हानी'। उस अन्धकारको अपने प्रतापरूपी प्रकाशसे मिटा दीजिए। जनकका घोर अज्ञान दूरकर उनको मेरे मनोरथके अनुसार बुद्धि दीजिए।"—(मा० त० वि०)। (प्र० सं०)। पुनः भाव कि जैसे दामिनि और मेघका सदा संयोग है और आपको सदा पतिका संयोग है, वैसे ही मुझे पति-संयोग दीजिये। अथवा, 'दामिनीसे द्युति ऐसा शरीरमें सौंदर्य है तथापि आपमें ऐसा सत्त्व है कि सारा जगत् आपको जननीवत् देखता है, वैसे ही हमको भी सत्व दीजिए।' (वै०)। पुनः भाव कि "दामिनीके समान आपके शरीरकी द्युति है (और दामिनि घनघोरामें रहती ही है) अतः आप श्रीजनकजीको एवं उनके सभासदोंको 'घन घोरा' (बहुत सघन) ज्ञान दें जो मेरे मनोरथानुसार हो।" (मा० त० वि०)। पुनः भाव कि आपका जो विद्युत-समान प्रचंड तेज, सामर्थ्य, इत्यादि है उसे रघुबरबाहुमें भर दीजिये जिससे वे एक निमेषमें अशनिपातके समान भयंकर ध्वनि युक्त धनुर्भंग कर सकें। और जबतक और लोग उठावें तबतक धनुषमें सौ दामिनिका तेज भर दीजिए कि और लोग उसे छूते ही मृतप्राय हो जायँ। (मा० त० वि०)।

टिप्पणी—३ 'नहिं तव आदि अंत अवसाना।०' इति। (क) 'गिरिवरराजकिशोरी' से आदि (अर्थात् जन्म), 'महेशमुखचन्दचकोरी' से मध्य (अर्थात् युवावस्था) और 'गजबदन षडानन माता' से अंत पाया गया। कार्य होनेपर कारणका अंत है। इसीसे उसका निराकरण करती हैं कि आपका आदि मध्य अन्त कुछ भी नहीं है। अर्थात् यह सब आपकी लीला मात्र है, वास्तवमें आप ब्रह्म ईश्वरी हैं। ईश्वरकी ईश्वरता वर्णन की तब आदि मध्य अन्त कैसे कह सकते हैं ? ईश्वरका आदि, मध्य, अंत नहीं है। ईश्वरका स्वरूप ऐसा ही है। (ख) पुनः, [प्रथम दक्षके यहाँ जन्म, यज्ञमें शरीरत्याग, तब गिरिराजके यहाँ जन्म, फिर ब्याह, फिर जननी होकर वृद्धा हुईं, इत्यादिसे 'आदि अंत अवसान' जाना जाता है पर वस्तुतः यह आपका खेल है, यथा 'अजा अनादि सक्ति अबिनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि। जगसंभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ ६८।३-४।' (प्र० सं०)। पुनः भाव कि 'आदिमें काली, मध्यमें सती, अंतमें गिरिजा इत्यादि आपकी लीला मात्र है, आप सदा एकरस शिवजीकी अर्धाङ्गनिवासिनी हैं। अथवा, भाव यह कि आप आदिमें किस रीतिसे कब उत्पन्न हुईं, मध्यमें क्या लीला करती हैं, अन्तमें कबतक करती रहेंगी तथा आपका अमित प्रभाव वेद नहीं जानते। (वै०)] (ग) 'अमित प्रभाउ' अर्थात् जितना मैंने कहा इतना ही नहीं है वरंच आपके प्रभावकी कोई मिति नहीं है। 'वेद नहिं जाना' अर्थात् वेद भी आपके प्रभावको अमित कहते हैं। (अतः आज मेरे लिए उस प्रभावको प्रकट कीजिए)।

वि० त्रि०—वेद नहीं जानते क्योंकि आप उनकी भी आधारभूता हैं। यथा "शब्दात्मिका सुविमलर्ग्यजुषां निधानमुद्गीतरम्यपदपाठवतां च साम्नाम्।" ब्रह्मा-विष्णु-महेश उद्भव पालन संहार आपके प्रतापसे करते हैं।

भव भव बिभव पराभव कारिनि। बिस्वबिमोहनि स्वबसबिहारिनि ॥८॥

अर्थ—आप भव (संसार) को भव (उत्पन्न), पालन और संहार करनेवाली हैं। विश्वको (अपनी मायासे विशेष) मोहित करनेवाली और स्वतंत्ररूपसे विहार करनेवाली हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'जगत जननि' कहा। उससे पाया गया कि जगत्‌को उत्पन्न भर करती हैं उसका पालन और संहार नहीं करतीं, उसीपर कहती हैं कि आप 'भव, विभव और पराभव तीनों करती हैं। 'नहिं तव आदि अंत अवसाना' के पश्चात् 'भव भव०' कहकर जनाया कि आपका आदि मध्य अंत नहीं है परंच आपसे जगत्‌का आदि मध्य अन्त है। (ख) 'बिस्व बिमोहनि' हो अर्थात् मायारूपा हो। 'स्वबसबिहारिनि' अर्थात् आपका स्वतंत्र विहार है, आपका विहार कालकर्मादिके वश नहीं है, यथा 'जग संभव पालन लयकारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि।' (ग) पुनः, 'भव भव बिभव०' से जनाया कि ब्रह्मा विष्णु और महेश तीनों आप ही हैं। (घ) ☞ जब ऐश्वर्य्य कहा तब ईश्वरके जो कर्म हैं, उद्भव, स्थिति, संहार, सो भी कहना योग्य है। 'उत्पति पालन प्रलय समीहा' ये ईश्वरके काम हैं।

नोट—'भव भव···बिहारिनि' के और भाव—(१) "बिभव=ऐश्वर्य, शक्ति। विभवकारिनि हो अर्थात् कर्मानुसार फल देकर लोकोंके जीवोंका पालन करनेवाली हो, स्ववशविहारिणी हो अर्थात् किसीके वशमें नहीं हो, अतएव हमारा मनोरथ पूर्ण करनेमें सब प्रकार समर्थ हो। स्तुतिमें विशेष ऐश्वर्य वर्णन करना साधारण रीति है। अथवा, कहीं पार्वतीजी यह न कहें कि सर्वेश्वरी होकर हमसे याचना करती हो, इसलिये उनका बोध कराती हैं कि नैमित्तिक लीलाकी ऐसी ही रीति है, क्योंकि आप भी ऐसी ऐश्वर्यवाली हैं पर नैमित्तिक लीलामें देह भस्म करना, तप करना आदि लीलाएँ आपने भी की हैं। वैसेही मेरा भी लीला-प्रकरण जानिए।" (वै०)।

(२) मा०त०वि०—उत्पत्ति करती हो इससे जनकका चित्त हमारे चित्तके अनुसार कर दो। पालन करनेवाली हो तो मेरे कार्य्यका पालन करो। नाश करनेवाली हो तो धनु-को भंग करवा दो। विश्वमोहिनी हो तो मोहनशक्तिसे मेरा मनोरथ पूर्ण करो। स्ववश-विहारिणी हो तो शिवचापके भंगमें लिहाज न करो।'

(३) 'विश्वमोहनी' हो अतः पिता ऐसे ज्ञानी जो मोहमें पड़े हैं तो आश्चर्य्य क्या? उनके मोहको हटाइए, जिससे वे प्रतिज्ञा छोड़ दें। 'स्वबसबिहारिनि' से जनाया कि हमारे ललाटमें न हो, उसे भी आप दे सकती हैं, प्रतिकूल अंकोंको मिटा सकती हैं। इस तरह सब प्रकारसे स्वतंत्रता और सामर्थ्य जनाया। (मा०)

(४) "'स्वबसबिहारिनि' शब्दमें अभिप्रेत फलकी कामना व्यंजित होनी गूढ़ व्यंग है कि जैसे शंकर-जीके साथ आप स्वतन्त्र विहार करती हैं, वैसा मुझे आशीर्वाद दीजिए कि मैं भी रामचंद्रजीके संग स्वच्छंद विहार करूँ।"

(५) 'स्वबसबिहारिनि' कहनेका भाव कि हमारा मनोरथ जो परवश है उसे स्ववश कर दीजिए। (रा०प्र०)।

प० प० प्र०—'भव भव···' इति। (क) भाव कि तीन परस्पर विरोधी कार्योंको आप कर सकती हैं। अतः रघुवीरके शरीरमें धनुदमनीय तेज प्रतापकी उत्पत्ति, मेरे पातिव्रत्य और पितृकुल-कीर्त्तिका पालन तथा अन्य वीरोंके तेज प्रताप-बलका एवं भवके धनुषका संहार करना आपको क्या दुष्कर है? यह तो आपके लिये एक खेल-सा है। भव भव=भव (शिवजी) से जिसका भव (उद्भव) है=शिवचाप। भव भव बिभव पराभव=शिवचाप के विभव (ऐश्वर्य) को पराभव (विनाश)। कारिनि=करनेवाली (आप ही हुजिए)। (ख) 'बिश्वबिमोहनि'—भाव कि अन्य वीरोंको ऐसा मोहित कीजिए कि उनमें धनुष उठानेकी

शक्ति न रह जाय। (ग) 'स्वबसबिहारिनि' का भाव कि आपके 'स्व' (पति) आपके वशमें हैं और आप उनके साथ सदा विहार करती हैं, मुझे भी वैसा ही सुख प्राप्त कर दीजिए।

नोट—श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि 'भव भव बिभव पराभव' में वह अंश दैवीसत्ताका है जहाँतक विज्ञानकी पहुँच है, 'बिश्वबिमोहनि' तक कला पहुँचती है, परन्तु उसके स्ववशविहारको अनुमानसे धर्म ग्रन्थ ही जानते हैं। हाँ, वास्तवमें तो वही स्वयं जाने तो जाने, या वह जाने जिसे वह जना दे। सच पूछिए तो इससे संक्षिप्त व्याख्या दैवीसत्ताकी और हो ही क्या सकती है?

दोहा—पतिदेवता सुतीय महुँ मातु प्रथम तव रेख।
महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष॥२३५॥

शब्दार्थ—पतिदेवता = पतिही जिनका इष्टदेव है = पतिव्रता।

अर्थ—पतिको अपना इष्टदेव माननेवाली उत्तम (अर्थात् पतिव्रता) स्त्रियोंमें, हे माता! आपकी प्रथम गणना (पहली गिनती) है। हज़ारों सरस्वती और शेष भी आपकी अपार महिमाको कह नहीं सकते॥ २३५॥

टिप्पणी—१ 'नहिं तब आदि अंत अवसाना। अमित प्रभाउ०' यह ऐश्वर्यका माहात्म्य है। आदि मध्य अंत रहित होना ऐश्वर्य्य है। और 'पतिदेवता···सेष' यह माधुर्य्यका माहात्म्य है। पतिव्रता होना माधुर्य्य है। दोनों रूपोंका माहात्म्य बराबर दिखाती हैं।—

	ऐश्वर्य्य	माधुर्य्य
१	अमित प्रभाव	महिमा अमित
२	कोई जान नहीं सकता ('वेद नहिं जाना')	इसे कोई कह नहीं सकता ('न सकहिं कहि०')

☞तात्पर्य्य कि निर्गुण कहते नहीं बनता। वहाँ वाणीका गमगुज़र (प्रवेश) नहीं है। और माधुर्य्य-में कथन है पर महिमा अमित है; इसीसे कहनेवालोंमें श्रेष्ठ शेष और शारदा, सो एक क्या हज़ारों भी जुट जायँ तो भी, नहीं कह सकते। शारदा स्वर्गकी और शेष पातालके वक्ता ही जब नहीं कह सकते तो मर्त्य-लोकमें कौन है जो कह सके? दोनों रूपोंका माहात्म्य कहा, इसीसे दोनों जगह माहात्म्य लिखा।

नोट—१ पूर्व 'अमित प्रभाव बेद नहिं जाना' कहा और यहाँ 'महिमा अमित न सकहिं कहि सहस सारदा सेष।' कहते हैं। अर्थात् जब प्रभावको अमित कहा तब वेदोंका न जानना कहा और जब महिमाको अमित कहा तब कहते हैं कि शारदा शेष नहीं कह सकते। इस भेदका कारण यह है कि ऐश्वर्य्यके संबंधसे प्रभाव निर्गुण स्वरूपका कहा गया, और निर्गुण (अव्यक्त) स्वरूप रेखरहित है, इसीसे उसका प्रभाव कथनमें नहीं आ सकता, केवल अनुभवसे जाना जा सकता है; यथा—'सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद। १.५०।" अतः प्रभावके साथ 'बेद नहि जाना' कहा। और, माधुर्य्य के संबंधसे महिमा सगुण स्वरूपकी है जो मन और बुद्धिका विषय है अर्थात् कही जाती है, परन्तु अमित है, अकथनीय है, अतः महिमा के साथ 'न सकहिं कहि' कहा। (प्र० सं०)।

२ 'जय महेस मुखचंद चकोरी' यह पातिव्रत्यधर्म प्रथम कह आई, अब यहाँ उसीकी बड़ाई करती हैं कि पतिव्रताओंमें आपकी प्रथम गणना है। (पं० रा० कु०)।

वैजनाथजी—जो जिस चीज़का आचार्य्य होता है उसीसे वह वस्तु सीखी जाती है। आप पतिव्रता-ओंकी मुख्य आचार्य्या हैं; अतएव आपसे पातिव्रत्यधर्म लेना चाहती हैं। 'प्रथम रेख' अर्थात् यह मार्ग आप ही के द्वारा प्रसिद्ध हुआ। आपहीने इस मार्गपर आरूढ़ हो कर दूसरोंको यह मार्ग दिखाया, यहाँ तक

कि शिवजीने आपको अर्धाङ्गिनी बना लिया। हमको भी इस मार्गपर आरूढ़ कर दीजिए। 'महिमा अमित' अर्थात् स्तुति द्वारा आपकी महिमा भला कौन और क्योंकर कह सके ?

नोट—३ स्त्रियाँ 'पतिदेवता' के ही संबंधसे 'सुतिय' हैं। यहाँ 'पतिदेवता सुतीय···' कहकर स्तुति करनेका भाव यह है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको मनसे वरण कर चुकीं, अपना पति बना चुकी हैं—'चली राखि उर स्यामल मूरति'; अतः जनाती हैं कि जैसे आप शिवजीको मनसे पति मानकर उस व्रत पर दृढ़ रहीं, वैसे ही मुझपर ऐसी कृपा कीजिए कि मेरा पातिव्रत्यधर्म निबह जाय। (रा० प्र०)। पतिव्रताशिरोमणिको पतिव्रताकी सहायता करनी ही चाहिए।

नोट—४ इस ग्रंथमें जगदाचार्य श्रीमद्गोस्वामीजीने स्त्रीके लिये पतिहीको इष्टदेव बताया है। यथा 'एकइ धर्म एक व्रत नेमा। काय बचन मन पति पद प्रेमा। ३.५.१०।", "नारि धरम पतिदेउ न दूजा ।१०२।३।" और बताया है कि पातिव्रत्यका ही पालन करके स्त्री परम गतिको प्राप्त कर लेती है, यथा— "बिनु श्रम नारि परम गति लहई।···सहज अपावनि नारि पति सेवत सुभ गति लहइ। ३।५।"

कुछ लोग इसमें संदेह करते हैं कि 'प्राकृत पतिकी सेवासे स्त्री परमगति क्योंकर पा सकती है ?' पर मेरी समझमें इसमें संदेहकी कोई बात नहीं है। जैसे जगत् मात्रको ब्रह्मका स्वरूप कहा गया है— 'बिश्वरूप रघुबंसमनि। ६.१४।', 'सर्व सर्वगत सर्व उरालय।···७.३४।", 'सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।४.३।', 'यस्य जगत् शरीरं' (श्रुति)। ब्रह्म चिदचिद्विशिष्ट है। गुरुजी ब्रह्मका रूप कहे ही जाते हैं। लीलास्वरूपोंमें ब्रह्मका ही विश्वास किया जाता है। पत्थर, ईंट, खम्भ, श्वान, आदिमेंसे भगवान् प्रकट ही हुए। सिलपिल्ले भगवान्, विट्ठल भगवान्की कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। नामदेवके लिये भगवान् प्रेतमेंसे, कुत्तेमेंसे, अग्निमेंसे प्रकट ही हुए। प्रह्लादजीने भगवान्को खम्भेमेंसे प्रकट कर उनकी सर्वव्यापकता सिद्ध कर दी। तब मनुष्य-पतिको भगवान्का स्वरूप मानकर उनको इष्टदेव मानकर जो उनकी सेवा करेगी, उसको परम पदकी प्राप्ति क्यों न होगी ? अवश्य होगी। यदि ऐसा न हो तो मूर्त्तिपूजन, लीलास्वरूप आदिमें निष्ठा ही व्यर्थ हो जायगी। श्रीअनुसूयाजी, श्रीअरुन्धतीजी, श्रीसावित्रीजी इत्यादि परम सतियोंकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं।

"पतिको पतिव्रता परमेश्वर ही जानकर पूजती है। पत्थरमें परमात्माकी भावना करके जैसे भक्त एक पत्थरके टुकड़ेको परमात्मा बना ही छोड़ता है, वह उससे उस रूपमें ही रीझते हैं। उसी तरह अधमसे अधम मनुष्य-पतिको पतिव्रता अपने सतीत्वसे परमेश्वर बना देती है, उसे वैकुण्ठ (परधामको) पहुँचा देती है और आप भी उसी लोकको जाती है। जलंधर और वृन्दाकी कथा प्रमाण है।" (गौड़जी)।

सेवत तोहि सुलभ फल चारी। बरदायनी[१] पुरारि पिआरी ॥ १ ॥

देवि पूजि पद-कमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होहिं सुखारे ॥२॥

अर्थ—हे वरकी देनेवाली ! हे त्रिपुरके शत्रु शिवजीकी प्रिये ! आपकी सेवा करते ही चारों फल सहज ही प्राप्त हो जाते हैं ॥ १ ॥ हे देवि ! आपके चरणकमलोंका पूजन कर-करके देवता, मनुष्य और मुनि सभी सुखी होते हैं ॥२॥

टिप्पणी—१ "सेवत तोहि सुलभ फल···" इति। (क) सब प्रकारकी बड़ाई करके अब उनकी उदारता कहती हैं। उदारता कहकर अपना प्रयोजन कहेंगी। [(ख) "सेवत तोहि सुलभ"—'सेवत' से दीन अर्चीमार्ग सूचित किया। अर्थात् मानरहित दासदासी आदि भावसे प्रेमपूर्वक इष्टपरिचर्य्या करनेसे। (वै०)। "सुलभ फल चारी"—भाव कि चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है, पर आपकी सेवासे वे सब सुलभ

१ बरदाइनि त्रिपुरारि—१७०४। बरदायनी पुरारि—१६६१, १७२१, १७६२।

हैं। वा, आपकी सेवासे सब फल सुगमतासे प्राप्त हो जाते हैं, उनकी प्राप्तिमें खेद, कष्ट वा कठिनता नहीं होती, औरोंकी सेवासे ये कठिनतासे प्राप्त होते हैं। (प्र० सं०, पां०)। पुनः भाव कि औरोंकी सेवाका फल एकमात्र आपकी सेवासे प्राप्त हो जाता है। सेवासे प्रसन्न होकर आप अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों फल सेवकको प्राप्त कर देती हैं। पुनः भाव कि मैंने भी आपकी सेवा की है तब मेरे मनोरथकी सिद्धिमें आप विलंब क्यों कर रही हैं। (रा० प्र०)। जगदम्बाके पूजनके बिना चारों फलोंकी प्राप्ति दुर्लभ है। यथा 'यो न पूजयते नित्यं चण्डिकां भक्तवत्सलाम्। भस्मीकृत्यास्य पुण्यानि निर्दहेत् परमेश्वरी।' (अर्थात् जो भक्तवत्सला चण्डिकाकी पूजा नित्य नहीं करते उनके पुण्यकर्मोंको परमेश्वरी जलाकर भस्म कर देती है। (वि० त्रि०)]

(ग) "बरदायनी" इति। श्रीजानकीजीने प्रथम ही पूजा करके वर माँगा था; यथा 'पूजा कीन्ह अधिक अनुरागा। निज अनुरूप सुभग बरु माँगा। २२८।६।' (पर उसी समय वह सखी आ गई थी जिसने दोनों राजकुमारोंको बागमें देखा था। और सबकी सब उसके साथ राजकुमारोंको देखने चल दी थीं। गिरिजाजीने उस समय 'एवमस्तु' आदि कुछ भी न कहा था। कारण कि नारदजीका वचन भी सत्य करना था कि मनमें जिसको बसा लेंगी वह 'वर' मिलेगा।) अतः 'बरदायनी' कहकर जनाती हैं कि (आप वर देनेवाली हैं। मैंने पूर्व ही वर माँगा था पर अभीतक वह मिला नहीं है) अब मुझे वर मिले। ('बरदायनी' में 'वर' से दूलह अर्थ भी निकलता है)। [पुनः, चारों फल आपकी सेवासे सुलभ हो जाते हैं यह कहकर उसका कारण दूसरे चरणमें बताती हैं कि आप 'बरदायनी' हैं अर्थात् अर्थ-धर्म-काम तीन फलोंको तो स्वाभाविक ही आप देती हैं और 'पुरारि-पिआरी' होनेसे मोक्ष भी प्राप्त कर देती हैं। (वै०)] पहले 'सेवत' लिखकर तब 'बरदायनी' कहनेका भाव कि सेवा करनेसे चारो फलोंकी प्राप्ति कर देती हो।

नोट—१ "पुरारि-पिआरी" के भाव—(क) शिवजीके प्रति गौरीजीका प्रेम कह आई हैं, यथा 'जय महेस मुखचंद चकोरी'। (चकोरीका प्रेम चन्द्रमामें है पर चन्द्रमाका प्रेम चकोरीमें नहीं है। अर्थात् चकोरी की प्रीति एकाङ्गी है। इससे यह संदेह हो सकता है कि आपका भी प्रेम एकाङ्गी है, शिवजीको आप प्रिय नहीं हैं। इस संदेहके निवारणार्थ 'पुरारि पिआरी' कहकर शिवजीकी भी प्रीति गिरिजाजीमें कही। इस प्रकार दोनोंमें परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया। (ख) जैसे शंकरजीने त्रिपुरासुरको मारकर सुर, नर, मुनि सबको सुखी किया, वैसे ही आपके चरणकमल पूजकर सुर-नर-मुनि सब सुखी होते हैं, क्योंकि आप शिवजीको प्यारी हैं। (पं० रा० कु०)। (ग) त्रिपुरासुरके निवासके तीन स्थान थे, वैसे ही यहाँ श्रीरघुनाथजीसे वियोग करानेवाले मेरे शत्रुके तीन स्थान हैं—श्रीरामजीकी सुकुमारता, पिताका प्रण और धनुषकी कठोरता। ऐसे शत्रुसे छुटकारा पानेका वरदान मुझे दीजिए, क्योंकि आप 'बरदायनी' हैं। (पां०)। (घ) अध्यात्म रामायण और हनुमन्नाटकके मतानुसार शंकरजीने इसी धनुषसे त्रिपुरासुरका वध किया था, यथा "ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम्"। (अ० रा० १०६), "भव्यं यत्त्रिपुरेन्धनंधनुरिदम्। हनु० १।३४।" इस संबंधसे भी 'पुरारि' विशेषण दिया गया, यथा 'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राज समाज आज जेहि तोरा। २४९।३।', 'धनुही सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार। २७१।', 'घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु।' (गी० १।८७)। इस संबंधसे 'पुरारि पिआरी' का भाव यह है कि आप उनकी प्यारी हैं, उनसे सिफ़ारिश कर दें कि वह धनुष श्रीरामजीके लिये हलका हो जाय। (ङ) शिवजीने त्रिपुरका नाश करके तीनों लोकों को सुखी किया था। आप उनकी प्यारी हैं, अतः आप धनुषका विनाश (श्रीरामजीके हाथसे) कराकर मुझे क्यों न सुखी करेंगी। (रा० प्र०)। (च) आप जैसे पतिको प्यारी हैं वैसे ही मनभावती पतिकी अनुकूलता मुझे भी दीजिए। इस शब्दमें भी चारों फलोंके दातृत्वका लक्ष्य है। (वै०)। (छ) जब स्त्री और पुरुष दोनों दानी हों तब दातव्य वा दान यथार्थ निभता है, इसीसे कहती हैं कि दोनों दानी हैं; अतः आप

मुझे वर देंगी तो शिवजी भी प्रसन्न होंगे। (शीलावृत्त)। (ज) पुरारिका यह धनुष है और (पूर्व कहा जा चुका है कि) पुरारिने ही यह प्रतिज्ञा जनक महाराजसे कराई है, आप उनकी प्रिया हैं, अतः धनुर्भङ्गका उपाय स्वयं कर दें या उनसे करा दें।

टिप्पणी—२ (क) 'सेवत तोहि सुलभ फलचारी' प्रथम कहकर अब चारोंके अधिकारी कहती हैं। सुर नर मुनि सब सुखी होते हैं अर्थात् आप सबके मनोरथको पूर्ण करती हैं। सब चारों फल पा जाते हैं। आप सबके मनोरथ जानकर सबको सुखी करती हैं, अतएव मेरा भी मनोरथ पूर्ण कीजिए। [(ख) चारों फलका विभाग करते हैं। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चार फल हैं। सुर अर्थ प्राप्त करते हैं। क्योंकि उन्हें स्वार्थसिद्धिकी ही चाह रहती है, यथा 'आये देव सदा स्वारथी। ६।१०६।', 'हम देवता परम अधिकारी। स्वारथ रत०। ६।१०६।'; नर कामना प्राप्त करते हैं, यथा 'मन कामना सिद्धि नर पावा। ७।१२६।' और मुनि मोक्ष पाते हैं, यथा 'करि ध्यान ज्ञान बिराग जोग अनेक मुनि जेहि पावहीं। ३।३२।', 'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहि भेद भगति बर लयऊ। ३।६।' रह गया 'धर्म' सो मेरा मनोरथ है, पातिव्रत्य धर्म मुझे प्राप्त कर दीजिए। साँवली मूर्तिको मैं पति मान चुकी, अब आप मेरे धर्मकी रक्षा करें। यह भाव पाँड़ेजीने लिखा है। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि स्तुतिमें कहती हैं कि चारों फलोंकी प्राप्ति होती है और यहाँ इस विभागमें एक ही एक फलकी प्राप्ति रह जाती है इससे यह भाव शिथिल है। (ग) 'सेवत तोहि' कहकर तब 'देवि पूजि०' कहा, एक ठौर सेवा दूसरी ठौर पूजा। कारण यह कहते हैं कि 'सेवा' शान्त-रूपकी बनती है, तीक्ष्णरूपकी सेवा कठिन है। अतः जब 'सेवत' कहा तब 'सुतीय पतिदेवताओंमें शिरोमणि' कहकर 'मातु' संबोधन दिया। और पूजा किंचित् कालका नियम है। पूजामें सब रूपोंका निर्वाह होता है, इसलिये यहाँ 'देवि' संबोधन दिया। (वै०)। (घ) 'सब होहिं सुखारे' अपनी कामनाके अनुसार स्वभाव वर्णनमें 'अर्थान्तरसंक्रमित अगूढ़ व्यंग' है कि सभी सुखी होते हैं तो मेरे भी मनोरथ पूरे होंगे। (वीर)]

वि० त्रि०—उपास्यके गुण जब उपासकमें आवें तभी समझना चाहिए कि ठीक उपासना हुई।

उपास्य	उपासक	उपास्य	उपासक
गिरिराजकिशोरी	१ बिदेहकुमारी	अमित प्रभाव बेद नहिं जाना	७ तवप्रभाव जगविदित न केही
महेस मुखचंद चकोरी	२ सरदससिहिजिमिचितव चकोरी	पतिदेवता महँ प्रथम रेख	८ सुनुसीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं।
गजबदन षडाननमाता	३ दुइ सुत सुन्दर सीता जाए		
जगतजननि	४ जगदंबा जानहु जिय सीता	सेवत सुलभ फल चारी	९ सर्वश्रेयस्करीं सीतां
दामिनि दुति गाता	५ दुलहिनतडितबरनतनगोरी (गी०)	बरदायनी	१० आसिष तव अमोघ बिख्याता
भवभवबिभवपराभवकारिनि	६ उद्भवस्थितिसंहारकारिणी	पुरारि पियारी	११ रामवल्लभां

मोर मनोरथ जानहु नीकें। बसहु सदा उर-पुर सबही के॥३॥
कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही। अस कहि चरन गहे बैदेही॥४॥

अर्थ—मेरा मनोरथ आप अच्छी तरह जानती हैं। (क्योंकि) सभीके हृदयरूपी नगरमें आप सदा वास करती हैं॥ ३॥ इसी कारण मैंने (उसे) प्रगट नहीं किया।—ऐसा कहकर बिदेहकुमारीने चरण पकड़ लिए॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) 'बसहु उर पुर सबही के' अर्थात् अन्तर्यामीरूपसे हृदयमें बसती हो। जहाँ 'उर' में तुम्हारा वास है, वहीं उरमें हमारा मनोरथ भी है; यथा 'चली राखि उर श्यामल मूरति'; उसी (श्याम मूर्तिकी प्राप्ति) का मनोरथ है। अतः एक ही ठौर होनेसे जानती हो। (पुनः, अनाहत चक्रमें शिवदुर्गाका निवास है और वहीं मनका निवास है, इसलिये मनोरथको जानती हो। वि० त्रि०)। (ख) 'बसहु सदा'

का भाव कि अन्तर्यामी रूप सबके हृदयमें बसता है, सगुण रूप सदा नहीं बसता, जबतक स्मरण रहता है तभीतक वह हृदयमें रहता है, यथा 'काटत सिर होइहि बिकल, छुटि जाइहि तव ध्यान। तब रावनहिं हृदय महुँ मरिहहिं राम सुजान। ६।९८।' [☞सगुण रूप सदा हृदयमें नहीं बसता, इसी कारण संत सदा वास करनेकी प्रार्थना करते हैं। यथा 'मम हिय गगन इंदु इव बसहु सदा निःकाम', 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर', 'बैदेहि अनुज समेत। मम हृदय करहु निकेत', 'मम हिय बसहु निरंतर सगुनरूप श्रीराम', 'बसहु हृदय श्री अनुज समेता'; इत्यादि] (ग) श्रीजानकीजी लज्जावश मनोरथ प्रकट नहीं करतीं, कहती हैं कि हृदयकी जानती हो इसीसे मैं नहीं कहती। जब अन्तःकरणकी जानती हैं तो यह भी जानती हैं कि लज्जावश नहीं कहती हैं; पर यह भी बात कहते लजाती हैं कि मैं लाजके मारे नहीं कह सकती। गीतावलीमें भी कहा है—'अंतरजामिनि भवभामिनि सोंहौं कही चाहौं बात मातु अंत तो हौं लरिकै। १.७०.२।'

२ (क) यहाँ जानकीजीके मन, वचन और तन तीनोंका हाल कहा। मनोरथको प्रगट न किया यह मन, 'अस कहि' यह वचन और 'चरण गहे' यह तन का हाल है। (ख)—प्रार्थनाके प्रारंभमें 'बंदि चरन बोली कर जोरी' और उसके अंतमें 'अस कहि चरन गहे बैदेही' कहकर जनाया कि उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें चौथी भक्ति चरणवंदन प्रधान है। तात्पर्य्य कि चरणवन्दनसे सब सुखी होते हैं, यथा 'देवि पूजि पदकमल तुम्हारे। सुर नर मुनि सब होंहि सुखारे'। इसीसे मैंने भी चरणोंकाही आश्रय लिया है, इन्हीं चरणोंके प्रसादसे मेराभी मनोरथ पूरा हो, मैंभी सुखी होजाऊँ। [(ग) 'बैदेही' शब्द देकर जनाया कि चरणोंको पकड़कर देहसुध भूल गईं। 'गहे' से जान पड़ता है कि चरण पकड़े रह गईं, जैसे मनुजीकी दशा हुई थी—'अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। १५१.७।' (प्र० सं०)। 'चरण पकड़े रह जाना' यह दशा बड़ीही हृदयद्रावक है। इसीसे भवानी 'प्रेम बश' हो गईं]।

नोट—☞'बंदि चरन बोली कर जोरी' से लेकर 'अस कहि चरन गहे बैदेही' तक अपनी कामनाके पूर्त्तिनिमित्त प्रार्थनाकी रीति दिखाई है। प्रथम देवताके समीप जाकर प्रणाम करे तब हाथ जोड़कर स्तुति करे। स्तुतिमें (१) प्रथम कुलकी प्रशंसा करे, फिर (२) स्वरूपकी तब (३) उदारता की। (४) उदारता दिखाकर तब अपना मनोरथ कहे। (५) अंतमें फिर प्रणाम करे। ऐसा करनेपर मनोरथकी सिद्धि होती है।

यहां 'जय जय गिरिवरराजकिसोरी' से 'षडानन माता' तक कुलकी प्रशंसा है। 'जगतजननि···' से 'पति देवता···' तक स्वरूपकी प्रशंसा है। 'सेवत तोहि सुलभ···' से 'सब होहिं सुखारे' तक उदारता कही और तब "मोर मनोरथ···" कहा।

बिनय प्रेम बस भई भवानी। खसी माल मूरति मुसुकानी ॥५॥

अर्थ—श्रीपार्वतीजी (श्रीसीताजीकी) विनय और प्रेमके वश हो गईं। माला खिसक पड़ी और मूर्ति मुस्कुराई ॥ ५ ॥

पं० रामकुमारजी—१ चरण पकड़ना तनकी भक्ति है, विनय करना वचनकी भक्ति है और प्रेम होना मनकी भक्ति है। तात्पर्य्य कि मन, वचन, कर्म तीनोंकी भक्ति देख भवानी वशमें हो गईं। फूलकी माला पार्वतीजीके कंठसे प्रसादके लिये गिरी उसीको सीताजीने सादर सिरपर धारण कर लिया जैसा आगे कहते हैं। गीतावलीमें पार्वतीजीका प्रसादमाला देना लिखा है, यथा 'मूरति कृपाल मंजु माल दै बोलत भई। पूजो मन कामना भावतो बर बरि कै। १।७०।'

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि "इस स्तुतिमें किशोरीजीके जितने वचन हैं सब अभिप्रायगर्भित हैं। 'गिरिवरराजकिशोरी' से बाल्यावस्थाकी सुध हुई कि हमें भी पतिकी प्राप्तिके लिये ऐसीही आतुरता थी;

अतः करुणा आगई । 'महेस मुखचंद चकोरी' में यह आभिप्राय है कि चंद्रसे चकोरीकी एकांगी प्रीति है वैसेही चन्द्रशेखर शिवजी (आपसे) उदासीन थे, उनका मिलना दुर्घट था, तोभी आप न हटीं और शरीरही भस्म कर डाला । यह समझकर और भी अधिक प्रेमवश हुईं कि इससे जनाती हैं कि रघुपति परस्त्रीसे उदासीन हैं और पिताका पन कठिन है, यदि उनकी प्राप्ति न हुई तो यह (मेरा) शरीर नहीं रह सकता ।''इत्यादि समझकर प्रेमवश हो गईं । क्योंकि इस दशाका अनुभव स्वयं भली भाँति कर चुकी हैं—(हठ न छूट छूटै बरु देहा) । उनकी आतुरता सह न सकीं, शीघ्रही प्रसन्नता प्रकट करनेको प्रसाद देनेकी इच्छासे माला खसी अर्थात् खिसक पड़ी । (वै०) । [☞ मालायें चार प्रकार की होती हैं । एक तो वह जो ग्रीवसे नाभि-पर्य्यन्त लटकी रहती है, इसे 'प्रलम्ब' कहते हैं । यज्ञोपवीत जो माला होती है उसे 'वैकक्षिक' कहते हैं । जो शीशमें लपेटी जाय उसे 'ललामक' और जो माला सिर परसे लटकी रहती है उसे 'माल' कहते हैं ।—'माल्यं माला स्रजो मूर्ध्नि इत्यमरः' । (वै०)] मा० त० वि० का मत है कि 'जय जय गिरिवर''' इत्यादि विनय है और 'चरन गहे बैदेही' यह प्रेम है । (मा० त० वि०) । अथवा, विनय सुनकर और उनकी महिमा समझकर जैसा श्रीरामतापिनी आदि उपनिषदोंमें है और उनके सौशील्य सौहार्द गुणको विचाकर कि इन्होंने हमें कृपा करके बड़ाई दी—(जैसे गंगाजीने प्रगट कहा है—"तव प्रभाउ जग बिदित न केही ॥ लोकप होहिं बिलोकत तोरें । तोहि सेवहिं सब सिधि कर जोरें ॥ तुम्ह जो हमहिं बड़ि बिनय सुनाई । कृपा कीन्हि मोहि दीन्हि बड़ाई ॥ तदपि देबि मैं देबि असीसा । सफल होन हित निज बागीसा ।२।१०३।') भवानी प्रेमवश हुईं । (वै०) ।

२ "खसी माल०" इति । (क) पं० रामकुमारजीका मत ऊपर आगया । वैजनाथजी यह भी लिखते हैं कि श्रीसीताजीकी महिमा विचारकर उन्होंने उनको गुप्त प्रणाम किया इससे माला खसी । अर्थात् पार्वतीजीने अपने सिरकी माला-भूषण किशोरीजीके चरणोंपर स्थापित कर दिया । सन्त उन्मुनीटीकाकार लिखते हैं कि विनय-प्रेमवश होना इससे भी सिद्ध है कि उनको यह भी विचार न रह गया कि पाषाणविग्रह हैं और मुस्कुरा दीं ।

☞ यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि माला कहाँसे आई ? इसका उत्तर यह है कि जानकीजीने प्रथमही "पूजा कीन्हि अधिक अनुरागा । निज अनुरूप सुभग बरु माँगा ।" अनुरागपूर्वक पूजन किया तो उसमें पुष्पमाला अवश्य चढ़ाई होगी; बिना माला पूजा कैसी ? पूजा करके बर माँगा और ध्यान करने लगीं । केवल स्तुति और वरदान पाना बाक़ी रहा था । अतः दुबारा मंदिरमें गईं । वा, नारदवचनके अनुसार अपने हृदयमें प्रभुकी मूर्ति बसाकर फिर उसीका वरदान माँगनेके लिये दुबारा मंदिरमें गई थीं । भवानी प्रेमके वश होगईं, इससे जो माला देना चाहती थीं वह फिसल पड़ी, या यों कहें कि आपने प्रसाद माला सीताजीकी ओर खिसका दी क्योंकि जानकीजीको प्रेमके वश प्रसाद लेनेकी भी सुध न रही थी । गीतावलीमें भवानीका प्रसाद देना और प्रत्यक्ष बोलना स्पष्ट कहा गया है ।—यही मत श्रीनंगे परमहंसजीका भी है ।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—"(सवैया)—फलकांक्षित प्रेम बिनै सियकी सुनिकै गिरिजा वशिभूत भई । खसि फूलनमाल मनो जयमाल सबै फल कारन बिहँसि दई । लै सादर सो सिय मेलि गले कहि गौरि हिये अति हर्षमई । मन पूरन काम असीस सही जिमि नारद बैन सुचैन कई ।' श्रीसीताजीकी विनय फल-कांक्षी और प्रेमयुक्त है । उसे सुनकर वशीभूत हुईं अर्थात् प्रगट होकर बोलने लगीं, फूलोंकी माला कृपा करके खिसका दी । मालाप्रसाद देनेका हेतु यह है कि तुमको अपने जयमालकी चिंता है कि होगा या नहीं क्योंकि पिताके अधीन है सो यह सुमनमाल जयमालही प्रसाद है तुम चिंता मत करो । विनय फलकांक्षीका है, समस्त फलोंका कारण फूलही है, फूलके अंतर्गत फलही है । फूल मालाही मनोवांछित फलकी प्राप्ति जाना । हँसकर अपनी प्रसन्नता जनाई ।"

करुणासिंधुजीका मत है कि 'विनयप्रेमके वश हैं तो प्रसाद देनेकी सुध कहाँ ?" और यह अर्थ करते हैं कि "सीताजीके हाथसे माला खिसक पड़ी (जो वे भवानीको पहनाना चाहती थीं), इसपर मुस्कुराईं"। पर कवि लिखते हैं कि 'चरन गहे बैदेही' अर्थात् दोनों हाथ तो चरणोंमें लगे हैं, इसके पीछे कवि लिखते हैं कि 'बिनय प्रेम बस भई भवानी', बीचमें चरणोंको छोड़कर माला पहनाना कहीं नहीं लिखा गया। दूसरे, चरणोंमें प्रणाम पूजा और विनयके अन्तमें होनेकी विधि है। भवानीका प्रसंग तुरत 'चरन गहे बैदेही' के साथ ही प्रारंभ हो जाता है। नंगेपरमहंसजी भी कहते हैं कि पुष्प-मालादिका चढ़ाना प्रथम ही पूजनके समय पाया जाता है, 'दूसरी बार तो विनयमात्रका किया जाना सूचित है'।

पं० ज्वालाप्रसादका मत है कि "खसीमाल पाषाणको कहते हैं अतः अर्थ यह है कि पाषाणविग्रह हँसी, मालाका प्रसंग यहाँ नहीं रह जाता।" पर यह क्लिष्ट कल्पना जान पड़ती है। नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि "जो लोग कहते हैं कि 'खसीमाल' मूर्तिका नाम या विशेषण है वे और भी अंधकारमें माने जायँगे। यदि माला नहीं खसी तो यह चौपाई व्यर्थ हो जायगी कि 'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ'। जब माला प्रसाद मिली ही नहीं तो शीशपर क्या धारण किया" ?

श्रीलमगोड़ाजी अपने वि० सा० हास्यरस पृष्ठ १०८ में लिखते हैं कि "सीताजी उनकी पूजा अधिक अनुरागसे करती हैं और संकोचमें बड़ी सुन्दरतासे अपना मनोवांछित फल यों माँगती हैं—'देवि पूजि··· बसहु सदा उरपुर सब ही के'। आह, अब प्रेमावेग रुक न सका, सीताजीके हाथसे वह माला छूट पड़ी जो पार्वतीजीको पहनाना चाहती थीं और वह पार्वतीके चरणोंपर गिरपड़ी। कवि लिखते हैं 'कीन्हेउ प्रगट··· मुसुकानी'। पार्वतीजीकी मुस्क्यान कितनी सुन्दर है और कविकी आलोचना कितनी मर्मपूर्ण। पार्वतीजी विनय और प्रेमके वश होकर उदारतासे मुस्कुराई हैं, परिहासभावसे नहीं। हाँ, हास्यका इतना पुट अवश्य है कि वे सीताजीकी प्रेमनिमग्नताको ताड़ जाती हैं, जिसके कारण उनके हाथसे माला गिर गई थी। बहुतसे लोग माला खिसकनेका अर्थ यह करते हैं कि वह पार्वतीजीके सिरसे खिसकी थी जो प्रसादरूप था और मुस्कान केवल प्रसन्नताकी मुस्कान थी, जिसमें हास्य भाव न था। मुझे स्वयं तो पहला ही अर्थ अभीष्ट है क्योंकि उसमें हास्यका आनंद और काव्यचमत्कार है। सीताजीकी बेसुधी तो देखिए कि माला गिरी तो है अपने हाथसे, पर कवि लिखता है कि 'सादर सिय प्रसाद सिर धरेऊ'। मानों सीताजीने उसे प्रसाद ही समझा। इस अर्थमें हास्य एवं शान्तभावका बड़ा सुन्दर मिश्रण है पर दूसरे अर्थमें केवल शान्तरस है। 'खसी' क्रिया भी मेरी ही बातकी पुष्टि करती है, जिसकी कर्ता माल है न कि देवी।"

कोई कोई ऐसा भी कहते हैं कि मालाप्रसाद सिरमें पहनानेकी रीति है। भवानीने ऐसा नहीं किया क्योंकि श्रीसीताजी इस समय श्रीरामजीको हृदयमें बसाए हुए हैं। शिवजी यह न समझ लें कि भवानीने श्रीरामजीको जयमाल पहनाया है, जो हमारा पुनः त्याग कर दें। (पर सती-मोहकी लीला तो अभी हुई नहीं है।)

टिप्पणी—२-'मूरति मुसुकानी' इति। पार्वतीजी जानकीजीकी महिमा जानती हैं, इसीसे माधुर्य्यके वचन सुनकर मुसुकाईं। इसी तरह श्रीरामजीके माधुर्य्य वचन सुनकर अगस्त्यजी मुसकाए थे; यथा "अब सो मंत्र देहु प्रभु मोही। जेहि प्रकार मारौं मुनिद्रोही॥ मुनि मुसुकाने सुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी।···ते तुम्ह सकल लोकपति साईं। पूछेहु मोहि मनुज की नाईं। ३.१३।" [अगस्त्यजीने मुस्कुराकर जनाया कि मैं आपको जानता हूँ पर आपके भजनके प्रतापसे ही। 'ऊमरितरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना। भीतर-बसहिं न जानहिं आना॥ ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ते तुम्ह सकल लोकपति साईं।" यहाँ तक ऐश्वर्य कहकर तब उन्होंने कहा कि 'पूछेहु मोहि मनुज की नाईं"। अर्थात् आप मनुष्य नहीं हैं, पर मुझसे इस तरह पूछ

रहे हैं मानों मनुष्य ही हैं, सो मैं आपके माधुर्यमें भूलनेका नहीं। वैसे ही यहाँ श्रीपार्वतीजी मुस्कुराकर जनाती हैं कि मैं आपको जानती हूँ। आप वह हैं कि "जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। १।१४८।" तथा "आदिसक्ति जेहि जग उपजाया। १५२।४।" अतः मैं आपके माधुर्यमें भूलनेकी नहीं। इस मुस्कुरानेमें गूढ़ व्यंग है]

नोट—३ 'मूरति मुसुकानी' के और भाव—(क) मुसकाईं कि वाह! जनककिशोरी! तुम्हारा इस दर्जेका प्रेम है कि मुझे पाषाणविग्रहरूप छोड़ प्रगट ही होना पड़ा। (मा० त० वि०)। (ख) मूर्ति इत्यादिमें दूरसे ही स्तुति प्रणाम आदि करनेकी रीति है। पर जानकीजी इतनी प्रेमोन्मग्ना हो गईं कि साक्षात् समझकर प्रतिमा हीको मेरे चरण (मान) थाम लिये हैं। अतः धन्य हैं, मुझे बड़प्पन देनेवाली हैं। (मा० त० वि०)। (ग) प्रेमवश हो जानेसे मेरी तो यह दशा हुई कि अनिच्छित माला खसक पड़ी और मूर्ति ही में मुस्कुरा उठी, निरी प्रतिमा बनी न रही, पर सीताजीने मुझे प्रसन्न जान मालाको प्रसाद समझ धारण कर लिया। अतः प्रसन्न हुईं। अथवा, (घ) मुस्कुराईं कि देखो अभी तो विवाहहेतु विह्वल हैं पर भविष्यत्पर कुछ दृष्टि नहीं है कि शुक-शुकीके शापवश इन्द्रादि देवताओंके द्वारा राजभंग होनेपर एवं नारदशापके कारण आगे वियोग होना है और भृगुशापके बहाने पृथ्वीमें समाना है। (मा० त० वि०)। (ङ) मुस्कुराईं कि नारदवचनकी परीक्षा भी मिल गई तब भी इनको संतोष न हुआ, इसी तरह हम आशीर्वाद भी दे देंगी तो क्या संतोष होगा जबतक धनुष न टूटेगा? यह बालकपनका स्वभाव ही है। लग्नकी आतुरताका यह प्रभाव है, हमारी भी यही दशा थी।—माधुर्यलीला करुणारसमें यह भाव है। (वै०)। (च) ऐश्वर्यलीला शान्तरसमें भाव यह है कि सर्वेश्वरी होकर ऐश्वर्य छिपाये हुए नरनाट्य करना चाहती हैं, इस लिये जैसी उनकी इच्छा है वैसा ही करना मेरा कर्त्तव्य है। अथवा, भाव कि यह न जानना कि आपकी माधुर्यलीलामें मैं भूल गई, मैं अपना पातिव्रत्य पावन करनेके लिये आपको पातिव्रत्यका वर देती हूँ। अपना सुहाग अचल करनेके लिये आपको सुहाग देती हूँ।—यह ऐश्वर्य माधुर्यलीला हास्यरसमें भाव है। (वै०)। (छ) लगनका प्रभाव ऐसा ही होता है कि देखो राजकुमारका आगमन सुनकर पूजा छोड़ चली गईं, जब इच्छा भर देख लिया तब पुनः पूजाकी सुध करके आईं; अतः मुसुकानीं। यह भाव मिश्रिता लीला शृङ्गाररसमें है। (वै०)। (ज) अच्छा प्रसाद देनेके लिये प्रसन्न वचन कहनेवाली हैं, अतः हँसकर बोलीं। (पां०)। (झ) हृदयमें तो पति पहले ही मान चुकी हो, अब वर क्या माँगती हो? (ञ) किसीका मत है कि हृदयमें जो मूर्ति है वह 'मुसुकानी' न कि भवानी।

शंका—मूर्तिका हँसना अमंगल है?

समाधान—श्रीजानकीजीके प्रेमसे श्रीपार्वतीजीकी मूर्ति प्रगट हो गई, इसीसे आगे गौरीजीका बोलना लिखते हैं; यथा 'सुनु सिय सत्य असीस हमारी।०' इत्यादि। यदि गिरिजाजी प्रगट न हुई होतीं तो वार्ता कैसे करतीं और जब प्रगट हुईं तब मुसकानेमें कोई अशकुन नहीं है। पाषाणकी मूर्तिका मुस्काना अशकुन माना जाता है; यथा—'गर्जन्ति कूपा प्रतिमा हसन्ति तद्देशनाशो मुनयो वदन्ति'। पर यहाँ तो मूर्तिमें आवेश हो गया है।

नोट—४ फूल माला जो मूर्तिपरसे गिरकर अपनी ओर आवे वह देवताकी प्रसन्नताको सूचित करने-वाला प्रसाद कहा गया है। दक्षिणमें भी यह परिपाटी देखनेमें आती है। पांड़ेजी भी लिखते हैं कि देवतासे फूल गिरना मनोरथकी सिद्धिके लिए शुभ है। नंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि "मूर्तिका हँसना जो अशुभ माना गया है वह हँसना ठठाकेका होता है कि जिसमें शब्द होता है। मूल पाठ मुसुकुराना है। मुसुकराना होंठोंसे होता है जो शुभ माना गया है।"

☞ देवता प्रकट होकर प्रसाद दें, बोलें, आशीर्वाद दें, पूजा लें तो यह मांगलिक है, अमं-गल नहीं। देखिए, श्रीसीतारामविवाहके अवसरपर देवताओंने प्रकट होकर ऐसा किया है। यथा "आचारु

करि गुर गौरि गनपति मुदित बिप्र पुजावहीं । सुर प्रगटि पूजा लेहिं देहिं असीस अति सुख पावहीं । ३२३ ।" श्रीनाभाजीके भक्तमाल तथा प्रियादासजीकी भक्तिरसबोधिनी टीकामें प्रतिमाओंका साक्षात् प्रगट होकर हँसना, बोलना, चलना, प्रसाद देना इत्यादि बहुतसे भक्तोंके संबंधमें देखा-सुना-कहा गया है। मानसमें भी देवताओंका प्रगट होना कई ठौर वर्णन किया गया है। इस विषयमें शंकाएँ व्यर्थ हैं और उनके समाधान भी व्यर्थ हैं। तथापि जो मुसुकाना अशुभ मानें उनके लिये एक समाधान यह है कि उसीका फल यह हुआ कि 'दसरथ सुकृत राम धरे देही' सो उनको वनवास हुआ और 'जनक सुकृत मूरति बैदेही' सो मिथिलासे श्रीअवधको चली गईं। इत्यादि।

☞ इस प्रसंगपर गीतावली पद ७० को दृष्टिमें रखनेसे अनेकों व्यर्थकी शंकाएँ मिट जाती हैं।— "पूजि पारबती भले भाय पाँय परि कै। सजल सुलोचन सिथिल तनु पुलकित आवै न बचन मनु रह्यो प्रेम भरि कै ॥ १ ॥ अंतर्जामिनि भवभामिनि स्वामिनि सों हौं कही चाहौं बात मातु अंत तौ हौं लरिकै। मूरति कृपालु मंजु माल दै बोलत भई पूजो मन कामना भावतो बरु बरिकै ॥२॥ राम कामतरु पाई बेलि ज्यों बौंड़ी बनाइ माँग कोषि तोषि पोषि फैलि फूलि फरिकै। रहौंगी कहौंगी तब साँची कही अंबा सिय गहे पाँय द्वै उठाय माथे हाथ धरि कै ॥ ३ ॥ मुदित असीस सुनि सीस नाइ पुनि पुनि बिदा भई देवी सो जननि डर डरिकै। हरषीं सहेली भयो भावतो गावतीं गीत गवनीं भवन तुलसीस हियो हरि कै।"

सादर सिय प्रसादु सिर[1] धरेऊ। बोली गौरि हरषु हिय भरेऊ* ॥६॥
सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी ॥७॥
नारद-बचन सदा सुचि साँचा। सो बरु मिलिहि जाहि मनु राँचा ॥८॥

अर्थ—श्रीसीताजीने आदरपूर्वक (माला) प्रसाद सिरपर धारण कर लिया। (माला पहन ली) गौरीजीका हृदय हर्षसे भर गया और वे बोलीं ॥ ६ ॥ हे सीते! हमारी सच्ची आशिषा सुनो। तुम्हारी मनोकामना पूरी होगी ॥ ७ ॥ नारदजीका वचन सदा पवित्र और सत्य है। जिस वरमें तुम्हारा मन रंग (अनुरक्त हो) गया है, वह वर तुमको अवश्य मिलेगा ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सादर' इति। देवताके प्रसादका आदर करना चाहिए, इसीसे 'सादर' पद दिया, (हाथोंसे लेकर शिरोधार्य करना ही 'सादर' धारण करना है। प्रसाद शिरोधार्य करके लिया ही जाता है)। यथा 'फिरती बार मोहि जो देवा। सो प्रसाद मैं सिर धरि लेवा।' [देवतापर पुष्पादि चढ़ावे और उसमेंसे कुछ अपनी ओर आ पड़ें तो जानना चाहिए कि देवताने प्रसन्नता प्रकट की है और यह प्रसाद दिया है। इसीसे 'माला' को प्रसाद कहा। और इसीसे उसका सादर धारण करना कहा। पंजाबीजी लिखते हैं कि चढ़ाई हुई माला उमाके सिरसे सीताजीकी ओर गिर पड़ी और रा० प्र० का मत है कि 'पार्वतीजीने माला सीताजीके हाथमें गिरा दिया। वे हाथोंसे चरण पकड़े थीं, इससे हाथपर माला गिरा दी और उन्होंने उसे उठाकर सिरपर धारण किया।' (ख) 'हरषु हिय भरेऊ' इति। भाव कि विनय सुनकर हर्ष हुआ, चरण पकड़नेसे हर्ष हुआ, प्रेम देखकर हर्ष हुआ और प्रसादका इतना आदर देखकर हर्ष हुआ; इसीसे हृदय हर्षसे भर गया। [वर हर्षसे दिया ही जाता है अतः अत्यंत हर्षपूर्वक बोलीं। अथवा, हृदयमें हर्ष इससे भर गया कि हमसे वर माँगकर हमें बड़ाई दे रही हैं। (रा० प्र०)]। (ग) 'सत्य असीस' इति। देवताका आशीर्वाद सदा सत्य ही होता है। यहाँ 'सत्य' विशेषण देनेका कारण यह है कि शिवचापकी कठोरता,

१ सिर—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०। उर-१७०४, (पर रा० प्र० में 'सिर' है)।
* १६६१ में 'धरेउ' और 'भयेउ' पाठ है।

उसका टूटना कठिन जानकर सीताजी घबड़ा घबड़ा जाती हैं, वचनकी सत्यताका विश्वास छूट छूट जाता है, इसलिये प्रथम उनका विश्वास दृढ़ करनेके लिये अपने वचनको सत्य कहती हैं तब नारदवचनको सत्य कहेंगी। (घ) श्रीजानकीजीको आशिष देकर भवानी अपनी वाणी सफल करती हैं। यथा 'तदपि देवि मैं देबि असीसा। सुफल होन हित निज बागीसा।' (ङ) जानकीजीने जो कहा था कि 'मोर मनोरथ जानहु नीके।' उसी पर भवानी कहती हैं कि 'पूजिहि मनकामना तुम्हारी।' पूजिहि = पूर्ण होगी, यथा 'पूजी सकल बासना जीकी', 'जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा'। इससे श्रीसीताजीके वचनकी सत्यता दिखाई।

२ (क) 'नारद बचन सदा सुचि साचा।' इति। नारदवचनपर विश्वास मानकर उसे हृदयमें दृढ़तापूर्वक रक्खे रहें, इसलिये कहा कि उनके वचन सदा सत्य और शुचि हैं। कैसे जाना कि नारदवचनपर विश्वास नहीं रह जाता? इससे कि नारदवचन स्मरण करनेसे पवित्र प्रेम उत्पन्न हुआ था, यथा 'सुमिरि सीय नारदबचन उपजी प्रीति पनीत'। और अब हमसे विकल होकर इस तरह विनय कर रही हैं, इससे यह निश्चय है कि नारदके वचनपर दृढ़ता नहीं है। दृढ़ होतीं, वचनको सत्य मानती होतीं, तो राजकुमारकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरता आदि समझकर घबड़ा न जातीं। (ख) अपने संबंधमें तो 'असीस' कहा,—'सुनु सिय सत्य असीस हमारी' और नारदके विषयमें 'बचन' कहा। कारण कि नारदजीने भावी कही है, आशीर्वाद नहीं दिया था, इसीसे पूर्व भी 'बचन' ही शब्द कविने दिया था, 'सुमिरि सीय नारद बचन' और यहाँ गौरीजीने भी 'नारद बचन' कहा। (ग) श्रीजानकीजीको विश्वास करानेके लिए दोनों जगह 'सत्य' विशेषण दिया। 'सत्य असीस हमारी' और 'नारद बचन साँचा'। अर्धालीके पूर्वार्द्धमें नारदके वचनोंपर दृढ़ विश्वास करनेका उपदेश देकर उत्तरार्द्धमें नारदजीके वचन दुहरा दिए—'सो बरु०'। ☞ सीताजीने जो कहा था कि 'मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु०' वह मनोरथ यहाँ खोल दिया। इससे भगवतीका सबके उरमें बसना सिद्ध हुआ कि हृदयकी बात जान ली। (घ) 'शुचि साँचा' इति। यथा 'अब उर धरहु ब्रह्म बरबानी। सत्य सदा संतत सुचि जानी। ७५। २।' में देखिए। [सदा सत्य है, यथा 'बरु पावक प्रगटै ससि माहीं। नारद बचन अन्यथा नाहीं। ७१. ८।' 'साँचा' का भाव यह भी है कि जैसे मैं देवी हूँ, वैसे ही नारदजी भी देवर्षि हैं। शुचि है अर्थात् संशय, भ्रम, वाक्-छल आदि दोषोंसे रहित है। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'ब्रह्माजीने हिरण्यकशिपुको जो वर दिया वह सच्चा था पर शुचि न था; क्योंकि उसमें मृत्युका कारण गुप्त रहा। और, नारदके वचनोंमें कुछ कारण गुप्त नहीं है, वह अमत्त सच्चा है। सदा एकरस सत्य है"। पार्वतीजी स्वयं अपने विषयमें नारदवचनकी पूरी परीक्षा पा चुकी ही हैं, अतः शुचि सत्य कहना ठीक ही है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि भाव यह है कि "आशीर्वाद मिथ्या भी पड़ जाता है, इस लिये कहती हैं कि मेरी असीस सत्य है। मैं अपनी अनुभूत बात कहती हूँ कि नारदवचन अन्यथा नहीं हो सकता।"]

छंद—मन जाहि राचेउ मिलिहि सो बरु सहज सुंदर साँवरो*।
करुनानिधान सुजानु सीलु सनेह जानत रावरो*॥
येहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषीं अलीं।
तुलसी भवानिहि पूजि पुनि पुनि मुदित मन मंदिर चलीं॥

अर्थ—जिसमें तुम्हारा मन रंग गया है वही सहज ही सुंदर साँवला बर (दूलह) तुमको अवश्य मिलेगा। वे करुणाके समुद्र हैं। सुजान हैं, तुम्हारे शील और स्नेहको जानते हैं। इस प्रकार गौरीकी

* १६६१ में 'साँवरे, रावरे' पाठ है। अन्य सबोंमें 'साँवरो, रावरो' है।

असीस सुनकर सीतासहित सब सखियाँ प्रसन्न हुईं। तुलसीदासजी कहते हैं कि बारंबार भवानी की पूजा कर प्रसन्न मनसे घर को चलीं।

टिप्पणी—१ (क) सीताजीने जो कहा था कि 'बसहु सदा उरपुर सबही के' वह यहाँ सिद्ध हुआ। सीताजीने अपने उरकी बात नहीं कही—'कीन्हेउँ प्रगट न कारन तेही।' पार्वतीजी जान गईं। (स्मरण रहे कि 'सो जानै जेहि देहु जनाई')। जानकीजी श्यामल मूर्ति को हृदयमें धरकर चलीं, यही बात पार्वतीजी कहती हैं—'मन जाहि राचेउ०'। (ख)—पार्वतीजीने तीन बार मनोकामना पूर्ण होनेकी बात कही,—'पूजिहि मन कामना तुम्हारी' यह पूर्व कहकर यहाँ मनोकामना खोली कि 'सो बरु मिलिहि जाहि मनु राँचा' अर्थात् वांछित वर मिलेगा, पर इससे यह न ज्ञात हुआ कि वांछित वर कौन है, उसे भी जानती हैं, अतः आगे कहती हैं, कि 'बरु सहज सुंदर सांवरो' अर्थात् साँवले वरकी तुम्हारी कामना है जिसे हृदयमें रक्खे हो। जानकीजीके संतोषके लिए तीन बार कहा; यथा "पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। सत्य सत्य पन सत्य हमारा॥ पुनि पुनि अस कहि कृपानिधाना। १५२.५-६।" [वा, श्रीसीताजी चरण पकड़े हुए प्रेममें बेसुध थीं, इससे बार-बार कहा। (ग)—पांड़ेजी लिखते हैं कि 'सहज' शब्द 'मिलिहि' और 'सुंदर' दोनोंके साथ है। 'मन जाहि राच्यो' में जानकीजीकी प्रधानता है कि तुम्हारे मनकी रुचिसे मिलेंगे। और 'करुनानिधान०' में रामजीकी प्रधानता है।"] (घ)—'करुणानिधान सुजान' इत्यादिके भाव कि करुणानिधान हैं अतः तुम पर अवश्य करुणा करेंगे, (यथा 'सियहि बिलोकि सकेउ धनु कैसें। चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसें।२५६.८।') सुजान हैं अतः तुम्हारे शील और स्नेहको जानकर तुम्हें अपनी किंकरी करेंगे; यथा 'तुलसी सुसीलु सनेहु लखि निज किंकरी करि मानिबी। ३३६।' 'सहज सुंदर' से बाहरी अंगोंकी शोभा कही कि उनको आभूषण आदि शृङ्गारकी आवश्यकता नहीं, बिना किसी शृङ्गारके ही वे सुन्दर हैं। और 'करुणानिधान सुजान' से भीतरकी शोभा कही। [श्रीपार्वतीजी इन गुणोंका भली भाँति परिचय पा चुकी हैं। प्रभुहीने कृपा करके श्रीशिवजीसे आपका संयोग कराया था; यथा 'अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तरसहित कृपानिधि बरनी॥...जाइ बिवाहहु सैलजहि...। ७६।' सुजानका परिचय; यथा 'मन महुँ रामहि सुमिर सयानी। ५६.५।', जैसेही उन्होंने श्रीरामजीको सुमिरा वैसेही उन्होंने उनका मनोरथ पूरा किया।—'स्वामि सुजान जान सब ही की। २.३१४।', 'रीझत राम जानि जन जी की।...करत सुरति सयबार हिए की। १.२६।', 'जान सिरोमनि कोसलराऊ। १।२८।' श्रीजानकीजीका शील सनेह जानते हैं। यथा 'प्रभु जब जात जानकी जानी। सुख सनेह सोभा गुन खानी। २३५।२।']।

२ (क)—'येहि भाँति।' अर्थात् स्पष्ट रूपसे यह आशीर्वाद कि साँवला वर मिलेगा। सबको हर्ष हुआ क्योंकि सब जानती हैं कि साँवला वर जानकी-योग्य है; यथा 'एहि लालसा मगन सब लोगू। बरु साँवरो जानकी जोगू। २४६।६।' (ख) 'सिय सहित हरषीं अलीं' इति। यहाँ अली प्रधान हैं और सीताजी गौण, यद्यपि हर्षमें सीताजीकीही प्रधानता चाहिए थी। यह बारीकी, सूक्ष्म भाव समझने योग्य है। आशिष सुनकर सीताजीको अपना हर्ष प्रगट करनेमें संकोच हुआ; सबके सामने लज्जा लगीही चाहे। और सब सखियोंका हर्ष प्रगट है। इसीसे यहाँ सखियोंको प्रधान रक्खा। [सखियोंको पहले यह न मालूम था कि नारदवचन क्या थे, इससे जब उनको यह मालूम हो गया तब उनको हर्ष हुआ, क्योंकि उनके मनके अनुकूल हुआ] (ग) 'भवानिहि पूजि पुनि पुनि' इति। मारे हर्षके बारंबार पूजती हैं। इससे आनंदमग्नता और कृतज्ञता जनाती हैं। यहाँ आनंद प्रेमकी बीप्सा है; यथा 'प्रेम बिबस पुनि पुनि पद लागीं।२३६।१।' (घ) 'गई मुदित मन गौरि निकेता' उपक्रम है और 'मुदित मन मंदिर चलीं' उपसंहार है। आदिमें मुदित मनसे भगवतीकी पूजाके लिये मंदिर में गईं और अब वर पाकर मुदित मनसे घरको चलीं।

नोट १—'तुलसी भवानिहि पूजि' के और भाव—"पुनि पुनि" पूजा करनेमें तुलसीदास भी मिल-

गए, शामिल हो गए कि हे भगवती ! साँवला वर हमारा भी स्वामी होवे'' (पं० रामकुमार)। पुनः, ''तुलसी और भवानी दोनोंकी पूजा करके''—(पांड़ेजी)। 'पूजि पुनि पुनि' कृतज्ञताप्रकाशनार्थ है।

☞ २ शब्दगुणका वर्णनही कहाँतक किया जाय ? अनुप्रास जगह-जगह है। यहां और आगे दोहे-में 'स', 'रा', 'ल' 'म' इत्यादि माधुर्य्यगुण और रसप्रधान अक्षरही प्रधान हैं।—(लमगोड़ाजी)।

प० प० प्र०—'मंदिर चलीं' इति। देखिए, पुष्पवाटिका-प्रसंगमें 'गिरिजा गृह सोहा', 'गईं भवानी भवन बहोरी', 'गौरि निकेता' कहा, भवानीके स्थानको एक बार भी मंदिर नहीं कहा। और यहाँ 'मंदिर चलीं' कहते हैं। इस तरह कविने अपनी गूढ़ भावना दर्शित की है। भाव यह है कि अब सीताजी रामजी-को हृदयमें बिठाये हुए हैं, अतः सीताजी ही राममंदिर बन गई हैं।

सोरठा—जानि गौरि अनुकूल सिय हिय हरषु न जाइ* कहि।
मंजुल मंगल मूल बाम अंग फरकन लगे ॥२३६॥

अर्थ—गौरीजीको प्रसन्न जानकर सीताजीके हृदयको जो आनंद हुआ वह कहा नहीं जा सकता। सुन्दर मंगलोंके मूल उनके बाएँ अंग फड़कने लगे ॥२३६॥ †

टिप्पणी—१ पूर्व सखियोंके साथ सीताजीका हर्ष लिखकर अब पृथक् कहते हैं, क्योंकि वहाँ सखियाँ प्रधान थीं, सीताजीका हर्ष वहाँ सामान्य ठहरा, अब विशेष कहते हैं। इस सोरठेमें जो विशेष हर्ष तथा वामांगोंका स्फुरण वर्णन किया गया यह गिरिजामंदिरसे चल देनेपर मार्ग और घरपरका है। मंदिरमें गौरीकी असीस प्रगट थी, इससे वहाँ हर्षित होते न बना, वहाँ वे अपना हर्ष छिपाए रहीं। गौरीको अनुकूल जानना मनकी बात है, प्रगट नहीं है, इसीसे हृदयमें अत्यन्त हर्ष होना कहते हैं। मंदिरमें सीताजीका विशेष हर्ष न कहते बना, इसीसे सामान्य कहा। वहाँ विशेष कहनेका मौक़ा न था क्योंकि विशेष हर्ष होने-में लज्जाकी बात थी, अब विशेष हर्षका मौक़ा है, उनको विशेष हर्ष हुआ भी है—'सिय हिय हरषु न जाइ कहि' इससे प्रथम न कहा और अब न कहें तो नहीं बनता इससे अब उचित जान कहा। ['न जाइ कहि'—यह हर्ष अकथनीय है। अतः उनकी विशेषता तथा प्रधानता दरसानेके लिए एक सोरठेमें उनका हर्ष कहा। इस अकथनीय हर्षके कारण हैं गौरीका अनुकूल होना और बाम अंगोंका फड़ककर मंगलकी सूचना देना। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सखियाँ सीताजीके मनोरथपूर्तिकी दृढ़ आशा तथा भयके दूर हो जानेसे हर्षित हैं, पर सीताजीको अपनी निधिकी प्राप्तिके निश्चित आश्वासनसे हर्ष है, अतः वह अवर्णनीय है। 'मंजुल मंगल' सुन्दर मंगल कहकर जनाया कि मंगल असुन्दर भी होते हैं। मंगल=अभीष्टकी सिद्धि। कामक्रोधादि द्वारा निंदित कर्मों या विचारों अथवा सांसारिक विषयों द्वारा उत्पन्न मंगल मलिन हैं। शुद्ध सात्त्विक मंगल मंजुल हैं। विशेष 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती। १.३।' देखिए। 'बाम अंग'—स्त्रियोंके बायें अंगोंका

* जात—रा० प्र०, गौड़जी, ना० प्र० स०। जाइ—१६६१।

† अर्थान्तर—१ श्रीसीताजीने मालाको उठाकर सिरपर धारण किया तब गौरीजीने हर्ष अर्थात् प्रेम-विवशताको समेट हृदयमें धर लिया और बोलीं। (पाँ०)। २—''हे सीते ! इसे आदरपूर्वक धारण करो। यह सुहागदान है, सुहागका स्थान माँग है, वहीं इसे धारण करो। और पातिव्रत्यका स्थान 'उर' है, वह हमने परिपूर्ण दिया। अतएव हृदयमें हर्ष भर लो।'' (वै०)। (पाँड़ेजीका मत है कि पार्वतीजी प्रेमविवश हो गई थीं। उस प्रेमविवशताको उन्होंने हृदयमें रोका तब बोल सकीं। इस तरह वे 'हर्ष' का अर्थ 'प्रेम-विवशता' और 'धरेऊ' का अर्थ 'उसे भीतर रख लिया, गुप्त कर लिया' करते हैं। वैजनाथजी 'सादर सिय-प्रसाद सिर धरेऊ' को गौरीका वाक्य मानते हैं और 'धरेऊ' का अर्थ 'धरो' करते हैं।)।

फड़कना मंगलसूचक है; यथा 'प्रभु पयान जाना बैदेही। फरकि बाम अंग जनु कहि देहीं। ५.३५।', 'जब अति भयउ बिरह उर दाहू। फरकेउ बाम नयन अरु बाहू। ६।९९।' इत्यादि। बाम अङ्ग अर्थात् बायां नेत्र और बाहु। शुभांगोंका फड़कना प्रियतमके मिलनेका द्योतक है, यथा 'फरकहिं मंगल अंग सुहाए।' 'सगुन प्रतीति भेंट प्रिय केरी। २।७।४-६।'

नोट—१ (श्रीलमगोड़ाजी)—अङ्गोंके फड़ककी अवस्था भी श्रीसीताजीमें अब जाकर देवीके आशीर्वादके उपरान्त ही उत्पन्न हुई, परन्तु श्रीराममें जल्दी उत्पन्न हो गई थी, कारण कि वे पुरुष हैं। २-पांड़ेजी लिखते हैं कि "गौरी-शब्द यहाँ बड़ाईकी इच्छा लिये हुए है। अपने श्रीके अनुकूल अपने धर्मको देख यद्वा अपने मनोरथके अनुकूल गौरीको देखकर अकथनीय हर्ष हुआ। सिय शब्द भी अर्थानुकूल है। अर्थात् शीतभरी हुई हैं।"

हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई ॥१॥

रामु कहा सबु कौशिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत[१] छल नाहीं ॥२॥

अर्थ—(श्रीरामजी) श्रीसीताजीकी सुंदरता हृदयमें सराह रहे हैं। दोनों भाई गुरुके समीप गए॥१॥ श्रीरामजीने सब कुछ श्रीविश्वामित्रजीसे कह दिया (क्योंकि) उनका सरल (सीधा-सादा, निष्कपट निश्छल) स्वभाव है। छल तो उसे छूता भी नहीं। २॥

गौड़जी—'हृदय सराहत''' दोउ भाई' इति। अन्वय करनेमें 'गुरु समीप गवने दोउ भाई' को पहले पढ़कर फिर 'हृदय सराहत सीय लोनाई', 'रामु कहा सबु कौशिक पाहीं' पढ़ना चाहिए। 'राम' शब्दके साथ हृदय सराहत' का संबंध स्पष्ट हो जाता है।

टिप्पणी—१ 'हृदय सराहत''' इति। 'गवने' में दोनों भाइयोंको और 'सीय लुनाई' सराहनेमें केवल रामको अर्थ करते समय समझ लेना चाहिए। इस ग्रंथमें प्रसंग आदि पूर्वापरका विशेष विचार चाहिए। जहाँ जैसा अर्थ लगे वैसा लगावे। पूर्वापर विचार करनेसे अर्थ सिद्ध होता है। जैसे—'माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा' में माया, ब्रह्म, जीव जगदीश, ये सब ब्रह्माके बनाए नहीं हैं, इनको ब्रह्माके 'उपजाए' में न लगावें वरंच 'गुन अवगुन साने' में लगावें—'बिधि प्रपंच गुन अवगुन साना'। और, जो ब्रह्माके उपजाये हैं उनको ब्रह्माके उपजाए कहें। पुनः, जैसे – 'सभय रानि कह कहसि किन कुसल राम महिपाल। भरत लषन रिपुदवन सुनि भा कुबरी उर साल' में कुबरीके उरमें शाल राम ही का कुशल सुनकर हुआ न कि भरतादिका कुशल सुनकर। वैसे ही यहां अन्तरार्थ लेने से 'हृदय सराहत' का कर्त्ता 'दोउ भाई' होगा। पर यह असिद्ध है, लक्ष्मणजीके विषयमें ऐसा कहना अयोग्य है, पूर्वापरसे केवल रामजीका सराहना सिद्ध होता है। (पाँड़ेजीका भी यही मत है)।

श्रीलमगोड़ाजी जहाँतक शृङ्गारके माधुर्य्यका संबंध है दोनों भाइयोंका 'सीय लोनाई' सराहना अनुचित नहीं, Æsthetic faculty देखिए। सीताजीने भी वनमें सखियोंसे लखनलालकी सुंदरताकी सराहना की है—'सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखन लघु देवर मोरे।' श्रीमैथिलीशरणजीने भी देवर-भौजाईके सरल सरस परन्तु शुद्ध मजाक लखनलालजी और सीताजीके अपने 'साकेत' में लिखे हैं। (पर मानस और वाल्मीकीयके लक्ष्मणने कभी श्रीसीताजीके चरण छोड़ कुछ देखा ही नहीं है)।

प्र० स्वामी लिखते हैं कि टि० २ में जो लिखा है कि 'जहाँसे संबंध छोड़ते हैं वहीं से फिर उठाते हैं' यह सत्य है। पर संबंध छोड़ा 'परम प्रेम मय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्ही।२३५।३।'

१—१६६१ में 'छुअत' ऐसा है। चिह्न देकर ऊपर लाल रंग से 'त' लिखा है प्रायः अन्य पुस्तकों में छुआ पाठ है।

पर। 'हृदय सराहत बचन न आवा' पर प्रसंग नहीं छोड़ा है। इसके पश्चात् बहुत विचार किया है; लक्ष्मण-जीसे समयानुकूल कहा भी है। 'चारु चित्त भीती लिखि लीन्हीं' का संबंध यहाँके 'हृदय सराहत सीय लोनाई' से जोड़ देनेसे शंका नहीं रह जाती। भाव यह कि जिन्होंने अपने चारु चित्त-भीति पर सीय-मूर्तिको लिख लिया था वे उस समय 'हृदय सराहत सीय लोनाई', और 'गुरु समीप गवने दोउ भाई'। [पं० राम-कुमारका आशय यह है कि 'हृदय सराहत' का प्रसंग वहाँ छोड़ कर बीचमें और बातें कवि कहने लगे थे, अब पुनः 'हृदय सराहत' से चलनेका प्रसंग उठाते हैं। जैसे स्वामीजीने 'जिन्होंने' शब्द बढ़ाकर संबंध मिलाया है, वैसे ही पं० रामकुमारजीके अनुसार जो पूर्व 'हृदय सराहत' थे वे ही 'हृदय सराहत···'। तथापि यह तो केवल भाव हुआ। यहाँ की चौपाई एक पूरा स्वतंत्र वाक्य है; यहाँ से 'चारु चित्त भीती···' वाली चौपाई बहुत दूर है। अतः 'दोउ भाई' वाली शंका अवश्य लोग उठा सकते हैं और उसका समाधान स्वतंत्र वाक्य मानकर करना ही अधिक अच्छा है। वि० त्रि० भी २३५ (३) पर प्रसंग छोड़ना लिखते हैं]

नोट—१ पांड़ेजी तथा बैजनाथजी का मत है कि जैसे श्रीजानकीजी अपना मनोरथ लेकर भवानीके पास गई' वैसे ही श्रीरघुनाथजी अपना मनोरथ लेकर गुरुके पास गए। छल नहीं छू गया है अतः प्रत्येक बात अक्षरशः सत्य-सत्य कह दी; क्योंकि मनोरथ सिद्ध कराना चाहते हैं यह माधुर्यभाव हैं। ऐश्वर्यमें सत्य-संध सत्यव्रत सत्यप्रतिज्ञ हैं—'रामोद्विर्नाभिभाषते'। इससे सब सत्य सत्य कह दिया।

टिप्पणी—२ (क) जहाँसे संबंध छोड़ते हैं वहींसे फिर कहते हैं। 'देखि सीय सोभा सुख पावा। हृदय सराहत बचन न आवा' पूर्व कहा था, 'हृदय सराहत सीय लोनाई। ०।' यहाँ कहा। श्रीसीताजी 'मुदित मन मंदिर चलीं' और ये दोनों 'गुर समीप गवने'। राजकुमारीका राजमहल मंदिर है इससे उनका मंदिरमें जाना कहा और मिथिलाजीमें इनका (श्रीरामजीका) घर नहीं है इससे मंदिरमें जाना न कहा। पूर्व 'समय जानि गुर आयसु पाई। लेन प्रसून चले दोउ भाई' कहा था, अतः 'गुर समीप गवने' कहा। (ख) पूर्व प्रथम रामजीका वाटिकामें आना कहकर तब पीछे सीताजीका आना कहा था, इसीसे अबकी प्रथम सीताजीका जाना कहकर पीछे रामजीका जाना कहा। तात्पर्य्य कि ग्रन्थकारकी प्रीति राम जानकीमें समान है। (यह बात आगे दिखावेंगे कि यहाँ युगल सरकारोंका प्रसंग एक समान लिखा गया है, किंचित् भी कहीं न्यूनाधिक्य नहीं है)। (ग) दोनों भाइयोंका वाटिकामें जाना लिखा था, इसीसे दोनोंका साथ लौटना भी कहा। (घ) 'राम कहा सबु०' इति। शृङ्गारकी बात मुनिसे कहने योग्य न थी पर वह भी कह दी, इसीपर कहते हैं कि उनका 'सरल सुभाउ०'। उनके स्वभावमें छलका लेश भी नहीं, इसीसे सब कह दिया। यथा 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा'। गुरुसे दुराव करनेसे विवेक नहीं होता, यथा 'संत कहहिं अस नीति प्रभु श्रुतिपुरान-मुनि गाव। होइ न बिमल बिबेक उर गुरु सन कियें दुराव। ४५।' यदि सब न कहते तो कपट ठहरता क्योंकि कहने योग्य न था। छलके छूनेका स्वरूप यह है कि कालादिकी प्रबलतासे महात्माओंमें जब किसी प्रकारका कपटछल आ जाता है, तो वे उसको विचारसे त्याग कर देते हैं; तात्पर्य कि औरोंके हृदयमें छल आ जाता है, अधर्म समझकर वे छल नहीं करते, पर रामजीमें वह आता ही नहीं। जहाँ छलका स्पर्श भी नहीं वहाँ उसका त्याग कैसा ?

२ (क)☞नगर देखकर जब आए तब प्रणाम किया; यथा 'सभय सप्रेम बिनीत अति सकुच सहित दोउ भाइ। गुरपदपंकज नाइ सिर बैठे आयसु पाइ। २२५।' पुनः जब संध्या करके आए तब प्रणाम किया, यथा—'करि मुनिचरनसरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा'। पर, फूल लेकर आए तब प्रणाम नहीं किया। क्योंकि शास्त्राज्ञा है कि फूल लिये हुए प्रणाम न करे, अन्यथा वे पुष्पादि देवताके योग्य नहीं रह जाते। शास्त्रमर्य्यादाका पालन यहाँ दोनों ओरसे दिखाते हैं। पूजाके प्रारंभमें फूल पहुँचे, दूसरे दोनोंके

हाथोंमें अमनिया फूल थे; इन हालतोंमें आशीर्वाद देनेका निषेध है यथा—'पुष्प हस्ते वारिहस्ते तैलाभ्यंगे जले स्थिते। आशीर्नमः प्रकर्त्तारावुभौ नरक गामिनौ॥' (प्रसिद्ध)। इसीसे फूल लिये हुए नमस्कार न किया और न मुनिने आशीर्वाद दिया। फूल लेकर जब पूजा कर चुके तब आशीर्वाद दिया जैसा आगे स्पष्ट है।

सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही। पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही॥३॥
सफल मनोरथ होंहु[1] तुम्हारे। रामु लषनु सुनि भये सुखारे॥४॥
करि भोजनु मुनिवर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी॥५॥

अर्थ—फूल पाकर मुनिने पूजा की, फिर दोनों भाइयोंको आशीर्वाद दिया॥ ३॥—'तुम्हारे मनोरथ सफल हों'। श्रीराम लक्ष्मणजी (आशीर्वाद) सुनकर सुखी हुए॥ ४॥ विज्ञानी मुनिश्रेष्ठ भोजन करके कुछ पुरानी कथा कहने लगे॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही' से सूचित होता है कि फूल समयपर आए, न तो प्रथमसे आए कि देरतक धरे रहते और न देरहीको आए कि मुनिको राह देखनी पड़ती, उधर पूजाका प्रारंभ हुआ इधर फूल पहुँचे। (ख) 'पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही'—इससे जनाया कि सुमन बहुत उत्तम उत्तम थे, और ठीक समयमें आए थे जिससे मुनि दोनों भाइयोंपर प्रसन्न हुए और दोनोंको आशीर्वाद दिया। इससे यह भी जनाया कि दोनों भाइयोंने पृथक् पृथक् अपने अपने फूलोंके दोने दिये। (ग) 'सफल मनोरथ होंहु तुम्हारे' इति। श्रीरामजीने सब बात निष्कपट मुनिसे कह दी तब तो उनको आशीर्वाद देना था कि तुमको राजकुमारी मिले पर ऐसा न कहकर यह कहा कि तुम्हारे मनोरथ सफल हों, यह क्यों? इसलिये कि यदि सीताप्राप्तिका आशीर्वाद देते तो दोनों भाइयोंका मनोरथ सफल न होता, और यदि कहते कि दोनोंको मनोवांछित स्त्रियाँ प्राप्त हों तो भी मनोरथ न सफल होता, क्योंकि रामजीका मनोरथ है कि चारों भाइयोंके विवाह एक साथ ही हों, जैसे जन्मसे लेकर सभी संस्कार एक ही साथ होते आए हैं—'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई। करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भए उछाहा। २.१०।' इसीसे मुनिने समझबूझकर आशीर्वाद दिया। अतः 'होंहु तुम्हारे' बहुवचनका प्रयोग हुआ। मुनिका आशिष सुन-समझकर दोनों भाइयोंको सुख हुआ। [श्रीलक्ष्मणजीका अपना कोई मनोरथ नहीं है। उनका मनोरथ तो यही है कि श्रीरामजी ही धनुष तोड़ें और श्रीसीताजीको ब्याहें, इसीमें उनको सुख है, यथा 'असहिं प्रभु सब भगत तुम्हार। होइहहि टूट धनुष सुखारे। २३६।३।' श्रीरघुनाथजीको जिसमें सुख हो उसीमें वे सुख मानते हैं। वे चाहते हैं कि 'त्रिलोक-विजय-रूपा श्रीजानकीजी श्रीरामजीको प्राप्त हों। आशीर्वादसे श्रीसीताजीकी प्राप्तिका निश्चय हो गया। अतः सुखी हुए। (पां०)। संध्या करनेके बाद, पूजनके पश्चात् अथवा भोजनके पश्चात् जो ब्राह्मणके मुखसे निकलता है वह सत्य होता है। अतएव पूजनके बाद आशीर्वाद दिया गया। (वि० त्रि०)]

२ (क) 'करि भोजन मुनिवर बिज्ञानी' इति। कलके भोजनमें श्रीरामजी प्रधान थे, यथा 'रिषय संग रघुबंसमनि करि भोजन बिश्रामु। २१७।'; इसीसे भोजन करके वहाँ विश्राम करना कहते हैं क्योंकि ये राजकुमार हैं, इनको भोजन करके विश्राम करना उचित है। और, आजके भोजनमें मुनि प्रधान हैं, इसीसे आज भोजन करके विश्राम करना नहीं लिखते, क्योंकि मुनि तपस्वी हैं, वे भोजन करके विश्राम नहीं करते, वे तो हजारों वर्ष खड़े रहनेवाले हैं, कथा ही उनका विश्राम है। (ख) कल कथा रात्रिमें हुई, यथा 'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी', और आज कथा दिनमें हुई। इससे

१ होउ—रा० प०, १७०४। होंहु—१६६१। ऐसा प्रयोग मानस तथा विनय आदिमें बहुत है। होउ = होवे। होंहु—हों, होवें।

जनाया कि कथाके मुख्य श्रोता श्रीरामजी हैं, यथा 'भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना। २१०।८।' श्रीरामजी दूसर समय नगरदर्शनके लिये चले गए थे, इसीसे कथा रात्रिमें हुई, आज कहीं गए नहीं इसीसे कथा दिनमें हुई। (ग) तीसरे दिन भोजनका उल्लेख नहीं हुआ क्योंकि उस दिन धनुषयज्ञमें गए थे बारह बजे धनुष टूटा फिर परशुरामसंवाद हुआ। धनुष तोड़नेपर अब रामजी दामाद हो गए। उसके पहले अतिथि थे। जबतक अतिथि थे तबतक अतिथि-सेवा कही। आगे जब बाराती अतिथि आवेंगे तब फिर जेवनार कहेंगे।

नोट—१ यज्ञरक्षाके पश्चात् कहा है कि "तहँ पुनि कछुक दिवस रघुराया। रहे कीन्हि बिप्रन्ह पर दाया॥ ७॥ भगति हेतु बहु कथा पुराना। कहे बिप्र जद्यपि प्रभु जाना। २१०.८।" यहाँ कथाका समय नहीं दिया गया। इससे जनाया कि सवेरे, दोपहरको भोजनके पश्चात् और फिर सायं सन्ध्याके पश्चात् तीनों कालोंमें आज कल कथा होती है। "विषय संग रघुबंशमनि करि भोजन बिश्रामु। २१७।' यहाँ 'विश्राम' का अर्थ 'सोना' नहीं है। शरद् ऋतुमें दिनमें सोना निषिद्ध है। चलकर आए हैं, थके हैं, अतः आज भोजनके पश्चात् कथा दिनमें नहीं हुई। नगरदर्शन और संध्याके पश्चात् हुई। यथा 'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी। २२६।२।'

दूसरे दिन प्रातः नित्य क्रियासे निबटकर बाटिकासे पुष्प आदि लाये, गुरुने पूजा की, आशीर्वाद दिया। तत्पश्चात् भोजन हुआ। भोजनके पश्चात् दिनमें कथा हुई। यथा 'करि भोजन मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी। २३७।५।' रातमें कथा नहीं हुई। इन दोनों प्रसंगोंपर विचार करनेसे यह भी सूचित होता है कि इस समय एक ही समय कथाका नियम था। दिनमें कथा हुई तो रात्रिमें नहीं, दिनमें न हुई तो रात्रिमें अवश्य होती थी। और जब मुनिके आश्रममें थे तब यज्ञरक्षाके समयतक कथा बंद थी, यज्ञरक्षाके पश्चात् तीनों समय कथा होती थी। पुनः इन प्रसंगोंसे यह भी स्पष्ट है कि जबसे मुनिके साथ आए तबसे रात्रिमें भोजन नहीं करते; मुनि एक ही समय भोजन करते हैं अतः ये भी एक ही समय करते हैं। इसीसे विश्वामित्रजीके साथ रात्रिमें भोजनकी चर्चा कहीं नहीं की गई।

प० प० प्र०—भोजनोपरान्त विश्राम करनेका अवसर न दिया, क्योंकि पूजाके लिये दल फूल समय पर न मिलनेसे भोजन देरमें हुआ, दूसरे मुनि विज्ञानी हैं, जानते हैं कि युगल कुमार आज सायं संध्या-वंदन करके शीघ्र न लौट सकेंगे और कल तो शीघ्र ही नित्य कर्म करके धनुर्भंगके लिये जाना पड़ेगा। तीसरे, वात्सल्यमें यह भी कहा कि आज राजकुमारोंको जल्दी सो जाना चाहिए, कल धनुर्भंगके लिये उत्साह आदिकी वृद्धि होनी चाहिए, अतः आज रात्रिमें कथाके लिये समय नहीं रहेगा।

नोट—२ (क) राजपुत्र और राजकुमारीका संयोग जाननेसे 'विज्ञानी' कहा। (राजा दशरथसे इन्होंने कहा ही था—'इन्ह कहँ अति कल्यान। २०७।' विवाह और तीनों लोकोंके राजाओंपर विजय ही 'अति कल्यान' है। (पां०)। पुनः 'विज्ञानी' से जनाया कि कथामें ज्ञान विज्ञानकी चर्चा होगी। और 'कथा कहने लगे' से सूचित किया कि भक्तिप्रधान कथा कहने लगे। सारांश कि ज्ञान-विज्ञानोत्तर-भक्ति विषयक कथा कही। (प० प० प्र०)। (ख) कोई-कोई (शृङ्गारी लोग) ऐसा कहते हैं कि प्रभुके चित्तकी विवस्था जान विश्राम न करने दिया, कथा कहने लगे जिससे चित्तको विश्राम मिले। (प्र० सं०)। (ग) कथा दोपहरसे लेकर सूर्यास्ततक हुई, कोई बड़ी और बढ़िया कथा कहते रहे जिसमें किसीको उठनेकी इच्छा न हुई। जब मुनिने स्वयं आज्ञा दी तब संध्याकाल जानकर संध्या करने उठे। (प्र० सं०)। वैजनाथजीका मत है कि दिनांत पहर जानकर मुनि कथा कहने लगे, विश्राम न किया।

बिगत दिवसु मुनि आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई॥६॥

प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा । सियमुख सरिस देखि सुखु पावा ॥७॥
बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं । सीय बदन सम हिमकर नाहीं ॥८॥

अर्थ—दिन बीत जानेपर मुनिकी आज्ञा पाकर दोनों भाई, संध्या करने चले ॥६॥ पूर्वदिशामें सुन्दर चन्द्रमा उदित हुआ । सीताजीके मुखके समान देखकर (श्रीरामजीने) सुख पाया ॥७॥ फिर मनमें विचार किया (तो यह ठहराया) कि चन्द्रमा श्रीसीताजीके मुखके समान नहीं है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिगत दिवसु' से सूचित हुआ कि कथा दो पहर हुई, भोजन करके बैठे कथामें संध्या हो गई । इसी तरह कल संध्याके बैठे आधी राततक कथा हुई थी, यथा 'रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ।' इससे यह भी दिखाया कि सब अत्यन्त आसन दृढ़ हैं । ['बिगत दिवस' और 'निसिप्रवेस' एक ही बात है । संध्या आते ही गुरुजीकी आज्ञा हो जाती है । अतः दोनों भाई चले । (वि० त्रि०)] (ख) 'मुनि आयसु पाई' से कथामें प्रेम, दृढ़ आसन और कथाका बढ़िया होना सूचित किया जिससे किसीको उठनेकी इच्छा न हुई, जब मुनिने स्वयं आज्ञा दी तब उठे । (ग) 'संध्या करन चले दोउ भाई' इति । इससे जनाया कि बाहर जलाशयके निकट संध्या करने गए । यही विधि है । 'सायं संध्या बहिर्जले' । पुनः, 'चले दोउ भाई' से यह भी जनाया कि जहाँ जाते हैं, दोनों भाई साथ जाते हैं, तीसरेका संग नहीं लेते; यथा 'तेहि अवसर आए दोउ भाई । गए रहे देखन फुलवाई', 'समय जानि गुर आयसु पाई । लेन प्रसून चले दोउ भाई' तथा यहाँ ।

प० प० प्र०—कल तो कहा था कि 'निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा । २२६।१ ।' और आज 'मुनि आयसु पाई' कहा । इस भेदसे जनाया कि आज संध्यावंदनके लिए जानेको पूछना पड़ा । तब 'आयसु पाई' । जबसे 'सुख सनेह सोभाकी खानी' को चित्त-भीतिपर लिख लिया तबसे उसे देखनेका अवसर ही न मिला, और यदि संध्यावंदनके लिये आज्ञा न माँगते तो न जाने कितनी देर हो जाती । अतः एकान्त रम्य स्थानमें ही जायेंगे और उस शोभाखानिको निरख-निरखकर सुखी होंगे ।

टिप्पणी—२ 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा' से सूचित किया कि शरद्की पूर्णिमा थी । 'बिगत दिवसु' अर्थात् सूर्यास्तपर संध्या करने चले और प्राची दिशिमें चंद्रोदय हुआ । पूर्णिमाका चन्द्रमा संध्यामें उदय होता है । सीताजीके मुखकी उपमा दी, इससे भी निश्चय हुआ कि शरद्चन्द्र है और इससे 'सुहावा' है । पुनः भाव कि सीताजीका मुख सुहावना है, चन्द्रमा उसका उपमान है, इससे चन्द्रमाको सुहावा कहा । [पुनः 'प्राची दिसि ससि उयेउ' से जनाया कि पूर्वदिशामें संध्यावंदन करने चले । इसीसे सामने ही चन्द्रमा देखनेमें आया । 'सुहावा' और ऊपरके 'बिगत दिवसु' से पूर्णचन्द्र जनाया, क्योंकि इधर 'बिगत दिवसु' और उधर चन्द्रोदय दोनों साथ हुए ।···जैसे श्रीसीताजीके मुखको देखकर सुख पाया था,···वैसे ही चन्द्रमासे सुख पाया । जैसे किशोरीजीकी शोभा देखकर हृदयमें सराहना की थी, वैसे ही यहाँ भी हृदयमें सराहना समझिये । पूर्व लक्ष्मणजीको संबोधन करके बातें की थीं, यथा 'कहत लषन सन रामु हृदय गुनि । २३०.१।' पर वे कुछ न बोले थे, वैसेही यहाँ भी जानिये । (प्र० सं०) । बैजनाथजीका मत है कि उस दिन कुछ चतुर्दशीके उपरान्त आश्विनशुक्ला पूर्णिमा थी, इसीसे जब प्रभुने संध्या की उतनेहीमें पूर्वदिशामें चन्द्र उदित हुआ । प्र० स्वामीका मत है कि 'बिगत दिवस' से कथामें ही सूर्यास्तका हो जाना सिद्ध होता है । तत्पश्चात् नगर के बाहर जलाशयपर गए तब चन्द्रोदय हुआ इससे पाया गया कि आज सायंकालमें कृष्ण प्रतिपदा पौर्णिमान्तमासगणनानुसार कार्तिक कृ० १ है । (पर चौपाईमें 'चले' और 'सुहावा' शब्द से पं० रामकुमारजी और मयङ्ककारके मतका भी पोषण हो जाता है) । वि० त्रि० का भी मत है कि 'बिगत दिवस' और 'निसि प्रवेस' एक ही बात है । पंडितोंने एक मुहूर्त दिन रहते ही रात्रि बतलाई है । संध्या आते ही गुरुजीकी आज्ञा संध्याके लिये हो गई] ।

नोट—१ संध्याका समय क्या है यह जान लेनेसे भी चौपाईका यथार्थ भाव स्पष्ट हो जाता है। इसलिये संध्याके विषयमें प्रामाणिक श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैं। "संध्याका समय क्या है, कब करनी चाहिए, क्यों करनी चाहिए और न करनेका परिणाम क्या है" ये सब स्पष्ट हो जायेंगे। प्रस्तुत प्रसंग सायं संध्याका है, अतः प्रथम उसीका श्लोक देते हैं।—"उत्तमा सूर्यसहिता मध्यमा लुप्तभास्करा। अधमा तारकोपेता सायं संध्या त्रिधामता। अध्यर्धयामादा सायं संध्या मध्याह्निकीष्यते॥" (धर्मसिंधु संध्याकाल प्रकरण) इसमें बताया गया है कि उत्तम सायं संध्या वह है जो कुछ सूर्य रहतेही की जाय। (सूर्यास्तके पूर्व तीन घड़ीतक उत्तम माना जाता है) । सूर्य रहित संध्या मध्यम है और तारागण निकलने पर जो की जाती है वह अधम संध्या है। यह निश्चय है कि ब्रह्मर्षि उत्तमही संध्या करते कराते होंगे। अतः जब दोनों भाइयोंने संध्या की उस समय सूर्य थे। प्र० स्वामीका मत है कि हरिकथा या गुरुसेवाके कारण यदि कनिष्ठ कालमें ही संध्या करनी पड़े तो भी वह दोष नहीं माना जायगा।

नारायण विट्ठल वैद्यकृत आह्निक सूत्रावली षष्ठसंस्करणमें प्रातः संध्याके संबंधके श्लोक ये हैं—(१) "अहो रात्रस्य यस्सन्धि सूर्यनक्षत्रवर्जितः सा तु संध्या समाख्याता मुनिभिस्तत्वदर्शिभिः।" (नागदेव)। (२) "उत्तमा तारकोपेता मध्यमा लुप्ततारका। अधमा सूर्यसहिता प्रातः संध्या त्रिधामता।" (धर्मसार)। (३) निशायां वा दिवा वापि यदज्ञानकृतं भवेत्। त्रिकाल संध्याकरणात्तत्सर्वं हि प्रणश्यति। (अत्रि)। (४) संध्याहीनो शुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु। यदन्यत्कुरुते कर्म न तस्य फल भाग् भवेत्। (मरीचि)। भावार्थ यह है सूर्य और नक्षत्र रहित दिन और रात्रिकी संधि संध्याकाल है। तारागण रहते हुए जो संध्या की जाय वह उत्तम है। तारागणके लुप्त होनेपर की जानेवाली संध्या मध्यमा और सूर्योदयपर की हुई अधमा है। त्रिकाल संध्या करनेसे अज्ञानसे किए हुए समस्त पापोंका नाश होता है। संध्या न करनेसे मनुष्यके दिन-रातमें किये हुए सब कर्म निष्फल हो जाते हैं।

श्रीरामजीकी दिनचर्यामें प्रातः संध्याका ऊल्लेख भी है। वे ब्रह्ममुहूर्तमें उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर उत्तम प्रातः संध्या करते हैं। नित्य क्रियामें संध्या भी है।

२ —टिप्पणी २ में पूर्व दिशामें संध्यावंदन करने जाना जो कहा गया है वह 'बिगत दिवस चले' के संबंधमें कहा गया। पूर्वकी ओर चले तो सुहावना (पूर्ण) चन्द्र उदित हुआ देख पड़ा। मार्गमें ही जाते देखा। यदि जलाशयपर जानेपर चन्द्रोदय देखा (जो प० प० प्र० का मत है) तो पूर्व दिशामें गये हों अथवा किसी और दिशामें गए हों इसका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। क्योंकि 'संध्या करते समय आचमन, प्राणायाम और गायत्रीजप भी पूर्व ओर मुख करके ही करना पड़ता है', उस समय चन्द्रदर्शन चतुर्दशी, पूर्णिमा, प्रतिपदा (क्र०) को स्वाभाविक ही होगा। यद्यपि संध्यामें कब किस दिशामें मुख करके वंदन किया जाता है इसके लिखनेकी आवश्यकता नहीं, फिर भी इस विचारसे कि कोई उसे जानकर और भाव निकालें हम उसे यहां लिखे देते हैं। 'सायंसंध्याकर्मके समय प्रथम पूर्वाभिमुख होकर आचमन प्राणायाम मार्जनादि होता है, पश्चात् पश्चिमाभिमुख अर्घ्य प्रदान होता है और फिर आचमन करनेको पूर्वाभिमुख होना पड़ता है। जपकी समाप्ति पर पुनः पश्चिमाभिमुख होकर दश दिक्पालोंका वन्दन प्रारंभ होता है और प्रदक्षिणा पूरी करनेके समय फिर घूमकर पूर्वाभिमुख होकर संध्याकी समाप्तिपर आचमनप्राणायाम करना पड़ता है।

टिप्पणी—२ "सियमुख सरिस···" इति। (क) यहां 'प्रथम प्रतीपालंकार' है और चंद्रमा को देखकर सीताजीके मुखकी स्मृति हुई इससे 'स्मृति अलंकार' भी है। (ख) 'सुखु पावा' का भाव कि जानकीजीका मुख देखकर सुख पाया था, यथा—'अस कहि फिरि चितए तेहि ओरा। सिय मुखससि भए नयन चकोरा॥ देखि सीयसोभा सुख पावा।', चंद्रमा सियमुखसरिज है इसीसे चन्द्रमाको देखकर सुख पाया। (ग)— 'बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं।०'इससे सूचित किया कि चंद्रमाकी सुंदरता देखनेमें सीताजी के मुखके सदृश

है पर गुण अवगुण विचार करनेपर सदृश नहीं है। (एकाएक तो चन्द्र उनके मुखके समान ही प्रतीत हुआ, पर विचार करनेपर राय पलट गई। वि० त्रि०)। यहाँ उपमेय 'सियमुख' द्वारा उपमान चंद्रमाका निरादर होनेसे 'तृतीय प्रतीपालंकार' है। विचारसे यह निश्चय हुआ कि वह सीतामुख के सदृश नहीं है इसका हेतु आगे कहते हैं।

मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि "जब रामचंद्रजी संध्या करने चले तभी चंद्रमाको उगा हुआ देखा इससे यह सूचित होता है कि उस दिन आमंद पूर्णिमा थी और रामचंद्रजी जानकीजीके स्मरणमें ऐसे फँसे थे कि न तो संध्या करसके, न गुरुसेवाही हो सकी और न नींदही पड़ी। क्योंकि मूलमें लिखा है कि 'संध्या करन चले'; यह नहीं लिखते कि संध्यावंदन किया।—[अयोध्याकांडमें भी ऐसाही प्रयोग है। यथा 'पुरजन करि जोहारु घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए॥ २·८६॥' वहाँभी 'करन सिधाए' कहकर फिर उसका करना नहीं लिखा है। इसी तरह यहां भी लगा सकते हैं कि संध्या की। मर्यादापुरुषोत्तम मर्यादाका पालन नहीं छोड़ेंगे। इसी तरह गुरुसेवा एक दिन कह दी गई—'गुर पद कमल पलोटत प्रीते॥ २२६.५॥', वैसेही नित्य करते हैं, यह बात पूर्व लिखी गई है। पर शृङ्गाररसमें वह भाव कहा जा सकता है। त्रिपाठीजीका मत है कि आज चतुर्दशी वा पूर्णमासी है, सायं संध्या होते-होते चन्द्रोदय हो गया, देखा कि सीताजीके मुखके समान प्रकाशकत्व और आह्लादकत्व है, इससे सुख मिला।]—पूर्व गुरुकी सेवा करके सोया करते थे, आज केवल प्रणाम किया, यथा 'करि मुनि चरन सरोज प्रनामा।' पहले शयन-पद दिया गया, यथा 'रघुबर जाइ सयन तब कीन्हा' और यहां 'आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा'। अर्थात् विश्राम किया, नींद नहीं पड़ी। नींद ने सोते तो 'शयन' लिखते" (पं० रामकुमारजीका मत २३८.५ में देखिए।) श्रीजानकी-शरणजी (स्नेहलता) कहते हैं कि "इतनी विह्वलता है कि संध्यामें दक्षिण (पश्चिम) मुख रहना चाहिए सो आज पूर्व दिशाकी ओर मुख कर बैठे।" [पूर्व दिशाकी ओर मुख करके बैठे और संध्या की, यह कथन सन्ध्या-विधिके ज्ञानका अभाव ही प्रदर्शित करता है। प० प० प्र०]।

श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि "वियोगके कारण दुःख था, इसीसे सीताजीके मुख सरिस देख सुख हुआ। सुख पानेमें 'स्मरण अलंकार' है, समता-गुणमात्रसे सुखदायी हुआ, यथार्थतः वियोगियोंको दुःखद होता है। 'हिमकर' अर्थात् अत्यन्त शीत करनेवाला है, पाला डालता है। हिमकर प्रथम सुखद हुआ तब श्रीकिशोरीजीके मुखके समान कहकर उसमें अनेक गुण सूचित किये पर जब वह विरहवर्धक हुआ तब निंदा की, अवगुण कहकर गुणोंका लोप कर दिया।"

श्रीराजारामशरण लमगोड़ाजी—१ 'स, म, प, च' इत्यादि रसास्वादनके अक्षर विचारणीय हैं, यहां भी और प्रसंगभरमें। २—'उयेउ'। फुलवारीही बसी है, मानों चन्द्रमाभी उसीमें 'उगा' है और आगे 'उयेउ अरुन' भी। ३—देखिए, सारी उपमाएँ कवियोंकी जुठारी समझ तथा 'प्राकृतनारि-अंग अनुरागीं' जान रामका हृदय पहलेही त्याग चुका है। चन्द्रमापर तनिक रुका और कुछ सुख पाया। पर 'एकसे जब दो हुए तब लुत्फे यकताई नहीं' के अनुसार प्रेम चंद्रमामें दोषोंकी वह तालिका निकाल देता है कि जिसकी सीमा नहीं। पहले नामही 'हिमकर' दिया जो प्रेमकी उमंगको ठिठुरा देता है।—पहले भी संकेत हो चुका है।

दोहा—जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सिय-मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु॥२३७॥

अर्थ—समुद्रमें तो उसका जन्म, फिर विष उसका भाई है, दिनमें प्रकाशहीन रहता है और कलंकी है। बिचारा दरिद्र चन्द्रमा श्रीसीताजीके मुखकी समता कैसे पा सकता है?। २३७।

टिप्पणी--१ (क) सिंधु जड़ है, यथा 'गगन समीर अनल जल धरनी । इन्ह कै नाथ सहज जड़ करनी ।' जड़से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि कारणका गुण कार्य्यमें आ जाता है। अथवा, चंद्रमा इस समुद्रसे उत्पन्न हुआ है, इससे सीताजीके मुखकी उपमा नहीं होसकता । जब ऐसा उत्पन्न हो कि जैसा आगे कविने कहा है--'जौं छबिसुधा-पयोनिधि होई । परमरूपमयकच्छप सोई ॥ सोभा रजु मंदर सिंगारू । मथै पानिपंकज निज मारू ॥ एहि बिधि उपजै 'चंद्र' जब सुंदरता-सुखमूल । तदपि सकोच समेत कबि कहहिं 'सीयमुख' तूल ।' [सिंधु खारा है, यहभी दोष है (पां०)] (ख)--'बंधु बिष'', यथा 'बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही । कहिय रमा सम किमि बैदेही' । (ग) ☞गुण और अवगुण चार जगहसे देखे जाते हैं--कुल, संग, शरीर और स्वभावसे । यहां चन्द्रमाके ये चारों दिखाते हैं --'जन्म सिंधु' यह कुल है, 'बंधु बिष' यह संग है, 'दिन मलीन सकलंक घटै बढ़ै' यह शरीर है और 'बिरहिनि दुखदाई, कोक सोकप्रद पंकजद्रोही' यह स्वभाव है । चारों प्रकारसे दूषित है । (घ)--'बापुरो' का भाव कि शोभासे रंक है, न कुलसे शोभा पावे न संगसे, न शरीरसे और न स्वभावसे ही । सब प्रकार हीन है ।

नोट--१ चार प्रकारकी योग्यतासे उत्तमता और अयोग्यतासे अधमता मानी जाती है। कालकूट भी सिंधुसे निकला था और चंद्रमा भी; इसतरह दोनों भाई भाई हैं । गुरुद्रोह, गुरुपत्नीगमन इत्यादि कलंक हैं । शरीर क्षयीरोगग्रस्त है । चंद्रमाका पिता जड़ और डुबानेवाला है, श्रीजानकीजीके पिता श्रीजनकजी हैं जो स्वयं ज्ञानी हैं और दूसरोंको भी तार देनेवाले हैं । चंद्रमाका बंधु विष है जो मारनेवाला है, जानकीजीके बंधु गुण-शील-रूपनिधान लक्ष्मीनिधिजी हैं । चन्द्रमा दिनमें प्रकाशरहित, जानकीजी दिनरात एकरस प्रकाशयुक्त । 'बापुरा रंक' कहनेका भाव कि अन्य ग्रहोंकी अपेक्षा इसकी साहबी थोड़ी ही अर्थात् सवा दो दिनकी ही है । चन्द्रमाको प्रकाश सूर्यसे मिलता है, रात्रिमें ही उसका प्रकाश रहता है और सीताजीका प्रकाश तो दिनमें भी रहता है, यथा 'करत प्रकास फिरहि फुलवाई । २३१।२ ।' चन्द्रमा कलंकित है, श्रीजानकीजी सदा निष्कलंक हैं; यथा 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता । जगदंबा संततमनिंदता । ७.२४ ।' उनकी कीर्त्ति पवित्र है, यथा ''जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी । गवन कीन्ह बिधि अंड करोरी । २.२८७ ।' बैजनाथजीका मत है कि अमावस्याको एक ही कला रहती है और वह भी सूर्यमें लुप्त हो जाती है । श्रीकिशोरीजीका मुख सदा एकरस शोभित रहता है । [चंद्रमाको गुरुतल्पगामी होनेका कलंक है, यथा--'ससि गुर-तिय-गामी''' । २.२२८] ।

--पुष्पवाटिका-प्रसंगमें श्रीराम-जानकीजी दोनों पक्षोंका मिलान--

श्रीरामजी	श्रीसीताजी
सकल सौच करि जाइ नहाए	मज्जन करि सर सखिन्ह समेता
नित्य निबाहि मुनिहि सिरु नाए	गई गौरि निकेता
समय जानि	तेहि अवसर सीता तहँ आई
गुरु आयसु पाई	जननि पठाई
लेन प्रसून चले	गिरिजापूजन आई
दोउ भाई (यहाँ भाई साथमें)	संग सखी सब सुभग सयानी (यहाँ सखियाँ साथमें)
लगे लेन दल फूल मुदित मन	गई मुदित मन गौरि निकेता
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा	लता ओट तब सखिन्ह लखाए
सियमुख ससि भये नयन चकोरा	सरद ससिहि जनु चितव चकोरी
भये बिलोचन चारु अचंचल	थके नयन रघुपति छबि देखे

मनहु सकुचि निमि तजेउ दृगंचल	पलकन्हिहू परिहरी निमेषें
देखि सीय सोभा सुख पावा	देखि रूप लोचन ललचाने
हृदय सराहत बचन न आवा	अधिक सनेहु देह भै भोरी
सिय शोभा हिय बरनि प्रभु	लोचन मग रामहि उर आनी
आपनि दसा बिचारि	दीन्हे पलक-कपाट सयानी
सहज पुनीत मोर मन छोभा	सुमिरि पितापन मन अति छोभा
फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता	मंजुल मंगलमूल बाम अंग फरकन लगे
चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही	चली राखि उर स्यामल मूरति
गरु समीप गवने दोउ भाई	गई भवानीभवन बहोरी
राम कहा सब कौसिक पाहीं	मोर मनोरथ जानहु नीके
सुमन पाइ मुनि पूजा कीन्ही	बिनय प्रेमबस भई भवानी
पुनि असीस दुहु भाइन्ह दीन्ही	सुनु सिय सत्य असीस हमारी
सफल मनोरथ होंहु तुम्हारे	पूजिहि मन कामना तुम्हारी
रामलखन सुनि भये सुखारे	सिय हिय हरप न जाइ कहि

घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई। ग्रसै राहु निज संधिहि पाई ॥१॥
कोक सोकप्रद पंकजद्रोही। अवगुन बहुत चंद्रमा तोही ॥२॥

शब्दार्थ—संधि=अवकाश, अवसर। पूर्णिमा और प्रतिपदाकी संधि (मेल वा बीच) में।

अर्थ—घटता बढ़ता है, वियोगिनी-विरहिणीको दुःख देनेवाला है। राहु अपनी संधिमें पाकर ग्रस लेता है॥ १ ॥ कोक (चक्रवाक) को शोक देनेवाला और कमलका शत्रु है। हे चन्द्रमा! तुझ में बहुत अवगुण हैं॥२॥

श्रीराजारामशरणजी—१ निर्जीवको सजीव तो सभी कवि बाँधते हैं परन्तु भावका वह चढ़ाव दिखा देना जिससे वह स्वाभाविक बन जाय तुलसीदासजीकी विशेषता है। प्रेममें यह जान पड़ता है कि मानों चन्द्रमा सीताजीके मुखकी बराबरी करनेके हेतु विशेष तैयारीसे निकला हुआ (है), रामका प्रेमिक हृदय (ऐसा) समझ रहा है। इसीसे तो दोषोंकी धारा बाँध दी और अन्तमें चंद्रमाको संबोधन करके 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही' कह ही दिया। २—चन्द्रमापर भी उपमाके संबंधसे कविताको नाज था। और कितनी ही नायिकाओंको उससे उपमा दी गई, किंतु तुलसीदासजी उससे उपमा देना तो अलग रहा, उसको भी सियमुखसरिस कहना ठीक नहीं समझते और कितने ही दोष गिना देते हैं। ३—स्मरण रहे कि प्रेम बराबर पक रहा है, संध्यामें भी प्रेमिकाकी ही याद (वियोगमें स्मरणानन्द) है।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ दोष दिखानेका प्रकरण है। घटना दोष है, इसीसे पहले 'घटै' कहा, तब 'बढ़ै'। घटता बढ़ता है अर्थात् एकरस शोभा नहीं रहती, सदा विषमावस्था बनी रहती है। बिरहिनि-दुखदाई है अर्थात् सबको एकरस सुखदाता नहीं है। किसीको सुख देता है तो किसीको दुःख देता है। सब तिथियोंमें घटता बढ़ता है एक पूर्णिमा ही को पूर्ण होता है तहाँ उसमें यह दोष है कि अपनी संधि पाकर अर्थात् पूर्णिमा-प्रतिपदा के बीचमें उसे राहु ग्रस लेता है। इस तरह बढ़ना भी दोष हुआ। 'निज संधिहि' का भाव कि और शत्रुओंकी संधि और है, राहुकी संधि पूर्णिमा प्रतिपदाका बीच है। इससे जनाया कि वह राहुका उच्छिष्ट है। (ख)—पुनः, प्रथम 'घटै' कहा क्योंकि पहले कृष्णपक्ष है पीछे शुक्ल। किसीके मतसे पहले शुक्ल है तब

कृष्णपक्ष है—यह अत गोस्वामीजी प्रथम ही 'सम प्रकाश तम पाख दुहु नाम भेद बिधि कीन्ह। ससि पोषक सोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह' दोहा ७ में कह आए। (१६६१ में 'सोषक पोषक' पाठ है)। (ग)—'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।' इति। जीवोंके रहनेके तीन स्थल हैं, जल थल और नभ, यथा 'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना। १.३-४।' यहाँ दिखाते हैं कि चन्द्रमा तीनों स्थलोंके निवासियोंको दुखः देता है। 'बिरहिनि दुखदाई' से थलचरोंको दुःख देना कहा। 'कोक-सोकप्रद' से नभचरों को दुःखदायक कहा और पंकजद्रोहीसे जलचरोंको दुःखदायी कहा। एकएक स्थलका एकएक उदाहरण दिया। पुनः, (घ)—विरहिनिको दुःखदाई और कोकको शोकप्रद कहनेका तात्पर्य्य यह है कि वियोगियोंको दुःख देता है ही और संयोगियोंको भी वियोगी बनाकर दुःख देता है। विरही और कोक चेतन हैं, पंकज (कमल) जड़ है। इस तरह पंकजद्रोही भी कहकर जड़ चेतन सभीको दुःखदाता बताया। (ङ) - तीनोंको दुःखदाई इस प्रकार है कि "विरहिनि' को अग्निरूप होकर और पंकजको हिम (पाला) रूप होकर जलाता है; यथा "पावक मय ससि स्रवत न आगी। मानहु मोहि जानि हतभागी। ५.१२ ", 'मानहुँ तुहिन बनज-बनु मारा। २.१५६।', 'विश्व सुखद खल कमल तुषारू। १६।५।' कोक-कोकी दिन भर साथ रहते हैं, रात्रिमें उनका वियोग होता है, शशिकिरणके स्पर्शसे वह व्याकुल हो जाता है, यथा 'ससिकर छुअत बिकल जिमि कोकू। २।२६।४।' किसीको अग्निरूप, किसीको पालारूप, इसीसे 'हिमकर' कहा। पुनः, कोक और पंकजका उदाहरण देकर जनाया कि रात दिन वैर करता है। [पुनः, पक्षीने किसीका क्या बिगाड़ा है, सो यह कोकको शोक देता है। कमल संसारको प्रिय है, पर यह उससे भी द्रोह करता है। (वि. त्रि.)]। (च)—जो सब प्रकारसे हीन हो वह 'बापुरा' कहलाता है इसीसे सब प्रकारसे हीनता दिखाई। (छ) 'अवगुन बहुत' अर्थात् थोड़े भी अवगुण होते तो भी जानकीजीके मुखकी उपमा नहीं दे सकते और तुझमें तो अगणित दोष हैं, तेरी उपमा देनेसे दोष लगेगा।

नोट—१ भूषण बारह हैं। इसीसे बारह दोष चन्द्रमामें दिखाकर उसके विरुद्ध श्रीकिशोरीजीमें भूषण दरसाते हैं। ऊपर दोहेमें छः दोष दिखाए गए और उसके विरुद्ध श्रीजानकीजीमें छः भूषण दिखाए। दोहा २३७ में देखिए। चन्द्रमा घटता है, बढ़ता है, दो दोष ये हैं। श्रीविदेहनन्दिनी सदा समान, उनकी शोभा एकरस है। वह कितनों ही को दुःखदायी है और ये सबको सुखद; यथा "क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्। मं० श्लो० ५।" देवता इनके कृपा कटाक्षकी चाह करते हैं। उसे राहु ग्रसता है और ये सदा अभय हैं, क्योंकि जगज्जननी हैं, सबका उद्भव-स्थिति-संहार करनेवाली हैं। वह विरहीको तथा कोकको शोक देता और कमलको जला डालता है, ये सबको सुख देती हैं और सबसे निर्वैर हैं और दीन-क्षीण तो इनको परम प्रिय हैं, यथा 'बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न'। इतने दोष दिखाकर तब कहते हैं कि "अवगुन बहुत" अर्थात् कहाँतक गिनाये जायँ, इतने ही नहीं हैं किन्तु अगणित हैं। इस प्रकार उसको अवगुणनिधि जनाया और ये तो गुणखानि हैं जैसा पूर्व कह आए हैं–'सुख सनेह सोभा गुन खानी। २३५।२।' पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'कोक सोकप्रद' यह अपने ऊपर कहते हैं।

२ चन्द्रमाके घटने-बढ़नेके संबंधमें एक पौराणिक कथा है। दक्षप्रजापतिकी कन्याओंमेंसे सत्ताईसका विवाह चन्द्रमाके साथ हुआ। उन सबकी 'नक्षत्र' संज्ञा थी। चन्द्रमाके साथ जो नक्षत्रोंका योग होता है, उसकी गणनाके लिये वे सत्ताईस रूपोंमें प्रगट हुई थीं। इनमेंसे रोहिणी सबसे अधिक सुन्दर थी। इससे रोहिणीके संसर्गमें चन्द्रमा अधिक रहा करते थे। अन्य नक्षत्रनामवाली स्त्रियोंने इस बातकी शिकायत दक्षसे की। दक्षने चन्द्रमाको बुलाकर उन्हें सब स्त्रियोंके साथ समान व्यवहार करनेकी आज्ञा दी। परन्तु उनका प्रेम रोहिणीके प्रति अधिकाधिक बढ़ता गया। तब शेष बहिनोंने पुनः पितासे शिकायत की। दक्षने पुनः चन्द्रमाको बुलाया और कहा कि 'तुम सब स्त्रियोंके साथ समान बर्ताव करो, नहीं तो मैं शाप दे दूँगा।'

परन्तु उसने आज्ञाका पालन फिर भी न किया। तब दक्षने क्रोधमें आकर यक्ष्माकी सृष्टि की। यक्ष्मा चन्द्रमाके शरीरमें प्रविष्ट हुआ। इस रोगसे चन्द्रमाकी प्रभा नष्ट हो गई जिससे अन्नादि औषधियोंका उपजना ही बंद-सा हो गया और जो उपजतीं भी तो न स्वाद होता, न रस और न शक्ति ही। सारी प्रजाका नाश होने लगा। तब देवताओंने चन्द्रमासे क्षीण होनेका कारण पूछा। चन्द्रमाने उन्हें अपनेको शाप मिलनेका कारण और उस शापके रूपमें यक्ष्माकी बीमारी होनेका हाल बताया। देवताओंने आकर दक्षसे प्रार्थना की कि शाप निवृत्त किया जाय, नहीं तो औषधियाँ और उनके बीज नष्ट हो जायँगे जिससे हमारा भी नाश हो जायगा और हमारे नाशसे संसारका नाश होगा। दक्षने कहा कि "यदि चन्द्रमा अपने सब स्त्रियोंके साथ समान बर्ताव करें तो सरस्वतीके उत्तम तीर्थमें स्नान करनेसे ये पुनः पुष्ट हो जायँगे। फिर ये पंद्रह दिनों-तक बराबर क्षीण होते जायँगे और पन्द्रह दिनों तक बढ़ते रहेंगे। पश्चिम समुद्रके तटपर जहाँ सरस्वती-सागर-संगम है जाकर ये भगवान् शंकरकी आराधना करें, इससे इन्हें इनकी खोई हुई कान्ति मिल जायगी। सोमने अमावस्याको प्रभासक्षेत्रमें स्नान किया। (महाभारत शल्यपर्व वैशम्पायन-जनमेजय संवाद)। [कृष्णपक्षमें देवता चन्द्रमाकी कलाओंका पान करते हैं, इसलिये वह घटता है।। वि० त्रि०)]

बैदेही मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे ॥३॥
सियमुख-छबि बिधु ब्याज बखानी। गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी ॥४॥

अर्थ—श्रीविदेहनंदिनी जानकीजीके मुखकी समता (उपमा) देनेसे बड़ा अनुचित कर्म करनेका बड़ा दोष लगेगा ॥ ३ ॥ चन्द्रमाके बहाने श्रीसीताजीके मुखकी शोभाका वर्णन कर और रात बहुत गई (बीती) जान, गुरुके पास चले ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बैदेही मुख पटतर दीन्हे।०' ऐसा कहकर कवियोंको मना करते हैं कि कोई भी कवि जानकीजीके मुखके लिये चन्द्रमाकी उपमा न दे और चन्द्रमाको मना करते हैं कि तू उनके मुखकी समताकी इच्छा कभी न करना, नहीं तो तुझे बड़ा दोष लगेगा, इसीसे साक्षात् चन्द्रमाको संबोधन कर उसीसे कहते हैं। पूर्व 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही' कहा था। उसीके संबंधसे 'बड़ दोषु' कहा। पुनः भाव कि जानकीजीका मुख निर्दोष है और चन्द्रमामें बहुत दोष हैं। निर्दोषके लिये दोषीकी उपमा दें तो बड़ा दोष है ही। (ख) प्रथम मनमें विचार करना कह आए हैं; यथा 'बहुरि बिचारु कीन्ह मन माहीं'; और यहाँ कहते हैं 'सियमुख छबि बिधुब्याज बखानी', 'बखानना' वचनसे होता है। इससे जनाया कि सारा विचार और बखान मन ही का है, मन ही में छबिको वर्णन करते रहे। वर्णन मन ही मन भी होता है; यथा 'राम सुभाय चले गुर पाहीं। सिय सनेह बरनत मन माहीं।' (ग) सियमुखके सामने चन्द्रमाका हलकापन किसीने यों कहा है—'सिय तेरे मुखचंदुको बिधि तौल्यो धरि सोम। तारे सब अहड़े परे तऊ गयो बिधु व्योम।' (घ) श्रीसीताजीके मुख-छबिको मनमें वर्णन करके गुरुके पास चले। यहाँ संध्या करना नहीं लिखा। 'बिगत दिवस गुर आयसु पाई। संध्या करन चले दोउ भाई' से निश्चय हुआ कि संध्या करने चले थे तो संध्या भी अवश्य की, नहीं तो यह न लिखते। ऐसा ही अयोध्याकांडमें लिखते हैं-'पुरजन करि जोहार घर आए। रघुबर संध्या करन सिधाए'। वहाँ भी सन्ध्या करने चले, यह लिखा, पर संध्या करना नहीं लिखा। 'संध्या करन सिधाए' से ही निश्चय हो गया कि संध्या की। (मानस-मयंककारका मत है कि रामजीका मन इतना जानकीजीमें फँस गया था कि संध्या करना भूल गए। और किसीका मत है कि भक्तका स्मरण भी संध्या ही है। भगवान् अपने भक्तोंका स्मरण ध्यान किया करते हैं, वही यहाँ किया। पं० रामकुमारजीका मत है कि संध्या कर चुकनेपर चन्द्रमाके ब्याजसे श्रीसीताजीके मुख-छबिका मनमें वर्णन करने लगे।) (घ) 'निसा बड़ि जानी' इति। तात्पर्य्य कि देर हो गई यह जानकर गुरुका भय माना, यथा 'कौतुक देखि चले गुर पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं'।

पाँड़ेजी—"छबिका वर्णन करके गुरुके पास गए। भाव कि रघुनाथजी छबि देखकर उन्मत्त हो गए थे। जब कोई वस्तु नशा करती है तो वमन किये बिना सावधानी नहीं होती। अतः चन्द्रमाके बहाने इस जगह छबिका वर्णनकर सावधान हो गए कि बड़ी रात हो गई। तब गुरुके पास गए।" अथवा 'निशा बड़ि' अर्थात् बहुत बड़ी हो गई, काटे नहीं कटती, न जाने कब सवेरा होगा। सखीके 'पुनि आउब एहि बेरिआँ काली' को सोचते हैं कि यह रात पहाड़सम बीचमें आ पड़ी है, अतः गुरुके पास चले कि वे ब्रह्मा बन रातका दिन कर देंगे। वा, गुरु सूर्य्यरूप हैं अतः उनके पास चले कि सूर्य्य जल्दी प्रगट हों।" (और भी ऐसे ही भाव लिखे हैं। ये शृंगारियोंके भाव हैं)।

बैजनाथजी—संध्या चार दंडतक चाहिए और यहाँ आठ दंड बीत गए, इसीसे निशा 'बड़ि जानी' कहा। (पं० रामकुमारजीका मत है कि दो पहर रात्रि बीत गई)।

रा० प्र० कार 'बिधु ब्याज' का एक भाव यह कहते हैं कि सियमुखछबि मूल है और चन्द्रमा उसके ब्याज अर्थात् सूदके समान है।

करि मुनि-चरन-सरोज प्रनामा। आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा ॥५॥

अर्थ—मुनिके चरणकमलोंमें प्रणाम कर, आज्ञा पा, विश्राम किया ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा था कि 'गुर पहिं चले निसा बड़ि जानी'। बड़ी रात गए लौटे यह कह-कर यहाँ उसका प्रमाण दिखाते हैं कि दो पहर रात बीत गई थी, क्योंकि आते ही विश्राम किया। श्रीराम-जीकी रात्रिचर्य्यामें दिखा आए हैं कि दो पहर रात बीतनेपर विश्राम करते हैं; यथा 'कहत कथा इतिहास पुरानी। रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥ बार बार मुनि अज्ञा दीन्ही। रघुबर जाइ सयन तब कीन्ही। २२६।६।' (ख) अर्कबिंबसे लेके तीन दंड रात्रि बीतनेतक संध्या कहलाती है; यथा 'संध्या त्रिनाड़ी प्रमिता-र्कबिंबात्'। इसीसे ज्ञात हुआ कि समयपर संध्या की। संध्या कर चुकनेपर सीताजीके मुखकी छबि मनमें वर्णन करने लगे, इससे दो पहर समय शीघ्र ही बीत गया, कुछ जान न पड़ा। सुखमें समय बीतते कुछ जान ही नहीं पड़ता, यथा 'मास दिवसकर दिवस भा मरम न जानै कोइ', 'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभु-पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति'। (ग) 'आयसु पाइ कीन्ह बिश्रामा'—भाव कि रामजीने चरणसेवा करनी चाही, इसीसे मुनिने बहुत रात गई जानकर आते ही शयनकी आज्ञा दी। विश्राम शयन ही का अर्थ यहाँ दे रहा है, इसीसे यहाँ 'कीन्ह बिश्रामा' कहकर आगे 'बिगत निसा रघुनायक जागे।' कहते हैं, जागना सोनेपर ही होता है। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि न तो मुनिके चरणकमलोंका पलोटना कहा गया और न श्रीरामजीके चरणोंका क्योंकि आज उसकी आवश्यकता नहीं, आज किसीको कहीं दूर जाना नहीं पड़ा, कल तो रास्ता चलकर आए थे अतः कल पैर दबानेकी आवश्यकता थी।)

नोट—१ पुष्पवाटिका-प्रकरणमें शृङ्गाररस प्रधान है। गोस्वामीजीने श्रीरामजी और श्रीजानकीजी दोनोंका प्रसंग एकसा लिखा है। २३७ वें दोहेमें मिलान लिखा जाचुका है। गीतावलीके "हरषीं सहेली भयो भावतो गावती गीत गवनी भवन तुलसी प्रभुको हियो हरि कै", इस उद्धरणके आधारपर श्रीजानकीजीकी विजयका इसे लक्ष्य मानकर, रसिक महानुभावोंका कहना है कि 'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिश्व-बिजय कहँ कीन्ही।" यहाँसे शृङ्गार-युद्ध-प्रकरण प्रारंभ हुआ और उसमें श्रीरामजी हारे। नीचे वह युद्धरहस्य रसिक-समाजके लिये लिखा जाता है। इसके विषयमें श्रीलमगोड़ाजीका कहना है कि "इस दृष्टिकोणपर अधिक जोर न देना चाहिए, नहीं तो 'जानेआलम और रोशनआरा' वाला शृङ्गार आ जायगा, जो तुलसी-दासजीको अभीष्ट नहीं है। उनके शृङ्गारमें 'अमिय' या 'मधु' है, पर 'हालाहल' (जहर इश्क) नहीं।" इसी विचारसे प्रकरणके आदिमें और यहाँ भी लिख दिया गया कि ये भाव एकमात्र रसिकसमाजके लिए हैं। प० प० प्र० स्वामीकी टिप्पणियोंमें इसके विपरीत आपको देखनेको मिलेगा।

शृङ्गार-युद्ध-रहस्य (रसिकसमाजके लिए)

पं० रामचरणमिश्रजी इस युद्धको यों वर्णन करते हैं—"भूपबाग ऋतुराज बसन्तकी रजधानी है, चातक कोकिल आदि सचिवादि वर्ग हैं, मदनवीर सुहृत है, नवपल्लव फल फूल आदि कोष हैं, बन उपवन आदि राष्ट्र (देश) हैं, मकरंदका आमोद दुर्ग है। स्त्रीवर्ग बल (सेना) है।"

"जब श्रीचक्रवर्ती राजकुमार रजधानी बागमें घुस दल-फूलरूपी सम्पत्ति लूटने लगे, तब ऋतुराज की आज्ञा पा मदन वीरने सेनाकी अधिष्ठात्री श्रीकिशोरीजीको सूचना दी, कि राजकुमारोंको गिरफ्तार करें"।

"यह खबर पाकर श्रीकिशोरीजीने नीति-मर्य्यादाका पालन किया। उन्होंने एक सखीको सन्धिके निमित्त भेजा। पर, सन्धि दूर रही उस सखी ही को भृकुटि-धनु तानकर कटाक्षरूपी बाणोंसे उन्होंने घायल कर दिया। तब बेहोशीके साथ विह्वल वह सखी सीताजीके पास आकर पुकार करने लगी। उस प्रिय सखीकी दशा देखकर सखीसमाजरूप सेनादल साथ लेकर सीताजीने चढ़ाई की। तब सुसज्जित दल देख मदन वीरने कंकणादिकोंके शब्दरूप नगाड़ेका डंका दिया। अब आगे शृङ्गारयुद्ध करके महारानी राजकुमारको गिरफ्तार करके लौटेंगी।"

नोट—मिश्रजीने युद्ध प्रकरणका चित्र इस प्रकार खींचा है और अन्य महानुभावोंने श्रीकिशोरीजीके आगमनसे इस प्रकरणको उठाया है—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि' से।

यह युद्ध रहस्य "अवसि देखियहि" इन शब्दोंसे प्रारंभ होता है। 'देख लेंगे' यह मुहावरा है, बदला चुकानेके भावमें ये शब्द प्रयुक्त होते हैं। सखी कह रही है कि इन्हें अवश्य दण्ड देना चाहिए जिससे फिर कभी अपराध न करें। आखिर इन्होंने क्या अपराध किया है जो इनको दंड देना जरूरी है? उसपर सखी कहती है कि इन्होंने बहुतसे अपराध किए हैं—'निजरूप मोहनी डारी। कीन्हें स्वबस नगर नर नारी'। इतना ही नहीं किंतु हमारे साथकी प्रिय सखी पर भी बिना अपराध वार किया, श्रीजनक महाराजकी भी क्या दशा कर दी, इत्यादि। अब राजकुमारी सखियों सहित संग्राम करने चलीं।

लड़ाई करनेमें डंका आदि जुझाऊ बाजोंकी जरूरत पड़ती है। 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि' यही डंका आदिक हैं। पं० शिवलाल पाठक कहते हैं कि साथमें सखियोंकी फ़ौज है। जैसे परेडपर फ़ौज जमा होकर नेता (सेनापति) की आज्ञासे जब चलती है तो सबके पद एक साथ उठते पड़ते हैं, वैसे ही यहाँ चारों ओर प्रौढ़ा सखियाँ हैं, मध्यमें किशोरीजी, प्रौढ़ाके बाद मध्या फिर मुग्धा हैं, इन सबोंके क़दम एक साथ उठते पड़ते हैं तो शब्द ऐसा होता है मानों कंकण कहते हैं कि इस छबिके आगे कौन कंक (दरिद्र) न (हुआ), तब 'किंकिन' कहते हैं कि इनके सामने किसकिसने हार नहीं मानी। नूपुर उसका उत्तर देते हैं कि 'छन छन' अर्थात् क्षणमात्रमें सब हार जाते हैं—'मंजीर नूपुर कलित कंकन ताल गति बर बाजहीं'।

कंकणादिका शब्द सुन राजकुमार श्रीरामचंद्रजी स्वयं कह रहे हैं कि "मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही"। डंकेकी चोट सुन वे लक्ष्मणजीसे सलाह करते हैं कि क्या करें? भागें कि संधि करें या मुक़ाबिला करें? लक्ष्मणजी 'सन्न' रह जाते हैं कि वीर होकर भागनेको आप कहते हैं।

इस प्रकार डंकेपर चोट दे विजयकी इच्छासे कामदेव वाटिकामें आया। जब समीप पहुँचा तो सोचे कि मेल करलें, अतः 'अस कहि फिर चितये तेहि ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा'। चकोरकी चन्द्रमासे प्रीति है, अतः इससे 'साम' नीति दर्शित की। पर अब मेल कहाँ, प्रिय सखीको जैसा घायल किया था, पुरवासिनियोंकी जैसी दशा की थी, वैसी ही करके इनको गिरफ़्तार करना है। अतः बाणोंकी वृष्टि होने लगी जिससे 'हृदय सराहत बचन न आवा'। हृदय बाणोंकी चोटसे घायल हो गया, वचन नहीं निकलता। मनहीमें शत्रु हाय हाय करने लगा। वीरता, धीरता और उदारता तीनोंसे रहित हो गया। (नोट—

लक्ष्मणजीसे जो तीन गुण रघुवंशियोंके कहे, उन्हीं तीनोंसे रहित हो जाना गिनाते हैं। 'मुख सरोज मकरंद छबि करइ मधुप इव पान' यहाँ याचक बने, उदारता गई, नयन सरसे हत हुये, यह वीरता भगी और साथ ही धैर्य्य भी)। शत्रु जब बहुत घायल हुआ तब जा छिपा। (नोट—पूर्व जो कहा था कि 'चहुँदिसि चितइ पूछि मालीगन' उसका भाव शृङ्गार-युद्ध-सम्बन्धसे यह लगाते हैं कि नगर-दर्शन समय सुमन-वर्षा द्वारा जो संकेत सखियोंने किया था कि आज तो तुमने हमें स्वामिनीके बिना पाकर क़ाबू में कर लिया, कल फुलवारीमें आइए, तब आपको देख लेंगी, वहाँ आपकी भी यही दशा कर देंगी, उसी ख़यालसे आप चारों ओर देखने लगे कि युद्धमें कहीं भागना पड़ा तो कहाँ जायँगे। अब यहाँ लताका ओट लिया। शरण भी मिली तो स्त्रीकी)

इधर फ़ौज इनकी ताकमें है, सखियोंने पता लगा ही तो लिया—'लता ओट तब सखिन्ह लखाए' स्वामिनीसे कहा कि ये बड़े चतुर हैं, देखिए कैसे जा छिपे! इनपर तरस न खाना चाहिए। इन्हें पकड़कर बंदीख़ानेमें भेज देना चाहिए, नहीं तो ये भाग जायँगे। बस तड़ातड़ बाणवृष्टि होने लगी—'जहँ बिलोक मृग सावक नयनी। जनु तहँ बरसि कमलसित श्रेनी॥' 'नेत्र-कटाक्ष-रूपी बाणोंद्वारा हराकर तब इनको पकड़कर क़ैद किया गया—"लोचनमग रामहिं उर आनी। दीन्हे पलक कपाट सयानी।"

(नोट—या यों कहें कि बाण-वृष्टि होती रही तब शत्रु जा छिपा। स्वामिनीको सुस्ता लेनेको सखियोंने इशारा किया। 'दीन्हे पलककपाट' यह राजकिशोरीके बाणोंकी वृष्टिका बंद होना और उनका सुस्ताना है। वृष्टि बंद होते ही शत्रु फिर प्रकट हो सामने आ गया—'लता-भवन ते प्रगट भये तेहि अवसर०'।)

पर शत्रु बड़े धूर्त्त हैं। वे वहाँसे फिर निकल आए। सखि-सेनाने चाहा कि हमही इनको बाँध लें स्वामिनीको क्यों कष्ट दें; पर इनके लिए शत्रु बहुत था, उसने सेनाको विह्वल कर ही दिया—'बिसरा सखिन्ह अपान'। तब एकने आकर पुकार की कि वे निकल आये, हमारे किए कुछ नहीं होता. शीघ्र उन्हें दंड दें और ऐसे क़ैदखानेमें रखें जहाँसे निकल न पावें।—'भूप किसोर देखि किन लेहू'। आपने आकर देखा तो सच ही सम्मुख मुक़ाबिलेको आया हुआ देखा–'सनमुख दोउ रघुसिंह निहारे'। अब सेनाको ज़ोर मिला। वह कहती है—लो अभी मज़ा चखाती हैं, फिर ऐसा न कर सकोगे, इसपर कसर भी रहे तो फिर कल आना! यह जताकर स्वामिनीको इनकी ओरसे सावधान कर रही हैं। वे आकर इनको अबकी फिर क़ैद कर ऐसी जगह रखती हैं जहाँ किंवाड़े आदि भी नहीं कि निकल जायँ।–'चली राखि उर स्यामल मूरति'। जय पाकर देवीका पूजन किया, सो उचित ही है।

'प्रीतम प्यारी श्रीजनकफुलवारी' अर्थात् पुष्पवाटिका-प्रकरण समाप्त हुआ।

धनुषयज्ञ—श्रीसिया—स्वयम्बर

बिगत निसा रघुनायक जागे। बंधु बिलोकि कहन अस लागे ॥६॥
उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पंकज कोक लोक१ सुखदाता ॥७॥
बोले लखनु जोरि जुग पानी। प्रभु प्रभाउ सूचक मृदु बानी ॥८॥

शब्दार्थ—निशा = प्रथम तीन प्रहरकी रात्रि। अरुन (अरुण)—दिनरातमें साठ घड़ी होती हैं। छप्पन घड़ी बीतनेपर चार घड़ी रात्रि रहनेके समयको अरुणोदय कहते हैं; वह काल जब सूर्यकी लाली पूर्व दिशामें सूर्योदयसे दो मुहूर्त पहले होती है 'अरुणोदय' का प्रारंभ है। "उदयात् प्राक् चतस्रस्तु नाड़िका अरुणोदयः।' अरुण=ललाई, लाली। उयेउ = उदय हुआ। उयेउ अरुन = अरुणोदय हुआ।

अर्थ—रात्रि बीत जानेपर रघुनाथजी जागे। भाईको देखकर इस प्रकार कहने लगे—॥ ६ ॥ हे तात! देखो। कमल, कोक (चक्रवाक) और लोगों वा लोक (संसारमात्र) को सुख देनेवाला अरुणोदय हुआ ॥ ७ ॥ लक्ष्मणजी दोनों हाथ जोड़कर प्रभुके प्रभाव (प्रताप) को सूचित करनेवाली कोमल वाणी बोले ॥ ८ ॥

श्रीराजारामशरणजी—तुलसीदासजीकी संकेतकला बड़ी सुकुमार है। जिन वस्तुओंको चन्द्रमा शोकप्रद था, अरुणोदय उन्हींको सुखप्रद है। साफ संकेत है कि शायद (संभवतः) अरुण सीताजीके मुखकी समता पा सके। अभी बात भी पूरी न करने पाए थे कि वीर लक्ष्मणने सोचकर कि रामजीका खयाल उसी शृङ्गार-रसमें ही लगा है और आज धनुषयज्ञमें वीररसकी आवश्यकता है, कैसी नम्रतासे रामजीके विचारको फेरा है, एक छिपी हुई हास्यकी चुटकी भी है कि आपका विचार किधर है*। अरुण वीररसका द्योतक है, 'उषा' की लाल ओढ़नीवाली बात नहीं है। उन्होंने साफ ही सारा वीररसका रूपक ही बाँध दिया। 'वि० मा० हास्यरस के पृष्ठ ६१ पर नोट है कि "मुँहसे एकदम निकल जाता है कि 'हर-कस बखयाले खेश खब्ते दारद', 'कोउ काहू में मगन कोउ काहू में मगन'। 'राम' प्रेममें मग्न और लक्ष्मणजी वीररसमें; परंतु राममें उपहास-भाव इतना सुन्दर है कि उन्हें अपने ऊपर ख़ुद (स्वयं ही) हँसी आ गई—'बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने'।

टिप्पणी—१ (क) 'बिगत निसा'। प्रथम तीन प्रहर रात्रिकी 'निशा' संज्ञा है। निशा तीन प्रहर की होती है, इसीसे रात्रिका त्रियामा भी एक नाम है। [यथा—"त्रियामा रात्रि रिष्यत' पुनश्च 'निशा निशीथिनी रात्रिः, त्रियामा क्षणदा क्षपा।" इत्यमरकोशे १.४.३] इसके बीततेही सदाचारी लोग जागकर परमेश्वरका स्मरण चिन्तन आदि करते हैं। 'बंधु बिलोकि' से पाया गया कि लक्ष्मणजी आगे हीसे उठकर बैठे हुए हैं; यथा 'उठे लखन निसि बिगत सुनि अरुनसिखा धुनि कान। गुर तें पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान। २२६।' श्रीलक्ष्मणजी सोते न थे यह विदित है। [वैजनाथजीका मत है कि "श्रीरामचन्द्रजीको विरहमें नींद नहीं पड़ी, निशा बीतनेकी प्रतीक्षा करते रहे, इसीसे निशा बीतते ही वे प्रथम ही जगे। लक्ष्मणजीका प्रथम जागना उचित था पर अभी सोकर उठनेका समय नहीं आया था, इससे वे लेटे ही हुये थे। इनको लेटे

---

१ लोक कोक—१७०४। कोक लोक—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

*लक्ष्मणजी बड़े गम्भीर हैं, प्रभु प्रभाव जानते हैं, अनुगामी हैं, इससे हास्यका लेश भी वहाँ सम्भव नहीं है। मानसके लक्ष्मण वाल्मीकीयके लक्ष्मण नहीं हैं।—यह हम लोगोंका विचार है।

हुए देख श्रीरामजी बोले"। पर इस मतका खंडन पं० रामकुमारजीकी टिप्पणीसे हो जाता है। 'जागे' शब्द स्पष्ट बताता है कि नींद पड़ी थी, नहीं तो 'उठे' शब्द देते जैसा लक्ष्मणजीके संबंधमें कहा था। यथा 'उठे लषन निसि बिगत…'। दूसरे यदि यहाँ मानें कि नींद नहीं पड़ी थी तो 'गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान' में भी मानना पड़ेगा कि नींद न पड़ी थी, जो सर्वथा अनुचित होगा।]। (ख)-'उयेउ अरुन अवलोकहु' इति। शास्त्राज्ञा है कि राजा प्रातःकाल उठ कर सूर्य्यका दर्शन करे। यथा "रोचनं चंदनं हेमं मृदंगं दर्पणं मणिम्। गुरुमग्निं तथा सूर्य्यं प्रातः पश्येत्सदा बुधः। निशः प्रान्तेतुयामार्द्धे देववादित्रवादिने। सारस्वतानध्ययनेचारुणोदय उच्यते इति स्मृतेः।" ये राजकुमार हैं, इससे इनको भी सूर्य्यदर्शन करना चाहिए, इसीसे सूर्य्यावलोकन करनेको कहते हैं। [पर अरुणोदय सूर्योदयसे चार घड़ी पूर्व होता है। शब्दार्थ देखिए, अतः यहाँ सूर्यदर्शन करनेकी बात कुछ बेतुकी-सी है। हाँ, यदि 'अरुण' से भानु का अर्थ लें तो अर्थ लग सकता है; आगे 'उएउ भानु' 'रवि निज उदय' शब्द आए ही हैं] (ग) 'पंकज कोक लोक सुखदाता' इति। पूर्व दिखा आए कि चन्द्रमा तीनों स्थलोंके वासियोंको दुःख देता है-'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई', 'कोक सोकप्रद पंकजद्रोही'। यहाँ सूर्य्यका तीनों स्थलोंके निवासियोंको सुख देना कहते हैं। पंकज जलचर है। 'लोकस्तु भुवने जने इत्यमरः'। यहाँ लोक शब्द जन-वाचक है, जन थलचर हैं। कोक नभचर है। जलचर, थलचर और नभचर येही तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं। यथा 'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना।१।३।४।' [यहाँ अरुणोदय कारण और पंकज-कोक-लोक सुखदाता कार्य दोनोंका वर्णन 'प्रथम हेतु अलंकार' है। पाँड़ेजी लिखते हैं कि "तात श्लिष्ट पद है। एक भाईका संबोधन है, दूसरा 'तप्त' के अर्थमें है। भाव यह है कि सूर्यके विना जो कमल, कोक और लोक तप्त रहते हैं उनको सुखदाता वही सूर्य है। कोक शब्द अपनी इच्छाका है, इसीसे कोक और कोकी दोनों नहीं कहे।"] (घ) ☞ "जब चंद्रमा उदय हुआ था तब श्रीरामजी न बोले थे; यथा 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देखि सुख पावा', क्योंकि चंद्रमा सियमुखसरिस है। सियमुखकी शोभा अनिर्वचनीय है - 'देखि सीय सोभा सुखु पावा। हृदय सराहत बचन न आवा'। इसीसे वहाँ लक्ष्मणजीसे कुछ न बोले थे और यहाँ बोले।"

२ (क) 'बोले लखन जोरि जुग पानी' इति। कल श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणजीसे बातें करते रहे पर लक्ष्मणजी कुछ न बोले थे, क्योंकि तब उनका बोलना उचित न था। कारण कि सत्पुरुषोंकी वाणी निर्दोष होती है। उसपर भी श्रीरामजीकी वाणी! श्रीरामजीकी वाणीका खंडन करनेमें 'सदर्थे' वाला दोष लगता। पुनः, यदि कहते कि श्रीजानकीजीकी शोभा ऐसी ही है कि मनमें क्षोभ उत्पन्न कर देती है तो भी दोष आता है, (क्योंकि इससे सूचित होता है कि उन्होंने भी शोभा देखी और उनका मन क्षुब्ध हो गया, यद्यपि न उन्होंने शोभा देखी न मन क्षुब्ध हुआ, उनका तो श्रीसीताजीमें मातृभाव है)। "कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन रामु हृदय गुनि॥ मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिश्व बिजय कहँ कीन्ही॥ २३०।१-२।" यह सुनकर लक्ष्मणजी कुछ न बोले थे। भाव यह कि जब श्रीरामजीने श्रीजानकीजीकी शोभा और अपनी दशा कही; यथा-"तात जनकतनया यह सोई। धनुषजज्ञ जेहि कारन होई।…२३१।" तब न बोले क्योंकि बोलना उचित न था और यहाँ बोलना उचित है, इससे हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए बोले। [विशेष आगे २३६ (४-५) में श्रीलमगोड़ाजीकी टिप्पणी और २३६.७ में नोट २ गौड़जीकी टिप्पणी भी देखिए।] हाथ जोड़कर बोलना स्तुतिकी रीति है। (यह नम्रताका लक्षण है। गुरुजनोंसे नम्रतापूर्वक बात करनी चाहिए। पंजाबीजी कहते हैं कि आपको "वेद नेति-नेति कहते हैं। हमारे कथनमें जो न्यूनता हो उसे क्षमा कीजियेगा", यह हाथ जोड़कर सूचित किया।)। [(ख) 'लखन' नाम सार्थक है अर्थात् लखनेवाले। आशय यह कि लक्ष्मणजी यह बात लख चुके कि प्रभु आज धनुष तोड़ेंगे।'—(पाँड़ेजी)।] (ग)—

"प्रभु प्रभाउ सूचक.' अर्थात् वाणी गंभीर है, उसमें बहुत अभिप्राय भरा हुआ है। सूचक=जनाने, सुझाने वा सूचना देनेवाली। वाणी सुननेमें मृदु है।

दोहा—अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन।
जिमि[1] तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन ॥२३८॥

अर्थ—अरुणोदय होते ही कुमुद सकुचा (सम्पुटित, मुरझा) गए, तारागणकी ज्योति (कान्ति, प्रकाश) फीकी पड़ गई, जैसे आपका आगमन सुनकर राजालोग बलहीन हो गए। २३८।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ आप (श्रीरामजी) का आगमन अरुणोदय है। नृपति (कुमुद और) तारागण हैं। तेज ज्योति है। तारागणकी ज्योति मलिन हुई अर्थात् उनका चमकना जगमगाना बंद हुआ; वैसे ही राजा तेजहीन हो गए और कुमुदकी तरह सकुचा गए। तेजहत होनेहीसे बलहीन हो गए।—[कुमुदिनी (कोकाबेली) रातमें प्रफुल्लित रहती है, वैसे ही जबतक श्रीरामचन्द्रजी नहीं आए तबतक सब राजा प्रफुल्लित थे। इनके आगमनरूपी अरुणोदयसे सकुचा गए।] (ख) 'आगमन सुनि' इति। अरुणोदयकालमें सूर्य्य नहीं देख पड़ते, इसी तरह राजा लोगोंने अभी आपको देखा नहीं है, आपका आगमन सुना है। अतः सुनकर बलहीन होना कहा। पुनः अरुणोदयकालमें तारागण देख पड़ते हैं, पर उनकी ज्योति मलिन हो जाती है। सूर्य्यके उदय होनेपर तो देखही नहीं पड़ते। इसी तरह श्रीरामजीके उदयमें राजा लोग देख ही न पड़ेंगे; यथा—'जहँ तहँ कायर गवहिं पराने'। अरुणोदय प्रातःकालके प्रथम होता है। (ग) 'सकुचे कुमुद', यथा—'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरषहिं सुमन। सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ।२६४।', 'मानी महिप कुमुद सकुचानें। २५५।२।' 'उडगन जोति मलीन', यथा—'श्रीहत भए भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे।' और 'भये नृपति बलहीन', यथा—'बल प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई।', 'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी। २५५।१।'—इस प्रकार राजाओंकी ये तीनों दशायें—सकुचाना, श्रीहत होना और बलहीन होना—इस दोहेमें कही गईं। दो दशाएँ उपमाओंके द्वारा दिखाईं।

नोट—१ पांड़ेजी लिखते हैं कि "कुमुद अर्थात् कुईंके फूलकी सफेदी सूर्य्योदय होनेपर जाती रहती है और स्याही प्रगट हो जाती है, इसी तरह राजाओंके मुखपर स्याही छा गई और जैसे तारागण मलीन हो जाते हैं वैसे ही उनके वचनरूपी नक्षत्रोंकी दशा हो गई।" २—बैजनाथजीका मत है कि 'बल' से यहाँ बुद्धि और बाहु दोनोंका बल सूचित किया। सकुचकर चुप हो रहे—यह बुद्धिकी, और धनुष न हटा सके यह बाहुबलकी हीनता है। ३—सं० १६६१ की प्रतिमें और पाँड़ेजीकी पोथीमें 'जिमि' पाठ है। कुछ पुस्तकोंमें 'तिमि' पाठ है। 'तिमि' पाठसे उत्तरार्ध स्पष्ट ही उपमेयवाक्य होता है और पूर्वार्द्ध उपमानवाक्य। वीरकविजी लिखते हैं कि "दोनोंका एकधर्म निश्तेज होना समानार्थवाची शब्दोंद्वारा अलग-अलग कथन करना 'प्रतिवस्तूपमा अलंकार' है। 'तिमि' वाचकसे उदाहरणकी संसृष्टि है।" (वीरकविजीने 'तिमि' पाठ रक्खा है।) ४—नंगे परमहंसजीने राजाओंको तारागण और उनके मनको कुमुद माना है। अर्थात् राजा तेजहत हुए और उनके मन जो खिले हुए थे वे सकुच गये।

नृप सब नखत करहिँ उजियारी। टारि न सकहिँ चाप-तम-भारी ॥१॥
कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना ॥२॥

---

१ तिमि—१७०४।

ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारें। होइहहिँ टूटें धनुष सुखारे ॥३॥

अर्थ—सब राजारूपी तारे (नक्षत्र) उजाला करते हैं, पर धनुषरूपी भारी अंधकारको हटा नहीं सकते ॥१॥ कमल, चक्रवाक, भौंरे और अनेक प्रकारके पक्षी, ये सभी 'निशाका अन्त हो जानेपर प्रसन्न हुए ॥२॥ ऐसे ही, हे प्रभो! आपके सब भक्त धनुषके टूट जानेपर सुखी होंगे ॥३॥

टिप्पणी—१ 'नृप सब नखत करहिं उजिआरी।०' इति। (क) रात्रिमें समस्त नक्षत्र प्रकाश करते हैं पर किंचित् भी अन्धकार नहीं मिटा सकते। ऐसे ही समस्त राजा मिलकर भी धनुष तोड़ना चाहें तो भी धनुष नहीं तोड़ सकते। यथा 'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरइ न टारा'। यह अभिप्राय है। नक्षत्र उजियारी करते हैं, राजा बल करते हैं। यहाँ राजा नक्षत्र हैं, धनुष रात्रिका भारी अन्धकार है। इस कथनका तात्पर्य्य यह है कि जैसे जबतक अन्धकार रहता है तभीतक तारागणका तेज देख पड़ता है, वैसे ही जबतक धनुष है तबतक राजाओंका तेज देख पड़ता है, धनुष टूटनेपर तेज नष्ट हो जायगा। यथा 'श्रीहत भए भूप धनु टूटे।' (ख) स्मरण रहे कि यहाँ केवल तारागणका प्रकाश कहते हैं। किसी भी राजाको चन्द्रमाकी उपमा नहीं देते। सबको तारा ही कहते हैं, क्योंकि आगे दोनों भाइयोंको चन्द्रमासमान कहेंगे, यथा 'राजसमाज बिराजत रूरे। उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे।' (दूसरे, चन्द्रमा एक ही है और राजा बहुत हैं, इससे चन्द्रमाकी उपमा न दी। तारागण बहुत हैं और राजा भी बहुत, अतः तारागणकी उपमा दी। तीसरे, चन्द्रमा कुछ अन्धकार मिटाता भी है। उसकी उपमा तब सार्थक हो सकती जब राजा किंचित् भी धनुषको हटा सकते)। (ग) 'तम भारी' क्योंकि सब मिलकर भी न हटा सके। (घ) [अर्धाली १ में उपमा और रूपककी संसृष्टि है]

२ 'कमल कोक मधुकर खग नाना।०' इति। श्रीरामजीने कहा था कि सूर्य्य पंकज, कोक और लोकको सुखदाता है, वही बात लक्ष्मणजी भी कहते हैं। लक्ष्मणजीने कमल, कोक, मधुकर और खग चार नाम कहे। सूर्य्योदयसे सभीको सुख होता है, पर इन सबोंको विशेष सुख मिलता है। कमल सूर्यका विशेष स्नेही है, यथा—'जरत तुहिन लखि बनजबन रबि दै पीठि पराउ। उदय बिकस, अथवत सकुच, मिटै न सहज सुभाउ। ३१६।' इति दोहावल्याम्। इसीसे कमलका नाम प्रथम कहा। कमलसे उतरकर चक्रवाक सूर्य्यका स्नेही है, फिर भ्रमर और उससे उतरकर पक्षी प्रेमी है। इस तरह क्रमसे सूर्य्यके स्नेहियों के नाम गिनाए। [सबका एक धर्म 'हर्ष' होनेसे 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' हुआ।]

ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे।० इति।

पं० रामकुमारजी—'ऐसेहि' अर्थात् जैसे कमल, कोक, मधुकर और खग चार हैं, ऐसे ही आपके चार प्रकारके भक्त हैं—ज्ञानी, जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त। यहाँ सन्त कमल हैं, यथा 'बिकसे संत सरोज सब। २५४।' मुनि और देवता कोक हैं, यथा 'भए बिसोक कोक मुनि देवा। २५५।३।' सबके लोचन मधुकर हैं, यथा 'हरषे लोचन भृंग। २५४।' 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई। २४१।८।' पुरवासियोंके लोचन भ्रमर हैं। इनके अतिरिक्त जो भक्त हैं वे खग हैं। खगके नाम न लिखे इसीसे भक्तोंके नाम भी न लिखे। कमल, कोक और मधुकर तीनके नाम लिखे, इसीसे धनुषके टूटनेपर भी तीन प्रकारके भक्तोंके नाम लिखे। धनुषका टूटना रात्रिका नाश होना है।

वैजनाथजी—पहले चार उपमान कहे, अब चार भक्त उपमेय दिखाते हैं। धार्मिक राजा, लक्ष्मण और मुनिवृन्द जिज्ञासु हैं, जो कमल समान संपुटित हैं। सखियोंके सहित किशोरीजी चक्रवाकी समान आर्त्त हैं। चक्रवाकी सम इनका वियोग दूर होगा, संयोगसुख प्राप्त होगा। पुरवासी राजा और रानी भ्रमर हैं, धर्मबन्धनमें बद्ध अर्थार्थी हैं सो धर्मबन्धनसे छूटेंगे। विश्वामित्र आदि ज्ञानी भक्त खग हैं। [नोट—

यह मत पाँड़ेजीसे लिया हुआ जान पड़ता है। उन्होंने भी यही चार कहे हैं। सखियाँ और जानकीजी आर्त्त हैं, यथा 'सखि हमरे आति आरत ताते। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते।' हाँ, पाँड़ेजीने यह नहीं लिखा कि इनमेंसे कौन कमल, कौन कोक इत्यादि हैं, यह वैजनाथजीने अपनेसे बढ़ाकर लिखा है]।

किसीका मत है कि कमल ज्ञानी भक्त हैं। क्योंकि जैसे कमल जलमें रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं, वैसे ही ये सब भोग करते हुए भी उसकी बाधासे रहित हैं। कोक आर्त हैं, मधुकर अर्थार्थी हैं। अन्य सब खग जिज्ञासु हैं। भ्रमरोंको रसकी चाह है इससे वे अर्थार्थी हैं।

वि० त्रि०—ज्ञानीकी उपमा कमलसे है, क्योंकि वह साक्षात् सूर्यसे प्रेम करता है। जिज्ञासुकी उपमा कोकसे है, क्योंकि उसे अपनी कोकीकी खोज है, जिसकी प्राप्ति सूर्यके बिना संभव नहीं। अर्थार्थी मधुकर है, उसे मधु चाहिए, सूर्योदय बिना न कमल खिले न उसे मधु मिले। आर्तकी उपमा 'खग नाना' से है, क्योंकि अपने पेटका भोजन बच्चेको खिलाकर भूखे पेट अपने घोंसलेमें बैठे आर्त हो रहे हैं, रातको सूझता नहीं कहाँ जाय, जब सूर्य्य निकले तब चारेकी खोजमें चलें। अपने-अपने हितार्थ वे चारों सूर्य्यसे प्रेम करते हैं।

श्रीनंगेपरमहंसजी—रात्रिके व्यतीत होनेपर और सूर्यके उदयमें कमल इत्यादिको सुख बताया गया है, यह क्रमसे है। सबसे विशेष सुख कमलको हुआ क्योंकि वह बिलकुल सूर्य्यके आश्रित है। इसी तरह श्रीसीताजीको सुख होगा, क्योंकि वे श्रीरामजीके आश्रित हैं। चकवा चकईकी समतामें राजा (जनक) और रानी हैं, क्योंकि धनुषरूपी रात्रिके रहते दोनों चिंतित हैं, उसके टूटनेपर ही सुखी होंगे। सीताजीकी सखियाँ मधुकर हैं क्योंकि कमलसे और मधुकरसे सम्बन्ध है, सीताजी और सखियोंमें सम्बन्ध है, सीताजीके सुखदुःखसे सखियोंको सुखदुःख, जैसे कमलके सुखदुःखसे भ्रमरको सुखदुःख। नाना प्रकारके पक्षियोंकी समतामें जनकपुरके नरनारी हैं। यहाँ जनकपुरमें जो चार प्रकारके भक्त हैं, उनको जो हर्ष धनुष टूटने पर होगा उसीकी समता कमल इत्यादिसे दी गई है। क्योंकि "कमल इत्यादि रात्रिमें सम्पुटित एवं चिंतित रहते हैं, उसी तरह धनुषके रहते जनकपुरके लोग चिंतित रहते हैं और ज्ञानी इत्यादि भक्त धनुषके रहते चिंतित नहीं हैं। पुनः कमल इत्यादिकी समता या तो जनकपुरके भक्तोंमें लगाइए या ज्ञानी इत्यादि भक्तोंमें लगाइए, पर दोनोंमें एकहीकी समता लगेगी, नहीं तो अलंकारविरोध हो जाता है। अतः जनकपुरके भक्तोंमें लगेगी। यहाँ ज्ञानी इत्यादिका प्रयोजन नहीं"।

उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा ॥४॥
रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रताप सब नृपन्ह देखाया ॥५॥

अर्थ—सूर्य उदय हुआ, बिना परिश्रम अन्धकार नष्ट हो गया। तारागण छिप गए, संसारमें तेजका प्रकाश हुआ ॥४॥ हे रघुराया! सूर्य्यने अपने उदयके बहानेसे आपका प्रताप सब राजाओं को दिखाया है ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा' इति। भाव कि जो भारी अन्धकार अनन्त तारागणके तेजसे न टला, वह एक सूर्य्यके उदयसे विना श्रम नष्ट हो गया। इसी तरह राजाओंके बड़े परिश्रम करनेपर भी धनुष तिलभर भी न हटा। यथा 'तमकि ताकि तकि सिवधनु धरहीं। उठै न कोटि भाँति बल करहीं'। वही रामरूपी सूर्य्यसे विना प्रयास नष्ट हो गया। यथा 'छुअतहि टूट पिनाक पुराना। २८३।८।' (ख) 'दुरे नखत जग तेज प्रकासा' इति। राजा तारे हैं; यथा 'नृप सब नखत करहिं उजियारी', "देखियत भूप भोर के से उडगन गरत गरीब गलानि हैं। गी० १, ७८.५।" सो छिप गए। यथा 'रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे।' जगत्‌में श्रीरामजीके तेजका प्रकाश हुआ। यथा 'महि पाताल नाक जस ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा।'

२ (क) 'रबि निज उदय'''' इति । अर्थात् राजाओंको दिखाया कि जैसे हम उदित हुए हैं ऐसेही प्रभुका प्रताप उदित होगा, जैसे हमारे उदयसे बिना श्रम तमका नाश हुआ, नक्षत्र छिप गए, जगत्‌में तेजका प्रकाश हुआ, कमल कोक मधुकर खग प्रसन्न हुए, वैसेही श्रीरामजीसे बिना परिश्रम धनुष टूटेगा, राजा छिप जाएँगे, जगत्‌में रामजीके तेजका प्रकाश होगा, चारों प्रकारके भक्त सुखी होंगे । (ख) राजाओंको दिखानेका भाव कि सब राजा धनुष तोड़ने आये हैं, इसीसे उनको दिखाते हैं कि तुमसे धनुष कितनाही परिश्रम करनेपर भी न टूटेगा, वह श्रीरामजीसेही टूटेगा । (ग) अपने उदयसे प्रताप दिखाना कहा । इसमें तात्पर्य यह है कि प्रतापकी उपमा सूर्य्यकी दी जाती है; यथा 'जब तें रामप्रताप खगेसा । उदित भयेउ अति प्रबल दिनेसा । ७.३१ ।', 'जिन्हकें जस प्रताप के आगे । ससि मलीन रबि सीतल लागे । २९२.२ ।', 'कोक-तिलोक प्रीति अति करिही । प्रभुप्रताप-रबि छबिहि न हरिही । २.२०९ ।' (घ) [अर्धाली ४ में कारण और कार्य्य दोनोंका एक साथ वर्णन 'प्रथम हेतु अलंकार' है । सूर्य्योदयसे बिना परिश्रम इतने कार्यों का होना 'कारक दीपक अलंकार' है । 'ब्याज' शब्दसे औरोंका कहना 'कैतवापह्नुति' और 'द्वितीय पर्य्यायोक्ति' अलंकारोंका यहाँ सन्देहसंकर है ।—(वीरकवि)] ।

श्रीराजारामशरणजी—१ लक्ष्मणजीकी युक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं । उन्होंने भक्ति और वीररसोंके भावोंका प्रवाह बहा दिया । प्रत्युत्तरकलाका लुत्फ़ देखिये—फुलवारीमें सीताजीका वर्णन रामजीके मुखसे हुआ फिर कल शामको संध्यासमय; मगर ये चुप रहे । अब सेवाभावके कारण प्रभुको विनम्र उत्तररूप चेतावनी देनेसे रुक न सके । और मज़ा यह कि 'ब्याज'-वाली युक्तिका भी उत्तर देकर मानों पाँसाही पलट दिया । श्रृङ्गारकी निमग्नतामें चंद्रमाको रामजीने सीतामुखका ब्याज कहा था, यहाँ वीर और शान्तरसमें सूर्य्यको प्रभुप्रतापका ब्याज बताया गया । २—उपमानोंके त्यागका चढ़ाव देखिये । बेचारा अरुण तो ठहरने ही नहीं पाया और अप्रासंगिक कह दिया गया, कारण कि वह श्रृङ्गाररसमें सीतामुखकी समताके लिए प्रयुक्त हो ही नहीं सकता । ३—चरित्रसंघर्षमें यह वार्ता कितनी उपयोगी है । प्रभाव आगे लिखा है ।

नोट—☞उत्तरकांडके राम-प्रताप-रविके उदयसे मिलान कीजिये—

पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका	१	दुरे नखत जग तेज प्रकासा
प्रथम अबिद्या निसा नसानी	२	उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा
काम क्रोध कैरव सकुचाने	३	अरुनोदय सकुचे कुमुद
धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना । ए पंकज बिकसे बिधिनाना । सुख संतोष बिराग बिबेका । बिगत सोक ए कोक अनेका ।	४	कमल कोक मधुकर खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ।
जब तें रामप्रताप खगेसा । उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा । नोट—यहांभी आगे रामजीको रबि कहेंगे—रघुबरबाल पतंग	५	रबि निज उदय ब्याज रघुराया । प्रभु प्रताप सब नृपन्ह देखाया ।

तव भुज बल महिमा उदघाटी । प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी ॥६॥

बंधु बचन सुनि प्रभु मुसुकाने । होइ सुचि सहज पुनीत नहानें ॥७॥

अर्थ—यह धनुष तोड़नेकी परम्परा आपके भुजबलकी महिमा (रूपी सूर्य्य) के उदयकी घाटी प्रगट हुई है । (अर्थात् जब उदयाचलपर सूर्य्य आते हैं तब सूर्य्यका उदय कहा जाता है; इसी तरह जब धनुष तोड़नेकी परम्पराके अनुसार आपके बाहुबलसे धनुर्भंग होगा तब आपके बाहुबलकी महिमा सबोंपर प्रकट हो जायगी, किसीको बतानेकी आवश्यकता नहीं) ॥६॥ भाईके वचन सुनकर प्रभु हँसे । स्वाभाविक ही जो पवित्र हैं वे रघुनाथजी शौच आदिसे निवृत्त हो नहाए ॥७॥

पं० रामकुमारजी—१ अब प्रताप-रविका उदय कहते हैं । भुजबलकी महिमा उदयाचलकी घाटी है ।

दिखाने, प्रकाशित करने) के लिये"—किया है। वीरकविजीके मतानुसार यहाँ 'कैतवापह्नुति', 'अनुमान प्रमाण' और 'पर्य्यायोक्ति' अलंकार हैं। प्र० स्वामीके मतानुसार यहां 'उद्घाटी' भूतकालिक क्रिया है और परिपाटी संज्ञा है।

नोट—१ 'प्रभु मुसुकाने'। लक्ष्मणजीकी उक्ति पर प्रसन्न तो हुए पर उनकी उक्तिकी प्रशंसा न कर सके क्योंकि इस उक्तिमें प्रभुकी (अपनी) प्रशंसा है। 'बड़े लोगोंका, शिष्ट लोगोंका सत्पुरुषोंका यह स्वभाव है कि अपनी प्रशंसा सुनकर सकुच जाते हैं, यथा—'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं। ३।४६।१।' इसीसे मुस्कुरा दिए। यथा—'सुनि मुनि बचन प्रेम रस साने। सकुचि राम मन महुँ मुसुकाने। २।१२८।१। ☞बड़ोंके मुखसे अपनी प्रशंसा सुनकर सकुचकर मनमें मुस्कुराए, क्योंकि वाल्मीकिजी आदि बड़े हैं। लक्ष्मणजीके मुखसे प्रशंसा सुनकर केवल मुस्कुरा दिए। यहाँ 'सकुचि' न कहा क्योंकि लक्ष्मणजी छोटे हैं, लड़के हैं, संकोच बड़े का होता है। (पं० रामकुमारजी)। २—"फुलवारीसे लेकर इस घड़ीतक लक्ष्मणजी चुप थे। अवसर पाकर विरहवंत प्रभुको व्याजसे सान्त्वना देते हैं कि आप तो धनुषभंग करेंगे ही। माता सीताजीका पाणिग्रहण अवश्य होगा। भगवान् शेष होकर भी परात्पर की इस अद्भुत लीलाके माधुर्य्यकी गंभीरताको न समझ सके। प्रतापकी स्तुति करके सान्त्वनाकी चेष्टा करते हैं। इस पर मुस्कुराए कि माया इतनी प्रबल है कि शेष तक नहीं बचते।—(गौड़जी)। ३—पांड़ेजीका मत है कि "मुसुकाने इससे कि जो मनोरथ रघुनाथजीका था वही लक्ष्मणजीने कह दिया। ४—वीरकविजी लिखते हैं कि भाईकी बात सुनकर मुस्कुरानेसे प्रसन्नता व्यंजित करनेकी ध्वनि है। ५—त्रिपाठीजी कहते हैं कि मुस्कराये कि लक्ष्मणजी मेरे अभिप्रायको समझ गए और अब स्पष्ट कहे देते हैं कि धनुष आप ही तोड़ेंगे और आपका यश होगा। ६—'बंधु बिलोकि कहन अस लागे' उपक्रम है, 'बंधु बचन सुनि' उपसंहार है।

नोट—'होइ सुचि सहज पुनीत नहाने' इति। १ 'सहज पुनीत' का भाव कि यह न समझो कि वे शौचादि क्रिया करनेसे अपवित्र हो गए थे अब स्नान करनेसे पवित्र हुए, किंतु वे सहजही पुनीत हैं, कभी अपवित्र नहीं थे, न हैं, न होंगे, तब भी उन्होंने शौचादिसे निवृत्त हो स्नान किया। तात्पर्य्य कि लोक संग्रहार्थ ऐसा करके अपने सदाचरण द्वारा जगत्को उपदेश देते हैं कि ये कर्म अवश्य करने चाहिए। २—"स्नान पवित्रताके लिये किया जाता है सो रामचंद्रजी सहज पुनीत हैं, यहां 'परिकरांकुर अलंकार' है और पवित्र होने पर भी शुद्धताके लिये स्नान किया, यह 'विधि-अलंकार' है। दोनोंकी संसृष्टि है।"—(वीरकवि)।

नित्य क्रिया करि गुरु पहिँ आए। चरनसरोज सुभग सिर नाए ॥८॥
सतानंदु तब जनक बोलाए। कौसिक मुनि पहिँ तुरत पठाए ॥९॥
जनक-बिनय तिन्ह आइ सुनाई। हरषे बोलि लिये दोउ भाई ॥१०॥

अर्थ—नित्य (प्रत्येक दिन जो प्रातः क्रिया किया करते थे वह सब) कर्म करके गुरुजीके पास आए और उनके सुंदर चरणकमलोंमें सुन्दर मस्तकोंको नवाया अर्थात् प्रणाम किया ॥८॥ तब (उसी समय) श्रीजनक महाराजने श्रीशतानन्दजीको बुलाया और तुरत विश्वामित्र मुनिके पास भेजा ॥ ९ ॥ उन्होंने आकर श्रीजनकजीकी बिनती सुनाई। मुनि प्रसन्न हुए और दोनों भाइयोंको बुला लिया ॥ १० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नित्य क्रिया करि गुरु पहिं आए।०' इससे सूचित किया कि जैसे शौच और स्नान आदि नित्यकी क्रियायें हैं, वैसे ही गुरुको आकर प्रणाम करना भी एक नित्यका कर्म है; यथा—'प्रात काल उठि कै रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा। २०५।७', 'सकल सौच करि जाइ नहाए। नित्य निबाहि मुनिहि सिर नाए। २२७।१।' तथा यहां 'नित्य क्रिया०।' (ख) नित्य क्रिया करके गुरुको प्रणाम

करनेका भाव कि इससे सब नित्य क्रिया सफल होती है। ☞जगत्‌के लोग सत्कर्म करके ईश्वरका नाम लेते हैं तब उनके कर्म पूर्ण (सफल) होते हैं और ईश्वर सत्कर्म करके गुरुचरणोंमें सिर नावैं तब पूर्ण हों क्योंकि गुरुको ईश्वरसे बड़ा कहा है, यथा - 'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी।' [☞यहां भगवान् सदाचारका उपदेश दे रहे हैं कि देखो हम भी गुरुको प्रणाम करते हैं। हमारे मनोरथ, हमारे सब कर्म, उनके प्रणामसे सफल हुए। तुम भी जो नित्य कर्म करो उसके अंतमें गुरुको अवश्य प्रणाम कर लो। इससे उसमें जो त्रुटि भी रह गई होगी उसकी पूर्ति हो जाती है। (ग) - 'आए' से जनाया कि श्रीरामजी नित्य-कर्म अलग करते हैं, जिसमें मुनिके ध्यान पूजनादिमें कोई विक्षेप न पड़े। (प्र० सं०)। अरुणोदय पर उठकर शौचादिसे निवृत्त हो स्नान कर नित्य क्रिया की। प्रातः संध्या भी यहां जना दी। प्रातः संध्याके लिये आज्ञा नहीं देनी पड़ती क्योंकि यह सब नित्यकर्म करके तब गुरुके पास जाकर उनको प्रणाम किया जाता है। यथा—'प्रात क्रिया करि गे गुरु पाहीं।३३०।४।' प्रातः सन्ध्याका समय भी इससे सूचित कर दिया। अरुणोदय पर उठकर शौचादिसे निवृत्त होकर सूर्योदयके पूर्व ही प्रातः सन्ध्यासे निवृत हो गए, क्योंकि यही उत्तम प्रातः सन्ध्याका समय है। २३७।६ 'संध्या करन चले दोउ भाई' में देखिए]। (घ) 'चरन सरोज सुभग सिर नाए' इति। सरोज विशेषण देकर चरणकी सुन्दरता कही और सुभग विशेषण देकर सिरकी सुन्दरता कही। तात्पर्य कि दोनों भाइयोंके सिर नवानेसे गुरुचरणोंकी शोभा है कि धन्य हैं वे मुनि और उनके चरण कि जिनको परब्रह्म परमात्मा शीश नवाते हैं और मुनिके चरणोंमें सिर नवानेसे दोनों भाइयोंके सिरोंकी शोभा है, यथा--'ते सिर कटु तूँबरि समतूला। जे न नमत हरि गुर पदमूला।११३।४।' यह गुरु और ब्राह्मणके चरणोंका माहात्म्य है। इस तरह दोनोंकी अन्योन्य शोभा कही। [नोट-वैजनाथजी 'सुभग' से 'ऐश्वर्य्य देनेवाले, ऐश्वर्य्यसे परिपूर्ण' यह अर्थ कहते हैं। ☞श्रीरामजी अपने आचरण द्वारा उपदेश देते हैं कि वही शीश शोभायमान है जो गुरु और ब्राह्मणके आगे झुके, नहीं तो कड़वी तोंबीके समान अशोभित है]।

२ (क) 'सतानंद तब जनक बोलाए' कहनेका भाव कि और राजाओंके पास बंदीजन, कामदार इत्यादिको भेजा और महामुनि विश्वामित्रजीके सम्मानार्थ अपने पुरोहित श्रीशतानंदजीको भेजा। जैसे उनका आगमन सुनकर प्रथम ही दिन उनसे मिलनेमें उनका सम्मान किया था,—'संग सचिव सुचि भूरि भट भूसुर बर गुरु ज्ञाति। चले मिलन मुनिनायकहि मुदित राउ एहि भाँति।', वैसेही अब भी उनका सम्मान किया। महात्माके पास महात्माका भेजना योग्य ही है। (ख)--अपने पास बुलाकर भेजनेका भाव कि जैसा हम कहें उसी प्रकार वे जाकर हमारे शब्दोंमें हमारी विनय सुनावें, कोई भाव बिगड़ने न पावे। क्योंकि कोई भाव बिगड़ गया तो वे क्रोध न कर बैठें जो हमारा सब बिगड़ ही जाय। इसीसे पास बुलाकर, सिखाकर तब भेजा कि बुलाना न कहें, बड़ोंको बुलवाना अनुचित है, उनसे यह कहना अनुचित है कि आपको बुलाया है, उनसे बिनती करना चाहिए कि दोनों भाइयोंसहित पधार कर यज्ञकी शोभा बढ़ाइए। (ग) 'कौसिक मुनि पहिं तुरत पठाए' से कौशिकजीकी प्रधानता रक्खी। 'तुरत' भेजनेमें जनकजीका यह भाव है कि मुनि राजकुमारोंको लेकर सबसे प्रथम आ जावें। [भाव यह कि भीड़ न होने पावे, प्रथमही उत्तम स्थान पर बिठा दिये जायँ। यह तो राजाने अपने धर्मका पालन किया और मुनिने अपना धर्म पालन किया कि सबसे पीछे गए। बड़े लोग अपना अमूल्य समय नष्ट नहीं करते, इसीसे वे समय पर पहुँचा करते हैं। विशेष भाव आगे लिखे जायँगे। 'तुरत' भेजनाभी अति सम्मान है। इससे जनाया कि सर्वप्रथम निमंत्रण इन्हींको भेजा]। (घ) 'तब जनक बोलाए' अर्थात् जब इधर दोनों भाई गुरुचरणोंमें प्रणाम कर चुके तब उधर राजाने श्रीशतानंदजीको बुलाया। शतानंदजी कितनी देर में आए वह समय यहां दिखाते हैं। श्रीरामजी प्रणाम करके अपने आसन पर गए। शतानंदजी ठीक उसी समय बुलाए गए, उनको

राजाने विश्वामित्रजीके पास जो संदेसा लेकर जानेको कहा उसके समझाने कहनेमें और वहांसे मुनिके पास आनेतक जो समय लगा उतनाही बीच पड़ा। (वि० त्रि० लिखते हैं कि राजा लोग रंगभूमिमें पहलेसे ही आकर डटे हुये हैं। जनकजी धनुषयज्ञकी प्रक्रिया रोके हुए हैं, इस प्रतीक्षामें थे कि जब ये लोग नित्य क्रियासे ख़ाली हो जायँ तब उनको बुलाया जाय और उनके आजानेपर धनुषयज्ञ आरंभ हो। अतः ख़ाली होनेका समाचार पानेपर शतानंदजीको भेजा)।

३ (क) 'जनक-बिनय तिन्ह आइ सुनाई' इति। बड़ेको बुलाना धृष्ठता है एवं अपराध है, यथा—'अपराध छमिबो बोलि पठए बहुत हौं ढीठ्यो दई।' इसीसे विनय सुनाना कहते हैं। (ख)-'हरषे बोलि लिये दोउ भाई' इति। विनय सुनकर उनका भाव समझकर हर्षित हुए। दोनों भाइयोंको बुलाया, इससे पाया गया कि दोनों भाइयों सहित पधारनेकी प्रार्थना है। (ग)-'बोलि लिये' से पाया गया कि दोनों भाई गुरुको प्रणाम करके अपने आसनपर चले गए थे। आसन वहाँसे पृथक् था, क्योंकि यदि वहीं होता तो शतानन्दजीके आतेही दोनोंने प्रणाम किया होता। इससे निश्चय है कि अन्यत्र आसन था। पूजा आदि के समय पास बैठनेसे विक्षेप होता, इसीसे वहाँ न रहे, प्रणाम करके चले आए। पुनः 'बोलि लिये' से यहभी सूचित होता है कि इतनी दूरीपर थे कि मुनिने वहींसे स्वयं बुला लिया, वहां तक शब्द पहुँच सकता था।

दोहा—सतानंद पद बंदि प्रभु, बैठे गुर पहिँ जाइ।
चलहु तात मुनि कहेउ तब, पठवा* जनक बोलाइ ॥२३९॥

अर्थ—श्रीशतानंदजीके चरणोंमें प्रणाम करके प्रभु गुरुजीके पास जा बैठे। तब मुनिने कहा—हे तात ! चलो, राजा जनकने बुला भेजा है। २३९।

टिप्पणी—१ (क) जब श्रीजनकजी विश्वामित्रजीसे मिलने गए थे तब शतानंदादि ब्राह्मण भी साथमें थे। पर श्रीरामजीने उनको प्रणाम न किया था, यथा-'उठे सकल जब रघुपति आए। बिश्वामित्र निकट बैठाए।' और यहाँ उनको प्रणाम किया। कारण कि तब उनको जानते न थे, बिना जाने वंदना कैसे करते ? विना जाने वन्दनाकी विधि नहीं है, यथा-'जपंतं जलमध्यस्थं दूरस्थं धनगर्वितम्। अश्वारुढमजानंतं षट्बिप्राः न वंद्यते।' अर्थात् जप करते हुए, जलके बीचमें स्थित, दूरस्थित, धनाभिमानी, अश्वारुढ़ और जिनको जानते नहीं, ऐसोंकी वंदना नहीं करना चाहिए। दूसरे, वहाँ बहुत ब्राह्मण थे, किसको प्रणाम करें किसको छोड़ें, यहां शतानन्दजी अकेले हैं, इसीसे उनको प्रणाम किया। (तीसरे, वहाँ तो सब स्वयं आपका तेज देखकर उठ खड़े हुए थे तव उनको प्रणाम कैसे करते ?)। (ख) ऊपर कहा कि 'जनक बिनय तिन्ह आइ सुनाई'। क्या बिनय थी यह वहां न कहा था, यहां उसे खोला कि जनकने दोनों भाइयों सहित बुलाया है। (ग) 'बैठे गुर पहिं जाइ' से पाया गया कि गुरुजी बैठे हुए हैं, नित्य क्रियासे निवृत्त हो चुके हैं तब शतानन्दजी आए। गुरुपदबंदन हो चुका है, इसीसे जाकर बैठ गए। (घ) 'मुनि कहेउ तब' अर्थात् जब श्रीरामजी बैठ गए तब कहा, क्योंकि यदि विना बैठेही चलनेको कहते तो रामजी बैठते नहीं, इसीसे बैठ जानेपर कहा (इससे मुनि का अतिशय प्रेम और वात्सल्य प्रदर्शित होता है)।

सीय स्वयंबरु देखिअ जाई। ईसु काहि धौं देइ बड़ाई ॥१॥
लषन कहा जस भाजनु सोई। नाथ कृपा तव जापर होई ॥२॥
हरषे मुनि सब सुनि बर बानी। दीन्हि असीस सबहि सुख मानी ॥३॥

अर्थ—चलकर श्रीसीताजीका स्वयंवर देखा जाय। देखैं, 'ईश' किसको बड़ाई देते हैं ॥ १ ॥

* पठए—रा० प०, वि० त्रि०। पठएउ—गौड़जी।

लक्ष्मणजीने कहा कि 'हे नाथ ! जिसपर आपकी कृपा होगी वही यशका पात्र होगा ॥ २ ॥ लक्ष्मणजीकी सुन्दर श्रेष्ठ वाणी सुनकर सब मुनि प्रसन्न हुए और सभीने सुख मानकर आशीर्वाद दिया ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सीय स्वयंबरु' और 'काहि···बड़ाई'से जनाते हैं कि इस स्वयंबरमें श्रीसीताजीकी प्राप्ति है और बड़ाईकी भी । अर्थात् विश्वविजय है और यश भी है । यथा—'बिश्वबिजय जसु जानकि पाई । आए भवन ब्याहि सब भाई । ३५७।५ ।', 'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि, कीरति अति कमनीय । पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनुदमनीय । २५१ ।' (ख) ☞'सीय स्वयंबर' पद देकर यहाँसे श्रीसीताजीके स्वयंवरकी कथा जनाई, क्योंकि यह (सीयस्वयंवर) कथा मानससरिताकी छबि है, यथा—'सीय स्वयंबर कथा सुहाई । सरित सुहावनि सो छबि छाई । ४१।१ ।' (ग) 'ईस काहि धौं देइ बड़ाई' इति । विश्वामित्रजी जानते हैं कि रामजी धनुष तोड़ेंगे, तब भी 'काहि धौं देइ' संदिग्ध वचन उन्होंने कहे । इसके कई कारण हो सकते हैं—एक तो यह कि वे सुनना चाहते हैं कि हमारी बातका देखें क्या उत्तर देते हैं । दूसरे यह कि वे दोनों भाइयोंको चलते (प्रस्थान) समय मुनियोंसे आशीर्वाद दिलाना चाहते हैं जिसमें इनका मंगल हो और मुनियोंकी वाणी सफल हो; अतः संदिग्ध वचन कहे जिसमें लक्ष्मणजी हमारी बड़ाई करें और सब मुनि प्रसन्न हो जायँ । तीसरे यह कि ईश्वरकी इच्छा कोई जानता नहीं । 'ईश' का बड़ाई देना कहा, क्योंकि ईश (महादेवजी) का ही वह धनुष है । जिसका धनुष है वे जिसको चाहें बड़ाई दें । ['ईश' के दोनों अर्थ हैं—ईश्वर और शंकरजी । यथा 'वंदेऽहंतमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिं', 'भयउ ईस मन छोभु बिसेषी । ८७.४ ।' पं० रामकुमारजीने दोनों अर्थोंके भाव लिखे हैं । श्रीगुरुसहायलालने भी दोनों अर्थोंके भाव लिखे हैं—(क) जाकर देखना चाहिए कि किसे ईश बड़ाई देते हैं । अथवा, (ख) विश्वामित्रजी त्रिकालज्ञ थे और प्रभुको पहिचान ही चुके थे, अतएव शतानन्दजीको देखकर गूढ़ अभिप्राययुक्त यह बोले कि सीता तो आप ही वर चुकी हैं, तथापि धनुर्भंग, परशुराम-गर्वविमोचनादि बड़ाई बाक़ी रही सो देखना चाहिए कि ईश किसे देता है । उन्होंने प्रथम अर्थ यह लिखा है कि "सीताके परतंत्र-स्वयंवरको देखना चाहिए, क्योंकि कदापि ईश्वर बड़ाई ही देवे ।" यहाँ 'काहि धौं' का अर्थ 'कदापि' किया है । अथवा, (घ) 'परम' मनोहर देखकर सीताजी आप बर लेती हैं अथवा 'ईशका' (शंभुवाला जो धनुष है वह) स्वतः बड़ाई देता है, यह जाकर देखना चाहिए ।—यह भाव 'ईश काहि' को तोड़कर कहा है । प्रायः अन्य सभी टीकाकारों ने 'ईश' का अर्थ 'ईश्वर' किया है । श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "विष्णु भगवान्‌के द्वारा जड़ हो जानेपर शिवजी स्वयं इसे नहीं लचा सके थे तो वे दूसरेसे कैसे तोड़वा सकते हैं ?" संदिग्ध वचनके सम्बन्धमें गौड़जी कहते हैं कि विश्वामित्रजीकी वाणी श्लेषसे व्यंजित कर देती है कि आपको सीताजीने स्वयं वरण कर लिया है । अब बड़ाईकी बातमें मर्यादा रखनेके लिये 'धौं' कहकर संदेह प्रकट करते हैं ।" पंजाबीजी लिखते हैं कि "गोप्य रखने हेतु वा प्रभुको सर्वज्ञ जानकर संदिग्ध बात कही ।"]

पं० रामकुमारजी—१ 'लखन कहा जस भाजनु सोई ।०' इति । लक्ष्मणजी बड़ी बुद्धिमानीसे बात कहते हैं । यद्यपि वे जानते हैं कि श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे जैसा कि सूर्य्योदयके रूपकसे वे कह चुके हैं तथापि उन्होंने यह न कहा कि आपकी कृपासे रामजी धनुष तोड़ेंगे । कारण कि मुनिने धनुषके तोड़नेके सम्बन्धमें सन्देह रक्खा,—'ईश काहि धौं देइ बड़ाई' कहा, इस पर यदि वे निश्चयात्मक वचन कहते हैं कि रामजी तोड़ेंगे तो इनमें गुरुजीसे अधिक जानकारी पाई जाती, दूसरे लक्ष्मणजी यह भी जानते हैं कि विश्वामित्र निस्सन्देह जानते हैं कि रामजीही धनुष तोड़ेंगे, यह जानते हुए भी जब वे यह कहते हैं कि ईश न जाने किसको बड़ाई दें तब हमारा यह कथन उचित न होगा कि रामजी तोड़ेंगे । अतः वैसा न कहकर कहा कि 'नाथ कृपा०' । तात्पर्य्य कि जब आपकी कृपा होगी तब ईश बड़ाई देंगे, यथा 'मुनि प्रसाद बलि तात तुम्हारी । ईस अनेक करवरें टारी ।' अर्थात् ईश्वरकी कृपाका हेतु ब्राह्मण की कृपा है । ☞देखिए विश्वा-

मित्रने 'ईश' का बड़ाई देना कहा, पर लक्ष्मणजी ईशको पृथक् नहीं कहते। जिसपर आपकी कृपा होगी उसीको ईश बड़ाई देंगे, ऐसा कहनेसे ईश और गुरु पृथक् हो जाते हैं और गुरु साक्षात् ईश्वर हैं। बाहुकमें भी कहा है कि 'हित उपदेसको महेस मानौं गुरु कै'। अतः इतना ही कहा कि 'नाथ कृपा तव जापर होई'। ('सोई' से जनाया कि और कोई यश नहीं पा सकता। यशभाजन तो पहले ही आप 'सुफल मनोरथ होंहु तुम्हारे' आशीर्वाद देकर निश्चित ही कर चुके)।

२ 'हरषे मुनि सब सुनि बरबानी।' इति। (क) ब्राह्मणकी प्रशंसा की इसीसे सब ब्राह्मण प्रसन्न हुए। स्तुति सुनकर सब देवता प्रसन्न होते हैं तब वर देते हैं, वैसे ही मुनियोंने प्रसन्न होकर वर दिया कि तुम दोनों भाई यशके भाजन हो। (ख) विश्वामित्र महामुनि हैं और सब मुनि हैं, सबमें विश्वामित्र श्रेष्ठ हैं, प्रधान हैं। वा, विश्वामित्र सब मुनियोंके गुरु हैं इसीसे गुरुकी प्रशंसा सुनकर सब मुनि सुखी हुए। ☞यहाँ यह भी दिखाते हैं कि ईशकी कृपाका कारण गुरु (विश्वामित्र) की कृपा है और विश्वामित्रकी कृपाका कारण सब ब्राह्मणोंकी कृपा है। (रा० प्र० कारका मत है कि गुरुमें विश्वास देखकर सब प्रसन्न और सुखी हुए)। वाणीको 'बर' विशेषण दिया, क्योंकि वह गुरुभक्ति और रामभक्तिसे ओतप्रेत है।

नोट—☞सब मुनियोंने आशीर्वाद दिया पर विश्वामित्रजीने न तो आशीर्वाद दिया और न कुछ कहा ही। यह क्यों? इसलिये कि अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देने लगते तो यह बात उचित न होती, उनका बोलना अशोभित होता। इसीसे न तो उनका हर्ष कहा और न आशीर्वाद ही। संतस्वभाव है कि 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं'। (पं० रामकुमार)।

☞'बर बानी' इति। वाणीमें क्या श्रेष्ठता है?—(क) पं० रामकुमारजीका मत है कि एक तो इसमें ब्राह्मणकी प्रशंसा है इससे वाणीको 'बर' कहा, दूसरे इस वाणीसे सब मुनि प्रसन्न हुए और मारे हर्षके सबने आशीर्वाद दिया, यह वाणीकी श्रेष्ठता है। अर्थात् जिससे महात्माओंको सुख हो वह वाणी श्रेष्ठ ही है। (ख) वैजनाथजीके मतानुसार "देशकाल समय-सुहावनी, थोड़े अक्षर और अर्थ बड़े विलक्षण, चातुरी हास्यरसयुक्त, श्रवणरोचक, गूढ़ आशय, स्नेहवर्द्धक" होनेसे इसे 'बर बानी' कहा। लक्ष्मणजीके कथनका तात्पर्य यह है कि 'हमारे ईश तो आप ही हैं, आप ही का चाहा होगा। पुनः वाणीकी श्रेष्ठता यह है कि मुनिने जिस बातका निश्चय नहीं किया, उसी बातको युक्तिसे आपने निश्चित ही तो करा लिया। (घ) गौड़जी लिखते हैं कि विश्वामित्रजीकी वाणी तो श्लेषसे व्यंजित कर देती है कि आपको सीताजीने स्वयं वरण कर लिया है।—'सीय स्वयंबर०'। अब बड़ाईकी बातमें मर्यादा रखनेके लिए 'धौं' कहकर सन्देह प्रकट करते हैं। इस पर एक प्रकारसे सन्देहनिवारणार्थ लक्ष्मणजी अपनी बर वाणीसे यह व्यंजित करते हैं कि नाथ जिसपर आपकी कृपा होगी वही यशस्वी होगा। श्रीरामजीपर आपकी कृपा है, इसलिए धनुर्भंगका यश उन्हींको मिलेगा। इस व्यंजितार्थपर ही सब मुनियोंको हर्ष होता है। और, सभी सुखी हो आशीष देते हैं कि ऐसा ही हो (श्रीरघुनाथजी हीको यश मिले)।

नोट—'ईस काहि धौं देइ बड़ाई' और 'जस भाजन०' दो असम वाक्यार्थकी एकतामें 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है—(वीरकवि)।

पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुष मखसाला॥४॥
रंगभूमि आए दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई॥५॥
चले सकल गृह काज बिसारी। बाल* जुवान जरठ नर नारी॥६॥

* बालक जुवा-रा० प्र०। शं० चौ० लिखते हैं कि यह पंक्ति १७०४ वाली पोथीमें नहीं है। बाल जुवान जरठ—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०।

अर्थ--फिर मुनियोंकी मंडली सहित कृपालु श्रीरघुनाथजी धनुषयज्ञशाला देखने चले ॥ ४ ॥ 'दोनों भाई रंग-भूमिमें आये हैं' यह ख़बर सब पुरवासियोंने पाई ॥५॥ बालक, जवान, बूढ़े, स्त्री और पुरुष सभी घर और घरके कामकाज भुलाकर चल पड़े ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'पुनि' अर्थात् आशीर्वाद पानेके अनन्तर। दूसरा भाव 'पुनि' का यह है कि एक बार नगरदर्शनसमय मखशाला देख चुके हैं अब पुनः देखने चले। प्रथम बार 'बालक वृन्द समेत' देखा और अब 'मुनिवृन्द समेत' देखने चले। (ख) 'मुनिबृंद समेत कृपाला' इति। यहाँ शृंगार और वीररसका प्रसंग है, इससे मुनिको प्रधान न रक्खा। (वैजनाथजी)। पुनः श्रीरामजीको प्रधान और मुनियोंको गौण रखनेका कारण यह भी है कि राजाओंका स्वयंवर है, यहाँ धनुष तोड़ना है जो राजाओं ही का काम है। (ग)—'कृपाला' का भाव कि सबको सुख देनेके लिये सबपर कृपा करके धनुषमखशाला देखने चले, सबको संग लेकर चले, जैसे बालकोंपर कृपा करके धनुषमखशाला देखते रहे थे, यथा 'भगति हेतु सोइ दीनदयाला। चितवत चकित धनुषमखशाला।' पुनः, धनुष तोड़कर सबको सुख देंगे इससे 'कृपाला' कहा। (घ)—'देखन चले धनुष मखशाला' इति। धनुष देखनेको नहीं कहते, क्योंकि धनुषमें कोई विचित्रता नहीं है, जो देखने जायँ। वह भारीभर कहा जाता है, सो ये भारीपनको कुछ समझते ही नहीं हैं, इनके लिये तो यह पुराना सड़ा हुआ ही है, यथा 'लखन कहा हँसि हमरे जाना। सुनहु देव सब धनुष समाना। का छति लाभ जून धनु तोरे।' इत्यादि। धनुष मखशाला देखने चले क्योंकि वह बड़ी ही विचित्र बनी है, उसकी रचना देखने योग्य है। इसीतरह जब नगरदर्शनको गए, तबभी धनुष नहीं देखा, केवल मखशालाकी रुचिर रचना देखते रहे। अब मुनियोंको दिखानेके लिये साथ लेकर जा रहे हैं, उन्होंने अभी नहीं देखा है, इससे भी 'कृपाल' कहा, क्योंकि आप न जाते तो मुनिभी क्यों जाते ? (स्वयंवर देखने नहीं चले, स्वयंवर तो इनका होगा, देखेंगे और लोग। वि० त्रि०)

२ (क) 'रंगभूमि आए' कहा। रंगभूमिमें गए कहना था सो न कहा, यह क्यों ? इसलिये कि दोनों भाइयों सहित मुनि कोटमें टिके हैं और कोट नगरसे बाहर है। इसीसे पुरवासी 'आए' कहते हैं। ये वचन पुरवासियोंके हैं। कोटसे पुरमें आए हैं। पुरमें ही रंगभूमि है; यथा 'पुर पूरुब दिसि गे दोउ भाई। जहँ धनुष-मखभूमि बनाई।' (ख)—'असि सुधि' कहनेका भाव कि रामजी अभी चले हैं, वहाँ तक पहुँचे नहीं, पुरमें आगए हैं, रंगभूमिके लिये आए हैं, किसीने हर्षके मारे कह दिया कि दोनों भाई रंगभूमिमें आ गए। (ग)—'सब पुरबासिन्ह पाई' से जनाया कि दोनों भाइयोंके आनेकी ख़बर सब लगाए रहे थे, इसीसे सबको ही एकदम और इतनी जल्दी ख़बर मिल गई। ख़बर पातेही मारे आनंदके एक दूसरेको ख़बर देते गए, क्षणभरमें सबको ख़बर मिल गई। (घ) 'सुधि पाई' कहनेका भाव कि ख़बर क्या है मानों नवनिधि पदार्थ है जो पागए। (ङ) जब सब राजा रंगभूमिमें आए तब पुरवासी नहीं गए और दोनों भाइयोंका आना सुनते ही चल पड़े। इससे जनाया कि किसीको राजाओंके दर्शनकी लालसा नहीं है, उनसे अधिक सुन्दर तो स्वयं मिथिलापुरवासी हैं। उन्हें इन दोनोंके दर्शनकी लालसा है, इनकी शोभापर वे आशिक़ हैं, मुग्ध हैं; यथा 'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई। होहिं सुखी लोचन फल पाई।२२०.३।' सबके सब दोनोंके सौंदर्य्यके वशीभूत हो गए हैं, यथा 'जिन्ह निज रूप मोहनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी॥ २२९.५॥', "पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई॥ २४१.८॥"; इसीसे 'दोउ भाई' कहा। [☞ यहाँ केवल शृङ्गार है, इसलिए यहाँ मुनिका भी नाम न दिया, केवल 'आए दोउ भाई' कहा—(वैजनाथजी)]

३ (क) 'चले सकल गृह०' इति। यहाँ 'चले' कहा, क्योंकि बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी घर छोड़ छोड़ देखने जा रहे हैं, वृद्ध बच्चे और सब स्त्रियाँ दौड़ नहीं सकतीं, इसलिये दौड़ना न कहकर चलना कहा।

जहाँ बालक और वृद्ध साथ नहीं होते वहाँ 'धावा वा धावना' कहते हैं, यथा 'देखन नगर भूपसुत आए। समाचार पुरबासिन्ह पाए ॥ धाए धाम काम सब त्यागी । मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ॥ २२०.१-२ ॥'—(यहां बालक वृद्ध सग नहीं हैं), पुनः यथा 'जे जैसेहिं तैसेहिं उठि धावहिं । बाल बृद्ध कहँ संग न लावहिं ॥ ७.३ ॥' और यहां 'बाल जुवान जरठ नर नारी ।' सब साथ हैं। इसी तरह जहां जहां बाल वृद्ध साथ हैं वहां वहां चलना कहा है, यथा 'सुनि सब बाल बृद्ध नर नारी । चलहिं तुरत गृह काज बिसारी ॥ २.११४ ॥' बालक और बूढ़ोंको टिकाये चलना पड़ता है, उनके साथ दौड़ नहीं सकते । (दूसरे, इस समय यह भी डर नहीं है कि जल्दी लौट जायेंगे, अब तो धनुषयज्ञकी पूर्तितक रहेंगे) । (ख) 'सकल' से जनाया कि कोई भी घरपर रह न गया । 'सब' का खबर पाना कहा है इसीसे सबका चलना कहा । 'असि सुधि सब पुर-बासिन्ह पाई'; अतः 'चले सकल' । (ग) 'गृहकाज बिसारी' अर्थात् तनसे कामोंको त्यागा और मनसे बिसार भी दिया, यह नहीं है कि मन उनमें लगा हो, मन तो भाइयोंमें लगा है । नगरदर्शनके समय तो सब 'धाए धाम काम सब त्यागी', केवल गृहकार्यको त्यागकर दौड़ पड़े थे और अबकी तो गृहकार्यकी सुध भी भुला दी । (घ) 'बाल जुवान जरठ नर नारी', यहां बाल और जरठके बीचमें 'जुवान' को रखकर जनाया कि जो जवान हैं वे बालकों और बूढ़ोंको संगमें लिए हैं । (वा, तीनों अवस्थाओंके क्रमसे कहा । इससे सभी अवस्थाओंके लोगोंका जाना कहा ।)

नोट—१ ☞यहाँ दिखाते हैं कि जब भीतर बाहर दोनोंसे त्याग हो तब रामजी मिलते हैं । 'बिस-राना' मनका धर्म है और 'चलना' शरीरका है । इन्होंने गृहकाजको मन और तन दोनोंसे त्याग दिया । २—यहां रीति भी दिखाते हैं । या यों कहिये कि यहां पुरवासियोंके चलनेकी तसवीर दिखाते हैं कि किस प्रकारसे लोग चले जा रहे हैं । जवान पुरुष एक हाथसे लड़कोंको और दूसरेसे बूढ़ोंको सँभाले और इसी तरह स्त्रियाँ बच्चों और बुढ़ियोंको सँभाले चल रही हैं, क्योंकि भीड़ बहुत है । (प० रा० कु०)

देखी१ जनक भीर भै भारी । सुचि सेवक सब लिये हँकारी ॥७॥

तुरत सकल लोगन्ह पहिँ जाहू । आसन उचित देहु सब काहू ॥८॥

दोहा—कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि ।

उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल२ अनुहारि ॥२४०॥

अर्थ—(जब) श्रीजनकमहाराजने देखा कि भारी भीड़ हो गई है । (तब) उन्होंने सब विश्वासपात्र और अपने धर्मपर आरूढ़ सेवकोंको बुलवा लिया ॥ ७ ॥ (और आज्ञा दी कि तुम लोग) तुरत अभी सब लोगोंके पास जाओ और सबोंको उचित आसन दो । अर्थात् जो स्थान जिसके योग्य हो उसपर उसको बिठा दो ॥ ८ ॥ उन्होंने कोमल, विनम्र वचन कहकर उत्तम, मध्यम, नीच और लघु सभी स्त्री पुरुषोंको उनके उनके योग्य स्थानोंपर बैठाया ॥ २४० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भीर भै भारी' इति । भारी भीड़से जनाया कि जब राजा लोग गए तब भीड़ साधारण थी, पर जब सब पुरवासी एकदम एकसाथ आगए तब भीड़ भारी होगई, क्योंकि पुरवासी कई लाख थे । मिथिला-नगर बड़ा भारी नगर था । (ख) 'देखी जनक' से ज्ञात होता है कि राजा अपना काम स्वयंभी देखते हैं, केवल दूसरेके भरोसे नहीं रहते हैं । दूसरे इससे उनका निकटही होना पाया जाता है । ऐसी जगहपर उपस्थित हैं कि जहाँसे सब तरफकी देखभाल कर सकते हैं । (ग)—'सुचि सेवक' अर्थात् ऐसे नहीं हैं कि किसीसे द्रव्य लेकर अथवा संकोचसे या अपना मित्र समझकर उच्चासन-

१ देखे—रा० प्र० । २ सब—१७०४, रा० प्र० ।

पर बिठा दें, वरंच शुचि हैं अर्थात् अपने धर्ममें दृढ़ हैं; यथा 'अप बिचार सुचि सेवक बोले। ... निज धरम न डोले ॥ २.१८६ ॥' (शुचि = किसी प्रकारभी आज्ञासे नहीं टलनेवाले, अपने धर्मपर यथार्थ आरूढ़। = मन कर्म वचनसे आज्ञामें तत्पर रहनेवाले, विश्वासपात्र सच्चरित्र, सदाचारी और सुचतुर)। (घ)—'सेवक सब' इति। 'सब' कहनेका भाव कि जब राजाओंको बिठाया तब सब सेवक नहीं लगे थे और इस समय सभी पुरवासी आ गए, भारी भीड़ है जिसका सँभाल थोड़े सेवकोंसे नहीं हो सकेगा इससे सबको बुलाया।

२ (क) 'तुरत जाहू' कहनेका भाव कि किंचित् भी विलंब हो जानेसे सब लोग अनुचित आसनोंपर बैठ जायँगे। जहाँ तहाँ पहलेही बैठ गए तो वहाँसे उन्हें उठाना अनुचित होगा क्योंकि इससे उनका अपमान होगा। अतः तुरत जानेको कहा कि सब उचित स्थानोंपर बैठें। (ख)—'आसन उचित देहु०' से पाया गया कि रंगभूमिमें सबके लिये उचित आसन बने हुए हैं। सब सेवक जानते हैं कि कौन आसन किसके लिए है; इसीसे उनको यह नहीं समझाना पड़ा कि कौन आसन किसको देना होगा। (ग) इतना कहना काफी था कि तुरत सबको आसन दो, 'तुरत लोगन्ह पहिं जाहू' कहनेका प्रयोजनही क्या था? उत्तर यह है कि 'जाहू' कहकर जनाया कि सब लोगोंके पास जाकर उनको आदरपूर्वक लिवा ले जाकर आसनोंपर बिठाओ। यह भाव दरसानेके लिए 'लोगन्ह पहिं जाहू' कहा।

३ 'कहि मृदु बचन बिनीत०' इति। (क) राजाकी आज्ञा है कि "तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू।०"; कवि अपनी लेखनीसे 'तुरत' का स्वरूप दिखा रहे हैं कि हुक्म पातेही 'तुरत बैठारे नर नारि'। राजाने आज्ञा दी थी कि 'आसन उचित देहु सब काहू' सो यहाँ 'उत्तम मध्यम नीच लघु निज निज थल अनुहारि' में उचित आसन देना लिखते हैं। उत्तम स्थलमें ब्राह्मणोंको बैठाया, मध्यममें क्षत्रियोंको, नीचमें वैश्यको और लघुमें शूद्रको बैठाया। नर और नारियों दोनोंके साथ उत्तम मध्यम नीच लघु का संबंध है। (ख)—नगरदर्शनके समय जब बालक रंगभूमि दिखा रहे थे तब वहाँ कहा था कि 'जहँ बैठें देखहिं सब नारी। जथा जोग निज कुल अनुहारी। २२४।७।', अर्थात् वहाँ कुलके अनुसार स्त्रियोंके बैठनेके स्थान कहे थे और यहाँ बैठाते समय कहते हैं कि 'निज निज थल अनुहारि' बैठाया; इससे जनाया कि कुलके अनुकूल स्थल बने हैं। (ग) 'कहि मृदु वचन बिनीत०' से यहाँ सेवकोंकी शुचिता दिखाते हैं कि उनके वचन मृदु हैं, तनसे वे विनीत वा विनम्र हैं और मनसे शुचि हैं। अर्थात् वे मन, कर्म और वचन तीनोंसे सुशोभित हैं। ['विनीत' अर्थात् जो स्त्री पुरुष जिस संबोधनके योग्य था उसको वैसाही कहकर बैठाया। (पाँड़ेजी)। 'निज निज थल अनुहारि' बैठानेमें 'प्रथम सम अलंकार' है।]

राजकुँअर तेहि अवसर आए। मनहु मनोहरता तन छाए ॥ १ ॥
गुनसागर नागर बर बीरा। सुंदर स्यामल गौर सरीरा ॥ २ ॥
राजसमाज बिराजत रूरे। उड़गन महुँ जनु जुग बिधु पूरे ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—रूरे = अत्यंत सुंदर और प्रकाशमान। = विशेषतर शोभा करते हुए। अर्थात् राजसभाकी विशेष शोभा इनसे हो गई।—(वै०, पां०)।

अर्थ—उसी अवसरपर (जैसे ही सब बैठ गए) दोनों राजकुँअर (रंगभूमिमें) आए, (ऐसा मालूम होता है) मानों साक्षात् मनोहरताको अपने तन भरमें छालिया (बसा लिया) है ॥ १ ॥ वे गुणोंके समुद्र, चतुर और श्रेष्ठ वीर हैं। उनके श्यामल और गोरे सुन्दर शरीर हैं ॥ २ ॥ सुन्दर दोनों भाई राजसभामें ऐसे शोभायमान हैं मानों तारागणके मध्य दो पूर्णचन्द्र विराजमान हैं ॥ ३ ॥

पं० रामकुमारजी—१ 'राजकुँअर तेहि अवसर आए।०' इति। (क) जनकमहाराजने बिश्वामित्र-

जीको सबसे प्रथम बुलाया पर वे दोनों भाइयों सहित सबसे पीछे आए। इसीसे जब सब लोग बैठ गए तब दोनों राजकुमारोंका आगमन लिखते हैं। सब पुरवासी तथा समस्त राजसमाजके अपने अपने स्थानपर बैठ जानेपर आनेके कारण यह हैं कि एक तो यदि पुरवासियोंके बैठ जानेके पूर्व आते तो समस्त पुरवासी संगमें लग जाते और भारी भीड़ हैं उसमें बहुत तकलीफ (कष्ट) होती। दूसरे, यदि कहो कि चाहे वे प्रथम ही आ जाते चाहे पीछे उनके लिए दोनों मौके अच्छे थे, कोई कष्ट न होता, श्रीजनक महाराजने तो उचित प्रबंध उनके लिए कर ही रक्खा होगा तो उसका उत्तर यह है कि "जनकमहाराजका मुनिको प्रथम बुलाना और सब प्रबंध कर देना योग्य ही था, पर मुनि कृपालु हैं वे पीछे आए जिसमें सबोंको अपनी जगहसे दर्शन हो जायँ, राजा और मुनि दोनों ही अवसरके जानकार हैं—सबसे प्रथम बुलाया यह राजाकी जानकारी है और सबसे पीछे आए यह मुनिकी जानकारी है।" (ख) यहाँ शोभाका प्रकरण है, इसीसे शोभासूचक 'राजकुँअर' पद दिया। 'आए' और 'छाए' बहुबचन हैं। ये शब्द दोनों भाइयोंके लिये आए हैं। (ग) 'मनोहरता तन छाए'—अर्थात् शरीरके चारों ओर शोभा फैल रही है। भाव कि और लोगोंके शरीरमें आभूषण और वस्त्रसे शोभा आती है और इनके तनमें स्वाभाविक ही शोभा छा रही है। मनोहरता ही इनका भूषण बन गई है। आगे भी कहेंगे—'नखसिख मंजु महाछबि छाए'। (पुनः, भाव कि बाह्येन्द्रियों में नेत्र पबल हैं और भीतरकी इंद्रियोंमें मन प्रबल है सो इन दोनोंको खींच लेते हैं। छाए=निवास दिया है। वीरकविजीके मतसे यहाँ 'सिद्धविषया हेतूत्प्रेक्षा' है।)

२ (क) 'गुन सागर०' इति। तनकी शोभा कहकर अब गुणोंकी शोभा कहते हैं, क्योंकि गुण होना भी तनकी शोभा है। गुणसागर और नागर हैं, दोनोंको आगे चरिचार्थ करेंगे—'बिनय सील करुना गुन सागर। जयति बचन रचना अति नागर। २८५। ३।' गुणोंकी थाह नहीं, अतः सागर कहा। (ख) 'बर बीरा' का भाव कि और राजा वीर हैं, ये 'बर' वीर हैं। पुनः, वीरोंके समाजमें धनुष तोड़ा इससे वीर कहा और जो काम वीरोंसे न हुआ वह इन्होंने कर दिया, इससे 'बर' बीर कहा। पुनः, (ग) 'गुणसागर, नागर और बरबीरा' इन विशेषणोंको आगे चरितार्थ करेंगे। ये तीनों भविष्यमें होनेवाले विशेषण हैं, इसीसे उन्हें यहाँ प्रथम सूक्ष्म रीतिसे कह दिए। अनेक रूप दिखाए हैं इससे गुणसागर कहते हैं, यथा उत्तरकांडमें 'अमित रूप प्रगटे तेहि काला। जथाजोग मिले सबहि कृपाला॥" एहि बिधि सबहि सुखी करि रामा। आगे चले सील गुन धामा।' में अमित रूप प्रगट करनेसे गुणसागर कहा। परशुराम गर्व बड़ी चतुराईसे चूर किया, बात ही बातसे। अतः परशुरामजीसे वार्ता करनेमें नागर कहा। और, धनुष तोड़नेसे एवं सबको मूर्तिमान् वीररस देख पड़नेसे 'बर बीरा' कहा। यथा 'देखहिं भूप महा रनधीरा। मनहु बीररस धरे सरीरा।' [बहुत बड़े गुणीमें भी भद्दापन देखा जाता है, अतः उसके निवारणार्थ 'नागर' कहा। सुन्दरता, गुण-बाहुल्य और शौर्य तीनों इनमें एकत्र देखे जाते हैं अतः 'बर बीरा' कहा। (वि० त्रि०)]

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि "यहाँ 'बर बीरा' कहकर (त्याग, दया, विद्या, पराक्रम और धर्म इन) पाँचों वीरताओंसे परिपूर्ण सूचित किया है।" और पंजाबीजी लिखते हैं कि 'गुणसागर' अर्थात् क्षमा दयादि गुण अपार हैं। केवल सतोगुणी ही नहीं हैं यह जनानेके लिये नागर कहा। अर्थात् व्यवहारमें भी बड़े चतुर हैं। पुनः शूरवीर हैं, पर वीर कठोर होते हैं, ये कठोर नहीं हैं, परम सुन्दर हैं।"

२ 'सुंदर स्यामल गौर सरीरा' इति। यहाँ तक दोनों भाइयोंके सब विशेषण एक ही हैं। सब गुण दोनों भाइयोंमें हैं, केवल रंगमें भेद है, इसलिए रंग प्रथक् प्रथक कहे। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—३ 'राजसमाज बिराजत रूरे०।' इति। (क) तनकी और गुणकी सुन्दरता तथा वीरताकी शोभा कहकर अब तेजकी शोभा कहते हैं। रूप, गुण, चतुरता और वीरता सभी प्रकार राजाओंसे अधिक हैं। कितने अधिक हैं, यह 'उडगन महुँ जनु जुग बिधु पूरे' से दिखाते हैं। अर्थात् जैसे तारागणसे

चन्द्रमा अधिक है। (ख) 'राज समाज बिराजत' कहकर जनाया कि चारों ओर राजा लोग बैठे हैं, बीचमें ये दोनों सोह रहे हैं। विराजत (विशेष राजते वा सोहते हैं) का भाव कि शोभित तो पहले भी थे। अब राजसमाजमें विशेष सुशोभित हैं। चन्द्रमामें बहुत अवगुण हैं, पर ये दोनों गुणसागर हैं। (गुणसागर प्रथम ही कह दिया इससे यहाँ 'बिमल बिधु' न कहना पड़ा)। (ग) पूर्व इनको सूर्य कहा, यथा 'रबि निज उदय व्याज रघुराया' और आगे भी कहेंगे 'उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग', पर यहाँ सूर्य्य न कहकर चन्द्रमाके समान कहते हैं। कारण कि अभी यहाँ धनुषरूपी रात्रि बनी हुई है, राजा सब तारे हैं, यथा 'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी'। इसीसे दोनों भाइयोंको इनके मध्यमें चन्द्रमा समान सुशोभित कहा, जैसे रात्रिमें चन्द्रमा तारोंसहित सुशोभित रहता है। 'राजसमाज बिराजत रूरे' से सूचित करते हैं कि राजसमाज भी शोभित है पर ये विशेष शोभित हैं तथा यह कि जब तक धनुष नहीं टूटता तभीतक सब राजाओंकी शोभा बनी हुई है। तारागणोंकी शोभा चन्द्रमाके साथ बनी रहती है, सूर्योदयपर नहीं रहती, इसीसे दोनों भाइयोंको पूर्णचन्द्र कहा। जैसे चन्द्रमा तारापति है, वैसेही ये सब राजाओंके पति हैं, क्योंकि चक्रवर्ती राजकुमार हैं। आगे श्रीरामजीका सूर्य्यसम उदय कहेंगे। सूर्य्योदयपर रात्रिका नाश है, वैसेही रामजीके हाथों धनुषका नाश होगा। धनुषरूपी रात्रिके नाशपर राजसमाजरूपी तारागणकी शोभा न रहेगी और न वे ही रह जायेंगे। रात्रि बीतनेपर दिन होता है वैसे ही रात्रिके रूपकके पीछे दिनका रूपक कहेंगे। [(घ) आकाशमें दो पूर्णचन्द्रका उदय कल्पनामात्र है अतः यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।]

जिन्ह के[१] रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—भावना = भाव, यथा 'एहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। तेहि तस देखेउ कोसलराऊ'।

अर्थ—जिनकी जैसी भावना थी उन्होंने प्रभुकी वैसी ही (अर्थात् अपनी भावनाके अनुकूल) मूर्ति देखी ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ यहाँ अनेक भावनावाले लोग एकत्रित हैं और रंगभूमिमें भावनानुकूल मूर्तिका देखना वर्णन करना मुनियोंकी रीति है; इसीसे गोसाईंजीने भी लिखा, क्योंकि उनकी प्रतिज्ञा है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई।' यह कहकर कि जिसकी जैसी भावना थी वैसी ही मूर्ति उसको देख पड़ी, फिर भावना और उसके अनुकूल मूर्तिका वर्णन करते हैं। एक ही रूपमें अनेक रूप दिखाए, इसीसे 'प्रभु' कहा। दूसरेसे सबकी भावना और भावनानुकूल प्रभुकी मूर्ति न समझते-समझाते बनती, इसीसे ग्रन्थकार स्वयं ही उसे आगे स्पष्ट करके कहते हैं। (ख) 'मूरति' के संबंधसे 'भावना' पद दिया—जैसी भावना तैसी मूर्ति। दोनों स्त्रीलिंग हैं। (ग) [एक श्रीरामजीको भिन्न-भिन्नरूपमें देखना 'प्रथम उल्लेख अलंकार' है। यही अलंकार प्रधानरूपसे 'जेहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। २४२।८।' पर्य्यन्त विद्यमान है। (वीर)]

नोट—१ 'श्रीरामजी तो शुद्ध सच्चिदानंद एकरस निर्विकार स्वरूप हैं, वे अनेक रूप कैसे देख पड़े ?' इसी शंकाकी निवृत्ति 'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी।' इस चौपाईसे की गई है; जैसे कि हीरा या बल्लौरी शीशा आदि स्वयं स्वच्छ हैं परन्तु नील-पीतादि अनेक पदार्थोंके सान्निध्यसे नील-पीतादि भिन्न-भिन्न रंगोंके अनुभवमें आते हैं, वैसे ही जिनके जिनके हृदयमें संस्कारवश जैसी जैसी भावनाएँ होती हैं, उन्हीं भावनाओंके अनुसार भगवान् उनके अनुभवमें आते हैं; किसीने कहा भी है "मणिर्यथा विभागेन नीलपीतादिभिर्युतः। रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः ॥"

१ कै—ना० प्र०, गौड़जी, वि० त्रि०।

२ भक्त अभक्तके हृदयानुसार इनका विषम बिहार होना है। यथा 'जद्यपि सम नहिं राग न रोषू। गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा।' अतः सबको उनके पृथक् भावनानुसार पृथक रूपसे दर्शन दिये। तथा अपने अखिल रसामृत मूर्ति होनेका वैभव दिखलाया। (वि० त्रि०)।

श्रीमान् लमगोड़ाजी 'वि० मा० हास्यरस' 'धनुषयज्ञ' शीर्षकमें लिखते हैं कि "मुझे शुरू हीसे धनुषयज्ञ बहुत पसन्द रहा है। कविवर शेक्सपियरके "जूलियस सीज़र" नामक नाटककी उस वार्ता वाले दृश्यकी बड़ी तारीफ़ की जाती है जो कैसियस आदिमें 'सार्डिस' के पड़ाव पर (Camp near Sardi) हुई है। एक आलोचकने यहांतक लिखा है कि इस दृश्यकी नक़ल बहुतसे लेखकोंने की है परन्तु शेक्सपियरकी बराबरीका दृश्य आजतक कोई नहीं लिख सका। अँगरेज़ी साहित्यके देखते यह विचार बिलकुल ठीक है, पर संसारके साहित्य मर्मज्ञोंसे हमारा अनुरोध है कि उस दृश्यको धनुषयज्ञसे तुलना करें और फिर देखें कि राम, लक्ष्मण और परशुरामकी पारस्परिक वार्त्तायें साहित्यिक विचारसे भी कितनी अधिक ऊँची हैं। नैतिक विचारसे तो हम शेक्सपियरके दृश्यको पतनका ही दृश्य कहेंगे क्योंकि वहाँ एक बार फिर राजनीतिक मित्रताके कारण ब्रूटस जैसे आदर्शवादीका आदर्शवाद मिट्टीमें मिला दिया गया, और विजय हुई अपस्वार्थी कैसियस की। तुलसीदासजीने अपने दृश्यमें सत्य एवं शील हीकी विजय कराई है। अगर लक्ष्मणके हाथमें 'सत्य' का नश्तर है तो राम 'शील' के मरहमसे काम लेते हैं और दोनों ही विजयी होते हैं। दूसरा लुत्फ़ इस दृश्यमें अन्तरनाटकीय रचना-कला (Inter plot) का बड़ा ही सुन्दर प्रयोग होना है। शुरू हीमें अनेक प्रकारके द्रष्टाओंको उपस्थित किया गया है और तब मुख्य नाटकीय चरित्रोंको रंगमंच पर लाया गया है। जनकपुरके द्रष्टाओंको कुशल कविने इस तरह रक्खा है कि मुख्य घटनाकी नवों रसोंके दृष्टिकोणसे आलोचना हो सके। रामागमनके समय मानो उन नवों दर्पणोंपर उनका भिन्न-भिन्न प्रतिबिम्ब पड़ता है और उन प्रतिबिम्बोंका चित्रण कविने बड़ी ही सुन्दर भाषामें कर दिया है जो उसके इस पदसे प्रगट है:— 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी'। कविका कमाल यह है कि परिस्थितियोंके प्रत्येक गहन परिवर्तनके समय जो परिवर्तन उन विभिन्न द्रष्टाओंके भावोंमें होता है उसे बड़ी शीघ्रतासे थोड़े शब्दोंमें बतलाया जाता है। विशेष विचारणीय अवस्थाएँ वे हैं जो रामके धनुष-भंगके पूर्व और उसकी तैयारीके समय तथा परशुरामजीके आनेपर और परशुरामलक्ष्मण-संवादके समय प्रगट हुई हैं। दृश्योंका ऐसा साक्षात्-कर्ता फ़िल्मकलाके बाहर शायद ही मिले। मैं तो यह समझता हूँ कि इतने विविध भावोंका एक ही दृश्यमें लाना फ़िल्मकलाकारके लिये भी कठिन है। तीसरे लुत्फ़का अनुभव पाठकोंको बहुत शीघ्र हो जायगा यदि वे इस दृश्यकी तुलना वाल्मीकिजीके धनुष-यज्ञसे करेंगे, जहाँ नाटकीय-कलाका पता ही नहीं है। वहाँ राजा लोग अलग-अलग दिनोंपर यथा-समय लाए गए हैं, अपना बल प्रयोगकर चल दिये हैं, और परशुरामजी तो बारातके लौटते समय राहमें मिले हैं। इसीलिये तो मैं कहा करता हूँ कि जब वाल्मीकिजीने तुलसीरूपमें अवतार लिया तो उन्होंने साहित्यिक तथा अन्य दृष्टिकोणसे अपनी पुरानी रामायणमें बहुधा सुधार ही किया। चौथा लुत्फ़ साहित्य-संसारके लिये और भी अनोखा है, और वह यह है कि यहाँ एक ही दृश्यमें नाटकीय तथा महाकाव्यके गुणोंका बड़ी सुन्दरतासे सम्मिश्रण हुआ है। दृश्य आदिसे अन्त तक नाटकीय है, परन्तु कविने अपनी कलासे बीच-बीचमें ऐसे सुन्दर संकेत किए हैं कि आधिदैविक तथा आध्यात्मिक पक्षोंको भूला न जा सके। उदाहरणार्थ लक्ष्मणजीके 'सकहुं मेरु मूलक इव तोरी' आदि वाले वाक्य, बन्दीगणोंका यह सूचित करना कि यह वह "पुरारि कोदंड" है जिसे रावण और बाणासुर तकने नहीं छुआ, कविका स्वयं यह बताना कि 'भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरहि न टारा।', सीता-

सम्बन्धी वह रूपक जिसमें उन्हें लक्ष्मीसेभी बढ़कर बताया गया, और अन्तमें 'राम रमापति' वाली स्तुतिपर पहुँचकर तो यह स्पष्ट प्रतीत होने लगता है कि परशुरामजी अपना धनुष रामजीके हाथमें क्या दे रहे हैं, मानों भूत-युगका नेता आगामी युगके जगत्पतिको चार्ज दे रहा है। नैतिक उत्थान भी बिलकुल स्पष्ट है। परशुरामके नेतृत्वमें तो फिर भी पशु-बल ही प्रधान था। पर रामराज्यमें 'सत्य' एवं 'शील' की प्रधानता होगी जिसका विकास इसी दृश्यसे शुरू हो जाता है। रामराज्यके पताकेके बारेमें तुलसीजीने लिखा है— 'सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका।' आज भी संसार सोचे कि पशु-चिह्न एवं अन्य चिह्नोंवाला राजनीतिक ध्वजाओंका स्थान राम-राज्यकी ध्वजासे कितना नीचा है। सत्याग्रह भी अभी 'सत्य शीलाग्रह' नहीं बन गया।

अब आइये हास्य-रसपर। यदि नारदजी भौतिक प्रेमके उन्मादका खिलौना बन गए तो परशुराम भी क्रोधसे विवश दिखाई पड़ते हैं। एक ओर तपका अहंकार है तो दूसरी ओर पाशविक बलके विजय का। यहाँतक कि परशुरामजी श्रेणी-युद्धके अहंकारको बड़े गौरवसे यों व्यक्त करते हैं—'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्री कुल द्रोही।'

कविको यहाँ इनसे भी 'कुकड़ूँ कूँ' बुलवाना है और लुत्फ यह कि पशु-बलपर सत्य एवं शीलकी विजय केवल हास्य-रसके आयुधोंसे हो जाय और युद्धकी आवश्यकता न हो। महाकाव्यके दृष्टिकोणसे तो यह काम उतना कठिन नहीं परन्तु कविका कमाल यह है कि नाटकीय आनन्दका ह्रास न हो। हमारा दिल अंत तक काँपता ही रहे और उसमें कभी सीताके प्रति करुणा, कभी राम-लक्ष्मणके प्रति सहानुभूति और कभी परशुरामसे भयवाली भावनायें ज्वारभाटेकी तरह चढ़ती उतरती रहें।

महाकाव्यके दृष्टिकोणसे तो वस्तुतः यह सहल था कि रामका अवतार परशुरामसे बड़ा दिखाकर उनकी विजय करा दी जाय, परन्तु इसमें वह साहित्यिक आनन्द कहां, जो तुलसीकी इस कलामें है कि क्रोध-को इतना उभार दिया जाय कि वह अपने जोरसे ही क्रोधीको बेकार करदे और दूसरे पक्षकी विजय व्यंग एवं माधुर्यके मिश्रित व्यवहारसे ही हो जाय। यही तो तुलीदासजीकी नाटकीय कलाका कमाल है।

तुलसीजीने इस गुत्थीके खोलनेका गुर बड़ी सुन्दरतासे शुरू हीमें दे दिया है। जब राम और लक्ष्मणने परशुरामको सिर नवाया, उस समय परशुरामजीके भाव क्या थे इसका प्रकटीकरण तुलसी-जीने यों किया है 'राम लखन दसरथ के ढोटा। दीन्हि असीस देखि भल जोटा। रामहि चितै रहे थकि लोचन। रूप अपार मार मद मोचन।'

सच है, सौन्दर्य-शक्ति बड़ी प्रबल होती है। जहां तलवार और फरसा काम नहीं देते वहां सौन्दर्य अपना प्रभाव जमाता है। फिर सौन्दर्य कैसा? ऐसे अपार रूपका जो स्वयं कामदेवके गर्वको मिटा दे। इस सौन्दर्यने परशुरामको ऐसा वशमें करलिया कि उभय राजकुमारोंके प्रति उनका क्रोध केवल बाह्यरीति पर प्रगट हुआ, आन्तरिक रीतिपर तो वे उनपर मुग्ध हो ही चुके थे और प्रेमबल पशुबलपर विजयी हो ही चुका था। इसीलिये तो परशुरामजी तरह-तरहके बहानोंसे क्रोधके अन्तिम प्रयोगसे रुक जाते थे। कहीं जनकसे यह कहकर कि इन्हें हटादो, कहीं रामसे यह कहकर कि लक्ष्मणको रोक दो और अन्तमें विश्वा-मित्रसे 'केवल कौशिक शील तुम्हारे' कहते हुए। यह मौलिक कारण परशुरामजीके 'कुकड़ूं कूं' बोलने का कितना सुन्दर, कितना वास्तविक और कितना नाटकीय है, इसे साहित्य मर्मज्ञ स्वयं ही विचार कर लेंगे। हमारे घरोंमें इसी सिद्धान्तपर निर्भर निम्न पदको नित्य ही गाया जाता है—

'छोड़े न छूटे सियाजीको कंकन कैसे तोड़का मारेउ'? अधिक स्पष्टीकरणके लिये आप रोजकी घरेलू घटनाओंपर विचार करें कि जहां प्रेमका सम्बन्ध अधिक होता है वहां बहुधा पिता, माता तथा पति अपने पुत्र और स्त्रीपर क्रोध करते हुए सिर्फ दाँत पीसकर रह जाते हैं, पर हाथ नहीं उठता। क्रोध प्रगट करनेके लिये चाहे जैसे जोरोंमें कहैं कि 'पटक दूंगा', 'जबान खींच लूँगा' आदि। नैतिक एवं आध्यात्मिक विचार-

से 'सत्यम्' तथा 'सुन्दरम्' मिलकर 'भयानक सत्य' से अधिक होता है क्योंकि उसके साथ 'शिव' की शक्ति भी आपही आ जाती है।

देखहिँ रूप१ महारनधीरा। मनहु बीररसु धरे सरीरा ॥५॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी ॥६॥
रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा ॥७॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर-भूषन लोचन सुखदाई ॥८॥

अर्थ—महा रणधीर (राजा श्रीरामचंद्रजीका) रूप (ऐसा) देख रहे हैं मानों साक्षात् वीररस शरीर धरे हुए विराजमान हो ॥ ५ ॥ कुटिल राजा प्रभुको देखकर (ऐसा) डरे मानों बड़ी भारी भयानक (रसकी) मूर्ति हो ॥ ६ ॥ असुर (दैत्य, दानव, राक्षस) जो छलसे राजाओंके कपट (बनावटी) वेषमें थे उन्होंने प्रभुको प्रत्यक्ष काल समान देखा ॥ ७ ॥ पुरवासियोंने दोनों भाइयोंको मनुष्योंमें भूषणरूप और नेत्रोंको सुखदाता देखा ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (भा० दा० जीका पाठ 'भूप महारनधीरा' है)। [(क) वीर रणधीर होते हैं, यथा "बिपुल बीर आए रनधीरा ॥२५१।८॥', 'अपर महोदर आदिक बीरा। परे समर महि सब रनधीरा ॥६।६१॥' सब राजा महारणधीर हैं, अर्थात् बड़े वीर हैं; इसीसे उनको 'वीररस मूर्तिमान' सा देख पड़ा] इस प्रसंग-को प्रथम वीर राजाओंसेही उठाया। प्रथम राजाओंकाही देखना कहा; कारण कि मंचका क्रमही ऐसा है कि प्रथम राजाओंके बैठनेके मंच हैं, उनके पीछे पुरवासियोंके हैं और इनके पीछे स्त्रियोंके धाम बने हैं। यथा "चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला ॥' इत्यादि। सबसे आगे येही हैं, क्योंकि इनको उठउठकर धनुष तोड़नेको जाना पड़ेगा। इससे सबसे प्रथम राजाओंने देखा और इसी क्रमसे सबका देखना कहा गया। पुनः भाव कि यहाँ वीररस प्रधान है, धनुषका तोड़ना वीरता है, इससे भी वीररसका कथन प्रथम हुआ। राजाओंका श्रीरामजीमें वीर-भाव है इससे उनको वीररस-मय मूर्ति देख पड़ी। ☞(ख) प्रारम्भ हीमें 'रस' शब्द देकर सूचित करते हैं कि हम यहाँ नवों रसोंका वर्णन करेंगे।

वि० त्रि०—उस समाजमें बड़े-बड़े रणधीर नर शरीर धारण करके आये थे। यथा—'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा।' प्राकृतमें द्विवचन नहीं होता, उसके लिये बहुवचन ही आता है, यथा 'द्विवचनस्य बहुवचनम्।' यहाँ दोनों राजकुमारोंके लिये 'सरीरा' बहुवचनका प्रयोग हुआ है। 'जश्शसोर्लोपः' इस सूत्रसे विसर्गका लोप हुआ। 'सरीर' शब्दका पुल्लिंगवत् व्यवहार हुआ है। प्राकृतमें लिंगका निर्णय नहीं है—'लिङ्गमतन्त्रम्'। 'प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी' ऊपर कह आये हैं, इससे कोई यह न समझ लें कि 'प्रभु' शब्दसे रामजीका ही बोध होता है। लक्ष्मणजी भी प्रभु हैं। यथा 'जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्हि निस्तारा।'

टिप्पणी—२ (क) 'डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी' इति। अच्छे राजाओंका हाल कहकर अब कुटिल राजाओंका हाल कहते हैं। इनका श्रीरामजीमें कुटिल भाव है। ये रामजीसे कुटिलता रखते हैं यह आगे स्पष्ट है, यथा 'अति डर उतरु देत नृपु नाहीं। कुटिल भूप हरषे मन माहीं। २७०।५।' भयानक मूर्ति देखनेसे डर लगता है, उनको भयानक मूर्ति देख पड़ी, इसीसे 'डरे'। इसीको आगे चरितार्थ करेंगे, यथा 'अपभय कुटिल महीप डेराने। जहँ तहँ कायर गवहिं पराने। २८५।८।' यहाँ 'कुटिल नृप' कहकर जनाया कि अर्धाली ५ में जिन राजाओंको कहा वे अच्छे नृप थे। [पुनः भयानक हैं, इससे डरे और भागना चाहते हैं, परन्तु भागे नहीं क्योंकि ईश्वरीय इच्छामें बँधे हैं। ये सब भी प्रभुता मानते हैं जैसा उनके 'लेहु

१—भागवतदासजी आदिमें 'भूप' पाठ है। १६६१ में 'रूप' है।

छड़ाइ सीय कह कोऊ । २६६।३ ।' से अनुमानित होता है । इसीसे 'प्रभुहि निहारी' कहा । वैजनाथजी लिखते हैं कि छोटा रूप भयानक भी हो तो उससे कोई विशेष नहीं डरता, इसीसे यहाँ 'भारी' विशेषण भी दिया ।] (ख)—वीररसके बाद भयानक रस है । यथा "शृङ्गार हास्य करुणा रौद्र वीर भयानकाः" (अमरकोश टीका), इसीसे वीररस कहकर भयानक रस कहा ।

३ (क) 'रहे असुर छल छोनिप बेषा' इति । भगवान्‌में असुरोंका छल-भाव है, इसीसे इनको काल-सम देख पड़े । वीरोंको वीर कुटिलोंको भयानक और असुरोंको काल । देवताओंको क्या देख पड़े, वे भी तो राजाओंका रूप धरकर वहाँ थे ? यथा 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा । बिपुल बीर आए रनधीरा' यह निश्चय है कि इनको कालसम नहीं देख पड़े, क्योंकि देवता भगवान्‌से छलभाव नहीं रखते, बरंच निश्छल रहते हैं, इसीसे तो भगवान् सदा उनकी सहायता करते रहते हैं । 'असुर' कहकर 'सुर' को उनसे पृथक् कर दिया गया । [जो वीर रणधीर बनकर आए, उनको वीररसकी मूर्ति देख पड़े, और जिसकी जैसी भावना (इष्टदेव, विष्णु, विराट् इत्यादि) रही वैसे उसे देख पड़े । यथा 'पुर बैकुंठ जान कह कोई । कोउ कह पयनिधि बस प्रभु सोई । जाके हृदय भगति जसि प्रीती । प्रभु तहँ प्रगट सदा तेहि रीती । १८५.२-३ ।'] (ख)—'प्रगट काल' । भाव कि काल प्रगट नहीं देख पड़ता । धर्म-बल-बुद्धि-हरण द्वारा जाना जाता है; यथा 'काल दंड गहि काहु न मारा । हरै धरम बल बुद्धि बिचारा ॥ निकट काल जेहि आवत साईं । तेहि भ्रम होइ तुम्हारेहि नाईं । ६।३६।८ ।'; सो इस तरह नहीं, प्रत्युत इनको प्रभु प्रत्यक्ष-काल-मूर्तिसे देख पड़े । 'प्रगट कालसम' कहकर सूचित किया कि मूर्तिमान रौद्ररस देख पड़े । रुद्र संहारकर्त्ता हैं—'रुद्रकोटि सम संघरता' । रुद्रका रस रौद्ररस कहलाता है । [(ग) वीर और भयानक रसोंका मूर्तिमान होना 'अनुक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षा' है । असुरोंने प्रभुको कालके समान देखा, इसमें 'खा जानेवाला' धर्म नहीं कथन किया गया । इससे इसमें 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है । (वीरकवि)]

वि० त्रि०—छली असुर राजाके वेषमें थे जिसमें उन्हें कोई पहिचान न सके, पर काल सबको पहिचानता है । वेष बदलनेसे कोई बच नहीं सकता । उन्होंने देखा कि प्रत्यक्ष काल आ गया, अब हम बच नहीं सकते, क्योंकि कालका दर्शन मुमूर्षुको ही होता है । कालरूप कहकर बीभत्सरस कहा ।

टिप्पणी—४ 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई ।०।' इति । (क) राजाओंका देखना कहकर पुरवासियोंका देखना कहा । इससे भी जनाया कि इनके पीछे पुरवासियोंके बैठनेके स्थान हैं । यथा—'तेहि पाछें समीप चहुँ पासा । अपर मंच मंडली बिलासा । कछुक ऊँचि सब भाँति सुहाई । बैठहिं नगर-लोग जहँ जाई । २२४।४-५ ।' (ख) 'नर भूषन' अर्थात् अत्यन्त सुन्दर हैं, यथा—'निरखि सहज सुंदर दोउ भाई । होहिं सुखी लोचन फल पाई । १।२२०।३।' पुनः भाव कि यहाँ नर-समाज प्रधान है । देवता, दैत्य राक्षस इत्यादि सभी नरवेष बनाये यहाँ उपस्थित हैं, अतः 'नर-भूषन' कहा, नहीं तो वे तो 'त्रिभुवनभूषण' हैं । परंतु यहाँ 'नरभूषण' कहकरभी त्रैलोक्यभूषण जना दिया, क्योंकि यहाँ तीनों लोकोंके पुरुष उपस्थित हैं उन सबोंके भूषण कहही रहे हैं । (ग)—'लोचन सुखदाई' कहनेका भाव कि जिसके नेत्र हैं, उसके सुखदाता हैं, यथा 'खग मृग मगन देखि छबि होहीं' । (घ) ☞ इस अर्धालीमें शृङ्गाररस है और आगे दोहेमें शृङ्गार कहते हैं । [पांड़ेजीका मत है कि इसमें शृङ्गाररसकी कली कही है जिसका विकास दोहेमें है । और, वैजनाथजी लिखते कि "इन्होंने प्रभुको वैसाही देखा जैसा पूर्व नगर-दर्शन-समय देखा था । इसमें बहुतसे रसोंका बोध होता है, सो आगे कहते हैं ।"] 'लोचन सुखदाई' हैं; अर्थात् देखनेवाले देखकर सुखी होते हैं । इसी तरह नगर-दर्शनमें भी कहा था—'होहिं सुखी लोचन फल पाई ।'

दोहा—नारि बिलोकहिँ हरषि हिय, निज निज रुचि अनुरूप ।
जनु सोहत सिंगार धरि, मूरति परम अनूप ॥२४१॥

अर्थ—स्त्रियाँ हृदयमें प्रसन्न होकर अपनी अपनी रुचिके अनुसार प्रभुको देख रही हैं। मानों परम अनुपम (उपमारहित) मूर्ति (रूप) धारण किये हुए श्रृङ्गाररसही सुशोभित हो रहा है ॥ २४१ ॥

टिप्पणी—१ (क) ☞ पुरवासी पुरुषोंके पीछे स्त्रियोंके बैठनेके घर बने हैं, यथा 'तिन्हके निकट बिसाल सुहाए। धवल धाम बहु बरन बनाए। जहँ बैठि देखहिं सब नारीं। जथा जोग निज कुल अनुहारीं। २२४।६-७।' इसीसे पुरवासियोंके पीछे स्त्रियोंका देखना कहते हैं। जिस क्रमसे लोग बैठे हैं उसी क्रमसे सबका देखना लिखा गया, यहाँ बैठकका क्रम आकर पूरा हो गया। (ख) 'निज निज रुचि अनुरूप' अर्थात् जिसका जैसा नाता श्रीजानकीजीसे है, वह वैसा रामजीको देखती है। जानकीजी जिनकी लड़की, भतीजी, भांजी आदि लगती हैं, उनकी रुचि है कि ये हमारे दामाद हों, अर्थात् वे जामातृ भावसे देखती हैं। इसीतरह किसीके बहनोई, किसीके फूफा, किसीके नन्दोई इत्यादि होनेकी रुचि है। ये सब प्रभुको उसी भावसे देखती हैं। (ग) 'रुचि अनुरूप' देखना कहा, क्योंकि अभी नाता हुआ नहीं है, अभी धनुष टूटा नहीं है। नाता तो तब होगा जब धनुष टूटेगा। अभी नाता होनेकी रुचि है। (घ) 'जनु सोहत सिंगार०' इति। परम अनूप रूप धरनेका भाव कि श्रृङ्गार अनूप है और श्रृङ्गारका तत्व परम अनूप है। श्रृङ्गारके तत्वकी मूर्ति श्रीरामजी हैं, यथा "सुषमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री। दूलह राम सीय दुलही री।' इति गीतावल्याम् १।१०४। (ङ) 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नर भूषन लोचन सुखदाई' इसमें किसी रसका नाम नहीं लिखा था। यहाँ दोहेमें 'सिंगार' शब्द कहकर सूचित किया कि यहाँ और वहाँ (उस अर्धालीमें) दोनोंमें श्रृङ्गार रस है। तात्पर्य्य कि जनकपुरनिवासी स्त्री पुरुष सभीको श्रीरामजी श्रृङ्गारकी मूर्ति देख पड़े। श्रृङ्गारका रंग श्याम है और श्रीरामजी भी श्याम हैं, 'श्यामो भवति श्रृङ्गारः' इति भरतः। पुनश्च 'श्रृङ्गार सखि मूर्तिमानिव मधौ मुग्धो हरिः क्रीडति' इति जयदेव। (गी० गो० सर्ग १)। श्रृङ्गार तो ऐसेही सोहता है, उसपर भी जब परम अनुपम रूप धरकर उपस्थित हुआ तब तो कहना ही क्या?

वै०—पुरवासिनी स्त्रियोंने अलभ्य लाभ पाया है; इसीसे वे हृदयमें हर्षित होकर अपनी-अपनी रुचिके अनुकूल इच्छापूर्वक प्रभुको देखती हैं। कुमारी शुद्ध श्रृङ्गारमय रूप देखती हैं और विवाहिता हास्ययुत-श्रृङ्गार देखती हैं, अतएव 'परम अनूप' कहा। अथवा, मुग्धा (वह नायिका जो यौवनको तो प्राप्त हो चुकी हो, पर जिसमें काम-चेष्टा न हो। इसे साज-श्रृंगारका बहुत चाव रहता है) 'श्रृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। मध्या (वह नायिका जिसमें लज्जा और काम समान हों) 'परम श्रृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। और, प्रौढ़ा (वह नायिका जो कामकला आदि अच्छी तरह जानती हो। प्रायः ३० वर्षसे ५० वर्षतककी आयुवाली) 'परम अनूप श्रृङ्गार' की मूर्ति देखती हैं। अथवा, जो बालसे लेकर युवावस्था तकके पुरवासी हैं वे दोनों राजकुमारोंको भाई करके सख्यरसमय देखते हैं और उसी भाँतिकी जो युवा कुमारी आदि स्त्रियाँ हैं वे निज निज रुचि अनुरूप अनेकों भाव किये हुए हैं, उनके मनोरथोंके अनुकूल उनको प्रभुका रूप देख पड़ता है। मुग्धाको 'शुद्ध श्रृङ्गार' ही देख पड़ा, मध्याको लज्जा मदनमय कटाक्षयुत 'परम श्रृङ्गार' देख पड़ा, और प्रौढ़ाको कामबाणसी कटाक्षयुत परम (अनूप) श्रृङ्गारकी मूर्ति देख पड़ी।

बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा। बहु मुख कर पग लोचन सीसा ॥१॥
जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे ॥२॥
सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति[१] बखानी ॥३॥

शब्दार्थ—दीसना (सं० दृश)=देखना=दिखाई पड़ना, दिखाई देना। सजन=मान्य संबंधी।

१—जाइ—१७०४, को० रा०।

अर्थ—विदुषों (पंडितों, विद्वानों) को प्रभु विराटमय अर्थात् विराट्रूपमें देख पड़े, जिनके बहुतसे मुख, बहुतसे हाथ, बहुतसे पैर, बहुतसे नेत्र और बहुतसे सिर हैं ॥ १ ॥ जनकजीके जातिके लोग अर्थात् निमिवंशी कुटुम्बी प्रभुको कैसे (किस प्रकार, किस भावसे, किस तरहसे) देख रहे हैं जैसे संबंधी (दामाद इत्यादि देखे जाते और) प्रिय लगते हैं ॥ २ ॥ जनक सहित रानियाँ उन्हें अपने बच्चेके समान देख रही हैं। उनकी प्रीति वर्णन नहीं की जा सकती ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ (क) बिराटमय देखा, यह कहकर दूसरे चरणमें बिराट्का स्वरूप कहा। वेदोंमें विराट्का स्वरूप यह लिखा है—"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् । १४ ।···सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति । १६ । श्वेताश्वतर उप० अ० ३ ।" (अर्थात् उस परम पुरुष परमात्माके हजारों सिर, हजारों आंखें और हजारों पैर हैं ।···उन परम पुरुषके हाथ, पैर, आंखें, सिर, मुख और कान सर्वत्र सब जगह हैं। वह ब्रह्माण्डमें सबको सब ओरसे घेरकर स्थित है) पंडित वेदोंके ज्ञाता हैं, इससे वह रूप देख पड़ा। मूर्ख विराट्को नहीं देख सकते, यथा 'सुदुर्दर्शमिदं रूपं । गीता ११।५२ ।' 'योगिनामपि दुर्लभम्' । ☞ कोई कोई भागवतके अनुकूल यहाँ यह अर्थ करते हैं कि जो 'विदुष न' विदुष नहीं हैं वे विराटमय देख रहे हैं'। वे विदुषन बहुवचनकी नकारको निषेधमें लगाते हैं, पर यह अर्थ प्रसंगानुकूल नहीं है किन्तु प्रसंगके विरुद्ध है। क्योंकि यहां सर्वत्र बहुवचनकाही प्रयोग हुआ है, यथा 'पुरबासिन्ह देखे·' 'जोगिन्ह परम तत्वमय०','हरिभगतन्ह देखे०' तथा 'बिदुषन्ह दीसा' । यहां किसी जगह नकार निषेधात्मक नहीं है, तब यहां एक जगह उसका निषेधार्थ कैसे लगावेंगे ?* (ख) 'बहु मुख कर पग लोचन सीसा', यहाँ विराट्रूपका वर्णन ऊपरसे प्रारंभ किया गया। मुखसे चलकर कर और पग कहा, यहाँ तक तो क्रमसे वर्णन किया । तत्पश्चात् क्रम भंगकर नेत्र और सिर कहा। इस क्रमभंगका कारण यह है कि विराट् ही तो ठहरे, इनके अङ्ग क्रमसे नहीं हैं। मुख, कर, पद, नेत्र और सिर उनके अङ्गमें सर्वत्र हैं—"सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्" । (ग) प्रथम बैठकके क्रमसे कहते आए। अब उन्हींमें जो विदुष हैं उनका देखना कहते हैं। विदुषोंमें कोई नियम नहीं है। पंडित सभीमें होते हैं। राजाओंमें भी विदुष हैं और पुरवासियों में भी। उन सर्वोको विराट्मय रूप देख पड़ा। इससे यह भी जनाया कि पंडितोंका विराट्भाव है। [(घ) पांड़ेजी यहाँ वीभत्स और वैजनाथजी शान्तरस मानते हैं। पं० रामकुमारजीके खर्रेमें पंक्तियोंके बीचमें लिखा है कि 'यहाँ वीभत्सरस' है। और अन्तमें लिखा है कि 'यहाँ अद्भुतरस है, यथा 'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड । रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड ।' प्र० स्वामीका मत है कि इस मङ्गलमय प्रसंग तथा परशुराम प्रसंगमें वीभत्सरस नहीं है। 'बिदुषन्ह प्रभु विराटमय दीसा ।···' में अद्भुतरस ही है। बहु कर पद आदि कटे हुए नहीं हैं और न उनसे रक्त आदि बहना है। आगे 'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा' में शान्तरस है। इस प्रसंगमें हास्यरस भी प्रगट नहीं है। यहाँ तो सभी रस भक्तिरसके साथ, वात्सल्य सहित विद्यमान हैं। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'विद्वान देवतारूप हैं; उन्हें सदा विराट्रूपके दर्शनकी इच्छा रहती है। यथा 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकांक्षिणः ।' उन्हें भगवानका अनेक बाहु उदर मुख आँख सहित अनन्त रूप दिखाई पड़ा। आदि मध्य अन्त कुछ मालूम न हुआ। इससे अद्भुतरस कहा]

२ (क) 'जनक जाति' इति। निमिवंशी मात्रके ये सजन हैं। बहनोई, फूफा, दामाद इत्यादि मान्य सजन कहलाते हैं। जनकजीके ही ये सगे दामाद हैं औरोंके 'सगे सजन' नहीं हैं, पर औरोंको प्रिय वैसे ही लगते हैं। जैसे अपने सगे दामाद प्रिय लगते हैं। 'सगा' विशेष प्रिय लगता है इसीसे 'सगे' कहा।

* स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने प्रायः बहुवचनमें 'न्ह' का प्रयोग किया है न कि 'न' का। संस्कृतके पंडितोंने जो उसको बदलकर 'न' कर दिया है इसीसे अर्थका अनर्थ जहाँ तहाँ लोग कर बैठते हैं।

☞यहाँ देखना और प्रिय लगना दो बातें कहीं, इसीसे यत् तत्‌का संबंध दो बार कह लेना चाहिए। 'कवि (ने) लाघवतासे एक बार कहा'। जैसे सजनको देखते हैं और जैसे सगे सजन प्रिय लगते हैं वैसे ये प्रिय लगते हैं। ☞जनकजाति सगेसजन भावसे देखते हैं इसीसे उनको 'सगेसजनसदृश' देख पड़े। [बैजनाथजी लिखते हैं कि "निमिवंशी प्रभुको कैसे देखते हैं जैसे सगे सज्जन (अर्थात्) जामातृ सगे, ऐसे प्रिय लगते हैं। अथवा, मिथिलेशजी दश भाई हैं। मिथिलेशजीके पिता ह्रस्वरामजीके तीन रानियाँ थीं—शुभा, सदा, सर्वदा। श्रीशुभाजीके श्रीशीरध्वज और कुशध्वज, श्रीसदाजीके श्रीशत्रुजित्, यशशालि, अरिमर्दन और रिपुतापनजी, और श्रीसर्वदाजीके श्रीमहिमंगल, बलाकर, तेजस्थ और महावीर्यजी पुत्र हुए। जनकजातिसे श्रीजनकजीके ये नवो भाई अभिप्रेत हैं। ये सब सगे जामातृरूपमें देखते हैं। इन आठों विमातृ भाइयोंके एक-एक कन्या थी जो श्रीजानकीजीकी सखियाँ थीं और उनके साथ अवधको आई थीं, इससे उनका प्रभुको जामातृभावसे प्रिय लगना उचित ही था।" यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है]। (ख) 'सहित बिदेह०' इति। माताका प्रेम शिशुपर पितासे अधिक होता है, इसीसे रानियोंको प्रधान रक्खा। जातिवालोंको सगे सजन समान कहा और राजारानीको शिशुसमान, क्योंकि सगेसजनसे भी अपने शिशुमें सबकी अधिक प्रीति होती है। जातिवालोंसे इनका प्रेम अधिक कहा। 'शिशुभाव' है, इसीसे 'शिशुसम' इनको देख पड़े। रानियोंने आज ही प्रथम प्रथम दर्शन पाया है। वे भी विदेहजीकी तरह इन्हें देखकर विदेह हो रही हैं। 'विदेह' शब्दको बीचमें रखकर यह भाव दर्शित किया है। (प० प० प्र०)। श्रीजनकजीके चार रानियाँ थीं। यथा 'चतसृभिस्तु भार्याभिर्यज्ञार्थं दीक्षितोऽभवत्। का० पु०।' अतः 'बिलोकहिं' बहुवचन क्रिया दी। जिस समय सीताजी पृथ्वीसे उत्पन्न हुई थीं, उन्हींके साथ दो पुत्र भी उत्पन्न हुये थे। यथा 'द्वौ पुत्रौ तस्य सञ्जातौ यज्ञभूमौ मनोहरौ। एका च दुहिता साध्वी भूम्यन्तरगता शुभा।'; अतः रानियाँ शिशुप्रीतिसे अपरिचित नहीं थीं। इन्हें वात्सल्यरसकी पराकाष्ठाकी प्रतीति हुई (वि० त्रि०)]। (ग) 'प्रीति न जाति बखानी' अर्थात् इनका प्रेम अकथनीय है। आगे सीताजीकी भी प्रीति अकथनीय कहते हैं, इससे राजा, रानी और जानकीजी तीनोंकी प्रीति एक समान कही। श्रीजानकीजीके 'सुख' और 'स्नेह' दोनोंको अकथनीय कहा है। यथा 'सो सनेह सुख नहिं कथनीया'। इसी तरह राजा रानीका भी सुख आगे अकथनीय कहेंगे, यथा 'सुख बिदेह कर बरनि न जाई। जनम दरिद्र मनहु निधि पाई।' 'जो सुख भा सियमातु मन देखि राम बर बेष। सो न सकहिं कहि कलप सत सहस सारदा सेष।' ☞पुरवासियोंसे जातिवर्गकी प्रीति अधिक कही। उत्तरोत्तर आगेवालेकी प्रीति अधिक दिखाते जाते हैं। [इस प्रकार कि परिवार और राजा-रानीके संबंधमें केवल प्रीति ही कही, यथा 'प्रिय लागहिं', 'प्रीति न जाइ बखानी' और श्रीजानकीजीके लिये लिखते हैं कि 'सो सनेह सुख नहि कथनीया।' अर्थात् पहलेमें केवल प्रिय लगना कहा, दूसरेमें कहा कि प्रीति अकथनीय है, तीसरेमें एक शब्द 'सुख' भी बढ़ा दिया और 'सुख सनेह' दोनोंको अकथनीय कहा।—यह जरूर है कि राजा-रानीका भी सुख अकथनीय आगे कहा है, पर वह धनुष टूटनेपर ही कहा गया है और श्रीजानकीजीका सुख धनुष तोड़े जानेके पूर्वसे देखा जा रहा है, यही विशेषता है। बैजनाथजी यहाँ 'शुद्ध वात्सल्य' मानते हैं और पाँड़ेजीका मत है कि यहाँ करुणरसकी कली है।]

जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥ ४॥
हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता॥ ५॥

शब्दार्थ—भासना=मालूम होना, देख पड़ना, प्रतीत होना, अनुभुत होना।

अर्थ—योगियोंको श्रीरामरूप 'परम-तत्वमय, शान्त, शुद्ध, सम, स्वतः प्रकाशमान' भासित हुआ॥ ४॥ हरिभक्तोंने दोनों भाइयोंको सर्वसुखदाता इष्टदेवके समान देखा॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) 'परम तत्वमय' इति । तत्व पचीस हैं । इन पचीसों तत्वोंसे परे 'परम तत्व' है । [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सांख्यशास्त्रने २४ तत्व माने हैं, परन्तु योगशास्त्र पचीसवाँ तत्व 'ईश्वरतत्व' को स्वीकार करता है, इसलिये उसे 'परम तत्व' कहा । यह परम तत्व क्लेश (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश), कर्म (विहित, प्रतिषिद्ध तथा मिश्रित), विपाक (कर्मफल, जाति, आयु और भोग) और आशय (वासना) से छुवाई नहीं रखता । यथा 'क्लेश कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः । पा० १-२४।'] । (ख) 'भासा' इति । आदिसे अन्ततक रसोंके वर्णनमें सबका 'देखना' कहा, परन्तु योगियोंके सम्बन्धमें 'भासा' कहा । कारण कि परम तत्व दृष्टिगोचर नहीं होता, देखा नहीं जाता । वह केवल अनुभवगम्य है, उसका अनुभवमात्र होता है ।--यह गोस्वामीजीकी सावधानता है । (ग) 'शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा' इति । ईश्वरका स्वरूप शान्तरसमय है, यथा—'बैठे सोह कामरिपु कैसे । धरें सरीर सांतरस जैसे ।१०७।१।' पुनः, शुद्ध है अर्थात् परमतत्वमय है, मायाजनित विकारोंसे रहित है, उनसे परे है । 'सम' अर्थात् न्यूनाधिक्य विकारसे रहित है, सदा एकरस रहता है । 'सहज प्रकाश' रूप है, अर्थात् दूसरेके प्रकाश से प्रकाशित नहीं है । 'सहज प्रकाशरूप भगवाना । ११६।५ ।' में देखिए ।☞(घ) योगी भगवान्‌के तत्व-रूपकी उपासना करते हैं, इससे उनको तत्वरूप भासित हुआ ।

२ (क) 'हरिभगतन्ह' इति । जो जैसी मूर्तिका उपासक था उसको वैसी मूर्ति देख पड़ी, इसीसे 'हरि' कहा । 'हरि' सब अवतारोंकी मूर्तिका बोधक है । (ख) 'सब सुखदाता'=सब सुखोंके एवं सबोंके सुखके दाता । दोनों अर्थ हैं । इष्टदेव ही माता पिता भाई बंधु मित्र आदि सभीका सुख दे सकते हैं, अन्य कोई एक दोके ही सुख दे सकते हैं, सब नहीं । ☞हरिभक्त इष्टभावसे देखते हैं, इसीसे उनको इष्टदेवके समान देख पड़े । [पुनः, 'हरिभक्त अर्थात् आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी, वा नवधा, प्रेमा, परा वाले जो भगवद्भक्त हैं । इष्टदेव इव अर्थात् कृपा, दया, सौशील्य, उदारतादि गुणसम्पन्न ।" (वै०)] । (ग) ☞ योगियों और हरिभक्तोंको जनकजीके परिकरोंमें कहा, क्योंकि जनकजी योगी भी हैं और हरिभक्त भी । वे भगवान्‌के भक्तोंको अपना कुटुम्ब समझते हैं । पुनः, जनकजी सब योगियोंमें श्रेष्ठ हैं इसीसे योगियोंसे प्रथम कहा और प्रधान भक्तराज हैं, इससे हरिभक्तोंसे भी पहले उन्हें कहा ।

नोट—१ जिसका मन जिसमें लगा है वह श्रीदशरथनन्दनजीको उसी रूपमें देख रहा है । इससे जनाया कि सब भक्तोंके इष्टदेव ये ही हैं और ये ही सब सुखोंके देनेवाले हैं । २ पंजाबीजीका मत है कि "यहाँ 'इव' निश्चयके अर्थमें है" । ३ पांडेजी कहते हैं कि यहाँ अद्भुतरस है क्योंकि यहाँ जो जिस देवताका उपासक है उसको उसीका रूप देख पड़ता है और बैजनाथजी यहाँ हास्यरस कहते हैं । (इष्टदेव में प्रायः सभी भक्तोंका सेवाभाव कुछ न कुछ रहता ही है इससे हास्यरस भी हो सकता है) ।

रामहि चितव भाय१ जेहि सीया । सो सनेहु सुखु२ नहि कथनीया ॥६॥
उर अनुभवति न कहि सक सोऊ । कवन प्रकार कहै कबि कोऊ ॥७॥
येहि३ बिधि रहा जाहि जस भाऊ । तेहि तस देखेउ कोसलराऊ ॥८॥

अर्थ--जिस भावसे श्रीसीताजी श्रीरामजीको देख रही हैं, वह भाव, स्नेह और सुख कथनमें नहीं आ सकता ॥ ६ ॥ वे उसे हृदयमें अनुभव कर रही हैं पर वे भी कह नहीं सकतीं, तब कोई भी कवि किस प्रकार उसे कह सके ? ॥ ७ ॥ इस प्रकार जिसका जैसा भाव था उसने कोसलराज रामचन्द्रजीको वैसा ही देखा ॥ ८ ॥

१ भाव—१७०४, को०रा० । भाय—१६६१, १७२१, १७६२, छ० । २ सुख—१७०४ । ३ जेहि—१७०४ ।

टिप्पणी—१ (क) सबके भाव यहाँ तक लिखे। अर्थात् (रणधीर) राजाओंको वीर, कुटिलोंको भयदाता, छलियोंको काल, पुरवासियोंको नरभूषण, स्त्रियोंको शृङ्गार, विदुषोंको विराट्, निमिवंशियोंको सगे सजन, राजारानीको शिशु, योगियोंको परमतत्त्वमय और हरिभक्तोंको इष्टदेव सम देख पड़े, यही उनके भाव थे। श्रीसीताजीका भाव, स्नेह और सुख तीनों अकथनीय हैं, इसीसे कविसे कहते नहीं बनता। इनका 'स्नेह सुख' कथनीय नहीं, इस कथनसे जनाया कि औरोंके सुख और स्नेह कथनीय थे इसने कहे, यथा 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई', 'हरि भगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।' (ख) 'नहिं कथनीया' कहकर आगे उसका कारण कहते हैं। (ग) ☞ अंतमें सीताजीको कहनेका भाव कि क्रमसे भाव कहना प्रारंभ किया और क्रमसे उत्तरोत्तर अधिक प्रीति कहते गए; जब अकथ भावपर पहुँचे तब कहना बंद हो गया।

२ (क) 'न कहि सक सोऊ', यथा 'सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई'। (ख) 'कवन प्रकार कहै कवि' अर्थात् जब कुछ छाया भी उसकी मिले तब तो कुछ कहे, यथा 'कबिहि अरथ आखर बल साचा। अनुहर ताल गतिहि नट नाचा।' तात्पर्य्य कि कविके कहनेका प्रकार 'अक्षर' और 'अर्थ' है। श्रीजानकीजी अपना सुख न कह सकीं, इससे कविको अर्थ या अक्षर कुछ भी न मिला। जब भोग भोगने-वाला कुछ जनावे तब कवि विस्तार करके कहे। पुनः, जिनकी दी हुई बुद्धि पाकर कवि लोग कहते हैं— 'जासु कृपा निर्मल मति पाऊँ', वही जानकीजी ही नहीं कह सकतीं तब कवि कैसे कहे?–(यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है)। यहाँ यह भी जनाते हैं कि ईश्वरजनित सुख भोगने योग्य है, कथन योग्य नहीं।

वि० त्रि०—लौकिक भावोंके लिये शब्द हैं क्योंकि वे व्यवहारमें आते हैं। अलौकिकके लिये शब्द नहीं मिलते क्योंकि व्यवहारमें उनका चलन नहीं। संसार दाम्पत्य प्रेमसे परिचित है, अतः उसके लिये शब्द हैं, परन्तु राम-सीयमें ऐकात्म्य भाव है, यथा 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।', अतः इस प्रकारकी प्रीति लोकमें नहीं है। लोकमें इस प्रीतिका कोई अनुभव नहीं करता। अतः उसके लिये शब्द भी नहीं। सीताजी उसका अनुभव करती हैं, वे भी नहीं कह सकतीं, क्योंकि शब्दकी वहाँ तक गति नहीं।

महात्मा श्रीरामप्रसादशरणजी—स्फुट मनोरंजक मानस प्रसंगोंमेंसे एक यह भी है। यद्यपि परस्पर अवलोकनमें शृङ्गारकी प्रधानता है तथापि क्षणक्षणमें नवों रस श्रीजानकीजीकी चित्तवृत्तिको आकर्षित करते हैं। मनोहर मूर्तिके दर्शनमें शृङ्गार झलकता है। जब पिता-पणका स्मरण होता है तब करुणा आजाती है। जब राजकुमारके ताड़कासुबाहु आदिके वधप्रसंगपर ध्यान जाता है तब वीररसका संचार हो जाता है। जब अपने मनकी गतिपर दृष्टि जाती है तब हास्यकी झलक आजाती है। जब तत्काल प्रसिद्ध उनके अलौकिक कार्य्य शिलाभूत अहल्याके उद्धार और बिना बाणके मारीचको मारकर उड़ाना आदि घटनाएँ याद आती हैं तब अद्भुतरसका हृदयमें अन्तर्भोग होने लगता है। धनुषकी गुरुता और कठोरतामें भयानक। पिताने व्यर्थ कठिन पण किया, इसमें रौद्र। राजकुमारमें अपने सहज एवं सत्य स्नेहके विचारसे 'सख्य रस'। 'करिहहिं मोहि रघुपति की दासी' इस उक्तिके अनुसार दास्य और 'तौ भगवान सकल उर बासी' इसमें शान्तरस है। इस प्रकार जब पलपलमें विविध रसोंका संचार हृदयमें हो रहा है, जब स्वयं किशोरीजी ही उसको दृढ़तापूर्वक नहीं धारण करती हैं—'उर अनुभवति न कहि सक सोऊ' तब 'कवन प्रकार कहै कवि कोऊ'।

नोट—१ पांड़ेजी यहाँ 'हास्यरस' कहते हैं और वैजनाथजीका मत है कि "यहाँ कोई भी रस प्रधानता को नहीं पाता। परस्पर अवलोकनसे यद्यपि आलम्बन शृङ्गार है तथापि जब प्रणकी सुध आती है तब करुणारस खींचता है, जब बल वीरताका स्मरण होता है तब वीररस, सुकुमारता बिचारनेमें हास्यरस,

शोभावलोकनमें शक्तिकी सुध आनेपर अद्भुतरस, धनुषकी गुरुतामें वीभत्स, कठोरतामें भयानक, पिताने व्यर्थ प्रण किया इसमें रौद्र, भगवान् सर्व उरवासी हैं मुझे रघुपतिकी दासी करेंगे इसमें शान्तरस खींचता है जो सब रसोंकी हानि करता है। कविके हृदयमें अनेकों रसोंका अनुभव होता है, पर कोई भी रस निमिषमात्र भी तो नहीं ठहरता; इससे वह नहीं कह सकता? प्र० स्वामी क्रमसे शृङ्गार, करुणा, वीर, भयानक, हास्य, अद्भुत, शृङ्गार, शान्त और भक्तिरसोंका चलचित्रपट मानते हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'जिन्हके रही भावना जैसी।०। २४१।४।' उपक्रम है और 'येहि बिधि रहा जाहि जस भाऊ। २४२। ८।' उपसंहार है। वहाँ 'भावना' और यहाँ 'भाउ' शब्द देकर दोनोंको पर्य्यायवाची जनाया। आदिमें 'प्रभुमूरति' पद दिया जो ऐश्वर्यसूचक है, अब यहाँ 'कोसलराऊ' पद देकर ऐश्वर्य्यको माधुर्यमें घटा दिया। (ख) यहाँ भावोंकी समाप्ति करके जनाया कि इतने ही भावोंके भीतर सब लोग आगए। (ग) ☞ जब सबकी भावना एकट्ठा कही तब 'भावना' के साथ बहुवचन 'जिन्ह' 'तिन्ह' दिये थे—'जिन्हके रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी'। और जब सबके भाव पृथक् पृथक् लिख चुके, तब एकवचन 'जाहि' 'तेहि' दिये। [उपक्रममें 'प्रभु मूरति' के संबंधसे 'भावना' स्त्रीलिंग शब्द दिया गया और यहाँ 'कोसलराऊ' के संबंधसे 'भाऊ' पुल्लिंग शब्दका प्रयोग किया गया; यह ग्रंथकारका सँभाल है।। (घ) 'जाहि जस भाऊ।०' अर्थात् भावके अनुसार मूर्ति देख पड़ी, तात्पर्य कि दर्शनमें भाव मुख्य है। भावके ऊपर (संबंधमें) देवतीर्थ स्वामीका भजन देखने योग्य है। ☞ जो सरकारमें जैसा दृढ़ भाव रखता है, जो संबंध मानता है, प्रभु उसी भावसे उसको प्राप्त होते हैं—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्']।

श्रीराजारामशरणजी—१ तुलसीदासजीके इस कलाके चमत्कारको कि नवों रसोंमें राजकुँवरोंका वर्णन कर दिया कदाचित् फ़िल्मकला कुछ दिखा सके तो सके। एक जगह बर्नार्ड शा (Bernard shaw) महोदयने कुछ उसी कलाकी सहायतासे प्रतिबिंबद्वारा बड़े आकारके अमानुषिक व्यक्तिको दिखाया है। यहाँ भी 'भयानक मूरति भारी' दिखाया है और उससे भी कठिन है 'विराट' और 'सहज प्रकाश' रूप। २—नाटकीय कला और महाकाव्यकलाका संमिश्रण विचारणीय है, पर प्रधान है नाटकीयकला, इसीसे 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा' आना लिखा है, फिर मजा यह है कि एक श्रेणीके स्त्रीपुरुष दूसरे श्रेणीके स्त्रीपुरुषोंकी भावना न देख सकें, न समझ सकें—'जाकी रही भावना जैसी' वैसीही मूर्ति वह देखता है, परंतु 'कोउ न जान कछु मरम बिसेषा'। सच है, भगवान् रसरूप भी वेदोंमें कहे गए हैं, इसीसे कुशल कवि उन रसराजको सभी रसोंमें मूर्तिमान कर देता है। भावोंके साथ अक्षरोंके शब्दगुणके परिवर्तन विचारणीय हैं।

प० प० प्र०—भावविश्लेषणके निमित्तसे इस प्रकरणमें—(१) वैराग्य, ज्ञान और भक्तिकी कनिष्ठता और श्रेष्ठता, (२) व्यावहारिक नाते और संबंधसे भी पारमार्थिक सम्बंधकी श्रेष्ठता, (३) नारिवर्गकी प्रधान भावना, (४) पितासे माताके प्रेमकी अधिकता, (५) पूर्वसंस्कारानुरूप नातेका संबंध, ममत्व और प्रेम आदिकी उत्पत्ति इत्यादि अनेक महत्त्वके सिद्धान्त सहज लीलामें एक दो शब्दोंके भेद, अनुक्रम इत्यादि विविध युक्तियोंसे भरे हैं। ८। १० पंक्तियोंके छोटेसे प्रकरणमें इतने विविध सिद्धान्त गुप्त प्रगट भर दिये हैं। ऐसा राम-नाट्यमहाकाव्य-संयोग इतरत्र कहीं न मिलेगा। विशेषता तो यह है कि यहाँके प्रत्येक सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये मानसमें ही प्रमाण और उदाहरण मिलते हैं। कितनी व्यापक काव्यकला और प्रतिभा भाव!

नोट—२ श्रीमद्भागवत दशमस्कंधमें जब भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीबलरामजीका कुवलयापीड़ नामक हाथीको मारकर रंगभूमिमें पधारना कहा गया है तब वहाँ भी ऐसा ही वर्णन पाया जाता है।

दोनों भाइयोंके एकसाथ रंगभूमिमें पधारनेपर बड़े-बड़े पहलवान यह समझकर कि इनका शरीर

वज्रसा कठोर है रौद्ररसका अनुभव करने लगे। साधारण मनुष्योंने ऐसा समझा कि ये कोई श्रेष्ठ मनुष्य हैं और इसी अवस्थामें उनकी विचित्रताओंका स्मरण करके अद्भुतरसकी अनुभूति की। स्त्रियोंको ऐसा जान पड़ा मानों ये मूर्तिमान कामदेव हैं। वे शृङ्गार-रसकी अनुभूतिमें तन्मय हो गयीं। ग्वालबाल उन्हें अपना स्वजन समझकर हँसने लगे और हास्यरसका आस्वादन करने लगे। पृथ्वीके दुष्ट शासकोंने यह समझकर कि ये हमारा शासन करनेवाले हैं उनमें वीररसका अनुभव किया और माता पिताके समान बड़े-बूढ़ोंने उन्हें नन्हे-नन्हे बच्चोंके रूपमें अखाड़ेमें आते देख करुण-रसकी अनुभूति प्राप्त की। कंसने समझा कि यह तो हमारा काल ही है और इस प्रकार वह भयानकरसकी अनुभूतिमें डूब गया। अज्ञानियोंने उनके शरीरपर हाथीका रक्त, मद आदि लगा देखकर विकृतरूपकी कल्पना की, इस लिये उन्हें वीभत्स रसका अनुभव हुआ। योगियोंने उन्हें परमतत्व समझकर शान्तरसका साक्षात्कार किया। भगवान्के भक्त तथा प्रेमी वृष्णिवंशी उन्हें अपना इष्टदेव समझकर प्रेम और भक्तिके रसमें डूब गए। (भागवताङ्क)। मूल श्लोक यह है—"मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्गोपानां स्वजनो सतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः। मृत्युर्भोजपतेर्विराड-विदुषां तत्वं परं योगिनां वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः। ४३।१७।"

मानस और भागवतका मिलान करनेसे भागवतके 'मल्लानां अशनिः' (१), 'नृणां नरवरः' (२), 'स्त्रीणां स्मरो मूर्त्तिमान्' (३), 'गोपानां स्वजनो' (४), 'असतां क्षितिभुजां शास्ता' (५), 'स्वपित्रो शिशुः' (६), 'मृत्युर्भोजपतेः' (७); 'विराडविदुषां' (८), 'तत्त्वं परं योगिनां' (९), 'वृष्णीनां परदेवता' (१०) की जोड़में मानसमें क्रमशः 'देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहुँ बीररस धरे सरीरा।' (१), 'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई' (२), 'नारि बिलोकहिं ···जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।' (३), 'जनक जाति अवलोकहिं कैसे। सजन सगे प्रिय लागहिं जैसे।' (४), 'डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी।' (५), 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाइ बखानी।' (६), 'रहे असुर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।' (७), 'बिदुषन्ह प्रभु बिराटमय दीसा।' (८), 'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा।···' (९), 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता। इष्टदेव इव सब सुखदाता।' (१०) ये हैं।

दोहा—राजत राजसमाजु महुँ कोसल राजकिसोर।
सुंदर स्यामल गौर तन बिश्वबिलोचन चोर ॥२४२॥

अर्थ—सुन्दर श्यामल और गौर शरीर, किशोर अवस्था और विश्वमात्रके नेत्रोंको चुरानेवाले, कोसलपुरीके राजा दशरथजीके पुत्र राजसमाजमें सुशोभित हो रहे हैं ॥ २४२ ॥

टिप्पणी—१ 'राजसमाज बिराजत रूरे। २४१। ३।' उपक्रम है और 'राजत राजसमाज' उपसंहार है। २—प्रथम कहा था कि 'राजकुअँर तेहि अवसर आए' और अब यहाँ बताते हैं कि वे किस राजाके कुँवर हैं—'कोसलराजकिसोर'। ३—'राजत राजसमाज महुँ कोसलराजकिसोर' कहनेका भाव कि कोसल-राज चक्रवर्ती हैं, उनके ये किशोर हैं; अतः इनकी शोभा सब राजाओंसे अधिक हुआ ही चाहे—यही अभिप्राय 'उडगन महुँ जनु जुगु बिधु पूरे' इस उत्प्रेक्षासे दिखाया है। चंद्रमा समस्त तारागणका पति वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी सब राजाओंके पति हैं क्योंकि चक्रवर्त्ती राजाके पुत्र हैं।—यह ऐश्वर्य्यकी शोभा कही। आगे तनकी शोभा कहते हैं। ४—'सुंदर स्यामल गौर सरीरा। २४१।२।' उपक्रम है और 'सुंदर स्यामल गौर तन' उपसंहार है। ५—'बिश्वबिलोचन चोर' का भाव कि श्याम गौर तनकी सुंदरता देखनेमें सबके नेत्र लग जाते हैं जैसा आगे स्पष्ट करके कहते हैं।—'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे। २४४।३।' 'स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिश्वचित चोरा। २१५।५।' देखिये।

वीरकविजी—रामचन्द्रजी विश्वभरके नेत्रोंको प्रिय लगनेवाले हैं, यह न कहकर 'चोर' स्थापन करना अर्थात् और को और कहना 'सारोपा लक्षण' है। 'चोर' शब्दमें लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्य ध्वनि है। नेत्र चुराये जा नहीं सकते और चोरी होनेपर धनीको दुख होता है पर इस चोरीमें उल्टे धनीका आनंद होता है।

प० प० प्र०—इस दोहेमें राज, राज, राज यह यमकानुप्रास और राज, माज यह अनुप्रास विराजने में कितनी सुन्दरता पैदा करता है! यहाँसे 'एकटक लोचन चलत न तारे' तक युगल किशोरोंके रूपका वर्णन है।

पंजाबीजी—"राजकुमार श्याम गौर और आँखका भी स्वरूप श्याम गौर। विशेष ज्योति अल्प ज्योतिको अपनेमें खींच लेती है सो इस स्वरूपके प्रकाशके प्रभावसे सबोंकी दृष्टि उनकी ओर लग रही है।"

पांड़ेजी—"चौदह विद्याओंमेंसे चौर्य्य विद्याका इस दोहेमें तरीभार (उत्कृष्ट रूप) वर्णित है।* चोरकी सबसे बड़ाई यह है कि आँखोंका काजल चुरा ले। सो ये उससे भी बढ़कर हैं कि विश्वकी आँखोंको चुरा लेते हैं। इनको किशोरावस्थाहीमें यह चोर विद्याकी निपुणता प्राप्त है तो आगे न जाने क्या (क़हर बर्पा) करेंगे। पुनः, चोर छिपकर रातके समय राजाके नौकरोंसे डरता हुआ चोरी करता है और ये ऐसे निपुण हैं कि भरी सभामें दिनधौले राजाओंके समाजमें निडर हो उनसे बड़ी वस्तु अर्थात् विश्वके नेत्रोंकी चोरी करते हैं। जिन आँखोंसे देखकर चोर पकड़ा जाता है, ये उन आँखोंको ही चुरा लेते हैं, अब कौन देखे और कौन पकड़े?"

सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ॥१॥
सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥२॥
चितवनि चारु मारमनु[१] हरनी। भावति हृदय जाति नहि बरनी॥३॥

शब्दार्थ—निंदक = तिरस्कार करने, नीचा दिखानेवाले। भावते = अच्छे लगनेवाले, प्यारे।

अर्थ—दोनों मूर्तियाँ सहज ही (बिना श्रृङ्गारके) मनको हरनेवाली हैं। करोड़ों कामदेवोंकी उपमा दी जाय तो वह भी तुच्छ होगी॥ १॥ दोनों भाइयोंके नीके सुन्दर मुख शरद्के पूर्णचंद्रकी अत्यंत निंदा करनेवाले अर्थात् उसको नीचा दिखानेवाले हैं। सुन्दर नेत्र शरद्कमलके निंदक हैं और जीके 'भावते हैं'॥ २॥ सुन्दर चितवन कामके भी मनको हरनेवाली है, हृदयको भाती है, कही नहीं जाती॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सहज मनोहर मूरति' इति। भाव कि दोनों भाई मुनिके साथ, जैसे उस समय साधारण श्रृङ्गार किये बैठे थे वैसे ही, चले आए हैं, कोई विशेष श्रृङ्गार इस समय नहीं किये हैं तो भी मनको हर लेते हैं। ☞ 'पहले बिस्वबिलोचनचोर' कहकर अब 'मनोहर' कहनेका भाव कि प्रथम देखा जाता है, तब मन हरण होता है। प्रथम नेत्रको चुरा लिया। फिर मनको हर लिया। तात्पर्य कि बाहर और भीतरकी इन्द्रियोंमें यही दो प्रबल हैं सो वे अपनी सुन्दरतासे इन दोनोंको आकर्षित कर लेते हैं। यथा 'बालक बृंद देखि अतिसोभा। लगे संग लोचन मनु लोभा। २१९। २।', 'मुदित नारिनर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा। २। ११५।' (ख) 'लघु सोऊ' कथनसे पाया गया कि कोटि कामकी उपमा बड़ी भारी उपमा है सो भी इनके सौन्दर्यके आगे मात है। पूर्व रंगभूमिमें आनेपर 'मनहुँ मनोहरता तन

---

* चौर विद्या किन चौदह विद्याओंमें है यह हमको नहीं मिला। ६४ कलाओंमें अवश्य एक कला यह है।

१ मद-१७०४ (शं० चौ०)। मनु १६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, रा० प०।

छाए। २४१।१।' अर्थात् इनके अंग-अंग मनोहरतासे पूर्ण हैं। अब यहाँ नखशिख-वर्णनमें उस मनोहरताका अनुपम बताते हैं। (ग) 'सरद चंद निंदक' इति। कामकी उपमा कहकर अब चंद्रमाकी उपमा कहते हैं, क्योंकि सुन्दरतामें चन्द्रमाकी भी गिनती है। यथा 'सुषमा सील सनेह सानि मनो रूप बिरंचि सँवारे। रोम रोमपर सोम काम सतकोटि वारि फेरि डारे। गी० १.६६.१०।' (घ) शरद, निंदक और नीके ये तीन शब्द कहकर तब 'नीरज नयन' इतना ही कहा क्योंकि प्रथम कह देनेसे यहाँ भी तीनोंका ग्रहण हो चुका। शरद् कमलकी उपमा नयनकी है, यथा 'सरद सरबरी नाथ मुख सरद सरोरुह नयन।२.११६।' (ङ) 'भावते जी के' अर्थात् नेत्रोंकी शोभा जीमें है, मुखसे कहते नहीं बनती और मुखकी छबि जी में है पर कहते नहीं बनती, यथा 'मुख छबि कहि न जाति मोहि पाहीं'। ☞ इस तरह इस अर्धालीका अन्वय यह है—'नीके मुख सरदचंद निंदत और नीके नयन सरद नीरज निंदत'।

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि 'शरदचन्द्रनिंदक' कहकर जनाया कि निर्मल पूर्ण प्रकाशमान प्रसन्न मुख अपने गुणोंसे चन्द्रमाके, कलंकी, दिनमें मलिन, राहुसे सदा सभीत इत्यादि, अवगुणोंको दरसाता है। सुचारु कर्णपर्यन्त दीर्घ रतनारे समशील और रसीले नेत्र अपने गुणोंसे कमलके निशामें संपुटित होना, शीतसे सदा सभीत रहना इत्यादि अवगुणोंको दर्शित करता है। (वै०)।

२—पांड़ेजी लिखते हैं कि "नीके का अन्वय शरदचंद्र, मुख, नीरज और निंदक इन सबोंके साथ है। 'निंदक' भी दोनोंके साथ है। मुख शरदचंद्रका और नयन कमलका निंदक है। जब दोनोंकी उपमायें नष्ट होगईं तब केवल कविके "जीके भावतें रहगया" (—केवल कविके जीका भाव रहगया) ["मुखचंद्र नयन कमलको प्यारकर अपनेहीमें सदा बसाए रहता है। यही उत्तमता है जिससे मुख शरदचंद्रको लज्जित करता है।" (वै०)। पुनः, भावते जी के = जीवमात्रको भले लगते हैं; भाव कि सब जीवोंपर दयादृष्टि किये हैं। (वै०)। कमलसे नेत्रोंमें विशेषता यह है कि इनमें चितवन है, जो कमलमें नहीं है। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी ३—(क) 'चितवनि चारु' इति। नेत्रोंकी सुन्दरता कहकर अब नेत्रोंके चितवनकी सुन्दरता कहते हैं। कामदेव अपनी सुन्दरतासे जगत्‌मात्रका मन हर लेता है सो उसकेभी मनको श्रीरामजीकी चितवन हर लेती है। जैसे नेत्रोंकी शोभा जीको भाती है पर कहते नहीं बनती, वैसेही उन (नेत्रों) के चितवनकी भी शोभा हृदयमें भाती है, वर्णन नहीं की जाती। 'नीरज नयन भावते जीके' यह नेत्रकी शोभा कहकर 'चितवनि चारु मार०' यह उसके कार्य्यकी शोभा कही। ☞ इसी तरह यहां 'शरदचंद निंदक मुख नीके' कहकर आगे मुखके कार्य्यकी शोभा कहते हैं—'सुंदर मृदु बोला'।

नोट—३ वैजनाथजी कहते हैं कि "चारु" से सुन्दर सम (तिरछी नहीं) चितवनका अर्थ होगा। भाव यह है कि सम होनेपर भी कामको जो अपने बाणोंका मद है उसको भी मिटा देती है।" वे 'मद' पाठ देते हैं। सं० १६६१ की तथा काशिराजकी रामायण परिचर्याका पाठ 'मनु' है और यही उत्तम है। इसकी उत्तमता ऊपर टिप्पणीमें दिखा आए। जब कामका ही मन हरण होजाता है तब जगत्‌के अन्य प्राणियोंका कहनाही क्या! मन सब इन्द्रियोंका राजा है, नेत्र उसके मंत्री हैं। यथा 'मन सों और महीप नहिं दृगसों नहीं दिवान। दृग दिवान जेहि आदरै मन तेहि हाथ बिकान।' (रहिमन)।

४ 'भावत हृदय जाति नहिं बरनी' अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार सब उसीके दर्शनमें आसक्त होगए, तब वर्णन कैसे हो और कौन करे?

कल कपोल श्रुति कुंडल लोला। चिबुक अधर सुंदर मृदु बोला ॥४॥
कुमुदबंधु-कर निंदक हांसा। भृकुटी बिकट मनोहर नासा ॥५॥
भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं॥६॥

शब्दार्थ—लोल (सं०) = हिलता डोलता, चंचल। यथा 'भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलनि झांई। निरखहिं नारि निकर बिदेहपुर निमिनृपकी मरजाद मिटाई ॥ गी० १.१०.६ ॥'

अर्थ—सुंदर गाल हैं। सुन्दर कानोंमें सुन्दर चंचल कुंडल (गालोंपर) झूम रहे हैं। ठोढ़ी और ओंठ सुन्दर हैं। सुन्दर कोमल बोली है ॥ ४ ॥ हँसी चंद्रकिरणकी निंदा (तिरस्कार) करनेवाली है। भौंहें टेढ़ी हैं, नाक सुन्दर हैं ॥ ५ ॥ ऊँचे चौड़े ललाटपर तिलक झलक (दीप्तिमान हो) रहे हैं। बालोंको देख कर भ्रमरावली (भ्रमरोंकी पंक्तिकी पंक्ति) लजा जाती है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) कपोलोंकी सुन्दरता कहकर श्रुति (कान) में कुंडल कहते हैं। तात्पर्य्य कि एक तो कपोल स्वयं सुंदर हैं, दूसरे उनके ऊपर चंचल कुण्डलोंकी शोभा हो रही है, इधर उधर देखनेपर वे हिलते हैं और उनका प्रतिबिंब कपोलोंपर पड़ता है। यथा 'भाल तिलक कंचन किरीट सिर कुंडल लोल कपोलन्ह झाँई।' (गीतावली)। (ख) 'श्रुति कुंडल' कहनेसे सूचित होता है कि कनकफूल उतारकर कुंडल पहन लिए हैं, क्योंकि यह राजाओंका समाज है, सभी राजा कुंडल पहने हैं। (ग) 'चिबुक अधर सुंदर' इति। ओष्ठकी सुन्दरता उसकी अरुणाई है; यथा 'देखत अधरनकी अरुनाई। बिंबाफल जनु रहे लजाई'। मृदु होना बोलकी सुन्दरता है। ☞'सरद चंद निंदक मुख नीके' में समस्त मुखमंडलकी शोभा कही गई और यहां केवल मुखकी शोभा कहते हैं। अधर, बोल, हास्य ये केवल मुखकी शोभा हैं। [☞'सुंदर मृदु बोल' कहकर श्रीमद्गोस्वामीजी जना रहे हैं कि श्रीरामचन्द्रजी कुछ कुछ बातें कर रहे हैं, यथा 'भाई सों कहत बात कौसिकहि सकुचात बोल घनघोरसे बोलत थोर थोर हैं। सनमुख सबहि बिलोकत सबहिं नीके कृपा सों हेरत हँसि तुलसीकी ओर हैं ॥ गी० ७१।', अर्थात् विश्वामित्रजीका संकोच है, इससे थोड़ा थोड़ा बोलते हैं और कभी बोलते बोलते किंचित् हँसी आजाती है। वही हँसी कुमुद-बंधु-करका निंदक है।]

२ (क) मुखसे हास है, चंद्रसे किरण है। 'हास' को किरण अन्यत्र भी कहा है, यथा 'सूचत किरन मनोहर हासा ॥ १९८।७ ॥' मुख चन्द्रका निंदक है तो हास किरणका निदक है। कारणका तिरस्कार कारणसे और कार्य्यका तिरस्कार कार्य्यसे दिखाया। परस्पर दोनों भाई वार्ता करते हैं, प्रयोजन पड़ने पर हँसते भी हैं। (ख) 'कुमुदबंधु' का भाव कि सब राजा कुमुद हैं, यथा 'सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन ॥ २६४ ॥', 'कुमुदबंधुकर निंदक हासा' का भाव कि जब हास्यसे कुमुदबंधुका तिरस्कार हुआ तब निश्चय है कि हास्यसे कुमुदगण भी निंदित किये जायँगे। अर्थात् सब राजाओंकी हँसी होगी। (चंद्रमा कुमुदको विकसित करता है, इसीसे उसे कुमुदका भाई कहा। आपत्तिमें भाईही सहाय होते हैं)। (मुखपर प्रकाश हँसीसे ही आता है। इसीसे हँसीको चाँदनीका निंदक कहना प्राप्त है। वि० त्रि०)। (ग) 'भृकुटि बिकट' इति। विकट (टेढ़ा) होना अवगुण है पर भौंहका बिकट होनाही गुण है, यथा 'भृकुटि मनोज चाप छबि हारी', 'मुकुर निरखि मुख राम भ्रू गनत गुनहि दै दोष। तुलसीसे सठ सेवकन्हि लखि जनि परै सरोष' (दोहावली)। (घ) 'मनोहर नासा'। मंदोदरीने रावणसे विश्वरूप रघुवंशमणिके वर्णनमें नासिकाको अश्विनीकुमार कहा है, यथा 'जासु घ्रान अश्विनीकुमारा'। इससे पाया गया कि नासिका अत्यन्त सुन्दर है क्योंकि अश्विनीकुमार सब देवताओंसे सुन्दर हैं। श्रीजनकमहाराजने विश्वामित्रजीसे दोनों राजकुमारोंका परिचय पूछते हुए उनके रूपको अश्विनीकुमारोंके समान कहा है; यथा 'इमौ कुमारौ भद्रं ते देवतुल्यपराक्रमौ ॥ १७ ॥ गजतुल्यगती वीरौ शार्दूलवृषभोपमौ। अश्विनाविवरूपेण समुपस्थितयौवनौ ॥१८॥ वाल्मी० १.५०॥'' इससे भी अश्विनीकुमारोंका परम सुन्दर होना पाया जाता है।

३ (क) 'भाल बिसाल' यह भालकी शोभा है। 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं' से जनाया कि समस्त भाल-देशमें तिलकका प्रकाश फैला हुआ है; यथा 'तिलक ललाट पटल दुतिकारी। १४७.४।' 'झलकाहीं' बहुवचन क्रिया देकर दोनों भाइयोंका तिलक कहा। (ख) 'अलिअवलि लजाहीं' से सूचित किया

कि अगणित भ्रमरोंके एकत्रित होनेपर कुछ उपमा हो सकती है क्योंकि केश बहुत दूरतक (कंधोंतक लटके हुए) हैं और भ्रमर छोटा होता है जब बहुतसे एकट्ठे हों तब बराबर होनेपर कुछ कहा जा सके, यथा 'कुटिल केस जनु मधुप समाजा'। इसीसे 'अलि अवलि' कहा। इस उपमासे केशोंकी श्यामता, चिक्कनता और चमक कही। (केश घुँघराले होनेसे 'अलि अवलि' का लजाना कहा)।

४ ☞ मिलान कीजिए—'भृकुटि भाल बिसाल राजत रुचिर कुंकुम रेखु। भ्रमर द्वै रबि किरन लाए करन जनु उन्मेषु॥ गीतावली ७.६॥'

पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई। कुसुमकली बिच बीच बनाई॥७॥
रेखैं रुचिर कंबु कल गीवाँ। जनु त्रिभुवन सुषमा की सीवाँ॥८॥

शब्दार्थ—कुसुम—यह दो प्रकारका होता है। यहाँ उस पौधेके फूलसे तात्पर्य है जिसमें प्रायः काँटे नहीं होते और जिनके फूलोंसे बढ़िया लाल रंग निकलता है। यहाँ लाल फूलही अभिप्रेत हैं।

अर्थ—चौगोशिया पीली टोपियाँ सिरोंपर शोभित हैं, जिनके बीच बीचमें कुसुमकी कलियाँ बनाई गई हैं॥ ७॥ शङ्खके समान सुन्दर गलेमें सुन्दर (तीन) रेखायें मानों तीनों लोकोंकी परमा शोभाकी सीमा (मर्याद, हद) हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई' इति। सिरपर श्याम केश हैं, श्यामपर पीत रंग सोहता है और पीतपर लालरंग शोभा देता है, इसीसे उसमें कुसुमकी कलियोंका कढ़ा होना कहा। कुसुम लालफूलका वाचक है। पीत चौतनीपर लाल लाल कलियाँ कुछ कुछ दूरीपर कढ़ी हुई सोह रही हैं। पुनः भाव कि सिर ऐसे सुन्दर हैं कि उनपर जो टोपियाँ पहनी गई हैं, वे भी सुन्दर हो गई हैं। पुनः भाव कि सिरकी सुन्दरता प्रथम ही कह आए हैं कि 'भाल बिसाल तिलक झलकाहीं। कच बिलोकि अलि अवलि लजाहीं'। अब टोपीकी सुन्दरता कहते हैं कि पीत हैं और उनमें कलियाँ बनी हैं; तात्पर्य्य कि टोपियाँ अपने स्वरूपसे सुन्दर हैं और सिर पाकर और भी सुन्दर हो गई हैं। (ख) 'बनाई' शब्द देकर सूचित किया कि रेशमसे कलियाँ काढ़ी गई हैं, साक्षात् फूलकी कलियाँ नहीं हैं। यदि साक्षात् फूलकी होतीं तो 'लगाईं' कहते। 'बिच बीच' से जनाया कि सघन नहीं हैं। [(ग) पंजाबीजी कहते हैं कि "चौतनी रंगदार पगड़ी है। षोडशवर्षकी अवस्था और राजसमाजमें रघुकुलतिलकके सिरपर टोपी कहते नहीं जँचता।" और संत श्रीगुरुसहायलाल 'कमरखी ताज, चौगसी और क़ालिबपर चढ़ी हुई टोपी' अर्थ करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि 'ये चक्रवर्ती राजकुमार हैं, इनके सामने दूसरेका टोपी पहनना अनुचित है और ये तो सबके सिरताज हैं, इनको ताज ही फबता है।' विशेष दोहा २१९ और २३३ (२) में देखिए।]

२ (क) 'रेखैं रुचिर कंबु कल गीवा' इति। कंठ शंख समान हैं, यह कहकर रेखाओंकी भी संख्या जना दी कि तीन हैं। आगे उत्प्रेक्षामें 'त्रिभुवन' शब्दसे यह बात स्पष्ट कर दी गई है। 'रुचिर' विशेषण देकर रेखाओंकी शोभा कही और 'कल' से कंठकी शोभा कही। कंठकी उपमा शंखकी दी और रेखाओंकी उपमा त्रिभुवनकी परमाशोभाकी सीमाकी दी। अर्थात् रेखायें तीनों लोकोंकी शोभाकी अवधि हैं। पर रेखाओंका आधार कंठ है, इस तरह जनाया कि तीनों लोकोंकी परमाशोभा कंठमें है तब और अंगोंकी शोभा कौन कह सके। पुनः भाव कि "रेखा शीव (सीव) की आकार है, कंठ शंखकी आकार है, आकार समझकर उपमा दी"। (?) [त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'पद पाताल सीस अजधामा' कहा गया है, अतः त्रैलोक्यकी शोभा गलेके नीचे ही नीचे है। सातो पाताल उनके उरःस्थल तक हैं। इसके ऊपर महः जनः तपः और सत्यलोक ये चारों ब्रह्मलोकके भेद हैं। ग्रीवा महर्लोक, मुख जनलोक है, ललाट तपलोक है और शीर्ष सत्यलोक है। यथा 'उरः स्थलं ज्योतिरनीकमस्य ग्रीवा महर्वदनं वै जनोऽस्य। तपो रराटीं विदुरादिपुंसः सत्यं तु

शीर्षाणि सहस्रशीर्ष्णः । भा० २।१।२६ ।' अतः उन उन लोकोंकी शोभा उन उन अंगोंमें है । महर्लोकके नीचे त्रिलोक है । अतः ग्रीवाकी तीन रेखाओंको त्रिभुवनकी शोभाकी सीमा होना पूर्णतः उपयुक्त है ।]

दोहा—कुंजरमनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल ।
बृषभ कंध केहरि ठवनि बलनिधि बाहु बिसाल ॥२४३॥

शब्दार्थ—कलित=सुन्दर, सुसज्जित, सुशोभित । ठवनि=खड़े होनेकी शान और अंग संचालनका ढब । मुद्रा ।

अर्थ—गजमुक्ताओंका सुन्दर कंठा (गलेमें) है और हृदय (वक्षस्थलों) पर तुलसीके दलों और मंजरीकी माला सुशोभित है । वृषभ (बैलों) के-से (ऊँचे, चौड़े, मोटे और पुष्ट) कंधे हैं । खड़े होनेकी शान एवं अंग संचालनका ढब सिंहका-सा है । भुजायें बहुत बड़ी और बलकी निधान (समुद्र) हैं ॥२४३॥

टिप्पणी—१ मिलान कीजिए—'उर बिसाल बृषकंध सुभग भुज अति बल पीत बसन उपवीत कंठ मुकुताफल' इति गीतावल्याम् । २—कंठा कंठका आभूषण है, कंठा कहने ही से कंठका बोध हो गया इसीसे कंठका नाम यहाँ न लिखा । पहले कंठका वर्णन किया—'रेखैं रुचिर कंबु कल गीवाँ', पर वहाँ कंठका कुछ आभूषण न कहा था । भूषणका वर्णन न होनेसे संदेह होता कि गला खाली है, इसीसे कंठ कहकर अब यहाँ उसका आभूषण कहा । जिसमें बड़ी बड़ी गुरियाँ होती हैं वह कंठा कहलाता है, छोटी गुरियों-वालेको कंठी कहते हैं । ३—'उरन्हि तुलसिका माल'; यथा 'कंबु कंठ उर बिसाल तुलसिका नवीन माल, मधुकर बर बास बिबस उपमा सुन सो री । जनु कलिंदजा सुनील सैल तें धसी समीप, कंदबृंद बरसत छबि मधुर घोरि घोरी । इति गीतावल्याम् ।७।७।' ४—'केहरि ठवनि' इति । ठवनि=खड़ा होना । श्रीरामजी आकर रंगभूमिमें सिंहकी तरह खड़े हुए । यथा 'ठाढ़े भये उठि सहज सुभाए । ठवनि जुवा मृगराजु लजाए । २५४।६ ।' अर्थात् उनका खड़ा होना जवान सिंहको लज्जित करता है । पुनः, यथा 'गयो सभा दरबार तब सुमिरि रामपदकंज । सिंहठवनि इत उत चितव धीर बीर बलपुंज । ६।१८ ।' अंगद सभाके दरवाजेपर रामजीके चरणकमलोंको सुमिरकर सिंहठवनि अर्थात् सिंहसमान खड़े होकर इधर उधर देखने लगे । [ठवनि (सं० स्थापन)=बैठने या खड़े होनेका ढंग; अंगके संचालन वा स्थितिका ढब'—(श० सा०) । खड़े होनेकी शान, ऐंड़—(पोद्दारजी) । वैजनाथजी लिखते हैं कि सिंहकी निश्शंकता आपके अंगोंसे दर्शित होती है ।] ५ 'बलनिधि' अर्थात् बलके समुद्र हैं, इसी समुद्रमें शंकरचापरूपी जहाज डूबेगा । यथा 'संकरचाप जहाज सागर रघुबर बाहु बल' । यही अभिप्राय दरसानेके लिये यहाँ ही से भुजाओंको समुद्रका रूपक दे चले ।

नोट—यहाँ गजमुक्ता और तुलसीकी माला दोनों लिखे गए । पहिला राजचिह्न है और दूसरा ऋषिके शिष्य होनेका चिह्न है । संभव है कि दोनों चिह्न उस समय भी थे जब श्रीजनकमहाराज महर्षि विश्वामित्रका आगमन सुनकर उनको लाने गये थे । इसे भी देखकर उन्होंने मुनिसे कहा हो, 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक । मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक ॥' पाँड़ेजी कहते हैं कि राजकुमार पितासे दूर हैं इससे उन्होंने राजकुमार होनेका चिह्न कंठमें अदेख (अदृश्य) रक्खा है और मालाको गुरुजीके निकट होनेके कारण बार बार देखते हैं । भुजाओंकी ग्रंथमें कई उपमायें हैं । यथा 'करिकर सरिस सुभग भुजदंडा ।', 'श्याम सरोज दाम सम सुंदर । प्रभुभुज करिकर सम दसकंधर ।', 'काम कलभकर भुज बलसींवा ।' ये कोई उपमायें न देकर यहाँ निधिकी उपमा दी जिसका कारण टिप्पणीमें लिखा जा चुका है । 'उरन्हि तुलसिका माल' से शृङ्गारकी पूर्णता कही ।

कटि तूनीर पीत पट बाँधें । कर सर धनुष बाम बर काँधें ॥ १ ॥

पीत जग्य उपबीत सुहाए। नखसिख मंजु महाछबि छाए॥ २॥

अर्थ—कमरमें तर्कश और पीताम्बर बाँधे हुए हैं। दहिने हाथमें बाण हैं और सुन्दर श्रेष्ठ बायें कंधेपर धनुष है॥ १॥ पीले यज्ञोपवीत सुन्दर लग रहे हैं। नखसे लेकर शिखातक सब अङ्ग सुन्दर हैं, उनपर महाछबि छाई हुई है॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) प्रथम 'तूनीर' कहकर पीछे 'पीतपट' कहनेसे सूचित हुआ कि प्रथम तर्कश बाँधा फिर उसके ऊपरसे पीताम्बर बाँधा है। और, कहीं कहीं पीतपटके ऊपर तर्कश बाँधते हैं, यथा 'पीत बसन परिकर कटि भाथा। २१९।३।' जहाँ जैसा बाँधते हैं वहाँ वैसा ग्रन्थकार लिखते हैं [पुनः, 'पीत बसन…' यह नगरदर्शन समयका स्वरूप है। वहाँ केवल नगर देखना था। इससे वहाँ तरकश पीताम्बरसे ढका हुआ था। पहले पीतपट ही देख पड़ा, अतः वहाँ पीतपटको पहले लिखा और तरकशको पीछे। और यहाँ राजसमाजमें धनुष तोड़ना है जो वीरोंका काम है, अतः यहाँ तूणीरको कमरमें पीताम्बरसे बाँधा है जिससे तरकश ही प्रथम देख पड़ा जो वीरका बाना है। (प्र० सं०)]। (ख) 'धनुष बाम बर काँधे'। धनुष बाएँ हाथमें लिया जाता है सो बायें कन्धेपर है। बाण दहिने हाथमें लिया जाता है सो दाहिनेमें लिये हैं, यह बात धनुषके साथ 'बामबर कांधे' कहनेसे ही विदित हो गयी। प्रथम बाहुको बलनिधि और विशाल अर्थात् आजानुपर्यन्त लम्बी कहा पर उनमें कुछ धारण करना न कहा था, अब बाण धारण करना कहा। इसी तरह प्रथम कंधोंकी शोभा कहकर अब उनमें धनुषका धारण करना कहा। ☞ (ग) यहाँ तर्कशके ऊपर पीताम्बर बाँधनेमें भाव यह है कि वीरोंके समाजमें वीरोंका बाना खुला रहे, कोई व्यवधान न हो। अन्तमें वीररसका प्राबल्य इस बातका संकेत है कि धनुष यही तोड़ेंगे।

२ (क) बाएँ कंधेमें धनुष कहकर अब यज्ञोपवीत कहनेसे पाया गया कि यज्ञोपवीत भी उसी कंधे पर है। (ख) ☞ पीतरंग वीरोंका बाना है, इसीसे यहाँ स्वरूपके वर्णनमें सब पीतही पीत रंगका साज है। यथा 'पीत चौतनी सिरन्हि सुहाई', 'कटि तूनीर पीत पट बाँधे' तथा 'पीत जग्यउपबीत सुहाए।' सिरसे कटि तक सब पीतही पीत दिखाई देते हैं। इस तरह सिरसे कटितक वीर-रसका श्रृङ्गार है। वीर रसमें शिरसे कटितकका वर्णन होता है, अतएव कटितकका श्रृङ्गार वर्णन किया। शेष अंगोंकी शोभा 'नखसिख मंजु०' से जनादी जिसमें यह संदेह न हो कि वे सुन्दर नहीं हैं। (त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'अभी यज्ञकी रक्षा करके चले आ रहे हैं, भेंटमें ब्राह्मणोंसे यज्ञोपवीत मिला है, उसे पहने हैं। आजका पीत यज्ञोपवीत भी जीतका ही चिह्न है'। पर जहाँ जहाँ वर्णन मानस तथा गीतावली आदिमें मिलता है, सदा पीत यज्ञोपवीत ही पाया जाता है। श्वेत या लाल आदि नहीं पाया जाता)। (ख)—'नखसिख मंजु' इति। सिरसे कटितक सुन्दरता कही। कटिके नीचेका वर्णन न हुआ। इसीसे कहते हैं कि 'नखसिख मंजु०'। प्रथम सिरसे वर्णन उठाया था, अब नखसे वर्णन उठाया; इस तरह नख और शिखा दोनोंकी प्रधानता क़ायम रही, एक बार उसे प्रथम कहा तो दूसरी बार इसे। (ग)—'मनहुँ मनोहरता तन छाए। २४१.१।' उपक्रम है और 'नखसिख मंजु महाछबि छाए' उपसंहार है। ☞ यहाँतक रूपका वर्णन हुआ। [श्रीसीताजी स्वयं महाछवि हैं, यथा 'छबिगन मध्य महाछबि जैसी', और प्रभु 'महाछबि छाए' हैं, अर्थात् रमानिवास हैं। (वि० त्रि०)]

पं० राजारामशरणजी—१ और भावनाके लोग कम थे, इससे उनका संक्षिप्त संकेत लिखा, परंतु श्रृङ्गार और वीररसकी भावनायें यहाँ स्थाई हैं इससे उसी प्रकारका नखशिखवर्णन लिखा। २—इस नख-शिखवर्णन और फुलवारीवाले नखशिख वर्णनका अन्तर विचारनेयोग्य है तभी कविकी कलाकी सुकुमारताका आनंद मिलेगा कि सूक्ष्मसे सूक्ष्म अन्तरको कवि दिखा देता है। एक एक अंग लेकर तुलना करने योग्य है, परंतु विस्तारभयसे केवल संकेत किया जाता है। ३—'सहज मनोहर मूरति दोऊ' में साफ़ बता दिया

कि शृङ्गारमें कृत्रिमता नहीं है। एक अँग्रेजी आलोचकने ठीक कहा है कि बहुधा प्रेमिकका हृदय सहज व्यवहारमें भी 'मनोहर' उद्योग देखता है। यहाँके नखशिख वर्णनमें भी कुछ अंश इसी भावना का है।

प० प० प्र०—'राजत राजसमाजु…।२४२।' से यहाँतक युगल राजकिशोरोंके रूपका वर्णन है। पूर्वके दोहा २३३ में भी दोनोंका वर्णन है। दोनोंका मिलान करना बड़ा आनन्ददायक और तुलसी-काव्य-कला-निदर्शक है। दोहा २३३ वाला वर्णन आदिसे अन्ततक वीररस प्रधान है और यहाँ आरंभ में शृङ्गाररस ओतप्रोत है। चौ० ५ 'कुमुद-बंधु कर निंदक हासा' से 'कटि तूनीर पीतपट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधें। २४४।१।' तक वीररसकी मात्रा बढ़ती जाती है और अन्तमें फिर शृङ्गार ही प्रधान है। यह भेद साभिप्राय है। भाव यह है कि उनका लावण्य और कोमलता देखकर वात्सल्यादि-रस-मग्न प्रेमियोंको संशय होगा कि इन कुमारोंसे धनुष कैसे उठ सकेगा। जब वीररसपर दृष्टि जाती है तब धनुर्भंगका विश्वास होता है पर अन्तमें फिर शृङ्गार ही प्रबल होता है जिससे निराशा होती है। प्रेमियोंके हृदयोंमें आशा-निराशाके, विश्वास-संदेहके कल्लोल उठेंगे, उनके मन झूलेके समान ऊपर नीचे झूलते ही रहेंगे—यह जनाया है।

देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत* न तारे ॥३॥

हरषे जनकु देखि दोउ भाई। मुनिपद-कमल गहे तब जाई ॥४॥

अर्थ—देखकर सब लोग सुखी हुए। सब एकटक हो गए अर्थात् उनकी पलकें खुली रहगईं, गिरती नहीं और नेत्रों के तारे (पुतलियाँ) नहीं चलते ॥३॥ राजा जनक दोनों भाइयोंको देखकर हर्षित हुए। तब उन्होंने मुनिके चरणकमलोंको जाकर पकड़ लिए अर्थात् प्रणाम किया ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'देखि लोग सब भये सुखारे' इति। जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आए तब सब लोगोंका देखना कहा कि सबने अपनी अपनी भावनानुसार प्रभुकी मूर्ति देखी और अब देखनेपर सुखका होना और सबके सुखकी दशा कहते हैं। (ख) तारे = पुतलियाँ; यथा 'रुचिर पलक लोचन जुग तारक श्याम अरुन सित कोए। जनु अलि नलिनकोस महुँ बंधुकसुमन सेज सजि सोए। गी. ७।१२।' गोलक (पुतलियों) से देखपड़ता है सो वे अचल हो गए और पलकें देखनेमें बाधा डालती हैं सो वे भी अचल हो गईं। मूर्तिका वर्णन करके सब लोगोंका देखकर सुखी होना कहनेका भाव कि जिनको वह मूर्ति ऐसी देख पड़ी (जैसी 'सहज मनोहर मूरति दोऊ। २४२।१' से यहाँ तक वर्णन की गई है, जो इस ध्यानके उपासक वा अनुरागी थे, जिनको यह ध्यान देख पड़ा) वही सब सुखी हुए (न कि समस्त रंगभूमिका समाज)। (ग) प्रथम बार देखनेके प्रसंग में रानियोंको प्रधान रक्खा था, यथा 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी'। इसीसे अब राजाको पृथक् करके कहते हैं। लोग सब एकटक देख रहे हैं, यह दशा जनक महाराजकी नहीं है, क्योंकि यदि ये भी वैसे ही देखने लगते तो व्यवहार ही बिगड़ जाता। यह समय सावधानीका है, मुनिको प्रणाम करके सादर रंगभूमि दिखाकर आसन देना है, अतएव राजाने धीरज धरकर सब व्यवहार यथोचित किया। नहीं तो जनकमहाराज तो सबसे अधिक प्रेमी हैं तथा सबसे अधिक विदेह हो जाया करते हैं। यथा 'भये बिदेह बिदेह बिसेषी'। जैसे वे अत्यंत प्रेमी हैं वैसेही अत्यंत सावधान हैं, अतः उन्होंने प्रेमको रोककर व्यवहारको सँभाला, यथा 'कुसमय देखि सनेह सँभारा। बढ़त बिंध्य जिमि

* पाठान्तर—'एकटक लोचन टरत न टारे' १७०४, को० रा०; ना० प्र०। वीरकविजी कहते हैं कि 'न कोई टारनेवाला है और न टारनेकी आवश्यकता है। अतः 'चलत न तारे' ही उत्तम पाठ है।' १६६१, १७६२, छ०, भा० दा०, पं०, का पाठ 'चलत न तारे' है। वीरकविजीने 'तारे' का अर्थ 'सिलसिला' 'तार' मानकर अर्थ किया है कि 'एकटक होगई' उनका सिलसिला छूटता नहीं'।

घटज निवारा'। ['हरषे' से यह भी जनाया कि धनुष तोड़नेकी प्रतीति हुई। ये हमारी प्रतिज्ञा पूरी करेंगे, यह विश्वास हुआ; क्योंकि इनका अमानुष कर्म अहल्योद्धार मुनिसे सुन चुके हैं। अतः हर्षित हुए। (रा० प्र०)। 'जानकी मंगल' में राजाने कहा है—'इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ। २८।' सत्योपाख्यानमें श्रीजनकमहाराज जब श्रीविश्वामित्रसे प्रथम बार मिलने गए और दोनों राजकुमारोंको देखकर घर लौटे, तब उनके मनमें ये विचार हो रहे थे कि श्रीराम धनुषको अवश्य तोड़ेंगे, मेरे मनोरथ पूर्ण होंगे इसमें संदेह नहीं है, यथा—"धनुषोभञ्जनञ्चैव राम एव करिष्यति ॥२५॥ मनोरथो मदीयस्तु पूर्णो भून्नात्रसंशय। उत्तरार्द्ध अ० ६।" संभवतः इन्हीं आधारोंपर यह भाव कहा गया है। जानकीमंगल में सखीने महारानी श्रीसुनयनाजीको धैर्य देते हुए कहा है, 'तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहि करतल। सो कि स्वयंबर आनहि बालक बिनु बल। ४८।' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि जनकजीका भाव इनके प्रति यह है कि 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा।' अतः इन्हें देखकर हर्षित हुए।]

प० प० प्र०—अब तो विदेह नहीं हैं, सीताजीके जनक हैं। उन्होंने मानों अबतक दोनों भाइयों ही को देखा। विश्वामित्र मानों उनके दृष्टिपथमें आये ही नहीं। मुनिवर आगे हैं और दोनों भाई सेवक भावसे उनके पीछे हैं, पर प्रीतिकी रीति ही ऐसी है कि प्रीतिके विषयको छोड़कर दूसरा कुछ सूझता ही नहीं। जबसे यज्ञमंडपमें प्रवेश किया तबसे विश्वामित्रजीका तथा और भी जो मुनिवृन्द साथमें हैं उनका नाम भी नहीं है। दो दिव्य निर्दोष राकाशशि उदित हुए हैं तब आकाशगंगाकी तरफ कौन देखेगा ?

टिप्पणी—२ 'मुनिपद कमल गहे तब जाई' इति। श्रीरामलक्ष्मणजीके चरण न पकड़े क्योंकि माधुर्यमें वे लड़के हैं और लड़कोंके पैर पड़ना शास्त्रविरुद्ध है। मुनिके चरण पकड़नेका भाव कि इन्हीं चरणोंके प्रसादसे आज यह परम लाभ प्राप्त हुआ। [ऋषियों मुनियों ब्राह्मणोंको देख चरणस्पर्श करना नीति है। पंजाबीजीका मत है कि श्रीविश्वामित्रजीकी कृपासे इनके दर्शन हुए अतएव (मुनिके) चरण पकड़े। दोनों चरण पकड़नेका भाव कि हमारी दो कन्यायें हैं उनका विवाह इन दोनोंके साथ हो ऐसी कृपा हो। अथवा, रंगभूमि भी देखिए और हमारा वृत्तान्त भी सुनिये, दो बातोंकी बिनती है; अतः दोनों चरण पकड़े। (पं०)। पर रीति दोनों चरण पकड़नेकी ही है न कि एककी]।

करि बिनती निज कथा सुनाई। रंग अवनि सब मुनिहि देखाई ॥५॥

अर्थ—बिनती (स्तुति, अपने भाग्यकी प्रशंसा) करके अपनी कथा सुनाई और सब रंगभूमि मुनिको दिखाई ॥५॥

पं० रामकुमारजी—कथा यह सुनाई कि जानकीजीने धनुष उठा लिया तब हमें सोच हुआ कि कन्याके योग्य पति कैसे मिलेगा। रात्रिमें शिवजीने हमें उपदेश दिया कि तुम प्रतिज्ञा करो कि जो इस धनुषको तोड़े वही जानकीको व्याहेगा। आज्ञा पाकर हमने प्रतिज्ञा की, रंगभूमि बनवाई, कृपया चलकर इसे देखिए। अथवा, रंगभूमि देखनेकी बिनती की और सब कथा सुनाई। बिनती करके रंगभूमि दिखानेका भाव कि विरक्त महात्मा प्रपंच देखनेकी इच्छा नहीं करते। अथवा, बिनती कथा सुनाने और रंगभूमि देखने इन दोनों बातोंके लिये की। पुनः, चरण पकड़कर बिनती करके तब निज कथा सुनानेका भाव कि विश्वामित्र शैव हैं, अपने स्वामीके धनुषके तोड़नेकी प्रतिज्ञा सुनकर क्रोध न करें जैसे परशुरामजी ने किया है, इसीसे प्रथम बिनती करके अपराध क्षमा कराया। (यह भाव कुछ लचरसा मालूम होता है)। रंगभूमि केवल देखनेके लिये बनी है, इसीसे उसे दिखाते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें श्रीजनकमहाराजने श्रीविश्वामित्रजीसे स्वयं इस धनुषके संबंधकी कथा इस प्रकार कही है—जिस प्रयोजनके लिये यह धनुष मेरे यहाँ रक्खा गया उसे सुनिये। निमि महाराजके कुलमें

देवरात नामके एक राजा हो गये हैं। उनको यह धनुष धरोहरके रूपमें मिला था। दक्षयज्ञके विध्वंसके लिये इस धनुषको श्रीशिवजीने चढ़ाया था, यज्ञका नाश करके उन्होंने क्रोधमें भरकर देवताओंसे कहा कि तुम लोगोंने मुझ भागार्थीको यज्ञभाग नहीं दिया, अतः मैं इसी धनुषसे तुम सबोंका सिर काटे डालता हूँ। यह सुन देवता लोग उदास हो गए और किसी तरह उन्होंने शिवजीको प्रसन्न किया। तब शिवजीने यह धनुष देवताओंको दे दिया और देवताओंने हमारे पूर्वजोंके पास उसे रख दिया। (१।६६।७-१३)। कूर्म पुराणमें भी यह कथा कही जाती है।

परशुरामजीने श्रीरामजीसे इसके संबंधमें यह कहा था कि–ये दोनों धनुष अत्युत्तम दिव्य और लोकोंमें प्रसिद्ध हैं, बड़े दृढ़ हैं, इन्हें विश्वकर्माने बड़े परिश्रमसे सावधानतापूर्वक बनाया था। इनमेंसे देवताओंने एक धनुष (जिसे तुमने तोड़ा है) महादेवजीको दिया जिससे उन्होंने त्रिपुरासुरका नाश किया, और दूसरा विष्णुभगवान्‌को दिया। (वाल्मी० १।७५।११-१३।)। उस समय देवताओंने ब्रह्माजीसे पूछा कि विष्णु और शिवमें कौन अधिक बलवान् है।—'शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबल निरीक्षया। १५।' उनका अभिप्राय समझकर तथा दोनों धनुषोंमें कौन श्रेष्ठ है यह जाननेके लिये ब्रह्माजीने दोनोंमें विरोध करा दिया, जिससे महान् रोमांचकारी युद्ध हुआ। शिवजीका महापराक्रमी धनुष ढीला पड़ गया और विष्णुके हुंकारसे उस समय शिवजी स्तम्भित हो गए। चारणों और ऋषियों सहित देवताओंने आकर दोनोंसे शान्त होनेकी प्रार्थना की। तब दोनों अपने अपने स्थानको चले गए। अपनी हार देख शिवजीने क्रुद्ध होकर अपना धनुष बाणसहित राजर्षि देवरातको दे दिया।—'धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः। २०। देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्त ससायकम्। १।७५।२१।' (वाल्मी०)।

हनुमन्नाटक तथा अध्यात्मरामायणका मत है कि इस धनुषसे त्रिपुरासुरका वध भगवान् शंकरने किया और उसके पश्चात् जनकमहाराजको सौंप दिया था, यथा "शम्भौ यद्गुणवल्लरीमुपनयत्याकृष्य कर्णान्तिकं, भ्रश्यन्ति त्रिपुरावरोधसुदृशां कर्णोत्पलग्रन्थयः। स्वं चास्फालयति प्रकोष्ठकमिमामुन्मुच्य तासामहो, भिद्यन्ते वलयानि दाशरथिना तद्भग्नमैशं धनुः। हनु० १.२४।", अर्थात् त्रिपुरासुरके रनवासकी स्त्रियोंके कर्णोंके कमलोंकी ग्रंथियाँ, जिस धनुषकी प्रत्यंचाके शिवजीके द्वारा कानपर्यन्त खींचे जानेपर, टूट जाती थीं और जिसकी उसी प्रत्यंचाका उतारकर, अपने ही प्रकोष्ठकको आस्फालित करनेके समय उन्हीं स्त्रियोंके कंकण टूट जाते थे, वही शिवजीका धनुष श्रीरामचन्द्रजीने तोड़ डाला। पुनश्च यथा 'भव्यं यत्त्रिपुरेन्धनं धनुरिदं। हनू० १.३४।' अर्थात् त्रिपुरासुर जिसका ईंधन है वही यह शंकरका धनुष। पुनश्च यथा "मत्पितामहगेहे तु न्यासभूतमिदं धनुः। ६८। ईश्वरेण पुरा क्षिप्तं पुरदाहादनन्तरम्।" (अध्यात्म रा० १।६)। अर्थात् पूर्व कालमें श्रीमहादेवजीने त्रिपुरासुरको भस्म करनेके अनन्तर यह धनुप मेरे दादाके यहाँ धरोहररूपमें रक्खा था। (यह जनकमहाराजने श्रीवशिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीसे कहा है)। ब्रह्माण्डपुराण और महाभारतमें भी त्रिपुरका नाश करके मिथिलापुरीमें धनुषका रखना कहा है।

श्रीगोस्वामीजीके मतानुसार यह धनुष पुरके पूर्व दिशामें, पुरके बाहर रक्खा था। वहीं रंगभूमि बनाई गई थी। शिवजीने इसे त्रिपुरासुरके वधके लिए खास तौरपर बनवाया था, जैसा कवितावलीसे सिद्ध है—"मयनमहन, पुर-दहन-गहन जानि, आनिकै सबैको सारु धनुप गढ़ायो है। जनक सदसि जेते भले भले भूमिपाल किए बलहीन बल आपनो बढ़ायो है॥ कुलिस कठोर कूर्मपीठ तें कठिन अति""। क० १। १०।" मानसमें भी इस धनुपके साथ त्रिपुरारि वा पुरारि शब्दोंका प्रयोग हुआ है। यथा "सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा। २५०।३।', 'धनुहीं सम त्रिपुरारि धनु बिदित सकल संसार। २७१।' इससे भी इसीसे त्रिपुरका नाश किया जाना सिद्ध होता है। धनुप जनकजीको सौंप दिया गया था, यह

गीतावलीमें भी कहा है; यथा 'अनुकूल नृपहिं सूल-पानि हैं। नीलकंठ कारुन्यसिंधु हर दीनबंधु दिन दानि हैं ।। जो पहिले ही पिनाक जनक कहँ गए सौंपि जिय जानि हैं । बहुरि तिलोचन लोचनके फल सबहिं सुलभ किये आनि हैं। गी० १।७८।' इस ग्रन्थसे भी यही सिद्ध होता है, यथा 'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा', इत्यादि।

राजा जनकने विश्वामित्रजीसे धनुषका अपने यहाँ रक्खे जानेका प्रयोजन कहकर फिर यह भी बताया कि यज्ञके लिये मैं हलसे खेत जोत रहा था। उस समय हलके अग्रभाग (सीता) की ठोकरसे एक कन्या पृथ्वीसे निकल आई, जो अपने जन्मके कारण 'सीता' के नामसे प्रसिद्ध हुई। मैंने इस अपनी अयोनिजा कन्याका शुल्क यही रक्खा कि जो इस (धनुष) को उठाकर इसपर रोदा चढ़ा दे उसीको यह व्याही जायगी। अनेक राजा आये। कोई भी इसे न उठा सका—'न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा। वाल्मी० १।६६। १६।' उन्होंने इससे अपनेको तिरस्कृत समझ नगरको घेर लिया। एक वर्षतक संग्राम होनेसे मेरे सब साधन नष्ट हो गये, तब मैंने तपस्याद्वारा देवताओंको प्रसन्नकर उनकी चतुरंगिणी सेना प्राप्त कर सबको पराजित किया।—यह वही धनुष है।

सत्योपाख्यानमें श्रीसीता-स्वयंवरके विषयमें यह कथा लिखी है कि श्रीजानकीजीकी महिमा देख श्रीसुनयना अम्बाजीने सोचा कि इनका विवाह इन्हींके अनुकूल पुरुषसे करना चाहिये और श्रीशीरध्वज महाराजसे उन्होंने अपना विचार प्रगट किया। राजा भी सहमत हुए और इसी संकल्पसे पृथ्वीपर कुशा बिछाकर उसपर सोये। शिवजीने स्वप्नमें दर्शन देकर यह आज्ञा दी कि तुम जिस हमारे धनुषका पूजन करते हो उसके विषयमें यह प्रतिज्ञा करो कि जो इसे तोड़ेगा उसीके साथ श्रीजानकीजीका विवाह किया जायगा। यथा "धनुर्मदीयं ते गेहे पूजितं तत्र पूर्वजैः। ३३। तस्य प्रतिज्ञा त्वया कार्या भंगाय तोलनाय च। तोलयित्वा च यो भंगं कारयेद्धनुषो मम। ३४। तस्मै देया त्वया कन्या ह्येवमुक्त्वा गतो हरः।" (उत्तर० अ० २)। सवेरे राजाने यह वृत्तान्त मंत्रियोंसे कह उनकी सम्मतिसे राजाओंको निमंत्रण भेजा, वे सब आए। रावणको भी निमंत्रण गया; उसका मंत्री प्रहस्त आया था। बाणासुर और काशिराज सुधन्वा भी (जो शिवभक्त थे) आये।''' (उत्तरार्ध अध्याय २)।'''धनुष कोई न उठा सका'''। सुधन्वाने कहा कि धनुषसहित सीताजीको हमें दे दो, नहीं तो हम तुम्हारा नगर लूट लेंगे। सालभर बराबर लड़ाई होती रही पर राजाने प्रतिज्ञा न छोड़ी। अन्तमें श्रीशिवजीकी कृपासे सुधन्वा मारा गया और काशी नगरी कुशध्वजको दे दी गई। राजाओंको फिर निमंत्रण भेजा गया। (अ० ३)।

धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञाके संबंधमें और भी कथाएँ हैं—(१) अध्यात्म रा० में पाणिग्रहणके पश्चात् जनकजीने श्रीवशिष्ठजी और श्रीविश्वामित्रजीसे बताया है कि एक दिन जब मैं एकान्तमें बैठा हुआ था, देवर्षि नारद आए और मुझसे कहा कि परमात्मा अपने चार अंशों सहित दशरथपुत्र होकर अयोध्यामें रहते हैं। उनकी आदि-शक्ति तुम्हारे यहाँ सीतारूपसे प्रकट हुई हैं। अतः तुम प्रयत्नपूर्वक इनका पाणिग्रहण रघुनाथजीके साथ ही करना, क्योंकि यह पहलेसे ही रामजीकी ही भार्या है-'पूर्वभार्यैषा रामस्य परमात्मनः। सर्ग ६। ६६।' देवर्षिके चले जानेपर यह सोचते हुए कि किस प्रकार जानकीजीको रघुनाथजीको दूँ, मैंने एक युक्ति बिचारी कि सीताके पाणिग्रहणके लिये सबके गर्वनाशक इस धनुषको ही पण (शुल्क) बनाऊँ। मैंने वैसा ही किया। आपकी कृपासे कमलनयन राम यहाँ धनुष देखनेको आगये और मेरा मनोरथ सिद्ध हो गया। (२) रानी प्रति दिन चौका दिया करती थीं। एक दिन अवकाश न मिलनेके कारण उन्होंने सीताजीको चौका लगानेको भेजा। इन्होंने धनुप उठाकर उसके नीचे भी चौका लगाया। यह समाचार सुन विस्मयपूर्वक राजाने शिवजीसे प्रार्थना की। (३) "एक समय जानकीजीने खेलते हुए सखियोंके सामने धनुषको उठा लिया। यह सुन राजाने धनुप-भंगकी प्रतिज्ञा की।" (४-५)—पांड़ेजी कहते हैं कि "एक कल्पकी कथा यों है कि राजा जनक अपने महलसे कुछ दूरीपर धनुप

की पूजा करने जाया करते थे। एक दिन सीताजी उनके साथ गईं। उन्होंने विचारकर कि पिताजी इसीकी पूजाके कारण परिश्रमकर यहाँ आते हैं, वे उसे उठाकर अपने घर ले आईं। दूसरे कल्पकी कथा यह है कि धनुषके आसपास सीताजी सखियों सहित चाईं-माईं खेल रही थीं, ओढ़नीका अंचल धनुषमें अटका और वह स्थानसे हट गया।'''इत्यादि। ऐसा चमत्कार देखकर राजा जान गए कि यह ब्रह्मविद्या (आदि-शक्ति) है जो इस धनुषको तोड़े उसके साथ इसका विवाह करना योग्य है''।

जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ। तहँ तहँ चकित चितव सबु कोऊ ॥६॥

निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा ॥७॥

शब्दार्थ—रुख=रुचि, यथा 'पति रुख लखि आयसु अनुसरेहू ॥ २.३३४.५ ॥', 'लखी राम रुख रहत न जाने ॥ २.७८.२ ॥', 'जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की। २.१२६।', 'राखि राम रुख धरम ब्रत पराधीन मोहि जानि ॥ २.२६३।' यह फ़ारसी शब्द है जिसका अर्थ है 'मुँह' 'चेहरा'। यथा 'संकर रुख अवलोकि भवानी। प्रभु मोहि तजेउ हृदय अकुलानी।' 'रुख' का अर्थ 'तरफ़; ओर; सामने' भी है। यथा 'मनहुँ मघा जल उमंगि उदधि रुख चले नदी नद नारे।' पुनः 'रुख' का अर्थ 'भावना' भी ऊपरके प्रसंगानुसार लगा सकते हैं। चकित=चकपकाये हुए तथा आश्चर्यान्वित।

अर्थ—जहाँ जहाँ दोनों सुन्दर श्रेष्ठ राजकुँवर जाते हैं वहाँ वहाँ सब लोग चकित हो देखने लगते हैं।६। सबने रामजीको अपनी अपनी रुचिके अनुसार एवं अपनी अपनी ओर मुख किये हुए देखा। किसीने भी कुछ विशेष मर्म (रहस्य, भेद) न जान पाया ॥ ७ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'जहँ जहँ जाहिं कुँअर बर दोऊ०' इति। 'चकित चितव' का भाव कि (प्रथम दोनों भाइयोंको दूरसे देखा था, अब) निकट आनेपर शोभा अधिक और भली प्रकार देख पड़ी, इससे चकित होकर देखने लगे। इसी तरह श्रीजानकीजी जबतक दूरसे देखती रहीं तबतक उनका चकित चितवना (चकित होकर देखना) न कहा पर जब वे समीप जाकर छबि देखने लगीं तब उनका विदेह होना कहा। यथा 'जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी ॥ २६४.४ ॥' (ख)—'सब कोऊ' कह कर जनाया कि दोनों कुँवर सब जगह और सब तरफ़ गए, कारण कि राजाने मुनिको सारी रंगभूमि चारों तरफ़ घुमाकर दिखाई, यथा 'रंग अवनि सब मुनिहि देखाई।' जहाँ जहाँ मुनि जाते हैं तहाँ तहाँ दोनों भाई भी साथ जाते हैं, इसीसे कहा कि 'जहँ जहँ जाहिं'''चितव सब कोऊ'। (ग) 'कुँअर बर' का भाव कि जो रूप और गुण पूर्व विस्तारपूर्वक वर्णन कर आए वह सब 'बर' पदसे ग्रहण कर लिया गया। तात्पर्य्य कि रूप, गुण और वीरता सभीमें सबसे श्रेष्ठ हैं, इसीसे सब चकित हो देख रहे हैं। (घ) पूर्व कहा था कि 'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे' और यहां कहते हैं कि 'चकित चितव सब कोऊ'। भेदमें भाव यह है कि प्रथम जब आकर रंगभूमिमें खड़े हुए तब लोग एकटक देखते रहे और जब रंगभूमि देखने चले तब लोगोंको दर्शनमें विक्षेप पड़ा, एकटक देखना बंद होगया। अब जहां जहां जाते हैं वहां वहांके लोग चकित देख रहे हैं, इस भावको दरसानेके लिये प्रथम एकटक देखना कहा और अब चकित होकर देखना कहा।

२ (क) 'निज निज रुख०' इति। रुख=इच्छा। 'कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा' इति। भाव कि सब लोग अद्भुत रूप देखनेमें लगे हैं, कोई अपना हाल दूसरेसे नहीं कहता कि हमको ऐसी मूर्ति देख पड़ती है, बात यह है कि किसीने यह नहीं जाना कि औरोंको और कुछ दिख रहा है। अपने आनंदमें अथवा भयमें दूसरेसे कौन पूछता और कौन कहता ? और श्रीरामजी अपना ऐश्वर्य छिपाते हैं; यथा 'हरि-जननी बहु बिधि समुझाई। यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ॥ २०२।८ ॥', 'मास दिवस कर दिवस भा

मरम न जानइ कोइ । १९५ ।', 'छन महँ सबहिं मिले भगवाना । उमा मरम यह काहु न जाना', 'तेहि कौतुक कर मरम न काहूँ । जाना अनुज न मातु पिताहूँ ॥ ७.६६ ॥' इत्यादि । इसीसे किसीने न जाना । जिसे जैसा देख पड़ा वैसाही उसने जाना, दूसरेका हाल न जाना—यही 'विशेष मर्म' है । अयोध्याकांडमें भी कहा है 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी । तेहितेहिकै तसितसि रुख राखी ॥ २।२४४।२ ॥' पुनः, (ख)—नवरसमय मूर्ति ऊपर कही गई, उसमेंसे एकही एक रस सबने जाना । 'कछु' का भाव कि नवों रसोंकी कौन कहे एक छोड़ दो रस भी किसीको न मालूम हुए ।

नोट—'रुख' का दूसरा अर्थ सम्मुख भी किया जाता है, यथा 'सुरपति बसइ बाँह बस जाके । नरपति सकल रहहिं रुख ताके ।'—(पांड़ेजी) । यह फारसी शब्द है । अर्थात् सबको अपने सामने देख पड़े, पीठ किसीकी ओर नहीं । इस अर्थसे 'जिन्हके लहहिं न रिपु रन पीठी' चरितार्थ होता है । शत्रुने भी पीठ नहीं देखी । यह भी विशेष मर्मकी बात है जो किसीने न जानी कि 'विश्वतो मुख राम' येही हैं । वेदों के 'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं' ये ही हैं । (रा० प्र०) । यह अद्‌भुत रस है । वीरकविके मतसे यहां 'तृतीय विशेष अलंकार' है ।

प० प० प्र०—'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला । देखन चले धनुष मख साला ॥ २४०।४ ।' के 'कृपाला' शब्दकी सार्थकता यहां बताई । धनुषमखशाला देखनेके समयमें ही सब लोगोंपर ऐसी कृपा की कि सबको राम-लक्ष्मण अपने सामने देख पड़े । एक अनूठी बात और देखिए कि यहां दोहा २४४ में विश्वरूप दिखाने की लीलाकी गई, वैसेही अयोध्याकांडमें भी दोहा २४४ में ही यह लीलाकी गई है । यथा 'आरत लोग राम सब जाना । करुनाकर सुजान भगवाना । जो जेहि भाय रहा अभिलाषी । तेहि तेहिकै तसितसि रुख राखी ॥ सानुज मिलि पलमहुँ सब काहू ।...' । लक्ष्मणभी ऐसेही देखनेमें आए, यह मानना आवश्यक है, अन्यथा 'कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा' यह असंभव हो जाता । इस लीलासे दो कार्य सिद्ध हुए—आर्तलोगोंपर कृपा और दुष्ट राजाओंको पीठ न दिखाना ।

पं० राजारामशरणजी—१ पहली दो अर्धालियोंके सहारेसे फिल्मकला नवरसोंवाली भावनाकी एककी अनेक मूर्तियां दिखा सकती है, कारण कि राजकुँवर फिर रहे हैं और इसलिए द्रष्टाओंका समूह बदल रहा है और भावोंके आवरणोंके सहारेसे दृश्यभी । २—कला नाटकीय है, इससे रंगभूमिके दिखाने के बहानेसे राजकुँवरोंका भ्रमण कितना स्वाभाविक है ।

भलि रचना मुनि नृप सन कहेऊ । राजा मुदित महासुखु लहेऊ ॥८॥

दोहा—सब मंचन्ह तें मंचु एकु सुंदर बिसद बिसाल ।
मुनि समेत दोउ बंधु तहँ[1] बैठारे महिपाल ॥२४४॥

अर्थ—मुनिने राजासे कहा—रचना बहुत अच्छी है । (रचनाकी प्रशंसा सुनकर) राजा प्रसन्न हुए और उनको महान् सुख प्राप्त हुआ ॥ ८ ॥ सब मंचोंसे एक मंच अधिक सुंदर, उज्ज्वल (स्वच्छ) और ऊँचा एवं लंबा चौड़ा था । जनकमहाराजने मुनिसमेत दोनों भाइयोंको उसपर बैठाया ॥ २४४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भलि रचना' इति । इसका प्रसंग 'करि बिनती निज कथा सुनाई । रंग अवनि सब मुनिहिं देखाई' पर छोड़ा था । वहींसे इसका संबंध है । राजाने मुनिको जब सब रंगभूमि दिखा दी, यथा 'रंग अवनि सब मुनिहि देखाई' तब मुनिने उसकी प्रशंसा की । यदि बीचमें प्रशंसा करते तो संभव

१ बर—१७०४

था कि वे समझते कि कुछ रचना अच्छी है (जिसके सम्बंधमें वे बोले हैं) और कुछ अच्छी नहीं है, इसीसे उसके संबंधमें उन्होंने कुछ न कहा।—इससे दिखाया कि मुनि व्यवहारमें भी बड़े कुशल हैं। (ख) 'भलि रचना' अर्थात् सारी रचना बहुत सुन्दर है, सब रंगभूमि बिचित्र बनी है, कहींभी कोई कसर (त्रुटि) नहीं है। (ग) 'राजा मुदित०', । इति। प्रशंसा करनेसे राजा प्रसन्न हुए, इससे पाया गया कि इसीलिए राजाने रंगभूमि दिखायी थी कि मुनि प्रसन्न हों। राजाने रंगभूमि दिखाकर मुनिको प्रसन्न किया वैसेही मुनिने उसकी प्रशंसा करके राजाको प्रसन्न किया। (घ) 'नृपै सन कहेऊ' का भाव कि यदि श्रीरामजी लक्ष्मणजी या अन्य किसीसे कहते तो पाया जाता कि प्रशंसा केवल राजाको प्रसन्न करनेकेलिये की, वस्तुतः कुछ ऐसी बहुत अच्छी नहीं है, स्वयं राजासे कहनेसे पाया गया कि यथार्थही कह रहे हैं, केवल राजाके संतोषार्थ नहीं। (ङ)—'महासुखु लहेऊ', क्योंकि विश्वामित्रजीको ब्रह्मांड रचनेका सामर्थ्य है, (राजा त्रिशंकुके लिये उन्होंने दूसरा स्वर्गही रच दिया था), अतः जब वेही प्रशंसा कर रहे हैं तो हमारा परिश्रम सफल होगया, इसमें कोई त्रुटि नहीं है। यह समझकर महान् सुख हुआ। अथवा भाव कि मुनिको रंगभूमि देखने से 'सुख' हुआ और राजाको उसकी प्रशंसा सुनकर 'महा सुख' हुआ। [दूसरे, मुनि त्रिकालज्ञ हैं, इनकी प्रसन्नतासे हमारी प्रतिज्ञा अवश्य पूर्ण होगी। (पंजाबीजी)। 'भलि रचना'—मुनिके मुखसे निकले शब्द कितने कम पर कितने पूर्ण हैं। मुनि गंभीरस्वभाव और मननशील होते हैं, अधिक बोलते नहीं। इसीसे राजाको बड़ा सुख हुआ, मानों उनका रचना संबंधी उद्योग सफल हुआ।—(लमगोड़ाजी)]

२ 'सब मंचन्ह तें०' इति। इससे पाया गया कि यह मंच इन्हींके लिये बचा रक्खा था, रिजर्व कर रक्खा था। यह सबसे सुन्दर है, अर्थात् इसकी बनावट, कारीगरी औरोंसे विशेष है। विशद है अर्थात् इसमें दिव्य मणियोंका प्रकाश हो रहा है। [सबसे सुन्दर, विशद और विशाल मंचपर बैठानेके कारण ये हैं कि—(क) ये चक्रवर्ती राजकुमार हैं, अतः सब राजाओंसे बड़े हैं। (ख) ये इक्ष्वाकुवंशी हैं जिससे निमिवंश चला, अतः अपने समझकर। (ग) विश्वामित्र महामुनि इनके साथ और सहायक हैं, उनके विचारसे। (घ) देवयोगसे प्रतीति इनके सामर्थ्यमें हुई, अनायास होनिहारने ऐसा कराके शुभ शकुनकी सूचना दी। क्योंकि जान पड़ता है कि यह मंच धनुष तोड़नेवाले विजयी राजाके लिये ही निर्माण किया गया था जिसपर धनुष तोड़नेपर वह राजा बिठाया जाता। गीतावलीमें आसनका वर्णन इस प्रकार है—"सानुज सानंद हिये आगे ह्वै जनक लिये, रचना रुचिर सब सादर देखाइ कै। दिये दिव्य आसन सुपास सावकास अति आछे आछे बीछे बीछे बिछौना बिछाइ कै॥ भूपति किसोर दुहुँ ओर बीच मुनिराउ, देखिबेको दाउँ देखो देखिबो बिहाइ कै। उदय सैल सोहैं सुंदर कुँअर जोहैं मानो भानु भोर किरनि छिपाइ कै। १। ८२॥"]

३ (क) 'मुनि समेत दोउ बंधु०' इति। यहाँ राजाओंकी सभा है, राजाओंकी प्रधानता है, इसीसे 'मुनि समेत' शब्द देकर यहाँ श्रीरामलक्ष्मणजीकी प्रधानता कही। इस प्रसंगके प्रारंभमें भी इनकी प्रधानता २४० (४) 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुषमखसाला' में कह आए हैं। इस प्रसंगभरमें इन्हींकी प्रधानता है। श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे, इससे वे मुख्य हैं और श्रीलक्ष्मणजीका भी यहाँ बड़ा काम है। श्रीजनकजीके वचनोंपर क्रोध और परशुरामगर्वभंजनमें ये ही तो मुख्य हैं। अतः दोनों भाइयोंकी प्रधानता कही। (ख) 'बैठारे महिपाल' कहकर जनाया कि औरोंको कामदार, मंत्री, नायक, बंदीगण इत्यादि सेवकोंने बिठाया और इनको स्वयं राजाने बिठाया। यह अत्यंत आदर सत्कार सम्मान है। (विश्वामित्रजीके सर्वोत्तम मंचपर आसीन होनेमें किसी राजाको आपत्ति नहीं हो सकती थी। (वि० त्रि०)।

नोट—जानकीमंगलमें उपर्युक्त चौपाइयोंसे मिलता हुआ अंश यह है—"लै चले देखावन रंगभूमि अनेक बिधि सनमानि कै। कौसिक सराही रुचिर रचना जनक सुनि हरषित भए। तब राम लषन समेत मुनि कहँ सुभग सिंहासन दए।३०।" रचनाकी सराहनासे ही दोनों जगह हर्षित होना कहा गया है।

प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेश उदय भये तारे ॥१॥
असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक नाहीं ॥२॥
बिनु भंजेहु भव-१ धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम उर२ माला ॥३॥
अस बिचारि गवनहु घर भाई। जसु प्रतापु बलु तेजु गँवाई ॥४॥

शब्दार्थ—सक (फा० शक)=संदेह। भव=शंकरजी। मेलना=डालना।

अर्थ—प्रभुको देखकर सब राजा हृदयमें हार गए अर्थात् निराश हो उदास, उत्साहहीन और मलिन हो गए। (ऐसे मालूम होते हैं) मानों तारे हैं जो पूर्णचन्द्रके उदय होनेसे प्रकाशहीन हो गए हैं वा फीके पड़ गए हैं ॥ १ ॥ सबके मनमें ऐसा विश्वास जम गया है कि श्रीरामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे, इसमें शक शुबह (संदेह) नहीं है ॥ २ ॥ शिवजीके भारी धनुषको बिना तोड़े भी श्रीसीताजी श्रीरामचन्द्रके ही गलेमें जयमाल डालेंगी ॥ ३ ॥ हे भाइयो ! ऐसा विचारकर अपने यश, प्रताप, बल और तेज सब गँवाकर ❋अपने अपने घर चलो ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे०' इति। यहाँ पूर्वापर प्रसंगका संबंध मिलाते हैं। 'देखहिं रूप महारनधीरा। मनहु बीररस धरे सरीरा' इसका उपक्रम है। वहाँ राजाओंका प्रभुको देखना कहा था, अब यहाँ बताते हैं कि देखनेपर उनकी क्या दशा हुई। वे श्रीरामजीके तेजविशेषको देखकर सीताजीकी प्राप्तिसे निराश हो गए, जैसा आगे स्पष्ट है। (ख) उपक्रममें भाइयोंको पूर्णचंद्र कहा था; यथा 'राज समाज बिराजत रूरे। उडगन महँ जनु जुग बिधु पूरे', यहाँ उपसंहारमें 'राकेश' शब्द देकर पूर्णचन्द्र जनाया। राका (=पूर्णिमा)+ईश (=स्वामी)=पूर्णचन्द्र। 'राका निशाकरे इत्यमरः'। (ग) जब मंच पर बैठ गए तब उनका उदय कहा क्योंकि सूर्य्य और चन्द्र ऊँचेपरसे उदय होते हैं, यथा 'उदित उदय-गिरि-मंचपर रघुबर बाल पतंग'। (घ) [यहाँ 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। हृदयमें हारनेमें 'प्रभुहि देखि' पद दिया अर्थात् तेज और सामर्थ्य देख हार गए। 'जानकी मंगल' में राजाओंके निराशाका कारण यह कहा है कि श्रीजनकजी अपना प्रण इनके लिये छोड़ देंगे। यथा 'भे निरास सब भूप बिलोकत रामहिं। पन परिहरि सिय देब जनक बरु स्यामहिं। कहहिं एक भलि बात ब्याहु भल होइहिं। बर दुलहिनि लगि जनक अपन पन खोइहि। ३६।' और साधु राजाओंको ऐसा प्रतीत हुआ कि 'अवसि रामके उठत सरासन टूटिहि। गवनिहि राजसमाज नाक अस फूटिहि।···३७।']

२ 'असि प्रतीति सबके मन माहीं।···' इति। (क) सब राजा हृदयमें हार गए हैं; इसीसे 'सबके मनमें ऐसा विश्वास होना कहा। 'हिय हारे' कहकर अब हृदयकी बात कहते हैं, मन हृदय है। 'राम धनुष निस्संदेह तोड़ेंगे' यह सबके मनमें है। चन्द्रमा मनका स्वामी है, अतः उसने मनमें प्रतीति कराई। (ख) पूर्णचन्द्रकी उपमा देकर जनाते हैं कि विश्वासका कारण श्रीरामजीका तेज है। वे तेजस्वी हैं, चन्द्रमाके समान उनका तेज है, तेजस्वी लघु नहीं होते; यथा 'बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिय न रानी। २५६।७।'; जैसे चतुर सखीके वचन सुन श्रीसुनयनाजीको प्रतीति हुई—'सखी बचन सुनि भइ पर-

१ शिव धनुक—१७०४। सिव धनुष-रा० प्र०। २ जयमाला—१७०४।

❋ पं० रामकुमारजीका अर्थ—'अपने अपने घर जाओ, नहीं तो यश प्रताप बल तेज गँवा जायगा।'

तीती'; वैसे ही यहाँ उनका तेज देखकर सब राजाओंको रामजीके धनुष तोड़नेका निश्चय होता है। और मूर्तिमान् वीररस देख पड़ते हैं इससे स्वयं हृदयमें हार गए। ☞यहाँ 'सब' शब्द उन्हीं राजाओंका बोधक है, जो हृदयमें हार गए हैं। अथवा, विश्वास तो सबके मनमें यही है, पर जो कुटिल भूप हैं वे उसे प्रकट नहीं करेंगे, इसीसे 'मन माहीं' कहा गया]।

३ 'बिनु भंजेहु भव धनुष बिसाला०' इति। "कहीं निश्चय है, कहीं संदेह है और कहीं निश्चय और संदेह दोनों हैं। जैसे भरतजीके विचारमें कहीं दृढ़ निश्चय और कहीं संदेह कहा गया है, यथा 'मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई' यह दृढ़ता है। और, 'बीते अवधि रहैं जो प्राना। अधम कवन जग मोहि समाना' यह संदेह है—वैसे ही यहाँ भी दोनों बातें कहते हैं, एक तो यह कि ये तेजस्वी हैं अवश्य धनुष तोड़ेंगे। दूसरे, कोमलता सुकुमारता और भवधनुषकी कठोरताका विचार जब आ जाता है तब कहते हैं कि 'बिनु भंजेहु०'। अर्थात् यदि धनुष किसीसे न टूटा, तब क्या सीताजी कुँआरी ही रहेंगी? कदापि नहीं। किसी न किसीको अवश्य व्याही जायेंगी। जयमाल स्वयंवर होगा। ☞इस तरह यहाँ रणधीर राजा श्रीसीताजीकी प्राप्तिकी दो विधियाँ बता रहे हैं और दोनों प्रकारसे निश्चय कर रहे हैं कि वे श्रीरामजीको ही प्राप्त होंगी। एक तो धनुषके टूटनेसे (जो मुख्य विधि है)। दूसरे, वे सोचते हैं कि संभव है कि उनसे भी धनुष न टूटे। तब भी तो ऐसा सुन्दर पुरुष कोई और नहीं है कि जिसको श्रीजानकीजी जयमाल डालें। अतएव सब प्रकारसे रामजीको ही प्राप्त होनेका निश्चय करते हैं।

४☞देखिए, यहाँ गोस्वामीजीके शब्दोंकी योजना और उनका चमत्कार। जब यह कहा कि 'राम अवश्य धनुषको तोड़ेंगे, इसमें किंचित् संदेह नहीं' तब तो धनुषके लिये बहुत हलका और छोटा शब्द 'चाप' प्रयुक्त किया। अर्थात् उस धनुषमें है ही क्या जो उनसे न टूटे? और जब कहा कि 'बिनु भंजेहु' अर्थात् उनसे न टूटे तब उसके साथ 'भव-धनुष-बिसाला' इतने और कठोरतासूचक शब्दोंका प्रयोग किया अर्थात् एक तो यह धनुष 'भव' (महादेव) का है, दूसरे 'विशाल' है अतः संभव है कि न भी टूटे। श्रीरामजी बलवान् हैं, तेजस्वी हैं, वीररसकी मूर्ति हैं, अतएव वे धनुषको तोड़कर श्रीसीताजीको ब्याहेंगे। पुनः, वे (श्रीरामजी) परम सुन्दर हैं अतः श्रीसीताजी उनके ही गलेमें जयमाल डालेंगी। दोनों तरहसे श्रीजानकीजी उन्हींको प्राप्त होंगी।

५ 'अस बिचारि गवनहु घर भाई।०' इति। (क) 'अस बिचारि०' अर्थात् विचार करनेपर ऐसी हालतमें यहाँ बैठनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। अभी चले जानेसे यशादिमें बट्टा न लगेगा। पीछे टूटनेपर यह कह सकोगे कि हम तो रहे नहीं। (ख) मनमें जो प्रतीति रही वही मनका विश्वास अब बचन से सबको सुनाकर कहते हैं अतः कहा कि 'अस बिचारि०'। (ग) यश, प्रताप, बल और तेज राजाओंमें होता है, इसीसे उनका नष्ट होना कहते हैं। यश नष्ट होनेपर प्रताप नष्ट होता है, प्रताप नष्ट होनेसे बल नष्ट होता है और बलके नष्ट होनेसे तेज नष्ट होजाता है। यश सबका मूल है, इसीसे उसको सबसे प्रथम कहा। (घ) धनुष जबतक बना है तबतक यश बना है, उसके टूटनेपर सब नष्ट हो जायेंगे, यथा 'बल प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई'। अतः कहा कि अभी चले जाना अच्छा है।

वि० त्रि०—बच्चोंसे पराभव हुआ इससे यशादि सब गये। सद्गुणकी निर्मल ख्याति यश है—'साद्गुण्यैर्निर्मलैः ख्यातः कीर्तिमानिति कथ्यते'। शत्रुका पौरुषोद्भूत तापक प्रताप है—'प्रतापी पौरुषोद्भूतशत्रुतापि प्रसिद्धि भाक्।' महत् प्राणसे पूर्ण होना ही बल है—'प्राणेन महतापूर्णो बलीयान् इति कथ्यते।' अवज्ञाका सहन न करना ही तेज है—'तेजो बुधैरवज्ञादेरसहिष्णुत्वमुच्यते।

नोट—बाबा हरीदासजी 'गवाई' के दो अर्थ 'गँवाई' और 'गवाई' करके भाव लिखते हैं कि घर

चले जानेसे तुम्हारा 'यशादि गाया जायेगा, ऐसा करके यश गवाते चलो", सब यही कहें कि बड़े धर्मज्ञ और विचारमान थे कि रामजीको पहचान गए कि ये परमेश्वर हैं और इसीसे धनुषको न छुआ। नहीं तो यशादि सब 'गँवा देंगे'।

बिहसे अपर भूप सुनि बानी। जे अबिबेक अंध अभिमानी ॥५॥
तोरेहु धनुषु ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा ॥६॥
एक बार कालउ किन होऊ। सियहित समर जितब हम सोऊ ॥७॥
येह सुनि अवर[1] महिप मुसुकाने। धरम सील हरि भगत सयाने ॥८॥

शब्दार्थ—अवगाह (अवगाध) = अनहोनी, असंभव, कठिन। अवर = और, अपर, दूसरे।

अर्थ—दूसरे राजा जो मोह-अज्ञानसे अंधे हो रहे थे, अभिमानी थे, वे इनके वचनोंको सुनकर बहुत हँसे (और बोले) धनुष तोड़नेपर भी विवाह अगम्य है, कठिन है, फिर भला बिना धनुष तोड़े राजकुमारी-को कौन ब्याह सकता है? ।६। कालही क्यों न हो एकबार तो श्रीसीताजीके लिये उसे भी हम संग्राममें जीत लेंगे ॥ ७ ॥ यह सुनकर और राजा जो धर्मात्मा, भगवद्भक्त और सयाने थे वे मुस्कुराए ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिहँसे अर्थात् ठट्ठा मारकर हँसे इस तरह उनकी बातका निरादर किया। (ख) 'अपर भूप' कहकर जनाया कि प्रथम जो बोले कि बिचार करो, वे मनुष्य राजा थे (अथवा, ये वह थे जिन्हें रामजी वीररसकी मूर्ति देख पड़े। वही क्रम यहाँ भी है) और 'जे अबिबेक अंध अभिमानी' ये राजा राक्षस हैं (अथवा कुटिल और असुर हैं जिन्हें प्रभु भयानक और काल देख पड़े)। और आगेके 'येह सुनि अवर महिप मुसुकाने ।०' ये राजा देवता हैं (अथवा 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भाई' वालोंमेंसे हैं)—मनुष्य, असुर और देवता तीनोंका यज्ञमें आना स्पष्ट कहा गया है, यथा 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा'। (ग) 'जे अबिबेक अंध अभिमानी' इति। अर्थात् विवेकरूपी नेत्रसे रहित हैं। विवेकको नेत्र कहा है, यथा 'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन', 'निरखि बिबेकबिलोचनन्हि०' इत्यादि। राजाओंने विचार करनेको कहा, उसपर इन्होंने विचार न किया, उलटे उनकी बातका निरादर किया अतः इनको अविवेकी कहा। अविवेकी होनेसे अंधा कहा, यथा 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना।' पुनः, श्रीरामजीका तेज भी देखकर इनको ज्ञान न हुआ अतः अंधा कहा। और, अंधे हैं इसीसे अपने पराक्रमके अभिमानी हैं। पुनः 'अविवेकसे भीतरके ज्ञान विराग नेत्रोंसे रहित जनाया और 'अंध' से बाहरके नेत्रोंसे रहित कहा, क्योंकि बाहर इनका तेज देखकर भी नहीं सूझता। (वा, 'अस बिचारि०' के संबंधसे अविवेकी, 'जनु राकेस उदय भए तारे' के संबंधसे अंधे और 'तोरेहु धनुष०' के संबंधसे अभिमानी कहा)।

२ (क)-'ब्याहु अवगाहा' अर्थात् अथाह है। बड़े गहरेमें है। तात्पर्य्य कि इसके बीचमें हमारा संग्राम रूपी सागर भरा हुआ है। 'एक बार कालहु किन होई ।०' यही 'समर'-सागर है, यथा 'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर-सागर कहँ बेरे'। 'अवगाह' शब्द 'अथाह' के अर्थ में ग्रंथमें बराबर प्रयुक्त हुआ है। यथा 'खल अघ अगुन साधु गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा।' और जब संग्राम छिड़ जायगा, हुल्लड़ मच जायगा तब कौन जानता है कि 'जानकी' किसके हाथ लगेगी? (ख) ☞ यह अर्धाली 'बिनु भंजेहु भव धनुष बिसाला। मेलिहि सीय राम उर माला' का उत्तर है। ☞ 'जे अबिबेक अंध अभिमानी' के 'अविवेक' को यहाँ चरितार्थ किया, आगे 'एक बार०' में अभिमानीको चरितार्थ करते हैं। (ग)-पहले

१ अपर भूप—१७०४, को० रा०। अपर महिप—छ०। अवर महिप—१६६१, १७२१, १७६२।

अर्थ—राजाओंके गर्वको दूर करके श्रीरामचन्द्रजी श्रीसीताजीको व्याहेंगे। महाराजदशरथके रणमें बाँके पुत्रोंको संग्राममें कौन जीत सकता है? ॥२४५॥

शब्दार्थ—बाँकुरे = प्रबल, बाँके, कुशल, विकट वा चतुर, यथा 'प्रभु प्रताप उर सहज असंका। रन बाँकुरा बालिसुत बंका', 'जौ जगबिदित पतितपावन अति बाँकुरे बिरुद न बहते' इति विनये।

टिप्पणी—१ (क) अभिमानी राजाओंके 'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा' अर्थात् हमही 'कुँअरि' को ब्याहेंगे (चाहे धनुष कोई भी तोड़े और चाहे धनुष किसीसे न भी टूटे, दोनों हालतोंमें) इसका उत्तर देते हैं कि 'सीय बिआहबि राम', सीताजीको तो राम ही ब्याहेंगे। और, 'एक बार कालउ किन होई। सियहित समर जितब हम सोई' का उत्तर है कि 'जीति को सक संग्राम दसरथ के रन बाँकुरे' एवं 'गरबु दूरि करि नृपन्ह के'। गर्व दूर करके व्याहेंगे अर्थात् धनुष तोड़कर और सब राजाओंको जीतकर दोनों प्रकारसे गर्व चूर कर डालेंगे। (ख) 'दसरथ के' कहनेका भाव कि दशरथमहाराज ही को तुम नहीं जीत सके तभी तो वे चक्रवर्ती महाराज हैं, वे तो देवराज इंद्रतकके सहायक हैं, इन्द्र उन्हींके बाँहु बलसे बसे हुए हैं, यथा 'सुरपति बसइ बाँहबल जाकें। नरपति सकल रहहिं रुख ताके। २।२५।' 'रन बाँकुरे' कहनेका भाव कि इन्हें केवल पिताहीका बल नहीं है, ये तो स्वयं ही रणमें बड़े धीर और वीर हैं, इन्होंने ताड़का, सुबाहु आदिको सेनासहित मार डाला और तुम तो मनुष्य हो, उन राक्षसोंसे अधिक प्रबल नहीं हो, तब तुम क्या खाकर इनको जीतोगे? 'जीति को सक०' में वक्रोक्ति है। [छल छोनियोंसे कहते हैं 'जीतिको सक...'। भाव कि उनसे तुम्हारी माया नहीं चल सकेगी। वे रणबाँकुरे हैं। रणबाँकुरे मायाका मर्दन करते हैं। यथा 'हनुमंत अंगद नील नल अतिबल लरत रनबाँकुरे। मर्दहिं दसानन कोटि कोटिन्ह कपट भूभट अंकुरे।' और ये तो दशरथके रणबाँकुरे हैं। (वि० त्रि०)]

☞ मिलान कीजिए—"सुचि सुजान नृप कहहिं हमहिं अस सूझइ। तेज प्रताप रूप जहँ तहँ बल बूझइ। चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु। बिधि बस बलउ लजान सुमति न लजावहु। (जा०मं०३७)

१ब्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मन मोदकन्हि कि भूख २बुताई ॥१॥
सिखि हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥२॥

शब्दार्थ—गाल बजाना = डींग मारना। मोदक=लड्डू। बुताना = बुझाना।

अर्थ—गाल बजाकर व्यर्थ मत मरो। क्या मनके लड्डुओंसे (भी कहीं) भूख बुझ सकती है? ॥१॥ हमारी परम पवित्र शिक्षा सुनकर श्रीसीताजीको अपने जी (हृदय) से जगज्जननी जगत्-माता समझो ॥२॥

टिप्पणी—१ (क) बहुत लोग दिनरात गाल बजाया करते हैं पर वे मरते तो नहीं, तब यहाँ 'मरहु' कैसे कहा? ठीक है, गाल बजानेसे कोई मरता नहीं पर जिस तरहका गाल ये बजा रहे हैं ऐसे गाल बजानेसे मृत्यु आ ही जाती है। 'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा' इत्यादि बातें जो अभिमानी राजाओंने कहीं, उसीपर धर्मात्मा राजा कहते हैं कि ऐसी बातें बताकर व्यर्थ ही मरते हो। तात्पर्य कि तुम्हें सीताजी तो मिलेंगी ही नहीं (और व्यर्थ कल्लेदराजी गपोलबाजी करोगे तो पहले ही रण छिड़ जायगा और) व्यर्थ ही तुम्हारे प्राण जायँगे, तुम मारे जाओगे (बातोंके शूर इसी तरह व्यर्थ प्राण गँवाते हैं)। ['गाल बजाना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है—डींग मारना, बढ़ बढ़कर बातें करना, व्यर्थ बकवाद करना, मिथ्या प्रलाप करना। यथा 'पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा। गाल बजावत तोहि न लाजा', 'बलवान है स्वान गली अपनीं

---

१ वृथा—१७०४। २ बताई-१६६१, १७२१, १७६२, छ०। बुताई-१७०४, को० रा०। रा० प्र० में भी 'बताई' पाठ है।

तोहि न गाल बजावत सोहै' । बहुत डींग मारने इत्यादि का परिणाम यह मिलेगा कि मारे जाओगे। 'मरहु' से जनाया कि अपनी मौत अपने हाथों बुलाते हो। 'जानकी मंगल' में भी सज्जन राजाओंने कहा है—'चितइ न सकहु राम तन गाल बजावहु।' अर्थात् तुम लोग श्रीरामकी ओर ताकनेको भी समर्थ नहीं हो, उनका ऐसा ही तेज, प्रताप, रूप और बल है; व्यर्थ ही बकवाद कर रहे हो।] (ख) 'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' इति। राजकिशोरीकी प्राप्तिकी इच्छा करना मनके लड्डू खाना है। ['कालहु सिय हित समर जितब' यह कहना मनका लड्डू खाना है। भला तुम्हारा सामर्थ्य कालको रणमें जीतनेका है ? समझो, क्या कह रहे हो ? (त्रि० त्रि०)। 'मनके लड्डू खाना' मुहावरा है। अर्थात् व्यर्थ किसी बड़े लाभकी कल्पना करना जिसका होना कठिन या असंभव है। भाव यह कि लड्डू तो नसीब नहीं, मनमें सोचते हैं कि हम लड्डू खा रहे हैं पर] इससे भूख की शान्ति कदापि नहीं हो सकती, भूख तो साक्षात् सचमुच खानेसे ही जायगी। यह मनमोदक है तो साक्षात् मोदक क्या है और उसकी प्राप्ति कैसे हो ? तो उसके उत्तरमें कहते हैं कि हम तुमको साक्षात् मोदककी प्राप्ति बताते हैं, वह यह है कि 'सिखि हमारि सुनि०' इत्यादि। अर्थात् इस भावसे तुम सबोंको श्रीसीतारामजी प्राप्त हो सकते हैं। (ग) अधम राजाओंके मन, वचन और कर्म तीनोंको व्यर्थ दिखाते हैं। 'जीति को सक संग्राम दसरथ के रनबाँकुरे' अर्थात् संग्राममें रामजीसे न जीत सकोगे इससे कर्म, 'व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई' अर्थात् कोरी डींगें हाँकनेसे काम न चलेगा—इससे वचन और 'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' अर्थात् दोनों भाइयोंको जीतकर सीताजीकी प्राप्तिकी अभिलाषा करना इससे मनकी व्यर्थता दिखाई।

नोट—१ प्रथम यह कहकर कि 'जीति को सक संग्राम' फिर 'व्यर्थ मरहु' कहनेका भाव कि संग्राममें तो वे जीते नहीं जा सकते, हाँ तुम्हारी वृथा ही मृत्यु होगी। व्यर्थ इस लिए कि जिसके लिए लड़े मरे सो प्राप्त न हुई। 'व्यर्थ मरहु'-व्यर्थ क्यों मारे जायँगे, उसका उत्तर है 'गाल बजाई' अर्थात् कटु वचन कह रहे हो इसीसे मारे जाओगे। यदि कहो कि हम श्रीसीताजीकी प्राप्तिके लिए ऐसा कहते हैं तो उसपर कहते हैं कि 'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' अर्थात् गपोड़ेबाजीसे कुछ काम नहीं निकलनेका। २—भूख क्या है ? संग्राममें विजय और श्रीजानकीजीकी प्राप्ति। इसीकी भूख है, यथा 'सिय हित समर जितब हम सोऊ'। दोनोंका न प्राप्त होना भूखका न बुझना है। दोनोंकी मनमें इच्छा मनके लड्डू खाना है। यहाँ लोकोक्ति और वक्रोक्ति है।

टिप्पणी—२ 'सिखि हमारि सुनि परम पुनीता।०' इति। (क) 'सिखि हमारि सुनि' कहनेका भाव कि प्रथम जो राजाओंने तुमको उपदेश दिया कि 'राम चाप तोरब सक नाहीं' इत्यादि, वह तुमने न सुना तो न सही, पर हम तुम्हारे हितकी कहते हैं सो तो सुनो। यह सीख परम पुनीत है। (ख) 'परम पुनीत' कहा जिसमें वे आदरसे सुनें। पुनः, 'परम पुनीत' का भाव कि मध्यम राजाओंके वचन 'पुनीत' हैं क्योंकि वे नीतिके अनुकूल हैं, उनमें यश-प्रताप-बल-तेजकी रक्षाका उपाय बताया गया है। उन्होंने लोकमर्यादा रखते हुए चले जानेको कहा था। उनके वचनोंमें लोकमें भलाई दिखाई है। हमारे वचन परम पुनीत हैं क्योंकि इनमें ईश्वरके स्वरूपके जानकारीकी शिक्षा है, जिससे लोक और परलोक दोनोंमें भलाई है, लोकमें मारे न जाओगे और न नाम धरा जायगा और परलोक भी बनेगा। (ग) 'जगदंबा जानहु जिय सीता'— भाव कि उनके विषयमें जो तुम्हारे हृदयमें कुबुद्धि है उसे छोड़ दो, पत्नी रूपमें प्राप्तिकी अभिलाषा छोड़कर उन्हें जगन्मातारूपमें प्राप्त करो।

जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी ॥३॥

सुंदर सुखद सकल-गुन-रासी। ए दोउ बंधु संभु उर बासी ॥४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीको जगत्‌के पिता (परब्रह्म परमात्मा) विचारकर नेत्र भरकर उनकी छबिको देख लो ॥ ३ ॥ सुन्दर, समस्त सुखोंके देनेवाले, संपूर्ण गुणोंकी राशि ये दोनों भाई शंकरजीके हृदय (रूपी पुर वा घर) के निवासी हैं ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ 'जगतपिता रघुपतिहि बिचारी ।०' इति । (क) अधम राजाओंने दो बातें कहीं एक तो रामजीको जीतनेकी, दूसरी श्रीसीताजीको ब्याहनेकी । इसीसे हरिभक्त राजा उनको इन दोनों मूर्तियोंका ज्ञान कराते हैं कि ये दोनों जगत्‌के माता पिता हैं । पहले श्रीजानकीजीको जगदंबा जाननेको कहा, पीछे श्रीरामजीको जगत्पिता बिचारनेको कहा । तात्पर्य्य कि प्रथम उनके हृदयका दुष्टभाव दूर करते हैं क्योंकि हृदयकी शुद्धिके विना रामजीका स्वरूप विचारमें नहीं आ सकता । (ख) ☞श्रीजानकीजीके विषयमें कहा कि उनको 'जगदंबा जिय जानहु' और श्रीरामजीके बारेमें कहते हैं कि 'जगतपिता बिचारी छबि लेहु निहारी', अर्थात् श्रीजानकीजीको माता जानने-माननेको कहा तो भी छबि देखनेको नहीं कहा और श्रीरामजीकी छबि देखनेको कहा । इससे जनाया कि माता जाननेपर भी स्त्रीकी छबि न देखैं जबतक कि हृदय निर्मल न हो । जिनके हृदय शुद्ध हैं, उनको देखनेमें दोष नहीं है, यथा 'रामरूप अरु सियछबि देखें । नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें ।' इत्यादि । [श्रीसीताजीके विषयमें 'निहारी' न कहकर जनाया कि तुम उनकी ओर निहारनेके भी अधिकारी नहीं हो । 'लेहु निहारी' का भाव कि इनका दर्शन दुर्लभ है फिर यह मौक़ा हाथ न लगेगा । मुं० रोशनलालजी 'जानहु' और 'बिचारी' का भाव यह लिखते हैं कि ये लड़की लड़का देख पड़ते हैं पर विचारो तो ये जगत्‌के माता-पिता हैं । (पं०)] । (ग) ☞सतोगुणी राजा रजोगुणी और तमोगुणी दोनोंको यह उपदेश देते हैं । पहले राजाओंने जो कहा था कि 'अस बिचारि गवनहु गृह भाई' उसपर ये कहते हैं कि घर क्यों भाग जानेको कहते हो ? यहाँसे जाते क्यों हो ? न जाने किस संयोगसे आज ये मिल गये हैं, इनके दर्शन जगत्‌जनक और जगज्जननीभावसे कर लो जबतक ये यहाँ हैं; घर जाकर क्या करोगे ? इस तरह यह उपदेश मध्यम और अधम दोनोंके लिए है ।

नोट १ विना श्रीजानकीजीकी कृपाके श्रीरघुनाथजीकी प्राप्ति असंभव है । अतः प्रथम उनमें जगन्माता-बुद्धि लानेको कहा; तब उनकी कृपासे श्रीरामजीका स्वरूप विचारमें आएगा । दुर्बुद्धि गई नहीं कि स्वरूप झलक पड़ा ।

टिप्पणी—२ 'सुंदर सुखद सकल गुनरासी ।०' इति । (क) ☞हरिभक्त राजाओंको जो सुख मिला वही वे उपदेश कर रहे हैं । इन्हें श्रीरामजी सुन्दर और गुणोंकी राशि देख पड़े और उनसे सुख मिला, यथा 'देखि लोग सब भये सुखारे । एकटक लोचन चलत न तारे ।', 'हरिभगतन्ह देखे दोउ भ्राता । इष्टदेव इव सब सुखदाता', 'गुनसागर नागर बर बीरा । सुंदर स्यामल गौर सरीरा' । हरिभक्त भगवान्‌के गुणोंपर लट्टू रहते ही हैं, यथा 'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ । तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ' । इसीसे उनको गुणराशि कहा । संतभक्त भगवान्‌के माहात्म्यको जानते हैं, इसीसे 'संभु-उर-बासी' कहा । (ख) 'संभु उर बासी', यथा 'अनुज जानकी सहित निरंतर । बसहु रामनृप मम उर अंतर ।६।११४।' ये शिवजीके हृदयमें बसते हैं, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिनका शिवजी ध्यान करते हैं, जिनके दर्शनके लिए शिवजी भी तरसते रहते हैं, वे आज साक्षात् तुम्हारे सामने हैं, उनके दर्शन तुमको सुलभ हो गये हैं । पुनः भाव कि जिनको वे हृदय में छिपाये रहते हैं, जो शिवजीके परम प्यारे हैं, वे तुम्हें प्रत्यक्ष दर्शन देने आए हैं; अतः नेत्रभर अघाकर देख लो । (ग) ☞'सुंदर सुखद' 'बासी' इस उपदेशका विस्तार विनयमें है—"है नीको मेरो देवता कोसलपति राम । सुभग सरोज सुलोचन सुठि सुंदर स्याम ॥ सिय समेत सोहै सदा छबि अमित अनंग । भुज बिसाल सर धनु धरें कटि चारु निषंग ॥ बलि पूजा मांगै नहीं चाहै एक प्रीति । सुमिरत ही मानै भलो पावन सब रीति ॥ देइ सकल सुख दुखद है

आरतजन बंधु। गुन गहि अघ औगुन हरै असो करुनासिंधु॥ देस काल पूरन महा बद वेद पुरान। सबको प्रभु सब मों बसै सब की गति जान॥ को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव। तुलसिदास तेहि सेइअै संकर जेहि सेव॥ १०७॥"

इस भजनमें सुन्दर, सुखद, सकल गुणराशि और संभुउरबास चारों बातें क्रमसे कही हैं। 'सुंदर' आदिके और भाव नोट ३ में देखिए।

नोट—२ श्रीनंगे परमहंसजी इसका अन्वय यह करते हैं—"दोउ बंधु सुंदर सुखद सकल गुनरासी (हैं परन्तु) (ए रामजी तो) शंभु उरबासी (हैं)।" उनका मत है कि "यहाँ 'ए' शब्द जो अंगुल्यानिर्देश है वह रामजीको लखनलालसे बिलग कर दिखानेका है, अतः यह रामजीहीके लिये अन्वय होगा। यहाँ दोही हैं और दोमेंसे एकको बिलगकर शंभुउरबासी कहना है जो ठौरठौर रामजीहीके लिए ग्रन्थमें प्रमाण है। यथा 'शंकरमानसराजमराला', 'जय महेस मनमानस हंसा' इत्यादि।" अधिक स्थानोंमें अवश्य केवल 'श्रीरामजी' का ही नाम मिलता है। श्रीसीताराम-लक्ष्मण तीनोंमें श्रीरामजी ही प्रधान हैं, इससे प्रायः उनकाही नाम दिया गया। उपासना बड़ी गोप्य वस्तु है। यह प्रायः गुप्तही रक्खी जाती है। इसीसे इसे केवल एक बार वर माँगते समय वरद्वारा कविने दरसा दिया है। 'अनुज जानकी सहित निरंतर। बसहु राम नृप मम उर अंतर।' साधु राजा यहाँ केवल दोनों भाइयोंका हृदयमें बसना कहते हैं; इससे यह न समझना चाहिये कि केवल इन्हीं दोनोंके उपासक शिवजी हैं। यहाँ इन्हीं दोनोंका प्रसंग है; इस लिये इनका ही नाम कहा गया। उपासक तो वे तीनोंके हैं। तभी तो सीतारूप धारण करनेसे शिवजीने सतीका त्याग किया। यथा "जौं अब करौं सती सन प्रीती। मिटै भगति पथु होइ अनीती।" विवाहके समय भी शिवजीके वचनोंमें कुछ इस उपासनाकी झलक है—'जिन्ह कर नाम लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं॥ करतल होहिं पदारथ चारी। तेइ सिय रामु कहेउ कामारी। ३५१।१-२।' मनुजी भी जब प्रार्थना करते हैं कि 'जो सरूप बस सिव मन माहीं।···देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारति मोचन। १४६।४-६।' तब उनके सामने युगल सरकार प्रकट होते हैं। इससे भी कवि दरसा देते हैं कि ये दोनों रूप शिवजीके उरमें बसते हैं। पर यहाँ केवल दोनों भाइयोंका प्रसंग है इस लिये प्रस्तुत प्रसंगमें 'ए दोउ बंधु संभु उर बासी' कहा गया। जहाँ जितना प्रसंग होता है उतना ही लिखा जाता है। अपनी समझके अनुसार मैंने अपने दिये हुए अर्थका समाधान कर दिया है, रहे और लोग जो अर्थ चाहें ग्रहण करें।

३ बाबा हरीदासजी—'सुंदर' हैं अर्थात् बाहर नेत्रों से दर्शन और भीतरके नेत्रोंसे ध्यान धरने योग्य हैं। 'सुखद' अर्थात् चूक पड़नेपर रुष्ट नहीं होते। 'सकल गुनरासी' हैं, अतः उनके भजनसे गुण प्राप्त हो जाते हैं। 'संभु उर बासी' हैं अर्थात् तुम शैव हो और ये तुम्हारे इष्टदेवके भी इष्ट हैं। जो तुम चाहो कि उनके भजनबलसे तुम धनुष तोड़ लो तो यह बात होनेकी नहीं, वरंच जो ये चाहेंगे वही शिवजी करेंगे क्योंकि ये ही उनके उरके प्रेरक हैं।

४ यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार है क्योंकि 'सुंदर०' कहकर फिर उसे विशेष सिद्धांत 'ए दोउ०' से समर्थन करते हैं।

☞ जा० मं० के "कस न पियहु भरि लोचन रूप सुधारसु। करहु कृतारथ जनम होहु कत नर पसु॥ ३८॥···मनसिज मनोहर मधुर मूरति कस न सादर जोवहू। बिनु काज राज समाज महुँ तजि लाज आपु बिगोवहू।···४०।" इससे मानसके वचनोंसे मिलान कीजिए।

कवितावलीमें भी साधुराजाओंके वचन चौ० २, ३ से मिलतेहुए ये हैं—"भले भूप कहत भले भदेस भूपनि सों लोक लखि बोलिए पुनीत रीति मारखी। जगदंबा जानकी जगतपितु रामभद्र जानि जिय जोवो जो न लगै मुहँ कारखी॥१।१५॥"

सुधा समुद्र समीप बिहाई । मृगजलु निरखि मरहु कत धाई ॥५॥
करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा । हम तौ आजु जनम फलु पावा ॥६॥

अर्थ—सुधा-समुद्र पासमें छोड़कर तुम मृगतृष्णाजलको देखकर दौड़ दौड़कर क्यों प्राण देते हो ? ॥५॥ जिसको जो भावे वह वही जाकर करे, हमने तो आज जन्म लेनेका फल पा लिया ॥६॥

टिप्पणी—१ "सुधा समुद्र समीप बिहाई ।०" इति । (क) पहले मोदक खाना कहा था, यथा—'मन मोदकन्हि कि भूख बुताई' । भोजनके साथ जल पीनेको चाहिए, अतः मोदक खाना कहकर अब जल पीना कहते हैं । जैसा भोजन वैसा जल । तात्पर्य्य कि श्रीरामजीके जीतनेका मनोरथ करना मनमोदक खाना है और श्रीसीताजीकी प्राप्तिका मनोरथ करना मृगजल देखकर दौड़ना है, तृष्णामात्र है । 'भरि लोचन छबि लेहु निहारी' लिखकर 'सुधा समुद्र समीप बिहाई ।०' लिखनेका भाव कि छबि सुधा है, यथा 'जौं छबि सुधा पयोनिधि होई ।' (ख) 'सुधा समुद्र' के साथ 'बिहाई' और 'मृगजल' के साथ 'धाई' शब्द देकर जनाया कि एक निकट प्राप्त है और दूसरा अत्यंत दूर है । (ग) 'मरहु कत धाई', भाव कि सुधा जीवनदाता है, जिलाता है, तुम उसको छोड़कर मरनेका उपाय करते हो, सुधासमुद्र श्रीरामजीकी छबि (के दर्शन) छोड़कर मृगजल रूप जानकीजीकी प्राप्तिके लिये व्यर्थ मरते हो । ☞ पहले कहा था कि 'व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई । मन मोदकन्हि०' और अब कहते हैं कि 'मृगजलु निरखि मरहु कत धाई' । दोनों जगह मरना कहा । भाव कि यदि दोनों भाइयोंको जीतनेकी इच्छा करते हो तो भी मरोगे और यदि श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी इच्छा है तौ भी मरण होगा । अतः इन दोनों बातोंका ख़याल ही छोड़ दो । ["समीप सुलभ दर्शन अमृत है, आदि-शक्तिके साथ विवाह मृगजल है" (बैजनाथजी) । 'सुंदर सुखद ''उरबासी' ये सुधासमुद्र हैं, इनके दर्शनका सुख त्यागकर सीता-प्राप्ति-मृगजलके लिये प्रयत्न करना वृथा है, वह कभी हाथ न लगेगा, उनका स्पर्श भी न होगा ।' (पंजाबीजी) । वा, 'धनुष तोड़कर प्रतिष्ठाकी चाह करना मृगजल है' (रा० प्र०) । यहाँ 'ललित' अलंकार है क्योंकि छबिसमुद्र श्रीरामजीका, वा छबिसमुद्र दोनों भाइयोंका दर्शन करो, सीताप्राप्तिको व्यर्थ इच्छा न करो, यह प्रस्तुत वृत्तान्त न कहकर उसका प्रतिबिंब मात्र कहा है ।]

२—☞यहांतक साधु राजाओंका उपदेश है । ये धर्मात्मा हैं । इसीसे इन्होंने परम धर्मका उपदेश किया—'जगदंबा जानहु जिय सीता ॥ जगतपिता रघुपतिहि बिचारी ।' श्रीसीतारामजीमें माता-पिता-बुद्धि करना धर्म है । पुनः, ये हरिभक्त हैं; इसीसे इन्होंने भक्तिका उपदेश दिया—'भरि लोचन छबि लेहु निहारी ।' अनुराग करना भक्ति है । पुनः, ये सयाने अर्थात् ज्ञानी हैं, इसीसे इन्होंने ज्ञानोपदेश किया—'सुंदर सुखद सकल गुनरासी । ए दोउ बंधु संभु उर बासी ॥ सुधासमुद्र समीप बिहाई । मृगजल निरखि मरहु कत धाई ।'—यह ज्ञान है । इसमें परमेश्वरके स्वरूपका ज्ञान कराया गया है । इस प्रकार सात्त्विक राजाओंके जो प्रथम तीन विशेषण दिये गए—'धरमसील हरिभगत सयाने' वे तीनों उनके उपदेशसे प्रमाणित भी हो गए । (मृगजल—१.४३.८ मा० पी० भाग १ देखिये) ।

३ 'करहु जाइ जा कहुँ जोइ भावा ।' इति । (क) इस कथनसे पाया गया कि दुष्ट राजाओंने इनका उपदेश नहीं माना । अभिमानी उपदेश नहीं मानते, यथा 'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना । नारि सिखावन करसि न काना । ४.६ ।', 'बोला बिहसि महा अभिमानी । मिला हमहिं कपि गुरु बड़ ज्ञानी । ५.४१', 'श्रवन सुनी सठ ताकर बानी । बिहँसा जगत-बिदित अभिमानी' इत्यादि । ये 'अबिबेक अंध अभिमानी' हैं, अतः ये कैसे सुनते ? जब न सुना तब कहा कि 'करहु०' । (ख) 'जा कहुँ जोइ भावा' । इससे सूचित किया कि किसीको कुछ भाया, किसीको कुछ । राजाओंकी पृथक्-पृथक् भावनाएँ हैं । किसीको यह भाता है कि 'अस बिचारि गवनहु' और किसीको 'सियहित समर' भाता है, इत्यादि । (प्र० सं०) । इस कथनका

आशय यह है कि मध्यम और अधम दोनों प्रकारके राजाओंने अपने अपने भाव प्रगट किये। एकने तो घर चले जानेकी कही—'अस बिचारि गवनहु गृह भाई' और दूसरोंने लड़नेकी बात कही—'एक बार कालउ किन होऊ०'। इसीपर साधु राजाओंने कहा कि जिसको जो भाता है सो करे, हम व्यर्थमें समय नष्ट क्यों करें। यह भी जनाया कि तुम्हारे भाव हमें नहीं भाते, हमारा हितोपदेश तुमको नहीं भाता तो न भावे, अब हम व्यर्थ बकवाद नहीं करना चाहते। यह कहकर ये चुप हो गये। (ग) 'आजु जनम फलु पावा' इति। भाव कि श्रीसीतारामजीके एक बारके ही दर्शनसे जन्म सफल हो जाता है, अन्य साधन जन्मभर भी करे तब भी न जाने मरनेपर भी जन्म सफल हो वा न हो। हमें आज इनका दर्शन मिला, अतएव हमारा जन्म सफल हो गया। जन्म सफल होनेका भाव कि इसीलिए जन्म जन्म मुनि आदि प्रयत्न करते हैं, भगवत्प्राप्तिहीसे जन्म सफल होता है, अन्यथा नहीं। यथा "सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन रामसिय दरसनु पावा।२।२१०।", "जे नर नारि न अवसर आए। तिन्ह सिय रामु न देखन पाए॥··· समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फलु पाई। २. १२१।", "धन्य बिहग मृग काननचारी। सफल जनम भए तुम्हहि निहारी॥ १.१३६॥" इत्यादि। ☞यह वचन भी उपदेश है।

अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे॥७॥

देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना॥८॥

अर्थ—ऐसा कहकर अच्छे राजा अनुरागसे उपमारहित रूप देखने लगे (श्रीरामजीका दर्शन करने लगे)॥ ७॥ देवता लोग आकाशसे विमानोंपर चढ़े हुए देख रहे हैं, सुन्दर गान कर रहे हैं और पुष्प बरसा रहे हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस कहि···बिलोकन लागे' अर्थात् कुछ केवल दूसरोंको उपदेश ही नहीं देते किन्तु स्वयं भी उस उपदेशपर अमल करते हैं। 'भरि लोचन छबि लेहु निहारी' यह उपदेश दिया और स्वयं भी अनुरागसे छबि देखने लगे। (ख) 'अनुरागे' का भाव कि रूप तो सभी देखते हैं पर 'भले भूप' अनुरागसे देखते हैं (और दुष्ट राजा दुर्भावसे)। (ग) ☞ इनके मन वचन कर्म तीनों भगवान्में लगे दिखाए। वचनसे दर्शनका उपदेश दिया, मनसे अनुराग किया और तनसे देखने लगे। नेत्र भी तन हैं। देखना कर्म है। (घ) 'देखहिं सुर०'। किसको देखते हैं यह स्पष्ट नहीं लिखा, कारण कि यहाँ राजाओंका (श्रीरामजीका) अनुपम रूप देखना इसके तुरत ही पहले लिखा ही है और यहाँ रूपदर्शनका प्रकरण ही है उसके अनुकूल रामरूप देखना ही अभिप्रेत होगा न कि और कुछ। (ङ) 'नभ चढ़े बिमाना' कहनेका भाव कि राजा (सुर) निज रूपसे नर समाजमें नहीं आए। राजसमाज मनुष्योंका है अतः उसमें नररूपसे बैठे हैं यथा 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रन धीरा'। समीपसे दर्शन अच्छा होता है, इसीसे ये नररूप धरकर समाजमें आकर बैठे और मंगल गान करने एवं फूल बरसानेके लिये देवरूपसे आकाशमें विमानोंपर हैं। इसीसे ग्रंथकारने प्रथम हरि-भक्तोंका देखना लिखकर तब देवताओंका देखना, गान करना और फूल बरसाना लिखा।

२ (क) जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आए तब देवताओंने फूल बरसाया। बीचमें रामरूपवर्णन और राजाओंकी वार्ता लिखी गई। इसी तरह जब श्रीजानकीजी आईं तब पुष्पोंकी वृष्टि हुई, यथा 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥ हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपसरा गाई।' अतः यहाँ यह शंका होती है कि "पुष्पोंकी वृष्टि तो रामजीके रंगभूमिमें आनेपर ही जान पड़ती है तब वहीं उसी समय उसका उल्लेख न किया जाकर यहाँ करनेका क्या प्रयोजन है?" समाधान यह है कि यहाँ उसका उल्लेख करके सूचित करते हैं कि श्रीरामजीके आगमनका प्रसंग बराबर यहाँ तक है। आगे श्रीसीताजीके

आगमनका प्रसंग है। [पुनः 'बरषहिं' और 'देखहिं' की बनावट दिखा रही है कि देर एवं दूरसे देख रहे हैं और अवसर पर फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं। लिखा अब तक इस कारण नहीं कि किसीने ध्यान नहीं दिया। क्योंकि पहले तो सब लोग रामावलोकनमें थे, फिर बादविवाद छिड़ गया। अब तनिक शान्ति हुई तो पुष्पवर्षाकी ओर भी ध्यान गया। फिर देवता भी अब अधिक अनुरागे और भले भूपोंसे सहानुभूति करनेके लिए विशेष पुष्पवर्षा की। (राजारामशरणजी)। पुनः, देवता तो सदा स्वार्थी हैं। जब साधु राजाओंके वाक्य सुने तब उन्हें विश्वास हुआ कि राम धनुष तोड़ेंगे और अपना कार्य सिद्ध होगा। अतः वे हर्षित हुए और पुष्पवृष्टि करने लगे। (प० प० प्र०)]। (ख) फूलोंकी वर्षा और मंगलगान शकुन हैं, यथा 'बर्षहिं सुमन सुमंगलदाता।', 'भेरि मृदंगमदुमर्दलशंख बीणा वेदध्वनिर्मंगलगीतघोषाः'।

नोट—मिलान कीजिए—'सिख देइ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे। रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे। ४०।' (जा० मं०)।

दोहा—जानि सुअवसरु सीय तब पठई जनक बोलाइ।
चतुर सखीं सुंदर सकल सादर चलीं लवाइ॥२४६॥

अर्थ—तब सुन्दर शुभ अवसर जानकर जनकमहाराजने सीताजीको बुलवा भेजा। चतुर सखियाँ जो सभी सुन्दर हैं आदरपूर्वक लिवा ले चलीं॥ २४६॥

☞ 'सुअवसर' विचारणीय है। नाटककीकलामें प्रवेश (Enter) और Exit का बड़ा महत्व होता है। जब बादविवाद बंद हुआ तभी जनकमहाराजने उन्हें बुलाया।

टिप्पणी—१ 'सुअवसर' अर्थात् जब सब बैठ गए। पुनः जिस मुहूर्तमें मुनि श्रीरामजीको ले आए वही मुहूर्त अबतक विद्यमान है, इसीमें जानकीजी आवें जिसमें रामजीको प्राप्त हो जायँ, अतः 'सुअवसर' कहा। तीसरे, श्रीरामजीके आगमनपर देवता मंगल गान और मंगलद्योतक पुष्पोंकी वृष्टि कर रहे थे, ये दोनों बड़े सगुन हैं, अतः 'सुअवसर' जानकर बुलाया। यथा 'सुरन्ह सुमंगल अवसरु जाना। बरषहिं सुमन…। ३१४।१।' [श्रीजनकजी बड़े पंडित हैं। उन्होंने शुभमुहूर्त जान लिया कि इसमें विजय और जानकीजी दोनों रामजीको प्राप्त होंगी। पुनः, सीताजीके आए बिना कोई धनुष तोड़ने न उठेगा और सब तो अब आकर बैठ ही गए है—(पंजाबीजी)। 'बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है।]

२ (क) 'चतुर सखीं'। जिस मुहूर्त और मांगलिक समयमें महाराजने बुला भेजा तुरत उसीमें ले आईं, अवसर न बीतने पाया, अतः 'चतुर' कहा। इस समय यही चतुराईका काम था। (वैजनाथजीका मत है कि इस समय साथमें ऐसी भी सखियाँ हैं जो राजाओंके नाम, गुण और कुल इत्यादिसे परिचित थीं, अतः उनको 'चतुर' कहा)। आगे समय-समयपर सखियोंकी चातुरीका वर्णन किया गया है। जैसे कि 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार' यहाँ मंगलगान का समय है सो गा रही हैं, यह चातुरी है। पुनः, 'जाइ समीप रामछबि देखी। रहि जनु कुँअरि चित्र अवरेखी॥ चतुर सखी लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई।', 'आसिष दीन्ह सखी हरषानी। निज समाज लै गईं सयानी' इत्यादि। (ख) 'सुंदर सकल' इति। यहाँ सखियोंकी सुन्दरता कही, क्योंकि आगे श्रीजानकीजीकी शोभा कहेंगे कि सखियोंके बीचमें श्रीजानकीजी सुशोभित हो रही हैं। सखियोंको छबिगण कहेंगे और श्रीसीताजीको महाछबि। (ग) 'सादर' अर्थात् उनको आगे करके दाहिने बाएँ अगलबगल और पीछे अपना हैं; यथा 'सादर तेहि आगे करि बानर चले

जहाँ रघुपति करुनाकर । ५ । ४५ ।' [अथवा, डोले या पालकीपर चढ़ाकर आगे उन्हें कर लिया और पीछे आप साथ-साथ रहीं । यथा गीतावल्याम् 'राजा की रजाइ पाइ सचिव सहेली धाइ सतानंद ल्याय सिय सिबिका चढ़ाइ कै' (पद ८२)]।

सिय सोभा नहि जाइ बखानी । जगदंबिका रूप गुनखानी ॥१॥
उपमा सकल मोहि लघु लागीं । प्राकृत नारि अंग अनुरागीं ॥२॥

अर्थ—रूप और गुणोंकी खानि जगत्‌माता श्रीसीताजीकी शोभा वर्णन नहीं की जा सकती ॥ १ ॥ सब उपमाएँ मुझे तुच्छ लगीं (क्योंकि) प्राकृत स्त्रियोंके अंगोंमें उन्होंने अनुराग किया है अर्थात् बड़े प्रेमसे उनके अंगोंके लिये कवियोंने उन उपमाओंको लगाया है ॥ २ ॥

गौड़जी—आदिशक्तिकी शोभाकी पूजा वाणी करना चाहती है। यह पूजा अर्घ्यादिकी तरह उपमा देकर करती । परंतु देखती है कि 'सब उपमा कबि रहे जुठारी' और जूठी उपमा और सो भी साधारण सुन्दरियोंकी जूठी, आदिशक्तिके शोभासमुद्रको कैसे दी जाय ?

टिप्पणी—१ (क) जब श्रीरामजी रंगभूमिमें आए तब उनकी कुछ शोभा बखान की तो यह भी उचित था कि श्रीजानकीजीके आगमनपर इनकी शोभाका भी कुछ वर्णन किया जाता, इसी पर कहते हैं कि 'सिय सोभा नहिं जाइ बखानी', और बखान न हो सकनेका कारण आगे इस दोहेभरमें कह रहे हैं, अर्थात् इस एक चरणका ही विस्तार इस दोहेभरमें है। (ख) 'जगदंबिका०' इति । अब कारण कहते हैं कि एक तो वे जगत्‌मात्रकी माता हैं, माताका रूप (शोभा) पुत्र कैसे कह सके ? यथा 'जगत्‌मातु-पितु संभु भवानी । तेहिं सिंगारु न कहउँ बखानी ॥ १०३।४ ।' दूसरे, वे रूप और गुणोंकी खानि हैं, इससे भी रूप बखाना नहीं जा सकता, यथा 'सिय सुंदरता बरनि न जाई । लघु मति बहुत मनोहरताई । ३२३.१ ।' तात्पर्य कि प्रथम तो शोभाका वर्णन करना उचित नहीं है और यदि वर्णन भी करें तो शोभा अपार है, बखानी नहीं जाती । यथा 'कोटिहु बदन नहिं बनै बरनत जगजननि सोभा महा । १०० ।' (ग) 'जगदंबिका' कहकर 'रूप गुनखानि' कहनेका भाव कि ईश्वरके रूप और गुणसे जगत्‌का रूप और गुण है । पुनः भाव कि 'जगदंबिका' कहनेसे पाया गया कि माताभाव होनेसे कवि वर्णन नहीं करता उसीपर कहते हैं कि रूपगुणखानि हैं, वर्णन हो ही नहीं सकता । (घ) यहाँ माधुर्य्य और ऐश्वर्य्य दोनों कहा । 'सिय-सोभा०' माधुर्य्य है और 'जगदंबिका' ऐश्वर्य्य है । (ङ) न बखान कर सकनेको युक्तिसे समर्थन करना 'काव्यलिंग अलंकार' है-(वीर)]।

२ (क) कहा जा सकता है कि शोभाका वर्णन यथार्थ न भी हो तब भी उपमाके द्वारा तो उसे जना सकते थे उसपर कहते हैं—'उपमा सकल०' । सब प्राकृत स्त्रियोंके अंगोंमें लगनेसे जूठी हो गई, यथा—'सब उपमा कबि रहे जुठारी । केहि पटतरौं बिदेहकुमारी । २३०।८ ।' अर्थात् उपमा द्वारा वर्णन होता है, परन्तु कविलोग सब उपमाएँ प्राकृत स्त्रियोंके लिए कह चुके, कोई बाक़ी नहीं है । 'सकल' अर्थात् एक भी उपमा नहीं बची, जिसे हम सोचते हैं उसे किसी न किसी ग्रंथमें अवश्य प्राकृत सुन्दरीके संबंधमें दी हुई पाते हैं । अथवा, जो जो अन्य लोगोंने दी हैं वे सब हमने देखीं पर हमें 'लघु' जान पड़ीं । (ख)—'मोहि लघु लागी' का भाव कि और कवियोंको वे लघु न लगीं, क्योंकि उन्होंने तो प्राकृत स्त्रियोंके लिये दीं, प्राकृत स्त्रियोंके लिए वे सब योग्य ही हैं और, मैं अप्राकृत स्त्रीके अंगोंकेलिए उपमा ढूँढ़ता हूँ, इसीसे वे उपमायें मुझे लघु लगीं । प्राकृत उपमा अप्राकृत स्त्रीके अंगमें लगाना अयोग्य है। इससे सूचित किया कि सीताजी अप्राकृत हैं, उनका सारा शरीर चिदानन्दमय है, जैसे श्रीरामजीका शरीर । प्राकृत विश्वमें अप्राकृतकी उपमा मिलना असंभव है, यही कहना होगा कि इनके समान ये ही हैं । (ग)—'अनुरागी' का भाव कि सब

उपमाओंने अपने योग्य अंग पाकर उनमें अनुराग कर लिया है पर श्रीजानकीजीके अंगोंके लिये ज्योंही हम किसी उपमाको उठाते हैं तो वह उनके अंगको देखकर संकुचित हो जाती है, यह समझकर कि मैं उनके योग्य नहीं हूँ, यथा—"खंजन सुक कपोत मृग मीना। मधुप निकर कोकिला प्रबीना॥ कुंदकली दाड़िम दामिनी। कमल सरद ससि अहि भामिनी॥ बरुनपास मनोज धनु हंसा। गज केहरि निज सुनत प्रसंसा॥ श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥ सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥ ३।३०।' इत्यादि। अर्थात् श्रीजानकीजीके सामने संकोच होता था, उनके पीछे प्रसन्न हैं। (इसी तरह श्रीरामजीके अंगोंकी शोभा देख उपमाओंका हार मानकर भागकर छिप जाना गीतावलीमें कहा गया है। यथा "भुजनि भुजग, सरोज नयननि्ह, बदन बिधु जित्यो लरनि। रहे कुहरनि, सलिल, नभ उपमा अपर दुरि डरनि। १।२४।४।")। प्राकृत स्त्रियोंको अपनेसे तुच्छ वा उनके योग्य समझती हैं, इसीसे उनके साथ लगने से प्रसन्न हैं। क्योंकि वहाँ उपमाएँ बड़ाई पाती हैं।

सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ अजसु को लेई॥३॥
जौं पटतरिअ तीय सम सीया। जग असि जुवति कहाँ कमनीया॥४॥

अर्थ—(यदि) वही उपमा देकर श्रीसीताजीका वर्णन करें तो कुकवि कहलावें, यह अपयश कौन लेगा॥ ३॥ यदि श्रीसीताजीको स्त्रियोंकी समता देकर तुलना करें तो ऐसी सुन्दर स्त्री जगत्‌में कौन है (जिसकी उपमा उन्हें दे सकें)॥ ४॥

श्रीराजारामशरणजी—हम फुलवीरीलीलाके कुछ प्रारंभसे ही देख रहे हैं कि तुलसीदासजी सब पहिले-वाले कवियोंसे बाजी मारना चाहते हैं। यह बात कवियों और कलाकारोंमें स्वाभाविक होती है। उर्दूमें इसीको 'तअल्ली' कहा जाता है। [उर्दू है जिसका नाम हमीं जानते हैं दाग़। हिन्दोस्ताँमें धूम हमारे ज़ुबाँ की है।'] उपमायें सब पहिले ही प्रमाणित कर आए हैं, परन्तु स्पष्ट कारण अब कहा कि श्रीसीताजी अप्राकृत हैं, जगदंबिका हैं, और उपमायें प्राकृत नारियोंके अंगसे कवियों द्वारा जुठारी जा चुकी हैं। फिर भी नम्रता विचारणीय है कि कहा है कि भाई 'कवि न होउँ नहि बचन प्रबीनू' यह तो ठीक है पर 'कुकवि' कहलाकर 'अपयश' भी तो नहीं लेना चाहता कि जो उपमा अयोग्य हो, असंगत हो, वह दे दूँ।'

टिप्पणी—१ (क) 'कुकबि कहाइ अजस को लेई'। भाव कि कविता यशकेलिये बनाई जाती है। 'अजस को लेई' का भाव कि जो प्राकृत स्त्रियोंके अंगोंमें लग चुकी हैं उन प्राकृत जगत्‌की उपमाओंको श्रीसीताजीके चिन्मय अंगोंके लिये प्रयुक्त करनेसे बड़ा पाप होगा; यथा 'बैदेही-मुख पटतर दीन्हे। होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे।२३८।३।' बिना पापके अपयश नहीं होता; यथा 'बिनु अघ अजस कि पावै कोई। ७।११२।' (ख) 'कुकवि' कहकर कवियोंकी तीन कोटियाँ जनाई।-सुकवि, कवि और कुकवि। कौन कवि हैं, कौन सुकवि और कौन कुकवि? जो उपमा देकर प्राकृत स्त्रियोंका वर्णन करते हैं, वे कवि हैं, यथा—'सब उपमा कवि रहे जुठारी।०'। जो उपमा देकर श्रीजानकीजीका वर्णन करें वे कुकवि हैं। यथा 'सिय बरनिय तेइ उपमा देई। कुकबि कहाइ…'। और, जो उपमा देकर श्रीजानकीजीका वर्णन न करसके वह सुकवि है। तात्पर्य कि आप सुकवि हैं। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना, अपने मुख अपनी प्रशंसा करना अनुचित है, इसीसे आपने प्रगटरूपसे 'सुकवि' न कहकर अभिप्रायसे अपनेको 'सुकवि' जना दिया। (ग) 'कुकबि कहाइ०' का भाव यह कि ऐसा करनेवाला न सुकवि ही कहलाने योग्य रह जायगा और न कवि ही, दोनों पदोंसे च्युत हो जायगा और अपयशका भाजन होगा। वह काम क्यों करे कि अपयश हो। [शम्भुके प्रसादसे तुलसी 'कवि' हुआ है, कुकवि बनने क्यों जाय? (वि० त्रि०)]

२ (क) ☞ प्रथम प्राकृत सुंदरियोंके अंगोंमें जो उपमायें अनुराग कर चुकी हैं, उनका त्याग किया, अब प्राकृत सुन्दरियोंकी उपमाका भी त्याग करते हैं। [यदि कोई कहे कि अच्छा चन्द्र इत्यादिकी उपमायें तुम नहीं देते तो न सही, पर जिन स्त्रियोंमें वे उपमायें दी गई हैं उनके सदृश तो कह सकते हो तो उसपर कहते हैं कि "जौं पटतरिअ तीय सम सीया ।०' (पंजाबीजी) जगत्‌में कोई स्त्री उनकी उपमाके योग्य नहीं है। इस तरह जनाया कि उपमान और उपमेय दोनों श्रीजानकीजीके उपमायोग्य नहीं हैं। इस जगत्‌में कोई स्त्री उनके उपमायोग्य नहीं है, इसलिए जगत्‌की किसी स्त्रीका नाम न दिया। आगे स्वर्ग और पातालमें कुछ दिव्य स्त्रियाँ हैं जिनका नाम लेते हैं पर उनमें दोष दिखाकर उनका भी त्याग करते हैं। (ख)—'जग' इति। तीनों लोकोंकी स्त्रियोंको कहेंगे; इनमेंसे प्रथम इस जगत् अर्थात् मर्त्यलोककी स्त्रियोंको कहते हैं क्योंकि श्रीजानकीजी इस लोकमें हैं, इससे इस समय जगत् प्रधान है। ['जग' से स्वर्ग, पाताल और मर्त्य तीनों लोकोंको भी ले सकते हैं, जगत्‌में ये सब शामिल हैं। उनमें कहीं भी कोई स्त्री उपमायोग्य नहीं है, यह कह-कर दो चार स्त्रियाँ जो परम सुन्दरी कही जाती हैं उनका उदाहरण देकर उनमें दोष दिखाकर उनको भी खारिज कर देते हैं।]

गिरा मुखर तन अरध भवानी । रति अति दुखित अतनु पति जानी ।।५।।

अर्थ—सरस्वती बाचाला (बक्की, बहुत बोलनेवाली) हैं और भवानी (पार्वतीजी) अर्द्धाङ्गिनी हैं। रति (कामदेवकी स्त्री) अपने पतिको 'अतनु (बिना शरीरका) जानकर अत्यन्त दुःखी है ।।५।।

टिप्पणी —१ (क) मर्त्यलोकमें तो कोई स्त्री उपमाकेलिये ढूँढ़े मिली नहीं; अतः अब दिव्य लोकोंमें ढूँढ़ते हैं क्योंकि देवताओंकी स्त्रियाँ बहुत दिव्य और परम सुन्दरी सुनी जाती हैं। प्रथम ब्रह्माजीकी स्त्रीको लेते हैं तो उनमें यह दोष पाते हैं कि वह बहुत बोलती है, दिन रात बोलती ही रहती है। (भाव कि सरस्वती ही सबकी जिह्वा पर बैठकर बोला करती है) और बहुत बोलना स्त्रियोंमें दोष माना गया है। अतः उनको खारिज (बहिष्कृत) किया। फिर महादेवजीकी शक्ति श्रीपार्वतीजीको सोचे तो उनमें यह दोष देखते हैं कि भवानीके आधा ही शरीर है। आधा शरीर उनका पुरुष है और आधा स्त्री है। अर्द्धनारीनटेश्वररूप शिवजीका कहा गया है, यथा "भस्म अंग मर्दनअनंग संतत असंग हर। सीस गंग गिरिजा अधंग भूषन भुजंगबर ।। मुंडमाल बिधुबाल भाल डमरू-कपाल-कर। बिबुध बृंद नव कुमुद चंद सुखकंद सूलधर ।।''' क० ७। १४६।", "अर्ध अंग अंगना''। क० ७। १५१।" इससे जनाया कि उनका आधा अंग अमांगलिक है। उसमें आधा तन भवानी हैं और आधा तन महादेव हैं। अतः शोभा बिगड़ गई, उपमायोग्य ये भी न रह गईं। (ख) 'रति अति दुखित अतनु पति जानी' इति। 'अतनु', यथा 'अब तें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु। ८७।' कामदेवके शरीर नहीं है, रति परम सुन्दरी है, उसमें सरस्वती और भवानीके दोष नहीं हैं, वह न तो बाचाल है और न उसके अंगमें त्रुटि है, पर पतिका दुःख होनेसे दुःखी रहा करती है, अतः वह भी त्याज्य है। (ग) ☞ प्रथम ब्रह्माकी शक्तिको कहा, फिर महादेवकी शक्तिको कहा, अब चाहिए था कि त्रिदेवमेंके तीसरे देव जो भगवान् विष्णु हैं उनकी शक्तिको भी कहते, किन्तु उनको न कहकर बीचमें रतिको कहने लगे। यह भी साभिप्राय है। भवानीके समीप ही रतिको कहने का भाव यह है कि दोनों 'पतिसे अशोभित हुईं। भवानी तो पतिके संगसे अशोभित हो गईं और रति पतिके असंगसे अशोभित है। युक्तिके विचारसे शिवशक्तिके पीछे कामकी शक्तिको कहा। युक्ति दिखानेके पश्चात् विष्णु-शक्तिको कहते हैं'। [भवानी और रति दोनोंको एक-सा दुःख है। दोनोंकी 'क्रिया' एक है, अर्थात् दोनोंके पति बिना शृङ्गारके हैं। एकके पति सर्प लपेटे, जटायें रक्खे, भस्म रमाये—अतः भवानीकी शोभा नष्ट हुई और पति बिना रतिकी शोभा नष्ट हुई। अतएव दोनों

को एकत्र रखा। इसी प्रकार अयोध्याकांडमें पहले 'बटु' फिर 'गृही' तब 'बैषानस' को कहा क्योंकि दोनोंकी 'क्रिया' एक है। गृहस्थ कर्म छोड़े तो शोचनीय और यती संग्रह करे तो शोचनीय; यथा 'सोचिय बटु निज ब्रत परिहरई।'' सोचिय गृही जो मोहबस करै करमपथ त्याग। सोचिय जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग। २।१७२।', 'बैषानस सोइ सोचै जोगू। तप बिहाइ जेहि भावै भोगू।' तथा यहाँ भवानी और रतिको साथ कहा।] पुनः यहाँ क्रमशः एकसे दूसरेका दुःख अधिक दिखा रहे हैं। उत्तरोत्तर एकसे दूसरेमें अधिक दोष बता रहे हैं। गिरामें केवल मुखका दोष है कि बात बहुत करती है, उसका मुख ही भर बिगड़ा है। उससे अधिक दोष भवानीमें है, उनका आधा तन ही जाता रहा, उनके सभी अंग आधे आधे दूषित हैं क्योंकि पतिके अंगोंसे ढके हुए हैं। इनसे अधिक दोष रतिमें है, क्योंकि उसका तो आधा अंग है ही नहीं (स्त्री पतिकी अर्धांगिनी कहलाती है सो) इसका पति ही मर गया यह विधवा है। और इससे भी अधिक दोष लक्ष्मीमें हैं क्योंकि इनके 'विष' और 'वारुणी' दो भाई हैं अर्थात् इसको सदा कुसंग प्राप्त है। कुसंगके बराबर अशोभा किसीमें नहीं। दुःख उत्तरोत्तर अधिक है, यह 'रति अति दुखित' से जनाया। गिरासे अधिक दुःख पार्वतीको है, क्योंकि इनके तो सारे आधे शरीरकी ही शोभा ही मारी गई। और रतिका क्या कहना वह तो 'अति दुखित' है। इसमें दो दोष दिखाए एक तो वैधव्य दूसरे अति दुखी होनेसे मन सदा मलिन रहता है जिससे शोभा जाती रहती है। वैधव्यके समान स्त्रीके लिए कोई दूसरा दुःख नहीं है। जैसे भारी और अति प्रिय वस्तुकी हानिसे भारी दुःख होता है वैसे ही पतिके मरणसे उसे भारी दुःख है जिससे शोभा बिलकुल नष्ट हो गई।

☞ देखिए, जैसे नगरदर्शनमें सखियोंके द्वारा श्रीरामजीको ब्रह्मा, विष्णु, महेश और कामदेव इन चारोंसे अधिक सुंदर कहा, उनको रामजीकी उपमाके लिए अयोग्य ठहराया, यथा 'सखि इन्ह काम कोटि छबि जीती॥ बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी'; वैसे ही यहाँ कवि चारोंकी शक्तियोंसे श्रीजानकीजीको अधिक सुन्दर कहते हैं। जैसे वहाँ त्रिदेवमें दोष दिखाया वैसे ही यहाँ उनकी शक्तियोंमें दोष दिखाए। जैसे वहाँ औरोंके नाम नहीं लिये, समुदायको कहा है, यथा 'सुर नर असुर नाग मुनि माहीं। सोभा असि कहुँ सुनिअत नाहीं', वैसे ही यहाँ कहा कि 'जौं पटतरिअ तीय महँ सीया। जग असि जुबति कहाँ कमनीया॥'

बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥६॥

अर्थ—विष और मदिरा जिनके प्रिय भाई हैं उन लक्ष्मीजीके समान विदेहनंदिनीजीको कैसे कहें?॥६॥

☞ श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—"देखिए, क्रमशः कवि हमें किस उच्च शिखरपर ले आता है! सब उपमाएँ छूटीं, चन्द्रमा और अरुण नीचे रह गए। अब एक एक करके देवबधुयें भी सीताजीकी तुलनामें नीचे रह गईं। कविकी नैतिक सुकुमारता बिचारिए कि अबतक श्रीरामजी द्वारा तुलना कराई थी, परन्तु अब देवबधुओंकी निंदा उनके मुखसे ठीक न होती, कारण कि वे मर्यादापुरुषोत्तम हैं। हाँ, कविको सब अधिकार है। उदाहरणार्थ देखिए—'नाम तो चतुरानन पै चूकते ही चले गए।' और 'न्याव न कीन्ह कीन्ह ठकुराई। बिनु कीन्हे लिख दीन्ह बुराई' (जायसी)। जब वे भगवान् तकको कह डालते हैं तब फिर और कौन बचे? महाकाव्यकलामें 'सीता' जगदम्बा हैं तो फिर जगकी स्त्रियाँ उपमामें क्या ठहर सकती हैं? कदापि नहीं, चाहे वे देवबधूयें ही क्यों न हों।

नोट—१ ☞ जैसे गिरा, भवानी और रतिके तनमें दोष दिखाए वैसे दोष लक्ष्मीजीके तनमें नहीं हैं। इसीसे तनमें दोष न कहे, वरंच उनके उत्पत्तिके कारणमें दोष दिखाए। दोष चार स्थानसे देखे जाते हैं—कारणसे, स्वभावसे, संगसे और अंगसे। लक्ष्मीमें चंचलता दोष है, पर इसे कविने न लिखा क्योंकि

उसे (चंचलताको) छोड़कर वे भगवान्‌की सेवा करती हैं। यथा "जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि पद पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहू।" (विनय)। लक्ष्मी सुन्दरता और सुखकी मूल हैं, विषय सुख उनके कटाक्षसे होते हैं। (पं० रामकुमारजी)।

टिप्पणी—१ उत्तरोत्तर अधिक अधिक दोष दिखाते आ रहे हैं। रतिसे अधिक दोष इनमें हैं। विष और वारुणी दोनों भाई इनको प्रिय हैं। अर्थात् इनको सदा कुसंग बना रहता है। दोनों इनके हृदयमें बसते हैं, यथा 'कह प्रभु गरल बंधु ससि केरा। अति प्रिय निज उर दीन्ह बसेरा॥ बिष संजुत कर निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर नारी। ६।१२।' जैसे चंद्रमाका प्रिय भाई होनेसे वह उसे हृदयमें बसाए रहता है वैसे ही लक्ष्मीजी इन्हें अपने हृदयमें बसाए रखती हैं। लक्ष्मी सबको बिषरूप है और मदान्ध किए रहती है। किसीने कहा भी है—'कनक कनकते सौगुनी मादकता अधिकात। वे खाए बौरात हैं ये पाए बौरात।'

नोट—२ संतश्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि—"बिष बारुनी बंधु प्रिय" का भाव यह है कि लक्ष्मीजीका जहाँ निवास हुआ फिर तो मदिरा, अफ़ीम, संखिया इत्यादि आशवादिका भक्षण ही भक्षण है, और लक्ष्मी भी ऐसे ही लोगोंके पास निश्चला हो गईं। लक्ष्मीको भगवत बिरोधी पर कुछ ख्याल नहीं होता, किन्तु जैसे प्राकृत नारियोंको नैहरके लोग अत्यन्त प्यारे होते हैं वैसे ही समुद्र सम्बन्धी मान वह (बिषवारुणी) उनके प्रिय बांधववर्गोंमें हो जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि सागररूपी नैहरके अश्व आदि रत्न भी परिवार हैं, पर परम प्यारे विष और वारुणी ही हैं, जिसका फल नरक है। और श्रीसीताजीकी कृपादृष्टिसे लोग भगवत्तल्लीन तद्‌गत हो जाते हैं।"

टिप्पणी—२ (क) ☞ यहाँ तक एक एक अर्धालीमें एक एक "लोककी स्त्रियोंकी उपमाका निरूपण किया"। इस तरह तीन अर्धालियोंमें तीनों लोकोंकी स्त्रियोंका उपमारूपमें निरूपण हुआ। 'जग असि जुबति कहाँ कमनीया' यह मर्त्यलोककी उपमाका हाल है। 'गिरा मुखर···अतनु पति जानी' यह स्वर्गलोक और 'बिषबारुनी०' यह पाताललोककी उपमाका हाल है। लक्ष्मी पातालसे पैदा हुईं। अथाह समुद्रसे उत्पन्न हुईं और अथाह समुद्रमें वास करती हैं। (ख) 'कहिअ रमा सम किमि बैदेही' इति। भाव कि श्रीजानकीजी विदेहकी कन्या हैं और लक्ष्मीजी जड़ समुद्रकी कन्या हैं; इससे पिता संबंधी दोष भी लक्ष्मीमें हैं और बंधु वाला दोष प्रथम ही कह चुके। दूषितकी उपमा निर्दोषके लिए देनेसे दोष लगेगा—'होइ दोष बड़ अनुचित कीन्हे'। [वैजनाथजी कहते हैं कि "विशेष शोभा तो मुग्धा अवस्थामें होती है और वे सब बड़ी हो गई हैं। अवस्थाविरोध स्वाभाविक उपमानमें दूषण है इसलिये उपमा न दी"। (ग) "गिरा मुखर···किमि बैदेही" में व्यतिरेक अलंकार है क्योंकि उपमानोंसे उपमेयमें अधिक छबि कही गई है]।

नोट—३ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि—"जो विष समुद्रमंथनसे निकला उसे तो शिवजी पीगए और वारुणीको दैत्य पीगए। अतएव यहाँ उनके सजातीय दूसरे बिष वारुणीका अर्थ होना चाहिए। विष और विषयकी एकता है, वह तो एक ही बार मारता है और विषयसे तो अनेक जन्म मरण होते हैं। जहाँ रमाका वास है, वहाँ रामविमुखतारूपी विषयका वास रहता है। वारुणी जो कलवारके यहाँ मिलती है उसे तो साधारण नीच लोग पीते हैं, पर रमामद ऊँच नीच सब पीते हैं, इसका नशा सदा चढ़ा रहता है।" पुनः, रमाके तो १४ भाई बहिन हैं पर विष वारुणीको अति नीच जानकर यहाँ कहा है। धनुप भाईके संगसे दो दोष टेढ़ाई और जीवहिंसा, धन्वन्तरिभाईके संगसे दो दोष (जहाँ रमा तहाँ) भोग और रोग (जहाँ रोग तहाँ धन्वन्तरि), कामधेनुके संगसे दातव्यमें अविचार दोष आया (वह देवतादि जो सुखी हैं उन्हींको देती है सो धन व्यर्थ खर्च होता है, भगवान्‌में नहीं लगता)। घोड़ेके संगसे चंचलता दोष (कहीं स्थिर नहीं रहती), शंखका गुण कि भीतरसे पोला और कठोर शब्दयुक्त (रमाको पाकर सीधे मधुर बोला

नहीं जाता), गजके संगसे मत्तता दोष, मणि ऊपरसे प्रकाशमान और एक कनी कोई खाले तो मर जाय (चोर, डाकू, छलिया उससे प्रेम करते हैं । इसे पाकर लोग ईश्वरविमुख हो जाते हैं, इत्यादि दोष धनवानमें आ जाते हैं), कल्पतरुसे विचारहीनता दोष, रंभासे निर्लज्जता दोष, अमृतके संगसे 'लघु जीवन संबत पंच दसा । कल्पांत न नास गुमान असा' यह दोष, इन्दुका दोष 'गुरुतियगामी०', इत्यादि दोष रमावान पुरुषोंमें होते हैं ।

४ "गिरा मुखर' 'बैदेही" इति । बैजनाथजी लिखते हैं कि "जब जगत्‌में कोई उपमायोग्य नहीं है तब उपमा कैसे बने ? पुनः जब उपमेयका धर्म उपमानमें मिले तब उपमा कहने योग्य होती है । क्रिया, गुण और स्वभावयुक्त होना 'धर्म' कहलाता है । जो उपमाएँ मिलती हैं उनमें धर्म (क्रिया गुणस्वभाव) विरोधः पाया जाता है । जैसे, सरस्वती रूपवती हैं पर बकवादी हैं और श्रीकिशोरीजीका गंभीर स्वभाव है । अत इस उपमामें स्वभावविरोध दोष है । भवानीका तन आधा है और श्रीजानकीजी सर्वाङ्ग परिपूर्ण हैं । अतः भवानीसमान कहनेमें गुण विरोध दूषण आता है । रति अनंगपति होनेसे सदा दुःखी रहती है और श्रीसीताजी सदा प्रसन्न हैं । अतः इस उपमामें क्रिया दोष आता है । लक्ष्मीके विष और वारुणी प्रिय भाई हैं अतः उनका कुछ न कुछ स्वभाव और क्रिया भगिनीमें हुआ ही चाहे । वह मदांध कर देती है यह क्रिया-दोष इनमें है, अतः ये भी उपमायोग्य नहीं हैं ।

जौं छबिसुधा पयोनिधि होई । परम रूपमय कच्छपु सोई ॥७॥
सोभा रजु मंदरु सिंगारू । मथै पानि पंकज निज मारू ॥८॥

दोहा—येहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल ।
तदपि सकोच समेत कबि कहहि सोय सम तूल ॥२४७॥

शब्दार्थ—छबि, शोभा—नोटमें देखिए । समतूल=समान ।

अर्थ—जो छबिरूपी अमृतका समुद्र हो और कच्छप भगवान् वही हों पर परमरूपमय हों ॥ ७ ॥ शोभा रस्सी हो और शृङ्गार ही मंदराचल हो और कामदेव अपने ही करकमलोंसे मथै ॥ ८ ॥ इस प्रकार जब सुन्दरता और सुखकी मूल (एवं सुन्दरता और सुख जिसका मूल है)* लक्ष्मी उत्पन्न हों तो भी कवि बहुत ही संकोचके साथ कहेंगे कि वे सीताजीके समान हैं ॥ २४७ ॥

नोट—१ 'समतूला' एक शब्द है । यथा 'ते सिर कटु तुँबरि समतूला । जे न नमत हरि-गुर-पदमूला' । ११३ (४) में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है। यह गहोरा देशकी बोली है। ग्रंथकार जहाँ तहाँ देश-देशान्तरकी बोली यों की त्यों लिख देते हैं । २—छबि=आकृतिकी लावण्यता—'छबि लावण्यमिति बररुचिः' । शोभा=कांति—'शोभाकान्तीछयोर्मता' इति मेदिनी ।

नोट—२ यदि कहो कि कुछ तो उपमा कही जाय तो उसपर कहते हैं कि "जौं छबि-सुधा०" । अर्थात् विष्णु भगवान्‌की शक्तिमें तो तमामसे दोष हैं पर हाँ, इस प्रकारकी यदि रमाजी प्रगट की जायँ तो भले ही चाहे कोई कह सके कि सीताजीके समान होंगी यद्यपि ऐसा भी कहनेमें संकोच ही होगा ।

टिप्पणी—१ (क) 'जौं छबि सुधा०' इति । 'जौं' का भाव कि छबिसुधाका पयोनिधि होता ही नहीं अतः कहते हैं कि यदि यह असंभव भी दैवयोगसे संभव हो जाय । ['छबिसुधा पयोनिधि' का भाव कि दूधमें गुण और अवगुण दोनों हैं और अमृतमें केवल गुण ही है । उस अमृतसे काम न चलेगा । यहाँ

* अर्थान्तर—सुखकी मूल सुन्दरता वाली अर्थात् मुग्धावस्थासहित परिपूर्ण शोभावाली । (वै०) ।

छबिमय अमृत होना चाहिए। (वै०)]। (ख) प्रथम पयोनिधि कहकर तब कच्छप कहा, क्योंकि समुद्र तो प्रथमसे था, भगवान् कच्छपरूप धरकर पीछे आए। (ग) 'कच्छप सोई' कच्छप वही हो जो प्रथम सिंधुमंथन समय था। 'सोई' कहनेका भाव कि समुद्रमंथनके और सब अंग बदल दिये पर 'कच्छप' को नहीं बदलते, कारण कि कच्छप भगवान्के अवतार हैं, भगवान्से अधिक कौन सुंदर है जिसको कच्छप कहें। (घ) छबिको सुधा कहकर जनाया कि उस समुद्रसे यह समुद्र कहीं अधिक सुन्दर हो, वह क्षीरसमुद्र था जिससे वह लक्ष्मी निकली थीं, यह सुधासमुद्र हो जिसमेंसे उपमायोग्य लक्ष्मीको उत्पन्न करना है। (ङ) 'परमरूपमय' कहनेका भाव कि भगवान्का वह कच्छपरूप भी रूपमय था, पर उससे काम न चलेगा, इसके लिये परमरूपमय कच्छप बनें अर्थात् उससे कहीं अधिक सुन्दरता धारण करें। [पुनः 'परमरूपमय कच्छप' का भाव कि कच्छपावतार विभवरूप न होकर परमरूप हो। ब्रह्मचतुर्व्यूह रूप है—वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध। इनमें वासुदेव व्यूह स्वयं अवतारी हैं, अन्य अवतार हैं। परमरूप वासुदेव व्यूह है। (वि·त्रि०)]।

२ (क) 'सोभा रजु मंदर सिंगारू।०' इति। प्रथम कच्छपको कहकर तब मथनेको कहा क्योंकि जब कच्छप भगवान्ने आकर मंदराचलको पीठपर थामा तब समुद्र मथते बना। प्रथम 'शोभा' कहकर पीछे 'शृङ्गार' कहनेसे शोभाकी बड़ाई दिखाई कि यहाँ प्रथमसे ही शोभा है, उसपर भी ऊपरसे शृङ्गार भी है—सोनेमें सुहागा। शृङ्गार करनेपर शोभा हुई तो उसमें शोभाकी बड़ाई नहीं है। जैसे पयोनिधि और कच्छपका संयोग है वैसे ही छबि और रूपका, रज्जु और मंदरका संयोग है। रज्जुसे मंदर बाँधा गया। इसी तरह शोभा और शृङ्गारका संयोग है, जहाँ शोभा है वहीं शृङ्गार है और जहाँ शृङ्गार है वहाँ शोभा है। (ख) "मथै पानि पंकज निज मारू" इति। यहां शोभाकथनका प्रकरण है। काम सब देवताओंसे सुन्दर है। इसीसे कामको मथनेवाला बनाया और हाथोंको कमल विशेषण दिया। (ग)—पयोनिधिसे लक्ष्मीको प्रकट करनेमें इतनी सामग्री एकत्र थी—पयोनिधि, कच्छप, मंदराचल, रज्जु (वासुकी), दैत्य और देवता, इत्यादि। वैसेही इस छबिसुधापयोनिधिके लिए परमरूपमय कच्छप, शोभा (रज्जु), शृङ्गार (मंदराचल) और कामदेव इत्यादि सामग्री चाहिए। जिससे सुन्दर लक्ष्मी उत्पन्न की जासके। यही सब सुन्दर लक्ष्मीकी उत्पत्तिके मूल हैं, इसीसे दोहेमें 'सुंदरता मूल' कहते हैं। (घ) 'सुखमूल' का भाव कि यहां सब काम सुखमय है, सब काम सुखपूर्वकही है, मथनेवालेको सुख, सर्पको सुख, कच्छपको सुख, इत्यादि। [एक भाव तो स्पष्टही है, दूसरा भाव 'सुंदरता सुख मूल' का यह है कि पूर्व पयोनिधि-मंथनमें कुछ भी सामग्री सुन्दर न थी। समुद्र कहाँसे सुन्दर हो वह तो खारा है, (अथवा, दूधकाही सही, पर दूधमें भी गुण और अवगुण दोनों हैं), पर्वत भी सुन्दर नहीं, इत्यादि। और यहां सब साज सुन्दर—छबि, शृङ्गार, शोभा और देवताओंसे कितना अधिक सुन्दर कामदेव मंथन करनेवाला ''यहां सुंदरताकी एवं सुखकीमूल और वहां दुःखही दुःखकी मूल। यहाँ समुद्र मथा गया, कमठको दुःख, दैत्य देवता सबको दुःख हुआ और यहाँ सब सुखी।]

❀ 'तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल' ❀

जब ऐसी सुन्दर सामग्रीसे सुन्दर लक्ष्मी उत्पन्न होगई तब तो उपमा देनी चाहिए थी। श्रीसीताजी के समान कहनेमें क्यों संकोच है ? यह शंका उठाकर उसका समाधान लोगोंने इस प्रकार किया है—

पं० रामकुमारजी—"उत्पत्ति दो कारणोंसे होती है। एक उपादान दूसरा निमित्त। जैसे घड़ेके वास्ते मृत्तिका उपादान कारण और कुम्हार निमित्त कारण है। यहां छबि, रूप, शोभा, शृङ्गार और काम ये सब लक्ष्मीकी उत्पत्तिके निमित्तकारण हैं। इसीसे सीतासमान कहनेमें संकोच है। जो इन पाँचोंके मथने पर (इन पाँचोंके यथार्थ संयोगसे) लक्ष्मी निकलतीं तो संकोच न होता। यथा 'सुखमा सुरभि सिँगार-छीर दुहि मदन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री॥

गी० १।१०४॥' "इन सबोंका तत्व श्रीरामजानकीजी हैं। इस प्रकार जो सबकी तत्वरूपी लक्ष्मी निकलतीं तो श्रीसीताजीके समान कहनेमें संकोच न होता।" (संकोचका कारण यह है कि शोभा और शृङ्गाररसका मंथन न हुआ, उनकी उपस्थितिमात्र थी। जहाँ इनका भी मंथन हुआ है वहाँ कहनेमें संकोच नहीं है। वि. त्रि.)

रा० प्र०, गौड़जी—कामदेव आदि सब यहां निमित्त कारण हैं। कार्य्यकी उत्तमता कारणकी योग्यतापर निर्भर है। यहां कामदेव मथनेवाला जो निमित्तकारणोंमेंसे एक है वह परात्परकी सृष्टिका एक अत्यल्पांश है, सो उस बेचारेमें क्या योग्यता होगी, जब 'कोटि काम उपमा लघु सोऊ', 'अंग अंग पर वारिअहि कोटिकोटिसत काम', और योग्यताभी कैसी चाहिए कि मथकर उसके बराबर 'सुंदरता सुख-मूल' लक्ष्मी निकाले कि 'उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी।'—यह कामदेवसे होसकनेकी कल्पना भी दुर्घट है। इसी लिए कविको ऐसी अभूतोपमा कल्पिता लक्ष्मीसे भी समता देनेमें संकोच होता है।

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ा)—एक समय जब मैं आगरा कालेजमें ऐसिस्टेंट प्रोफेसर था और मैंने कविकी कल्पनाकी सूक्ष्मताका यह चढ़ाव बताया तो मेरे एक शिष्य मित्रने कहा कि अबतक तो वर्णन 'निषेधात्मक' (Destructive) ही है, ऐब निकालना कठिन नहीं।—इस विचार संघर्षमें मुझे तुलसीदासकी कलाका 'रचनात्मक' (Constructive) गौरव प्रतीत हुआ। कविने विशेष 'बिधि' से जो लक्ष्मी उत्पन्न कराई है, वह वास्तविक लक्ष्मीसे कितनी असीम अधिक सुन्दर होगी यह साफ जान पड़ता है, जब हम देखते हैं, कि 'माल-मसाला' (Raw material) भी बदल गया, क्षीरसागरकी जगह 'छबिसुधा' का समुद्र है; मशीनभी बदली—परमरूपमय कच्छप है, पत्थर की मथानीकी जगह शृङ्गारकी मथानी है, वासुकीकी बिषैली रस्सीकी जगह शोभाकी रस्सी है; यंत्रसंचालकभी वहां अनमिल बेजोड़ थे सुर और असुर, पर यहां कामदेव है; संचालनविधि वहाँ उथलपुथलवाली थी और यहाँ मथना 'पाणिपंकज' से है।—कविताके इस गुणको (Idealization) 'आदर्श सुधार' कहते हैं। चतुराननकी विधिमें कितनी चूकें निकाल दीं ?

अब दूसरे गुणपर विचार कीजिए जिसे संकेतकला (Suggestiveness) कहते हैं। देखिए, अब भी कविने सीताजीको उस लक्ष्मीसे उपमा न दी। कारण कि जिससे उपमा देते हैं उसे बड़ा मानते अवश्य हैं। जैसे, 'तुम अपने समयके रुस्तम हो' में संकेत है कि रुस्तम बड़ा है। सीताजीसे उपमा देनेमें सीताजीकी बड़ाई वैसेही होगई लेकिन फिरभी यह लक्ष्मी भी कहना कम है। संकोचके साथही सीताजीसे उसकी उपमा दी। कारण कि जितना सुधार बताया वह छबि, रूप, शोभा शृङ्गार तथा शृङ्गाररसका है—और सीताजीके आत्मिक गुण अब भी न आए। ग़ालिब ने भी आमकी प्रशंसामें कहा है—'आतशे गुल पै क़न्द का है क़वाम। शीरेके तारका है रेशा नाम'। इस पद्यमें भी काव्यकलाके दोनों गुण लघुरूपमें हैं। मानों रमा सबसे सुन्दर देववधू थीं; सुधारकर उनसे सुन्दर रमा बनाई। पर यदि सीता 'आम' हैं तो यह सुधारी हुई रमा ग़ालिब के शब्दोंमें केवल उनका रेशा हैं। सारी कोशिशपर भी सुन्दरता और सुखही आए जो केवल अंश हैं।

मैं तो इस उपमाकी इस चढ़ती हुई श्रेणीकी कलाको तुलसीदासका कमाल कहता हूँ। सारे कवि क्या पाश्चात्य जगत्के, क्या पूर्वी जगत्के, हमें तो वैसेही छोटे दिखते हैं जैसे एवरेस्ट (हिमालयकी चोटी) के सामने और पहाड़ोंकी चोटियाँ।

श्रीहनुमानप्रसादपोद्दारजी—जिन लक्ष्मीकी बात ऊपर कही गयी है वे निकली थीं खारे समुद्रसे, जिसको मथनेकेलिये भगवान्‌ने अति कर्कश पीठवाले कच्छपका रूप धारण किया, रस्सी बनायी गयी महान् विषधर वासुकी नागकी, मथानीका काम किया अतिशय कठोर मंदराचलपर्वतने और उसे मथा

सारे देवताओं और दैत्योंने मिलकर। जिन लक्ष्मीको अतिशय शोभाकी और अनुपम सुन्दरी कहते हैं उनको प्रकट करनेमें हेतु बने ये सब असुन्दर एवं स्वाभाविक ही कठोर उपकरण। ऐसे उपकरणोंसे प्रकट हुई लक्ष्मी श्रीजानकीजीकी समताको कैसे पासकती हैं। हाँ, इसके विपरीत "जौं छबिसुधा''समतूल"।

जिस सुन्दरताके समुद्रको कामदेव मथेगा वह सुन्दरताभी प्राकृत, लौकिक सुंदरताही होगी; क्योंकि कामदेव स्वयंभी त्रिगुणमयी प्रकृतिकाही विकार है। अतः उस सुन्दरताको मथकर प्रकट की हुई लक्ष्मी भी उपर्युक्त लक्ष्मीकी अपेक्षा कहीं अधिक सुन्दर और दिव्य होनेपर भी होगी प्राकृतही, अतः उसके साथ भी जानकीजीकी तुलना करना कविके लिये बड़े संकोचकी बात होगी। जिस सुन्दरतासे जानकीजीका दिव्यानिदिव्य परम दिव्य विग्रह बना है वह सुन्दरता उपर्युक्त सुन्दरतासे भिन्न अप्राकृत है।—वस्तुतः लक्ष्मीजी का अप्राकृत रूप भी यही है। वह कामदेवके मथनेमें नहीं आसकती और वह जानकीजीका स्वरूपही है, अतः उनसे भिन्न नहीं, और उपमा दी जाती है भिन्न वस्तुके साथ। इसके अतिरिक्त जानकीजी प्रकट हुई हैं स्वयं अपनी महिमासे। उन्हें प्रकट करनेकेलिए किसी भिन्न उपकरणकी अपेक्षा नहीं है। अर्थात् शक्ति शक्तिमान्‌से अभिन्न, अद्वैत तत्त्व है, अतएव अनुपमेय है, यही गूढ़ दार्शनिक तत्त्व भक्तशिरोमणि कविने इस अभूतोपमालंकारके द्वारा बड़ी सुन्दरतासे व्यक्त किया है।

पांड़ेजी—'सीयसमतूल'। उस लक्ष्मीको भी सीताजीके समान कहनेमें अर्थात् सीताजीको उपमान स्थानमें और उस लक्ष्मीको उपमेय स्थानमें रखनेमें भी कविको लज्जा लगती है। (वीरकविजीका मत है कि "छबि, परमरूप, शोभा और शृङ्गार ये चारों छबिहीके रूपान्तर पर्यायी शब्द हैं। एकही वस्तुको समुद्र, कच्छप, रस्सी और मथानी वर्णन करना 'द्वितीय उल्लेख अलंकार' है। यह उल्लेख सम्भावनाका अङ्गी है। दोहेमें 'संभावना अलंकार' है और व्यंग्यार्थद्वारा व्यतिरेक अलंकारकी विवक्षितवाच्य ध्वनि है।")

चलीं संग लै सखीं सयानी। गावत गीत मनोहर बानी ॥१॥

सोह नवल तनु सुंदर सारी। जगतजननि अतुलित छबि भारी॥२॥

भूषन सकल सुदेस-सुहाए। अंग अंग रचि सखिन्ह बनाए ॥३॥

शब्दार्थ—नवल=नूतन, नव्य, सुन्दर, स्वच्छ। अतुलित=प्रमाणरहित, अतुलनीय।

अर्थ—सयानी सखियाँ श्रीसीताजीको साथमें लेकर सुन्दर वाणीसे मनके हरनेवाले सुन्दर गीत गाती हुई चलीं॥ १॥ सुन्दर नवल शरीरपर सुन्दर साड़ी शोभित है। जगज्जननी श्रीसीताजीकी भारी छबि अतुलनीय है॥ २॥ सुन्दर अंगोंमें यथायोग्य अपनी अपनी जगहपर सब भूषण शोभित हैं, (जिन्हें) सखियोंने अंग अंगमें सजाकर पहनाए हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'चतुर सखी सुंदर सकल सादर चलीं लेवाई' २४६ पर चलनेका प्रसंग छोड़ा था। बीचमें शोभाके संबंधमें कहने लगे थे। अब फिर वहींसे प्रसंग उठाते हैं-'चली संग लै सखीं सयानी'। इस तरह 'सयानी' का अर्थ 'चतुर' है, यह स्पष्ट करदिया। आदरसे ले चलीं यही सयानपन है, यही सयानेका धर्म है। (ख)-'सखियाँ लेकर चलीं' इसीसे सखियोंको यहाँ प्रधान कहा। फुलवारीमें सखियोंको लेकर सीताजी गिरिजापूजन करने गई थीं, इससे वहाँ श्रीजानकीजीको प्रधान कहा था, यथा 'संग सखीं सब सुभग सयानी। गावहिं गीत मनोहर बानी। २२८।३।' (ग)-'गावत गीत मनोहर बानी' इति। वाणी किसके मनको हरती है, यह आगे विवाह प्रकरणमें स्पष्ट किया है, यथा-'कल गान सुनि मुनि ध्यान त्यागहिं काम-कोकिल लाजहीं'। (घ) यहाँ सखियोंकी चतुरता तीन प्रकारसे दरसाई—चलनेमें चतुर; व्यवहारमें चतुर (संग लेकर चलीं यह व्यवहार है) और गीत गानेमें चतुर। (ङ)-यहाँतक सखियोंकी मनोहरता

चार प्रकारसे दिखाई।-सखियाँ मनोहर, यथा-'छबिगन मध्य महाछबि जैसी', 'चतुर सखीं सुन्दर सकल०'। उनकी चाल मनोहर, यथा-'चाल बिलोकि कामगज लाजहिं'। उनके गीत और वाणी मनोहर हैं-। [नाटकी कलामें रंगमंचपर इसका प्रभाव विचारणीय है (लमगोड़ाजी)]।

२—'सोह नवल तन सुंदर सारी।०' इति। (क) इससे नवल तनकी शोभा कही। अर्थात् नवल तन सुन्दरको भी सुन्दर करनेवाला है, यथा 'सुंदरता कहँ सुंदर करई'। (ख)-'जगतजननि अतुलित छबि भारी' इति। ग्रंथकार केवल कवि नहीं हैं। वे कवि भी हैं और भक्त भी। इसीसे वे मातृबुद्धिसे शोभा कथन करनेमें सकुचाते हैं। फिर भी युक्तिसे शोभाका वर्णन करते हैं। छबि भारी है अर्थात् वर्णन नहीं होसकती और उपमाके द्वारा कहें भी तो कोई तुलना नहीं है। (ग) 'अतुलित छबि भारी' कहनेका भाव कि छबि-सुधापयोनिधिके मंथन करनेसे जो लक्ष्मी उत्पन्न हुई सो भी श्रीजानकीजीकी उपमाके योग्य न ठहरीं तब और तुलना किससे की जाय। अतः उनकी छबिको 'अतुलित और भारी' कहकर उसके वर्णनका साहस छोड़ना पड़ा। त्रैलोक्यमें कोई तुलना नहीं है। ☞इस तरह न बखान कर सकनेके दो कारण कहे, एक तो यह कि जगज्जननी हैं—इससे पाया गया कि वर्णन करते पर पापके डरसे नहीं करते; उसपर दूसरा कारण कहते हैं कि छबि अतुलित भारी है; उसका वर्णन हो ही नहीं सकता तब वर्णन करें भी तो कैसे?

३ 'भूषन सकल सुदेस सुहायें।०' इति। (क) जैसे नवल तनकी शोभासे साड़ीकी शोभा कही वैसे ही अब अंगोंकी शोभासे आभूषणोंका शोभित होना कहते हैं; इस तरह शृङ्गार और भूषण दोनों कहे। शृङ्गारमें 'सारी' है और द्वादश आभूषणोंमें 'सकल भूषन' हैं। ☞कविने न तो अंगोंकी शोभा वर्णन की और न उपमा ही दी, केवल साड़ी और आभूषणोंकी शोभा तन और अंगोंके संबंधसे कही। 'सुदेश' (=सुन्दर देश) से अंगोंकी शोभा कही, 'रचि सखिन्ह बनाए' से पहनानेकी शोभा कही। 'सखिन्ह' बहुवचन देकर जनाया कि सबका प्रेम जानकीजीपर है इसीसे सबने पहनाया। जैसे 'सासुन्ह सादर जानकिहि मज्जन तुरत कराइ। दिव्य बसन बर भूषन अंग अंग सजे बनाइ। ७।११।' में सब सासुओंका प्रेम दिखाया है वैसे ही यहाँ सखियोंका दिखाया। [पुनः, "सुदेस सुहाए' का भाव कि 'सकल भूषण जो रंभादिकके अंगोंरूपी ('कु'अर्थात् कुत्सित) काल देशमें पड़के दुबले हो गए थे सो श्रीजानकीजीके अंग-सुदेशमें आकर मोटे हो गए और अंगसे शोभाको प्राप्त हुए।" (पां०)]।

वि० त्रि०—आभरण बत्तीस कहे गए हैं। इनके पहनानेमें बड़ी पंडिताई है। इस लिये रचकर सँवारना कहा है। सखियोंका कर्त्तव्य मण्डन, शिक्षा, उपालम्भ और परिहास है। उपालम्भ और परिहास फुलवारी प्रसंगमें कह आये हैं। मण्डन इस समय कह रहे हैं। शिक्षा आगे समय पाकर कहेंगे।

नोट—१ यहाँ यह शंका उठाकर कि "पूर्व तो गोस्वामीजीने कहा कि कोई भी उपमा देने योग्य नहीं है और फिर यहाँ कहते हैं कि छबि भारी अतुलित है। जब ऐसी भारी सुन्दरता है तब बहुत (विस्तृत) वर्णन करना चाहिए था सो बहुत अल्प वर्णन किया। यह क्यों?" इसका उत्तर पं० रामकुमारजीने यह दिया है कि गोस्वामीजी साधु हैं, भक्त हैं और कवि भी, अतः उन्होंने दोनों विचारोंसे काम लिया है। उन्होंने किसी अंगका नाम न लिया न उपमा दी। प्रत्यक्ष कुछ शृङ्गार कहा भी नहीं और 'भूषनबसन' शब्दोंसे कह भी डाला—सब शृङ्गार इसके भीतर आ जाता है, इत्यादि टिप्पणीमें लिखा जा चुका है।

२ पांड़ेजी लिखते हैं कि "यहाँ 'सोह नवल तन'''भारी' इस अर्धालीके एक पल्ले (चरण) में शृङ्गाररस कहा है और दूसरेमें शान्तरस। इसको कवि रसाभास कहते हैं, क्योंकि शृङ्गार और शान्तसे विरोध है। परन्तु यहाँ दोनोंको इकट्ठा करदेनेका प्रयोजन यह है कि शृङ्गाररससे जो सुनने वा कहनेवालेके चित्त (में) पत्ता उड़ता जाय वह शान्तरसके अतुलित भारी पहाड़में दबजाय। दूसरा अर्थ यह है कि

'जगज्जननीकी अतुलित भारी छबिसे 'सारी सुन्दरियाँ' अर्थात् सारी सखियाँ एवं गिरा, भवानी, लक्ष्मी और रति इत्यादि सुशोभित हो रही हैं। (यह भाव 'सुंदरि' पाठ करने पर हो सकेगा)। वा, भवानी लक्ष्मी आदि अतुलित छबिवाली जगत्माताएँ इस नवलतनसे सुशोभित हुई हैं।" इत्यादि।

३ बैजनाथजी कहते हैं कि "यहाँ माधुर्य्य शृङ्गाररससे वर्णन उठाया पर यह रस केवल शृङ्गाररसिक महात्माओंके योग्य है। दास वात्सल्य आदि रस इस रसमें ठहर नहीं सकते। और यह ग्रन्थ सभी रस-वालोंके लिये है, अतएव शृङ्गाररसको प्रधान रखते हुए उनके मनके आधारके लिए शान्तरसको उसके आश्रितकर शान्तरसमें ऐश्वर्य्य दर्शाते हैं कि ये जगज्जननी हैं; जगत्‌की उत्पत्ति पालन संहार करनेवाली हैं, उनके तनमें अतुलित भारी छवि है; अतः कौन कह सकता है।

रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नर नारी ॥४॥

शब्दार्थ—रंगभूमि=वह स्थान जहाँ धनुषयज्ञका उत्सव मनाया जा रहा था।

अर्थ—जब श्रीसीताजीने रंगभूमिमें पैर रक्खा तब स्त्री पुरुष (सभी उनका) रूप देखकर मोहित होगए ॥ ४ ॥

नोट—☞ कुछ लोग उत्तरकांडकी 'मोह न नारि नारिके रूपा' इस चौपाईको कहकर यहाँ शंका करते हैं कि "यहाँ श्रीसीताजीके रूपपर 'नारी' क्यों मोहित हो गईं?" और उसका समाधान भी किया है—

१ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि "मोह न नारि नारिके रूपा" जो कहा गया वह सामान्य प्राकृत स्त्रियोंके विषयमें है। और यह तो विदेह दशाकी कुमारी रूप है—'तुरीया जानकी चैव तुरीयो रघुनन्दनः'। 'मोहे' अर्थ मोह कर्म तांत्रवत् वृत्ति हो गई कि भला होता जो इनके सन्मुख बने रहते। यहाँ 'कामासक्त होना' अर्थ नहीं है। पुनः, 'मोहे' अर्थात् मोहनी-विद्या इस तरहकी छागई कि सबके चित्तमें ऐसी निष्ठा हुई कि बिना धनुष भंग किये ही इनका विवाह रामजीसे कर दिया जाय।"

२ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "यहाँ रूपकी बड़ाई करते हैं कि ऐसा भारी रूप है कि नर नारी सभी देखकर मोहित हो गए। 'मोह न नारि नारिके रूपा। पन्नगारि यह रीति अनूपा' में नीति वा रीति वर्णन की कि नारीको देखकर नारी नहीं मोहित होती। यह साधारण रूपकी बात कही। और जिनके विषयमें कहते आ रहे हैं कि "जौं छबि-सुधा, पयोनिधि होई।···तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय सम-तूल" उनके ऐसे परम विलक्षण रूपको देखकर जो सब स्त्री पुरुष मोहित हो गए तो आश्चर्य्य ही क्या? इनके रूपके आगे रीतिकी मर्यादा न रह गई। स्त्रीको देखकर स्त्री नहीं मोहित होती सो भी मोहित हो गई; यह रूपकी अधिकता है, जैसे श्रीरामजीको देखकर खरदूषण मोहित हो गए, उनमें कामविकार नहीं उत्पन्न हुआ।

३ श्रीगौड़जी इसका समाधान इस प्रकार करते हैं कि—"उत्तरकांडमें ज्ञान, भक्ति और मायाके प्रसंगमें कहा गया कि ज्ञान मायापर मोहित हो जाता है, भक्ति मायापर मुग्ध नहीं होती, क्योंकि स्त्रीका स्त्री पर आसक्त होना अस्वाभाविक है। यहाँ 'देखि रूप मोहे नरनारी' में किसी प्रकारकी आसक्तिका भाव नहीं है। यहाँ तो नरनारी कन्या सीताकी शोभाको वात्सल्य भावसे देखते हैं और मोहित हो जाते हैं। उत्तरकांड-वाली चौपाईमें रतिभाव है और यहाँ वात्सल्यभाव है।" इसपर श्रीराजारामशरण (लमगोड़ा) जी कहते हैं "इतना ही क्यों? शृङ्गारके माधुर्य्य तथा सौन्दर्य्य-परख (Æsthetic Faculty) की सीमातक सब प्रकारका मोहना है, हाँ, वह 'मोह' नहीं जो परिभाषिक है।"

४ श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि—'देखि रूप मोहे नर नारी' और 'मोह न नारि नारिके रूपा' दोनों पद अपने अपने स्थलपर यथार्थ हैं, परन्तु दोनों प्रसंगोंको मेलकर एक अर्थ करना नासमझी है क्योंकि

एक पदमें नेत्रका विषय है, दूसरेमें मनका विषय है, इसलिये दो तरहके भाव हैं। क्योंकि मोह होनेके तीन कारण हैं—१ सुन्दर रूपको देखकर मोह होता है। २—स्त्रीपुरुष दोनोंके परस्पर संग होनेसे काम-विषयक मोह होता है। ३—दयाके वश होकर भी मोह होता है। इन्हीं तीन कारणोंसे मोह होता है। जब मोह होनेके तीन कारण हैं और तीनों कारणोंके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं तब मोहमें परस्पर मेल कैसे हो सकता है ?...'रूप देखकर मोहना नेत्रका विषय है; चाहे वह सुन्दर रूपवान स्त्री या पुरुष, पशु या पक्षी कोई हो, उसे देखकर मन मोहित हो जाता है'...उसी तरह श्रीजानकीजीका सुन्दर रूप देखकर सब नर नारी मोहित हो गए। नरनारी दोनोंको मोह होना कामविषयक मोहका अभाव करता है, यदि कामविषयक मोह यहाँ होता तो नरनारी दोनोंका मोहना नहीं लिखा जाता, क्योंकि कामविषयमें स्त्रीके रूपसे स्त्री मोहित नहीं होती यह नीति है—'पन्नगारि यह नीति अनूपा'।' स्त्रीके सुन्दर रूपको देखकर नर नारी दोनोंको मोह होना यह सुन्दर रूपका प्रसंग है और स्त्रीके रूपसे स्त्रीको मोह न होना काम-विषयक प्रसंग है—दोनों प्रसंग भिन्न भिन्न हैं, इनका मेल नहीं हो सकता। पुनः, जैसे 'हरि हित सहित राम जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे।' जिस प्रकार श्रीरामजीको देखकर रमा और रमापति मोहे हैं वैसे ही श्रीजानकीजीको देखकर नर नारी मोहित हुये हैं।'

५ बाबा हरीदासका भी मत है कि "ईश्वरमें जीवधर्म घटित करना उचित नहीं है। जो श्रीसीताजी उद्भवस्थितिसंहारकारिणी हैं उनमें 'मोह न नारि नारिके रूपा' यह जीवधर्म प्राकृत स्त्रियोंका हाल घटाना ठीक नहीं है।"

६ मा०त०वि० कार एक भाव यह लिखते हैं "नर यहाँ तक मोहित हो गये कि तदाकारवृत्ति द्वारा नारीरूप होगए। इस तरह अबला होगये जिसमें धनुर्भंगमें कोई समर्थ नहीं हो। अतः 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई'। यहाँ 'मोह' = अन्य लिङ्ग होना। यथा 'मोहोन्यलिङ्गः स्यादविद्यायां च मूर्छने' इति मेदिनी।"

७ प० प० प्र०—यह मोह काम-विकार-जनित नहीं है। यह अप्राकृतिक सौन्दर्यका प्राकृत नर-नारियों पर जो प्रभाव पड़ा उसका परिणाम है। यह गुणातीत वाचातीत रूपका प्रभाव है। और 'मोह न नारि नारिके रूपा' यह मोह काम विकार जनित है जैसा उनके ऊपरके दोहे—'सोउ मुनि ज्ञाननिधान मृगनयनी बिधु मुख निरखि। बिबस होइ हरिजान नारि बिष्नुमाया प्रगट। ७।११५।'

वि० त्रि०—अलौकिक शोभा ऐसी है कि सहज पुनीत श्रीरामजीका मन क्षुब्ध हो गया तो नारियोंका मोहना कौन आश्चर्य है ? सभी नियमोंमें अपवाद होता है। विश्वमोहिनीका रूप देखकर लक्ष्मी मोहित होती थीं। यथा 'श्री बिमोह जिसु रूपु निहारी।' प्राकृत नारियोंकी गिनती ही क्या है ?

नोट—'मोहे'—मोहित हो गए, मुग्ध हो गए, टकटकी लगाए शोभा देखते रह गए, सब वाह वाह करने लगे, इत्यादि भाव यहां हैं, यथा 'रूप दीपिका निहारि मृगमृगी नरनारि बिथके बिलोचन निमेषैं बिसराइकै। (गी० १।८२।६)।' पुनश्च सत्योपाख्याने यथा 'यं यं बिलोकते सीता स्वभावात्पुरुषं स्त्रियम्। अमज्जतानन्द हृदे स्वभाग्यं मन्यतेधिकम्।' (अ० २ उत्तरार्द्ध श्लोक २०)। अर्थात् जो जो स्त्री पुरुष श्रीसीताजीको स्वाभाविक देखते उनके हृदय आनंदमें मग्न हो जाते और वे अपने भाग्यको बहुत बड़ा मानने लगते थे। यह भाव यहांके 'मोहे' शब्दसे कविने सूचित किया है।

टिप्पणी—१ 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी'। भाव कि यहांतक श्रीजानकीजी शिविकामें आईं—'सतानंद ल्याए सिय सिबिका चढ़ाइकै'। अब रंगभूमिमें पहुँचकर पालकीसे उतरीं। 'चलीं संग लै सखीं सयानी' यहांसे प्रसंग मिलाते हैं। चलकर जब यहां आईं। (कल्पभेदसे दोनों भाव हो सकते हैं। गीतावलीमें पालकीपर चढ़कर आना कहा है और यहाँ पैदल चलकर आना भी अर्थ कर सकते हैं। पग धरना= पधारना, पहुँचना)।

२ प्रथम रूपका वर्णन करके पीछे 'नर नारि' का मोहित होना कहा। इसमें एक भाव यह है कि

'श्रीसीताजी श्रीरामजीकी आद्याशक्ति हैं, माया हैं। माया विश्वमोहनी होनी ही है, इस भावसे सब नर नारी मोहित हुये', सम्भव है कि ऐसा लोग कहें पर यह बात नहीं है। इसीका निषेध करनेके लिये कहते हैं कि 'रूप देखि मोहे' अर्थात् मायासे मोहित नहीं हुए, उनका 'रूप' देखकर मोहित हुए। ☞यहां नर नारीका मोहना कहा क्योंकि यहाँ नरसमाज है, यहां मनुष्य ही हैं और महादेवपार्वतीके विवाहमें देवसमाज था इससे वहाँ देवताओंका मोहित होना कहा, यथा 'देखन रूप सकल सुर मोहे'।

हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाईं। बरसि प्रसून अपछरा गाईं ॥५॥

पानि सरोज सोह जयमाला। अवचट चितए सकल भुआला ॥६॥

अर्थ—देवताओंने प्रसन्न होकर फूल बरसाकर नगाड़े बजाये और पुष्प वर्षा बरसाकर अप्सरायें गाने लगीं ॥ ५ ॥ करकमलोंमें जयमाल सुशोभित है। उन्होंने समस्त राजाओंको अवचट (अचक्का, औचक वा अचानक ही) देखा। ६ ॥❀

टिप्पणी १ (क) 'हरषि सुरन्ह०'। देवता श्रीयुगल सरकार श्रीसीतारामजीका दर्शन कर रहे हैं। उनका रूपसादृश्य अर्थात् दोनोंका सदृश रूप देखकर देवताओंको हर्ष हुआ, वे आनन्दमें मग्न हो पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। पुनः, फूलोंकी वृष्टि करना और नगाड़े बजाना यह देवताओंकी सेवा है, —'बरषहिं सुमन जनावहिं सेवा'। सेवाके समयमें हर्ष होना आवश्यक है; अतः हर्षित हो सेवा और मंगल शकुन जनाते हैं। ☞श्रीरामजीके आगमनपर देवताओंका गाना कहा था—'बरषहिं सुमन करहिं कल गाना ॥ २४६।८ ॥', और श्रीजानकीजीके आगमनपर अप्सराओं अर्थात् देवबधूटियोंका गाना लिखते हैं—पुरुषके आगमनमें पुरुष और स्त्रीके आगमनपर स्त्रियोंने गान किया, यह परस्पर जोड़ दिखाया। (त्रिपाठीजीका मत है कि पुष्पवर्षा अप्सराओंने की, स्त्रीपर पुष्पवर्षाका अधिकार स्त्रियोंको ही है। भगवतीपर पुष्पवर्षाका साहस देवताओंको नहीं हुआ, अतः वे दुंदुभी बजानेलगे)। दोनोंका आगमन एक समान वर्णन किया गया, यथा—

जानि सुअवसर सीय तब पठईं जनक बोलाइ	१.	राजकुँवर तेहि अवसर आए
रंगभूमि जब सिय पगु धारी	२.	रंगभूमि आये दोउ भाई
हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई	३.	देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना
बरषि प्रसून अपछरा गाई	४.	बरषहिं सुमन करहिं कल गाना
देखि रूप मोहे नर नारी	५.	देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे
सिय सोभा नहि जाइ बखानी	६.	श्रीरामजीकी शोभा वर्णन की
पानि सरोज सोह जयमाला	७.	कर सर धनुष बाम बर काँधे
उपमा सकल मोहि लघु लागीं	८.	सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ
भए मोह बस सब नर नाहा	९.	प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे
बिनु बिचार पन तजि नरनाहू। }	१०.	{ असि प्रतीति सब के मन माहीं। राम चाप तोरब सक
सीय राम कर करहि बिवाहू ॥ ०० }	११.	{ नाहीं। बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला'''
जानि सुअवसर सीय तब पठईं जनक० ।	११.	चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक०
चली संग लै सखी सयानी	१२.	पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला। देखन चले धनुषमखसाला
जगतजननि अतुलित छबि भारी	१३	मनहु मनोहरता तन छाए
सोह नवल तन सुंदर सारी	१४.	कटि तूनीर पीत पट बाँधे

❀ अर्थान्तर—सब राजाओंने उनको अचनाक देखा।

२ (क) 'पानिसरोज सोह जयमाला' कहकर जयमालकी शोभा कही। जयमाल एक तो स्वयं शोभित है, दूसरे करकमलोंसे भी शोभा पा रहा है, तीसरे जयकी शोभासे युक्त होनेसे भी शोभित है, यथा 'कर सरोज जयमाल सुहाई। बिश्वबिजय सोभा जेहि छाई। २६४।२।' इस तरह मालाकी तीन प्रकारसे शोभा दिखाई। स्वयं सुन्दर, सुन्दर करकमलोंकी शोभा पाकर सुन्दर और विश्वविजयकी शोभासे अर्थात् नामसे सुन्दर। (ख) ☞ यहाँ किसी खास वस्तु या पुष्पकी मालाका नाम नहीं लिखनेसे अपनी अपनी रुचि अनुसार अनुमान कर सकते हैं, भावुकोंके भावोंके लिए पूरी जगह छोड़ दी है। चाहे सुवर्णका हो, चाहे मंदारका, चाहे कमलका हो अथवा चाहे जिस चीजका हो सबका ग्रहण यहाँ हो सकनेकी काफी गुंजाइश है। जैसे नवल तनमें सुन्दर साड़ी सोह रही है, जैसे सुन्दर अंगोंमें सुन्दर आभूषण शोभित हैं, वैसे ही करसरोजमें जयमाल शोभित है। रुचि अनुसार साड़ी, आभूषण और माला समझ लें। मतभेद तथा रुचिभेद होनेसे किसीका नाम न दिया गया। केवल इतना जना दिया कि जयमाल अपने नामसे, अपने रूपसे और संगसे, तीनों प्रकारसे शोभित है।

नोट—१ अ० रा० में सोनेकी जयमालाका उल्लेख है। यथा "सीता स्वर्णमयीं मालां गृहीत्वा दक्षिणे करे। स्मितवक्त्रा स्वर्णवर्णा सर्वाभरणभूषिता। १।६।२६।" रघुवंशमें इन्दुमतीके स्वयंवरमें दूब और महुआके पुष्पोंकी मालाका वर्णन है, यथा 'एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किंचिद्विस्रसि दूर्वाङ्क मधूक माला। ६। २५।' श्रीमद्भागवत स्कं० ८ अ० ८ में श्रीलक्ष्मीजीके हाथोंमें (जब वे क्षीरसमुद्रसे निकलीं) श्वेत कमलोंकी मालाका उल्लेख मिलता है। यथा "तस्यांसदेश उशतीं नवकंजमालां माद्यन्मधुव्रतवरूथ गिरोपघुष्टाम्। ...२४।" अर्थात् लक्ष्मीजीने भगवान्‌के गलेमें वह नवीन कमलोंकी माला पहना दी, जिसके चारों ओर झुंडके झुंड मतवाले भौंरे गुञ्जार कर रहे थे। केशवदासजीने श्रीसीताजीके करकमलोंमें कमलकी माला लिखी है। यथा "सीताजू रघुनाथ के अमल कमलकी जयमाल पहिराई..."।

मत-भेद देख गोस्वामीजीने किसी पुष्पका नाम नहीं दिया, तो भी गुप्त रीतिसे उन्होंने इस प्रकरणमें कमलकी माला जना दी है। जैसे धनुष टूटनेपर जब श्रीसीताजी जयमाल पहनानेको चली हैं उस समय कविने कहा है "कर सरोज जयमाल सुहाई। २६४।२।", वैसे ही यहाँ 'पानि सरोज सोह जयमाला'। जैसे वहाँ 'सरोज' दीपदेहली न्यायसे 'कर' और 'जयमाल' दोनोंका विशेषण है, वैसे ही यहाँ 'सरोज' और 'सोह' पानि और जयमाला दोनोंके साथ हैं। 'पानि सरोज सोह' और 'सरोज जयमाला सोह'। इसी तरह गीतावलीमें जयमालके संबंधमें यह पद है—"जयमाल जानकी जलज-कर लई है। सुमन सुमंगल सगुन की बनाइ मंजु मानहु मदन माली आपु निमई है। १।...माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है। मानसतें निकसि बिसाल सुतमाल पर मानहुँ मराल पाँति बैठी बनि गई है। १। ६४। ४।" इस पदमें भी सुन्दर मंगल शकुन सूचक फूलोंकी जयमाला कही, नाम स्पष्ट नहीं किया। हाँ, गुप्तरीतिसे यहां भी कमलका जयमाल जना दिया है। इस तरह कि 'जलजकर' श्लेषार्थक है। उसका अर्थ 'कमलका' (कर=का) और 'हस्तकमल' (कर=हाथ) दोनों ले सकते हैं। जैसे लक्ष्मीजी समुद्रसे श्वेत कमलोंकी माला लिये प्रकट हुईं, वैसे ही यहाँ श्वेतकमलोंकी माला है, यह 'मराल पाँति' से जनाया क्योंकि हंस श्वेत होते हैं। इसी प्रकार श्रीजानकी मंगलमें भी गोस्वामीजी लिखते हैं—"लसत ललित कर कमल माल पहिरावत। काम फंद जनु चंदहि बनज फँदावत। ...६८।" इसमें भी 'कमल' को देहलीदीपकन्यायसे दोनों ओर जनाया है। 'कर कमल', 'कमल-माल'।

इस तरह गुप्तरीतिसे अपना मत उन्होंने अपने ग्रंथोंमें प्रकट भी कर दिया है।

टिप्पणी—३ (क) अवचट=औचक। बिना इच्छाके देखनेको 'औचक' कहते हैं। श्रीसीताजीकी इच्छा राजाओंको देखनेकी नहीं है, उन्होंने श्रीरामजीको देखनेके लिए नजर उठाई, इस तरह अचानक ही

सब राजाओंपर दृष्टि श्रीरामजीको देखनेके कारण डाली, जैसा आगे 'सीय चकित चित रामहि चाहा' से स्पष्ट है। [किसी किसीने राजाओंका चकित होकर सीताजीको देखना अर्थ किया है। प्राचीन टीकाकारों, एवं रामायणी लोगोंने प्रायः श्रीसीताजीका राजाओंकी ओर देखना लिखा है। रा० प्र० कार भी लिखते हैं कि—अवचट = 'इच्छा रहित, जैसे न देखनेवाले पदार्थपर किसी योगसे दृष्टि पड़ जाय'। यहाँ रामजीको देखनेके लिए सब राजाओंपर दृष्टि पड़ी। **अवचट (अव = नहीं। + चट = शीघ्र) = अनजान, अचक्का]।**

नोट—२ वैजनाथजी लिखते हैं कि "श्रीरामचन्द्रजी कहाँ हैं इस चाहमें श्रीसीताजीने अचानक अर्द्धदृष्टिसे, नजर फेंकी, न देख पड़नेपर चित्त चकित हो चारों ओर नेत्र चंचल हुए। अवचट = अचानक अर्द्धदृष्टिसे, कहीं दृष्टि थँभाई नहीं। उरमें रामजीके देखनेकी चाह है, इसलिये चित्त चकित है और नेत्र चारों ओर चंचल हैं, यह देख सब राजा मोहवश हुए"। किसीने दूसरा अर्थ यह भी लिखा है कि "अथवा, इस समय अद्भुतरस प्रगट हुआ, तनकी छटा बिजलीसी छूटी (दमक रही) अतः सबके नेत्र चकचौंधसे हो गए"।

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि "सब राजा अकचकाकर देखने लगे" वा, 'इन्होंने अनजानेमें सब राजाओंकी ओर देखा"। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि "सब राजा चकित होकर अचानक उनकी ओर देखने लगे"। श्रीत्रिपाठीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'जयमालपर राजा लोग दृष्टि लगाए हुए थे। जयमाल ही सीताजीके निश्चित रूपसे पहिचाननेका चिह्न था। राजाओंने एकाएक देखा, पर सीताजीने उन्हें नहीं देखा'।

सीय चकित चित रामहि चाहा। भये मोहबस सब नरनाहा ॥७॥
मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई ॥८॥

शब्दार्थ—चाहना = देखना। यथा 'मुनि अवलोकि सुचित चख चाही। भगति मोरि मति स्वामि सराही।२६।३।' = चाहसे ताकना; खोजना। (श० सा०)। ललकि = बड़ी उत्कंठा लालसा और लालचपूर्वक।

अर्थ—श्रीसीताजी चकित चित्तसे श्रीरामजीको देखने (वा खोजने) लगीं (तब) सब राजा मोहवश हो गए ॥ ७ ॥ उन्होंने दोनों भाइयोंको मुनिके पास देखा। उनके नेत्र (अपनी) निधि पाकर वहीं ललककर जा लगे (स्थिर हो गए) ॥ ८ ॥

नोट—१ पं० रामकुमारजीका अर्थ—"श्रीसीताजी चकित चित्त हैं, श्रीरामजीको चाहती हैं"।

टिप्पणी—१ 'सीय चकित चित रामहि चाहा' इति। 'चकित चित' होनेके भाव कि—(क) सीताजी यह सुन चुकी हैं कि मुनिके साथ आये हैं—'सुने जे मुनि सँग आए काली'। मुनि विरक्त हैं। राजसभामें कौतुक देखने क्यों आने लगे? अतएव सीताजीको संदेह है कि कदाचित् मुनि इसे राजसमाज समझकर यहाँ न आए हों तो राजकुमार भी उनके साथ होनेके कारण न आये होंगे। इसीसे वे चकित चित हैं कि आए या नहीं। रामहीकी चाहमें उनका चित्त है। (ख) श्रीरामजी कहाँ हैं? उनके 'मिलनेके' (दर्शनके) लिए सीताजी चकित देख रही हैं, यथा 'चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता' २३२ (१) इस चौपाईसे चारों ओर राजाओंको देखना पाया गया। यहाँ 'सीय चकित चित रामहि चाहा' इतना मात्र कहते हैं, 'चहूँ दिसि' देखना नहीं कहते। (भाव कि जब सब ओर देखा राजाओं पर औचक दृष्टि पड़ी पर श्रीरामजी न देख पड़े तब चित्त चकित हो गया क्योंकि वे तो श्रीरामजीको ही देखना चाहती हैं)।

२ (क) "रामहि चाहा। भए मोहबस सब नरनाहा" इति। श्रीसीताजी श्रीरामजीको चाहती हैं। जब सब राजाओंको चकित चित्त देखने लगीं—'अवचट चितये सकल भुआला', तब सब मोहवश हो गए।

सब यही समझने लगे कि हमको ही चाहती हैं। (ख) ☞ प्रथम जनकपुरवासियोंका 'मोह' (मोहित होना) कहा, यथा 'देखि रूप मोहे नर नारी' और अब सब राजाओंका मोह कहते हैं। तात्पर्य कि जनकपुरवासियोंका मोह वात्सल्य लिए हुए है और राजाओंका मोह शृंगार लिए हुए है। दोनोंका मोह पृथक् पृथक् प्रकारका है; इसीसे दोनोंका मोह अलग अलग लिखा। पुनः भाव कि—(ग) पूर्व रूप देखकर नरनारियोंका मोहित होना कहा—'रूप देखि मोहे नर नारी', इससे जनाया कि स्त्री पुरुष 'रूप देखकर' मोहित हो गए पर वह (वात्सल्य) मोह थोड़ी ही देर बाद न रह गया, देखते ही भरमें रहा, इससे वहाँ 'देखि' पद दिया। और यहाँ लिखा कि नरनाह 'मोह बस' हुए, अर्थात् राजाओंके हृदयोंमें मोह बस गया, सीताजीकी प्राप्तिकी इच्छा बराबर बनी रही। (घ) 'सब नरनाहा' इति। पूर्व कहा कि 'अवचट चितए सकल भुआला' सबको देखा, अतः 'सब' का मोहवश होना भी कहा।

नोट—२ "अवचट चितये···भये मोह बस" इति। सत्योपाख्यान उत्तरार्ध अ० २ में लिखा है कि जिस समय श्रीजानकीजी रंगभूमिमें लाई गईं तब उनको देखकर कोई राजा अपने मालाकी गुरियाँ गिनने लगा, कोई तलवार खींचता है, कोई मुस्कुराता है, कोई मोती निछावर करता है, कोई अपने आभूषण दिखलाता है, कोई हँसता, कोई दाढ़ी मूछपर हाथ फेरता।···इत्यादि। श्रीजानकीजीने किसीकी ओर न देखा। यथा "कन्या समागता तत्र सीता नाम्नी सखी गणैः ॥ ४६ ॥ तत्र शृङ्गार चेष्टाश्च राज्ञां जाता सहस्रशः। कश्चितं करं किरीटे च कलयामास भूपतिः ॥ ४७ ॥ पद्मं च भ्रामयामास पाणिना च नराधिपः। ददार पद्मपत्राणि नखैः किंचित्स्मयन्निव ॥ ४८ ॥ कश्चिद्वार्ता प्रलापंच सख्या चक्रे महामनाः। कश्चिन्मुक्तामयींमालां गणयामास पाणिना ॥४९॥ केनचित्कारणेनैव जहास कोपि भूपतिः। खड्गं कोशाद्विकृष्यैव दर्शयामास चापरान् ॥ ५० ॥ तांबूलभक्षणं कश्चिच्चकार च महामनाः। हस्तमुत्क्षिप्य वेगेन रत्नमुद्रा विदीरितम् ॥ ५१ ॥ बभाषे च सभा मध्ये दर्शयन् पाणिभूषणम्। जहास कश्चिद्भूपालो दंतान् संदर्शयन्निव ॥ ५२ ॥ श्मश्रूणि परिमार्ज्याथ पाणिना स्वेन निर्भयः। एवं बभूव शृंगारो जनानां रंगवासिनाम् ॥ ५३ ॥ आजगाम तदा सीता धनुषो निकटे मुदा। पूजयित्वा पिनाकं तु जगाम मातृसन्निधौ ॥ ५४ ॥"—ये सब भाव भी 'भये मोहबस' में आ गए।

टिप्पणी—३ 'मुनि समीप देखे दोउ भाई।०' इति। (क) किसी रामायणमें श्रीरामलक्ष्मणजीका मुनिके आगे बैठे होना, किसीमें अगल-बगल दहिने बायें आसपास और किसीमें एकही ओर दोनोंका बैठना लिखा है, इसीसे ग्रंथकारने 'मुनि समीप' कहकर सब ऋषियोंके मतोंका आदर किया, सब भावोंका ग्रहण इस पदसे हो गया। पुनः 'मुनि समीप' कहनेसे जनाया कि जानकीजी दोनों भाइयोंको देखते ही उनके स्वरूपसे ही पहचान गई थीं और मुनिके समीप होनेसे चिन्हारीकी अत्यन्त दृढ़ता हो गई। क्योंकि यह सुन चुकी हैं कि मुनिके साथ आये हैं अतः उनके पास बैठे हैं। (ख) 'ललकि लगे लोचन'। श्रीसीताजीके नेत्र श्रीरामजीके दर्शनके लिए अत्यन्त उत्कंठित थे। (वे चकित चित्तसे रामजीकी खोजमें थीं) इसीसे उनके नेत्र ललककर वहाँ जा लगे। ☞ स्मरण रहे कि प्रथम भेंटमें (फुलवारीमें) अपनी निधिको पहचानना लिखा गया है—'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचानें।२३२।४।' और यहाँ उस 'निधि' का पाना कहते हैं। कारण कि पहचानना तो प्रथम ही बार होता है, इससे फुलवारीमें प्रथम मुलाक़ातमें पहचानना लिखा गया। उस समयसे इस समय तक एक दिन रातका अन्तर पड़ा। फुलवारीमें भी सवेरे ही भेंट हुई और आज यहाँ रंगभूमिमें भी सवेरे ही दर्शन हुए। इतना बीच पड़नेसे 'निधि' का हाथसे छूटना निश्चित हुआ। वह निधि इतनी देरके लिए हाथसे चली गई थी; इसीसे यहां निधिका 'पाना' कहा। [पुष्पवाटिकामें 'निज निधि' कहा था और यहाँ केवल 'निधि'। कारण कि पुष्पवाटिका-प्रसंगमें बहुत वर्षोंके बाद प्रथम दर्शन मिले थे, इसीसे वहाँ 'निज निधि' का पहचानना कहा था और यहाँ तो आठ नौ पहरके पीछे फिर दर्शन हो गया, अतः 'निधि' ही कहा। (प्र० सं०)। (ग) 'लगे'—भाव कि राजाओं

की 'अवचट चितए' पर लोचन उनपर लगे (ठहरे) नहीं, देखते ही वहाँसे हट गए। (घ) विना वाचक पदके 'गम्य उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (वीर)]।

प. प. प्र.—(क) 'अवचट चितए सकल भुआला ॥ सीय चकित चित रामहि चाहा ॥' यह सीताजीकी दशा हुई जब वे रंगभूमिमें आईं, पर श्रीरामजी जब रंगभूमिमें आए तब उनके नेत्र सीताजीकी खोजमें इधर-उधर नहीं दौड़े। (ख) चन्द्रोदयके समय जो दशा रघुवीरके मनकी थी वह रंगभूमिमें आने पर नहीं रह गई। ऐसा जान पड़ता है कि मानों वे इस शृंगाररसको परिपूर्णतया भूल गए हैं, इस विषयमें पूर्ण उदासीन हैं, निश्चिन्त होकर गुरुजीके पास बैठे हैं। अब कहिए, कामदेवकी विजय हुई या रघुवीरकी? चन्द्रोदयके समय तो एक नरलीला करके बताई। (ग) श्रीसीताजीको प्रथम राजा लोग क्यों देख पड़े यह निम्न नक़शेसे स्पष्ट हो जायगा।

उत्तर

पुरनारियों के बैठने की जगह

पुरवासी पुरुषों के बैठने की जगह

राज मंच

पश्चिम प्रवेश द्वार



शिव धनुष

परशुराम प्रवेश

पूर्व

भग्न शिवधनु

महामुनि और राम-लक्ष्मणजी के मंच का मुख पूर्व की ओर

विश्वामित्र

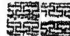
राम

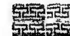
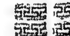
लक्ष्मण

जनक सिंहासन

सीता

जनक कुटुम्बियों के धवल धाम



नोट—१ पाठक देखेंगे कि श्रीसीताजीके नर-नाट्यका आदिसे अन्त तक रामायणमें जैसा निर्वाह हुआ है वैसा श्रीरामजीका नहीं। श्रीरामजीका ऐश्वर्य अनेक स्थलोंमें प्रकट हो गया है। २ स्वयंवरमें प्रायः कन्या जयमाला लेकर सबके पीछे ही आती है। पातिव्रत्यका कैसा सुन्दर निर्वाह यहींसे देख चलिए।

दोहा—गुरजन लाज समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि।
लागि बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि॥२४८॥

अर्थ—गुरुजनों (माता, पिता, आचार्य्य आदि बड़े लोगों) की लज्जासे और बड़ा समाज देखकर श्रीसीताजी सकुचा गईं (अर्थात् गुरुजनों और समाजकी लज्जा लगी कि लोग क्या कहेंगे)। रघुकुलवीर श्रीरामजीको हृदयमें लाकर सखियोंकी ओर देखने लगीं। २४८।

टिप्पणी—१ (क) ☞ जब श्रीसीताजीने फुलवारीमें सखियोंके साथ श्रीरामजीको देखा तब एक तो वहाँ अपनी सखियाँ ही साथमें थीं, दूसरे एकान्त था, यह समझकर विशेष लज्जा न हुई थी। इसीसे वहाँ वे देरतक देखती रहीं। यथा "थके नयन रघुपति छबि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें॥ अधिक सनेह देह भै भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी। २३२ (५-६)।" और यहाँ गुरुजन बैठे हैं और समाज बहुत बड़ा है, इससे नेत्र ललचाकर जा तो लगे पर देरतक वहाँ न ठहर सके। अतएव यहाँ नेत्रोंका 'थकना' और चकोरीकी तरह देखना नहीं लिखा। (ख) 'गुरजन लाज' अर्थात् बड़ोंकी लाज करनी चाहिए, अतः उनकी लाज की। इस कथनसे पाया जाता कि औरोंकी लाज नहीं है, इसीपर कहते हैं कि 'समाजु बड़ देखि सीय सकुचानि'। समाजमें छोटे बड़े सभी हैं, सभीका संकोच हुआ। संकोचका स्वरूप उत्तरार्धमें दिखाते हैं। यहाँ दो प्रकारसे संकोच दिखाया—श्रीरामजीको देखकर गुरुजन समाजका संकोच हुआ, दूसरे गुरुजन समाजको देखकर संकोच हुआ। (ग) तन=ओर, तरफ, यथा 'होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी'। (घ) 'रघुबीरहि उर आनि' इति। प्रथम कहा कि 'मुनि समीप देखे दोउ भाई। लगे ललकि लोचन निधि पाई'। इससे पाया जाता है कि दोनों भाइयोंको देख रही हैं इसीसे 'रघुबीरहि उर आनि' कहकर उसका ब्योरा करते हैं। [पाँड़ेजी लिखते हैं कि "यहाँ 'सीय' और 'रघुबीर' नाम अर्थानुकूल हैं। सीताको शीतलता हुई और रघुबीर इससे कहा कि अब वीरता प्रगट करनेका समय है। (नोट—इस समय देखकर उनको श्रीरामजीकी वीरता तथा उनका प्रभाव स्मरण आ गया। वीर मूर्तिको हृदयमें धारण किया)]। (ङ) 'उर आनि' का भाव कि बाहरसे वियोग हुआ, वियोग नहीं सह सकतीं इससे भीतरसे संयोग किया। [पूर्व फुलवारीमें भी कहा था 'चली राखि उर स्यामल मूरति' वैसे ही यहाँ भी 'रघुबीरहि उर आनि' कहा। भाव कि श्रीसीताजी हृदय-भीतिपर चित्र नहीं खींचतीं, ये सीधे सीधे मूर्त्तिको ही हृदयमें रख लेती हैं। 'लागि बिलोकन सखिन्ह तन'—भाव कि हृदयमें मूर्त्तिको रखकर नेत्रकपाट बन्द करने चाहिए थे, पर संकोचके कारण ऐसा न कर सकीं, अतः सखियोंकी ओर देखने लगीं। (वि० त्रि०)। 'चतुराईसे सखियोंकी ओर देखनेमें अवहित्थ संचारी' भाव है—(वीर)]

रामरूपु अरु सिय छबि देखें। नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें॥१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका रूप और श्रीसीताजीकी छबि देखकर स्त्रीपुरुषोंने पलक मारना छोड़ दिया॥ १॥

☞ 'रूप' और 'छबि' इति। लाला भगवान्दीनजी कहते हैं कि "रूपमें आकृति, रंग, वस्त्र, आभूषण सब आ जाते हैं जिससे उस वस्तु या व्यक्तिकी पहिचान होती है। छबिमें केवल सौन्दर्य्य, कान्ति और चमकदमकका भाव ही मुख्य माना जाता है। रूपके उपासकको उपास्यके प्रत्येक अंग वा एक एक

रोमका भी ज्ञान हो सकता है और देखनेका अधिकार है। परन्तु छबिके उपासकको केवल रूपकी छटा और दमक ही दृष्टिमें आती है और कुछ नहीं और वस्तुकी ओर उसका ध्यान ही नहीं जा सकता और न इसका अधिकार है। सीताजीके लिए 'छबि' शब्द देकर गोस्वामीजीने विदेह-राजकुमारीकी मर्य्यादा बड़ी सुन्दर रीतिसे निबाही है।"

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि "कलाका कमाल यह है कि यह सूक्ष्म अन्तर भी निबह गया जो महाकाव्यकलाका गुण है और नाटकीयकलामें सुन्दरताके दोनों अंश बताकर 'मोहे नरनारी' का कारण साधारण शृङ्गारके माधुर्य्यमें भी निभा दिया।"

टिप्पणी—१ प्रथम रामरूप वर्णन किया पीछे श्रीसीताजीकी छबि कही; उसी रीतिसे यहाँ दोनोंको एकत्र करते हैं—'रामरूप अरु सिय छबि देखें'। रामरूपका संबंध 'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे' यहाँसे है और सिय छबिका सम्बन्ध 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी। देखि रूप मोहे नरनारी' से है। जहांसे नरनारियोंके देखनेका प्रसंग छोड़ा था वहींसे फिर कहते हैं। जब रामजी आए तब उनको देखकर सब एकटक देखते रह गए और जब जानकीजी आईं तब इनको सब एकटक देखने लगे। २—"दोनोंको एक ही साथ एकटक चितवते रहना नहीं बनता, क्योंकि श्रीरामजी तो मंचपर हैं और श्रीसीताजी रंगभूमिमें हैं, दोनों एक जगह नहीं हैं तब यह कैसे कहा कि "रामरूप अरु सिय छबि देखे।०?" इसका समाधान यह है कि इस अर्धालीका भाव यह है कि जो स्त्रीपुरुष रामरूप देख रहे हैं वे रामरूपको एकटक देख रहे हैं और जो सीताजीको देखते हैं वे सीताजीहीकी छबिपर एकटक दृष्टि जमाए हुए हैं। अथवा, रामजीको देखकर तब सीताजीको देखते हैं और सीताजीको देखकर तब रामजीको देखते हैं, दोनोंको विना पलक मारे ही देखते हैं।

वि० त्रि०—भाव कि "एक बार तो सब मोह गए, अब सावधान होकर रामजीके रूप और सीताजी की छबिका मिलान करते हैं। परोक्षमें भी मिलान किया था, यथा 'जोग जानकी यह बरु अहई'; अब दोनों मूर्त्तियाँ सामने पाकर मिलान करते हैं। इसलिये 'एकटक लोचन चलत न तारे' की दशा उपस्थित है।"

सोचहिँ सकल कहत सकुचाहीं। बिधि सन बिनय करहिँ मन माहीं॥२॥
हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई। मति हमारि असि देहि सुहाई॥३॥

अर्थ—सभी मनमें सोचते हैं पर कहते सकुचाते हैं। मन ही मन विधातासे बिनती कर रहे हैं॥२॥ 'हे विधि! जनकजीकी मूर्खताको शीघ्र हर लीजिए, और हमारी ऐसी सुन्दर बुद्धि उनको दीजिए॥३॥

टिप्पणी—१ (क) 'सोचहिं सकल'। भाव कि कुछ करतूत (कर्त्तव्य) करते नहीं बनती। यह सबके मन, वचन और कर्मका हाल कहते हैं। मनमें 'बिधि सन बिनय करहि', वचनसे 'कहत सकुचाहीं' और 'सोचहिं' यह कर्म है। रामरूप और सिय-छबि देखकर सबके सोचनेका भाव कि सबकी समझमें दोनों एक दूसरेके योग्य हैं, रामरूप और सीताछबि सदृश हैं, श्रीरामजी श्रीसीताजीके वर होने योग्य हैं; पर रामजी बड़े सुकुमार हैं, उनसे धनुष टूटना कठिन है—यह समझकर सोचमें हैं। (ख) 'कहत सकुचाहीं' क्योंकि राजाको प्रगट जड़ कैसे कहें। प्रगट कहनेमें सकुचते हैं, इसीसे 'बिनय करहिं मन माहीं'। (ग) 'बिधि' से विनय करते हैं क्योंकि संयोग करानेवाले विधि ही हैं, यथा 'तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी। यह संजोग बिधि रचा बिचारी। ३।१७।', 'जेहि बिरंचि रचि सीय सँवारी। तेहि स्यामल बर रचेउ बिचारी। २२३।७।', 'जौं बिधि बस अस बनै सँजोगू। २२२। ७।' इत्यादि। [(घ) 'बिधि' का भाव कि "जनक 'अबिधि' कर रहे हैं, सो आप कैसे करने देते हैं" भाव कि आप बुद्धिके संचालनमें समर्थ हैं जिसकी बुद्धि चाहें पलट सकते हैं, तब आप जनकमहाराजकी बुद्धि पलट दें। (पाँड़ेजी)। पुनः, बिधि = विधानकर्ता]।

२ 'हरु बिधि बेगि जनक जड़ताई ।०' इति । (क) 'बेगि' का भाव कि अभी प्रतिज्ञा सुनाई नहीं गई है, सुना दी जायगी तब कुछ बस न चलेगा । वा, धनुष टूटनेके पश्चात् ऐसी बुद्धि देनेका कुछ प्रयोजन नहीं (क्योंकि जब किसी और ने धनुष तोड़ ही डाला तब तो सीताजी उसीको मिलेंगी, तब कहनेसे क्या लाभ होगा)। वा, आज ही प्रतिज्ञाकी अवधिका अंतिम दिन है, आज ही समय है फिर यह समय न रह जायगा । (पाँड़ेजी) । (ख) 'जनक जड़ताई' इति । विना हानि लाभ सोचे समझे प्रतिज्ञा करना जड़ता है, इस प्रणमें हानिलाभ कुछ भी नहीं, यथा 'अहह तात दारुन हठ ठानी । समुझत नहिं कछु लाभ न हानी' । (ग) 'मति हमारि असि देहि सुहाई' कहकर जनाया कि जनककी मति 'असुहाई' है, जड़ता धारण किये हुए है । जनककी जड़ता और अपनी 'सुहाई मति' आगे बताते हैं ।

बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू । सीय राम कर करै बिबाहू ॥४॥
जगु भल कहिहि भाव सब काहू । हठ कीन्हे अंतहु उर दाहू ॥५॥
येहि लालसां मगन सबु लोगू । बरु साँवरो जानकी जोगू ॥६॥

अर्थ—बिना विचारे ही प्रतिज्ञा छोड़कर राजा सीताजीका विवाह रामजीसे कर दें ॥४॥ संसार उन्हें भला कहेगा और सब किसीको यह बात भा रही है । हठ करनेसे अंतमें भी (आखिर) छाती जलेगी (हृदयमें संताप होगा) ॥ ५ ॥ सब लोग इसी लालसामें मग्न हैं कि जानकीके योग्य वर तो यही साँवला (कुमार) है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'बिनु बिचार' का भाव कि राजा विचारशील हैं, वे विचार करनेपर प्रणका त्याग न कर सकेंगे । 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ । २५२।५।' यह विचार है । अर्थात् प्रतिज्ञा भंग करनेसे सुकृत नष्ट हो जायेंगे । जानकीमंगलमेंभी कहा है कि "नृप न सोह बिनु बचन नाक बिनु भूषन । ४१ ।" अर्थात् वचन का धनी न होनेसे, वचन जानेसे राजा वैसेही अशोभित हो जाता है जैसे नाक विना भूषणके । अतएव बिधिसे प्रार्थना करते हैं कि वे विचार न करें । (भाव कि यहाँ विचारकी कोई बात ही नहीं है, सीता और रामका व्याह होना ही चाहिए । वि० त्रि०) । (ख) पुनः, 'तजि नरनाहू' कहकर जनाया कि प्रतिज्ञाका ग्रहण किए रहनाही जनककी जड़ता है । 'नरनाहू' का भाव कि राजा लोग स्वार्थके आगे सब त्याग कर देते हैं, अर्थसिद्धि जिस प्रकारभी हो उसेही मुख्य मानते हैं । [पाँड़ेजी कहते हैं कि राजाओंका धर्म है कि अर्थपर दृष्टि रक्खें, अतः 'नरनाहू' कहा । पुनः, भाव कि नरनाहका धर्म है कि नरोंका पालन करें, प्रजाकी रुचि रक्खें, प्रण विना विचारे किया है उसके छोड़नेसे नरों (प्रजा) का पालन होगा, सिय-रामका विवाह होगा, सारी प्रजाको सुख होगा । राजाओंको अपना लाभ देखना चाहिये । योग्य वर मिलता है यह लाभ है । पर ये यह लाभ विचारते नहीं, अतः मनाते हैं कि उनको बुद्धि दें कि यह लाभ देखें ।]। (ग) 'सीय राम कर करै बिवाहू'। भाव कि श्रीरामजी सीताजीके व्याहने योग्य हैं, सीताजीके सदृश उनका रूप है, वे प्रणके योग्य नहीं हैं, यथा 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा । कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ।' पनके योग्य नहीं हैं । अतः 'पन तजि करै बिवाहू' । यह 'सुहाई मति' है । सुहाई मतिका अर्थ यहाँ खोला ।

२ 'जग भल कहिहि भाव सब काहू ।०' इति । (क) भाव कि प्रण छोड़ देनेसे जगत् भला कहेगा और न छोड़नेसे जगत्भी भला न कहेगा, अपयश होगा और अन्तमें हृदयमें संताप होगा । इस तरह इतनेमेंही अपनी मतिका गुण और जनककी मूढ़ताका दोष कह दिया । (ख) पुनः भाव कि यदि कोई कहे कि प्रण छोड़नेसे अपयश होगा, यथा 'अब करि पैज पंच महँ जो पन त्यागै । बिधि गति जानि न जाइ अजसु जग जागै ।' (जा०मं० ४३) । तो उसपर कहते हैं कि अपयश न होगा वरंच अच्छाही होगा क्योंकि यह बात सभीको प्रिय लग रही है, कोईभी ऐसा नहीं है जिसे यह बात अप्रिय लगती हो। और यदि हठ करेंगे

तो अन्तमें भी दुःख मिलेगा, यथा 'जौं हठ करहु प्रेमबस बामा। तौ तुम्ह दुख पाउब परिनामा। २।६२।', 'हठ बस सब संकट सहे गालव नहुष नरेस। २।६१।' (ग) 'अंतहु' का भाव कि हठहीके कारण अभी दाह है पर अभी तो इतनाही पश्चात्ताप है कि पहले इनको देखा न था नहीं तो ऐसा प्रण न करते, यथा "ए जाने बिनु जनक जानियत करि पन भूप हँकारे। नतरु सुधासागर परिहरि कत कूप खनावत खारे। गी० १।६६।" और अंतमें जब कन्या कुँआरी रह जायेगी तब भी दाह बना रहेगा। अथवा, यदि किसी अयोग्य पुरुषसे धनुष टूटा तो अन्तमें यह संताप होगा कि हमने क्यों यह प्रण किया, न करते तो अच्छा होता; इससे अभी प्रण छोड़ देना अच्छा है। श्रीजनकजीभी यह जानते हैं कि रामजी जानकीजीके योग्य हैं, रही बात यह कि प्रण किए हैं, प्रण त्याग नहीं करते; इसीसे उनका हठ करना निश्चित करते हैं।

३ 'येहि लालसा मगन सब लोगू।०' इति। (क) उपक्रममें 'सोच' कहा और उपसंहारमें 'लालसा' कहते हैं, इससे पाया गया कि यहाँ सोच और लालसा दोनों हैं—राजाके हठका शोच है, प्रण छोड़कर व्याह कर दें यह लालसा है। सबको शोच है और सबको लालसा है, इसीसे दोनों जगह सबको कहा—'सोचहिं सकल०', 'मगन सब लोगू'। ('मगन सब लोगू' से जनाया कि इस अभिलाषामात्रसे उन्हें अत्यन्त आनन्दानुभव हो रहा है। नगरदर्शनके समय जो सखी-समाजमें निर्णय हुआ था -'जोग जानकी यह बरु अहई' वही निर्णय यहाँ सब लोगोंका हुआ कि 'बर साँवरा जानकी जोगू।' वि० त्रि०)

नोट—"येहि लालसा मगन सब लोगू०' इति। गीतावली और जानकीमंगलमें पुरवासियोंकी लालसा इसी प्रकार कुछ भेदसे दिखाई गई है। पर चाहते सब यही हैं कि श्रीरामजीके साथ श्रीजानकीजी-का विवाह हो। यथा "भूपभवन घरघर पुर बाहर इहै चरचा रही छाइ कै। मगन मनोरथ मोद नारि नर प्रेम बिबस उठैं गाइ कै। २। सोचत बिधि गति समुझि परसपर कहत बचन बिलखाइ कै। कुँवर किसोर कठोर सरासन असमंजस भयो आइ कै। सुकृत सँभारि मनाइ पितर सुर सीस ईस पद नाइ कै। रघुबर कर धनुभंग चहत सब अपनो सो हितु चितु लाइ कै। गी० १।६८।', 'पुरनरनारि निहारहिं रघुकुलदीपहिं। दोसु नेहबस देहिं बिदेह महीपहि।··· जा० मं० ४१।'

श्रीराजारामशरणजी—सामाजिक मनोवैज्ञानिक उपन्यास कलाका कितना सुन्दर उदाहरण है! साधारण जनताका कितना ठीक चित्रण! वहाँ बस एक लालसाकी मग्नता है। 'बरु साँवरो जानकी जोगू' फिर 'बिचार' (विवेक) 'पन' (सत्य) ही 'जड़ता' और 'हठ' रूप दिखते हैं। आह! कौन सोचता है कि यह 'नरनाह' की मर्यादाके विरुद्ध होगा! वहाँ तो विधातासे कहते हैं कि जल्दी ('बेगि') ही सब विधान ही पलट दीजिए। साधारण लोगोंमें सत्र कहाँ? वहाँ तो कसौटी है सर्वसाधारणका 'कहना', (विवेकी पुरुषोंका नहीं। उनका विचार ही वहाँ तक नहीं जाता, उनके जगमें वे हैं ही नहीं), उन्हींका 'भाव' (अच्छा लगना) अपना और 'दुःख' (दाह)।

तब बंदीजन जनक बोलाए। बिरिदावली कहत चलि आए ॥७॥

कह नृपु जाइ कहहु पन मोरा। चले भाट हिय हरषु न थोरा ॥८॥

शब्दार्थ—बिरिदावली (विरुदावलि)=गुण, प्रताप, यश, पराक्रम आदिका सविस्तर वर्णन। वंशावलीका यशवर्णन।

अर्थ—(जब श्रीसीताजी रंगभूमिमें आईं) तब जनक महाराजने भाटोंको बुलाया। वे निमिवंशकी विरुदावली कहते हुए चले आए ॥ ७ ॥ राजाने उनसे कहा कि हमारा प्रण (सब राजाओंसे) जाकर कह दो। (आज्ञा सुनकर) भाट चले, उनके हृदयमें कुछ थोड़ा हर्ष नहीं है अर्थात् बहुत हर्ष है ॥ ८ ॥

श्रीराजारामशरणजी—'तब' शब्दने नाटकीय कलावाले विरोधानन्दको कितना उभार दिया है!

Dramatic Irony ! इस घोषणाका कटु प्रभाव जो जनतापर पड़ा होगा वह विचारणीय है मगर मर्यादा यह है कि हुल्लड़ नहीं मचा ।

टिप्पणी—१ 'तब बंदीजन जनक बोलाए ।' इति । (क) 'जब' 'तब' का संबंध है । इस अर्धालीका संबंध पूर्व 'रंगभूमि जब सिय पगु धारी । २४८।४ ।' से है । प्रसंग छोड़कर बीचमें सब लोगोंका हाल वर्णन करने लगे थे, अब यहाँ उस प्रसंगको फिर मिलाते हैं । (ख) 'बंदीजन' बहु बचन है । बहुतने बंदियोंको बुलाया क्योंकि समाज बहुत बड़ा है, एकसे यह कार्य्य न होता । अथवा, बहुत विलंब होता । बंदीजन कौन हैं, वे क्या काम करते हैं, यहाँ यह भी बताते हैं । वे वंशका विरद कहते हैं अर्थात् वंशकी प्रशंसा करते हैं, यथा 'बंस प्रसंसक बिरिद सुनावहिं । ३१६।६ ।' वे वंशके गुण गाते हैं, यथा 'चातक बंदी गुनगन बरना । ३ । ३८ ।', 'बंदी बेदपुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम । २।१०५ ।' [निर्मल बुद्धिवाले और प्रस्तावके अनुकूल बोलनेवाले बन्दी कहलाते थे—'वन्दिनस्त्वमलप्रज्ञाः प्रस्ताव सदृशोक्तयः ।' (वि० त्रि०)] । (ग) 'बोलाए' और 'कहत चलि आए' से पाया गया कि वे दूर थे, अपनी जगहसे ही विरुदावली कहते चले आकर राजा जनकके पास पहुँचे; रंगभूमि बहुत भारी है । पुनः, 'बोलाये' से यह भी सूचित होता है कि वे सब इस समय 'रामरूप और सियछबिके दर्शनमें मग्न थे इससे उन्हें बुलवाना पड़ा, नहीं तो वे तो अपनेहीसे बिना बुलाए ही आया करते हैं । (घ) 'बिरिदावली कहत चलि आए' क्योंकि यह उसीका समय है । विरदावलीसे लोगोंको ज्ञात हो जायगा कि श्रीजानकीजी ऐसे वंशकी कन्या हैं, इससे धनुष तोड़नेमें उत्साह होगा ।

२ 'कह नृप जाइ कहहु पन मोरा ।०' इति । (क) 'जाइ' से जनाया कि जहाँ जनकमहाराज हैं वहाँसे वह स्थान दूर है जहाँ राजा लोग बैठे हैं । रंगभूमिका विस्तार भारी है, यथा 'अति बिस्तार चारु गच ढारी । (ख) 'कहहु पन मोरा' । भाव कि प्रण सुनकर राजा आए हैं, यथा 'दीप दीप के भूपति नाना । आए सुनि हम जो पन ठाना'; अब पन सुनकर धनुष तोड़नेको उठेंगे, यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे । भटमानी अतिसय मन माषे ॥ परिकर बाँधि उठे अकुलाई । चले इष्टदेवन्ह सिरु नाई ।' [पाँड़ेजीका मत है कि 'सब राजा शोभा देखनेमें धनुषयज्ञका प्रयोजन भूल गए थे । उनको जतानेके लिए, जिस लिये आए हैं उस कार्य्यमें लगानेके लिए भाटोंसे पन कहनेको कहा' । (यह समाजका क़ायदा है कि सबके जुटनेपर मंत्री आदि सबको सभाका कार्य्य बताते हैं तब काम प्रारंभ होता है)] । (ग) 'चले भाट' । राजाने कहा कि 'जाइ कहहु' इसीसे उनका चलना कहा । 'भाट' कहकर 'बंदीजन' का अर्थ स्पष्ट कर दिया । (घ) 'हरष न थोरा' । बहुत हर्षका कारण कि नीतिमें लिखा है कि राजाकी आज्ञा प्रतिपालन हर्षपूर्वक करे । विशेष हर्षसे जनाया कि राजामें इनकी बहुत भक्ति है इसीसे उनकी आज्ञा पालन करनेमें अत्यन्त हर्ष है । [वा, हर्ष है क्योंकि स्वामीने अपने मुखसे यह सेवा फ़रमाई है, अपनेको कृतार्थ माना । वा, ऐसे बड़े समाजसे आज हमें स्वामीकी प्रतिज्ञा बड़े सुन्दर पदोंमें कहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है । अथवा, उनको शकुन हो रहा है कि उनकी लालसा पूरी होगी, श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे । अतः हर्ष बहुत है । (पं०) । ऐसे महोत्सवके समयमें अपनेको यह बड़ा अधिकार मिला यह समझकर हर्षित हैं । (वै०) । पाँड़ेजी कहते हैं कि "हरष न थोरा' का 'थोड़ा भी हर्ष न हुआ' यह अर्थ यहाँ प्रसंगानुकूल है, क्योंकि सबका मनोरथ यही था कि 'बरु साँवरो जानकी जोगू' और सब यही माँगते थे कि 'पन परिहरि हठि करइ बिवाहू' । उन्हींमें ये भाटभी हैं । 'न थोरा' इस श्लिष्टपदद्वारा यह गुप्त अर्थ खोलना 'विवृतोक्ति अलंकार' है । प्र० स्वामी पाँड़ेजीके अर्थसे सहमत हैं कि "यही समयानुकूल अर्थ है, आगे 'बिदेह' शब्द भी इसी भावसे प्रयुक्त हुआ है"] । (ङ) 'जाइ कहहु···' से पाया गया कि राजा जानते हैं कि बंदीगणोंको मालूम है कि क्या कहना है । इसीसे उन्होंने विस्तारसे नहीं कहा । (अथवा, आगे विस्तारसे कहना है इससे यहां कविने इतना ही कहा) ।

दोहा—बोले बंदी बचन बर सुनहु सकल महिपाल ।
पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल ॥२४६॥

अर्थ—बंदीजन (ये) सुन्दर श्रेष्ठ बचन बोले--हे समस्त पृथ्वीपतियो! (हमारे श्रेष्ठ वचन) सुनिये। हम विदेहराजका विशाल प्रण भुजा उठाकर कहते हैं ॥ २४६ ॥

टिप्पणी--१ (क) 'बचन बर' से सूचित किया कि हमारे वचन वाणीके अठारहों दोषोंसे रहित हैं। † [वचन बड़ी चतुरतासे कहे गए हैं। पुनः मधुर, कठोरतारहित, राजाओंका उत्साह बढ़ानेवाले, धनुषभंगके लिए उत्तेजित करनेवाले, प्रिय इत्यादि गुण युक्त होनेसे 'वर' कहा। वि०त्रि० का मत है कि महाराज विदेहके वचनका अनुवाद होनेसे 'बचन बर' कहा।]। (ख) 'सुनहु सकल महिपाल' कहनेका भाव कि यह प्रतिज्ञा राजाओंकेलिए है, अन्यके लिये नहीं। पुनः 'महिपाल' सम्बोधनका भाव कि आप लोग वचनके गौरवको समझते हैं। ['पन बिदेह कर' में लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि "कोईदेहधारी मनुष्य ऐसी प्रतिज्ञा न करेगा। पांड़ेजीका मत है कि भाटोंको यह पन अच्छा न लगा, इसीसे वे कहते हैं कि 'देही' ऐसा पन कभी नहीं करते। पुनः, देहाध्यासरहितका यह पन है, इसके सुननेसे सबको पीड़ा होगी, यह सबको विदेह करनेवाला पन है।" प्र० स्वामी पाँड़ेजीसे सहमत होते हुये लिखते हैं कि "भाटोंकी इच्छा तो सब लोगोंकी इच्छासे विदित हो गई कि 'बिनु बिचार पनु तजि नरनाहू। सीय राम कर करै बिबाहू', पर वे सेवक हैं, जब प्रणको पुकारकर कहनेकी आज्ञा हो गई तब अनिच्छासे सेवकका कर्तव्य समझकर ही कहते हैं। 'बिदेह पन' में भाव यह है कि इन्हें तो अपनी देहपर भी ममता नहीं है, ये सुखदुःखातीत हैं, तब इन्हें दूसरोंके सुखदुःखका विचार कब होने लगा। वे अपना हठ न छोड़ेंगे। पाँड़ेजीका मत यथार्थ है। मानसमें 'बिदेह' शब्द व्यंग्यार्थमें अन्यत्र भी प्रयुक्त हुआ है। यथा 'कहहु बिदेह कवनि बिधि जाने।२६१।८', 'बेगि बिदेह नगर नियराया।२१२।४', 'कहहु बिदेह भूप कुसलाता।२।२७०।६।" पुनः भाव कि "अज्ञानीके प्रण मिटभी जाते हैं और विदेह ज्ञानी हैं। ज्ञानीका पन ज्ञान-विचार-पूर्वक होता है, वह टल नहीं सकता।" (पं०)। यथा "बज्ररेख गजदसन जनक पन बेद बिदित-जग जान। गी० १,८७।' पुनः, 'पन बिदेह·····' का भाव कि प्रण विदेहका है, हम केवल अनुवादक हैं (वि० त्रि०)]।

२ पन विशाल है अर्थात् दारुण है, यथा 'अहह तात दारुन हठ ठानी'। पुनः, भाव कि जिसमें भारी-पन सुनकर सब राजा न उठैं, भीड़ न होवे, जो भारी पराक्रमी हैं वेही उठैं। पुनः विशाल कहा जिसमें अपना अपमान समझ क्रोधकर तोड़नेके लिए सब उठैं, यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे'। पनकी विशालता आगे कहते हैं—'नृप भुजबल बिधु शिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू'। इत्यादि। [विशाल देहली-दीपक-न्यायसे पन और भुजा दोनोंमें लगता है। पन विशाल है अर्थात् इसमें लाभ बड़ा भारी है,—'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।२५१····कहहु काहि यहु लाभु न भावा।' पुनः, पन विशाल है अर्थात् सामान्य नहीं है और न छूटनेवाला है। बज्र-रेख समान अमिट, गजके दाँतोंके समान फिर मुखमें नहीं जानेवाला है, यथा 'सुनो भैया भूप सकल दै कान। बज्ररेख गजदसन जनक प्रन बेद बिदित जग जान। गी० १.८७।' भुजा विशाल उठाकर अर्थात्

† वाणीके १६ दोष ये हैं--शब्दहीन, क्रमभ्रष्ट, विसंधि, पुनरुक्तिमत, व्याकीर्ण वाक्यसंकीर्ण, अपद, वाक्यगर्भित, भिन्न लिंग, भिन्न वचन, न्यूनोपम, अधिकोपम, भग्नछन्द, भग्नयति, अशरीर, और अरीति-मत। विशेष व्याख्या और प्रमाण 'कवितदोष गुन बिबिध प्रकारा।६.१०।' भाग १ पृष्ठ २०८ में देखिए। १८ दोषोंका प्रमाण दोहा ३४८ चौ० २ 'जय धुनि बिमल बेद बर बानी।' में व्याख्या सहित देखिए।

"भुजा ऊँची उठाई । यह तीन कारणोंसे—स्वामीकी उत्कृष्टता, अपनी बुद्धिकी बड़ाई और वचनकी अति स्पष्टताके लिये ।"—(पंजाबीजी) । दूसरा भाव यह भी कहते हैं कि "ऐसा कहकर गुप्त रीतिसे यह भी जनाते हैं कि भारी लाभ समझकर सभी राजा घबड़ाकर न उठ खड़े हों, जो अच्छा वीर हो, विशालभुज हो वही उठे ।"] ।

३ "भुजा उठाइ" । भुजा उठाकर प्रतिज्ञा करनेकी रीति है, यथा 'सत्य कहौं दोउ भुजा उठाई ।१६५।५।', 'भुजा उठाइ कहौं पन रोपी ।१।२६६ ।', 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह ।३।६।' इत्यादि । [पुनः, हाथ उठानेका भाव कि जिसमें सब लोग सावधान होकर सुन लें, सबका चित्त इस ओर आकर्षित हो जाय ।]

नोट—१ गीतावलीमें बंदीजनकी वाणीमें बहुतसी बातें कही गई हैं, यथा "हानि लाहु अनख उछाहु बाहुबल कहि, बंदि बोले बिरद अकस उपजाइ कै। दीपदीपके महीप आए पैज पनु, कीजै पुरुषारथ को औसर भो आइ कै ॥१।८२।७॥' इसमें 'विशाल पन', 'बचन बर' के भाव आगए । २—बंदीगणके मन, वचन, कर्म तीनों दिखाए—'हिय हरष न थोरा', बोले बचन बर' और 'भुजा उठाइ' (यह कर्म है) ।

नृप-भुजबलु बिधु सिवधनु राहू । गरुअ कठोर बिदित सब काहू ॥१॥
रावनु बानु महाभट भारे । देखि सरासनु गवहि[१] सिधारे ॥२॥

शब्दार्थ—बानु = बाण; बाणासुर । यह राजा बलिके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़ा पुत्र था । शिवजीसे इसने वर प्राप्त कर लिया था कि युद्धमें वे स्वयं आकर इसकी सहायता किया करें । उषा जो अनिरुद्धको ब्याही थी इसीकी कन्या थी । इसके हज़ार भुज थे । श्रीकृष्णजीने सब भुजाएँ काट डालीं । शिवजीके कहनेसे चार रहने दीं ।

अर्थ—राजाओंके भुजबलरूपी चंद्रमाके लिए शिवजीका धनुष राहु है; भारी और कठोर है, यह बात सबको मालूम है ॥ १ ॥ रावण, बाणासुर (आदि) भारी भारी महाभट (इस) धनुषको देखकर गँवसे चलते हुए ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नृपभुजबलु बिधु०' इति । विधुके रूपकका भाव कि सूर्य्यवंशी राजाओंके बलको धनुरूपी राहु नहीं ग्रस सकता । दोनों भाई सूर्य्यवंशी हैं, उस धनुषको तोड़नेमें समर्थ हैं । अतः 'नृपभुजबल' को बिधु कहा, सूर्य्य न कहा । पुनः भाव कि राजाओंके भुजबलकी शोभा तभीतक है जबतक वे धनुषको छूते नहीं जैसे जबतक राहु नहीं ग्रसते तब तक चन्द्रमाकी शोभा है । भुजबलको चन्द्र और शिवधनुषको राहु तो कहा पर ग्रसना प्रगट न कहा, केवल अभिप्रायसे जना दिया है; क्योंकि 'भुजबल बिधु शिवधनु राहू' इतने ही से सब राजा 'माष' उठे, यथा—'भटमानी अतिसय मन माषे', 'माषे लषन कुटिल भै भौहैं' । यदि कहीं यह भी कहते कि यह तुम्हारे भुजबलको ग्रस लेगा तो वचन बहुत कटु हो जाता ।—इतने ही रूपकसे जना दिया कि धनुष तुम्हारे भुजबलको ग्रास करने आया है, ग्रस लेगा । (ख) 'गरुअ…' अर्थात् उठानेमें भारी है, तोड़नेमें कठोर है । तात्पर्य्य कि प्रथम तो यह उठेगा ही नहीं और यदि उठा भी तो टूटेगा नहीं । (राहु छायामात्र होनेसे मृदु और हलका है । पर यह भारी और कठोर है । वि० त्रि०) । (ग) 'बिदित सब काहू' । भाव कि यह न समझिएगा कि हम भयदर्शनार्थ ऐसा कह रहे हैं, धनुषकी कठोरता और गुरुता सबको विदित है । गुरुता और कठोरता साधारण बात कहकर इस बातकी पुष्टि दो भारी महाभटोंका उदाहरण देकर करते हैं । (घ) गुरुता और कठोरता यही धनुषरूपी राहुके मुखकी नीचे ऊपरकी डाढ़ें हैं जिससे वह भुजबलचन्द्रको ग्रस लेता है । यहाँ 'परंपरित रूपक' है । कठोर, यथा—'कुलिस कठोर कूर्मपीठ तें कठिन अति…' (क० १।१०) ।

---

१ 'गवहि' के 'ग' पर बिन्दु (ं) है पर पोछासे जान पड़ता है ।

२ 'रावनु बानु महाभट भारे ।०' इति । (क) 'महाभट भारे' कहकर भटोंकी तीन कोटियाँ जनाई—भट, महाभट, भारी महाभट । भारी महाभट यह अंतिम कोटि है, इनसे अधिक बलवान् कोई नहीं । रावण और बाणासुरकाही नाम दिया क्योंकि यहाँ धनुष उठानेका प्रयोजन है और ये दोनों उठाने में बहुत बलवान् हैं । रावणने कैलाश उठाया, यथा—'जेहि कौतुक सिव सैल उठावा । २६२।८ ।' और बाणासुरने सुमेरु उठाया, यथा 'सकै उठाइ सरासुर मेरू । २६२,७ ।'; अतः इनके नाम देकर जनाया कि यह धनुष कैलास और सुमेरुसे भी कहीं अधिक भारी है, क्योंकि रावण और बाणासुरने कैलाश और सुमेरुको उठाया था सो वे इसे देखकर ही हार मान गए, छूनेका भी साहस न कर सके । (ख) 'गँवहि सिधारे' इति । (गँवहि= गँवसे, चुपचाप या बात बनाकर) रावण यह कहकर चल दिया कि हमारे गुरुका धनुष है, हम कैसे तोड़ें और बाणासुरने कहा कि जानकीजी हमारी माता हैं । दोनोंमेंसे किसीने उसे छुआ तक नहीं, यथा 'रावनु बानु छुआ नहि चापा ।' (ग) 'देखि सरासन' से जनाया कि दर्शनमात्र करके चले गए । न छूनेका भाव कि धनुष राहु है, हमारे बलको ग्रस लेगा । अर्धालीका आशय यह है कि जब उन्होंने छूनेतकका साहस न किया तब आप लोग समझबूझ कर इसे उठानेको उठें, यथा -'ऐसे नृप धनु ना गहौ मानौ बचन प्रतीति' इत्यादि । यहाँ 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' भी है ।

नोट—१ बाबा हरीदासजीका मत है कि धनुषकी गुरुता एवं कठोरता सबपर विदित करनेका हेतु यह है कि "जिसमें जनकजी निर्दोष हो जायँ, किसीकी मान-मर्यादामें दाग न लगे, नहीं तो सब दोष जनकजीको देते कि ऐसा प्रण करके हम सबको बुलाकर नाक काट ली ।"

नोट—२ श्रीहनुमन्नाटक में जनकमहाराज और रावणके पुरोहितका संवाद है । रावणने संदेसा भेजा कि जानकीजीको हमें देदो, जनकजीने उत्तर दिया कि "माहेश्वरं धनुः कुर्याद्धिज्यं चेद्ददामि ताम् । १।१४ ।' जो धनुषको चढ़ावे उसे कन्या दूँ । प्रत्युत्तरमें उसने कहा कि "गुरोः शंभोर्धनुर्नोचेच्चूर्णतां नयति क्षणात्" उसके गुरुका न होता तो इसे वह पलमात्रमें चूर्ण कर डालता । इसपर जनकजीने हँसकर कहा कि शंभुके कैलाशको भुजाओंके खेलसे उठानेको समर्थ है तब धनुषको उठानेमें क्या ? "शंभोरावासमचलमुत्क्षेप्तुं भुजकौतुकी । माहेश्वरंधनुः क्रष्टुमर्हते दशकंधरः । १।१५ ।" इसपर वह कुपित होकर बोला कि जिसने शंकर, पार्वती, गणेश और कार्तिकेयसहित कैलासको उठा लिया उस रावणके भुजदंडोंकी इस धनुषमें क्या परीक्षा है ? "सार्धं हरेण हरवल्लभया च देव्या हेरम्बषण्मुखवृषप्रमथावकीर्णम् कैलासमुद्धृतवतो दशकंधरस्य केयं च ते धनुषि दुर्मद दोः परिक्षा ॥ १७ ॥"

सत्योपाख्यान अ० ३ उत्तरार्धमें इस धनुषके संबंधमें विस्तृत उल्लेख है । किसीको वह अजगर रूप, किसीको सिंह, किसीको शिव, इत्यादि रूप दिखाई पड़ा और कोई पास जातेही अंधे हो गए । बाणासुरको शंकररूप दिखाई पड़ा, यथा—'प्रोचस्तदानीं ते सर्वे मेरुः किं चापरूपधृक् । बलेः पुत्रस्तदा बाणश्चचाल च निजासनात् ॥ १६ ॥ धनुषस्तोलनार्थं हि तथा भंगाय वीर्य्यवान् । ददर्श शिवरूपं च ननाम च पुनः पुनः ॥१७॥ उवाच च सभामध्ये शिवरूपं धनुस्त्विदम् । गम्यते च मया गेहं नास्ति मे योग्यतात्विह ॥ १८ ॥' अर्थात् उसको शिवरूप देख पड़ा, उसने बारंबार प्रणाम किया और सभाके बीचमें यह कहकर चल दिया कि यह धनुष शिवरूप है, मेरे योग्य नहीं है, अतः मैं घर जाता हूँ ।

नोट—३ यहाँ रावणके संबंधमें 'देखि सरासन गवहि सिधारे' कहा । यह राजाओंको प्रतिज्ञा सुनाते समय भाटोंने कहा है । इसके बाद राजाओंका धनुष तोड़नेके लिये उठना कहा है । इससे स्पष्ट है कि यह बात आजके पहले किसी दिनकी है जब ये राजा लोग नहीं आए थे । आगे श्रीसुनयनाजीने भी ऐसा ही कहा है ।—'रावन बान छुआ नहिं चापा ।' परन्तु लंकाकांडमें मंदोदरीजीके वचन हैं 'जनक सभा अगनित

भूपाला। रहे तुम्हउ बल अतुल बिसाला॥ भंजि धनुष जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ ६।३५।'. इनसे पाया जाता है कि रावण उस दिन वहाँ था। आपाततः देखनेमें दोनों वाक्योंमें विरोध जान पड़ता है। पर वास्तवमें इनमें विरोध नहीं है। इन वाक्योंका समन्वय मंदोदरीके 'भूपाला' शब्दसे हो जाता है। उस दिनके पूर्व रावण अपने रूपसे आया था, अतः सबने पहचाना था और आज वह 'भूपालों' के समाजमें मनुष्य राजाका शरीर धरकर आया जिससे कोई जाने नहीं। कविने यह बात पूर्वही सबोंकी भावना लिखते समय कह दी है। यथा—'रहे असुर छल छोनिप बेषा। २४१।७।' उन्हींमें रावण भी था। श्रीजनकमहाराजके 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा। २५१।८।' इन वचनोंसे भी इस भावकी पुष्टि होती है।

सोइ पुरारिकोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जोइ तोरा॥ ३॥
त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही॥ ४॥

अर्थ—त्रिपुरके नाश करनेवाले शिवजीके उसी कठोर धनुषको राजसमाजमें जो कोई भी आज तोड़े उसे ही तीनों लोकोंकी विजय सहित वैदेहीजी बिना किसी विचारके हठपूर्वक वरण करेंगी (ब्याहेंगी) [एवं "त्रिभुवन-विजयसहित वैदेहीको बिना विचारके हठपूर्वक (जनकजी) ब्याह देंगे"–यह अर्थ पं० रामकुमारजीका है। अर्थात् यह जनकका प्रण है।] ३-४।

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ पुरारि कोदंड'। [इसके दो अर्थ हैं—'त्रिपुरका शत्रु (नाशक) धनुष' एवं 'त्रिपुरारि शिवजीका कोदंड'। 'सोइ' अर्थात् जिसे रावण और बाणासुरने छुआ भी नहीं और बातें बनाकर चले गए। इसीसे शिवजीने त्रिपुरको मारा था। २४४ (५) देखो] पुनः भाव कि त्रिपुरका नाश कठिन था वैसेही यह धनुष कठिन है। (ख) 'राजसमाज' में तोड़नेका भाव कि सबके बीचमें तोड़ने से उसकी जीत समस्त राजाओं तथा रावन और बाणासुर पर समझी जावेगी। यथा—"सीय स्वयंबर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका॥ संभु सरासन काहु न टारा॥ हारे सकल बीर बरिआरा॥ तीनि लोक महँ जे भट मानी। सभ कै सकति संभु धनु भानी॥ सकै उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गयउ करि फेरू॥ जेहि कौतुक सिवसैल उठावा। सोउ तेहि सभा पराभउ पावा॥ तहाँ रामरघुबंसमनि सुनिअ महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल। २९२।" दूतोंकी इस उक्तिसे यह भाव स्पष्ट है। (ग) "आजु' का भाव कि आज प्रतिज्ञाका अंतिम दिन है। सत्योपाख्यानमें लिखा है कि प्रतिज्ञा एक वर्षकी थी, उसमें आजहीका दिन रह गया है। (घ)-'जोइ' अर्थात् जाति पाँति आदिका विचार नहीं, गरीब अमीर, इत्यादि कोई विचार न होगा, यथा—'घोर कठोर पुरारि सरासन नाम प्रसिद्ध पिनाकु। जो दसकंठ दियो बावों जेहि हरगिरि कियो मनाकु॥ २॥ भूमिभाल भ्राजत न चलत सो ज्यों बिरंचि को आँकु। धनु तोरै सोइ बरै जानकी राव होइ की राँकु॥ गी० ८७॥'

२ 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही।०' इति। (क) तीनों लोकोंके सुभट यहां एकत्रित हैं इसीसे जो तोड़ेगा उसकी तीनों लोकोंपर विजय समझी जायगी, अतः 'त्रिभुवन जय समेत' कहा। ('जय' कहकर तब 'बैदेही' कहा क्योंकि क्षत्रियों राजाओंको जय अत्यंत प्रिय होती है। यहां 'सहोक्ति अलंकार' है।)। (ख) 'बिनहि बिचार बरै' कहनेका भाव कि कन्याका विवाह बहुत विचारकर किया जाता है; यथा 'जौं घर बरु कुल होइ अनूपा। करिय बिवाहु सुता अनुरूपा॥ ७१.३॥' (विशेष वहीं देखिए)। सो कुछ विचार न करेंगे कि वर कन्याके अनुरूप है या नहीं, कुल और घर उत्तम है या नहीं, इत्यादि कोई विचार न करेंगे। (ग) श्रीजनकमहाराजके वचनोंमें जो तीन बातोंकी प्राप्ति तोड़नेवालेको कही गई है, वे ही तीनों बातें भाटोंके वचनोंमें हैं—'राजसमाजु आजु जोइ तोरा।' से विजय, 'त्रिभुवनजय' से कीर्त्ति और

'बैदेही' से सुंदर जानकीजीकी प्राप्ति कही। यही तीनों जनकजीके 'कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय' इन वचनोंमें हैं। धनुष तोड़नेमें भारी लाभ दिखाया—'कहहु काहि यह लाभु न भावा।०'। ☞ राजाने अपनी कन्याको मनोहर कहा सो यथार्थ है। पर बंदीजन स्वामीकी कन्याकी सुंदरता न कह सके क्योंकि मनोहर कहनेमें संकोच हुआ, इसीसे उनके वचनको 'बर' विशेषण दिया गया। पुनः ☞ राजाने तीनों लाभोंकी बड़ाई की-'कुँअरि मनोहर, विजय बड़ी, कीरति अति कमनीय', पर बंदीगणने इनमेंसे किसीकी सुन्दरता न कही। जब संकोचवश कन्याकी सुन्दरता न कह सके तब विजय और कीर्तिकीही बड़ाई क्या करें ? (घ) 'हठि' का भाव कि धनुष टूटनेपर सुन्दरता, कुल, विद्या, धन, अवस्था आदि कुछ भी न देखे जायँगे। [पुनः भाव कि 'दिग्विजय ही बड़े परिश्रम से साध्य है, सो त्रिभुवनविजय विना रक्तपातके मिलेगा और जानकी भी मिलेगी।' (वि० त्रि०)]।

श्रीराजारामशरणजी—१ घोषणाके शब्दगुणको विचार कीजिए। ऐसे अक्षर और ऐसे शब्द हैं कि रुकरुककरही पढ़े जा सकते हैं। कितना ओजगुण है! हम मामूली डुग्गीमें सुनते हैं—'ख़लक़ ख़ुदा का मुल्क बादशाहका, हुक्म···साहबका', तो फिर यह तो विशेष अवसरकी राजघोषणा है! (ख) यहांके इस 'बिनहि बिचार' और 'हठि' में, और जनतावाले इन्हीं शब्दोंके अंतरपर विचारनेसे नाटकीकलाके विरोधाभासका आनन्द मिलेगा। यहाँ आशय यह है कि पनके पूर्ण होनेपर फिर कोई 'मीन-मेष' न की जायगी और दृढ़ता-पूर्वक विवाह हो जायगा; परन्तु 'हठि' के दुभाषीपनमें मजा यह भी आ जाता है कि संकेतसे बंदीगणोंने कुछ जनताके विचारोंसे सहानुभूति रखनेके कारण, प्रशंसा ऐसी की जो अप्रशंसाहीकी ओर झुकी है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "त्रिभुवन जय" में जनकका कौन अधिकार है? कैसे जाना कि त्रिभुवनमें जयजयकार होगा? उत्तर यह है कि जब शिवजी यह धनुष दे गए तब यह भी कह गए कि इसका पूजन करो, इसके तोड़नेवालेका त्रिभुवनमें जयजयकार होगा। जनकजी समझ गए कि त्रिभुवन विजयी तो परमेश्वरही हैं, दूसरा नहीं। अतः यह प्रतिज्ञा की जिसमें वे दीनदयाल आकर इस बहाने हमें दर्शन दें। और यह जो प्रतिज्ञा है कि 'बिनहिं बिचार बरै हठि तेही', यह देखनेमें लोकविरुद्ध है, यह केवल लोक-प्रलोभनार्थ एवं सब वीर मानी भटोंके मानमर्दनार्थ उत्प्रेरकने उनसे कहलवाया, जिसमें वे सब तोड़ने उठें, पीछे यह न कहें कि हमें तो उठानेका अवसरही न मिला।

प० प० प्र०—'त्रिभुवन जय···' इति। जनकजी जानते हैं कि विष्णु, शिव, ब्रह्मा और इन्द्र भी रावणको मार नहीं सकते। यह बात विश्वविदित है, क्योंकि 'ब्रह्मसृष्टि जहँ लगि तनु धारी। दसमुख बसवर्ती नरनारी।', 'भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र॥ १।१८२॥' अतः त्रिभुवन जय ही क्यों, विश्वविजय समेत कहते तो भी कुछ दोष न था। परशुरामने भी रावणका विनाश नहीं किया। वे यह तो जानते थे कि रावण विप्रद्रोही एवं धर्मद्रोही है। ऐसा विश्वबलिष्ठ रावण भी जिस कोदण्डको न तोड़ सका उसको जो तोड़ेगा वह विश्वविजयी ही होगा। अतः शंकाके लिये स्थान ही नहीं है और शिवजीने जनकजीसे क्या कहा था यह विचार भी अनावश्यक है।

नोट—हनुमन्नाटक अंक १ में जनकमहाराजने स्वयं अपनी प्रतिज्ञा सुनाई है जो बंदीगणके द्वारा यहाँ कही गई है। यथा—"शृणुत जनककल्पाः क्षत्रियाः शुल्कमेते दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः। नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्जानकी तस्य दाराः॥ १८॥" अर्थात् हे जनकके समान राजा लोगो! तुम सब मेरी प्रतिज्ञा सुनो कि जिस धनुषमें रावणकी भुजाओंकी शक्ति कुंठित होगई उस शिवधनुषको जो कोई चढ़ावेगा उसीकी त्रिलोकीके विजयकी शोभा यह जानकी स्त्री होगी। पर यहांके "त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही" के गौरवको बिचारिए।

सुनि पन सकल भूप अभिलाषे । भट मानी अतिसय मन माषे ॥५॥
परिकर बाँधि उठे अकुलाई । चले इष्टदेवन्ह सिर नाई ॥६॥

अर्थ--प्रण सुनकर सभी राजा लालायित हुए (प्राप्तिके अभिलाषी हुए, ललचाए) और मानी भट मनमें अत्यन्त 'माषे' ॥ ५ ॥ कमरमें फेंटा बांधकर अकुलाकर उठ खड़े हुए। अपने अपने इष्टदेवोंको प्रणाम करके चले ॥ ६ ॥

टिप्पणी--१ (क) 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे'। यहांतक प्रणका कथन है। बंदियोंने कहा था कि "सुनहु सकल महिपाल! पन बिदेह कर" इसीसे सबका प्रणको सुनना और सभीका लालायित होना यहां कहा। 'सोइ पुरारिकोदंड कठोरा। राज समाज आजु जोइ तोरा। त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही।' यह प्रण सुनकर सबको लालसा हुई (क्योंकि आये तो थे श्रीजानकीजीके लिये ही और प्राप्त होगी त्रिभुवनजयलक्ष्मी भी। वि० त्रि०)। और 'नृपभुजबल बिधु सिवधनु राहू' यह सुनकर सबको अमर्ष हुआ क्योंकि यह बात ही 'माष' की है। (ख) 'भट मानी' = जिनका योद्धाओंमें मान है। 'अतिसय मन माषे' का भाव कि माखे तो सभी भट पर जो मानी भट थे वे अत्यंत माखे। ['माष' शब्द अमर्षसे बना हुआ मालूम होता है। मर्ष = सहनशीलता। अमर्ष = असहनशीलता, अधीरता। और इसीलिए रोष और क्रोध भी (जो असहनशीलता और अधीरतासे ही जाता है) अर्थ लिया जा सकता है। माषनेमें वही 'न सह सकनेका' भाव है। पं० रामकुमारजी इसका अर्थ "बुरा मानना" लिखते हैं। पोद्दारजी 'तमतमाये' अर्थ करते हैं और कोशमें 'अप्रसन्न होना, क्रोध करना' अर्थ है। हमारी समझमें यहाँ बल का गर्व होनेसे दूसरेके प्रतिकूल वचन न सह सकनेका भाव है। भटमानी किंचित् न सह सके।] माषे कि यह कौनसा बड़ा काम है जिसके लिये बंदीजनने ऐसे कड़े शब्द कहे। (ग) 'रावण बाणासुरने धनुष न छुआ यह सुनकर राजा डरे नहीं, वरंच अतिशय मनमें बुरा माने, कारण कि (ये भी) रावण बाणासुरके समान हैं; यथा--'बान बलवान जातुधानप सरीखे सूर जिनके गुमान सदा सालिम संग्राम को। क० १.९।'

२ 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई।' इति। (क)--परिकर = कटिबंधन, कमरमें बाँधनेका पटुका। कमर कस लेनेसे कमरमें जोर रहता है। 'अकुलाई' इति। भाव कि 'त्रिभुवन विजय समेत बैदेही' की प्राप्ति बड़ा भारी लाभ है, अतः अकुलाकर घबड़ाकर उठे कि हमही सबसे पहले धनुष तोड़कर यह लाभ प्राप्त कर लें, हमसे पहले कोई और न तोड़ने पावे। [यहाँ व्याकुलताकी दशा दिखाते हैं। 'फेंटा बाँधना प्रथम कहा तब उठना' इस तरह शब्दोंकी योजनासे आकुलता दिखा दी कि वचन सुनतेके साथही बैठेही बैठे कमर में फेंटा कसने लगे जिसमें वचन समाप्त होतेही प्रथमही जाकर उठालें। पुनः भाव कि बड़े छोटे आगे पीछे इत्यादिका विचार उन्हें न रह गया, सभी एकबारगी उठ खड़े हुए कि किसी तरह सीताजी हमकोही मिल जायँ--यहाँ 'लक्षणामूलक व्यंग' है।]

(ख) 'चले इष्टदेवन्ह सिर नाई' इति। इष्टदेवोंको प्रणाम करके चले तब भी धनुष क्यों न टूटा? कारण कि उमा, महेश, गणेशादि सभी देवताओंके इष्ट श्रीसीतारामजी हैं। (सभी श्रीरामनाम जपते हैं। यथा 'उमा सहित जेहि जपत पुरारी', 'जपति सदा पिय संग भवानी।', 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ।', इत्यादि। नाम इष्टका जपा जाता है।)। श्रीजानकीजी समस्त देवताओंकी माता हैं, इष्ट हैं। जब ये राजा माताको ही चाहने लगे तब सब देवता अप्रसन्न हो गए। ["जो उनमें बल था वह भी उन्होंने खींच लिया क्योंकि उन्होंने देख लिया कि ये ऐसे मूर्ख हैं कि हमारे ही इष्टको पत्नीरूपमें वरण करनेके विचारसे धनुष तोड़ने जाते हैं, इनके इस कार्य्यसे हम भी दोषके भागी होंगे।" (रा० कु०)। पंजाबीजी लिखते हैं कि

"धनुष शिवजीका है, उसके तोड़नेका इन्होंने उद्योग किया और साक्षात् ब्रह्मको छोड़ सामान्य देवताओंको मनाकर चले हैं कि जय प्राप्त हो, जैसे कोई सागरका तैरना चाहे और मूर्खतावश तालाबकी पूजा करे तो सफलता कैसे हो सकती है ?"। और वीरकविजी कहते हैं कि यहाँ श्लेषद्वारा यह अर्थ निकलता है कि उनके चलनेपर इष्टदेवोंने अपना सिर नीचा कर लिया, वे समझ गए कि आज इसने मेरी मर्यादाको धूलमें मिला दिया। यह 'विवृतोक्ति अलंकार' है"।]।

☞ मिलान कीजिए—"सुनि आमरषि उठे अवनीपति लगे बचन जनु तीर। टरै न चाप करैं अपनी सी महामहाबलधीर। ४। नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भए सरीर। गी० १।८७।"

तमकि ताकि १ तकि शिवधनु धरहीं। उठइ न कोटि भाँति बलु करहीं ॥७॥

जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं ॥८॥

शब्दार्थ—तमकि=तावमें आकर, क्रोध करके, यथा 'सो सुनि तमकि उठी कैकेई'। =बड़े तावसे।

अर्थ—वे तमककर शिवजीके धनुषको ताकताककर पकड़ते हैं, करोड़ों प्रकारसे जोर लगाते हैं पर वह नहीं उठता ॥ ७ ॥ जिन राजाओंके मनमें कुछ भी विवेक है वे धनुषके पास नहीं जाते ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'ताकि तकि' इति। छंदोभंगके भयसे 'ताकि' को 'तकि' लिखा, यथा 'अपि माषं मषं कुर्याच्छन्दोभंगं न कारयेत्'। ताकताककर कि कहाँपर पकड़नेसे उठेगा। तमककर पकड़ते हैं क्योंकि क्रोधसे शरीरमें अधिक बल आता है, क्रोधका ताव उतर जानेपर शरीरमें सुस्ती आती है। अथवा 'तकि ताकि' को छंदके कारण 'ताकि तकि' किया। यथा 'तकि तकि तीर महीस चलावा। करि छल सुअर सरीर बचावा। १५७। ३।', 'रघुपति बिरह सबिष सर भारी। तकि तकि मार बार बहु मारी'। 'तमकि' का भाव कि पहले 'माष' हुआ, 'माष' के पीछे क्रोध हुआ। यथा 'माषे लषन कुटिल भै भौहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं। २५२। ८।'

नोट—१ जो लोग 'ताकि' और 'तकि' को पृथक् पृथक् अर्थके शब्द मानते हैं वे यों अर्थ करते हैं—"तावमें आकर वा क्रोधपूर्वक शिवजीके धनुषको ताककर फिर (उसके उठानेकी गँवघात) तककर (कि अमुक ठौरसे इस भाँति पकड़नेसे ठीक होगा) उस स्थानपर दृष्टि जमाकर उसे पकड़ते हैं। इस तरह 'ताकि'=सीध बाँधकर। 'तकि'=उठानेकी घात ताक भालकर, वा, निगाह जमाकर डटाकर। अथवा, 'ताकना' किसी वस्तुको अच्छी तरह सोच विचारकर वा दृष्टि जमाकर मनमें स्थिर वा तजवीज कर लेनेको कहते हैं और 'तकना' देखना या निहारना है।

२ "उठइ न कोटि भाँति···" इति। अर्थात् पहले धनुषका एक कोना पकड़कर उठाया, एक हाथ लगाया। न उठा तब दोनों हाथ लगाए। फिर भी न उठा तब पृथ्वीपर पैर गड़ाकर बल किया। इत्यादि। वीरकविजीके मतानुसार यहाँ 'विशेषोक्ति अलंकार' है।

नोट—३ (क) श्रीलमगोड़ाजी बाक़ी धनुषयज्ञके दृश्यके संबंधमें अपने 'वि० मा० हास्यरस' नामक पुस्तकमें पृष्ठ ४३ पर लिखते हैं कि—"सारा दृश्य वीर, शृङ्गार, हास्य और करुणारसोंके विशेष संमिश्रणसे इतना सुंदर बन गया है कि मुझे तो ऐसा दृश्य अँग्रेजी, फ़ारसी, उर्दू, हिंदी इन चार साहित्योंमें नहीं मिला।" (ख) इन प्रगतियों की सगर्भता (सगर्वता ?) को विचारियेगा, फिर निष्फलताके कारण ये प्रगतियां कितनी हास्यप्रद हैं ! मुँहसे निकल जाता है—'लेना लपक के'। (ग) फ़िल्मकलाका कितना सुंदर नमूना है !

टिप्पणी—२ (क) प्रथम जो कहा था कि 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे' अब उसीको सँभालते

---

१ ताकि तकि-प्रायः सबमें है। ताकि तक-१६६१। तमकि तकि-१७०४ (शं० ना०। पर रा० प्र० में 'ताकि तकि' ही पाठ है), को० रा०। ताकि तक=लक्ष्य बाँधकर। (वि० त्रि०)।

हैं कि 'जिन्ह के कछु बिचार०'। अर्थात् जिनमें कुछ विवेक है वे श्रीरामजानकीको माता पिता समझते हैं, यथा 'सिख हमारि सुनि परम पुनीता। जगदंबा जानहु जिय सीता ॥०', वे धनुषके समीप भी जानेमें दोष समझते हैं, ऐसे भाव वाले लोग समीप भी नहीं जाते। (ख) 'कछु बिचार' कहकर जनाया कि जो राजा तोड़नेगए वे बिलकुल विचारहीन थे, मूढ़ थे जैसा आगे कहते हैं—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप'। पुनः 'कछु' का भाव कि यह बात थोड़ेही बिचारसे समझमें आ जाती है कि श्रीरामजानकीजी जगत्‌के मातापिता हैं। [पूर्व तीन प्रकारके राजा राजसमाजमें कह आए हैं—राजसी, तामसी और सात्विकी। जब यह कहा कि 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे' तब 'सकल' में सात्विक अर्थात् साधु हरिभक्त राजा भी आ गए। इसीसे यहां उसका निराकरण कर दिया। 'जिन्ह के कछु बिचारु मन माहीं' से जनाया कि जो सात्विकी राजा हैं, साधु भूप हैं, वे भावुक हैं, उनकी भावना पक्की है, पूर्ण विचार वाले हैं, वे भला चाप-समीप कब जाने लगे ? जब कि जिनके 'कछु' किंचित् भी विचार है वेही चापके समीप नहीं गए। राजसी में कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे जिन्हें अपने तेज यश प्रतापादिके गँवाजानेका विचार हुआ, इससे वे भी समीप न गए, अभिलाषा जरूर हुई, यह भी 'कछु बिचार' वालोंमें आसकते हैं। इन्होंने सोचा कि रावण बाणासुर से नहीं टसका तब हमसे कैसे उठेगा। (प्र० सं०)। कोई राजा रावण बाणासुर समान बलवान भी नहीं है। अतः यह जानकर कि रावण बाणासुर भी धनुर्भंगका दुःसाहस न कर सके कोई राजा उसका साहस करता है तो वह मूढ़ है ही। (प० प० प्र०)]।

नोट—४ 'कछु बिचार' के और भाव—१ "उठनेसे पराक्रमहीन कहावेंगे, शिवजी का यह धनुष है इसके तोड़नेमें भलाई नहीं क्योंकि शिवजी कोप करेंगे, श्रीसीताजी अयोनिजा हैं इनको माता समझना चाहिए। इनके लिये वर भी वैसाही चाहिए।" (रा० प्र०)। २—"दूसरोंका बल पौरुष देखकर समझते हैं कि हमसे न उठेगा। पुनः,श्रीरामजीका प्रभाव जानते हैं इससे भी न उठे" –(पंजाबीजी)। ३—"जिन्ह के कछु" अर्थात् जिनके हृदयपर सात्विक राजाओंके उपदेशका कुछ भी प्रभाव पड़ा है वे भी नहीं जाते और विचारवानोंकी तो बातही क्या ? ४—"कुछ लोगोंका मत है कि 'कछु बिचार' शब्द सात्विक विचारका अर्थ देता है क्योंकि सत्व-रज-तममेंसे सबसे अधिक स्थूल रूप तमका है। फिर उससे सूक्ष्म रजका, फिर उससे सूक्ष्म सत्वका। अतः 'कुछ बिचार' का अर्थ हुआ–'अति सूक्ष्म सतोगुणमय विचार अर्थात् जो इस बातको सत्यतापूर्वक जानते हैं कि जानकीजी जगन्माता हैं वे निकट नहीं जाते, तमोगुणवाले तो इसे जानतेही नहीं और रजोगुणवाले इसे समझ नहीं सकते" (लाला भगवानदीन)।

दोहा—तमकि धरहिँ धनु मूढ़ नृप उठै[1] न चलहिं लजाइ ।
मनहु पाइ भट बाहुबलु अधिकु अधिकु गरुआइ ॥२५०॥

अर्थ—(विचारहीन) मूर्ख राजा धनुषको क्रोधपूर्वक बड़े तावसे पकड़ते हैं और न उठनेपर लजाकर चल देते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मानों वह धनुष योद्धाओंके भुजाओंका बल पा पाकर अधिकसे अधिक भारी होता जाता है ॥ २५० ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तमकि ताकि तकि शिवधनु धरहीं' पर प्रसंग छोड़ा था, वहींसे फिर उठाते हैं। अथवा, भारी वस्तुके उठानेकी रीति यहाँ दिखाई कि प्रथम उठाने लगे, जब न उठा तब श्रम निवारण करने लगते हैं, थकावट दूरकर फिर उठाते हैं, यथा 'झपटहिं करि बल बिपुल उपाई। पद न टरइ बैठहिं सिर नाई ॥ पुनि उठि झपटहिं सुर आराती। टरइ न कीस चरन एहि भाँती ॥ ६।३३ ॥' इसी तरह यहाँ भी प्रथम उठाने लगे, न टला तब सुस्ताकर फिर उठाने लगे—यह भाव दरसानेके लिये दो बार तमककर उठाना

१ उठै–१७०४, १७२१, १७६२। उठइ–छ०, को० रा०। उठे–१६६१।

उठाने लगे।—(पं० रामकुमारजी)। ३–ऐसा भी कहते हैं कि 'तमकि धरहिं धनु०' में दैत्य और यहाँ मनुष्य राजाओंको कहा है।

४ अब यह शंका होती है कि 'धनुषमें दसहजार राजा एकही बार कैसे लगे?' समाधान यह है कि—(क) यहाँ श्रीरामजीकी बड़ाई होना है कि जो दसहजारसे भी टसकाए न टसका उसे अकेले श्रीरामचंद्रजी ने तोड़ डाला। उन्हींकी इच्छासे धनुष बढ़ गया। जैसे जब सब कपि मेघनादसे हारगए तब लक्ष्मणजीने उसे मारा तो उनकी बड़ाई हुई कि जो किसीसे न मारा जा सका उसे लक्ष्मणजीने मारा। पुनः, (ख) इस धनुषमें घटने-बढ़ने, हलका-भारी होने, अनेक रूप धारण करलेने इत्यादि की विलक्षण शक्ति थी, जैसा पूर्व लिखा जा चुका है कि वह किसीको सिंह, किसीको शंकर इत्यादि देखपड़ा था और 'अधिक अधिक गरुआइ'। यह धनुष दिव्य था। गीतावलीमें धनुषका रामजीको देखकर सिकुड़कर हलका होना कहा गया है, यथा—'दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु महाब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है। गी० १।९०।' अर्थात् जैसे बूटीको देखकर महासर्प व्याकुल हो सिकुड़ जाता है वैसे ही धनुष रामजीको देखकर सहमकर कुछ भी न रहगया। इस धनुषका प्रभाव सत्योपाख्यानसे विदित है। (पं० रामकुमारजी, संत श्रीगुरुसहायलाल-जी)। (ग) "कई कई मानी भट मिलकर जब खिसका भी न सके तो सलाह हुई कि बहुतसे मिलकर घसीटो। फिर भी जब धनुष न टला, तो दसहजार राजाओंने मिलकर उत्तोलदंडमें जंजीरें बाँधकर सबने मिलकर खींचा कि उठ जाय पर न उठा। 'लगे उठावन' से तात्पर्य्य यह है कि उठानेमें दसहजार लगे थे। उत्तोलनदंडमें सैकड़ों जंजीरें बँध सकती थीं और प्रत्येक जंजीरके खींचनेमें सैकड़ों भट लग सकते थे।"—(गौड़जी)। (घ) "नाटकीय कलामें गौड़जीकी युक्तिवाला अर्थ ठीक है और महाकाव्यकलामें दिव्य धनुषका असीम होजाना और दसहजार राजाओंका लग जाना भी असंभव नहीं। फिर हास्यरसकी भी बात विचारणीय है। मसल मशहूर है कि नौसौ आदमी लगे और एक मूली न उखड़ी (वह वादविवाद और गुत्थमगुत्था मची कि मूली ज्योंकी त्यों रही, उखड़े कहाँसे?) कविका कमाल यह है कि सबही निभ जाता है।"–(लमगोड़ाजी)

नोट—५ बहुतसे टीकाकारोंने 'सहस दस एकहि बारा' का अर्थही इस शंकाके डरसे तोड़मड़ोरकर किया है। जैसे कि-(क) 'एकहि बारा' (=एकही दिनमें) दसहजारने उठाया। (ख) 'एकहि बारा' अर्थात् एक श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर अन्य दसहजार राजाओंने उस दिन अपना पुरुषार्थ जनाया। (ग) 'सहस'=सहस्र-भुजवाले सहस्रबाहु राजाने और 'दस'=दशशीश रावणने। दोनों ने मिलकर एकही बार उठाया। (घ) दस दस बीस बीस या ऐसेही कमोवेश लोग एक साथ एक एक बार लगे इस तरह दिनभरमें दसहजार लगे; नहीं तो एक एक करके दसहजार दिनभरमें कैसे पूरे हो सकते थे? इत्यादि। पर ये सब असंगत और क्लिष्ट कल्पनायें हैं।

वि० त्रि०—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप' जो कहा था, उसी मूढ़ताका अब उदाहरण देते हैं। पहिले 'अंध अभिमानी' कह आये हैं, इनका ज्ञान तामस है। जो तत्त्वार्थवाला नहीं है तथा अल्प है, ऐसे एकही कार्यको सब कुछ मानकर निष्कारण उसमें लगजाता है, उसे तामस ज्ञान कहते हैं। यथा 'यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्। अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्।' धनुषके उठनेको ही सब कुछ समझ लिया, यह नहीं समझ रहे हैं कि इस भाँति उठ भी जायेगा तो क्या फल होगा। ऐसे उठानेमें तत्त्वार्थ कुछ नहीं, व्यर्थ है फिर भी दसहजार एक साथही उठानेमें लग गए।

श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं–"जो लोग यह तर्क करते हैं कि यदि टूट जाता तो विवाह किससे होता? इसके समाधानके लिये 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप' में 'मूढ़' शब्द है। मूढ़को विचार कहाँ? और जो सहससे सहस्रबाहु और दससे दसशीशका अर्थ निकालते हैं वह इसलिए अयोग्य है कि 'लगे उठावन'

वर्तमान कालिक क्रिया है और इन दोनोंके लिये बंदीजन कह चुके हैं कि 'देखि सरासन गवहिं सिधारे'। यदि कहा जाय कि उस दिन भी पुनः आ गये होंगे तो पीछे अवध जाने वाले जनकदूतोंका 'रावन-बान छुआ नहिं चापा' यह वचन असत्य हो जाता है। साथ ही यह जो शंका की जाती है कि दशहजार राजाओंको हाथ रखनेकी जगह कहाँ मिलती थी? इसका समाधान "मनहुँ पाइ भट बाहुबल अधिकु अधिकु गरुआइ' से हो रहा है।'''दिव्य तो था ही उसका घट जाना, बढ़ जाना, इत्यादि कई जगह और प्रमाणमें भी दिया गया है।"

डगै न संभु-सरासनु कैसें। कामी बचनु सती मनु जैसें ॥२॥

अर्थ—शिवजीका धनुष किस प्रकार नहीं टसकता, हिलता डोलता, जैसे कामी पुरुषके वचनोंसे पतिव्रता स्त्रीका मन (कदापि चलायमान नहीं होता) ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ सतीके मनका दृष्टान्त इस अभिप्रायसे दिया गया है कि जैसे सतीका मन अचल है वैसे ही धनुष अचल है। सतीके मनको चलायमान करनेके लिए कामी बड़ा जोर लगाते हैं। साम दाम भय भेद अनेक प्रयत्न काममें लाते हैं। वैसे ही दसहजार राजाओंने धनुष उठानेमें बहुत जोर किया (लगाया)। सतीके नजदीक (समीप) जैसे कामीका एक वचन है, वैसे ही हजार वचन हैं इसी प्रकार धनुष उठानेमें जैसे एक वीर वैसे ही दशहजार वीर हैं, न एकसे डोला न दसहजारसे। ☞ यहाँतक तीन बातें कहीं—उठाना, टालना, डगाना। यथा—'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिं लजाइ', 'लगे उठावन टरै न टारा' और 'डगै न०'। भाव कि उठाने लगे पर न उठा, तो कुछ टला ही होगा, उसपर कहते हैं कि टाले भी न टला, टला न सही तो हिला तो होगा उसपर कहते हैं कि 'डगै न'।—इस दृष्टान्तसे धनुषका किंचित् न डोलना बहुत अच्छी तरह दिखाया है। कामी लोग सतीका मन चलायमान करदेनेके लिये बहुत वचन कहते हैं, यथा "बहु बिधि खल सीतहि समुझावा। साम दाम भय भेद दिखावा॥ कह रावन सुनु सुमुखि सयानी। मंदोदरी आदि सब रानी॥ तव अनुचरी करउँ पन मोरा। एक बार बिलोकु मम ओरा।', 'हारि परा खल बहु बिधि भय अरु प्रीति देखाइ'।

नोट—१ नंगेपरमहंसजी कहते हैं कि-'सती स्त्रीकी वृत्ति अपने पतिमें ही रहती है। उसी तरह दसहजार राजाओंसे धनुष नहीं उठा, क्योंकि सती स्त्रीकी तरह देव-धनुष होनेसे उसमें भी सत्त धर्म था अतः कामी राजाओंसे न डगा। सत्त पुरुष श्रीरामजी हैं। जैसे सतीका मन अपने ही पतिसे राजी होता है उसी तरह धनुष श्रीरामजीसे राजी होकर टूटेगा। प्रमाण गीतावली-'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहि बिषाद बढ़ायो। सोइ प्रभुकर परसत टूट्यो जनु हुतो पुरारि पढ़ायो। गी० १।६१।' मिलान कीजिये "पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एक नारिव्रत पालक। जा० मं० ५८।"

२ देखिये, साधु राजाओंका उपदेश इन्होंने न माना और जगज्जननीमें विषयवासना रखकर व्यर्थ परिश्रम इन्होंने किया, इसीसे यहाँ इनको कामीकी उपमा दी गई। यहाँ उदाहरण अलंकार है।

वि० त्रि०—दससहस्र कामियोंके वचनसे नाममात्रके लिये भी सतीका मन चलायमान नहीं होता। कामी अंधे होते हैं। कामान्धों को ज्ञान नहीं कि इतने आदमियोंके साथ बोलनेसे तो अभीष्ट सिद्धि और भी दूर चली जा रही है। इसी तरह इतने राजाओंके एक साथ लग जानेसे इसी बातकी सिद्धि होती चली जा रही है कि धनुषका उठाना इन राजाओंकी शक्तिके बाहरकी बात है।

लमगोड़ाजी—एक अंग्रेजी आलोचकने कविवर टेनिसनके उस पदकी बड़ी प्रशंसा की है जिसमें उन्होंने भौतिक दृश्यकी उपमा आत्मिक तथा नैतिक क्षेत्रसे देते हुए कहा है कि "फौवारेका पानी ऊपर जाकर इस प्रकार बिखर जाता है जैसे लक्ष्यहीन (Aimless) मनुष्यके उपयोग"। उन्होंने कहा है कि इससे प्रतीत होता है कि आत्मिक जगत् तथा नैतिक संसारसे टेनिसनका बड़ा परिचय था मानों उनसे पहले ऐसी

उपमाओंका प्रयोग नहींके बराबर है, वहाँ तो नैतिक तथा आत्मिक विषयोंके समझानेके लिए भौतिक उपमाओंका प्रयोग ही होता रहा है। बात ठीक है। हमें इतना कहना है कि तुलसीदासकी रचनाओंमें, विशेषतः मानसमें, इसके सैकड़ों उदाहरण हैं। जब पहिले पहल रेवरेंड डरन्टसाहबने, जो सेन्टजान्सकालेजमें आचार्य्य थे और पीछे लाहौरके लार्ड बिशप हुए, मुझे ऊपरवाली बात एम० ए० क्लासमें बताई और मैंने प्रत्युत्तरमें तुलसीदासजीके 'वर्षा ऋतु' वाले पद सुनाये तो वे तुलसीदासजीकी कलापर मुग्ध हो गये थे।— 'डगै न संभु सरासन कैसे।०' इसीका उदाहरण है।

☞ 'प्रसन्नराघवनाटक' में इससे मिलता हुआ श्लोक यह है—"नेदं धनुश्चलति किंचिदपीन्दुमौलेः। कामातुरस्य वचसामिव सन्निधानैरभ्यर्थितः प्रकृतिचारुमनः सतीनाम्। १।५६।"

सब नृप भये जोगु उपहासी। जैसे बिनु बिरागु संन्यासी ॥३॥
कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी ॥४॥

अर्थ—सब राजा उपहासके योग्य हो गये जैसे विना वैराग्यका सन्यासी (उपहास योग्य होता है) ॥३॥ धनुषके हाथों वे अपनी भारी कीर्ति, भारी विजय और भारी बीरता बरबस (जबरदस्ती) हारकर चलेगए ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब नृप' अर्थात् वे सब जो उसे पहिले या पीछे अब तक उठाने गए थे। (ख) 'भये जोगु उपाहासी' इति। अर्थात् सभामें और सभी लोग उनके मुखपर उनकी हँसी उड़ाने लगे कि पुरुषार्थ न था तब क्यों उठाने गए थे, इसी बलबूतेपर उठाने गए, क्या खाकर उठानेगए, कहा न माना सो फल पाया न? इत्यादि। (ग) 'जैसे बिनु बिरागु संन्यासी' इति। संन्यासीकी उपमा देकर राजाओंकी श्रेष्ठता दिखाई। जैसे सन्यासी श्रेष्ठ हैं वैसे ही ये राजा भी श्रेष्ठ हैं, देवताओंके सदृश हैं, यथा 'पवन पुरंदर कृसानु भानु धनदसे गुनके निधान रूप धाम सोम काम को। क०१।६।' वैराग्यसे संन्यासीकी बड़ाई है और वैराग्यहीन होना उनकी निंदा है। यथा 'सोचिअ जती प्रपंचरत बिगत बिबेक बिराग। २।१७२।' 'सन्यास'का अर्थ ही वैराग्य है। संन्यासी=सं (सम्पूर्ण प्रकारका) न्यास (त्याग) करनेवाला। इसीसे सन्यासीको विषयोंसे पूर्ण वैराग्य होना चाहिये नहीं तो यह नाम ही व्यर्थ है। [जैसे वैराग्य न होनेसे लोग संन्यासीको हँसते हैं कि वैराग्य न था तो घर क्यों छोड़ा, परस्त्रीको ताकना था तो घर रहकर विवाह क्यों न किया, इत्यादि, वैसे ही धनुषके आगे बलहीन साबित होनेसे राजाओंकी हँसी हुई कि नपुंसक थे तो यहाँ वीरबाना धरकर घरसे आये ही क्यों थे।' बल और विरागकी समता है, यथा "जब उर बल बिराग अधिकाई। ७।१२२।'] । (घ) 'डगै न संभु सरासन कैसें।०' कहकर 'सब नृप भये०' कहनेका भाव कि—धनुष सतीका मन है, राजा कामीके वचन समान हैं। जब सतीका मन न डोला तब विना विरागके सन्यासीकी तरह उपहासके योग्य हो गये। तात्पर्य्य कि जैसे वैराग्यहीन सन्यासी कामी होकर सतीका मन चलायमान करानेसे उपहास योग्य और नरकगामी वा नरकका भागी होता है वैसे ही सब राजा उपहास और नरकके योग्य हुये—इति अभिप्रायः। (ङ) ☞ यहाँ प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंके उदाहरण दिये। 'डगै न संभु सरासन कैसें। कामी बचन सती मन जैसें' यह प्रवृत्तिमार्गका दृष्टान्त है और 'सब नृप भये०' यह निवृत्तिमार्गका है। [अंगदके पदरोपणपर भी ऐसे ही दो दृष्टान्त दिये हैं। क्योंकि दोनों स्थानों पर एक ही सी प्रतिज्ञा है।—'पुरुष कुजोगी जिमि उरगारी। मोह बिटप नहिं सकहिं उपारी।-...भूमि न छाँड़त कपिचरन देखत रिपुमद भाग। कोटि बिघ्न तें संत कर मन जिमि नीति न त्याग। लं० ३३।' यहाँ उदाहरण अलंकार है। (प्र० सं०)।

वि० त्रि०—वैराग्यरहित सन्यासी और सन्यासी बने हुये भाँड़में कोई भेद नहीं है। यथा 'मूड़ मुड़ायो बादि ही भाँड़ भयो तजि गेह।' भाँड़ उपहासीका पात्र है, वैसे ही वैराग्यरहित सन्यासी भी है।

क्षत्रियकी श्रेष्ठता बलसे है, उसपर भी राजाके लिये कहा गया है कि अष्ट लोकपालोंका उनमें अंश रहता है। दससहस्र राजा लगे और धनुष न उठा, इससे तो यही सिद्ध हुआ कि इनमें ईशानका अंश है ही नहीं। ये भी राजा बने हुए भाँड़की भाँति उपहासके ही पात्र हैं।

२ (क) 'कीरति बिजय बीरता भारी' इति। 'भारी' कहनेका भाव कि धनुषमें गुरुता और कठोरता भारी है। यथा 'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चापतम भारी ॥२३६.१॥', 'मुदित कहहिं जहं तहं नरनारी। भंजेउ राम संभुधनु भारी ॥ २६२।८॥' और, राजाओंमें कीर्त्ति, विजय और वीरता भारी है। इस तरह दोनोंमें समान ऐश्वर्य वर्णन किया। यदि राजाओंमें धनुषकी कठोरता-गुरुतासे भारी वीरता होती तो धनुषकी कठोरता गुरुता हरण होजाती, ऐसा न होपानेसे राजाओंकी कीर्त्ति, विजय, वीरतासे अधिक गुरुता धनुषमें सिद्ध हुई। इसीसे चापके हाथ तीनोंका हारना कहा। [तात्पर्य्य कि धनुष और राजसमाज दोनोंने अपनी अपनी बाज़ी जुएँमें लगाई कि देखें कौन जीतता है। दोनों भारी बीर हैं। राजाओंने अपनी भारी 'कीर्ति बिजय वीरता' रूपी संपत्ति दाँवमें लगाई और धनुषने अपनी गुरुता-कठोरता की बाज़ी लगाई। पाँसा धनुषका पड़ा, वह जीता, उसकी गुरुता-कठोरताने राजाओंकी समस्त कीर्त्ति आदि-को जीत लिया।—यही धनुषके हाथों हारना हुआ। (ख) कीर्ति आदिके क्रमका भाव कि प्रथम कीर्ति गई, कीर्त्तिका कारण विजय होता है सो भी गया और विजयका कारण वीरता है सो भी गई। क्रम से कार्य और कारण दोनोंका जाना कहा। (ग) 'बरबस' का भाव कि स्वयं अपनी मूर्खतासे हठात् हारे, नहीं तो धर्मात्मा राजाओंने प्रथम ही मना किया था पर उन्होंने न माना। कीर्ति आदि अनेक उपमेयोंकी एकही क्रिया होनेसे यहां 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। (घ) [पंजाबीजी लिखते हैं कि पहले रणधीर कहलाते थे, संग्रामोंमें विजय पाए हुए थे जिससे उनकी कीर्ति और शोभा थी। अब उसे धनुष तोड़कर बढ़ाना चाहते थे। पर अपनी मूढ़तासे वह सब पूर्वकी कमाई भी खो बैठे। (पं०)। पूर्व जो कहा गया था कि 'जस प्रताप बल तेज गँवाई ॥ २४५।४।' उसीको यहां 'कीरति बिजय बीरता भारी।...' से चरितार्थ किया। (प्र० सं०)। यश, प्रताप बल और तेज ही यहां कीर्ति, विजय और वीरता हैं]।

वि०त्रि०—'चले चाप कर बरबस हारी'—भाव कि ये हारे भी तो किसी वीरसे नहीं किन्तु धनुषसे। धनुष स्वयं इनसे लड़ने नहीं गया था, ये ही हठात् उससे लड़ने गये सो अब हारकर लौटे जा रहे हैं।

श्रीहत भये हारि हिय १ राजा। बैठे निज निज जाइ समाजा ॥५॥
नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलानें। बोले बचन रोषु जनु सानें ॥६॥

अर्थ—राजा श्रीहत होगए (उनकी कान्ति जाती रही)। वे हृदयसे हार मानकर अपने अपने समाजमें जा बैठे ॥ ५ ॥ राजाओंको देखकर जनकमहाराज अकुलाए (घबड़ाए) हुए वचन बोले जो मानों क्रोधमें साने हुए (वचन) हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'श्रीहत भये' इति। कीर्त्ति, विजय और वीरता यह राजाओंकी 'श्री' (लक्ष्मी, संपत्ति) है सो वे धनुषके हाथों हारगए, अतः 'श्रीहत' कहा। पुनः, श्री = शोभा, कान्ति, तेज, प्रभा। उससे 'हत' हुए अर्थात् शोभाहीन, निष्प्रभ वा कान्तिरहित होगए, यथा 'नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भए सरीर' (गी० ८७)। धन नष्ट होजानेसे जैसे धनी मलिन हो जाता है। (अर्थात् मुखपर मलिनता वा स्याही छागई)। (पुनः भाव कि मनसे तो पहिले ही हार माने हुये थे, यथा 'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे।', पर इस हारसे श्रीहत हो गए। वि० त्रि०)। (ख) 'हारि हिय राजा' इति। पुरुषार्थ थक जानेसे

१ सब—१७०४। हिय-प्रायः अन्य सबोंमें।

सब लोग हृदयसे हार मान जाते हैं, यथा 'बहु छल बल सुग्रीव करि हिय हारा भय मानि ॥ ४.८ ॥' इसी तरह सब राजाओंका पुरुषार्थ थक गया तब वे हृदयसे हार मानगए अर्थात् अब हृदयसे धनुष तोड़नेकी इच्छाही जाती रही। (ग) 'बैठे निज निज जाइ समाजा' इति। जो राजा पृथक् पृथक् धनुष उठाने गए उनका चलना 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठै न चलहिं लजाइ ॥ २५० ॥' में कहा। फिर दसहज़ार राजाओं-का चलना कहा जो एकसाथ उठानेमें लगे थे, यथा—'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर बरबस हारी'। पर बैठना किसीका न कहा था। दोनों का बैठना अब एकट्ठा यहां लिखते हैं। [प्रश्न होता है कि 'जिनका प्रथम चल देना लिखा गया वे अब तक कहाँ रह गए कि उनका बैठना न कहा?' उत्तर यह है कि] जब दसहज़ार राजा उठाने चले तब वे लोग रुककर देखने लगे कि देखें इनसे उठता है या नहीं। जब उनसे न उठा और वे भी खिसियाकर चले तब ये भी साथही चलदिए और अपने अपने आसन पर जा बैठे। इसीसे चलना दो बार कहा और बैठना एक बार। (घ) 'निज निज समाजा' अर्थात् जहां जो पूर्व अपने समाज सहित बैठा था। [कोई कोई 'निज समाज' का अर्थ यह करते हैं कि 'जहां और हारे हुए राजा जा बैठे थे वहां जा बैठे जिसमें जो राजा न उठे थे वे मुखपर न हँसें।' पर इस अर्थमें यह शंका उठेगी कि बैठना तो सबका इसी समय कहा गया, पहिले जाकर बैठना किसीका नहीं पाया जाता]।

२ (क) 'नृपन्ह बिलोकि जनक अकुलानें' इति। प्रथम एक एक करके उठाया तब न उठा, फिर दस-हजारने एक साथ ज़ोर लगाया तब भी न उठा। एक तो सब श्रीहत होगए, दूसरे अब कोई उठता नहीं। यह देख कि अब राजाओंमें कोई धनुष उठानेवाला वीर नहीं है राजा जनक अकुला उठे कि 'क्या कन्या हमारी कुँआरी रहेगी? क्या पृथ्वी वीरोंसे रहित होगई है? [राजा लोग श्रीहत होजानेपर भी घर न गए, अपने समाजमें जा बैठे। यह देख जनकमहाराजने समझ लिया कि इनके हृदयमें कल्मष है, कहेंगे कि ऐसा प्रण करके जनकने राजसमाजका अपमान किया, और बहुत सम्भव है कि उपद्रव भी करें। अतः जनकजी आकुल हुए। (वि० त्रि०)]। (ख) 'रोष जनु साने' इति। रोषयुक्त वचन बोलनेका भाव कि बंदीजनके बोलनेपर तो सब राजाओंको अमर्ष पैदा होगया था, यथा 'भट मानी अति मन माषे'; ☞पर किसीने कुछ पुरुषार्थ न कर दिखाया अब हमारे वचन सुनकर जो कोई वीर हो वह 'माषे'। आगे इस वचनकी सफलता लिखते हैं कि 'माषे लषन०'। (ग) 'जनु' का भाव कि ज्ञानीको क्रोध होना असंभव है, इसीसे उत्प्रेक्षा करते हैं। [अर्थात् क्रोध द्वैतभावसे होता है और द्वैत विना अज्ञान के नहीं होता—'क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु द्वैत कि बिनु अज्ञान'। जनक तो ज्ञानशिरोमणि हैं इनको रोष कहां, इनकी दृष्टिमें तो जगत् है ही नहीं। ये वचन उनकी व्यावहारिक युक्तिके उदाहरण हैं। रहे सहे वीरको उत्तेजित करनेके लिए बोले गए हैं। (प्र० सं०)]।

☞ इसपर श्रीराजारामशरणजी कहते हैं कि "मेरी समझमें तो 'जनु' की उत्प्रेक्षाका कारण यह है कि वास्तवमें 'परिताप' है—'मेटहु तात जनक परितापू'; परंतु वचन क्रोधपूर्ण लगते हैं। शान्तरसको इतना प्रधान करके अर्थ करना कि जनकके व्यक्तित्वके गंभीर सागरमें भावतरंगोंकी भी गुंजाइश न मानी जाय तुलसीदासजीकी कलाके विरुद्ध है जिसमें 'मिटी महामर्याद ज्ञान की' तक क्षणिक भाव आवेगकी अवस्था भी महाराजा जनकके लिए बांध दिया है।"

प० प० प्र०—'जनु' से सूचित किया कि उनके हृदयमें क्रोध नहीं है, पर वचनोंमें क्रोध भर रक्खा है। जनकजी जानते हैं कि राम ब्रह्म हैं और वे ही धनुष तोड़ेंगे। अतः राजाओंको उत्तेजित करके वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि सभी भूप या भूपरूपधारी देव-दानवादि धनुर्भंग करनेमें असमर्थ हैं। इसमें भी यह हेतु है कि श्रीरामजीके धनुष तोड़नेपर कोई भी यह न कह सके कि 'मैं तो तोड़नेको जानेवाला ही था पर रघुवरने पहले ही तोड़ डाला।' अतः रघुवर ही विजयी हुए यह मानना भूल है। वैदेही पर मेरा भी हक़

है। धनुर्भंगके पश्चात् इस रंगभूमिमें युद्धका संभव ही न रह जाय इस हेतुसे क्रोध भरे वचन बोले। श्रीरामजी ही धनुष तोड़ेंगे यह विश्वामित्र भी जानते थे तथापि उन्होंने भी यही कहा कि 'ईस काहि धौं देइ बड़ाई'। वैसा ही जनकजीका यह क्रोध है। और, आगे जो 'जनक परिताप' देखनेमें आता है वह भी ऐसा ही बाह्यनाट्य है। वे रघुवरका ऐश्वर्य छिपाना चाहते हैं और दोहा २४१।३ तक उन्होंने ऐश्वर्य-भाव गुप्त ही रक्खा है।—इसी तरह सिंधुतटपर अंगदके नेतृत्वमें आये हुए वानर जब समुद्र-लंघनका विचार कर रहे थे तब जाम्बवान्‌जीने हनुमान्‌जीका ऐश्वय अंततक गुप्त ही रक्खा, किन्तु जब कोई भी कपि-वीर तैयार न हुआ तब उन्होंने पवनतनयको जागृत किया। यह राजनैतिक और व्यावहारिक नीति भी है, भावी संघर्ष बचानेके लिये ऐसा करना पड़ता है। यहाँ ज्ञानी, विज्ञानी आदि विचार अनावश्यक हैं। आगेके 'अब जनि कोउ माषै भट मानी।···२५२।३।' में भी यही हेतु है।

दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना ॥७॥
देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा ॥८॥

अर्थ—हमने जो प्रतिज्ञा की थी उसे सुनकर द्वीप द्वीपके अनेकों राजा आए ॥ ७ ॥ देवता और दैत्य (भी) मनुष्य शरीर धरकर (आए और भी) बहुत रणधीर वीर आए ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'दीप दीप' से सूचित किया कि समस्त पृथ्वीके राजा आए। पृथ्वीमें सप्तद्वीप हैं। प्रत्येकके अनेक राजा आए। इसीसे 'भूपति नाना' कहा। यथा 'सप्त दीप नवखंड भूमिके भूपति बृंद जुरे। बड़ो लाभ कन्या कीरति को जहं तहं महिप मुरे ॥ गी० १।८७ ॥' (ख) 'आए सुनि हम जो पनु ठाना' इति। भाव कि हमारे निमंत्रणके कारण किसी लाचारीसे आए हों सो बात नहीं है वरंच हमारी प्रतिज्ञा सुनकर आए कि धनुष तोड़ना होगा। प्रण सुनकर आए इससे निश्चय है कि यदि ये बड़े पराक्रमी न होते तो कदापि न आते। (ग) द्वीपद्वीपके मनुष्य उत्तरोत्तर बली होते हैं, सब द्वीपोंसे आए हैं, अतः निश्चय है कि इनमें एकसे एक अधिक बलवान् है, यथा 'सीयस्वयंवर भूप अनेका। समिटे सुभट एक तें एका।२९२।४' (घ) 'आए सुनि' का भाव कि अपनी अभिलाषासे आए कि चलकर धनुष तोड़ेंगे।—[☞ जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर ये सप्त द्वीप हैं। प्रत्येकमें नव खंड हैं।]

२ (क) 'दीप दीपके भूपति नाना०' से मर्त्यलोकके, देवसे स्वर्गके और दनुजसे पातालके वीर कहे। (ख) 'धरि मनुज सरीरा' क्योंकि यहाँ मनुष्योंका समाज है, नरसमाजमें नरशरीरसे जाना चाहिए, यथा 'धरि नृपतनु तहँ गएउ कृपाला। १३५। ३।' (ग) 'बिपुल बीर०' इति। मनुष्य राजाओंके साथ 'नाना' कहा, इसी तरह 'देव दनुज' के साथ 'बिपुल' कहा। इस तरह जनाया कि देवता और दैत्य भी बहुतसे आए। देवता मनुष्यतन धरकर भगवान्‌के दर्शनार्थ आए, यथा 'बिधिहरिहर दिसिपति दिनराऊ। जे जानहिं रघुबीर प्रभाऊ। कपट बिप्र बर बेष बनाए। कौतुक देखहिं अति सचु पाए। ३२१। ६-७।' और, दैत्य कपट वेष धरकर धनुष तोड़ने आए, अथवा कपट करके जानकीजीको हरण करनेके विचारसे आए सो कुछ भी न करते बना। वीर हैं इसीसे रणधीर हैं, यथा 'वीर अधीर न होहिं। २। १९१।'

दोहा—कुँअरि मनोहर बिजय बड़ि कीरति अति कमनीय।
पावनिहार बिरंचि जनु रचेउ न धनु दमनीय ॥२५१॥

अर्थ—(एक तो) कन्या सुन्दर, (दूसरे) विजय बड़ी और (तीसरे) कीर्ति भी अत्यन्त सुंदर (है।)

(परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि) इनका पानेवाला धनुषका तोड़नेवाला मानों ब्रह्माने रचा ही नहीं †॥२५१॥

टिप्पणी—१ धनुष तोड़नेमें लाभ भारी है, इसीसे लाभके पदार्थोंमें बड़ाईके विशेषण दिए—कुँअरि 'मनोहर' है, विजय 'बड़ि' है और कीर्ति 'अति कमनीय' है। कुँअरिको सुन्दर कहा और कीर्त्तिको अति सुन्दर कहा। कीर्त्ति वस्तुतः सीताजीसे भी सुन्दर है। विजय बड़ी है क्योंकि इससे त्रैलोक्यविजयी कहलाएगा। अपनी कन्याको मनोहर कहते हैं; यह यहाँ अनुचित नहीं है, क्योंकि यहाँ कन्याकी सुन्दरता कथन करना अभिप्रेत नहीं है, वरंच राजाओंको लाभका बड़ा भारी होना दिखाना ही जनककी मनसा है।

नोट—१ पाँड़ेजीका मत है कि—"कुँवरिको मनोहर कहें तो नहीं बनता, इसलिये कि कोई अपनी पुत्रीका शृङ्गार वर्णन नहीं करता। इस लिये यह अर्थ किया जाता है कि—"यह जो कुँवरि, मनोहर अर्थात् बड़ी विजय त्रिलोककी अति उत्तमतराकृत (कीर्ति ?) हैं, उनको पावनहार (पानेवाला) जो धनुष तोड़नेवाला होता उसे विरंचिने नहीं रचा।"

वैजनाथजी कहते हैं कि आर्त्त, क्रोध, हर्ष तथा भयके समय लज्जा नहीं रहती। यहाँ जनक आर्त और क्रोधवश हैं, अतः कन्याको मनोहर कह गए। इसी प्रकार दक्षने शिवजीपर रुष्ट होनेपर अपनी कन्या को साध्वी और मृगनयनी कहा है। यथा 'गृहीत्वा मृगशावाक्ष्याः पाणिं मर्कटलोचनः।…१२।…दत्ता बत मया साध्वी चोदिते परमेष्ठिना।१।६।' (भा. ४. २)। अर्थात् इस बंदरकेसे नेत्रवालेने मेरी मृगशावकनयनी कन्याका पाणिग्रहण किया।…मैंने इसको अपनी साध्वी कन्या दे दी।

श्रीलाला भगवानदीनजीकी भी यही राय है कि मनोहर 'कुँवरि' का ही विशेषण है। वह मनोहर न होती तो इतने राजा दौड़े क्यों आते? साहित्यिक रीतिसे भी यह जाना जाता है कि तीन वस्तुओंके लिए तीन विशेषण रक्खे हैं, उनमें हेरफेर करनेसे साहित्यिक दोष आ जायगा। वीरकविजी कहते हैं कि राजाने शृङ्गार तो वर्णन नहीं किया, 'सुंदर कन्या' कहना शृङ्गार कथन कैसे कहा जायगा? यह साधारण बोलचालकी भाषा है।

२—विजयको बड़ी और कीर्तिको अति कमनीय कहा क्योंकि इससे रावण-बाणासुर भी हार मान गए। अतः जो तोड़ेगा वह त्रैलोक्यविजयी कहायेगा। उसकी कीर्त्ति युगयुग किंतु महाकल्प तक गाई जावेगी। अतएव कीर्तिको अति कमनीय कहा। (रा० प्र०)।

३—यहाँ तोड़नेवालेको अर्थ, धर्म और काम तीनोंका लाभ दिखाते हैं। राजकुमारी लोकोत्तर गुण-रूप-स्वभावादि सभी प्रकार सुंदर है यह काम फलकी प्राप्ति है। विना सेना और अस्त्रशस्त्रके, विना सप्तद्वीपादि में गए केवल धनुषके उठानेसे त्रैलोक्यविजयका लाभ यह बड़ा विजय अर्थ फलकी प्राप्ति है। विना एक पैसा भी दान किये समस्त लोकोंमें उसको यश प्राप्त होगा यह कीर्ति धर्मफलकी प्राप्ति है। (वै०)।

टिप्पणी—२ 'बिरंचि जनु…' इति। तीनों लोकोंके वीर आए, धनुष किसीने न तोड़ा, इससे पाया गया कि धनुष तोड़नेवाला ब्रह्माने नहीं रचा। यहाँ यह नहीं कहते कि ब्रह्माने धनुर्दमनीयको बनाया ही नहीं क्योंकि विरंचिके कर्त्तव्यको कोई जान ही नहीं सकता। यथा 'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।२५६.५।' इसीसे उत्प्रेक्षा मात्र करते हैं। यहाँ 'अनुक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

मा० त० वि० कार लिखते हैं कि "पानेवाला मानों ब्रह्माने रचा ही नहीं, हमारी प्रतिज्ञा व्यर्थ हुई जाती है। इसमें यह भी ध्वनि है कि ब्रह्माजीकी रचनासे भिन्न ही ऐसा कोई पुरुषोत्तम होगा जो इसे तोड़ेगा। इति योगबल अकस्मात् भविष्य गुप्त कथनम्।" यद्यपि यहाँ उत्प्रेक्षा है फिर भी दैवयोगसे अनुभवी

† वि० त्रि० यह अर्थ करते हैं—"मनको हरण करनेवाली कुँअरि, बड़ी जीत और सुन्दर कीर्त्तिके पानेवालेको मानो विरंचिने रचा ही नहीं, अतः टूटनेवाला धनुष मानो बनाया ही नहीं।"

महात्माओंके वाक्य यथार्थ ही होते हैं। वैसे ही यह बात यथार्थ ही है कि धनुषके तोड़नेवाले ब्रह्माके बनाए नहीं हैं। ग्रामवधूटियोंका कथन भी ऐसा ही है, यथा 'आपु प्रगट भए बिधि न बनाए। २। १२०।' ऐसे ही श्रीहनुमान्‌जीका वाक्य है—'की तुम्ह अखिल भुवनपति'''।'

☞ मिलानका श्लोक—"आद्वीपात्परतोऽप्यमी नृपतयः सर्वे समभ्यागताः। कन्येयं कलधौतकोमलरुचिः कीर्त्तिस्तनात्तत्पराः। नाकृष्टं न च टंकितं न नमितं नोत्थापितं स्थानतः। केनापीदमहो महद्धनुरिदं निर्वीरमुर्वीतलम्॥" इति हनुमन्नाटके।—(पं० रामकुमारजी)। हनुमन्नाटक अंक १ का यह दसवाँ श्लोक है पर दूसरा चरण पुस्तकमें यह है—"कन्यायाः कलधौतकोमलरुचेः कीर्तेश्च लाभः परः"। यह वचन श्रीरामचंद्रजीके हैं। वे श्रीलक्ष्मणजीसे कह रहे हैं कि 'ये संपूर्ण राजा लोग सब द्वीपोंसे इकट्ठे होकर आए हैं, और इसमें तपाए हुए सुवर्णके समान कान्तिवाली कन्या और दूसरे कीर्त्तिका लाभ है, तिसपर भी इस धनुषको न तो किसीने खींचा, न टङ्कित (टंकारशब्द) किया और न नवाया, न किसीने स्थानसे उठाया, बड़ा आश्चर्य्य है कि यह पृथ्वी वीरोंसे शून्य है।—बस अब पाठक स्वयं विचार लें कि ये वचन किसके मुखसे शोभित हैं? जनकके या रामके मुखसे? उसपर भी 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई। २५२। २।' इत्यादि वाक्योंकी छवि और गौरवको श्लोक कहाँ पा सकता है?

कहहु काहि येहु लाभ न भावा। काहुँ न संकर चाप चढ़ावा॥१॥
रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई॥२॥
अब जनि कोउ माषै भट मानी। बीर बिहीन मही मैं जानी॥३॥

अर्थ—(भला) कहिये तो यह लाभ किसको नहीं सुहाता? (सभी को प्रिय है परन्तु) किसी ने भी शंकर चाप न चढ़ाया॥ १॥ अरे भाई! चढ़ाना और तोड़ना तो (दरकिनार, अलग वा दूर) रहा, तिलभर भूमि भी कोई न छुड़ा सका॥ २॥ कोई भी अभिमानी भट (अब हमारे कहनेपर) 'माष' न करे, मैं जान गया कि पृथ्वी वीरोंसे रहित हो गई है॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'काहि येहु लाभ न भावा' अर्थात् सभीको तो भाया, यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे'। 'येहु लाभ' इति। भाव कि सामान्य लाभ राजाओंको नहीं भाता, स्त्री, जय और कीर्ति सामान्यतः सभी राजाओंके यहाँ हैं, परन्तु यहाँ ये सब असाधारण हैं—कुँवरिकी उपमा त्रैलोक्यमें नहीं है, विजय तीनों लोकोंकी है और कीर्ति भी त्रैलोक्यमें है। यथा 'महि पाताल ब्योम जसु ब्यापा। राम बरी सिय भंजेउ चापा'। चाप न चढ़ा पानेसे तीनोंकी हानि हुई, जो कीर्ति आदि प्राप्त थी सो भी नष्ट हुई—'चले चाप कर बरबस हारी'। तात्पर्य्य कि पराक्रम होता तो ऐसी भारी हानि कोई क्यों अंगीकार करता? [अर्धालीका भाव यह है कि हाथी, घोड़े, रथ, ऐश्वर्य्य, कीर्ति इत्यादि तो सभीके पास हैं, पर यहाँ जिस वस्तुकी प्राप्ति है वह किसीके पास नहीं है, क्योंकि यदि होती तो प्रण सुनकर यहाँ न आते और आये थे तो धनुषके पास भी न जाते और न इसे लेनेको लालायित होते। ऐसे लाभके लिये मनुष्य क्या न कर डालता? पर तुम लोगोंसे तो कुछ भी न हुआ। 'संकर' शब्द भी सार्थक है। अर्थात् इससे तोड़नेवालेका भी कल्याण होता। (प्र० सं०)। महाराज जनक समझ रहे हैं कि ये अभिमानी पीछे कहेंगे कि मुझे कन्या पसन्द नहीं थी। अतः, वे कहते हैं कि जिसे यह लाभ अच्छा न लगता हो वह इस समाजमें बोल दे, सब लोग उसका भी रूप देख लें कि किस मुखने कह रहा है। (वि०त्रि०)]। (ख) 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई।०' इति। तात्पर्य्य कि जो तिल भर भूमि भी छुड़ा पाते तो हमारा प्रण रह जाता। ☞ यहाँ जनाया कि बल पराक्रम तीन प्रकारका होता है, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। तीनोंका यहाँ निराकरण करते हैं। तोड़ना उत्तम बल है, चढ़ाना मध्यम है और तिल भर छुड़ा देना यह निकृष्ट है; सो इन तीनोंमेंसे उत्तम मध्यमकी

कौन कहे निकृष्ट बलका भी लेश नहीं है। (ग) 'तिल भर भूमि०' इति। बंदी लोगोंने धनुष तोड़नेकी बात कही, यथा 'राजसमाज आज जोइ तोरा', और जनकर्जाने चढ़ाना भी कहा, यथा 'रहौ चढ़ाउब तोरब०'। इससे स्पष्ट कर दिया कि वीरोंको ये दोनों काम करने थे—प्रत्यंचा वा रोदा चढ़ाना और धनुष तोड़ना।—सो अब इन दोनोंका भी निराकरण करते हैं कि ये दोनों रहे, हम तो आशा करते थे कि कमसे कम जगहसे हटा ही देंगे पर यह भी तो तुमसे न बन पड़ा। (घ) 'भाई' संबोधन एक जाति होनेसे भी ठीक है, सब राजा हैं इस नाते भाई संबोधन हुआ। (ङ) 'तिल भरि'-जरा सा भी = अल्प प्रमाण, यथा 'तिन्ह के आयुध तिल सम करि काटे रघुबीर', 'कोटिन्ह आयुध रावन डारे। तिल प्रमान करि काटि निवारे'।

वि० त्रि०—भाव यह कि धनुष तोड़नेवालेका विना विचार वरण करनेकी प्रतिज्ञा थी। यदि कोई उठा भी लेता तो विचार किया जाता कि विवाह किया जाय या नहीं। और इस अवस्थामें तो विचारको भी स्थान नहीं है। चढ़ाना या तोड़ना तो उठानेके बाद बनता है। यहाँ तो कोई हिला भी नहीं सका। भाव यह कि इसका तोड़ना राजसभाके लिये असंभव व्यापार है, तब किस आशासे राजसमाज बैठा है।

टिप्पणी—२ (क) 'अब जनि कोउ माषै भटमानी' इति। बंदीजनके वचन सुनकर 'भटमानी अतिसय मन माषे' थे, इसीसे कहते हैं कि अब कोई न तमतमाए। अर्थात् अबतक जो गरमाए सो गरमाए अब न गर्माना! मानी-जिनको सुभट होनेका अभिमान है। अथवा जिनका जगत्में मान है। यह तो निश्चय ही है कि जिनसे नहीं उठा वे क्यों बुरा मानने लगे तब 'अब जनि कोउ माषै' कहनेका प्रयोजन ही क्या? यह इससे कहा कि कोई गुप्त वीर होगा वह न सह सकेगा, उसे ये वचन बाणसमान लगेंगे उससे विना उठे न रहा जायेगा। और हुआ भी यही। (ख) 'बीर बिहीन मही०' इति। तिल भर जगहसे धनुष न उठा इसीसे जाना गया कि पृथ्वी निर्वीर हो गई। प्रथम हम सबको बीर रणधीर समझते रहे (इसीसे प्रथम कहा था कि 'बिपुल बीर आये रनधीरा') पर अब जान गये कि वीर कोई रह ही नहीं गये। (ग) प्रथम तो देव दनुजादि तीनों लोकोंके वीरोंको गिनाया था अब केवल 'महि' को कहते हैं, कारण कि तीनों लोकोंके वीर इस समय पृथ्वीमें ही जमा हैं। (अथवा, देव दनुज तो कपट वेषसे आये थे, निमंत्रित तो केवल पृथ्वीके ही राजा थे)।

नोट—१ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि—"राजा जनक नृपसमाजको देखकर अकुलाये थे। इसलिये व्याकुलताके कारण प्रभुकी ओर चित्त न रहनेसे 'बीर विहीन मही' का हो जाना उन्होंने अपने जानते कहा। अथवा, यहाँ उनकी दृष्टि ही दूसरी हो गई थी, यथा 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी। २४२।३।' इससे ऐसा कहा। यद्वा उनका तात्पर्य्य है कि महि तो बीर बिहीन हो गई, अब इससे भिन्न पुरुषको इसमें उद्यत होना चाहिये। पुनः, यह परितापका समय है, यथा 'मेटहु तात जनक परितापा। २५४।६।' अतएव परितापमें निकले हुए वचन प्रलाप मात्र हैं।"

२ वीरकविजी—धनुष उठाने और तोड़नेकी सबको प्रबल उत्कंठा थी, इस सही बातको राजाका नहीं कर जाना और कहना कि 'कहहु काहि येहु लाभ न भावा।...', 'काकुक्षिप्त गुणीभूत व्यंग्य' है।

तजहु आस निज निज गृह जाहू। लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू ॥४॥
सुकृत जाइ जौं पनु परिहरऊँ। कुअँरि कुँआरि रहउ का करऊँ ॥५॥
जौं जनतेउं बिनु भट भुवि भाई। तौ पनु करि होतेउं न हँसाई ॥६॥

शब्दार्थ—हँसाई=हँसीका पात्र। सुकृत=धर्म, पुण्य।

अर्थ—(जानकीजीके व्याहनेकी) आशा छोड़िए और अपने अपने घर जाइए। विधाताने वैदेही का विवाह नहीं लिखा है ॥ ४ ॥ (जो कहो कि धनुष किसी से नहीं उठता तो उसकी प्रतिज्ञाही छोड़ दीजिए तो

उसपर कहते हैं) जो मैं प्रतिज्ञा छोड़ दूँ तो मेरे सुकृत ही नष्ट हो जायँगे। (इससे) लड़की कुँआरी ही बनी रहे, इसे मैं क्या कर सकता हूँ ॥ ५ ॥ भाइयो ! यदि मैं जानता कि पृथ्वी योद्धाओंसे रहित है तो प्रण करके उपहासका पात्र न बनता (आपकी एवं अपनी हँसी न कराता) ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तजहु आस निज निज गृह जाहू'। धनुष न उठनेपर भी अभी बैठे हैं इससे जान पड़ता है कि अभी आशा लगी है कि किसीसे नहीं टूटा है अतएव अब अवश्य जयमाल स्वयंवर करेंगे। उसीपर कहते हैं कि यह आशा छोड़ दो, यहाँ ठहरनेका अब कुछ काम नहीं है। जाकर अपने-अपने घरका काम देखिये। (ख) 'लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू' इति। ब्रह्माका रचना दो बार कहा। एक तो 'पावनिहार बिरंचि''' दमनीय', दूसरे, यहाँ 'लिखा न बिधि'''। (रचना और लिखना दोनोंका भाव एक ही है)। प्रथम बार जो कहा कि 'पावनिहार धनुदमनीय न रचा' वह वरके विषयमें कहा और दूसरी बार जो कहा वह श्रीजानकीजीके बारेमें कहा। तात्पर्य कि ब्रह्माने न तो यही रचा है कि कोई धनुष तोड़कर जानकीको ब्याहे और न यही लिखा है कि जयमाल स्वयंवर होगा। जानकीजी जयमाल डालेंगी इस तरह विवाह होगा यह विधाताने नहीं लिखा, क्योंकि मैं जो प्रतिज्ञा कर चुका उसको छोड़नेका नहीं, चाहे कन्या कुमारी ही क्यों न रह जाय जैसा आगे कहते हैं। मेरी प्रतिज्ञा विधिकी रेखसे कम नहीं है।

२ 'सुकृत जाइ०' इति। (क) प्रण छोड़ देनेसे ब्याह हो सकता है; उसीपर कहते हैं कि कन्याके विवाहके लिए हम प्रण छोड़ देते, परन्तु प्रण तोड़नेसे हमारे सुकृत जाते रहते हैं क्योंकि प्रणका त्याग सत्यका त्याग है और सत्य समस्त उत्तम सुकृतोंका मूल है; यथा 'सत्य मूल सब सुकृत सुहाए। बेद पुरान बिदित मनु गाये। २।२८।' अतः सत्यके त्यागसे समस्त सुकृतोंका नाश अनिवार्य्य है। (देखिये जब दशरथजीने महर्षि विश्वामित्रको प्रथम वचन दिया कि मैं आपके सब मनोरथोंको पूरा करूँगा। यथा 'केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावौं बारा। २०७।८।', 'ब्रूहि यत्प्रार्थितं तुभ्यं कार्यमागमनं प्रति। ५६'''कर्ता चाहमशेषेण'''। वाल्मी० १।१८।'; पर उनका मनोरथ सुनकर जब राजाने उसके पूरा करनेमें संकोच प्रकट किया तब महर्षिने यही कहा कि प्रतिज्ञा करके अब उसे तोड़ना चाहते हो, यह इस कुलकी रीतिके विरुद्ध है और इससे कुलका नाश है। यथा 'पूर्वमर्थं प्रतिश्रुत्य प्रतिज्ञां हातुमिच्छसि। राघवाणामयुक्तोऽयं कुलस्यास्य विपर्ययः। २। वाल्मी० १।२१।' वसिष्ठजीने भी समझाया कि आप धर्मका त्याग न करें क्योंकि प्रतिज्ञा करके मुकर जानेसे समस्त किये हुए सत्कर्म निष्फल हो जाते हैं। यथा "'''श्रीमान्न धर्मं हातुमर्हसि। ६॥'''प्रतिश्रुत्य करिष्येति उक्तं वाक्यमकुर्वतः। इष्टापूर्तवधो भूयात्'''॥ ८॥ वाल्मी० १,२१।" असत्यके समान कोई पाप नहीं है—'नहि असत्य सम पातकपुंजा। २।२८।' इसीसे सब अपने प्रणकी रक्षा करते हैं। यथा "सत्य सत्य पन सत्य हमारा", 'प्रान जाहु बरु बचन न जाई। २।२८।', अतः मैं प्रणका त्याग न करूँगा। (ख) 'कुँआरि कुँआरि रहउ का करऊँ' अर्थात् जब विधाताने उसका ब्याह ही नहीं लिखा तो कुँवरि कुमारी ही रहेगी। उसके कुँआरी रहजानेसे हमारे सुकृत नष्ट नहीं होनेके। तात्पर्य्य कि हम लड़कीके लिये अपना धर्म नहीं छोड़नेके। 'का करऊँ' अर्थात् अपने सुकृतोंकी रक्षाके लिये मैं प्रणका त्याग नहीं करता। कन्या कुँआरी रहजाती है, इसमें हम कुछ नहीं कर सकते, कोई उपाय नहीं सूझता, यदि कोई और उपाय होता तो हम अवश्य करते।

३ (क) 'होतेउँ न हँसाई' में 'प्राप्त' क्रियाका अध्याहार ऊपरसे होगा='हँसाई (हँसीको) न प्राप्त होतेउँ'। [पं० रामकुमारजीका 'होतेउ' पाठ है जिससे अर्थ होगा—'तो पनकरि (के कारण) आप हँसीको न प्राप्त होते'। सब राजाओंकी हँसी हुई, यथा 'सब नृप भये जोग उपहासी' और हमारी भी हँसी न होती।] कथनका आशय यह कि प्रतिष्ठितका उपहास मरणके समान है। यथा—'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटिसम०'। आप सबोंको मरणसमान क्लेश है और हमको भी। (ख) जो पूर्व कहा था

कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी' उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट किया कि यदि मैं पहलेसे ऐसा जानता तो यह प्रणही न करता, न आपकी हँसी होती न मेरी। [(ग) हँसीके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि ज्ञानी होकर भी मूर्ख साबित हुए, विचारकर प्रतिज्ञा न की। दूसरे यह कि इनकी लड़की अविवाहित रहेगी। (घ) पुनः भाव कि धनुष-भंग प्रण वीरके लिये ही किया जाता है, पृथ्वी वीरविहीन है, इसलिये मैं उपहास-का पात्र हो गया। नहीं तो सभीने धनुषभंग सम्भव समझा था, इसी लिये आये भी थे। इसी भाँति मैंने भी संभव समझकर प्रतिज्ञा की थी (वि० त्रि०)]

जनक-बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी ॥७॥

माषे लखनु कुटिल भैं भौहैं। रदपट फरकत नयन रिसौहैं ॥८॥

दोहा—कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ रामपदकमल सिरु बोले गिरा प्रमान ॥२५२॥

अर्थ—श्रीजनकजीके वचन सुनकर सब स्त्री-पुरुष श्रीजानकीजीको देखकर दुखी हुये ॥७॥ लक्ष्मण जी अमर्ष को प्राप्त हुए (वचन न सहसके)। उनकी भौंहैं तिरछी हो गईं, होंठ फड़कने लगे, नेत्र क्रोध-युक्त हो गए ॥ ८ ॥ श्रीरघुवीरजीके डरसे कुछ कह नहीं सकते पर वचन मानों बाणसे लगे। श्रीरामजीके चरणकमलोंमें मस्तक नवाकर प्रामाणिक (सत्य, यथार्थ) वचन बोले ॥ २५२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'जनकवचन सुनि०'। भाव कि धनुष न उठा नर नारी इससे दुखी न हुए, क्योंकि आशा थी कि जयमालस्वयंवर करदेंगे पर जनकजीके 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ' इत्यादि वचनोंसे यह भी आशा जाती रही। अतः वचन सुनकर सबका दुखी होना कहा। (ख) 'सब' को दुःख हुआ क्योंकि सब इसी लालसामें मग्न थे कि 'बरु साँवरो जानकी जोगू'। (ग) 'देखि जानकिहि' अर्थात् ऐसी सुन्दर कन्या (ऐसा सुन्दरवर सामने उपस्थित होतेहुए भी) कुँवारी रह जाय? (घ) ☞सब पुरवासी दुखी हुए कि धनुष न टूटनेसे जानकीजी कुँवारी रहेंगी पर श्रीजानकीजी दुखी न हुईं क्योंकि राजाओंसे उन्हें व्याह करनाही न था; वे तो खुश होंगी कि भला हुआ उनसे न टूटा। लक्ष्मणजीके वचन सुनकर उन्हें हर्ष हुआ, यथा "सिय हिय हरष०"। [(ङ) 'भये दुखारी' का भाव कि उनके दुःखमें एक जनकजीही सहारा देनेवाले थे पर जब उन्होंने ऐसे वचन कहे तो फिर और सुधारनेवाला ही कौन रहगया? अतः सब दुःखी हुए। (पांड़ेजी)। श्रीजनकजीके करुणामय अधीरताके वचन सुनकर और जानकीजीको देखकर सब करुणावश हो गए। विचारने लगे कि ऐसे उत्तम कुलकी रूप-शील-गुण-खानि कन्याके कुँआरी रह जानेसे सब गुण ही व्यर्थ हो गए। यह करुणा आई। करुणारसका सहायक वीररस है। वही आगे सहायताको आ रहा है। (वै०)।] (च) जानकीजीकी भावना सबसे पृथक् है। यदि श्रीरामजीसे न टूटे तो वे दुखी हों और सबोंकी भावना यह है कि किसीसे भी टूटे तो जानकीजीका विवाह तो होजाय; इससे 'सब' पुरवा-सियोंको एकसाथ लिखा और इनको सबके साथ न लिखा।

२ (क) 'माषे लखन०' इति। बंदीजनके 'नृपभुजबल बिधु शिवधनु राहू' इस वचनपर राजा 'माषे' थे। लक्ष्मणजीको उनके वचनोंपर 'माष' न हुआ था क्योंकि वे बड़े गंभीर हैं, अपने बलको जानते हैं। परन्तु जब जनकजीने स्वयं यह कहा कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी' तब न सह सके। इसको उन्होंने श्रीरामजीका तथा रघुवंश भरका अपमान माना। रदपट = ओंठ = होंठ। (ओंठोंसे दाँत ढके रहते हैं इसीसे उनका नाम 'रद-पट' है)। अमर्ष के बाद क्रोध होता है सो क्रोधके चिह्न प्रगट होगए—नेत्र लाल हो गए, भौंहें टेढ़ी होगईं, इत्यादि। वीरताका आवेश हो आया, वीरताका अभिमान होना 'माष' है।

[इन वचनोंसे श्रीरामजीका अपमान हुआ कि जिनके लिए वे पिताको भी दुर्वचन कहनेसे न चूके और अपने भाइयोंको भी मारनेको उद्यत हो गए, तब और किसीकी बातही क्या ? फिर भला उनको क्रोध क्यों न होता ? वे चुप कैसे रहते ? श्रीरामजीको डरते हैं इससे संकोच है, फिर भी रहा न गया । (☞ श्रीलक्ष्मणजीके स्वभावका यह एक मर्म है) । कठोर वचन कोई भी नहीं बोल सकते, क्योंकि जानते हैं कि जनक ऐसे ब्रह्मज्ञानीके लिए कठोर शब्दोंका प्रयोग करनेसे श्रीरामजी प्रसन्न नहीं होंगे; अतएव प्रणाम करके बोले । भक्त अपने इष्टको प्रणाम करके ही किसी कार्य्यका प्रारंभ करते हैं (प्र० सं०)] ।

३ 'कहि न सकत रघुबीर डर०' इति । (क) 'रघुबीर डर' यह कि जनकमहाराजके वचनोंका खंडन करनेमें, उनके अपमानमें श्रीरामजी अप्रसन्न न होजायँ । जनकजीका डर उनको किंचित् नहीं है । (ख) 'लगे बचन जनु बान' अर्थात् जैसे मर्मभेदी बाण लगने पर हाहाकार किए बिना कोई रह नहीं सकता वैसे ही ये वचन-बाण न सहसके, बिना बोले नहीं रहा जाता, इसीसे 'अपराध क्षमा हो' इस भावसे अथवा भक्तिरीतिसे पदकमलमें सिर नवा कर बोले । ['जनु' से सूचित किया कि जनकजी रघुवीरोंका अपमान करनेके हेतुसे नहीं बोले थे, उनके वचन अन्य वीरोंके लिये बाण थे पर रामप्रेमी रघुवंशी वीर कुमारको ऐसा लगा कि ये वचन अपमान करनेके लिये ही जनकजी बोले थे । परिस्थिति भी ऐसी ही है कि इसमें न जनकजीकी भूल है न लक्ष्मणजीकी । उरप्रेरक रघुवंशविभूषणकी इच्छासे ही लक्ष्मणजीमें क्रोध प्रविष्ट हुआ । लक्ष्मणजीका वीर्य शौर्य, निस्पृहता, स्पष्ट वक्तृत्व, रामप्रेम, रघुकुलाभिमान, निर्भयता इत्यादि अनेक गुणोंका परिचय सब लोगोंको देनेके लिये ही यह लीला है । इसी लिये तो श्रीरामजी कुछ भी नहीं बोलते हैं, मन ही मन अपने अनुजके सद्‌गुणों और शुद्ध दास्य भक्तिकी सराहना करते हैं । (प० प० प्र०)] । (ग) 'गिरा प्रमान' अर्थात् हम भट हैं यह सत्य वाणी बोले । ["इससे सूचित किया कि जनकजीके वचन अप्रमाणिक थे" । पुनः, "प्रमाण अर्थात् जिसमें स्वामीका सम्मान रहे और अपने बलसे अधिक भी न हो"—(पंजाबीजी) । पुनः, भाव कि यथार्थ ही बोले, क्रोधमें भी अप्रमाण वचन नहीं बोले"—(पांड़ेजी)]

☞ श्रीराजारामशरणजी—१ सामाजिक-मनोवैज्ञानिक रहस्योंके मर्म तो तुलसीदासजीकी कलामें कूटकूटकर भरे हुये हैं । देखिए, चरित्रसंघर्ष, प्रसंगप्रभाव, परिस्थिति निरूपण कितने सुंदर और सूक्ष्म हैं ।—राम और लक्ष्मण उठेही नहीं । रावण और बाणासुर देखकर ही चले गए थे, तो जनकका यह कहना बहुत अनुचित न था कि 'बीर बिहीन मही मैं जानी' । वे क्या जानें कि कारण क्या है ? वे तो कन्याके प्रेमके कारण व्याकुल हो गए । मजा यह है कि उन्होंने कहा था कि 'अब जनि कोउ माखै भट मानी' लेकिन 'माष' उत्पन्न हो ही गया, कारण कि वे भूल गए कि अभी दो वीर और बैठे हैं, उनसे पूछ तो लें या तनिक ठहर तो जायँ कि वे उठते हैं कि नहीं, अभीतक तो हुल्लड़ ही था ।

परिस्थितिने लक्ष्मणके वीरत्वका विकास करा दिया । परन्तु ठीक बात विश्वामित्रजी ही समझे कि जनकजीने क्रोधमें तथा अपमान करनेकेलिए कटु शब्द नहीं कहे बल्कि 'परिताप' के कारण, और इसीसे उन्होंने रामजीसे सकरुण अपील की है ।—'मेटहु तात जनक परितापू' ।

२—लक्ष्मणजीका चित्र कितना प्रगति और भावपूर्ण है । Dynamic (चलती फिरती) Indeed (अवश्य) ।—'रदपट फरकत' से साफ़ पता लगता है कि जैसे मोटरके इञ्जनमें उत्तेजना पैदा होनेके बाद मगर खुलनेके पहले जैसा कंपन होता है वैसाही लक्ष्मणजीमें है । माष उत्पन्न होगया है, मगर अभी आज्ञा नहीं है, इससे आवेगको दबाए हैं, मगर ओष्ठ फड़कही गए । यहां 'जोश' भी है और उसकी 'रोक' (discipline) भी । हमारे नवयुवकोंमें 'जोश' है मगर वह संयम नहीं कि 'सैनहिं रघुपति लषन निवारे' बड़ेका इशारा भावावेगके रोकनेको काफ़ी है ।

३—'होतेउं न हँसाई' में उपहासभावकी सकरुणता विचारणीय है।

वीरकविजी--"यहां लक्ष्मणजीके हृदयमें क्रोध स्थायीभाव है। जनकजीद्वारा कही भाटोंकी वाणी आलंबन विभाव है, उसका कानोंमें पड़ना उद्दीपन विभाव है। रामचंद्रजीका तिरस्कार सुनकर माखना, भौंह टेढ़ी होना, ओंठ फड़कना आदि अनुभाव हैं। वे चपलता, अमर्ष, उग्रतादि संचारी भावों से पुष्ट हो कर 'रौद्ररस' हुआ है। दोहेमें 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है।"

रघुबंसिन्ह महुँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई ॥१॥
कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी ॥२॥

अर्थ--रघुवंशियोंमेंसे जहां भी कोई होता है उस समाजमें ऐसा (अनुचित वचन) कोई भी नहीं कहता कि जैसा अनुचित वचन जनकजीने, रघुकुलशिरोमणि आपको उपस्थित जानतेहुए भी कहा है ॥१-२॥

टिप्पणी--१ (क) 'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई' इस कथनसे पाया गया कि सभी रघुवंशी वीर हैं, सभीको धनुष तोड़नेका सामर्थ्य है। (ख) 'जहँ' से सूचित किया कि कैसाही विकट कठिन काम वीरताका क्यों न हो, वे सब कर सकते हैं, उनके लिए कुछ भी असंभव नहीं है। (ग) 'कोउ' अर्थात् साधारणसे साधारण भी रघुवंशी क्यों न हो। 'कोउ' कहकर 'तेहि समाज' कहनेका भाव कि एक साधारण रघुवंशी भी समाजभरसे श्रेष्ठ होता है। लाखों वीरोंमें वह अग्रगण्यही माना जाने योग्य है। वह एकही सारे समाजकी मर्य्यादाकी रक्षाके लिए काफी है। (घ) 'तेहि समाज०'। भाव कि जहाँ रघुवंशी न हों वहां ऐसे अनुचित वचन भलेही कहे जा सकते हों। (ङ) 'कहै न कोई' अर्थात् रघुवंशका प्रभाव सभी जानते हैं, रघुवंशका ऐसाही प्रताप है। (अतः उनके रहते हुए ऐसा कहनेका अधिकार किसीको नहीं। कहनेपर रघुवंशी अपनी वीरता प्रकट करता है, इस अनुचितको सह नहीं सकता। वि० त्रि०)।

२ (क) 'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी'। भाव कि उन्होंने जानबूझकर ये वचन रघुनाथजीहीपर कहे, सरासर रघुनाथजीका अपमान किया है। विश्वामित्रजीसे यह भी जान चुके हैं कि इन्होंने ताड़का सुबाहु आदिको मारकर यज्ञरक्षा की और समाजमें बुलाकर बैठाकर यह अपमान किया। अपमान समझ कर ही ये वचन बाणसरीखे लगे। (ख) ☞'कही जनक जसि अनुचित बानी'। यहां उन्होंने जनकजीको कोई कटु वचन नहीं कहे, इतनाही कहा कि वे अनुचित वाणी बोले। ऐसी अनुचित वाणी उनको न बोलनी चाहिए थी यह साक्षात् न कहकर अभिप्रायसे जनाया। इससे जाना गया कि रघुनाथजीका डर है। 'कहि न सकत रघुबीर डर' यह यहां चरितार्थ किया। (ग) 'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी' कहनेसे जनकजीको उत्तरकी गुंजाइश न रहगई। वे ये नहीं कह सकते कि हम इनको रघुकुलमणि और वीर न जानते थे। यदि जनकजी कहें कि हम जानते न थे कि ये रघुकुलमणि हैं तो उसपर कहते हैं कि यह बात नहीं है, वे श्रीरामजीको ऐसा जानते हैं, विश्वामित्रजी उनसे कह चुके हैं। यथा 'रघुकुलमनि दसरथ के जाए। मम हित लागि नरेस पठाए।', 'रामलखन दोउ बंधुबर रूप सील गुन धाम। मख राखेउ सब साखि जग जिते असुर संग्राम।' (घ) 'रघुकुलमनि' कहनेका भाव कि रघुकुल तो स्वयं प्रकाशित है और ये तो उसके मणि हैं, प्रकाशरूप हैं, इनके प्रकाशसे कुल (और भी) प्रकाशित हो गया है।

सुनहु भानुकुल-पंकज भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ॥३॥
जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥४॥

अर्थ--हे सूर्य्यवंशरूपी कमलके (प्रफुल्लित करनेवाले) सूर्य्य! सुनिए, मैं स्वभावही कहता हूँ, कुछ अभिमानकी बात नहीं कहता ॥ ३ ॥ यदि मैं आपकी आज्ञा पाऊँ तो गेंदकी तरह ब्रह्मांडको उठा लूँ ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'भानुकुल पंकज भानू' का भाव कि रघुकुल जगत्में 'भानु' (सम) है (इस कुलसे और सब कुलोंकी शोभा है और आप इस कुलके भी भानु हैं) जब आप भानु हैं तब भानुकुल कमल है। तात्पर्य्य कि यह कुल आपके आश्रित है, आपही इसके सुखदाता हैं। (ख) ऊपर रघुनाथजीको 'मणि' कहा और यहां 'भानु'। भाव कि जनकजीके जाननेके प्रसंगमें 'रघुकुलमणि' और अपने जाननेके संबंधमें 'भानुकुलपंकज भानु' कहकर जनाते हैं कि जनकजी आपको मणिही जानते हैं और मैं आपको भानु जानता हूँ। तात्पर्य्य कि मणिसे सूर्य्यमें अधिक प्रकाश होता है। जनकजीने आपके विद्यमान रहते अनुचित वाणी कही, इससे ज्ञात होता है कि वे आपके स्वरूपको अच्छी तरह नहीं जानते (यथार्थ जानते तो ऐसा न कहते अथवा स्वरूपको भूलगए)। इसी कारण लक्ष्मणजीने जनकजीका रामजीको 'मणि' समान जानना कहा और स्वयं उनके स्वरूपको अच्छी तरह जानते हैं इसीसे अपना रामजीको 'भानु' समान जानना कहते हैं। पुनः भाव कि जब 'रघुकुल' कहा तब रामजीको 'मणि' कहा और जब 'भानुकुल' कहा तब रामजीको भानु कहा। इस प्रकार उत्तरोत्तर बड़ाई कही। रघुसे भानु अधिक हैं। यदि रघुकुलके भानु कहें तब 'भानुकुल' के क्या कहें? भानुसे अधिक प्रकाश किसमें है? यदि भानुकुलके मणि कहते तो इसमें रामजीकी हीनता होती, समझा जाता कि तेजमें अपने कुलसे हीन हैं। अतः जब रघुकुलको शोभित करना कहा तब मणिरूप कहा और जब भानुकुलको शोभित करना कहा तब भानुरूप कहा। (पुनः भाव कि भानुके पराक्रमको कौन कह सकता है, कमलके पराक्रमके सामने ही यह धनुष कुछ नहीं है। जिस कमल-कुलके आप भानु हैं, उसीका मैं कमल हूँ। सब लोग कमलका पराक्रम देखें, भानुको पराक्रम दिखानेकी आवश्यकता नहीं। वि० त्रि०)। (ग) 'कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू।' इति। अभिमान तमरूप है, यथा 'मोहमूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान'। 'भानुकुल पंकज भानू' कहकर 'न कछु अभिमानू' कहनेसे सूचित किया कि जैसे सूर्य्योदयसे किंचित् भी अंधकार नहीं रहजाता इसीसे आपके ही प्रतापसे मैं कुछ अभिमानसे नहीं कहता, स्वभावसे ही कहता हूँ। पुनः भाव कि रामजीको अभिमान नहीं भाता, यथा 'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥ ७,७४॥' इसीसे अभिमान रहित वाणी बोलना कहा। पुनः भाव कि आगे जो वचन कहते हैं उनसे अभिमान पाया जाता है इसीसे प्रथमही उसका निरा-करण किये देते हैं कि इसे अभिमान न समझियेगा।

२ (क) 'जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं' इति। आज्ञा पाने का भाव कि श्रीरामजी समस्त ब्रह्माण्डोंके स्वामी हैं, यथा 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं', इसीसे विना उनकी आज्ञाके ब्रह्माण्डका नाश नहीं कर सकते। और, सेवकका धर्मही है कि बिना स्वामीकी आज्ञाके ऐसा कोई काम न करे। (ख) 'कंदुक इव' कहनेका भाव कि गेंद खेलना बालकोंका खेल है। उसी तरह गेंदके खेल-सरीखा खेलही खेलमें ब्रह्मांडको उठा लूंगा, यथा 'द्रोन सो पहार लियो ख्यालही उखारि कर कंदुक ज्यौं कपिखेल बेल को सो फलु भो' (बाहुक)। ☞भारी वस्तु खेलमें उठानेको जहां जहाँ कहा है तहां तहां प्रायः सर्वत्र कंदुककीही उपमा देते हैं। पुनः, 'कंदुक इव' कहनेसे यह भी पाया गया कि लक्ष्मणजीने अपने बलकी अधिक प्रशंसा नहीं की, क्योंकि वे तो सारे ब्रह्मांडको एक रजकणकी तरह धारण किये हुए हैं, यथा 'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी'। (ग) 'ब्रह्मांड उठाऊं'। भाव कि ब्रह्माण्ड सबका आधार है और सब आधेय हैं, जब आधारही उठा लिया तब आधेय किस गिनतीमें है? धनुष भी इसी ब्रह्मांडके तिलभर भागमें है। (घ) भगवान् उठानेकी आज्ञा न देंगे, इसीसे 'जौं' संदिग्ध शब्द कहा। अभी प्रलयका समय नहीं है कि ऐसी आज्ञा दें।

काचे घट जिमि डारौं फोरी । सकौं मेरु मूलक जिमि१ तोरी ।।५।।
तव प्रताप महिमा भगवाना२ । को३ बापुरो पिनाक पुराना ।।६।।

अर्थ—(और उसे) कच्चे घड़ेके समान तोड़-फोड़ डालूँ । सुमेरु पर्वतको (भी) मूलीके समान तोड़ सकता हूँ ।। ५ ।। हे भगवन् ! यह सब आपके प्रतापकी महिमासे । उसके (प्रतापमहिमाके) सामने यह बेचारा पुराना धनुष क्या है ? ।। ६ ।।

टिप्पणी—१ ब्रह्मांडको उठालेनेमें 'कंदुक इव' और फोड़नेमें 'काचे घट जिमि' कहनेका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मांडको उठा लेना तो मेरे लिए लड़कोंका गेंदका खेल है; पर गेंदके भीतर अवकाश नहीं है, वह फूटता नहीं है । इसीसे फोड़नेमें कच्चे घड़ेके समान कहा । अर्थात् ब्रह्मांडको दबा दूँ तो वह टुकड़े टुकड़े हो जाय । दोनोंमें कुछ भी परिश्रम नहीं; न उठानेमें न तोड़नेमें । उठानेमें कच्चे घड़ेके समान न कहा क्योंकि उसमें फिर यह भाव न आता कि खेल सरीखा उठा लेंगे, घट लड़कोंके खेलकी चीज नहीं है । कच्चे घड़ेकी तरह तोड़ना कहा क्योंकि वह दबानेसे ही फूट जाता है, पक्के घड़ेके फोड़नेमें कुछ कठिनता होती है । [प्र० सं० में 'डारउँ फोरी' का भाव यह लिखा गया था कि जब ब्रह्मांड उठा ही लिया गया तब तो अवकाश (शून्य) ही रह गया, पटकें किस पर ? इससे कहते हैं कि उसे हाथसे दाब कर ही फोड़ डालूँगा ।]

शंका—जब ब्रह्मांड उठाकर फोड़ डालना कहा तब तो सुमेरु भी उसीमें आ गया, उसका तोड़ना पृथक् क्यों कहते हैं ? ब्रह्मांडके नाशसे तो सुमेरुका भी नाश हो चुका ?

समाधान—(१) जनकजीने उठाना, चढ़ाना और तोड़ना तीनों कहे थे, यथा 'रहा चढ़ाउब तोरब भाई । तिलभर भूमि न सकेउ छड़ाई' । यहाँ जनकजीकी तीनों बातोंका उत्तर पृथक् पृथक् दे रहे हैं । 'तिल भर भूमि न सकेउ छड़ाई' का उत्तर दिया कि धनुषको हटानेकी भली चलाई, जिसके आश्रित यह धनुष है हम उसीको खेल ही खेलमें उठा लें । और, जो कहा कि 'रहा तोरब भाई' उसका उत्तर है कि धनुष क्या है, हम तो सुमेरु ही को मूलीकी तरह तोड़ डालें । ब्रह्मांडको उठाना कहा और सुमेरुको तोड़ना कहा । गीतावलीमें सुमेरुको चढ़ानेको कहा है, यथा 'को बापुरो पिनाकु मेलि गुन मंदर मेरु नवावौं । १।८७ ।' इसीते यहाँ 'सुमेरु' का तोड़ना मात्र कहा, चढ़ाना गीतावलीमें कह ही चुके हैं, वहींसे ग्रहण कर लें । इस प्रकार तीनोंका उत्तर हो गया ।

(२) ☞ अथवा, तीन बातें कहकर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकारकी गुरुता दिखाई । ब्रह्मांड उत्तम गरू (भारी) है सो उसे गेंद समान उठा लूँ, सुमेरु मध्यम गरू है अतः उसे मूलीकी तरह तोड़ना कहा और धनुष निकृष्ट है सो उसके बारेमें कहते हैं कि 'को बापुरो पिनाक पुराना' ।

अथवा, (३) बंदीजनने जो कहा था कि 'गरुअ कठोर बिदित सब काहू' उसका उत्तर देते हैं कि गुरुता और कठोरता दो गुण धनुषमें कहे सो ब्रह्मांडके समान तो कोई वस्तु गरू नहीं है और न मेरुके समान कोई वस्तु कठोर है, हम ब्रह्मांड ही को उठा लें और मेरु ही को तोड़ डालें, यह धनुष क्या हक़ीक़त रखता है ? [या (४) यों कह सकते हैं कि जनकजीने तीन प्रकारका बल कहा । उसीका उत्तर तीन बातोंसे दिया—'डारौं फोरी' यह उत्तम, 'मेरु नवावौं' (गीतावलीके अनुसार) यह मध्यम और ब्रह्मांड उठावौं

---

१ इव—१७०४, छ० । जिमि—१६६१, १७२१, १७६२, को० रा० । २ बलवाना—१७०४ । ३ का—१७०४, रा० प०, १७६२, छ०, को० रा० । को—१६६१, १७६२, पं० ।

यह निकृष्ट। 'को बापुरो०' अर्थात् यह तो महानिकृष्ट बलकी बात है।-[यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार' है। और जनकजीके वचनोंके प्रतिकारकी उत्कट इच्छा प्रदर्शित करना 'अमर्ष संचारी भाव' है—(वीर)]।

२ (क) 'तव प्रताप महिमा भगवाना' इति। पहले लक्ष्मणजीने कहा कि 'कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू' वही यहाँ चरितार्थ है। उन्हें अपने बलका अभिमान नहीं है, श्रीरामजीके प्रतापका बल है। ब्रह्मांडकी उत्पत्ति, पालन और संहार श्रीरामजीके बलसे होता है, यथा 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा'। इसीसे लक्ष्मणजीने ब्रह्मांडका नाश करना उनके प्रतापसे कहा। (ख) 'भगवाना' का भाव कि आप ही उत्पत्ति और प्रलयके कर्त्ता हैं। आपके प्रतापसे यदि मैं इतना कर डालूँ तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?—'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामगतिं गतिम्।०'। पिनाक पुराना है इसीसे 'बापुरा' कहा, अर्थात् उसमें क्या गुरुता कठोरता है। ['पुराना' में मतभेद है। किसीके मतसे यह पिनाक देवरातजीके समयसे इस कुलमें है और दक्षके समयमें इसका निर्माण हुआ। और किसीके मतसे त्रिपुरासुरके वधके समयसे यह, है। यहाँ 'काव्यार्थापत्ति अलंकार है।]

नोट—दोहा २५१ में दिए हुए श्लोकके उत्तरमें लक्ष्मणजीका यह वचन हनु० नाटक अंक १ श्लोक ११ में यह है—"देव श्रीरघुनाथ किं बहुतया दासोऽस्मि ते लक्ष्मणो, मेर्वादीनपि भूधरान्नगणये जीर्णः पिनाकः कियान्। तन्मामादिश पश्य पश्य च बलं भृत्यस्य यत्कौतुकं प्रोद्धर्तुं प्रतिनामितुं प्रचलितुं नेतुं निहन्तुं क्षमः।" अर्थात् देव! रामचन्द्रजी! बहुत कहनेसे क्या है? मैं आपका दास लक्ष्मण हूँ जो मेरु आदि पर्वतोंको भी कुछ नहीं गिनता तो यह पुराना धनुष क्या? आज्ञा दीजिए और दासका बल और कौतुक देखिए। इसे उठाने, नवाने, हिलाने, लेजाने और टुकड़े टुकड़े करनेको भी मैं समर्थ हूँ। पर मानसमें यहाँके 'तव प्रताप०' के लालित्यको बिचारिए।

श्रीलमगोड़ाजी—१ परिस्थितिका प्रभाव देखा! कोलाहलके संकोचमें रामजी न उठे थे, और राजा जनक धनुष न टूटनेसे अकुला उठे। उनसे भूलके कारण (और वह भूल भी आकुलताके कारण हुई) 'परिताप' ने कुछ कटुरूप धारणकर कठोर शब्द कहलाए। नाटकीकलाका मजा देखिए, इस भूलको लक्ष्मणजी जानबूझकर अपमान करना समझते हैं। 'बिद्यमान रघुकुलमनि जानी'। उनका माष वीर क्या रौद्ररूप धारण करनेको तैयार है। २ नाटकीयकला और महाकाव्य कलाके एकीकरणका लुत्फ देखिए। नाटकीकलामें प्रत्युत्तररूप यह 'स्वप्रशंसा' अतिशयोक्ति रूपको भी धारण किये हुए भी अनुचित नहीं और महाकाव्यकलामें तो लक्ष्मणजी 'कृतांतभक्षक जन त्राता' हैं ही।

नाथ जानि अस आयेसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ॥७॥
कमल नाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥८॥

अर्थ—हे नाथ! ऐसा जानकर आज्ञा होवे। मैं कौतुक करूँ (खेल दिखाऊँ) उसे भी देखिए॥ ७॥ धनुषको कमलकी डंडीके समान चढ़ा दूँ और (सत्य ही सौ योजनतक लिए दौड़ता चला जाऊँ॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) 'जानि अस' अर्थात् यह जानकर कि हमारे बलप्रतापसे ब्रह्मांडको गेंदकी तरह उठा सकते हैं, मेरुको मूलीसरीखा तोड़ सकते हैं तब यह धनुष बिचारा क्या है। धनुष तोड़नेकी आज्ञा माँगते हैं। यहाँ 'जौं' संदिग्ध वचन नहीं कहते परंच जब ब्रह्मांडके नाशकी आज्ञा माँगी थी तब 'जौं' कहा था; कारण कि उसके नाशकी आज्ञा रामजी न देंगे, उस आज्ञाके मिलनेमें संदेह था और धनुष तोड़नेकी आज्ञामें संदेह नहीं है। यह समय तोड़नेका है ही। (ख) 'कौतुक करौं' इति। प्रभु कौतुकी हैं ही, यथा 'पुनि पुनि प्रभु काटत भुज सीसा। अति कौतुकी कोसलाधीसा।६।९१।', 'हँसे राम श्रीअनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता।६।११६।' इसीसे कौतुक करके दिखानेको कहते हैं। पुनः, भाव कि धनुषका उठाना

चढ़ाना और तोड़ना यह मेरा कौतुक है, इसमें मुझे कुछ परिश्रम न होगा आज्ञा भरकी देर है, मैं कर दिखाऊँगा। पुनः भाव कि मैं जो धनुष उठाने, चढ़ाने और तोड़नेको कहता हूँ वह कुछ जनकजीकी प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए नहीं वरंच कौतुक दिखानेके लिए। प्रतिज्ञाके लिये ऐसा करना तो मेरे लिए पाप है, यथा 'मेरो अनुचित न कहत लरिकाई बस, पन परिमित और भाँति सुनि गई है। नतरु प्रभु प्रताप उतरु चढ़ाए चाप देतों पै देखाइ बल फल पापमयी है। गी० १।८३।२।' अपने स्वामीको तमाशा दिखानेके लिए धनुषको तोड़नेसे पाप नहीं है। पुष्पवाटिकामें श्रीरामजी लक्ष्मणजीसे कह चुके हैं कि सीताजी हमारी शक्ति हैं, यथा 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥ …' इत्यादि। इसीसे लक्ष्मणजी कहते हैं कि प्रतिज्ञाके निमित्त तोड़नेसे मुझे पाप लगेगा। (पुनः, राजाओंको कौतुक देखना प्रिय है, अतः आज्ञा हो तो मैं कौतुक करूँ)।

२ (क) 'कमलनाल जिमि' अर्थात् बिना प्रयासके, यथा 'भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल'। (ख) 'सत जोजन' उपलक्षण है। अर्थात् अनंत योजन तक। शत, सहस्र, इत्यादि अनंतवाची हैं। (ग) ☞ जनकजीके 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलभर भूमि न सकेउ छड़ाई' इन वचनोंका उत्तर यहाँ दे रहे हैं। 'रहौ चढ़ाउब' का उत्तर 'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ', 'तिलभर भूमि०' का उत्तर 'जोजन सत प्रमान लै धावउँ' है। और तोड़नेका उत्तर आगे देते हैं कि 'तोरौं छत्रकदंड०'। (घ) कमलनाल वह है कि जिसमें कमलका फूल रहता है। जनकजीने प्रथम चढ़ाना कहा, इससे इन्होंने भी प्रथम उसीको कहा। अथवा, ब्रह्मांड और सुमेरु प्रथम कोटि है और पिनाक दूसरी कोटि है। प्रथम कोटिमें चढ़ाना न कहा था, इसीसे दूसरी कोटिमें प्रथम ही उसे कह दिया।

संत श्रीगुरुसहायलालजी—भाव कि "जो मैं आपका सच्चा दास हूँ तो यच्चावत् प्रमाण ब्रह्मांडोंका है उसके लयके लिये दौड़ परूँ, ले चलने और तोड़नेकी क्या बात है? वा, कमलनालकी तरह बिना किंचित् श्रमके चढ़ा दूँ और यह कौन बड़ा है जो सैकड़ों योजन प्रमाणका भी हो तो भी लेकर दौड़ा चला जाऊँ।" वा, "शपथ करके कहते हैं कि जो आपके सच्चे दासोंमें मेरा प्रमाण हो तो कमलनालकी तरह कि जो बहुत कोमल है बिना रंचक परिश्रम चापको चढ़ाऊँ और लिये हुए जाऊँ, औरोंकी तरह काला मुँह करके न जाऊँ। यथा 'सुनहु भानुकुलकमल भानु जो अब अनुसासन पावउँ।… तौ प्रभु अनुग कहावउँ॥" (गी० १। ८७)। जोजन सत प्रमान = सौ योजन प्रमाण करके = सौ योजनसे लेकर जितना प्रमाण आप कर दें। = जो आपका जन सच्चा होऊँ तो जितना प्रमाण आप कर दें उतना।"

☞ मिलान कीजिए।—'देखौ किन किंकर को कौतुक क्यों कोदंड चढ़ावौं। लै धावौं भंजौं मृनाल ज्यों तौ प्रभु अनुग कहावौं। गी० १। ८७।'

दोहा—तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥२५३॥

शब्दार्थ—छत्रकदंड = कुकुरमुत्ता, भुइफोर, भुइगर्जन, भूमिका फूल। यह वर्षाकालमें आपसे आप उपजता है।

अर्थ—हे नाथ! आपके बल प्रतापसे मैं उसे कुकुरमुत्ताकी तरह तोड़ डालूँ। जो ऐसा न करूँ तो प्रभो! आपके चरणोंकी सौगंद धनुष और तरकश पर हाथ न धरूँ अर्थात् उसे न छुऊँ॥२५३॥

नोट—आधुनिक प्रतियोंमें 'भाथ' का पाठांतर 'हाथ' मिलता है। 'कर' में तरकश नहीं धारण किया जाता, संभवतः इसीसे 'भाथ' का 'हाथ' कर दिया गया। गौड़जी कहते हैं कि "धरना छूनेके अर्थमें आता है।

कर धरौं = हाथसे छुऊँ। केवल छुऊँ या 'धरौं' कहनेसे काम चल जाता। 'कर' की क्या आवश्यकता थी? यहाँ 'कर' शब्द जानबूझकर विशेष जोर देनेके लिए लाया गया है। इसी 'कर' से तो ब्रह्माण्डके उठाने, तोड़ने और चापके चढ़ाने और तोड़नेकी बात कही। 'धनु भाथ' क्यों? 'धनु हाथ' क्यों नहीं? भाथ तो बाणोंका घर है, जब भाथ ही न छुऊँगा तब बाणकी क्या कथा है? इसलिये 'कर न धरौं धनु भाथ' ही उत्तम पाठ है। 'धरौं' का अर्थ यहाँ 'धारण करूँ' नहीं है। वीरकविजीका मत है कि "करके संयोगसे भाथ यद्यपि तरकशको कहते हैं, पर यहाँ बाणहीकी अभिधा पाई जाती है, त्रोणकी नहीं।" इन्होंने 'न धारण करूँगा' अर्थ किया है। वि० त्रि० ने 'न उठाऊँगा' अर्थ किया है।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कोटिमें ब्रह्मांडको उठाना और सुमेरुको तोड़ना श्रीरामजीके प्रतापसे कहा—'तव प्रताप महिमा भगवाना'। अतएव दूसरी कोटिमें धनुषका तोड़ना भी प्रभुके प्रतापसे कहा। यहाँ भी यदि 'तव प्रताप बल नाथ' न कहते तो समझा जाता कि ब्रह्मांडका उठाना इत्यादि प्रभुके बलसे था और धनुष अपने बलसे तोड़ेंगे। अतएव 'तव प्रताप०' कहकर जनाते हैं कि मैं तो धनुषके योग्य भी नहीं हूँ, पर आपका प्रताप सब कुछ करा दे सकता है। (ख) [ऊपर सुमेरुको मूलीसरीखा तोड़नेको कहा था, सो मूली कुछ पोढ़ी होती है। और 'पिनाक' को बापुरा और पुराना कहा था अतएव उसके योग्य 'छत्रकदंड' का दृष्टान्त दिया क्योंकि यह छूते ही टूटता है (प्र० सं०)]। पुनः, जब चापको कमलनाल सम चढ़ानेको कहा तब कमलनालसे भी कोमल जो छत्रकदंड है उसके समान तोड़नेको कहा।

३ (क) 'जौं न करौं' अर्थात् यदि धनुषको कमलनालकी तरह न चढ़ा सकूँ, सौ योजन दौड़ता हुआ न ले जाऊँ और छत्रकदंड समान न तोड़ दूँ तो। धनुष न टूटने पर धनुषके त्याग की प्रतिज्ञा की। (ख) प्रथम कविने कहा कि लक्ष्मणजी 'बोले गिरा प्रमान'। यहाँ लक्ष्मणजीने स्वयं ही अपनी गिराकी प्रमाणता पुष्ट कर दी—'जौं न करौं०'। ['कर न धरौं धनु भाथ' अर्थात् क्षत्रियपना, क्षत्रिय कहलाना छोड़ दूँ—(पांड़ेजी)]।

☞ लंकामें लक्ष्मणजीने मेघनादके मारनेकी प्रतिज्ञा की, यथा 'जौं तेहिं आजु बधे बिनु आवउँ। तौ रघुपति सेवक न कहावउँ। ६। ७४।' मेघनादका वध रघुनाथजीकी सेवा है। (उन्होंने उसके बधकी आज्ञा भी दी थी)। इससे वहाँ 'सेवक न कहावउँ' यह प्रतिज्ञा की। पुनः, लक्ष्मणजीने श्रीभरतजीको रामजीका शत्रु समझा तब शत्रुको मारना यह रामजीकी सेवा है; अतः वहाँ भी ऐसा ही कहा, यथा 'आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ। २। २३०।' और, यहाँ धनुषका तोड़ना क्षत्रियपना है, इससे यहाँ धनुष भाथके त्यागकी प्रतिज्ञा की।

(ग) आदिमें श्रीरामपदमें मस्तक नवाकर बोले, यथा 'नाइ रामपद कमल सिर बोले गिरा प्रमान'। अंतमें रामचरणकी शपथ की—'प्रभुपद सपथ कर०'। इससे जानागया कि श्रीरामचरणकमलही आपके सर्वस्व हैं।

वि० त्रि०—विश्वास दिलानेके लिये प्रभु-चरणकी शपथ लेते हैं, क्योंकि इसे तोड़ना नहीं है। ब्रह्माण्ड उठाने, फोड़ने और मेरुको तोड़नेके विषयमें शपथ नहीं लेते, उसे कर दिखानेके लिये प्रस्तुत हैं, केवल आज्ञाकी देर है; पर धनुषको छूना नहीं है, अतः अपनेमें ऐसा सामर्थ्य होनेकी शपथ लेते हैं।

लषन सकोप बचन जब* बोले। डगमगानि महि दिग्गज डोले ॥१॥

सकल लोग† सब भूप डेरानें। सिय हिय हरषु जनकु सकुचानें ॥२॥

* १६६१ की पोथीमें 'जे' पाठ है। यदि 'जे' पाठ ही शुद्ध हो तो उसका अर्थ 'ज्योंही या जैसे ही' होगा। ऐसा प्रयोग कहीं और देखनेमें नहीं आया। भा०दा०का पाठ 'जब' है। †—'लोक' (भा०दा०)। 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी है। भुवनका अर्थ लें तो भी हो सकता है। अयोध्याकांडमें वचन से लोक डर गए हैं।

अर्थ—जब लक्ष्मणजी क्रोधभरे वचन बोले तब पृथ्वी डगमगा उठी (हिलने लगी) और दिशाओं-के हाथी डोलने लगे (अर्थात् उनको अपनी जगहपर टिके रहना, पैर जमाए रहना, कठिन हो गया; वे डाँवाँडोल होगए, घबड़ा गए, काँप गए, इत्यादि ।) ॥ १ ॥ सभी लोग (पुरवासी) और सभी राजा डर गए। श्रीसीताजीके हृदयमें हर्ष हुआ और जनकजी सकुचा गए ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'लषन सकोप बचन०' इति । यहाँतक लक्ष्मणजीके मन, तन और वचन तीनोंमें कोप दिखाया । 'माषे लखन' यह मनका, 'कुटिल भैं भौंहें । रदपट फरकत नयन रिसौंहें' यह तनका और 'बोले गिरा·· सकोप बचन' यह वचनका का कोप है । उनका अवतार भूभार हरण करनेकेलिये है, यथा 'सेष सहस्र सीस जगकारन । जो अवतरेउ भूमिभय टारन । १७,७ ।' वेही ब्रह्मांड नाश करनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं इसीसे पृथ्वी काँप उठी कि अब हमारा रक्षक कौन है ? (ख) 'जब बोले' का भाव कि जबतक मनमें और तनमें क्रोध रहा, तबतक पृथ्वी न काँपी, क्योंकि तब कोई यह न समझ पाए थे कि क्यों और किसपर क्रोध हो रहा है; पर जब सकोप वचन बोले कि ब्रह्मांडको कच्चे घड़ेके समान फोड़ डालूँ गा तब पृथ्वी यह जानकर कि ये हमारा ही नाश करनेको हैं डरी, काँपने लगी । दिग्गज भी घबड़ाकर काँप उठे । (कारण कि क्रोधमें भी ये अप्रमाण नहीं बोलते, यथा 'अति सरोष माषे लखनु लखि सुनि सपथ प्रमान । सभय लोक सबलोक पति चाहत भभरि भगान । २।२३० ।') । दिग्गजोंके काँपनेसे पृथ्वी भी हिलगई और पृथ्वीके हिलनेपर 'सकल लोग सब भूप डेराने' । (ग) 'सकल लोग सब भूप डेरानें' इति । सबका डरना पृथ्वीके डगमगानेके पश्चात् कहकर जनाया कि लक्ष्मणजीके वचन सुनकर राजा न डरे थे, [वे समझ रहे थे कि यह सब इनकी डींग है, कलके छोकड़े वा लौंडे हैं, भला ऐसा कभी कर सकते हैं कि ब्रह्मांडको फोड़ दें, सुमेरुको तोड़ दें ? भला संसारमें कोई भी वीर ऐसा है जो इनमेंसे कोई एक भी काम करसकता हो ? कदापि नहीं] । पर जब इनके वचनपर पृथ्वी काँपी तब सबको इनके वचनपर विश्वास हो गया कि जिनके वचनका यह प्रभाव है ये क्या नहीं कर सकते ? इन्होंने ब्रह्मांडका नाश करनेको कहा है, सत्यही ये उसका नाश करना चाहते हैं, अब हम मरे यह डर समागया । यदि पृथ्वी न काँपती तो यह विश्वास न होता । सब यही समझते रहते कि वीर लोग सदा इसी तरह अपना बल बखान किया करते हैं । (उनके वचनोंको प्रमाणित करनेके लिए, उनकी सत्यप्रतिज्ञताका विश्वास सबके हृदयमें जमानेके लिये ही 'डगमगानि महि०' । इसी कारण पहले 'डगमगानि महि' कहा । प्र० सं० ।)

२ (क) 'सकल लोग' में तो 'सब भूप' का भी ग्रहण हो जाता है तब 'सब भूपों' का डरना पृथक् क्यों कहा गया ? कारण कि रंगभूमिमें धनुषयज्ञशालामें पृथक्-पृथक् दो कोटियाँ लोगोंकी बराबर कहते आए हैं—एक तो पुरवासियोंकी, दूसरे राजाओंकी । इनको पूर्व भी अलग अलग कहते आए हैं । यथा—'रंगभूमि जब सिय पगु धारी । देखि रूप मोहे नर नारी' 'सीय चकित चित रामहि चाहा । भये मोह बस सब नरनाहा । २४८।४।७ ।' तथा यहाँ भी दोनोंका अलग-अलग डरना कहा । यदि यहाँ 'सकल लोग डेराने' लिखते और 'भूप डेराने' न कहते तो समझा जाता कि राजा नहीं डरे । (ख) 'सिय हिय हरषु', हर्ष यह समझकर हुआ कि जिनके सेवकमें यह सामर्थ्य है, उनके सामर्थ्यका तो कहना ही क्या ? वे धनुष अवश्य तोड़ेंगे । जनक सकुचा गए, यह सोचकर कि हमसे न बना जो हमने ऐसी बात कह डाली । क्रोधसे बोलनेपर अनेक विरोधी कार्य्योंका प्रकट होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है ।

नोट—श्रीजनकमहाराज अपनी भूल समझकर सकुचागए । मुनिसे इनका बल और पराक्रम सुन चुके थे तब भी माधुर्य्यमें भूलगए । लक्ष्मणजीके उत्साहवर्द्धक निराशा-भंजन वचन सुननेसे सीताजीको हर्ष हुआ । इनकी वाणी श्रीरामजीके प्रतापको दर्शित करने और बढ़ानेवाली एवं निर्भय है । अतः गुरु आदि सभीको आनन्द मिला । (रा० प्र०, पंजाबीजी) ।

गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं । मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ॥३॥
सयनहि रघुपति लषनु नेवारे । प्रेम समेत निकट बैठारे ॥४॥

अर्थ—गुरु (विश्वामित्रजी), श्रीरघुनाथजी और सब मुनि मनमें प्रसन्न हुए और बारंबार पुलकित होने लगे ॥३॥ श्रीरघुनाथजीने इशारेसे लक्ष्मणजीको मना किया और प्रेमसहित अपने पास बैठा लिया ॥४॥

☞अंतर-नाटकीयकला (Inter Plot) का लुत्फ़ जगह-जगह देखते जाइए। किस सुन्दरतासे इस कोपका प्रभाव सबपर दिखा दिया। विशेषतः चरित्र-संघर्ष विचारणीय है। जनकजीका 'संकोच' और गुरु तथा रामजी आदिका 'मुदित पुनि पुनि पुलक'। फिर रामजीका 'सयनहि निवारना' और प्रेमसे 'निकट' बैठाना, भक्ति और प्रेमकी जान तो हैं ही, भावमर्मज्ञता और सूक्ष्म प्रगति चित्रण (फ़िल्मकला) भी इनपर निछावर होते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'मन माहीं' इति। श्रीलक्ष्मणजीने श्रीजनकजीके वचनोंका बड़े जोरसे खंडन किया जिससे वे इस समय सकुचागए हैं। इसीसे सबने अपना हर्ष मनमें रक्खा। बाहर प्रकट न किया। इस समय यदि मुनि, गुरु और श्रीरामजी ऊपरसे भी प्रसन्नता दिखाते तो रस जाता रहता, जनक महाराजका प्रगटरूपसे और भी अपमान होता, ऐसे ही बड़ेका अपमान हो गया है; अत' इन्होंने अपने हर्षको मनहीमें रक्खा। यहाँ लक्ष्मणजीकी प्रशंसा भी न की, क्योंकि प्रशंसा भी इस समय उचित न थी। (ख) 'पुनि पुनि पुलकाहीं' का भाव कि लक्ष्मणजीकी प्रत्येक बात प्रेमसे पुलकित करदेनेवाली है। एक तो यह कि अभी लड़के हैं तो भी ऐसे मौक़ेकी बात कही कि 'शायद बायद'। ये बातें रामजीके मुखसे निकलतीं तो शोभाको न प्राप्त हो सकतीं, लक्ष्मणजीके ही योग्य थीं। श्रीजनकजीके अपमानसूचक कोई वचन इसमें नहीं हैं; उनके प्रति कोई अनुचित बात नहीं कही गई। जो कुछ कहा सब यथार्थ ही कहा गया। अपना बल कहा सो उसमें भी श्रीरघुनाथजीहीका प्रताप मुख्य रक्खा, इत्यादि प्रत्येक बातको (अर्थात् अवसर प्राप्त क्रोध, अप्रतिम तेजस्विता, अमोघ वीर्य और अलौकिक विवेकको—वि० त्रि०) समझ-समझकर बार बार पुलकित हो रहे हैं। (ग) 'मन माहीं मुदित भए' यह मनका हाल और 'पुनि पुनि पुलकाहीं' यह तनका हाल कहा। वचनका मौक़ा नहीं है, इसीसे वचन कहना न लिखा। विश्वामित्रके कहनेका जो समय है उसे आगे कहते हैं। (घ) अनेक उपमाओंका एकही धर्म 'मुदित०' कथन करना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है।

२ (क) 'सयनहि रघुपति लषनु नेवारे' इति। इशारेसेही निवारण करनेका भाव—(१) प्रथम कह आए हैं कि 'मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं' अत्यन्त प्रेममें वचन नहीं निकलते। (२) इस समय लक्ष्मणजीने अपनी वीरता एवं अपने बलकी प्रशंसा की है, बल बखाना है, ऐसी हालतमें 'बैठो' इतना ही मात्र कह देनेसे बलकी सारी प्रशंसा धूलमें मिल जाती, सारे बलका निरादर सूचित होता, इसीसे मुँहसे कुछ न कहकर इशाराभर किया। (३) सभामें अपने मुखसे सबके सामने यह न कह सकते थे कि सीताजी हमारी शक्ति हैं, तुम्हें धनुष न तोड़ना चाहिए। पुष्पवाटिकामें कुछ संकेत इसका कर चुके हैं। पुनः, [(४) मुखसे कहकर बिठाते तो लोग समझते कि अपना बल प्रकट करनेके लिए उन्होंने ये वचन कहलाए हैं, इससे गंभीरतामें दोष आता।' (पं०)। (५) कुटिल राजा खुश होंगे कि अब लक्ष्मणजी तोड़नेको हैं, दोनों भाइयोंमें अब वैमनस्य हो जाने से युद्ध होगा, अतः, इशारेसे मना करके उनको बिठाकर यह दिखाया कि ये हमारे अधीन हैं, आज्ञामें हैं। (पं०)। अथवा, (६) इस तरह लोगोंको प्रतीति कराई कि जिनके वचनसे पृथ्वी हिल गई उनसे इनका बल कहीं अधिक होगा तब तो इनके इशारेमात्रसे वे चुप हो गए। (पं०)। (७) यहाँ धनुष तोड़ना और विवाह करना एक बात है। बिना बड़ेकी आज्ञाके विवाहके लिये स्वयं अग्रसर होना ठीक नहीं, पिताके स्थानमें मुनिजी हैं। वे कुछ कह नहीं रहे हैं। अतः बैठ जाओ।

यह रोकना अप्रसन्नताका परिणाम नहीं है, इस लिये प्रेमके सहित निकट बैठाया। भाव कि तुम्हारी इच्छा को मैं पूरी करूँगा। (वि० त्रि०)]। (ख)-'प्रेमसमेत निकट बैठारे' इति। इससे जनाया कि पहले मुनिके एक ओर लक्ष्मणजी थे दूसरी तरफ़ रामजी। अब अपने पास बैठा लिया, यथा 'भूपति किसोर दुहुँ ओर बीच मुनिराउ देखिबेको दाउँ देखौ देखिबो बिहाइ कै॥ गी० १.८२॥' यह भी जनाया कि लक्ष्मणजीने खड़े होकर ये सब बातें आवेशमें कही थीं; वहाँ इनका खड़ा होना न कहा गया था, यहाँ 'बैठारे' कहकर उसे जना दिया। पुनः, अपने बग़ल में बिठानेसे उनका आदर हुआ। यथा 'अति आदर समीप बैठारी॥६.३७॥'

मिलान कीजिए-'बिहँसि हिय हरषि हटके लषन राम सोहत सकोच सील नेह नारि नई है॥ ३॥ सहमी सभा सकल जनक भए बिकल···॥ गी० १.८३॥', 'हरषे पुर नर नारि सचिव नृप कुँवर कहे बर बैन। मृदु मुसुकाइ राम बरज्यो प्रिय बंधु नयन की सैन॥ गी० १।८७॥'—मानसमें इनसे विशेष गंभीरता दरसाई है।

बिश्वामित्र समय सुभ जानी। बोले अति सनेहमय बानी॥५॥
उठहु राम भंजहु भव चापा। मेटहु तात जनक परितापा॥६॥

अर्थ—श्रीविश्वामित्रजी शुभ समय जानकर अत्यन्त प्रेमभरी वाणी बोले। हे राम! उठो, शिवजी का धनुष तोड़ो (और) हे तात! जनकका संताप मिटाओ॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) 'शुभ समय' अर्थात् सुन्दर मंगलमय सिद्धियोगवाला उत्तम मुहूर्त्त जिसमें कार्य अवश्य हो। पुनः 'शुभ समय' यह कि सब राजा पुरुषार्थ करके हार गए, [अब किसीको यह कहनेका मौक़ा न रह गया कि रामचन्द्रजीने पहलेही तोड़ दिया, नहीं तो हम अवश्य तोड़ डालते। अब धनुष तोड़नेसे श्रीरामजी त्रैलोक्यविजयी कहलायेंगे और त्रैलोक्यमें इनकी कीर्त्ति होगी। (प्र० सं०)। पुनः शुभ इससे कहा कि इस समय सभाभरमें यही चर्चा व्याप्त है और सभीकी लालसा है कि धनुष टूटे। (पाँ०)। वा, लक्ष्मणजीके वचनसे वीरताका उदय हुआ, अब उसको प्रकट करनेका अवसर है, अतः इसे शुभ समय कहा। (वै०)] (ख) 'अति सनेहमय बानी' इति। भाव कि धनुष तोड़नेकी आज्ञा देते हुए एवं देनेमें मुनिको 'अत्यन्त स्नेह' हुआ। जब श्रीरामचन्द्रजी धनुष तोड़ने चले तब सबोंको 'स्नेह' हुआ, यथा 'चलत राम सब पुरनरनारी। पुलक पूरि तन भए सुखारी॥ २५५.६॥', 'रामहि प्रेमसमेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ। सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥ २५५॥', 'प्रभुतन चितै प्रेम तन ठाना। कृपा-निधान राम सब जाना॥ २५६.७॥' (सीताजी), 'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड। पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांड॥ २५६॥' तथा विश्वामित्रजीको उठकर धनुष तोड़नेकी आज्ञा देनेमें स्नेह हुआ। (सबको स्नेह हुआ और इनको अति स्नेह।) पुनः भाव कि लक्ष्मणजीके वचन सुनकर 'स्नेह' हुआ और रामजीको धनुष तोड़नेकी आज्ञा देनेमें अति स्नेह हुआ। पुनः, (ग) 'अति सनेहमय बानी' बोलनेका भाव कि वहाँ बोलनेका मौक़ा न था, अब मौक़ा बोलनेका है।

२ (क) 'उठहु राम, मेटहु तात' यह अति स्नेहमयवाणीका स्वरूप दिखाया कि 'राम' और 'तात' दो (प्यारके) संबोधन दिए। दोनोंमें कितना प्रेम टपक रहा है! [पुनः 'उठहु' का भाव कि मेरी आज्ञाकी प्रतीक्षामें लक्ष्मणजीके इतना कहनेपर भी नहीं उठते हो, तो लो मैं आज्ञा देता हूँ, जनकजीके परितापके मिटानेको लक्ष्यमें रखकर धनुष तोड़ो। भवचापके तोड़नेकी आज्ञा देकर सारा प्रातिभाव्य (जिम्मेदारी) मैं अपने ऊपर लेता हूँ। (वि० त्रि०)]। (ख) 'मेटहु तात जनक परितापा' इति। जैसे बंदीजनोंने राजाओंको 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरै हठि तेही' यह लाभ दिखाकर धनुष तोड़नेको

कहा था वैसा लाभ दिखाकर महर्षि विश्वामित्रजी श्रीरामजीको धनुष तोड़नेको नहीं कहते, क्योंकि वेजानते हैं कि श्रीरामजी परमेश्वर हैं, पूर्णकाम हैं, उनको लोभ दिखाना अज्ञान है। (जो वस्तु किसीके पास नहीं होती उसीका उसको लोभ होता है और यहाँ तो रामजी 'सकल लोकपति स्वामी' हैं और सीताजी उनकी परम आद्यशक्ति हैं ही। मुनि यह जानते हैं), इसीसे जनकका 'परिताप' मिटानेके लिए धनुष तोड़नेकी कहते हैं। क्योंकि "भक्तका संताप मिटानेमें भगवान्‌के उत्सव होता है। जैसे 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही' के मिलनेका उत्सव राजाओंके हुआ वैसेही जनकपरितापके मेटनेका उत्सव श्रीरामजीके हुआ।" (पं० रामकुमारजीके 'उत्सव' शब्दका भाव 'उत्साहु' जान पड़ता है। भक्तका दुःख मिटानेमें भगवान्‌को प्रसन्नता होती है)। (ग) 'परिताप' पहले कह आए हैं, यथा 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊं। कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊं।'''॥ २५२.५ ॥' इत्यादि। लड़की कुँआरी रहनेसे जगत्‌में उपहास होगा, यही 'परिताप' है।

नोट—१ जैसे यहां मुनिने अति स्नेहसे धनुष तोड़नेकी आज्ञा दी वैसेही धनुष टूटनेपर सबसे पहले इन्हींका अत्यंत स्नेह कविने प्रकट किया है। यथा 'कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाहु सुहावन॥ रामरूप राकेस निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी॥ २६२. २-३॥'

२ 'विश्वामित्रजीका नाम यहाँ खिल उठता है। सच है, वे विश्वके मित्र हैं। राम-सीय-विवाह विश्वकल्याणके निमित्तही है और फिर 'विश्व' नेतृत्वका परिवर्तन भी होना है। 'पशुबल' (परशुराम) पर 'सत्य सील दृढ़' (राम) का विजय होगा, इत्यादि। आज्ञाका अपीलरूप और वह भी सकरुण विचारणीय है। (लमगोड़ाजी)।

३ 'भंजहु भव चापू' के ये भाव कहे जाते हैं—(क) आपका नाम भवभयभंजन है, यथा 'भंजेउ राम आप भवचापू। भवभयभंजन नाम प्रतापू'। आपके लिए भवका धनुष तोड़ना क्या कठिन है? (ख) "यह मनुष्योंका धनुष नहीं है जिसमें आपकी कुछ लघुता हो। यह महेशका धनुष है, इसके तोड़नेमें आपकी न्यूनता न होगी। इसपर यह प्रश्न होता है कि परमभक्त शिवजीका धनुष कैसे तोड़ें? उसका उत्तर देते हैं कि जनक बहुत दुःखी हैं, उनके दुःखको मिटाइए, विना इसके तोड़े उनका दुःख न मिटेगा।"—(पंजाबीजी)। 'जनक परितापू' से जनाया कि यह धनुष परितापका उत्पन्न करनेवाला है। इसमें वीर और करुणा दोनों रसोंका वर्णन है।" जनक = उत्पन्न करनेवाला। (पांड़ेजी)। इससे जनकजीकी निर्दोषता भी द्योतित करते हैं कि उन्होंने अति परितापसे विकल होकर 'बीर बिहीन मही' ये वचन कहे थे। (वि० त्रि०)।

४ (पं० रामकुमारजी)—भवचाप भंजनमें 'राम' कहा और 'परिताप' मेटनेमें 'तात'। तात्पर्य्य कि हम तुम्हारे नामका प्रताप जानते हैं कि वह भव भंजन करता है तब भवचापका नाश तुम्हारे लिए क्या है! तुम सबके 'तात' अर्थात् माता, पिता, बंधु, सखा सब कुछ हो; अतः तुमको 'जनकका परिताप' मिटाना योग्य ही है। 'तात' शब्द माता पिता भाई सखा सबका वाचक है।

सुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा। हरषु बिषादु न कछु उर आवा॥७॥
ठाढ़े भये उठि सहज सुभाए[१]। ठवनि जुबा मृगराजु लजाए॥८॥

अर्थ—गुरुके वचन सुनकर (श्रीरामजीने उनके) चरणोंमें मस्तक नवाया (उनके) हृदयमें हर्ष विषाद कुछ भी न आया॥ ७॥ सहज स्वभावसेही वे उठकर खड़े हो गए। उनकी 'ठवनि' (खड़े होनेका ढब) जवान सिंहको भी लज्जित कर देती है॥ ८॥

१—सुहाए-१७०४; को० रा०। सुभाए-१६६१, १७२१, १७६२. छ०।

टिप्पणी—१ (क) 'चरन सिरु नावा' इति। राजा लोग जब धनुष तोड़ने चले तब अपने अपने इष्टदेवोंको सिर नवाकर चले, इसीतरह श्रीरामजी गुरुको प्रणाम करके चले। इससे जनाया कि हमारे इष्टदेव गुरु हैं। (ख) गुरुके वचन सुनकर गुरुचरणोंमें सिर नवाने का भाव कि आपकी आज्ञाका प्रतिपालन आपके चरणोंकी कृपासे होगा।

२ 'हरष बिषाद न कछु उर आवा' इति। (क) अर्थात् न तो त्रिभुवन जय और जानकीजीकी प्राप्तिका हर्ष हुआ और न यही हर्ष हुआ कि धनुषको हम सहजही तोड़ लेंगे यह धनुष है ही क्या। धनुष हमसे टूटेगा यह समझकर हर्ष न हुआ। धनुष हमसे न टूटेगा यह समझकर विषाद न हुआ। क्योंकि उनको निश्चय है कि हम धनुषको तोड़ेंगे। (ख) धनुषके टूटनेमें भारी हर्ष और न टूटनेमें भारी विषादकी प्राप्ति (अनिवार्य) है। पर श्रीरामजीको हर्ष विषाद कुछ भी न हुआ, क्योंकि वे हर्ष-विषाद-रहित हैं। यथा 'बिसमय हरष रहित रघुराऊ। तुम्ह जानहु सब राम प्रभाऊ। २।१२।' (देववाक्य), 'राज सुनाइ दीन्ह बनवासू। सुनि मन भयउ न हरष हरासू। २।१४६।७।', 'हृदय न हरष बिषाद कछु बोले श्रीरघुबीर। २७०।' पुनः, (ग) हर्ष विषाद कुछ न हुआ क्योंकि जीर्ण धनुषके तोड़नेमें कोई वीरता नहीं, यथा 'का छति लाभ जून धनु तोरे। २७२। २।' इससे हर्ष न हुआ। और जीर्ण धनुषके तोड़नेसे कोई हानि नहीं होनेकी (वह तो टूटा सड़ा हुआ है ही) इससे विषाद नहीं हुआ। [हानि लाभसे ही बिषाद और हर्ष होता है। जब इसके तोड़नेसे श्रीरामजीको न कुछ लाभ ही है न हानि तब हर्ष या विषाद क्यों होता। पुनः, (घ) हर्ष विषाद जीवके धर्म हैं; यथा 'हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना। ११६। ७।' और श्रीरामजी ब्रह्म हैं—'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।'''११६।'; अतः उनके हृदयमें हर्ष विषाद आ ही नहीं सकते। (ङ) ☞ राजाओंको लाभ सुनकर हर्ष हुआ था, यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे।', इसीसे उनको धनुष न उठा सकनेपर विषाद हुआ था। यथा 'सब नृप भए जोग उपहासी।'''श्रीहत भये हारि हिय राजा।' श्रीरामजी कोई लाभ समझ धनुष तोड़नेको नहीं उठे क्योंकि उनको कोई नई वस्तु तो मिलनी नहीं है, इसीसे हर्ष नहीं और विषादकी तो कोई बात ही नहीं है। (च) धीर हैं, इसलिये हर्ष, विषाद कुछ भी मनमें न आया। यथा 'सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।' (वि० त्रि०)] (छ) यहाँ 'कछु' के दो अर्थ हैं। एक तो 'किंचित्', दूसरा 'कोई'। हर्ष वा विषाद कोई भी एवं किंचित् भी हृदयमें न आया। पुनः, (ज) 'चरन सिरु नावा' से पाया गया कि कुछ समझके हर्ष हुआ इससे चरणोंमें मस्तक नवाया अथवा कुछ समझकर विषाद हुआ होगा इससे प्रणाम करते हैं जिसमें बिषाद दूर हो जाय; इसका निराकरण करनेके लिए 'हरष बिषाद न कछु''' कहा अर्थात् हर्ष अथवा विषादके कारण नहीं मस्तक नवाया किन्तु स्वाभाविक ही सिर नवाया। यथा "राम लखि कौसिक असीस आज्ञा दई है। तुलसी सुभाय गुरुपायँ लागि रघुराज रिषिराज की रजाइ माथे मानि लई है। गी० १।८३।४।" ['चरन सिरु नावा' में 'अज्ञा सिर पर नाथ तुम्हारी' तथा यह कि इन चरणोंके प्रभावसे आज्ञाका पालन हो जायगा, ये दोनों भाव हैं। 'हरष बिषाद न कछु उर आवा' से जनाया कि वे अकाम हैं। इसके प्रतिकूल श्रीसीताजी और श्रीसुनयनाजी दोनोंको प्रथम विषाद हुआ और फिर धनुष टूटने पर हर्ष भी। (प० प० प्र०)]।

२ (क) 'न कछु उर आवा' इति। 'आवा' एकवचन क्रिया दी, क्योंकि ये दोनों एक साथ नहीं आते, जब हर्ष आता है तब विषाद नहीं और जब विषाद आता है तब हर्ष नहीं। यदि इतना ही कहते कि 'हरषु न उर आवा' तो संभव था कि कोई यह समझता कि विषाद हुआ होगा, अतः कहा कि 'हरषु बिषादु न कछु०'। (ख) 'ठाढ़े भये उठि सहज सुभाएँ' इति। भाव कि राजा लोग धनुष उठानेके लिए अकुलाकर

उठे थे, यथा 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई'। इसके विरुद्ध श्रीरामजी 'सहज सुभाए' उठे, अर्थात् ये 'अकुलाये' नहीं। वे उठकर तुरत चल दिए थे, ये उठकर सिंहकी तरह पहले निःशंक खड़े हो गए। सिंहका स्वभाव है कि पहले किंचित् खड़ा हो जाता है तब चलता है। ☞ जब हृदयमें हर्ष या विषाद होता है तब स्वाभाविक चाल बदल जाती है, यहाँ 'हरषु विषादु न कछु उर आवा' इसीसे सहज स्वाभाविक जैसे उठकर खड़े होते हैं वैसे ही खड़े हुए। (ग) 'मुनि गुरु बचन चरन सिरु नावा', यह कहकर तब लिखते हैं कि 'ठाढ़े भये०', इससे जनाया कि गुरुके पास बैठे हैं; अतः चरणोंमें सिर नवाकर तब उठे। (घ) 'ठवनि' अर्थात् निःशंकता में।—[इस शब्दके अर्थ दोहा २४३ 'कुंजरमनि कंठा कलित०' में देखिए।]

श्रीराजारामशरणजी—'सहज सुभाए' रामजीकी ओरसे है परंतु स्वाभाविक वीर शृंगाररसका प्रभाव यह है कि 'ठवनि जुवा मृगराज लजाए' (कोई कृत्रिम उद्योग नहीं)। स्वभाव और प्रभावका सूक्ष्म अंतर हर जगह विचारणीय है और कलाकी (विशेषतः नाटकीयकलाकी) जान है।

दोहा—उदित उदयगिरि-मंच पर रघुबर बाल पतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥२५४॥

अर्थ—श्रीरघुनाथजीरूपी बाल (प्रातःकालके) सूर्य्यके मंचरूपी उदयाचल पर उदय होनेपर सब संतरूपी कमल खिल गए और सबके नेत्ररूपी भ्रमर हर्षित हुए॥ २५४॥

टिप्पणी—१ प्रथम श्रीरामजीके आगमनको अरुणोदय कहा, यथा 'अरुनोदय सकुचे कुमुद उडगन जोति मलीन। जिमि तुम्हार आगमन सुनि भये नृपति बलहीन। २३८।' अब राजसभामें बालपतंगके समान रघुनाथजीका उदय कहा। पहिले अरुणोदय होता है, उसके पीछे बालपतंगका उदय, तब अंधकारका नाश होता है। वैसे ही यहाँ पहले आगमन है, पीछे मंचसे उठनारूपी उदय (मंचपर तो बैठे ही थे, उठकर खड़े होना यह उदय होना है), और तब धनुषका नाश है।

२ (क) उदयगिरिकी उपमा देकर सूचित किया कि यह मंच सब मंचोंसे ऊँचा है। (ख) 'बिकसे संतसरोज सब' इति। सूर्य्यके स्नेही बहुतसे वृक्ष और औषध हैं पर संतको उनकी उपमा न देकर कमलकी उपमा दी, क्योंकि कमल भगवान्‌के अंगोंका उपमान है और उत्तम है। (ग) 'हरषे लोचन भृंग' इति। ☞ यहाँ कमल और भ्रमरका संबंध नहीं है अर्थात् संत-कमलको देखकर नेत्रभृङ्ग सुखी हुए हों यह बात यहाँ नहीं है। सूर्य्यके उदयसे भ्रमर सुखी हुए हैं। [सूर्य्योदयसे भ्रमरोंका सुख यह कि वे अपना भोग विषय पागए, इसी तरह सबके नेत्र अपना विषय रूपदर्शन पाकर सुखी हुए।] (घ) पूर्वार्धमें सूर्य्योदय कहा, उत्तरार्धमें उदयका धर्म कहते हैं। उदयपर 'कमल कोक खग मधुकर' सभी सुखी होते हैं, यथा 'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना। २३६।२।' संत कमल हैं, ये कमलकी तरह सर्वांग प्रफुल्लित हो गए। और सब लोगोंके नेत्र भ्रमर हैं। (संतोंके नेत्र भ्रमर नहीं हैं, वे तो सर्वांग कमल हैं, उनके नेत्र भी कमलवत् विकसित हैं) तात्पर्य्य कि भगवान्‌को देखकर जैसा हर्ष संतको होता है वैसा औरोंको नहीं होता; इसीसे संतका सर्वांगहर्ष कहा और अन्य सब लोगोंका एक अंग कहा।

मा० त० वि०—"कुटिल राजाओंकी आशारूप निशाके कारण जो संकोचको प्राप्त हो रहे थे वे 'संत सरोज' गद्गद हो गए। और, महाराजके चरित्ररूपी रसकी अभिलाषामें जो अपने नेत्र भृङ्गप्राय किये हुए थे वे हर्षको प्राप्त हुए। अतः 'अस कहि भले भूप अनुरागे। रूप अनूप बिलोकन लागे'। वा, २—खेदके समय अद्यावधि हृदय संपुटित हो जाता है। सो संतोंका हृदयसरोज एवं सहस्र कमल, जो मस्तकमें है, खुल गया। और इनके मध्यमें जो लोचन इनका भ्रमररूप हो रहा था, खेदवान्, वह हर्षित हुआ अर्थात् दिव्य दृष्टिसम्पन्न हो गया। इसीलिए कमल और नेत्रहीकी दशा कही।—'भये बिसोक कोक मुनि देवा'।

नोट - १ कुछ महानुभावोंका मत है कि 'लोचन भृंग' भी संतोंहीके नेत्रोंके लिए कहा गया है और कुछका यह कि पुरवासियोंके नेत्रोंको भृंगकी उपमा दी गई है-'पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई ।।' इनका कहना है कि एक ही व्यक्तिको कमल और भ्रमर कैसे कह सकते हैं। लाला भगवानदीन-जी कहते हैं कि "श्रीरामजीको खड़े होते हुए देखकर मुनिसमाज प्रफुल्लित हुआ और उस समाजको प्रफुल्लित देखकर और सब लोग भी प्रसन्न हुए, इस अनुमानसे कि जब श्रीरामजीको आते हुए देखकर त्रिकालज्ञ मुनिमंडली प्रसन्न हो रही है तो श्रीरामजी अवश्य ही धनुष तोड़ेंगे। लोचनभृंग संतोंके नहीं वरन् अन्य लोगों हीके लिए उचित है। क्योंकि सरोज और भृंग ये भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो सकते हैं। अंगाङ्गी नहीं। २ यहाँ परंपरित रूपक है और आगे सूर्य्योदयपर साङ्गरूपक बाँधा गया है।

नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी ।। १ ।।
मानी महिप कुमुद सकुचानें। कपटी भूप उलूक लुकानें ।। २ ।।
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिँ सुमन जनावहिँ सेवा ।। ३ ।।

अर्थ—राजाओंकी आशारूपी रात्रि नष्ट हो गई, उनके वचनरूपी नक्षत्रोंकी पंक्ति (अब) प्रकाश नहीं करती। अर्थात् जैसे सूर्य्योदयसे नक्षत्रसमूहका प्रकाश जाता रहता है, वे दिखाई नहीं पड़ते, वैसे ही राजाओंका बोल बंद हो गया ।। १ ।। अभिमानी राजारूपी कुमुद संकुचित हो गए, कपटी राजरूपी उल्लू छिप गए ।। २ ।। मुनि और देवतारूपी चकवे शोकरहित हो गए, वे फूलोंकी वर्षा करके अपनी सेवा प्रकट कर रहे हैं ।। ३ ।।

टिप्पणी—१ (क) 'नृपन्ह केरि आसा निसि नासी' इति। जब राजाओंसे धनुष न उठा तब वे आशा किये बैठे रहे कि जयमाल-स्वयंवर होगा। उसी आशाको रात्रि कहा। रात्रिमें कुछ सूझता नहीं, इसी तरह राजाओंको आशामें सूझता नहीं कि 'जानकीजी हमको न मिलेंगी'। रात्रिमें नक्षत्र चमकते हैं, वैसे ही राजा लोग श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी आशामें वचनोंसे अपना प्रकाश करते रहे। रात्रिके जानेपर नक्षत्र नहीं रह जाते, वैसेही आशा न रह जानेसे वचन बंद हो गये। (ख) जबतक सूर्य्योदय नहीं होता तबतक रात्रि नहीं जाती, यथा "राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ। सकल गिरिन्ह दव लाइये बिनु रबि राति न जाइ ।। ७। ७८ ।।"; इसी तरह बंदीवचन सुनकर जब राजा धनुष तोड़ने गए और वह टससे मस भी न हुआ, वे अपनासा मुँह लेकर लौट आए, तब भी आशा न गई। पुनः जनकजीके कहनेपर भी कि 'तजहु आस निज निज गृह जाहू' आशा न गई और वे बने ही रहे। जब सूर्य्यके समान श्रीरामजीका तेज देखा तब सबको विश्वास हो गया कि ये अवश्य तोड़ेंगे क्योंकि तेजस्वी पुरुष क्या नहीं कर सकता ? -'तेजवंत लघु गनिय न रानी'। (ग) 'बचन नखत०' इति। जब श्रीरामचन्द्रजीको चन्द्रमारूप कहा तब राजाओंके तनका प्रकाश कहा, यथा 'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे। २४५। १।' क्योंकि चन्द्रमाके साथ तारागणका कुछ तेज बना रहता है और जब रामजीका सूर्य्यसे रूपक बाँधा तब तनके तेजकी कौन कहे वचनरूपी नक्षत्र भी अस्त हो गए अर्थात् मारे तेजके कोई बोल भी नहीं सकता। तनकी जो दशा हुई उसे आगे कहते हैं।

२ 'मानी महिप कुमुद सकुचानें ।०' इति। (क) जिनके विषयमें कहा था कि 'भट मानी अतिसय मन माखे' वे ही यहाँ 'मानी महीप' हैं और 'रहे असुर छल छोनिप बेषा' वे ही 'कपटी भूप' हैं। (ख) जब श्रीरामजीको चन्द्ररूप कहा तब वहाँ कुमुद चकोर कोक उलूक इत्यादि न कहे, किसीका दुःखसुख न कहा क्योंकि जानते थे कि आगे सूर्य्यका रूपक करना है। जब आगमनको अरुणोदय कह चुके हैं तब सूर्य्यका

उदय कहना ही पड़ेगा। चन्द्रमाके रूपकमें यदि कुमुद-चकोर और कोक-उलूकका सुख लिखते तो सूर्य्यके रूपकमें कुमुद-चकोर और कोक-उलूक आदि कहना पूर्वसे विरुद्ध होता। क्योंकि जिनको चन्द्रमा सुख देता है उनको सूर्य्य दुःख देता है और जिनको सूर्य्य सुख देता है उनको चन्द्रमा दुःख देता है। तात्पर्य्य कि चन्द्रमाके रूपकमें रामजी जिनको सुख देते हैं उन्हींको सूर्य्यके रूपकमें रामजी दुःख कैसे देंगे ? अर्थात् एक श्रीरामजी के साथ एक ही व्यक्तिको दुःख और सुख दोनों देना कैसे कहा जाय ? इस विचारसे चन्द्रमाके रूपकमें कुमुद आदि न कहे गए। (ग) राजाओंके मन, वचन, तन तीनोंका हाल कहा। 'आसा निसि नासी' (मन-का), 'बचन नखत अवली न प्रकासी' (वचनका) और 'मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने' (तनका हाल है)। (घ) यहाँ तक दिखाया कि श्रीरामानुरागी लोग श्रीरामजीका तेज देखकर कमलकी तरह विकसित हो गए, रामविरोधी उनका तेज देख कुमुदवत् सकुचा गये और उल्लूकी तरह छिप गये। जो मानी हैं वे अपनेसे बड़ेको देखकर सकुचा जाते हैं इसीसे मानियोंका सकुचाना कहा। कपटी अपना कपट छिपानेके लिये छिपा करते हैं इसीसे कपटी राजाओंका छिपना कहा। राजाओंमें दो भाग 'मानी' और 'कपटी' करके दिखानेमें भाव यह है कि एक तेज देखकर सकुचा गए और दूसरे तो तेज देख ही न सके इससे जा छिपे।

३ (क) 'भये बिसोक' से अनुमान होता है कि श्रीरामजीकी कोमलता देखकर और धनुपकी कठोरता समझकर देवताओं और मुनियोंको शोक था, वे सोचते थे कि इनसे धनुप कैसे टूटेगा ? यथा 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहं स्यामल मृदुगात किसोरा। २५८। ४।' ☞इससे पाया गया कि माधुर्य्यमें सबको संदेह हो जाता है। जब उनका तेज देखा तब धनुष तोड़नेका विश्वास हुआ और वे शोकरहित हो गए। (ख) 'बरिसहिं सुमन०'। विशोक हुए, अतः फूल बरसाने लगे। दूसरे, यह समय भी फूल बरसानेका है यह जानकर पुष्पोंकी वृष्टि की। यथा 'समय समय सुर बरषहिं फूला।' जब श्रीरामजी सभामें आकर मंचपर बैठे तब फूल बरसाया था—'देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना।२४६।८।' और अब धनुष तोड़नेको उठे हैं इसने अब बरसाते हैं (ग) 'जनावहिं सेवा' अर्थात् हम यह सेवा आपकी कर रहे हैं, सभाके लिये नहीं बरसाते हैं। [(घ)–(पांड़ेजी)–"मुनि अपनी सुधर्म्म कोकी और देवता अपनी संपत्तिरूपी कोकीसे बियोगी हो रहे थे।" धर्मकर्म सूर्य्यके उदयपर होते हैं। रघुबर बाल पतंगके उदयसे इनके मनोरथ पूर्ण होंगे।

☞ नोट—यह बात स्मरण रखने योग्य है कि श्रीमद्गोस्वामीजीकी यह शैली है कि—१ जहाँ उन्हें श्रीरामचन्द्रजीका उत्कर्ष दिखलाना होता है वहाँ किसी न किसी प्रकार सूर्य्य संबंधी रूपक बांधते हैं। २ जहाँ कहीं कोई अत्यन्त गंभीर विषय वर्णन करना होता है वहाँ समुद्रका रूपक बांधते हैं। और, ३ जहाँ कथा का प्रसंग पहलेकी कथासे कुछ दुःखद भाव लिये हुये वर्णन करना होता है, वहाँ सन्ध्या समयका कुछ वर्णन करते हैं। इसी प्रकार ४ जहाँ किसी दुःखद भावसे सुखद भावकी ओर झुकते हैं वहाँ प्रातः-कालीन दृश्यका कुछ वर्णन किया जाता है।

☞ लमगोड़ाजी 'लक्ष्मणजीने जो सूर्य्यका रूपक भविष्यवाणी रूपमें बाँधा था वह अब प्रत्यक्ष है। दोनों रूपकोंकी समानता तो विचारणीय है ही, सूक्ष्म अन्तर भी बड़ा सुन्दर है। विस्तारभयसे केवल संकेत किया जाता है। उन्हीं सूक्ष्म अंतरोंके कारण पुनरुक्ति जान ही नहीं पड़ती। वहाँ सामान्यरूप है यहाँ विशेष (Local coloring)। वहाँ भक्तिप्रधान वीररस है और यहाँ वीररस प्रधान है। इत्यादि।'

गुर पद बंदि सहित अनुरागा। राम मुनिन्ह सन आएसु मागा॥ ४॥

सहजहि चले सकल जग स्वामी । मत्त मंजु बर कुंजर गामी ॥ ५ ॥
चलत रामु सब पुर नर नारी । पुलक पूरि तन भये सुखारी ॥ ६ ॥

अर्थ—प्रेमसहित श्रीगुरुचरणोंकी वंदना करके श्रीरामचन्द्रजीने मुनियोंसे आज्ञा माँगी ॥ ४ ॥ समस्त संसारके स्वामी और सुन्दर श्रेष्ठ मतवाले हाथीकी चालवाले श्रीरामचन्द्रजी स्वाभाविक ही चले ॥ ५ ॥ श्रीरामजीके चलते ही सारे नगरके सब स्त्री पुरुष सुखी हुए और उनके शरीर पुलकसे भर गए ॥६॥

टिप्पणी—१ (क) 'गुरुपद बंदि सहित अनुरागा ।०' इति । गुरुपद वंदनमें अनुराग होना आवश्यक है, अनुराग न होना दोष है, यथा 'रामहि सुमिरत रन भिरत देत परत गुरु पाय । तुलसी जिन्हहिं न पुलक तन ते जग जीवत जाय । दो० ४२ ।' अतः 'सहित अनुराग' पद वंदन करना कहा । (ख) श्रीरामजीने गुरुजीकी आज्ञा सुनकर उनको प्रणाम किया ही था और अब पुनः गुरुपद वंदन करते हैं, इससे उनके हृदयका अनुराग प्रगट दिख रहा है । बारंबार प्रणाम करना अनुरागका चिह्न है । पुनः, (ग) पूर्व विश्वामित्रजीका स्नेह रामजीमें दिखाया—'बिश्वामित्र समय सुभ जानी । बोले अति सनेह मय बानी' । और यहाँ 'गुरु पद बंदि सहित अनुरागा' में श्रीरामजीका स्नेह गुरुमें दिखाया । इस तरह दोनोंका अन्योन्य प्रेम दिखाया । (घ) 'मुनिन्ह सन आयेसु माँगा' । मुनियोंमें रामजीका अत्यंत प्रेम है, यथा 'रिषय संग रघुबंशमनि करि भोजन बिश्राम', 'पुनि मुनिबृंद समेत कृपाला । देखन चले धनुष मखशाला । २४० । ४ ।' इसीसे मुनियोंके सम्मानार्थ एवं उनमें अपनी भक्ति दिखानेके लिये श्रीरामजीने उनसे आज्ञा माँगी । पुनः, गुरुको प्रणाम किया इससे गुरुका मान रक्खा और मुनियोंसे आज्ञा माँगकर उनका मान रक्खा । (ङ) जो मुनि फूल बरसाते थे वे देवताओंके साथके हैं और जिनसे आज्ञा माँगी ये मुनि विश्वामित्रजीके साथके हैं और साथ ही में हैं । इनका मखशालामें साथ आना पूर्व २४० (४) में कह चुके हैं, मखशालाको जब चले थे तब इन्हीं मुनियोंने आशीर्वाद भी दिया था । यथा 'हरषे मुनि सब सुनि बर बानी । दीन्हि असीस सबहि सुख मानी । २४०।३ ।' [बड़ोंसे आज्ञा लेना नोति है और भगवान् नीतिके बड़े पोषक हैं (गौड़जी) । पुनः, गुरुजी तो इस समय पितास्थानीय हैं, उन्होंने विवाहकी आज्ञा दे दी । धनुष तोड़ना और विवाह एक बात थी, पर वह विवाह विना धनुष तोड़े संभव नहीं था, इसलिये तोड़नेकी आज्ञा दी । पर तोड़नेके पहले जिसका धनुष है उसको अनुमति लेना परमावश्यक है । इसलिये ब्रह्मकुलरूपी शङ्करसे अनुमति चाही । जैसे गुरुजीने फूल लानेकी आज्ञा दे दी, फिर भी मालीसे पूछकर तब फूल तोड़े गए । (वि०त्रि०)] ।

२ (क) 'सहजहि चले सकल जग स्वामी' इति । पूर्व कहा कि 'ठाढ़े भए उठि सहज सुभाए' और यहाँ 'सहजहि चले०' कहा, इससे सूचित किया कि जैसे सहजस्वभावसे उठे वैसे ही सहज स्वभावसे चले, क्योंकि 'सकल जग स्वामी' हैं । जगत् और उसके सारे पदार्थ आपहीके तो हैं तब किस वस्तुके लिये शीघ्रता करें । पुनः भाव कि जो जैसा बड़ा होता है वैसा ही गंभीर होता है । राजा लोग अपने अपने राज्यके स्वामी हैं, 'खंडित' हैं, इसीसे वे 'परिकर बाँधि उठे अकुलाई ।०' । और ये सकल ब्रह्मांडके स्वामी हैं, इनमें भारी गँभीरता है, इससे ये गजकी चाल चलते हैं और जवान सिंहके समान खड़े होते हैं । (ख) 'मत्त मंजु बर कुंजर गामी', 'सहजहि चले' कहकर यह उसका स्वरूप दिखाया । 'मंजु बर' कहकर काम-गज जनाया, यथा 'चाल बिलोकि काम गज लाजहिं ।'

नोट—१ सब राजा खंडमंडलेश्वर हैं एवं जीव हैं, इससे अकुला उठे थे । श्रीरामजी ब्रह्मांडनायक हैं, ये क्यों घबड़ाते ? हाथीकी चाल गंभीर और धीर होती है मानों वह पृथ्वीको दबाता जा रहा है ।

२ यहाँ मत्त गजकी उपमा दी क्योंकि आगे कमलनालकी तरह धनुषका तोड़ना कहेंगे । जैसे मतवाला हाथी सरमें प्रवेश करके कमलकी डंडीको तोड़ फेंके वैसे ही श्रीरामजीने धनुषको तोड़कर पृथ्वीपर फेंक दिया,

यह बात जनकपुरके दूतोंने चक्रवर्त्ती महाराजसे कही है, यथा 'तहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल'। २९२।

टिप्पणी—३ (क) 'चलत' इति। पुरवासी पहले स्वरूपकी सुन्दरता देखकर सुखी हुए थे। यथा 'देखि लोग सब भये सुखारे। एकटक लोचन चलत न तारे। २४४।३।' और अब चालकी सुन्दरता देखकर सुखी हुए। क्योंकि उनकी भावना शृङ्गारकी है; जहाँ कहीं शोभा वर्णन करते हैं वहाँ पुरवासियोंका सुख कहते हैं। (ख) 'सब पुर नर नारी'। भाव कि छोटे बड़े सभी श्रीरामजीके अनुरागी हैं, यथा 'रंगभूमि आए दोउ भाई। असि सुधि सब पुरबासिन्ह पाई। चले सकल गृहकाज बिसारी। बाल जुबान जरठ नर नारी। २४०। ६।' यही सब पुलकित हुये। (ग) मनमें सुखी हुए और तनसे पुलकित हुए अर्थात् भीतर बाहर प्रेमसे परिपूर्ण हो गए। देखकर सब पुलकित हुए, यह पुरवासियोंका सहज स्नेह दिखाया।

नोट—३ ☞ पूर्व कह आए हैं कि 'जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी। २५२। ७।', अब उनका सुखी होना दिखाया।

४—☞ तुलसीदासजी फिर अपनी उपर्युक्त शैलीके अनुसार इस परिस्थिति (घटना) परिवर्तनका प्रभाव सबपर दिखाते हैं। पहले जनतापर प्रभाव दिखाया -कितना प्रेम, कितना आत्मसमर्पण और साथ ही आशासे कितनी पुलकावली है !! (लमगोड़ाजी)।

बंदि पितर सुर[1] सुकृत सँभारे। जौं कछु पुन्य प्रभाउ हमारे ॥७॥
तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहुं रामु गनेस गोसाईं ॥८॥

शब्दार्थ—पितर=मरे हुए पुरखे जिनके नामपर श्राद्ध वा जलदान किया जाता है।=वह मृतपुरुष जिसका प्रेतत्व छूट चुका हो। सँभारना=स्मरण करना। मृनाल (मृणाल)=कमलका डंठल जिसमें फूल लगा रहता है; कमलनाल; कमलदंड। तोरहुँ=तोड़ें।

अर्थ—देवताओं और पितृदेवोंकी वंदना करके (सभी अपने अपने) पुण्योंको स्मरण करते हैं (और कहते हैं—) यदि हमारे पुण्योंका कुछ भी प्रभाव (शक्ति, सामर्थ्य) हो ॥७॥ तो, हे गणेश गोसाईं! श्रीरामचन्द्रजी शिवजीके धनुषको कमलदंड सरीखा तोड़ डालें ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) 'बंदि पितर सुर' अर्थात् प्रणामकर मन ही मन स्मरण करके कहते हैं कि 'हे देव! हे पितर! हमने जो आजतक आपकी सेवा की उसे सफल कीजिए'। (ख) 'सुकृत सँभारे' अर्थात् सुकृतोंका स्मरण किया कि हमने अमुक यज्ञ किया, अमुक दान दिया, अमुक व्रत किया है। (ग) 'देव पितर' मनाए और 'सुकृत सँभारे', इससे सूचित हुआ कि देवताओं और पितरोंकी कृपासे और पुण्यके प्रभावसे मनोरथ पूरे होते हैं। (पितर शीघ्र प्रसन्न होते हैं, इसलिये पहिले पितरोंकी वन्दना की। वि०त्रि०) (घ) 'जौं कछु' का भाव कि पुण्यका प्रभाव नहीं जान सकते क्योंकि कर्मकी गति गूढ़ है, उसका जानना कठिन है। यथा 'गहना कर्मणोगतिः'। गीता ४। १७।', 'कठिन करम गति जान बिधाता। २। २८२।' एक चरणमें 'सुकृत', दूसरेमें 'पुन्य' शब्द देकर दोनोंको एकार्थी जनाया। (ङ) 'तौ सिवधनु मृनाल की नाईं' इति। श्रीलक्ष्मणजीके मुखसे अभी अभी सुन चुके हैं कि मैं इस धनुषको कमलनालकी तरह चढ़ा दूँ—'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ'। इसीसे मनाते हैं कि श्रीरामजी धनुषको 'कमलनाल' की तरह तोड़ डालें। (च) 'तोरहुँ रामु गनेस गोसाईं' इति। पूजा या किसी पुण्यकर्मधर्मके आदिमें प्रथम गणेशजीका पूजन होता है। वे सब धर्मोंके साक्षी हैं। इसीसे सुकृतोंके स्मरणमें गणेशजीसे प्रार्थना करते हैं। 'गोसाईं' का

१ पाठान्तर—'सब'—ना० प्र०, १७०४।

भाव कि मन आदि जितनी इंद्रियाँ हैं उन सबोंके आप स्वामी हैं, आप इन सबोंका हाल जानते हैं; अतएव हमारे अन्तःकरणकी जानकर हमारा मनोरथ पूरा कीजिए। गणेशजीने उनका मनोरथ पूरा किया, यथा "जहाँ राम रघुबंसमनि सुनिय महामहिपाल। भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकजनाल।' इससे पाया गया कि जनकपुरवासी बड़े सुकृती हैं। (गणेशजी विघ्नविनाशक और सिद्धिदाता हैं ही)।

नोट—१ "जौं कछु पुन्य''''तौ सिवधनु-",—भाव कि हमने जो कुछ कभी भी आपकी पूजा-सेवा की हो तथा सभी पुण्य जो हमने किये हैं उन सबोंका फल श्रीरामचंद्रजीको मिले। सुकृत मनानेमें पुरवासियोंका सौहार्द और आत्मनिवेदन सूचित हो रहा है।

"सखी-गीता"

दोहा—रामहि प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बोलाइ।
सीता मातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ॥२५५॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीको प्रेमसहित देखकर सखियोंको पास बुलाकर श्रीसीताजीकी माँ स्नेहवश होनेके कारण बिलख-बिलखकर अर्थात् दुखी होकर वचन कह रही हैं।२५५।

वै० भू० जी—१ किसीके आत्म-परमात्म विषयक (आध्यात्मिक) संशयनिवृत्यर्थ जो उपदेश दिया जाता है, वह 'गीता' कहाता है। गीता कहीं तो उपदेश देनेवालोंके नामसे विख्यात होती है और कहीं जिसको उपदेश दिया जाता है उसके नामसे। श्रीरामचरितमानसमें दोनों तरहकी कई गीतायें हैं। जैसे, शिवगीता (कैलास-प्रकरण), सखी गीता (स्वयंवर प्रकरणान्तर्गत), लक्ष्मण गीता (शृङ्गवेरपुरमें), राम गीता तथा नारद गीता (अरण्यकांडमें), बिभीषण गीता (धर्मरथ लंकामें) और पुरजन गीता एवं गरुड़ गीता (उत्तरकांडमें)। सबकी फलश्रुतिमें संशयकी निवृत्तिका होना कहा गया है।

२ जिस समय दोनों राजकुमार रंगभूमिमें आए उस समय समस्त दर्शकोंकी भावनाओंका वर्णन करते हुए रानियोंकी भावनाका उल्लेख कविने इस प्रकार किया है—'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी। २४२। ३।' तबसे रंगभूमिमें अबतक बहुत बातें हो गईं—साधु और दुष्ट राजाओंका संवाद, श्रीसीताजीका आगमन, पुरवासियोंकी लालसात्मक सुंदर भावनाएँ, बंदियोंका प्रण सुनाना, अभिमानी राजाओंका धनुष तोड़नेको जाना और हारकर बैठ जाना, श्रीजनकजीका विषादात्मक वक्तव्य, श्रीलक्ष्मणजीका रोषप्रदर्शन—जिनके कारण चित्तवृत्ति बारबार विभिन्न स्थलोंमें बटजानेसे रानीका श्रीरामजीकी तरफ़ विलोकनेमें व्यवधान पड़ गया था। जब विश्वामित्रजीने आज्ञा दी 'उठहु राम भंजहु भव चापू' और श्रीरामजी धनुर्भंगार्थ उठकर मंचपर खड़े हुए तब रानियोंकी दृष्टि तथा चित्तवृत्ति सब ओरसे हटकर उधर फिर आई और देखते ही उनका वही वात्सल्य प्रेम उमड़ पड़ा। इसीसे वहाँके 'बिलोकहिं रानी। सिसु सम प्रीति न जाति बखानी।' इस चौपाईसे प्रसंग मिलाकर कविने यहाँ 'रामहि प्रेम समेत लखि' कहा।

टिप्पणी—१ पुरवासियोंका (जनताका) प्रेम दिखाकर अब रनिवासका प्रेम कहते हैं। रानीका वात्सल्य प्रेम है, यह पहले ही दिखा आए, यथा 'सिसु सम प्रीति न जाति बखानी। २४२। ३।' वे उसी वात्सल्यप्रेममें अब भी मग्न हैं। 'प्रेम समेत लखि' से जनाया कि श्रीसुनयनाजीका श्रीरामजीमें अत्यन्त वात्सल्य है।

२ 'सखिन्ह समीप बोलाइ' इति। (क) पास बुलाकर कहा जिसमें और कोई न सुने—यह स्त्रियोंकी मर्यादा है। [(ख) 'सखिन्ह' कहकर जनाया कि उनकी बहुतसी सखियाँ थीं। सबको बुलाया। सखीको

बुलानेका कारण यह है कि प्रेमसहित देखते ही वे वात्सल्यवश श्रीरामजीकी मृदु सुकुमार मूर्ति देख अत्यंत विह्वल हो गई हैं । अपने दुःखका हाल कहना है । कहनेसे दुःख कुछ घट जाता है । 'सखी' वही कहलाती है जो सदा साथ रहती और जिससे कोई बात छिपाई नहीं जाती तथा जो सुख-दुःखमें समान सुख दुःखको प्राप्त हो । सखीका चार प्रकारका कार्य होता है—मंडन, शिक्षा, उपालंभ और परिहास । इन सखियोंमें सब गुण हैं । इसीसे उनको बुलाया । वे दुःखकी संगिनी हैं, समझाकर दुःखका निवारण करेंगी । (ग) 'समीप बोलाइ' से जनाया कि श्रीसुनयनाजीकी अंतरंगा सखियाँ कुछ दूरी पर थीं पर इतनी दूर न थीं कि इशारेसे बुलाई न जा सकें । बुलानेका कारण उत्तरार्धके 'कहै बिलखाइ' से स्पष्ट है ।] ।

३ (क) 'सीतामातु' कहकर जनाया कि यह बचन श्रीसुनयनाजीका है । 'सीतामातु' 'सीयमातु' आदि न कहकर केवल रानी कहनेसे यह निश्चय न होता कि किस रानीका बचन है क्योंकि जनकजीके बहुत रानियाँ हैं । यथा 'रानिन्ह सहित सोच बस सीया । २६७।७ ।', 'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा । २६०। ६ ।', 'सावकास सुनि सब सिय सासू । आयेउ जनकराज रनिवासू । २ । २८१ ।', 'चलिहि बरात सुनत सब रानी । ३३४।२ ।' इत्यादि । 'सीतामातु' से जनाया कि श्रीसुनयनाजी सीताजीको निज कन्या मानती जानती हैं, उन्हींकी यहाँ चर्चा है, यथा 'जनक पाटमहिषी जग जानी । सीयमातु किमि जाइ बखानी । ३२४ । १ ।' [श्रीसीताजीके प्रकट होनेपर देवताओंने आकाशवाणी की और देवर्षिने आकर राजाको उनका महत्व बताया, तब राजा जनकने कन्याको गोदमें उठा लिया और अपनी पटरानी श्रीसुनयनाजीको दिया । यथा 'तदा तु जनको राजा निजाङ्के समरोहयत् । १० । पत्न्यै समर्पयामाससुनेत्रायै च भूपतिः । तया संरक्षिता सीता ववृधे पितृवेश्मनि । ११ ।' (सत्योपा० उत्त० अ० २) । (ख) 'सनेहबस' । भाव कि यदि श्रीरामजीमें ऐसा अत्यंत वात्सल्य न होता तो इतनी व्याकुलता न होती । (ग) 'कहै बिलखाइ' । श्रीरामजीकी सुकुमारता, किशोरावस्था और धनुषकी कठोरता समझकर दुःखित हो जाती हैं । (इससे स्पष्ट है कि रानीको अत्यंत दुःख हुआ, उनका धीरज जाता रहा, धैर्यका कोई अवलंब न मिला । तब सखियोंको बुलाया कि शायद वे धीरज दे सकें) । (घ) प्रधान रानी सुनयनाजीका दुःख वर्णन किया, प्रधानका दुःख कहकर और रानियोंको भी ऐसी ही दुखी सूचित किया । पृथक् पृथक् सबका दुःख न कहा, पर आगे 'सिय कर सोच जनक पछितावा । रानिन्ह कर दारुन दुख दावा । २६० । ६ ।' इन वचनोंसे सबका दुःखी होना जना दिया है ।

नोट—स्नेह वश दुःख हो रहा है कि सुकुमार हैं, धनुष कैसे तोड़ेंगे ? अथवा, सुकुमार होनेके कारण उन्हें भय है कि इनके हाथोंमें कहीं मोच न आ जाय । श्रीलमगोड़ाजी भी कहते हैं कि "बिलकुल ठीक है, इसीसे प्रेमकी कोमलताको सकरुणरूप दिया है—(बिलखाइ) ।" सच है, वात्सल्यमें बल वीर्य तेज प्रताप ऐश्वर्य आदि तो स्वप्नमें भी नहीं आने पाते, तभी तो दशरथमहाराजने घबड़ाकर कह ही डाला 'राम देत नहि बनै गोसाईं' और तभी तो 'देखि स्याम मृदु मंजुल गाता । कहहिं सप्रेम बचन सब माता ।। मारग जात भयावनि भारी । केहि बिधि तात ताड़का मारी ।' से 'सकल अमानुष करम तुम्हारे । केवल कौसिक कृपा सुधारे ।' तक, तथा 'हृदय बिचारति बारहि बारा । कवनि भाँति लंकापति मारा । अति सुकुमार जुगल मेरे बारे ।...। ७ । ७ ।'

सखि सब कौतुक देखनिहारे । जेउ कहावत हितू हमारे ।।१।।
कोउ न बुझाइ कहै गुर[1] पाहीं । ए बालक असि हठ भलि नाहीं ।।२।।
रावन बान छुआ नहिं चापा । हारे सकल भूप करि दापा ।।३।।

१—गुर-१६६१ । नृप--प्रायः औरोंमें । विशेष नोट २ में देखिए ।

अर्थ—हे सखी ! जो भी हमारे हितैषी कहलाते हैं वे सब (भी) तमाशा ही देखनेवाले हैं ॥ १ ॥ कोई भी तो गुरु (विश्वामित्रजी) से समझाकर नहीं कहता कि ये (रामजी) बालक हैं, (इनके लिये) ऐसा हठ अच्छा नहीं ॥ २ ॥ रावण और बाणासुरने तो धनुषको छुआ भी नहीं (देखकर ही डरके भाग गए) और सब राजा घमंड करके हार मान गए ॥ ३ ॥

नोट—१ 'सखि' एकवचनात्मक संबोधन है। उपक्रममें एकवचन है और उपसंहारमें भी, यथा 'सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।' फिर एक ही सखीका आगे समझाना कहा है। यथा 'बोली चतुर सखी' 'सखी बचन सुनि भै परतीती।' इससे सूचित हुआ कि सखियाँ सब आई पर सबोंमें जो परम चतुर, अत्यन्त प्रिय, विश्वासपात्र और अत्यन्त हितैषिणी थी उसीसे श्रीसुनयनाजीने कहा।

टिप्पणी—१ (क) बिलखाकर वचन कहे। बिलखानेका एक कारण यह बताते हैं कि जो हितू कहलाते हैं वे भी तमाशा देख रहे हैं। 'कहावत' का भाव कि वे सच्चे हितैषी हैं नहीं, हितैषीका काम है कि हित करें, हितकी बात कहें, ऐसा न करके ये तमाशा देखते हैं, ये कहनेभरके हितैषी हैं। संबंधी, मित्र, मंत्री, गुरु, पुरोहित इत्यादि 'हित' हैं। (ख) 'कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं' इति। क्या हित करना चाहिए सो यहाँ कहा।

नोट २—सं० १६६१ की पोथीमें 'गुर' पाठ है। अन्य पोथियोंमें प्रायः 'नृप' पाठ है। श्रीपोद्दारजी लिखते हैं कि "जो ध ष रावण और बाण—जैसे जगद्विजयी वीरोंके हिलाये न हिल सका, उसे तोड़नेके लिए मुनि विश्वामित्रजीका रामजीको आज्ञा देना और रामजीका उसे तोड़नेके लिए चल देना रानीको हठ जान पड़ा; इसलिए वे कहने लगीं कि गुरु विश्वामित्रजीको कोई समझाता भी नहीं।" भागवतदासजीका पाठ 'नृप' है। पं० रामकुमारजीके टिप्पण 'नृप' पाठके अनुसार हैं। राजाको समझानेकी बात गीतावली-में भी पाई जाती है, यथा 'जनक मन की रीति जानि बिरहित प्रीति ऐसीऔ मूरति देखे रह्यो पहिलो बिचारु। तुलसी नृपहि ऐसो कहि न बुझावै कोउ पन औ कुँवर दोऊ प्रेमकी तुला धौं तारु। ८०।', 'कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ए री। कुलिस कठोर कहां संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री।' (७६)। इसलिए प्रायः लोगोंने 'नृप पाहीं' पाठको समीचीन माना है। १६६१ की प्रतिमें 'गुर' स्पष्ट है, न हड़ताल है न काटाकूटी। 'नृप पाहीं' से सिद्ध होता है कि राजाका हठ है कि ये तोड़ें इसीसे रानी उनको समझानेकी बात कह रही हैं। पर वस्तुतः यहाँ तो गुरुने ही तोड़नेकी आज्ञा दी है। गीतावलीमें तो गुरुकी आज्ञा होनेपर जब श्रीरामजी उठे हैं तब जनकजी सहम गए और हाथ जोड़कर मुनिसे बोल ही तो उठे। यथा "सोचत जनक पोच पेंच परिगई है। जोरि कर कमल निहोरि कहैं कौसिक सों आयसु भो राम को सो मेरे दुचितई है ॥ १ ॥ बान जातुधानपति भूप दीप सातहूँ के लोकप बिलोकत पिनाक भूमि लई है।··· आपुही बिचारिए निहारिए सभा की गति बेदमरजाद मानौ हेतुबाद हई है। इन्ह के जितौहैं मन सोभा अधिकानी तन, मुखन की सुखमा सुखद सरसई है ॥ ३ ॥ रावरो भरोसो बल कै है कोऊ कियो छल, कै धौं कुल को प्रभाव कैधों लरिकई है। कन्या कल कीरति बिजय बिस्व की बटोरि कैधों करतार इन्हहीं को निर-मई है ।४। पनको न मोह न बिसेष चिंता सीता हू की, लुनिहै पै सोई सोई जोई जेहि बई है। रहै रघुनाथ की निकाई नीकी नीके नाथ, हाथ सों तिहारे करतूति जाकी नई है। ५। (गी० ८४)"

श्रीरामजीकी माधुरी मूर्तिमें सभी भूल जाते हैं। राजा जनक भी सोचने लगे कि गुरुको ऐसी आज्ञा न देनी चाहिए। फिर भी सँभल गए—'रहै रघुनाथ की···'। 'गुरु पाहीं' पाठके अनुसार 'ए बालक असि हठ' से 'बाल मराल कि मंदर लेहीं' तक 'गुरु' के संबंधकी बात है। उसके पश्चात् 'भूप सयानप सकल सिरानी' ये राजाके संबंधकी बात है। 'नृप पाहीं' पाठमें समस्त बचन राजाके संबंधके माने जायँगे।

प्र० सं० में 'नृप' पाठ दिया गया था, परंतु प्राचीनतम पोथीका पाठ 'गुर' जानकर और उसमें असंगति न देखकर इस संस्करणमें 'गुर' पाठ लिया गया। भाव दोनों पाठोंके दिये जा रहे हैं। प० प० प्र० भी 'गुर' पाठको समीचीन और पूर्वसंदर्भानुकूल मानते हैं।

वि० त्रि० भी 'गुर' को ही समीचीन मानते हुए कहते हैं कि "नृपने जब प्रण कर दिया, तब उन्हें धनुष-भंग रोकनेका क्या अधिकार है, विशेषतः लक्ष्मणजीके द्वारा फटकारे जानेपर वे किस मुँहसे रोकते? जनक राजाके लिये हठका उपालम्भ करना ही हठ है। वे तो स्वयं गुरुकी आज्ञाको उचित नहीं समझ रहे हैं (जैसा गीतावलीके उपर्युक्त उद्धरणसे स्पष्ट है); अतः न राजाका हठ है और न उन्हें उपालम्भ देना बन सकता है।", 'कोउ न बुझाइ ···' में भाव यह है कि गुरुने आज्ञा दे दी और 'राम' उठ खड़े हुए। वे बालक हैं, उन्हें इतना विचार कहाँ कि यह धनुष मुझसे टूटेगा कि नहीं। गुरुजीने विचार न किया तो हमारे हितचिन्तकोंको तो उन्हें समझाना चाहिए था। यह हँसता हुआ आनन्दमय मुख कृतकार्य न होनेसे व्यर्थ म्लान हो जायगा। इनको धनुप तोड़नेके लिये भेजना और यह घोषणा एक ही बात है कि ये भी जानकीसे विवाह करनेके अयोग्य हैं।

नोट—३ (क) 'बुझाइ कहै' का भाव कि विधिवश किसीको सूझता नहीं, अतएव सुझाना चाहिए। क्या सुझाना चाहिए, यह आगे कहती हैं—'ए बालक···मंदर लेहीं।' (ख) 'ए बालक असि हठ···' इति। 'ए' से अंगुल्यानिर्देश सूचित किया। श्रीरामजीकी ओर इशारा करके कहना जनाया। (ग) 'बालक' श्रीरामजीकी किशोर अवस्था है पर रानीका अत्यन्त वात्सल्य भाव है, 'सिसु सम प्रीति न जाति बखानी'; इसीसे कहती हैं 'ए बालक'। पुत्र कितना ही बड़ा हो माता उसे बालक ही समझती है।

४ 'नृप पाहीं' पाठमें इन चरणोंके भाव ये हैं—(क) 'कोउ न कहै' अर्थात् राजाके डरसे कोई उनसे नहीं कहता। यथा 'सचिव सभय सिख देइ न कोई। २५८।३।' (ख) 'बुझाइ' का भाव कि राजाको विधिवश समझ नहीं पड़ता; यथा 'भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति न जानी।' (ग) 'ए बालक···'—'बालकके साथ ऐसी हठ अच्छी नहीं' कहकर जनाया कि राजाओंसे यह हठ अच्छी थी। अर्थात् वीरोंके मुकाबिलेमें हठ शोभा पाती थी पर बालकके साथ हठकी शोभा नहीं है। पुनः, दूसरा आशय यह है कि बालकसे धनुष न टूटा तो पीछे हृदयमें संताप होगा, संसारभर बुरा कहेगा। यथा 'जगु भल कहिहि भाव सब काहू। हठ कीन्हें उर अंतहु दाहू।२४६।५।'— यह दूसरा भाव 'गुर पाहीं' पाठमें भी है)। (पं०रामकुमारजी)। (घ) राजाओंके लिये हठको योग्य और श्रीरामजीके लिये अयोग्य कहा क्योंकि राजाओंको अभिमान था कि हम वीर हैं, बलवान हैं और श्रीरामजी परम सुकुमार बालक हैं। ☞इस कथनसे रानीका प्रेम दिखाई दे रहा है, वे चाहती हैं कि इन्हींके साथ विवाह कर दिया जाय। (ङ) 'ए बालक असि हठ···' के और भावार्थ ये कहे जाते हैं—(१) आपकी यह हठ बालकोंकी सी हठ है। आप ज्ञानशिरोमणि हैं) आपको बच्चोंकी सी हठ शोभित नहीं। (२) जैसे ये बालक भले हैं वैसी ही भली हठ इनके लिये करते। वह भली हठ यह है कि 'पन परिहरि हठि करइ बिबाहू।' जो पुरवासियोंकी लालसा है। (प्र० सं०)

टिप्पणी—१ (क) 'रावन बान छुआ नहिं चापा' इति। ये दोनों अपने समयके जगद्विजयी महाभट थे, इसीसे उनका नाम प्रथम लिया। बंदीजनके मुखसे सुना ही था कि 'रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे' इसीसे भारी महाभट जानकर वही बात रानीने कहकर जनाया कि धनुष अति कठोर है। ('छुआ नहिं" से जनाया कि ये दोनों उसे देखते ही समझ गये कि यह उनसे न उठेगा। हाथ लगानेसे अप्रतिष्ठा होगी)। (ख) 'हारे सकल भूप करि दापा' इति। यथा 'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप उठइ न चलहिं लजाइ। २५०।', 'भट मानी अतिसय मन माखे॥ परिकर बाँधि उठे अकुलाई।', यही

दर्प है। 'श्रीहत भये हारि हिय राजा', 'भूप सहसदस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा' यही सबका हारना है। (ग) 'छुआ नहिं', यथा 'देखि सरासन गवँहि सिधारे', 'सकै उठाइ सरासुर मेरू। सोउ हिय हारि गएउ करि फेरू'। (घ) 'बान' = बाणासुर। 'नामैकदेशे नाममात्रस्यैव ग्रहणं'। यथा 'जय कृपाल कहि कपि चले अंगद हनू समेत'। हनू = हनूमान, तथा बान=बानासुर। [पर कोशमें बाण और बाणासुर दोनों नाम मिलते हैं। असुर होनेसे 'बाण' को 'बाणासुर' कहते हैं। जैसे 'त्रिपुर' को त्रिपुरासुर, 'तारक' को तारकासुर।] (ङ) 'सकल भूप' के दोनों अर्थ यहाँ हैं, एक तो यह कि पृथक् पृथक् हर एकने बड़े घमंडसे जाकर उठाना चाहा, सो हर एक हार गया। फिर सबने मिलकर उठानेका अभिमान किया सो भी चूर हो गया, सब मिलकर भी हार गये। ☞श्रीरामजीके साथ हठ भली नहीं यह कहकर उसका कारण कहा कि 'रावन०'।

सो धनु राजकुअँर कर देहीं। बाल मराल कि मंदर लेहीं ॥४॥
भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधि गति कछु जाति१ न जानी ॥५॥

अर्थ—वही धनुष राजकुँवरके हाथमें देते हैं। बालहंस भी कहीं मंदराचल उठा सकते हैं? ॥ ४ ॥ राजाका सारा सयानपन ख़तम हो गया। हे सखी! विधाताकी गति कुछ जानी नहीं जाती ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सो' अर्थात् जिसे रावण बाणासुरने 'कर' (हाथ) से छुआ भी नहीं, जो बीस हाथसे न उठ सका, सहस्र हाथसे न उठसका और बीसहजार 'कर' से भी हिलाये न हिला वह। (ख) 'राजकुअँर कर देहीं' इति। श्रीरामजी बालक, सुंदर और सुकुमार इत्यादि गुणयुक्त हैं यह दिखानेकेलिये रावण बाण आदि प्रौढ़ और कठोरांगवालोंकी अपेक्षासे यहां 'राजकुँअर कर' में देना कहा। (ग) 'बाल-मराल कि मंदर लेहीं' इति। भाव कि धनुष मंदराचल है। जिनको कैलाश और मेरुके उठानेकी शक्ति है वे रावण और बाणासुर भी धनुषरूपी मंदराचलको छूनेका भी साहस न करसके तब तो बालहंसरूप राजकुमार का उसे उठा लेना अत्यंत असंभव है। श्रीरघुनाथजीकी अत्यंत सुकुमारता दरसानेके लिये उनको 'बाल मराल' कहा। जैसे श्रीसीताजीने उनकी सुकुमारताके कारण उन्हें 'सिरस सुमन' और 'धनुष' को हीरा कहा है—'सिरस सुमन कन बेधिय हीरा। २५८।५।', [अर्थात् हीरा किसी भी धातुसे नहीं बेधा जा सकता तब अत्यंत कोमल सिरस-सुमनके तंतुसे कैसे वेधा जा सकता है। सिरससुमनका तंतु अत्यंत कोमल होता है वैसे ही ये अति कोमल हैं]; वैसे ही श्रीसुनयनाजीने अत्यंत सुंदरता और सुकुमारताके विचारसे इनको हंसका बच्चा कहा। पुनः, 'बालमराल' कहनेका भाव कि पहले इनको बालक कहा है—'ए बालक असि हठ भलि नाहीं', इसीसे इनको यहां 'बाल' हंस कहा। (घ) 'कि मंदर लेहीं' इति। मंदरके दो अर्थ हैं। एक तो पर्वत, यथा 'गहि मंदर बंदर भालु चले सो मनो उनये घन सावन के'। दूसरा मंदराचल। यहाँ मंदरा-चल अर्थ विशेष उपयुक्त है क्योंकि समस्त दैत्य, दानव और देवताओंसे भी क्षीरसिंधु मंथनके समय

---

१ कछु जाइ न-छ०। कहि जाति न-१७०४। (पर रा० प्र० में 'कछु जाय न' है)। कछु जाति न-१६६१, १७२१, १७६२, को० रा०। 'कहि जाति न जानी' = न कही और न जानी जा सकती है।

† नोट - साहित्यमें तीन प्रकारके हंसोंका होना पाया जाता है,—१ 'राजहंस' चाल और गर्दन की सुंदरताके लिये। २ 'कलहंस', चाल और शब्दके लिए। और, ३ 'बालहंस' अपनी चाल और सुकुमारताके लिए प्रसिद्ध है। यहाँ सुकुमारताका प्रसंग है। (प्र० सं०)। इसके अनुसार 'बाल मराल' का अर्थ 'बालहंस' भी हो सकता है। पर 'ए बालक' के संबंधसे 'हंसका बच्चा' अर्थ विशेष संगत है। श्रीरामजीको बालक हंस कहकर रावणादिको युवा मराल जनाया। (वै०, रा० प्र०)।

मंदराचल न थमा, सब सुरासुर मिलकर भी उसे धारण न कर सके थे, भगवान्‌ने कच्छपरूप धारणकर उसे अपनी पीठ पर थामा था; तब भला उस मंदराचलको छोटा हंस (बच्चा) क्योंकर धारण कर सकेगा? इसी प्रकार जिस धनुषरूपी मंदराचलको रावण और बाणासुररूपी 'सुरासुर' हाथ लगाते डरे (कि कहीं कुचल न जायँ) उसे सुकुमार बालमरालरूप श्रीरामजी कैसे उठा सकेंगे?-[यहाँ 'विषमालंकार', वक्रोक्ति और ललित अलंकारोंका संदेहसंकर है-(वीर)]।

२ (क —'भूप सयानप सकल सिरानी' इति। भाव कि यह बात सबके समझमें आ रही है कि 'रावन बान छुआ नहिं चापा। हारे सकल भूप करि दापा' उस धनुषको बालक कैसे तोड़ सकते हैं, पर यह बात राजाको नहीं समझ पड़ती; इससे ज्ञात होता है कि राजाका सब सयानपन जाता रहा। [यदि इस वाक्यको भी 'गुर पाहीं' से ही संबंधित मानें तो 'कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं' पाठके अनुसार इसके भाव ये होंगे कि—१ गुरुसे कोई कहे या न कहे पर राजाको तो स्वयं अपनी हानि लाभ सोचनी चाहिए थी, यह विचार करना ही चाहिए था कि ये अति सुकुमार हैं। इनको धनुषके पास स्वयं न जाने देते, अथवा, २-मुनिको समझाते। मुनि इनके समझानेसे समझ जाते। इससे जान पड़ता है कि सब सयानपन जाता रहा।]। (ख) 'सकल सयानप' कहकर जनाया कि राजामें बहुत बुद्धिमानी थी, वे सब प्रकार से बुद्धिमान् थे। स्वयं सब प्रकारसे बहुत बुद्धिमान् होनेपर भी उन्हें कुछ समझ नहीं पड़ता इससे नतीजा निकालते हैं कि 'बिधि गति०' अर्थात् विधाता की गति बड़ी सूक्ष्म है- को जग जानै जोग'।

नोट—१ 'भूप सयानप' इति। यथा "रागी औ बिरागी बड़भागी ऐसो आन को ॥ १ ॥ भूमि भोग करत अनुभवत जोग सुख, मुनि मन अगम अलख गति जान को। गुरु हर पद नेहु गेह बसि भो बिदेह, अगुन सगुन प्रभु भजन सयान को ॥ २ ॥ कहनि रहनि एक बिरति बिबेक नीति, बेद बुध संमत पथीन निरबान को। गाँठि बिनु गुन की कठिन जड़ चेतन की, छोरी अनायास साधु सोधक अपान को ॥ ३ ॥ गी० १।८६।", 'धरम राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू ।२।२८८।' (यह वाक्य स्वयं श्रीजनकजीका है)।

गौड़जी—'भूप सयानप···' का भाव कि सयानपन सीधे ब्याह कर देनेमें ही था। रानी यह घबरायी कि धनुष तोड़नेको इन्हें क्यों भेजते (वा, भेजने देते) हैं? न टूटा तो विवाह इनसे भी नहीं होगा। इन्होंने तो अभी हाथ नहीं लगाया था। इनसे तो बिना शर्तके ही विवाह हो सकता था।

वि० त्रि०—जिस समय रानीके मनमें यह भाव आया उसी समय महाराजके मनमें भी वही भाव उठा, उन्होंने गुरुजीसे निवेदन किया। पूरा प्रसंग गीतावलीमें देखने योग्य है कि महाराजके निवेदनपर गुरुजीने क्या कहा और स्वयं रामजीने क्या कहा। गुरुजीने क्या कहा यह देखिए—"कहि साधु साधु गाधिसुवन सराहे राउ महाराज जानि जिय ठीक भली दई है। कहैं गाधिनंदन मुदित रघुनंदन सों नृपगति अगह गिरा न जाति गही है। देखे सुने भूपति अनेक झूठे झूठे नाम साँचे तिरहुतनाथ साखी देत मही है। रागऊ बिराग जोग भोग जोगवत मन, जोगी जागबलिकप्रसाद सिद्धि लही है। ताते न तरनि ते न सीरे सुधाकरहू ते सहज समाधि निरुपाधि निरबही है। ऐसेउ अगाध बोध रावरे सनेह बस बिकल बिलोकन दुचितई सही है।"; इस पर श्रीरघुनाथजीने कहा—"रिषिराज राजा आजु जनक समान को। आपु एहि भाँति प्रीति सहित सराहियत रागी औ बिरागी बड़ भागी ऐसो आन को?··· सुनि रघुबीरकी बचन रचना की रीति भयो मिथिलेस मानो दीपक बिहान को। मिट्यो महामोह जीको, छूट्यो पोच सोच सी को, जान्यो अवतार भयो पुरुष पुरान को।' (उपर्युक्त गी० १।८६)। इतना संवाद होनेपर तब रामजी गए। (मेरी क्षुद्र बुद्धिमें तो मानसकल्पमें गीतावलीका यह प्रसंग नहीं बैठता)।

श्रीराजारामशरणजी—१ (क) रामायणमें प्रत्येकप रिस्थितिमें स्त्रियोंका हाथ भी अवश्य दिखाया

गया है। जो तुलसीदासजीको स्त्रीजगत्‌का निंदक कहते हैं, वे विचार करें कि जनकपुर, अयोध्या, चित्रकूट, पंपापुर (किष्किंधा ?) और लंका सभी जगह स्त्रियोंका कितना सुन्दर वर्णन है। मंथरा, कैकेयी और शूर्पणखाके अतिरिक्त सभी स्त्रियाँ धर्ममें सहयोग ही करती हैं (और मंथरा एवं कैकेयी भी केवल निमित्त मात्र थीं। हाँ, शूर्पणखाको हम कुटिला कह सकते हैं)। तारा और मन्दोदरी तो उपदेष्टारूपमें पति-सुधारका भरसक प्रयत्न करती हैं।

हाँ, उनका सहयोग, कोमल व्यवहार, दया, त्याग और तप द्वारा होता है। यहाँ भी रानी की कोमलता और सखियोंका धैर्य्य, विश्वास और विवेक एक बड़ा सुन्दर चरित्र और परिस्थिति-संघर्ष उत्पन्न करता है जो नाटकीकलाकी जान है। किस सुन्दर युक्तिसे महाकाव्यकलाकी ओर दृश्य उठ रहा है:—'तेजवंतु लघु गनिय न रानी।' इत्यादि।

(ख)—'कहावत' शब्दसे किस सुन्दरतासे यह संकेत है कि वे केवल कहनेके हितू हैं।—आह ! इन्हें भी प्रेमके कारण राजाका प्रण हठ ही दीखता है। 'बाल मराल कि मंदर लेहीं' के 'विषम' ने नाटकी विरोधाभास (Dramatic circumstantial antithesis) को कितना उभार दिया है? 'भूप सयानप सकल सिरानी' का ललित अलंकार (Eupherism) तो स्त्री हृदयकी कोमलताका सजीव चित्रण ही है। 'हरु बिधि बेगि जनकजड़ताई' की कटुता और इस अर्धालीकी कोमलताका अंतर विचारणीय है।

बोली चतुर सखी मृदु बानी। तेजवंत लघु गनिअ न रानी ॥६॥
कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा ॥७॥
रबिमंडल देखत लघु लागा। उदय तासु त्रिभुवन तम भागा ॥८॥

अर्थ—चतुर सखी कोमल वाणीसे बोली—हे रानी ! तेजस्वी (पुरुष) को छोटा न समझना चाहिए ॥ ६ ॥ (देखिए तो) कहाँ तो घटसे उत्पन्न अगस्त्यजी (कितने छोटे) और कहाँ अपार समुद्र? (फिर भी) उन्होंने उसे सोख लिया। सारे संसारमें उनका सुन्दर यश (फैला हुआ) है ॥७॥ सूर्य्य मंडल देखनेमें छोटा लगता है, पर उसके उदयसे तीनों लोकोंका अंधकार भाग जाता है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'चतुर सखी०' इति। समझानेमें मृदुवाणी बोलना, यह भी चतुरता है। पुनः उसकी दूसरी चतुरता उदाहरण देनेमें भी दिख रही है कि उसने चुनकर वह वह नाम दिये जो देखनेमें छोटे हैं पर जिन्होंने बड़े बड़े काम किये हैं। तीसरी चतुरता यह है कि जितने संशय रानीके हैं उन सबों को यह दूर कर रही है। अर्थात् सिद्ध कर रही है कि 'हितू' कौतुकी नहीं हैं, श्रीरामजी लघु नहीं हैं, और न राजाकी 'सयानप सिरानी' है। (ख) 'तेजवंत लघु गनिय न' इति। इस समय श्रीरामजीकी बड़ाईका प्रत्यक्ष प्रमाण उनका तेज है, यथा 'उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर-बाल पतंग'; इसीसे यह सखी तेजका ही प्रमाण देकर श्रीरामजीकी बड़ाई करती है। रानीने श्रीरामजीको लघु समझ रक्खा है, यथा 'सो धनु राजकुँअर कर देहीं। बालमराल कि मंदर लेहीं', इसीसे सखी कहती है कि उनको लघु न गिनिये। (ग) 'रानी' अर्थात् ये बात तुम जानती हो कि तेजस्वी छोटे नहीं होते, क्योंकि तुम रानी हो। (राजा रानी स्वयं तेजस्वी होते हैं तभी तो प्रजा उनका शासन मानती है, यह बात आप जानती हैं)।

नोट—१ प्रथम ही 'चतुर' विशेषण देकर जना दिया कि यह सब संदेह दूर कर देगी। चतुर ही संशयको दूर कर सकता है। पुनः चतुर है, जानती है कि कठोरतासे उपदेश लगता नहीं, इसीसे 'मृदु' वाणीसे समझा रही है। रानी सारा दोष राजा और मंत्री आदिके सिर रखती हैं, यह उसका खंडन नहीं करती, क्योंकि यदि प्रथमहीसे बात काट चले तो रानी सुनें या न सुनें, यदि कहती कि नहीं राजा तो बड़े

चतुर हैं, गुरु त्रिकालज्ञ हैं, तो भी रानी क्यों मानतीं ? अतः राजाकी बात उड़ाकर श्रीरामजीके तेज, प्रताप, शक्ति इत्यादि की प्रतीति उदाहरण दे देकर कराती है। प्रथम यह कहकर कि तेजवान्‌को छोटा न समझना चाहिए, यह सूचित किया कि इनके तेजके आगे सुर असुर आदि सभी तुच्छ हैं। पर रानीके हृदयमें तो इनकी किशोरावस्था और सुकुमारता जमी हुई है इससे देखनेमें जो छोटे हैं उनके उदाहरणोंसे समझाना प्रारंभ किया। इस तरह दिखाती है कि केवल आकार देखकर पराक्रमका निर्णय नहीं हो सकता।

२ (क) 'कहं कुंभज कहं सिंधु अपारा' इति। अगस्त्यजीके आकारकी लघुता दिखानेके लिये 'कुंभज' नाम दिया और समुद्रकी बड़ाई दिखानेके लिए 'अपार' कहा। इस तरह दोनोंमें बड़ा भारी अंतर दिखाया। कहाँ घटसे उत्पन्न पुरुष और कहाँ समुद्र ! (कुम्भ दिन रात कूपसे जल निकाला करता है पर पार नहीं पाता। उस कुम्भसे उत्पन्न थे, छोटे आकारके मुनि हैं। वि० त्रि०)। (ख) 'सकल संसारा' अर्थात् समस्त संसारमें यह बात विदित है। इससे जनाया कि यह प्रामाणिक इतिहास है। (ग) 'सुजसु' इति। 'सुयश' शब्दसे यश और सुयश दो बातें दिखाईं। भाव कि समुद्रको तीन आचमनमें पी लिया, यह 'यश' हुआ और उसे पुनः प्रगट कर दिया, यह 'सुयश' हुआ। (ग) धनुष अपार समुद्र है जिसमें सब राजा डूब गए, किसीने पार न पाया। उसी धनुषरूपी सागरको श्रीरामजी कुंभजकी तरह सोख लेंगे अर्थात् उसे सहज ही तोड़ डालेंगे।—यह कुंभजके उदाहरणका भाव है।—[यह केवल प्रताप है। प्रतापी छोटा भी हो तो उसका प्रभाव, बल, पराक्रम छोटा न समझना चाहिये।]।

३ 'कुंभज'—'बालमीक नारद घटजोनी। ३। ३।' भाग १ पृष्ठ १२३,१२४ में देखिये। समुद्रशोषणकी कथा 'कुंभज लोभ उदधि अपार के। ३२। ६।' भाग १ पृष्ठ ५१२-५१३ में देखिये। संक्षिप्त कथाएँ ये हैं—(१) कालेय दैत्यगण देवताओंके डरसे समुद्रमें जा छिपे थे। रात्रिमें निकलकर ऋषियों मुनियोंको खा डालते थे, देवताओंकी प्रार्थना सुन सबका कष्ट दूर करनेके लिये उन्होंने समुद्रतट पर जाकर चुल्लू लगाकर उसे पी लिया। तब देवताओंने दैत्योंका नाश किया। (स्कंद पु० नागर खंड, महाभारत वनपर्व, पद्म पु० सृष्टिखंड)। (२) समुद्र एक चिड़ियाके अंडोंको बहा ले गया, इसपर उसने समुद्रको उलच डालनेकी प्रतिज्ञाकर चोंचोंमें उसका जल भरभरकर बाहर फेंकना शुरू किया। यह तमाशा देख उसपर तरस खाकर आपने समुद्रको सोख लिया। (३) एक बार जब आप समुद्रतट पर पूजन कर रहे थे, समुद्र पूजन-सामग्री बहा ले गया, अतः रुष्ट होकर आपने उसे पी लिया। (२) (३) का प्रमाण हमें अभी तक नहीं मिला।

वे० भू०—अगस्त्यजीके दृष्टान्तसे संदेह हुआ कि यदि श्रीरामजी धनुषको तोड़कर जोड़ भी देंगे जैसे अगस्त्यजीने फिर समुद्रको भर भी दिया तो कुतर्कियोंको कुचोद्य करनेका कुछ अवकाश मिल सकता है जिससे वे आगे विवाहमें विघ्न डालनेका प्रयत्न कर सकेंगे। वह संदेह सूर्यके दृष्टान्तसे नष्ट हो गया। क्योंकि सूर्य तमका नाश करके पुनः उसकी सृष्टि नहीं करते।

टिप्पणी—३ (क) 'रबिमंडल देखत लघु लागा' इति। रविमंडलका भाव कि सूर्य्यदेवकी जो नराकार मूर्ति है, मैं उसका नहीं किन्तु रविमंडलका हाल कहती हूँ। वह मंडल कई योजनका है पर देखनेमें छोटा लगता है। वैसे ही श्रीरामजी बहुत बड़े हैं पर देखनेमें छोटे मालूम होते हैं। (ख) 'उदय तासु त्रिभुवन तम भागा'—यहाँ भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक यही 'त्रिभुवन' है, इन्हींका अंधकार नष्ट होता है। (ग) सूर्य्यके उदाहरणका भाव कि प्रत्यक्ष ही श्रीरामजी सूर्य्यके समान उदय हुए हैं। 'उदित उदय०'। इसीसे सूर्य्यका उदाहरण दिया। ☞ यहाँ धनुष 'तम' है, यथा 'नृप सब नखत करहिं उजियारी। टारि न सकहिं चाप तम भारी। २३९।१।' रामजी सूर्य्य हैं। जैसे सूर्य्यके उदयमात्रसे विना परिश्रम अंधकार नष्ट हो जाता है, यथा 'उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। २३९।४।' वैसे ही श्रीरामजीसे विना परिश्रमके धनुषका

नाश होगा। ☞रविमंडलको लघु कहा, इसीसे तमको भारी कहा। तम त्रिभुवनमें है, इससे भारी कहा। (घ) ☞यहां तक नाश करनेके उदाहरण दिये। आगे वश करनेका उदाहरण देती है।

नोट—४ अगस्त्य और समुद्र, रवि और त्रिभुवनतम इत्यादि के प्रमाण देकर जनाती है कि श्रीरामजी धनुष तोड़ सकते हैं, यह असंभव नहीं। यहाँ 'संभव प्रमाण अलंकार' है। रविमंडलका उदाहरण देकर यह भी जनाया कि इनके तेज प्रताप के आगे वह स्वयंही नमित और नष्ट हो जायगा, यथा 'कोउ कहै तेज-प्रताप-पुंज चितए नहिं जात भिया रे। छुअत सरासन-सलभ जरैगो ये दिनकर बंस दिया रे। गी०१.६६।' पुनश्च यथा 'देखिअत भूप भोर के से उड़गन गरत गरीब गलानि हैं। तेज प्रताप बढ़त कुँवरनिको जदपि सकोची बानि हैं। बय बरजोर बाहुबल मेरु मेलि गुन तानिहैं। अवसि राम राजीव बिलोचन संभु सरासन भानिहैं।गी० ७८।' रविकी उपमा तेज और प्रताप दोनों की दीजाती है, यथा 'रबि सम तेज सो बरनि न जाई', 'यह प्रताप रबि जाके उर जब करै प्रकास०'।

५ (क) पाँड़ेजी लिखते हैं कि "मिथिलापुरीमें जो दुःख उमड़ रहा है उसको सोखनेको ये अगस्त्य हैं, मोहांधकारके नाशके लिये सूर्य्य हैं और जो कहो कि यह धनुष देवताका है, किसीसे न टूटेगा, उस पर मंत्रका दृष्टान्त देते हैं।" (ख) वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ 'उपमान और प्रमाण अलंकार हैं। इससे यह व्यंजित होना कि रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे 'लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग' है।

दोहा—मंत्र परम लघु जासु बस, बिधि हरि हर सुर सर्ब।
महामत्त गजराज कहुँ, बस कर अंकुस खर्ब॥२५६॥

अर्थ—मंत्र अत्यन्त छोटा है जिसके वशमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि समस्त देवता हैं। छोटासा अंकुश महा मतवाले गजराजको वशमें कर लेता है॥ २५६॥

टिप्पणी—१ 'मंत्र परम लघु०' इति। (क) प्रणव एक अक्षरका है इसीसे उसे 'परम लघु' कहा। *प्रणवकी तीन मात्राएँ त्रिदेवमय हैं। † इसीसे उससे त्रिदेवका वश होना कहा, प्रणवसे कोई

---

*किसी भी देवताके मंत्रमें जबतक प्रणव आदिमें नहीं होता तबतक वह शक्तिहीन रहता है। देवताके नाममें प्रणव चतुर्थी विभक्ति और नमः जोड़नेसे उसका मंत्र बनता है। यथा नारदपंचरात्रे–'प्रणवादौ नमोऽन्तं च चतुर्थ्यन्तं च सत्तम। देवतायाः स्वकं नाम मूलमंत्र प्रकीर्तितः।' इसीसे किसी देवताका मंत्र प्रणवसे लघु हो ही नहीं सकता।

प० प० प्र०—(क) 'मंत्र परम लघु' से केवल प्रणव समझना भूल है, क्योंकि प्रत्येक देवताका एकाक्षर मंत्र होता है, जिसको उस देवताका बीज कहते हैं। जैसे 'राँ' एकाक्षर राममंत्र है, रामबीज है; 'गँ' और 'ग्लौं' एकाक्षर गणेशमंत्र है 'गँ' बीज है। 'श्रीं' एकाक्षर रमामंत्र है। जिनको प्रणवका अधिकार है, उनको ही एकाक्षर राममंत्रका अधिकार है–देखिए रामार्चनचन्द्रिका, अगस्त्य संहिता या रामोपनिषद। (ख) प्रणवविहीन मंत्र शक्तिहीन होता है यह भी अर्धसत्य है, क्योंकि राममंत्रोंके लिये प्रणवकी अपेक्षा नहीं है। इतनाही नहीं किन्तु "विनैव दीक्षां विप्रेन्द्र पुरश्चर्यां विनैव हि। विनैवन्यास विधिना जपमात्रेण सिद्धिदाः।" ऐसा प्रभाव राममंत्रोंका अगस्त्यसंहितामें कहा गया है। एक अक्षरसे ३२ अक्षरोंतक राममंत्र हैं। षडक्षर मंत्रके मुख्य ६ भेद, ३६ भेद एवं १२८ भेद हैं। (रामरहस्योपनिषद्)। स्वाहा, फट, वषट, वौषट्, हुम और नमः, इनमेंसे षड्क्षर मंत्रमें अंतमें एक हो सकता है। 'रामकी चतुर्थी भी सभी राममंत्रोंमें नहीं है। उपनिषदोंमें यह सब कहा है, अधूरे वचनोंसे पाठकोंकी बुद्धिमें भेद और भ्रम पैदा हो सकता है, इससे थोड़ा सा लिख देना पड़ा। † यथा 'अकारो वासुदेवः स्यात्', 'उकार शंकरः प्रोक्तः', 'मकारः स्याच्चतुर्मुखः।' (एकाक्षरी-

शिवजी राममंत्रके उपासक हैं और धनुष 'विधि हरिहर सुर सर्व' में है। अतः रामजीके छूतेही टूट गया। पुनः धनुष महामत्त गजराज है। मनको गज कहा है,-'मन करि विषय अनल बन जरई'। श्रीरामजी अपने चरणमें अंकुश चिह्न धारण किये हैं जिससे मनमतंग वश होता है—'मनही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहिं ताहि ते अंकुश लै धारयो हिये ध्याइए। भक्तिरस बोधिनी टीका भक्तमाल)।"

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे ॥१॥

देवि तजिअ संसउ अस जानी। भंजब धनुषु राम सुनु रानी ॥२॥

अर्थ—कामदेवने फूलोंका धनुषबाण लिए हुए सारे ब्रह्मांडको अपने वश कर लिया ॥ १ ॥ हे देवि ! ऐसा जानकर संदेह छोड़िये। हे रानी ! सुनिये, रामचन्द्रजी धनुष तोड़ेंगे ॥ २ ॥

नोट—१ कामदेवके धनुष और बाण दोनोंही पुष्पोंके हैं। यथा 'अस कहि चलेउ सबहिं सिरु नाई। सुमन धनुष कर सहित सहाई। ८४।३।', 'ते रतिनाथ सुमन सर मारे।२।२५।' 'कुसुम' का अर्थ 'फूल' है। किस किस फूलके बाण हैं यह दोहा ८३ (८) भाग २ में देखिए। वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि महाकवियोंने इक्षु (गन्ना, ईख) को ही कामदेवका धनुष माना है। महाकवि मयूर इक्षुकी अन्योक्ति करते हुए कहते हैं 'कान्तोऽसि नित्यमधुरोऽसि रसाकुलोऽसि किंचासिपंचशर कार्मुकमद्वितीयम्। इक्षो तवास्ति सकलं परमेक-न्यूनं, यत्सेवितो नीरसतां भजते क्रमेण।' (अन्योक्तिकल्पद्रुम), 'कोदण्डमैक्षवखण्डमिषुं च पौष्पम्…' (श्रीकृष्णकरुणामृत शतक २ श्लोक ११०)। अतएव अर्थ हुआ—'कामदेवने ईखका धनुष और पुष्पोंके बाण लेकर…'।" (सखीगीता)। मेरी समझमें 'कुसुम' का अर्थ यहाँ 'पुष्प' ही है। यह प्रसंग भोजप्रबंध से मिलता-जुलता है। वहाँ 'धनुः पौष्पं' है वैसे ही यहां। विशेष टिप्पणी १ व ३ में देखिए।

टिप्पणी—१ (क) 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे' इति। भाव कि बड़े-बड़े वीर लोग बड़े-बड़े शस्त्रास्त्रोंके प्रयोग करनेपर भी सारे भुवनको वश नहीं कर सकते, और काम पुष्पोंसे मारकर सबको वशमें कर लेता है। 'धनु सायक लीन्हे' का भाव कि वह वीर है, बड़े-बड़े वीरोंको अपने वशमें उसने कर लिया अर्थात् कामी बना दिया, यथा 'सूल कुलिस असि अँगवनिहारे। ते रतिनाथ सुमनसर मारे। २।२५।' (ख वश करना तीन प्रकारसे होता है। एक तो दुःख देकर, दूसरे सुख देकर और तीसरे साधारणतयाही न सुख देकर न दुःख देकर। इसीसे यहां तक वश करनेके तीन उदाहरण दिए।-'महामत्त गजराज कहं बस कर अंकुस खर्ब' यह शरीरको दुःख पहुँचाकर वश करना है। 'काम कुसुम धनु सायक०' यह सुख देकर वश करनेका उदाहरण है। और, 'मंत्र परम लघु जासु बस०' यह साधारणही वश करता है, इसमें शरीर-को दुःख सुख कुछ नहीं है। (यहांभी 'द्वितीय विभावना अलंकार' है)।

नोट—२ (क) पाँड़ेजी लिखते हैं कि "तुम इन्हें हंसबच्चा सचही कहती हो, पर ये शृङ्गार और वीररससे भरे हैं, जैसे काम फूलधनुषसे सारे विश्वको वश में किये है। (ख) नंगेपरमहंसजीका मत है कि जैसे कामदेवके धनुष बाण पुष्पके हैं पर उन्हींसे अपने बलसे वह त्रिभुवनको वश करता है, वैसेही श्रीराम-जी कुसुमकी भाँति सुकुमार हैं पर बलयुक्त होनेसे ब्रह्मांडको वश कर सकते हैं। (ग) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "श्रीरामजी कामरूप हैं—'कोटि मनोज लजावनिहारे'। जिन परशुरामजीने 'भुज बल भूमि भूप बिनु कीन्ही' उनको फूल समान मृदु वचनोंसे जीत लिया।" (घ) वे० भू० जी कहते हैं कि काम और अंकुशके दृष्टान्तसे दिखाया कि श्रीरामजीमें कोमलत्व और काठिन्य दोनों गुण हैं, यथा 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि। ७।१९।'

टिप्पणी—२ 'देवि तजिय संसय अस जानी।०' इति। संशय त्याग करनेमें 'देवि' संबोधन किया।

भाव कि आप दिव्य हैं, आपका ज्ञान दिव्य है, आपको तो ऐसा संशय करनाही न चाहिए, यथा 'को बिबेक निधिबल्लभहि तुम्हहि सकहि उपदेसि । २।२८३ ।', मैं भला आपको क्या समझा सकती हूँ ? और, 'भंजब राम धनुष' यह कहनेमें 'रानी' संबोधन देनेका तात्पर्य कि आप रानी हैं, सुखकी अधिकारिणी हैं, आप को सुख मिलेगा । [पुनः, दिव्यज्ञानको उपदेशकी आवश्यकता नहीं, उसे क्या समझना है, इस भावसे 'देवि' और रानीको सलाह दी जा सकती है जैसे राजाको मंत्री उचित सलाह देते हैं, अतः संदेह दूर करनेमें और विश्वास दिलानेमें 'रानी' कहा (मा० सं०) । वा, पट्टाभिषिक्ता महिषीको 'देवी' कहते हैं, ये पटरानी हैं ही । (वि० त्रि०) ।]

नोट—३ 'तजिअ' यह शिष्ट पुरुषोंकी बोली है ! शिष्ट पुरुषों तथा अपनेसे बड़ोंसे बोलनेमें इस तरहका प्रयोग होता है । यथा 'करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी । ३३।८ ।', 'तिलक समाजु साजि सबु आना । करिअ सुफल प्रभु जौ मनु माना । २।२६८ ।' इत्यादि । 'तजहु' न कहा क्योंकि इससे कहनेवालेका बड़प्पन प्रकट होता है । नित्यकी बोलचालमें प्रायः इस तरहका प्रयोग अपनेसे छोटेके लिए होता है । यथा 'कोउ नहि सिवसमान प्रिय मोरें । असि परतीति तजहु जनि भोरें । १३८।६ ।', 'तजहु आस निज निज गृह जाहू' । संशयका त्याग करनेको कहा क्योंकि विना इसके त्यागके चिन्ता और व्याकुलता बनी ही रहेगी । रानीने 'बचन कहे बिलखाइ' इसीसे कहा कि 'तजिय संशय' ।

☞टिप्पणी—३ यहाँ तक पाँच दृष्टान्त देकर श्रीरामजीमें पाँच गुण दिखाती है । वह यह कि उनमें अगस्त्यकासा सामर्थ्य है, सूर्य्यकासा तेज है, अंकुशकी तरह उनका शरीर दृढ़ है, मंत्र-जैसा प्रभाव है और कामके समान सौंदर्य है । जैसे इन पाँचोंको पाँच काम करना सुगम हैं, वैसे ही श्रीरामजीको धनुष तोड़ना सुगम है । 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे ।०' यह कहकर तब 'भंजब राम धनुष०' कहनेका भाव कि जैसे काम कुसुमका धनुष लिए हैं, वैसे ही कुसुमके धनुषकी तरह श्रीरामजी शिवधनुषको हाथमें उठाकर तोड़ेंगे, यह भाव दिखानेके लिए कामका उदाहरण सबके पीछे दिया गया ।

नोट—४ श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि "कुंभजादि चार दृष्टान्त छोटेके लिये दिये और कामदेवका दृष्टान्त सुकुमारतापर दिया है । ...श्रीरामजी इन पाँच ऐश्वर्य्योंसे युक्त हैं—प्रताप, तेज, बुद्धि, गुण और बल । इन्हीं पाँचों ऐश्वर्य्योंको सखीने पाँचों दृष्टान्तोंमें संशयनिवृत्ति हेतु रानीसे कहा है। और इन्हीं पाँचोंको रावणने भ्रममें पड़के नाहीं किया है कि रामजीमें ये पाँचों ऐश्वर्य्य नहीं हैं। (प्रमाण) 'कटु जल्पसि जड़ कपि बल जाके । बल प्रताप बुधि तेज न ताके ।। अगुन अमान जानि तेंहि दीन्ह पिता बनवास । ६ । ३० ।' जिसमें ये पाँचों बातें रहती हैं, वही सब कार्य्य करनेमें समर्थ होता है ।"

५ पाँच दृष्टान्त देनेका क्या कारण है ? उत्तर—(क) एक एक उदाहरण एक एक गुणका देती गई जो उसको दिखाने थे । (ख) प्रथम दृष्टान्त प्रतापीका तो था पर अगस्त्यजी ऋषि और प्रसिद्ध समर्थ परम शक्तिमान् महात्मा हैं । तब दूसरा दृष्टान्त 'रविमंडल' का दिया, पर रवि देखनेमें छोटे लगते हैं जरूर, किन्तु पृथ्वीभरकी वे और उनका तीक्ष्ण तेज प्रत्यक्ष देख पड़ता है । यह बिचारकर मंत्रका दृष्टान्त दिया कि यह तो छोटा है पर इसके भीतर कितनी शक्ति गुप्त है, वैसे ही श्रीरामजीमें शक्ति गुप्त है। यह छोटा है पर देवरूप है; (मंत्र जड़ है । उसको चेतन करना पड़ता है । गुरु उसे विधिपूर्वक देता है । मंत्र सिद्ध करनेमें बहुत कष्ट होता और समय लगता है । प० प० प्र०) । अतः अंकुशका उदाहरण दिया । पर वह कठोर है (सखी चतुर है, उसने जान लिया कि रानीके मनमें रघुवीरकी मनोहरता, लावण्य और सुकुमारता छाई हुई है, अन्य दृष्टान्तोंसे काम न चलेगा । प० प० प्र०), इससे सुंदर श्याम और सुकुमार कामका दृष्टान्त दिया । अब सर्वांग पूर्ण हो गए । (ग) संदेह निवारणार्थ वक्ताको अधिकार है कि जबतक संदेहकी निवृत्ति

न हो तबतक वह बराबर दृष्टान्त देता जा सके, अतः उसी तरह सखी जब समझ गई कि अब संदेह नहीं रह सकता तब उसने उदाहरण देना बंद किया।

वि० त्रि०—पाँच उदाहरणोंका भाव कि पंचमहाभूतोंमें तेजस्वीकी ही प्रधानता है। धनुष पञ्चभूतके बाहरकी वस्तु नहीं है, अतः इसे निश्चय ही तेजस्वीके वशीभूत होना पड़ेगा। 'कहँ कुँभज कहँ सिंधु अपारा' से रस, रविमंडलसे रूप, मंत्रसे शब्द, अंकुशसे स्पर्श और 'कुसुम धनु' से गंध कहा।

नोट—६ इस प्रसंगसे मिलता हुआ एक प्रसंग हनुमन्नाटक और दूसरा 'भोजप्रबंध' में भोज-सकुटुम्बविद्वद्विप्रसम्वाद प्रकरणमें मिलता है। हनु० ना० में कुछ भिल्लिनियोंने श्रीरामजीको लंकाके लिये पयान करते देख अपनी मातासे शंका की है कि इनके पास शस्त्र, शास्त्र (वा अस्त्र), हाथी, घोड़े, रथ, बैल, ऊँट, डेरा, धन तथा राजाओंकी अन्य कोई भी सामग्री नहीं है, प्रत्युत ये जटाधारी हैं, राजा भी नहीं हैं, (तब ये लंकाको कैसे जीतेंगे?)। तब माताने समाधान किया है, यथा "विजेतव्या लंका चरणतरणीयो जलनिधिर्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः। तथाप्येको रामः सकलमपि हंति प्रतिबलं क्रिया सिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे। अंक ७।७।" अर्थात् इन्हें लंकाको जीतना है, समुद्रको चरणोंहीसे तरना है। रावण इनका शत्रु है। रणभूमि में इनके सहायक वानर हैं, तो भी ये राम अकेले ही संपूर्ण शत्रुपक्षका नाश कर देंगे; क्योंकि महान् पुरुषोंकी कार्यसिद्धि पराक्रममें होती है, सामग्रीमें नहीं।

भोजप्रबंधमें 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे' इस समस्याकी पूर्तिमें चार श्लोक हैं जिनमेंसे एक हनु० ना० ७।७ से मिलता जुलता है, केवल तृतीय पाद भिन्न है। शेष तीन श्लोकोंमें 'कुंभज' 'रवि' और 'काम' के उदाहरण हैं। यथा "घटो जन्मस्थानं मृग परिजनो भूर्जवसनो, वने वासः कन्दादिकमशनमेवं विधगुणः। अगस्त्यः पाथोधिं यदकृत करांभोजकुहरे, क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।६। रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्ततुरगाः, निरालम्बो मार्गश्च रणविकलः सारथिरपि। रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः, क्रिया…।७। धनुः पौष्पं मौर्वी मधुकरमयी चञ्चलदृशां दृशां कोणो बाण सुहृदपि जड़ात्मा हिमकरः। स्वयञ्चैकोऽनङ्गः सकलभुवनं व्याकुलयति, क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।८।" अर्थात् जिनका जन्मस्थान घट, मृगादि परिजन, भोजपत्र वस्त्र, कन्दादि भोजन और वनमें निवास है, ऐसे सामान्य परिस्थिति वाले अगस्त्यजीने अथाह सागरको एक चुल्लूभरका कर दिया। इससे जाना जाता है कि महान् पुरुषोंकी क्रियासिद्धि उनके आत्मबलसे ही होती है न कि सामग्रीके बलसे।७। जिनका रथ एक ही चक्रवाला है, सातों घोड़ोंकी लगामें सर्पोंकी हैं, सर्पोंहीसे रथमें घोड़े जुते हुए हैं, मार्ग निरालम्ब और अथाह है, सारथी पंगुल है, ऐसे सूर्य भी प्रतिदिन अथाह आकाशको पार कर लेते हैं, इससे निश्चय है कि महान्…।८। जिसका धनुष फूलका है, प्रत्यंचा भ्रमरात्मिका है, बाण स्त्रियोंके चंचल कटाक्ष हैं, जड़ात्मा चन्द्रमा सुहृद् है, जो स्वयं अकेला और शरीररहित है; उस कामदेवने संसारको व्याकुल कर रक्खा है। इससे पाया जाता है…।९।

उपर्युक्त श्लोकोंके चतुर्थ चरण "क्रिया सिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे।" की जोड़में यहाँ सखीका 'तेजवंत लघु गनिय न रानी।' यह वाक्य है। दोनोंका भाव एक ही है। जैसे वहाँ 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति…' की सिद्धिके लिये चार दृष्टान्त दिए गए, वैसे ही यहाँ 'तेजवंत लघु गनिय न' की सिद्धिके लिये पाँच दृष्टान्त दिये गए। 'घटो जन्मस्थानं…अगस्त्यः' का सब भाव 'कहँ कुंभज' में और 'पाथोधिं यदकृत करांभोजकुहरे०' का भाव 'कहँ सिंधु अपारा सोख्यो' में है। जैसे वहाँ दूसरा दृष्टान्त रविका है वैसे ही मानसमें भी दूसरा दृष्टांत रविमंडलका है। वहाँ सामग्रीका प्रकरण है इसलिये अपूर्ण सामग्रियोंके होते हुए बड़ा काम करना मात्र कहा गया और यहाँ तेजस्वी 'का देखनेमें लघु होनेका' प्रकरण है इसलिये तेजस्वी रविमंडलका देखनेमें लघु होना कहकर उसका बड़ा प्रभाव तम-नाश कहा गया। वहांका 'रथस्यैकं चक्रं…'

रविः' रविमंडलमें आ गया। 'क्रियासिद्धि···' का तीसरा दृष्टान्त 'राम' का है। एक भोजप्रबंधमें और एक हनु०ना० में; वैसे ही यहाँ तीसरा दृष्टान्त 'मंत्र परम लघु' का और चौथा अंकुशका, दोनों एक ही दोहेमें हैं।

अंतिम दृष्टान्त दोनोंमें कामदेवका है। वहाँ समस्याकी पूर्ति इसी दृष्टान्तपर समाप्त हुई; वैसे ही यहाँ 'तेजवंत लघु गनिय न' की पूर्ति इसी दृष्टांतपर हुई।

यह प्रसंग नगरदर्शनवाली सखियोंके संवादमेंके अंतिम वाक्योंसे भी मिलाने योग्य है। यहाँके 'तेजवंत लघु गनिय न रानी' में वहाँके 'बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं॥ परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी॥ सो कि रहिहि बिनु सिव धनु तोरें। २२३। ४-६।' इस वाक्यका सब भाव भरा हुआ है जो प्रत्येक दृष्टान्तके अन्तमें उसी तरह कहा जा सकता है जैसे 'क्रिया सिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे' श्लोकोंके अन्तमें कहा गया है। 'देवि तजिय संसउ अस जानी। भंजब धनुष राम सुनु रानी।' की जोड़में नगरदर्शनमें 'सो कि रहिहि बिनु सिवधनु तोरें। यह प्रतीति परिहरिअ न भोरें।' है।

जा० मं० मेंभी रानीने सखियोंसे कहा है—'कहाँ कठिन सिवधनुष कहाँ मृदु मूरति।···४६।', तब रानीको शोचयुक्त देख सखीने समझाया है। यथा "देवि! सोच परिहरिय हरष हिय आनिय। चाप चढ़ाउब राम बचन फुर मानिय। ४७।···सुनि जिय भएउ भरोस रानि हिय हरषइ···४८।'

श्री विजयानंद त्रिपाठी जी—"सखि सब कौतुक देखनिहारे··· सकल भुवन अपने बस कीन्हे।" इति। सखि शब्दसे सम्भवतः मन्त्रीकी स्त्री अभिप्रेत है। सुनयना महारानी पांच बातें कहती हैं। (१) सखि सब कौतुक देखनिहारे। जेउ कहावत हितू हमारे, (२) कोउ न बुझाइ कहै गुर पाहीं। ये बालक असि हठ भलि नाहीं, (३) रावन बान छुआ नहि चापा। हारे सकल भूप करि दापा। सो धनु राजकुअँर कर देहीं, (४) बाल मराल कि मंदर लेहीं, (५) भूप सयानप सकल सिरानी। सखि बिधिगति कछु जाति न जानी।

इस कथन में मन्त्री, गुरूजी तथा राजा तीनों पर आक्षेप है। सखी 'तेजवंत लघु गनिअ न रानी' कहकर सबका निराकरण करती है, तथा कुम्भज, रवि मण्डल, मन्त्र, अंकुश और कुसुम धनु का उदाहरण देकर क्रमशः रस, तेज, शब्द, स्पर्श और गन्ध (जो कि ब्रह्माण्डके कारण हैं) में भी तेजस्वी का विजय दिखलाते हुए अलग अलग पाँचो बातोंका उत्तर भी उसने दे दिया।

(१) वह कहती है कि लोग कौतुक देखने वाले नहीं हैं, वे जानते हैं कि कुम्भजने समुद्र सोख लिया, उनका सुयश जगत्‌में व्याप्त है। (२) गुरुजी हठ नहीं कर रहे हैं, वे रविमण्डलकी वास्तविक महत्ताको जानते हैं, उनकी दृष्टिमें रविमण्डल छोटा नहीं है। (३) वे परम लघु मन्त्रकी महामहिमासे परिचित हैं। (४) महाराज बड़े सयाने हैं, वे दिन रात खर्व अंकुशकी कार्यकारिताका अनुभव किया करते हैं। (५) कामके कुसुम धनु सायकके महा प्रभावको जानते हैं, अतः महातेजस्वी रामचन्द्र ('जिनके जस प्रताप के आगे, ससि मलीन रबि सीतल लागे') को धनुष-भङ्गकेलिये जानेसे नहीं रोकते। क्योंकि 'भंजब धनुष राम सुनु रानी'; अतः महारानी सुनयनाको सखीके वचनसे विश्वास हुआ।

सखी बचन सुनि भै परतीती। मिटा बिषादु बढ़ी अतिप्रीती ॥३॥

अर्थ—सखीके वचन सुनकर रानीको विश्वास हुआ, दुःख मिटा और अत्यंत प्रेम बढ़ा। ३॥

टिप्पणी—१ (क) 'भै परतीती' इस कथनके अभ्यन्तर यह आशय निकलता है कि रानीको श्रीराम-स्वरूपमें संशय था, वह संशय दूर होगया और श्रीरामजीका स्वरूप उनको जान पड़ा; क्योंकि जब संशय दूर होजाता है तभी रामस्वरूप जान पड़ता है और स्वरूप जाननेपरही प्रतीति होती है और प्रतीति होने पर प्रीति होती है, यथा 'तुम्ह कृपाल सब संसउ हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ। नाथ कृपा अब गएउ

बिषादा । १२०।२-३ ।', 'जाने बिनु न होइ परतीती । बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती । ७।८६ ।' (ख) 'मिटा बिषादु' भाव कि संशयरूपी सर्पने ग्रस लिया था, कुतर्करूपी लहरें आ रही थीं, उसीका विषाद था सो मिट गया; यथा 'संसय-सर्प ग्रसेउ मोहि ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहुब्राता । ७।९३ ।', 'संसय सर्प ग्रसन उरगादः । समन सुकर्कस तर्क बिषादः । ३।११।६ ।' (ग) 'बढ़ी अति प्रीती' इति । भाव कि रानीकी श्रीरामजीमें पहले भी अति प्रीति थी, यथा 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी । सिसु सम प्रीति न जाति बखानी ।२४२।३ ।' बखानी नहीं जाती अर्थात् 'अति प्रीति' है । वही 'अति प्रीति' रामस्वरूप जाननेसे यहाँ बढ़ी । (पहले विना संबंधके प्रीति थी, अब संबंधकी आशा दृढ़ होनेसे अति प्रीति बढ़ी । वि० त्रि०) । ४ ☞रानीको श्रीरामस्वरूप हृदयमें जान पड़ा, उन्होंने उसे मुखसे नहीं कहा; इसीसे यहां चौपाईमें भी श्रीरामस्वरूपका जानना गुप्त है । पार्वतीजीने उसे कहा था इससे वहाँ प्रगट करके कविने लिखा था, यथा 'रामसरूप जानि मोहि परेऊ' । यदि रानीने भी प्रगट कहा होता तो कवि लिखते ।

गौड़जी--विषाद मिटगया । प्रीति बहुत बढ़गई । इसका कारण यह है कि अभीतक रानी अपने लड़केके भावसेही सरकारको देखती थीं, साथही वात्सल्यके आत्यन्तिक उद्रेकसे उन्हें नितान्त सुकुमार समझती थीं । जब प्रतीति हुई कि उनका सामर्थ्य अपार है, 'राम चाप तोरब सक नाहीं' (भंजब राम धनुष), तब तो प्रीति बढ़गयी कि हमारा जामाता केवल हमारी या किशोरीजीकी पसंदसे विवाह न करेगा, बल्कि त्रैलोक्यविजयी और यशस्वी होकर बरेगा, तो प्रीति अत्यधिक बढ़ गयी ।

श्रीराजारामशरणजी—इस अर्धालीमें कितनी सुन्दर आलोचना है । तुलसीदासजी अपनी कविताके बड़ेही सुन्दर आलोचकभी हैं । प्रत्येक परिस्थिति और वार्तापर आगे या पीछे उनकी आलोचना अवश्य होती है । इसीसे हम भ्रम और भूलमें नहीं पड़ते । शैक्सपीयरकी कलामें 'कवि' हमारा पथप्रदर्शक नहीं, इसीसे भूल होती है और भ्रम उत्पन्न होता है । यूनानदेशके नाटकोंमें जो काम गायकसमूह (Chorus) करता था वही काम तुलसीकी कलामें कवि करता है । हां, तुलसीदासकी कला अधिक स्वाभाविक है ।

नोट—यहाँ 'भ्रान्त्यपह्नुति अलंकार' है । श्रीरामजीकी सुकुमारतासे रानीको उनके धनुष तोड़नेमें संदेह हुआ । उस भ्रमको सत्य उदाहरण देकर सखीने दूर किया । कुम्भज और धनुष, रविमंडल और त्रिभुवन तम, इत्यादिके प्रमाण देकर जनाती है कि रामजी धनुष तोड़ सकते हैं, यह असंभव नहीं— 'संभव प्रमाण अलंकार' है ।

वे० भू०—श्रीहारीतजीका कहना है कि अर्थपंचक ज्ञानही समस्त निगमागमादि सच्छास्त्रोंका निचोड़ ज्ञानतत्व है; यथा 'प्राप्तस्य ब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः । प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च । वदन्ति सकला वेदा सेतिहास पुराणकाः । मुनयश्च महात्मानो वेद वेदाङ्गवेदिनः ।।' यहाँ 'सखी गीता' में वर्णित है कि सखीका वचन सुनकर रानीके हृदयमें श्रीस्वरूपके बोध होने 'तत्वपरिज्ञान' से श्रीरामजीमें (श्रीहनुमत्संहिता-में कथित) 'संप्रीति', 'नित्या प्रीति' हुई । उसीको यहां 'बढ़ी अति प्रीती' कहकर जनाया है । सखीने प्रकारान्तरसे यहां अर्थपंचकके 'प्राप्यस्वरूप' का ही कथन किया है ।

तब रामहि बिलोकि बैदेही । सभय हृदय बिनवति जेहि तेही ।।४।।
मनही मन मनाव अकुलानी । होहु प्रसंन महेस भवानी ।।५।।
करहु सफल आपनि सेवकाई । करि[1] हितु हरहु चाप गरुआई ।।६।।

अर्थ—('सहजहि चले सकल जगस्वामी । मत्त-मंजु-बर-कुंजरगामी ।। चलत राम सब पुर नर

१—१६६१ में 'कर' है । लेख प्रमाद जान पड़ता है ।

नारी। पुलक पूरि तन भये सुखारी') तब (ठीक उसी चलते समय) श्रीरामजीको देखकर विदेहनंदिनी श्रीजानकीजी भयभीत हृदयसे जिसी तिसी (देवता) की विनती करने लगीं ॥ ४ ॥ वे व्याकुल होकर मनही मन मना रही हैं--हे महेशभवानी ! प्रसन्न हूजिए ॥ ५ ॥ अपनी सेवा (अर्थात् जो सेवा मैंने आजतक आपकी की और कभी कुछ फलकी याचना नहीं ही की, उस सेवाको) सफल कीजिए और मुझपर प्रेम स्नेह वा कृपा करके धनुषके भारीपनको हर लीजिए ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तब रामहि' का संबंध २५५ (५-६) 'सहजहि चले'''चलत राम' से है। बीचमें पुरनरनारियों और श्रीसुनयना आदि रानियों और सखियोंके स्नेह और प्रेम इत्यादिको कहकर अब इनके मनकी दशा कहते हैं। कवि एक ही है, इससे एकके बाद एकको लिखता है पर सबके मनमें एक ही समय पृथक्-पृथक् भाव और विचार उत्पन्न हुए। (ख) 'रामहि बिलोकि' इति। भाव कि श्रीरामजीको देखनेसे दर्शकको उनके द्वारा धनुषके टूटनेमें संदेह होजाता है जैसे श्रीसुनयना अम्बाजीने रामजीको देखकर सखियोंसे वचन कहे—'रामहि प्रेम समेत लखि'''। जैसे रामजीको देखकर उनकी सुकुमारता समझकर उनको संदेह हुआ, वैसे ही रामजीको देखते ही इनके चित्तमें भी उनकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरताका खयाल आ गया—यह भाव 'बिलोकि' कहकर दरसाया। [(ग) 'बैदेही' का भाव कि देखकर, कोमलता विचारकर देह सुध न रह गई, विह्वल हो रही हैं]। (घ) 'सभय हृदय बिनवति०' इति। श्रीरामजीकी सुकुमारता और धनुषकी कठोरता समझकर भय है कि धनुष कैसे टूटेगा। इसीसे एक एक करके देवताओंकी बिनती करती हैं कि उसकी गुरुता और कठोरता हर लें, यथा 'करहु सफल'''गरुआई', 'बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी। चौ० ८।' (ङ) 'जेहि तेही' [अर्थात् जो ही देवता याद आता है, उसीसे प्रार्थना करने लगती हैं। यह विह्वलता और भयका चिह्न है। इसीसे वैदेही नाम भी यहाँ सार्थक है।]। इससे जनाया कि व्याकुलताके मारे बुद्धि स्थिर नहीं होने पाती। [भाव कि श्रीसीताजी आर्त हो गई हैं। आर्तके विचार नहीं रह जाता। इसीसे वे 'जेहि तेही' से विनय करती हैं। योग्य अयोग्यका विचार ही नहीं है। वे समर्थ देवताओंसे भी विनय करती हैं और जड़ धनुषसे भी कि जो स्वयं टूटनेको रक्खा है। (वि० त्रि०)]।

२ (क) 'मन ही मन मनाव' इति। भाव कि सुनयनाजीने अपने मनकी बात सखियोंसे कह दी—'सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ', पर ये मारे संकोचके किसीसे भी कह नहीं सकतीं। इसीसे दुःख और व्याकुलता बढ़नेसे मनहीमें मनाती हैं। 'सभय हृदय० ॥ मन ही मन मनाव० ।' से यह बात जनादी कि हृदय ही में विनय कर रही हैं, मनाती हैं, वचनसे कुछ नहीं कहतीं, यथा 'गिरा-अलिनि मुख-पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी ।२५६।१।' (ख) [दुःख कह देनेसे कुछ घट जाता है, यथा 'कहेहू तें कछु दुख घटि होई। काहि कहौं यह जान न कोई'। श्रीसुनयनाजीने कह डाला इससे उनकी व्याकुलता दूर हो गई। श्रीसीताजी अपने हृदयका संदेह किसीसे कहती नहीं, इसीसे धनुष कैसे टूटेगा यह भय खाकर] 'अकुलानी' अर्थात् बहुत व्याकुल हैं। (ग) 'होहु प्रसंन महेस भवानी' इति। यह आकुलता-का स्वरूप दिखाते हैं कि महादेव-पार्वती तो उनपर प्रसन्न ही हैं, गौरीजीने अभी कल ही तो आशीर्वाद दिया है, यथा 'सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी।' पर ये रामजीको देख पुनः उनके माधुर्य्यमें भूलगईं, व्याकुल होनेसे आशीर्वादकी सुध जाती रही। इसीसे कहती हैं कि प्रसन्न हो, सेवा सुफल करो। (घ) 'आपनि सेवकाई'। भाव कि आपको अपनी 'सेवकाई' की लाज है कि हमारी सेवा कभी निष्फल नहीं होती। आपकी सेवा व्यर्थ नहीं जाती, इसीसे प्रार्थना है कि उसे सुफल कीजिए। (ङ) 'करि हितु हरहु चाप गरुआई' इति। क्या फल चाहती हैं सो कहती हैं कि प्रथम प्रसन्न हूजिए, यह हित

कीजिए। हित करके अर्थात् प्रसन्न होकर तब चापकी गुरुता हरण कीजिए जिससे हमारा हित है। ईश्वरमें सब सामर्थ्य है, चाहे रजको सुमेरु कर दें और चाहे सुमेरुको रेणु कर दें, यह समझकर चापकी गुरुता हरण करनेकी प्रार्थना करती हैं।

श्रीराजारामशरणजी—ऊपरकी टिप्पणियाँ बिलकुल ठीक हैं। श्रीसीताजी संकोचवश न तो किसीसे कहती हैं और न कोई उनको तसल्ली देता है। इसीसे उनके हृदयके भावोंका चित्रण तुलसीकी कलाके X Rays द्वारा ही हुआ है। कवि कितना आवश्यक है! यह चित्रण कितना स्वाभाविक और इसी कारण शैक्सपियरकी कलाकी स्वगत वार्ताओंसे कितना अधिक सुन्दर है! भावोंका निरीक्षण स्वयं कविने करदिया है, तो फिर किसी विशेष आलोचनाकी आवश्यकता ही नहीं। (भय और आकुलता)।

गननायक बरदायक देवा। आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा ॥७॥
बार बार बिनती सुनि मोरी। करहु चाप गुरुता अति थोरी ॥८॥

अर्थ—हे गणोंके नायक श्रीगणेशजी! हे वरदान देनेवाले! हे देव! मैंने आजतक आपकी सेवा की ॥ ७ ॥ बार-बार (की) मेरी बिनती सुनकर धनुषका भारीपन अत्यंत कम कर दीजिए ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'गननायक बरदायक देवा' इति। ये तीन विशेषण देकर गणेशजीमें दाताके समस्त गुण दिखाए। दातामें तीन बातें होना जरूरी हैं—ऐश्वर्य्य (धन, संपत्ति), उदारता और जानकारी (क्या देना चाहिए इसका ज्ञान)। ये तीनों बातें क्रमसे उनमें दिखाती हैं। गणनायकसे ऐश्वर्यवान्, वरदायकसे उदार और देवसे जानकार जनाया (क्योंकि देवता दिव्य होते हैं, वे हृदयकी जान लेते हैं)। जिसके पास माँगने जाय उसकी प्रथम कुछ स्तुति करके तब माँगना चाहिए, इसीसे इन तीन विशेषणों द्वारा गणेशजीकी प्रशंसा करके तब माँगती हैं। जैसे शिवपार्वतीजीसे प्रार्थना करनेमें उनको 'महेश' अर्थात् महान् ईश और 'भवानी' भवकी पत्नी कहकर उनकी बड़ाई की, वैसे ही गणनायक गणोंके स्वामी कहकर इनकी बड़ाई की कि आप समस्त गणोंके स्वामी हैं। [श्रीपंजाबीजीके मतानुसार "गणनायक का भाव यह है कि रुद्रगण बड़े शक्तिमान् हैं, आप उनके स्वामी हैं, अतः परम शक्तिमान् होंगे। अपनी शक्तिसे इसका बोझ तिनकेके समान कर दीजिए। वा, सब गणोंको आज्ञा दे दीजिए कि अदृश्य रूपसे उठाते समय सहारा लगा दें।"]। (ख)'आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा' अर्थात् आपसे कभी कुछ सेवा का फल नहीं मांगा, सेवा करती गई, आज फल मांगती हूँ। आप वरदायक हैं, मुझे वर दें। जैसे महेश भवानीसे कहा था कि 'करहु सफल आपन सेवकाई' वैसे ही इनसे, 'आजु लगे०' कहकर सेवा सुफल करनेकी प्रार्थना की। [इससे यह भी जनाया कि आज भी नित्यकी भाँति पूजा करके यहाँ आई हैं। (वि० त्रि०)]

२ (क) 'बार बार बिनती सुनि मोरी' इस कथनसे अपना अत्यन्त आर्त होना जनाया। मैं बड़ी आर्त्त हूँ, मेरी बिनती सुनिये। (ख) 'करहु चाप गुरुता अति थोरी' इति। 'अति थोरी' का भाव कि श्रीरामजी अत्यंत कोमल हैं इसीसे गुरुताको 'अति' थोड़ी करनेकी प्रार्थना है। पुनः, भाव कि हमने महेश-भवानीसे माँगा था कि चापकी गुरुता हर लें, सो उन्होंने उसकी गुरुता हर ली, शिवपार्वतीजीके हरनेपर भी जो थोड़ी (कुछ) रहगई हो, आप उसे 'अति थोरी' कर दें, क्योंकि रामजी अति सुकुमार हैं। पुनः, भाव कि लक्ष्मणजीने जो दो बातें कही थीं; एक तो 'कमलनाल जिमि चाप चढ़ावउँ।', दूसरी 'तोरौं छत्रक-दंड जिमि', उनमेंसे पहली बातके लिए तो पुरवासियोंने गणेशजीसे प्रार्थना की है, यथा "तौ सिवधनु मृनाल की नाईं। तोरहुं राम गनेस गोसाईं।' रही दूसरी बात, उसे जानकीजी गणेशजीसे माँगती हैं—'करहु चाप गुरुता अति थोरी'। 'अति थोरी गुरुता' छत्रकदंडमें है। अर्थात् माँगती हैं कि धनुषको इतना हलका कर दीजिए जितना हलका छत्रकदंड होता है। (ग) ☞ प्रथम लिखा कि 'सभय हृदय बिनवति जेहि तेही'

तत्पश्चात् विनय करना लिखा—'मन ही मन मनाव', बार बार बिनती सुनि मोरी' और 'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर' इत्यादि। (५) ☞ बार बार सभीसे धनुषकी कठोरता हरनेकी प्रार्थना करती हैं—'करि हितु हरहु चाप गरुआई', 'करहु चाप गुरुता अति थोरी', 'होउ हरुअ रघुपतिहि निहारी'। पर श्रीरामजीको बलवान करनेको नहीं कहतीं। तात्पर्य्य कि धनुष बहुत कठोर है इसीसे उसको हलका करनेकी प्रार्थना करती हैं। यदि सब देवता रामजीको बलवान् कर दें और धनुष ऐसा ही कठोर बना रहे तो भी संदेह बना रहता कि 'रामजी बली हैं पर न जाने धनुष टूटे या न टूटे, रावण बाणासुर आदि महाभटोंसे भी तो न उठा था, देखें क्या होता है ?' और चापके अत्यन्त हलका होनेपर फिर संदेह न रहेगा। अतः हलका होनेकी प्रार्थना की।

दोहा—देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर। भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर ॥२५७॥

अर्थ—श्रीरघुकुलवीर रामचन्द्रजीकी ओर एवं उनके तनको देखदेखकर श्रीसीताजी धीरज धरकर देवताओंको वा सूर्य्यको मना रही हैं। उनके दोनों नेत्र प्रेमजल (प्रेमाश्रु) से भरे हुए हैं और शरीरमें पुलकावली हो रही है॥ २५७॥

टिप्पणी—१ 'देखि देखि०' इति। भाव कि वह रूप ही ऐसा है कि एक दो दफा देखनेसे तृप्ति नहीं होती, यथा 'देखन मिस मृग बिहँग तरु पुनि पुनि फिरै बहोरि। २३४।', 'पुनि पुनि रामहिं चितव सिय सकुचति मन सकुचै न। ३२६।' एकटक देखनेसे लज्जा लगती है, यथा 'गुरजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि। २४८।' श्रीरघुवीर तन अति कोमल और अति सुन्दर है इसीसे बारबार देखती हैं। [पुनः, भाव कि एक बार देखतीं फिर कुछ सकुचाकर दृष्टि नीचे या इधर उधर कर लेती हैं, फिर देखती हैं और संकोचके मारे दृष्टि हटा लेती हैं। और, शरीरकी कोमलता और धनुषकी कठोरता याद आई कि वीरता हृदयसे जाती रही तब देवताओंको मनाने लगती हैं। इस तरह बारंबार वीरताको यादकर धीरज धरती हैं पर धनुष उसे स्थिर नहीं रहने देता। 'धीर' के संबंधसे 'रघुबीर' नाम दिया। "यहाँ वीरताका काम है, अतः 'रघुबीर' कहा"—पांड़ेजी)]।

२ 'सुर मनाव' इति। पंचदेवताओंके साहचर्य्यसे यहाँ 'सुर' से 'सूर्य्य' का ग्रहण होगा। यथा 'सहचरितासहचरितयोर्मध्ये सहचरितस्यैव ग्रहणम्' (इति परिभाषा, न्यायः)। शिवजी, पार्वतीजी, गणेशजी, सूर्य्य और विष्णु भगवान् ये ही पंचदेव हैं। इनमेंसे तीन प्रथम कहे गये—'होहु प्रसंन महेश भवानी', 'गननायक बरदायक देवा'। रहे सूर्य्य और भगवान् विष्णु सो भगवान्‌की प्रार्थना आगे करती हैं, यथा 'तौ भगवान सकल उर बासी। करिहहिं मोहिं रघुपति कै दासी।' (यहाँ भगवान्‌से विष्णु भगवान् अभिप्रेत हैं, यथा 'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना'।) अतएव चार देवताओंके साहचर्य्यसे यहाँ 'सुर मनाव' में सूर्य्यकी प्रार्थना करनेका अर्थ है। [सुर = सूर्य्य, यथा 'बिंधकी दवारि कैधौं कोटिसत सूर हैं' (क० ५।३), 'तुलसी सूधे सूर ससि समय बिडंबित राहु' (दो० ३६७)। संस्कृतमें भी 'सुर' का एक अर्थ 'सूर्य्य' भी कोशमें मिलता है।]। ☞पंचदेवोपासना सनातन रीति है, यथा 'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी। रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी। २।२७३।' इत्यादि। उसी सनातनधर्मपरिपाटीके अनुसार श्रीजानकीजी पंचदेवताओंको मनाकर श्रीरघुनाथजीकी दासी बननेकी प्रार्थना करती हैं।

३ 'धरि धीर' का भाव कि कोमलता देखकर धैर्य नहीं रह जाता जैसा आगे स्पष्ट करती हैं—'कहँ

धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा ॥ बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा।' कोमलता देखकर बारंबार क्षोभ होता है, इसीसे ग्रन्थकार भी बारंबार मूर्तिका देखना लिखते हैं—'तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही।', 'देखि देखि रघुबीर तन०', 'नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु-पन सुमिरि बहुरि मन छोभा'; इत्यादि। अतः जब जब क्षोभ होता है तब तब धीरज धरती हैं। ☞यहाँतक श्रीजानकीजीके मनका हाल कहा; आगे उत्तरार्द्धमें तनका हाल कहते हैं। (इस समय देवता मनानेके लिये भी धैर्य धारण करना पड़ रहा है, विश्वास है कि बिना दैवबलके ऐसे कार्योंमें सिद्धि नहीं होती। लौकिक बलसे शिवचाप नहीं टूट सकता, अतः 'सुर मनाव···' वि०त्रि०)।

४ 'भरे बिलोचन प्रेमजल०', यह प्रेमकी दशा है। प्रेमजलका भाव कि रोने (दुःख) से भी नेत्रोंमें जल भर जाता है पर वह बात यहाँ नहीं है। श्रीरामजीमें अत्यंत प्रेम हो गया है, इसीसे नेत्रोंमें जल आ गया। 'पुलकावली' (=पुलककी पंक्ति) कहकर जनाया कि जितनी बार रामजीको देखती हैं उतनी बार पुलक होता है। अनेक बार देखना प्रथम ही कह दिया है-'देखि देखि०'; इसीसे बारंबार पुलकित होना भी कहा। अथवा, प्रेमसे बारंबार शरीर रोमांचित हो रहा है इससे 'पुलकावली' का होना कहा।

नीके निरखि नयन भरि सोभा। पितु पनु सुमिरि बहुरि मनु छोभा ॥१॥

अहह तात दारुनि हठ ठानी। समुझत नहिँ कछु लाभु न हानी ॥२॥

अर्थ—अच्छी तरह नेत्र भरकर श्रीरामजीकी शोभा देख पिताका प्रण स्मरणकर फिर मनमें क्षोभ हो गया ॥ १ ॥ (वे सोचने लगीं कि) अहह! (बड़े खेदकी बात है) पिताजी! आपने बड़ी कठिन भयंकर हठ ठानी है; हानि लाभ कुछ भी नहीं समझते (विचार करते) ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'नीके निरखि नयन भरि सोभा' इति। 'नीके निरखि' अर्थात् नखशिख शोभा देखकर, यथा 'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मनु अति छोभा। २३४।४।' पुनः भाव कि जबतक मन चंचल रहता है तबतक रूप अच्छी तरह नहीं देखते बनता, इसीसे वहाँ लिखा था कि 'तब रामहिं बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही'। अर्थात् देखना भर लिखा। अब धीरज धारण करनेसे मन स्थिर होगया,—'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर'। इसीसे अब 'नीके निरखि नयन भरि सोभा' लिखते हैं। (ख) 'नयन भरि' का भाव कि जब मन स्थिर न था तब नेत्रभर न देखा था क्योंकि मनके चंचल होनेसे नेत्र भी चंचल रहे, मनके स्थिर हो जानेसे नेत्र भी स्थिर हो गए तब नेत्रभर शोभा देखी। [मंचपरसे चले। जैसे जैसे सन्निकट चले आ रहे हैं, शोभा अधिक सुस्पष्ट होती जा रही है, अतः कहते हैं 'तब रामहि बिलोकि बैदेही। सभय हृदय बिनवति जेहि तेही।' और भी निकट आगए, तब 'देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव धरि धीर'। अब बहुत निकट आ गए तब 'नीके निरखि नयन भरि सोभा।' अब तक दूर दूरसे ही सक्षात्कार हुआ, निकट आनेपर भली भाँति शोभा देखनेका अवसर मिला। अतः 'नयन भरि' देखना कहा। (वि० त्रि०)]। (ग) 'पितु पनु सुमिरि' से सूचित किया कि जब शोभा देखने लगीं तब पिताके प्रणकी सुध भूल गई थीं पर जैसे ही नखशिख शोभा भरपूर देख चुकीं तैसे ही पिताका प्रण याद आ गया, तब जो मन स्थिर हो गया था वह पुनः चंचल हो गया। शोभाके दर्शनसे निवृत्त हो गया। (घ) 'बहुरि' का भाव कि श्रीसीताजीके मनमें पहले भी क्षोभ था, यथा 'नखसिख निरखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा।', पर धीरज धरनेपर वह स्थिर हो गया था, अब शोभा देख चुकनेपर फिर क्षुब्ध हो उठा।

२ (क) 'अहह' खेद की बात है। खेदमें इस तरहका शब्द मुँहसे निकलता है। भाव कि यह प्रण श्रीरामजीकी प्राप्तिका बाधक है इससे बड़ा कष्ट है। पुनः भाव कि पिता होकर भी अपनी कन्याका

विवाह हठ करके रोक रहे हैं, यह बड़े कष्टकी बात है। पुनः यह कि ऐसे बुद्धिमान् होकर भी हानिलाभ कुछ नहीं समझते यह कष्टकी बात है। पुनः 'बुधसमाज बड़ अनुचित होई', 'सचिव सभय सिख देइ न कोई' यह कष्टकी बात है। पुनः 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा' इत्यादि—यह सारा प्रसंग कष्टका है। इसीसे आदिहीमें 'अहह' शब्द कथन किया गया। अहह = खेद। (ख) 'दारुनि हठ ठानी'। यह हठ दारुण अर्थात् बड़ी भयंकर है। भाव कि देवताओंको मनानेसे, मनमें समझनेसे, किसी प्रकार भी भय की निवृत्ति नहीं हो पाती। इसने मनमें भारी भय पैदा कर रक्खा है जो किसी तरह मिटता ही नहीं। [(ग) 'ठानी' का भाव कि यह देखकर भी कि रावण, बाणासुर और दश हजार राजाओंसे भी न उठा तब भी 'बिधि बस हठि अविवेकहिं भजई', हठपर अड़े हैं] (घ) 'समुझत नहिं कछु लाभ न हानी' इति। भाव कि संसारमें सभी लोग अपनी हानि-लाभ सोचकर कोई काम करते हैं, पर पिताजीने बिना समझे ही यह काम किया। इसीसे कहती हैं कि 'समुझत०'। धनुष टूटा भी तो क्या लाभ और न टूटनेसे कोई हानि भी नहीं, यथा 'का छति लाभ जून धनु तोरे'। [वा, यह नहीं समझते कि हठ करनेसे लाभ न होगा; टूटे या न टूटे इसमें उनको लाभ ही क्या? और हठ करने पर न टूटा तो हानि अवश्य है कि 'अंतहु उर दाहू' होगा। और भी भाव पूर्ण आ चुके हैं।] यह हठ व्यर्थ ही है।

नोट १—"'तात' श्लिष्टपदद्वारा यहाँ 'पिता' अर्थके अतिरिक्त 'संताप का देनेवाला' अर्थ भी सूचित किया। हठ संताप देनेवाला है।" (पाँ०)।

२ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'संसारमें सब लोग लाभहीके लिये उद्यम करते हैं; चाहे उसमें पीछे हानि ही हो जाय, पर जिस उद्यममें ऊपर ही प्रत्यक्ष हानि दिखती है उसे नहीं करते। धनुष टूटे तो हानि (क्योंकि न जाने किसी असुरसे टूटे तो मनुष्यका व्याह दनुजादिके साथ अयोग्य ही है और मनुष्य से टूटना असंभव है) और न टूटे तो हानि (कन्या कुँवारी ही रहेगी, लोकमें अपयश होगा)।'

सचिव सभय सिख देइ न कोई। बुध-समाज बड़ अनुचित होई ॥३॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदु गात किसोरा ॥४॥

अर्थ—मंत्री (भी) भयभीत हैं, कोई सीख (सलाह, शिक्षा) नहीं देता। बुद्धिमानों की सभामें बड़ा अनुचित हो रहा है॥ ३॥ कहाँ तो वज्रसे भी बढ़कर कठोर धनुष और कहाँ ये साँवले, कोमलशरीर और किशोरावस्थावाले!॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) इस प्रणमें हानि लाभ कुछ भी नहीं है, यह बात राजा नहीं समझते तो मंत्रियों-को तो सुझाना चाहिये पर वे भी नहीं समझाते क्योंकि वे डरते हैं कि राजा नाराज न हो जायँ। मंत्री राजाके आश्रित होनेसे सभीत हैं, बुद्धिमान् तो आश्रित नहीं हैं, उनको तो कुछ भय नहीं है, किंतु वे भी नहीं कहते। (ख) 'बुधसमाज बड़ अनुचित होई' इति। 'बड़ अनुचित' कहनेका भाव कि मंत्रियोंका भयके कारण उचित सिखावन न देना भी अनुचित है और बुद्धिमानोंको तो कोई भय भी नहीं तब भी वे उचित बात नहीं सिखाते यह बड़ा ही अनुचित है। पुनः भाव कि बुधसमाज राजासे नहीं कहते तो मंत्रियोंसे कह देते कि तुम निर्भय होकर यह बात राजासे कह दो, उन्हें समझा दो। बुधसमाजका यह न करना बड़ा अनुचित है। पुनः भाव कि जहाँ एक भी बुद्धिमान् होता है वहाँ अनुचित नहीं होने पाता और यहाँ तो समाजका समाज पंडित है तब भी यहाँ बड़ी अनुचित बात हो रही है। (ग) 'सिख देइ न'। क्या सीख दें? यह कि इस हठमें कोई लाभ या हानि नहीं है, यह हठ व्यर्थका है, 'कहँ धनु कुलिसहु०' इत्यादि। [गीतावलीमें भी यही कहा है, यथा—'कोउ समुझाइ कहै किन भूपहि बड़े भाग आए इत ए री। कुलिस

कठोर कहां संकर धनु मृदु मूरति किसोर कित ए री । १।७६।३']। यहाँ एक अनौचित्य कहकर आगे दूसरा अनौचित्य कहते हैं—'कहँ धनु…'।

श्रीराजारामशरणजी-१ सच है, आत्मा ही सबसे अच्छा मित्र है। (गीता)। श्रीसीताजीके विचार आत्मसंशोधनके बड़े सुन्दर उदाहरण हैं। दोहा तो प्रगति-सहित-भाव चित्रणका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है। २-तनिक धैर्य्य धारण किया और प्रेमकी पुलकावली प्रेमजलके साथ सुख देने लगी और नीके निरखने-का साहस हुआ, मगर हाय ! पिताके प्रणने फिर क्षोभ उत्पन्न कर दिया। ३--'हठ' वाली आलोचना यहाँ भी है, मगर 'तात' शब्दने उसे कितना सकरुण बना दिया है ! जहाँ-जहाँ जनकजीके प्रणको 'हठ' कहा गया है उन सब आलोचनाओंकी समानता और अन्तर दोनों विचारणीय हैं।

सलाहकारोंकी इस आलोचना और रानी द्वारा की गई आलोचना का अंतर भी देखिए। विस्तार-भय से केवल याद दिलाई जाती है।

नोट—१ 'चाहि' शब्दका अर्थ पं० महावीर प्रसाद आदि कई टीकाकारोंने 'चाहता है', ऐसा किया है। भाव उसका भी वही है। पर शब्द सागर आदि कोशोंसे पता चलता है कि "चाहि" का अर्थ 'बढ़कर' है यथा 'ससि चौदस जो दई सँवारा। तेहू चाहि रूप उजिआरा', 'खाँड़े चाहि पैनि पैनाई। बार चाहि पातरि पतराई', 'जीव चाहि सो अधिक पियारी', 'कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि' इत्यादि। प्रोफे० लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि यह अवधी भाषा है। जायसीकी 'पद्मावत' में इसका प्रयोग बहुत आया है। यह शब्द संस्कृत 'चैव' का अपभ्रंश है। चैव=च एव=और भी=बढ़कर। उत्तरकांडमें जो 'कुलिसहु चाहि कठोर अति०' आया है ठीक ऐसा ही भाव इस श्लोकका है--'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि। लोकोत्तराणां चेतांसि कोहि विज्ञातुमर्हसि।' इससे भी 'चाहि' का अर्थ बढ़ कर ही सिद्ध होता है। 'वज्र भी जिसकी कठोरता चाहता है ऐसा कठोर' इस प्रकार अर्थ करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। दूसरे, इस अर्थमें कठोरता शब्द अपनी तरफ़से बढ़ाना पड़ता है। पं० रामकुमारजी 'चाहि' का अर्थ 'से' करते हैं, यह भी अर्थ ठीक बैठ जाता है।--'कहाँ धनुष वज्रसे भी कठोर।' अयोध्याकांडमें भी कहा है "अरि बस दैउ जिआवत जाही। मरनु नीक तेहि जीवन चाही। २।२१।"

टिप्पणी--२ (क) कहँ धनु०। कहँ स्यामल०'। इति। 'द्वौ क शब्दौ महदंतरं सूचयतः' अर्थात् जहाँ 'क' शब्द दो बार आता है, वहां बड़ा भारी अंतर दिखाया जाता है। 'कहँ' 'क' का अपभ्रंश है। अतः भाव यह है कि धनुषकी कठोरतासे और रामजीकी कोमलतासे बड़ाभारी अंतर है। (ख) धनुष को कठोर कहकर श्रीरामजीके शरीरको मृदु और किशोर कहा--इसतरह धनुषके योग्य नहीं है यह दिखाया। (ग) 'स्यामल' शब्दका क्या प्रयोजन ? इससे शरीरकी सुन्दरता कही है, यथा 'स्याम सरीर सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन'। (घ) 'गात किसोरा'। भाव कि अभी युवावस्था भी नहीं आई। किशोर अवस्थाके पश्चात् युवावस्था आती है। (ङ) धनुषको वज्रकी उपमा दी और इसकी जोड़में श्रीरामजीके अंग की कोमलताकी उपमा 'सिरस सुमन' की आगे देते हैं।

नोट--'कहँ स्यामल मृदुगात' इति। भाव यह कि धनुषकी कठोरताके लिए कुछ उपमा मिली। पर रामजीकी कोमलताकी कोई उपमा न मिली। इससे मृदुताके लिए मृदुता ही की उपमा दी। [वज्र तो इन्द्रके हाथमें रहता है, वह उनका आयुध है, पर धनुष तो किसीसे हिला नहीं, इससे 'कुलिसहु चाहि कठोरा' कहा। श्रीसुनयनाजीने धनुषका रामजीके हाथमें देना कहा,-'सो धनु राजकुँअर कर देहीं।०'। पर श्रीजनक-नंदिनीजीकी दृष्टिमें जो सुकुमारता बसी है वह हाथमें देना तो दूर रहा, धनुषके स्पर्शमात्रका विचार भी चित्तमें

सहन नहीं कर सकती] कुलिश आकाशमें और रामजी यहाँ, अर्थात् धनुष और रामजीमें आकाश और पृथ्वीकासा बीच है। यहां 'प्रथम विषम अलंकार' है। (प्र० सं०)।

बिधि केहि भाँति धरौं उर धीरा। सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा ॥५॥

सकल सभा कै[1] मति भै भोरी। अब मोहि संभु चाप गति तोरी ॥६॥

शब्दार्थ—'सिरस' (सं० शिरीष)—शीशमकी तरहका लंबा एक प्रकारका ऊँचा किन्तु अचिरस्थायी पेड़ है। यह चैत्र वैशाखमें फूलता-फलता है। फूल सफेद, सुगंधित, अत्यंत कोमल तथा मनोहर होते हैं। कवियोंने इसके फूलकी कोमलताका वर्णन किया है।

अर्थ—हे विधाता ! मैं किस तरह हृदयमें धीरज धरूँ ? सिरसके फूलके कण (तंतु) से कहीं हीरा वेधा जा सकता वा विधता है ? ॥ ५ ॥ सारी सभा की बुद्धि बौरा गई। हे शिवजीके धनुष ! अब मुझे तेरी ही शरण है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) संयोग करानेवाले विधाता ही हैं इसीसे 'बिधि' से कह रही हैं। (ख) 'केहि भाँति'। प्रथम सब 'भाँति' कह आईं। राजा नहीं समझते, राजाको कोई समझाता भी नहीं, श्रीरामजी अत्यन्त कोमल हैं, धनुष अत्यन्त कठोर है—यही सब भाँति है। इसमेंसे किस 'भाँति' से धीरज धरूँ ? अर्थात् इनमेंसे कोई भी बात तो ऐसी नहीं कि जिससे धैर्य्य बँध सके। (अविधिसे कार्य होते देखकर विधि का स्मरण करती हैं कि आप विधि बतलाइये कि मैं कैसे धैर्य धरूँ। वि० त्रि०)। (ग) 'सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा' इति। ☞यहाँ ग्रंथकारका सँभाल देखिये कि 'धनुष' उपमेयकी उपमा दोनों अर्धालियोंमें एक ही दी। प्रथम 'धनुष' को 'कुलिश' (वज्र) की उपमा दी—'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा'। इसीसे यहाँ उपमामें 'हीरा' कहा। क्योंकि हीरा भी वज्र कहलाता है, यथा 'माणिक्यमुक्ताफलविद्रुमानि गारुत्मकं पुष्पक वज्रनील' इत्यादि। धनुषको तो कुलिश कहा था पर श्रीरामजीके अंगोंकी कोमलताकी कोई उपमा वहाँ न दी थी। उनके तनको मृदु कहा था, अब तनकी कोमलताकी उपमा 'सिरस सुमन कन' की दी। (तात्पर्य कि "यहाँ 'मृदुता' उपमेय है, 'सिरस सुमन कन' उसका उपमान है। श्रीरामजीको अत्यन्त कोमल जान, उनके योग्य उस उपमेयको न पाया। इससे उनकी उपमा भी न दी, केवल उपमानके साथ 'सिरस सुमन कन' कहा।" यहाँ ललित अलंकार है।) ।

नोट—१ ऐसा जान पड़ता है कि ग्रंथकारने यहाँ श्रीहनुमन्नाटकके "कमठपृष्ठकठोरमिदं धनुर्मधुरमूर्तिरसौ रघुनंदनः। कथमधिज्यमनेन विधीयतामहह तात पणस्तव दारुणः ॥" (अंक १ श्लो० ६)। (प्र० सं० । इस श्लोक ही का विस्तारसे उल्लेख किया है। अर्थात् कहाँ तो कछुएकी पीठके समान कठोर यह धनुष और सुकुमार मूर्तिवाले ये रामचंद्र ! सो ये कैसे इस धनुषको चढ़ावेंगे ? हा ! हा ! हे पिताजी ! आपकी प्रतिज्ञा बड़ी दारुण है। मानसके 'अहह' 'तात' 'दारुन हठ ठानी' की जगह श्लोकमें क्रमशः 'अहह', 'तात', 'पणस्तव दारुण' हैं।

२ संत श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि "मृदुतामें केवल सिरिसके सुमनकी उपमा गृहीत है; यथा हनुमन्नाटके—'सद्यः पुरीपरिसरेषु शिरीष मद्वी, गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता'। इति. तो उसके कणका क्या कहना ? अथवा, 'दैवी विचित्रा गतिः', इस भाँतिसे समाधान करें तो अब सिरिस सुमनके कणसे हीरा बेधना है इति अन्यथार्थक लोकोक्तिः। भाव यह कि यह बात ऐसी है कि जैसी अनियम अनिश्चय बातका निश्चय कर लेना; किन्तु 'न भूतो न भविष्यति' इसे अन्यथा ही मानना कुतः"।

३ ☞(क) 'अति परिताप' के कारण धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी कोमलताका विरोध

[1] नोट—१६६१ में 'के' है

कितना सकरुण बन जाता है। श्रीसीताजीके हृदयकी कोमलता उपमाओंसे प्रकट है। और उसे प्रेमने और भी उभार दिया है, इसीसे तो राजकुमार इतने सुकुमार दीखते हैं। (ख) भावके प्रभावको देखिए चेतनको जड़ बना दिया, क्या राजा, क्या मंत्री, क्या जनता सभीकी मति मारी गई, सभी जड़वत् दिखते हैं। (ग) दूसरी ओर जड़ धनुषको चैतन्यकी भाँति ही अपील किया है कि तुम ही रघुपतिको 'निहार' कर कोमल हो जाओ! आह! इस समय कोमलताने 'रघुपति' शब्दकी महिमा भी भुला दी। यह है Personification का मजा। तुलसीदासके अलंकार कृत्रिम नहीं हैं। (लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'सकल सभा कै मति भै भोरी' इति। तात्पर्य्य कि 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा।', यह अयोग्य किसीको नहीं समझ पड़ता, इससे पाया गया कि सारी सभाकी सभा बावली हो गई, क्योंकि यदि सबकी बुद्धि भोरी न हो गई होती तो इतने लोगोंमेंसे कोई भी तो पिताको अवश्य सिखावन देता। राजा नहीं समझते और मंत्री इत्यादि कोई जो समझा नहीं रहे हैं, इसका कोई और कारण नहीं है।—यह निश्चय करती हैं। (ख) राजाको समझाना चाहिये। समझानेका उचित क्रम क्या है, वह यहाँ दिखाती हैं। प्रथम मंत्रियोंको उचित है कि राजाको समझावें। उनके पश्चात् बुद्धिमानोंको उचित है, वे भी न समझावें तब सभाके लोगोंको अधिकार है कि समुझावें। उसी क्रमसे यहाँ एकके पीछे दूसरेको कहा।—'सचिव सभय सिख०', 'बुधसमाज०', 'सकल सभा कै०'। (ग) 'अब मोहि संभुचाप गति तोरी', अब तुम्हारा ही आश्रय है, इस कथनसे पाया गया कि अभीतक और सबोंका आश्रय रहा। किस किसकी शरण गईं!—देवताओंके (कि गुरुता दूर कर दें), पिताकी बुद्धिके (पिता बुद्धिमान् हैं समझ जायँगे), मंत्रियोंके (राजा न समझेंगे तो ये समझा देंगे), बुध-समाजके (मंत्री न समझाएँगे तो बुधसमाज समझा देगा)। न राजा समझे न किसीने समझाया; अतः ये जो चार आश्रय थे वे टूट गये। कहीं शरण न मिली तब हार मानकर धनुषकी शरण गईं। (घ) 'गति तोरी' अर्थात् दूसरी शरण नहीं है। देवता, पिता, मंत्री इत्यादि सबका आश्रय छोड़कर धनुषका आश्रय लिया। इसीसे ग्रंथकारने प्रारंभमें लिखा कि 'सभय हृदय बिनवति जेहि तेही'। 'जेहि तेही' अर्थात् जोही बुद्धिके सम्मुख आया, उसीसे विनय करने लगीं। देवताओंसे प्रार्थना करती रहीं, उनको छोड़कर धनुषसे विनती करने लगीं, क्योंकि बहुत व्याकुल हैं। आगे कवि लिखते भी हैं—'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी'।

निज जड़ता लोगन्ह पर डारी। होहि[1] हरुअ रघुपतिहि निहारी॥७॥
अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं॥८॥

शब्दार्थ—हरुअ=हलका। लव निमेष—पृ० २७८, २ ६, २८०, दोहा २२५ (४) में देखिए।

अर्थ—अपनी जड़ता (कठोरता) लोगोंपर डालकर† श्रीरघुनाथजीको देखकर हलके हो जाओ॥७॥ श्रीसीताजीके मनमें अत्यन्त संताप हो रहा है। निमेषका एक लव भी वा लव और निमेष सैकड़ों युगोंके समान बीत रहा है॥८॥

१ होइहि—१६६१। † वि० त्रि० अर्थ करते हैं कि "तुमने लोगोंपर अपनी जड़ता डाल दी।" और लिखते हैं—"सीताजी अब धनुषसे प्रार्थना करती हैं, जड़तामें ही गुरुता है, जड़ परमाणु जितने ही घनीभूत होते जाते हैं, उतनी ही जड़ताकी वृद्धि होती जाती है, सो तुमने अपनी जड़ता लोगोंपर डाल दी है तभी तुम्हारे विषयमें सबकी मति भोरी हो गई है। अतः अब तुम हलके हो जाओ। अथवा जड़ता लोगों पर डाल दी है, अतः अब चेतन होकर रघुपतिको देखो और हलके हो जाओ"…।

टिप्पणी—१ (क) श्रीजानकीजी जनाती हैं कि "हे धनुष ! तुम जड़ हो, श्रीरामजीके योग्य नहीं हो, इसलिये अपनी जड़ता निकालकर हलके हो जाओ।" जड़ता निकालकर कहाँ रक्खी जाय ? उसका ठिकाना बताती हैं कि 'निज जड़ता लोगन्ह पर डारी । होहि०' । कैसे डालें ? चैतन्यपर जड़ता डालना दोष होगा ? उसपर कहती हैं कि 'सकल सभा कै मति भै भोरी' अर्थात् सारी सभाकी बुद्धि जड़ हो रही है, जबतक बुद्धि चैतन्य रहती है तबतक मनुष्यमें जड़ता नहीं आती, बुद्धि जड़ होनेसे मनुष्यमें जड़ता आ जाती है, इस तरह सारा समाज जड़वत् हो रहा है। जड़के ऊपर जड़ता छोड़ी जा सकती है, इसमें हर्ज नहीं । अतः विनय करती हैं कि अपनी भी जड़ता थोड़ी थोड़ी करके सबपर छोड़ दो, वे और भी जड़ हो जायेंगे और तुम हलके हो जाओगे। हलके हो जानेमें तुम्हारा गौरव जाता रहेगा, यह न समझो, क्योंकि उनकी बुद्धि अत्यन्त भोरी हो जानेसे वे यह समझ ही न पावेंगे कि धनुष हलका हो गया, सब यही जानेंगे कि रामजीने अत्यन्त कठोर धनुषको तोड़ डाला। उनके ऊपर जड़ता डाल देनेसे आपकी और श्रीरामजीकी दोनोंकी मर्यादा बनी रह जायेगी। क्योंकि यदि लोग जान गये कि रामजीके लिये तुम हलके हो गये तो फिर रामजीकी बड़ाईमें बट्टा लग जायगा, लोग कहेंगे कि अत्यन्त हलका होनेपर तोड़ा तो क्या बड़ाई है। अतः कहा कि अपनी जड़ता लोगोंपर डाल दो। इति भावः। [वैजनाथजीका मत है कि इसमें प्रेमकी यत्त दशा है]। (ख) 'होहि हरुअ रघुपतिहि निहारी' अर्थात् इनको देख लो, इनकी सुकुमारता कहती हैं–'रघुपतिहि निहारी'। अर्थात् इनको देख लो, इनकी सुकुमारताके अनुसार हलके हो जाओ। इतने हलके हो जाओ कि ये उठाकर तोड़ सकें। [अथवा, अपने स्वामीका श्रीरघुनाथजीसे संबंध जानकर हलके हो जाओ। (पं०)]

२ (क) 'अति परिताप सीय मन माहीं इति। 'मनही मन मनाव अकुलानी।' २५७ (५) से यहांतक श्रीसीताजीके मनका परिताप कहा। दूसरे चरणमें उनका 'अति परिताप' दिखाते हैं कि 'लव निमेष०'। (ख) लव और निमेष दोनोंका उल्लेख साभिप्राय है। उनका संताप कभी किंचित् कम हो जाता है और कभी अधिक हो जाता है। जब धीरज धरती हैं, देवताओंको मनाती हैं, तब कम हो जाता है। एक निमिष शतयुगसमान जान पड़ता है। और जब श्रीरामजीकी कोमलता और धनुषकी कठोरता समझ कर धीरज छूट जाता है तब संताप अधिक हो जाता है—एक लव सौ युगोंके समान बीतता है। इतना ही घटता बढ़ता है, यही दिखानेके लिए लव और निमेष दोनोंको कहा। अथवा, (ग) श्रीरामजी अब धनुषके निकट पहुँचने ही चाहते हैं, कुछ भी विलंब नहीं है, इसीसे घड़ी, पहर, क्षणका बीतना न कहकर लव और निमेषका बीतना कहते हैं। लव निमेषहीकी गुंजाइश है। (घ) लव और निमेष दो कहे इसीके संबंधसे यहाँ 'अति परिताप' कहते हैं। परितापमें निमेष सौ युगोंके समान बीतता है और 'अति परिताप' में एक लव सौ युगोंके समान बीतता है।

नोट—१ प्र० सं० में हमने इस प्रकार लिखा था कि "ऊपर श्रीजानकीजीकी दो दशाएँ दिखा आए। एक 'सुर मनाव धरि धीर', दूसरी 'पितु पन सुमिरि बहुरि मन छोभा'। अब यहाँ तीसरी दशा दिखाते हैं कि 'लव निमेष जुग सय सम जाहीं।' निमेष तीन लवका होता है। 'लव निमेष' का अर्थ 'निमेषका एक लव' लेनेसे भाव यह होता है कि इस समय एक लवमात्र सौ युगोंके समान बीत रहा है। इससे ध्वनितार्थ यह है कि पूर्वकी दो दशाएँ तीन लव (पूरे निमेष) और दो लव की कही गईं। अर्थात् जब 'सुर मनाव धरि धीर' तब तीन लव सौ युगोंके समान बीतता था और जब पिताका प्रण स्मरण हो आता था तब दो लव सौ युगोंके समान हो जाता था। इस भावके अनुसार प्रथम दशामें 'ताप', दूसरीमें 'परिताप' और तीसरीमें 'अति परिताप' हुआ। २—पंजाबीजी लिखते हैं कि 'अथवा बड़ा पश्चात्ताप है कि फुलवारीमें मैंने क्यों न जयमाल डाल दिया, अवसर चूक गया, अब न जाने क्या होगा। अतः 'अति परिताप' है।

दोहा—प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल ।
खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल ॥२५८॥

अर्थ—प्रभुको देखकर फिर पृथ्वीको देखती हैं। (ऐसा करनेमें उनके) चंचल नेत्र ऐसे शोभित हो रहे हैं मानों कामरूपी दो मछलियाँ चंद्रमंडल रूपी 'डोल' में खेल रही हैं ॥२५८॥ [वा, कामकी दो मछलियाँ चन्द्रमंडलपर झूल रही हैं। (दीनजी)]

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि'। भाव कि श्रीरामजीको देखकर सकुचा जाती हैं तब निगाह नीची करके पृथ्वीकी ओर देखने लगती हैं। यथा 'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बर बरनी। २। ११७। ३।', 'गुर नृप भरत सभा अवलोकी। सकुचि राम फिरि अवनि बिलोकी। २। ३१३।' (ख) पूर्व लिखा था कि 'गुरुजन लाज समाज बड़ि देखि सीय सकुचानि। लगी बिलोकन सखिन्ह तन रघुबीरहि उर आनि। २४८।' श्रीरामजीको देखकर बड़ोंकी लाज लगी तब सखियोंकी ओर देखने लगीं यह वहाँ कहा। पर जब रघुवीरको बारबार देखती हैं, यथा 'देखि देखि रघुबीरतन सुर मनाव धरि धीर। २५७।' तब लजानेपर कहाँ देखती हैं, यह अबतक न खुला था, उसीको यहाँ खोलते हैं कि 'पुनि चितव महि'। (ग) ["प्रभु पद सामर्थ्य जनानेके विचारसे प्रयुक्त हुआ है। भाव यह कि मैंने आपको स्वामी मान लिया सो आप समर्थ हैं, फिर भी मुझे कष्ट हो!"—(पंजाबीजी) ।]

नोट—१ पृथ्वीकी ओर देखनेके अनेक भाव महानुभावोंने कहे हैं। जैसे कि—१ पृथ्वीमें गच है, उसमें श्रीरामजीका प्रतिबिंब देख पड़ता है। वा, २—आप अयोनिजा हैं, पृथ्वी आपकी माता हैं। मातासे प्रार्थना करती हैं कि श्रीरामजी कोमल हैं, अभीतक आप धनुषको थामें रहीं इसीसे तो कोई राजा 'तिलु भरि भूमि न सके छुड़ाई; पर अब उसे छोड़ दीजिए। वा, ३ - मातासे कन्या बरकी बात कैसे कहे? इसीसे प्रभुकी ओर देखकर फिर पृथ्वीकी ओर निगाह डालकर इशारेसे जनाती हैं कि अब मैं दूसरेको नहीं ग्रहण कर सकती और उधर श्रीरामजीसे भी यही इशारा है कि यदि मुझे इन चरणोंकी प्राप्ति न हुई तो मैं पुनः पृथ्वीमें समा जाऊँगी। वा, ४—पृथ्वीसे कहती हैं कि ब्रह्माको साथ लेकर जिनसे भूभारहरणकी प्रार्थना की थी, वे ही तेरे सामने प्रत्यक्ष खड़े हैं और तेरा भार बिना मेरे पाणिग्रहणके नहीं हरण हो सकता, इससे अब क्यों मूक दशामें प्राप्त है। और प्रभुसे जनाती हैं कि पृथ्वीके लिये आपने बराह रूप धारण किया था, मैं उसकी पुत्री हूँ, तो मेरे लिये धनुष क्यों नहीं तोड़ते? वा, ५—गिरिजाजीने कहा था कि आप हमारे शील सनेहको जानते हैं, तब आप मेरे खिन्न चित्तपर कृपा करुणा क्यों नहीं करते? मैं पृथ्वीकी गोदमें समा जाऊँगी। वा, ६ - भूमिभार उतारना है तो शीघ्र मुझे अंगीकार कीजिए।-(मा० ता० वि० में इसी तरह और भी प्रायः अस्सी भाव लिखे हुए हैं) । [संकोचमें स्वाभाविक ही दृष्टि नीचेकी ओर चली जाती है]

❊ बिधुमंडल डोल ❊

पं० रामकुमारजी—'राजत लोचन लोल' कहकर नेत्रोंके चलने (चाल) की शोभा और 'मनसिज मीन' की उपमा देकर नेत्रोंकी शोभा कही। तात्पर्य्य कि नेत्र और नेत्रोंका व्यापार दोनोंही शोभित हैं। जलके छोटे ह्रद (तालाब या कुंड) को डोल कहते हैं। बिधुमंडलको डोल कहा क्योंकि विधुमंडल जलमय है। दो मछलियाँ खेलती हैं अर्थात् क्रीड़ा करती हैं। श्रीजानकीजीका मुखमंडल चंद्रमंडल है, दोनों नेत्र दो मछलियाँ हैं। खेलती हैं अर्थात् आती जाती हैं। प्रभुको देखती हैं फिर पृथ्वीकी ओर देखती हैं, यही खेलना है, जैसे मछली 'डोल' में आती जाती है। मछलीको जल चाहिए सो आगे लिखते ही हैं, 'लोचन जल रह लोचन कोना।' पहले भी लिख आए हैं कि "भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर"। विधुमंडल

रूपी डोल अचल है, वैसे ही मुखमंडल भी अचल है, (सिर हिलाती नहीं हैं क्योंकि) लजा रही हैं कि सिर बार-बार ऊपर नीचे होनेसे लोग जान जायेंगे कि ये श्रीरामजीको देख रही हैं; अतएव नेत्रभर चलते हैं, ग्रीवा हिलने नहीं पाती। अथवा, जैसे विधुमंडल चलता है वैसे ही किंचित्-किंचित् मुखमंलडल भी डोलता है; जैसे मछली खड़ी हो जाती है और चलने लगती है वैसेही रामजीको देखकर नेत्र किंचित् थम जाते हैं।

करुणासिंधुजीने भी 'डोल' का अर्थ 'कुंड' लिखा है। उनका कथन है कि 'मछलीको पूर्णसुख जलके कुंडमें ही होगा, अतः हिंडोला अर्थ संगत नहीं। मुखमंडल चंद्रमंडल है, नेत्रके गोलक इसके कुंड हैं, दोनों पुतलियाँ कामकी दो मछलियाँ हैं। ऊपर देखना फिर नीचे देखना पुतलीका ऊपर नीचे आना (जाना) मछलियोंका कुंडमें खेलना है।" यहाँ प्रेमजल परिपूर्ण है, इसलिये खेलना कुलेल करना कहा गया।

पांड़ेजी, बाबा हरिहरप्रसादजी और बैजनाथदासजी ने 'डोल' का अर्थ 'हिंडोल' किया है। उत्तरार्ध-का अर्थ यह किया है कि "मानों कामदेव (की वा रूपी) दो मछलियाँ चंद्रमंडलमें (बैठकर) हिंडोल खेल रही हैं"। किसीने 'चंद्रमंडलमें डोल' खेलना और किसीने 'चंद्रमंडलरूपी डोलमें' खेलना लिखा है। वीरकविजीने 'डोल' का अर्थ 'हिलना' लिखा है, वे अर्थ करते हैं—"मानों चंद्रमंडल हिल रहा है, उसमें दो कामदेव मछलीरूपधारी खेल रहे हों"।—यह अर्थ भी बाबा हरिहरप्रसादजीकी टीका में का है। प्रधान अर्थ पहले दिया है फिर यह दूसरा अर्थ लिखा है।

हिंदी शब्दसागर में 'डोल' शब्द, (पुल्लिग, संस्कृत दोल) के चार अर्थ लिखे हैं—डोल पानी भरनेका, डोली, हिंडोला और जहाजका मस्तूल। 'हिंडोलना' अर्थके दो प्रमाण भी उसमें दिए हैं—एक तो सूरदासजी के 'सघन कुञ्जमें डोल बनायो, झूलत हैं पिय प्यारी' इस पदका, और दूसरे तुलसीदासजीके इसी दोहेको उद्धृत किया गया है।

प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि 'हिंडोला' अर्थ ठीक है क्योंकि श्रीरामजी ऊँचे मंच पर हैं। (? मंच पर से चल चुके हैं उस समयकी यह बात है)। ☞सीताजी एक बार उनकी ओर देखती हैं, फिर पृथ्वीकी ओर, इस प्रकार बारम्बार देखती हैं। ऊपरसे नीचे दृष्टिका आना और फिर ऊपरको जाना झूलाका सा ऊपर नीचे जाना आना है। इसीकी उत्प्रेक्षा इस दोहेके उत्तरार्द्धमें है। यदि ऐसा अर्थ न किया जायगा तो उत्प्रेक्षा बिगड़ जायगी जो एक प्रकारसे बड़ा भारी साहित्यिक दोष होगा। 'डोल' का अर्थ एक तो किसी कोशमें 'कुण्ड' नहीं मिलता, दूसरे इस अर्थमें यह शब्द यहां व्यर्थही सा होगा, क्योंकि 'खेलत' ही से वह शब्द सूचित हो जाता है, मछलियाँ जलहीमें खेलेंगी। उत्तरार्धका अन्वय यों होगा 'जनु मनसिजकी युग मीन विधुमंडल में' 'डोल खेलत' अर्थात् हिंडोला झूलती हैं।

गौड़जी कहते हैं कि—(१) "संस्कृतमें 'खेलनम्' का वाच्यार्थ 'हिलना डोलना' है, 'कल्लोल' लक्ष्यार्थ है। यहाँ किशोरीजी चिंतित हैं। लक्ष्यार्थ असंगत है। यहां 'खेलत' का अर्थ 'झूलती हैं' करना चाहिए।"

(२) 'सहजहि चले सकल जग स्वामी।' मंचसे शिवचाप कुछ दूरी पर है। भगवान्के चाप-समीप जाते जाते भरमें पुरबासी, सीताजीकी माता और सीताजीकी विकलता और लक्ष्मणजीका सबको सजग करना ये सारी घटनाएँ हुई हैं—। रघुनाथजी इस समय ऊंचे मंच पर नहीं हैं। उतरकर नीचे जा रहे हैं। इसी समय सीताजीकी दशाका वर्णन 'प्रभुहि चितइ···डोल' इस दोहेसे किया गया है। निगाह एक बार श्रीरघुनाथजीकी ओर जाती है, दूसरी बार पृथ्वीपर। सिरके बिना हिले दृष्टिकी यह एक क्रिया हिंडोलेपर झूलनेके समान है। इस अनुपम उत्प्रेक्षामें यह व्यंग भी है कि किशोरीजी बड़ी दुविधामें हैं। एक ओर 'प्रीति पुरातन', 'नारद बचन', 'पार्वतीका बरदान' आश्वासन देता है। दूसरी ओर पनकी कठिनाई घबड़ाहट पैदा करती है। 'दोल' का अर्थ 'घोर चिंता और सन्देह' भी है। संदेह और चित्तकी चंचलताके लिये अन्यत्र भी 'दोला' का काव्योंमें प्रयोग हुआ है। 'आसीत्सदोलावल चित्तवृत्तिः' (रघुवंश), 'संदेह दोला-

मारोप्यते' (कादम्बरी)। यहां व्यंग्यसे उत्प्रेक्षा द्वारा संदेह और चिन्ताको चित्रित किया है। यहां अनुक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

☞चन्द्रमण्डल 'डोल' है, तो प्रेम और लज्जा हिंडोला झुलानेवाले हैं।

प० प० प्र० लिखते हैं कि "हिंडोलना अर्थ ही समयोचित है। मुखमंडल डोल है, क्योंकि वह ऊपर उठता है और नीचे झुकता है। नेत्रकी पुतलियाँ रामजीका अनुगमन करती हैं, अतः दाहिने बाएँ तरफ़ चलायमान हो रही हैं, यही युग मीनोंका खेलना और हिंडोलाका झूलना है"।

श्रीत्रिपाठीजी 'डोल' का अर्थ पानी भरनेवाला डोल लेते हैं। शेष भाव प्रायः वही हैं जो पं० रामकुमारजीने लिखे हैं। "कामदेव मीनकेतन हैं, आँखोंकी उपमा मीनसे दी जाती हैं, सुन्दरताके उत्कर्षके लिये जनकनन्दिनीकी आँखोंकी उपमा मीनकेतनके मीनसे दी गई और मुखकी उपमा चन्द्ररूपी डोल से दी गई। डोल स्थिर रहता है, मछलियाँ ही चलती हैं, इसी भाँति मुख स्थिर है केवल नेत्र चंचल हैं।" "हम लोगोंका भाषाज्ञान बहुत संकुचित है, अतः अर्थ करनेमें चूक हो जाती है। जहाँके लोग डोलसे अपरिचित हैं, डोलका अर्थ 'हिंडोला' करते हैं। पर पानीके डोलमें ही मछलीका खेल बन सकता है, हिंडोलेपर तो उनका छटपटानाही संभव है।" बहुत हालतक डोलसे पानी कुएँसे खींचा जाता था, "पर अब डोल दिखाई नहीं पड़ता। धनी लोगोंके यहाँ शीशेके डोल अब भी देखे जाते हैं, जिनमें सुनहली छोटी छोटी मछलियाँ छोड़ दी जाती हैं, वे नीचे ऊपर तैरा करती हैं और उनकी बड़ी शोभा होती है।" (वि० त्रि०)।

श्रीराजबहादुर लमगोड़ाजी—१ इस चित्रण पर 'चित्रण कला' निछावर है। काव्यकला इसीसे 'चित्रणकला' से श्रेष्ठ गिनी जाती है कि उसमें वह संभव है जो चित्रकार भी नहीं कर सकता। २—दोहेमें करुण रसके अन्दर शृंगारके माधुर्य्यका निर्वाह कलाका चमत्कार है। 'राजत' और 'खेलत' शब्द इसकी गवाही दे रहे हैं। लेकिन याद रहे कि शृङ्गारका माधुर्य्य 'प्रभाव रूप' है। सीताजी तो 'करुण कोमलता लज्जा' में ही हैं। और 'प्रभाव' कैसा ठीक निशानेपर पड़ा, यह आगे देखियेगा। —'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना।' चौपाइयोंमें करुणा और लज्जाका संघर्ष तो है ही, शृङ्गारका माधुर्य्य मिसालों (उदाहरणों) में कूट कूट भरा है।

गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज-निसा अवलोकी ॥१॥
लोचन जलु रह लोचन कोना। जैसे परम कृपन कर सोना ॥२॥

शब्दार्थ—अलि = भ्रमर। अलिनि = भ्रमरी।

अर्थ—वाणीरूपी भौंरीको मुखकमलने रोक रक्खा। लज्जारूपी रात्रिको देखकर वह प्रगट नहीं होती। अर्थात् लाजके मारे वे मुँहसे कुछ कहती नहीं ॥ १ ॥ नेत्रोंका जल नेत्रोंके ही कोने (कोए) में रह गया, जैसे परम कंजूस (सूम) का सोना (कोनेहीमें गड़ा रहता है) ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रोकी' से जनाया कि श्रीजानकीजी मुखसे कुछ कहना चाहती हैं, इच्छा होती है कि सखियोंसे कहें जिसमें वे हमको समझा दें, हमारा सन्देह दूर कर दें। जैसे श्रीसुनयनाजीने सखीसे कहा तो उसके समझानेसे दुःख दूर हो गया।

श्रीसीताजीके मनमें 'अति परिताप' है, यह ऊपर कह चुके हैं। उस 'अति परिताप' को वे वचनसे कहना चाहती हैं, क्योंकि कहनेसे दुःख कुछ घट जाता है, यथा 'कहेहू ते कछु दुख घटि होइ। ५-१५।'; पर लज्जाके मारे कहती नहीं। (ख) 'मुख पंकज रोकी' कहनेसे सूचित होता है कि लज्जाके कारण मुख विकसित नहीं है, बन्द है, जैसे रात्रिमें कमल संपुटित हो जाता है वैसेही इनका मुख संपुटित है। (ग)

'प्रगट न लाज निसा अवलोकी' का भाव कि भ्रमरी चाहे तो (उसकी पाँखुरी काटकर) कमलसे बाहर निकल जाय, पर वह रात्रिको देखकर नहीं निकलती, रात्रिकी मर्यादाकी रक्षा करती है। वैसेही श्रीजानकीजी चाहें तो सखियोंसे अपना दुःख कह दें पर लज्जाकी मर्यादाकी रक्षाके निमित्त वे नहीं कहतीं। (घ) यहाँ तक सीताजीके मन, वचन और कर्म तीनोंका हाल कहा। यथा 'अति परिताप सीय मन माहीं' से मन, 'गिरा अलिनि ···' से वचन और 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि···'से कर्मकी दशा कही। (ङ) यहाँ 'परंपरित' रूपक है।

२ (क) 'लोचन जल···' इति। प्रथम लोचनमें जलका भरना कह आए, यथा 'भरे बिलोचन प्रेम जल पुलकावली सरीर। २५७।'; वह 'लोचन जल' वही पूर्व-कथित जल है। पूर्व जल कहा, अब यहाँ उस जलकी दशा कहते हैं कि वह जल जो प्रेमके कारण नेत्रोंमें भरा हुआ है ज्योंका त्यों नेत्रोंके कोयेमें स्थित है। वे न तो उसे गिरने ही देती हैं और न पोछती ही हैं, क्योंकि यदि वह गिर जाय तो लोग जान लेंगे कि जानकीजी रो रही हैं और यदि पोछती हैं तो भी वही बात होगी। लाजके मारे प्रेमाश्रुको जहाँकी तहाँ प्रबल प्रयत्नसे रोके हुए हैं। (ख)-'जैसे परम कृपन कर सोना' इति। 'परम कृपन' कहकर कृपण दो प्रकारके जनाए। एक कृपण (साधारण), दूसरा 'परम कृपण'। जो दूसरोंको न दे पर स्वयं खाले वह कृपण है, और जो न दूसरेको दे और न स्वयं ही उसे भोग करे वह 'परम कृपण' है। इसका सोना पृथ्वीमें घरके एक कोनेमें गड़ा ही रहता है। (ग) 'परम कृपन' के सोनेका दृष्टान्त देकर जनाते हैं कि जैसे वह अपने सोनेको कोनेमें गाड़ रखता है वैसेही ये प्रेमजलको नेत्रोंमें गाड़े हुए हैं। जल वहीं इस तरह गड़ा हुआ है कि किसीको प्रगट नहीं हो पाता। (घ) कृपण तो प्रयोजन पड़ जानेपर सोनेको निकालता भी है, पर जानकीजीने उस जलको नहीं निकाला, इसीसे कृपणकी उपमा न देकर 'परम कृपण' की उपमा दी। [पुनः, भाव यह कि परम कृपणको भी देनेकी इच्छा हो जाती है, वह सोना हाथमें ले भी लेता है, पर परम कृपणता उसकी यही है कि दे नहीं सकता, बड़े यत्नसे मनको रोक लेता है। वैसे ही प्रेमाश्रु डबडबाकर आँखोंके कोनेतक आ गए पर इन्होंने बड़े यत्नसे उन्हें जहाँका तहाँ रोक रक्खा। (वि० त्रि०)] (ङ) यह जल श्रीरामजीके प्रेमका जल है, इसीसे इसको 'सोना' कहा। सोना सबके पास नहीं होता, बड़े भाग्यवानके ही घर होता है, वैसे ही प्रेमजल सबके नहीं होता बड़े भाग्यवान्के ही होता है। और ऐसा प्रेमजल तो जानकीजीके ही पास है।—'भरे बिलोचन प्रेमजल०'। उदाहरण अलंकार है।

श्रीराजारामशरणजी—'लोचन···सोना'। यह अर्धाली तो ऐसी है कि मेरी आलोचना-शक्ति सदा व्याख्या करनेमें जवाब दे देती है। यहां माधुर्य दोरुखा है। 'लोचन' सीताजीके और जल वही है जो रामजीकी श्यामल मूर्तिको देखकर प्रेमके कारण पहले ही वर्णित हो चुका है। 'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर'। हां, आगे परितापने इसमें कितनी हर्षकी मात्रा रहने दी और कितनी करुणाकी बढ़ा दी कहते नहीं बनता मगर 'सोने' की मिसाल (दृष्टान्त) बता रही है कि माधुर्य्य बिलकुल गया नहीं। लज्जाका बुरा हो कि उसने 'कृपणता ला दी और आँसूको गिरने न दिया, मगर भाई ! बुरा भी क्यों हो ? लोचनके कोनेकी शोभा कहाँ रहती।

यह पद इसीसे 'जेबुन्निसां' के पदसे बढ़ गया है। कुछ शब्द भूलते हैं मगर उसके पदका मज़मून यह है—'दुनियां में दुरे यकता (एकलौता मोती) 'मौजूद' कम पाया जाता है, 'बजुज़ अश्के बुताने सुर्मा आलूदा' (सिवाये प्रेमिकाओंके सुर्मासे मिश्रित आँसुओं के)। इस पदमें केवल कृत्रिम शृङ्गारका मज़ा है, मगर तुलसीके पदमें कितने भाव हैं कौन जाने ? कुछ भाव ऊपर लिखा है।

सत्य है, आपत्ति भी मज़ेकी चीज़ है—
भाव-संघर्षके गीतोंमें सीताजीको 'प्रतीति' का अनमोल मोती मिल ही गया। कारण कि संकोचने धैर्य ला दिया और भाव-निरीक्षणमें वह मोती मिला जिसकी व्याख्या आगेके पदोंमें है।

सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी। धरि धीरज प्रतीति उर आनी ॥३॥
तन मन बचन मोर पनु* साचा। रघुपति-पद-सरोज चितु† राचा ॥४॥

अर्थ—अपनी व्याकुलताको बहुत बढ़ी जानकर सकुचा गईं। धीरज धरकर हृदयमें विश्वास लाईं ॥३॥ तन, मन और वचनसे मेरा प्रण सच्चा है, श्रीरघुनाथजीके चरण-कमलोंमें मेरा चित्त अनुरक्त है ॥४॥

टिप्पणी—१ (क) 'सकुची ब्याकुलता बड़ि जानी' इति। व्याकुलता प्रगट हो जानेसे भी लाज लगेगी। लोग क्या कहेंगे? सकुचीं कि मैं इतनी व्याकुल हो गई हूँ, कोई जान न गया हो। (ख) गोस्वामीजीने श्रीसीताजीकी 'लाज' वा संकोच बहुत स्थानोंमें वर्णन किया है। प्रभुको देखनेमें लाज, यथा 'प्रभुहि चितै पुनि चितव महि'; बोलनेमें लाज, यथा 'गिरा अलिनि मुखपंकज रोकी। प्रगट न लाज०'। सिरके हिलनेमें लाज, यथा 'खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधुमंडल डोल'; आँखोंसे जलके गिरनेमें एवं आँसू पोंछनेमें लाज, यथा 'लोचन जल रह लोचन कोना'; दूसरेसे कहनेमें संकोच, यथा 'बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा' और व्याकुलताके प्रकट होनेमें लाज, यथा 'सकुची ब्याकुलता०' इत्यादि। इस तरह आदिसे अन्ततक संकोच दिखाया। (ग) 'धरि धीरज प्रतीति उर आनी' इति। पूर्व धीरज धरना चाहती थीं पर धैर्य न आता था, यथा 'बिधि केहि भाँति धरउँ उर धीरा'। (पूर्व भी धीरज धरना कहा था, यथा 'सुर मनाव धरि धीर'। पर उस धीरजमें और यहाँके धीरजमें भेद है। पूर्वका 'धीर' सुकृत और देवताओंका दिया हुआ था पर उसमें भी संदेह बना ही रहा। 'धीरज' शब्द 'धीर' से बड़ा है। शब्द गुण भी विचारिए)। अब धीरज धारण किया। पूर्व प्रतीत न होने पाती थी, यथा 'सिरस सुमन कन बेधिअ हीरा', अब हृदयमें प्रतीति ले आईं। कैसे प्रतीति लाईं यह आगे कहते हैं।

वि० त्रि०—क्षोभ व्याकुलतामें परिणत हुआ और व्याकुलता भी खूब बढ़ी, परन्तु जनकनन्दिनीने अपनेको उस व्याकुलताका द्रष्टा माना, इससे व्याकुलता रुकी, संकोचका उदय हुआ, धैर्य-धारणकी ओर चित्तकी वृत्ति गई, परन्तु किस विश्वासपर धैर्य-धारण किया जाय? विश्वासके लिये मूलभित्ति चाहिये। सो श्रुति ही मूलभित्ति हुई—'यद्यत्कामयते तत्तल्लभते' जिसकी कामना करे उसकी प्राप्ति होती है, पर कामना सच्ची होनी चाहिये। सो यह विश्वास हुआ कि मनसा वाचा कर्मणा मेरा प्रण सच्चा है।

टिप्पणी—२ 'तन मन बचन मोर पनु साचा।०' इति। (क) मेरा प्रण सच्चा है, यह कहकर दूसरे चरणमें अपना 'पन' बताती हैं कि 'रघुपति पद सरोजु चितु राचा'। यह मेरा चित्त दूसरेका नहीं हो सकता। यह ही प्रेमप्रण है। आगे यह कहनेको हैं कि 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू', इसीसे प्रथम अपने स्नेहको सत्य कहती हैं। (ख) पुरवासियोंने श्रीरामके हाथसे धनुष टूटनेके लिये अपने सारे सुकृत लगा दिए और श्रीजानकीजी अपना स्नेह लगा रही हैं क्योंकि इनकी भावना स्नेहकी है, यथा 'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया।' स्नेह सब सुकृतोंसे अधिक है, यथा 'सकल सुकृत फल राम सनेहू'। (ग) 'रघुपति-पद-सरोज चितु राचा' यह दास्यभाव है, इसीसे आगे कहती हैं कि 'तौ भगवान सकल उर बासी। करिहि मोहि रघुबर कै दासी।' अतएव 'मोर पनु साचा' इत्यादिका भाव यह हुआ कि यदि श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें सत्य ही मेरा दास्यभाव है तो भगवान् मुझको उनकी दासी करेंगे। पाद-सेवन भक्ति लक्ष्मीजीकी भी है और श्रीजानकीजीकी भी, यथा 'कमला चरनन्हि मन' और 'कोशलेंद्रपदकंज मंजुलौ कोमलावजमहेशवंदितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्यमनभृंगसंगिनौ। ७ मं० २।' (घ) तन, मन वचनका प्रेम, यथा 'प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि' (यह तनका प्रेम है)। 'रघुपति पद सरोज चितु राचा' (यह मनका है) और 'सुर मनाव धरि धीर' (यह वचनका

* मन—१७०४। † मन—१७०४, को० रा०।

है)। (ङ) 'पद सरोज' कहकर चरणोंका आदर जनाया कि उनके चरणोंमें मेरा मन भ्रमरकी तरह प्रेम किये हुए है, यथा 'राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजै न पासू। १७।४।' एवं 'मन मधुपहि पन करि तुलसी रघुपति-पद कमल बसैहौं' इत्यादि। कमल और मधुकरका घनिष्ठ संबन्ध है।

तौ भगवानु सकल उर बासी। करिहि[1] मोहि रघुबर कै दासी ॥५॥
जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू ॥६॥

अर्थ—तो सबके हृदयमें निवास करनेवाले भगवान् मुझे रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीकी दासी (अवश्य) बनायेंगे ॥ ५ ॥ जिसका जिसपर सत्य स्नेह होता है वह उसको (अवश्य मिलता) है इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'तौ' के सम्बन्धसे पूर्वकी अर्धालीमें 'जौ' अर्थ करनेमें कह लेना चाहिए। (ख) 'भगवान' इति। जीवकी गति और अगति दोनों भगवान्के हाथ है। यथा 'वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति।,' 'गति अगति जीवकी सब हरि हाथ तुम्हारे'। इसीसे रघुपतिकी दासी बना देना भगवान्के हाथकी बात है। अभिप्रायसे पाया गया कि सत्य सनेहके फलदाता भगवान् हैं। श्रीरामजी माधुर्य्य को ग्रहण किए हुए हैं इसीसे रघुपतिसे भगवान्को पृथक् कहती हैं। 'सकल-उर बासी' इति। भगवान् सबके हृदयमें बसते हैं, यथा 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। गीता।' हृदयका भाव जानते हैं, यथा 'सबके मन मंदिर बसहु जानहु भाव कुभाव।' भाव कि सबके हृदयकी जानते हैं, मेरे हृदयमें भी जो सत्य स्नेह है उसे जानकर मेरा मनोरथ पूर्ण करेंगे। (ख) 'भगवान' से ऐश्वर्य, 'सकल उरबासी' से जानकारी और 'करिहि मोहि रघुबर कै दासी' से उदारता गुण कहा। तीनों गुणोंसे भगवान्की पूर्ण शोभा है। (ग) पुनः, 'भगवान' शब्द देकर पंचदेवाराधनकी पूर्ति की। पंचदेवका स्मरण करके पीछे रघुबरकी दासी करनेको कहती हैं। इससे पाया गया कि पंचदेवोपासनासे रघुपति-भक्ति मिलती है। दासी होना रघुपति-भक्ति है। (घ) विधि, हरि, हर तीनों देवोंका स्मरण किया, यथा—'होउ प्रसन्न महेस भवानी', 'तौ भगवान०', 'बिधि केहि भाँति०'।

नोट—१ 'भगवान' का भाव यह है कि और देवता और सुकृतोंका फल देते हैं पर स्नेह देना, यह सामर्थ्य भगवान्को ही है, अन्य को नहीं। इससे यह पाया जाता है कि भगवान् और हैं और रघुबर और हैं, ऐसा है नहीं, वही रघुबर भगवान् ऐश्वर्यमें, रघुबर माधुर्य में।

टिप्पणी—२ (क) 'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू' इति। तात्पर्य कि जिसका भी जिसपर सच्चा स्नेह हो उसको वह अवश्य मिलता है यह प्रामाणिक बात है, सिद्धान्त है, कुछ हमारे ही लिए ऐसा हो यह बात नहीं। अपना सत्य सनेह पहिले ही कह चुकी हैं-'तन मन बचन०'। तन-मन-बचन तीनोंसे स्नेह होना 'सच स्नेह' कहलाता है। (ख) 'तेहि मिलै' अर्थात् बहुत शीघ्र मिलता है। यह भाव दिखाने के लिए ही वर्तमान कालिक क्रिया 'मिलै' (मिलता है) दी। यदि विलम्बसे मिलना होता तो 'मिली' 'मिलिहि' ऐसा कहतीं। (ग) 'न कछु संदेहू'। भाव कि सत्य स्नेहके फलदाता भगवान् हैं, इसीसे मिलनेमें सन्देह नहीं है। अथवा भाव कि अन्य सुकृतोंसे चाहे मिलनेमें कुछ सन्देह भी हो पर सत्य स्नेहसे मिलनेमें किंचित् सन्देह नहीं। अथवा, इस बातका कहीं पुष्ट प्रमाण होगा इसीसे कहती हैं कि 'न कछु संदेहू'। (श्रुति कहती है-'यद्यत्कामयते तत्तल्लभते'। वि० त्रि०)। पुनः भाव कि (घ) प्रथम श्रीरामजीके मिलनेमें संदेह बना रहा, अब इस बातको समझनेसे, इस बातके स्मरण आ जानेसे कि 'जेहि कर०' कहती हैं 'न कछु संदेहू'। ['प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो' यह बिनयमें कहा है। यहाँ 'रघुपति पद सरोज

१ करिहहिं—पाठान्तर।

मनु राचा' में प्रेमकी दृढ़ता दिखाइ और 'तौ भगवान सकल उरबासी। करिहिं मोहिं रघुबर कै दासी' में प्रीतिकी दृढ़ता कही, इसीसे धैर्य आ गया, यह 'सो तेहि मिलै न कछु संदेहू' से स्पष्ट है। उधर श्रीरामजीने धनुषको ताका (वै०)]

वि० त्रि०—भाव यह कि अपनी पुत्रीके देनेका मुख्य अधिकार पिताको है। पर वे तो अपनी प्रतिज्ञासे बद्ध हो रहे हैं, कहते हैं 'कुँअरि कुँआरि रहउ का करऊँ'; अतः जगत्पिताका भरोसा है कि वे मेरे मनोरथको पूर्ण करेंगे। जिस भाँति मेरे पिता प्रतिज्ञासे बँधे हैं, उसी भाँति जगत्पिता अपने वचन (वेद वाक्य) से बँधे हैं। यहाँ अनुवादरूपसे श्रुति ही का उल्लेख है।

नोट—२ 'तन मन बचन मोर पन०' में 'जो' पद न देकर जनाया कि हमारा स्नेह तो सच्चा है ही, इसमें 'जो' की बात ही नहीं, मुझे तो रामजी मिलेंगे ही पर यह बात सभीके लिए सत्य है कि जिसका जिस पर प्रेम होगा, पर सच्चा, उसको वह मिलेगा। सत्य प्रेमसे रामजी झट मिल जाते हैं और तरह नहीं क्योंकि 'रामहि केवल प्रेम पियारा'। ३—कबीर साहबका वचन है-'आशा तहँ बासा', 'जाकी सुरति लगी है जहाँ। कहै कबीर सो पहुँचे तहाँ'। जिसकी जहाँ आशा लगी है वह वहीं पहुँच जाता है। यहाँ जानेका भी प्रयोजन नहीं। वह स्वयं आ कर प्राप्त हो जाते हैं। सच्चा स्नेह चाहिए जैसे मछली का जलसे। यथा 'निगमअगम साहिब सुगम राम साँचिली चाह। अंबु असन अवलोकियत सुलभ सबै जग माँहि। (दो० ८०)। अर्थात् भोजन और जल पर सबका स्नेह है इससे वह सबसे सुलभ है। इसी तरह यदि वेद शास्त्रोंको भी अगम श्रीरामजीके लिए सच्चा प्रेम हो तो वे भी सुलभ हो जाते हैं। ४—'करिहि मोहि रघुबर कै दासी ॥ जेहि के०' में आत्मतुष्टि अलंकार है। क्योंकि यहाँ अपने स्वभाव का दृढ़ विश्वास कह रही हैं।

श्रीराजारामशरणजी—(२५६.१-२ वाले नोट से श्रृंखलाबद्ध) वह अनमोल मोती है—'जेहि के जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू'। यह है प्रेमके विश्वासका मूल मन्त्र। पदोंमें कितना प्रेम, कितना ईश्वर पर विश्वास, कितनी प्रणकी दृढ़ता और कितना धैर्य है, यह विचारणीय है। २—कविवर शैक्सपियरने भी Merchant of Venice 'वेनिसके सौदागर' नामी नाटकमें कुछ इस मूल मन्त्रकी व्याख्या की है। वहाँ भी पिताके प्रण और हृदयकी भावनामें बहिरंग अन्तर था। पोर्शियाको इसीसे मैं श्रीसीताजीकी सहेली कहा करता हूँ। कारण कि वहाँ पर भी भगवान् पर विश्वास, धैर्य, आत्मत्याग और भाव-संयम हैं। लेकिन वहाँ सीताजीकी गंभीरता नहीं है और मूलमंत्र भी इतना स्पष्ट नहीं लिखा गया। ३—दोनों कवियों ने ऐसे प्रेमका परिणाम सुखमय लिखा है। इसके विपरीत मर्यादावलंघनवाले प्रेमका परिणाम नाटककार शैक्सपियरने भी 'ओथेलो' नामी नाटकमें दुःखांतकही लिखा है। रोमियो और जूलियटका भी प्रेम शुद्ध है, मगर वहां लड़कपनकी जल्दबाजी है। ४—आर्य और अनार्य सभ्यताओंके प्रेम और विवाह-पद्धतिके ये प्रसंग बड़े कामकी चीजें हैं। ५—प्रेमकी दृढ़ता और 'भरोसे' की अमिटता पर मुझे दो पद याद आए बिना नहीं रहते।—(क) मिटायें मुझे पर मिटायेंगे कैसे? कि नक़शे वफ़ा नक्शे फ़ानी नहीं है'। (ख) 'हरगिज़ न मीरद आं कि दिलश ज़िंदा शुद ब इश्क। सब्त अस्त बर जरीदये आलम दवामे मा।' (अर्थात् जिसको हृदयके प्रेमने सजीव बना दिया है वह अमर है और उसकी अमरता सृष्टिके पृष्ठोंपर लिखी है)।

☞तुलसीदासजीकी संकेतकला सराहनीय है। प्रेम प्रणकी गंभीरता के कारण उसकी व्याख्या हो नहीं सकती। अन्तर स्पष्ट हो जाता है जब हम देखते हैं कि एक कविने भावावेगमें सीताजीसे कहला दिया कि मैं तो रामको ही वरूंगी, धनुष 'टूटै तो कहा और न टूटै तो कहा है' और यह न सोचा कि सीताजीके चरित्रको मट्टी में मिला दिया।

प्रभु तन चितै प्रेम तन १ ठाना । कृपानिधान राम सब जाना ॥७॥
सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे । चितव गरुरु २ लघु ब्यालहि जैसे ॥८॥

अर्थ—प्रभुके तनको (वा प्रभुकी ओर) देखकर शरीरसे प्रेम ठान लिया (अर्थात् यह प्रण कर लिया कि यह शरीर तो इन्हींका होकर रहेगा, अन्यथा नहीं)। दयासागर श्रीरामजी सब जान गए ॥७॥ श्रीसीताजीको देखकर उन्होंने धनुषको कैसे ताका जैसे गरुड़जी एक छोटेसे सर्पको ताकते हैं ॥८॥

नोट—भा० दा० का पाठ 'प्रेम पन' है-इसी पर पं० रा०कु० के टिप्पण हैं।

श्रीराजारामशरणजी—१ 'प्रभु तन चितै' कितना स्वाभाविक है, पर प्रभावमें कितना माधुर्य शृंगार, कितनी सकरुणता, कितना रामप्रेम और रामपरख है, कहते नहीं बनता। २—'प्रभु' शब्द 'पदसरोज' (रघुपति पद सरोज चितु राचा) के साथ शृङ्गारको शान्तरसके शिखरपर पहुँचा देता है और नाटकीयकला महाकाव्य कलामें लीन हो जाती है। यह शृङ्गारका मिटना नहीं वरंच सफल होना है और इस दृष्टिकोणसे 'रघुबर' शब्दका संकेत है कि ग़जब है ? 'नसीम' भी मुग्ध होकर झूम जायेंगे।

☞ याद रहे कि यह सब 'सत्य' सनेहके लिए है न कि ऐसे प्रेमके लिये कि जिसके सम्बन्धमें मेरे सहकारी मित्र 'सेहर' जीका एक हास्यप्रद पद है कि 'जिसको देखा उसी पे मरने लगे। आप हैं एक अजीब आशिक़जार।'

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभुतन चितै प्रेम पन ठाना' इति। भाव कि प्रभुका शरीर अति कोमल है, इससे धनुष नहीं टूट सकता; अतः प्रेम-पन करती हैं कि हमारे सत्य प्रेमके प्रभावसे धनुष तोड़ें। प्रथम अपने सुकृतोंका बल लगाया, यथा 'होहु प्रसन्न महेस भवानी।'''आजु लगे कीन्हिउँ तुअ सेवा।' इत्यादि। सेवकाई सुकृत है। इनसे संदेह न निवृत्त हुआ। और यहाँ कहती हैं कि सत्य सनेहमें मिलते हैं, अतः निस्सन्देह मिलेंगे। इससे निश्चय हुआ कि सेवारूपी सुकृतसे रामप्रेम अधिक है। यदि रामजीका तन दृढ़ होता तो प्रेमपन ठाननेका काम ही क्या था ? अत्यन्त कोमल तन देखकर प्रेमपन ठानना पड़ा। प्रेमीपर भगवान् कृपा करते हैं इसीसे आगे कहते हैं कि 'कृपानिधान०'। (ख) 'कृपानिधान रामु सब जाना', यथा 'करुनानिधान सुजान सील सनेह जानत रावरो। २३६।' श्रीजानकीजीपर कृपा की। उनके हृदयकी सब बात जान गए क्योंकि 'राम' हैं। सबमें रमते हैं। 'तौ भगवान सकल-उर-बासी' को यहाँ चरितार्थ किया, सबके उरवासी हैं, अतः सब जान गए। ☞ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि श्रीराम ही भगवान् हैं, यह न कोई समझे कि राम कोई और हैं, भगवान् और हैं। माधुर्यके अनुकूल जानकीजी उनको पृथक् कहती हैं।

२ (क) 'सियहि बिलोकि०'। श्रीसीताजीने प्रभुको देखकर प्रेमप्रण ठाना; इसीसे श्रीरामजीने भी उनको देखकर धनुषको ताका, ताककर सूचित किया कि धीरज धरो, हम अभी धनुषको तोड़ते हैं, इससे यह भी सूचित हुआ कि श्रीसीताजीका दुःख उनसे न देखा जा सका। यह देखकर कि ये हमारे लिए शरीर छोड़नेका प्रण कर चुकीं धनुषको ताका कि अब इसे तुरत तोड़ डालें। (ख) 'चितव गरुरु लघु ब्यालहि जैसे' इति। धनुषको 'लघु' सर्प कहनेका भाव कि जो धनुष सब राजाओंको बहुत कठोर और भारी था वही श्रीरामजीको तुच्छ वा बहुत हलका है जैसे भारी सर्प भी गरुड़के लिये लघु ही है। पुनः भाव कि जैसे गरुड़को देखकर बड़े बड़े सर्प भी डरके मारे सिकुड़कर बिलकुल छोटे हो जाते हैं वैसे ही श्रीरामजीके ताकते ही यह धनुष उन्हें देखकर लघु हो गया, यथा 'दाहिनो दियो पिनाकु सहमि भयो मनाकु, महा ब्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है। गीतावली १। ९०।' पुनः, सर्पकी उपमा देनेका भाव कि जिस धनुषरूपी

१ 'पनु'—प्रायः औरों में। तन—१६६१। २ गरुड़-१७०४, को० रा०।

सर्पने समस्त राजाओंको डस लिया था सो भी इनके आगे सहम गया। और जैसे लघुब्यालके मारनेमें गरुड़को किंचित् श्रम नहीं वैसे ही धनुषको तोड़नेमें श्रीरामजीको किंचित् श्रम नहीं होनेका, यथा 'छुअतहि टूट पिनाक पुराना', इस तरह 'चितव गरुरु०' का भाव यह हुआ कि अब धनुषको झपटकर तोड़ना ही चाहते हैं, देर नहीं है। [पुनः भाव कि जैसे गरुड़की दृष्टि जब सर्पपर पड़ती है तब फिर वह चाहे कितना ही छोटा क्यों न हो, अथवा सिकुड़कर अत्यन्त लघु ही क्यों न हो गया हो, वे उसे नहीं छोड़ते, वैसे ही यह धनुष हमारे लिये यद्यपि लघु है, अथवा हमें देखकर लघु हो गया है तो भी हम इसे बिना तोड़े न रहेंगे। (प्र० सं०)]।

☞ श्रीसीताजीको देखकर उनपर कृपा की, अपनी कृपादृष्टिसे उनको जीवित रख लिया। इन्हींकी ओर देखकर धनुषको ताका, कारण कि पुरवासियोंने तो श्रीरामजीके लिये अपने सुकृत लगाए और इन्होंने अपना प्रेम लगाया। और श्रीरामजी सब सुकृतोंसे अधिक प्रेममें कृपा करते हैं। इसीसे इनपर तुरत कृपादृष्टि डाली। ☞ पूर्व और आगे भी यत्र-तत्र लिखा गया है कि श्रीरामजी अनन्यगतिक प्रेमसे तुरत कृपा करते हैं। वही नियम यहाँ भी लागू देखिए। जबतक श्रीसीताजी औरों (धनुष, गिरिजा, गणेश, सुकृत आदि) की शरण गईं तबतक भगवान्‌ने पर्वा न की, पर ज्योंही श्रीरामजीमें प्रेम-प्रण ठाना, त्योंही उन्होंने कृपा की।

नोट—१ 'सियहि बिलोकि०'। भाव यह कि जब तुम मेरे लिए शरीर ही छोड़नेकी ठान रही हो तो मैं इसे क्यों न तोड़ूँगा? जिसे, हे प्रिये! तुम कठिन समझ रही हो उसे देखो तो मैं कैसे सहज ही नष्ट किये डालता हूँ। अपने (गरुरु लघु ब्यालहि जैसे) ताकनेके ढंगसे ही उनको आश्वासन दे रहे हैं। सूक्ष्म और उदाहरण अलंकार हैं।

२ श्रीगौड़जी कहते हैं कि 'यह चलते-चलतेकी घटना है। उधर किशोरीजीने प्रेमपन ठाना, इधर इशारेसे आश्वासन भी दे दिया। साथ ही ताकनेसे लखनलालजीने सजग करानेका इशारा पाया। पिनाकका टूटना ऐसी वैसी घटना न थी। अतः एक निगाहमें उधर आश्वासन और इधर सावधान करना, दोनों काम सधे।

३ बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "सर्पके भय वा डसनेसे तीन बातें होती हैं—मृत्यु, मरनेपर विभूतिका छूट जाना और अपमृत्युरूपी अपयश। मानी राजाओंके धनुषस्पर्शसे श्रीराम-विमुखतारूपी मरण, 'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चाप कर सरबस हारी' यह विभूतिका छूटना और 'सब नृप भये जोग उपहासी' यह अपयश हुआ।"

४ श्रीजानकीजीके अति परितापका प्रसंग सूक्ष्मरूपसे जानकीमंगलमें भी है। यथा "कहि न सकति कछु सकुचनि सिय हिय सोचइ। गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ।६२। होति बिरह सर मगन देखि रघुनाथहिं। फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहिं। धीरज धरति सगुन बल रहत सो नाहिन। बरु किसोर धनु घोर दइउ नहिं दाहिन।६३। अंतरजामी राम मरम सब जानेउ···प्रेम परखि रघुबीर सरासन भंजेउ।"; पर मानसके 'प्रेम तन ठाना' को वह नहीं पाता।

श्रीराजारामशरणजी—प्रगतियाँ, आँखके इशारों इत्यादिका सूक्ष्म चित्रण, उनके भावों और प्रभावोंका वर्णन तुलसीदासजीकी कलाका वह कमाल है कि फ़िल्म कला भी हार मान जायगी।

'प्रभु तन चितै' इत्यादिके कुछ भाव ऊपर लिखे गए और प्रभाव अब लिखा जाता है। कृपानिधान रामने कितना ठीक सीताजीके भावोंको समझा है! वे ताड़ गए कि हमारी मूर्तिकी सुकुमारताके कारण वे ऐश्वर्यकी भूल गई हैं, इसीसे केवल चितवनसे ऐश्वर्य बताकर उनके हृदयको शान्त कर रहे हैं कि तुम व्यर्थ ही 'चाप' से अपील कर रही हो, वह है ही क्या? [महाकाव्यकलामें नाटकी कलाका मिश्रण कितना सूक्ष्म

और सुन्दर है ? माधुर्यमें सीताजी श्रीरामजीको भगवान्से भिन्न व्यक्ति समझ रही थीं। भगवान्से अपील है, इसी लिये रघुबररूपमें उन्हीं 'कृपानिधान' ने उन्हें दासी (पत्नी) रूपमें स्वीकार किया ।] स्वीकृतिकी संकेतकला सराहनीय है।

दोहा—लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंडु ।
पुलकि गात बोले बचन चरन चापि ब्रह्मांडु ॥२५६॥

अर्थ—रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजीने शिव-धनुषको ताका (अर्थात् अब तोड़ना चाहते हैं) यह लक्ष्मणजीने 'लख लिया'। शरीरसे पुलकित होकर और ब्रह्मांडको चरणसे दबाकर वे ये वचन बोले ॥२५६॥

टिप्पणी—१ 'लखन लखेउ' इति । भाव कि धनुषपर तो श्रीरामजीकी दृष्टि पहले भी पड़ती रही पर जब तोड़नेकी दृष्टिसे उन्होंने उसे ताका तब उस दृष्टिको किसीने न लख पाया। लक्ष्मणजी लख पाए, इसीसे 'लखन' (लखनेवाले) नाम दिया। २—'रघुबंसमनि'। भाव कि रघुवंश वीरोंमें प्रधान है, यथा 'रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई ।०'। उस वंशके ये मणि हैं, भाव कि प्रत्येक रघुवंशी इसे तोड़ सकता है और ये तो सबमें श्रेष्ठ हैं, अर्थात् वीरशिरोमणि हैं, जब इन्होंने उसे ताका है तब वह बचही कैसे सकता है ?

३—'पुलकि गात'। वीरताके समयमें वीरको पुलकावली होती ही है। श्रीलक्ष्मणजी वीर हैं (और वीरोंको वीरता भाती है) अतः इनको बड़ी प्रसन्नता हुई, यथा 'अस कहि रघुपति चाप चढ़ावा। यह मत लछिमन के मन भावा । ५.५८ ।' ☞जहाँ जहाँ वीरताका काम होता है वहाँ वहाँ इनकी प्रसन्नता देखनेमें आती है। (पुलक यहाँ हर्ष जना रहा है। आनन्दातिशयसे पुलक हो गया)। ४-'चरन चापि ब्रह्मांड' इति। इससे पाया गया कि यदि ये उसे न दबाए रहते तो वह उलट जाता। ☞यहाँ शंका होती है कि लक्ष्मण-जी मंचपर बैठे हुए हैं, जब उन्होंने ब्रह्मांडको दबाया तब मंच क्यों न टूट गया ? इसका समाधान यह है कि चरणसे किंचित् दबानेसे ब्रह्मांड दब गया जैसे श्रीशंकरजीने अँगूठेसे किंचित् कैलासको दबाया तो रावण दब गया था। यहाँ लक्ष्मणजीका ऐश्वर्य दिखा रहे हैं। (वे ईश्वर हैं, किंचित् चरणसे दबानेका इशारा करना ही दबाना है। इनके तो इशारे मात्रसे प्रलय हो जा सकता है। इन्हींके लिये तो श्रीरामजीने कहा है—'तुम्ह कृतांतभच्छक सुरत्राता। ६.८३ ।' पुनः जैसे जापकका जप देवता तक पहुँच जाता है वैसे ही इनकी आज्ञा कच्छप, शेष, वराह, दिग्पाल तक पहुँच गई)। आगे वे दिशाओंके हाथियों इत्यादिको आज्ञा दे रहे हैं। आज्ञा देना ऐश्वर्य हीमें घटित होता है।

नोट—१ लक्ष्मणजीकी इस चेतावनीसे अप्रत्यक्षरीत्या उन 'भटमानियोंको' भी सूचना मिल गई, जो धनुष टूटनेपर भी लड़नेवाले थे, कि रण करनेके भरोसे न रहना, यहाँ ब्रह्मांडको चलाने, कँपाने और रोकने-का सामर्थ्य रखनेवाले शूर हैं। उनकी डींग हाँकनेका यह अत्यन्त सुन्दर उत्तर ध्वनित हुआ है। (गौड़जी)।

२ (श्रीराजारामशरणजी)—श्रीरामजीके आँखके इशारेका दूसरा प्रभाव लक्ष्मणजी पर पड़ा। वे 'पुलकायमान' हो गए [कितनी हमदर्दी (सहानुभूति), कितनी वीरता और कितना हर्ष है !] यहाँ तो लक्ष्मणजी स्पष्ट ही 'जगदाधार अनंत' रूप हैं। आगे 'आयसु' का शब्द साफ़ है। कला अब महाकाव्यकी ओर जा रही है। मगर आयसु थोड़े ही शब्दोंमें है, इससे नाटकीकला गई नहीं, थोड़ीही देरमें सब भूल जायँगे और लक्ष्मणजीको 'लखनलाल' ही समझने लगेंगे, इस समय भी 'आयसु' के एक शब्दको किसीने सुना हो, किसीने नहीं, अधिक लोगोंने तो 'राम चहहिं शंकर धनु तोरा' के साथ 'दिसि कुंजरहु' इत्यादि की प्रार्थना ही समझा होगा, इसीसे तो अब भी 'सुर' मना रहे हैं और संशय तथा अज्ञानमें हैं।

दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला ॥१॥

राम्रु चहहिं संकर धनु तोरा । होहु सजग सुनि आयेसु मोरा ॥२॥
चाप समीप राम्रु जब आए । नर नारिन्ह सुर सुकृत मनाए ॥३॥

शब्दार्थ--दिसि कुंजर = दिशाओंके हाथी = दिग्गज । पुराणोंके अनुसार आठों दिशाओंमें उन दिशाओंकी रक्षा तथा पृथ्वीको स्थित रखनेसे लिये, आठ दिग्गज स्थापित हैं जिनके नाम क्रमशः ये हैं--पूर्वमें ऐरावत, पूर्व दक्षिणके कोनेमें पुण्डरीक, दक्षिणमें वामन, दक्षिण पश्चिममें कुमुद, पश्चिममें अंजन, पश्चिम उत्तरके कोनेमें पुष्पदंत, उत्तरमें सार्वभौम और उत्तर-पूर्वके कोनेमें सप्रतीक (सुप्रतीक) । (श०सा०) । बाल्मीकीयमें सगर पुत्रोंके पृथ्वी खोदनेकी जहाँ चर्चा है वहाँ चार दिग्गजोंका दर्शन सगरपुत्रोंको होना लिखा है । वहाँ चार दिशाओंके दिग्गजोंके नाम क्रमसे ये हैं--(पूर्व) विरूपाक्ष, (दक्षिण) महापद्म, (पश्चिम) सौमनस, (उत्तर) भद्र । ये चारों दिशाओंमें पृथ्वीको धारण किये थे । वाल्मीकि० १.४० श्लो० १४,१८,२०,२२) । भक्तमालमें नाभाजीने ऋषभ, पुहकर (पुष्कर), पराजित और वामन ये नाम दिये हैं । यथा "चतुर महन्त दिग्गज चतुर भक्ति-भूमि दाबे रहैं । श्रुतिप्रज्ञा श्रुतिदेव ऋषभ पुहकर इभु ऐसे । श्रुति-धामा श्रुतिउदधि पराजित बामन जैसे ।...। छप्पय ३२ ।"

अर्थ—हे दिशाओंके हाथियो ! हे कच्छप ! हे शेष ! हे वाराह ! धीरज धरकर (सावधान होकर) पृथ्वीको धारण करो, वह हिलने न पावे ॥१॥ श्रीरामजी शंकरजीके धनुषको (अब) तोड़ने (ही) चाहते हैं । मेरी आज्ञा सुनकर सावधान हो जाओ ॥२॥ जब श्रीरामचन्द्रजी धनुषके समीप आए, (तब) सभी स्त्री पुरुषोंने देवताओं और अपने पुण्योंको मनाया ॥३॥

टिप्पणी--१ दिशिकुंजर बहुत हैं, इससे 'दिसिकुंजरहु' बहुवचन शब्द दिया । कमठ, शेष, बाराह एक ही एक हैं इससे एकवचन कहा । दिग्गज, कच्छप, शेष और वाराह क्रमसे कहे गए । पृथ्वी धारण करनेवालोंमें सबसे नीचे प्रथम वराह हैं, उसपर शेष हैं, शेषपर कच्छप हैं और कच्छपके ऊपर दिग्गज हैं । पैरसे दबानेमें प्रथम दिग्गज फिर क्रमसे अन्य पड़ते हैं; अतः उसी क्रमसे कहा ।

नोट--१ हनुमन्नाटक अंक १ श्लोक २१ के मिलानेसे 'दिसिकुंजरहु०' आदि वाक्योंके भाव और भी स्पष्ट हो जाते हैं । यथा लक्ष्मणो (रामे सज्जं धनुः कुर्वति सति पृथ्व्यादीनि भुवनान्यधो यास्यन्तीत्यांक्याह) पृथ्वि स्थिरा भव भुजंगम धारयैनां त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः । दिक्कुञ्जराः कुरुत तत् त्रितये दिधीषां रामः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ।' अर्थात् लक्ष्मणजी (रामजीके धनुष चढ़ानेमें पृथ्वी आदि भुवन नीचेको चले जायँगे ऐसी शंका कर बोले) हे पृथ्वी ! तुम स्थिर हो जाओ, हे शेषजी ! तुम इसको धारण करो, हे कच्छपराज ! तुम इन दोनों अर्थात् पृथ्वी और शेषको धारण करो, क्योंकि श्रीरामजी शिवजीके धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाते हैं ।

इस श्लोकमें 'कोला' (वराह भगवान्) का नाम नहीं है । श्लोकमें पृथ्वीको आज्ञा दी गई है कि स्थिर हो जाय । वह स्वयं अपने बलसे स्थिर नहीं रह सकती, संभवतः इसीसे मानसमें पृथ्वीको आज्ञा नहीं दी गई ।

व्रजरत्नभट्टाचार्यकी टीकाके अनुसार यह श्लोक इसका प्रमाण है कि शेषजी पृथ्वीको धारण किये हुए हैं, कच्छप भगवान् शेषको और दिग्गज सबको । परन्तु पद्मपुराण उत्तरखंड अ० २३५ में लिखा है कि देवताओंने कच्छप भगवानसे वर माँगा कि शेष और दिग्गजोंकी सहायताके लिये आप पृथ्वीको धारण करें । उन्होंने ऐसा ही किया । (श्लोक १७,१८) । विशेष भाग १ पृष्ठ ३६४,३६५ दोहा २० (७) में देखिए । इससे तो यही सिद्ध होता है कि पृथ्वी, दिग्गज और शेष तीनोंकी सहायता कच्छप भगवान् कर रहे हैं ।

इतने पर भी हिरण्याक्ष पृथ्वीको ले गया । संभवतः इसी विचारसे वराहावतार होनेपर ब्रह्मादिने बराह भगवान्‌से पृथ्वीको धारण करनेकी प्रार्थना की । इसीसे प० पु० में कहा है कि हिरण्याक्षको मारकर

भगवान्‌ने पृथ्वीको शेषपर स्थापितकर कूर्मको स्वयं धारण किया। यथा 'पतितां धरणीं दृष्ट्वा दंष्ट्रयोद्धृत्य पूर्ववत्। संस्थाप्य धारयामास शेषे कूर्मवपुस्तदा। प० पु० उ० २३७.१८।' इससे सिद्ध हुआ कि शेषके नीचे कच्छप और कच्छपके नीचे वराह भगवान् हैं।

पं० रामकुमारजीने किस प्रमाणसे कच्छपके नीचे शेषको लिखा यह अपनेको नहीं मालूम और न हनु० ना० के मतका प्रमाण मिला कि दिग्गज कच्छपको धारण किये हुए हैं। दिग्गज तो चारों कोनोंमें स्थित हैं, इसलिये हनु० ना० का मत भी ठीक हो सकता है।

गीतावलीमें लक्ष्मणजीकी आज्ञा इस प्रकार हुई है—'लषन कह्यो थिर होहु धरनि धरु धरनि धरनिधर आज॥१॥ कमठ कोल दिगदंति सकल अंग सजग करहु प्रभु काज। गी० १। ८८।' इसमें कमठ, कोल, दिग्गज यह क्रम है। सुन्दरकांडके 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे।' 'सहि सक न भार उदार अहिपति बार बारहि मोहई। गह दसन पुनि पुनि कमठपृष्ठ कठोर सो किमि सोहई। ५। ३५।' से तो गोस्वामीजीका मत स्पष्ट है कि शेषके नीचे कच्छप हैं तभी तो उनकी पीठपर शेषजीके दांत बराबर पड़ते हैं। मेरी समझमें यहाँ धारण करनेके क्रमसे दिशिकुंजरादि नहीं लिखे गए, प्रत्युत छन्द बैठानेके लिये इस क्रमसे उल्लेख हुआ। क्रमसे 'अहि कमठ कोला' लिखनेसे छन्द बैठता नहीं।

टिप्पणी—२ (क) पृथ्वी धारण करनेवालोंको आज्ञा देते हैं कि पृथ्वी न हिलने-डोलने पावे, क्योंकि उसके हिलनेसे सृष्टिका नाश हो जायगा। पृथ्वी सबको धारण किए है, इसीसे यहाँ 'धरनि' नाम दिया। यदि सबको धारण करनेवाली ही डोल जायगी तो सभी व्याकुल हो जायँगे। (ख) 'धरि धीर' इति। धैर्य्यका धारण करना और पृथ्वीका न डोलना दोनों बातें कठिन हैं; इसीसे आगे आज्ञा देते हैं। सावधान होनेपर भी धीरज छूट गया और पृथ्वी डोल गई, यथा 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरुम कलमले।'

३ (क) 'राम चहहिं संकर धनु तोरा०।' इति। दिग्गजादि सब दिव्य हैं, ये सब श्रीरामजीके बल और धनुषकी कठोरता जानते हैं; इसीसे लक्ष्मणजीने न तो श्रीरामजीका बल कहा और न धनुषकी कठोरता ही कही, न यही कहा कि किस तरहसे पृथ्वीको हिलने न दें और न यह कहा कि अमुक ठौरपर भारी बोझ पड़ेगा, वहाँ थामनेका काम है और अमुक ठौरपर उलटनेका डर है वहाँ उसको पकड़े रहनेका काम है, इतना ही कह दिया कि सावधान हो जाओ—'होहु सजग'। पुनः दूसरा भाव यह कि लक्ष्मणजीका आज्ञा देना ही श्रीरामजीका बल और धनुषकी कठोरताको विदित कर रहा है। जब कोई भारी काम है तभी तो लक्ष्मणजी आज्ञा दे रहे हैं, नहीं तो आज्ञा क्यों देते? (ख) 'दिग्गज कमठ शेष वराह' तो हजारों कोसों की दूरी पर हैं, उन्हें आज्ञा कैसे सुन पड़ी? ठीक उसी तरह जिस तरह कि देवता हमसे लाखों कोसोंकी दूरीपर होते हुए भी आवाहन सुन लेते हैं। ये दिग्गजादि दिव्य हैं। पुनः, श्रीलक्ष्मणजी ईश्वर हैं, ईश्वरकी वाणी सर्वत्र पहुँच सकती है। पुनः, देखिए कि मंत्रजाप मनमें होता है परन्तु उससे मंत्रके देवता तक खबर पहुँच जाती है। इत्यादि रीतिसे समाधान हो जाता है। (ग) 'सुनि आयसु मोरा' से सिद्ध होता है कि लक्ष्मणजी शेष, वराह, कमठ आदिके नियन्ता हैं।—'सहस्रसीस जग कारन' हैं। (घ) 'होहु सजग' से सूचित हुआ कि यदि ये सजग न किये जाते तो पृथ्वी इनसे छूटकर अथवा इनके सहित उलट जाती।

वि० त्रि०—लक्ष्मणजी जाग्रत्‌के विभु होनेसे सकल जगत्‌के आधार हैं अर्थात् ब्रह्माण्डमात्रके आधार हैं, शेषोंकी समष्टि हैं, अतः सभी व्यष्टियोंपर इनकी आज्ञा चलती है। शिवधनुषके तोड़नेमें जिस शक्तिका प्रयोग होगा, उससे ब्रह्माण्डमें हलचल न हो, अतः वैसे ब्रह्माण्डको दबाकर वचन बोले। भाव कि ऊपरसे मैं दबाये हूँ, नीचेसे तुमलोग सँभालना।

सभी वस्तुओंमें ऐसी शक्ति निहित रहती है, जिससे उसका स्वरूप बना रहता है। उस वस्तुके

विनाशमें उससे अधिक शक्तिका प्रयोग होता है। शिवजीके धनुषमें बड़ी बलवती शक्ति निहित है, धनुषके टूटनेसे जब वह छूटेगी तो ब्रह्माण्डमें उलट पलट कर देगी।

अति शक्तिशाली पदार्थका प्रभाव अति क्षुद्र जन्तुओंपर नहीं पड़ सकता! उसका प्रभाव उन्हीं पर पड़ता है जो उसके स्पन्दनके अनुभूतिके पात्र हों। जैसे हजारों बंदूकोंके एक साथ छूटनेसे जो शब्द होता है, उसके स्पन्दनको हमारी श्रवणेन्द्रियाँ सम्यक रूपसे ग्रहण नहीं कर सकतीं, अतः हमलोगोंको हलकी आवाज सुनाई पड़ती है। इसी तरह शिवधनुष भङ्गका प्रभाव पृथ्वी या ब्रह्माण्डपर विशेषरूपसे पड़ सकता था, मनुष्योंपर उतना नहीं।

टिप्पणी—४ (क) 'सुर सुकृत मनाये' इति। कैसे मनाया यह विस्तारसे प्रथम लिख आए हैं, वैसे ही यहाँ समझना चाहिए, यथा 'बंदि पितर सुर सुकृत सँभारे। ' २५५। ६-८।' अथवा, यहाँ संक्षेपसे मनाया, इसीसे संक्षेपसे लिखा; क्योंकि अब अवकाश नहीं है, अब धनुषके पास पहुँच गए हैं, उसे तोड़ना ही चाहते हैं। (ख) बारबार सुर-सुकृत मनानेसे ज्ञात होता है कि इनको अपने सुकृतों और देवाराधनका बड़ा बल भरोसा है। अथवा, यह भक्तोंकी रीति है कि जब कार्य करने चलते हैं तब और जब कार्य करते हैं तब भी सुर सुकृत मनाते हैं, यथा 'अस कहि नाइ सबन्ह कहँ माथा, चलेउ हरषि हिय धरि रघुनाथा', (और फिर जब समुद्र लाँघने चले तब, पुनः रघुबीरजीका स्मरण किया, यथा) 'बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवन तनय बल भारी'। अथवा, धनुषकी कठोरता और श्रीरामजीकी कोमलता देखकर सबका चित्त व्यग्र है, इससे बारंबार मनाते हैं। [अथवा, जब श्रीरामजी चले तब अपने सुकृतोंका, प्रयोग करनेके लिये स्मरण किया था और जब वे धनुषके निकट पहुँच गए तब उनका प्रयोग किया, इसीसे वहाँ 'संभारे' कहा और यहाँ 'मनाये'। भाव यह कि अब समय आ गया, सहाय हूजिये। (वि० त्रि०)]

नोट २—२५५ (५) के "सहजहि चले सकल जग स्वामी" की निर्दिष्ट क्रियाकी इस 'चाप समीप राम जब आए।०' २६० (३) से पूर्त्ति होती है, "चले और पहुँच गये', इतनेके बीचमें जिनके जो मनोभाव हुए, महाकविने उनका कैसा ध्वनिपूर्ण वर्णन किया है? (गौड़जी)।

सब कर संसउ अरु अज्ञानू। मंद महीपन्ह कर अभिमानू ॥४॥
भृगुपति केरि गरबु गरुआई। सुर मुनिवरन्ह केरि कदराई ॥५॥

अर्थ—सबका संदेह और अज्ञान, मूर्ख दुर्बुद्धि (अधम) राजाओंका अभिमान ॥४॥ परशुरामजीके गर्वकी गुरुता (भारीपन, गौरव), देवताओं और मुनिवरोंका कादरपन ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब कर संसउ अरु अज्ञानू' इति। 'रामजी अत्यन्त कोमल हैं, धनुष अत्यन्त कठोर है; उनसे धनुष कैसे टूटेगा यह सबको सन्देह है। श्रीरामजीके यथार्थ पराक्रम और स्वरूपको कोई नहीं जानते, सब मोहमें पड़े हैं कि ये अति सुकुमार हैं। इसीसे सबका संशय और 'सब' का अज्ञान कहा। धनुष टूटनेपर सबका संशय और अज्ञान नष्ट हो जायेगा, इसीसे धनुषरूपी जहाजपर 'सब' के संशय और अज्ञानको चढ़ाकर इनका नाश धनुषके साथ कहेंगे। अज्ञान कारण है और संशय कार्य्य है, कारण सहित कार्यका नाश होगा। 'सब' में श्रीजनकजी भी आ गए, यथा "मुनिवर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहिं। तदपि उचित आचरत पाँच भल बोलहिं। बानु बानु जिमि गयउ गवहिं दसकंधरु। को अवनीतल इन्ह सम बीर धुरंधरु ॥ ५७ ॥ पारबती मन सरिस अचल धनु चालक। हहिं पुरारि तेउ एक नारिव्रत पालक। सो धनु कहि अवलोकन भूपकिसोरहि। भेद कि सिरिससुमनकन कुलिस कठोरहि ॥ ५८ ॥ जा० मं०।" गीतावलीका उद्धरण पूर्व आ चुका है। आगे व्यक्तिगत एक एक की प्रधान वस्तु कही है। (ख) 'मंद महीपन्ह कर अभिमानू' इति। "मंद राजाओंका अभिमान तो तभी नष्ट हो गया जब उनसे धनुष उठा

नहीं, यथा 'श्रीहत भये हारि हिय राजा'। अब कौन अभिमान है जिसका नाश धनुष टूटने पर होगा?" उनको अभिमान यह है कि जब हम ऐसे वीरों और बलवालोंसे धनुष न टूटा तो इनसे क्या टूटेगा। यह अभिमान धनुष टूटनेपर नष्ट हो गया। अथवा, जब अधम राजाओंसे धनुष न टूटा तब उनका अभिमान नष्ट नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें यह सन्तोष बना रहा कि किसीसे तो नहीं उठा तब यदि हमसे भी नहीं उठा तो इसमें लज्जाकी कौन बात? परन्तु जब श्रीरामजीने उसे तोड़ डाला तब अपनेसे अधिक बल उनमें देखकर अपने बलका अभिमान जाता रहा। इसीसे उनके अभिमानको भी धनुष रूपी जहाजपर चढ़ाया। (ग) धर्मात्मा राजाओंको अभिमान नहीं है, वे तो धनुषके पास भी नहीं गए, यथा 'जिन्ह के कछु बिचार मन माहीं०'। इसीसे केवल 'मंद' अर्थात् अधम राजाओंका अभिमान कहा। (वैजनाथजीका मत है कि राजाओंको अभिमान है कि हम जीतकर विवाह करेंगे)।

२ (क) 'भृगुपति' इति। भृगुजीने भगवानकी छातीपर लात मारी और भगवान् उनके पैरों पड़े, यह भृगुजीकी बड़ाई है। परशुरामजी भृगुकुलके पति हैं यह परशुरामजीकी बड़ाई है। (ख) 'गरब गरुआई' इति। क्षत्रियोंके जीतनेका गर्व है, यथा 'बाल ब्रह्मचारी अति कोही। बिस्व बिदित छत्रियकुल द्रोही'। और पृथ्वी भरके क्षत्रियोंको जीते हुए हैं, यह 'गरुआई' अर्थात् बड़ाई है। भृगुपति हैं यह दूसरे प्रकारकी बड़ाई है। हारकर चले जानेपर ये दोनों प्रकारका बड़प्पन और गर्व न रह गया। इस धनुषके लिये श्रीरामजीसे वादविवाद करके उन्होंने अपनी 'गर्ब गरुआई' नष्ट की, इसीसे शिवधनुष रूपी जहाजपर उनके गर्व और गुरुताको चढ़ाया गया। धनुष टूटनेपर दोनों न रह गए। (ग) 'सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई' इति। यह श्रीरामजीके माधुर्य्यकी प्रबलता है कि उनकी सुकुमारता देख धनुष टूटनेका विश्वास नहीं होता, यथा 'निर्गुन रूप सुलभ अति सगुन जान नहिं कोइ।' ब्रह्मादिको भी मोह हो जाता है जैसे वत्सहरणप्रसंगसे स्पष्ट है। धनुष टूटनेपर सब प्रसन्न हुए। यथा 'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा।'

❀"परशुरामजी तो अभी आए नहीं, उनको भी इस समाजमें कैसे गिनाया?"❀

पं० रामकुमारजी इसका समाधान करते हैं कि "जब जहाज डूबता है तब उसके डूबनेपर 'बड़ी दूरका पानी खींचकर बोर' देता है (अर्थात् जहाजके पास वा दूरीपर भी जो होते हैं उनको भी पानी खींच लाकर डुबा देता है।) इसी तरह धनुषरूपी जहाजपर जो चढ़े वे डूब गये और परशुरामजीकी 'गर्व गरुआई' जहाज डूबनेके पीछे आकर 'डूबेगी।" परन्तु श्रीमान् गौड़जीका मत है कि "पास होनेके कारण भ्रमरावर्त्तमें पड़कर डुबा देनेवाला समाधान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि 'चढ़े जाइ सब संग बनाई' से भृगुपतिकी गर्व गरुआईका सवार होना स्पष्ट है।

नोट—इस समाजमें गिनाकर कवि सूचित कर रहे हैं कि इसी रंगभूमि धनुर्भंगके बाद तुरत ही उनकी गर्व गुरुताका दलन हो जायगा।

गौड़जी। "सब कर संसउ अरु अज्ञानू।...चहत पार नहिं कोउ कड़हारू"। यहाँ समुद्रमें जहाजके डूबनेका बड़ा विलक्षण रूपक दिखाया है। भगवान् रामचन्द्रजीका बाहुबल अपार सागर है, इसकी न तो थाह है और न कहीं किनारा है। सर्वशक्तिमान्‌के बलकी भी कहीं सीमा हो सकती है? धनुषरूपी जहाज अब "चाप समीप राम जब आये" उनके बलरूपी महासागरमें डूबनेवाला ही है। खेनेवाला कौन हो सकता है? शंकरका ही यह चाप है, जिसे चढ़ाकर वे विष्णुसे लड़ने चले थे तभी "तदातु जृम्भितं शैवधनुर्भीमपराक्रमम्" पिनाक "जृम्भित" हो गया था, इसकी लच मिट गयी थी, कमानीकी शक्तिका, स्थिति स्थापकत्वका, क्षय हो गया था। वही जब कर्णधार बने थे, तब यह दशा हुई थी। अब रामबाहुबलके पार

खे ले जाना, अर्थात् धनुषका रामके हाथोंसे भी बचा लेना किसीके लिये संभव न था। परशुरामजी भी जो पीछेसे आकर हार कर गये, यदि आ जाते तो भी इसे बचा न सकते थे। उन्हें गर्व था कि जबतक पिनाक बना है, तबतक हमारी अव्याहत गति और हमारी वह दिव्य शक्ति बनी हुई है जिससे क्षत्रियोंका संहार किया था। परशुरामका गर्व पिनाकपर मुद्दतसे सवार था। जनकजीकी प्रतिज्ञाको सुननेपर भी उन्हें निश्चय था कि इस धनुषको कोई तोड़ न सकेगा, इसीलिये टूटनेके पहले नहीं आये। टूटनेकी आवाजपर इसीलिये दौड़ पड़े कि त्रिभुवनमें कोई मुझसे भी अधिक बलवान पैदा हो गया है। उसका तुरन्त मुक़ाबला करना चाहिये। टूटनेका शब्द उनके लिये ललकार थी। इसीलिये यहाँ "भृगुपति केरि गर्व गरुआई" तो बहुत पहलेसे इस जहाज़पर सवार थी। इसके सबके "संशय" और "अज्ञान", मंद महीपोंका "अभिमान", सुर-मुनिकी "कादरता", सीतजीका "सोच", जनकजीका "पछितावा" और रानियोंका "दारुण दुख" यह सातों भी संग बनाकर इस धनुष रूपी जहाज़पर सवार हो गये। यह सबके सब ["चहत पार"] यह ख़याल करते थे कि धनुष न टूटेगा [यह जहाज़ सागर पार हो जायगा, डूबेगा नहीं] हम लोग बच जायँगे। पर हुआ क्या ? वह २६१ वें सोरठामें आया। "बूड़ सो सकल समाज चढ़े जो प्रथमहि मोह बस"। उनका ख़याल ग़लत निकला। यहाँ लोग यह शंका करते हैं कि "भृगुपति केरि गरब गरुआई" की चर्चा पहले ही क्यों ? परन्तु इतिहास पर विचार करनेसे स्पष्ट हो जाता है कि उनकी गर्व गरुआई उसपर पहलेसे ही सवार थी।

पास होनेके कारण भ्रमरावर्त्तमें पड़कर डुबा देनेवाला समाधान सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि "चढ़े जाइ सब संग बनाई" से भृगुपतिकी गर्व गरुआईका सवार होना स्पष्ट है। पास होना और बात है।

यहाँ भृगुपतिकी अवाईके बादवाली गर्व गरुआईकी चर्चा होती तो "सिय कै सोच जनक पछितावा, रानिन्हकर दारुन दुख दावा" के पहले ही क्यों चर्चा करके क्रम-भंग दोष लाया जाता ? क्रमसे ही निश्चय होता है कि यह पहलेके गर्व गरुआईकी चर्चा है।

वि० त्रि०—परशुरामजीको बड़ा भारी गर्व था कि जगत्में मैं एक अप्रतिम वीर हूँ। यह धनुष मेरे गुरूजीका है, इसमें यदि कुछ पराक्रम काम कर सकता है, तो मेरा ही काम कर सकता है, दूसरोंका किया कुछ नहीं हो सकता।

सिय कर सोच जनक पछितावा। रानिन्ह कर दारुन दुख दावा ॥६॥
संभु चाप बड़ बोहितु पाई। चढ़े जाइ सब संगु बनाई ॥७॥
राम बाहु बल सिंधु अपारू। चहत पार नहिं कोउ कड़हारू ॥८॥

शब्दार्थ—'कड़हार'—'कन' = पतवार। 'कडहार = पतवारका चलानेवाला = खेनेवाला। दावा = बनकी अग्नि, दावानल।

अर्थ—श्रीसीताजीका सोच, राजा जनकका पश्चात्ताप और रानियोंका कठिन दुःखरूपी दावानल ॥६॥ ये सब समाज बनाकर शिवचापरूपी बड़ा जहाज पाकर जा चढ़े ॥ ७ ॥ श्रीरामचन्द्रजीके भुजबलरूपी अपार समुद्रके पार जाना चाहते हैं पर कोई कर्णधार (खेवैया) नहीं है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सिय कर सोच'। सोच यह है कि इनसे धनुष न टूटेगा, यथा 'कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा' इत्यादि। 'जनक पछितावा' यह कि हमने यह पण व्यर्थ ही किया, यथा 'जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई'। 'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा' यह है कि कोई भी तो राजाको समझाता नहीं कि इनके लिये धनुष तोड़नेका हठ ठीक नहीं है,

यथा 'सखि सब कौतुक देखनि हारे।०' इत्यादि। (ग) दुःखको दारुण कहा, इसीसे उसे दवाग्निकी उपमा दी। अर्थात् जैसे दवाग्नि भयंकर होती है और भारी भी, वैसे ही रानियोंका दुःख भारी और भयंकर है। रानियाँ बहुत हैं, इसीसे उसे दवाग्नि अर्थात् वनकी अग्नि कहा।

२ (क) 'संभुचाप बड़ बोहितु०'। चढ़नेवाले बड़े भारी भारी लोग हैं और बहुत हैं, इसीसे बड़ा जहाज़ चाहिये जिसमें सब समा जायँ। पुनः 'बड़ बोहितु' का भाव कि भारी और दृढ़ समझकर इसपर चढ़े इस विचारसे कि राम बाहुबल सागरमें यह नहीं डूब सकेगा। अर्थात् उनसे यह धनुष न टूटेगा। (ख) 'चढ़े जाइ' कहनेका भाव कि इसपरके सब चढ़नेवाले (संशय, अज्ञान, अभिमान इत्यादि) हृदय (रूपी घर वा पुर के) निवासी हैं। ये सब वहाँसे निकल-निकलकर शिवधनुष रूपी जहाज़ पर जा जाकर चढ़े। इसीसे सबके सब जहाज़के साथ डूब जायेंगे। (ग) 'सब संग बनाई' के दो अर्थ होते हैं—एक तो "सब जाकर एक साथ ही अच्छी तरह चढ़े", दूसरे "संग बनाकर सब जा चढ़े" अर्थात् परस्पर मेल करके चढ़े, जिसमें परस्पर विरोध न हो, सब सुख पूर्वक पार हो जायँ। सब साथ अच्छी तरह चढ़े इसीसे अच्छी तरह सब एक साथ नष्ट भी होंगे। (पांड़ेजीका मत है कि "संग बनाके यह समझा कि एक जायगा तो सब जायेंगे और एक रहा तो सब रहेंगे")। (घ) संशय, अज्ञान, अभिमान, गर्व, गरुआई, कदराई, सोच, पछितावा, दुःख—ये सब अविद्याके परिवार हैं, इन सबोंका साथ है [ये नौ पथिक श्रीराम-बाहुबलरूपी सिंधुके पार जानेके लिये शिवचापरूपी बड़े जहाज़पर चढ़े। अर्थात् इन वस्तुओंके सहित सबके चित्तकी वृत्ति धनुषमें लगी है। (वै०)। भाव यह है कि अलग अलग लोगोंमें इन्हीं नौ भावोंसे कोई न कोई काम कर रहा है, पर सबके भावोंका आधार एकमात्र धनुष हो रहा है, और उसका संघर्ष रामबाहुबलरूपी अपार समुद्रसे हुआ ही चाहता है; अतः जनता स्तब्ध होकर बड़ी उत्कंठाके साथ इस संघर्षके परिणामपर दृष्टि लगाये है। (वि० त्रि०)। (ङ) अनेक उपमेयोंका एक ही धर्म 'चढ़े' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। (वीर)]

३ (क) 'रामबाहुबल सिंधु०'। बाहुबल अपार समुद्र है। बाहु समुद्र है, बल जल है, यथा 'अमित अमल जल बल परिपूरन। गी० ७।१३।', 'सठ चाहत रघुपति बल देखा॥ जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महामंद मति पावन चाहा। ३।१।', 'मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूड़े बहु सुर नर सूरा। ६.२८।' 'अपारू' कहकर जनाया कि पार चाहते हैं पर पार पायेंगे नहीं। (ख) 'नहिं कड़हारू'। कर्णधार जहाज को चलाता है, उसकी रक्षा करता है। यहाँ कोई खेनेवाला नहीं है तब जहाज़ न तो चलही सकेगा और न कोई उसकी रक्षा कर सकेगा, राम बाहुबलरूपी समुद्र उसे शीघ्र डुबा देगा, नष्ट कर डालेगा, रामबाहुबलसे कोई भी धनुषको बचानेवाला नहीं है। श्रीरामजी तुरत तोड़ डालेंगे क्षण भर भी न लगेगा। बिना रक्षकके ये सब चढ़े हैं अतः सब जहाज़के साथ डूब मरेंगे। बिना कर्णधारके जहाज़पर जानेवाले अज्ञानी ही होते हैं वैसे ही ये संशय इत्यादि सब अज्ञान वर्गमें हैं ही, यथा 'बूड़ सो सकल समाज चढ़ा जो प्रथमहिं मोह बस'। मोह और अज्ञान पर्याय शब्द हैं। ['नहिं कोउ कड़हारू'। भाव कि इस जहाज़के खेवैया शिवजी थे सो इसे मिथिलामें छोड़ गए। अतः रामजीके हाथों टूटनेसे कोई इस बेचारे का बचाने वाला नहीं है। क्योंकि 'राम कीन्ह चाहहिं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।' 'धनुषका न टूटना' पार जाना है।]

दोहा—राम बिलोके लोग सब चित्र लिखे से देखि।
चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि॥२६०॥

देखी बिपुल बिकल बैदेही। निमिष बिहात कलप सम तेही॥१॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने सब लोगोंको देखा। सबको चित्रमें लिखे हुए से देखकर कृपाधाम श्रीरामजीने सीताजीको देखा और बहुत व्याकुल जाना। २६०। वैदेहीजीको बहुत ही व्याकुल देखा (कि) उन्हें एक निमेष कल्पके समान बीत रहा है॥ १॥

टिप्पणी—१ (क) 'सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे' २५६ (८) से प्रसंग (संबंध) मिलाते हैं। श्रीसीताजीको देखकर धनुषको ताका, इससे श्रीसीताजीको धीरज दिया कि लो हम धनुष तोड़ते हैं। उसी तरह सब लोगोंकी ओर देखकर उन सबोंको भी धीरज दे रहे हैं क्योंकि ये सब भी व्याकुल हैं। (ख) 'चित्र लिखे से' अर्थात् जैसे कागज़, कपड़े, भीति, इत्यादि पर हाथसे बनाई, काढ़ी वा उतारी हुई तसवीर हो। तात्पर्य्य कि वे हिलते डोलते नहीं, एकटक देख रहे हैं। उनके पलक गिरते नहीं हैं, इत्यादि। (ग) श्रीसीताजी पर दृष्टि डालने में 'कृपायतन' विशेषण देकर जनाया कि श्रीसीताजीको विशेष विकल देखकर अपनी कृपादृष्टिसे उनको जिलाये हुए हैं। पुनः कृपायतन विशेषण देनेका भाव कि सब लोगों ने तो रामजीके लिए अपने अपने सुकृत लगाये हैं, यथा 'बंदि पितर सुर सुकृत मनाए ।०'। और, श्रीजानकीजीने प्रेम लगाया। श्रीरामचन्द्रजी सब सुकृतोंसे अधिक प्रेममें कृपा करते हैं, यथा—'उमा जोग जप दान तप नाना व्रत मख नेम। राम कृपा नहिं करहिं तस जस निःकेवल प्रेम'। इसीसे सीताजी पर कृपादृष्टि करके बार बार देखते हैं। (घ) 'जानी बिकल बिसेषि' कहकर जनाया कि विकल तो और सब भी हैं पर ये विशेष विकल हैं। विशेष व्याकुलताका स्वरूप आगे दिखाते हैं—'देखी बिपुल बिकल' इत्यादि।

२ (क) 'देखी' से सूचित होता है कि श्रीजानकीजीकी व्याकुलता प्रगट देख पड़ती है। जैसे रात्रिके कमल मलिन होते हैं वैसी दशा इनके मुखकी हो रही है, यथा 'गिरा अलिनि मुख पंकज रोकी। प्रगट न लाज निसा अवलोकी॥' नेत्रोंमें जल भरा है, यथा 'लोचन जल रह लोचन कोना', 'भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर'। (ख) 'निमिष बिहात' इति। जब श्रीरामजी धनुष तोड़ने चले तब श्रीजानकीजीको एक निमिष सौ युगोंके समान बीतता था, यथा 'अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुग सय सम जाहीं'। जब धनुष के समीप आए तब व्याकुलता अधिक हो गई; यह दिखानेके लिए एक निमेषका कल्प समान बीतना कहा।—'कल्पं तु ब्रह्मवासरम्'। 'चतुर्युगसहस्राणि दिनमेकं पितामहः। ब्रह्माका एक दिन कल्प कहलाता है और हज़ार चतुर्युगोंका एक दिन होता है। (इस तरह लगभग ४० गुणा अधिक दुःख इस समय है। इसीसे 'बिपुल बिकल' कहा)।

नोट—'बैदेही' शब्दसे जनाया कि व्याकुलता इतनी बढ़ गई है कि देहकी सुध जाती रही। मुख सूख गया। आगे फिर 'जानकी' नाम देकर जनाते हैं कि पूर्व तो विदेह दशा ही रही अब 'जान की' खैरियत नहीं, प्राण छोड़ ही देंगी।

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा। मुयें करै का सुधा तड़ागा॥२॥
का बरषा सब कृषी सुखानें। समय चुकें पुनि का पछितानें॥३॥

अर्थ—प्यासेने यदि जल बिना (जलके न मिलनेसे) शरीर छोड़ दिया तो उस मरे हुए को वा मर जाने पर 'सुधा-तड़ाग' ही क्या करेगा?॥ २॥ सब खेतीके सूख जानेपर वर्षा होनेसे क्या (लाभ)? अवसर चूक जाने पर फिर पछतानेसे क्या?॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'तृषित बारि०' इति। (क) तात्पर्य्य कि जब समयपर जल न मिला तब बिना समय अमृत किस काम का? यथा 'तुलसी मीठी अमी ते माँगी मिलै जो मीच। सुधा सुधाकर समय बिनु कालकूट ते नीच।' इति दोहावल्याम्। सुधाकर (चंद्रमा) का सुधा अर्थात् अमृत। जहां अमृतकी श्रेष्ठता कहते हैं वहां चन्द्रसार अमृत कहते हैं, यथा 'सुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू। २।२८८',

'जन रंजन भंजन भव भारू। राम-सनेह-सुधाकर सारू। २।३२६।' इत्यादि। तात्पर्य कि जब जानकीजी अत्यन्त विकलतासे मर जायेंगी तब धनुष तोड़नेसे क्या है? समयपर लोटा भर जल न मिला और बिना समय अमृतका तालाब मिले तो किस कामका? 'सुधा-तड़ाग' कहनेमें भाव यह है कि सुधा जलसे अधिक (उत्तम पदार्थ) है, लोटा भर जलसे अधिक तड़ाग है। जो प्यासा मर रहा है उसको समयपर जल मिल जाय तो अच्छा है और अमृत मिल जाय तो और भी उत्तम है। ऐसे ही धनुषका तिल भर भूमि भी छोड़ देना लोटाभर जलके समान है, इतने मात्रसे जानकीजीके प्राण बच जायेंगे क्योंकि पिताका बचन है कि 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिलु भरि भूमि न सके छड़ाई।२२५।२।'; उठाना और तोड़ना अमृत (और अमृतके तड़ाग) के समान हैं, यह हो जाय तो और अच्छा है। श्रीजानकीजीके जीवित रहते तिलभर भूमि भी यदि न छूटी तो मरनेपर धनुषको उठाया और तोड़ा भी तो किस कामका? इति अभिप्रायः। [बाबा हरीदास-जीका मत है कि धनुष टूटनेपर त्रिभुवनमें जयजयकार होना और ऐश्वर्य्य प्रकट होना 'सुधारूप' है।]

*** मुयें करै का सुधा तड़ागा ***

'सुधा' का अर्थ अमृत करनेपर महानुभावोंने यह शंका करके कि 'अमृतका गुण तो मरे हुए को जिलाना है, मरनेपर भी उसे व्यर्थ नहीं कह सकते', उसका समाधान कई प्रकारसे किया है—(१) कुछ लोगोंका कहना है कि इस शंकाकी निवृत्तिके लिये यहाँ 'सुधा' का दूसरा अर्थ 'जल' ही गृहीत होगा। तात्पर्य्य कि मरनेपर 'जलका तालाब' वा 'तड़ाग भर जल' भी मिले वा मरनेपर उसे जलभरे तालाबमें ही डाल दें तो वह जी नहीं सकता। (२) संत उन्मनी टीकाकार ने 'सुधा' के और भी अर्थ 'पर्यन्त' एवं 'गंगा' किए हैं। वे लिखते हैं कि "'सुधा' मागधी भाषा में 'पर्य्यन्त' अर्थका वाचक है अर्थात् थोड़ेसे जलकी कौन कहे, तड़ाग भरा जल भी हो तो क्या? वा, 'सुधा' = गंगा, यथा—'सुधागंगेष्टिकास्न ह्योर्मवालेपाऽमृतेषु च'। अर्थात् गंगा या तालाब ही फिर किस काम का?"

प्रोफे० लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि "'सुधा' का अर्थ 'जल' लेनेसे पुनरुक्ति दोष आ जाता है, दूसरे 'तड़ाग' शब्दमें तो जलका बोध हो ही जाता है, 'सुधा' शब्दकी आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः इसका अर्थ यों करना चाहिए कि शंकरजी कहते हैं कि हे सुधा (पार्वतीजी)! मरनेपर तालाब भर पानी क्या कर लेगा?' 'सुधा' पार्वतीजी का नाम है—"जयन्ती मंगला काली भद्रकाली कपालिनी। दुर्गा क्षमा शिवा धात्री स्वाहा स्वधा नमोस्तुते॥"—(परन्तु आगे के 'अस जिय जानि जानकी देखी' से ये श्रीरामजीके हृदयके विचार जान पड़ते हैं)। इसपर प्र० स्वामीका मत है कि 'जल' अर्थ उचित है। पुनरुक्तिकी शंका व्यर्थ है, क्योंकि तड़ाग विना जलका भी होता है, यथा 'नदी बिनु बारी।२।६५।७।'

पांड़ेजी, वीरकविजी, पं० रामकुमारजी एवं श्रीमान् गौड़जीने 'सुधा' का अर्थ 'अमृत' ही किया है। पं० रामकुमारजीके भाव ऊपर टिप्पणीमें दिए गए हैं। पांड़ेजी ऊपर की हुई शंकाके समाधानके लिए इस चरणका अर्थ यों करते हैं कि "मुयेको तालाब क्या करेगा, क्या अमृतका तालाब है जो जिला लेगा?" और वीरकविजी शंकाका समाधान यों करते हैं कि "अमृतका तालाब प्यासके दुःखसे मरे-हुए-को जिला देगा, परन्तु प्यासके भीषण यन्त्रणासे तड़प-तड़पकर जो उसके प्राण निकले हैं उस पीड़ाको नहीं भुला सकता"। पांड़ेजीने मुख्य अर्थ 'जलका तालाब' ही किया है।

श्रीमान् गौड़जी लिखते हैं कि—"यहाँ सीताजी धनुषभंगकी प्यासी हैं। इतनी छोटी बातके तुरन्त न हो जानेसे यदि अत्यन्त अधीरताके कारण अमंगल हो जाय, तो पीछे धनुष भंग (साधारण जल तो क्या) सुधा तड़ाग (स्वयं सरकार) का उनके समक्ष मौजूद हो जाना भी क्या करेगा? कोई पानीका प्यासा तो मर जाय पर उसके पास ही अमृतका तालाब भरा हो जो उसके शव तक स्वयं न पहुँच सके तो

मुयेको उस तड़ागका होना मात्र क्या लाभ पहुँचायेगा ? जब सारी खेती सूख ही गयी, निष्प्राण हो गयी तो पानी बरसके उसे हरा न कर सकेगा, क्योंकि पानी रगोंमें पहुँच न सकेगा। अवसर चूक जानेपर पछताना ही हाथ लगता है। यहाँ सरकार मर्य्यादा-पुरुषोत्तम हैं। 'प्रभु चह त्रिभुवन मारि जिआई।' परन्तु इन्द्रके पूछनेपरही जिलानेकी बड़ाई उसे दी जाती है। यहाँ अमंगल होने पर 'सुधासमुद्र' भी कुछ नहीं कर सकता। 'सुधासमुद्र' भगवान्‌के रूपको अन्यत्र भी कहा है। ['सुधा समुद्र समीप बिहाई। मृगजल निरखि मरहु कत धाई। २४६ (५)] यहाँ अत्यंतानुप्रासके लिये 'सुधातड़ाग' कहा। इसमें कोई दोष नहीं।"

श्रीनंगेपरमहंसजीने कुछ भेदसे प्रायः गौड़जीका ही मत ग्रहण किया है। "जानकी प्यासी हैं, श्रीरामजीके हाथोंसे धनुष टूटनेकी आशा प्यास है—'आस पियास मनोमल हारी'। धनुष टूटनेका सुख जल है (यथा 'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'), और श्रीरामजी अमृतका तड़ाग हैं।" इतने अंशमें दोनोंका मत एक है। परंतु उपर्युक्त शंकाके संबंधमें वे लिखते हैं कि—अमृतका गुण जिलानेका नहीं है, अमरत्व करनेका है,—'सुधा सराहिय अमरता०'। देहसे बाहर निकल गई हुई आत्माको फिर उसमें बुलाकर अथवा किसी दूसरी आत्माको तैयार करके उस देहमें प्रवेश करा देनेका गुण वा सामर्थ्य अमृतमें नहीं है।…जिंदा (जीते जी) अमृत पान करनेसे शरीरमें आत्मा अमर हो जाता है, फिर शरीरसे नहीं निकलता।"… लंकामें वानरोंके जिलानेमें इन्द्र या अमृतकी कोई करामात होती तो राक्षस भी अवश्य जी उठते वे तो रामजी की इच्छा हीसे जिये केवल इन्द्रको बड़ाई दी गई। 'सुधा' का 'जल' अर्थ करनेमें वे दो दोष बताते हैं—शब्द दोष विरोध और उपमा विरोध। शब्द विरोध लाला भगवानदीनजीके टिप्पण में आ गया। "उपमाविरोध यह है कि जब सुधा-तड़ागाका उपमेय करना पड़ेगा कि 'सुधा तड़ाग' क्या है तब विरोध पड़ेगा।" [नोट—वीरकविजीने अर्थमें तो 'अमृत का तालाब' ही लिखा है पर टिप्पणीमें यह भी लिखा है-"दूसरे, सुधा अमृत और जल दोनोंको कहते हैं, यहाँ सुधा शब्दसे जलका ग्रहण है, अमृतका नहीं। क्योंकि बिना जलके प्राण त्यागे-हुए-को सुधा-तड़ाग मिले तो क्या हो सकता है ? 'बारि' के संयोगसे 'सुधा'-शब्द एकमात्र जल की अभिधा है।"]

टिप्पणी—२ 'का बरषा सब कृषी सुखाने।०' इति। (क) 'कृषी' की उपमा देने का भाव यह है कि खेती किसानका जीवन है। इसी प्रकार श्रीजानकीजी माता, पिता, परिवार और पुरजन सभीका जीवन हैं, यथा—'परिवारु पुरजन मोहिं राजहिं प्रान प्रिय सिय जानिबी। ३३६।' तात्पर्य्य कि जानकीजीके बिना ये सब मर जायेंगे ऐसा विचार रामजीने किया। (ख) 'समय चुकें पुनि का पछिताने' इति। यह अपने लिये कहते हैं। अर्थात् यदि हम अवसरसे चूकेंगे तो हमें भी पीछे पछताना ही होगा। (ग) ☞ यहाँ तीन दृष्टान्त देनेका भाव कि जो दुःख श्रीजानकीजीको है वही श्रीजनकजी और श्रीसुनयनाजीको है जैसा कि आगे सुखवर्णनके द्वारा स्पष्ट है। अब क्रमसे इन दृष्टान्तोंको लीजिए—'तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा'। 'बारि बिनु तृषित' कौन है ? चातकी। यथा 'सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।२६३।६।' दूसरा दृष्टान्त है 'का बरषा सब कृषीं सुखानें'। 'कृषी' कौन है ? सखियों सहित रानियाँ। यथा 'सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी। २६३।३।' धान और खेती एक ही बात है। धनुषभंग बर्षा है। तीसरा दृष्टान्त है 'समय चुकें पुनि का पछिताने'। समयपर चूकनेसे कौन पछताया ? जनकजी। यथा 'सिय कर सोच जनक पछितावा'। 'जौं पै प्रिय बियोग बिधि कीन्हा। तौ कस मरन न माँगे दीन्हा। २।८६।' इस तरह यह स्पष्ट है कि यहाँ जिस प्रकारका दुःख दिखा रहे हैं, धनुषभंगपर उसीके अनुकूल सुख कहा गया है—

तृषित बारि बिनु।	१	का बरषा सब कृषी सुखानें।
जनु चातकी पाइ जल स्वाती।	२	सूखत धान परा जनु पानी॥

वि० त्रि०-भाव कि दशम दशा उपस्थित है, अब खेती सूखा ही चाहती है, यदि कुछ प्राण रहते भी वर्षा हो जाय तो फिर खेतीके लहलहा उठने में देर नहीं, अतः अब देर न होनी चाहिए। इस समय कुछ भी देर करनेसे सीताजीसे हाथ धोना ही पड़ेगा।

नोट—१ यहाँ प्रथम चित्रोत्तर अलंकार है। क्योंकि जिन शब्दोंमें प्रश्न किया जाता है वही शब्द उत्तरके भी हो जाते हैं। खेती सूखनेपर वर्षासे क्या ? उत्तर—'सब कृषी सुखानें'। 'समय चुकें पुनि का०' ? इसका उत्तर इन्हीं शब्दोंमें चूकना है। २—यहाँ 'सुखाना' क्या है ? जानकीजी वा श्रीरामजानकीका विवाह देखनेकी अभिलाषाका नष्ट हो जाना खेतीका सुखाना है, यथा 'एहि लालसा मगन सब लोगू'। श्रीजानकीजीके निष्प्राण हो जानेसे माता पिता इत्यादि सभीकी आशा जाती रहेगी—यह मत नंगे परमहंसजीका है। ३—बाबा हरीदासजीके मतानुसार "मानी राजाओंके चले जानेपर धनुषका तोड़ना 'समय चूकना' है। जनकजी कह चुके हैं कि 'तजहु आस निज निज गृह जाहू'। उनके आगे धनुष तोड़नेसे वे सब परशुराम संवाद देखें सुनेंगे।"

अस जिय जानि जानकी देखी। प्रभु पुलके लखि प्रीति बिसेषी ॥४॥
गुरहि प्रनामु मनहि मन कीन्हा। अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा ॥५॥

अर्थ— ऐसा जीसे जानकर जानकीजीको देख और उनके विशेष प्रेमको 'लख' कर प्रभु पुलकित हो गए ॥४॥ उन्होंने गुरुजीको मनही मन प्रणाम किया और बहुत ही शीघ्रतासे धनुषको उठा लिया ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर कह आए हैं कि जानकीजी तृषितकी तरह मरने ही चाहती हैं, और कृषीके समान सूखने ही वाली हैं। (ख) 'जानकी देखी' इति। मंचसे उतरकर धनुष तोड़नेके लिये चलनेपर श्रीजानकीजीका बारबार प्रेमसे श्रीरामजीको देखना पूर्व ('तब रामहि बिलोकि बैदेही। २५७।४।' से 'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। २५८।७।' तक) लिखा गया है, इसी तरह यहाँ दिखाते हैं कि रामजी भी सीताजीको बारबार प्रेमसे देख रहे हैं; जैसे श्रीरामजीको देख श्रीजानकीजीके पुलकावली होती है वैसे ही श्रीजानकीजीको देखकर श्रीरामजीके पुलकावली होती है। यह दोनोंका परस्पर प्रेम दिखाया; 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को चरितार्थ किया।

दोनोंका मिलान

श्रीजानकीजी—		श्रीरामजी—
तब रामहि बिलोकि बैदेही	१	सियहि बिलोकि तकेउ धनु कैसे
देखि देखि रघुबीर तन सुर मनाव	२	चितई सीय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि
नीके निरखि नयन भरि सोभा	३	देखी बिपुल बिकल बैदेही
प्रभुहि चितै पुनि चितव महि	४	अस जिय जानि जानकी देखी
प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना	५	प्रभु पुलके लखि प्रेम बिसेषी
भरे बिलोचन प्रेमजल पुलकावली सरीर	६	प्रभु पुलके

(ग) 'पुलके लखि प्रीति बिसेषी'। बिशेषीका भाव कि प्रीति औरोंमें भी है पर इनमें सबसे विशेष है। भगवान् प्रेमहीके भूखे हैं, यथा 'बलि पूजा चाहइ नहीं चाहै एक प्रीति'। इसीसे प्रेम देखकर पुलकित हुए। [यहाँ विरहासक्तिकी परिपूर्णता दिखलाई। श्रीकिशोरीजीका इस प्रसंगमें सात बार देखना वर्णन किया गया है और श्रीरामजीका चार ही बार। इससे भी "पुलके लखि प्रीति बिसेषी' कहा। यह भाव हमने प्र० सं० में लिखा था]।

२ (क) 'गुरहि प्रनाम मनहि मन कीन्हा' इति। यहाँ तक तीन बार गुरुको प्रणाम किया। पूर्व दो

(कायिक और वाचिक) प्रणाम हो चुके, अब यहाँ मनमें प्रणाम करनेसे मानसिक, वाचिक और कायिक तीनों प्रणाम हो गए। 'सुनि गुरु वचन चरन सिर नावा' यह कायिक प्रणाम है जो गुरुकी आज्ञा होनेपर उठते समय किया था। फिर 'गुरपद बंदि सहित अनुरागा' यह वाचिक प्रणाम है जो उठकर चलते समय किया था। 'वदि अभिवादनस्तुत्योः'। 'वदि' धातु प्रणाम और स्तुतिके अर्थमें प्रयुक्त होता है। यहाँ स्तुति अर्थका ग्रहण है। ('राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा' भी साथ ही दूसरे चरणमें कहा है)। और 'मनहि मन' यह तो मानसिक है ही। उठते समय, चलते समय और तोड़ते समय प्रणाम किया मानों तीन बार मंगलाचरण करके तब धनुष उठाया। (मनमें प्रणाम किया क्योंकि गुरु दूर हैं, मंचपर हैं, और ये धनुषके पास हैं। वि० त्रि० का मत है कि कौशल दिखानेके पूर्व उस गुरुको प्रणाम करना चाहिए जिससे कौशलकी प्राप्ति हुई है और ऐसे समयमें मनसे ही प्रणाम सम्भव है)। (ख) 'अति लाघव उठाइ०' इति। भाव कि जिस धनुषको बड़ा भारी परिश्रम करनेपर भी वीर राजा लोग न उठा सके—'उठै न कोटि भाँति बल करहीं'—उसके उठानेमें श्रीरामजीको कुछ भी श्रम न हुआ। 'अति लाघव' कहकर बलकी अनंतता दिखाई। पुनः,'अति लाघव' का भाव कि इतनी शीघ्रता हुई कि कोई लख न सका। 'लाघव' में लोग लख सकते हैं, अति लाघवमें नहीं लख सकते। यथा 'छत्र मुकुट ताटंक तब हते एक ही बान। सबके देखत महि परे मरमु न कोऊ जान' यह लाघवता है, और यहाँ तो 'काहू न लखा देख सब ठाढ़े'। अति लाघवता वीरोंका काम है। वीरोंका काम धीरे-धीरे बहुत देरमें नहीं होता, यथा 'लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि। ३।१७।' (उठानेमें ऐसी फुर्ती की कि जो लोग चित्र लिखेसे हो रहे थे वे भी न देख पाये। वि०त्रि०)। (ग) मनही मन बोलचाल है अर्थात् मनमें ही।

नोट—बाबा हरीदासजी मनमें प्रणाम करनेके हेतु यह लिखते हैं कि "एक तो गुरुजी पीछे हैं। पीछे फिरकर प्रणाम करें तो जानकीजी यह न समझें कि लौटे जाते हैं जिससे कहीं विरहमें प्राण न छोड़ दें। सिर नवाकर यदि प्रणाम करें तो दूसरे लोग समझेंगे कि किसी इष्टदेवके बलसे धनुष तोड़ा है।" बैजनाथजीका मत है कि श्रीकिशोरीजीको अत्यन्त आर्त्त देख धनुष तोड़नेके लिये इतनी आतुरता आ गई कि गुरुको प्रकट रूपसे प्रणाम करनेका सावकाश न मिला इससे मानसिक प्रणाम कर लिया। पंजाबीजीका मत है कि प्रणाम पूर्व कर चुके ही हैं अब मनमें ही कर लिया। अथवा यह सोचकर कि सब लोग बहुत व्याकुल हैं मैं प्रणाम करने लगूँ इतनेहीमें कतिपय लोग प्राण न त्याग दें।

टिप्पणी—३ 'उठाइ धनु लीन्हा' इति। बंदीगणने धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा सुनाई थी, यथा 'सोइ पुरारि कोदंड कठोरा। राजसमाज आजु जेहि तोरा' और राजा जनकजीने उठाना, चढ़ाना और तोड़ना ये तीन बातें कहीं, यथा 'रहौ चढ़ाउब तोरब भाई। तिल भर भूमि न सके छुड़ाई'। श्रीरामजी तीनों कर दिखायेंगे। इसीसे प्रथम उन्होंने उठा लिया और अब चढ़ाकर तोड़ेंगे। नहीं तो यदि केवल तोड़नेकी ही बात होती तो उठानेकी जरूरत ही न थी, वे उसे जमीनहीपर तिनकेके समान तोड़ देते।

दमकेउ दामिनि जिमि जब लयेऊ। पुनि नभ धनु मंडल सम भयेऊ ॥६॥
लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहू न लखा देख सबु ठाढ़े ॥७॥

अर्थ—जब उठा लिया तब वह बिजली जैसा चमका। फिर वह धनुष आकाशमें मंडलके समान हो गया अर्थात् चढ़ानेसे गोल हो गया॥ ६॥ उसे लेते (अर्थात् झुककर उठाते), चढ़ाते (अर्थात् प्रत्यंचा चढ़ाते) और दृढ़तापूर्वक (कानपर्य्यंत प्रत्यंचाको) खींचते किसीने न लख पाया (कि कब उठाया, कब चढ़ाया, कब खींचा), सबने (रामजीको) खड़े (ही) देखा ॥७॥

टिप्पणी—१ (क) 'दमकेउ दामिनि जिमि' इति। धनुषमें तेज था इसीसे वह बिजलीकी तरह

चमका। धनुषके तेजसे ही यह दमक हुई है। यह मेघोंवाली बिजली नहीं है, यह स्पष्ट करनेके लिये 'जिमि' पद दिया। नहीं तो संदेह होता कि मेघोंकी बिजली आकाशसे न चमकी हो। पुन:, 'दामिनि जिमि का भाव कि उठाते ही बिजलीकी-सी चमक हुई, वह चमक बिजलीकी तरह देरतक न रही, उठा लेनेके पश्चात् फिर चमक न रह गई। 'अति' लाघवतासे धनुषको उठाया, इसीसे अति शीघ्र बिजलीकी-सी चमक हुई।—यह तो उठानेपरका हाल कहा, आगे चढ़ानेपरका हाल कहते हैं। (अत्यन्त फुरतीकी प्रक्रियामें एक रेखा-सी बन जाती है। जैसे बनेठीकी आगकी रेखा बन जाती है, उसी भाँति बिजलीकी रेखा-सी बन गई। उठाते किसीने न देखा, यह देखा कि बिजली-सा कुछ चमका। वि० त्रि०)। (ख) 'पुनि नभ धनु मंडल सम भयेऊ' वह धनुष मंडलाकार हो गया अर्थात् उसके दोनों गोशे मिल गए। 'नभ' शब्द देकर जनाया कि श्रीरघुनाथजीने भुजा उठाकर धनुषको ताना, इसीसे वह आकाशमें मंडलके समान हो गया। सिरके ऊपर हाथसे उठाये और ताने खड़े होनेसे आकाशमें मंडल-सा हो गया।

२ 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े' इति। यहाँ (झुककर) उठाना, चढ़ाना और तोड़ना तीनोंको क्रमसे कहते हैं। 'लेत' से उठाना, 'चढ़ावत' से चढ़ाना और 'खैंचत गाढ़े' से तोड़ना कहा। जब ज़ोरसे खींचा तब वह टूट गया।☞ प्रथम जो कहा था कि 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा', अब उसका स्वरूप दिखाते हैं कि 'काहू न लखा०'; इतनी शीघ्रता की कि कोई न लख पाया। पहले उठानेमें ही अति लाघवता कही थी और अब उठाने, चढ़ाने और खींचने तीनों हीमें 'अति लाघवता' दिखा रहे हैं। यदि सबके साथ लाघवता न कहते तो पाया जाता कि चढ़ाने और तोड़नेमें विलंब हुआ।

३ (क) पूर्व कह आए हैं कि लोगोंके बैठकर देखनेके लिए स्थान बने हुए हैं, यथा 'चहुँ दिसि कंचन मंच बिसाला। रचे जहाँ बैठहिं महिपाला॥ कछुक ऊँच सब भाँति सुहाई। बैठहिं नगर लोग जहँ जाई॥ जहँ बैठे देखहिं सब नारी।' इत्यादि। सेवकोंने सबको उचित स्थानपर बिठाया भी, यथा 'कहि मृदु बचन बिनीत तिन्ह बैठारे नर नारि।०'। तब 'देख सब ठाढ़े' सब खड़े होकर देख रहे हैं, यह क्यों? इसका उत्तर यह है कि 'ठाढ़े' श्रीरामजीके लिये कहा गया, सब लोग तो बैठे ही बैठे देख रहे हैं, श्रीरामजी खड़े हैं। सबने देखा कि रामजी खड़े हैं। ☞ यहाँ उत्तरोत्तर चौपाईको स्पष्ट करते आ रहे हैं। 'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा' कहकर फिर इसको 'दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ' से स्पष्ट किया अर्थात् जब उठाया तब बिजली समान चमका। इसी तरह 'पुनि नभ धनु मंडल सम भयऊ' कहकर उसकी आगेकी अर्धाली 'लेत चढ़ावत०' से स्पष्ट किया अर्थात् जब चढ़ाया और खींचा तब मंडल सम हो गया। 'खैंचत गाढ़े' को आगे स्पष्ट करते हैं—'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा'। श्रीरामजीने अत्यन्त शीघ्रता की, इससे 'लेत चढ़ावत खैंचत' किसीने न लखा। दूसरे बिजलीसे दमक होनेसे चकाचौंध हो गई, सबकी आँखें बंद हो गईं, इतने हीमें सब काम हो गया, इससे भी किसीने न लख पाया।

नोट—१ 'लेत चढ़ावत०' में लाघवताकी अतिशयोक्ति है। यहां 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार है। 'गाढ़े' क्रियाविशेषण है, इसका अर्थ है—ज़ोरसे। प्रत्यंचा चढ़ानेके बाद उसे कानपर्यन्त खींचना ही गाढ़े खींचना है।—(दीनजी)। पुन: यहां 'कारकदीपक अलंकार है, क्योंकि लेत, चढ़ावत, खैंचत, तीन क्रियायें क्रमसे आई हैं जिनके कर्ता एक रामजी ही हैं। २—"दमकेउ दामिनि जिमि०" इति। "यहाँ कृषि भी है, वर्षाकी भी चर्चा है, दामिनी भी दमक गई है, धनुष भी 'नभमंडलसम' दीख रहा है। व्याजसे उपमान 'घनश्याम' का नाम लेकर केवल उपमेय भगवान् रामचन्द्रकी ओर प्रसंगसे इशारा है, क्योंकि आगे चलकर चातकी भी तृप्त होगी और सूखते धानमें पानी भी पड़ेगा।

नोट—३ (क) किसी कविने 'खैंचत गाढ़े' पर यह कवित्त लिखा है—"कोसलके राज जब हाथमें पिनाक लीन्हों तोरबेकी बार सोच कीन्हें बात चार की। जो मैं धन्वा तोरौं नाहीं कुलहु कलंक लागे तोरौं

तो कहेंगे लोग लोभ कीन्हों नारिको। जनक जो प्रण कीन्हों वह प्रण राखे बने चौथे सोच गोहि है दसानन सुरारिको। याही जानि कृपानिधि खैंचे हैं करेरे हाथ कोसलके राज धन्वा तोरे त्रिपुरारिको" और किसीने यह अर्थ किया है कि "लेते चढ़ाते खींचते समय जो महाराजकी शक्ति (गाढ़) हुई कि सीताजीके मनको आकर्षित किया वा सीताजीके मनके साथ आकर्षण किया, राजाओंके मुखोंके साथ नवाया, विश्वामित्रके पुलकके साथ उठाया, परशुरामके बड़े अहंकारयुक्त मदके साथ तोड़ा' 'सो कोई न लख सका।"

(ख) मिलान कीजिये—"गहि करतल मुनि पुलक सहित कौतुकहि उठाइ लियो। नृपगन मुखनि समेत नमित करि सजि सुख सबहि दियो। ६। आकरष्यो सिय मन समेत हरि हरष्यो जनक हियो। भंज्यो भृगुपति गर्व सहित तिहुँ लोक बिमोह कियो। ७।" (गी० १।८८)। (यह हनु० ना० १।२३ का ही अनुवाद है) ।; यथा "उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं भूपानां जनकस्य संशयधिया साकं समास्फालितम्। वैदेहीमनसा समं च सहसाकृष्टं ततो भार्गवप्रौढाहंकृतिदुर्मदेन सहितं तद्भग्नमैशं धनुः।- हनु० १।२३।"

☞ नोट—'लेत चढ़ावत०' इस अर्धालीके अर्थ भिन्न भिन्न प्रकारसे महानुभावोंने किये हैं जिनमेंसे कुछ यहाँ लिखे जाते हैं।

१—"कठिनाईसे उठाते, चढ़ाते, खींचते किसीने न लखा, सब खड़े देखते ही रहे"। तात्पर्य्य कि सब खड़े देखते रहे, किसीने भी यह न देखा कि श्रीरामजीको इसमें कुछ भी कठिनाई हुई। अर्थात् उनको कुछ भी परिश्रम इस काममें न हुआ, यदि परिश्रम हुआ होता तो सबको जान पड़ता।

२—(श्रीनंगेपरमहंसजी 'सब गाढ़े ठाढ़े देख' इस प्रकार अन्वय करके अर्थ करते हैं कि) "श्रीरामजी धनुषको लेते चढ़ाते और खींचते किसीको दिखाई न पड़े। सबोंने श्रीरामजीको गाढ़े अर्थात् मजबूतीसे खड़ा देखा।" तात्पर्य्य कि इतनी शीघ्रतासे ये तीनों काम हुए कि किसीकी निगाह काम ही न कर सकी। "पश्चात् धनुषको लिये हुए खड़े दिखानेका प्रयोजन था, इसीसे तोड़नेमें लाघवता नहीं की गई। कारण कि लोगोंको शंका न हो जाय कि कैसे टूटा है। हाथमें उठाया हुआ भी न देख पड़ा, इसलिये अपनेको ऊपर उठाते हुए ऐसे खड़े सबको दिखाई दिये कि जिससे कोई भार भी नहीं प्रतीत होता अर्थात् शरीरकम्पादि न होकर गाढ़े खड़े हैं—इसे स्पष्ट करके तब धनुष तोड़ा गया है।"

३—लेते चढ़ाते खींचते "किसीने दृढ़ करके (दृढ़तापूर्वक, भली प्रकार) नहीं लखा। गाढ़ बाढ़ दृढ़ानि च इत्यमरः।"—(पाँड़ेजी)।

४—सबने (रामजीको धनुष खींचे) खड़े देखा। ☞अर्थ ३ और ४ के समर्थनमें यह कहा जाता है कि यदि खींचनेमें परिश्रम पड़ना वा जोर लगाना कहें तो यह ठीक नहीं और न यह कहना ठीक है कि सब खड़े देखते रहे, क्योंकि यहाँ खड़े होना कहा तो आगे उनका बैठ जाना भी कहना चाहिए था सो तो कहीं कहा नहीं गया। टिप्पणीमें भी 'खड़े होने' के सम्बन्धमें लिखा जा चुका है।

श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि "यदि यह माना जाय कि लोगोंने बिजलीकी चमक-सी देखी और फिर देखा कि श्रीरघुनाथजी खड़े हैं और धनुष टूटा हुआ है तो यह कहा जा सकता है कि प्रभुने मायाके बलसे तोड़ा, अपने बाहुबलसे नहीं। फिर ऐसा माननेसे आगेकी चौपाई 'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा' कालक्रमके विरुद्ध हो जाती है तब तो क्रम यों होना चाहिये था—'अति लाघव उठाइ धनु लीन्हा। दमकेउ दामिनि जिमि जब लयऊ। पुनि धनु नभमंडल सम भयेऊ। तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देखि सब ठाढ़े।' मानसकारके निश्चित क्रमसे ही स्पष्ट है कि ठाढ़े यहाँ देखने वालोंकी क्रिया है। गाढ़े लेत, गाढ़े चढ़ावत, गाढ़े खैंचत (तो) काहू न लखा (यद्यपि) सब ठाढ़े

लेन तृन धनु मिलेउ तोरेउ सहित उछाह ।।" पुनः, 'डिगति उर्बि अति गुर्बि सर्ब पब्बय समुद्र सर। ब्याल बधिर तेहि काल बिकल दिगपाल चराचर ।। दिगगयंद लरखरत परत दसकंठ मुक्ख भर । सुर बिमान हिम भानु यानु संघटित परस्पर ।। चौंके बिरंचि संकर सहित कोल कमठ अहि कलमलेउ। ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दलेउ ।। क० १।११ ।'

२ (क) चौदहो भुवन ध्वनि से भर गए। अब इन सबोंका हाल कहते हैं। चौदहो भुवन तीन लोकोंके भीतर हैं, इसीसे तीनों लोकोंकी बात कहते हैं। 'रबिबाजि०' यह स्वर्गका, 'चिक्करहिं दिग्गज''''' कलमले' यह पातालका और 'सुर असुर मुनिनिकर कान दीन्हे सकल०' यह मर्त्यलोकका हाल है। ब्रह्मांड भरमें शब्द व्याप्त हो जानेसे समस्त पशुपक्षी सुर असुर नर मुनि सभी क्षोभको प्राप्त हुए। सूर्य्यके घोड़े उपलक्षण हैं। सूर्य्य नवग्रहोंमें आदि हैं। सूर्य्यकी गतिमें क्षोभ दिखाकर सूचित किया कि सब ग्रहोंकी गति क्षोभको प्राप्त हुई; क्योंकि सब ग्रह रथमें चलते हैं (सबोंके रथ और वाहन हैं), सबके घोड़े मार्ग तजतज-कर चले अर्थात् मार्गसे विचलित हो गए। दिव्य घोड़ोंका हाल कहकर आगे दिव्य हाथियोंका हाल कहते हैं। (ख) 'चिक्करहिं०' इति। स्वर्गका हाल कहकर अब पातालका हाल कहते हैं। पृथ्वीपर जब कोई भारी धक्का होता है तब पहले हाथियोंपर जोर पड़ता है इसीसे प्रथम हाथियोंका चिंघाड़ना कहा करते हैं, यथा 'चिक्करहिं दिग्गज डोल महि गिरि लोल सागर खरभरे। ५।३।५।" 'ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे', 'चिक्करहिं दिग्गज दसन गहि महि देखि कौतुक सुर हँसे ।६।६०।' तथा यहाँ चिक्करहिं दिग्गज०'। (ग) श्रीलक्ष्मणजीने जिनको पृथ्वीको धारण करनेकी आज्ञा दी थी, उन्हींकी दशा यहाँ लिखते हैं। आज्ञा दी थी कि पृथ्वी न डोले सो पृथ्वी डोल गई। धीरज धरने की आज्ञा दी थी सो धीरज न रह गया, सब बिकल हो गए। इससे जनाया कि बड़ा भारी असह्य जोर पड़ा।

नोट—१ 'घोर' से ऊँचा और भयावन जनाया और 'कठोर' से कड़ा। घोर और कठोर होनेसे स्वर्ग तक ऊपर और कच्छपतक नीचे शब्द पहुँचा। कैसा घोर कठोर था यह 'चिक्करहिं दिग्गज०' से दिखाया (पांड़ेजी)। पुनः, 'घोर' से गम्भीर कहा और 'कठोर' से असह्य कहा। (वि० त्रि०)। २-मिलान कीजिए, हनुमन्नाटके, यथा "पृथ्वी यांति विनम्रतां फणिपतेर्नम्रं फणामंडलं बिभ्रत्क्षुभ्यति कूर्मराजसहिता दिक्कुंजराः कातरा । आतन्वन्ति च बृंहितं दिशि भटैः सार्धं धराधारिणो । वेपन्ते रघुपुंगवे पुरजितः सज्जं धनुः कुर्वति ।। अंक १ श्लोक २२ ।" अर्थात् पृथ्वी डगमगा गई, शेषके फणोंका समूह झुका और क्षुब्ध हो गया अर्थात् वे तड़फड़ाने लगे, कूर्मराज और दिग्गज डरकर शब्द करने लगे, पृथ्वीके धारण करनेवाले पर्वतादि कांपने लगे।

नोट—१ 'घोर कठोर रव' का वर्णन ह० नाटकमें इस प्रकार है—"त्रुट्यद्भीमधनुः कठोरनिनदस्त्राकरोद्विस्मयं, त्रस्यद्वाजिरवेरमार्गगमनं शंभोः शिरः कम्पनम्। दिग्दन्तिस्खलनं कुलाद्रिचलनं सप्तार्णवोन्मेलनं वैदेहीमदनं मदान्धदमनं त्रैलोक्यसंमोहनम् ।।२६।। रुन्धन्नष्ट विधेः श्रुतीर्मुखरयन्नष्टौ दिशाः क्रोडयन् मूर्तीरष्ट महेश्वरस्य दलयन्नष्टौ कुलक्ष्माभृतः। तान्यक्ष्णा बधिराणि पन्नगकुलान्यष्टौ च संपादयन्नुन्मीलत्ययमार्यदोर्वलदलत्कोदण्डकोलाहलः। २७।।" अर्थात् टूटते समय कठोर शब्दने यह एक विस्मय किया कि उसने घबड़ाये हुये घोड़ेवाले सूर्य्यके अमार्गगमनको, शिवजीके शिरोंके कंपको, दिग्गजोंके स्थानत्यागको, महेंद्रादिसप्त पर्वतोंके हिलानेको, सातो समुद्रोंको मिलानेको मदांधप्राणियोंके नाशको और त्रिलोकीके मोहको किया ।।२६। ब्रह्माके आठ कानोंको रोकता हुआ, आठो दिशाओंको शब्दायमान करता हुआ, महादेवकी (भूर्जलं वह्निराकाशं वायुर्यज्वा शशी रविः) अष्ट मूर्तियोंको व्याकुल करता हुआ और आठों पर्वतोंको तोड़ता हुआ और आठों सर्पोंके कुलोंको बहिरा करता हुआ ऐसा श्रीरामचन्द्रजीकी भुजाओंके बलसे तोड़ेहुए धनुषका कोलाहल भयानक प्रगट हुआ।'-(व्रजरत्न भट्टाचार्यजीकी टीकासे)। ये सब भाव उपर्युक्त चौपाई और छन्दमें आ जाते हैं। २—'रबिबाजि तजि मारग चले।'''सकल बिकल' के संबंधसे धनुष

टूटनेके शब्दकी अतिशय भीषणताकी बड़ाई करना 'संबंधातिशयोक्ति अलंकार' है—(वीर)।

सुर असुर मुनि कर कान दीन्हे सकल बिकल बिचारहीं।
कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं॥

सोरठा—संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु।
बूड़ सो सकल समाजु चढ़ा जो प्रथमहि मोहबस॥२६१॥

अर्थ—सुर, असुर और मुनि कानोंमें हाथ दिए (लगाए) हुए सबके सब व्याकुल हो विचारने लगे कि (जान पड़ता है कि) रामचन्द्रजीने धनुष तोड़ा है। तुलसीदास (कहते हैं कि विचार निश्चय करते ही सभी) जयजयकार करने लगे (श्रीरामजीकी जय हो, जय हो, ऐसे बचन उच्चारण करने लगे)। शंकर-धनुषरूपी जहाज और सारा समाज जो उसपर प्रथम ही अज्ञानवश चढ़ा था रघुवरबाहुबलरूपी समुद्रमें डूब गया॥ २६१॥

टिप्पणी—१ (क) सुर असुर मुनि सभी रंगभूमिमें आए हुए हैं, यथा 'देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आये रनधीरा।' ये सब रंगभूमिमें हैं, बहुत निकट हैं, इससे शब्द बिलकुल कानके पास होनेसे सह न सके, व्याकुल हो गए। सुना नहीं जाता, इसीसे कान हाथोंसे बन्द कर लिये। (ख) 'सकल बिकल०', सब व्याकुल हो गए; इसीसे इस बातका ज्ञान न रह गया कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है। यथा 'प्रभु कीन्हि धनुष टँकोर प्रथम कठोर घोर भयावहा। भए बधिर व्याकुल जातुधान न ज्ञान तेहि अवसर रहा। ३।१८।' इसीसे सब विचार करते हैं कि बिजली चमकी, घोर शब्द हुआ, कहीं वज्रपात तो नहीं हुआ? फिर सोचे कि वज्रपात नहीं है क्योंकि आकाश निर्मल है, मेघ नहीं हैं। पुनः विचार किया कि पृथ्वी हिली है, भूकम्प हुआ है, कहीं पहाड़ आदि तो नहीं गिरे जिससे शब्द हुआ? इत्यादि विचार करते हुए सोचे कि पहाड़ आदिके गिरनेसे भी ऐसा घोर कठोर शब्द नहीं हो सकता; श्रीरामचन्द्रजी धनुष उठाने गये थे, अवश्य ही उन्होंने उसे तोड़ा है उसीसे यह सब उत्पात हुआ। बिना धनुष टूटे ऐसा घोर कठोर शब्द नहीं हो सकता। 'बिचारहीं' से जनाया कि सभी ऐसे व्याकुल थे कि विचार करनेपर धनुषका टूटना जान पाए। अनेक उपमेयोंका एक धर्म 'विकलता' कथनमें 'प्रथम तुल्ययोगिता' अलंकार है। [सुर, असुर और मुनि जो उस शब्दके स्पन्दन ग्रहण करनेमें समर्थ थे, वे भी शब्दकी कठोरता न सह सके, विकल हो गए, अपने कानोंको मूँद लिया। (वि० त्रि०)।

प० प० प्र०—'जयति बचन उचारहीं' का थोड़ा-सा नमूना देखिए—'जय जय रघुबर जन भय-भंजन। जय रघुबीर शंभु धनुभंजन॥ जय रघुबीर भूपमदमर्दन। विश्वविजय यश जानकि अर्जन॥ जनक भूप परितापहरण जय। नगर नारि नर सुखद जयति जय॥ कोसलपति जय दशरथनंदन। जय जय कौशिक मुनि मन रंजन॥ नीरज नील सुकोमल जय जय। रामचंद्र जय सीतापति जय॥ जय जय लोक बिलोचन सुखकर। जय जय मोह बिभंजन भवहर॥ बाल बृद्ध नरनारि चित्तहर। प्रज्ञा प्रेरक जय जय रघुबर॥' (गूढ़ार्थचन्द्रिकासे)।

२ (क) 'कोदंड खंडेउ राम०' इति। जब शब्दकी प्रबलता निवृत्त हुई तब विचार आया कि श्रीरामजीने धनुष तोड़ा है। इसीसे भारी शब्द हुआ है। विचार करनेपर धनुषका तोड़ना निश्चय हुआ, क्योंकि उसका उठाना, चढ़ाना, खींचना कुछ भी आँखोंसे नहीं देखा है। (ख) 'जयति बचन उचारहीं'। श्रीरामजीने बड़े उत्कर्षका काम किया, इसीसे जयजयकार करके जनाया कि "सबसे उत्कर्ष बर्तो अर्थात् सबसे ऊँचे बने रहो" यही 'जय' शब्दका अर्थ है। (ग) असुर तो श्रीरामजीके शत्रु हैं, उन्होंने जय कैसे बोली? इसका

उत्तर यह है कि वीरकी वीरता देखकर वीर प्रसन्न होकर जय बोलते हैं। यथा 'संभारि श्रीरघुबीर धीर पचारि कपि रावन हन्यो। महि परत पुनि उठि लरत देवन्ह जुगल कहँ जय जय भन्यो।' यहाँ देवता रावणकी जय बोलते हैं जो देवताओंका शत्रु है। (घ) ☞'तुलसी जयति०' इति। देखिए कैसे मौक़ेसे ग्रन्थकार भी जय बोलनेमें शामिल हो गए।

३—'संकरचाप जहाज०' इति। (क) चाप और जहाजका रूपक प्रथम ही कह आए, वहीं उसके सब अंग वर्णन कर आए, इसीसे यहाँ पुनः विस्तार नहीं किया। डूबना कथन करना बाक़ी रह गया था क्योंकि तब डूबा तो था नहीं अब जब डूबा तब उसे कहा। (ख) 'संकर' का भाव कि शंकरजी सबके कल्याणकर्त्ता हैं, उनका यह धनुष है; इसने भी सबका कल्याण किया। सबके संशय, शोच, अज्ञान इत्यादिको हर लिया, अब श्रीरामजानकीजीका विवाह होगा जिससे सबका कल्याण है--जनकपुरवासियोंका, अवधवासियोंका, देवताओंका, राक्षसोंका और सारी सृष्टिका। और स्वयं रघुवरबाहुबलसागरमें डूबा इससे अपना भी कल्याण किया, यथा "तद् ब्रह्ममातृवधपातकि मन्मथारिक्षत्रान्तकारिकरसंगमपापभीत्या। ऐशं धनुर्निजपुरश्चरणाय नूनं देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे। हनु० ना०। १।२५।" अर्थात् शिवजीके इस धनुषने ब्रह्माका शिर काटा (जब वे मृगरूप होकर मृगिनी सरस्वतीके पीछे दौड़े थे), परशुरामद्वारा माताका शिर काटा, अतः वह पातकी हो गया। शिवजी तथा परशुरामके हाथके संगरूपी पापके भयसे प्रायश्चित्त करनेके लिये ही उसने श्रीरामचन्द्रजीके कररूपी तीर्थमें अपना शरीर त्याग दिया। (ग) 'रघुबर बाहुबल' को सागर कहनेका भाव कि सागरसे सगर है, ऐसे ही रघुवरबाहुसे बलसागर है। (घ) 'सो' अर्थात् जो पूर्व कह आए हैं—'सब कर संसय अरु अज्ञानू' इत्यादि। (ङ) 'मोह बस' कहनेका भाव कि संशयादि सब मोह हीसे होते हैं। संशय आदि सब धनुषके सम्बन्धसे हैं, यही धनुषपर चढ़ना है। जहाजका रूपक किया, इसीसे उसपर चढ़ना कहा।

श्रीराजारामशरणजी—१ यहाँका ओजगुण विचारणीय है। और शब्दगुण (Symphony) भी। २-कहावत है कि 'बूडा सकल समाज' लिखनेके बाद कविकी लेखनी रुक गई, [कारण कि उसने सोचा कि रामजी भी तो उसी समाजमें हैं वे भी डूबे जाते हैं। तब हनुमान्जीने कहा कि जोड़ दो 'प्रथमहि चढ़े जे मोहबस' और 'चढ़े जाइ' वाला रूपक लिख ही रहे हो, प्रसंग ठीक हो जायगा। [यह किंवदंती बहुधा सुननेमें आई पर यह गढ़न्त 'बूड़ा सकल समाज' पाठसे की हुई जान पड़ती है। पाठ है 'बूड़ सो सकल समाज'। ☞'सो' का इशारा स्वयं ही इस गढ़न्तके खंडनको पर्याप्त है। कवि तो पूर्वसे ही रूपक बाँधते आ रहे हैं, उनकी लेखनी कब रुक सकती थी ?]।

प्रभु दोउ चाप-खंड महि डारे। देखि लोग सब भये सुखारे ॥१॥
कौसिकरूप पयोनिधि पावन। प्रेम बारि अवगाह सुहावन ॥२॥
रामरूप राकेसु निहारी। बढ़त बीचि पुलकावलि भारी ॥३॥

अर्थ—प्रभुने धनुषके दोनों टुकड़े पृथ्वीपर डाल दिए। सब लोग देखकर सुखी हुए ? श्रीरामरूप पूर्णचन्द्रको देखकर अगाध सुन्दर प्रेमरूपी जलसे भरे हुए विश्वामित्ररूपी पवित्र समुद्रमें भारी पुलकावली रूपी लहरें बढ़ने लगीं। २-३।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रभु दोउ चापखंड' का सम्बन्ध 'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा' से है। 'दोउ' से जनाया कि जब बीचसे तोड़ा तब दोही खंड हुए, उन दोनोंको पृथ्वी पर डाल दिया। (किसी किसी टीकाकारने तीन टुकड़े होना लिखा है। दो नीचे डाल दिये एक हाथमें लिये रहे, पर 'दोउ' शब्द उस भावका निषेध कर रहा है)। (ख) 'देखि लोग' से सूचित किया कि लेते, चढ़ाते और खींचते तो किसीने न

देखा पर जमीनपर डालते सबने देखा। सबको दिखाकर जमीनपर डालनेमें भाव यह है कि यदि पृथ्वीपर डालते न देखते तो कोई कोई अवश्य कहते कि उन्होंने पराक्रमसे धनुष नहीं तोड़ा है, किसी युक्तिसे तोड़ा है; क्योंकि धनुषको उठाते, चढ़ाते और तोड़ते तो किसीने देखा नहीं, तब कैसे प्रतीति हो कि अपने बल पराक्रमसे तोड़ा है ? अतएव श्रीरामजी, धनुषको तोड़कर उस समयतक दोनों खंडोंको हाथमें लिये रहे जबतक धनुषका घोर कठोर रव शान्त न हुआ, सबके सावधान हो जानेपर जब सबने हाथमें लिये देख लिया तब सबके देखते पृथ्वीपर डाला। इससे पराक्रमसे धनुष तोड़नेका सबको विश्वास हुआ, क्योंकि अपने पुरुषार्थसे न तोड़ा होता तो उसके दोनों खंडोंको हाथमें कैसे लिये होते। (ग) 'सब भये सुखारे' इति। सब लोग जो दुखी थे, व्याकुल थे, 'जनक बचन सुनि सब नर नारी। देखि जानकिहि भये दुखारी। २५२।७।', वे सुखी हुए। यहाँ सबका सुख एक साथ कहकर आगे सुखसे जिसकी जैसी दशा हुई वह दशा पृथक् वर्णन करते हैं। पुनः, 'येहि लालसा मगन सब लोगू। बर साँवरो जानकी जोगू।' इसीसे 'देखि लोग सब भये सुखारे।'

नोट—१ श्रीमान् गौड़जी कहते हैं कि "सुर मुनि और असुरोंके विचारमें तो उसी क्षण यह बात आ गई कि प्रभुने धनुष तोड़ा है, उसीकी यह आवाज है। यहाँ मनुष्योंकी बात है। वहाँ जो मनुष्य लोग खड़े देखते थे, उनके लिये यह आवाज तो एक क्षणके मध्यमें हुई जिससे उनकी घबराहट भी क्षणिक हुई। भुवनोंमें तो दूरीके अनुसार बहुत देरमें शब्द पहुँचा; शब्दकी गति प्रकाशकी अपेक्षा बहुत मंद है। अतः उस स्थानके देखनेवाले तो एक क्षणभरमें शब्दसे चौंक उठे, परन्तु उसी समय जब लोगोंने देखा कि धनुषके दोनों टुकड़े प्रभुने नीचे गिरा दिये, तो लोग बड़े सुखी हुए, क्योंकि उन्हें पता चला कि बिजलीकी दमक और कड़क धनुषके टूटनेसे ही हुई।"

२ ☞ गोस्वामीजीकी लिखनेकी शैली है कि जहाँ उन्हें बहुत बड़ी गंभीरता प्रदर्शित करनी होती है वहाँ वे किसी न किसी प्रकार समुद्रका रूपक बाँधते हैं। विश्वामित्र एक ऋषि हैं, उनको हर्ष-विषादसे कोई संबन्ध नहीं, परन्तु धनुष टूटनेसे उन्हें भी हर्ष हुआ। इसी हर्षको यहाँ गोस्वामीजीने कितनी गंभीरतासे वर्णन किया है, यही बात देखने योग्य है।

साधारण लोगोंका वर्णन तो ऊपर चौपाईमें कर ही दिया था, सबमें वे भी आ जाते थे। फिर अलग कहनेकी जरूरत क्या थी ? विश्वामित्रके हर्षका अलग वर्णन करके गोस्वामीजीने रामजीके कामकी उत्कृष्टता ध्वनित की है। हर्ष इनको ऐसा क्यों हुआ ? क्योंकि इन्होंने आज्ञा दी थी, उनकी बात पूरी हुई।

३ रूपक कितना ओजगुणपूर्ण है ! (Miltonic Indeed)—(लमगोड़ाजी)।

टिप्पणी—२ (क) 'कौसिक रूप पयोनिधि पावन' इति। समुद्रका एक रूपक 'संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल' इस दोहेपर समाप्त किया। अब दूसरा रूपक बाँधते हैं। समुद्रके रूपकका प्रसंग तो था ही, अब उसी प्रसंगमें दूसरा (समुद्रका) रूपक करनेमें तात्पर्य्य यह है कि प्रसंगसे सब बात कहना कविताकी शोभा है। (ख) सबसे प्रथम विश्वामित्रजीका सुख वर्णन किया क्योंकि सबके सुखके मूल ये ही हैं, यथा 'बारबार कौसिकचरन सीस नाइ कह राउ। यह सब सुख मुनिराज तव कृपाकटाक्ष प्रभाउ।' (ग) 'पयोनिधि पावन' कहनेका भाव कि लौकिक समुद्रकी पृथ्वीसे कौशिकरूप पावन है क्योंकि ये एक तो विप्र हैं, दूसरे भारी तपस्वी हैं। [लौकिक समुद्र दिन-विशेष, देशविशेष तथा कालविशेष छोड़कर सब देशकालमें अस्पृश्य है। यथा 'अश्वत्थसागरौ सेव्यौ न स्प्रष्टव्यौ कदाचन' इति भारते, 'बिना मन्त्रं विना पर्व क्षुरकर्म विना नरैः। कुशाग्रेणापि देवेशि न स्प्रष्टव्यो महोदधिः' (स्कान्दे)। अर्थात् अश्वत्थ और समुद्रका पूजन करे, पर उन्हें छूये नहीं। मंत्र, पर्व, क्षौरकर्म बिना, हे देवि ! कुशाके अग्रसे भी समुद्रका स्पर्श न करे। परन्तु कुशिकनन्दनका

रूप पवित्र समुद्र है । (वि० त्रि०)] । (घ) 'प्रेम बारि अवगाह सुहावन' इति । भाव कि समुद्रके जलसे विश्वामित्रका प्रेम सुन्दर है क्योंकि समुद्रका जल बाहरकी सफाई करता है और प्रेमजल भीतरकी, यथा 'प्रेमभगति-जल बिनु खगराई । अभ्यंतर मल कबहुँ कि जाई ।' समुद्रकी लहरसे विश्वामित्रकी पुलकावली भारी है, 'बढ़त बीचि पुलकावलि भारी' । तात्पर्य्य कि रामजी में प्रेमपुलकावली होना सब तीर्थोंसे अधिक है ।—यहाँ अगली अर्धालीमें 'परंपरित रूपक' है ।

३ 'रामरूप राकेस निहारी ।०' इति । (क) 'बढ़त' कहकर जनाया कि विश्वामित्रजीमें प्रेम कुछ इसी समय नहीं उत्पन्न हुआ, प्रेम तो पूर्वहीसे रहा है, इस समय पराक्रम देख अधिक हो गया । जैसे समुद्रमें जल (और लहरें तो) पहलेसे ही था पर वह पूर्णचन्द्रको देखकर अधिक बढ़ने लगता है । (ख) दोनों का मिलान—

समुद्रका जल पावन	१	विश्वामित्रका रूप पावन
समुद्र जलसे भरा	२	कौशिकरूप प्रेससे भरा
समुद्रका जल अथाह और सुहावन	३	कौशिकका प्रेम अथाह और सुहावन
राकेशको देख ज्वारभाटा होता है	४	रामरूप देख पुलकावली बढ़ती है
समुद्रकी लहरें भारी	५	कौशिकजीकी पुलकावली भारी

वि० त्रि०—आज रामरूपी चन्द्र पूर्णकलासे उदित हैं । मानों धनुषरूपी राहुको जिसने राजाओंके बलरूपी चन्द्रका ग्रास किया था समरभूमिमें बध करके विजयलक्ष्मीकी शोभाको प्राप्त किये हैं । यथा 'लेहु री लोचननि को लाहु । कुँवर सुंदर साँवरो सखि सुमुखि सादर चाहु । खंडि हर कोदंड ठाढ़े जानुलंबित बाहु । मुदित मन बर बदन सोभा उदित अधिक उछाहु । मनहु दूरि कलंक करि ससि समर सूद्यौ राहु ।' श्रीरामरूपी अपूर्व पूर्णचन्द्रको देखकर प्रेमामृतपूर्ण समुद्ररूप कौशिकजीके शरीरमें बारंबार पुलकरूपी तरंगें उठने लगीं ।

नोट—मिलान कीजिए—'उत्क्षिप्तं सह कौशिकस्य पुलकैः सार्धं मुखैर्नामितं' अर्थात् श्रीरामजीने उस शिवजीके धनुषको विश्वामित्रके पुलकके साथ उठाया, अर्थात् धनुष उठानेके समय आनंदसे विश्वामित्रके रोम खड़े हो गए । (हनुमन्नाटके १-२३) ।

बाजे नभ गहगहे निसाना । देवबधू नाचहिं करि गाना ।।४।।
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा । प्रभुहि प्रसंसहिँ देहिँ असीसा ।।५।।
बरिसहिँ सुमन रंग बहु माला । गावहिँ किंनर गीत रसाला ।।६।।

अर्थ आकाशमें नगाड़े घमाघम बजने लगे । अप्सरायें गागाकर नाच रही हैं ।। ४ ।। ब्रह्मादिक देवता, सिद्ध और मुनीश्वर प्रभुकी सराहना करते और आशीर्वाद देते हैं । ५।। बहुत रंगबिरंगके फूल और फूलोंकी मालायें बरसा रहे हैं । किन्नर लोग रसीले गीत गा रहे हैं ।। ६ ।।

टिप्पणी - १ (क) 'बाजे नभ गहगहे निसाना' कहकर जनाया कि देवताओंके हृदयमें बहुत आनंद हुआ क्योंकि ये 'कदरा' रहे थे कि धनुष टूटेगा या न टूटेगा, यथा 'सुर मुनिबरन्ह केरि कदराई' । वह कायरता धनुष टूटनेपर निवृत्त हुई । इसीसे हर्ष पूर्वक उन्होंने घमाघम नगाड़े बजाए । (ख) 'देवबधू' अर्थात् रंभादिक अप्सराएँ । यथा 'रंभादिक सुरनारि नबीना' । (ग) ☞ उत्सवमें प्रथम बाजे बजते हैं, यथा 'परमानंद पूरि मन राजा । कहा बोलाइ बजावहु बाजा । १६३ । ६ ।', 'भएउ समउ अब धारिय पाऊ । यह सुनि परा निसानहिं घाऊ । ३१३।७ ।', इत्यादि । इसीसे प्रथम निशान बजाना लिखा तब नाचना गाना । आगे जयमालके उत्सवमें भी प्रथम बाजे बजे, यथा 'पुर अरु ब्योम बाजने बाजे । २६५।१ ।' (घ) ऊपर लहरोंका उठना कहा, लहरोंके उठनेमें शब्द होता है । अतः 'बढ़त बीचि०' कहकर 'बाजे नभ०' कहा ।

(ङ) नगाड़ोंका बजना कहा पर यह न कहा कि किसने बजाया, उसे आगे खोलते हैं—'ब्रह्मादिक सुर०'। अर्थात् ब्रह्मादि देवता सिद्ध मुनीश्वर ही नगाड़े बजाते हैं, प्रशंसा करते हैं, आशीर्वाद देते हैं, फूलमाला बरसाते हैं और जय बोलते हैं, यथा 'जोगींद्र सिद्ध मुनीस देव बिलोकि प्रभु दुंदुभि हनी। चले हरषि बरषि प्रसून निज निज लोक जय जय जय भनी।'

२ (क) 'प्रभुहि प्रसंसहिं०' इति। प्रभु समर्थको कहते हैं। प्रभु-पद देकर जनाया कि उनके सामर्थ्यकी प्रशंसा करते हैं और सामर्थ्यपर प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। पुरुषार्थकी प्रशंसा ब्रह्मादि करते हैं इससे सिद्ध हुआ कि इस धनुषके तोड़नेका सामर्थ्य सुर, नर, असुर किसीमें न था। (ख) 'देहिं असीसा'। क्या असीस देते हैं? यह कि बहुत काल जियो, सदा जयमान रहो, यथा 'तेहि समय सुनिय असीस जहँ तहँ नगर नभ आनँद महा। चिरजिवहु जोरी चारु चार्‌यो मुदित मन सबही कहा। ३२७।' ब्रह्मादिक आकाशहीमें स्थित हैं। वहींसे आशीर्वाद दे रहे हैं। [गीतावलीके अनुसार शिव ब्रह्मा आदि धनुर्भंगका शब्द सुनकर सब आए। यथा "चौंके सिव बिरंचि दिसिनायक रहे मूँदि कर कान।८। सावधान ह्वै चढ़े बिमाननि चले बजाइ निसान। उमगि चल्यौ आनंद नगर नभ जयधुनि मंगल गान।९। गी० १।८८।"]। (ग) 'बरिसहिं सुमन रंग बहु माला' इति। देवता समय समयपर फूल बरसाते रहे, यथा 'समय समय सुर बरिसहिं फूला'। जब श्रीरामजी आए तब बरसाये और जब जानकीजी आईं तब बरसाये, यथा 'देखहिं सुर नभ चढ़े बिमाना। बरषहिं सुमन करहिं कल गाना', 'हरषि सुरन्ह दुंदुभी बजाई। बरषि प्रसून अपछरा गाई।' (पर मालाका बरसाना अभीतक न लिखा था। इससे मालूम होता है कि मालायें बनाये रक्खे रहे कि धनुष टूटनेपर बरसावेंगे), इस समय धनुष टूटनेपर मालायें बरसाईं क्योंकि यह समय और सब समयसे विशेष है, इस समय तो महामंगल उपस्थित है। पुनः भाव कि इस समय श्रीरामजीके गलेमें माला पड़ना चाहिए इसीसे देवोंने फूलमाला बरसाई, फूलमाला बरसाना प्रभुको माला पहनाना है। (घ) फूल माला बरसाकर जयजयकार करते रहे जैसा आगेके 'रही भुवन भरि जय जय बानी' से स्पष्ट है। इससे सूचित किया कि यह जयमाला है। सबसे प्रथम देवताओंने जयमाल पहनाया। जब वीरकी विजय प्राप्त होती है तब उसकी पूजा होती है—फूलमाला बरसाना यह देवताओंकी भक्ति और पूजा है। (ङ) 'बहु' देहलीदीपक है। (च) देववधूके गानको रसाल न कहा और किन्नरोंके गानमें 'गीत रसाला' कहा। तात्पर्य कि इनका गाना उनसे भी सुन्दर है।

रही भुवन भरि जय जय बानी। धनुषभंग धुनि जात न जानी ॥७॥
मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी। भंजेउ राम संभु धनु भारी ॥८॥

दोहा—बंदी मागध सूतगन बिरुद बदहिं मति धीर।
करहिं निछावरि लोग सब हय गय धन मनि चीर ॥२६२॥

अर्थ—जयजयकारका शब्द ब्रह्मांड भरमें छा गया। धनुषभंगका शब्द जाते न जाना गया (किसीने न जाना)*। ७। आनंदमें भरे हुए सब स्त्री पुरुष जहाँ तहाँ कह रहे हैं कि श्रीरामजीने शंकरजीका भारी

* १ श्रीपोद्दारजीका अर्थ—जिसमें धनुष टूटनेकी ध्वनि जान ही नहीं पड़ती। २—बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "कोदंड भंजेउ राम' यह शब्द कोदंड ही से निकला। उसीको सुनकर सबलोगोंमें जयजयकार हुई। धनुषभंगका शब्द मिटने न पाया।" ३ - वीरकविजी लिखते हैं कि "धनुषभंगके भीषण शब्दका भय भाव लोकोंमें फैलते देरी नहीं कि उत्साहपूर्ण जयजयकारका हर्षभाव प्रबल होनेसे भय उसमें लीन हो गया, सब आनंदमें भर गए, किसीको भयका स्मरण ही न रहा। यह 'भावशांति' है।"

धनुष तोड़ डाला ॥ ८ ॥ धीरबुद्धि भाट, मागध और सूत लोग धीरबुद्धिसे विरदावली कह रहे हैं। सब लोग घोड़े, हाथी, धन, मणि और वस्त्र निछावर कर रहे हैं ॥ २६२ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'रही' शब्दसे 'जयजय' वाणीकी स्थिरता दिखाते हैं; भुवनमें वाणी भरकर रह गई, जाती नहीं (अर्थात् समस्त भुवनोंमें जयजयकार बहुत देरतक होता रहा। (ख) 'धनुषभंगधुनि जात न जानी'। भाव कि धनुष जब टूटा तब उसकी ध्वनिसे भुवन भर गए—'तेहि छन राम मध्य धनु तोरा। भरे भुवन धुनि घोर कठोरा'। जब धनुर्भंग ध्वनिसे भुवन खाली हों तब तो वे जयजय वाणीसे भरें, इसीसे धनुर्भंग ध्वनिका जाना कहते हैं। धनुषभंग ध्वनिका मूल धनुष है सो न रह गया इसीसे उसकी ध्वनि भी न रह गई और जयजय वाणीका मूल भुवनके लोग हैं सो ये सब विद्यमान ही हैं, (घोर कठोर धनुषभंग ध्वनिसे जैसे जैसे लोग सावधान होते जाते हैं तैसे तैसे जयजय उच्चारण करते जाते हैं। प्रथम ब्रह्मादि देवता, सिद्ध, मुनीश्वर सावधान हुए फिर नगरनरनारी।)। जयजयकार कर रहे हैं इसीसे वाणी भुवनमें भर रही है। (ग) 'जात न जानी'। भाव कि धनुषभंग ध्वनिका प्रारंभ होना तो जाना पर वह कब बंद हुई यह न जाना। इससे जनाया कि धनुर्भंग ध्वनि पूरी तौरपर बंद न हो पाई थी कि जय-जयकी ध्वनि होने लगी जो सारे ब्रह्मांडमें ऐसी भर गई कि धनुर्भंग ध्वनि उसीमें विलीन हो गई, इसका पता ही न रह गया।

२ 'मुदित कहहिं जहँ तहँ नरनारी।०' इति। (क) ब्रह्मादिका उत्सव कहकर अब पुरनरनारिका उत्सव कहते हैं। 'मुदित' से हृदयका आनंद कहा। हृदयका आनंद मुखसे प्रकट करने लगे -'भंजेउ रामु०'। जैसे ब्रह्मादिक 'प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा' वैसे ही सब स्त्रीपुरुष 'मुदित कहहिं०' अर्थात् प्रशंसा कर रहे हैं। (ख) 'धनु भारी' कहनेका भाव कि रामजी अति सुकुमार हैं, वे शंभुधनुके तोड़ने योग्य न थे। (ये वही पुरनरनारी हैं जो मंचोंपर बैठे हुए हैं और जिनके संबंधमें पूर्व कहा गया है—'नरनारिन्ह सुर सुकृत मनाए', 'नर नारिन्ह परिहरीं निमेषें'। जहँ तहँ अर्थात् जो जहाँ है वहीं)। आश्चर्य था इसीसे कहते हैं कि रामजीने भारी धनुष तोड़ा। पुनः भारी कारण 'शंभु' विशेषण देकर यह बताया कि वह ईश्वरका धनुष था इसीसे भारी था, किसीके टसकाये न टसका था।

३—'बंदी मागध सूतगन०' इति। (क) विरुदावली कथन करनेमें बंदीगण मुख्य हैं, यथा 'तब बंदीजन जनक बोलाए। बिरिदावली कहत चलि आए। २४६।७।', 'जहँ तहँ बिप्र बेद धुनि करहीं। बंदी बिरिदावलि उच्चरहीं।२६५।४।', 'कतहुँ बिरुद बंदी उच्चरहीं। कतहुँ बेद धुनि भूसुर करहीं' इत्यादि। इसीसे इनको प्रथम कहा। विरद (वीरताका बाना) कहते हैं, क्योंकि यहाँ वीरताका काम किया है। (ख) 'मतिधीर'। भाव कि बुद्धिको धीर किए हुए हैं, पढ़नेमें जल्दी नहीं करते, समझकर पढ़ते हैं। (ग) बंदी, मागध (वंशप्रशंसक) और सूत (पौराणिक) के गण अर्थात् समूह हैं, ये सब निछावर लेनेवाले हैं, ये सब प्रशंसा कर रहे हैं, इसीसे उत्तरार्द्धमें दान देनेवाले भी 'लोग सब' बताए अर्थात् देनेवाले भी बहुत हैं। (घ) सब लोग निछावर करते और देते हैं और ये (बंदी आदि) सब लेते हैं, यथा 'राम निछावरि लेन हित देव हठि होत भिखारी'। (ङ) 'धन' दो तरहका होता है, एक स्थावर दूसरा जंगम। घोड़े, हाथी जंगम हैं और मणि वस्त्र स्थावर हैं। दोनों प्रकारका धन निछावर करते हैं। अथवा 'धन' से अशर्फी, रुपया आदिका देना कहा। अथवा, बाजा बजानेवालोंको निछावर देते हैं—बाजेवालोंको आगे कहते हैं। (च) पुनः भाव कि बंदी आदि 'भंजेउ राम शंभु-धनु भारी' यह प्रशंसा कर करके विरदावली कहते हैं, उसी तरह सब लोग प्रशंसा करते हुए निछावर देते हैं।

नोट—"मागध, सूत" इति। ब्रह्मपुराणमें इनकी उत्पत्ति पृथुजीके 'पैतामह यज्ञ' से कही गई है। उस यज्ञमें सोमाभिषेकके दिन सूति (सोमरस निकालनेकी भूमि) से परम बुद्धिमान् सूतकी उत्पत्ति हुई

उसी महायज्ञमें विद्वान् मागधका भी प्रादुर्भाव हुआ। उन दोनोंको महर्षियोंने पृथुकी स्तुति करनेके लिये बुलाया और कहा कि तुम लोग इन महाराजकी स्तुति करो। यह कार्य तुम्हारे अनुरूप है और ये महाराज भी इसके योग्य पात्र हैं।' सूत और मागधने कहा कि हम महाराजका नाम, कर्म, लक्षण और यश कुछ भी नहीं जानते तब स्तुति क्योंकर करें। तब ऋषियोंने कहा कि तुम भविष्यमें होनेवाले गुणोंका उल्लेख करते हुए स्तुति करो। उन्होंने वैसा ही किया। जो-जो कर्म उन्होंने बताए उन्हींको पीछे पृथुमहाराजने पूर्ण किया। तभीसे लोकमें सूत, मागध और वंदीजनों द्वारा आशीर्वाद दिलानेकी परिपाटी चल पड़ी। विशेष अन्यत्र लिखा गया है। १६४(६) में भी देखिए। [प्र० सं० में लिखा गया था कि भाट (बंदी) कवित्तोंमें मागध (कत्थक) पदोंमें और सूत (पौराणिक) श्लोकोंमें यश गान कर रहे हैं]।

झाँझि मृदंग संख सहनाई। भेरि ढोल दुंदुभी सुहाई॥१॥
बाजहिं बहु बाजने सुहाए। जहँ तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए॥२॥
सखिन्ह सहित हरषीं अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी॥३॥

शब्दार्थ—झाँझि (झाँझ) मँजीरेकी तरह पर उससे बहुत बड़े कांसेके ढलेहुए तश्तरीके आकार के दो ऐसे गोलाकार टुकड़ोंका जोड़ा जिनके बीचमें कुछ उभार होता है। उसी उभारमें एक छेद होता है इसके दोनों मुहँड़े चमड़ेसे मढ़े होते हैं। इसका ढाँचा पक्की मिट्टीका होता है, इससे वह मृदंग कहलाता है। 'शहनाई'=बाँसुरी या अलगोजेके आकारका, पर उससे कुछ बड़ा; मुँहसे फूँककर बजाया जानेवाला बाजा जो प्रायः रोशनचौकीके साथ बजाया जाता है। नफ़ीरी। तुरही। 'भेरी'=बड़ा ढोल या नगाड़ा, ढक्का। ढोल=लकड़ीके गोल कटेहुये लंबोतरे कुंदेको भीतरसे खोखला करते हैं और दोनों ओर मुँहपर चमड़ा मढ़ते हैं। दोनों ओरके चमड़ोंपर भिन्न प्रकारका शब्द होता है। एक ओर तो ढबढबेकी तरह गंभीर ध्वनि निकलती है और दूसरी ओर टंकारकासा शब्द होता है।

अर्थ—झाँझ, मृदंग, शङ्ख, शहनाई, भेरी, ढोल और सुहावँने छोटे नगाड़े आदि॥१॥ बहुतसे सुन्दर बाजे सुहावने बज रहे हैं। जहाँतहाँ युवावस्थावाली स्त्रियाँ मंगल गाने लगीं॥२॥ सखियोंसहित सब रानियाँ अत्यंत हर्षित हुईं, मानों सूखते हुए धानपर पानी पड़ गया हो॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीरामजीकी विजय हुई; इसीसे जो बाजे विजयके समय बजाए जाते हैं उन्हींका' बजाना लिखते हैं। यथा 'भेरि नफ़ीरि बाजि सहनाई। मारू राग सुभट सुखदाई। ६।७८।' (ख) 'सुहाई' कहनेका भाव कि ये बाजे वीररसके प्रारंभमें वीरताको उत्तेजित करनेके लिये जोरसे बजाये जाते हैं, यथा 'पवन निसान घोर रव बाजहिं। प्रलय समयके घन जनु गाजहिं। ६।७८।' यहाँ वीरताका काम हो चुका, इसीसे यहाँ जोरसे न बजकर सुहावने बज रहे हैं। (जैसे शहनाईके साथ छोटी नगड़िया रहती है वैसेही यहाँ ढोलके साथ दुंदुभी है)। (ग)-(शंका) दुंदुभी शब्द पुल्लिंग है-दुंदुभिः पुमान् इत्यमरः। तब 'सुहाई' स्त्रीलिंग कैसे कहा? (समाधान) भाषामें बहुत पुल्लिंग शब्द स्त्रीलिंगमें बोले जाते हैं जैसे 'ऋतु' 'अग्नि' 'शूल' वैसेही यहाँ जानो। (नोट-श० सा० में 'दुंदुभि' को स्त्रीलिंगही लिखा है जब नगाड़ा वा धौंसा अर्थ होता है। 'वरुण' 'विष' 'दुंदुभि-राक्षस' इत्यादि अर्थोंमें ही वह पुल्लिंग माना गया है। 'तब देवन्ह दुंदुभी बजाई', 'मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही')। (घ) 'बाजहिं' कहकर जनाया कि धनुष टूटा तब प्रथम देवोंके नगाड़े बजे, यथा 'बाजे नभ गहगहे निसाना। २६२।४।' उसे सुनते ही यहाँ मनुष्यों के बाजे बजनेलगे, तब मंगलगान निछावर इत्यादि हुए। (ङ) 'बहु बाजने' कहकर और भी अनेक प्रकारके सभी बाजे सूचित करदिये। (च) जब देवताओंके बाजे बजे तब देवाङ्गनाओंका नाचना गाना लिखा वैसेही जब मनुष्योंके बाजे बजे तब मनुष्योंकी स्त्रियोंका गाना कहा। यहाँ राज सभा है कुलवती स्त्रियोंके।

नाचनेका मौक़ा नहीं है, इसीसे इनका नाचना न कहा, केवल 'मंगल' गान करना कहा। धनुष टूटनेसे देवताओं और मनुष्यों दोनोंको एक सा हर्ष हुआ, इसीसे दोनोंका एक समान उत्सव लिखा। यथा—

बाजे नभ गहगहे निसाना	१	बाजहिं बहु बाजने सुहाए
देवबधू नाचहिं करि गाना	२	जहँ तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए
ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा	३	मुदित कहहिं जहँ तहँ नर नारी।
प्रभुहि प्रसंसहि देहिं असीसा		भंजेउ राम संभु धनु भारी
बरिसहिं सुमन रंग बहु माला	४	करहिं निछावरि लोग सब हय गय धन मनि चीर

☞देवता उतरकर निछावर नहीं कर सकते क्योंकि यह माधुर्य्यलीलाके प्रतिकूल है। आकाशसे पुष्पवृष्टि करते हैं। इसीसे मनुष्य फूल नहीं बरसाते; फूल बरसाना देवताओंका काम है। सुहाए अर्थात् श्रवणसुखदाई और सुन्दर।

वि० त्रि०—पहिले झाँझ मृदंग बजा, फिर विजयसूचक शङ्खध्वनि हुई। शंख बजते ही बाहर ख़बर लगी, फाटकपर शहनाई बजी तब सेनामें भेरी, ढोल और दुंदुभी बजाई गई।

टिप्पणी—२ (क) 'जहँ तहँ जुवतिन्ह०' का भाव कि स्त्रियाँ 'निज निज थल अनुहारि' चारों तरफ़ मंचोंपर बैठी हुई हैं अतएव चारों दिशाओंमें जो जहाँ बैठी हैं वहींसे मंगल गान कर रही हैं। इसी प्रसंगमें रानियोंका सुख वर्णन करते हैं। (ख) 'सखिन्ह सहित हरषीं' कहनेका भाव कि जब रानियोंने अपनी विकलता सखियोंसे कही थी तब वे भी विकल हुईं, इसीसे दोनोंका हर्ष लिखा। पुनः भाव कि खेतीमें धानके पेड़ बहुत होते हैं, (यहाँ पूर्व ही कह आए हैं कि कृषी सूखने ही चाहती है उस कृषीके) सब सखियों सहित रानी धानके पेड़ हैं, सब कुम्हला रही थीं सो हर्षित हुईं। सब लहलहा उठीं। (ग) ☞जिस क्रमसे रानी, श्रीजनकमहाराज और श्रीजानकीजीका भावानुकूल श्रीरामजीको देखना पूर्व वर्णन किया था उसी क्रमसे उनका सुख वर्णन करते हैं। प्रथम रानियोंका देखना कहा था, यथा 'सहित बिदेह बिलोकहिं रानी'। 'सहित बिदेह' कहनेसे रानियोंकी प्रधानता हुई, इसीसे यहाँ रानियोंका सुख प्रथम कहा। सुख-वर्णनमें प्रथम स्त्रियोंका सुख वर्णन किया, यथा 'जहँ तहँ जुवतिन्ह मंगल गाए।' फिर उसी प्रसंगमें सखियोंसहित रानियोंका सुख वर्णन करते हुए 'अति हरषीं' कहकर जनाया कि हर्ष तो सभीको हुआ पर इनको अत्यन्त हुआ, जैसे पानी पड़नेसे सभी अन्नोंको लाभ होता है पर धानको अत्यन्त लाभ होता है (क्योंकि धानका तो वह जीवन ही है, और तो कुयें आदिके जलसे भी हरे हो जा सकते हैं)। पुनः, 'जो अति आतप ब्याकुल होई। तरु छाया सुख जानै सोई'; रानियाँ अति व्याकुल थीं इसीसे उनको अति हर्ष हुआ। 'रानिन्ह कर दारुन दुख दावा' पूर्व कह ही आए हैं जो मोहवश शंकरचाप जहाजपर सवार था, चापके टूटते ही वह भी डूब गया। दारुण दुःख दावानल डूबा, अतः सुख हुआ। (घ) 'सूखत धान०' में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा है।

जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई ॥४॥

श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटें ॥५॥

अर्थ—श्रीजनक महाराजने शोच त्याग सुख प्राप्त किया मानों तैरते हुए थक जानेपर वा तैरते थके हुएने थाह पा ली ॥४॥ धनुषके टूटनेपर (सब) राजा (ऐसे) श्रीहीन (तेजरहित) हो गए, जैसे दिनमें दीपककी छबि (शोभा) जाती रहती है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) वात्सल्यमें माता प्रथम (प्रधान वा अग्रगण्य) हैं इसीसे प्रथम श्रीसुनयनाजीका सुख वर्णन करके पीछे श्रीजनकजीका सुख वर्णन करते हैं। दूसरे माताका दर्जा पितासे बड़ा है इससे

प्रथम उनका सुख कहा। (ख) 'पैरत थके०' इति। यहाँ नदी या जलाशय क्या है? तैरनेवाले तो जनकजी हैं ही, पर तैरना, थकना और थाह पाना क्या है? क्रमसे इनके उत्तर ये हैं—शोच समुद्र है। विवाहके लिये धनुष तोड़नेकी प्रतिज्ञा करके सोचमें पड़े, यही तैरना है। प्रतिज्ञा पूरी न हुई जिससे वे पछताने लगे कि, 'जौ जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई।२५२।६।' यही थकना है। जैसे समुद्रमें थाह मिलनेका आशा-भरोसा नहीं, वैसे ही श्रीरामजी धनुष तोड़ेंगे यह आशा-भरोसा न था। शोचसमुद्रमें तैरते तैरते थक गए, वैसेही श्रीरामजीने धनुषको तोड़डाला जिससे सोच छूटा, सुख मिला, यही थाहका पाना है। [बाबा रामदासजीका मत है कि प्रतिज्ञा समुद्र है, सोच जल है, "दीप दीप के भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना।' इत्यादि तैरना है। 'लिखा न बिधि बैदेहि बिबाहू। सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊं।' यहाँसे थकना प्रारंभ हो गया। "जौ जनतेउं बिनु भट भुवि भाई। तौ पन करि होतेउँ न हँसाई।" यह पूरी तरह थक जाना है। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि "बुद्धिसे विचार करना कि (राजाओंसे धनुष नहीं टूटा अब हमारा) क्या कर्त्तव्य है।" तैरना है और "विचार करते करते विचारशक्तिसे रहित हो जाना और पण जानेके सोचमें पड़ जाना" थकना है।] जैसे डूबते हुयेको थाह मिल जानेसे सुख होता है वैसे जनकजीको रामजीके धनुष तोड़नेपर सुख हुआ।† (ग) श्रीसुनयनाजीको धानकी और श्रीजानकीजीको चातकीकी उपमा दी; क्योंकि ये दोनों केवल श्रीरामजीको चाहती हैं, जैसे धान और चातकी केवल जल चाहते हैं। और, राजाको तैरते हुए थाह पाना कहा; क्योंकि राजाने प्रण किया है, वे केवल अपने प्रणकी पूर्त्ति चाहते हैं, यथा 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊं। कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊं', जैसे तैरनेवाला केवल पार पानेकी इच्छा करता है।

२ "श्रीहत भये भूप धनु टूटे।०" इति। (क) यहाँ 'सूर्य्य, दिन, दीप, अंधकार' क्या हैं? श्रीरामजी सूर्य्य हैं, धनुषका टूटना दिन है, राजा दीपक हैं, धनुष अंधकार है। जैसे सूर्य्यसे तमका नाश वैसे ही रामजीसे धनुषका नाश। जैसे दिनमें दीपक शोभारहित वैसे ही धनुषभंग होनेसे सब राजा शोभारहित। जैसे रातमें दीपककी शोभा है वैसे ही धनुषके रहते राजाओंकी शोभा थी, तबतक किसीकी छोटाई बड़ाई न थी, सब बराबर थे। राजाओंकी श्री दीपककी छबि है। 'दिवस दीप छबि छूटें' कहकर श्रीरामजीकी 'श्री' और राजाओंकी 'श्री' में इस प्रकारका और इतना अन्तर बताया जैसा सूर्य्य और दीपकमें अन्तर है। (ख) राजा बहुत हैं, इसीसे 'छूटें' बहुवचन क्रिया दी। (ग) पूर्व लिखा था कि 'प्रभुहि देखि सब नृप हिय हारे। जनु राकेस उदय भये तारे', क्योंकि तब कुछ कुछ शोभा बनी रही थी और अब सब शोभा जाती रही, वे निस्तेज हो गए; इससे 'दिवस दीप छबि छूटें' की उपमा दी। (घ) पूर्व भी राजाओंका 'श्रीहत' होना कहा था, यथा 'श्रीहत भए हारि हिय राजा', परन्तु तबतक धनुष टूटा न था, इससे वहाँ दीपककी (वा, कोई भी) उपमा न दी थी। धनुषरूपी तमके रहते दीपककी शोभा बनी रही। धनुष टूटनेपर श्री बिलकुल नष्ट हो गई तब दीपककी उपमा दी। (ङ) 'जनकजीका सुख कहकर सब राजाओंका हाल प्रसंग पाकर कहा। राजाके प्रसंगमें राजाका हाल कहना योग्य ही है। (च) ['श्रीहत भये' = ऐश्वर्य्य वा तेज जाता रहा, यथा 'जस प्रताप बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई'। वा, = मुखद्युति कुम्हलाई, यथा 'नमित सीस सोचहिं सलज्ज सब श्रीहत भये सरीर।' (गी०)]। (छ) पुनः, चन्द्रमा और तारागणकी शोभा एकसी है, बड़े छोटेका भेद है। ऐसे ही राजा छोटे हैं, रामजी बड़े हैं। सूर्य्य और अग्निका तेज एक तरहका है, रामजी सूर्य्य हैं, राजा दीपक हैं। इस भेदसे यहाँ दो उपमायें दीं।

† वीरकविजी—जनकजीके हृदयमें पहिले सोच था, फिर सुख हुआ। आधार एक राजा जनक हैं, आश्रय लेनेवाले सोच, सुख भिन्न भिन्न हैं। यह 'द्वितीयपर्य्याय अलंकार' है। 'पैरत थके थाह जनु पाई' में उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा है।

वि० त्रि०—प्रथम अरुणोदय कहा, यथा 'अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन', तब सूर्योदय कहा—'उदित उदयगिरिमंच पर रघुबर बाल पतंग'। सूर्योदय होनेपर अब दिन कह रहे हैं कि राजा ऐसे निस्तेज पड़ गए जैसे दिनमें दीपक। भाव कि 'मंद महीपन्ह कर अभिमानू' भी उस समाजमें था जो चाप-जहाजपर चढ़े थे, सो इस समय धनुष टूटते ही वह डूब गया। उसीके साफल्यरूपसे राजाओंकी श्रीहीनता वर्णन करके कहते हैं।

सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती ॥६॥

रामहि लखनु बिलोकत कैसें। ससिहि चकोर किसोरकु जैसें ॥७॥

शब्दार्थ—किसोरक(किशोरक)=छोटा बच्चा। जैसे बाल और बालक वैसे ही किशोर और किशोरक। स्वार्थमें 'क' प्रत्यय है।

अर्थ—श्रीसीताजीका सुख किस प्रकार वर्णन किया जाय? (ऐसा जान पड़ता है) मानों स्वातीका जल पाकर चातकी (सुखी हो रही है) ॥६॥ श्रीलक्ष्मणजी श्रीरामजीको कैसे देख रहे हैं, जैसे चकोरका बच्चा चंद्रमाको ताकता है ॥ ७ ॥

वि० त्रि०—सीताजीकी अवस्था रामजीने देखी तो ऐसी हो रही थी जैसे प्यासा विना पानीके मर रहा हो, यथा 'तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा'। अब जैसे चातकीको स्वातीकी बूँद मिल जाय और प्यास मिटकर सुख हो वैसा सुख श्रीजनकनन्दिनीको हुआ। वर्षाके सब नक्षत्र बीत गए, चातकीको जल न मिला, उसकी प्यास बढ़ती ही गई, वह मरणोन्मुख हो रही थी, तब स्वातीकी वर्षा हो गई, जिसकी वस्तुतः उसे प्यास थी, अतः सीताजीके सोचके डूबनेका प्रसंग कहते हैं कि वह भी पूर्वोक्त सांयात्रिकों (पोतवणिकों) मेंसे था। यथा 'सिय कर सोच जनक पछितावा।'

टिप्पणी—१ (क) प्रथम श्रीसुनयनाजीका, फिर श्रीजनकजीका सुख कहकर अब श्रीजानकीजीका और उनके पीछे श्रीलक्ष्मणजीका सुख कहा। जैसे स्त्रियोंके प्रसंगमें स्त्रियोंका सुख और राजाके प्रकरणमें राजाका हाल कहा; वैसे ही बालकोंके प्रसंगमें बालकका सुख कहा। श्रीजानकीजी बालिका हैं और लक्ष्मणजी श्रीजानकीजीके पुत्रके समान हैं; दोनों ही बालक हैं। पुनः क्रमका भाव कि माताका गौरव पितासे अधिक है, इसीसे प्रथम श्रीसुनयनाजीका सुख कहा तब श्रीजनकजीका। जानकीजी पुत्री हैं इससे पिताके बाद पुत्री कन्याका सुख कहा। श्रीजानकीजी लक्ष्मणजीको पुत्र समान मानती हैं, अतः उनका सुख कहकर पुत्र लक्ष्मणका सुख कहा गया। (ख) 'बरनिय केहि भाँती' अर्थात् किसी प्रकार वर्णन नहीं करते बनता। न वर्णन कर सकनेका हेतु प्रथम ही कह चुके हैं, यथा 'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया। उर अनुभवति न कहि सक सोऊ। कवन प्रकार कहै कबि कोऊ। २४२।६-७।' जैसे सबोंकी भावनायें कहीं पर सीताजीकी भावना न कह सके, वैसे ही सबका सुख कहा पर जानकीजीका सुख न कह सके। (ग) 'सूखत धान परा जनु पानी', 'पैरत थकें थाह जनु पाई' और 'जनु चातकी पाइ जल स्वाती' ऐसी उपमायें देकर सूचित किया कि रानी, राजा और जानकीजी इन तीनोंको मरणान्तक्लेश रहा। यदि धनुषके तोड़नेमें किंचित् भी विलंब होता तो ये तीनों मर जाते। पुनः जैसे चातकी स्वाती छोड़ अन्य जल नहीं छूती वैसे ही श्रीजानकीजी रामजीको छोड़ दूसरेको नहीं चाहतीं। (घ) 'जनु चातकी पाइ जल स्वाती' कहनेसे यह सूचित हुआ कि वर्णन नहीं करते बनता, इस उपमासे समझ लो कि धनुष टूटे बिना जानकीजीको चातकीकासा क्लेश था और धनुष टूटनेसे चातकीकासा सुख हुआ। दुःख सुख कहते नहीं बनता। ☞ उत्प्रेक्षासे दिखाभर देते हैं। [नंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि द्वीपद्वीपके अनेक राजा जो आए और धनुष उठाते थे वही चतुर्मासकी वर्षा है, उनकी ओर चातकीरूप श्रीजानकीजी दृष्टि नहीं देती थीं क्योंकि उनकी आशा तो स्वातीके जलरूप श्रीरामजीकी प्राप्तिमें है।" यहाँ भी उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।]

२ (क) 'ससिहि चकोरकिसोरक जैसे' इति। (सीताजीके लिये) चातकी और (लक्ष्मणजीके लिए) चकोरका दृष्टान्त देकर सूचित किया कि ये दोनों श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं। प्रथम ही 'रामरूप राकेस निहारी' से रामजीको राकेश कह आए, वही प्रसंग चला आ रहा है; इसीसे यहाँ भी चंद्रमा और चकोरका दृष्टान्त देते हैं। (ख) रानी, राजा और जानकीजीको रामजी प्राप्त न थे, जब धनुष टूटै और सम्बंध हो तब वे मिलें, इसीसे 'सूखते धानमें पानी पड़ने', 'तैरतेमें थकनेपर थाह पाने' और 'चातकीको स्वातीजलके मिलने' की उपमा दी। ये तीनों बड़े व्याकुल थे, इसीसे इनको बड़ी व्याकुलता (होनेपर क्लेश) से मिलना कहते हैं। और विश्वामित्र और लक्ष्मणजी दोनों रामजीके सम्बंधी हैं और दोनोंको रामजी प्राप्त हैं, इससे इनको क्लेशसे पानेवालोंकी उपमाएँ नहीं देते। इनका प्रेममात्र रामजीमें दिखाते हैं। जैसे समुद्र और चकोरका प्रेम चंद्रमें है। पुनः, जैसी विश्वामित्र और लक्ष्मणजीको रामरूपकी प्राप्ति है वैसे ही उपमा देकर भेद दिखाते हैं। श्रीविश्वामित्रजीको समुद्र और रामजीको राकेश कहकर सूचित किया कि जैसे समुद्रको उसका सुखदाता पूर्णचन्द्र मासभरमें मिलता है वैसे ही विश्वामित्रजीको रामजीने बहुत दिनोंमें मिलकर सुख दिया। श्रीरामजीको चंद्र और लक्ष्मणजीको चकोरकिशोरक कहकर दिखाया कि जैसे चंद्रमासे चकोर सदा सुख पाता है वैसे ही लक्ष्मणजी रामरूपसे सदा सुख पाते हैं। मुनिके सुख पानेमें नियम है (पूर्णिमाका नियम जैसे समुद्रको), लक्ष्मणजीके सुखमें कोई नियम नहीं है। (पुनः समुद्रकी उपमा देकर जनाया कि इनका सुख सब दिन नहीं, जैसे समुद्रमें ज्वारभाटा केवल पूर्णिमाको होता है। ये तो माँग लाए थे, व्याहके बाद फिर साथ छूट जायगा। और लक्ष्मणजीको सदैव प्राप्त है)। (ग) लक्ष्मणजी किशोर हैं, इसीसे उन्हें चकोर किशोरक अर्थात् बालचकोर कहा। [औरोंके संबंधमें उत्प्रेक्षा की और लक्ष्मणजीके संबंधमें उपमा कही। यहाँ उदाहरण अलंकार है।]

श्रीनंगेपरमहंसजी—'ससिहि चकोर किसोरक जैसे' इति। "जैसे चकोर अग्निको भक्षण करते हैं। उनके अंतश (अंतःकरण) में गरमी विशेष रहती है तो वह चंद्रमाकी तरफ दृष्टि देते हैं। उनको चंद्रमाकी शीतलता बहुत सुख देती है। वैसेही राजा जनकजीके वचनोंने लखनलालजीके अन्तःकरणमें क्रोधरूप अग्नि पैदा कर दी थी। जब श्रीरामजीने धनुषको तोड़ दिया। तब धनुषके तोड़नेकी शीतलता रामजीके द्वारा लखनलालजीके क्रोधरूप अग्निकी गरमीको शान्त कर रही है। इससे रामजीको देखनेसे लखनलालको तृप्ति नहीं होती है।"

वि० त्रि०—इस समय प्रभु धनुषभंग करके खड़े हैं, अपार शोभा है। लक्ष्मणजी यद्यपि विश्वामित्र-जीके पास बैठे हैं तथापि उनकी दृष्टि रामजीपर ही है। इस समय वे इस चावसे देख रहे हैं जैसे चंद्रको चकोरकिशोर देखे।

श्रीराजारामशरणजी—अपनी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक शैलीके अनुसार कविने धनुषभंगके प्रभावों को किस विस्तार और सरसतासे सभीके संबंधमें पृथक्-पृथक् फिर वर्णन कर दिया? चित्रण ऐसा है कि 'टाकी'-कला भी हार जायगी।

सतानंद तब आयेसु दीन्हा। सीता गमनु राम पहिं कीन्हा ॥८॥

दोहा—संग सखीं सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार।
गवनी बाल मराल गति सुखमा अंग अपार ॥२६३॥

अर्थ—(जब श्रीरामजीने धनुषके दोनों खंड पृथ्वीपर डाल दिये, मंगल गान आदि होने लगा, बाजे बजने लगे, इत्यादि) तब श्रीशतानंदजीने आज्ञा दी। श्रीसीताजीने रामजीके पास गमन किया (अर्थात्

उनके पास चलीं ।। ८ ।। साथमें सुन्दर चतुर सखियाँ मंगलाचारके गीत गा रही हैं । श्रीसीताजी बाल-हंसिनीकी चालसे चलीं । उनके अंगोंमें अपार परमा शोभा है ।। २६३ ।।

टिप्पणी—१ (क) 'आयेसु दीन्हा' । क्या आज्ञा दी यह यहाँ नहीं खोला; आगे जब सीताजीने पास जाकर जयमाल पहनाया तब ज्ञात हुआ कि जयमाल पहनानेकी आज्ञा दी थी । (ख) 'सतानंद आयेसु दीन्हा' । प्रथम बार जनकजीका सीताजीको बुलाना लिखा गया है, यथा 'जानि सुअवसर सीय तब पठई जनक बोलाइ' । अर्थात् रंगभूमिमें सीताजी जनकजीकी आज्ञासे आईं और अब जयमाल पह-नानेकी आज्ञा शतानंदजीने दी, क्योंकि जयमाल पहनाना एक प्रकारसे विवाह ही है । विवाहमें पुरोहित ही प्रधान है; इसीसे यह कार्य्य पुरोहितकी आज्ञासे हुआ । विश्वामित्रजी इस समय श्रीरघुनाथजीके पुरोहित हैं । इसीसे धनुष तोड़नेकी आज्ञा इन्होंने दी और धनुष टूटनेपर जयमाल जनकजीके तरफसे पड़ा, इसीसे जयमालकी आज्ञा उधरके पुरोहितने दी । [या यों कहें कि यहाँ विवाह तीन प्रकारसे है—पण, जयमाल और लोकव्यवहार । विवाह पुरोहित द्वारा होता है सो प्रतिज्ञाके विवाहमें रामजीके पुरोहितने आज्ञा दी 'उठहु राम भंजहु भवचापू' । जयमालविवाहमें उधरके पुरोहित श्रीशतानन्दजीने आज्ञा दी । लोकव्यवहार बारात आनेपर होगा । (प्र० सं०)] ।

२ (क) 'सुंदर चतुर' कहकर जनाया कि ये ही सखियाँ सदा श्रीजानकीजीके साथ रहती हैं । जब फुलवारीमें गईं तब इनको 'चतुर सुंदर' कहा था, यथा 'संग सखीं सब सुभग सयानीं । २२८.३ ।' सुभग सयानी = सुंदर चतुर । फिर जब रंगभूमिमें आईं तब भी इनको सुंदर और चतुर कहा था, यथा 'चतुर सखीं सुंदर सकल सादर चलीं लेवाइ । २४६ ।' इसीसे ज्ञात होता है कि तीनों बार वही सखियाँ साथ थीं । (ख) सखियोंकी चतुराई स्पष्ट है, यथा 'चतुर सखी लखि कहा बुझाई । पहिरावहु जयमाल सुहाई । । २६४.५ ।' जानकीजीकी विदेहदशा देखकर इसने जयमाल पहनानेको कहा—यह चतुरता है । फिर जब 'कोलाहल सुनि सीय सकानी', तब 'सखीं लेवाइ गईं जहँ रानी । २६७.५ ।' सीताजीको शंकित जान और दुष्ट राजाओंके बीचमें जानकीजीका रहना उचित नहीं है यह समझकर वहाँसे ले गईं, यह चतुरता है । पुनः, 'आसिष दीन्हि सखीं हरषानी । निज समाज लै गईं सयानी । २६६।५ ।', यहाँ भी भारी भीड़से हटा ले गईं यह चतुरता है । (ग) 'सुन्दर' और 'चतुर' कहकर सखियोंकी पूर्ण सुन्दरता कही । (घ) 'मंगलचार' = मंगल गीत । 'गावहिं सुंदरि मंगल गीता । लै लै नाम राम अरु सीता ।' धनुष टूटा, यह बड़ा मंगल हुआ इसीसे मंगल गाती हैं । जब फुलवारी और रंगभूमिमें आईं तब साधारण गीत गाती रहीं, यथा 'गावहि गीत मनोहर बानी' । 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार' में सखियोंकी शोभा कही । 'गवनी बालमराल गति०' से सीताजीकी शोभा कही । सखियोंके अंगमें शोभा है और सीताजीके अंगमें परमा शोभा है । सखियोंकी शोभाका पार है और जानकीजीकी शोभा 'अपार' है, उसका पार नहीं है । जानकीजी बालिका हैं इसीसे बालमरालकी उपमा दी । (ङ) पहले पुरकी स्त्रियोंका मंगल-गान कहा था, अब सखियोंका मंगल-गान कहा ।

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे । छबिगन मध्य महाछबि जैसे ।।१।।
कर - सरोज - जयमाल सुहाई । बिस्वबिजय सोभा जेहि* छाई ।।२।।
तन सकोचु मन परम उछाहू । गूढ़ प्रेमु लखि परै न काहू ।।३।।

* पाठान्तर—'जनु छाई'—ना० प्र० । 'जेहि' एक तो सबसे प्राचीन १६६१ की प्रतिका पाठ है, दूसरे विश्वभरके योद्धा धनुष तिलभर हटा भी न सके और उसीको श्रीरामजीने उठाकर तोड़ डाला; अतएव इस जयमालमें 'विश्वविजयश्री' है ही । अतः 'जेहि' पाठ उत्तम है ।

अर्थ—सखियोंके मध्यमें श्रीसीताजी कैसी सोहती हैं। जैसे छबिगणके मध्यमें महाछबि सोहे ॥१॥ हस्तकमलमें सुंदर कमलका जयमाल है जिसपर विश्वविजयकी शोभा छाई हुई है ॥२॥ तनमें संकोच है और मनमें परम उत्साह है। गूढ़ प्रेम किसीको लख नहीं पड़ता ॥३॥

टिप्पणी—१ 'सखिन्ह मध्य सिय०' इति। (क) सखियाँ छबिकी मूर्ति हैं। सखि-गण छबि-गण हैं। श्रीसीताजी महाछबिकी मूर्ति हैं। फुलवारीमें श्रीजानकीजीकी शोभासे सखियोंकी शोभा कही थी, यथा 'सुंदरता कहँ सुंदर करई। छबिगृह दीपसिखा जनु बरई। २३०।७।' और यहाँ छबिगण मध्य कहकर सखियोंकी शोभासे श्रीजानकीजीकी शोभा कहते हैं। इस तरह अन्योन्य शोभा वर्णन की। (ख) ऊपर दोहेके पूर्वार्धमें सखियोंकी और उत्तरार्धमें सीताजीकी शोभा वर्णन की, अब दोनोंको समेटकर यहाँ उसीका दृष्टान्त देते हैं। (ग. श्रीजानकीजीकी सब प्रकारकी शोभा कहते हैं—'गवनी बालमराल' से गतिकी 'सुखमा अंग अपार' से अंगोंकी, 'छबिगन मध्य महाछबि' से सखियोंके मध्यकी, 'करसरोज जयमाल' से जयमाल द्वारा, 'तन सकोच मन परम उछाहू' से लाजकी और 'गूढ़ प्रेम लखि परै न काहू' से पतिमें प्रेमकी शोभा कही।

२—'कर सरोज जयमाल०' इति। (क) जयमाल 'सुहाई' है। जिस वस्तुकी है उस वस्तुसे तथा बनावटसे 'सुहाई' है—यह जयमालके स्वरूपकी सुंदरता कही। 'विश्वविजय शोभा०', यह गुणकी सुन्दरता कही। 'कर सरोज' कहकर संगकी सुन्दरता कही, अर्थात् श्रीजानकीजीके हस्तकमलका ही संग है इससे भी सुन्दरताको प्राप्त हो रही है। इसतरह रूप, गुण और संगसे 'सुहाई' है। (ख) पुनः यहाँ सरोजसे करकी शोभा, करमें जयमालकी और जयमालमें विश्वविजयकी शोभा कहते हैं। तात्पर्य्य कि जो विश्वको विजय करे वह यह माला पहिने। बन्दीगणकी घोषणा भी ऐसी ही थी, यथा 'त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहि बिचार बरइ हठि तेही।' (ग) 'छाई' का भाव कि विश्वमें अनेक आभूषण और वस्त्र आदि अनेक वस्तुएँ हैं पर किसीमें विश्वविजयकी शोभा नहीं है और जयमालमें विश्व-विजयकी शोभा छा रही है। यथा गीतावल्याम्—'जयमाल जानकी जलज कर लई है। सुमनै सुमंगल सगुन की बनाई मंजु मानहु मदन माली आपु निरमई है। गी० १।९४।'

वि० त्रि०—महाछवि कहकर उनका 'आदि सक्ति छबि निधि जगमूला' होना द्योतित किया। जिनके गलेमें माला पड़नेवाली है, उनके विषयमें कविने कहा है कि 'मनहु मनोहरता तन छाये' इसलिये मालाके विषयमें भी कह रहे हैं कि 'बिस्वबिजय सोभा जेहि छाई'।

नोट—गौड़जी लिखते हैं कि "'मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही', 'बिस्वबिलोचन चोर' आदिसे मिलान करनेसे यह स्पष्ट होता है कि यहाँ 'विश्वविजय' से स्वयं घरमें आए हुए सुर, असुर, नाग, मनुष्यादि इन सबोंपर ही विजय नहीं अभिप्रेत है बल्कि भगवान्पर भी सीताजीकी विजय, अथवा सीताजीपर भगवान्‌की विजय भी अभिप्रेत है, क्योंकि दोनों ही दशाओंमें विश्वपर ही विजय है।"

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—वीररसका विश्वविजय पहले लिखा, अब उसकी शोभा 'शृंगारमें' लिखते हैं। अँग्रेजीमें भी कहावत है "वीर ही सुन्दर जोड़ियाँ पानेके अधिकारी होते हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'तन सकोचु०'। अर्थात् मनमें तो दर्शनका उत्साह है पर शरीरसे संकोच हो रहा है, यथा 'पुनि पुनि रामहि चितव सिय सकुचति मन सकुचै न'। (ख) 'गूढ़ प्रेम०'। प्रेम गुप्त किये हुए हैं, लाजके मारे किसीको उसका पता नहीं चल सकता, यथा 'सियराम अवलोकनि परस्पर प्रेम काहु न लखि परै। मन बुद्धि बर बानी अगोचर प्रगट कबि कैसे करै। ३२३।' (जनक महाराजका भी गूढ़ प्रेम था, यथा 'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू।' ये उन्हींकी बेटी हैं, अतः इन्हें भी गूढ़ प्रेम है। वि० त्रि०)। (ग)

यहाँ श्रीसीताजीके तन, मन और वचनका हाल कहते हैं। तनमें सकुच है, मनमें उछाह है और वचनसे कुछ कहती नहीं, इसीसे प्रेम गुप्त है। अथवा, वचन कुछ बोलती नहीं, इससे वचनका हाल न कहा। [☞ दो विरोधी भावोंको किस सुन्दरतासे निबाहा है? सच है जो किसीको लख न पड़े उसे कवि (क्रान्ति तथा सूक्ष्मदर्शी) ही देख सकता है।]

वीरकविजी—१ 'तन सकोच' अर्थात् शरीर लज्जासे सिकुड़ रहा है। मनमें परम उमंग है; किन्तु इस गूढ़ प्रेमको तनके सिकोड़से छिपाना 'अवहित्थ संचारी भाव' है। २-'रहि जनु चित्र अवरेखी' में उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलंकार है।

जाइ समीप राम छबि देखी। रहि जनु कुआँरि चित्र अवरेखी ॥४॥
चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥५॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई ॥६॥

शब्दार्थ—अवरेखना (सं० अवलेखन)= लिखना, चित्रित करना। यथा 'सखि रघुबीर मुख छबि देखु। चित्त भीति सुप्रीति रंग सुरूपता अवरेखु।'

अर्थ— सामने पास जाकर श्रीरामजीकी छबिको देखकर राजकुमारी श्रीसीताजी मानों चित्रलिखीसी रह गईं। अर्थात् एकटक खड़ी रह गईं, मानों कोई तसवीर है॥ ४॥ देखकर चतुर सखियोंने समझाकर कहा कि सुन्दर जयमाल पहिना दो॥ ५॥ यह सुनकर उन्होंने दोनों हाथोंसे माला उठाई, प्रेमसे विवश हैं, इससे माला पहनाई नहीं जाती॥ ६॥

श्रीराजारामशरणजी—प्रकाश (छबि) के पास पहुँचनेकी चकाचौंध और फिर शरीरका स्थकित हो जाना कितने स्वाभाविक और सूक्ष्म प्रभाव हैं? हमने तो केवल कहीं कहीं संकेत किये हैं, नहीं तो यदि सारे भावोंकी व्याख्याकी जाय तो ठिकाना ही न लगे।

टिप्पणी—१ (क) 'जाइ समीप।' भाव कि पुष्पवाटिकामें दूरसे देखा था, यथा 'लताओट तब सखिन्ह लखाए। स्यामल गौर किसोर सुहाये', इसीसे वहाँ चन्द्रचकोरीका दृष्टान्त दिया था—'अधिक सनेह देह भै भारी, सरद ससिहि जनु चितव चकोरी'। चकोरीको चन्द्रमा दूर पड़ता है। दूरसे देखा तब देह चकोरीकी सी हो गई और जब पाससे देखा तब तसवीरकीसी रह गईं। समीप और दूरसे देखनेमें इतना अंतर दिखाया। अत्यन्त निकट होनेसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म सुन्दरता पर दृष्टि पड़ी। (ख)'रहि' = रह गईं। भाव कि आई थीं जयमाल पहिनाने सो भूल गईं। (ग) 'चित्र अवरेखी' इति। चित्रलिखित मूर्त्ति जड़ होती है, वैसे ही जड़वत् हो गईं। ☞ स्मरण रहे कि श्रीरामजीको देखकर सब लोग चित्र लिखेसे हो गए थे, यथा 'राम बिलोके लोग सब चित्र लिखेसे देखि।' वैसे ही जानकीजी भी उनको देखकर चित्रलिखीसी हो गईं। जो सबकी दशा हुई वही इनकी भी हुई। रामरूप ऐसा ही है, उसे देखकर सबकी दशा ऐसी ही हो जाती है। (घ) 'अवरेखी।' 'लिख अक्षर विन्यासे', लिख धातुका अर्थ अक्षर विन्यासे (अक्षरका फेंकना अर्थात् लिखना) है। लिख धातुसे अवलेख हुआ, रकार लकारको सावर्ण्य मानकर अवरेखी कहा। (ङ) जड़दशा प्रेमकी अवधि है। सबकी यह दशा कही तो इनकी क्यों न कहते?

२ (क) 'चतुर सखीं लखि कहा बुझाई' इति। प्रेम गूढ़ है, इससे सखी प्रेमको न लख पाई, जब प्रेमकी दशा देखी कि चित्रलिखीसी हो गईं तब लखा। 'बुझाई' का भाव कि प्रेममें श्रीजानकीजीके मन, बुद्धि, चित् और अहंकार सभी विस्मरित हो गए, यथा 'परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई'। इसीसे देह सुध न रह गई, यथा 'तुलसिदास यह सुधि नहिं कौन की कहाँ ते आई कौन काज काके ढिग कौन ठाउँ की हैं' (गी० ७.४।)। जानकीजीकी दशा लखी इसीसे सखीको चतुर कहा। (ख)

'जयमाल सुहाई' का भाव कि यह सौंदर्य्यावधि श्रीरामजीको भी शोभित करनेवाली चीज़ है। अथवा, श्रीरामजी इसको पहिननेके योग्य हैं। अतः सुहाई कहा। वा, श्रीरामजीसे धनुष टूटा, इससे मालाकी शोभा बनी रह गई, अतः सुहाई कहा। धनुष न टूटता तो उसको शोभा न थी।

३ (क) 'सुनत जुगल कर माल उठाई'। भाव कि एक हाथसे माला नहीं पहनाते बनती इसीसे दोनों हाथसे उठाया। पुनः भाव कि प्रेममें इतनी शिथिल हुई कि एक हाथसे माला नहीं उठती, अतः दोनों हाथोंसे उठाई। (प्रायः दोनों हाथोंसे माला पहिनाई जाती है। दोनों हाथोंमें लिये हैं। श्रीरामजीको पहनानेके लिये उनके सिर तक हाथोंको उठाना जरूरी है, अतः माला हाथोंसे ऊपर उठाकर ले गईं)। (ख) 'प्रेम बिबस पहिराइ न जाई' इति। प्रथम तो जयमाल पहनानेकी ही सुध न रह गई थी, सखीके कहनेपर सुध हुई तब पहिनानेके लिए माला उठाई तो अब प्रेमविवश होनेसे पहिनाई नहीं जाती। (ग) 'सुनतेही' जयमाल उठानेका भाव कि जानकीजीने सोचा कि यदि हम शीघ्र माला न उठावेंगी तो सखियाँ हमारा प्रेम लख लेंगी, अभी तो लज्जावश प्रेमको छिपाये हुए हैं। प्रेममें अंग शिथिल हो जातेही हैं, यथा 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सिथिल सनेह सब रानी'; इसीसे माला पहिनाई नहीं जाती। आगे इसीकी उत्प्रेक्षा करते हैं।

श्रीयुत लाला भगवान्दीनजी—गोस्वामीजीने यहाँ प्रेमके स्तंभ और कंप दो भावोंका दर्शन किया है। या तो हाथ काँपने लगा इससे न पहिना सकीं, अथवा हाथ स्थकित होकर रह गए। किसीका यह भी मत है कि इस समय सीताजी ६ वर्षकी हैं और रामजी १५ वर्षके हैं; अतः सीताजीका हाथ उनके सिर तक नहीं पहुँचता वे खड़ी हैं कि वे सिर झुकावें तो हम माला डाल दें और वे सिर झुकाते नहीं, ये प्रेमकी बातें हैं

वि० त्रि०—प्रेमाधिक्यसे अंग शिथिल हैं, पहनाना चाहती हैं, पहनाते नहीं बनता। उधर 'लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े' इस लाघवमें ही शोभा थी, इधर जयमाल पहनानेकी मन्थरतामें ही शोभा है, सब लोग देख लें पहनानेकी शोभा!

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि "कविने साफ लिख दिया है कि 'प्रेमविवश होनेके कारण स्थकित हैं। तुलसीदासजीके वर्णनसे ६ वर्षकी अवस्था कदापि जान नहीं पड़ती, किसी अन्य रामायणकी बात हम कह नहीं सकते। 'कुँवरि' शब्द बड़ाही सुंदर है और बताता है कि यह भाव संकोच और भय प्रारंभिक प्रेमावस्थाके हैं स्थायी नहीं।"

सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला ॥७॥
गावहिँ छबि अवलोकि सहेलीं। सिय जयमाल राम उर मेली ॥८॥

अर्थ—(हाथमें माला उठाये हुये उनके हाथोंकी शोभा ऐसी हो रही है) मानों डंडी सहित दो कमल डरतेहुये चन्द्रमाको जयमाल दे रहे हों ॥७॥ छबिको देखकर सखियाँ गाने लगीं, श्रीसीताजीने श्रीराम-जीके गलेमें जयमाला डाल दी ॥८॥

नोट—१ श्रीसीताजी जयमाल लिये हाथ उठाये खड़ी हैं, उसपर उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानों नालयुक्त दो कमल चन्द्रमाको डरते हुये जयमाल पहिना रहे हैं। चन्द्रमासे भयभीत होना और उसकी विजय स्वीकार करना प्राकृतिक है। यहाँ दोनों भुजायें (बाहुदंड) कमलकी नाल (डंडी) हैं, हथेली कमल हैं, अंगुलियाँ कमलदल हैं, भुजाओंका स्तंभित होना कमलका सभीत होना है (हाथोंमें जयमाल होनेसे हाथ संकुचित हैं। चंद्रमाके सामने कमल संकुचित हो ही जाता है), श्रीरामजीका मुख चन्द्रमा है। दो कमल मानों चन्द्रमाको जयमाल भेंट दे रहे हैं, चंद्रमाके सम्मुख माला लिये खड़े हैं इस तरह जयमाल देकर मिलाप करना चाहते हैं (पं० रा० कु०)। "यहाँ असिद्ध विषया हेतूत्प्रेक्षा' है। क्योंकि यह दृश्य कविकी

कल्पनामात्र है। जगत्‌में ऐसा दृश्य दिखाई नहीं देता। कमलका डरना असिद्ध आधार है, क्योंकि वह जड़ है।" (वीरकवि)]।

२—श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि "चन्द्रमा और कमलके प्रसंग में 'सभीत' शब्द कितना सुन्दर है, पर है उत्प्रेक्षाही। वास्तविक कारण न तो अभी श्रीसीताजीके हृदयमें स्पष्ट हुआ है न कविही बताता है, केवल सुन्दर बहिरंग चित्र देता है कि कमलस्वरूपी हाथ चन्द्रमा रूपी रामके पास जानेसे भयभीत हैं। वास्तविक कारण तो आगे व्यक्त होगा कि अहल्याका ख़याल आया कि कहीं वैसेही हमेंभी फिर वियोग न हो कि स्पर्शसे दिव्य लोक चले जाना पड़े।"

टिप्पणी—१ (क) चन्द्रमाके सामने कमलकी शोभा नहीं रहजाती, इससे पाया गया कि जानकीजीके हस्तकमलकी शोभा न रहगई, इस दोषके मिटानेकेलिये कहते हैं कि हस्तकमल 'सोहत' हैं। 'सोहत' से सूचित करते हैं कि श्रीजानकीजीने पाँचों उँगलियाँ संपुटित करके जयमाल नहीं पहनाया क्योंकि संपुटित कमलकी शोभा नहीं होती। तीनही उंगलियोंसे उठाकर उन्होंने जयमाल पहिनाया और सब उँगलियाँ खुली रहीं। इसीसे विकसित कमलकी तरह हाथ शोभित हैं। हाथ जड़ (सरीखे) होगए हैं इसीसे बेलिकी उपमा दी। युग कमल प्रेमसे जयमाल लेकर चन्द्रमासे मिले, इसीसे चन्द्रमा प्रसन्न होगए और कमलको संपुटित न किया, वैसाही विकसित रहने दिया। (ख) 'सभीत' का भाव कि कमल भयसहित चन्द्रमाकी शरणमें आया। भयसहित शरणमें जानेसे अभयत्व प्राप्त होता है। इसीसे शरणागतिमें भयसहित शरणमें जानेकी आवश्यकता बताई गई है। यथा 'जो सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई।', 'जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही।' इत्यादि। सभीत जल्दी शरणमें नहीं जाता, वैसेही प्रेमसे शिथिल हाथ जल्दी नहीं उठते।

२—'गावहिं छबि०' इति। (क) सखियोंके कहनेसे जयमाल उठाया तो पर प्रेमविवश होनेसे पहिना न सकीं, तब सखियोंने यह विचार कर कि हमारे दुबारा कहनेसे उनको संकोच होगा वे समझ जायेंगी कि उनके गुप्त प्रेमको हम लोगोंने लख लिया, फिर जयमाल गलेमें पहिनानेको न कहकर बड़ी चतुरतासे जयमाल पहिनानेके गीत गाने लगीं। यथा 'जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी। कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी।' गानेके बहाने जानकीजीको इशारा कर दिया कि माला पहिना दें। गीत सुनतेही वे आशय समझ गईं और उन्होंने जयमाल पहिना दी।—यह अभिप्राय दरसानेकेलिये प्रथम गाना कहकर तब माला पहिनाना लिखा। (ख) 'छबि देखि' गावहिं का भाव कि अभी जयमाल पहिनाया नहीं गया है, यदि जयमाला पहिना दी होती तो जयमाल देखकर गान करना लिखते जैसा देवताओंके संबन्धमें लिखते हैं, यथा 'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरषहिं सुमन।' (ग) 'राम उर मेली' कहकर जनाया कि भगवान् रंगभूमिमें टोपी देकर आए हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि हम धनुष तोड़ेंगे, हमारे जयमाल पड़ेगा। यथा 'पीत चौतनी सिरन्ह सुहाई।' यदि मुकुट धारण करके आते तो माला जल्दी पहनाते न बनती, मुकुटमें अटक जाती। और 'सिय जयमाल राम उर मेली' से ज्ञात होता है कि बहुत जल्द पहिना दी।

लमगोड़ाजी—कैसे मजेकी युक्ति है। हिन्दूघरानेमें इसीसे प्रत्येक प्रसंगपर सरस गीत गाये जाते हैं।

वि० त्रि०—'सिय जयमाल राम उर मेली' इस पुरइनसे कली निकली 'जयमाल राम उर', अब यह कमलरूपसे आगेके दोहेमें विकसित होगी।

सोरठा—रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन।
सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन॥२६४॥

अर्थ—रघुकुलश्रेष्ठ श्रीरघुनाथजीके हृदयपर जयमाल देखकर देवता फूल बरसाने लगे। सब राजा लोग सकुच गए (ऐसे दीखते हैं) मानों सूर्य्यको देखकर कुमुदोंका समूह संकुचित होगया है ॥ २६४ ॥

टिप्पणी—१ ये 'रघुवर' हैं, रघुकुलके श्रेष्ठ वीर हैं, इस जयमालके योग्यही हैं, अतः उनके उरमें जयमाल देख योग्यता विचार और वीरोंमें उनकी जय देखकर देवताओंने फूल बरसाये । जब धनुष टूटा तब फूल और मालायें बरसाई थीं। 'बरिसहिं सुमन रंग बहु माला। २६२।६।' और अब जयमाल पड़नेपर फिर फूल बरसाये। दोनों बातें अलग अलग समयमें हुईं और दोनों उत्सवके समय हैं, अतः दोनों समय पुष्पोंकी वृष्टि की। 'समय समय सुर बरिसहिं फूला' यह पूर्वही कह आए हैं। २—'सकुचे सकल भुआल०' इति। श्रीरामजीके हृदय पर जयमालकी अत्यन्त शोभा हो रही है, यथा "सतानंद सिख सुनि पाँयँ परि पहिराई माल सिय पिय-हिय सोहत सो भई है। मानस तें निकसि बिसालसु तमाल पर मानहुँ मराल-पांति बैठी बनि गई है ॥ ४ ॥ हितनि के लाह की उछाह की बिनोद मोद सोभा की अवधि नहिं अब अधिकाई है…। छबि तेहि काल की कृपाल सीतादुलहु की हुलसति हिये तुलसी के नित नई है ॥ (गी० ६४)। यह शोभा देख देवता तो खुशी मनाने लगे और दुष्ट राजा सूख गए। उनकी दशा 'जनु बिलोकि रबि कुमुद-गन' कहकर दिखा रहे हैं। यहाँ एकही वस्तुसे दो भिन्न भिन्न विरोधी कार्य्योंका होना 'प्रथम व्याघात अलंकार' है और उक्त विषयावस्तूत्प्रेक्षा तो है ही। ३—'जनु बिलोकि' कहनेका भाव कि पूर्व श्रीरामजीका आगमन सुनकर राजा लोग कुमुद समान सकुचे थे, यथा 'अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन। तिमि तुम्हार आगमन सुनि भए नृपति बलहीन। २३९।' और अब देखकर सकुचे, कारण कि वहाँ अरुणोदय था और यहाँ सूर्य्यका प्रभायुक्त उदय है (अर्थात् उनका प्रताप पहले सुना था, सुनकर सकुचे थे और अब प्रत्यक्ष उनका प्रताप देख लिया कि उन्होंने धनुषको तोड़ डाला और विश्वविजयकी जयमाला पहने हुए हैं)।

वि० त्रि०—कमल खिला 'रघुबर उर जयमाल' इत्यादि। देवता ऊपरसे पुष्पवृष्टि कर रहे हैं, परन्तु करकमल नहीं खिले, पहनानेपर भी जयमाल हाथसे छूटा नहीं, चन्द्रके सामने खिले भी कैसे? अतः अब कवि रामजीको 'रवि' रूपसे वर्णन करते हैं, जिसमें कमलका खिलना अर्थात् 'मालाका हाथसे छूटना द्योतित हो'।

पुर अरु ब्योम बाजने बाजे। खल भये मलिन साधु सब राजे ॥१॥
सुर किंनर नर नाग मुनीसा। जय जय जय कहि देहिं असीसा ॥२॥
नाचहिं गावहिं बिबुध१ बधूटीं। बारबार कुसुमांजलि छूटीं ॥३॥

अर्थ—नगर और आकाशमें बाजे बजे। दुष्ट लोग उदास हो गए और सब साधु लोग (संतस्वभाव-वाले) शोभित अर्थात् प्रसन्न हुए ॥ १ ॥ देवता, किन्नर, मनुष्य, नाग और मुनीश्वर 'जय हो! जय हो! जय हो!' ऐसा कह कह कर आशीर्वाद दे रहे हैं ॥२॥ देवांगनाएँ नाचती और गाती हैं। बारंबार फूलोंकी अंजलियाँ छूट रही हैं अर्थात् पुष्पांजलियाँ अर्पण की जा रही हैं', अंजलीमें फूल भरभर कर छोड़ रहे हैं ॥३॥

टिप्पणी—१ (क) देवताओं और मनुष्योंके बाजे बजे, देवताओंने फूल बरसाए, मनुष्योंने निछावर लुटाई, अप्सरायें नाचीं गायीं, ब्रह्मादिकने स्तुति की, बंदी मागध आदिने बिरदावली गाई। इत्यादि। वह उत्सव तब बंद हुआ जब जानकीजी जयमाल पहनाने लगीं। सेवक लोग छबि देखकर देह-सुध भूल गए। जब जयमाल पड़ गया तब उत्सव फिर होने लगा। (ख) जब धनुष टूटा तब 'बाजे नभ गहगहे निसाना।

१—सं० १६६१ में बिबिध है।

देवबधू नाचहिं करि गाना।''''गावहिं किंनर गीत रसाला' अर्थात् प्रथम देवताओंके बाजोंका बजना, देवांगनाओं इत्यादिका गाना नाचना लिखा गया, उसके पीछे 'झाँझि मृदंग संख सहनाई।''''बाजहिं बहु बाजने सुहाये।' इत्यादि पुरवासियोंका बाजा बजाना गाना इत्यादि लिखा गया। और यहाँ जयमाल पड़नेपर प्रथम पुरमें बाजे बजे तब आकाशमें, यह बात 'पुर' शब्द प्रथम रखनेसे ज्ञात हुई। यह भेद भी साभिप्राय है। धनुष भंग होनेपर देवता पहले सचेत हुए, इससे वे तुरत बाजे बजाने और उत्सव मनाने लगे। मनुष्य पीछे सचेत हुये, क्योंकि वे देवताओंके समान दृढ़ नहीं होते। और जयमाल पड़नेपर उधर देवता फूल बरसाने लगे—'रघुबर उर जयमाल देखि देव बरिसहिं सुमन', इधर बाजे बजने लगे। इसीसे बाजे बजनेमें यहाँ इनको प्रथम कहा। [प्र० सं०—यहाँ सब मनुष्य (पुरवासी) समीप हैं। इन्होंने जयमाल प्रथम देखा, इससे देवता फूल बरसानेमें ही लगे थे कि यहाँ बाजे भी बजने लगे। इससे यहाँ 'पुर' को प्रथम कहा]। (ग) देवता श्रेष्ठ हैं, इससे दोनों जगह देवताओंका उत्सव प्रथम लिखा। (घ) 'बाजने बाजे'। यहाँ बाजोंके नाम नहीं दिये क्योंकि धनुष टूटने पर झाँझ, मृदंग आदि नाम दे आए हैं, वही यहाँ भी बजे। (ङ) 'खल भये मलिन साधु सब राजे' इति। प्रथम कहा था कि 'सकुचे सकल भुआल जनु बिलोकि रबि कुमुदगन'। 'सकल में उत्तम, मध्यम और अधम वा साधु और असाधु सब ही आ जाते हैं, इसीसे यहाँ उसका ब्योरा करते हैं कि खल मलिन हुये, कुमुदकी तरह संकुचित हो गए, साधु राजा मलिन नहीं हुए, ये तो कमल समान शोभित हो रहे हैं, यथा 'कमल कोक मधुकर खग नाना। हरषे सकल निसा अवसाना। ऐसेहि प्रभु सब भगत तुम्हारे। होइहहिं टूटे धनुष सुखारे। १।२३६।' ये सब सुखी हुए।❀ ('उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति', अतः वे मलिन हुए, और 'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई' होते हैं अतः वे शोभित हुये। वि० त्रि०)। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

२ (क) 'सुर किंनर'से स्वर्ग, 'नर' से मर्त्य और 'नाग'से पाताल, इस तरह तीनों लोकोंके निवासियोंका प्रभुको आशीर्वाद देना कहा। (ख) देवताओंका फूल बरसाना प्रथम ही कह चुके–'रघुबर उर जयमाल''' देव बरिसहिं सुमन। २६४।', जयजयकार करना आशीर्वाद देना बाक़ी था, उसे अब कहते हैं। जय बोलने आदिका अधिकार सभीको है, इसीसे जय बोलना आशीर्वाद देना सुर नर मुनि सभीका लिखते हैं। (ग) प्रथम बार देवता आदिने श्रीरामजीकी प्रशंसा करके आशीर्वाद दिया था, यथा 'ब्रह्मादिक सुर सिद्ध मुनीसा। प्रभुहि प्रसंसहिं देहिं असीसा'। और इस बार जय बोलकर आशीर्वाद देते हैं। कारण कि धनुषभंगपर प्रशंसाका समय था, धनुष किसीसे न टूटा था, इसलिये उसके टूटने पर बलकी प्रशंसा की। और, जयमाल पड़नेपर जयजयकारका समय था, इसीसे यहाँ 'जय' बोलकर आशीर्वाद दिया। 'जय' शब्दमें आदर की वीप्सा है। अनेक उपमेयोंका एक धर्म 'जय जय०' कथन 'प्रथम तुल्ययोगिता' है।

३ (क) 'बिबुध बधूटीं' इति। बिबुध शब्द देकर जनाया कि देवताओंमें जो विशेष पंडित हैं उनकी ये बधू हैं, अतः नाच गानमें ये भी बड़ी पंडिता (कुशला) हैं। पूर्व 'देवबधू नाचहिं करि गाना' में 'देव' शब्द देकर इनके स्वरूपकी विशेषता कह आए। 'दीव्यतीति देवः'। देवता दिव्य हैं। ये उनकी स्त्रियाँ हैं अतः ये भी दिव्य हैं, स्वरूपसे सुंदरी हैं। और 'नाचहिं गावहिं'से उनके गुणकी दिव्यता कही।

❀ "शंका—त्रेतामें खल नहीं होते, यथा 'ऐसे अधम मनुज खल सतजुग त्रेता नाहिं'। तब त्रेतामें 'खल' कैसे कहा?" समाधान यह है कि सब त्रेतायुगोंमें खल नहीं होते। जिस कल्पमें रावण होता है उसी के त्रेतायुगमें खल होते हैं, यथा 'बाढ़े खल बहु चोर जुआरा।०'। राजाके अनुकूल युगका धर्म बदलता है। रावणराजमें त्रेता कलियुग समान हो गया, वही रामराज्यमें सत्ययुग हो गया, यथा 'ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ सतजुग कै करनी।" (पं० रामकुमारजी)।

[देववधूओंका ही गाना नाचना कहा, अप्सराओंका गाना नाचना नहीं कहा । मंगल गान कुलवधू ही द्वारा होता है, वेश्या द्वारा आज भी नहीं होता । अप्सरा स्वर्वेश्या हैं, अतः मंगल गान उनके द्वारा नहीं लिखते । (वि० त्रि०)] । (ख) 'बारबार कुसुमांजलि छूटी' इति । देवांगनाएँ नाचती गाती और कुसुमांजलि छोड़ती हैं । बारबार पुष्पांजलि अर्पण करनेका भाव यह कि जब जब गति पूरी होती है, और भजन (गीतका पद) पूरा होता है तब तब पुष्पांजलि छोड़ती हैं । नाचने गानेके पश्चात् पुष्पांजलि छोड़ना लिखकर यह भाव सूचित किया । पुष्पांजलि देना विधि है । (ग) देवताओंका फूल बरसाना प्रथम लिख आए । इनका नाचना गाना पीछे कहा, इससे तभी पुष्पांजलि देना भी कहा । [(घ) पांड़ेजीका मत है कि "इनके सिरके बालोंमें कुसुमावली (फूलोंके गुच्छे) गुहे वा गुथे हुए हैं । जब ये नृत्य गायनमें मग्न हो जाती हैं तब वही कुसुम छूट छूट पड़ते हैं । अतः 'बारबार' कहा । 'बधूटी' कहकर थोड़ी अवस्थावाली जनाया ।"] ।

जहँ तहं बिप्र बेद धुनि करहीं । बंदी बिरिदावलि उचरहीं ॥४॥
महि पातालु नाक जसु ब्यापा । राम बरी सिय भंजेउ चापा ॥५॥
करहिं आरती पुर नर नारी । देहिँ निछावरि बित्त बिसारी ॥६॥

शब्दार्थ—नाक = स्वर्ग । वित्त = धन संपत्ति ।

अर्थ—जहाँ तहाँ ब्राह्मण वेदध्वनि कर रहे हैं, भाट लोग विरदावली (वंश-यश उच्चारण) कर रहे हैं ॥४॥ पृथ्वी, पाताल और आकाशमें यश व्याप (फैल, समा) गया कि 'श्रीरामजीने श्रीसीताजीको ब्याहा, धनुषको तोड़ा' ॥ ५ ॥ नगरके स्त्री पुरुष आरती उतार रहे हैं और अपनी धन संपत्तिको भुलाकर निछावर कर रहे हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'जहँ तहँ०' । देवताओंका उत्सव कहकर अब मनुष्योंका उत्सव कहते हैं । वेद-ध्वनि सबसे श्रेष्ठ है, इसीसे प्रथम वेदध्वनि लिखी । धनुषभंगके पीछे जो उत्साह हुआ उसमें वेदध्वनिका होना न लिखा और जयमाल पड़नेपर वेदध्वनिका होना लिखते हैं, कारण कि जयमाल पड़ना एक प्रकारका विवाह है और विवाहके समय वेदध्वनि हुआ करती है, अतः यहाँ वेदध्वनि कही गई । (ख) 'जहँ तहँ' का भाव कि रंगभूमिमें जहाँ जयमाल गलेमें छोड़ा गया उस जगह जाकर वेदध्वनि नहीं की, किन्तु जो जहाँ बैठे हैं वहींसे वेदध्वनि करने लगे । (भाँवरीके समय विप्र एकत्र होकर वेदध्वनि करते हैं । यहाँ भाँवरी नहीं हो रही हैं; इससे यहाँ सबके एकत्र होनेकी आवश्यकता नहीं) । सुर किंनर नर नाग और मुनीश्वर आशीर्वाद देते हैं, यह कहकर ब्राह्मणोंका वेदध्वनि करना लिखकर जनाया कि ब्राह्मणलोग वेद-मंत्रोंसे आशीर्वाद देते हैं, यथा गीतावल्याम्, 'निज निज बेदकी सप्रेम जोग-छेम-मई मुदित असीस बिप्र बिदुषनि दई है ॥ १. ६४ ॥' (ब्राह्मण लोग स्वस्तिवाचनके मंत्र बोले । मंत्रोंके साथ स्वर लगता है, अतः वेदध्वनि कहा । वि० त्रि०) । (ग) 'बंदी' । पूर्व यश उच्चारण करनेवालोंके नाम दे आए—'बंदी मागध सूत गन बिरुद बदहिँ मति धीर ।२६२।' यहां आदिका एक नाम 'बंदि' देनेसे अन्य सबोंका भी ग्रहण हो गया ।

२ 'महि पाताल नाक जसु ब्यापा ।०' इति । (क) भाव कि धनुष तोड़कर श्रीजानकीजीको ब्याहनेका सामर्थ्य तीनों लोकोंमें किसीको न था । ऐसा भारी कठिन काम श्रीरामजीने कर दिखाया, यह भारी बात है; इसीसे तीनों लोकोंमें यश छा गया । मृत्युलोकमें धनुष टूटा, इसीसे प्रथम 'महि' को कहा । तीनों लोकोंमें यश कैसे व्यापा सो कहते हैं—'राम बरी सिय भंजेउ चापा' । अर्थात् जब रामजीने धनुष तोड़ा तब धनुष-भंगका शब्द तीनों लोकोंमें गूँज उठा । 'रबि बाजि तजि मारग चले' इससे स्वर्गमें, 'डोल महि' इससे

पृथ्वीमें और 'कोल कूरम कलमले' इससे पातालमें यश व्याप्त हो गया। सबको मालूम हो गया कि रामजीने धनुष तोड़ा और सीताजीको व्याहा। [वा, तीनों लोकोंके लोग यहाँ एकत्रित हैं इससे सर्वत्र यशका व्याप्त होना कहा। (प्र० सं०)। कारण कार्य एक साथ होना 'अक्रमातिशयोक्ति' है—(वीर)]।

श्रीराजारामशरणजी—याद रहे कि यह कविका वर्णन है। यह आवश्यक नहीं है कि पुरवासी देवताओं इत्यादिको स्पष्ट देख रहे हैं। टेनिसनने भी Duke of Wellington ड्यूक अफ वेलिंगटन के अन्तिम संस्कारके संबंधवाली कवितामें लिखा है कि "मनुष्ययोनिसे श्रेष्ठ योनिवाली व्यक्तियां भी होंगी ही"।

टिप्पणी—३ (क) 'करहिं आरती पुरनरनारी।' पुरनरनारी आरती करते हैं, देवता नहीं; क्योंकि देवताओंके समीप आनेसे श्रीरामजी का ऐश्वर्य्य प्रगट हो जाता है, यथा 'गूप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ"। राजालोग आरती नहीं करते, क्योंकि उनको अधिकार नहीं है। पुरवासियोंको आरतीका अधिकार है। धनुष टूटे बिना पुरवासी अत्यन्त आर्त्त हो रहे थे। श्रीरामजीने उनके आर्त्तिको दूर किया इसीसे वे आरती करते हैं, यथा 'करहिं आरती आरतिहर की'। किसकी आरती करते हैं यह आगे कहते हैं- 'सोहति सीयराम कै जोरी'। जोड़ीको देखकर आरती करते हैं। (ख) 'करहिं निछावरि'। जब धनुष टूटा तब निछावर किया पर आरती नहीं की थी (विचारा होगा कि जब जयमाल पड़ेगा और दोनों एकत्र होंगे तब आरती करेंगे। अतएव) जब जयमाल पड़ा और श्रीसीतारामजी एक ठौर हुए तब आरती की और आरतीके पीछे निछावर होती है, सोभी की। (ग) 'बित्त बिसारी' का भाव कि मारे आनन्दके धनका लोभ नहीं (अपने सामर्थ्यसे बाहर, अपने धनकी मर्य्यादाका ध्यान छोड़कर) अपने 'वित्त' से अधिक निछावर करते हैं (यह विचार नहीं रह गया कि मैं कितनी निछावर कर सकता हूँ, इतनी निछावर कर देनेसे मेरी हानि होगी)।

सोहत सीय राम कै जोरी। छबि सिंगारु मनहुं एक ठोरी॥७॥
सखीं कहहिं प्रभुपद गहु सीता। करति न चरन परस अति भीता॥८॥

अर्थ—श्रीसीतारामजीकी जोड़ी ऐसी शोभित हो रही है मानों छबि और शृङ्गार एकही जगह एकत्र होगए हैं॥ ७॥ सखियाँ कहती हैं—'सीता! प्रभुके चरणोंको पकड़ो (अर्थात् छुओ)।', पर वे अत्यंत भयके कारण चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं॥ ८॥

नोट—प्रोफे० श्रीदीनजी कहते हैं कि "श्रीसीतारामजीकी जोड़ी एकत्र होनेपर इस प्रकार शोभित है मानों छबि (कान्ति, चमक-दमक) और शृङ्गाररस (श्याम वर्ण) एकत्र होगए हों। अर्थात् कान्ति और श्यामताका एकत्र होना असंभवसी बात है, वही बात गोस्वामीजीने उत्प्रेक्षाद्वारा प्रगट की है। असंभवको संभव कर दिखाया, उजियारी और अँधेरी एकत्र नहीं होसकतीं, पर यहाँ एक ठौरी हैं, यह अद्भुतता है।"

टिप्पणी—१ (क) 'जोरी'। 'जोड़ी कहनेका भाव कि जैसी श्रीरामजीकी शोभा है वैसीही श्रीजानकीजीकी शोभा है। (ख) 'छबि सिंगारु मनहुं०'-मनहुँ कहनेका भाव कि छबि और शृंगारके देह नहीं है। इसीसे कहा कि मानों देह धरकर मूर्तिमान होकर एक ठौर एकत्र हुए हैं। तात्पर्य्य कि श्रीसीतारामजी छबि-शृंगारकी मूर्ति हैं। यहाँ यथासंख्यालंकार है। श्रीसीताजी छबि हैं और रामजी शृङ्गार हैं। यथा 'जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप', 'छबिगन मध्य महाछबि जैसी'। सीताजी गौरवर्णा हैं और छबिका वर्ण भी उज्जवल है, श्रीरामजी श्याम हैं और शृङ्गार भी श्याम है, यथा 'श्यामो भवति शृङ्गारः' इति भरतः। (ग) 'मनहुँ एक ठौरी', भाव कि छबि और शृङ्गार पृथक्-पृथक् भी सोहते हैं और जब वे एक ठौर पर होगए तब भला उनकी शोभा कौन कह सकता है? [इसके पहले जोड़ी नहीं कह सकते थे, 'रामरूप अरु सिय

छबि देखी' कहा था। यहाँ जनकपुर है इसलिये 'सीय राम की जोड़ी' कहा, यहाँ सीताजीकी प्रधानता है। छबिसे शृङ्गारकी और शृङ्गारसे छबिकी शोभा होती है, दोनोंके एकत्र होनेसे महाशोभा हुई—(वि० त्रि०)]। (घ) आरती और छबि वर्णनका संबंध है। जयमालके पीछे जब आरती हुई। उस समय श्रीरामजानकीजी-की बड़ी भारी छबि हुई, इसीसे आरतीके पीछे भारी छबि वर्णन की। पुनः आरतीके पीछे छबि वर्णन करके यहभी जनाया कि आरती करते समय छबि वर्णन करते जाते हैं।

२ (क) जयमाल पहिनाकर प्रणाम करना चाहिए, अतः कहा कि 'प्रभु पद गहु'। 'सखीं' बहुवचन है। सखियाँ जानती हैं कि लज्जाके मारे चरणका स्पर्श नहीं करती हैं, इसीसे बहुत सखियोंने कहा। अथवा, सब सखियोंका प्रेम श्रीरामजीमें है इससे सबने उनके चरण छूनेको कहा। [श्रीसीताजी सब कृत्य जानती हैं कि कब क्या करना चाहिए। पर वस्तुतः रीति यह है कि जैसे पुरोहित किसी भी धार्मिक कार्यमें बताता है कि अब यह कीजिए तब यजमान उस कर्मको करता है, वैसेही यहाँ सखियाँ साथ हैं, उनका यही कर्तव्य है कि वे एक एक कार्य बताती जायँ और तब ये करें। सखियोंने जब जयमाल पहनानेका समय देखा तब कहा कि 'पहिरावहु जयमाल सुहाई', और उन्होंने जयमाल पहनाया। वेदध्वनि आदि होने लगी, आरती की गई' निछावरें लुटाई गईं, तब सखियोंने चरण पकड़कर प्रणाम करनेका समय जान वैसा करनेको कहा। जैसी लोकरीति है, आचार व्यवहार है, वैसाही वर्ता गया। इसी तरह जब सखियोंने उनको लौटा ले जाना ठीक समझा तब माताके पास लिवा गईं। (रा० बा० दा० मालवीय)। (ख) 'प्रभुपद'—बड़ा पुरुषार्थ किया है, अतः 'प्रभु पद' दिया। जिनका भगवान्‌के चरणोंमें अत्यन्त प्रेम और भक्ति है वे चरण स्पर्श करते हैं, यथा 'गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज', 'परेउ दंड इव गहि पद पानी।' (इति मनुः), 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना।' (श्रीहनुमान्‌जी), इत्यादि। अतः प्रभुका पद पकड़नेको कहती हैं। (वैजनाथजी लिखते हैं कि "सखीने चरण पकड़नेको इस लिये कहा कि पतिके चरण सर्वदेवतीर्थमय हैं। अथवा, यह शास्त्राज्ञा है कि पतिव्रता जब पतिके सामने जाय तो हाथ जोड़कर प्रणाम करे।")। (ग) 'करति न चरन परस'। सखियाँ पद 'गहने' को कहती हैं। गहना पकड़नेको कहते हैं। श्रीजानकीजी तो पकड़नेकी कौन कहे, छूती भी नहीं। (अथवा एक चरणमें 'गहना' और दूसरेमें स्पर्श न करना कहकर उसका अर्थ यहां 'स्पर्श करना' जनाया)। चरण न छूनेका कारण 'अतिभीता' कहा। क्या भय है, यह दोहेमें कहते हैं—'गौतुमतिय०'। इतनेपर भी श्रीजानकीजीने चरण नहीं ही छुआ, प्रणाममात्र किया, यह गीतावलीसे स्पष्ट है। यथा 'सतानंद सिख सुनि पायँ परि पहिराई माल सिय पिय हिय सोहत सो भई है। गी० १.६४।' [वीरकविजी लिखते हैं कि 'अति भीता' में गुणीभूत व्यंग है कि हाथोंमें रत्नजड़ित अँगूठियाँ पहने हूँ, वे कहीं स्त्री न हो जायँ।]

दोहा—गौतमतिय गति सुरति करि नहि परसति पग पानि।
मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि ॥२६५॥

अर्थ गौतमकी स्त्रीकी गति स्मरण कर चरणको हाथसे स्पर्श नहीं करतीं। श्रीरघुकुलभूषण रघुनाथजी उनका अलौकिक (अप्राकृत) प्रेम जानकर मनमें हँसे ॥ २६५ ॥

टिप्पणी—१ (क) गौतमतिय कहनेसे अहल्याका अच्छी तरह बोध हो गया। केवल अहल्या कहनेसे भ्रम होता कि किस अहल्याकी गतिका स्मरण किया। अहल्या संसारमें बहुत हैं। गौतम ऋषि प्रसिद्ध हैं, इनमें भ्रम नहीं हो सकता। अतः 'गौतमतिय' पद दिया। (पं० रामकुमारजी)। (ख) गौतम-तियकी गति कैसे जानी ? इस तरह कि किसी सखीका वचन है कि 'परसि जासु पद पंकज धूरी। तरी

अहल्या कृत अघभूरी'। यह बचन सर्वत्र फैल गया। किसीने जानकीजीसे कहा होगा कि 'परसत पदपावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही', इसीसे हाथसे नहीं छूतीं।

२ 'गौतमतिय गति' इति। (क) 'गौतमतिय' अहल्या पाषाणसे दिव्य स्त्री हो गई और पतिलोक को गई; यह अहल्याकी गति हुई। इसको याद करके चरण नहीं छूतीं अर्थात सोचती हैं कि इन चरणों का प्रभाव भारी है, कहीं हमको भी किसी दिव्य लोकमें न भेज दें तो हमारा श्रीरामजीसे वियोग हो जाय। बड़े भाग्यसे श्रीरामजी हमें मिले हैं। अथवा, (ख) हमारे हाथके आभूषणोंमें अनेक मणि लगे हैं, चरणके स्पर्शसे यह सब अनेक स्त्रियाँ न हो जायँ जो हमारे पूर्ण सुखकी भागिनी बनें। पुनः, (ग) 'गौतम-तिय गति' से यह भी भाव निकलता है कि 'गौतमके शापसे अहल्या पाषाण हो गई थी और गौतम जीकी अनुग्रहसे रामजीके चरणका स्पर्श हुआ जिससे वह पुनः दिव्य स्त्री हो गई। इसी तरह हमारे हाथ-की मणि भी कदाचित् किसी मुनिकी स्त्री हो और उसे उनका शाप रहा हो कि तुम पाषाण हो जाओ; फिर अनुग्रह हुई हो कि जब श्रीजानकीजी श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श करेंगी तब तुम पुनः स्त्री हो जाओगी और तुमको श्रीरामजीकी प्राप्ति होगी। अथवा, (घ) हमको ही किसी मुनिकी शाप अनुग्रह हुई हो कि जब तुम श्रीरामजीके चरण छुओगी तब तुमको दिव्य लोक मिलेगा, पतिसे वियोग होगा। इत्यादि अनेक तर्क मनमें करके चरणका स्पर्श नहीं करतीं।

नोट—१ नंगेपरमहंसजी इनमेंसे केवल सर्वप्रथम भावको कि 'वियोग हो जायगा' ठीक मानते हैं। दूसरे भावके विषयमें उनका मत है कि "इन अर्थों में दोषापत्ति पाई जाती है क्योंकि यदि हाथके नग इत्यादि भूषण कारण होते तो हाथकी अंगुलियोंके अग्रभागसे चरणोंको स्पर्श करतीं। भूषण चरणों से स्पर्श ही न हो पाता। पुनः, इन अर्थोंसे रामजीमें प्रीति भी नहीं पाई जाती और मूलमें शब्द प्रमाण है कि 'प्रीति अलौकिक जानि'।" श्रीपांड़ेजीने दोनों भाव लिखे हैं पर प्रथम भाव लिखकर वे कहते हैं कि—"अहल्या उड़ गई, हमभी उड़ न जायँ" यह भाव ठीक नहीं है क्योंकि "यहां उड़ जानेका कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।" इससे उन्होंने दूसरा भावभी लिखा। और तीसरा भाव यह लिखते हैं कि "सीताजी रामजीके सम्मुख होकर इस संयोगको ऐसा प्रिय जानती हैं कि उनके पदको इस भयसे स्पर्श नहीं करतीं कि स्पर्श होते ही राजमहलमें जाना पड़ेगा और इस संयोगमें वियोग होगा।" श्रीरामजीके चरणोंसे अहल्याका वियोग हुआ। इसी तरह चरण स्पर्शसे हमारा वियोग हो जायगा; इतना ही संबंध इस भावमें 'गौतम तिय गति' का जान पड़ता है। प० प० प्र० का भी यही मत है। वे कहते हैं कि "सीताजी जानती हैं कि चरणस्पर्श किया नहीं कि यहाँसे लौटना पड़ेगा और वे तो इतनेमें प्रभु-विरह नहीं चाहती हैं, उन्हें इस रूपामृतसिंधुका पान करनेकी इच्छा है। अतः 'नहि परसत पग पानि'। यही अलौकिक प्रीति है। चकोरी चन्द्रामृत पानसे कब तृप्त होती है?।" वि० त्रि० कहते हैं कि भारी डर है कि चरणस्पर्शमें कहीं धूलि छू गई तो मुझे तुरन्त दिव्यलोकको जाना पड़ेगा।

२—अहल्याकी गतिका स्मरण करती हैं कि वह 'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई' और 'सनमुख होइ कर जोरि रही' अर्थात् श्रीरघुनाथजीने जब अपने चरणकमलसे उसको स्पर्श किया तब वह पाषाणसे स्त्री रूप हो उनकी सन्निधिमें प्राप्त हुई। परन्तु जब वह स्वयं उनके चरणोंपर पड़ी तब "गै पति लोक अनंद भरी।" अर्थात् प्रभुकी सन्निधिको छोड़कर उसे अन्यत्र जाना पड़ा। अतः श्रीसीताजी सखियोंके कहनेपर भी स्वयं प्रभुके चरणोंका स्पर्श नहीं करतीं, क्योंकि प्रभुको छोड़कर उन्हें अन्यत्र जाना नहीं है। वे चाहती हैं कि प्रभु स्वयं अपने चरणोंसे स्पर्श करके सदाके लिये मुझे अपनी सन्निधिमें ही रक्खें। यही अलौकिक प्रीति जानकर प्रभु हँसे। (पं० शंकरदत्त पाठक)।

☞ नोट—हनुमन्नाटकमें भी इसी संबंधके कुछ श्लोक मिलते हैं। यथा (१) "पदकमलरजोभिर्मुक्त-

पाषाणदेहमलभत यदहल्यां गौतमो धर्मपत्नीम् । त्वयि चरति विशीर्णग्रावविन्ध्याद्रिपादे कतिकति भवितारस्तापसा दारवन्तः । हनु० ३।१६ ।" (श्रीजानकीजी श्रीरामजीसे कहती हैं कि गौतममुनिने आपके चरणकमलके रजसे पाषाण देहको छोड़नेवाली धर्मपत्नी अहल्याको पाया तो बड़े बड़े पाषाणोंवाले इस विन्ध्याचलमें आपके फिरनेसे कितने ही तपस्वी स्त्रियोंवाले हो जायेंगे । अर्थात् जिस भी शिलाको आपके चरणका स्पर्श होगा वही ऋषिकी स्त्री हो जायगी) । (२) 'उपजननुरहल्या गौतमस्यैव शापादियमपि मुनिपत्नी शापिता कापि वा स्यात् । चरणनलिनसङ्गानुग्रहं ते भजन्ती भवतु चिरमियं नः श्रीमती पोतपुत्री । हनु० ३।२० ।", (मार्गमें थकी हुई श्रीजानकीजी एक नावको देखकर कहती हैं कि गौतमजीके शापसे अहल्याके सदृश यदि यह भी शापको प्राप्त हुई कोई मुनिकी स्त्री ही हो, तो आपके चरणकमलकी कृपाका स्मरण करती हुई यह नौका चिरकाल तक हमको सुखकरी हो) । (३) "आगम्याशु ससंभ्रमं बहुतरां भक्तिं दधाना पुनस्तत्पादौ मणिकङ्कणोज्ज्वलकरा नैव स्पृशत्यद्‌भुतम् । हनु० १४।५७ ।" (अहल्या वच्चरणस्पर्शमात्रेण कङ्कणमणयोऽपि योषितो मा भूवन्निति भावः ।) लंकामें अग्निपरीक्षा होनेपर अग्निशपथसे निकली हुई और अत्यन्त भक्तिको धारण करती हुई श्रीजानकीजी फिर श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंका स्पर्श नहीं करती हैं क्योंकि उनके हाथ मणि और कंकणसे प्रकाशित हो रहे थे, यह अद्‌भुत हुआ । (इस शंकासे कि कहीं अहल्याकी तरह श्रीरामपदस्पर्शसे ये कंकणकी मणियें स्त्री न हो जायँ ।)

हनुमन्नाटक ग्रंथ प्राचीन ग्रंथ है और गोस्वामीजीके समयमें भी इसका प्रचार रहा है । मानसके धनुषयज्ञप्रसंग, परशुरामगर्वप्रसंग, अंगद-रावण-संवाद, इत्यादि तो हनुमन्नाटकसे अत्यंत मिलते हैं । अतः यह असंभव नहीं है कि 'गौतम तिय गति...' यह दोहा भी हनुमन्नाटकके उपर्युक्त उद्धरणोंके आधारपर लिखा गया हो । अतः मणियोंके स्त्री होनेकी शंकावाला भाव भी इसमें अप्रमाणिक नहीं है । इस भावमें 'गौतम तिय गति' से "अहल्याका पाषाणसे दिव्य स्त्री हो जाना" मात्र लिया जायगा ।

'गौतम तिय गति' का यह अर्थ लेनेसे कि 'अहल्या चरणस्पर्शसे दिव्य हो पतिलोकको चली गई' अन्य भाव भी सुसंगत हैं कि-(क) चरणस्पर्शसे मैं अपने नित्य दिव्य रूपको पाकर पतिलोक (साकेत वा वैकुण्ठ) को न चली जाऊँ । प्रभुसे मेरा वियोग हो जायगा जैसे अहल्याका प्रभुसे वियोग हुआ । (ख) श्रीरामजीने अहल्याका स्पर्श स्वयं किया तब वह उनके सम्मुख रही और जब उसने स्वयं श्रीरामजीके चरणोंका स्पर्श किया—'बारबार हरि चरन परी', तब उसका उनसे वियोग होगया-'गै पतिलोक' । अतः वे चरणका स्पर्श नहीं करतीं । इत्यादि ।

अन्य महानुभावोंके भाव आगे दिये जाते हैं--

शीलावृत्ति —चरण स्पर्श न करनेका हेतु यह है कि "श्रीलक्ष्मीजीने श्रीविष्णुजीके हृदयमें भृगुचरण देख उनको जयमाल पहिनाया था और ये चरण तो (विप्रपत्नी) अहल्याको स्पर्श किये हुए आते हैं । हम रमाकी खानि हैं, हमको तो रमासे कोटि गुण धर्म जानना चाहिये । यह बात श्रीसीताजीके मनकी जान अति प्रसन्न हो अलौकिक प्रीति समझ श्रीरामजी मनमें हँसे ।"...."अहल्या 'गइ पतिलोक अनंद भरी'—यह संयोग है, पतिसे वियोग नहीं है । चरणस्पर्शसे हमारा वियोग होगा यह अर्थ संगत नहीं है क्योंकि चरण तो संयोगी हैं । नग सब स्त्री हो जायेंगे यह भावभी ठीक नहीं, क्योंकि सीताजी जानती हैं कि श्रीरामचरण अनेक पाषाण स्पर्श करते हैं, कोई भी तो नहीं उड़ते और अहल्या तो शापवश रही है ।"

वीरकविजी—इस वाक्यमें अस्फुटगुणीभूतव्यंग है कि सब आभूषण स्त्री हो गए तो वह भार्य्या होनेसे स्वामीकी प्रीति मुझपर न्यून रहेगी । यह व्यंग कठिनतासे देख पड़ती है पर जान लेनेसे बहुत ही सरल है । 'अलौकिक' शब्दमें लक्षणामूलक गूढ़ व्यंग है कि पाँव पड़ते ही यहांसे चल देना होगा ।

श्रीरामबालकदासजी मालवीय—महारामायणमें कहा है कि जब सरकारकी इच्छा नरनाट्यकी हुई

और उन्होंने श्रीमहारानीजीसे कहा कि मैं श्रीअवधमें श्रीदशरथमहाराजके यहां प्रगट हूँगा और आप योगिराज जनक महाराजकी पुत्रि बनें, तब महारानीजीने शंका की कि राजाओंके अगणित रानियाँ होती हैं, श्रीदशरथ महाराजके भी अगणित रानियाँ हैं; वैसेही आपभी राजा होकर अगणित रानियोंका पाणिग्रहण करेंगे। इसपर श्रीसरकारने प्रतिज्ञा की कि मैं एक पत्नीव्रत रहूँगा। इस समय अहल्याकी गति का स्मरणकर वे सोच रही हैं कि श्रीसरकारने अहल्याका स्पर्श करके प्रतिज्ञाका भंग किया, अतएव मैं चरणोंका स्पर्श न करूँगी। पाषाणकी स्त्रीके स्पर्शपर यह मान उनका अलौकिक प्रेम है। इसको समझकर प्रभु हँसे।

वैजनाथजी—(क) 'गौतमतिय गति सुरति करि' यह कि पाषाणकी अहल्या तो बहुत भारी थी जब वह दिव्य देह धरकर न जाने किस लोकको गई तब मैं तो अत्यन्त कोमल हूँ, उसपर भी बाल्यावस्था है, मैं चरण स्पर्शसे यहाँ कैसे रुक सकूँगी—'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं'। बड़े सुकृतोंसे प्रभुकी समीपता प्राप्त हुई जिसपर स्वर्ग, मुक्ति तथा चारों फल निछावर हैं। यह सोचकर चरण स्पर्श नहीं करतीं। सदा संयोगके आगे चारों पदार्थोंका अनादर किया, यह अलौकिक प्रीति है जिसे जानकर प्रभु हँसे। (ख) मणि स्त्रियाँ होकर हमारे सुखकी भागिनी न हो जायँ यह भय मानना लौकिक प्रीति है और पातिव्रत्यका बाधक है क्योंकि पतिव्रता तो पतिके सुखमें सुख मानती है इत्यादि कारणोंसे यह भाव शिथिल है।

मा० त० वि०—(१) श्रीजानकीजी सोचती हैं कि चरणस्पर्शसे अहल्या पाषाणदेह छोड़ अपने पूर्व रूपको प्राप्त हुई वैसे ही कहीं मेरा यह नरनाट्यरूप छूटकर "रामःसीता जानकी रामचन्द्रः नित्याखण्डो ये च पश्यन्ति धीराः।' वाला यथार्थरूप प्रकट न हो जाय (तो सब लीलाकार्य ही बिगड़ जाय)। श्रीरामजीने यह अलौकिक प्रीति देखी कि मेरी इच्छाका इनको कितना ख़याल है। अथवा, (२) हनु० ना० के अनुसार भाव कि वे सोचती हैं कि कंकणके मणिगण स्त्रियाँ हो गईं तो "अनादि सूत्रमें जो अलौकिक भाव है। 'प्रकृति पुरुषयोरन्यत् अनित्यं तत्वम्' वह न रहेगा।" अथवा, (३) 'बालविनोदमात्र जो सीताजीकी अद्भुत प्रीति है कि मारे प्रेमके समीपसे हटना नहीं चाहतीं फिर भी चरण नहीं छूती कि न जाने कंकणके मणिमें जो प्रीतम प्यारेकी अद्भुत झाँकी है वह ही कहीं अहल्याकी तरह दिव्य स्त्री न हो जाय। यही अलौकिक प्रीति है। (और भी भाव उन्होंने लिखे हैं जो ठीक समझमें नहीं आते)।

वि० त्रि०—"सोहति सीय राम कै जोरी''प्रीति अलौकिक जानि' यह अलौकिक जोड़ी है, यथा 'बानी बिधि गौरि हर सेसहू गनेस कही सही यही लोमस भुसुंडि बहुबारिषो''सीय सी न तीय न पुरुष राम सारिखो।' सखियोंके कहने पर भी सीताजी सरकारका चरण स्पर्श नहीं करतीं, कारण देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि "गौतमतियगति सुरति करि'। गौतमकी स्त्री अहल्या चरणकी धूलि स्पर्श करके तर गई, संसार सागरके पार हो गई, यथा 'मुनितिय तरी लगत पग धूरी', सो सीताजीको यह सन्देह उठा कि कहीं मैं भी संसारसागरके पार न चली जाऊँ, तब तो सरकारके चरणोंसे वियोग हो जायगा, अतः चरण स्पर्श नहीं कर रही हैं। रघुवंशमणि इस अलौकिक प्रीतिको देखकर मनही मन हँस रहे हैं। भीतर प्रीति इतनी, और बाहरकी क्रिया अटपट हो रही है; अतः हास्य रसका प्रादुर्भाव हुआ।

टिप्पणी—३ (क) 'मन बिहँसे रघुबंसमनि' क्योंकि प्रगट हँसनेमें लोकलाज है। लोकलाजकी रक्षा करनेसे रघुवंशमणि कहा। भाव कि सभी रघुवंशी लोकलाज रखते हैं और ये सबमें श्रेष्ठ हैं, ये क्यों न रखें? पुनः अलौकिक प्रीति श्रीजानकीजीके मनमें है। मनकी प्रीति जानकर मनमें बिहँसे अर्थात् मनमें प्रसन्न हुए। (ख) 'प्रीति अलौकिक जानि' इति। जानकीजीकी जैसी प्रीति रामजीमें है वैसी लोकमें किसीकी नहीं है। इसीसे प्रीतिको अलौकिक कहा। (ग) हँसे कि लोग तो हमारे चरणोंका स्पर्श और दिव्य

लोककी चाह करते हैं और ये हमारे निमित्त हमारे चरणका स्पर्श नहीं करतीं, ये दिव्य लोक नहीं चाहती हैं। (ग) 'जानि' कहकर जनाया कि श्रीरामचन्द्रजी जान गए, सखियाँ न जान पाईं। यदि वे जानतीं तो पदस्पर्शको न कहतीं।

श्रीराजारामशरणजी लिखते हैं कि—हास्यरस कितना कोमल है! हास्यरसका माधुर्य्य ही यह है कि जिसपर हँसी आवे उसपर प्रेम बढ़े। मनमें हँसनेके कारण ये हैं कि—एक तो स्वयं संकोच है और लज्जा। दूसरे यह डर है कि स्पष्ट हँसनेसे सीताजीको दुःख न हो और वे लज्जित न हो जायँ, लेकिन प्रेमकी सनकवाले 'अतिभीत' पर हँसी आए बिना न रही।"

पांड़ेजी लिखते हैं कि रामजी "उस अलौकिक अर्थात् आदि प्रीतिको जानकर जो उनके और जानकीजीके (अन्तःकरणमें परस्पर है) अपने मनमें हँसते हैं कि सीताजी उसको भूलकर भ्रममें पड़ी हैं। अथवा, जबतक हम चरणस्पर्श न करेंगी तबतक सखियाँ हमको लौटा न ले जायँगी—यह अलौकिक प्रीति जान कर हँसे।"

तब सिय देखि भूप अभिलाषे। क्रूर कपूत मूढ़ मन माषे ॥१॥
उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे ॥२॥
लेहु छड़ाइ सीय† कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ ॥३॥

अर्थ—तब श्रीसीताजीको देखकर राजा ललचाये। वे क्रूर, कपूत, मूढ़ राजा मनमें 'माष' को प्राप्त हुए ॥ १ ॥ वे अभागे उठउठकर कवच पहनकर जहाँ तहाँ गाल बजाने लगे ॥ २ ॥ कोई सीताको छीन (तो) लो और दोनों राजकुमारोंको पकड़कर बाँध रक्खो ॥ ३ ॥

टिप्पणी—१ 'तब सिय देखि भूप अभिलाषे।०' इति। (क) पहले प्रण सुनकर ललचाए और 'माषे' थे, यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे। २५०।५।', और जब धनुष न उठा तब सीताजीको देखकर ललचाए और 'माषे'। (ख) 'तब' अर्थात् जब जयमाल पड़ गया (और आरती निछावर आदि हो चुके, स्वयंवरकी सब प्रक्रिया समाप्त हो गई) तब 'माषे' यह कि "हमारे आगे (सामने) कन्यासे जयमाल क्यों पहिनी ? यह कौन हैं जयमाल पहिननेवाले! क्या हम वीर नहीं हैं। हमारे रहते ये कन्या कैसे ले जायँगे ? (ग) प्रण सुनकर जब ललचाए और माषे थे तब इनको 'भटमानी' कहा था, क्योंकि यह वीरोंका काम ही है। जब सीताजीको देखकर अभिलाषा की, तब क्रूर आदि कहा। क्रूर हैं अर्थात् अधर्मी हैं; श्रीसीताजीको देखकर अभिलाषा करना अधर्म है। पुरुषार्थहीन होनेसे 'कपूत' कहा। और धर्मात्मा राजाओंका उपदेश सुनकर भी, कि 'जगदंबा जानहु जिय सीता। जगतपिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी', ज्ञान न हुआ और न रामचन्द्रजीका भारी पुरुषार्थ देखकर ज्ञान हुआ, इससे 'मूढ़' अर्थात् अज्ञानी एवं मूर्ख कहा।

☞ नोट—प्रथम बार 'अभिलाषे' के साथ 'भट मानी' और इस बार 'क्रूर कपूत मूढ़' विशेषण राजाओंको दिया। कारण कि वहाँ पुरुषार्थ दिखानेका काम था इससे 'मानी' कहकर एक प्रकारसे उनकी प्रशंसा की कि जिन्हें अपने पराक्रम और पुरुषार्थका अभिमान था उन्हें क्रोध आ गया, वे बंदीके वचन सह न सके। ऐसा होना वीरोंके योग्य ही है। पर जब वे पुरुषार्थहीन सिद्ध हुए, तब उनके मुँहमें स्याही लग गई, तब भी लज्जाको ताक़पर रखकर वे श्रीजानकीजीको पानेकी इच्छा कर रहे हैं। अतः यहाँ 'क्रूर कपूत मूढ़' ये गालीके शब्द उनके लिये कविने प्रयुक्त किये। श्रीरामजीके धनुष तोड़नेपर और उनको जयमाल

† सं० १६६१ में 'सिय कहुँ' पाठ है।

पहनाए जानेपर श्रीजानकीजीकी चाह करना अधर्मपर पैर धरना है, अतः 'क्रूर' कहा। पुरुषार्थहीन साबित हुए, अपने बाप-दादाका नाम डुबाया, अतः 'कपूत' कहा। और, साधुराजाओंके समझानेपर उन्होंने न माना, श्रीलक्ष्मणजीके वचन सुनकर, उनका क्रोध और प्रभाव, ('डगमगानि महि दिग्गज डोले।····', 'दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला।···सजग होहु सुनि आयसु मोरा।') देखकर भी उनको सूझ न हुई; अतः 'मूढ़' कहा। (प्र० सं०)।

वि० त्रि०—जनकजीके कहनेपर कि 'कुअँरि कुँआरि रहौ का करऊँ' जो अभिलाषा दब गई थी सो जाग उठी। सीताजीकी प्राप्ति किसीको न होगी, इस बातपर जिन्हें सन्तोष था, उन्हें दूसरेको उनकी प्राप्ति सह्य न हुई। उनमेंसे जो क्रूर कपूत और मूढ़ थे उन्हें मनही मन आमर्ष हुआ। आमर्ष=अभिमान। बलवानके सामने आमर्ष चल नहीं सकता, अतः क्रुद्ध होकर सामना करनेका तो साहस नहीं है, अतः मनही मन मसोस रहे हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'उठि उठि अभागे' इति। बल प्रताप वीरता बड़ाई तो अपनी नष्ट ही कर डाली, अब सुंदर भावसे श्रीसीतारामजीका दर्शन भी नहीं करते। (उनसे विमुख हो रहे हैं, विरोध कर रहे हैं) अतः 'अभागे' कहा। 'पहिरि सनाह' से जनाया कि युद्ध करनेको तैयार हुए। क्योंकि सनाह युद्धमें पहना जाता है। [सनाह=कवच; ज़िराबख्तर अस्त्र शस्त्र सहित। यह फ़ारसी 'सिलह' शब्द है] करतूत विना केवल कोरी बातें करना गाल बजाना है। (ख) यहाँ राजाओंका तन, मन, वचन तीनोंसे विरोध करना (रामविमुख होना) दिखाया। 'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे।०' यह तनका, 'मन माषे' यह मनका और 'जहँ तहँ गाल बजावन लागे' यह वचनका विरोध है। इतनेपर भी श्रीरामजी क्षमा करते गए, क्योंकि बलवान् हैं और बलवान्‌की शोभा क्षमा है। (ग) मिलान कीजिए—'लाज तों न साजि साज राजा राढ़ रोषे हैं। कहा भो चढ़ाये चाप व्याह ह्वै है बड़े खाये, बोलैं खोलैं सेल असि चमकत चोखे हैं।' (गी० ९३)। गीतावलीमें अस्त्र-शस्त्र 'सेल असि' धारण करना कहा, यहाँ 'सनाह' पहिनना कहकर शस्त्रास्त्र भी धारण करनेका इशारा कर दिया है।

३ (क) 'लेहु छड़ाइ सीय कह' इति। "धनुष तोड़कर विवाह करना 'पद' था सो न हुआ, अब दूसरा 'पद' निकालते हैं कि जो राजा जीते उसीकी सब वस्तु है, 'हम वीर हैं, हमारी है जानकी" यह 'लेहु छड़ाइ' का भाव है। [(ख) 'कह' इति। कह=कहं। पोथीमें बहुत जगह 'कह' के 'ह' पर अनुस्वार नहीं दिया हुआ है, पर अर्थ 'कहँ' है, वैसे ही यहाँ भी 'कहँ' अर्थ है। 'गाल बजावन लागे' क्रिया पूर्व आ चुकी है। 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ' इत्यादि सब वचन वही 'गाल बजाना' है। पांड़ेजी इत्यादिने 'कहं' पाठ दिया है। 'कह' को क्रिया माननेमें यह वचन केवल एक राजाका हो जाता है; 'कोई यह कहता है' इस वचनके आगे आवश्यकता फिर इन शब्दोंकी भी पड़ती है कि 'और कोई यह कहता है'। प्रमाण यथा 'कोउ सप्रेम बोली मृदु बानी। २२१।२।···देखि रामछबि कोउ एक कहई। २।···कोउ कह ए भूपति पहिचाने।···कोउ कह जौं भल अहइ बिधाता···२२२।···।'; पर ऐसे शब्द आगे नहीं हैं। अतः पं० रामकुमारजी इत्यादिका अर्थ ठीक जान पड़ता है।] (ग) 'कोऊ' का भाव कि ये लड़के ही तो हैं, कर ही क्या सकते हैं, इन्हें तो कोई भी धर पकड़ सकता है, ये तो किसीसे भी नहीं जीत सकते। (घ) 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ' इति। ['नृपबालक' कहकर इनको शत्रु क़रार दिया। शत्रुको स्वतंत्र न छोड़ना चाहिए। यह राजनीति है कि जिसका धन, स्त्री आदि अपहरण करे उसे स्वतंत्र न रक्खे, यथा 'कोउ कह जियत धरहु दोउ भाई। धरि मारहु तिय लेहु छँड़ाई। ३।१९।', 'मर्कट हीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस दोउ भाई। ६।३२।' नीति है कि राजाको पकड़कर क़ैदमें रक्खे, इसीसे दोनों भाइयोंको धर बाँधनेको कहते हैं। पुनः भाव कि बालक समझकर इनको 'धर बाँधने' को कहते हैं, बालक हैं, इनसे लड़नेकी भी

आवश्यकता नहीं। इसीसे 'नृप बालक' कहा। (वैजनाथजीका मत है कि "लेहु छड़ाइ सीय कह कोऊ।...।', ये 'क्रूर' राजाओंके वचन हैं शत्रुको छोड़ देनेसे वह पीछे घात करता है, अतः बाँध रखनेको कहा। 'जौं बिदेहु कछु करै सहाई।...' ये वाक्य मूढ़ राजाओंके हैं।" वि० त्रि० का भी ऐसा ही मत है। 'तोरे धनुष...' ये वचन कपूतोंके हैं)।

तोरे धनुषु चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहि कुअँरि को बरई ॥४॥
जौं बिदेहु कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई ॥५॥

शब्दार्थ—चाँड़=स्वार्थ, चाह, यथा 'हित पुनीत स्वारथहि अरि असुद्ध बिनु चाँड़। निज मुख मानिक सम दसन भूमि परे ते हाड़।' (दोहावली ३३०)। चाँड़ नहिं सरई=काम न चलेगा; इच्छा न पूरी होगी। स्वार्थ नहीं सध सकता। वि० त्रि० 'चाट' अर्थ करते हैं। सरना (सं० सरण)=चलना।

अर्थ—धनुष तोड़नेसे काम न चलेगा, (भला) हमारे जीतेजी राजकुमारीको कौन व्याह सकता है? ॥४॥ यदि विदेह (उनकी) कुछ सहायता करें तो दोनों भाइयों सहित उन्हें भी संग्राममें जीत लो ॥५॥

टिप्पणी—१ (क) पूर्व जो कहा था कि 'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा। बिनु तोरे को कुँअरि बिआहा। २४५। ६।' उसीको यहाँ चरितार्थ करते हैं। ☞ जैसी बात कहते हैं, उसीके अनुकूल शब्द प्रयोग किया गया है। विवाह होना कैसा कठिन है, यह कठिनता वैसे ही कठिन शब्दोंसे दिखाते हैं। अथवा, पूर्व जो कहा था कि 'एक बार कालउ किन होऊ। सिय हित समर जितब हम सोऊ। २४५।७।' उसी वचनका अभिप्राय यहाँ कहते हैं। कालसे कोई जीतता नहीं, इसीसे कहते हैं कि जब तक हम जीवित रहेंगे तबतक कोई सीताजीको व्याहने न पावेगा, मरनेपर चाहे जो ले जाय। (ग) जौं बिदेह कछु करै सहाई' इति। 'जौं' कहनेका भाव कि हम सब राजाओंको प्रबल देखकर जनकमहाराज सहायता न करेंगे, यदि कदाचित् करें तो उन्हें भी युद्ध करके जीत लो। [वा, कुमारीका पिता विदेह है; वह झगड़ेमें पड़नेवाला नहीं, पहिले ही कहना था 'कुँअरि कुँआरि रहौ का करऊँ', वह किसीकी सहायता न करेगा, पर यदि राजकुमारीको छीनी जाते और अपने जामाता दोनों भाइयोंको बँधते देखकर कुछ चीं चपड़ करे तो उसे भी समरांगणमें जीत लो। (वि० त्रि०)] 'कछु' कहनेका भाव कि जनक युद्धमें विशेष ठहर नहीं सकेंगे, उनकी सहायता 'कुछ' हीके बराबर है तात्पर्य कि उनको जीतनेमें परिश्रम नहीं होनेका। इसीसे समरमें जीतनेको कहते हैं। (घ) 'विदेह' का भाव कि उनको तो अपनी देहकी ही खबर नहीं है, वे क्या सहायता करेंगे? अतः उनकी सहायताको 'कछु' कहा। (ङ) दोनों भाइयोंको समरमें जीतना न कहकर 'धरि बाँधहु नृप बालक दोऊ' ऐसा कहा था, क्योंकि वे बालक हैं, बालकोंको धरबाँधनेमें समर नहीं होगा, इनके साथ सेना नहीं है जो ये लड़ें। विदेह राजा हैं, उनके पास सेना है। यदि वे सहायता करें तो समर होगा, अतः 'जौं बिदेह कछु करै सहाई' के संबंधसे 'जीतहु समर' कहा। (च) 'दोउ भाई'। धनुष तो रामजी ही ने तोड़ा है, पर बाँधने और जीतनेमें दोनों भाइयोंको कहते हैं क्योंक भाई भाईकी सहायता करता ही है, यथा 'होहिं कुठाय सुबंधु सहाए। ओड़ियहिं हाथ असनिहु के घाए'। लक्ष्मणजी सुबंधु हैं, वे अवश्य सहायता करेंगे। अतः 'जीतहु दोउ भाई' कहा। (छ)—पूर्व जो कहा था कि 'सियहित समर जितब हम सोऊ'-उसीको यहां चरितार्थ किया कि 'जीतहु समर'। (कोई कोई टीकाकार 'दोउ भाई' से राजा सीरध्वज और कुशध्वज दोनों भाइयोंका अर्थ करते हैं पर यहां ऐसा अर्थ प्रसंगानुकूल ठीक नहीं जान पड़ता।

(वि० त्रि० का मत है कि यह मूढ़ राजाओंके वाक्य हैं। ये मूढ़ हैं, इन्हें परिज्ञान नहीं कि बिदेह किसे कहते हैं। जिसे देहाध्यास नहीं उससे बढ़कर योद्धा कौन हो सकता है? ऐसा स्वयंवर रचनेके लिये

देहाध्यास था, सहायताके लिये नहीं है । शिवधनु भंग करनेवालेको भाई और विदेहराज सहित जीतनेका स्वप्न देखते हैं, ऐसेके मूढ़ होनेमें संदेह क्या ?)

श्रीराजारामशरणजी (लमगोड़ा)—चित्रण कितना सजीव है ? डींग और डींगवाली प्रगतियाँ कैसे हास्यरसरूपमें दिखाई हैं ? नमूनेकी तरह पर कई नृपोंके डींगके वाक्य भी नाटकीकलाकी शैलीके अनुसार ज्योंके त्यों दे दिये हैं । ('कोउ कह' में वही संकेत है) । 'गाल बजावन लागे' से स्पष्ट है कि कवि हास्यरस ही प्रधान रखता है; हाँ, प्रभाव अवश्य विभिन्न होंगे । हमारे मुँहसे निकलता है "लेना लपकके"; लेकिन राजसभामें वैसी भाषा ठीक न होती, इसीसे कैसी सभ्य भाषामें इसी बातको कविने आगेकी चौपाइयोंमें लिखा है ? सच है भूप 'साधु' हैं इससे व्यंग भी कटु अवश्य है, पर सभ्य भाषामें । देखिए, कवि और राजाओंकी भाषाका अन्तर और कविकी कला विचारिये । क्रूर कपूत='नाक पिनाकहि संग सिधाई' इत्यादि । मूढ़ = 'असि बुधि तौ बिधि मुँह मसि लाई' ।

साधु भूप बोले सुनि बानी । राजसमाजहि लाज लजानी ॥ ६ ॥
बलु प्रतापु बीरता बड़ाई । नाक पिनाकहि संग सिधाई ॥ ७ ॥
सोइ सूरता कि अब कहुं पाई । असि बुधि तौ बिधि मुहु मसि लाई ॥ ८ ॥

अर्थ—इनके वचन सुनकर महात्मा राजा बोले—'इस राजसमाजमें तो लाज भी लजा गई । (तुम्हारे) बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई और नाक (वा, बल प्रतापादिकी नाक) तो शिवजीके धनुषके साथ चलती हुई' ॥ ७ ॥ वही शूरता (वीरता) क्या अब कहींसे फिर पा गए ? ऐसी बुद्धि है तभी तो विधाताने मुँहमें स्याही लगा दी है ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'साधु भूप बोले सुनि बानी' इति । भाव कि साधुका स्वभाव है कि यदि उनको कोई कुछ कहे तो वे सह लेते हैं, यथा—'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे । खलके बचन संत सह जैसे'। ४। १४।', पर यदि उनके इष्टको कोई कुछ कहे तो वे नहीं सहते, क्योंकि 'हरिहर निंदा सुनइ जो काना । होइ पाप गोघात समाना । ६।३१ ।', इसीसे ये दुष्ट राजाओंके वचन न सह सके, बोल ही उठे । (ख) 'राजसमाजहि लाज लजानी' । भाव कि राजसमाजको लज्जा आनी चाहिए, सो वह तो लज्जित न हुआ, समाजको देखकर लाज ही लजा गई । ('लाज लजा गई' मुहावरा है । भाव कि तुम्हारे समान निर्लज्ज कोई नहीं है । यह वाच्यसिद्धांग गुणीभूत व्यंग है ।) पूर्व जो कहा था कि 'जहँ तहँ गाल बजावन लागे' उसीसे इनको कविने निर्लज्ज कहा, यथा 'पुनि सकोप बोलेउ जुवराजा । गाल बजावत तोहि न लाजा । ६।३२ ।'; गाल बजाना निर्लज्जता है । (ग) 'राजसमाजको लाज लजा गई' यह कैसे निश्चय हुआ ? इस तरह कि राजसमाज तो निर्लज्ज है पर जिनके लाज है वे राजसमाजकी इस निर्लज्जताको देखकर लजा रहे हैं, यही लाजका लजाना है । (तात्पर्य्य कि राजाओंके वचन सुनकर शीलवान् राजाओंने अपना-अपना सिर नीचे कर लिया । लज्जावान् पुरुषोंको लज्जा लगी कि हम कहाँ इस निर्लज्ज समाजमें आ गए, यही मानों मूर्तिमान लज्जाका लजा जाना है । यहाँ वाच्यसिद्धाङ्ग गुणीभूत व्यंग्य हैं ।)—"धर्मीके द्वारा धर्म देख पड़ता है । जब राजसमाजको लाज लजानी तब राजसमाजकी भारी निर्लज्जता हुई । भाव कि तुम लाजसे न लजाए लाज ही तुमसे लजा गई, तुम्हारे आचरणसे राजसमाज कलंकित होता है ।

२ (क) 'बल प्रताप बीरता बड़ाई ।०' इति । क्रमसे कहा । प्रथम बल है, बलसे प्रताप, प्रतापसे वीरता (अर्थात् प्रतापी वीर होते हैं), वीरतासे बड़ाई होती है और बड़ाईसे 'नाक' है । यहाँ 'बल' को प्रथम लिखा, क्योंकि धनुष तोड़नेमें बलका काम था, तिल भर भी न उठा सकनेसे बलका नाश हुआ । बल

'प्रतापादि' का मूल है, अतएव बलके नाशसे उन सबोंका नाश हुआ। (ख) 'नाक पिनाकहि संग सिधाई' इति। 'सिधाई' एकवचन कैसे कहा ? 'सिधानेवाले' तो 'बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई, नाक' कई हैं, अतः बहुवचन होना चाहिए था ? उत्तर यह है कि यहाँ 'बड़ाई' मुख्य है, यह शब्द सबके साथ है। अर्थात् बल, प्रताप, वीरता और नाक (इज्जत)—इन सबोंकी बड़ाई धनुषके संग चली गई। केवल बड़ाई कहीं नहीं होती, बड़ाई किसी गुणकी या किसी वस्तुकी होती है। बलादि सबकी बड़ाई पिनाकके संग गई। क्योंकि राजा लोग प्रथम ही इन सबोंको पिनाकके हाथ हार गए, यथा 'कीरति बिजय बीरता भारी। चले चापकर बरबस हारी'। ये सब अब धनुषके हो गए। इसीसे धनुषके संग चला जाना कहा। जब पिनाक रहा तब नाक रही, जब पिनाक टूटा तब नाक भी टूट गई।

नोट—१ यहाँ धनुषका नाम 'पिनाक' कैसा उत्कृष्ट पड़ा है ? 'पिनाक' में 'नाक' पद है ही। मानों 'पिनाक' में जो नाक है, वह इन्हींकी नाक है, जो कटकर (इनको छोड़कर) इसमें लग गई। वा, यों कहिए कि 'पिनाक' की नाकने तुम्हारी नाक छीन ली, यथा—'जेहि पिनाक बिनु नाक किये नृप सबहि बिषाद बढ़ायो। गी० १।९१।' इसी प्रमाणको लेकर हमने ऊपर कोष्टकान्तर्गत अर्थ लिखा है। जबतक 'पिनाक' रहा तबतक 'नाक' रही, जब वह न रह गया तब नाक भी न रह गई। २—'नाक पिनाकहि संग सिधाई' यह मनोरञ्जन वर्णन 'सहोक्ति' अलंकार है। 'कि अब कहुँ पाई' में काकुसे शूरताका बाध होकर कापुरुषता व्यञ्जित होना गुणीभूत व्यंग है।—(वीर)।

टिप्पणी—३ (क) 'सोइ सूरता कि अब कहुँ पाई' इति। 'सोइ सूरता' अर्थात् जिस शूरतासे धनुष तिलभर भी न हटा सके, उसी शूरतासे श्रीरामलक्ष्मणजीको धर पकड़ने और बाँधनेको कहते हो। ऐसी बुद्धि थी तभी तो धनुष तोड़ने गये थे और मुँहमें स्याही (कालिख) लगवाके लौटे। यदि सुन्दर बुद्धि होती तो क्यों धनुषके पास जाते, यथा—'जिन्हके कुछ बिचार मन माहीं। चाप समीप महीप न जाहीं'। 'मुँह मसि लाई' मुहावरा है, लोकोक्ति है। (ख) 'बिधि मुँह मसि लाई' विधाताने स्याही लगाई कहनेका भाव यह है कि मुँहमें कालिख लगना पापका फल है और पाप-पुण्यके फलदाता विधि हैं,—'कठिन करम गति जान बिधाता। सुभ अरु असुभ करम फलदाता'। श्रीसीताजी जगदम्बा हैं, श्रीरामजीकी आद्याशक्ति हैं, उनको पत्नीरूपसे वरण करनेकी इच्छासे धनुष उठाने गए, इससे पाप लगा। फिर धनुषके टूटनेपर जयमाल पड़ जानेपर भी भगवान्‌से विरोध करते हैं। 'धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ' ऐसी बुद्धि हो रही है। अतएव विधाताने मुँह काला कर दिया।

दोहा—देखहु रामहि नयन भरि तजि इरिषा मदु कोहु[१]।
लखन रोषु पावकु प्रबलु जानि सलभ जनि होहु ॥२६६॥

अर्थ—ईर्ष्या, मद और क्रोधको त्यागकर श्रीरामचन्द्रजीको नेत्र भरकर देख लो। लक्ष्मणजीके क्रोध-रूपी प्रचंड अग्निमें जानबूझकर पतिंगे न बनो ॥२६६॥

टिप्पणी—१ (क) साधु राजाओंने जो प्रथम बार उपदेश दिया था कि 'जगत पिता रघुपतिहि बिचारी। भरि लोचन छबि लेहु निहारी। २४६।३।', वही उपदेश वे यहाँ पुनः करते हैं कि नेत्रभर दर्शन कर लो। 'नयन भरि देखहु' का भाव कि ध्यानमें भी जिनका दर्शन दुर्लभ है वे ही सामने प्रगट हैं; अतः

१ पाठान्तर 'मोहु'—भा० दा०, पांडेजी, पं० रा० कु०। 'मोहु' पाठसे भाव होगा कि श्रीजानकीजीके स्वरूपमें जो मोह है उसे छोड़ो। उनका स्वरूप न जानना मोह है। 'मोह' पाठसे हृदयके षट् शत्रुओंकी पूर्ति होती है। २६७ (३) देखिए।

देख लो, यथा 'सुंदर सुखद सकल गुन रासी । ए दोउ बंधु संभु-उर-बासी ।' (ख) 'तजि इरिषा मद कोहु' कहनेका भाव कि ये तीनों रामरूपदर्शनके बाधक हैं, बिना इनके गए रामरूप नहीं जान पड़ता । असाधु राजाओंमें अवगुण तो बहुतसे हैं, पर इस समय ये तीन विशेष हैं । श्रीरामजीसे बैर ठाने हैं (यह ईर्षा), अपनी बड़ाईका (वा अपने बलका) मद है और जानकीजीके स्वरूपमें मोह हैं, यथा 'भए मोह बस सब नरनाहा ।' उन्होंने जयमाल श्रीरामजीके गलेमें डाला है, इनके हाथसे निकली जाती हैं अतः क्रोध है। इसीसे यहाँ इन्हीं तीन अवगुणोंको कहा । मोषसे क्रोध होता ही है । अभिलषित वस्तु हाथसे निकलनेपर भी क्रोध होता है । (ग) 'लखन रोषु पावक प्रबल' कहकर जनाया कि लक्ष्मणजी राजाओंकी ओर क्रोधसे देख रहे हैं, यथा 'अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप'; इसीसे कहते हैं कि उनके क्रोधाग्निमें न जलो । (घ) 'जानि' का भाव कि पतिंगा दीपक वा अग्निका मर्म बिना जाने जलता है और तुम सब तो जानते हो कि इन्होंने मारीच सुबाहुकी सारी सेना क्षणभरमें मार डाली, जनकजीके वचनोंपर जो क्रोध हुआ उसे तुमने आँखों देखा है कि पृथ्वी भी काँप उठी, यथा 'लखन सकोप बचन जब बोले । डगमगानि महि दिग्गज डोले', इत्यादि। न भी जानते हो तो अब हम तो बता रहे हैं, हमारा सिखावन सुनकर तो जान गए; अतः जानबूझकर न मरो । (ङ) 'सलभ जनि होहु' इति । शलभका आरोप उन राजाओंपर किया गया क्योंकि पतिंगे कुछ कर नहीं सकते, सिवाय जल मरनेके उनका कुछ पुरुषार्थ वहाँ चल नहीं सकता; अग्नि कुछ उन्हें जलाने नहीं जाता और न उन्हें जलानेकी इच्छा ही करता है, पर वे स्वयं ही जाकर उसमें जल मरते हैं; वैसे ही तुम्हारी कुछ भी प्रभुता वहाँ न चलेगी, वे तुम्हें मारना भी नहीं चाहते, पर तुम आप ही उनके क्रोधाग्निमें जाकर प्राण देना चाहते हो, इति भावः । पुनः भाव कि श्रीरामलक्ष्मणजीने तुम्हारा कुछ नहीं बिगाड़ा, तुम अपनेहीसे उनसे विरोध करते हो ।

नोट—१ लक्ष्मणजीके क्रोधपर प्रबल अग्निका आरोप किया गया न कि दीपकका; क्योंकि दीपक बहुतसे पतिंगोंके आ पड़नेसे संभव है कि बुझ भी जाय पर प्रचंड अग्निमें तो समूहके समूह जलते चले जायँगे, जितने ही अधिक उसमें पड़ते जायँगे उतनी ही अधिक प्रचंड वह होती जायगी । यहाँ परंपरित रूपक है । २-साधु राजाओंका उपदेश भी साधुताका है । ईर्ष्या, मद, क्रोध आदिको त्यागकर भगवान्‌का दर्शन करना साधु धर्म है, यथा 'राग रोष इरिषा मद मोहू । जनि सपनेहु इन्हके बस होहू' । साधुओंमें उपदेश करनेकी यही रीति है । ३—ऊपरकी चौपाइयों और दोहेमें अनेक अनुप्रासवाले शब्दोंकी जोड़ियाँ और समूह विचारणीय हैं । कटाक्षोंका जोर कितना उभर आता है ? (लमगोड़ाजी) । त्रिपाठीजीका मत है कि साधु राजाओंने क्रूरसे कहा कि 'तजि इरिषा देखहु', कपूतसे कहा कि 'तजि मद देखहु' और मूढ़से कहा कि 'देखहु तजि कोहु'; ईर्ष्या मद मोह तुम्हारे नेत्र भर देखनेमें बाधक हो रहे हैं ।

प० प० प्र०—१ इस दोहेमें हम सबोंके लिये भी आध्यात्मिक उपदेश भरा है कि 'जहँ देखहु तहँ चितवहु रामहि' क्योंकि रघुवंशमणि विश्वरूप हैं; पर हम लोग मदमोहादिका त्याग न करके विषयाग्निकी ज्वालापर पतंगेके समान कूदते हैं । परिणाम यह होता है कि देहरूपी भूमिको धारण करनेवाले शेषजी (लक्ष्मण = उच्छिष्ट ब्रह्म) रुष्ट होते हैं और उनके क्रोधानलसे देहका, सुरदुर्लभ नर तनका, विनाश हम अपने हाथ ही कर लेते हैं । २-यहाँ साधु राजाओंने यह नहीं कहा कि लषन-रोष-पावकमें मर जाओगे, क्योंकि ऐसा कथन सशर्त शाप ही हो जाता । भगवान् कृष्णजीने अर्जुनसे क्या कहा है सो देखिए—'अथ चेत् त्वमहंकारान्नश्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि । गीता १८।५८ ।' इसीसे तो कहा है कि 'राम ते अधिक राम कर दासा' । यही यहाँ साधुभूपोंके वचनसे बताया है ।

बैनतेय बलि जिमि चह कागू१ । जिमि ससु चहै नागअरि भागू२ ॥१॥
जिमि चह कुसल अकारन कोही । सब३ संपदा चहै सिव द्रोही ॥२॥

शब्दार्थ—बैनतेय = विनताके पुत्र गरुड़ । ससु (शशु) = खरगोश, खरहा, चौघड़ा, लमहा । बलि = भाग, भेंट, पूजाकी सामग्री । यथा 'बलिर्भागो बलिर्दैत्यो बलिः पूजोपहारकः ।', 'बलिपूजोपहारे च', 'बल्यते दीयते इति ।' 'बल-दाने सर्वधातुभ्य इन् (उणादि पाद ४) इतीन् ।'

अर्थ—जैसे गरुड़का भाग कौवा चाहे, जैसे हाथीके शत्रु सिंहका भाग खरगोश चाहे ॥ १ ॥ जैसे बिना कारण ही क्रोध करनेवाला अपना कुशल (मंगल, खैरियत) चाहे, जैसे शिवजीका द्रोही सब संपदा (संपत्ति, ऐश्वर्य्य) चाहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—१ 'बैनतेय बलि०' इति । (क) 'देखहु रामहि नयन भरि''' कहकर यह कहनेका भाव यह है कि तुम लोग श्रीरामजीका दर्शन करो, उनके भागकी अर्थात् श्रीसीताजीकी इच्छा न करो । उनका भाग मिलना वैसा ही है जैसे 'बैनतेय बलि जिमि चह कागू' इत्यादि । (ख) अधम राजाओंके 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ । धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ ।' के उत्तरमें साधुभूपके ये वचन हैं । (ग) यहाँ श्रीरामजी बैनतेय और नाग-अरि हैं, श्रीसीताजी बलि वा भाग हैं और अधम राजा काग और शश हैं । जैसे सब पक्षियोंमें श्रेष्ठ गरुड़जी हैं और सबसे अधम काग है, यथा "सकुनाधम सब भाँति अपावन", वैसे ही सब राजाओंमें श्रेष्ठ रामजी हैं और सबमें अधम तुम हो । प्रथम चरणमें 'बलि' शब्द दिया और दूसरेमें 'भाग' शब्द देकर उसका अर्थ स्पष्ट कर दिया । (घ) गरुड़का भाग गरुड़की स्त्री और सिंहका भाग सिंहकी स्त्री है, यथा 'जिमि हरिबधुहि छुद्र ससु चाहा ।३।२८।' (ङ) 'नाग-अरि' कथनका भाव कि थलचरोंमें सबसे बड़ा पशु हाथी है, उसके भी मस्तकको जो सिंह विदीर्ण कर डालता है, भला उसका भाग शशु चाहे ? (च) अर्धालीका भाव यह है कि गरुड़का भाग गरुड़से छुड़ाकर जैसे काक चाहे और सिंहका भाग सिंहसे छुड़ाकर खरगोश चाहे, वैसे ही श्रीरामजीसे सीताजीको छुड़ा लेनेकी तुम्हारी बातें हैं जो असम्भव हैं । मृगोंमें सिंह मृगराज है, वैसे ही पुरुषोंमें श्रीरामजी पुरुषसिंह हैं—'पुरुषसिंह दोउ बीर०' । खरगोश सबसे छोटा पशु है (पिद्दीसा जानवर जो बहुत ही डरपोक और अत्यन्त कोमल होता है और जरासे आघातसे मर जाता है) वैसे ही तुम अत्यन्त क्षुद्र मनुष्य हो । तात्पर्य्य कि जैसे बड़ेका भाग क्षुद्र नहीं पाता वरंच उलटे मारा जाता है, वैसे ही तुम श्रीजानकीजीको तो इनसे छुड़ा नहीं सकते, उल्टे कालके वश होगे, यथा 'जिमि हरिबधुहि छुद्र सस चाहा । भयेसि कालबस निसिचर नाहा । ३।२८ ।' 'लेहु छड़ाइ सीय कहं कोऊ० ।'—इसीसे तुम्हारा पौरुष प्रगट है । (कौवा गरुड़से छीनना चाहे तो पा नहीं सकता, काँव काँव भले ही करता रहे) ।

नोट—१ श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि—"पूर्व जो उपमायें दी गई हैं, एक गरुड़की दूसरी सिंह की, वे दो भावोंको सूचित करती हैं । गरुड़की उपमा यह सूचित करती है कि जैसे गरुड़के बलि भागको कौआ चाहे कि हमको मिल जाय तो बलि भागका देनेवाला गरुड़को छोड़कर कौवेको नहीं दे सकता है, वैसे ही कागरूप अन्य राजा सब चाहते हैं कि श्रीजानकीजी हमको मिलें पर उनकी चाह कौएकी भाँति वृथा है, राजा जनक सीताजीको सिवाय रघुनाथजीके और किसीको नहीं देसकते क्योंकि विवाह धनुषके आधीन था, जनकजीके उस प्रणको रामजीने धनुष तोड़कर पूरा किया । दूसरी उपमा इस भावको सूचित करती है कि श्रीरघुनाथजी सिंहरूप हैं, उनसे सीताजीको शशकरूप राजा कैसे ले सकते हैं । अर्थात् दोनों प्रकारसे नहीं पा सकते" । २—पाँड़ेजी लिखते हैं कि 'यदि कहो कि हम भी क्षत्रिय हैं और वह भी क्षत्रिय हैं (उनको

१ कागा २ भागा—१७०४ । १ कागू २ भागू—प्रायः अन्य सबोंमें । ३ सुख—को० रा० ।

सीताजीको ले जानेका कौन अधिकार ?) तो उसपर कहते हैं कि गरुड़का भाग काग कैसे पा सकता है (हैं तो दोनों ही पक्षी) और सिंहका भाग चौगड़ा कैसे पा सकता है (यद्यपि दोनों थलचर हैं) ?'

प० प० प्र०—१ धनुर्यज्ञकी समाप्तिमें जनक महाराजरूपी यजमानने सीतारूपी बलि रामरूपी गरुड़को दे ही दिया है। यह यज्ञभाग मानों विश्वपीड़ा मिटानेके हेतुसे दिया गया। अब इसपर किसीका अधिकार नहीं है। गरुड़ पक्षिराज हैं, काक उनकी प्रजा है; अतः गरुड़का भाग पानेकी इच्छा करना स्वामिद्रोह करना है। यह अधर्म है। पुनः वैनतेयका बलि (भक्ष्य) तो सर्प है, यदि काक उसे उठानेका प्रयत्न करेगा तो वह सर्प ही उसे डस लेगा। भाव यह कि श्रीसीताजी ही तुम्हारे विनाशका कारण बनेंगी।—यह भूपवेषमें आए हुए असुरों और सुरोंके लिये है। आगे ऐसा हुआ भी है। सुरपतिसुतकी कथा देखिए। निशाचर-विनाशका कारण सीताजी ही बनीं।

२ 'जिमि ससु…' इति। श्रीराम सिंह हैं, वनके राजा हैं। सीताजी वधू हैं। लक्ष्मणजी सिंहकिशोर हैं, सेवक हैं। सिंहका भाग है गज। सिंह अपने पराक्रमसे गजराजको विदीर्ण करता है। यदि शश उसके भागकी इच्छा करेगा तो गज स्वयं उसको कुचल डालेगा। ''यह दृष्टान्त रावणादि राक्षसोंके लिये है। 'जे लंपट परधन परदारा' ही निशाचर हैं। 'जय राम रावन मत्त गज मृगराज' कहा ही है। भाव कि सिंहकिशोर लक्ष्मण ही तुम्हारा विनाश क्षणभरमें कर डालेंगे। आगे जो पाँच दृष्टान्त देते हैं वे दुष्ट मानव राजाओंके लिये हैं।

नोट २—'जिमि चह कुसल अकारन कोही।०' इति। (क) 'अकारन कोही' का भाव कि कारण पाकर तो प्रायः सबको क्रोध होता है (उसकी चर्चा यहाँ नहीं है, क्योंकि उससे किसीको दुःख नहीं पहुँच सकता), बिना कारण क्रोध करना दूसरोंको बुरा लगनेकी बात ही है, अतः उससे कुशल कहाँ ? उससे तो सभीसे वैर विरोध रहता है तब कुशल कैसे सम्भव है ? यथा 'भूतद्रोह तिष्ठै नहिं सोई। ५।३८।' 'कोही' शब्द क्रोधीका अपभ्रंश है। 'अकारन कोही' कहकर जनाया कि तुम श्रीरामजीसे बिना कारण ही क्रोध करते हो, जो काम तुमसे न बन पड़ा, उसे उन्होंने कर डाला, इसमें उनका क्या अपराध है ? तुम व्यर्थ क्रोध करते हो जिसका परिणाम यह है कि मारे जाओगे। अपनी खैरियत न समझो। (ख) 'सब संपदा चहै सिवद्रोही' इति। भाव कि शंकरजी सब संपदाके दाता हैं, यथा 'सेवा सुमिरन पूजिबो पाताखत थोरे। दई जग जहँ लगि संपदा सुख गज रथ घोरे ॥०' इति विनये। शिवद्रोही सब संपदासे हीन रहता है।

लोभी१ लोलुप कीरति चहई। अकलंकता कि कामी लहई ॥३॥

अर्थ—लोभी लोलुप सुन्दर कीर्त्ति चाहे ! क्या कामी पुरुष निष्कलंकता पा सकता है ? ॥३॥

नोट—१ लोभी और लोलुप पर्य्यायवाची शब्द हैं। पुनरुक्तिसी जान पड़ती है। परन्तु इनमें कुछ भेद है। लोभीसे अन्तःकरणका मलिन होना जनाया। लोभीका हृदय मलिन होता है। लोभ मलिनता है। इसको पंथके जलकी उपमा दी है, यथा 'उदित अगस्त पंथजल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा'। पंथके जलकी उपमा देकर मलिनता सूचित की, यथा 'सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुं न हृदय थिरानो' इति विनये। 'लोलुप' शब्द चंचलता सूचित करता है। जब लोभसे मन चंचल होकर प्रत्यक्ष लोभका काम करता है तब लोभीकी संज्ञा लोलुप होती है। चित्त चंचल होनेपर वह यही सोचता है कि कहाँ जायँ क्या करें जिसमें अमुक वस्तु प्राप्त हो जाय, यथा 'लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै। तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुं न मूढ़ लजै ॥ वि० ८९।'; विनयके इस उद्धरणसे 'लोलुप' का भाव स्पष्ट हो जाता है। पुनः प्राप्त वस्तुको यत्नसे छिपाकर रखनेकी चाह और उसके खो न जानेका डर—यह भाव

१ लोभु लोलुप—१७२१, १७६२, छ०। लोभी लोलुप—१६६१, १७०४, को० रा०।

'लोभ' में हैं और प्राप्तिके लिये चंचलताका भाव 'लोलुप' में है। यथा 'लोभी के धन ज्यों छिन छिन प्रभुहि सँभारहि', 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम। ७।१३०।' इस प्रकार पुनरुक्तिका दोष नहीं रह जाता। इसी भावमें लोलुप शब्दका प्रयोग गोस्वामीजीने विनयमें भी किया है, यथा 'चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वारद्वार जग बागे। रामसीय आश्रमनि चलत त्यों भये न श्रमित अभागे। वि० १७०।''

यहाँ राजाओंको सीताजीकी 'अभिलाषा' है और इसके साथ वे उसका यत्न भी कर रहे हैं—'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे'। दोनों भावोंको प्रगट करनेके लिये 'लोभी लोलुप' पद दिया गया।—इस तरह यहाँ 'पुनरुक्तिवदाभास अलंकार' है।

पुनः, 'लोभी लोलुप'=वह लोभी जो लोभवश चंचल हो रहा है अर्थात् लोभका काम कर रहा है। जबतक लोभ हृदयमें है तबतक विशेष हानि नहीं, परन्तु जब वह कार्य्यमें परिणत हो गया तब कीर्ति नहीं होती। 'कीरति चहई' एकवचन है। इससे 'लोभी लोलुप' एक ही व्यक्तिका वाचक जान पड़ता है जिसमें लोभ और लोलुपता दोनों हों।

पं० रामकुमारजीका पाठ 'लोभ लोलुप' है। लोभ लोलुप=लोभके कारण चंचल है अर्थात् लोभका काम कर रहा है।

टिप्पणी—१ (क) 'लोभी लोलुप कल कीरति चहई'। भाव कि थोड़ा भी लोभ होनेसे कीर्ति नहीं होती, प्रत्युत निन्दा होती है। यथा 'अलप लोभ भल कहै न कोऊ। ५।३८।' कीर्त्ति उदारतासे होती है। लोभसे अकीर्ति होती है। 'कल कीरति' का भाव कि लोभ मलिन वस्तु है। यथा "उदित अगस्ति पंथ जल सोखा। जिमि लोभहि सोखइ संतोषा। ४।१६।" इसमें लोभको रास्तेके जलकी उपमा देकर उसका मलिन होना सूचित कर दिया है, यथा 'सदा मलीन पंथ के जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरानो।' इति विनये। मलिन वस्तुका सेवन करके 'निर्मल' कीर्तिकी चाह करता है। अथवा, भाव कि लोभी है इसीसे कीर्त्तिकी प्राप्तिका भी भारी लोभ करता है कि उज्ज्वल कीर्ति मिले। यह चाह व्यर्थ है। (ख) 'अकलंकता कि कामी लहई', यथा 'कामी पुनि कि होइ अकलंका'। भाव कि कामसे कलंक लगता है तब कामी बनकर अकलंकताकी चाह करे तो मूर्खता ही तो है।

२ दुष्ट राजाओंने जो कहा था कि 'जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई।' इसीपर साधु राजा उनको उपदेश दे रहे हैं कि हृदयके जो षट् शत्रु हैं उनको जीतो जिससे श्रीरामस्वरूप तुमको देख पड़े। बिना इनके जीते श्रीरामस्वरूप नहीं देख पड़ता; इसीसे प्रथम यह कहकर कि 'रामहि देखहु नयन भरि।' तब षट् शत्रुओंके त्यागका उपदेश करते हैं। काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मद और मोह ये छः शत्रु हैं। 'रामहि देखहु नयन भरि तजि इरिषा मद मोह' इस दोहेमें ईर्ष्या, मद और मोह तीन विकारोंके त्यागका उपदेश हुआ। 'जिमि चह कुसल अकारन कोही' में क्रोध, 'लोभी लोलुप कल कीरति चहई' में लोभ और 'अकलंकता कि कामी लहई' में कामको त्यागनेको कहा।—यहाँ तक षट्रिपुओंको त्यागनेको कहा।

३ पुनः, काम, क्रोध और लोभ कहकर सूचित करते हैं कि तुमको त्रिदोष हो गया है। यथा "कुलहि लजावैं बाल बालिस बजावैं गाल कैधौं क्रूर कालबस तमकि त्रिदोषे हैं। गी० १।९३।२।", 'काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई। ७।१२१।', 'सन्निपात जल्पसि दुर्बादा। भयेसि कालबस खल मनुजादा। ६।३२।'

४ सामान्यतः काम क्रोध और लोभ यह क्रम मानसमें मिलता है, पर यहाँ क्रोध, लोभ और काम यह क्रम है। कारण कि राजाओंमें क्रोध प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। अतः उसे प्रथम कहा। क्रोधका कारण लोभ, लोलुपता है और लोभ काम-विकारसे उत्पन्न हुआ है। इस क्रममें कार्य-कारण संबंध दिखाया है।

हरिपद-बिमुख परम* गति चाहा । तस तुम्हार लालचु नरनाहा ॥४॥

अर्थ—जैसे भगवान्‌के चरणोंसे विमुख सर्वोत्तम गति (परमपद) चाहे; हे राजाओ ! तुम्हारा लालच (भी) उसी प्रकारका है अर्थात् श्रीजानकीजीकी प्राप्तिकी चाह जो तुम कर रहे हो वह व्यर्थ है ॥४॥

नोट—१ 'तस' इस बातका बोधक है कि 'जस' या उसका पर्याय शब्द पूर्व आ गया है । यहाँ 'बैनतेय जिमि०' से लेकर 'हरिपद बिमुख०' तक 'जिमि' आदि शब्दोंका भाव आया पर उसकी जोड़में 'तस' अन्तमें यहीं दिया गया । ऐसा करके सूचित किया कि यह चरण उपर्युक्त सब उदाहरणोंके साथ है और सब उदाहरणोंका एक ही धर्म है कि ऐसा हो नहीं सकता । अतः यहाँ 'द्वितीय तुल्ययोगिता' एवं 'एकधर्ममालोपमा' अलंकार हैं ।

टिप्पणी—१ (क) पूर्व कहा था कि 'सब संपदा चहै सिवद्रोही' और यहाँ 'हरिपद बिमुख परमगति चाहा' कहा । इस प्रकार सूचित किया कि शिवजी संपदाके दाता हैं, पर सुगतिके दाता भगवान् ही हैं । (ख) सब जगह 'चाहना' कह आए, उसीको यहाँ 'लालचु' कहते हैं; इससे सूचित किया कि 'चाह' और 'लालचु' दोनों एक ही हैं । २—'तस तुम्हार लालच' कहकर छः बातें सूचित कीं—(क) एक यह कि जैसे गरुड़का भाग कौवेको नहीं मिलता और सिंहका भाग शशको नहीं मिलता, वैसे ही तुमको श्रीसीताजीकी प्राप्ति नहीं है । (ख) दूसरे यह कि जैसे अकारण क्रोधीकी कुशल नहीं, वैसे ही इस लालचसे तुम्हारी कुशल नहीं । (ग) तीसरे यह कि जैसे शिवद्रोहीको संपदा नहीं मिलती वैसे ही इस लालचसे तुम शिवद्रोही हुए; क्योंकि श्रीजानकीजी शिवजीकी माता हैं (इसीसे तो उन्होंने सतीजीको सीतावेष धारण करनेसे ही परित्याग किया था), अतएव तुम्हारी सब संपदाका नाश होगा । (घ) चौथे, जैसे लोलुप लोभी कीर्ति चाहता है पर उसे मिलती नहीं, वैसे ही इस लालचसे तुम्हारी कीर्तिका नाश है । (ङ) पाँचवें, जैसे कामी अकलंकित नहीं रहता, वैसे ही इस लालचसे तुमको कलंक लगा । और, (च) छठें, जैसे हरिपदविमुखकी सद्‌गति नहीं होती वैसे ही इस लालचसे तुम हरिपदविमुख हुए, अतः तुमको परमगतिकी प्राप्ति नहीं होनेकी—तात्पर्य कि ऐसी लालचसे बड़ी भारी हानि है; अतएव श्रीसीताजीकी प्राप्तिकी लालसा त्याग दो । इतने दृष्टान्त देकर यह भाव दर्शित किये गए ।

☞इस प्रसंगमें यह उपदेश है कि ईर्षा, मद, मोह, काम, क्रोध और लोभ त्याग कर शिवभक्ति करे तब हरिभक्ति होती है । इसीसे हरिभक्तिको पीछे लिखा ।

पं० राजारामशरण—१ पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी बिल्कुल ठीक है । साधु राजाओंके मुखसे उदाहरण इत्यादि भी वैसे ही निकलते हैं । कविवर टेनिसनकी प्रशंसा करनेवाले मित्र इन प्रसंगोंको विचारते चलैं । २—चरित्रसंघर्ष और वादविवादकला प्रशंसनीय है ।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी—'बैनतेय बलि जिमि चह कागू ।'''तस तुम्हार लालच नरनाहा' इति । यद्यपि गरुड़ और काग दोनों पक्षी हैं पर गरुड़का भाग कागको नहीं मिल सकता । बलि देनेवाला ही न चाहेगा, वैनतेयको चाहे बलिकी परवाह न हो । इसी भाँति खरगोश और नागारि दोनों चतुष्पाद हैं पर खरगोशका सामर्थ्य नहीं कि 'मत्तनाग तम कुम्भ बिदारी' सिंहके भागको छू सके । सिंहके मारे हुए शिकारको कोई चतुष्पाद स्पर्श नहीं करता, अतः न तो जनक छीनने देवेंगे, और न रामजीके सामने तुम्हारा दिन है कि तुम सीताजीका स्पर्श कर सको । यह साधु राजाओंका उत्तर क्रूर राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था 'लेहु छड़ाइ सीय (कह कोउ)' क्रोधीका कुशल नहीं होता, निष्कारण क्रोधीका तो हो ही नहीं सकता । जो बात तुम लोगोंकी की हुई न हो सकी, उन्होंने कर दिखायी । इसमें उनका क्या अपराध है जो तुम

* सुगति जिमि—१७२१, छ० । परा गति—१७०४, १७६२ । परम गति—१६६१, को० रा० ।

क्रोध करते हो, और क्रोध करनेमें तुम्हारा कुशल नहीं; जिसपर शिवजीकी कृपा हुई उसने धनुष तोड़ा। उन्होंने ब्रह्मकुलरूपी शङ्करकी आज्ञा लेकर तब धनुष तोड़ा है (यथा—'राम मुनिन्ह सन आयसु माँगा'), इसीसे उन्हें त्रैलोक्य जय, लक्ष्मी और सब संपदा प्राप्त हुई, तुम शिवद्रोही हो, विना शिवजीकी आज्ञा धनुष तोड़ने उठे, तुम्हें त्रिभुवनजय, लक्ष्मी नहीं प्राप्त हो सकती। यह साधु राजाका उत्तर कपूत राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था 'धरि बांधहु नृपबालक दोऊ'। ब्रह्मकुलके शङ्कररूप होनेका प्रमाण—'मोहाम्भोधरपूग-पाटनविधौ स्वःसम्भवं शङ्करं। वन्दे ब्रह्मकुलम्'। 'गुनसागर नागर नर जोऊ। अल्प लोभ भल कहै न कोऊ' सो तुम्हारा इतना बड़ा लोभ है कि जिस धनुषको १०००० राजा न हिला सके, उस धनुषके तोड़नेवालेके पुरस्कारकी इच्छा करते हो। तुम लोभ लोलुप हो गये, तुम्हें कीर्ति कैसे मिलेगी? तुम कामवश हो प्राण देकर कलंक धोना चाहते हो, सो भी नहीं होनेका। कामीको अवश्य कलंक लगेगा।

यह उत्तर साधु राजाओंका मूढ़ राजाओंके प्रति है, जिन्होंने कहा था कि 'तोरे धनुष चांड़ नहि सरई। जीवत हमहि कुँअरिको बरई।'

कोलाहलु सुनि सीय सकानी। सखी लवाइ गई जहँ रानीं ॥५॥
रामु सुभाय चले गुरु पाहीं। सिय सनेहु बरनत मन माहीं ॥६॥

शब्दार्थ—सकाना=शंकित होना, डरकी शंका होना।

अर्थ—हल्लागुल्ला (शोर) सुनकर श्रीसीताजी सहम गईं। सखियाँ उनको वहाँ लिवा ले गईं जहाँ (श्रीसुनयनाजी आदि) रानियाँ बैठी थीं ॥५॥ श्रीरामचन्द्रजी स्वाभाविक ही गुरुके पास चले। श्रीसीताजीके प्रेमको मनही मन वर्णन करते जाते हैं ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'कोलाहलु सुनि' इति। कोलाहल शब्दका नाम है, इसीसे 'सुनि' पद दिया, अर्थात् उसका सुनना कहा। (ख) 'सकानी' का भाव कि असाधु राजा बोले थे कि 'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ' यह सुनकर शंका हुई कि सत्य ही कहीं कोई राजा आकर हमारा अंग स्पर्श न करे, इससे अब यहाँ ठहरना उचित नहीं है। सखियाँ चतुर हैं। श्रीजानकीजीकी रुचि समझकर रानीके पास ले गईं। यथा 'निज समाज लै गईं सयानी'। (ग) 'लवाइ गईं' इति। स्मरण रहे कि जब श्रीसीताजी सखियों सहित जयमाल पहिनानेको श्रीरामजीके समीप आईं, तब सब सखियाँ मंगल गान करती हुईं आई थीं; यथा 'संग सखी सुंदर चतुर गावहिं मंगलचार'। इस समय सोचके मारे मंगल गान नहीं किया। पुनः, जब सीताजी आई थीं तब हंसगवनकी उपमा दी थी, यथा 'गवनी बाल मराल गति सुखमा अंग अपार' अर्थात् उस समय धीरे धीरे आई थीं और इस समय बहुत शीघ्र चली गईं। इसीसे यहाँ हंसगवन न कहकर 'लवाइ गईं' कहा। शंकित हृदय होनेसे झटसे ले जाना दिखाया।

२ (क) 'सुभाय चले' इति। भाव कि धनुष तोड़नेका हर्ष वा अभिमान कुछ भी मनमें नहीं आया, जैसा स्वभाव था वैसे ही स्वभावसे चले। जैसे प्रथम सहज स्वभावसे धनुष तोड़ने चले थे, यथा 'सहजहिं चले सकल जग स्वामी। मत्त मंजु बर कुंजरगामी'; वैसेही धनुष तोड़नेके बाद स्वाभाविक ही चले। पूर्व 'सहजहिं' और यहाँ 'सुभाय' कहकर 'सहज' का अर्थ यहाँ स्पष्ट कर दिया कि 'स्वभाव' है। पुनः, सहज = स्वभाव, यथा 'कनकउ पुनि पषान तें होई। जारेउ सहज न परिहर सोई।' [सीताजीके संबंधमें 'सकानी' कहकर श्रीरामजीके संबंधमें 'सुभाय' कहकर जनाया कि ये निःशंक भयरहित चले, इनके हृदयमें कोलाहलसे कोई शंका न उत्पन्न हुई। अपनी स्वाभाविक चालसे चले।] (ख) 'सिय सनेह' प्रथम ही कह आए हैं, यथा 'जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलै न कछु संदेहू', 'प्रभु तन चितै प्रेम तन ठाना। कृपानिधान राम सब जाना', 'गौतमतिय गति सुरति करि नहिं परसत पद पानि। मन बिहँसे रघुबंसमनि

प्रीति अलौकिक जानि। (ग) 'बरनत मन माहीं' इति। भाव कि एक तो वहाँ कहें तो किससे दूसरे वह स्नेह अकथनीय है, कहना चाहें तो कथनमें नहीं आ सकता, यथा 'रामहि चितव भाव जेहि सीया। सो सनेह सुख नहिं कथनीया।' इसी तरह जब पुष्पवाटिकासे चले तब कहा था कि 'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुर समीप गवने दोउ भाई।' पर जब वहांसे चले थे तब 'लुनाई' (सुन्दरता) की सराहना कर रहे थे और यहाँ धनुष तोड़नेपर 'स्नेह' की सराहना करते जा रहे हैं; कारण कि वहाँ सौंदर्य्यकी प्रधानता थी और यहाँ स्नेह प्रधान है। फुलवारीमें श्रीरामजीकी प्राप्तिके लिए प्रेमपन नहीं ठाना था और यहाँ धनुषयज्ञमें प्रेमपन ठाना था।—[पुनः, वहाँ धनुषभंग न हुआ था, स्वयंवरकी प्रतिज्ञा पूरी नहीं हुई थी, उस समय श्रीसीताजीके स्नेहकी प्रशंसा करना धर्मके प्रतिकूल होता। अतः वहाँ केवल सौंदर्य्यकी सराहना है। और अब तो वे प्रियाप्रियतम हैं]। श्रीलमगोड़ाजी लिखते हैं कि ठीक है फुलवारी लीलामें 'सौंदर्य्यानुभव' (Aesthetic) वाले शृङ्गारका माधुर्य्य था और अब प्रेमका शृङ्गाररस है।

रानिन्ह सहित सोचबस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया ॥७॥

भूप बचन सुनि इत उत तकहीं। लषनु राम डर बोलि न सकहीं ॥८॥

दोहा—अरुन नयन भृकुटी कुटिल चितवत नृपन्ह सकोप।
मनहु मत्त गजगन निरखि सिंघकिसोरहु चोप ॥२६७॥

शब्दार्थ—करनीया = करने योग्य। = करनेवाला। चोप = उत्साह, उमंग, चाव।

अर्थ—रानियों सहित सीताजी (राजाओंके वचन सुनकर) शोचके वशमें हैं कि न जाने विधाता अब क्या करना चाहता है ॥७॥ राजाओंके वचन सुनकर लक्ष्मणजी इधर-उधर ताकते हैं, श्रीरामजीके डरसे कुछ बोल नहीं सकते ॥८॥ आंखें लाल, और भौंहें टेढ़ी हो गईं, राजाओंको क्रोधसे देख रहे हैं मानों मतवाले हाथियोंका झुंड देखकर सिंहके बच्चेको जोश हो आया हो ॥२६७॥

पं० राजारामशरण—आपने देखा अन्तरनाटकीय कला (Interplot) का मजा ? कितनी फुर्तीसे और कितने विभिन्न प्रभाव राजाओंके वाद विवादके परिणामरूप कविने चित्रित कर दिये। लक्ष्मणजीका चित्र तो ऐसा सजीव और सूक्ष्म प्रगतियोंसे पूर्ण है कि फिल्मकला भी कविकी लेखनीपर निछावर है।

टिप्पणी—१ (क) 'रानिन्ह सहित०' इति। प्रथम केवल श्रीसीताजीका शंकित होना कहा था—'कोलाहलु सुनि सीय सकानी'। जब वे रानीके पास गईं तब रानियोंका भी शोच बस होना कहा। 'रानिन्ह सहित' कहकर श्रीजानकीजीकी प्रधानता दरसाई। तात्पर्य्य कि सोचमें जानकीजी प्रधान हैं, इनको सबसे अधिक सोच है। (ख) 'धौं' का भाव कि विधिका कर्त्तव्य कोई जान नहीं सकता, यथा 'सखि बिधि गति कछु जाति न जानी। २५६,५।', 'अब धौं' का भाव कि एक बार तो मरणान्त क्लेश सहकर बचीं अब न जाने क्या करने की इच्छा है। अर्थात् फिर कुछ अनर्थ किया चाहता है। (ग) 'इत उत' ताकनेका भाव कि राजा लोग जहाँ तहाँ गाल बजा रहे हैं, यथा 'उठि उठि पहिरि सनाह अभागे। जहँ तहँ गाल बजावन लागे' (सब एक जगह नहीं हैं)। जहाँ जहाँ राजा गाल बजा रहे हैं वहाँ वहाँ चितवते हैं, इसीसे 'इत उत' कहते हैं। राजाओंके वचन पूर्व कह आए—'लेहु छड़ाइ सीय कहँ कोऊ। धरि बाँधहु नृपबालक दोऊ॥ तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई। जीवत हमहिं कुँअरि को बरई। जौं बिदेह कछु करै सहाई। जीतहु समर सहित दोउ भाई।' (घ) 'तकहीं'। भाव कि राजाओंके वचन सहे नहीं जाते। ['इत उत तकहीं' का भाव यह भी हो सकता है कि वचन सहे नहीं जाते, इससे राजाओंकी ओर क्रूरदृष्टिसे देखते हैं. फिर रघुनाथजीकी ओर

परिशिष्ट

पृष्ठ २ पंक्ति १० में (ख) के पहिले—

(मणिके चार गुण होते हैं—सुजाति, शुचि, अमोल और सब भाँति सुन्दर । ये चारों गुण यहाँ दिखाए हैं । 'रघुकुल' से सुजाति कहा, 'धर्मधुरंधर' से शुचि कहा, 'गुननिधि' से अमोल कहा और 'ज्ञानी' तथा 'हृदय भगति मति सारंग पानी' से सब भाँति सुन्दर कहा । वि० त्रि०) ।

पृष्ठ २ पंक्ति १८ के बाद—

वि० त्रि०—'वेद बिदित' से अधिकारी कहा । वेदमें व्यक्तिका नाम नहीं होता, पदका नाम होता है । जो उस पदके योग्य होगा वह दशरथ होगा । जय-विजय, रुद्रगण और जलंधर वाले कल्पोंमें भगवान् कश्यपने दशरथ-पदको अलंकृत किया था और भानुप्रताप-रावणवाले कल्पमें साक्षात् ब्रह्मने अवतार धारण किया था, उसमें भगवान् स्वायम्भू मनु दशरथ हुए । इसलिये कहते हैं कि दशरथ नाम वेद विदित है ।

पृष्ठ ३ टिप्पणी ३ के अंतमें—

('प्रिय' से दक्षिण नायक कहा । 'प्रेम दृढ़ हरिपद कमल' से पतिके कल्याणके लिये ईश्वराराधन कहा । वि० त्रि०) ।

पृष्ठ २५ दोहा १९१ (१-२) में 'नोट—३' के पहिले—

वि० त्रि०—'मध्य दिवस…' इति । उजालेकी पराकाष्ठा दोपहरका समय । प्रातःकाल होता तो शीत अधिक होता । जाड़ेका शीत सह्य है पर चैत्रका शीत असह्य होता है, और मध्याह्नोत्तर गर्मी बढ़ जाती है । मध्याह्नका समय पवित्र है । इसमें संसार विश्राम करता है और प्रभु 'अखिल लोक दायक बिश्रामा' हैं, अतः उनका जन्मकाल भी विश्रामदायक होना ही चाहिए ।

पृष्ठ २७ दोहा १९१ (१-२) के अन्तमें—

वि० त्रि०—श्रीरामावतार क्या है, यह रामायणोंसे ही नहीं मालूम होता, जो कि उनके गुणानुवादके लिये बने ही हैं; बल्कि वह अलौकिकी ग्रहस्थिति बतलाती है जिसका फलादेश महर्षि भृगुने किया है । पाठकोंकी जानकारीके लिये हिन्दी अनुवाद सहित फलादेश निम्नलिखित है—

अथ वेदसागर स्तवः

(पूर्णं त्रिंशत्क्षेपा च) कर्कटे चन्द्रवाक्पती । कन्यायां सिंहिकापुत्रस्तुलास्थो रविनन्दनः ॥१॥
पाताले मेदिनीपुत्रो वृषस्थश्चन्द्रमासुतः । आकाशे मेषभे सूर्य्यः झषस्थौ केतुभार्गवौ ॥२॥
सर्वग्रहानुमानेन योगोऽयं वेदसागरः । वेदसागरके जातः पूर्वजन्मनि भार्गव ॥३॥
पूर्णब्रह्म स्वयं कर्ता सप्रकाशो निरञ्जनः । निर्गुणो निर्विकल्पश्च निरीहः सच्चिदात्मकः ॥४॥
गिराज्ञानश्च गोतीत इच्छाकारी स्वरूपधृक् । विना घ्राणं सदाघ्राणी विना नेत्रे च वीक्षकः ॥५॥
अकर्णेन श्रुतं सर्वं गिराहीनश्च भाषितम । करहीनं कृतं सर्वं कर्मादिकं शुभाशुभम ॥६॥
पदहीना गतिः सर्वा कुशला सकला क्रिया । स्वरूपे रूपहीनश्च समर्थः सर्वकर्मसु ॥७॥
त्रैविद्यस्त्रिगुणः कालस्त्रिलोकी सचराचरः । महेन्द्रो देवताः सर्वा नागकिन्नरपन्नगाः ॥८॥
सिद्धविद्याधरो यक्षा गन्धर्वाः सकलाः कवे । राक्षसाः दानवाः सर्वे मानवा वानराण्डजाः ॥९॥
सागराश्च खगा वृक्षाः पशुकीटादयस्तथा । शैला नद्यः कलाः सर्वा मोहमायादिकाः क्रियाः ॥१०॥
इच्छा माया त्रिवेदाश्च निर्मिता विविधाः क्रिया । शरण्यः सर्वदा शान्तः अलक्ष्यो लक्षकः सदा ॥११॥
जरामरणविहीनश्च महाकालस्य चान्तकः । सर्वं सर्वेण हीनोऽपि सचराचरदर्शकः ॥१२॥
पूर्वापरक्रिया ज्ञानी शृणु शुक्र न चान्यथा । प्रेरितः सर्वदेवैश्च कालान्तरगते कवे ॥१३॥

धरित्री ब्रह्मणो लोके जगाम दुःखपीडिता । शिवो ब्रह्मा सुराः सर्वे प्रार्थयाञ्चक्रुमुहुः ॥१४॥
सुदुःखं वचनं श्रुत्वा देववाणी भवेत् कवे । धैर्य्यमाध्वं सुराः सर्वे प्रार्थना सफला भवेत् ॥१५॥
श्रुत्वा हृष्टाः सुराः सर्वे जगाम क्षितिमण्डले । नरवानररूपञ्च धृत्वा ब्रह्मेच्छया कवे ॥१६॥
यत्र तत्र सुराः सर्वे हरिदर्शनमानसाः । अधर्मनिरतान् लोकान् दृष्ट्वा कष्टेन पीडितान् ॥१७॥
तत इच्छा प्रभावेण गोब्राह्मणसुरार्थकम् । मायामानुषरूपेण जगदानन्दहेतवे ॥१८॥
आजगाम धरापृष्ठे कोशलाख्ये महापुरे । इक्ष्वाकुवंशे भो शुक्र भूत्वा मानुषरूपधृक् ॥१९॥
सरय्वा दक्षिणे भागे महापुण्ये च क्षेत्रके । मधुमासे च धवले नवम्यां भौमवासरे ॥२०॥
पुनर्वसौ च सौभाग्ये मातृगर्भात्समुद्भवः । मन्मथानां च कोटीनां सुन्दरः सागरोपमः ॥२१॥
श्यामाङ्गं मेघवर्णाभं मृगाक्षं कान्तिमत्परम् । भव्याङ्गं भव्यवर्णञ्च सर्वसौन्दर्यसागरम् ॥२२॥
सर्वाङ्गेषु मनोहरमतिबलं शान्तमूर्ति प्रशान्तम् । वन्दे लोकाभिरामं मुनिजनसहित सेव्यमानं शरण्यम् २३
कोटिवाक्पतिश्रीमांश्च कोटिभास्करभास्वरः । दयाकोटि सागरोऽसौ यशः शीलपराक्रमी ॥२४॥
सर्वसारः सदा शान्तः वेदसारो हि भार्गव । दशवर्षसहस्राणि भूतले स्थितिमानसौ ॥२५॥
चतुर्दशसमाः शुक्र अभ्रमच्च वने वने । राक्षसानां वधार्थाय दुष्टानां निग्रहाय च ॥२६॥
प्रादुर्भूतो जगन्नाथो मायामानुषवत्कवे । अयोध्यानगरे शुक्र बहुवत्सरसहस्रक ॥२७॥
नानामुनिगणैर्युक्तो विहरन् धर्मवत्सलः । सर्वे साकं स्वमायाभिरन्तर्धानमियात्कवे ॥२८॥
इच्छया लीलया युक्तः स्वीये लोके वसेत्सदा । माया क्रीड़ा पुनर्भूयात् काले काले युगे युगे ॥२९॥
लोकानाञ्चहितार्थाय कलौ चैव विशेषतः । पठनाच्छ्रवणात्पुण्यं कल्याणं सततं भवेत् ॥३०॥
निर्भयं नात्र सन्देहः सत्यं सत्यं न संशयः । श्रीभृगुसंहितायां श्रीभृगुशुक्रसम्वादे षट्त्रिंशतिक्षेपान्तरे वेदसागर फलं समाप्तम् ।

वेदसागरस्तवका हिन्दी अनुवाद—कर्कके चन्द्र और गुरु, कन्याके राहु, तुलाके शनि, मकरके मंगल, वृषके बुध, मेषके सूर्य्य, मीनके शुक्र और केतु—यह वेदसागरयोग है। हे भार्गव ! वेदसागरमें उत्पन्न होनेवाला, पूर्व जन्ममें पूर्णब्रह्म, स्वयं कर्ता, स्वप्रकाश, निरंजन, निगु ण, निर्विकल्प, निरीह, सच्चिदात्मा, गिराज्ञानगोऽतीत, इच्छानुकूल स्वरूप धारण करनेवाला था । बिना घ्राणके सूँघता था, बिना पैरके चलता था । स्वरूपसे रूपहीन होनेपर भी सब कार्यों में समर्थ था । वही वेदत्रयीरूप था, त्रिगुण था, कालरूपभी वही था । चर और अचर तीनों लोकरूपभी वही था । महेन्द्र, देवता, नाग, किन्नर, पन्नग, सिद्ध, विद्याधर, यक्ष, गंधर्वरूप भी वही था । राक्षस, दानव, मनुष्य, बंदर, अण्डज, सागर, पक्षी, वृक्ष, पशु, कीटादिक, पर्वत, नदी—सब उसकी कला है, मोहादिक क्रियायें हैं । उसने इच्छा, माया, तीनों वेदों और क्रियाकलाप को बनाया ।

वह सदा शान्त, शरण्य, अलक्ष्य होनेपर भी सदा लक्षक है । वह जरा-मरण-विहीन है और महाकालका भी काल है । सबसे हीन होनेपर भी सब कुछ है, चराचरका दर्शक है। हे शुक्रजी ! सुनो वह पहिली पिछली क्रियाओंको जानता है, इसमें संदेह नहीं । हे कवि ! पूर्वकालमें सब देवताओंसे प्रेरित होकर दुःखी पृथ्वी ब्रह्मलोकको गई । शिव, ब्रह्मा तथा सब देवताओंने बार-बार प्रार्थना की । हे कवि ! आर्तवाणी सुनकर देववाणी हुई—'हे देवताओ ! धैर्य्य धारण करो, तुम लोगोंकी प्रार्थना सफल हुई । यह सुनकर देवता लोग प्रसन्न होकर पृथ्वीमंडलमें गए । ब्रह्माजीकी इच्छासे सबने वानरका रूप धारण किया, और जहाँ तहाँ हरिदर्शनकी लालसासे ठहरे ।

संसारमें अधर्ममें लगे हुए लोगोंको कष्टसे पीड़ित देखकर इच्छाके प्रभावसे गो ब्राह्मण और देवताके लिये मायासे मनुष्यरूप धारण करके जगत्के आनन्दके लिये पृथ्वीपर कोशलपुरमें, हे शुक्र ! इक्ष्वाकुवंशमें

सरयूके दक्षिण भागमें अवतीर्ण हुए। चैत्र सुदी नवमीको मंगलवार, पुनर्वसु नक्षत्रमें उत्पन्न हुए—कोटि काम सी सुन्दरता, मेघवर्ण, श्यामाङ्ग, मृगाक्ष, परम कान्तिमान्, भव्याङ्ग, भव्यवर्ण, सभी सुन्दरताओंके समुद्र, उनके सभी अंगोंमें मनोहरता थी, अति बलवान् थे, शान्त, अति प्रसन्न, लोकको सुख देनेवाले मुनिजनके सहित, सेव्यमान और शरण्यकी मैं बन्दना करता हूँ। वे करोड़ों वाक्पतिके समान श्रीमान् हैं, करोड़ों सूर्यके भी सूर्य हैं, करोड़ों दयाके समुद्रोंके समान हैं, बड़े यशस्वी शीलवान् और पराक्रमी हैं। हे भार्गव! वे सर्वसार, सदा शान्त और वेदसार हैं। दस सहस्र वर्ष तक पृथ्वीपर थे। हे शुक्र! चौदह वर्षों तक वन-वनमें घूमते रहे। राक्षसोंके वध और दुष्टोंके निग्रहके लिये माया मानुषरूपसे जगन्नाथका प्रादुर्भाव हुआ था। अनेक सहस्र वर्षोंतक वे धर्मवत्सल मुनिलोगोंके साथ विहार करते थे। हे कवि! तत्पश्चात् सबके साथ अपनी मायासे अन्तर्धान हो गए। इच्छासे लीलायुक्त होकर अपने लोकमें सदा बसते हैं। लीला माया-से फिर काल पाकर युग-युगमें लोकके हितके लिये विशेषतः कलियुगमें फिर होवेंगे।—इसके पढ़नेसे सुननेसे सदा पुण्य और कल्याण होता है, निर्भयता प्राप्त होती है। यह सत्य है, सत्य है, इसमें संशय नहीं।

पृष्ठ २९ दोहा १९१ (३-४) में पंक्ति ८ के बाद—

वि० त्रि०—'हरषित सुर संतन्ह मन चाऊ' से दैवसर्गका आनन्दोद्रेक कहा, आसुरका नहीं। 'चरु अरु अचर हर्षयुत' से सृष्टिमात्रका सत्वोद्रेक कहा।

पृष्ठ ३२ दोहा १९१ में 'नोट—१' के पहिले—

वि० त्रि०—जबतक देवता लोग मार्गमें रहे तब तक प्रभु प्रकट नहीं हुए। जब देवता अपने-अपने लोकोंमें पहुँच गए तब प्रगटे, अर्थात् उनके भी विश्राम पानेपर प्रगटे। 'जगनिवास' का प्रकट होना माया-का पर्दा हटनेपर ही संभव है।

पृष्ठ ३४ पंक्ति २ के अन्त में—

त्रिपाठीजी भी कहते हैं कि ब्रह्मदेवने जो स्तुति की थी 'जेहि दीन पियारे वेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना', उनकी उस प्रार्थनानुसार दीनोंपर दया करके कौसल्या हितकारी, कौसल्याकी कीर्ति दिगन्त-व्यापिनी करने तथा वात्सल्य प्रदान करनेके लिये, प्रकट हुए।

पृष्ठ ४५ दोहा १९२ पंक्ति १३ में—

[इसकी फलश्रुति है 'दानि मुकुति धन धरम धाम के'। सो 'खरारि' कहकर प्रभुद्वारा धर्मस्थापन कहा, 'श्रीकंत' कहकर धनदाता कहा, 'हरिपद' से धाम और 'न परै भवकूपा' से मुक्ति कही। (वि० त्रि०)]।

पृष्ठ ४५ दोहा १९३ (१), टिप्पणी २ (क) के पहिले—

वि० त्रि०—सब महलोंतक वाणी (रुदन) पहुँची और फिर भी परम प्रिय है। परम उत्कण्ठा है, अतः रानियाँ स्वयं चली आ रही हैं, दासी भेजकर कोई समाचार नहीं पुछवा रही हैं। पहिलेसे प्रसवकाल-की वेदनाका कोई समाचार नहीं मिला। एकाएक शिशुरुदन ही सुनाई पड़ा।

पृष्ठ ४७ दोहा १९३ (४) नोट ३ के अन्त में—

अब आगे क्या करना है इस निश्चयके लिये बुद्धिको स्थिर कर रहे हैं। (वि० त्रि०)।

पृष्ठ ४९ दोहा १९३ (६) पंक्ति २ के अंतमें—

(ज्ञानीको ब्रह्मानन्द होता है और भक्तको परमानन्द होता है। राजाको क्रमसे दोनों हुए। पहले ब्रह्मानन्दमें डूबाडूब हो गए, जब अपनेको सँभाला, मति धीर किया तो परमानन्दसे पूर्ण हो उठे। वि०त्रि०)

पृष्ठ ४९ पंक्ति ५ के अन्तमें—

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि राजाके यहाँ किसी आनन्दमें सम्मिलित होनेके लिये जब बुलाहट आती है तो उसे आज भी 'हँकार' कहते हैं।

दोहा १६३ पृष्ठ ५१ पंक्ति १५ के बाद—

त्रि० त्रि०—'सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू' कहा है, सो यह उछाह शिशिरऋतुके प्रथम माघ सुदी पंचमीसे उपमित है, जिसे श्रीपञ्चमी या वसन्त पंचमी कहते हैं। पंचमीमें पाँच कार्य हुए—१. रानियाँ आईं, २. दासियाँ धाईं, ३. दशरथजीको समाचार मिला, ४. वसिष्ठजी बुलाए गए और ५. जातकर्म किया गया।

दोहा १६४ (२) पृष्ठ ५२ पंक्ति ४ के अन्तमें—

[ब्रह्मके आविर्भावसे संपूर्ण प्रजामें ब्रह्मानन्दका आविर्भाव हुआ, क्योंकि सबको प्रभुके चरणोंमें प्रीति थी। यथा 'ब्रह्मानंद मगन कपि सब के प्रभु पद प्रीति।' (वि० त्रि०)]

दोहा १६४ (७) पृष्ठ ५६ मूल चौ० ८ के ऊपर—

वि० त्रि०—सबने सर्वस्व दान दिया, जिसने पाया उसने भी नहीं रक्खा। इस भाँति सम्पत्तिका हेर-फेर अवधमें हो गया। किसी समय सोमवती अमावस्या लगी; सब मुनियोंकी इच्छा हुई कि गोदान करें। मुनि सौ थे और एक ही के पास गौ थी। जिसके पास गौ थी उसने किसीको दान दिया, उसने भी दान कर दिया। इस भाँति वह गौदान होती गई। अन्तमें फिर वह उसी मुनिके पास पहुँच गई जिसकी कि वह पहिले थी और गोदानका फल सबको हो गया। लालच किसीको नहीं और देनेकी इच्छा सबको। ऐसी अवस्थामें सम्पत्ति घूम-फिरकर जहाँकी तहाँ आजाती है। (पर इस समाधानमें भी अनेक शंकायें उठेंगी। क्योंकि वहाँ तो मुनि ही मुनि थे सबको गोदान लेनेका अधिकार था। और यहाँ वह बात नहीं है)।

दोहा १६५ पृष्ठ ६४ पंक्ति २६ के बाद—

त्रिपाठीजीका मत है कि सूर्य्यनारायण एक मास तक ठहरे रह गए, शेष ग्रहगण बराबर चलते रहे। एक मासमें स्वाभाविक स्थिति पर पहुँचे, तब सूर्य्यनारायण भी चले। अतः कहते हैं 'मास दिवस···'।

वि० त्रि०—यह भी नहीं कह सकते कि "सूर्यदेवका रुकना या आगे बढ़ जाना नितान्त असम्भव है और इसका कोई उदाहरण नहीं दिया जा सकता", क्योंकि विभिन्न पुराणोंमें ऐसे अनेक उदाहरण हैं। स्वयं वाल्मी० रा० में अनुसूयाजीके दश रात्रियोंकी एक रात्रि कर देनेका वर्णन है। यथा "देवकार्य्यनिमित्तञ्च यया सन्त्वरमाणया। दशरात्रं कृता रात्रिः सेयं मातेव तेऽनघ ।२।११७।१२।' (अर्थात् हे अनघ रामचन्द्रजी! देवताओंके कार्यके लिए जिस अनुसूयाने दशरात्रिकी एक रात्रि बना दी, वह यह तुम्हारी माताके तुल्य है)। तब क्या दश रात्रिकी एक रात्रि विना सूर्यके रुके हो गई और ग्रहमण्डलमें यथोचित स्थान पानेके लिए सूर्य्यकी गतिमें कोई विशेषता न हुई? और यहाँ तो साक्षात् पूर्णब्रह्मका अवतार होनेवाला था।

दोहा १६६ (२) पृष्ठ ६७ पंक्ति १२ के बाद—

वि० त्रि०—'सुर मुनि नागा···बरनत निज भागा' इति। एक कल्पमें एक ही रामावतार होता है और वह वैवस्वत मन्वन्तरमें होता है, तेरह मन्वन्तर खाली रह जाते हैं। इन्द्रादि देवोंकी आयु एक मन्वन्तरकी ही होती है। अतः सुर मुनि नाग रामावतारोत्सव देखनेमें अपने भाग्यकी सराहना करते हैं। तेरह मन्वन्तरके सुर मुनि नागोंके भाग्यमें यह सुख नहीं था।

वि०त्रि०—प्रभुके जन्मोत्सवको शिशिर ऋतु कहा है। इस ऋतुमें दो मास माघ और फागुन होते हैं। सो ऊपरके दो दोहों १६३-१६४ में माघ मास वसंत पंचमी आदिका उत्सव कहा। फिर दो दोहोंमें फाल्गुनोत्सव कहा। फागुनमें होली होती है, रंग चलता है, अबीर लगाई जाती है, होलीमें लड़के लकड़ीकी चोरी करते हैं, इत्यादि सब प्रसंग यहाँ कहे गए हैं। यथा 'मृगमद चंदन कुंकुम कीचा, मची सकल बीथिन्ह बिच बीचा।', 'उड़इ अबीर'। सूर्यने एक मासकी चोरी की, शंकरजी और भुशुण्डीजीने अपने रूपकी चोरी की—'औरौ एक कहौं निज चोरी'। होलीमें चोरी बुरी नहीं समझी जाती। शंकरजी अपनी चोरीको 'शुभ चरित' कहते हैं। यथा 'यह सुभ चरित जान पै सोई···'।

दोहा १९६ पृष्ठ ७२ पंक्ति १४ के बाद—

नोट—४ श्रीरघुनाथजीके जन्ममहोत्सवानन्दको मानसप्रकरणमें 'भँवर तरंग...' कहा गया है। यथा 'रघुबर जन्म अनंद बधाई। भँवर तरंग मनोहरताई। ४०।८।' वह यहाँ चरितार्थ देखिए। यथा 'आनंद मगन सकल पुरबासी', 'दसरथ पुत्र जन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानंद समाना। परम प्रेम मन पुलक सरीरा। चाहत उठन करत मति धीरा।', 'परमानंद पूरि मन राजा।', 'ब्रह्मानंद मगन सब लोई', 'कौतुक देखि पतंग भुलाना।', 'काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ। परमानंद प्रेम-सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले।' भँवरमें मनुष्य डूबता है, वैसे ही सब आनंदमें मग्न (डूबे) हैं।

दोहा १९७ (३) पृष्ठ ७३ पंक्ति २३ में '(ख)' के पहिले—

(त्रिपाठीजी 'पूजा' से 'नामकरणकी अंगभूत पूजा तथा मुनिकी पूजा' ऐसा अर्थ करते हैं)।

दोहा १९७ (५) पृष्ठ ७५ पंक्ति ११ के बाद—

४ त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "आनन्दसिंधुसे परिपूर्णानन्द, आनन्दमात्रका मूल निधान तथा देशतः कालतः वस्तुतः अपरिच्छिन्न कहा। 'आनन्द' कहनेसे ही सत् और चित्का आपसे आप ही ग्रहण हो जाता है। सुखराशिसे व्यावहारिक आनन्दका मूल स्रोत कहा। 'एष ह्येवानन्दयतीति श्रुतेः'। अतः स्वरूपसे सिन्धु, चरित करनेमें राशि। यथा 'नित नव चरित देखि पुरवासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी।' अखिल लोक विश्रामदायक होनेसे 'सुखधाम' कहा। सुखसिंधु, सुखराशि और सुखधाम कहनेसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण द्योतित किया (यथा 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जीवन्ति आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति)।

दोहा १९७ पृष्ठ ७८ पंक्ति ४ के बाद—

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि सुषुप्तिके विभुका नाम भरत रखकर स्वप्नके विभुका नाम शत्रुघ्न रक्खा क्योंकि सुषुप्तिसे स्वप्न अलग नहीं किया जा सकता।

दोहा १९८ (३-४) पृष्ठ ८३ पंक्ति २० के अन्त में—

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि दूसरी बात यह है कि तुरीयके विभु और जाग्रतके विभुका सदा साथ है, क्योंकि तुरीयकी प्राप्ति जब होगी तब जाग्रतसे ही होगी, सुषुप्ति या स्वप्नसे नहीं हो सकती। इसी भाँति सुषुप्ति और स्वप्नका साथ है; अतः दोनोंके विभुओंका भी साथ स्वाभाविक है।

दोहा १९९ (३) पृष्ठ ८८ पंक्ति १२ के अन्त में—

त्रिपाठीजीका भी मत है कि यहाँ तीनका वर्णन है, क्योंकि अभी अत्यन्त शिशु हैं, इससे रेखाएँ अत्यन्त सूक्ष्म हैं, तीन स्पष्ट हैं, कमल रेखा अभी स्पष्ट नहीं है, बड़े होनेपर स्पष्ट होगी।

दोहा १९९ (८) पृष्ठ ९३ पंक्ति १४ के बाद—

नोट—'नासा तिलक' इति। श्रीत्रिपाठीजीका मत है कि 'आज भाल तिलक नहीं है, बच्चोंको नासा तिलक ही दिया जाता है। बाल गोपालके उपासक आज भी नासा तिलक धारण करते हैं'।

दोहा १९९ (१२) पृष्ठ ९५ पंक्ति ४ के बाद—

श्रीविजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा' कहकर 'सो जानइ सपनेहु जिन्ह देखा' कहनेमें भाव यह है कि रूप यद्यपि सर्वथा अवर्णनीय है फिर भी अज्ञेय नहीं है, सपनेमें भी जिसने देखा है वह इस बातको जानता है कि वह महासौन्दर्य्य सर्वथा वाणीसे परे है। श्रीगोस्वामीजीने स्वप्नमें इस प्रकार दर्शन किया था, इसलिये ऐसा कहते हैं। यहाँ गोस्वामीजीने नेत्रका वर्णन नहीं किया; क्योंकि याद नहीं है। स्वप्नकी बात पूरी पूरी याद नहीं रहती, एकाध बातकी भूल पड़ जाया करती है।"

दोहा २०२ (२) पृष्ठ १०७ पंक्ति ५ में (रा. प्र.) के बाद—

काल, कर्म, गुण, स्वभाव चक्षुके विषय नहीं हैं। इनका योगज प्रत्यक्ष होता है। योगज प्रत्यक्ष होना ही इनका देखा जाना है, सो माता कौशल्याको इन सबका प्रत्यक्ष हुआ। एक ब्रह्माण्डका जीव उसीकी व्यवस्था को थोड़ा बहुत जानता है, दूसरेके विषयमें वह कुछ नहीं जानता। दूसरे ब्रह्माण्डोंमें ऐसी बातें हैं जिन्हें हम लोगोंने न देखा है न सुना। उन सब अनन्त विशेषताओंका प्रत्यक्ष माता कौशल्याको हुआ। अर्जुनको केवल इस ब्रह्माण्डके विश्वरूपका दर्शन हुआ था। माँ कौशल्याके प्रत्यक्षसे उसकी तुलना ही नहीं। (वि. त्रि.)।

पृष्ठ ११० पंक्ति १६ के अन्तमें—

('सुनु माई' का भाव कि मैंने स्वयं माता मान रक्खा है तब तू पुत्र माननेमें क्यों डरती है। वि. त्रि.)

पृष्ठ ११२ पंक्ति १५ में (घ) के पहिले—

ग्रन्थकार ब्राह्मण शब्दका प्रयोग बहुत कम करते हैं, विप्र शब्दकाही प्रयोग देखनेमें आता है। वेदपाठी भवेद्विप्रः। अर्थात् तपः स्वाध्यायनिरत ब्राह्मणोंको दक्षिणाएँ दी गईं। वसिष्ठजीने वेदविहीन ब्राह्मणको शोच्य बतलाया है। यथा 'सोचिय बिप्र जो बेद बिहीना। तजि निज धर्म बिषय लयलीना।' (वि. त्रि.)।

पृष्ठ ११६ पंक्ति २७ में (पंजाबीजी) के बाद—

पुनः भाव कि शिशुचरित सरल है और बालचरित अति सरल है। शिशुचरितमें तो ऐश्वर्यप्रदर्शन भी हुआ। माताको विश्वरूपका दर्शन हुआ, परन्तु बालचरितमें केवल माधुर्य दिखलाया, इसलिये इसे अति सरल और सुहावना कहा। (वि. त्रि.)।

दोहा २०४ पृष्ठ १२२ पंक्ति २१ के बाद—

वि. त्रि.—'बिद्या बिनय निपुन' कहकर तब निपुणता भी दिखाते हैं। 'खेलहिं खेल सकल नृप लीला' से नाट्यशास्त्रकी निपुणता कही। शिबि, हरिश्चन्द्र आदिकी लीलाओंका नाट्य करते हैं। 'करतल बान धनुष अति सोहा' से धनुर्वेदमें अत्यन्त परायण कहा। विद्याप्रेमके कारण विहारमें भी धनुषबाण नहीं छूटता। 'प्रानहु ते प्रिय लागत सब कहुँ राम कृपाल' से शासनकी योग्यता दिखलाई।

पृष्ठ १२४ पंक्ति १८ के बाद—

श्रीत्रिपाठीजी 'पावन मृग' से मेध्य पशु अर्थ करते हैं "जिनके चर्म शृङ्गादिका धर्मकार्यमें प्रयोजन पड़ता है। व्याघ्रादि दुष्ट जन्तुओंका चर्म पवित्र माना गया है। अतः मनसे यह निश्चय करके कि यह दुष्ट जन्तु है तब उसका वध करते थे।"

दोहा २०५ (४) पृष्ठ १२६ नोट १ के अन्तमें—

त्रिपाठीजी इसका भाव यह कहते हैं कि सुखमें अनुज और सखाओंका स्मरण करते थे और आज्ञा पालनमें स्वयं प्रस्तुत रहते थे, अनुज और सखाको नहीं कहते थे कि जो आज्ञा मुझे हुई है उसे तुम जाकर कर दो।

पृष्ठ १२७ पंक्ति १७ के बाद—

वि. त्रि.—चार प्रकारसे विद्या अभीष्ट फलदानमें समर्थ होती है। आगमकालसे, स्वाध्यायकालसे, प्रवचनकालसे और व्यवहारकालसे। इनमेंसे दोको कह चुके।—'गुरु गृह गये पढ़न रघुराई। अल्प काल बिद्या सब आई।', 'बेद पुरान सुनहिं मन लाई', अब प्रवचनकाल और व्यवहारकाल कहते हैं—'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई', 'प्रातकाल उठि कै....'।

दोहा २०६ (१) पृष्ठ १३० पंक्ति २ के बाद—

वि. त्रि.—'मन लाई' अर्थात् सप्रेम सुननेको कहा क्योंकि इसके सप्रेम सुननेका फल विशेष कहा है। यथा 'सिय रघुबीर बिवाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहुँ सदा उछाह मंगलायतन रामजस।'

दोहा २०८ पृष्ठ १५२ 'नोट १' के अन्तमें—

वि. त्रि. का मत है कि 'माँसे कुछ कहा नहीं प्रणाम करके चल दिये, यह सोचकर कि असुरसे युद्ध करना कहेंगे तो वह नहीं जाने देगी'।

दोहा २०८ पृष्ठ १५५ पंक्ति १५ के अन्तमें—

अथवा, अखिल विश्वकारण प्रकृति है उसके भी अधिकरण हैं, आश्रय हैं। (वि. त्रि.)

दोहा १११, पृष्ठ १८५, टिप्पणी २ (ख) के अन्तमें—

['छाँड़ि' का भाव कि यह छोड़नेसे ही छूटता है, यथा 'होइ न बिषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा।' जंजाल, यथा 'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लगि जगजालू।'—यही सब जंजाल है। (वि० त्रि०)]

दोहा २१२ (३) पृष्ठ १६४ पंक्ति २७ के अन्तमें—

[पात्रे दानम्। दान पात्रको देना चाहिए, अतः पृथ्वीके देवताओं 'ब्राह्मणों' को दान दिया। ब्राह्मण-ब्रुव (जो केवल ब्राह्मण कहलानेवाले हैं) का ग्रहण न हो इसलिये महिदेव कहा। दान सामग्री के विषय-में शंका न हो। इसलिये 'प्रभु' कहा। उन्हें सब सामर्थ्य है। (वि० त्रि०)]

पृष्ठ १६४ पंक्ति ३३ के अन्तमें—

(त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'सहाय' शब्द सेनाके अर्थमें बराबर प्रयुक्त होता है। यथा 'लै सहाय धावा मुनिद्रोही। 'निदरे राम जानि असहाई', इत्यादि। अतः 'मुनिबृंद सहाया' का अर्थ है कि ये दोनों भाई मुनिवृन्दकी सेना हैं। जैसे राजाओंकी जीत सैन्यबलसे होती है वैसे ही मुनिवृन्दकी जीत इन्हीं दोनों भाइयों द्वारा होती है, अतः 'मुनिबृंद सहाया' कहा)।

दोहा २१२ (५) पृष्ठ १६५ पंक्ति १४ के अन्तमें—

(वि० त्रि० का मत है कि 'सभीके उसे देखनेसे हर्ष हुआ, परन्तु सबके देखने और दोनों भाइयोंके देखनेमें अन्तर था। ये दोनों राजकुमार हैं, नगरनिर्माणविज्ञानके पंडित हैं। रत्नको सभी लोग देखते और उसकी रमणीयता पर मुग्ध भी होते हैं पर उसके वास्तविक गुण तो जौहरी ही देखते हैं। श्रीराम-लक्ष्मणजी नगरव्यवस्थापनकलाके जौहरी थे, अतः इन्हें विशेष हर्ष हुआ)।

दोहा ११३ (१-२), पृष्ठ १६८ पंक्ति २१ में 'स्वकर' के पहिले—

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि नीचेके मंजिलकी दूकानोंकी पंक्तिको बाजार, ऊपरके मंजिलके कमरोंको अंबारी (जिनमें कोठियाँ चलती हैं) और सर्वोपरि मंजिलकी अटारी संज्ञा है।

दोहा २१४ (२) पृष्ठ २०५ पंक्ति १५ के बाद—

वि० त्रि०—'संकुल सब काला'—भाव कि व्यवस्था ऐसी थी कि कभी वे हाथी, घोड़े और रथसे खाली नहीं रहते थे। यदि हाथी घोड़े रथ किसी कामपर गए तो भी यथेष्ट संख्यामें रथ, गज, बाजि बचे रहते थे, जिसमें वे शालायें भरी मालूम पड़ें। इतना बड़ा संग्रह था कि एक लक्ष घोड़े, दस हजार हाथी और पचीस हजार रथ तो दायजेमें दे दिये गये।

दोहा २१५ (१-३) पृष्ठ २१२ के अन्त में—

नोट—महाराज दशरथके प्रणाम करनेपर विश्वामित्रजी ने न तो आशीर्वाद दिया न कुशलप्रश्न किया। कारण कि इनसे राम लक्ष्मण को लेना था। विश्वामित्रजी दाताके साथ सदा कठोरतम व्यवहार करके उसकी श्रद्धाकी परीक्षा लेते थे, हरिश्चन्द्रके साथ जो उनका व्यवहार हुआ वह जगत् जानता है। अतएव आशीर्वाद देकर न तो उनको निर्भय किया और न कुशलप्रश्न किया। जनकजीको तो कृतार्थ करने आये हैं अतः आशीर्वाद दिया। बार बार कुशल पूछते हैं कि कुछ भी संकट हो तो बताओ, हमारे साथ सहाय मौजूद हैं। दूसरे जनकजी मुनियोंके गुरु हैं, इससे इनका विशेष सम्मान है। (वि० त्रि०)।